ओ३म्

वैदिक-सम्पत्ति

लेखक

पं० रघुनन्दन शर्मा

साहित्यभूषण

परिशोधक व सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
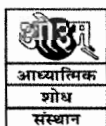
आध्यात्मिक शोध संस्थान

Adhyatmik Shodh Sansthan

2/3-बी, अन्सारी रोड, नई दिल्ली-110002

प्रस्तावना

वेद संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ हैं। वेद परमात्मा द्वारा प्रदत्त दिव्य ज्ञान है। यह ज्ञान परमात्मा द्वारा सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यमात्र के लिए दिया गया था। यह संसार विधि है और वेद इस संसार का विधान है। वेद ऋषि-मुनियों द्वारा नहीं लिखे गये। ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा थे—अर्थों का साक्षात्कार करनेवाले थे, मन्त्रों के रचयिता नहीं थे।

'वेद परमात्मा द्वारा प्रदत्त ज्ञान है', यह बात जल्दी से मनुष्यों के गले के नीचे नहीं उतरती। लोग शङ्का करते हैं—परमात्मा स्याही कहाँ से लाया, काग़ज कहाँ से लाया, कलम [लेखनी] कहाँ से लाया। क्या परमात्मा ने वेदों को बण्डल में बाँधकर ऊपर से नीचे उतारा था?

ये सारी शङ्काएँ थोथी हैं। परमात्मा को किसी उपकरण की आवश्यकता नहीं थी। परमात्मा हृदय में व्यापक है, अत: उसने अन्दर से ही ज्ञान दे दिया।

वैदिक सम्पत्ति के लेखक पं० रघुनन्दनजी शर्मा ने १५-२० वर्ष तक घोर परिश्रम करके सिद्ध किया है कि वेद अपौरुषेय हैं। यह इस पुस्तक का मूल विषय है। पुस्तक के चौथे खण्ड में कुछ वेदमन्त्र जिस क्रम से दिये हुए हैं, उनका अपना ही सौन्दर्य और विशिष्ट महत्त्व है। जीवन के लिए उपयोगी और मनुष्य की शारीरिक, आत्मिक, सामाजिक, राजनैतिक, सदाचार सम्बन्धी तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के प्रतिपादक मन्त्रों का एक उत्तम सङ्कलन योग्य विद्वान् ने प्रस्तुत किया है।

आवान्तर विषयों में यज्ञ के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है, वह अनूठा है। यज्ञ में आयुर्वेद, ज्योतिष्, वास्तुशास्त्र, गणित, कृषि, कला-कौशल, पशु-पालन, ललितकला और व्याकरण आदि अनेक विषयों का समावेश हो जाता है। वैदिक कर्मकाण्ड हवन-यज्ञ के सम्बन्ध में जो शङ्काएँ उठती हैं, उन सबका समाधान किया गया है। इस प्रकरण को पढ़कर यज्ञ के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है।

विकासवाद की इस ग्रन्थ में धज्जियाँ उड़ा दी हैं। शर्माजी ने प्रबल युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध किया है कि बन्दर से मनुष्य का विकास नहीं हुआ। अमीबा से मेंढक, मच्छली और सर्प का विकास नहीं हुआ। सृष्टि के आदि में ही मनुष्य और अन्य प्राणी अपने-अपने कर्मों के अनुसार उन-उन योनियों में ही उत्पन्न हुए थे। मनुष्य विकास की ओर नहीं ह्रास की ओर जा रहा है।

भाषा भी ईश्वर-प्रदत्त है। इस विषय में भी लेखक ने अकाट्य प्रमाण प्रस्तुत किये हैं और सिद्ध किया है कि मनुष्य भाषा का निर्माण नहीं कर सकता, जैसे वेद परमात्मा-प्रदत्त हैं, ऐसे ही भाषा भी परमात्मा द्वारा प्रदान की गई है।

लेखक ने यह भी अच्छी प्रकार सिद्ध किया है कि वेदों को छोड़कर हमारे सारे साहित्य का विध्वंस किया गया है। मुसलमानों ने साहित्य को जलाया। उनके हमाम पुस्तकों से गर्म होते रहे। अल्लोपनिषद्-जैसा उपनिषद् लिखकर साहित्य में मिलावट की गई। सायणाचार्य, उव्वट, महीधर, मैक्समूलर, ग्रिफ़िथ, मैक्डानल आदि ने वेदों का भ्रष्ट भाष्य किया—यह सब-कुछ इसलिए किया गया, जिससे वेद के प्रति श्रद्धा समाप्त हो जाए। यह बात लेखक ने भली-भाँति सिद्ध की है।

पुस्तक क्या है, ज्ञान का पिटारा है। लेखक ने जीवन के पन्द्रह–बीस वर्ष लगाकर यह ग्रन्थ लिखा है। ग्रन्थ का प्रत्येक पृष्ठ ज्ञान का कोश है।

पुस्तक अत्युत्तम है, परन्तु लेखक की प्रत्येक बात से सम्पादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। महर्षि दयानन्द मनुष्योत्पत्ति सर्गारम्भ में मानते हैं, आदि सृष्टि तिब्बत में मानते हैं, अब तो वैज्ञानिक इस बात के सिद्ध कर चुके हैं। यह कहना कि वेद के अनुसार झोंपड़ियों में रहना चाहिए, हमें उचित नहीं लगता। इस प्रकार की अन्य भी कुछ बातें हैं, जिनसे मैं सहमत नहीं हूँ, परन्तु पुस्तक का सम्पादन पूरी ईमानदारी से किया है।

इस पुस्तक के इससे पूर्व सात–आठ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, फिर भी पुस्तक की माँग निरन्तर बनी हुई है। अब यह पुस्तक 'वेदज्योति प्रेस' द्वारा प्रकाशित की जा रही है। इस संस्करण की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

१. पुस्तक को कम्प्यूटरीकृत किया गया है। टाइप को पहले से मोटा किया गया है, इसलिए लगभग १०० पृष्ठ बढ़ गये हैं।

२. प्रायः सभी उद्धरणों को उन–उन ग्रन्थों से मिलाया गया है। अशुद्ध पतों को शुद्ध किया गया है। लगभग १५०–२०० उद्धरणों के पते खोजकर लिखे गये हैं। पादटिप्पणी और कोष्ठक [ ] में दिये गये पते हमने लिखे हैं।

३. पुस्तक में उर्दू के शब्दों की भरमार थी—जैसे बारबरदारी, कुदरत, कुदरती, हर्ज, तरह, मतलब, ज़िक्र, मर्जी, वसूल, मंजूर, कायदा, मियाद, बन्दोबस्त, जिन्दा, खुराक, मौक़ा, इलाज, वास्ता, जुदा, कोशिश, दलील, मुलतवी, कानून चस्पाँ, हाजिर–नाजिर, गुजर आदि। इन शब्दों के स्थान पर हिन्दी शब्द दिये गये हैं।

४. कहीं–कहीं भाषा का भी परिमार्जन किया गया है।

५. प्रूफ़ संशोधन पर विशेष ध्यान दिया गया है।

६. उद्धृत श्लोकों और मन्त्रों की अनुक्रमणिका बनाकर समाविष्ट की गई है जो आज तक किसी भी संस्करण में नहीं थी।

७. कपड़े की पक्की जिल्द, नयनाभिराम छपाई, बढ़िया काग़ज़—इतना सब–कुछ होने पर भी मूल्य अत्यन्त अल्प।

यदि कुछ आर्यसमाजें और व्यक्ति सहयोग करें तो सस्ते साहित्य प्रकाशन के लिए एक कोश एकत्र करके वेद, दर्शन, उपनिषद्, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र आदि सभी ग्रन्थों को प्रकाशित किया जा सकता है।
उदारतापूर्वक दान दीजिए।

विदुषामनुचरः
जगदीश्वरानन्द सरस्वती
अध्यक्ष
वेद–मन्दिर, ज्वालापुर (हरद्वार)

वैदिक सम्पत्ति

स्व० सेठ शूरजी वल्लभदास

॥ ओ३म् ॥

प्रकाशक का विशेष निवेदन

आज श्रीमद्दयानन्द-निर्वाण अर्धशताब्दी के पुण्यमय अवसर पर मेरी ओर से पाठकों की सेवा में ''वैदिक सम्पत्ति'' रखते हुए मुझे हर्ष हो रहा है और साथ ही ऐसे सुअवसर पर इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा साहित्यभूषण हमारे बीच में नहीं हैं, यह बात दु:खद है।

यद्यपि यह पुस्तक ईस्वी सन् १९३१ में छपकर तैयार हो गई थी और ''वैदिक सम्पत्ति'' में वर्णित आर्यसिद्धान्त, वेदों की अपौरुषेयता एवं ईश्वरास्तित्व के विरुद्ध नास्तिकवाद-भौतिकवाद और विकासवाद का मुँहतोड़ उत्तर; तथा वेद, स्मृति, उपनिषद्, दर्शन, इतिहास, पुराण, आदि धर्मग्रन्थों में वर्णित वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन, और आर्य-संस्कृति का सरल और सुन्दर शब्दों में पृथक्करण इत्यादि विषयों को देखकर विश्ववन्द्य श्री महात्मा गाँधीजी ने इस ग्रन्थ की प्रवेशिका लिखना सहर्ष स्वीकारा था।

तदनुसार ईस्वी सन् १९३१ में इस पुस्तक की एक प्रति प्रवेशिकार्थ पूज्य महात्माजी के पास यरोडा जेल में भेज दी गई, परन्तु वहाँ के अधिकारियों ने श्री गांधीजी की लिखित प्रवेशिका मेरे पास भेजने से इन्कार किया और इसी कारण श्री महात्माजी ने उस समय प्रवेशिका लिखने का काम स्थगित कर दिया।

सामयिक सन्धि (ट्रूस) के बाद वे बाहर आकर शीघ्र ही R.T.C. में लण्डन चले गये। वहाँ से आते ही उन्हें पुन: कारावास में जाना पड़ा।

इसके कुछ समय बाद मेरा भी एक साल के लिए जेल जाना हुआ और इस प्रकार मेरी ओर से पुस्तक प्रकाशित करने में विलम्ब होता रहा।

आज के अनशनव्रत के पश्चात् श्री महात्माजी बाहर हैं, और मैं भी छूटकर घर आ गया हूँ; तब प्रवेशिका लिखने के लिए फिर से यह पुस्तक उन्हें सादर दी गई, किन्तु आजकल श्री गांधीजी की अस्वस्थ प्रकृति और उनपर रहते हुए सतत कार्यभार को देखकर सम्भावित है कि उक्त ग्रन्थ की प्रवेशिका लिखने में उन्हें कुछ सप्ताह और लग जाएँ।

अत: जिसका सारा जीवन ही वेदों के पुनरुद्धार, आर्यसिद्धान्तों के प्रचार और आर्यावर्त्त की पुन:रचना के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत के पालने के साथ व्यतीत हुआ है, ऐसे महर्षि स्वामी श्री दयानन्द सरस्वतीजी के निर्वाण की अर्धशताब्दी जैसे सुअवसर पर स्वर्गस्थ स्वामीजी के जीवन सिद्धान्तों की समर्थक इस ''वैदिक सम्पत्ति'' का प्रचार अत्युपयोगी मानकर इसे अभी प्रकाशित कर देना उचित समझता हूँ।

माननीय महात्माजी की ओर से इस ग्रन्थ की प्रवेशिका उपलब्ध होने पर, उसे पीछे रही प्रतियों के साथ जोड़ लिया जाएगा।

''वैदिक सम्पत्ति'' के सुयोग्य लेखक महोदय ने मोक्ष को केन्द्र बनाकर वैज्ञानिक-भौतिक-आध्यात्मिक-राजनैतिक-सामाजिक, प्राच्य तथा अर्वाच्य साहित्य, प्राणिशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र, भूगोल, खगोल, ज्योतिष्, नाना लिपिविज्ञान तथा भाषाशास्त्रादि अनेक विषयों का दिग्दर्शन हमें इस ग्रन्थ में करवाया है और अनेक भिन्न-भिन्न विषयों पर पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के लिखे विविध ग्रन्थों की छानबीन करके आर्यसिद्धान्तों का सतर्क और सप्रमाण

प्रतिपादन किया है।

इस ग्रन्थ के पीछे लेखक ने १५-२० वर्ष जो अविरत परिश्रम किया है, यह इस पुस्तक में वर्णित विषयों को आद्योपान्त पढ़ने से सुज्ञ पाठक स्वयं ही अनुभव करेंगे।

आर्यसिद्धान्त, अहिंसा, प्राचीन संस्कृति, विश्वशान्ति, और वैदिक जीवन के प्रेमियों से हमारा नम्र निवेदन है कि ऐसे सुन्दर तथा उत्तम ग्रन्थ का अध्ययन कर लाभ उठाएँ और अपने उचित अभिप्राय को भेजकर हमें कृतार्थ करें। साथ में इस अनुपम ग्रन्थ के प्रचार में भी श्रम उठावें।

''वैदिक सम्पत्ति'' में ७५० के लगभग पृष्ठ हैं। छपाई सुन्दर और चिकने कागजों पर की गई है, तथापि प्रचारार्थ इस ग्रन्थ का मूल्य केवल ६ रुपये रक्खा है।

अन्त में परमदयालु प्रभु से यही प्रार्थना है कि वह प्रत्येक भारतवासी को आर्यसिद्धान्तों को समझने की शक्ति देवे, इन प्राचीन आदर्शों के प्रचार का सामर्थ्य देवे, और इन सिद्धान्तों को हृदय और जीवन में उतारने का बल देवे।

''कच्छ कॅसल,'' मुंबई
विजयादशमी,
विक्रम संवत् १९८९

शूरजी वल्लभदास

ओ३म्

प्रकाशक का निवेदन

आजकल भारतवर्ष में स्वतन्त्रता का शंखनाद बज रहा है, चारों ओर स्वराज्य-प्राप्ति की अभिलाषा उमड़ रही है और सफलता निकट भविष्य में अपनी ज्योति प्रकाशित करना चाहती है। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उपस्थित होता है कि भविष्य में हमारे राष्ट्र की सभ्यता का लक्ष्य क्या होगा, क्योंकि स्वराज्य मिल जाने पर भी यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों बना रहता है कि स्वराज्य-भुक्त जन-समाज किस प्रकार का होगा और उसके प्रत्येक व्यक्ति का क्या आचार-व्यवहार, कैसा रहन-सहन और किस प्रकार की आर्थिक सभ्यता होगी, अर्थात् अर्थ (Economy) और काम (Population) की समस्या किस प्रकार हल की जाएगी। यदि मैं भूल नहीं करता तो कह सकता हूँ कि इस पुस्तक में इसी आवश्यक और जटिल समस्या को हल किया गया है, इसलिए यह पुस्तक अपने देश-भाइयों के समक्ष उपस्थित करते हुए मुझे बड़ा ही आनन्द हो रहा है।

ग्रन्थकर्त्ता ने यह पुस्तक बड़े परिश्रम के बाद लिखी है। इस पुस्तक में जिस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वह मनुष्य-जाति के लिए प्रत्येक समय एक ही समान अत्यन्त आवश्यक है। इस ग्रन्थ में वेदों की अपौरुषेयता और उनकी शिक्षा का विस्तृत वर्णन किया गया है और दोनों बातें स्पष्ट करने के लिए अनेक प्रमाण दिये गये हैं। जो प्रमाण दिये गये हैं वे अनुभूत हैं। मुझे भी अपने स्वाध्याय में कुछ ऐसे प्रमाण मिले हैं, जो ग्रन्थ के बिलकुल अनुकूल हैं। यहाँ पाठकों के अवलोकनार्थ उनमें से कुछ एक लिखता हूँ—

ग्रन्थकर्त्ता ग्रन्थ के उपक्रम में वर्त्तमान नेचरवादियों के सादा रहन-सहन का विस्तृत वर्णन करते हैं। इधर मैं भी पढ़ता हूँ कि जर्मनी के अनेक मनुष्य वस्त्रों का त्याग करके नग्न अवस्था में ही रहना पसन्द कर रहे हैं। जर्मनी में ही नहीं, यूरोप के अन्य देशों में भी लोगों की ऐसी ही प्रवृत्ति दिखलाई पड़ रही है, अतएव अब विलास और विलास-वर्धक आयोजनों का नाश ही दिखलाई पड़ रहा है और आर्यों के-से सीधे-सादे वैदिक रहन-सहन की ओर ही लोग अग्रसर हो रहे हैं। उपक्रम के आगे प्रथम और द्वितीय खण्ड में वेदों की प्राचीनता और अपौरुषेयता सिद्ध की गई है और इस सिद्धि में एक प्रमाण यह भी दिया गया है कि वेद का प्रत्येक वर्ण अपना स्वाभाविक अर्थ रखता है और स्वाभाविक उच्चारणों के ही अनुसार वैदिक वर्णमाला के लिपि-रूप बनाये गये हैं[१]। यही बात मैं १३ अक्टूबर सन् १९३० ई० के लीडर में पढ़ता हूँ। सर रिचर्ड पेजेट कहते हैं कि अंग्रेज़ी वर्णमाला के रूप भी मुखाकृति के ही अनुरूप बनाये गये हैं[२]। इस

---

१. ग्रन्थकर्ता ने २० वर्ष पूर्व यह बात सबसे पहले अपनी अक्षरविज्ञान नामक पुस्तक में सिद्ध की थी।

२. It was pointed out by Sir Richard that just as speech appeared to have developed from pantomimic gesture owing to an unconcious sympathy between the movement of the human hands and body with those of the human mouth and tongue, so the developments of all alphabets appeared to have been influenced by a corresponding sympathy of movement between the human mouth and tongue and the human hands. If the alphabets of different nations were examined it was found that in the letters standing for the sounds of P, B, M and W and also those for the vowel U—in all of which sounds the two lips are more or less protruded and brought together—the symbols are commonly suggested, either of a closed mouth or of two lips closed or projected, or on the point of opening.

कल्पना से चित्र-लिपि के द्वारा अक्षरारम्भ की थ्योरी कट जाती है और ग्रन्थकर्त्ता की ही यह बात सत्य सिद्ध होती है कि वैदिक वर्णमाला के रूप मुखाकृति के ही अनुरूप बने हैं। इसी प्रकार तृतीय खण्ड में बतलाया गया है कि संसार की समस्त मानव-जातियाँ आर्यों से ही पृथक् होकर भिन्न-भिन्न देशों में बसी हैं और भारत में वापस आकर उन्होंने ही कल्पित अनार्य मतों का प्रचार किया है। इस बात को सिद्ध करनेवाली दो-तीन बातें अभी हाल ही में मैंने भी पढ़ी हैं। बर्मा को भारत से अलग न करने की अपील करते हुए ता० १९ मार्च सन् १९३१ के फ्री प्रेस जरनल में रेवरेंड ओत्तम लिखते हैं कि 'बरमा में अनेक नगरों के नाम आर्यों के हैं और अर्जुन के साथ प्रमिला का स्वयंवर विवाह भी प्रसिद्ध है[१]। इसी प्रकार अभी हाल की खोज के अनुसार 'कल्पक' नामी पत्र में श्रीयुत रामास्वामी अय्यर लिखते हैं कि 'पेलिस्टाइन प्रदेश में बसनेवाले यहूदी भारतवासी ही हैं। वे दक्षिण (मद्रास प्रान्त) से ही जाकर वहाँ बसे हैं। उनमें जो ख़तना का रिवाज पाया जाता है वह भी दाक्षिणात्यों का ही है। दाक्षिणात्यों के ख़तने की बात वात्स्यायन मुनि के कामसूत्र में भी लिखी है[२]। इसी प्रकार पैलिस्टाइन नाम भी गुजरात के पालीताणा ग्राम पर से ही रक्खा गया है, जिससे हज़रत ईसा का पालीताणा में आकर जैन और बौद्धों के सिद्धान्तों की शिक्षा प्राप्त करना भी सिद्ध होता है[३]। अब रहे दाक्षिणात्य (द्रविड़) वे तो आर्य हैं ही। ग्रन्थकर्त्ता ने लिखा है कि यद्यपि चन्दन और कर्पूर मद्रास प्रान्त की ही उपज हैं, परन्तु दोनों

Examples given from our own alphabets by Sir Richard were—

A, which was originally written lying on its side, suggests an open mouth facing the right. B is the profile of two lips pointing towards the right. E represents a mouth pointing to the right with the tongue at mid height, as in pronouncing the sound of E in men. I is an elevated tongue, as in the sound of ea in eat. L is another vertical tongue sign. M represents two lips in profile pointing upwards. O is a front view of a rounded mouth. T is a vertical tongue, touching the horizontal palate. U and V are both pairs of protruded lips. W is a pair of lips like M, but pointing down instead of up. Every letter of our alphabet, except possibly H and Q, said Sir Richard, was closely related to the shape of mouth which produced it. —'Leader' 13the October 1930

१. Many traditions connect Burma with India from very very ancient times. Arjuna, one of the Pāndvās, married by *Swayamvaram*, a Burmese girl named Pramila, as pronounced in Burma *Pryamila* (Prya and la mean beautiful and mi means girl). Many ancient names of Burmese towns were Indian names. Pagan, the ancient capital of the Burmese people, even now has got Pagodas which are purely on Indian style. Thatean, in the southern Burma, was first invaded by the armies of the Maharaja of Conjeevaram, 1300 years ago who introduced Buddhism in Burma and that place was known as *Swarna Bhumi*. Shweho was known as *Swarna Puri*, and there are many other places which have ancient Sanskrit names.—Free Press Journal, 19th March 1931

२. दाक्षिणात्यानां लिंगस्य कर्णयोरिव व्यधनं बालस्य। कामसूत्र। ७। २। १५

३. श्रीयुत सुब्रह्मण्य अय्यर के पुत्र श्रीयुत रामास्वामी अय्यर लिखते हैं कि सीरिया प्रदेश के 'कोल' ग्रामनिवासी एक यहूदी ने एरिस्टोटल (अरस्तू) से कहा था कि यहूदी लोग आदि में दक्षिण भारत के निवासी हैं। एरिस्टोटल के प्रसिद्ध शिष्य और इतिहास-लेखक 'कलियरक्स' के लेख से सिद्ध होता है कि यहूदी लोग पहले तमिलभाषा ही बोलते थे। तमिलभाषा ही हिब्रूभाषा की जननी है। हिब्रू में ग्रीक शब्दों के मिल जाने से ही उसका यह रूप बना है। यहूदियों के इतिहास लेखक 'जोजक्स' के लेख से प्रतीत होता है कि पूर्वकाल में गुजरात प्रदेश द्राविड़ों के ताबे में था और गुजरात का पालीताणा नगर तामिल नाइडु प्रदेश के अधीन था। यही कारण है कि दक्षिण से दूर जाकर भी यहूदियों ने पालीताणा के नाम से ही 'पैलिस्टाइन' नाम का नगर बसाया और गुजरात का पालीताणा ही पैलिस्टाइन हो गया। गुजरात का पालीताणा जैनों का प्राचीन और प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। प्रतीत होता है कि ईसू ख्रीस्ट ने इसी पालीताणा में आकर बाइबिल लिखित ४० दिन के जैन-उपवास द्वारा जैन शिक्षा लाभ की थी।

—'बम्बई समाचार' ता० २१ मार्च सन् १९३१।

के नाम दक्षिण की भाषा में नहीं हैं। उनके नाम संस्कृत के ही हैं। इसी प्रकार की एक वस्तु हमको और भी मिलती है जो वास्तव में दक्षिण की ही उपज है, परन्तु उसका नाम संस्कृत का है। वह है मोती। मोती को तमिलभाषा में मुत्ता कहते हैं। लोग कहते हैं कि मुक्ता शब्द इसी मुत्ता का अपभ्रंश है, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। ता० २० मार्च सन् १९३१ के फ्री प्रेस जरनल में बी० नारायण एम्०ए०, एम०एल० लिखते हैं कि मोती पृथक्-पृथक् होते हैं—उनका गुच्छा नहीं होता। इसी से वे मुक्ताफल कहलाते हैं। मुक्ता शब्द संस्कृत का है ही, अतएव संस्कृत शब्द के द्वारा अपने देश की उपज का नाम रखनेवाले द्रविड़ आर्यों से भिन्न कभी नहीं हो सकते[१]। अब रहा अनार्यों के विश्वासों का आर्यों में प्रवेश। इसके लिए 'कलकत्ता रिव्यू' में अतुलकृष्ण सूर लिखते हैं कि वैदिक आर्यों में काली, कराली, दुर्गा आदि की पूजा अनार्यों से ही आई है[२]।

इसके आगे चतुर्थ खण्ड है और इसी में ग्रन्थ का प्रधान विषय वर्णित है। ग्रन्थकर्ता ने इस खण्ड में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष का बड़ा ही विशद वर्णन किया है और बतलाया है कि संसार के सारे अर्थकष्ट का कारण कामुकता ही है। अथर्ववेद के स्वाध्याय में मुझे भी एक मन्त्र मिला है, जो इस बात को बहुत ही स्पष्ट रीति से पुष्ट करता है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

कामो यज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ —अथर्व० ९।२।१९

अर्थात् काम सबसे पहले पैदा हुआ। इसको न देवों ने जीत पाया, न पितरों ने और न मनुष्यों ने, इसलिए हे काम! तू सब प्रकार से बहुत बड़ा है, अतः मैं तुझको नमस्कार करता हूँ।

इस मन्त्र में काम की प्रचण्डता का वर्णन है। इस काम को प्रचण्ड बनानेवाला विलास है, और विलास में सबसे प्रधान वस्तु वेश-भूषा है। वेश-भूषा के विषय में ग्रन्थकर्त्ता ने आर्यों की सभ्यता के अनुसार बतलाया है कि आर्यलोग बिना सिला हुआ वस्त्र ही पहना करते थे। ऐसे प्रमाण भी मिले हैं, जो सिले हुए वस्त्र का निषेध करते हैं। वस्त्रों के विषय में आर्यों का क्या सिद्धान्त था, यह महाभारत और कालिकापुराण के अवलोकन से अच्छी प्रकार प्रकट हो जाता है[३]। इतनी ही नहीं कि आर्यलोग सीधे-सादे वस्त्र पहनते थे, प्रत्युत वे अपने देश के ही बने हुए वस्त्र पहनते थे, विदेश के बने हुए नहीं। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि राजा पाण्डु के शव आच्छादन के लिए देशज, अर्थात् देश के बने हुए कफ़न का ही उपयोग किया था[४]। यह बात

---

१. The word for pearl is another instance. Of course it is easy to say that the Sanskrit word *Mukta* came from the Tamil word *Mutta* but such an answer is unconvincing. Pearl was apparently called *Mukta* because it did not grow in bunches, but grew separately, a single pearl in on Oyster. That the word *Mukta* or *Muktaphala* was used in Sanskrit in distinction with the bunches or Kulas of fruits is seen from the nomenclature for single verses and for bunches of verses linked together. The former is called a *Muktakam* and the later *kulkam*. The same nomenclature is copied by tamil grammarians,and one is familiar with 'Kulai' the tamil form of the Sanskrit word Kula for bunches.
—Free Press Journal 20th March 1931.

२. This is not impossibile, for India has always been a land of the Mother Goddess cult. It is a distinguishing feature of the pre-Aryan Dravidian civilization. The Aryans have borrowed it from their Dravidian neighbours. —Leader, 1st June, 1931.

३. न स्तूतेन न दग्धेन पारक्येण विशेषतः। मुषिकोत्कीर्णजीर्णेन कर्म कुर्याद्विचक्षणः॥ —महाभारत
कार्पासं काम्बलं बाल्कं कोषजं वस्त्रमिष्यते। निर्दशं मलिनं जीर्णं छिन्नं गात्रावलिङ्गितम्।
परकीयं वाऽऽखुदष्टं सूचीबिद्धं तथासितम्। उग्रकेशं विधौतं च श्लेष्ममूत्रादिदूषितम्।
प्रदाने देवताभ्यश्च देवे पित्रे च वर्जयेत्॥ —कालिकापुराण

४. अथैनं देशजैः शुक्लैर्वासोभिः समयोजयन्। सच्छन्नः स तु वासोभिर्जीवन्निव नराधिपः॥ —महाभारत

कितनी राष्ट्रीयता से भरी हुई है। किसी कवि ने कहा है कि **'मरें तो बदन पर स्वदेशी कफ़न हो'**। वही बात महाभारत का उक्त स्वदेशी वस्त्र-प्रयोग अच्छी प्रकार पुष्ट कर रहा है। यहाँ यह बात अच्छी प्रकार प्रकट हो रही है कि आर्यलोग जिस प्रकार भोजन के लिए अपना निज का उत्पन्न किया हुआ अन्न धर्मानुकूल समझते थे, उसी प्रकार वे अपने ही बनाये हुए वस्त्रों का उपयोग भी उत्तम समझते थे। भोजन के लिए तो उन्होंने यहाँ तक नियम बना दिया था कि तपस्वी आर्यों को नमक भी अपने ही हाथ का बनाया हुआ खाना चाहिए। यह बात उन्होंने मनुस्मृति-जैसे मान्य ग्रन्थ में स्पष्ट रीति से लिख भी दी है[१]। इस प्रकार से इस ग्रन्थ में आर्यों की सादगी का जो वर्णन किया गया है, वह यथार्थ ही है, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि आर्यलोग केवल सीधे-सादे भोजन-वस्त्र के ही आयोजन में रहा करते थे और पढ़ने-लिखने, समाज और राष्ट्र चलाने तथा ज्ञान-विज्ञान में उनकी गति ही न थी। यह बात नहीं है। उनकी गति प्रत्येक आवश्यक विषय में थी, जो इस ग्रन्थ के आद्योपान्त पढ़ने से अच्छी प्रकार स्पष्ट हो जाती है। हाँ, वे विलासी न थे, इसीलिए भौतिक विज्ञानजात कलापूर्ण पदार्थों का उपयोग नहीं करते थे। वे सादा जीवन और उच्च विचार (palin living and high thinking) के माननेवाले थे। यह बात हमें वेद के स्वाध्याय से अच्छी प्रकार ज्ञात हो जाती है। यजुर्वेद अध्याय ४० में लिखा है कि—

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयꣳ सह। विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते॥
अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते। ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याꣳरताः॥

—यजुः० ४०।११, ९

अर्थात् जो कारणजगत् और कार्यजगत् को साथ-साथ जानता है, वह कार्यजगत् के नाश को देखकर मृत्यु की समस्या को हल कर लेता है और कारणजगत् की नित्यता को जानकर अमरत्व का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, परन्तु जो कार्यजगत् के मोह में फँस जाता है, वह महा अन्धकार (अज्ञान) में डूब जाता है और जो कारणजगत् में रत हो जाता है, वह उससे भी अधिक दु:ख के गहरे गर्त में समा जाता है।

तात्पर्य यह कि प्रकृति की स्थूलता और सूक्ष्मता का ज्ञान सम्पादन करना तो अच्छा है, परन्तु उनमें रत हो जाना बहुत ही बुरा है। आज संसार में जो उथल-पथल मचा हुआ है उसका कारण स्थूल और सूक्ष्म प्रकृति की—विलास और कलाकौशल की बेहद उपासना ही है, इसीलिए आर्यों ने प्रकृति को जाना तो ख़ूब था, परन्तु उसमें कभी रत नहीं हुए। इसका कारण यही था कि समाज विलासी न हो जाए, कामुक न हो जाए और जनसंख्या की वृद्धि तथा अर्थकष्ट का भयंकर संकट उपस्थित न हो जाए। इस आर्यसभ्यता के मूलरूप वैदिक धर्म का वर्णन छान्दोग्य उपनिषद् में किया गया है। वहाँ लिखा है कि **'त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः[२]'**, अर्थात् धर्म के तीन विभाग हैं। यज्ञ, अध्ययन और दान पहला विभाग है[३], तप दूसरा विभाग है और ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुल में वास तीसरा विभाग है। यहाँ धर्म का रूप यज्ञ, स्वाध्याय, दान, तप और ब्रह्मचर्य बतलाया गया है। ठीक है, यज्ञ, स्वाध्याय और दान ही मनुष्य-समाज का कर्त्तव्य है, परन्तु वह

---

१. देवताभ्यस्तु तद्धुत्वा वन्यं मेध्यतरं हविः। शेषमात्मनि युञ्जीत लवणं च स्वयं कृतम्॥ —मनुस्मृति

२. छान्दोग्य० २।२३।१

३. यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ —यजुर्वेद [३१।१६]

बिना तप के नहीं हो सकता और न तप बिना ब्रह्मचर्यपूर्वक आचार्यकुल में रहे सम्पन्न हो सकता है, इसीलिए आर्यों ने अपनी सारी सभ्यता को ब्रह्मचर्य की दृढ़ नीव पर स्थिर किया है और जीवन का ३/४ भाग ब्रह्मचर्य और तप के साथ बिताने का आदेश किया है। यह बात ग्रन्थकार ने उपसंहार में बड़ी ही उत्तमता से दिखलाई है। आपत्तिरहित अवस्था में वैदिक आर्यों का समाज इसी सभ्यता का पालन करते हुए चलता था। हाँ, आपत्ति के समय संकटनिवारण करने के लिए सीखे हुए विज्ञान का उपयोग अवश्य किया जाता था, जो आर्य सभ्यता में विशेष रीति से कहा गया है और जिसको ग्रन्थकर्ता ने वर्णाश्रम व्यवस्था का विस्तृत वर्णन करके बहुत अच्छी प्रकार समझा दिया है। यही वैदिक आर्यों की सभ्यता का आभ्यन्तरिक सिद्धान्त है। इसको असम्भव न समझना चाहिए। यह इस देश में बहुत काल तक प्रचलित रह चुका है और इस समय भी प्रचलित किया जा सकता है। बिना इसके संसार को वास्तविक सुख-शान्ति की प्राप्ति असम्भव प्रतीत होती है। सन्तोष की बात है कि ग्रन्थकार ने इस प्राचीन वैदिक मार्ग को ढूँढ निकालने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है, इसीलिए मुझे यह प्राचीन योजना संसार के सामने उपस्थित करते हुए बड़ा ही आनन्द हो रहा है।

यह समय राष्ट्र-परिवर्तन का है। राष्ट्र-परिवर्तन पुनर्जन्म के समान ही होता है। जिस प्रकार नवजात शिशु में अमुक रीति-नीति के संस्कार जन्मकाल से ही सरलता से डाले जा सकते हैं, उसी प्रकार अभीष्ट सभ्यता का प्रचार भी राष्ट्र-निर्माण के साथ ही साथ सरलता से किया जा सकता है। राज्य-परिवर्तन के साथ-साथ यदि अनिश्चित सभ्यता को अंगीकार कर लिया तो फिर उसका छोड़ना कठिन हो जाता है, इसलिए मैंने इस आवश्यक ग्रन्थ को इसी समय में, जो बहुत ही उपयुक्त समय है, समस्त भारतीय जनता के सम्मुख उपस्थित किया है। मेरी इच्छा थी कि मैं इसपर पूज्य महात्मा गांधीजी से भी कुछ लिखवाऊँ, परन्तु उनको इस समय इतना बड़ा ग्रन्थ पढ़कर और विचारपूर्वक कुछ लिखने का अवकाश नहीं है, इसलिए उन्हें कष्ट नहीं दिया गया।

मैं चाहता था कि ग्रन्थ का जैसा श्रेष्ठ विषय है वैसा ही ग्रन्थ भी श्रेष्ठ बने, परन्तु इस वर्ष के गत राष्ट्रीय कार्यों के कारण अवकाश न मिल सका और इच्छानुसार ग्रन्थ की सुन्दरता न बढ़ाई जा सकी। सम्भव है, दृष्टि-दोष से कुछ ग़लतियाँ रह गई हों, उनको क्षमा करें।

कच्छ कॅसल—मुम्बई
१३ सितम्बर, १९३१

विनीत—
शूरजी वल्लभदास

ओ३म्

भूमिका

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव। यद्भद्रं तन्न आसुव॥ —यजु:० ३०।३

इस समय संसार के प्रत्येक विभाग में नाना प्रकार की धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ हो रही हैं और नाना प्रकार के सिद्धान्त स्थिर हो रहे हैं। कहीं नेशनलिज़्म, कहीं सोश्यलिज़्म, कहीं अनारकिज़्म और कहीं कम्यूनिज़्म सुनाई पड़ता है, परन्तु किसी भी सिद्धान्त से मनुष्यों को सन्तोष नहीं है। मनुष्यों ने अब तक मनुष्यसमाज को सुखी बनाने के लिए जितने सिद्धान्त स्थिर किये हैं, गिनने में उनकी संख्या चाहे जितनी हो, परन्तु वे सब चार विभागों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं। ये चारों विभाग अशिक्षावाद, भौतिकवाद, साम्यवाद और नेचरवाद के नाम से कहे जा सकते हैं। अशिक्षावाद से हमारा तात्पर्य संसार के समस्त असभ्यों के रहन-सहन से है जो प्राय: जंगलियों में पाया जाता है और जिसमें किसी प्रकार का उन्नत ज्ञान ज्ञात नहीं होता। भौतिकवाद से हमारा तात्पर्य वर्त्तमान यूरोप और अमेरिका की उन्नति से है, जिसमें सब काम भौतिक विज्ञान के ही अनुसार होते हैं। साम्यवाद से हमारा तात्पर्य वर्त्तमान रूस के बोल्शेविक सिद्धान्तों से है, जिनके अनुसार सबको एक समान साम्पत्तिक सुख पहुँचाने का प्रयत्न हो रहा है और नेचरवाद से हमारा तात्पर्य यूरोप के उन सिद्धान्तों से है जिनके अनुसार वहाँ के विचारवान् प्राकृतिक जीवन बनाने का प्रयत्न कर रहे हैं। बस, यही चारों प्रधान विभाग हैं, जिनकी अनेक शाखा-प्रशाखाएँ संसार में दिखलाई पड़ती हैं। इन चारों विभागों की बनावट ऐसी है कि यदि इनको एक-दूसरे का परिणाम कहें तो अत्युक्ति न होगी, क्योंक हम देखते हैं कि जितनी असभ्य जातियाँ हैं, यद्यपि सब खाती-पीती हैं, सोती-जागती हैं, ब्याह-शादी करती हैं, लड़के-बच्चे पैदा करती हैं, गाती-बजाती हैं और पूर्ण आयु जीती हैं, अर्थात् अपनी एक पूर्ण सभ्यता रखती हैं, जिसके अनुसार अपनी समस्त आवश्यक जीवन-यात्राओं को अच्छी प्रकार सम्पन्न करती हैं, परन्तु वे अपनी इस सभ्यता की रक्षा नहीं करना चाहतीं। यदि उनको दौलत मिल जाए तो वे तुरन्त ही अपनी सभ्यता को छोड़ दें और धीरे-धीरे भौतिक उन्नति की ओर अग्रसर होती हुई भौतिकवाद में बिला जाएँ। इस बात का नमूना हम संसार में देख रहें हैं। हम देख रहे हैं कि देखते-देखते यूरोप की अनेक जातियाँ असभ्य और जंगली सभ्यता से निकल-निकलकर यूरोप के वर्त्तमान भौतिकवाद में विलीन हो गईं। इसी प्रकार जापान, मिस्र, तुर्किस्तान और चीन इत्यादि की अर्धशिक्षित और अर्धसभ्य जातियाँ भी उसी भौतिकवाद में समाती जाती हैं, किन्तु जब भौतिकवाद की ओर देखते हैं तब पता चलता है कि भौतिकवाद भी अपनी वर्त्तमान स्थिति से स्वयं सन्तुष्ट नहीं है, क्योंकि भौतिकवाद में भी जंगली प्रवृत्ति ही काम कर रही है। जिस प्रकार जंगली अवस्था में अवसर पाकर एक जंगली दूसरे जंगली से अधिक सुखी होने में कुछ भी विचार नहीं करता, प्रत्युत साथवालों को छोड़कर तुरन्त ही अधिक सुख का भोग करने लगता है, उसी प्रकार भौतिकवादी भी अपने स्वार्थ के सामने दूसरे के दु:खों की परवाह नहीं करता। यही कारण है कि जिस प्रकार असभ्य और अर्धसभ्य जातियाँ भौतिकवाद में समाती जाती हैं उसी प्रकार असमानता और अशान्ति से तंग आकर भौतिकवाद भी साम्यवाद और नेचरवाद में परिणत होता जाता है। भौतिकवादियों के इन दो मार्गों के अवलम्बन करने का कारण यह है कि उनमें अब तक सबको एक समान उच्च शिक्षा नहीं मिली। उनमें अबतक शिक्षित और अर्धशिक्षित दो प्रकार के लोग हैं, इसीलिए अर्धशिक्षित लोग भौतिक साम्यवाद को और उच्च शिक्षित लोग नेचरवाद को पसन्द करते हैं। अर्धशिक्षित यह तो मानते हैं कि असमानता अच्छी नहीं है, परन्तु भौतिकवाद में जो विलास का विष है उसके त्यागने की योग्यता अभी उनमें नहीं आई।

वे अब तक सबको एकसमान ही विलाससामग्री पहुँचाना चाहते हैं। वे समझते हैं कि यदि सबको भौतिक विलास और भौतिक आमोद-प्रमोद पहुँचा दिया जाए तो सब लोग सुखी हो जाएँ। उनके ध्यान में यह बात अभी नहीं आती कि एक तो संसार में इतना विलास का बढ़ानेवाला सामान ही नहीं है, जो सब मनुष्यों को समानता से दिया जा सके, दूसरे विलास से मनुष्य को कभी सन्तोष नहीं होता और अन्त में उसका मन अत्यन्त पतित हो जाता है और वह कामी बनकर फिर उसी पशुवत् दशा में चला जाता है, जहाँ से निकलकर वह भौतिकवाद में होता हुआ साम्यवाद तक पहुँचा है, परन्तु यूरोप के उच्च शिक्षितों की बात और है। वे इस भौतिक साम्यवाद के दुर्गुणों को जानते हैं। वे जानते हैं कि भौतिक विलास और शृङ्गार की मात्रा चाहे जितनी कम हो, उसमें यह प्रभाव है कि वह नशे की भाँति धीरे-धीरे बढ़ता जाता है और अन्त में मनुष्य का नाश कर देता है, इसीलिए उन्होंने बड़े ज़ोर से लोगों को पुकारा है कि लौटो, लौटो! नेचर की ओर लौटो!!

इस कारणकार्यमाला से ज्ञात होता है कि नेचरवादियों के सिद्धान्त भी भौतिकवाद के ही परिणाम हैं, अर्थात् जिस प्रकार अशिक्षावाद का परिणाम भौतिकवाद है, उसी प्रकार भौतिकवाद का परिणाम साम्यवाद और साम्यवाद का परिणाम नेचरवाद है। नेचरवादियों का विचार है कि समस्त बुराइयों की जड़ भौतिकवाद, अर्थात् विज्ञानवाद ही है, इसीलिए नेचरवाद में बौद्धिक विचारों को स्थान नहीं दिया जाता। नेचरवादियों का विश्वास है कि मनुष्य को उसके बौद्धिक विचारों ने ही पतित किया है। वे कहते हैं कि मनुष्य जब अपनी स्वाभाविक स्थिति में था, उस समय उसमें इस प्रकार का विचार-स्वातन्त्र्य न था। वह एक प्रकार का पशु था और पशुओं की ही भाँति उसे भी नेचर की ओर से प्रेरणाएँ मिलती थीं और तदनुसार व्यवहार करने से ही वह हर प्रकार से सुखी था, इसीलिए यदि सच्चे सुख की अभिलाषा हो तो बौद्धिक विचारों को छोड़कर सबको फिर नेचर के ही अधीन हो जाना चाहिए। यद्यपि सुनने में ये बातें बड़े मार्के की प्रतीत होती हैं, परन्तु इसकी विशेषता तभी तक है जब तक इसका व्यवहार पढ़े-लिखे लोग कर रहे हैं। ज्यों ही लोगों ने पढ़ना-लिखना छोड़कर नेचर की ओर बढ़ना आरम्भ किया और एक सौ वर्ष व्यतीत किये, त्यों ही उनकी यह सभ्यता उनकी सन्तति के हाथ से निकल जाएगी और वे फिर उसी प्रकार के घोर जंगली और असभ्य बन जाएँगे जिस प्रकार के वे नेचरवाद के पहले और भौतिकवाद के भी पहले थे। इस प्रकार से यह चक्कर घूमकर वहीं पहुँचेगा जहाँ से चला है। ऐसी दशा में हम कह सकते हैं कि लोगों की ये अनेक स्कीमें और अनेक विधियाँ जो मनुष्यजाति को सुखी बनाने के लिए यूरोप में निकाली गई हैं, सब उपर्युक्त चार ही विभागों में समा जाती हैं और जिस प्रकार बाइचान्स—इत्तफ़ाकिया—कारणकार्याभाव से उत्पन्न हुई हैं, उसी प्रकार एक-दूसरी का परिणाम होने से अन्त में अपने कारण में—जंगली दशा में—समा जाएँगी। इसका कारण यही है कि ये सब विधियाँ मनुष्यों ने आवश्यकता उत्पन्न होने पर अपने स्वार्थ के लिए स्थिर की हैं, सृष्टि की वास्तविक रचना और उसके वास्तविक उपयोग पर ध्यान देकर नहीं। सृष्टि की वास्तविक रचना और उसके उपयोग करने की वास्तविक विधियों का ठीक-ठीक पता लगाना मनुष्यबुद्धि के बाहर है। उसका सच्चा ज्ञाता तो परमेश्वर ही है। वही आदि में मनुष्यों को सब भेद और विधियाँ बतलाता है। उसके बतलाये हुए रहस्यों और विधियों का ही संग्रह वेदों में है, इसलिए जब तक मनुष्य अपना धर्म, समाज और राष्ट्र वैदिक विधि के अनुसार निर्माण न करे तब तक वह स्थायीरूप से सुखी नहीं रह सकता।

यह वैदिक विधि जो आर्यसभ्यता में ओत-प्रोत है एक पाँचवीं विधि है, जिसका नाम त्यागवाद है। हमने इस विधि को इसलिए उपस्थित करना उचित समझा है कि भारतवर्ष अब निश्चय ही अपना राष्ट्रनिर्माण करने के लिए उद्विग्न है और उसके राष्ट्रनिर्माण का एक विलक्षण प्रभाव संसारभर पर पड़नेवाला है, क्योंकि भारतवर्ष संसार की समस्त जनसंख्या का पाँचवाँ भाग है और अपनी प्राचीनता में समस्त संसार का पितामह है। उसकी सभ्यता, उसका दर्शन और उसका धर्म आज भी संसार में

सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है और आज भी उससे संसार के सभी लोग अधिक लाभ उठा रहे हैं। ऐसी दशा में संसार की समस्त जातियाँ उत्सुकता से सुनना चाहती हैं कि भारतवर्ष अपनी कौन-सी नीति स्थिर करता है, अतः हमने समस्त संसार के उन लोगों के सामने जो नाना प्रकार की स्कीमें सोचा करते हैं और भारतवर्ष के उन लोगों के सामने जो भारत के लिए भी कोई विधि निश्चित करना चाहते हैं, इस त्यागवाद की विधि को उपस्थित करने का साहस किया है। हमारा विश्वास है कि इस वैदिक त्यागवाद की विधि से ही भारतवर्ष और संसार का कल्याण हो सकता है, अन्य विवादग्रस्त वादों और विधियों से नहीं, क्योंकि संसार में सब प्रकार की विधियों की परीक्षा हो चुकी है और सब प्रकार की विधियाँ फ़ेल हो चुकी हैं, इसलिए अब सिवा इस भारतीय त्यागवाद के और कोई दूसरी विधि ऐसी नहीं प्रतीत होती जो मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और तृण-पल्लव को एकसमान लाभदायक होकर लोक-परलोक के सच्चे सुखों को प्राप्त करानेवाली हो सके। यही कारण है कि हमने इस पुस्तक में आर्यसभ्यता के त्यागवाद का विस्तृत वर्णन किया है।

हमने इस पुस्तक के उपक्रम में दिखलाया है कि इस समय यूरोप में वर्त्तमान भौतिकवाद से हताश होकर एक नवीन सभ्यता—नेचरवाद का उपक्रम हो रहा है, परन्तु उसमें उस सभ्यता को स्थिर रखने की शक्ति नहीं है, क्योंकि वह सभ्यता मनुष्यों को नेचर के अधीन हो जाने का परामर्श देती है और अपनी बुद्धि और विचार को काम में लाने की आज्ञा नहीं देती। इस सभ्यता के प्रचारकों का यह विश्वास है कि आरम्भकाल में मनुष्य अत्यन्त सुखी था और उसकी सुख-शान्ति का कारण उसका नैसर्गिक व्यवहार ही था, ज्ञान-विज्ञान नहीं, किन्तु हम देखते हैं कि ज्ञान-विज्ञान के छोड़ने से मनुष्य जंगली हो जाता है और अपनी तथा अपनी सभ्यता की रक्षा नहीं कर सकता, अतएव नेचरवाद की सभ्यता किसी अंश में अच्छी होती हुई भी अपने अन्दर चिरस्थायी रहने की शक्ति नहीं रखती, इसलिए यह सभ्यता त्रुटिपूर्ण है। इस सभ्यता की त्रुटियाँ तब तक दूर नहीं हो सकतीं जब तक वैदिक आर्यसभ्यता का अनुकरण न किया जाए। नेचरवादियों के अनुसार आरम्भ में मनुष्य अधिक सुखी और शान्त था, किन्तु हम देखते हैं कि उस सुख-शान्ति का कारण नैसर्गिक जीवन न था, प्रत्युत आदिम मनुष्यों की सुख-शान्ति का कारण वैदिक शिक्षा ही थी जो मनुष्योत्पत्ति के साथ-ही-साथ परमेश्वर की ओर से दी गई थी।

इस वैदिक शिक्षा की दीर्घकालीनता और प्राचीनता को हमने प्रथम खण्ड में दिखलाया है और बतलाया है कि वेदों की सभ्यता मिस्र आदि देशों की समस्त सभ्यताओं से अत्यन्त प्राचीन है और आदिमकालीन है। जो लोग वेदों के शब्दों से इतिहास निकालकर और ज्योतिष् के सिद्धान्तों का वर्णन निकालकर वेदों का उत्पत्तिकाल निश्चित करते हैं, वे ग़लती पर हैं। वेदों से वेदों का समय नहीं निकाला जा सकता। वेदों का समय तो आर्यों के प्राचीन इतिहास से ही निकल सकता है और वह समय वैवस्वत मनु तक जा पहुँचता है, जो मनुष्योत्पत्ति का ही समय है।

वेदों की आदिमकालीनता पर प्रकाश डालने के बाद हमने द्वितीय खण्ड में आदिम ज्ञान और आदिम भाषा का पता लगाने के लिए विकासवाद की आलोचना की है। विकासवाद के समस्त अङ्ग-उपाङ्गों की विस्तृत समालोचना से ज्ञात होता है कि आदिम ज्ञान और आदिम भाषा अपौरुषेय, अर्थात् ईश्वरप्रदत्त ही होती है और आदिम ज्ञान और आदिम भाषा ही अपभ्रष्ट होकर नाना रूपों में दिखलाई पड़ती है। अपभ्रंश सदैव विस्तार से संकोच की ओर और क्लिष्टता से सरलता की ओर दौड़ते हैं, अतः इस नियम से पाया जाता है कि वैदिक भाषा की वर्णमाला संसार की समस्त वर्णमालाओं से विस्तृत और क्लिष्ट है, इसलिए वह किसी का अपभ्रंश नहीं हो सकती, प्रत्युत वह अपौरुषेय सिद्ध होती है। इसी प्रकार उस सार्थक भाषा द्वारा प्रेरित ज्ञान ही वेदज्ञान है और वह भी अपौरुषेय ही है।

वेदों की अपौरुषेयता पर प्रकाश डालने के बाद हमने भारतीय आर्यों की वर्त्तमान अवनति का कारण तृतीय खण्ड में बतलाया है। हमने ऐतिहासिक प्रमाणों से यह दिखलाने का यत्न किया है कि

कारणवश कुछ आर्यों में प्रमाद उत्पन्न हुआ और अनाचार की प्रवृत्ति हुई। इस प्रवृत्ति को रोकने के लिए विशुद्ध आर्यों ने प्रमादी अनाचारियों को अपने से पृथक् कर दिया। ये पृथक् किये हुए पतित आर्य भारतवर्ष से चलकर अनेक देशों में बस गये और बहुत दिन तक भिन्न-भिन्न देशों और परिस्थितियों में रहने के कारण रूप और विश्वासों में यहाँ के आर्यों से विलक्षण बन गये तथा समय-समय पर प्रसङ्गानुसार यहाँ वापस आकर फिर बस गये और आर्यों में सम्मिलित हो गये। इस सम्मेलन से आर्यों के विश्वास विदेशियों में और विदेशियों के विश्वास तथा रीति-रिवाज आर्यों में संक्रमित हुए, जिसके कारण आर्यों की वैदिक सभ्यता में अन्तर पैदा हो गया और वही अन्तर भारतीय आर्यों के पतन का कारण बना। आर्यों के साहित्य में आर्य और अनार्य दोनों प्रकार के सिद्धान्त विद्यमान हैं, जो हमारी इस बात को पुष्ट करते हैं।

इतना सब-कुछ लिखने के बाद चतुर्थ खण्ड में हमने आर्यों की उस त्यागवाद की सभ्यता का उज्ज्वल स्वरूप दिखलाया है जो परमात्मा की ओर से आदि सृष्टि में वेदों के द्वारा आदिमकालीन मनुष्यों को मिली थी। हमारा विश्वास है कि आर्यों ने उस सभ्यता के भवन को अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की आधारशिलाओं पर स्थिर किया है और उसे वर्णाश्रम की सुदृढ़ शृङ्खला से कसकर बाँध दिया है। इस सभ्यता के अनुसार व्यवहार करने से लोक-परलोक से सम्बन्ध रखनेवाली मनुष्य को जितनी इच्छाएँ हैं, सबकी पूर्ति हो जाती है और किसी भी प्राणी को किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता, प्रत्युत एक ऐसा सुदृढ़ राजमार्ग बन जाता है कि मनुष्यसमाज अपनी इस सभ्यता की रक्षा करते हुए सुख और शान्ति से जीवन व्यतीत करता है तथा अन्य समस्त प्राणी भी अपनी पूर्ण आयु जीने की सुविधा प्राप्त करते हैं।

इसके बाद उपसंहार में हमने बतलाया है कि आर्यों के समस्त आर्यसाहित्य और आर्यव्यवहार से एक स्वर के साथ यही आवाज़ निकलती है कि वैदिक आर्यसभ्यता का आदर्श मोक्ष को केन्द्र मानकर लोक में समस्त प्राणियों के दीर्घजीवन का प्रबन्ध करके सबसे सबको सुख पहुँचाने की ओर ले-जाता है और अपनी इस सभ्यता को चिरंजीवी रखने की शक्ति प्रदान करके एक ऐसा राजमार्ग बना देता है कि जिसपर चलने से समस्त प्राणी दीर्घातिदीर्घजीवन—मोक्ष को सरलता से पहुँच सकते हैं। यही इस ग्रन्थ का सारांश है और यही इस ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों का क्रम है।

अनेक लोग कहते हैं कि जिस महत्त्वपूर्ण विचार को लेकर इतना बड़ा ग्रन्थ लिखा गया है और जिस रीति-नीति, आचार-व्यवहार और रहन-सहन के अनुसार समस्त मनुष्यसमाज को अपना जीवन बनाने की अभिलाषा प्रकट की गई है उस रीति-नीति में भी कई त्रुटियाँ हैं। एक तो इसमें बार-बार ईश्वर, धर्म, वेद और मोक्ष की बातें कही गई हैं, जो बिलकुल ही समय के विपरीत हैं। इन बातों का अब महत्त्व नहीं है। इन बातों को यूरोप के विद्वानों ने अपने मस्तिष्क से निकाल दिया है, इसलिए अब इनकी पुन: प्रतिष्ठा नहीं हो सकती और न वह सभ्यता ही चल सकती है, जिसमें इस प्रकार की अप्रत्यक्ष बातों को महत्त्व दिया गया हो। दूसरी त्रुटि इसमें यह है कि संसार के प्राय: सभी मनुष्य अपने धर्म, अपने रीति-रिवाज और अपनी पुरानी सभ्यता के पक्षपाती होते हैं, इसलिए संसारभर की सभी जातियाँ अपनी पुरानी सभ्यता का मोह छोड़कर वेद के नाम से न तो वैदिक ही हो सकती हैं और न अपने को आर्य ही कह सकती हैं। तीसरी त्रुटि इसमें यह है कि इस व्यवस्था के अनुसार देश में दरिद्रता के फैल जाने का भय है। एक तो देश वैसे ही बहुत ग़रीब है, दूसरे इस प्रकार के विचारों के प्रचार से और भी अधिक आलस्य और दरिद्रता के फैल जाने का डर है। चौथी त्रुटि यह है कि यह व्यवस्था मनुष्यस्वभाव के भी विरुद्ध है, क्योंकि मनुष्य सदैव शोभा-शृङ्गार, ठाट-बाट और बनाव-चुनाव को ही पसन्द करता है, परन्तु इस व्यवस्था में अस्वाभाविक रहन-सहन का वर्णन किया गया है, इसलिए इसका प्रचार सर्वसाधारण में नहीं हो सकता। पाँचवीं त्रुटि यह है कि जिस वेद और आर्ष साहित्य के अनुसार वैदिक सम्पत्ति का संकलन किया गया है उस वेद और आर्ष साहित्य के माननेवाले भारतवासी

लौकिक साहित्य से प्रभावित किसी वेदभाष्य में नहीं, इसलिए सम्प्रदायों का चश्मा उतारकर उस वर्णाश्रमव्यवस्था का जो अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष में ओत-प्रोत है निरीक्षण करने से ही ज्ञात हो सकता है कि आर्यों की वास्तविक सभ्यता क्या है ? आर्यों की असली सभ्यता के नमूने उपनिषदों में श्रेय और प्रेय का वर्णन करते हुए और गीता में दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का वर्णन करते हुए स्पष्ट कर दिये गये हैं, अतएव हमने उसी श्रेय और दैवी सम्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली वास्तविक आर्यसभ्यता का स्वरूप इस पुस्तक में दिखलाया है। ऐसी दशा में यह न तो आर्यसमाज से विरोध रखती है, न सनातनधर्म से, न हिन्दुओं से, न मुसलमानों से, न ईसाइयों से, न पारसियों से और न जैनों से, न बौद्धों से। यह सभ्यता तो मनुष्यमात्र की है और मनुष्यमात्र को एक समान ही लाभ पहुँचानेवाली है। यही कारण है कि इसमें स्थिरता का गुण विद्यमान है। यह अपने इस स्थिर गुण के कारण ही लाखों वर्ष तक अपने वास्तविक रूप में रह चुकी है और आगे भी यह अपने शुद्धरूप के साथ सदा रह सकती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

आर्यसभ्यता का वास्तविक स्वरूप प्रकट करने के लिए ही हमें इस ग्रन्थ के तृतीय खण्ड में कई जातियों का इतिहास लिखना पड़ा है और कई स्थानों पर अपने आचार्यों, पूज्यों और मित्रों के मत की आलोचना भी करनी पड़ी है, जिसके लिए हमें दु:ख है। हमारा कभी स्वप्न में भी यह विचार नहीं है कि संसार की कोई भी जाति, चाहे वह द्रविड़ हो या चितपावन, मुसलमान हो या ईसाई और पारसी हो या बौद्ध, वास्तविक मौलिक आर्यों के ख़ून से सम्बन्ध नहीं रखती। हम संसारभर के मनुष्यों को आर्यों के ही वंशज समझते हैं। इसी प्रकार हमारा यह भी विचार नहीं है कि आर्यों के साहित्य को केवल द्रविड़ों, चितपावनों, मुसलमानों और ईसाइयों ने ही दूषित किया है और उत्तरी, पश्चिमी और पूर्वी ब्राह्मणों, क्षत्रियों और अन्यों ने नहीं, प्रत्युत हमारा यह विश्वास है कि जिस प्रकार उपर्युक्त जातियों ने आर्यों के साहित्य को बिगाड़ा है उसी प्रकार अन्य जातियों ने भी बिगाड़ा है। यह बात हमने तृतीय खण्ड में ही लिख भी दी है, परन्तु स्मरण रहे कि हमने जो कुछ लिखा है वह किसी को बदनाम करने या नीचा दिखलाने के लिए नहीं लिखा, प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से केवल वैदिक आर्यसभ्यता का वास्तविक स्वरूप दिखलाने के लिए ही लिखा है, इसलिए हम उन महानुभावों के समक्ष क्षमा के प्रार्थी हैं जो हमारी समालोचना से असन्तुष्ट हों। इसी प्रकार हम अपने पूज्यों और मित्रों से भी क्षमा-प्रार्थना करते हैं, जिनके मत की आलोचना हमने विवश होकर की है।

इसके सिवा हमको यह बात अच्छी प्रकार ज्ञात है कि वैदिक राजमार्ग में जमाई हुई जिन दुर्गम और दुर्गेय शिलाओं को काटकर हमने प्राचीन मौलिक आर्यों के घण्टापथ को विस्तृत किया है उन सिद्धान्तरूपी शिलाओं से प्रभावित हुए विद्वानों की दृष्टि में हमने अनेक शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को न समझा होगा, परन्तु इसमें हमें कुछ भी असमञ्जस नहीं है। हम ख़ूब जानते हैं कि शास्त्रों का मत समझने में हमसे ग़लती हुई होगी, किन्तु इतना हमें विश्वास है कि हमने आर्यसाहित्य और आर्यसभ्यता के अनुशीलन से आर्यों के वास्तविक उद्देश्य और वास्तविक आचार-व्यवहार को स्पष्ट करने में ग़लती नहीं की। यदि यह सत्य हो तो यह बात निर्विवाद है कि हमने उसी उद्देश्य और उसी रहन-सहन के प्रचारार्थ यह पुस्तक लिखी है, शास्त्रीय सूक्ष्मताओं को समझाने के लिए नहीं। यही कारण है कि इस पुस्तक में प्राय: वेदों के ही सिद्धान्त लिये गये हैं और साम्प्रदायिक मत-मतान्तरों से सम्बन्ध रखनेवाले शास्त्रों के सिद्धान्तों पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। वेदों के सिद्धान्त-संग्रह करने में भी वेदभाष्यों से बहुत ही कम सहायता ली गई है, क्योंकि वेदों के भाष्य भी साम्प्रदायिक रंग में ही रंगे हुए हैं और मनमानी कल्पनाओं से परिपूर्ण हैं। हमारा तो विश्वास है कि मत-मतान्तरों और साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का चश्मा लगाकर कोई विद्वान् कभी भी वेदों की वास्तविक शिक्षा तक पहुँच ही नहीं सकता, इसलिए हम साम्प्रदायिक और शास्त्रज्ञ विद्वानों से भी क्षमा की याचना करते हैं और निवेदन करते हैं कि वे केवल हमारे शुद्ध उद्देश्य को ही देखें और अपने मन में जमे हुए भावों के वशीभूत होकर इसमें अपने

उद्देश्यों को ढूँढने का कष्ट न उठावें।

हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर कुछ लोग वेदों से भौतिक विज्ञान और यूरोपिय ढंग की बातें निकालते हैं, वहाँ दूसरी ओर कुछ लोग पशुहिंसा, मद्यपान, व्यभिचार, अश्लील पूजन और ऐसी ही अन्य अनेक ऊलजलूल और बुद्धिविपरीत साम्प्रदायिक बातें निकालते हैं। तीसरी ओर से यह भी आवाज़ आती है कि वेदों में वर्त्तमान समयोपयोगी बातों का बिलकुल ही अभाव है। ये लोग कहते हैं कि इस समय पाश्चात्य विज्ञान ने जो उन्नति की है और विद्वानों ने जितना ज्ञान संग्रह किया है उसको देखते हुए वेदों में कुछ भी उन्नत विचार नहीं पाये जाते, इसलिए वेदों के पीछे पड़ना और उनके अध्ययन-अध्यापन में समय नष्ट करना उचित नहीं है। जहाँ तक हमारा अनुभव है, हम देखते हैं कि इस तीसरे दल की बातों का प्रभाव देश के साधारण लोगों पर तो पड़ा ही है, साथ ही बड़े-से-बड़े नेता भी इन बातों के प्रभाव से नहीं बचे। यही कारण है कि हिन्दूधर्म को मानते हुए भी वेदों के पठन-पाठन का, वैदिक विज्ञान के विचार का और वैदिक व्यवस्था के प्रचार का सारे भारतवर्ष में कहीं पर भी—किसी भी पाठशाला, गुरुकुल, ऋषिकुल और विश्वविद्यालय में—प्रबन्ध नहीं है। इन संस्थाओं के संचालकों को वेदों में समयोपयोगी शिक्षा की कोई भी विधि दिखलाई नहीं पड़ती। कुछ तो उनमें रेल-तार का वर्णन न पाकर हताश हो गये हैं, कुछ साम्प्रदायिक बातों को न देखकर चुप्पी साध गये हैं और कुछ यह समझकर उपेक्षा कर बैठे हैं कि वेदों में वर्त्तमान युग के अनुकूल शिक्षा नहीं है तथा यूरोप से समयोपयोगी शिक्षा मिल रही है, इसलिए वेदों में सिर मारने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु हम बलपूर्वक कहते हैं कि वेदों की ही शिक्षा इस समय में भी समयोपयोगी है, यूरोप की नहीं। वेदों में जो समयोपयोगी शिक्षा का अभाव दिखलाई पड़ता है उसका कारण वेद नहीं, किन्तु वेदों के भाष्यकार हैं। वेदों के अधिकांश भाष्यकारों ने वेदों से वेदों की वास्तविक शिक्षा के प्राप्त करने का यत्न नहीं किया, प्रत्युत उन्होंने वेदों से बलात् उन बातों के निकालने का यत्न किया है जो उनको प्रिय थीं, जिनमें उनका मनोरञ्जन था और जिनसे वे प्रभावित थे। यही कारण है कि लोगों को वेदों के वास्तविक स्वरूप का दर्शन नहीं हो पाता। बहुत दिन से देशी और विदेशी सभी भाष्यकार वेदों को चक्कर में डाले हुए हैं। ऐसी दशा में लोगों की जो वेदों से उपेक्षा दिखलाई पड़ती है वह स्वाभाविक ही है, परन्तु हम देखते हैं कि अब समय फिरा है, संसार में वेदानुकूल वायुमण्डल तैयार होने लगा है और अब एक प्रकार से संसार स्वयं वेदों की वास्तविक शिक्षा की ओर आने लगा है, इसलिए हमने वेदों की वास्तविक शिक्षा को ही संसार के सामने उपस्थित करने का यत्न किया है, अपनी ओर से नमक-मिर्च लगाने का नहीं। हम नहीं जानते कि हमें इसमें कहाँ तक सफलता हुई है, परन्तु इतना तो हम कह सकते हैं कि जब हम जैसे वैदिक ज्ञान-विहीन क्षुद्र व्यक्ति भी वेदों से एक सार्वभौम योजना की सामग्री प्राप्त कर सकते हैं तब वे विद्वान् जो ज्ञान-विज्ञान, भाषाशास्त्र, इतिहास, धर्म और राजनीति के ज्ञाता हैं, यदि वेदों का स्वाध्याय करें तो वेदों से बहुत कुछ लोकोपयोगी शिक्षा का पता लगा सकते हैं, यह हमारा दृढ़ विश्वास है। यही कारण है कि हमने इस ग्रन्थ में मुख्य विषय को चतुर्थ खण्ड में और प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय खण्ड में वेदों की महत्ता का ही वर्णन किया है। इस वर्णनक्रम का यही प्रयोजन है कि लोगों को अच्छी प्रकार विदित हो जाए कि वेद आदिमकालीन हैं, अपौरुषेय हैं, अतएव उनमें जो सार्वभौम शिक्षा दी गई है वह निर्भ्रान्त है और संसार के समस्त मनुष्यों के लिए उपयोगी तथा प्राणिमात्र के लिए कल्याणकारी है।

हम मानते हैं कि जिन विषयों का समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है उनपर ग्रन्थ लिखने की योग्यता हममें नहीं है। हम तो ऐसे विषयों की ओर संकेत करने के भी अधिकारी नहीं हैं, इसलिए हमें उचित न था कि हम ऐसे महान् विषयों पर लेखनी उठाते, परन्तु हम देखते हैं कि आज पचास-साठ वर्ष से इस देश में धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक चर्चा हो रही है और इन सभी चर्चाओं में इस ग्रन्थ से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी बातों की आवश्यकता भी पड़ती है, परन्तु जहाँ तक हमें ज्ञात

है आज तक किसी ने समस्त बातों का सामञ्जस्य करके कोई ग्रन्थ तो क्या चार लाइनें भी लिखने की कृपा नहीं की। जिन बातों का उल्लेख इस ग्रन्थ में किया गया है क्या बिना उनपर प्रकाश डाले, बिना उनको समझे और बिना उनका समाधान किये कोई भी धर्म, कोई भी समाज और कोई भी राष्ट्र किसी प्रकार की पक्की, स्थिर और सुखदायी व्यवस्था कर सकता है ? कभी नहीं ! कदापि नहीं !! ऐसी दशा में ग्रन्थ नहीं, केवल एक प्रकार की विषयसूची उपस्थित करके यदि हमने विद्वानों के सामने धृष्टता की है तो यह कहने में हानि नहीं कि हमारी यह मूढसेवा क्षमा के योग्य है।

हमारा विश्वास है कि जब तक भारतीय विद्वान् हमारी इन सूचनाओं पर यथोचित ध्यान न देंगे, इस पुस्तक में दिये हुए समस्त विषयों पर अच्छा प्रकाश न डालेंगे और उन समस्त वैज्ञानिक, सामाजिक और राजनैतिक मार्गों में न घूम लेंगे जिनकी आर्य वैदिक सभ्यता के प्रचार में आवश्यकता पड़ना सम्भव है तब तक संसार की सभ्य जातियों में वैदिक आर्यसभ्यता का प्रचार नहीं हो सकता और न संसार की जटिल समस्याओं की उलझन ही सुलझ सकती है, इसलिए यद्यपि यह सूची परिपूर्ण नहीं कही जा सकती तथापि त्याज्य और उपेक्ष्य भी नहीं है, यही हमारी विनय और प्रार्थना है।

हमने इस ग्रन्थ के उपयोगी और आवश्यक भागों को अठारह बीस वर्ष पूर्व लिखा था और 'अक्षरविज्ञान' नामी अपनी एक पुस्तक में इसकी चर्चा भी कर दी थी, परन्तु छपाकर प्रकाशित नहीं किया था। इसका कारण यही था कि हम अपनी कमज़ोरियों को समझते थे, परन्तु जिस समय अक्षरविज्ञान छपकर बाहर निकला तो उसकी प्रशंसा कई पूज्य विद्वानों ने की। कई पत्र और पत्रिकाओं ने उसपर लेख लिखे। उर्दू, अंग्रेज़ी और बँगला में उसके अनुवाद हुए और हमारी स्वीकृति भी माँगी गई। भारतवर्ष का इतिहास, सृष्टिविज्ञान, वृक्षों में जीव और पुनर्जन्म आदि पुस्तकों में कहीं सूचनाएँ और कहीं उद्धरण दिये गये और दो-एक संस्थाओं ने उपाधियों के भेजने की भी कृपा की। ऐसी दशा में हमारे लिए बहक जाना और यह विचार करना स्वाभाविक था कि जिस सामग्री को हमने बीस वर्ष से संग्रह कर रक्खा है उसको सुव्यवस्थित रूप में सबके सामने उपस्थित करना अच्छा है। सम्भव है उसमें कुछ सत्यांश भी हो और उससे संसार को लाभ पहुँचे, अथवा भूल ज्ञात होने पर हमारा ही भ्रम संशोधित हो जाए। बस, इसी शुद्ध प्रेरणा ने हमसे इस ग्रन्थ को लिखवाया है, इसलिए भी हम क्षमा के ही योग्य हैं।

हमने इस ग्रन्थ के लिखने में अनेक ग्रन्थों, पत्रों, पत्रिकाओं, व्याख्यानों, शास्त्रार्थों और प्रासंगिक वार्त्तालापों से सहायता प्राप्त की है, इसलिए हम उन सभी ग्रन्थकारों, पत्रकारों व्याख्यानदाताओं और सत्संगी महानुभावों के कृतज्ञ हैं। सबसे अधिक कृतज्ञ हम मुम्बई निवासी सेठ श्री शूरजी वल्लभदास वर्मा के हैं, जिनकी सहायता से हम इस ग्रन्थ के लिखने और छपाने में समर्थ हो सके हैं। अन्त में हम समस्त ग्रन्थकारों, पत्रकारों, व्याख्यानदाताओं और वाद-विवाद करनेवाले धार्मिक और राजनैतिक विद्वानों से सानुरोध प्रार्थना करते हैं कि वे इस ग्रन्थ की त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर केवल इसके सिद्धान्तों की प्रचारात्मक आलोचना करें, जिससे शीघ्र ही इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कई उत्तम ग्रन्थ योग्य विद्वानों की लेखनी से लिखे जाएँ और परमात्मा की अतुल दया से इस वैदिक व्यवस्था का संसार में शीघ्र प्रचार हो जाए, यही हमारी अन्तरेच्छा है। इत्योम् शम्।

कानपुर,
वैशाख शुक्ल पूर्णिमा संवत् १९८७

निवेदक—
रघुनन्दन शर्मा

विषय सूची

—o—

प्रकाशकीय

सृष्टि के सभी प्राणियों में मनुष्य ही एक चिन्तन=मननशील प्राणी है। संसार की गतिविधियों को देखते हुए उसने चिन्तनपूर्वक यह निश्चय किया कि इस कार्य का कर्त्ता भी अवश्य होना चाहिए और उसने उस कर्त्ता को नाम दिया—ईश्वर! उधर ईश्वर ने मनुष्य को आध्यात्मिक सम्बल प्रदान करने के लिए एक विधान बनाया। साथ ही साथ एक भाषा का निर्माण भी किया। उस भाषा के माध्यम से मन्त्रों के रूप में विधान को प्रस्तुत किया, जिसको ज्ञान का भण्डार होने के कारण विद्वानों ने (विद् सत्तायाम्, विद् ज्ञाने, विद् विचारणे, विद्लृ लाभे धातुओं से) वेद कहा। चूँकि उस समय कागज और लेखनी का आविष्कार तक नहीं हुआ था, इसलिए एक से सुनकर दूसरा, दूसरे से सुनकर तीसरा कर्ण–परम्परा द्वारा ही स्मरण रखता था, अत: इसका एक नाम श्रुति भी पड़ा। बहुत बाद में चलकर श्री कृष्ण द्वैपायन ऋषि (व्यास जी) ने इन चारों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का बहुत प्रचार किया।

हमारी भारतीय संस्कृति की मान्यता है और यह सत्य भी है कि संस्कृत भाषा (देववाणी) तथा वेदज्ञान ईश्वर–प्रदत्त है परन्तु भौगोलिक भिन्नता के कारण भाषा का रूप बदलकर अंग्रेजी, अरबी–फारसी आदि हो गया।

हजारों–लाखों सहस्राब्दियों के बीतने के बाद आज लोग इसकी अपौरुषेयता पर सन्देह प्रकट करने लगे। इसी शंका के समाधान के लिए पं० रघुनन्दन शर्मा ने अपने बीस वर्ष के कठिन परिश्रम एवं तपस्या के बाद 'वैदिक सम्पत्ति' नामक ग्रन्थ की रचना करके लोगों का भ्रम दूर करने का सफल प्रयास किया है।

'वैदिक सम्पत्ति' नामक प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन के बाद इसकी अपौरुषेयता पर किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं रह जाता। पं० रघुनन्दन शर्मा ने यज्ञ के विधान में ऐसी वैज्ञानिकता का समावेश कर दिया है कि प्रत्येक पाठक ही नहीं, अपितु नास्तिक व्यक्ति के मन में यज्ञ के प्रति श्रद्धा पैदा हो जाती है।

उन्होंने संस्कृत भाषा की अपौरुषेयता पर भी अकाट्य तर्क दिया है। उन्होंने आज के विज्ञान को वैदिक संस्कृति की देन बताया है तथा यह भी सिद्ध किया है कि उस समय का विज्ञान आज के विज्ञान से अधिक श्रेष्ठ था। ऋषियों–मुनियों को वेद का रचयिता मानने वालों की 'वैदिक सम्पत्ति' पुस्तक पढ़ने से आँखें खुल जाती हैं कि ऋषि–मुनि रचयिता नहीं, अपितु मन्त्र–द्रष्टा थे, जिन्होंने मन्त्रों का स्पष्टीकरण करके उन्हें सर्वजन–सुलभ बनाया। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि कुछ पाश्चात्य आक्रान्ताओं ने हमारे वेदों को चुराकर अपने देशों को समृद्ध कर लिया।

आयें इन्हें पढ़ें और उनकी शिक्षानुसार आचरण कर अपने राष्ट्र को, समाज और खुद को समृद्ध बनाएँ।

—अनिल कुमार आर्य

'वैदिक सम्पत्ति'

के

सुयोग्य लेखक

स्व० पं० रघुनन्दन शर्मा

साहित्य-भूषण,

'अक्षर-विज्ञान' सम्पादक

जीवनयुक्त मनुष्य कभी शान्ति नहीं चाहते, क्योंकि शान्ति से बल और बुद्धि दोनों में बाधा उपस्थित होने का डर रहता है, किन्तु अशान्ति से—जीवन-संग्राम से मनुष्य सदैव विजय प्राप्त करने के लिए—जीने के लिए बल और बुद्धि दोनों में उन्नति करता है और इस उन्नति से संसार के समस्त उच्चतम विज्ञानों की प्राप्ति होती है, इसलिए मनुष्य के जीवन में शान्ति का कुछ भी प्रयोजन नहीं है।

यद्यपि सुनने में ये बातें बड़ी मधुर प्रतीत होती हैं। ज्ञात होता है कि कोई बड़ा तत्त्वदर्शी बड़े मर्म और मार्के की बातें कर रहा है, परन्तु तनिक-सा सोचकर केवल एक ही प्रश्न और आगे बढ़ाने से इस आडम्बरयुक्त वाक्यसमूह की क़लई खुल जाती है। जब पूछा जाता है कि अशान्ति से उत्पन्न हुए बल और बुद्धि से मनुष्य को क्या लाभ होगा और वह विज्ञान जो अशान्ति से उत्पन्न हुआ है और अशान्ति की ही वृद्धि करता है मनुष्य के जीवन में किस अवसर पर काम आएगा तो कुछ भी उत्तर नहीं बनता। ऐसी दशा में यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि अब तक लोगों ने वास्तविक सुख-शान्ति को अच्छी प्रकार समझा ही नहीं, अतएव हम यह आवश्यक समझते हैं कि सबसे प्रथम यह समझने का यत्न करें कि वास्तविक शान्ति क्या है, क्योंकि लोगों ने मान रक्खा है कि शान्ति का तात्पर्य आलस्य और क्रियाहीनता है। लोग समझते हैं कि शान्ति चाहनेवाले रोगी, दुर्बल, मूर्ख, निकम्मे और भाग्य पर रोनेवाले होते हैं। न उनके घर खाने का ठिकाना होता है, न उनके बाल-बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध होता है और न उनका कोई समाज होता है, न राष्ट्र होता है। बड़ी गड़बड़ तो यह होती है कि जिस किसी ने उनको चार लातें मारीं, उनका घर-बार छीन लिया और अपनी दासता में नियुक्त कर दिया, परन्तु हम बलपूर्वक कहते हैं कि ये लक्षण वास्तविक शान्ति चाहनेवालों के नहीं हैं।

शान्ति चाहनेवालों का कार्यक्रम

वास्तविक शान्ति चाहनेवालों का तो नक़्शा और कार्यक्रम ही भिन्न है। वे निकम्मे नहीं होते प्रत्युत पुरुषार्थी, बलवान्, विद्वान् और बुद्धिमान् होते हैं। वे नीरोग, सुन्दर और पुष्ट होते हैं। वे दयालु और सदाचारी होते हैं। वे कलहरहित होते हैं। वे मनुष्य, पशु, पक्षी, तृण, पल्लव, कीट-पतङ्ग सभी को सुरक्षित और सुखी देखना चाहते हैं। वे प्रकृति के दास नहीं, किन्तु प्रकृति को अपने वश में रखनेवाले होते हैं। राज्यव्यवस्था, यज्ञानुष्ठान और समाधि-साधन आदि महापुरुषार्थ के काम सदैव उनके सामने रहते हैं। विद्याध्ययन के लिए उनके पास शिक्षा की बहुत-सी शाखाएँ भी उपस्थित रहती हैं और ज्ञान-विज्ञान की अन्तिम सीमा तक पहुँचने के लिए उस परमात्मा की प्राप्ति का महान् लक्ष्य सदैव उनके सामने रहता है जिसके जान लेने पर फिर कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं रहती। शान्ति चाहनेवालों की वास्तविक शान्ति का यही आदर्श है। इस प्रकार की शान्ति आलसियों, अकर्मण्यों और भीरुओं की नहीं, प्रत्युत महापुरुषार्थियों की है*।

इस शान्ति का वास्तविक अभिप्राय है ईर्ष्या-द्वेष, कलह और लड़ाई आदि की निवृत्ति, रोग, दोष, दु:ख-दारिद्र्य की समाप्ति, पशु-पक्षियों के करुणक्रन्दन का अन्त और वृक्षों पर चलती हुई कुल्हाड़ी की रोक तथा समस्त संसार को एक राष्ट्र के नीचे लाकर धर्मपूर्वक साम्यभाव से

---

* **अथ त्रिविधदु:खात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः**। —सांख्यदर्शन १।१

सबको सबसे सुख पहुँचाने का स्वर्गीय प्रबन्ध। यही शान्ति चाहनेवालों का अन्तिम ध्येय है। जो लोग लड़ाई-झगड़े, स्वार्थ और कुटिलता से मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग को दुःखी बनाकर स्वयं कृत्रिम, अस्वाभाविक और काल्पनिक बल-बुद्धि का स्वप्न देखना चाहते हैं उनका वह अशान्ति से उत्पन्न हुआ बल और विज्ञान स्वप्नसम्पत्ति ही है, वास्तविक नहीं—यथार्थ नहीं। इसका प्रमाण हमें प्रत्यक्ष मिल रहा है। हम देख रहे हैं कि वर्त्तमान वैज्ञानिक संसार धीरे-धीरे शारीरिक और मानसिक बल खोता जाता है। उसके शरीर से वह शक्ति हटती जाती है जो कठिन कामों को करने के लिए उत्साह दिलाती है। इसका कारण यही है कि वैज्ञानिक उन्नति यन्त्रों का आविष्कार करके शारीरिक श्रमों में कमी उत्पन्न कर देती है और यन्त्राश्रित मनुष्यों के शरीर निर्बल हो जाते हैं।

शारीरिक निर्बलता के साथ हृदय भी निर्बल हो जाता है और हृदय की निर्बलता के कारण मस्तिष्क स्थिर नहीं रहता। फल यह होता है कि मनुष्य भीरु, अर्थात् डरपोक बन जाता है। जब तक उसके पास बन्दूक़ रहती है तभी तक वह शेर रहता है, परन्तु बन्दूक़ के छूटते ही—बन्दूक़ का मसाला समाप्त होते ही—अथवा अधिक मार की दूसरी बन्दूक़ के सामने आते ही उसके देवता कूच कर जाते हैं और वह घबराकर आत्मसमर्पण कर देता है। यही कारण है कि भाला, तलवार अथवा और ऐसे ही सादे हथियारों की लड़ाई में वैज्ञानिक लड़ाई लड़नेवाले सैनिक खड़े नहीं रह सकते। जिस प्रकार वैज्ञानिक शस्त्रों के द्वारा यह सैनिक भीरुता उत्पन्न होती है उसी प्रकार अन्य प्रकार के यन्त्रों द्वारा अन्य अनेक प्रकार की भीरुताएँ भी उत्पन्न होती हैं। पैदल चलनेवाले भारतीय ग्रामीण साहस के साथ सैकड़ों कोस का पैदल रास्ता तय करते हैं, परन्तु मोटर पर चढ़नेवाले यन्त्राश्रित मनुष्य पंक्चर हो जाने पर घबरा जाते हैं और चार मील भी नहीं चल पाते। इसी से कहते हैं कि भौतिक उन्नति के द्वारा वास्तविक बल-बुद्धि का विकास नहीं होता, प्रत्युत ह्रास ही होता है और भीरुता बढ़ती है।

विद्वानों का कहना है कि भीरुता एक प्रकार की पशुता है, क्योंकि देखा जाता है कि जितने हिंस्र पशु दूसरों को मारते या काटते हैं वे भीरुता के ही कारण मारते-काटते हैं। वे मारे डर के ही विश्वास खो देते हैं और बिना कारण पहले ही से दूसरों के मारने की घात लगाते हैं। यही अवस्था भीरु मनुष्यों की भी है। वे भी मारे डर के किसी का विश्वास नहीं करते और बिना कारण सारी दुनिया को असमर्थ बनाकर मार डालने का उपाय किया करते हैं। इसका फल यह होता है कि इनकी इस स्वार्थबुद्धि से उत्पन्न हुई शारीरिक और मानसिक निर्बलता उनके शरीर की बनावट पर बहुत ही बुरा प्रभाव करती है। इस प्रभाव से उनके चेहरे कुरूप हो जाते हैं, आँखों से मधुरता जाती रहती है और मुख-मण्डल से सौम्यभाव चला जाता है। आजकल यूरोपनिवासियों के चेहरे इसी ढंग के हो गये हैं, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि उनको अपने इस पतन की ख़बर नहीं है। वे नहीं जानते कि उनका किस प्रकार पतन हो रहा है। उनको ख़बर नहीं है कि किस प्रकार उनमें कुरूपता और भयङ्करता बढ़ रही है, किस प्रकार बुद्धि में पाशवतत्त्व प्रविष्ट हो रहे हैं और किस प्रकार वे चेतनजगत् से दूर होते जाते हैं, उन्हें नहीं सूझता कि रेल, मोटर, मिलइञ्जन और इसी प्रकार के अन्य समस्त भौतिक पदार्थों के संस्कार उनको कहाँ लिये जा रहे हैं।

इसी प्रकार उन्हें नहीं सूझता कि रात-दिन असमर्थ मनुष्यों को सताना और पशु-पक्षियों को मार-मारकर खाना उन्हें किस गहरे गर्त की ओर ढकेल रहा है। एक ओर वे मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतनजगत् का नाश करने में लगे हैं और दूसरी ओर भौतिक पदार्थों के मोह में

जड़जगत् की उपासना कर रहे हैं, ऐसी दशा में वे चेतनजगत् से कितना दूर होते जाते हैं यह उन्हें नहीं सूझता। उनकी भौतिक प्रवृत्ति से यही प्रतीत होता है कि न उनका कोई पशु है, न पक्षी; जो है वह मारकर खाने के लिए ही है। इसी प्रकार न उनका कोई इष्ट-मित्र है, न नौकर-चाकर। जो है वह अपना स्वार्थ साधन करने के लिए अथवा अपना काम कराने के लिए। इसी प्रकार न उनकी कोई पत्नी है, न सन्तान। पत्नी है पशुवृत्ति की निवृत्ति के लिए और सन्तान है युद्धों में लड़कर दूसरों का सर्वस्व छीनने के लिए।

इस प्रकार चेतनजगत् से उनका जो थोड़ा-बहुत सम्बन्ध दिखलाई पड़ता है वह भी उस चेतनांश को हानि पहुँचाने के लिए ही है। इसपर से सहज ही अनुमान कर लेना चाहिए कि जड़वादियों की भौतिक उन्नति ने उनको किस प्रकार भीरु बनाकर चेतनजगत् का विरोधी बना दिया है और किस प्रकार उनसे संसार का अनिष्ट हो रहा है, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि चेतनजगत् परमात्मा का समीपी प्यारा मित्र है, उसको जितना ही सताया जाता है उतना ही उसमें क्षोभ उत्पन्न होता है और जितना ही क्षोभ उत्पन्न होता है, उतना ही लौटकर वह सतानेवालों का अपकार करता है। आज संसार में जो अशान्ति हो रही है—कलह, लड़ाई, बीमारी और दुष्काल हो रहे हैं—इन सबका कारण उक्त चेतनक्षोभ ही है, इसीलिए इस जड़-उपासना और चेतन-अवहेलना की इस बढ़ती हुई बाढ़ से अब सहृदय पुरुष घबराने लगे हैं। यूरोप देश ही से इस बाढ़ का प्रारम्भ हुआ है और वहीं पर इसके ताड़नेवाले भी उत्पन्न हो गये हैं। यही कारण है कि वहाँ के विद्वानों ने इस भौतिक उन्नति की अनिष्टता पर प्रकाश डालने के लिए अनेक ग्रन्थ और लेख लिखे हैं। उन्हीं में से जर्मननिवासी एडॉल्फ जस्ट (Adolf Just) नामी विद्वान् की 'रिटर्न टु नेचर' (Return to Nature) नामी पुस्तक से हम कुछ उद्धरण उद्धृत करके दिखलाते हैं कि किस प्रकार अब यूरोप के विद्वान् भौतिक उन्नति से घबराते हैं और किस प्रकार वे मनुष्य की आरम्भिक रहन-सहन की खोज कर रहे हैं। उद्धरणों के भावार्थ मूल में और ज्यों-के-त्यों वाक्य पादटिप्पणी में हैं।

दुःखों के कारण

१. आरम्भ में मनुष्य रोग, दोष, दुःख-दारिद्र्य से मुक्त था। न वह पापी था, न रोगी। वह विशुद्ध था और ईश्वरीय तेज उसमें विद्यमान था।

२. वह स्वयं अपने अपराध से, स्वच्छन्दता और आज्ञाभंग से पतित हुआ और संसार का स्वर्गीय सुख खो बैठा।

३. उसने स्वयं अपनी योग्यता और उन्नति से न राज्य किया और न शासन; परन्तु अपराधों की वृद्धि की, जिससे रोग-दोष, दुःख-दरिद्रता ने आ घेरा, विषय-वासना से उत्पन्न हुई दासता से सारी दुर्गति हो गई।

---

1. It must be admitted that man, the pure image of God, was in the beginning without sin and sickness, trouble and misery.
2. Through his own fault, through misuse of his liberty and his intellect, through disobedience to God, in short through sin, man has lost the Paradise of pure, unalloyed happiness. —Introduction.
3. The self-development and the abilities of man are but weak. The great conquests of civilisation are not ruling and mastering but only subjection to sin, sickness, heat, cold, hurry and restlessness, constantly increasing desire for luxury, pleasure, ambition and the delusion of greatness a sad state of slavery. —p. 298.

४. वर्त्तमान वैज्ञानिक अन्वेषण ने जीवित पशुओं के शरीर काट-काटकर आँख, कान, हृदय, पेट आदि को निकाला। इन बेदर्द अपराधों के लिए वर्त्तमान विज्ञान उत्तरदायी है।

५. विज्ञान बेदम है। भूकम्प आने के पहले पशु-पक्षी भाग जाते हैं, परन्तु मनुष्य को पता नहीं लगता। एक बार विज्ञानवादियों का कमीशन भी कुछ पता न पा सका और भूकम्प आ गया।

६. बीमारी पाप है। यदि संसार में पाप न हों, तो बीमारी भी न हो। यह मानी हुई बात है कि मानसिक विकार—स्वार्थ, ईर्ष्या, द्वेष, अनुदारता और क्रोध आदि का भयंकर प्रभाव शरीर पर पड़ता है।

७. मनुष्य के पापों का प्रभाव समस्त प्रकृति को दूषित कर देता है। मनुष्य ने उन्नति के नाम से प्रकृति को बिगाड़ दिया है। जंगलों को काटकर, वायु को दुर्गन्धित करके और शिकार खेलकर सृष्टि को अस्वाभाविक बना दिया है।

८. संसार में समस्त मनुष्य अनेक प्रकार के रोगों से पीड़ित हैं, पागलपन बढ़ रहा है और आत्महत्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। यदि भौतिक विज्ञान की उन्नति एकदम बन्द कर दी जाए, तो फिर परमेश्वर सहायता करे।

९. क्या कभी किसी ने विचार किया है कि हम क्यों जीते हैं, हमारे जीवन का क्या उद्देश्य है, हम क्यों मरते हैं, संसार का मुख्य प्रयोजन क्या है और परलोक क्या है ?

---

4. At the present time scientific investigation are carried out upon living animals by cutting open the body to observe the working of the internal organs, or by taking out the eyes, removing the tongue or the stomach or the liver and subsequently replacing them. Science is guilty here of fearful cruelties, which cry to Heaven. —p. 328.
5. Some years ago when the great calamity was about to happen on the Island of Martinigue, the wild animals felt the sense of disaster a fortnight before it took place and the domestic animals were restless for some days. The inhabitants instituted a scientific commission. This reported the evening before that there was no danger and that people might go to bed in peace. But a few hours later the terrible disaster occurred. Almost the whole of the town was destroyed, the scientific commission perished but the animals were all saved.
   When the great earthquake was about to take place in San Fransisco, the dogs ran howling from the town days before. The men, suspecting nothing and knowing nothing, remained to be buried under the ruins of their houses. —p. 17.
6. Sickness is the consequence of sin. If there had been no sin there could be no sickness, and if sin were banished from the world there would be no more sickness. It must be distinctly recognised that all spiritual status, selfishness, pride, hatred, envy, incharitableness, anger, passion have a disadvantageous influence on the body. —p. 26.
7. The error and the pestilential vapour of human sin, pride, selfishness, immorality and strife have been thrust by force into the remotest part of the natural world. Man has everywhere damaged Nature in his false struggle for progress. Take for example the rooting up of forests, the pollution of air, hunting etc. —p. 19.
8. Everywhere on the earth we behold sickness and ill-health in a thousand shapes. From the cradle to the grave men are afflicted with pain and suffering of every kind. Vice and passion, sin and crime are strangely prevalent among mankind. Nerve-trouble is widely spread amonng us.
   We find men generally sunk in care and trouble, in sin and misery, in unhappiness and dispair. Never before were the lunatic asylums so full and suicide is becoming more common every day. —p. 19.
   I am well content, however, if for the first time the jubilation over the achievements of science is broken, and if the veil, torn the first time, discloses a delusive Hell, God will then help further. —p. 299.
9. We must ever ask in the most earnst manner for whom do we live, why do we live, why do we die? What is the right aim for this world and the next? It is possible in the case of all earthly ideals to be for a long time in error and to pass over Heaven, the real goal of life. —p. 314.

१०. कला-कौशल और व्यापार ने अपना एक नया ही मोड़ ले-लिया है। नवीन आविष्कारों ने संसार को उलट दिया है। मनुष्य की दौड़-धूप इतनी बढ़ गई है कि उसे हम चिन्ताजनक अशान्ति कह सकते हैं। व्यापार ने संसार में एक लड़ाई कर दी है, जैसी आज तक कभी नहीं हुई। व्यापारी रेलों, साइकलों और मोटरों के द्वारा शहर-शहर, पहाड़-पहाड़ और दरिया-दरिया मारे फिरते हैं। जहाँ ये साधन काम नहीं देते वहाँ वायुयानों द्वारा जाते हैं। इनको कहीं सुख नहीं। कौन ऐसा व्यापारी है, जो रोगी और अशक्त नहीं। स्नायु-पीड़ा पृथिवी का नरक ही है।

११. प्रकृति और सभ्यता दोनों परस्पर विरोधी हैं, जो कभी एक नहीं हो सकते। प्राचीन काल में मिस्र, बेबिलोनिया, फिनीशिया, यूनान और रोम आदि ने सभ्यता का विस्तार किया, परन्तु आज उनका कहीं पता नहीं है। आज अनेक श्रमजीवी, कारखानों के धूएँ और भयङ्कर यन्त्रों से अपना आरोग्य और स्वतन्त्रता खो रहे हैं।

१२. ऊँची जातियों, अधिकारीयों और पूँजीपतियों ने अपनी शक्ति से निर्बल जातियों को कुचल डाला है। मानसिक पाप से प्रकृति पर धक्का लगता है। जंगलों के काटने, हवा और पानी के बिगाड़ने से भीतर-ही-भीतर प्रकृति में विकृति उत्पन्न हो जाती है।

१३. यदि मनुष्य के लिए पृथिवी पर चलने की अपेक्षा हवा में उड़ना उत्तम होता तो उसके पङ्ख अवश्य होते।

---

10. Industry and trade have taken on a character of their own. The latest inventions and achievements have turned the world upside down. It can absolutely be said that distance has been annihilated. In this an incredible activity has come into the world of business. It is not so much activity a fearful restlessness and hurry.

    With this constantly increasing eagerness, businessmen enter more and more into the most violent competitive warfare. Thus the business-world has kindled a mutual war of extermination such as history never recorded.

    When the business people need relaxation they travel.They ride round the world in a wild chase by railway, or bicycle, or motor from a town to another, from a lake to another, from a range of mountain to another and this is called rest. When the railway and motor do not go far enough they take ships on the great oceans or mount into the air on a dirigible balloon. But where do they settle to rest? No where. —p. 315.

    Where there is a business-man who is not in ill health, who does not suffer from nerves? But we have seen that nervous malady is nothing but a Hell upon Earth.

11. Once more I repeat that nature and civilisation are opposites which can not but reconciled. —p. 305.

    The civilised pagan, nations of antiquity, the Phoenicians, the Egyptians, the Babylonians, the Greeks and the Romans all came to grief in turn. They reached a certain height and then fell, by slow or rapid steps. It is always 'growth blossoming decay'. —p. 306.

    Most people work day by day, and year by year, with scarcely any interruption, in subterranean passages, in evil-smelling factories, in dangerous empolyment and they exhaust themselves with nerve-shattering mental work to mantain life and enable themselves to endure it. Yes, in the struggle for existence, health, freedom and happiness are often sacrificed. —p. 307.

12. I am willing to admit that the upper classes, the ruling authorities, the men of property, the capitalists have too often used their power to plunder and oppress the lower classes. —p. 323.

    The sinful spiritual direction in man moves even in direct attacks on nature such as the uprooting of the forests, the vitiating of the air and the water, has transformed itself into action and goes over further and further into unnatural ways. —p. 339.

13. If flying through the air were better for man, for his pleasure or intercourse than walking on the earth, He could surely have given him wings. —p. 302

१४. बहुत-से लोगों का विचार है कि मनुष्य प्रकृति की ओर नहीं लौट सकता। वह बुद्धिबल से प्रकृति को पहुँच जाएगा, किन्तु पता नहीं ये लोग बुद्धिबल किसे कहते हैं। मनुष्य तो प्रकृति को छोड़कर बुद्धिवाद में चला गया। अब वह बुद्धिवाद के द्वारा प्रकृति में कैसे आ सकता है ? यह मनुष्य को कभी सुखी, नीरोग और मृत्युञ्जय नहीं बना सकती।

१५. सभ्यता ने इसके पूर्व ऐसी उन्नति कभी नहीं की। इसका भी प्रत्याघात होगा जो या तो इस सभ्यता को नष्ट कर देगा या प्रकृति और परमेश्वर तक पहुँचाएगा।

१६. मनुष्य प्रकृति को अपना दास बनाकर सुख चाहता है, परन्तु वह इस मार्ग से दुःखों की ही ओर जा रहा है, क्योंकि उसने ईश्वरीय सृष्टि-नियमों का भंग किया है।

१७. डारविन के विकासवाद से उच्छृंखलता बढ़ी है और मनुष्यजाति की बड़ी हानि हुई है। इस सिद्धान्त से मनुष्य का मान-सम्मान बहुत ही कम हो गया है।

१८. भौतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्त में बड़ा अन्तर है, दोनों परस्पर विरोधी हैं।

१९. जीवन-संग्राम धीरे-धीरे कम हो जाएगा, परन्तु यह तब तक नष्ट न होगा जब तक भौतिक उन्नति का नाश न हो जाए और आध्यात्मिक जीवन फिर से आरम्भ न हो।

२०. जिसे पुनः ईश्वर-प्राप्ति पर विश्वास होता है वह भौतिक उन्नति के तङ्ग मार्ग से निकलकर परमेश्वर के प्रकाशमय मार्ग में आता है। यही सच्चा विज्ञान है। ऐसा करने से पुनर्जीवन तथा बल की वृद्धि होती है और अन्त में उसका मोक्ष हो जाता है। इसलिए लौटो-लौटो—प्रकृति की ओर लौटो और नीचे लिखे व्यवहारों से बर्तो तभी परमेश्वर तुमपर प्रसन्न होगा और बिगड़ा काम बन जाएगा।

---

14. Some maintain, in a dubious and uncertain fashion that mankind should not return to nature, but arrive at nature by intellectual culture. What these people call intellectual, is ordinarily very unintellectual. Men left nature and went over to culture. How should he come to nature through culture? It never made a man happy, it never freed him from sin, sickness, care and the agony of death.
15. Civilisation has never before reached such a height and it calls for an extraordinary reaction. One must believe either in a vast catastrophe for the civilesed nations or in reaction in a return of mankind to God and Nature. —p. 388.
16. In civilisation man leaves the path indicated to him by God and oversteps the limits assigned by Nature. Man seeks to make Nature his servant and tries thus to attain the highest happiness, but he can by this road attain only the opposite, sickness, pain, weakness, misery. Here, however, the delusion is a great one.
17. Darwinism, which teaches the descent of man from monkeys, gave a great impetus to the free thinking and materialism of the present day. This theory has been the cause of much evil and unhappiness. To a certain degree man lost respect for himself. —p. 292.
18. We must make a distinction between the spiritual world of God and the material world of man. These two worlds are entirely opposites.
19. The struggle for existance, as it is called, will gradually become milder and will disappear, but it will not entirely cease until this material world is resolved into nothing and there exists again only a pure spiritual world, a world of love, of undisturbed peace and happiness. —p. 20.
20. The man who believes is again united to God, he is illuminated from within, he comes more and more to true and glorious knowledge, he looks beyond the narrow bounderies of the material world and finaly partakes of God's omniscience. This is the science, this is the divine science. In the same measure as he does this, his powers awake and grow, the bonds of matter are rent asaunder, sickness and other hinderances diminish till at the last day he enters into divine omnipotence.

दुःखों से छूटने के उपाय

१. मनुष्य फलाहारी है। मेवा और फल उसके लिए महान् लाभकारी हैं। उसके पचानेवाले यन्त्रों की बनावट फल पचाने के लिए है। फलाहार से ताज़गी और शक्ति मिलती है। दूध, दही और मक्खन खाना उत्तम है।

२. यदि लोग फलों के लिए फलोत्पन्न करनेवाले बग़ीचे लगाने शुरू कर दें, तो परिश्रम करने के लिए उत्तम अवसर हाथ लग जाए और बहुत-सी भूमि अधिक फलोत्पन्न करने के लिए निकल आये। शराब और तम्बाकू उत्पन्न करने के लिए व्यर्थ ही भूमि का बहुत-सा भाग रोका गया है। इसी प्रकार अन्य बहुत-से अनावश्यक पदार्थ भी उत्पन्न करके भूमि रोकी गई है। बग़ीचों से तथा उनमें काम करने से आरोग्य और आनन्द मिलता है। शुद्ध वायु, प्राकृतिक दृश्य और पशु-पक्षियों के विहार से मन प्रसन्न होता है। अनेक प्रकार के अन्य व्यायामों से बग़ीचे का श्रम बहुत ही लाभदायक है।

३. यद्यपि हम हमेशा नङ्गे नहीं रह सकते, तो भी शरीर का बहुत बड़ा भाग खुला रह सकता है। खुले पैर बिना जूता पहने घर में और बाहर फिरना बहुत ही लाभकारी है। स्त्री और पुरुष दोनों को चाहिए कि नङ्गे सिर घूमने का स्वभाव बनाएँ। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे

---

1. But we know that according to the order of Nature, man is a fruit-eater. In undisturbed Nature man ate originally nothing but fruit. —p. 105.
   Uncooked milk and even sour milk can be taken and butter too can be eaten. —p. 109.
   The body becomes, as it were, new in course of time under this diet of nuts and fruit, it becomes full of freshness, elasticity and strength. —p. 115.
   Man, as I have said often enough, is essentially a fruit eater. Nuts, berries, roots, orchard fruit are his proper food according to the order of Nature. The human digestive organs are adapted in all their details for fruit alone, and it is consequently only fruit which is absolutely and entirely digested. —p. 114.
2. For a long time we should not require to use the whole extent of the land. If people were more, or entirely supported by horticulture and fruit-raising, much of the present torment and other evils would come to an end. Much space would be gained for planting of forests, animals would be less required for labour, much cruelty to animals would cease. Every thing wanted would again grow for men of itself, and how healthy then would be the condition of man, and how human happiness would be increased by it. —p. 338.
   I have to point out again and again many strips by the wayside, how many patches of the ground are unused and unplanted and how many fields and gardens are still planted with things which are not necessary for the support of the human life, or which even conduce to unhappiness, bringing only sickness and misery such as tobacco growing, wine growing, cattle raising, etc. How beautiful and beneficial is even holding labour in fruit-raising and horticulture, when carried out in the right spirit. —p. 357.
   Fruit raising can, as I have said, soon make such a piece of ground pay, and it can bring happiness in every way. In an arena of this kind, it would be possible to practise going barefoot, light and air-bath etc., besides bodily labour.
   Life would thus become a perfect ideal. Animal in the naturl state would approach such homesteads with renewed confidence, birds would build their nests there and sing their gay songs. —p. 359.
3. We cannot always go naked, but particular parts of the body should be unclothed as much as possible. Going barefoot both in the house and out of doors is to be highly recommended. —p. 59.
   I believe there is scarcely anything more ridiculous and pitiful than our fools of fashion, male and female, they are the lowest slaves that have ever existed. —p. 66.

पुरुष और स्त्रीवर्ग दोनों इस कमबख़्त फैशन की दयाजनक दासता में फँस गये हैं। फ़िजूलख़र्ची से न तो अपने बाल-बच्चों का ही सुधार कर सकते हैं और न इष्ट-मित्रों की सेवा ही हो सकती है।

४. सोने के लिए तो घास और लकड़ी के बने सादे झोंपड़े ही उत्तम हैं। ये झोंपड़े खुली वायु में जहाँ सघन वृक्षावली और पर्याप्त प्रकाश मिलता हो बनाने चाहिएँ। भूमि पर कोमल घास बिछाकर अथवा रेतीली मिट्टी (बालू) बिछाकर सोना उत्तम है। मिट्टी के स्नान से दाह और अन्य पुराने रोग भी शान्त हो जाते हैं।

५. बिजली की रोशनी आँख के लिए महा हानिकारक है।

६. ऊँचे और बड़े मकानों से सदैव भूकम्प में दबकर मर जाने का भय रहता है। जिन देशों में यह सभ्यता नहीं पहुँची वहाँ लोग अब तक झोपड़ों में ही रहते हैं और भूकम्प से दुखी नहीं होते। बड़े मकान शहरों में होते हैं, अतः नगरों और क़स्बों से अपना स्थान तुरन्त ही हटा लेना चाहिए। मनुष्य का असल स्थान तो जंगल है। शहरों में तो बीमारी और अशान्ति का ही साम्राज्य है।

७. जहाँ जंगल न हों वहाँ बड़े-बड़े बग़ीचे लगाकर थोड़े दिन में जंगल बना लेने चाहिएँ। मनुष्य जब फिर फल खाने लगेगा तो बग़ीचों से जंगल हो जाँएगे, जहाँ पशुओं का चारा होगा और मनुष्य के लिए फल उत्पन्न होंगे।

८. विषय-भोग तभी होना चाहिए, जब प्रकृति आज्ञा दे।

९. हम जितना ही प्रकृति की ओर बढ़ते जाएँ उतने ही अंश में प्राकृतिक विज्ञान और कला से हटते जाना चाहिए, बिना ऐसा किये हम सत्य स्थान पर नहीं पहुँच सकते।

१०. कातना, बुनना, सीना और अन्य गृहस्थी के आवश्यक पदार्थ सब घर में ही तैयार कर लेने चाहिएँ। विलास की वस्तुएँ और साजसामान एकदम हटा देने चाहिएँ। घर, बाग़ और खेतों

Both men and women would do well to revert to the habit of going about bareheaded. —p. 73.
People would then be more willing to renounce the extravagant pleasure of civilisation and the world with its expensive dress. They could get for their children beautiful and happy position of independance and free life, and could also do good service to acquaintances and freinds.—p. 359.

4. It is very good to sleep in wooden huts or cottages built, if possible, only of wood (root of straw) and placed out of doors in pure air, best of all under forest trees. Plentiful light and air should be allowed to enter freely at all times. —p. 61.
Earth baths reduce the heat even in cases of chronic malodies. —p. 89.
5. The electric light is more convenient but it is bad for eyes. —p. 74.
6. If mankind did not live in houses what danger would there be in earthquake? None at all. It is well known that on certain islands the natives never fall victims to earthquake while the civilised immigrants have often met their deaths in their comfortable dwellings and splended mansions. —p. 18.
It is principally necessary that men should withdraw from the big town, the hot bed of all that is unnatural, of all diseases and all destructions. In the forest man finds his original home. —p. 360.
7. More forest, too, must be planted in the course of time. When mankind is again fed on fruit and garden-produce, corn growing and cattle raising will cease and there will be plenty of land available for the new plantation. —p. 301.
8. In pure Nature we ever find chastity, in pure Nature the intercourse of the sexes only takes place at fixed times when the voice of Nature requires it. At other times there is no sexual desire, and all contact of a sexual nature is repelled with decision. —p. 223.
9. In the same measure as we lay stress on Nature and faith we must deny art and science in principle. If we do not, we shall never reach the true goal. —p. 290.
10. The simple labours of the household, of the field, the garden, and the orchard, if performed in the right spirit with humility, with conscientiousness and unselfishness, are very beneficial both to health and happiness. —p. 321.

के काम से नीरोगता और प्रसन्नता बढ़ती है। उन्हें हम जितना ही अपनाएँगे, उतने ही सुखी होंगे।

११. यह मानी हुई बात है कि सादगी ही सत्यता का चिह्न है।

१२. पशुओं का पालन अच्छी प्रकार से करना चाहिए, क्योंकि उनसे सवारी, बोझ उठाना, और खेती-सम्बन्धी अनेक काम लिये जाते हैं। पशुओं को ताज़ा, शुद्ध चारा देना चाहिए। जिन घोड़ों को घास की बजाय दाना अधिक दिया जाता है, वे बीमार हो जाते हैं, परन्तु जिन बैलों को हरी घास दी जाती है, वे नीरोग रहते हैं। घोड़े की पूँछ आदि भी नहीं काटनी चाहिए।

१३. कृत्रिम खाद्य से उत्पन्न किया गया अन्न रोगी होता है। यहाँ (विलायत) के बावरची विदेशी गेहूँ को अधिक पसन्द करते हैं। गन्दी खाद्य से उत्पन्न अन्न को तो पशु भी पसन्द नहीं करते। यही हाल कृत्रिम फलों का भी समझना चाहिए।

१४. इस प्रकार यदि मनुष्य जड़ प्रकृति का मोह छोड़कर परमात्मा की ओर फिरे, तो स्वयमेव सामाजिक असमानता मिट जाए और परिश्रम में सबको बराबरी देखने को मिले। मनुष्य शुद्ध हो जाए, नीरोग हो जाए, बलवान् और प्रतिभावान् हो जाए। संसार से वैर, द्वेष, ईर्ष्या चली जाए और एकबारगी हिंसा विदा हो जाए। भेड़िया भेड़ के साथ, चीता बकरी के साथ और

There should again be spinning, weaving, sewing and other work of a practical kind, so as to make at home all clothes and other things necessary for the family. —p. 322.

In reality there are many matters, many kinds of clothes, many kinds of food, of houses, furniture etc. which are neither necessary nor useful. —p. 318.

11. It is well known that simplicity is the sign of truth. —p. 152.

12. Animals are in constant use in agricultural work. Man has certain duties towards animals, he should take pity on the animals, he uses in his servises. —p. 232.

At the present time it is sought to give artificial strength to horses by immoderate feeding with oats. The horse is by this means exposed to diseases of different forms. The oxen, which are fed on green food and hay, are free from diseases. Horses can only be made healthy again by turning them out to grass and feeding them on green food, hay, carrots etc. Think of the horse of the steppes which eat nothing but grass, how healthy, strong, enduring and beautiful they are. —p. 334.

The cutting of the horse's tail should be done away with in every case. —p.336.

13. Through the unnatural manuring the produce of the fields becomes, it is true, richer in amount but it is not nearly so good in quility.

It is well-known that foreign corn grown without artificial manure, is better and more wholesome than that grown at home. Bakers always prefer foreign wheat. The beast will not touch home grown corn where they can have foreign. —p. 331.

It might be maintained that fruit of Nature had become so bad in course of time that it has become more and more necessary to obtain better, larger and better flavoured fruit artificially. This may be, but to what point have we arrived with all our art at the end. We must to-day, in the midst of all that is unnatural, again grasp the hand of Nature and avoiding more and more all sins against God and Nature, come finally to what is better than Paradise. —p. 356.

14. If mankind turns again to God and Nature, the great social differences of the present time will disappear of themselves and there will, at the same time, be more equality in labour. —p. 322.

He will be morally pure, without desease, and will reach, in the full freshness and strength of youth, a far greater age, a thousand years like the Patriarchs. This is the Millennium. There will be no tedium, and no amusement will be necessary. No more animals will be slain and peace will everywhere prevail. Man will live in full harmony with God and therefore, in complete happiness.

The wolf shall dwell with the lamb and the leopard shall be down with the kid, and the calf and the young lion shall end the battling together and a little child shall lead them. And the cow and the bear shall feed their youngones and shall lie down together and the lion shall eat straw like the ox. And the sucking child shall play on the hole of the asp, and the weaned child shall put his hand on the cockatrice's den. —p. 357.

सिंह गाय के साथ बैठकर प्रेम करें, अर्थात् संसार में प्रेम, शान्ति और आनन्द का सागर भर जाए और दु:ख, दारिद्र्य, शोक, सन्ताप का नाश हो जाए।

अब प्रश्न होता है कि पाश्चात्यों में ऐसे विचार क्यों उत्पन्न हुए। ऐसे विचारों की उत्पत्ति के चार कारण हैं—

१. पाश्चात्य विद्वानों को दिखलाई पड़ रहा है कि संसार में जन-संख्या बढ़ रही है, अत: एक समय ऐसा आनेवाला है कि पृथिवी पर पैर रखने का भी स्थान न रहेगा।

२. पाश्चात्य विद्वानों में साम्यवाद की लहर उत्पन्न हुई है। इस लहर में निर्धन-धनिक, स्वामी-सेवक, राजा-प्रजा, छोटे-बड़े और कुलीन-अकुलीन के लिए स्थान नहीं है।

३. शान्तिमय दीर्घ जीवन की स्वाभाविक अभिलाषा, बीमारी और युद्धों के तिरस्कार ने भी विचारों में परिवर्तन किया है।

४. नवीन वैज्ञानिक खोंजों के आधार पर पुनर्जन्म, परमेश्वर, कर्मफल और मोक्ष आदि की पारलौकिक चर्चा तथा सभ्यता की प्रेरणा ने भी विद्वानों को विचार-परिवर्तन की ओर आकर्षित किया है।

ये चारों सिद्धान्त ऐसे हैं जिनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। ये दृष्टि के सामने हैं और व्यवहार में आ रहे हैं। जन-संख्या की वृद्धि, समता के भाव, जीने की स्वाभाविक इच्छा और परलोक चिन्ता ने पाश्चात्यों को प्रकृति की ओर लौटने और वर्त्तमान भौतिक विलासिता से दूर भागने पर विवश किया है। साम्यवाद के पूर्ण प्रचार से कोई देश किसी अन्य देश का धन अपहरण नहीं कर सकता। वह यह संकल्प नहीं कर सकता कि अपने व्यापार-कौशल और सेना के दबदबे से दूसरे देशवासियों को निर्धन करके स्वयं धनवान् हो जाए। ऐसी दशा में मशीनों, कल-कारखानों और नाना प्रकार के शस्त्रास्त्रों का अन्त होना ही चाहिए। साथ ही नौकर के नाम का भी अन्त होने से धनाढ्यता का नाश होना भी सम्भव है। सबको समान अन्न-वस्त्र मिलने-मिलाने की व्यवस्था किये बिना, साम्यवाद का कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता, परन्तु इस समता से भी यह न समझना चाहिए कि आजकल की भाँति विपुल परिमाण में अन्न-वस्त्र और सुख-साधन की सामग्री सबको मिल सकेगी। जन-संख्या की वृद्धि के कारण बहुत ही थोड़ा-थोड़ा सामान मिल सकेगा। चाहे जितना थोड़ा-थोड़ा लिया जाए, परन्तु यदि सन्तति-वृद्धि होती गई तो थोड़ा-थोड़ा भी न मिल सकेगा। सन्तति-निरोध के बिना और कोई उपाय नहीं है कि जनसंख्या की वृद्धि रोकी जा सके। सन्तति-निरोध के आज तक जितने कृत्रिम उपाय किये गये हैं, उन सबसे रोगों की वृद्धि हुई है, इसलिए बिना अखण्ड ब्रह्मचर्य के और कोई उपाय नहीं है। अखण्ड ब्रह्मचारी के लिए विलासिताहीन सादा जीवन ही उपयोगी हो सकता है, इसलिए भी वर्त्तमान आडम्बर का नाश ही दीखता है। जन-संख्या की वृद्धि के रोकने का एक दूसरा नियम है जो अब तक चलता रहा है। वह है युद्ध, दुष्काल और बीमारी, परन्तु सभ्यता का दम भरनेवाले पाश्चात्य कहते हैं कि यदि अब भी युद्ध होते ही रहे, दुष्काल और बीमारियों को हम न रोक सके तो कहना पड़ेगा कि 'विकासवाद' असत्य है, क्योंकि लाखों वर्ष पूर्व भी जीने के लिए युद्ध ही होते थे और बीमारी तथा दुष्काल से जन-संख्या का संहार होता था, परन्तु अब वह समय नहीं है। अब ज्ञान-विज्ञान का काल है, इसलिए अब बर्बरतापूर्ण रक्त-पात नहीं किया जा सकता। युद्ध तो बन्द ही करना पड़ेगा और नहरों तथा वैज्ञानिक वर्षा से दुष्काल हटाने पड़ेंगे तथा

बीमारियों को दूर करना ही पड़ेगा। 'लीग आफ़ नेशन्स' अर्थात् संसार की समस्त जातियों की महासभा का जन्म युद्धों के रोकने के लिए ही हुआ है।

क्यों यह सब करना पड़ेगा? इसलिए कि न करने से सभ्यता का नाश होगा। सभ्यता की रक्षा क्यों करनी चाहिए? इसलिए कि ज्ञान से उत्पन्न न्याय, दया, प्रेम और चरित्र का उपयोग हो। न्याय, दया, प्रेम, विचार और चरित्र-गठन ने अब मनुष्य-सभ्यता को इतने ऊँचे स्थान पर पहुँचा दिया है कि वह अपने और अन्यों के जीवन को अमूल्य समझने लगा है। जिस प्रकार स्वभावतः कोई मनुष्य किसी के द्वारा मरना नहीं चाहता उसी प्रकार उच्च सभ्यता से प्रेरित होकर वह किसी को मारना भी नहीं चाहता। ऐसी दशा में युद्धों, बीमारियों और दुष्कालों को होने देना अब अन्तःकरण स्वीकार नहीं करता। यहाँ से दीर्घ जीवन की कामना और महत्ता आरम्भ होती है। दीर्घ जीवन के लिए ब्रह्मचर्य, सादगी, सात्त्विक आहार, प्राणायाम, चिन्ता-त्याग और जंगल-निवास आदि साधन अनिवार्य हैं। इससे भी वर्त्तमान भौतिक सभ्यता का अन्त ही प्रतीत होता है। दीर्घ-जीवन यदि बिना किसी उद्देश्य के केवल जीते रहने के लिए ही है तो वह निरर्थक-सा ही है, परन्तु बात यह नहीं है। मनुष्य के सामने जन्म-मरण, सुख-दुःख, लोक-परलोक, आत्मा-परमात्मा और बन्ध-मोक्ष जैसे महान् आवश्यक और विज्ञानपूर्ण इतने अधिक सुलझाने योग्य प्रश्न हैं और उनके सच्चे उत्तर पाने के लिए इतना अधिक काम है कि दीर्घजीवी के लिए लम्बा-से-लम्बा समय भी बहुत ही थोड़ा है। यदि वह इस मार्ग से जो उसके विशेष जीवन से सम्बन्ध रखता है ईमानदारी के साथ आगे चले तो वह अपने और संसार के लिए अत्यन्त अमूल्य वस्तु सिद्ध हो सकता है, अतएव इस दृष्टि से भी वर्त्तमान पाश्चात्य युग का नाश होना ही है।

पाश्चात्य विद्वानों ने अपने सामने इतनी लम्बी स्कीम देखकर और वर्त्तमान भौतिक अँधाधुन्ध से तंग आकर जो विचार प्रकट किये हैं उन्हें हम 'प्रकृति की ओर लौटो' नामी पुस्तक से लेकर बहुत कुछ लिख चुके हैं। अब आगे उन्हीं सिद्धान्तों की पुष्टि में भिन्न-भिन्न विद्वानों ने जो अन्य पुस्तकें और लेख लिखे हैं, उनके कुछ उदाहरणों को उद्धृत करके दिखलाना चाहते हैं कि किस प्रकार पाश्चात्य सहृदय विद्वान् वर्त्तमान भौतिक जंजाल से निकलकर सात्त्विक प्रकाश में आना चाहते हैं।

भौतिक उन्नति में विलास प्रधान वस्तु है। विलास का मूल ध्येय अत्यधिक रति है। शृङ्गार, मादक वस्तुओं का सेवन तथा मांस-मत्स्य का आहार उसके सहायक हैं, और तज्जन्य अनिवार्य रोगों की चिकित्सा के लिए वैज्ञानिक अन्वेषण आवश्यक है। इसी प्रकार शृङ्गार के लिए भी नाना प्रकार के चित्ताकर्षक पदार्थों की आवश्यकता है और उनकी उत्पत्ति के लिए शिल्पकला की उन्नति अनिवार्य है। यह सब आयोजन बिना विपुल धनराशि के बनता ही नहीं और यह धन बिना व्यापार के इकट्ठा नहीं हो सकता, अतएव व्यापार-कौशल से दूसरों का धन अपहरण करने के लिए यान्त्रिक कारख़ानों और कम्पनियों की आवश्यकता होती है तथा इस समस्त पाप की रक्षा के लिए सेनाबल और सैनिक विज्ञान की उससे भी अधिक आवश्यकता होती है। जातीय अभिमान, शासन और किसी विशेष सभ्यता का प्रचार आदि उस पाप के छिपाने के बहाने बना लिये जाते हैं और दूसरों का ख़ून चूसकर कामक्रीड़ा की जाती है। विद्वानों ने इस कामक्रीड़ा-जात विघातक नीति से घबराकर लोगों को प्रकृति की ओर लौटने का आदेश किया है। आगे हम

कामक्रीड़ा, विलास, शिल्प, पाश्चात्य सभ्यता, राज्य, युद्धविज्ञान और सात्त्विक मार्ग आदि पर जो वहाँ के विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ दी हैं, उन्हें संक्षेप से लिखते हैं।

वहाँ की कामुकता की क्या अवस्था है, उससे क्या हानि हो रही है, कृत्रिम उपायों से कैसे भयङ्कर परिणाम हो रहे हैं और उसपर विद्वान् अब किस प्रकार का नियन्त्रण करना चाहते हैं, यहाँ हम नाममात्र—नमूने के रूप में दिखलाना चाहते हैं। जंजीबार के बिशप ने ब्रिटिश साम्राज्य की राजधानी—आधुनिक सभ्यता के केन्द्र लण्डन के बारे में लिखा है कि 'London is a glorious city, but is terribly in the hands of Satan' अर्थात् लण्डन एक सुन्दर और ऐश्वर्यशाली नगर है, परन्तु वह शैतान के पंजों में बुरी तरह से फँसा हुआ है। सन् १९२५ में ट्रुथ (Truth) नामक प्रसिद्ध समाचार ने लिखा था कि इंग्लैण्ड में प्रतिवर्ष ३७,००० अवैध बच्चे उत्पन्न होते हैं, जिनका न कोई बाप होता है और न कोई माँ। विज्ञान और कला में उन्नत जर्मनी की राष्ट्र प्रतिनिधि सभा को ३०,००० मनुष्यों ने अपने हस्ताक्षरों से युक्त एक आवेदन पत्र भेजा था कि जर्मनी में नर को नर से, अर्थात् पुरुष को पुरुष से शादी करने की अनुमति दी जाए। इस विषय पर रीस्टाग में बहस भी हुई थी। अमेरिका के प्रसिद्ध जज लिंड्से का कहना है कि चौदह वर्ष की अवस्था तक पहुँचने से पहिले ही दश में से एक अमेरिकन अविवाहित बालिका गर्भवती हो जाती है। अमेरिका में डेनवर नाम का एक छोटा-सा क़स्बा है, जिसकी जनसंख्या केवल ३०,००० है। उसमें २००० युवतियाँ विवाह होने से पहले ही गर्भवती पाई गई हैं। विलायत में बलात्कारों के सम्बन्ध में जो अनुसन्धान कमेटी बनी थी, उसकी रिपोर्ट के आधार पर लाला लाजपत राय ने इस विषय में बहुत कुछ लिखा है। इसी प्रकार जज लिंड्से और थर्स्टन आदि विद्वानों ने भी लिखा है। जब से मिस मेयो ने भारत के नापदान की रिपोर्ट प्रकाशित की है, तब से पश्चिम के देशों की ऐसी छीछालेदर सुनने को मिल रही है कि बस तोबा। लोगों ने वहाँ के अपवित्र, बीभत्स और पाशव कृत्यों का ऐसा वर्णन किया है कि उसको पढ़कर यूरोप-निवासियों की मनोवृत्ति का चित्र सामने आ जाता है। वह सब अमङ्गल और अपवित्र वर्णन हम यहाँ नहीं करना चाहते, किन्तु हम यह अवश्य दिखलाना चाहते हैं कि इन पाशव कृत्यों का वहाँ के मानसिक, शारीरिक और सामाजिक जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा, वैज्ञानिक साधनों ने क्या प्रभाव किया और अब विचारशील भद्र विद्वानों की अन्तिम सम्मति क्या है।

गुजराती नवजीवन के दो अङ्कों (२० सितम्बर और १४ अक्टूबर सन् १९२८) में थर्स्टन साहब की 'वैवाहिक तत्त्वज्ञान' नामी पुस्तक के विषय में एक लम्बा लेख छपा है। उसमें लिखा है कि थर्स्टन साहब अमेरिका की सेना में दश वर्ष तक रहे और मेजर के पद तक पहुँचे। सन् १९१९ में नौकरी से निवृत्त होकर न्यूयॉर्क में रहने लगे। अठारह वर्ष तक उन्होंने जर्मनी, फ्रांस, फ़िलिपाइन, चीन और अमेरिका के विवाहित दम्पतियों का ख़ूब अध्ययन किया। अपने निरीक्षण के साथ ही सैकड़ों प्रसूतिशास्त्रनिपुण स्त्रीरोग-चिकित्सक डॉक्टरों के साथ परिचय और पत्र-व्यवहार भी किया। इसके सिवा लड़ाई में सम्मिलित होनेवाले उम्मीदवारों के शारीरिक परीक्षापत्रों तथा आरोग्यरक्षक मण्डलों की इकट्ठी की हुई सामग्री से भी परिचय प्राप्त किया। इतने अनुभव के बाद आप कहते हैं कि 'निरंकुश विषयभोग से स्त्रियों के ज्ञानतन्तु अत्यन्त निर्बल हो जाते हैं। असमय में ही बुढ़ापा आ जाता है, शरीर रोगों का घर बन जाता है और स्वभाव चिड़चिड़ा तथा उत्पाती हो जाता है। वे बच्चों की भी सँभाल नहीं कर सकतीं। ग़रीबों के यहाँ इतने बच्चे पैदा

होते हैं कि उनका पोषण और सेवा करना कठिन हो जाता है। ऐसे बालक रोगी होते हैं और बड़े होने पर आपराधिक प्रवृत्ति के हो जाते हैं। बड़े लोगों में प्रजोत्पत्ति रोकने और गर्भपात करनेवाले साधनों का उपयोग होता है। इन साधनों का उपयोग साधारण स्त्रियों को सिखलाने से उनकी सन्तान रोगी, अनीतिमान् और भ्रष्ट होकर अन्त में नष्ट हो जाती है। अतिशय सम्भोग के कारण पुरुष का पुरुषार्थ नष्ट हो जाता है। वह काम करके अपना निर्वाह करने में भी अशक्त हो जाता है और अनेक रोगों के कारण असमय में ही मर जाता है। अमेरिका में आज विधुरों की अपेक्षा विधवाएँ बीस लाख अधिक हैं। इनमें थोड़ी ही लड़ाई के कारण विधवा हुई हैं। अधिक तो इस कारण हुई है कि विवाहित पुरुषों का अधिक भाग ५० वर्ष की उमर पर पहुँचने के पहले ही जर्जरित हो जाता है। पुरुष और स्त्री दोनों में एक प्रकार की हताशा आ जाती है। संसार में आज जो दरिद्रता है, शहरों में जो घने और ग़रीब मुहल्ले हैं, वे मज़दूरी न मिलने के कारण नहीं है, किन्तु आज की वैवाहिक स्थिति से पोषण पाये हुए निरंकुश विषय-भोग के कारण हैं। गर्भावस्था में विषय-भोग के कारण उत्पन्न हुए बच्चे विकलाङ्ग होते हैं। अमेरिका में इनकी परीक्षा हुई, तो १८ से ४५ वर्ष की उमर तक के २५ लाख १० हज़ार सेना योग्य जवानों में से केवल ६ लाख ७२ हज़ार मनुष्य ही पूर्णाङ्ग निकले, शेष सब हीनाङ्ग थे'।

कृत्रिम उपायों से सन्ततिनिरोध का जो मार्ग अवलम्बन किया गया है उसके तो और भी अधिक भयङ्कर परिणाम हुए हैं। थर्स्टन साहब कहते हैं कि 'स्त्रियाँ गर्भाधान रोकने के लिए जिन साधनों का प्रयोग करती हैं, उनके विषय में डाक्टरों की राय है कि प्रति सैकड़ा ७५ को हानि पहुँची है। कृत्रिम साधनों से गर्भ रोकने के कारण अकेले पेरिस में ही ७५ हज़ार रजिस्टर्ड और इससे अनेक गुणा अनरजिस्टर्ड वेश्याएँ हैं। फ्रांस के अन्य शहरों में भी इसी प्रकार वेश्याओं और व्यभिचारिणी स्त्रियों की अनगिणत संख्या है। कृत्रिम साधनों के द्वारा प्रजोत्पत्ति रोकने का प्रश्न बड़ा गम्भीर है। मैं अपने अवलोकनों और अन्वेषणों से बलपूर्वक कहता हूँ कि आज तक इसका प्रमाण नहीं मिला कि इन साधनों से हानि नहीं होती, प्रत्युत ज्ञानवान् स्त्रीरोग-चिकित्सक कहते हैं कि इन साधनों से शरीर और नीति पर बड़ा ही भयङ्कर परिणाम होता है। अनुभवी लोग कहते हैं कि कृत्रिम साधनों के उपयोग से स्त्रियों को केन्सर आदि रोग हो जाते हैं। स्त्रियों के कोमल-से-कोमल मज्जातन्तुओं पर इन कृत्रिम साधनों का बहुत बुरा प्रभाव होता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। बहुत-से प्रतिष्ठित डाक्टरों का कहना है कि इन कृत्रिम साधनों के कारण बहुत-सी स्त्रियाँ वन्ध्या हो गई हैं, उनकी जीवन शुष्क हो गया है और उनके लिए संसार विषरूप हो गया है।

जज लिंड्से इन साधनों के पक्षपाती हैं, परन्तु उसे पता नहीं है कि इनसे कितना बड़ा सत्यानाश हुआ है। देखो अकेले पैरिस में ही ७५ हज़ार तो रजिस्टर्ड और इससे अनेक गुणा अनरजिस्टर्ड घरेलू वेश्याएँ हैं। फ्रांस में जन्म की संख्या मरण की संख्या से कम हो गई है। फ्रांस के अन्य शहरों में भी इस गन्दगी का—जननेन्द्रिय के रोगों का पार नहीं हैं। रोग से पीड़ित हज़ारों स्त्रियाँ डाक्टरों का घर ढूँढती फिरती हैं। कितने ही वर्षों से फ्रांस में जन्म की संख्या मरण की संख्या से कम हो गई है। फ्रांस-वासियों का नाम संसार में नीति-विषय में अत्यन्त हीन हो गया है। फ्रांस की लड़कियाँ दासता के व्यापार में बढ़ी-चढ़ी हैं। गत एक सौ वर्ष में फ्रांस की यह दशा हुई है तो भी जज लिंड्से को अपने साधनों को नया आविष्कार कहते हुए शर्म नहीं आती।

इन मूर्खों को कौन समझाए कि प्रजा में जन्म-मरण की बढ़ी हुई संख्या को रोकने का उपाय केवल विषयभोग से निवृत्ति ही है ? इन लोगों को क्यों नहीं सूझता कि पशुओं में यही उपाय काम में आ रहा है ? इन लोगों को क्यों नहीं समझ में आता कि इन कृत्रिम साधनों से स्त्रियाँ वेश्या बनती है और पुरुष नपुंसक हो जाते हैं ? यह भ्रम है कि आरोग्य के लिए पुरुषों से संयम हो ही नहीं सकता। रोगरहित वीर्यवान् पुरुषों में विषयेच्छा मध्यम होती है, परन्तु यदि उनमें पुरुषार्थ की कोई उच्च कामना प्रबल रूप धारण करे तो बहुत समय तक विषयेच्छा मन्द हो जाती है। असल आवश्यकता तो उस महाध्येय की है जिसके लिए मनुष्य अपनी समस्त शक्ति व्यय करने का सङ्कल्प करे। ऐसे ध्येय अनेक हैं। एक सामान्य ध्येय तो उत्तम सन्तान उत्पन्न करना ही है। स्वस्थ बालक उत्पन्न करने, उसके पालन-पोषण करने और शिक्षा देकर उसे योग्य नागरिक बनाने में लग जाने से विषयेच्छा लुप्त हो जाती है। दूसरा ध्येय कीर्ति का है जैसेकि मनुष्यों का कल्याण करना अथवा कोई और महान् पराक्रम करके नाम पैदा करना आदि। सम्भव है नाम पैदा करने के साथ-साथ विषयभोग के लिए भी बहुत-सा मौका मिले, परन्तु कीर्ति की लालसा विषयेच्छा को पूर्ण रीति से दबा सकती है।

आरोग्य के लिए विषयभोग आवश्यक है, इस भ्रम को दूर करना प्रत्येक डाक्टर और अनुभवी परामर्शदाता का कर्त्तव्य है। मैं अपने अनुभव और अनेक डाक्टरों से समागम के परिणाम से कहता हूँ कि बहुत वर्षों तक ब्रह्मचर्य धारण करने से कुछ भी हानि नहीं होती, प्रत्युत अपार लाभ होता है। अनेक युवा पुरुषों में जो उत्साह और तत्परता देखने में आती है वह विषयभोग से नहीं, प्रत्युत संयम से ही है। प्रत्येक पुरुषार्थी मनुष्य को जाने-अनजाने इस सूत्र का पालन करना चाहिए कि विषयकामना तृप्त करने में व्यय होनेवाली शक्ति पुरुषार्थसिद्धि में लगाई जा सकती है और जितना ही शक्ति का संचय होगा उतनी ही बड़ी सिद्धि प्राप्त होगी'। इस समग्र वर्णन से स्पष्ट हो रहा है कि किस प्रकार यूरोप में कामुकता बढ़ी हुई है और किस प्रकार जन-संख्या की वृद्धि रोकनेवाले कृत्रिम उपायों से अधिकाधिक दुःखों की वृद्धि हुई है तथा किस प्रकार अब परिमित सन्तति को ब्रह्मचर्यपूर्वक उत्तम बनाने का आयोजन हो रहा है। यह तो कामक्रीड़ा की दशा का वर्णन हुआ। अब देखना चाहिए कि उसकी सहायक विलासिता के विषय में विद्वानों की क्या सम्मति है।

अंग्रेजी की सुप्रसिद्ध पत्रिका 'वैलफ़ेयर' (The Welfare) में मेजर बी० डी० बसु ने विलासिता शीर्षक एक विचारपूर्ण लेख लिखा है। प्रोफ़ेसर रॉस (Prof. Ross) की साक्षी से आप कहते हैं कि 'दूसरे देशों के साथ समागम होने से लोगों का विदेशी विलासिताओं से परिचय होता है और यह परिचय उनके हृदयों में नई-नई आकांक्षाएँ उत्पन्न कर देता है। उपभोग्य वस्तुओं के परिमाण में सहसा वृद्धि होने से और उनको प्राप्त करने के साधनों के अभाव से लोगों की धन-प्राप्ति की लालसा प्रबल हो जाती है। यह लालसा उनके प्राचीन आदर्शों को नष्ट कर देती है और पदार्थों के प्राचीन मूल्यों में उलट-पुलट मचा देती है। विदेशी संस्कृति की बहुत-सी बातों को ग्रहण कर लेने से ऊँची श्रेणी के मनुष्यों का पतन हो जाता है। यूनानी नीतिशास्त्रज्ञों ने एशिया की विलासिताओं का प्रचार देखकर दुःख प्रकट किया था, क्योंकि इस विलासिता ने ही उनमें धन की इतनी प्रबल आकांक्षा उत्पन्न कर दी थी कि उन्होंने फ़ारिस देश के राजा का वेतन तक ले-लिया था। दुर्भाग्यवशात् इस समय भारत में भी यही हो रहा है।

विलासिता जाति के लिए आत्महत्या के समान है, क्योंकि इस विलासिता के साथ-साथ लोगों में बच्चों के जनन और परिचालन के प्रति भी अरुचि उत्पन्न हो जाती है। विलासिता ही फ़ैशन की जननी है।

काउण्ट गायकोमो ल्योपार्डी (Count Giacomo Loepardi) ने अपनी 'फ़ैशन और मृत्यु का संवाद' नामक पुस्तक में इन दोनों को व्यंग्यपूर्वक एक-दूसरे की बहिन कहकर पुकारा है। वह मृत्यु के प्रति फ़ैशन से कहलाता है कि बहिन! हम तुम दोनों के जो भाव और कार्य हैं, वे सदा विश्व को नवीन करते हैं, परन्तु तुमने तो सदा से ही मनुष्यों के शारीरिक सङ्गठनों और उनके जीवनों के परिवर्त्तन में अपने प्रयासों को लगा रक्खा है, किन्तु मैं तो उनके दाढ़ी, केश, वस्त्र, सामान और मकान आदि के बदलते रहने में ही अपनी चेष्टाओं का प्रयोग करती हूँ। यह सत्य है कि मैंने कभी-कभी मनुष्यों के साथ कुछ चालाकियाँ की हैं, परन्तु वे चालाकियाँ इतनी ख़राब नहीं है कि तुम्हारे कार्यों से उनकी तुलना ही न की जा सके। मेरे कहने का सार यह है कि मैं सदा इस बात का प्रयत्न करती हूँ कि अधिक आकांक्षावाले मनुष्य जो मेरे प्रति प्रेम रखते हैं, वे उस प्रेम के प्रतिफलस्वरूप नित्य सैकड़ों असुविधाएँ और कभी-कभी तो वेदनाएँ, विकलताएँ और मृत्यु तक को सहन करते रहें। इसके प्रत्युत्तर में मृत्यु कहती है कि धर्म की सौगन्ध! अब मुझे विश्वास होने लगा है कि तुम वास्तव में मेरी बहिन हो। तुम्हारा कहना उतना ही सत्य है जितना मृत्यु। अब तुम्हें इस बात की आवश्यकता नहीं है कि तुम अपने कुलपुरोहित का दिया हुआ जन्मपत्र इस बात को प्रमाणित करने के लिए पेश करो कि तुम मेरी बहिन हो'।

विलासिता और जिन कारखानों से विलासिता की सामग्री बनाकर धन एकत्र किया जाता है, दोनों के लिए नौकरों की आवश्यकता होती है। आजकल नौकरों और कारख़ाने के क़ुलियों की जो हालत है, वह सभी जानते हैं। बड़ी-बड़ी हड़तालें उसका प्रमाण हैं। यहाँ हम कारख़ानों के मज़दूरों के विषय में अधिक नहीं लिखना चाहते। हम तो यहाँ केवल घरेलू नौकरों के ही विषय में देखते हैं कि उनके लिए कितना मानदान करना पड़ता है। इस सम्बन्ध का एक विज्ञापन 'Return to Nature' से लेकर हम यहाँ उद्धृत करते हैं। यह विज्ञापन जर्मनी के 'Blanken Burger Kreis Blott' नामक पत्र में इस प्रकार प्रकाशित हुआ था—'एक कुटुम्ब के लिए जिसमें तीन बच्चे हैं, नौकरानी नहीं, किन्तु एक सहायक की आवश्यकता है। घर की रमणी स्वयं ख़ूब काम करनेवाली है। उनकी इच्छा केवल एक सहायका की है। वेतन मिलेगा, परन्तु यह कभी भी विचार न किया जाए कि वह वेतन के लिए नौकरी करती हैं। काम के साथ ही ख़ासा मनोरञ्जन रहेगा। यदि उनकी इच्छा हो तो वे हमारे कुटुम्ब का अङ्ग होकर रहें। हम उनको अपना अधीनस्थ न समझेंगे। वे काम के अतिरिक्त समय में स्वतन्त्रतापूर्वक अन्यों के साथ मिलजुल सकती है'[१]। नौकरों की हालत इस विज्ञापन से ज्ञात हो जाती है और पता लग जाता है कि

---

१. A lady-help, not a servant maid, wanted for a family with three children. The lady of the house is herself extermely active and desires only some one to assest her work. So the lady-help may give her strength, she will receive a corresponding salary, but must never have the feeling that she is serving for pay. There is a great deal to do in our household but in return there are social gatherings and hearty merriment. The lady-help would, of course, be a part of our family if she desire to do so, but she can live her own life and take part in ours, if she prefers to do so. We would never try to subordinate the will of the lady-help to ours, she shall remain free in preson except so far as she takes part in our house work. —*Blanken Burger Keris Blott—Return to Nature—p. 324.*

नौकरों की कितनी ख़ुशामद करनी पड़ती है। इस वर्णन से स्पष्ट हो रहा है कि अब नौकरों के द्वारा विलास की वृद्धि नहीं की जा सकती।

यह तो नौकरों का हाल हुआ। अब तनिक कारख़ानों के बारे में भी देखिए कि क्या सम्मति है। कम्पनियों द्वारा चलाये जानेवाले बड़े-बड़े कारख़ानों के विरुद्ध भी बड़े-बड़े अनुभवी व्यापारी और विद्वानों ने अपनी सम्मतियाँ दी हैं। हेनरी फ़ोर्ड, जिनकी फोर्ड नामक मोटर संसार की समस्त मोटर कम्पनियों को पीछे छोड़ रही है, व्यापारिक विज्ञान के बहुत बड़े ज्ञाता है। आप कहते हैं कि 'गाँव-गाँव में छोटे-छोटे कारख़ाने खोलने चाहिएँ'। इसी प्रकार अमरीका के प्रसिद्ध व्यापारी एडवर्ड ए० फ़िलीम कहते हैं कि 'ग्रामों से अलग-अलग माल तैयार होकर ही पर्याप्त माल मिल सकता है'। ये सम्मतियाँ हैं जो गृहशिल्प की ओर बढ़ने की शिक्षा देती हैं। इसी प्रकार अन्य विद्वानों की सम्मति में जब कल-कारखानों की, शिल्प और वाणिज्य की वृद्धि होती है तब राज्यों का पतन हो जाता है। बेकन नामी प्रसिद्ध विद्वान् कहता है कि 'राज्य की आरम्भिक दशा में लड़ाई के शस्त्रों की बढ़ती होती है, मध्यम अवस्था में ज्ञान-विज्ञान, शस्त्रास्त्र दोनों की भरमार रहती है और राज्य की अवनति के समय कल-कारखानों की, शिल्प और वाणिज्य की वृद्धि होती है[१]'।

इन विचारों से सूचित होता है कि वाणिज्य, शिल्प और कल-कारख़ानों के विरुद्ध आवाज़ उठने से नगर उजड़ जाएँगे और देहात का सादा जीवन सामने आ जाएगा। इस देहात के सादे जीवन पर कवियों की उक्तियाँ बड़ी ही मनोरञ्जक हैं। काण्ट कहता है कि 'क्या प्रकृति ने और उत्तम मस्तिष्कों ने दुःखों को दूर करनेवाला कोई पर्याप्त मार्ग नहीं ढूँढ निकाला?'[२] इस पर गीथी कहता है कि 'हाँ! ऐसा उपाय प्राप्त हुआ है जो डाक्टर, वैद्य, सोना, चाँदी, और जादूटोना से भिन्न है। सामने खेत को देख और कुदाली-फावड़े से काम कर। आत्मसंयम कर और व्यर्थ की आशाओं को छोड़ दे। अपनी समझशक्ति और संकल्पबल को परिमित क्षेत्र में बढ़ने दे। अमिश्रित भोजन, अर्थात् फलाहार से ही अपने शरीर को बढ़ने दे। गाय-बैल से मित्रतापूर्वक बर्ताव कर। जिस ज़मीन की उपज तू लेता है और उसके लिए जो कुछ काम तू करता है उसको नीच न समझ। मुझपर विश्वास कर, अस्सी वर्ष तक जवानी स्थिर रखने का यही उत्तम मार्ग शेष रह गया है'[३]।

---

१. In the youth of a state arms do flourish, in the middle age of a state learning and then both of them together for a time, in the declining age of a state mechanical arts and merchandise.
—Bacon Verulani, the Fransis philosopher.

२. Thus Nature, then, and has a noble mind
Not any potent balsam yet invented?

३. Good! the method is revealed
Without gold or magic or physician
Betake thyself to yonder field
There get and dig as thy condition
Restrain thyself, thy sense and will
Within a narrow sphere to flourish
With unmixed food thy body nourish
Live with the ox as brother and think it is not a theft
That thou manur'st the acre which thou reapest
That, trust me, is the best mode left thy
Whereby for eighty years thy youth thou keepest.

इस ग्राम्य जीवन में बाधा डालनेवाली पाश्चात्य सभ्यता है। उसके विरुद्ध भी विद्वानों ने आवाज़ें उठाई हैं। चीन का नेता डॉ० सनयातसेन कहता है कि 'पाश्चात्य सभ्यता द्वारा संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती और न किसी देश की वास्तविक उन्नति ही हो सकती है, क्योंकि उस सभ्यता के अन्त:स्थल में हिंसा तथा स्वार्थ की लहरें उठा करती हैं और यही लहरें आगे चलकर देश के सत्यानाश का कारण होती हैं'[१]। इसी विषय में महात्मा गाँधी कहते हैं कि 'इसके नाश के लिए संसार के बड़े-से-बड़े भयानक अस्त्रों का भी प्रयोग करना पड़े तो मैं उद्यत हूँ, यदि मुझे विश्वास हो जाए कि उनके द्वारा इसका नाश होगा'[२]।

यह पाश्चात्य सभ्यता जिस यान्त्रिक और सामरिक राज्यबल से चलाई जाती है उस युद्धपूर्ण राज्य के विषय में भी देखिए, विद्वानों की क्या सम्मति है। यूरोप में वर्त्तमान प्रजातन्त्र और स्वतन्त्रतापद्धति को सबसे पहले फ्रांस ने ही उत्पन्न किया है। फ्रांस में इस क्रान्ति का मूल प्रचारक रूसो नामी महापुरुष हुआ। इसका समय १७१२ से १७७९ तक है। राज्यव्यवस्था के विषय में रूसो कहता है कि 'जब मनुष्य पर कोई शासन नहीं था, अर्थात् जब वे सृष्टि की आदि अवस्था में थे, उस समय उन्हें सच्चा सुख प्राप्त था। उनके दु:ख का आरम्भ तभी से हुआ जब उनमें शासनप्राणाली का उद्भव हुआ अथवा परिस्थिति के बिगड़ जाने पर मनुष्यसमाज ने जब अपना रूप धारण किया। समाज बनने के पहले मनुष्य अकेला रहता था, अपनी राह चलता था, न किसी का लेना और न किसी का देना, परन्तु जनसंख्या के बढ़ने और सम्पत्ति पर पैतृक अधिकार हो जाने के कारण लोगों की कभी-कभी आपस में मुठभेड़ हो जाती, इसलिए उन्होंने समाज सङ्गठित किया, जिससे लोगों का काम नियमबद्ध हो जाए। सभी लोगों ने प्रतिज्ञा की कि हम अपने व्यक्तित्व को, अपने अधिकार को, समाज की सत्ता में, समाज के अधिकार में मिला देते हैं, फलत: सभी मनुष्यों का अपना अलग-अलग व्यक्तित्व न रह गया, परन्तु सामाजिक दृष्टि में प्रत्येक के पास समाज के सारे अधिकार थे, क्योंकि उसने अपने अधिकार को समाज के अधिकार में मिलाकर समाज के अधिकार को अपना लिया था'[३]।

इसने राजा को ही सब आपदाओं का मूल बतलाया है। जिन सामरिक यन्त्रों के द्वारा वर्त्तमान राज्यव्यवस्था चलाई जाती है उन यन्त्रों द्वारा होनेवाले युद्धों के विषय में एक विद्वान् कहता है कि '**यूरोप में यन्त्र आविष्कारों ने शान्ति को कुचल दिया है। वहाँ यन्त्र आविष्कार अशान्ति को मिटा नहीं सके,** प्रत्युत युद्धों को एक प्रकार से अत्याचारी विजेता के पागलपन से भी अधिक भयानक बना दिया है'[४]। इसीलिए जेनेवा में रूस की बोलशेविक सरकार की ओर से मो० लिटविनोफ़ ने प्रस्ताव किया है कि 'संसार के सभी राज्यस्थल, जल और आकाश की कुल सेनाओं को एक साथ ही तोड़ दें, युद्ध के साधन नष्ट कर दिये जाएँ और क़ानून बनाकर सैनिक प्रचार और सैनिक शिक्षा का निषेध कर दें। यदि यह स्वीकार हो तो एक साथ सैन्य

१. 'आज' ता० २ अप्रैल, सन् १६२७
२. 'आज' ता० २ अप्रैल, सन् १९२७
३. 'सरस्वती' जुलाई, १९२६
४. Peace has been crushed by its own mechanism in Europe, The great mechanism of peace has not only preserved the peace, but it has made war more certain, more deadly, more catastrophic than the madness of any despot or the criminal ambition of any conqueror could possibly have made it.
—*Paradox of Armed Peace by Mr. Lucien Walf.*

घटाना शुरू करके चार वर्ष के भीतर सभी राज्य कुल सेनाएँ तोड़ दें'[१]। लीग आफ़ नेशन्स की स्थापना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हुई है। वर्त्तमान राज्यव्यवस्था से सभी लोग तङ्ग आ रहे हैं और रूस ने तो उसका अन्त ही कर दिया है, किन्तु प्रश्न यह है कि क्या रूस का यह आविष्कार सत्य सिद्धान्त पर स्थिर है ?

२१ अक्टूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में विद्यापीठ के एक विद्यार्थी के बोलशेविज़्म सम्बन्धी प्रश्न पर महात्मा गांधी ने लिखा है कि 'मुझे स्वीकार करना चाहिए कि आज तक मैं बोलशेविज़्म का अर्थ पूर्ण रीति से नहीं जान सका, परन्तु जितना जानता हूँ वह यह है कि इस नीति में किसी की अपनी निज सम्पत्ति नहीं होती। यह बात यदि सब लोग अपनी इच्छा से करें तब तो इससे उत्तम और कुछ भी नहीं है, परन्तु बोलशेविज़्म में बलात्कार को स्थान दिया गया है। बलात्कार से लोगों की सम्पत्ति छीनी गई है और बलात्कार से ही उसपर क़ब्ज़ा है। यदि यह बात सत्य हो तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह बलात्कार से साधा हुआ व्यक्तिगत अपरिग्रह दीर्घ काल तक निभनेवाला नहीं है, इसलिए मेरा विचार यह है कि जिस प्रकार का बोलशेविज़्म मुझे विदित है, वह अधिक समय तक टिकनेवाला नहीं है'। ज्ञात हुआ कि बोलशेविक राज्यव्यवस्था भी त्याज्य ही है। यहाँ तक देखा गया कि पश्चिम की भौतिक उन्नति के द्वारा जो कुछ आविष्कृत हुआ है, वह सभी कुछ त्याज्य समझा जाने लगा है। अब वहाँ के लोग भारतवर्ष की रीति-नीति पसन्द करने लगे हैं।

महात्मा टालस्टाय ने वहाँ अहिंसा का प्रचार किया है। इससे असमानता और युद्धों के प्रति द्वेष बढ़ रहा है। अहमदाबाद साबरमती आश्रम में ११ सितम्बर सन् १९२८ को टालस्टाय की जयन्ती के अवसर पर महात्मा गांधी ने कहा था कि 'जिन तीन महापुरुषों ने मुझपर अपना प्रभाव डाला है उनमें एक टालस्टाय भी हैं। उनके सम्बन्ध में मैंने बहुत पढ़ा नहीं है तथापि उनकी लिखी 'Kingdom of Heaven is Within You' नामी पुस्तक ने मुझपर बड़ा प्रभाव डाला है। इससे मेरी नास्तिकता, हिंसा और अश्रद्धा आदि विचार चले गये हैं। सत्य और त्यागमूर्ति टालस्टाय का मैं आज भी पुजारी हूँ। टालस्टाय ने भरी जवानी में अपना दृष्टिकोण बदला और तीव्र विरोधों के होते हुए भी वे अपने विचारों पर दृढ़ रहे। टालस्टाय अहिंसा के बहुत बड़े पुजारी थे। उन्होंने पश्चिम को अहिंसा विषयक जितना साहित्य दिया है उतना और किसी ने नहीं दिया'[२]।

अहिंसा जहाँ दूसरों को सताने और मारने के लिए मना करती है, वहाँ स्वयं दीर्घ जीवन प्राप्त करने की ओर भी प्रेरणा करती है। दीर्घ जीवन प्राप्त करने का सबसे बड़ा साधन प्राणायाम है। यूरोप में प्राणायाम का प्रचार बढ़ रहा है। डाक्टर 'मे' कहते हैं कि जिससे हम श्वास लेते हैं उसी वायु पर हमारा जीवन अवलम्बित है और उसी से हमारी जीवनी शक्ति संचरित होती है। यदि हम लोग शुद्ध हवा में यथासम्भव निवास करें तो बड़ा लाभ होगा। रोगी मनुष्य हर प्रकार के व्यायाम को थोड़ा-थोड़ा आरम्भ करें और क्रमशः बढ़ाएँ। उनका लक्ष्य 'थोड़ा मगर सदैव' की ओर रहना चाहिए। प्रत्येक लड़के और लड़की को दीर्घ श्वास-प्रश्वास लेने का महत्त्व बता देना

---

१. 'विश्वामित्र' ६ दिसम्बर, १९२७
२. 'मुम्बई समाचार' १६ सितम्बर, सन् १९२८

चाहिए और उचित अध्यक्ष की अध्यक्षता में अभ्यास कराना चाहिए। इसका प्रभाव मन और शरीर दोनों पर अच्छा पड़ेगा। इससे शरीर के सब अङ्ग दृढ़ होकर मन के सुयोग्य और प्रशस्त सेवक बन जाएँगे[१]। फेफड़े का जीवन-पराक्रम अधिक-से-अधिक वायु भीतर भरकर, अधिक-से-अधिक वायु बाहर निकालने पर निर्भर है[२]।

दीर्घ तथा नियमित श्वास-प्रश्वास से मन की एकाग्रता करने में अवश्य सहायता मिलती है। अभ्यास करनेवालों को चाहिए कि पहने हुए कपड़ों को ढीला करके अपने फेफड़ों को मन्द तथा एक-सी वायु से पूर्णतया भर लें। श्वास को बिना अति उद्योग के रोके रहें और धीरे-धीरे एक-सा बाहर को फेंकें। इस अभ्यास से शान्त और ओजस्विनी अवस्था प्राप्त होती है जो एक शक्तिशाली व्यक्ति के लिए आवश्यक है। जब श्वास ले रहे हों तब प्रेम, स्वास्थ्य या आनन्द की एक गम्भीर भावना का अन्दर प्रवेश करें। जब तक श्वास रोकें रहें तब तक उसी भावना को रोके रहें और प्रश्वास के समय उसको भी बाहर फेंक दें[३]। इन क्रियाओं के द्वारा पाश्चात्य विद्वानों ने प्राणायाम को सिद्ध कर लिया है। वे मनमाने समय तक बिना श्वास लिए मृतवत् रह सकते हैं। एडिनबरा के डाक्टर डंकन एक विद्यार्थी के विषय में लिखते हैं कि वह भी कर्नल टौनशैंड की भाँति मृतवत् होकर, सफलतापूर्वक प्राण लौटा लिया करता था[४]। उन लोगों के हालात लिपिबद्ध हो चुके हैं, जिन्हें हृदय की गति को इच्छापूर्वक रोकने की शक्ति प्राप्त है[५]। Lung developer नामी यन्त्र भी बन गया, जिससे प्राणायाम (Deep breathing) सीखने में सुगमता होती है। यूरोप के कई एक स्थानों की शिक्षाप्रणाली में भी प्राणायाम जोड़ दिया गया है और यह यन्त्र भी काम में लाया जाता है।

दीर्घ आयु, समता और सभ्यता के जीवन में जो सबसे बड़ी बात है वह आहार और विहार की है। निरामिष और अमादक पदार्थों को खा-पीकर ब्रह्मचर्यपूर्वक सादा जीवन बिताना ही उच्च और सात्त्विक जीवन कहलाता है। भारत देश के दो-चार महापुरुषों के कारण यूरोपनिवासियों

---

१. As it is by the means of air which we breathe that life is supported and vital energy retained, it is of great consequence that we should be as much as possible surrounded by that element in a state of purity. Invalids should commence all exercises very moderately and gradually increase them and set the motto 'a little but always'. Every boy and girl should be taught the value of deep breathing which should be practised under proper control. They would act beneficially both mentally and physically, strengthen the various organs of the body, and render them more able and efficient servants of the mind. —*Dr. May's Practical Method, p. 19.*

२. The vital capacity of the chest is the amount of air which can be expired from the chest after taking the deepest possible inspiration. —*Physiology, p. 138 by H. Ashby, M. P.*

३. An undoubted aid to concentration is to practice deep and regular breathing. Having loosened the clothing, fill your lungs to the fullest extent with slow and even inspiration, hold the breath without straining and expel it equally slowly. This exercise induces the calm, strong attitude essential to a powerful individuality.

Whilst inhaling draw in some deep thought of love, health or happiness, allwo the mind to dwell on it whilst keeping the breath in suspension, and rediate or give out the same quality during expiration. —*Mind Concentration, p. 38 and 39 by K. L. Anderson.*

४. Dr. Duncan, Edinburgh, mentions the case of a medical student who like Col. Townshend simulated successfully the appearance of death. —*Medical Juirsprudence for India, p. 82 by L. A. Waddell*

५. Cases are recorded of persons who have apparently possessed the power of voluntarily suspending the action of the heart. —*Medical Jurisprudence, p. 81*

के आहार, विहार और आचार में भी क्रान्ति हो रही है। स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द और महात्मा गाँधी आदि के विचारों ने वहाँ जो काम किया है वह नीचे लिखे दो चार पत्रों से ज्ञात होता है।

स्वामी दयानन्द को Cumberland से Mr. Mild M.D. ने ता० १७.६.१८७९ के पत्र में लिखा था कि मेरी कामना केवल यही नहीं है कि सत्य को जानूँ, प्रत्युत यह है कि जहाँ तक मेरी आत्मा और शरीर से हो सके यथाशक्ति सत्य का जीवन व्यतीत करूँ[१]। दूसरे पत्र में एक दूसरे सज्जन Peter Devidson ने Scotland से लिखा था कि मैंने मांस खाना छोड़ दिया है और मद्यपान आदि नशों को भी त्याग दिया है। यद्यपि मेरा विवाह हो चुका है, परन्तु मैं ब्रह्मचारियों का-सा जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। मुझे धन तथा सांसारिक पदार्थों की अभिलाषा नहीं है। मेरी जिज्ञासु आत्मा के भीतर केवल यही प्रेरणा होती है कि इस बात का ज्ञान हो कि मनुष्य वास्तव में क्या है और वह क्या बन सकता है। साथ ही मैं सदाचार में अपने आपको निपुण करना चाहता हूँ, जिससे मैं इस योग्य बन जाऊँ कि ब्रह्म के साथ अपनी आत्मा को मिला सकूँ[२]।

इसी प्रकार के पत्र महात्मा गांधी के नाम भी आये हैं, जिनमें से दो पत्र यहाँ दिये जाते हैं। आस्ट्रियानिवासी एक दम्पती के पत्रों में से पत्नी का पत्र इस प्रकार है कि 'यहाँ सब लोग हिन्दोस्तान को विचित्र प्राणियों और चमत्कारिक घटनाओं का संग्रहस्थान समझते हैं। जो अहिंसा संसार को तारनेवाली है और जिस अहिंसा द्वारा हिन्द के लोग संसार की सेवा करनेवाले हैं, उसकी किसी को कुछ भी ख़बर नहीं है। मेरे पति के साथ मेरा सम्बन्ध आध्यात्मिक है। इसके कारण हम लोग एक-दूसरे को दूसरे विवाहित जोड़ों की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार समझते हैं। ब्रह्मचर्य पालन करना मेरे पति को प्रारम्भ में बहुत कठिन लगा, इससे मैंने कई बार अपने को उलाहना भी दिया, परन्तु आपका लेख पढ़कर तो हम लोगों ने समझ लिया कि इसमें मेरे पति की आत्मोन्नति ही है। इसके लिए आपका कितना उपकार मानूँ? पश्चिम के विज्ञान में नास्तिकता भरी हुई है। इतना ही नहीं, किन्तु पश्चिम की कला में भी मैंने नास्तिकता ही देखी है। हमारे यहाँ भी धर्म है, परन्तु यहाँ का समाज तो धर्म पाल ही नहीं सकता। हमको सादगी पसन्द हो, हम अपना काम अपने हाथ से कर लें और हम अपनी छत पर पक्षियों को दाना चुगावें तो यह भी लोगों को चुभता है। हम जीवदया की बात कहते हैं तथा वृक्षों और तरुओं के बचाने की बात कहते हैं तो लोग हमपर हँसते हैं। यहाँ की शराबख़ोरी से तो बस तोबा है। हर प्रकार से यहाँ के लोग विषय में लीन हैं, परन्तु हम समझते हैं कि हमें अधीर न होना चाहिए। हमें भी अपना धर्म सँभालना चाहिए। परमेश्वर की कृपा से हमें एक आश्वासन मिला है—हम भगवद्गीता बाँचने लगे हैं। गीता-जैसा शान्तिप्रद ग्रन्थ साहित्य में दूसरा नहीं है। भारत से मैंने जो कुछ प्राप्त किया है, उस ऋण का बदला वहाँ जन्म लेकर और उसकी सेवा करके ही चुकाया जा सकता है'।

---

१. I desire not only to know the truth but to live the truth so far as my soul and body may permit.

२. I have abstained from animal food, alcoholic beverage and although a married man, live in a manner approaching to unmarried. I care nothing for money or worldly means. My ernest soul aspires only to know more of what man really is and what he can become and to perfect myself in virtues so as to be able to hold more advanced intercourse with the vast beyond.

पति का पत्र इस प्रकार है कि 'मेरी उम्र ४० वर्ष की है। बीस वर्ष तक मैं जिस वस्तु के लिए मारा-मारा फिरता था, वह वस्तु मुझे मिल गई है। आपके लेखों के पढ़ने से मानवबन्धुओं और मानवजाति से निम्न श्रेणी के प्राणियों के प्रति मेरे भाव बिलकुल बदल गये हैं। विश्वविद्यालय में मैं रोगशास्त्र का शिक्षक हूँ। इतने अनुभव के परिणाम से मैं देखता हूँ कि रोगनिवारण करने में प्राकृतिक चिकित्सा—सूर्य, प्रकाश, हवा, पथ्याहार और पथ्य जीवनक्रम आदि—जैसी दूसरी एक भी वस्तु नहीं है। मैं तो ख़ास अपने उद्धार के लिए आपका 'आरोग्यविषयक सामान्य ज्ञान' नामी पुस्तक पढ़ता हूँ। 'गुह्यप्रकरण' में आपने जो विचार दर्शाये हैं उनका आचरण बहुत-से लोग अशक्य समझते हैं, परन्तु हम उनका पालन कर रहे हैं। मुझे प्रतीत होता है कि मनुष्य के विकास की माप उसका विषयेन्द्रिय पर क़ाबू है। जो शान्ति और सन्तोष मुझे पश्चिम का विज्ञान नहीं दे सका वह अब मुझे मिल गया है और परम शान्ति का साधनमार्ग मेरी समझ में आ गया है। मैं आपके सिद्धान्तों के योग्य बनने का प्रयत्न करूँगा तथा अपनी अल्प मति और शक्ति के अनुसार अपने आसपास के वायुमण्डल में आपके सिद्धान्तों के प्रचार का प्रयत्न करूँगा।'

इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द से दीक्षित होकर आज अमेरिका के सैकड़ों योग्य विद्वान् संन्यास धारण कर संन्यासी जीवन बिता रहे हैं और भारत माता की महिमा गा रहे हैं। पाश्चात्य विज्ञान बड़ी अशान्ति फैलानेवाला है, इसलिए सब लोग भारत माता की ओर देख रहे हैं। पेरिस से लॉर्ड फ़्लिच कविता द्वारा लिखते हैं कि हे भारत माता! हम तेरे पुत्र हैं, तू हमें सहायता दे। तेरी सहायता और सहानुभूति के लिए हम टकटकी लगाये हुए हैं। हमारा मार्ग अशान्त और कष्टमय है। हम तेरे पुत्र हैं। तू हमारे आविर्भाव से पहले ही उन्नति के उच्चतम शिखर पर पहुँच चुकी है। हम तेरे असली वैदिक पुत्र हैं, हम तेरी ही सहायता से संसार में उन्नति कर सकते हैं, अतएव हे भारत माता! तू हमें सहायता दे[१]।

संसार में फैले हुए समस्त मत-मतान्तरों की आलोचना करता हुआ, एक विद्वान् Indian World नामक पत्र में कहता है कि आगामी धर्म वैदिक धर्म ही होगा। अब संसार ईमान के दुर्ग से निकलकर बुद्धि और तर्क की ओर चल रहा है। जब तक मज़हबी सिद्धान्त को तत्त्वज्ञान (Philosophy) पुष्ट न करे, तब तक वह स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि तर्क अपने ही सहारे पर खड़ा होता है। चाहे संसार का भूत इतिहास कैसा ही क्यों न हो, भविष्यत्काल तो बुद्धि और तर्क का ही है। ज्योंही अँधाधुन्ध विश्वास और ईमान का स्थान तर्क और दलील ने लिया त्योंही संसार के आनेवाले धर्म का प्रश्न हल हो जाएगा। तर्क के सम्मुख कोई करामात, चमत्कार अथवा कोई भी ख़ुराफ़ात, जो सृष्टि के विरुद्ध हो, नहीं ठहर सकती। तर्क सब प्रकार की पूजा की विधियों को हटा देगा। केवल वही पूजा-उपासना रह जाएगी जो बुद्धि के अनुकूल होगी।

---

1. Oh India! will you not help us?
Be patient with us, India!
Remember we are your children
You are old and learned and wise before we existed.
Our path is steep and thorny. Help us, Mother India!
We, your real Vedic children, are turning our gaze to our motherland together
We can become the great regenerating and moralising force of this world. —*By Lourd Flinch, Paris.*

आगामी धर्म में सदाचार का अधिक गौरव होगा और वह अधिकांश हिन्दूधर्म के आदर्शों के अनुसार ही होगा। यदि ईसाईमत से चमत्कारों को निकाल दिया जाए तो इसके खड़े होने के लिए पाँव नहीं रहते, परन्तु यदि हिन्दूधर्म से मूर्त्तिपूजा हटा दी जाए तो वह बुद्धि और तर्क के अनुकूल बन जाता है, वैदिक धर्म का वास्तविक रूप प्रकट हो जाता है और संसारभर के मानने योग्य हो जाता है।

यूरोप के लोग केवल बातें ही नहीं बनाते, प्रत्युत उन लोगों ने वैदिक ऋषियों का–सा जीवन बनाना भी आरम्भ कर दिया है। यहाँ हम उसका एक नमूना देकर इस प्रकरण को समाप्त करेंगे। २१ अक्टूबर १९२८ के गुजराती नवजीवन में महात्मा गाँधी लिखते हैं कि 'ऋषियों का आश्रम' शीर्षक निम्नलिखित एक लेख दीनबन्धु एण्ड्र्यूज़ ने यूरोप से भेजा है, जो यंग इण्डिया में छपा है। उसमें उन्होंने जर्मनी के मार्बर्ग नामक शहर में स्थापित विद्यापीठ को 'ऋषि आश्रम' के नाम से लिखा है। इसमें ऋषिजीवन बितानेवाले एक बुज़ुर्ग अध्यापक का वर्णन है जो जानने योग्य है। मार्बर्ग विद्यापीठ में वेदों की शिक्षा की बहुत ऊँची स्थिति है। इन पठन–पाठन करनेवाले अध्यापकों के जीवन पर वेदों ने इतनी गहरी छाप डाली है कि वे लोग ऋषियों के–से आचार का पालन करते हैं। इन अध्यापकों में अध्यापक ओटो प्रधानाध्यापक हैं। यद्यपि मैं थोड़े समय के ही लिए अध्यापक ओटो का अतिथि हुआ, परन्तु इससे मुझे बड़ा आनन्द मिला। अध्यापक ओटो बालब्रह्मचारी हैं। उन्होंने शादी नहीं की। अपना समस्त जीवन वेदाभ्यास में ही बिताया है। उनके बाल सफ़ेद हो गये हैं। उनकी बहिन जिसकी उम्र लगभग उनके ही बराबर है, उनके घर का प्रबन्ध करती है। मुझे तो वह माता के समान ही लगी, क्योंकि उसने माता के समान ही मेरा आतिथ्य किया। अध्यापक ओटो भारत में कई बार आ चुके हैं। उन्होंने जब–जब भारतवर्ष के सम्बन्ध में बीतचीत की तब–तब उनके चेहरे पर आनन्द छा गया। इससे मैं उनका भारत के प्रति प्रेम देख सका। भारत में रहने से उनकी तबीयत ख़राब हो गई है। सन् १९१२ में उनको मलेरिया हुआ, जो अब तक निर्मूल नहीं हुआ है। गत वर्ष वे भारत में आये थे, परन्तु बीमारी ने ऐसा जकड़ा और इतने दिन बीमार पड़े रहे कि अब तक ठीक नहीं हुए, तथापि उनको भारत का स्वप्न तो आया ही करता है। भारत की सभ्यता का अध्ययन उन्होंने बड़ी बारीकी से किया है। उन्होंने हिन्दूधर्म का गहरा अध्ययन करने के लिए वेद, उपनिषद् और गीता को पढ़ा है। इतना ही नहीं, परन्तु पुराणों को भी पढ़ा है और हिन्दूधर्म की आधुनिक स्थिति की भी जाँच की है। उनका भारत की सूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान देखकर तो मैं आश्चर्यचकित रह गया। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपना समस्त जीवन संशोधन में ही बिताया है। संस्कृत उनके लिए मातृभाषा के समान है और आवश्यकता पड़ने पर वे संस्कृत में बातचीत कर सकते हैं।

इसके आगे महात्मा गांधी कहते हैं कि 'यह तो मैंने एक ही ऋषि के चित्र का अनुवाद दिया है। मैं तो कहता हूँ कि हम लोगों को शर्म के साथ स्वीकार करना चाहिए कि यूरोप में और विशेषकर जर्मनी में रहनेवाले कितने ही विद्वान् जिस भाव से, जिस प्रयत्न से और जिस सत्यशीलता से वेदादि ग्रन्थों का अनुशीलन करते हैं, वह आज यहाँ प्रायः लुप्त–सा ही हो गया है। ऋषिजीवन का अनुकरण तो बहुत ही कम देखने में आता है। केवल अध्ययन के लिए ही बिना आडम्बर के सहज ही ब्रह्मचर्य का पालन आज यहाँ कहाँ दिखलाई पड़ता है? अपने भाई का साथ देने के लिए बहिन कुमारिका रहे और भाई के घर का प्रबन्ध करे, यह कैसी हर्ष उत्पन्न

करनेवाली और पवित्र वायुमण्डल बनानेवाली बात है। कितने ही दिन पूर्व अमेरिका के एक अध्यापक ने 'बम्बई टाइम्स' में अपने अनुभव का वर्णन किया था। वह भी संस्कृतज्ञ है। वह लिखता है—

मैं भारत में बड़ी आशा करके आया था, परन्तु यहाँ आने के बाद, अनुभव प्राप्त करने पर, संस्कृत के पण्डितों से मिलने पर, निराश हो गया। इसके लेख में अतिशयोक्ति है, जल्दी में बनाये गये विचार हैं और यहाँ पर बसनेवाले यूरोपनिवासियों के संसर्ग का स्पर्श है। यह सब निकाल देने पर भी जो कुछ रह जाता है, उसमें मैंने सत्यांश देखा और लज्जित हुआ। हममें सच्ची धर्मजागृति हो और प्राचीन संस्कृति में जितना सत्य, शिव और सुन्दर हो उसको संग्रह करने की रुचि हो तो हमारी स्थिति आज भिन्न ही हो। ऋषि लोग निर्भय होकर अरण्य में रह सकते थे और ब्रह्मचर्य उनके निकट सहज वस्तु थी, परन्तु आज हम शहरों में भी निर्भयता से नहीं रह सकते। ब्रह्मचर्य अद्भुत वस्तु प्रतीत होती है। परिश्रम से ढूँढने पर भी कोई शुद्ध ब्रह्मचारी नहीं मिलता, ब्रह्मचारिणी तो भला कहाँ से मिले! किसी समय यह ऋषियों का स्थान था, किन्तु ऋषि लोगों ने तो अब यूरोप के कोने-कतरे में जहाँ-तहाँ वास करना शुरू किया है। इस लेख का यह अभिप्राय नहीं है कि कोई जर्मनी या दूसरे स्थान में जाकर ऋषि बनने का प्रयत्न करे। यदि कोई ऐसा करे भी तो वह निष्फल होगा। कोई भारतवासी जर्मनी में जाकर ऋषि बन सकेगा यह मेरी कल्पना में भी नहीं आ सकता। भारतीय को तो भारत में रहकर ही अध्यापक ओटो की भाँति ऋषिसंस्था का पुनरुद्धार करना चाहिए। ऐसा कहा जा सकता है कि इस ओर आर्यसमाज ने महान् प्रयत्न किया है, परन्तु यह समुद्र में बिन्दु के समान है। इस प्रकार का जब बहुत बड़ा प्रयत्न होगा तभी हमको प्राचीन सभ्यता की गुमी हुई चाबी प्राप्त होगी'।

ये हैं गहरे विचारवान् विद्वानों के हृदय के उद्गार—ये हैं त्रसित आत्माओं के उपाय जिनके द्वारा वे संसार का दुःख दूर करना चाहते हैं और ये हैं वे विचार जो वर्त्तमान भौतिक उन्नति से तङ्ग आकर समझदार मनुष्यों के मस्तिष्क में चक्कर काट रहे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इस ज़माने में किसी को भी चैन नहीं है। धनी-निर्धन, रोगी-नीरोगी, राजा-रंक तथा मूर्ख और विद्वान् कोई भी ऐसा नहीं है जो सन्तुष्ट हो। वर्त्तमान भौतिक विज्ञान और उससे उत्पन्न हुई अशान्त बुद्धि ने संसार को इतना अस्वाभाविक बना दिया है कि कहीं सुख-शान्ति की छाया तक देखने को नहीं मिलती। इसलिए मान लेना चाहिए कि ऊपर कहे गये समस्त लेखकों ने दुःखों के कारण और उन दुःखों को दूर करने के उपायों के ढूँढने में अच्छा परिश्रम किया है और उनको सफलता भी मिली है, तथापि उसमें कई त्रुटियाँ हैं। यहाँ हम नमूने के लिए दो-तीन का उल्लेख करते हैं।

सबसे प्रथम और बड़ी त्रुटि यह है कि प्रकृति की ओर लौटानेवालों ने मनुष्य को एक प्रकार का पशु मान लिया है, जिसे प्रकृति के नियम पालन करने पर विवश करते हैं। मनुष्य में यदि ज्ञानस्वातन्त्र्य न होता तो निःसन्देह वह प्राकृतिक नियमों में आबद्ध किया जा सकता, परन्तु उसके विचारस्वातन्त्र्य ने उसे प्रकृति में हस्तक्षेप करने का अधिकारी बना दिया है। इसलिए वह पशु-पक्षियों की भाँति प्राकृतिक नियमों से बाँधा नहीं जा सकता। उदाहरण के लिए आहार और विहार (रति) समस्त प्राणियों में एकसमान ही पाये जाते हैं, परन्तु मनुष्यों में वे बिलकुल ही विलक्षण देखे जाते हैं। गाय, भैंस, बकरी आदि को जब ऋतुधर्म होता है तब उनमें गर्भाधान के लिए एक विलक्षण व्याकुलता उत्पन्न होती है। इस व्याकुलता को साँड, भैंसा, बकरा आदि तुरन्त

ही जान लेते हैं और गर्भ स्थापन कर देते हैं। जिन मादा पशुओं को आवश्यकता नहीं है, उनके नर उनकी ओर दृष्टिपात भी नहीं करते, किन्तु मनुष्य में यह बात बिलकुल नहीं पाई जाती। न तो ऋतुमती स्त्री को ही कोई विलक्षण व्याकुलता होती है न पुरुष को उसके गन्ध, रूप, स्पर्श आदि से उसकी इच्छाओं का भान होता है और न समीप जाने पर उत्तेजना ही होती है। यदि ऐसा होता तो संसार की समस्त सामाजिक व्यवस्था ही बिगड़ जाती। ऐसी दशा में मनुष्य रति-विषयक नियम प्रकृति के सहारे पर नहीं बना सकता। उसे तो इतने दिन ऋतु के छोड़कर और इतने-इतने दिन अन्य तिथियों के छोड़कर केवल अमुक दिन अमुक समय हो, आदि नियम बनाने पड़ेंगे, जो बिलकुल उसके विचारों से ही सम्बन्ध रखते हैं, प्रकृति से नहीं।

जो अवस्था विहार की है, उससे भी अधिक जटिल समस्या आहार की है। संसार में देखते हैं कि जो पशु मांस खाता है वह घास नहीं खाता और जो घास खाता है वह मांस नहीं खाता, किन्तु मनुष्य फल, दूध, अन्न और मांस आदि सभी कुछ खा जाता है। यहाँ तक कि वह मिट्टी भी खाने लगता है। आहार के लिए प्रकृति उसे बिलकुल सहायता नहीं देती। वह नहीं बतलाती कि उसका निजी भोजन क्या है। उसे तो अपनी ओर से ही दाँत, आँत और मेदा आदि की देखभाल करके निश्चित करना पड़ता है कि मनुष्य का भोजन क्या है ? जीवन के इन दोनों प्रधान विषयों में मनुष्य बिना अपने निर्धारित नियमों के, प्रकृति की प्रेरणा से कुछ भी नहीं कर सकता, इसलिए केवल प्रकृति की पुकार करने से ही काम नहीं चल सकता। प्रत्युत यह जानने की आवश्यकता होती है कि यथार्थ में हमें अपना आहार-विहार किस प्रकार बनाना चाहिए।

दूसरी त्रुटि यह है कि जो रहन-सहन प्रकृति की ओर लौटानेवाले विद्वानों ने बतलाया है, वह कुछ विशेष व्यक्तियों के पालन करने योग्य है, किसी देश या जाति के लिए नहीं, क्योंकि इस प्रकार के सीधे-सादे नियमों के पालन करनेवाला व्यक्ति या समाज दुष्टों से अपनी रक्षा नहीं कर सकता। भारतवर्ष इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। आँख के सामने एक सहस्र वर्ष से सीधे-सादे हिन्दुओं को विदेशी कुचल रहे हैं, इसलिए इन विद्वानों को यह भी बतलाना चाहिए था कि प्रकृति के अनुसार वर्त्तनेवाले सीधे-सादे मनुष्य दुष्ट और आसुरी सम्पत्तिवालों के हाथ से कैसे बच सकेंगे ?

तीसरी त्रुटि है आदिम अवस्था की जाँच की। प्रकृति की ओर इशारा करनेवाले विद्वान्, मनुष्य के रहन-सहन का सच्चा साँचा ढूँढने के लिए मनुष्य की आदिम अवस्था की जाँच करते हैं। उनका विश्वास है कि मनुष्य अपनी आदिम अवस्था में सच्चे रहन-सहन के साथ था। हम भी कहते हैं कि ठीक है, था, परन्तु प्रश्न तो वही उपस्थित है कि आदिम अवस्था में वह अपने लिए आजकल की ही भाँति आहार-विहार के नियम सोच-विचार कर निश्चित करता था या पशु-पक्षियों की भाँति उसे प्रकृति स्वयं वैसा करने के लिए विवश करती थी। हम देखते हैं कि आज प्रकृति उसे कुछ भी शिक्षा नहीं देती, अतः आदिम अवस्था में भी यही हाल रहा होगा। मनुष्य और पशु में अन्तर ही यह है कि मनुष्य के पास सोच-विचारकर बनाये हुए कुछ नियम अवश्य होंगे जो आजतक पाये जाते हैं, परन्तु इन विद्वानों ने उन नियमों के ढूँढने की कुछ भी चेष्टा नहीं की। सम्भव है कोई विद्वान् इस प्रश्न का यह उत्तर दे कि आरम्भ में मनुष्य में प्रकृति के नियमों के पालन करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसी प्रकार थी, जिस प्रकार पशुओं में है तो हम नम्रतापूर्वक निवेदन करेंगे कि वह मनुष्य पशु ही था, मनुष्य नहीं। उसका मनुष्य नाम तो

मनन, अर्थात् स्वतन्त्र चिन्तन से ही पड़ा है। मनुष्यजाति के नियम बड़े विलक्षण हैं। उसके समस्त नियमों में मर्यादा है और मर्यादा में अपवाद है। शेष जितने प्राणी हैं उनके लिए प्राकृतिक नियम निश्चित हैं। वे उनको तोड़कर अपवाद नहीं कर सकते, परन्तु मनुष्य अपने नियमों को मर्यादित करता है और उस मर्यादा में ही अपवाद भी रखता है। मनुष्य के आहार और विहार आदि में मर्यादा और अपवाद दोनों पाये जाते हैं, किन्तु पाश्चात्य विद्वानों द्वारा जो नियम निकाले गये हैं उनमें केवल पशुदशा पर ही प्रकाश डाला गया है, प्राकृतिक जीवन पर ही ज़ोर दिया गया है, मर्यादा और अपवाद पर नहीं। यूरोपवालों में यह त्रुटि है कि वे जब भौतिक उन्नति की ओर झुके तब उसका अन्त कर दिया और जब प्रकृति की झुके तो पशुओं की भाँति जंगलों में नंगे रहने लगे। उनको सामञ्जस्य उत्पादक मानवी नियम सूझते ही नहीं। यद्यपि पाश्चत्यों का ध्यान भारतवर्ष की प्राचीन संस्कृति की ओर भी आकर्षित हो रहा है। आर्यसभ्यता की खोज वे बड़े यत्न से कर रहे हैं, खोज ही नहीं करते प्रत्युत वैसा ही जीवन बनाने का भी प्रयत्न कर रहे हैं, किन्तु अब तक आर्यसभ्यता के मूल सिद्धान्त (१) आरम्भिक ज्ञान (२) मर्यादित नियम और (३) अपवादों की व्यवस्था—की ओर उनका ध्यान नहीं गया। भारत की वैदिक आर्यसभ्यता न तो जंगली मूर्ख असभ्यों की-सी है और न वर्त्तमान भौतिकवादी पाश्चात्यों की-सी। वह अपने ढंग की निराली है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति और समस्त मानव तथा प्राणिसमूह को एक समान ही लाभ पहुँचाने का आयोजन है, अतः जब तक उसकी आरम्भिक ज्ञानावस्था, मर्यादा और अपवाद की त्रिपुटी पूर्ण रीति से स्वीकार न कर ली जाए तब तक संसार की कोई भी व्यवस्था चिरस्थायी नहीं हो सकती। समाज चाहे जितना उत्तम बनाया जाए, उसमें अपवाद रूप से दुष्ट मनुष्य अवश्य पैदा हो जाएँगे। इसीलिए मर्यादित नियमों में अपवाद नियम अवश्य बनाने पड़ेंगे, फिर चाहे वे आहार, विहार, समाज, युद्ध, राज्य, प्रेम और दया आदि किसी विषय से सम्बन्ध रखते हों।

आदि सृष्टि में ऐसे ही नियम थे, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये आदिम नियम ऐसी वस्तु नहीं है कि जो वैज्ञानिकों की प्रयोगशाला या दार्शनिकों के विचारों से निकल पड़ें। इन नियमों का पता तो आर्यों के इतिहास से ही लग सकता है कि आदि सृष्टि में मर्यादा और अपवाद, अर्थात् धर्म और आपद्धर्म की क्या व्यवस्था थी। हमारा दावा है कि वेद ही आदि सृष्टि (आरम्भिक अवस्था) का ईश्वरीय क़ानून है। वेदों में सदैव के लिए मर्यादित धर्म और अपवादों के लिए आपद्धर्म का वर्णन है, अतः जो कुछ वेदों में कहा गया है मनुष्यजाति को उसी के अनुसार व्यवहार करने से लाभ हो सकता है, प्रकृति के अनुसार नहीं। इसलिए इस उपक्रम के पश्चात् आगे के प्रकरणों में अब हम देखेंगे कि वेद कितने प्राचीन हैं, किस प्रकार अपौरुषेय हैं और उनमें मनुष्य के लिए मर्यादा और अपवाद, अर्थात् धर्म और आपद्धर्म की क्या व्यवस्था है।

—:(०):—

ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

प्रथम खण्ड

वेदों की प्राचीनता

इस पुस्तक के उपक्रम से यह बात स्पष्ट हो रही है कि यूरोप के विचारवान् वर्त्तमान भौतिक उन्नति से सन्तुष्ट नहीं है, प्रत्युत मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति की खोज में है। उन्होंने यह बात निश्चित कर ली है कि मनुष्य अपनी उत्पत्ति के समय स्वाभाविक स्थिति में था और सुखी था, परन्तु वह स्वाभाविक स्थिति कैसी थी, ज्ञानयुक्त थी या ज्ञानहीन, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। केवल अनुमान के सहारे कहा जाता है कि वह स्वाभाविक दशा थी, प्राकृतिक स्थिति थी और सबका व्यवहार प्रकृति के अनुसार था, परन्तु विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रकृति का मनुष्य के साथ वह सम्बन्ध नहीं है जो पशुओं के साथ है, इसलिए उसकी स्थिति सर्वथा ही प्रकृति के सहारे नहीं रह सकती। इसका कारण यही है कि मनुष्य पशु नहीं, किन्तु ज्ञानवान् जीव है, अतः उसे प्रकृति के बाह्यांश से कोई प्रेरणा नहीं मिल सकती। उसे तो प्रकृति के आन्तरिक और बौद्धिक अंश से ही ज्ञान का स्पष्ट उपदेश होता है तभी वह बुद्धिपूर्वक अपनी स्थिति बना सकता है और सुखी रह सकता है, इसीलिए आर्यों का विश्वास है कि आदिसृष्टि के समय, अर्थात् सृष्ट्युत्पत्ति के साथ ही मनुष्य को परमात्मा की ओर से ज्ञान की प्रेरणा हुई। वही ज्ञान वेद है, परन्तु वेदों की इतनी लम्बी प्राचीनता पर—उनकी आदिकालीनता पर, अपौरुषेयता पर, अनेक विद्वानों का विश्वास नहीं है। वे कहते हैं कि वेदों में जिन ऐतिहासिक नामों का उल्लेख पाया जाता है और ज्योतिषसम्बन्धी जिन घटनाओं के संकेत पाये जाते हैं उनसे वेदों का समय मिस्र की सभ्यता से भी कम सिद्ध होता है, किन्तु हम देखते हैं कि इस आरोप में कुछ भी दम नहीं है, क्योंकि वेदों में ऐतिहासिक अथवा ज्योतिषसम्बन्धी किसी भी ऐसी घटना का उल्लेख नहीं है, जिससे वेदों की आदिमकालीनता पर यह आक्षेप किया जा सके। रही मिस्र की सभ्यता, वह तो बहुत ही अर्वाचीन है।

मिस्र की सभ्यता

'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दि वर्ल्ड' में मिस्र की भूमि की उत्पत्ति के विषय में लिखा है कि 'मिस्र की भूमि प्रति एक शत वर्ष में पाँच इञ्च के हिसाब से नील नदी के द्वारा मिट्टी एकत्र करती है। इस समय तक मिट्टी का जो सबसे बड़ा स्तर एकत्र हो रहा है उसकी मोटाई २६ फ़ुट से ६२ फ़ुट तक है, अतः ३५ फ़ुट का औसत मानने से यह ज़मीन ६००० वर्षों में इतनी मोटी हो पाई होगी, किन्तु इससे भी अधिक उसे १०,००० वर्ष की मानना चाहिए। इसके पहले वहाँ पूर्णरूप से मैदान ही था और बुशमैनों की प्रकार के जंगली मनुष्य वहाँ रहते थे।......मिस्र का लिखित इतिहास वहाँ के प्रथम राजवंश से आरम्भ होता है जो ईस्वी सन् पूर्व ५५०० तक जाता है और

छठे, बारहवें तथा अठारहवें राजवंश से मिल जाता है। इस लिखित इतिहासकाल के पूर्व का समय नहीं कहा जा सकता कि वह और कितने समय पूर्व तक जाता है"[१]।

इसका तात्पर्य यह है कि मिस्र की भूमि केवल १०,००० वर्ष की पुरानी है। वहाँ की लिखित सभ्यता तो वहाँ के प्रथम राजवंश से ही आरम्भ होती है जो केवल (५५००+१९२९=) ७४२९ वर्ष प्राचीन सिद्ध होती है। इसके पूर्व का समय अन्धकार में है, अत: वहाँ की सभ्यता का साधक-बाधक नहीं है, अतएव वहाँ की सभ्यता जो लिखित प्रमाणों से सिद्ध होती है वह ७४२९ वर्ष की प्राचीन है और हमें मान्य है, किन्तु हम देखते हैं कि भारतीय आर्यों की लिखित सभ्यता इससे बहुत अधिक प्राचीन प्रमाणित होती है, क्योंकि सभी इतिहासप्रेमी जानते हैं कि भारत के अन्तिम सम्राट् राजा चन्द्रगुप्त के दरबार में यूनान का राजदूत मेगस्थनीज़ रहा करता था और उसने राज्य के पुस्तकालय से एक वंशावली प्राप्त की थी जिसे उसने अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया था। इसी प्रकार उस वंशावली को ओरायन ने भी लिखा था। इस वंशावली के विषय में मेगस्थनीज़ ने लिखा है कि इसमें बकस के समय से अलगज़ेंडर—चन्द्रगुप्त के समय तक १५४ राजाओं की गणना है, जिनके राज्यकाल की अवधि ६४५१ वर्ष तीन मास है। ओरायन इतना और कहता है कि इस अवधि में तीन बार प्रजासत्तात्मक राज्य भी स्थापित हुए थे। इस वर्णन को कई एक विद्वानों ने कुछ मतभेद के साथ अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है[२]। यह वर्णन सम्राट् चन्द्रगुप्त के समय का है। चन्द्रगुप्त को हुए आज तक २२५० वर्ष हो चुके। अतएव दोनों समयों को मिलाने से (६४५१+२२५०=) ८७०१ वर्ष होते हैं जो मिस्र की सभ्यता से (८७०१-७४२९=) १२७२ वर्ष अधिक होते हैं। यदि मिस्र के पहले राजा से बारह सौ वर्ष पूर्व तक भी

---

१. The accumulations of desposit is about 5 inches in a century (4.7 at Naukratis, 5.1 at Abusis, 5.5 at Cairo); and the depth of it is not less than 26 ft., and varies in different places down to 62 ft. The lower depths are, however, often mixed with sand beds, and do not show the continuous mud-deposit, hense the average depth of 39 ft., is too large, and if we accept 35 ft. it will certainly be a full estimate. At the average rate of deposit, this would be formed in 6,000 years. But on the other hand, the deposit may have been slower at the beginning and hence the age would be earlier. Also, the full depth may be greater, owing to some borings hitting on ground which was originaly above the river. Hence the extreme limits of age of Nile-deposit in different positions are perhaps 7,000 to 15,000 years, and probably about 10,000 years may be a likely age for the beginning of continuous Nile mud stratification. Hence it is clear that the start of the civilisation was about contemporary with the first cultivable ground. Thus it would seem that Egypt. as an almost desert region, before the formation of the cultivable mud-flats, was the last home on the Mediterranean of the hunters who continued in the Palaeolithic stage. The physical type of the figure which we can attribute to this earlist population has the Bushman characteristics of fatness of the thighs and hips with a deep lumbar curve......The written history extends back to the first dynasty, and places that at 5,500 B. C., and this is checked at the sixth, twelth, and eighteenth dynasties by records of the rising of Sirius, and of the seasons in the shifting year, which agree to this dating in general. For the length of the prehistoric age before these written records there is no exact dating.

—*Harmsworth History of the World, p. 233-234.*

२. Magasthenes, the envoy of Alexander to Kandragupso (Chandragupta), king of the Gangarides, discovered chronological tables at Polybhottra, the residense of this king, which contain a series of no less than 153 kings, with all their names from Dionysius to Kandragupso, and specifying the duration of the reign of every one of those kings, together amounting to 6,451 years, which would place the reign of Dionysius nearly 7,000 years B. C., and consequently 1,000 years before the old king found in the Egyptian tables of Manetho (viz., the head of the Tinite Thebaine dynasty) who reigned 5,867 years B. C., and 2,000 years before Saufi, the founder of the Gizeh Pyramid.

—*Theogony of the Hindus by Court Bjornstjerna, p. 45.*

वहाँ की सभ्यता को मान लें तो भी वह यहाँ की सभ्यता से प्राचीन नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक दूसरे ऐतिहासिक प्रमाण से भी आर्यों की लिखित सभ्यता ८००० वर्ष से भी अधिक प्राचीन सिद्ध होती है। इतिहास के पढ़नेवाले जानते हैं कि 'दबिस्तान' नामक लेख जो कशमीर में मिले हैं उनमें बेक्ट्रिया में राज्य करनेवाले हिन्दू राजाओं की नामावली लिखी है। यह नामावली सिकन्दर तक ५६०० वर्ष की प्राचीन सिद्ध होती है[१]। इन राजाओं के लिए मिल महोदय ने लिखा है कि ये राजा निश्चय ही हिन्दू थे[२]। इससे भी मिस्र की सभ्यता भारत की सभ्यता से प्राचीन सिद्ध नहीं होती, किन्तु अर्वाचीन ही सिद्ध होती है।

ऊपर मेगस्थनीज़ द्वारा उद्धृत जिस वंशावली का उल्लेख किया गया है, वह कितनी सही थी, इसका अनुमान इसी से हो सकता है कि उसमें महीने तक भी दिये हुए हैं। इसके अतिरिक्त उसमें यहाँ चरितार्थ हुई तीन बार की प्रजासत्तात्मक शासनप्रणाली का भी वर्णन है, जिससे एक तो यह बात अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाती है कि उस वंशावली के समस्त राजा इसी देश में हुए हैं। ऐसा नहीं है कि आर्यों के कहीं बाहर से आने का भी समय उसी में मिला हो, दूसरे प्रजासत्तात्मक जैसी उदार नीति का भी पता मिलता है, जिससे आर्यों की तत्कालीन उच्च सभ्यता में कोई शंका नहीं रह जाती। मिस्र की सभ्यता के लिए विद्वानों के हृदय में जो स्थान है वह वहाँ के पिरामिडों और उनमें रक्खी हुई ममी (मुर्दों) के ही कारण है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि उनकी इस सभ्यता में भी भारतीय आर्यों का सहयोग है। मिस्र के इन मुर्दों में जो नील का रंग लगा हुआ है और इन मुर्दों को गाड़ने में इमली की लकड़ी काम में लाई गई है वे दोनों पदार्थ वहाँ इसी देश से गये हैं। नील और इमली भारत के सिवा संसार में और कहीं होती ही नहीं, इसीलिए नील को इण्डिगो कहते हैं, जिसका अर्थ भारतीय होता है और इमली को टेमेरिण्ड कहते हैं, जो तमरेहिन्द का अपभ्रंश है।

इस नील रंग का व्यापार मिस्र की जिस नदी के द्वारा होता था उसे भी यहाँवाले नील ही कहते थे जो वहाँ नाइल के नाम से अब तक प्रसिद्ध है। जायसवाल महोदय कहते हैं कि भारतवासी नील नदी को जानते थे। हम कहते हैं कि यहाँवाले नील नदी को जानते ही न थे, प्रत्युत उन्होंने ही उसका नामकरण भी किया था[३]। इसलिए मिस्र की सभ्यता भारतीय आर्यों की सभ्यता से प्राचीन नहीं प्रत्युत वह भारतीय इतिहास के अन्तिम राजवंश से भी नवीन है। ऐसी दशा में उस सभ्यता की तुलना वेदों के समय के साथ नहीं हो सकती। वेद तो आर्यों के प्रारम्भिक इतिहास से भी पूर्व के हैं, अतएव वे न केवल मिस्र की सभ्यता से ही प्रत्युत संसार

---

१. The Bactrian document, called Dabistan (found in Kashmir and brought to Europe by Sir W. Jones) gives an entire register of kings, namely, of the Mahabadernes, whose first link reigned in Bactria 5,600 years before Alexander's expedition to India and consequently several hundred years before the time given by the Alexandrine text for the appearance of the first man upon the earth. —*Theogony of the Hindus by Court Bjornstjerna, p. 134.*

२. That these Bactria kings were Hindus is now universally admitted.
—*Mill's History of India, Vol.II, p. 237, 238.*

३. The Greek and Roman name Neilos is certainly not traceable to either of Egyptain names of the river, nor does it seem philologically connected with the Hebrew ones. It may be like *schishor* Indicative of the colour of the river, for we find is Sanskrit Nila 'blue' probably especially 'dark-blue' also even black, as nilapanka 'black mud'. —*Ency. Brit., Vol. VII, p. 705.*

की समस्त मानवीय सभ्यताओं से भी अधिक प्राचीन हैं, परन्तु जो लोग वेदों से इतिहास और ज्योतिष-सम्बन्धी वर्णनों को निकालकर वेदों को नवीन सिद्ध करना चाहते हैं, उनके मत की भी आलोचना कर लेना आवश्यक है।

वेदों में ऐतिहासिक वर्णन

वेदों में ऐसे शब्दों को देखकर जो पुराणों में ऐतिहासिक पुरुषों, नदियों और नगरों के लिए व्यवहृत हुए हैं, प्राय: विद्वान् कहते हैं कि वेदों में इतिहास है और उस इतिहास का क्रम पुराणों में दी हुई वंशावलियों के साथ बैठ जाता है। वे कहते हैं कि वेद में आये हुए ऐतिहासिक राजाओं की पौराणिक वंशावली में देखकर और २०-२५ वर्ष की पीढ़ी मानकर वेद का काल निश्चित किया जा सकता है जो ज्योतिष के द्वारा निकाले गये समय के साथ मिल जाता है। भारतवर्ष का इतिहास प्रथम खण्ड के पृष्ठ ५५ पर श्रीमान् मिश्रबन्धु कहते हैं कि 'विलसन ने वैवस्वत मनु के पुत्र इक्ष्वाकु का समय ३५०० ईस्वी सन् पूर्व माना है। वेदों के अवलोकन से विदित होता है कि उनमें रामचन्द्र के पूर्वपुरुष सुदास का यदु, तुर्वसु और मनु के वंशजों के साथ युद्ध वर्णित है।

सुदास रामचन्द्र से ११ पीढ़ी पहले हुए थे, अत: इन दोनों का अन्तर प्राय: ३०० वर्ष का था, अत: यह समय २४५० विक्रम पूर्व का पड़ता है। सुदास के पश्चात् किसी सूर्यवंशी राजा का वर्णन वेदों में नहीं है। उधर स्वयं चाक्षुष मनु, वैवस्वत मनु और ययाति वैदिक ऋषियों में थे। वैवस्वतमनु का समय ऊपर ३८०० विक्रमपूर्व लिखा जा चुका है। चाक्षुष मन्वन्तर के ठीक पहले का होने से ४००० विक्रम पूर्व का माना जा सकता है, अत: पौराणिक कथनों का वैदिक वर्णनों से मिलान करने पर प्रकट होता है कि २५०० से ४००० विक्रम पूर्व तक के कथन वेदों में हैं।

ऊपर लिखा जा चुका है कि तिलक महाशय ने ज्योतिष के आधार पर वेदों का समय ४००० विक्रम पूर्व से २५०० विक्रम पूर्व तक माना है। हम देखते हैं कि वही समय पौराणिक वर्णनों से भी निकलता है'। इस वर्णन में पौराणिक वंशावली के साथ वेदों के शब्दों और लोकमान्य तिलक महाराज के ज्योतिष के निष्कर्ष का सामञ्जस्य किया गया है, परन्तु इस सामञ्जस्य में दो दोष हैं। एक तो पौराणिक वंशावलियाँ आनुपूर्वी राजाओं की वंशावलियाँ नहीं हैं, किन्तु प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं की नामावलियाँ हैं, दूसरे वेदों में ऐतिहासिक राजाओं का वर्णन नहीं है और न वेदों में किसी ज्योतिष की ही घटना का उल्लेख है। ऐसी दशा में वेदों से वेदों का कोई समय निश्चित नहीं हो सकता। वेदों से इस प्रकार का समय निश्चित करने का अवसर प्राय: पुराणों ने ही दिया है, क्योंकि पुराणों ने नामावलियों को वंशावली बनाकर और वैदिक अलंकारों को राजाओं के इतिहासों के साथ जोड़कर उपर्युक्त झंझट फैला दिया है, अत: हम यहाँ पहले देखना चाहते हैं कि क्या ये वंशावलियाँ सही हैं और फिर देखना चाहते हैं कि क्या वेदों में किसी इतिहास या ज्योतिषघटना का उल्लेख है ?

पुराणों में जो वंशावलियाँ दी हुई हैं उनके दो विभाग हैं। पहला विभाग महाभारत युद्ध से उस पार का है और दूसरा विभाग इस पार का। पहला विभाग वंशावली नहीं प्रत्युत नामावली है और दूसरा विभाग वंशावली है, अत: हम यहाँ पहले विभाग की पड़ताल करते हैं।

१. पहले विभाग की वंशावली के नामों की संख्या निश्चित नहीं है। प्रत्येक पुराण में अलग-अलग संख्या दी हुई है। विष्णुपुराण में मनु से लेकर महाभारतकालीन बृहद्बल तक ९२

पीढ़ी, शिवपुराण में ८२ पीढ़ी, भविष्यपुराण में ९१ पीढ़ी और भागवत में ८८ पीढ़ी लिखी हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये वंशावली नहीं प्रत्युत नामावली हैं।

२. महाभारत के प्रथम अध्याय में सूक्ष्म और विस्तार के नाम से पास-ही-पास दो वंशावलियाँ दी हुई हैं। ये वंशावलियाँ भी मनु से लेकर महाभारतकालीन शन्तनु तक ही हैं, परन्तु एक में ३० पीढ़ी और दूसरी में ४३ पीढ़ी के नाम हैं, इससे भी ये नामावलियाँ ही ज्ञात होती हैं।

३. इन वंशावलियों में पिता पुत्र के नामों का भी ठिकाना नहीं है। वाल्मीकि रामायण में दिलीप के भगीरथ, उनके ककुत्स्थ, उनके रघु और रघु की बारहवीं पीढ़ी में अज का होना लिखा है, परन्तु रघुवंश में दिलीप के रघु और रघु के पुत्र अज लिखे हुए हैं। वाल्मीकि के अनुसार रघु दिलीप के प्रपौत्र ठहरते हैं, किन्तु रघुवंश के अनुसार वे पुत्र सिद्ध होते हैं। इससे भी ये नामावलियाँ ही सिद्ध होती हैं।

४. इसी प्रकार महाभारत में नहुष और ययाति चन्द्रवंश में गिनाये गये हैं, परन्तु वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ७० के श्लोक ३६ में लिखा है कि सूर्यवंशी अम्बरीष के नहुष, नहुष के ययाति और ययाति के नाभाग हुए, इससे भी ये नामावलियाँ ही सिद्ध होती हैं।

५. इन नामावलियों में बीच के सहस्रों नाम छूट गये हैं। इसका उत्कृष्ट प्रमाण सूर्यवंश और चन्द्रवंश के मिलान से मिलता है। सभी जानते हैं कि मनु से सूर्यवंश चला और उन्हीं मनु की इला नामी पौत्री से चन्द्रवंश चला। मनु से इक्ष्वाकु हुए, और इक्ष्वाकु की पुत्री से चन्द्रवंश का मूलपुरुष पुरूरवा हुआ, अर्थात् दोनों वंश एक साथ ही आरम्भ हुए, परन्तु आगे चलकर दोनों की पीढ़ियों में जो घट-बढ़ हुई वह बहुत ही सन्देहात्मक है।

(क) युधिष्ठिर चन्द्रवंश की ५०वीं पीढ़ी पर हुए, किन्तु इनका समकालीन सूर्यवंशी राजा बृहद्बल सूर्यवंश की ९२ वीं पीढ़ी में देखा जाता है।

(ख) परशुराम ने सहस्रार्जुन को मारा था जो चन्द्रवंश की १९वीं पीढ़ी में हुआ था, परन्तु उन्हीं परशुराम के भय से सूर्यवंश का राजा अश्मक जो स्त्रियों में छिपने से नारीकवच भी कहलाता है, सूर्यवंश की ५५वीं पीढ़ी में था।

(ग) विश्वामित्र चन्द्रवंश की १५वीं पीढ़ी पर थे, परन्तु उन्होंने वसिष्ठ के लड़कों को जिस कल्माषपाद राजा के हाथ से मरवा डाला था, वह सूर्यवंश की ५२वीं पीढ़ी में था।

(घ) राजा सुदास सूर्यवंश की ५१वीं पीढ़ी में था, परन्तु इसका युद्ध राजा ययाति के लड़कों से हुआ था, जो चन्द्रवंश की छठी पीढ़ी में थे।

(ङ) भगीरथ सूर्यवंश की ४३वीं पीढ़ी में थे, परन्तु इन्हीं के समय में जिन जह्नु ने गङ्गा का पान कर लिया था, वे चन्द्रवंश की आठवीं पीढ़ी में थे।

(च) सर्वकाम सूर्यवंश की ५०वीं पीढ़ी में था, परन्तु इसने ययाति के पुत्र द्रुह्यु को मारा था जो चन्द्रवंश की छठा पीढ़ी में था। इस प्रकार दोनों वंशों में कोई ३५ पीढ़ी का अन्तर पड़ता है जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ये वंशावली नहीं, प्रत्युत नामावली हैं।

६. वैवस्वत मनु से दो वंश चलते हैं, एक अयोध्या में दूसरा मिथिला में। अयोध्यावाले वंश के रामचन्द्र इक्ष्वाकु से ६३वीं पीढ़ी पर थे, परन्तु इन्हीं के समकालीन मिथिला के राजा जनक इक्ष्वाकु से १७वीं पीढ़ी पर थे। इससे भी दोनों वंशों में ४६ पीढ़ी का अन्तर पड़ता है।

७. यदि इन पीढ़ियों को सही माना जाए और सूर्य तथा चन्द्रवंश को एक ही समय से चला हुआ माना जाए तो रामचन्द्र सूर्यवंश में मनु से ६३वीं पीढ़ी पर और राजा युधिष्ठिर उन्हीं मनु की पौत्री से चलनेवाले चन्द्रवंश की ५० वीं पीढ़ी पर थे। श्री कृष्णचन्द्र राजा युधिष्ठिर के समकालीन थे ही, ऐसी दशा में वे रामचन्द्र से १३ पीढ़ी, अर्थात् कोई ३२५ वर्ष पूर्व के सिद्ध होते हैं और राम-रावणयुद्ध महाभारत युद्ध के बाद का सिद्ध होता है। ऐसी अवस्था में ये वंशावलियाँ नहीं कही जा सकतीं। ये तो नामावलियाँ हैं और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध राजाओं का वर्णन करने के लिए एकत्र की गई हैं। चन्द्रवंश का वर्णन करते हुए महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि—

अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः। भरतस्यान्ववाये हि देवकल्पा महौजसः॥
बभूवुर्ब्रह्मकल्पाश्च बहवो राजसत्तमाः। येषामपरिमेयानि नामधेयानि सर्वशः॥
तेषान्तु ते यथामुख्यं कीर्तयिष्यामि भारत। महाभागान्देवकल्पान् सत्यार्जवपरायणान्॥

— *महाभारत आदि० ७४। १३१-१३३

अर्थात् राजा भरत से पूर्व और पश्चात् देवताओं के समान महाप्रतापी ब्रह्मनिष्ठ राजा भरतकुल में हो गये हैं। वे सब भरत नाम से ही विख्यात थे। उनके असंख्य नाम है, इसलिए गिने नहीं जा सकते। यहाँ तो मुख्य-मुख्य राजाओं का जो देवताओं के समान बड़े भाग्यशाली और सत्य तथा विनय से पूर्ण हो गये हैं, उन्हीं का वर्णन करते हैं।

इसी प्रकार सूर्यवंश का वर्णन करते हुए भागवत में लिखा है कि—

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परन्तप। न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि॥

— *श्रीमद्भागवत ९। १। ७

अर्थात् मनु के वंश को अच्छी प्रकार सुनिए, परन्तु विस्तार से तो उसका वर्णन सौ वर्ष में भी नहीं हो सकता।

यहाँ इच्छा की गई थी कि **'तेषां नः पुण्यकीर्तीनां सर्वेषां वद विक्रमान्'**[१], अर्थात् सबका वर्णन सुनाइए, किन्तु सबका वर्णन अशक्य समझकर कहा गया कि सुनिए! अच्छी प्रकार सुनिए!! पर विस्तार से तो सौ वर्षों में भी नहीं सुनाया जा सकता। इसका तात्पर्य यही है कि प्रधान-प्रधान राजाओं का ही वर्णन किया जा सकता है, सबका वर्णन नहीं। यह सत्य भी है। हमने अभी गत पृष्ठों में जिस चन्द्रगुप्त की वंशावली का उल्लेख किया है वही आज तक नौ हज़ार वर्ष की पुरानी सिद्ध होती है, जो इन वंशावलियों और ज्योतिष् द्वारा निकाले गये ६,००० वर्ष के समय से ड्योढ़ी प्राचीन है। इस प्रकार की वंशावलियों का वर्णन जो किसी वंशविशेष से सम्बन्ध रखता है, पुराणों में भी पाया जाता है। *भागवत ९। १७। ७ में लिखा है कि—

'षष्टिवर्षसहस्त्राणि षष्टिवर्षशतानि च। नालर्कादपरो राजन्मेदिनीं बुभुजे युवा'॥

अर्थात् केवल अलर्क ने ही ६६,००० वर्ष राज्य किया। यह अलर्क किसी वंश का आस्पद प्रतीत होता है। ऐसी दशा में जब एक-एक वंश नौ-नौ हज़ार और छियासठ-छियासठ हज़ार वर्ष राज्य करनेवाला हो चुका है, तब दस-बीस नामों से बनी हुई उलटी-सीधी साधारण सूचियों

१. भा० ९। १। ५

* जहाँ * यह चिह्न लगा है, वे सभी पते या शुद्ध किये गये हैं, अथवा उन्हें उन-उन ग्रन्थों से ढूँढकर वहाँ-वहाँ दिया गया है। —**जगदीश्वरानन्द**

से आर्यों का, मन्वन्तरों का और वेदों का इतिहास निकालना कैसे ठीक हो सकता है ? इसलिए पौराणिक वंशावलियों को नामावलियाँ ही समझना चाहिए, क्योंकि पौराणिक वंशावलियाँ जिन प्राचीन नामावलियों के आधार पर बनी हैं, उनके कुछ नमूने अब तक ब्राह्मणग्रन्थों में पाये जाते हैं। *मैत्रायण्युपनिषद् प्रपाठक १ खण्ड ४ में लिखा है कि—

'अथ किमेतैर्वा परेऽन्ये महाधनुर्धराश्चक्रवर्तिनः केचित् सुद्युम्नभूरिद्युम्नेन्द्रद्युम्न-कुवलयाश्वयौवनाश्ववद्ध्य्रश्वाश्वपतिःशशबिन्दुहरिश्चन्द्राऽम्बरीषननक्तुशर्यातिययात्य-नरण्याक्षसेनादयः। अथ मरुत्तभरतप्रभृतयो राजानः'।

यह एक नामावली है, जिसमें सूर्य और चन्द्र दोनों वंशो के राजाओं के नाम आये हैं। ये सब राजा चक्रवर्ती कहे गये हैं, इसीलिए एक स्थान पर संग्रह कर दिये गये हैं। इस प्रकार की दूसरी नामावली ऐतरेयब्राह्मण ७।३४ में लिखी हुई है। उसमें लिखा है कि—

'कावेषयः तुरः साहदेव्यः सोमकः सार्ञ्जयः सहदेवः दैवावृधो बभ्रुः वैदर्भो भीमः, गान्धारो नग्नजित् जानकिः क्रतुवित् पैजवनः सुदासः...सर्वे हैव महाराजा आसुरादित्य इव ह स्म श्रियां प्रतिष्ठितास्तपन्ति सर्वाभ्यो दिग्भ्यो बलिमाहरन्ति'।[1]

इसमें भी सार्वभौम राजाओं का उनके देश आदि के साथ उल्लेख किया गया है। इन नामावलियों से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वंशों की, चक्रवर्ती राजाओं की और सार्वभौम राजाओं की बड़ी-बड़ी अनेक नामावलियाँ थीं, जिनको एक में मिला-मिलाकर पौराणिक वन्दीजनों ने वंशावलियों का रूप दे दिया है, इसलिए इनके सहारे आर्यों के इतिहास की वर्षसंख्या नहीं निकल सकती।

रहा दूसरा विभाग जो महाभारत से इस पार का है, उसमें चार वंशावलियाँ बार्हद्रथवंश से आरम्भ होकर नन्दवंश तक की हैं, जो ठीक हैं और वंशावलियाँ ही है, परन्तु वेदों का समय उनसे अथवा आर्यों की किसी भी वंशावली से नहीं निकल सकता, चाहे वह महाभारत के इस पार की हो या उस पार की। इसका सुदृढ़ कारण यह है कि वेदों में इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ भी सामग्री नहीं है।

वेदों में जो ऐतिहासिक सामग्री दिखती है उसका कारण भी पुराण ही हैं। जिस प्रकार नामावलियों को वंशावलियाँ बनाकर पुराणों ने आर्यों के इतिहास की दीर्घकालीनता में सन्देह उत्पन्न करा दिया है, उसी प्रकार वेदों के चमत्कारपूर्ण आलंकारिक वर्णनों को ऐतिहासिक पुरुषों के साथ मिलाकर वेदों में इतिहास का भी भ्रम उत्पन्न करा दिया है। पुराणकारों ने प्रयत्न तो यह किया था कि वेदों के चमत्कारपूर्ण गूढ़ वर्णनों को ऐतिहासिक घटनाओं के साथ मिलाकर उनका रहस्य ऐसी जनता तक भी पहुँचा दिया जाए जो वेदों की सूक्ष्म बातें नहीं समझ सकती। श्रीमद्भागवत १।४।२९ में लिखा भी है—**'भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः'**, अर्थात् पुराणों में भी भारत के इतिहास के मिष से वेदों का रहस्य ही खोला गया है। यही कारण है कि महाभारत में भी स्पष्ट कर दिया गया है कि **'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्'**,[2] अर्थात् इतिहास-पुराणों से वेदों के मर्म का उद्घाटन करें, परन्तु इस चातुर्य का फल यह हुआ कि लोग

१. मुद्रित संस्करणों में इस सन्दर्भ का पता अशुद्ध है और पाठ में आकाश-पाताल का अन्तर है।
२. महा० आदि० १।२६७

वेदों से ही पौराणिक इतिहास निकाल रहे हैं। वे कहते हैं कि वेदों में पुरूरवा, आयु, नहुष, ययाति, वसिष्ठ, जमदग्नि, गङ्गा, यमुना, अयोध्या, व्रज और अर्व आदि नाम हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत वेदों में राजाओं के युद्धों का भी वर्णन है। इससे सिद्ध होता है कि वेदों की यह ऐतिहासिक सामग्री वही है जिसका विस्तार पुराणों में किया गया है, किन्तु इस आरोप में कुछ भी दम नहीं है। इससे वेदों में इतिहास सिद्ध नहीं होता। इसका कारण यह है कि वेदों, ब्राह्मणों और पुराणों के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि संस्कृत के समस्त साहित्य में इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले असम्भव, सम्भवासम्भव और सम्भव तीन प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं, जो तीन भागों में बटे हैं। इसमें जितना भाग असम्भव वर्णन से सम्बद्ध है, वह वेद का है और किसी–न–किसी चमत्कारिक अथवा जातिवाचक पदार्थ से सम्बन्ध रखता है, किसी मनुष्य, नगर, नदी और देश आदि व्यक्तिवाचक पदार्थ से नहीं, परन्तु जितना भाग सम्भवासम्भव और सम्भव वर्णन से सम्बन्ध रखता है वह पुराणों और ब्राह्मणग्रन्थों में ही आता है, वेदों में नहीं। इसका कारण यह है कि कल्पना करो कि वेद ने किसी पदार्थ के लिए कोई चमत्कार वर्णन किया और इधर ब्राह्मणकाल में उसी नाम का कोई मनुष्य हुआ, जिसका चरित्र साधारण मानुषी था। अब कुछ काल बीतने पर किसी कवि ने पुराणकाल में एक कल्पना की और उस कल्पना में दोनों प्रकार के वर्णन मिला दिये, जो आगे चलकर यह सिद्ध करने की सामग्री बन गये कि दोनों एक ही हैं। ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि कितना भाग ऐतिहासिक है और कितना आलङ्कारिक।

संस्कृत–साहित्य में इस विषय के अनेक प्रमाण विद्यमान हैं। विश्वामित्र और मैनका वेद के चमत्कारिक पदार्थ हैं। इधर दुष्यन्त और शकुन्तला मनुष्य हैं, परन्तु दोनों को एक में मिलाने से भरत को इन्द्र के यहाँ जाना पड़ा। इन्द्र भी चमत्कारिक पदार्थ है। ऐसी दशा में भरत और दुष्यन्त को, मैनका और विश्वामित्र के साथ जोड़कर, यही तो भ्रम करा दिया गया है कि वेदों में भरत के पूर्वजों का वर्णन है, परन्तु यदि वेदों को खोलकर विश्वामित्र और मैनकावाले मन्त्रों को पढ़िए तो उसमें मानुषी वर्णन लेशमात्र भी न मिलेगा और न इन्द्र के यहाँ जानेवाले वैदिक भरत का इस लौकिक भरत से कुछ सम्बन्ध दिखेगा।

शन्तनु की शादी गङ्गा से हुई। इधर शन्तनु के भीष्म हुए। पहला वर्णन वैदिक है— चमत्कारिक पदार्थों का है और दूसरा ऐतिहासिक है, किन्तु एक में जोड़ देने से परिणाम यह हुआ है कि लोग भीष्म को गङ्गा नदी का पुत्र समझते हैं। गङ्गा और शन्तनु को मिलाकर वैदिक अलंकार बनता है और सीधे–सादे शन्तनु और सीधे–सादे भीष्म को लेकर सांसारिक इतिहास बनता है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस दूसरे समुदाय का वर्णन बहुत ही ध्यानपूर्वक पढ़कर कहने योग्य है। हमने ऊपर जो दो प्रसङ्ग लिखे हैं उनसे यही सूचित होता है कि हिन्दुओं का चाहे जो इतिहास वेद में बतलाया जाए, उसे देख लेना चाहिए कि उसमें कहीं चमत्कारी वर्णन तो नहीं है। ऐसा करने से उसमें अपूर्वता मिलेगी और वह अमानुषी सिद्ध होगा।

हमने पहले ही लिख दिया है कि मध्यमकालीन कवियों और पुराणकारों ने वैदिक और ऐतिहासिक समान शब्दों के वर्ण्य–व्यक्तियों का सम्मिलित वर्णन करके महान् झंझट फैला दिया है। इसी से पूर्वपुरुषों की चमत्कारिक उत्पत्तियों के वर्णनों का क्रम चल पड़ा और यहीं से वेदों में ऐतिहासिक घटनाओं की मिथ्या भ्रान्ति होने लगी।

हमारे अब तक के कथन का निष्कर्ष यह है कि प्रथम विभागवाले चमत्कारी वर्णन वेदों के

हैं और दूसरे विभाग के वर्णनों का कुछ भाग वेदों का है और कुछ उस नाम के व्यक्तियों के इतिहासों का है, जिसे आधुनिक कवियों ने एक में मिला दिया है, अत: सम्भव और असम्भव की कसौटी से दोनों को पृथक् कर लेना चाहिए। शेष तीसरे विभाग के व्यक्ति तो ऐतिहासिक हैं ही। इस प्रकार की छानबीन से वेदों में इतिहास का भ्रम निकल जाएगा।

आगे हम क्रम से राजाओं और नदियों आदि के वर्णन देकर दिखलाते हैं कि वेद में आये हुए वे शब्द क्या-क्या अलौकिक भाव दिखलाते हैं, किन्तु पहले वह वर्णन दिखलाना चाहते हैं जिसे श्रीमान् मिश्र-बन्धुओं ने वेदों से निकाला है। आप बड़ा परिश्रम करके केवल इस एक ही युद्ध का वर्णन निकाल पाये हैं। आप लिखते हैं—

''अब वेदों में लिखित राजनैतिक इतिहास को यथासाध्य संक्षिप्त प्रकारेण क्रमबद्ध कर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। ऊपर कहा जा चुका है कि वेदों में ऐतिहासिक घटनाएँ अप्रासंगिक रीति से आई हैं, इसलिए उनमें से अधिकांश का वेदों के ही सहारे क्रमबद्ध करना कठिन है, इसलिए हम यहाँ पर मुख्य-मुख्य घटनाओं को मोटे प्रकार से सक्रम कहेंगे। आर्यों और अनार्यों के सैकड़ों नाम वेद में आये हैं। अनार्यों में वृत्र, दनु, पिप्र, सुश्न, शम्बर, बंगृद, बलि, नमुचि, मृगय, अर्बुद प्रधान समझ पड़ते हैं। दनु के वंशधर दानव थे, जिनका कई स्थानों में वर्णन है। यह दनु वृत्रासुर की माता थी। वृत्र के ९९ क़िले इन्द्र ने तोड़े थे। ९९ और १०० वृत्रों का कई स्थानों पर वर्णन आया है। शम्बर और बंगृद के सौ क़िले ध्वस्त किये गये। शम्बर के क़िले पहाड़ी थे और दिवोदास के कारण इन्द्र ने उसे मारा था। दिवोदास सुदास के पिता थे, इससे शम्बर का युद्ध छब्बीसवीं शताब्दी संवत् पूर्व का समझ पड़ता है। सुश्न का चलनेवाला क़िला ध्वस्त हुआ। चलनेवाले क़िले से जहाज़ का प्रयोजन समझ पड़ता है। पिप्र के ५०,००० सहायक मारे गये। बलि के ९९ पहाड़ी क़िले थे। ये सब जीते गये। सिवाय शम्बर के और सबका पूर्वापर क्रम ज्ञात नहीं है। आर्यों में ऋषियों के अतिरिक्त मनु, नहुष, ययाति, इला, पुरूरवा, दिवोदास, मान्धाता, दधीच, सुदास, त्रसदस्यु, ययाति के यदु आदि पाँचों पुत्र और पृथु की प्रधानता है। ययाति के यदु आदि पाँचों पुत्रों के वर्णन कई स्थानों पर आये हैं। दिवोदास और सुदास के सबसे अच्छे क्रमबद्ध वर्णन हैं। इस विषय में वसिष्ठ का सातवाँ मण्डल बहुत उपयोगी है। इसके पीछे विश्वामित्र का तीसरा मण्डल भी अच्छी घटनाओं से पूर्ण है। दिवोदास तृत्सु लोगों के स्वामी थे। वैदिक समय में सूर्यवंशियों की संज्ञा तृत्सु थी, ऐसा समझ पड़ता है। सुदास और उनके पुत्र कल्माषपाद सूर्यवंशी थे और पुराणों के अनुसार भगवान् रामचन्द्र का अवतार इन्हीं के पवित्र वंश में हुआ था। यही लोग वेद में तृत्सु कहे गये हैं। इन्हीं बातों से जान पड़ता है कि सूर्यवंशी उस काल में तृत्सु कहलाते थे।

''राजा दिवोदास बहुत बड़े विजयी थे। इन्होंने तुर्वश, द्रुह्यु और शम्बर को मारा और गङ्गु लोगों को भी पराजित किया। नहुषवंशी इनको कर देने लगे थे। इनके पुत्र सुदास ने इनके विजयों को और भी बढ़ाया। सुदास का युद्ध वैदिक युद्धों में सबसे बड़ा है। नहुषवंशी यदु, तुर्वश, अनु, द्रुह्यु के सन्तानों ने भारतों से मिलकर तथा बहुत-से अनार्य राजाओं की सहायता लेकर सुदास को हराना चाहा। नहुषवंशियों की सहायतार्थ भार्गव लोग परोदास, पकथ, भलान, अलिन, शिव, विशात, कवम, युध्यामधि, अज, सिगरु और चक्षु आये तथा २१ जाति के वैकर्ण लोग भी पहुँचे। राजा वर्चिन एक बहुत बड़ी सेना लेकर इनका नेता हुआ। कितने ही सिम्यु लोग

भी नहुषों की सहायतार्थ आये। फिर भी नहुष वंश का मुख्य राजा पुरुवंशी इस युद्ध में सम्मिलित न हुआ। नहुषों ने रावी नदी के दो टुकड़े करके एक नहर निकालकर नदी को पार करना चाहा, किन्तु सुदास ने तत्काल धावा बोल दिया जिससे गड़बड़ में नहुषों की बहुत-सी सेना नदी में डूब मरी। कवष और बहुत-से द्रुह्युवंशी डूब गये। महाविकराल युद्ध हुआ, जिसमें सुदास ने अपने सारे शत्रुओं को पूर्ण पराजय दी। अनु और द्रुह्युवंशियों के ६६ वीर पुरुष और ६००० सैनिक मारे गये और आनवों का सारा सामान लूट लिया गया जो सुदास ने तृत्सु को दे दिया। सात क़िले भी सुदास के हाथ लगे और उन्होंने युध्यामधि को अपने हाथ से मारा। राजा वर्चिन के एक लाख सैनिक इस युद्ध में मारे गये। अज, सिगरु और चक्षु ने सुदास को कर दिया। इस प्रकार रावी नदी पर यह विकराल युद्ध समाप्त हुआ। सुदास ने तत्पश्चात् यमुना नदी के किनारे भेद को पराजित करके उसका देश छीन लिया। इस प्रकार भेद सुदास की प्रजा हो गया। आर्यों का नागों से वेद में कोई युद्ध नहीं लिखा गया है, केवल एक बार इतना लिखा हुआ है कि पेदु नामक वीर पुरुष के घोड़े ने बहुत-से नागों को मारा। इससे जान पड़ता है कि आर्यों का नागों से कोई छोटा-सा युद्ध हुआ था। विश्वामित्र ने अपने मण्डल में भारतों का वर्णन बहुत-सा किया है। इन लोगों की नहुषों से एकता-सी समझ पड़ती है। वेदों के आधार पर यह संक्षिप्त राजनैतिक इतिहास इसी स्थान पर समाप्त होता है। आगे के अध्याय में पुराणों का भी सहारा लेकर वैदिक समय का क्रमवद्ध इतिहास लिखा जाएगा।'' अध्याय ११ का अन्तिम भाग पृ० १८१-१८३।

आप वेदों से इतना ही इतिहास निकाल सके। अच्छा! यदि यह इतिहास था तो इसे और भी कभी किसी ने देखा? इसके उत्तर में आप कहते हैं कि 'इस युद्ध का वर्णन तथा उपर्युक्त सब वीरों, राजाओं और जातियों के नाम पुराणों में नहीं मिलते, किन्तु ऋग्वेद के सातवें मण्डल में महर्षि ने इसका बड़ा हृदयहारी वर्णन किया है'। पृ० १९७। चलो छुट्टी हुई। वेदों के ऐतिहासिक पुरुषों का, अर्थात् नहुष, ययाति के स्वर्ग का वर्णन तो पुराणों ने किया, परन्तु इस युद्ध का वर्णन क्यों नहीं किया? वास्तविक बात तो यह है कि पुराण तो मिश्रित इतिहास कहते हैं। इसमें तो मिश्रण भी नहीं है। ये तो कोरे वैदिक अलंकार हैं, इन्द्र वृत्र के वर्णन हैं, और तारा तथा ग्रहों के योग हैं। इन योगों को ग्रहयुद्ध भी कहते हैं।[१]

बारहवें अध्याय में पुराणों को लेकर जो वैदिक इतिहास दिया है उसमें निम्न-बातें मनुष्य के इतिहास की नहीं प्रतीत होती, वे आकाशीय हैं। जैसाकि आप कहते हैं—

'दैत्यों आदि के आर्यशत्रु कौन थे, यह ज्ञात नहीं। इनके शत्रु बहुत करके इन्द्र ही कहे गये हैं, किन्तु इसका निश्चय नहीं है कि इन्द्र देवतामात्र थे अथवा कोई सम्राट् भी' पृ० १८६। 'कहते हैं कि त्रिशंकु ने वसिष्ठ को छोड़कर विश्वामित्र से यज्ञ कराया और विश्वामित्र ने त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग भेज दिया' पृ० १८८। 'राजा पुरूरवा का विवाह उर्वशी नाम्नी अप्सरा से हुआ, जिससे छह पुत्र हुए। उनमें आयु प्रधान है' पृ० १९१। 'राजा पुरूरवा के पौत्र नहुष का इतना प्रताप बढ़ा कि इन्द्रपदवी प्राप्त हुई······इन्होंने इन्द्राणी शची के साथ विवाह करना चाहा और ऋषियों से अपनी पालकी उठवाई। वृत्र नामक किसी ब्राह्मणकुमार के वध करने के कारण इन्द्र जातिच्युत हुए थे' पृ० १९४। 'ययाति को शुक्र की कन्या देवयानी और वृषपर्वा की कन्या शरमिष्ठा ब्याही

---

१. **ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ।** —सूर्यसिद्धान्त अ० ७।१

थीं। पुराणों में इनका दौहित्रों द्वारा स्वर्गच्युत होने से बचाने का हाल कहा गया है' पृ० १९४।

इन वर्णनों से नहीं ज्ञात होता कि ये सब मनुष्य थे। इन्द्र, वृत्र, त्रिशंकु, विश्वामित्र, पुरूरवा, उर्वशी, नहुष, ययाति, शुक्र यौर देवयानी आदि सब आकाशीय पदार्थ हैं। जिस दिवोदास को आप शम्बर का मारनेवाला कहते हैं वह पृथिवी का मनुष्य कैसे हो सकता है? 'शम्बर' तो मेघ का नाम है। इसी प्रकार चलनेवाला क़िला भी मेघ है। वृत्र भी मेघ ही हैं। इन्द्र वृत्र का अलङ्कार तमाम वेदों में भरा है।

इन्द्र और वृत्र से सम्बन्ध रखनेवाला समस्त वर्णन मेघ और विद्युत् का है जो आकाश ही में चरितार्थ हो सकता है। शेष आयु, नहुष और ययाति आदि का वर्णन हम यहाँ विस्तार से करते हैं, जिससे प्रकट हो जाएगा कि वेदों में इन नामों का सम्बन्ध किन पदार्थों से है।

वेदों में राजाओं का इतिहास नहीं

क्षत्रियों के सूर्य और चन्द्र दो वंश प्रसिद्ध हैं। सूर्यवंश और चन्द्रवंश दोनों की उत्पत्ति वैवस्वत मनु से है। सूर्यवंश का आदि पुरुष इक्ष्वाकु है और चन्द्र का पुरूरवा। पुरूरवा के पूर्व बुध, चन्द्र और अत्रि तीनों आकाशीय पदार्थ हैं। इसी प्रकार सूर्यवंश का मूल स्वयं सूर्य भी आकाशीय पदार्थ है। क्या इन सृष्टि के महान् चमत्कारिक पदार्थों से मनुष्य पैदा हो सकते हैं? कभी नहीं। तब समझना चाहिए कि इसका कुछ दूसरा ही भेद होगा।

भेद वही है जो पहले बतलाया गया है कि वेदों का चमत्कारिक वर्णन लोक के राजाओं के वर्णन के साथ जोड़ दिया गया है—सूर्य, चन्द्र, बुद्ध आदि नाम के राजाओं को वेदों के आकाश-स्थित सूर्य, चन्द्रादि के वर्णनों के साथ मिला दिया गया है।

वेद के तीन संसार हैं। एक संसार मनुष्य का शरीर है, दूसरा संसार इस पृथिवी पर स्थित पदार्थों के सहित माना गया है और तीसरा संसार अन्तरिक्ष है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, विद्युत् और वायु, मेघ तथा प्रकाशादि अनेक पदार्थ हैं।

वेदों में इस आकाशस्थ संसार का वर्णन कम-से-कम आधा है। इसमें राजा हैं, ब्राह्मण हैं, आर्य हैं, क्षत्रिय हैं, राक्षस हैं, ग्राम हैं, वीथी हैं, पुर हैं, युद्ध हैं, पशु हैं और अनेक प्रकार के अर्थ-भाव बतानेवाले वर्णन भरे हुए हैं। यहाँ हम नमूने के लिए दो-चार वर्णन देते हैं—

वहाँ के युद्धों का वर्णन इस प्रकार है—

इन्द्राविष्णू दृंहिताः शम्बरस्य नव पुरो नवतिं च श्नथिष्टम्।
शतं वर्चिनः सहस्त्रं च साकं हथो अप्रत्यसुरस्य वीरान्॥ —ऋ० ७।९९।५
अध्वर्यवो यः शतं शम्बरस्य पुरो बिभेदाश्मनेव पूर्वीः।
यो वर्चिनः शतमिन्द्रः सहस्त्रमपावपद्भरता सोममस्मै॥ —ऋ० २।१४।६

अर्थात् विष्णु=सूर्य ने शम्बर=बादलों के ९९ नगर नष्ट कर दिये और सौ सहस्त्र तेजयुक्त असुर-वीरों को मार दिया। जिस अध्वर्यु=सूर्य ने शम्बर के एक सौ पुराने नगर वज्र से तोड़ डाले और जिस इन्द्र ने असुर के तेजयुक्त सौ सहस्त्र वीरों को मार दिया, उसको सोम दो।

इस सेना का वर्णन इस प्रकार है—

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ —ऋ० १०।१०३।८

अर्थात् इन्द्र इसका नेता हुआ, बृहस्पति दाहिनी ओर और सोम आगे चला। मरुद्गण शत्रुओं को कुचलते हुए इस देवसेना के बीच में चले।

यहाँ के शादी-विवाहों का वृत्तान्त पढ़िए—

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादात्॥

—ऋ० १०।८५।९

अर्थात् सोम वधू चाहनेवाला था, अश्विदेव वधू के साथ थे और सूर्य ने मन से पति की इच्छा करनेवाली सूर्या—वधू का पति के हाथ में समर्पण किया।

अब इनकी खेती—किसानी देखिए—

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।

इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥ —अथर्व० ६।३०।१

अर्थात् देवताओं ने सरस्वती में मधुर यव की खेती की, जिसके सीरपति (स्वामी) इन्द्र हुए और किसान मरुद्गण हुए।

इन किसानों के पशु क्या हैं? वह भी देखिए—

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।

त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु॥ —अथर्व० २।२६।१

अर्थात् जिन पशुओं का सहचारी वायु है, त्वष्टा जिनके नाम-रूप जानता है और जो बहुत दूर हैं, सविता=सूर्य उनको गोष्ठ में पहुँचावे।

वैदिक जानते हैं कि सूर्यकिरणों को गौ और अश्व कहते हैं। वे सब सूर्य के गोष्ठ में रहते हैं। हमने यहाँ केवल नमूनामात्र दिखलाया है। वेदों में आकाशीय पदार्थों के द्वारा एक पूरे संसार का वर्णन किया गया है। इन सब वर्णनों के साथ उनके वंशो का भी वर्णन है। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव यमिरे॥

—ऋ० १।१०।१

अर्थात् हे शतक्रतो! तुम्हारे गीत गायत्री आदि गाती हैं, सूर्य तुम्हारी पूजा करते हैं और ब्राह्मण लोग शाखोच्चार की भाँति तुम्हारे वंश की वंशावली का बखान करते हैं।

आकाशीय पदार्थों के वंश का यहाँ वर्णन किया गया है। नक्षत्र वंश की बात वाल्मीकि रामायण में भी कही गई है कि—

सृजन्दक्षिणमार्गस्थान्सप्तर्षीनपरान्पुनः। नक्षत्रवंशमपरमसृजत् क्रोधमूर्छितः॥

दक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः। सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः॥

—बालकाण्ड सर्ग ६०।२१, २२

यहाँ त्रिशंकु नक्षत्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि दक्षिण की ओर एक दूसरा नक्षत्रवंश पैदा किया गया। यह ध्यान रखने की बात है कि यहाँ स्पष्ट नक्षत्रवंश कहा गया है।

सम्भव है इन वैदिक वंश-वर्णनों से ही ऐतिहासिक वर्णनों का मेल मिल गया हो और सूर्य-चन्द्र आदि का जो नक्षत्रवंश है वह क्षत्रियों के वे-वे नाम होने के कारण उसी में समझ लिया गया हो। हमारा तो पूरा विश्वास है कि वेदों के अनेक आलङ्कारिक भाव ग़लती से इतिहास

में मिला दिये गये हैं। आइए, कुछ नमूने यहाँ दिखावें।

राजा पुरूरवा

पुरूरवा चन्द्रवंश का मूल पुरुष है। वेदों में पुरूरवा और उर्वशी का वर्णन देकर एक आलङ्कारिक नाटक का नमूना बतलाया गया है। यह पुरूरवा सूर्य है, उर्वशी उसकी एक किरण है और दोनों अग्नि हैं।

यह प्रसिद्ध है कि इन्द्र के अनेक अप्सराएँ थीं। इन्द्र नाम सूर्य का है और अप्सरा उसकी किरणें हैं। उसकी अनेक किरणों में उर्वशी भी एक किरण है। पहले देखिए कि वेद में पुरूरवा और उर्वशी तथा आयु, तीनों को अग्नियों के नाम से कहा है—

अग्नेर्जनित्रमसि वृषणौ स्थ उर्वश्यस्यायुरसि पुरूरवा असि। गायत्रेण त्वा छन्दसा मन्थामि, त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा मन्थामि जागतेन त्वा छन्दसा मन्थामि। —यजुः० ५।२

यहाँ अग्नि को सम्बोधित करके कहा गया है कि तू उर्वशी है, तू आयु है और तू पुरूरवा है। तुझे गायत्री, त्रैष्टुभ और जगती छन्दों से मथकर निकालता हूँ।

यहाँ आयु शब्द बड़े मार्के का है। यह प्रसिद्ध है कि पुरूरवा और उर्वशी से आयु नामक पुत्र हुआ था। यहाँ उर्वशी और पुरूरवा अग्नि कहे गये हैं। अग्नि से अग्नि की ही उत्पत्ति होती है, इसलिए उन दोनों अग्नियों से पैदा होनेवाली यह आयुनामक तीसरी अग्नि भी अग्नि ही है। अग्नि ही सूर्य है और अग्नि ही उसकी किरणें हैं। आगे का मन्त्र कैसा स्पष्ट कहता है कि—

सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः॥ —यजुः० १८।३९

अर्थात् सूर्य ही गन्धर्व है और उसकी किरणें ही अप्सरा हैं।

अग्नि ही सूर्य और गन्धर्व है। गन्ध को यही फैलाती है, अर्थात् हुत पदार्थ इसी में डाले जाते हैं, जो फैलते हैं। आगे अप्सराओं के नाम बतलाये जाते हैं—

पुञ्जिकस्थला च क्रतुस्थला चाप्सरसौ। मेनका च सहजन्या चाप्सरसौ।
प्रम्लोचन्ती चानुम्लोचन्ती चाप्सरसौ। विश्वाची च घृताची चाप्सरसौ।
उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ। —यजुः० १५।१५-१९

यहाँ अन्य अप्सराओं के साथ मेनका और उर्वशी भी अप्सरा कही गई हैं। ऊपर कहा गया है कि अप्सरा सूर्य की किरणें ही हैं और बताया गया है कि सूर्य ही अग्नि है, अतः ऊपर का वर्णन अन्तरिक्ष के चमत्कारिक तैजस् पदार्थों का ही है। इसे मनुष्य के वर्णन के साथ जोड़ने की क्या आवश्यकता है?

बहुत दिन के अन्वेषण के पश्चात् विद्वान् भी अब इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। नमूने के लिए उनके कुछ वाक्यों को पढ़िए। Selected Essays, Vol. 1, p. 408 पर प्रोफेसर मैक्समूलर कहते हैं कि—'यह पुरूरवा उर्वशी की कथा, उषा और सूर्य का आलङ्कारिक भाषा में वर्णन करती है।' जिस सूक्त में उर्वशी और पुरूरवा का वर्णन है उसी के एक मन्त्र में कहा गया है कि '**अन्तरिक्षप्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः**'[१], अर्थात् मैं वसिष्ठ (सूर्य) अन्तरिक्ष में घूमनेवाली उर्वशी को अपने वश में रक्खूँ। अब बताइए कि क्या अन्तरिक्ष में घूमनेवाली वस्तु कभी मनुष्य हो सकती है?

---

१. ऋ० १०।९५।१७

प्रोफेसर गेल्डनर, रौथ, गोल्डस्टकर और म्यूर आदि भी यही कहते हैं। ग्रिफ़िथ साहब ऋग्वेद के १०वें मण्डल के ९५वें सूक्त के नोट में कहते हैं कि 'मैक्समूलर के मत से यह उषा और सूर्य का वर्णन है और डाक्टर गोल्डस्टकर के मत से प्रात:काल तथा सूर्य का है।'* एतद्देशीय विद्वान् भी यही कहते हैं। आर०सी० दत्त ऋग्वेद के मण्डल १० सूक्त ११५ पर कहते हैं कि 'अमरा पूर्वई बलियाछि। उर्वशीर आदि अर्थ उषा, पुरूवार आदि अर्थ सूर्य। सूर्य उदय हइले ऊषा आर थाके ना', अर्थात् हमने पहले ही कह दिया कि उर्वशी का अर्थ उषा और पुरूरवा का अर्थ सूर्य होता है। सूर्य के उदय होते ही उषा ठहर नहीं सकती।

बस, यहाँ तक हमने वेदों से वेदों का अर्थ करने की परिपाटी के द्वारा पुरूरवा और उर्वशी तथा उनके पुत्र आयु को देखा और देशी-विदेशी सभी विद्वानों का मत संग्रह करके जाँचा तो पता लगा कि ये व्यक्ति लौकिक नहीं—मनुष्य नहीं—राजा नहीं, प्रत्युत आकाशीय चमत्कारी पदार्थ हैं। ग़लती से पुराणों ने इस नक्षत्रवंश को मनुष्य वंश के साथ जोड़ दिया है।[२]

राजा आयु

ऊपर के वर्णन में आयु का थोड़ा-सा वर्णन आ गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि '**अग्ने:... आयुरसि**' (यजु:० ५।२) हे अग्ने! तू आयु है। यह 'आयु' पुराणों में उर्वशी और पुरूरवा का पुत्र कहा गया है। हमने भी देखा कि उर्वशी और पुरूरवा अग्नि से ही बने हुए सूर्य और रश्मि हैं, तब उनके पुत्र को अग्नि होना ही चाहिए। दूसरे स्थान पर ऋग्वेद १।३१।११ में लिखा है '**त्वामग्ने प्रथममायुमायवे देवा अकृण्वन्**', अर्थात् हे अग्ने! पहले तूने आयु को बनाया और आयु से देवताओं को बनाया। वही बात इससे भी सूचित होती है कि आयु नामक अग्नि से ही सूर्यकिरण, ऊषा आदि देवता बनाये गये। इस प्रकार आयु भी मनुष्य सिद्ध नहीं होता।

राजा नहुष

पुराणों में आयु का पुत्र नहुष लिखा हुआ है। इसकी कथा का सम्बन्ध भी पुराणों में आकाश के चमत्कारी पदार्थों से जुड़ा हुआ है। वहाँ लिखा है कि नहुष को इन्द्र की पदवी मिली थी। यह इन्द्र जिसकी अप्सराओं का ऊपर वर्णन हो चुका है सूर्य ही है। नहुष एक बार सूर्य हो चुका है। यहाँ हम नहुष से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ वेदमन्त्रों को उद्धृत करते हैं और दिखलाते हैं कि उक्त मन्त्रों में नहुष किस प्रकार का पदार्थ सिद्ध होता है।

आ यातं नहुषस्पर्यान्तरिक्षात् सुवृक्तिभि:। पिबाथो अश्विना मधु। —ऋ० ८।८।३
अध ग्मन्ता नहुषो हवं सूरे:......नभो जुवो यन्निरवस्य राध:। —ऋ० १।१२२।११
स निरुध्या नहुषो यह्वो अग्निर्विशश्चक्रे बलिहृत:सहोभि:। —ऋ० ७।६।५
सूर्यामासा विचरन्ता दिविक्षिता धिया शमीनहुषी अस्य बोधतम्। —ऋ० १०।९२।१२

---

२. पुरूरवार्द्रवाश्चैव विश्वेदेवा: प्रकीर्तिता:। —लिखितस्मृति ४९
अर्थात् पुरूरवा और आर्द्रवा विश्वदेव हैं—आकाशीय हैं।

* Maxmuller considers the story to be one of the myths of Vedas which expresses the co-relation of the dawn and the sun. According to Dr. Goldstucker, Urvasi is the morning mist which vanishes away as soon as Pururava the sun displays itself.

यदिन्द्र नाहुषीष्वा। अग्ने विक्षु प्रदीदयत्। —ऋ० ८।६।२४

ऊपर हमने पाँच मन्त्रों के वे भाग लिखे हैं, जिनसे 'नहुष' पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हम यहाँ इन मन्त्रों का अर्थ करके पाठकों को भ्रम में नहीं डालना चाहते। हम तो केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि वेदों में आया हुआ यह नहुष किस भाव का सूचक है। यहाँ पहले मन्त्र में कहा गया है कि 'नहुष' के ऊपर अन्तरिक्ष से कोई आते हैं। आगे अश्विन शब्द भी आया है जो आकाशीय पदार्थ है। दूसरे मन्त्र में नहुष को सूर्य से नीचे बतलाया है। आगे नभ शब्द भी है जो आकाशवाची है। तीसरे मन्त्र में नहुष को अग्नि के सहित रुका हुआ कहा गया है और बलि की चर्चा भी आई है। चौथे मन्त्र में कहा है कि सूर्यों के मास दिवि में विचरते हैं, जिन्हें नाहुषी जानना चाहिए। पाँचवें मन्त्र में कहा गया है कि जो इन्द्र नहुषों में प्रकाशित होता है।

इन मन्त्रों में नहुष का सम्बन्ध अन्तरिक्ष, अश्विन, सूर्य, नभ, अग्नि, बलि, इन्द्र और मास के साथ वर्णित हुआ है। उधर पुराणों में उसके इन्द्र पद पाने का वर्णन है, ऐसी दशा में कैसे कहा जा सकता है कि वेद का यह 'नहुष' मनुष्य है—राजा है।

महाभारत में लिखा है—

नहुषो हि महाराज राजर्षिः सुमहातपाः। देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा॥
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत्। स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः॥

— *महा० अनुशा० ९९।४,१०,११

अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः। तस्मिन् शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः॥
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम्। यस्मात् पदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम्॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते। इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह॥

—महा० अनुशा० १००।२३-२५*

अर्थात् राजर्षि नहुष ने पुण्यकर्म के फल से इन्द्रत्व प्राप्त किया। इन्द्रत्व पाने पर उनको अत्यन्त अहंकार हो गया। उन्होंने ऋषियों से अपनी पालकी उठवाना आरम्भ कर दिया। एक बार अगस्त्य ऋषि पालकी उठा रहे थे, नहुष ने उनके शिर पर लात मारी। इसपर भृगु ऋषि ने नहुष को शाप दिया कि 'तू सर्प हो जा'। नहुष सर्प होकर पृथिवी पर गिर पड़ा। महाभारत में नाग के भेदों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

आप्तः कर्कोटकश्चैव शंखो वालिशिखस्तथा। निष्टानको हेमगुहो नहुषः पिङ्गलस्तथा॥

—महाभारत १।३५।८-९*

इसमें 'नहुष' शब्द भी आया है, जो नागों के नामों में कहा गया है। नाग के कई अर्थ हैं, परन्तु यहाँ यह नहुष बादलों के अर्थ में नाग कहा गया है। वेदों में अहि बादल को कहते हैं, इसीलिए महाभारत में भी बादलों को नाग कहा गया है। महाभारत वनपर्व में लिखा है कि **'अगस्त्येन ततोऽस्म्युक्तो ध्वंस सर्पेति वै रुषा।'**[1] भावार्थ यह है कि अगस्त नक्षत्र के उदय होते ही सर्परूपी पानी का—बादलों का ध्वंस हो जाता है। **'उदय अगस्त पंथजल सोखा'** यह

---

१. महा० वन० १८१।३७ श्लोक का पहला चरण गीता प्रेस संस्करण में इसी रूप में है। दूसरा चरण है—सर्पस्त्वं च भवेति ह। पूना संस्करण में प्रथम चरण इस रूप में है—अदृष्टेन ततोऽस्म्युक्तो, दूसरा चरण जैसा ऊपर दिया हुआ है, वैसा ही है। **—जगदीश्वरानन्द**

तुलसीदास ने भी लिखा है। सम्भव है नहुष आकाशस्थ पदार्थों में से बादल ही हो, क्योंकि ऋग्वेद १०।४९।८ में वह **सप्तहा**—सात किरणों को मारनेवाला कहा गया है जो बादल के सिवा और कुछ नहीं हो सकता। महाभारत की कथा के अनुसार नहुष ने इन्द्र का पद पाया, अर्थात् बादलों ने सूर्य को घेर लिया, परन्तु अगस्ति ऋषि के तेज से वह भूमि पर गिर गया, अर्थात् अगस्ति तारे के उदय होते ही वर्षा ऋतु चली गई। इससे स्पष्ट हो गया कि नहुष बादल है।

राजा ययाति

पुराणों में नहुष का लड़का ययाति लिखा हुआ है। इसका वर्णन भी आकाश से सम्बन्ध रखता है। इसकी एक रानी शुक्र की लड़की थी। यह वही शुक्र है जो आकाश में ग्रह है। दूसरी रानी वृषपर्वा की लड़की थी। यह वृषपर्वा बादलों के सिवा और कुछ नहीं है। ऋग्वेद में आया है कि—

अग्ने अङ्गिरस्वदङ्गिरो ययातिवत्। —ऋ० १।३१।१७

यहाँ कहा है कि हे अग्ने! तुम अङ्गिरस् की भाँति हो और अङ्गिरस् ययाति की भाँति है। ऐतरेयब्राह्मण ३।३४ में लिखा है कि '**ये अङ्गारा आसंस्ते अङ्गिरसोऽभवन्**' अर्थात् अङ्गार ही अङ्गिरस् हैं। ऋ० १०।६२।५ में भी है कि '**अङ्गिरसःसूनवस्ते अग्नेः०**' अर्थात् अङ्गिरस्, अग्नि के लड़के अङ्गार ही हैं।

ऊपर ययाति को अङ्गार की भाँति बतलाया गया है और शुक्रग्रह की लड़की के साथ उसका विवाह बलताया गया है। इससे तो स्पष्ट हो गया है कि ययाति भी कोई तारा है अथवा आकाश का कोई चमकीला पदार्थ है[१]। हमारी समझ में नहीं आता कि इस आग्नेय आकाशस्थ पदार्थ को मनुष्य अथवा राजा कैसे बना दिया गया?

यदु, तुर्वश, पुरु, द्रुह्यु और अनु

ये पाँचों लड़के राजा ययाति के हैं। ऊपर ययाति की जो दो रानियाँ बतलाई गई हैं उनमें एक से दो लड़के और दूसरी से तीन लड़के हुए, यह पुराणों में लिखा है, परन्तु वेदों में इस बात का कहीं वर्णन नहीं है कि अमुक अमुक का पुत्र था या पिता। वहाँ तो केवल ये शब्द आते हैं और इन शब्दों के जो वाच्य हैं उनका वर्णन आता है। हम यहाँ भी कुछ ऐसे मन्त्र लिखना चाहते हैं जिनमें उपर्युक्त शब्द आते हैं और उन शब्द-वाच्यों का वर्णन आता है—

१. **यन्नासत्या परावति यद्वा स्थो अधि तुर्वशे।**
अतो रथेन सुवृता न आ गतं साकं सूर्यस्य रश्मिभिः॥ —ऋ० १।४७।७
२. **अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।** —ऋ० १।३६।१८
३. **समुद्रमति शूर पर्षि पारया तुर्वशं यदुम्।** —ऋ० १।१७४।९
४. **अन्तरिक्षे पतथः पुरुभुजा।** —ऋ० ८।१०।६
५. **यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे।** —अथर्व० २०।१४२।३
६. **हव्यवाहं पुरुप्रियम्।** —अथर्व० २०।१०१।२

---

१. सूर्यसिद्धान्त की भूमिका में उदयनारायणसिंह ने लिखा है कि ययाति एक तारा है।

७. **अनुप्रत्नस्यौकसः।** —अथर्व० २०।२६।३
८. **पुरूरेतो दधिरे सूर्यश्रितः।** —अथर्व० ६।४९।३
९. **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते।** —ऋ० ६।४७।१८
१०. **उत त्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्द्रो विद्वाँ अपारयत्।** —ऋ० ४।३०।१७
११. **यदिन्द्राग्नी यदुषु तुर्वशेषु यद् द्रह्युष्वनुषु पूरुषु स्थः।** —ऋ० १।१०८।८
१२. **प्रातरग्निः पुरुप्रियः।** —ऋ० ५।१८।१

इन बारह मन्त्रों में उक्त यदु, तुवर्श आदि पाँचों के नाम और काम आ गये हैं। यहाँ मन्त्रों का भाष्य नहीं करना, प्रत्युत उक्त शब्दों का भावमात्र खोलना है, अतः क्रमशः संक्षेप से उनका भाव लिखते हैं।

१. जो विद्युत् तुर्वश में है, वह सूर्य की रश्मियों से आ गई।
२. अग्नि से तुर्वश यदु को दूर करते हैं।
३. प्रकाश से तुर्वश यदु को पार करो।
४. अन्तरिक्ष का रास्ता पुरु है।
५. यदु सूर्य के द्वारा जाते हैं।
६. हुत पदार्थों को ले-जानेवाले पुरु।
७. अनु का घर द्युलोक है।
८. पुरु सूर्य के आश्रित है।
९. इन्द्र माया करके पुरु बन जाता है।
१०. तुवर्श, यदु को शचीपति इन्द्र पार कर देगा।
११. जो इन्द्र और अग्नि यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु में है।
१२. प्रातःकाल का हवन पुरु को प्रिय है।

क्या ऊपर के भावार्थ से यह समझ पड़ता है कि ये वर्णन मनुष्यों के हैं? यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि हमारी बुद्धि हमको ही धोखा दे रही है। जिन पदार्थों का सम्बन्ध विद्युत्, सूर्य, रश्मि, अग्नि, आकाश, अन्तरिक्ष, द्यौ, इन्द्र, शची और अनेक आकाशस्थ पदार्थों से है, जो सूर्य की रश्मियों के द्वारा आते और हव्य ले-जाते हैं तथा जिनमें विद्युत् रहती है, क्या ऐसे पदार्थ मनुष्य हो सकते हैं। हमारी समझ में तो ये मनुष्य नहीं है। ज्योतिष के ग्रन्थों में लिखा है कि **'पौरो गुरु रविजा नित्यं शीता शुरा क्रन्दाः'**, अर्थात् बुध, गुरु और शनि ये सदा पौर हैं। पुरु से ही पौर होता है। इससे ज्ञात होता है कि ये कई नक्षत्र मिलकर यदु, तुर्वश आदि कहलाते हैं। वेदों में इनका जो युद्ध वर्णित है वह युद्ध भी आकाशीय है। सूर्यसिद्धान्त अध्या० ७ में यह ग्रहयुद्ध वर्णित है। वहाँ लिखा है कि **''ताराग्रहाणामन्योन्यं स्यातां युद्धसमागमौ''**, अर्थात् तारा और ग्रहों के परस्पर योग का नाम युद्ध है।

पुराणों ने इस नक्षत्रवंश के वर्णन को घसीट कर राजाओं के वर्णन के साथ मिला दिया, परन्तु प्रो० मैकडानल ने अपनी History of Sanskrit Literature में लिखा है 'ऋग्वेद में बार-बार कहे गये पुरु आदि पाँचों वर्गों का ब्राह्मणग्रन्थों में नाम तक नहीं है'। यदि ये इतने सरल अर्थवाले ऐतिहासिक व्यक्ति होते तो ब्राह्मणग्रन्थों में इनका कुछ भी तो वर्णन होता, परन्तु वहाँ

चर्चा तक नहीं है। ऐसी दशा में ये व्यक्ति ऐतिहासिक सिद्ध नहीं होते। वेदों में इतिहास का जो अनुमान किया जाता है वह मिथ्या है। वेदों में इतिहास का नाम भी नहीं है।

राजा शन्तनु

राजा शन्तनु दो भाई थे। दूसरे भाई का नाम था बाह्लीक, किन्तु पुराणों ने राजा शन्तनु के तीसरे भाई देवापी की कल्पना करके गड़बड़ मचा दी है। देवापी को शन्तनु का भाई क्यों बना दिया? इसका कारण वेदों में आये हुए वही चमत्कारिक वर्णन हैं। ऋग्वेद के दशवें मण्डल में एक सूक्त है जिसमें वर्षा का वर्णन है। वर्षा का प्रयोजन अनेक प्रकार की वनस्पति की रक्षा है। उस सूक्त में शन्तनु, देवापी और आर्ष्टिषेण शब्द आते हैं। इतने मात्र से यह कथा कल्पित कर ली गई है कि एक बार राजा शन्तनु के राज्य में अवर्षण हुआ। राजा शन्तनु ने अपने आर्ष्टिषेण देवापी नामक भाई को (जो विरक्त हो गया था और ऋष्टिषेण नामी ऋषि का शिष्य होने से आर्ष्टिषेण कहलाने लगा था) बुलाकर यज्ञ कराया, जिससे पानी बरसा। दूसरी जगह लिखा है कि शन्तनु राजा की शादी गङ्गा से हुई। उपर्युक्त दोनों कथाओं का तात्पर्य इतने दिनों के बाद अब खुल रहा है। यदि गङ्गा नदी का स्त्री होना पहले से न लिखा होता तो हमारे इस निम्नलिखित निकाले हुए निष्कर्ष पर विश्वास ही न होता, किन्तु भाग्य से पुराना वैदिक रहस्य रद्दी अवस्था में पड़ा रहा तो इससे आज का बड़ा काम निकला।

पूर्व इसके कि हम उक्त कथा पर प्रकाश डालें, यह आवश्यक जान पड़ता है कि पहले हम ज्ञात करले कि देवापी, ऋष्टिषेण, शन्तनु और गङ्गा आदि शब्दों का वेदों में क्या भावार्थ है। पहले देवापी शब्दो को देखिए। ऋग्वेद में ये दो शब्द हैं। बर्लिन के छपे हुए मैक्समूलर के पदपाठवाले ऋग्वेद में देव और आपी अलग-अलग छपा है। इसी प्रकार ऋष्टि और षेण भी अलग-अलग हैं। यहाँ देव, आपी, ऋष्टि और षेण का अर्थ विचार कीजिए। देव का अर्थ प्रसिद्ध है। यहाँ आपी के अधिष्ठाता को देव कहा गया है।

ऋग्वेद में लिखा है कि—

आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानाम्। —ऋ० १।३१।१६

अर्थात् सौम्य पदार्थों का 'आपि' पिता है। आपी से ही सब सौम्य (जलीय) पदार्थ उत्पन्न होते हैं। दूसरी जगह ऋग्वेद ४।४१।२ में लिखा है कि **'इन्द्रा ह यो वरुणा चक्र आपी',** अर्थात् आपी नाम वरुण-चक्र का है। इस प्रकार देवापी का अर्थ होता है जल पैदा करनेवाली प्रधान शक्ति। ऋग्वेद १०।९८ सूक्त के सिवा देवापी शब्द अन्य किसी भी स्थान में इकट्ठा नहीं आता। इसका कारण स्पष्ट है कि यह एक शब्द नहीं है। इसीलिए पदपाठ में दोनों शब्द अलग-अलग कहे गये हैं, परन्तु पौराणिकों ने दोनों को एक करके शन्तनु का भाई बना डाला है। इसी प्रकार ऋष्टिषेण भी चारों वेदों में इस सूक्त के सिवा अन्यत्र कहीं नहीं आता, अतः हम यहाँ 'ऋष्टि' और 'षेण' शब्दों का भाव भी देखना चाहते हैं। ऋष्टि के लिए कहा है कि—

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। —ऋ० १।८८।१
को वोऽन्तर्मरुत ऋष्टिविद्युतो रेजति। —ऋ० १।१६८।५
य ऋष्वा ऋष्टिविद्युतः कवयः सन्ति वेधसः। —ऋ० ५।५२।१३
विद्युद्रथा मरुत ऋष्टिमन्तः। —ऋ० ३।५४।१३

इन चारों मन्त्रों में ऋष्टि का सम्बन्ध विद्युत् से दिखलाई पड़ता है और षेण के लिए तो ऋग्वेद में स्पष्ट कहा है—

षेणा उभे युजन्त रोदसी सुमेके। —ऋ० ६।६६।६

अर्थात् 'षेण' तो पृथिवी और आकाश दोनों को अकेला ही जोड़ता है। वहाँ वह षेण, ऋष्टि के साथ मिलकर उस विद्युच्छक्ति का सूचक ज्ञात होता है तो देवापी नामक जलशक्ति का प्रेरक होगा। जो हो, परन्तु इनके इन शब्द-भावों से सूचित होता है कि इन शक्तियों का सम्बन्ध जल बरसाने से है।

यह सबको विदित ही है कि गङ्गा की तीन शाखाएँ हैं। एक वह पानी जो आकाश से भूमि पर बरसता है, दूसरा वह जो भूमि पर बहता है और तीसरा वह जो भूमि के खोदने से निकलता है। अश्विन के महीने में जो पानी ऊपर से बरसता है उसे गाङ्गेय कहते हैं[1]।

यहाँ तक उक्त कथा का निष्कर्ष हुआ कि हवन से विद्युत् शक्ति की प्रेरणा द्वारा जलचक्र में क्रिया होती है और गङ्गा नामक देवनदी बरसात के रूप में नीचे आती है, परन्तु देखना चाहिए कि ये शन्तनु कौन है, जिनके साथ इस गङ्गा की शादी होती है।

ऋग्वेद १०।९८ सूक्त के अतिरिक्त, वेदों में शन्तनु शब्द अन्यत्र कहीं नहीं आया, इसलिए वेद से इस शब्द का स्पष्टिकरण नहीं हो सकता, परन्तु बड़े आनन्द की बात है कि पुराने ऋषियों ने इस शब्द का अर्थ वैद्यक के ग्रन्थों में लिख रक्खा है, अतः हम यहाँ सुश्रुत के वचन उद्धृत करके दिखलाते हैं कि 'शन्तनु' शब्द का क्या तात्पर्य है ?

अथ कुधान्यवर्गः—

कोरदूषकश्यामाकनीवार 'शान्तनु'।

वरकोद्दालकप्रियंगुमधूलिका नान्दीमुखी कुरुविन्दगवेधुक

वरुक तोदपर्णी मुकुन्दक वेणु यवप्रभृतयः कुधान्यविशेषः। —सुश्रुत सूत्रस्थान ४६।२१

इसमें अनेक प्रकार के धान्य गिनाये गये हैं, जिनमें एक शन्तनु भी है[2]। इस शान्तनुनामी धान्य का जीवन वर्षा है। आश्विन के महिने में इस धान्य को वर्षा की आवश्यकता होती है। आश्विन की वर्षा ही गङ्गा है। वह गङ्गा जब इस शान्तनु से अपना परिणय करती है तभी इसका तप्त हृदय प्रफुल्लित होता है। उस गङ्गा को शान्तनु के लिए ऊपर कही हुई आर्ष्टिषेणदेवापी नामी विद्युत् और जलशक्तियाँ प्रेरित करके नीचे लाती हैं। इसी को पौराणिकों ने लिख दिया कि आर्ष्टिषेणदेवापि ने यज्ञ करके शन्तनु के राज्य में पानी बरसाया और गङ्गा से शन्तनु की शादी हुई।

पुराण की यह कथा वेदों में आये हुए शान्तनु, आर्ष्टिषेण, देवापी आदि शब्द और उनसे सम्बन्ध रखनेवाला वर्षा का विज्ञान हमें तुरन्त वेदों में इतिहास की ओर बड़े प्रबलता से खींचने लगता है, परन्तु जब उन शब्दों को—उन मन्त्रों को ध्यानपूर्वक देखा जाता है तब ज्ञात होता है

---

१. गाङ्गमाश्वयुजे मासि प्रायो वर्षति वारिदः। सर्वथा तज्जलं ज्ञेयं तथैव चरके वचः। —भावप्रकाश

२. इस शान्तनु नामी धान्य के गुण इस प्रकार हैं—

ऊष्णाः कषायमधुरा रूक्षाः कटुविपाकिनः। श्लेष्मघ्ना बद्धनिस्यन्दा वातपित्तप्रकोपणाः॥

कषायमधुरस्तेषां शीतः पित्तापहः स्मृतः। कोद्रवश्च सनीवारः श्यामाकश्च सशान्तनुः॥

—सुश्रुत० सूत्र० ४६।२२, ३२

कि वहाँ बात ही कुछ और है।

इसी प्रकार का एक दूसरा अलंकार ऋग्वेद ४।१५ में आये हुए 'सोमक: साहदेव्य:' के विषय का है, जिसपर यहाँ थोड़ा-सा प्रकाश डालने की आवश्यकता है। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए० लिखते हैं कि ये सोमक सहदेव महाभारतकालीन व्यक्ति हैं।

महाभारत मीमांस पृष्ठ १०७ पर वैद्य महोदय जिन सहदेव सोमक की चर्चा करते हैं वे चन्द्रवंशी ही हैं, किन्तु ऋग्वेद ४।१५ में आये हुए सोमक सहदेव दूसरे ही हैं। इन मन्त्रों के साथ उस घटना का मेल मिलाना उचित नहीं है। वह घटना दूसरी ही है। इन मन्त्रों में तो किरणों का और अश्विन देवताओं का सम्बन्ध सोमक सहदेव के साथ लगाया गया है। किरणें और अश्विन आकाशीय पदार्थ हैं, इसलिए ये हरिवंश अध्याय ३२ के सहदेव सोमक नहीं है। जिन मन्त्रों से वैद्य महोदय को यह भ्रम हुआ है वे मन्त्र अर्थसहित नीचे लिखे जाते हैं—

बोधद्यन्मा हरिभ्यां कुमारं साहदेव्यः। अच्छा न हूत उदरम्॥
उत त्या यजता हरी कुमारात्साहदेव्यात्। प्रयता सद्य आ ददे॥
एष वां देवावश्विना कुमारः साहदेव्यः। दीर्घायुरस्तु सोमकः॥
तं युवं देवावश्विना कुमारं साहदेव्यम्। दीर्घायुषं कृणोतन॥　—ऋ० ४।१५।७-१०

अर्थात् जब सहदेव के पुत्र ने मुझे दो किरणों के साथ कर दिया तब मैं बुलाये की भाँति उपस्थित हो गया। मैंने उस सहदेवपुत्र से उन दोनों किरणों को शीघ्र ग्रहण कर लिया। हे अश्विन् देवताओ! सहदेव का यह सोमक आपके लिए दीर्घजीवी हो। हे अश्विन् देवताओ! उस युवा सहदेव के सोमक को दीर्घायु कीजिए।

अश्विनों के द्वारा चंगे होनेवाले सदैव आकाशीय पदार्थ ही होते हैं। ये अश्विन देवताओं के वैद्य हैं। जिस प्रकार त्वष्टा देवताओं के बढ़ई और इन्द्र देवताओं के राजा हैं, उसी प्रकार अश्विन देवताओं के वैद्य हैं। न इन्द्र आदि राजा ही मनुष्य हैं, न उनकी प्रजा—देवता ही मनुष्य हैं, न उनके वैद्य ही मनुष्य हैं और न उनके सोमक सहदेव रोगी ही मनुष्य हैं। वैद्यक में तो सहदेव, सोमक दवा के नाम हैं[१]।

कहने को तो कोई भी कह सकता है कि यजुर्वेद में आई हुई अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका भी महाभारत कालीन रानियाँ हैं, परन्तु वेद में तो वे ओषधियों की ही वाचक हैं। वेदों की ऐसी घटनाएँ समझने के लिए यहाँ हम इस विषय को भी लिखना चाहते हैं।

अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका

वेद में दवा को अम्ब कहा गया है। यजुर्वेद १२।७६ में लिखा है कि '**शतं वो अम्ब धामानि...इमं मे अगदं कृत**', अर्थात् हे अम्ब! मुझे आरोग्य कीजिए। यहाँ रोगी आरोग्य होने के लिए अम्ब (दवा) से कहता है। दूसरी जगह उक्त तीनों अम्बाओं (दवाओं) का होम करना भी कहा गया है, वहाँ लिखा है कि '**सह स्वस्त्राऽम्बिकया तं जुषस्व**'।* इसमें स्पष्ट कह दिया है कि अम्बिका की बहिनों के साथ हवन करो। यजुर्वेद ३।६० में भी कहा गया है कि '**त्र्यम्बकं**

१. सहदेवः, दैवः सह, सहदेवी के नाम हैं, और 'बहुमूत्रं नाशयति' यह गुण है। इसी से सोमक कही गई है। देखो शालिग्रामनिघण्टु।

* यजुः० ३।५७

यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्', अर्थात् तीनों अम्बाओं का मैं सुगन्धि और पुष्टि बढ़ाने के लिए हवन करता हूँ। इन तीनों ओषधियों के लिए यजुर्वेद में कहा है कि—

अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन।
ससस्त्यश्वकः सुभद्रिकां काम्पीलवासिनीम्॥ —यजुः० २३।१८

यहाँ उक्त तीनों को एक ही स्थान पर कह दिया है[१]। इसके सिवा यह भी बतला दिया कि वे काम्पील में होती हैं। काम्पील से महाभारत की उक्त कन्याओं का कुछ भी सम्बन्ध नहीं था। वे तो काशीनरेश की कन्याएँ थीं, और हस्तिनापुर में ब्याह कर आई थीं, अतः यह काम्पील या काम्पिल्य फर्रुख़ाबाद ज़िलेवाला कम्पिला नहीं है। काम्पील नाम एक ओषधि का है, जिसके साथ ही अम्बिका आदि ओषधियाँ उगती हैं[२]।

अब देखना चाहिए कि वैद्यक में उक्त ओषधियों की चर्चा है या नहीं। भावप्रकाश में लिखा है कि—

माचिका प्रस्थिकाम्बष्ठा तथाम्बाऽम्बालिकाऽम्बिका। —भा० हरीतक्यादिवर्ग १७०

अब सिद्ध हो गया कि यजुर्वेद में महाभारतकालीन कन्याओं और रानियों की चर्चा नहीं है, प्रत्युत वहाँ ये ओषधियों के नाम हैं।

जिस प्रकार यह ओषधियों का वर्णन है उसी प्रकार 'सोमकः साहदेवः' का भी वर्णन ओषधियों के लिए ही हुआ है, अन्यथा सूर्यवंशी अम्बरीष के साथ चन्द्रवंशी सहदेव का नाम क्यों आता? परन्तु ऋग्वेद १।१००।१७ वाले मन्त्र में कहा गया है कि पानी के बिना अम्बरीष—आमड़े का वृक्ष और सहदेवः—सहदेई का वृक्ष भयमान होते हैं।

इसी प्रकार हमने यहाँ तक चन्द्रवंश के कतिपय राजाओं के नामों को जो वेदों में पाये जाते हैं, उन्हीं मन्त्रों के अन्य शब्दों से जाँचा और पुराणोक्त चमत्कारी वर्णनों से मिलाया तो वे राजा नहीं—मनुष्य नहीं प्रत्युत सृष्टि के कुछ अन्य ही पदार्थ सिद्ध हुए। हमें तो आश्चर्य है कि जो लोग इन शब्दों से राजाओं का अर्थ ग्रहण करते हैं, वे उन्हीं मन्त्रों में आये हुए अन्य शब्दों का क्या अर्थ करते होंगे? सहदेव और सोमक को, पुरु, द्रुह्यु आदि पाँचों भाइयों को तथा अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका को एक ही जगह देखकर शायद कोई इतिहास प्रेमी हठ करे कि यह घटना अलौकिक नहीं है। उनसे निवेदन है कि वे तनिक संसार की शैली पर ध्यान दें। वेद में कृष्ण और अर्जुन एक ही स्थान पर आये हैं, परन्तु दूसरे स्थान पर **'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च'** (ऋ० ६।९।१) कहकर वेद में ही बतला दिया है कि दोनों का अर्थ दिन है। यहाँ लोक में दोनों पुरुषों की अटूट मित्रता से ही कृष्ण अर्जुन नाम रख दिये गये हैं। कानपुर में हमारे मित्र पं० बेनीमाधवजी प्रसिद्ध पण्डित हैं। आपके चार पुत्र थे। चारों के नाम आपने राम, लक्ष्मण, भरत

---

१. 'त्र्यम्बकं यजामहे०' इस मन्त्र का अर्थ यही होता है कि अम्बा, अम्बिका और आम्बालिका नामी तीनों दवाओं का हवन करना चाहिए। 'त्र्यम्बकं' पद पाणिनि के 'संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु' (अष्टा० ५।१।५८) इस सूत्र से उसी प्रकार सिद्ध होता है, जिस प्रकार 'सप्तकम्', 'पञ्चकम्' आदि।

२. काम्पीलं गुंडारोचनं सुनामख्यातगन्धद्रव्ये गन्धद्रव्यविशेषः 'अर्थात् काम्पील को वैद्यक शास्त्र में गुंडारोचन नामक गन्धद्रव्य कहते हैं। जहाँ पर यह ओषधि होती है वहीं पर उक्त तीनों ओषधियाँ भी होती है, और उस जगह को भी काम्पील कहते हैं।

और शत्रुघ्न रक्खे थे, जिनमें राम और लक्ष्मण अब तक चिरंजीव हैं। प्रयाग ज़िले के बघेला ताल्लुक़ेदार कुँवर भरतसिंहजी यू०पी० में सिशन जज थे, वे चार भाई थे। चारों के नाम राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न थे।

ये घटनाएँ बतलाती हैं कि आदर्श शब्दों से ही लोग नामों का अनुकरण करते हैं। रामायण से जिस प्रकार राम, लक्ष्मण नाम रक्खे गये और वेद से जिस भाँति कृष्ण, अर्जुन नाम रक्खे गये उसी प्रकार वेदों को ही देखकर सहदेव, सोमक और अम्बा, अम्बिका, तथा पुरु, द्रुह्यु आदि नाम भी रक्खे गये हैं। मनुस्मृत में लिखा है कि **'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे'**[१] अर्थात् वेदों के शब्द पहले के और मनुष्यों के नाम बाद के हैं।

इस वर्णन से सहज ही ज्ञात होता है कि जिनको परिश्रम नहीं करना और जिनको पाश्चात्य विद्वानों के कथन पर वेद से अधिक विश्वास है, वे उनसे प्रभावित होने के कारण ही वेदों से इतिहास निकालने का श्रम करते हैं।

कृष्ण की व्रजलीला और विभूतियाँ

एक दिन हमने भी वेदों से भागवत के दशम स्कन्ध की वे घटनाएँ निकालना शुरू की थीं, जो श्रीकृष्णभगवान् को कलंकित करती हैं। हमारे इस खेल का अच्छा परिणाम निकला और भागवत तथा गीता से सम्बन्ध रखनेवाली दो बड़ी घटनाओं पर बहुत बड़ा प्रकाश पड़ा। पहले हम वे मन्त्रांश एकत्र करते हैं, जिनमें कृष्ण की व्रजलीला दिखलाई पड़ती है।

१. **स्तोत्रं राधानां पते।** —ऋ० १।३०।५

२. **गवामप व्रजं वृधि।** —ऋ० १।१०।७

३. **दासपत्नीरहिगोपा अतिष्ठत्।** —ऋ० १।३२।११

४. **त्वं नृचक्षा वृषभानु पूर्वीः कृष्णास्वाग्ने अरुषो वि भाहि।** —*ऋ० ३।१५।३

५. **तमेतदाधारयः कृष्णासु रोहिणीषु च।** —ऋ० ८।९३।१३

६. **कृष्णा रूपाण्यर्जुना वि वो मदे।** —ऋ० १०।२१।३

इन मन्त्रों में राधा, गौ, व्रज, गोप, वृषभानु, रोहिणी, कृष्ण और अर्जुन सभी मण्डली एकत्र हो गई है। इसी मण्डली के आधार पर भागवत की रचना हुई है, परन्तु मन्त्रों में आये हुए अन्य शब्दों को देखने पर पता लगेगा कि ये सब आकाशीय पदार्थ हैं।

ऋ० ६।९।१ में कहा है कि **'अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च'** अर्थात् अर्जुन और कृष्ण दोनों दिन के नाम हैं। इसी प्रकार राधा, धन और अन्न को कहते हैं। गो, किरणें हैं और व्रजकिरणों का स्थान द्यौ है और भी सब इसी प्रकार के आकाशीय पदार्थ हैं। वेदों के इस कृष्णार्जुन अलङ्कार से ही भागवत और गीता का वह स्थान बनाया गया है, जिसमें कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन किया है कि वृक्षों में पीपल मैं हूँ, इत्यादि। ऋग्वेद में सूर्य, इन्द्र और विद्युत्, अर्थात् आकाशस्थ आग्नेय शक्तियाँ कहती हैं कि—

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षीवाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा॥ —ऋ० ४।२६।१

१. मनु० १।२१

अर्थात् हम मनु, सूर्य, कक्षीवान्, उशना आदि पदार्थ हैं। शुक्र की टेढ़ी चाल भी हम ही हैं। यहाँ गीता का यह वाक्य भी कि 'कवियों में उशना कवि मैं हूँ', स्पष्ट हो जाता है। यह उशना कोई मनुष्य नहीं हैं। उशना नाम शुक्र का है। इसकी चाल बड़ी टेढ़ी-बाँकी होती है। वेद में नक्षत्रों की इस चाल को काव्य कहते हैं। **'पश्य देवस्य काव्यम्'**[1] यह वाक्य नक्षत्र काव्य के लिए कहा गया है। इसलिए जो प्रकाश कृष्ण और अर्जुन है, वही उशना काव्य भी है। महाभारत[2] आदिपर्व ४।७७ में लिखा है कि **'उशनस्य दुहिता देवयानी'**, अर्थात् देवयानी उशना की लड़की है। इससे और भी स्पष्ट हो गया है कि उशना शुक्र ही है। इस प्रकार से भागवत की व्रजलीला और गीता की विभूतियाँ सूर्य, किरण, वर्षा, अन्न, प्रकाश, ग्रह, ग्रहगति, और विद्युत् आदि ही हैं। इन वैदिक वर्णनों को शब्द-साम्य के कारण कथाओं के रूप में लिखकर पौराणिक कवियों ने व्यर्थ ही बात का बतंगड़ बना दिया है।

हमने किया तो था एक खेल, सुलझ गई यह उलझन कि भागवत और गीता किस प्रकार के अलङ्कारों से कथाओं की सृष्टि करते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य केवल यह है कि पुराणों में जो असम्भव कथाएँ लिखी हैं, वे वेद के आकाशीय वर्णन हैं, जिनको तत्तन्नामवाले राजाओं के साथ मिला दिया है। यहाँ तक हमने चन्द्रवंश से सम्बन्ध रखनेवाले राजाओं का वर्णन किया, अब सूर्यवंश के राजाओं के भी दो-एक नमूने देख लेने चाहिएँ।

राजा इक्ष्वाकु

पुराणों में सूर्यवंश का मूल पुरुष मनु है और उसका आदि पुरुष राजा इक्ष्वाकु है। मनु शब्द भी वेदों में आया है, परन्तु वह **'अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहम्'** (ऋ० ४।२६।१) के अनुसार आकाशस्थ पदार्थ ही है। इक्ष्वाकु शब्द ऋग्वेद में एक ही जगह आया है। ऋ० १०।६०।४ में उल्लेख है—**'यस्य इक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान् मराय्येधते। दिवीव पंच कृष्टयः'**। यहाँ रायी, दिवि और कृष्टय शब्द हैं। इनसे ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु कोई कृषि-सम्बन्धी वस्तु है। अथर्ववेद में स्पष्ट कह दिया गया है कि वह ओषधि है।

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठकाम्यः।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः॥ —अथर्व० १९।३९।९

अर्थात् जिसको (लोग) इक्ष्वाकु जानते हैं, कुष्ठकाम्य जानते हैं और खाद्य जानते हैं, ऐसी तू सर्वोषधि है।

सुश्रुत सूत्रस्थान ४४।७ में लिखा है कि **'इक्ष्वाकु कटुतुम्बिका'**, अर्थात् इक्ष्वाकु कटु तुम्बी है। दूसरी जगह कहा है—

इक्ष्वाकुकुसुमचूर्णं वा पूर्ववदेवं क्षीरेण। कासश्वासच्छर्दिकफरोगेषूपयोगः॥
—सुश्रुत० सूत्रस्थान ४४।७

अमरकोष में भी **'इक्ष्वाकुः कटुतुम्बी स्यात्'** लिखा हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि ऋग्वेद में धन और कृषि से सम्बन्ध रखनेवाली यह अथर्ववेद की भेषज भी ओषधि ही है। इसको राजा या मनुष्य बनाने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है।

---

१. अथर्व० १०.८.३२
२. महाभारत में अनुपलब्ध।

राजा अम्बरीष

हम ऊपर लिख आये हैं कि अम्बरीष का वर्णन सहदेव के साथ आया है और वहाँ इसका अर्थ आमड़ा वृक्ष ही होता है। दूसरे स्थान पर अमरकोष में अम्बरीष भड़भूँजे के भाड़ को भी कहते हैं। इससे अम्बरीष राजा सिद्ध नहीं होता।

राजा त्रिशंकु

यह राजा भी सूर्यवंश का है। इसके लिए प्रसिद्ध है कि यह भूमि और आसमान के बीच में लटका है। इससे समझ लेना चाहिए कि यह न तो मनुष्य है और न राजा। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः। नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन्॥
अवाक्शिरस्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः। अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम्॥[१]
त्रिशङ्कुर्विमलो भाति राजर्षिः सपुरोहितः। पितामहः पुरोऽस्माकमिक्ष्वाकूणां महात्मनाम्॥

—युद्ध कां० सर्ग ४[२]

दक्षिण दिशा लङ्का में रामचन्द्रजी ने इस तारे को देखकर कहा कि ये हमारे पूर्व पितामह त्रिशङ्कु हैं। लङ्का से देखने पर यह मध्यरेखा के नीचे लटका हुआ दीखता है, इसलिए इसे पृथिवी और आकाश के बीच में लटका हुआ कहा गया है।

इस प्रकार आकाशीय और औषधादि पदार्थों के वर्णनों को, उसी-उसी नामवाले राजाओं के वर्णनों के साथ मिलाकर पुराणकारों ने सच्चे इतिहास को असम्भव और इतिहास-शून्य वेदों को ऐतिहासिक कर दिया है, किन्तु समय फिरा है—खोज चल रही है, इससे आशा है कि सब झगड़ा तय हो जाएगा। यहाँ तक हमने राजाओं का दिग्दर्शन कराया अब आगे ऋषियों के नामों का अर्थ दिखलाया जाएगा।

ऋषियों के नाम

हम अभी यह दिखला आये हैं कि वेदों में जिन पदार्थों का वर्णन है वे संसार के राजा नहीं, प्रत्युत वे या तो आकाशीय पदार्थ हैं या वनौषधि हैं। यहाँ इस प्रकरण में हम उन शब्दों का अर्थ दिखलाना चाहते हैं, जिनका अर्थ लोग ऋषि, ब्राह्मण अथवा तपस्वी करते हैं।

हमें जहाँ तक पता लगा है हम कह सकते हैं कि ये ऋषिवाचक शब्द या तो नक्षत्र, किरण आदि आकाशीय चमत्कारी पदार्थों के वाचक हैं अथवा वे मनुष्य-शरीर में स्थित इन्द्रियों के वाचक हैं। यहाँ हम पहले आकाशस्थ पदार्थवाची शब्दों को लिखते हैं।

अगस्त्य ऋषि प्रसिद्ध हैं, परन्तु एक अगस्त्य नामक तारा भी प्रसिद्ध है जो वर्षा के अन्त में दिखलाई पड़ता है। उसके उदय होते ही वर्षा बन्द हो जाती है। इसपर से यह कथा गढ़ी गई है कि अगस्त्य ने समुद्र को पी लिया, किन्तु तुलसीदास अपनी रामायण में लिखते हैं कि **'उदय अगस्त पंथजल सोखा',** इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह अगस्त्य तारा ही है, ऋषि नहीं।

महाभारत में लिखा है कि—

---

१. वा०रा० बाल० ६०। ३१-३२
२. वा०रा० युद्ध० ४। ४९

ब्रह्मराशिर्विशुद्धश्च शुद्धाश्च परमर्षयः। अर्चिष्मन्तः प्रकाशन्ते ध्रुवं सर्वे प्रदक्षिणम्॥

—महा० आदि० अ० ७१[१]

अर्थात् सप्तर्षि ध्रुव की प्रदक्षिणा करते हैं। यहाँ लोक में भी उत्तर की ओर घूमनेवाले सातों ताराओं को सप्तर्षि कहते हैं। उधर ध्रुव एक राजा का पुत्र प्रसिद्ध ही है। कहते हैं कि यह ध्रुव कभी पृथिवीलोक में मनुष्य था, परन्तु अब नक्षत्र है, जिसकी प्रदक्षिणा सात तारे करते हैं। ऋग्वेद में उत्तानपाद का वर्णन है जो ध्रुव से सम्बन्ध रखता है, परन्तु पुराणों ने उत्तानपाद, ध्रुव और सप्तर्षियों को मनुष्य बना डाला है, जिससे वेद में आये हुए इन शब्दों से इतिहास का भ्रम होने लगता हैं।

याज्ञवल्क्यस्मृति में लिखा है कि—

पितृयानोऽजवीथ्याश्च यदगस्त्यस्य चान्तरम्। तेनाग्निहोत्रिणो यान्ति स्वर्गकामा दिवं प्रति॥
तत्राष्टाशीतिसाहस्रा मुनयो गृहमेधिनः। सप्तर्षिनागवीथ्यन्तर्देवलोकं समाश्रिताः॥

—याज्ञ० स्मृ० प्रा०[२]

हम पहले कह आये हैं कि वैदिक साहित्य में आकाश भी एक संसार है। वहाँ गली, ग्राम, नगर, राजा, युद्ध, ऋषि आदि सभी कुछ हैं। उसी के अनुसार ऊपर के श्लोकों का भी अर्थ है कि उत्तर गोलार्ध में नागवीथी के अन्त में सप्तर्षि हैं और दक्षिण गोलार्ध में अगस्त्य तारे के पास जहाँ अजवीथी है, वहाँ ८८,००० मुनि हैं। इस वर्णन से प्रकट हो गया कि तारागणों को ऋषि-मुनि कहा गया है।

यह सब जानते है कि उत्तरस्थित सप्तऋषियों में एक नक्षत्र का नाम वसिष्ठ है। अभी हमने कहा है कि त्रिशङ्कु दक्षिण दिशा में है। इसको स्वर्ग (ऊपर) भेजनेवाले विश्वामित्र ही थे। इसलिए इस त्रिशङ्कु के नीचे ही, दक्षिण में, विश्वामित्र नामी नक्षत्र होना चाहिए, क्योंकि उत्तरस्थित वशिष्ठ और दक्षिणस्थित विश्वामित्र के दिशा-विरोध से ही वसिष्ठ और विश्वामित्र का विरोधालङ्कार प्रसिद्ध हुआ है। इन कौशिक, अर्थात् विश्वामित्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण *बालकाण्ड सर्ग ६० में है।

यहाँ हम एक प्रमाण इन कौशिक के विषय का वेद से देते हैं, जिससे प्रकट हो जाएगा कि वे पृथिवी की वस्तु नहीं हैं।

महाँ ऋषिर्देवजा देवजूतोऽस्तभ्नात्सिन्धुमर्णवं नृचक्षाः।
विश्वामित्रो यदवहत्सुदासमप्रियायत कुशिकेभिरिन्द्रः॥ —ऋ० ३।५३।९

इस मन्त्र में कुशिक विश्वामित्र का नाम है और उसे ऋषि भी कहा गया है, परन्तु यह भी कहा गया है कि वह आकाश को रोकता है। इसके आगे कहा गया है कि इन्द्र कुशिक के द्वारा सुदास को हानि पहुँचाता है। सब जानते हैं कि इन्द्र मनुष्य नहीं है। यहाँ इन्द्र सूर्य अर्थ में ही है, इसलिए इस मन्त्र का यही भाव होता है कि सूर्य, कुशिक नामक नक्षत्र के द्वारा सुदास नामक किसी आकाशीय पदार्थ को हानि पहुँचाता है। सुदास को भी लोग राजा कहते हैं, परन्तु यहाँ वह

---

१. हमारे विचार में यह श्लोक महाभारत में कहीं नहीं है। **—सम्पादक**

२. याज्ञ० प्रायश्चित्त० १८४, १८६, १८७

भी आकाश से ही सम्बन्ध रखनेवाला कुछ पदार्थ प्रतीत होता है। इस प्रकार विश्वामित्र, कौशिक और वसिष्ठ आदि सब नक्षत्र ही प्रतीत होते हैं, मनुष्य नहीं—देहधारी ऋषि नहीं।

अथर्ववेद में दो मन्त्र इस प्रकार हैं—

कण्वः कक्षीवान् पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥
विश्वामित्र जमदग्ने वशिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेवः।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ —अथर्व० १८।३।१५, १६

इन दो मन्त्रों में सभी ऋषियों के नाम गिना दिये गये हैं, परन्तु अन्त में कह दिया गया है कि '**सुसंशासः पितरः**' अर्थात् ये प्रसंशा करने योग्य पितर हैं। ये पितर सूर्य-चन्द्र की किरणों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस विषय पर अथर्ववेद का यह मन्त्र प्रकाश डालता है—

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ —अथर्व० २।३२।३

अर्थात् हम अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त आदि की भाँति कीड़ों को मारते हैं। अब देखना यह है कि ये अत्रि आदि कौन हैं और क्रिमियों को कौन मारता है। ऋग्वेद ५।४०।८ में लिखा है कि '**अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात्**', अर्थात् अत्रि सूर्य से सम्बन्ध रखता है। दूसरे स्थान पर ऋ० ५।५१।८ में कहा है कि '**आ याह्यग्ने अत्रिवत्**', अर्थात् हे अग्ने! तुम अत्रि की भाँति आओ। सूर्य से सम्बन्ध रखनेवाले और अग्नि की भाँति आनेवाले तथा कीड़ों को मारनेवाले ये अत्रि आदि पितर=किरण नहीं हैं तो और क्या हैं? अथर्ववेद २।३२।१ में तो स्पष्ट ही लिखा हुआ है कि '**उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः**', अर्थात् सूर्य उदय होकर अपनी रश्मियों से क्रिमियों को मारता है। कितना स्पष्ट वर्णन है। इस वर्णन से अब अच्छी प्रकार समझ में आ गया कि अत्रि, कण्व और जमदग्नि आदि सब रश्मियाँ ही हैं, जो कीड़ों को मारती हैं। इसलिए ऊपर कहे हुए पितर नामी समस्त ऋषि, मनुष्य नहीं प्रत्युत किरणें ही हैं और रोग-जन्तुओं को नाश करनेवाली हैं। वर्त्तमान कालीन डाक्टर भी मानते हैं कि सूर्यरश्मियों से हर प्रकार के रोगजन्तु नष्ट हो जाते हैं[१]। वेदों में नक्षत्र और किरणवाले सैकड़ों प्रमाण हैं, जो ऋषियों के नाम से कहे गये हैं, परन्तु यहाँ हम विस्तारभय से बहुत नहीं लिखते।

ये तमाम ऋषि जिस ब्राह्मण-राजा के राज्य में रहते हैं, उसका भी वर्णन वेद में सुन्दर रीति से इस प्रकार किया गया है—

विप्रराज्य अर्थात् चन्द्रराज्य

अयं सहस्त्रं ऋषिभिः सहस्कृतः समुद्रइव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ —ऋ० ८।३।४

यहाँ हज़ारों ऋषियों को विप्रराज्य, अर्थात् चन्द्रमा के राज्य में बसनेवाले कहा है। चन्द्रमा को विप्र और द्विजराज आदि कहते ही हैं। चन्द्रोदय में ही—रात्रि में ही नक्षत्रों का प्रकाश होता

१. Light, especially the light of the sun, has a truly wonderful effect on nearly all forms of germs. Almost without exception they are killed by the rays of the sun.
—Medical Science of To-day by Dr. Willmott Evans M.D.

है। चमकनेवाले सभी ताराओं में चन्द्रमा अधिक विशाल और तेजस्वी है, अतः उसे सबका राजा कहा है और शीतल होने से विप्र कहा गया है।

बस आकाशस्थ ऋषियों का इतना ही वर्णन करना है। इसके आगे अब यह दिखलाना है कि शरीरस्थ इन्द्रियों को भी ऋषि कहा गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।

सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ॥ —यजुः० ३४।५५

अर्थात् शरीर में सात ऋषियों का वास है। उनके सोने पर भी दो जागा करते हैं।

अथर्ववेद में लिखा है कि—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।

तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ —अथर्व० १०।८।९

अर्थात् शिर में सात ऋषियों का निवास है। इन ऋषियों से अभिप्राय आँख, कान और नाक आदि से ही है।

यजुर्वेद के '**अयम्पुरोभुवः**'[२] आदि मन्त्रों में (जिनके द्वारा पार्थिवपूजन के समय प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है) कहा गया है कि वसिष्ठ प्राण है, प्रजापति मन है, जमदग्नि चक्षु हैं, विश्वामित्र श्रोत्र हैं, और विश्वकर्मा वाणी है, अर्थात् वेद में आये हुए ऋषियों के वर्णन या तो आकाश-सम्बन्धी अर्थ रखते हैं या शरीर-सम्बन्धी। खींचतान करके लोग उनको मनुष्य बनाने का जो उद्योग करते हैं वह निरा पोच, निस्सत्त्व और लचर है।

अब हम मनुष्य-सम्बन्धी वर्णनों को यहीं पर समाप्त करते हैं। जिन राजाओं और ऋषियों का वर्णन हमने ऊपर किया है उन्हीं से, अथवा उसी प्रकार के अन्य नामों के आ जाने से, लोग इतिहास का भ्रम करने लगते हैं, किन्तु जिस प्रकार हमने इतने नामों का निराकरण किया है और देखा है कि इनमें कुछ भी ऐतिहासिक तथ्य नहीं है, इसी प्रकार यदि विचारपूर्वक परिश्रम करके ढूँढा जाए तो सभी नामों का कुछ-न-कुछ दूसरा ही अर्थ निकलेगा और इतिहास की गन्ध तक न रहेगी। इन राजाओं और ऋषियों के अतिरिक्त भी बहुत-से शब्द वेदों में आते हैं, जिनका अर्थ सृष्टि की अनेक शक्तियाँ हैं, परन्तु ठीक-ठीक अर्थ न समझने के कारण पौराणिक समय में आलसी लोगों ने उन सबको मनुष्यकल्पित करके सबकी कथाएँ बना ली हैं। इसी प्रकार त्रित और भुज्यु आदि की भी कथाएँ बना ली हैं, परन्तु पाश्चात्य और एतद्देशीय विद्वानों ने अब मान लिया है कि ये पदार्थ सृष्टि के चमत्कारी पदार्थ हैं—मनुष्य नहीं। लोकमान्य तिलक महोदय ने 'आर्यों का उत्तरध्रुव निवास' नामी अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर इस विषय को विस्तार से लिखा है। उसी का सारांश हम भी यहाँ लिखते हैं—

'अश्विनों के पराक्रम का वर्णन इस प्रकार है—वृद्ध च्यवन को उन्होंने फिर जवान कर दिया। पतित विष्णायू को स्वाधीन किया। समुद्र में पड़े हुए भुज्यु को सौ पतवारवाली नौका द्वारा बाहर निकाला। दश दिन और नव रात्रि तक पानी में पड़े हुए रेभ को अच्छा करके बाहर निकाला। खाई में पड़े हुए त्रित को अन्धकार से बाहर निकाला। एक वर्तिका को वृक की दाढ से छुड़ाया। ऋज्राश्व को नेत्र दिये। विश्पला की टूटी टाँग के स्थान पर लोहे की टाँग लगा दी। वध्रिमती को हिरण्यहस्त नामक पुत्र दिया। शंय्यू की वृद्ध गाय को फिर दूध देनेवाली कर दिया

और यदु को एक घोड़ा दिया, इत्यादि।'

लोकमान्य तिलक महोदय आगे कहते हैं कि 'इन घटनाओं को मैक्समूलर आदि पाश्चात्य पण्डितों ने शरद् में बलहीन हुए सूर्य को वसन्त में पुनः बलवान् हो जाने के रूपक में लगाया है, परन्तु इनका वास्तविक तात्पर्य तो ध्रुवप्रदेश की घटनाओं से ही है।'

जो हो, परन्तु मनुष्य की घटना तो नहीं है ? मनुष्य की घटना जिन लोगों ने कही है उन्होंने तो ग़ज़ब किया है। उन्हें नहीं सूझा कि 'अश्विन' से सम्बन्ध रखनेवाले इन व्यक्तियों को हम मनुष्य कैसे बता रहे हैं। अश्विन निस्सन्देह आकाशीय पदार्थ है तब वे इन मनुष्यों की सेवा—परिचर्या करने के लिए कैसे आ सकते हैं ? इन्हीं सब बातों को देखकर मैक्समूलर ने कहा है कि 'वेदों में जो संज्ञाएँ (नाम) मिलती हैं, वे ठीक-ठीक नाम हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिए'[१]।

मनुष्य-वर्णनों के पश्चात् इतिहास निकालनेवाले गङ्गा-यमुना नदियों के नामों को इतिहास-सिद्धि का प्रबल प्रमाण समझते हैं और इसी पर बड़ा बल देते हैं, अतः हम चाहते हैं कि आगे नदियों के नामों का विवेचन करके देखें कि वेदों में नदियों के नामों से क्या भाव निकलता है और नदियों से क्या तात्पर्य है।

नदियों के नाम

जिन शब्दों से यहाँ लोक की नदियाँ पुकारी जाती हैं, वेदों में उन्हीं शब्दों के कई अर्थ होते हैं। उन शब्दों का जो धात्वर्थ है वह 'चलनेवाला—बहनेवाला—वेगवाला' आदि होता है। नदियाँ भी इसी प्रकार का गुण रखती है। वे भी चलनेवाली, बहनेवाली और वेगवाली होती हैं, इसीलिए लोक में वे शब्द केवल नदियों के लिए ही रूढ हो गये हैं, किन्तु वेद में उन शब्दों से किरण, नदी, वाणी आदि अनेक भावों का वर्णन किया गया है, परन्तु जिन लोगों को वेद में परिश्रम करना स्वीकार नहीं है, वे दूसरे भावों को निकालने का कष्ट न करके नदी अर्थ करके ही छुट्टी पा जाते हैं।

वेद में गङ्गा, यमुना और सरस्वती आदि नामों के आ जानेमात्र से संयुक्तप्रान्त में बहनेवाली उक्त नदियों का वर्णन बताना बहुत ही सरल प्रतीत होता है, परन्तु जिन मन्त्रों में नदियों का वर्णन बतलाया जाता है, उन्हीं मन्त्रों में नदीवाची शब्दों के अतिरिक्त जो अनेक चमत्कारिक शब्द आते हैं (जिनमें आकाश अथवा मनुष्य-शरीर से सम्बन्ध रखनेवाली बातें हैं) उन शब्दों का क्या अर्थ लगाया जाता है, समझ में नहीं आता। हमने लोगों के नदी-सम्बन्धी ऐतिहासिक वर्णन देखे हैं। वे वर्णन नहीं, किन्तु आलस्य और लापरवाही का चित्र है। लेखकों ने यह भी ध्यान नहीं रक्खा कि इनको पढ़कर लोग क्या कहेंगे।

आगे हम मन्त्रों के वे अंश उद्धृत करके दिखलाना चाहते हैं, जिनमें नदीवाची और चमत्कारपूर्ण शब्दों का दिग्दर्शन होता है। हम उचित समझते हैं कि इस विषय में अपने उस सिद्धान्त की फिर याद करा दें जिसमें हमने बतलाया है कि पौराणिक काल में चमत्कारिक वर्णनों के साथ एतिहासिक वर्णनों का सम्मिश्रण हुआ है, अतएव उसको लक्ष्य में रखकर ही समस्त वर्णन पढ़ना चाहिए।

---

१. Names........are to be found in the Vedas, as it were, in still fluid state. They never appear as appellations not yet as proper names. They are organic not yet broken or smoothed down.
—Maxmuller's History of Ancient Sanskrit Literature.

गङ्गा और यमुना के लिए प्रसिद्ध है कि गङ्गा विष्णु के चरण से निकली है और यमुना सूर्य की कन्या है। **'इदं विष्णुर्विचक्रमे'**[1] आदि मन्त्रों से सिद्ध हो चुका है कि वेद का विष्णु, सूर्य के सिवा और कुछ नहीं हैं। जब गङ्गा और यमुना का सम्बन्ध सूर्य से है तो वे संयुक्तप्रान्त में बहनेवाली नदियाँ नहीं हो सकतीं। अमरकोश में लिखा है कि—

गङ्गा विष्णुपदी जह्नुतनया सुरनिम्नगा। भागीरथी त्रिपथगा त्रिस्त्रोता भीष्मसूरपि॥[2]

अर्थात् गङ्गा का नाम विष्णुपदी है, निम्नगा, अर्थात् नीचे जानेवाली है और तीन रास्तों तथा तीन स्त्रोतोंवाली है।

विष्णु सूर्य है। सूर्य के पैर से गङ्गा निकली है और नीचे जानेवाली है। यमुना के लिए भी लिखा है कि **'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा'**[3], अर्थात् यमुना और सूर्यतनया एक ही वस्तु है। सूर्य से उत्पन्न होनेवाली ये दोनों क्या सूर्य की किरण ही नहीं है ?

असिक्नी नदी के लिए ऋग्वेद ४।१७।१५ में लिखा है कि **'असिक्न्या यजमानो न होता'**, अर्थात् असिक्नी का सम्बन्ध यज्ञ से है। दूसरे स्थान पर ऋ० ४।२१।४ में लिखा है कि **'यो वायुना यजति[4] गोमतीषु'**, अर्थात् जो वायु द्वारा गोमती में होम करता है। तीसरे स्थान पर ऋग्वेद १०।१७।९ में कहा है कि **'सरस्वतीं यां पितरो हवन्ते'**, अर्थात् उस सरस्वती को जिसमें पितर हवन करते हैं। यहाँ ये तीनों नदियाँ यज्ञ और हवन से सम्बन्ध रखनेवाली हैं, इसलिए स्पष्ट ही वे किरण की बोधक हैं।

वेद में सूर्य की दश रश्मियों का वर्णन है। ऋग्वेद ८।७२।८ में **'आ दशभिः....खेदयः'** और ९।९७।२३ में **'रश्मिभिर्दशभिः'** आया है। दूसरे स्थान पर ऋग्वेद १०।२७।१६ में कहा है कि **'दशानामेकं कपिलम्'**, अर्थात् इन दश में एक का नाम कपिल है। शेष नव के लिए जो नाम आये हैं वे वही गङ्गा-यमुना आदि हैं, यथा—

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये शृणु ह्यासुषोमया॥ —ऋ० १०।७५।५

अर्थात् गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी, असिक्नी, मरुद्वृधा, वितस्ता और आर्जिकीया आदि सोम से सम्बन्ध रखती हैं। ये गङ्गा आदि नाम उक्त नव किरणों के हैं। दशमीं किरण कपिल कहलाती है। अन्य स्थान में इनके नव नाम ही गिनाये गये हैं[5]।

इन दशों के लिए ऋ० ५।४७।४ में कहा है कि **'दश गर्भं चरसे धापयन्ते'**, अर्थात् उक्त दशों पृथिवी में गर्भ धारण करती हैं। सूर्य की दश किरणें पृथिवी पर आकर गर्भ—भर्ग=प्रकाश देती हैं। इन्हीं दश किरणों को सूर्य के १० पुत्र भी कहा गया है जो पृथिवी में पैदा होते हैं। वह प्रसिद्ध मन्त्र यह है।

---

१. यजुर्वेद ५।१५
२. अमर० वारि० १।३१
३. अमर० वारि० १।३२
४. ऋग्वेद में 'यजति' नहीं 'जयति' पाठ है।
५. **इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।**
एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥ —यजुः० ८।४३

इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु। दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि॥

—ऋ० १०।८५।४५

यहाँ इन्द्र शब्द सूर्य का द्योतक है। वह पृथिवी में अपनी उक्त दशों किरणों से गर्भ धारण करता है। वही किरणें लौटकर उसके दश पुत्र हो जाते हैं।

ऊपर गङ्गा, यमुना आदि नदियों को जो सूर्य से उत्पन्न लिखा है, उसका भी यही तात्पर्य है कि वे सूर्य की किरणें हैं। दशों दिशाओं में फैली हुई इन दश किरणों में से सात प्रधान हैं। वेदों में उन सात किरणों का भी नदियों के नाम से ही वर्णन आता है। ऋग्वेद ४।१३।३ में लिखा है कि '**तं सूर्यं हरितः सप्त यह्वीः स्पशं विश्वस्य जगतो वहन्ति**'। यहाँ सूर्य, हरित (किरणें), सप्त और वहति क्रिया—ये चार पद सात किरणों के बहने का स्पष्ट वर्णन कर रहे हैं। दूसरे स्थान पर ऋ० १।१८१।६ में '**वेषन्तीरूर्ध्वा नद्यो न आगुः**' कहकर नदियों का ऊपर से सम्बन्ध दिखलाया है। तीसरे स्थान पर ऋ० ५।५२।१७ में कहा है कि '**सप्त मे सप्त शाकिन एकमेका शता ददुः। यमुनायामधि श्रुतम्**'। यहाँ सात के साथ यमुना को कहा है, परन्तु ऐतिहासिक लोग जहाँ सप्तसिन्धु में सात नदियाँ बतलाते हैं वहाँ यमुना नहीं है। यमुना तो संयुक्तप्रान्त से ही निकली है। ऊपर हम यमुना को सूर्यपुत्री लिख आये हैं, इसलिए यमुना से सम्बन्ध रखनेवाली ये सातों नदियाँ सूर्य की पुत्री ही हैं, अर्थात् सातों सूर्य की रश्मियाँ ही हैं। ऋग्वेद ८।६९।१२ में आये हुए '**सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥**' मन्त्र का अर्थ लोकमान्य तिलक महोदय ने यह किया है कि 'आकाश में बहनेवाली और अन्त में वरुण के मुख में पड़नेवाली सात नदियाँ है'। इससे भी वे अकाशीय किरण ही सिद्ध होती है। अन्य स्थान पर कहा है कि—

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठिति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥ —ऋ० १।१२५।५

अर्थात् सूर्य के पृष्ठ भाग में जहाँ देवताओं के साथ जीव जाता है, वहाँ सिन्धु—नदियाँ उत्तम जल बहाती हैं।

यह भी किरणों का ही वर्णन है।

यह प्रसिद्ध है कि ऋग्वेद के ९वें मण्डल का ११३वाँ सूक्त मोक्षस्थान का वर्णन करता है और मोक्षधाम सूर्य के पृष्ठभाग को बतलाता है। वहाँ भी बड़ी-बड़ी सात नदियों का वर्णन है। ये नदियाँ सिवा किरणों के और क्या हो सकती हैं? वह मन्त्र यह है—

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्र अमूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधि॥

—ऋ० ९।११३।८

अर्थात् जहाँ वैवस्वत राजा है, जहाँ सूर्य-अवरोधन है और जहाँ बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, वहाँ मुझे अमर कर।

यह समग्र सूक्त मोक्षस्थान के विषय का है और नदियों की भाँति किरणों का वर्णन करता है। इन सातों किरणों के नाम ये हैं—

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसया श्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रुमुं मेहत्न्वा सरथं याभिरीयसे॥ —ऋ० १०।७५।६

इस मन्त्र में तृष्टामा, सुसर्तु, रसा, श्वेती, कुभा, गोमती और मेहत्नु के साथ मिली हुई क्रुमु है। इन सात नदीरूपी किरणों के लिए वेद में (**त्रिवृतं सप्ततन्तुम्**—ऋ० १०।५२।४ आदि में) 'त्रिवृत' शब्द बहुत बार आता है। त्रिवृत का अर्थ है तिहरा। तिलड़िया सूत की भाँति ये किरणें भी तिहरी हैं। इसमें एक बहुत बड़े विज्ञान की बात कही गई है। ऊपर से जो सात किरणें आती हैं वे तिहरी होती हैं, अर्थात् उनमें तीन वस्तुएँ होती हैं। वे तीन वस्तुएँ अप, जल और अग्नि हैं। अप, आकाश तत्त्व है, जिसे ईथर कहते हैं। उसी के सहारे सूर्य की किरणें आती हैं, जो अग्नि हैं। वे आग्नेय किरणें पृथिवी अथवा बादलों से जल लेती हैं, इसलिए जलीय भी हैं। इस प्रकार वे त्रिवृत रहती हैं। यहाँ नमूने के लिए ऋ० ९।६६।६ का मन्त्र देखिए '**तवेमे सप्तसिन्धवः प्रसिषं सोम सिस्रते। तुभ्यं धावन्ति धेनवः**', अर्थात् सोम से भीगे हुए सप्तसिन्धुओं में धेनु दौड़ती हैं। दूसरे स्थान पर ऋ० १।५०।९ में कहा है कि '**अयुक्त सप्तशुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः॥ ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः**'। यहाँ 'युक्तिभिः' से सूचित किया जाता है कि तीनों पदार्थ युक्ति से एक दूसरे में लिपटे हुए हैं। अन्त में स्पष्ट कह दिया है कि '**अस्मन्नदीभिरुर्वशी वा गृणातु**' (ऋ० ५।४१।१९)। इस मन्त्र में नदी के साथ उर्वशी का सम्बन्ध दिखता है। पुरूरवा प्रकरण में हमने दिखला दिया है कि '**उर्वशी च पूर्वचित्तिश्चाप्सरसौ**'[१] के अनुसार उर्वशी अप्सरा सूर्य की किरण ही हैं। किरणें सात और दश हैं जो ऊपर बतलाई गई हैं। यहाँ सप्तसिन्धु से जो लोग सिन्ध हैदराबाद और पंजाब का इतिहास ढूँढते हैं वे कितनी ग़लती करते हैं, यह ऊपर के वर्णन से प्रकट हो जाता है। तिलक महोदय ने विस्पष्ट कह दिया है कि सप्तसिन्धु से पंजाब सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पंजाब में तो सात नदियाँ हैं ही नहीं।

यजुर्वेद में एक मन्त्र है जिसमें पाँच नदियों का वर्णन है और देश शब्द भी आया है। इसमें भी कुछ लोग पंजाब का वर्णन बतलाते हैं, परन्तु मन्त्र में कुछ और ही वर्णन है। वह मन्त्र यह है—

पञ्च नद्यः सरस्वतीमपि यन्ति सस्रोतसः। सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेऽभवत्सरित्॥

—यजुः० ३४।११

अर्थात् पाँच नदियाँ अपने-अपने स्रोतों से सरस्वती को जाती हैं और वह सरस्वती पाँच प्रकार की होकर उस देश में बहती हैं। पंजाब की पाँचों नदियाँ न तो सरस्वती को जाती हैं, न पाँच धारा होकर सरस्वती ही बहती है और न सरस्वती पंजाब में बहती ही है। वह तो कुरुक्षेत्र ही में है। पंजाब की तो पाँच नदियाँ ही दूसरी हैं। सरस्वती शब्द के विषय में निरुक्तकार कहते हैं कि—

वाङ्नामान्युत्तराणि सप्तपञ्चाशत्। वाक्कसम्माद्वचेः।
तत्र सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति॥ —नि० नै० २।२२

अर्थात् वाणी वाचक नामों में से सरस्वती शब्द, वेद में नदी और देवता के लिए आता है। उपर्युक्त मन्त्र में चित्त की पाँच-पाँच वृत्तियाँ ली गई हैं और वे पाँचों स्मृति में ठहरकर वाणी द्वारा फिर पाँचों प्रकार के विचार प्रकट करनेवाली होती हैं। इन इन्द्रियरूपी पाँचों नदियों के नाम ये हैं—

---

१. यजुः० १५।१९

मा वो रसानितभा कुभा क्रुमुर्मावः सिन्धुर्निरीरमत्।
मा वः परि ष्ठात् सरयूः पुरीषिण्यस्मे इत् सुम्नमस्तु वः ॥ —ऋ० ५।५३।९

अर्थात् हे मरुत! हमको और आपको रसा, कुभा, क्रुमु, सिन्धु और फैले हुए जलवाली सरयू सुखदायी हो।

इस विवरण का तात्पर्य यह है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का विषय वाणी होकर बहता है और वाणी द्वारा आया हुआ ज्ञान पाँचों इन्द्रियों का विषय होता है। दूसरे स्थान पर **'सहस्त्रधारे वितते पवित्र आवाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः'** —ऋ० ९।७३।७, मन्त्र में भी हज़ारों धाराओं से बहनेवाले ज्ञान और वाणी को विद्वानों ने पवित्र करनेवाला कहा है, जो नदी रूप से वाणी का ही वर्णन है, इसलिए यह सरस्वती नाम वाणी का ही है जैसाकि यजुः० २०।४३ में कहा है कि **'सरस्वतीडा देवी भारती विश्वतूर्त्तिः'**, अर्थात् सरस्वती, इडा और भारती वाणी के ही नाम हैं। यहाँ उक्त पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को भी नदी कहा गया है और वाणी को भी नदी ही बताया है। इस पाँच नदीवाली वाणी को ऋ० २।४०।३ में **'पंचरश्मिम्'** अर्थात् पाँच रश्मिवाली कहा है। इसी प्रकार ऋ० १।३।१२ में **'महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना। धियो विश्वा वि राजति'॥** आया है, जिसमें बुद्धि को भी सरस्वती कहा है। बुद्धि भी गाम्भीर्य और प्रवाह में नदी की ही भाँति है। इस प्रकार वेद में किरणों को, नदी को, इन्द्रियों को, वाणी को और बुद्धि को नदीवाले शब्दों से वर्णित किया गया है तथा गङ्गा आदि नाम उन्हीं पदार्थों के लिए कहे गये हैं, किन्तु लोक में आर्यों ने अपने व्यवहार के लिए वेद के शब्दों से अपनी व्यवहार्य नदियों के भी नाम रख लिये हैं जो अब तक चल रहे हैं। पारसियों ने ईरान में जाकर सरस्वती शब्द से हरह्वती और सरयू से हरयू नाम रक्खा है। भारतवर्ष में तो सैकड़ों नदियों के गङ्गा और सरस्वती नाम हैं, इसलिए वेद में आई हुई नदियाँ भारत की नदियाँ नहीं है और न वेद में गङ्गा आदि नाम इन गङ्गा-यमुना आदि नदियों के लिए आये हैं। ये नाम किरणों और इन्द्रियों के हैं। शरीर में भी गङ्गा आदि नदियाँ हैं।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥ —यजुः० ३४।१५

अर्थात् सात ऋषि इस शरीर की रक्षा करते हैं और 'सप्तापः' अर्थात् सात नदियाँ सोती हैं। शरीर में बहनेवाली ये नदियाँ इन्द्रियों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

यह थोड़ा-सा नदियों के विषय का दिग्दर्शन हुआ। पाठकों को चाहिए कि वे वेदों के वे मन्त्र अवश्य देखें जिनमें ऐतिहासिक नदियों का वर्णन बतलाया जाता है। वहाँ उन्हें तुरन्त ही दूसरे अलौकिक वर्णनवाले शब्द मिल जाएँगे और सिद्ध हो जाएगा कि यह इस लोक की नदियों का वर्णन नहीं है।

वेद में नदी के नाम से नदी, किरणें, वाणी और इन्द्रियों का वर्णन आता है, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि किसी भी मन्त्र में नदियों का वर्णन संख्या के साथ नहीं किया गया। इसका कारण है और वह अत्यन्त सत्य नींव पर स्थित है—

कल्पना करो कि आपने कहा कि यहाँ अमुक-अमुक चार नदियाँ हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि अमुक-अमुक चार नदियाँ किसी सीमा के अन्दर हैं, क्योंकि संसार में चार ही नदियाँ नहीं हैं। उदाहरणार्थ पञ्जाब में पाँच नदियाँ हैं, क्योंकि पाँच नदियों से ही वह पञ्जाब कहलाता

है। ये नदियाँ पाँच तभी कहला सकती हैं जब पञ्जाब की सीमा स्थिर हो। जब तक सीमा स्थिर न हो तब तक यही कहा जाएगा कि पाँच ही क्यों हैं ? कलकत्ते तक की सभी नदियाँ क्यों नहीं, परन्तु हम देखते हैं कि वेदों में देशों की सीमा का कहीं पर वर्णन नहीं है, इसलिए वेद में आया हुआ संख्यावाचक वर्णन नदियों के लिए नहीं कहा जा सकता।

यहाँ तक हमने वेद में आये हुए राजा, ऋषियों और नदियों से सम्बन्ध रखनेवाले शब्दों को यद्यपि विस्तार से नहीं, तथापि पूरे विवेचन के साथ नमूना दिखलाने के लिए लिखा और उन मन्त्रों में आये हुए अन्य शब्दों के साथ मिलाकर देखा तो यही ज्ञात हुआ कि ये पदार्थ लोक से सम्बन्ध रखनेवाले ऐतिहासिक पदार्थों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते।

हम मन्त्रों का भाष्य नहीं करते। हमें भाष्य करना पसन्द भी नहीं है। हम तो यहाँ मन्त्र या मन्त्रांश लिखकर उन शब्दों को जिनसे इतिहास निकाला जाता है, उसी मन्त्र को अन्य शब्दों से मिलाकर केवल यह दिखलाते हैं कि दूसरे शब्द इन ऐतिहासिक शब्दों का साथ नहीं देते। बस, इसके सिवा हम और कुछ नहीं करते।

ऐतिहासिक लोग राजाओं, ऋषियों और नदियों के शब्दों पर विशेष बल देते हैं, परन्तु हम चाहते हैं कि आगे इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाले नगर और देशों के नामों का भी कुछ वर्णन करके नमूना दिखला दें कि वेद में आये हुए नगर और देशसम्बन्धी शब्द भी कुछ दूसरा ही तात्पर्य रखते हैं।

नगर और देश

वेदों में नगरसम्बन्धी शब्द नहीं है। वेदों में इतिहास बतलाया जाता है। इतिहास मनुष्यों का होता है और मनुष्य किसी ग्राम या नगर में बसते हैं, परन्तु यहाँ की दशा भिन्न है। वेदों में जिन राजा और ऋषियों का इतिहास बतलाया जाता है उनके निवासस्थानों, ग्रामों और नगरों का वर्णन वेदों में नहीं है। इससे यह बात सम्यक् सिद्ध हो जाती है कि वेदों में इतिहास नहीं है। इतिहास निकालनेवालों ने इस प्रश्न को जान-बूझकर छोड़ दिया है।

अभी राजाओं का वर्णन करते हुए हमने अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका के साथ काम्पील नगर को देखा कि उसका सम्बन्ध उक्त बालिकाओं से नहीं है। काम्पील उस स्थान का नाम है जिसमें उक्त ओषधियाँ पाई जाती हों, क्योंकि उक्त अम्बादिकों को काम्पीलवासिनी कहा गया है। यदि उक्त कथाएँ ऐतिहासिक होतीं तो उनका निवास काशी या हस्तिनापुर होता। काम्पील से तो उनका कोई सम्बन्ध ही नहीं है, अतः काम्पील शब्द उस कम्पिल नगर के लिए नहीं आया जो कन्नौज के पास है, किन्तु उस स्थान का वाचक है जहाँ ये ओषधियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार अथर्ववेद में अयोध्या नगरी का नाम आता है, परन्तु उसका तात्पर्य उस अयोध्या से नहीं, जिसको राजा इक्ष्वाकु ने बसाया था। देखो! वेद की अयोध्या का कैसा उत्तम वर्णन है—

अष्टाचक्रा नव द्वारा देवानां पूरयोध्या। तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥

—अथर्व० १०। २। ३१-३२

अर्थात् आठ परिखा और नव द्वारवाली देवनगरी अयोध्या है। इसमें हिरण्यकोश है जो स्वर्गज्योति से आवृत है। यहाँ तिहरा प्रबन्ध है और यक्ष आत्मा की भाँति बैठा है, जिसको

ब्रह्मविद् लोग जानते हैं।

कहिए कैसी अयोध्या है, कैसा उत्तम वर्णन है और कैसी यह शरीररूपी नगरी है[१]। वैदिक काल में महाराजा मनु के वंशजों ने सरयू तट पर अयोध्या नगरी बसाई थी और वेद के शब्द से ही उसका नाम रक्खा था, क्योंकि उनका दावा है कि **'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे',**[२] अर्थात् वेदशब्दों से ही सब पदार्थों के नाम रक्खे गये हैं। यह नाम वेदों से लिया गया था। इसमें भी नव दरवाज़े हैं[३]। जिस प्रकार आत्मा की रक्षा इस शरीर से होती है और वह सुखपूर्वक इसमें रहकर अपने कल्याण का साधन करता है, उसी प्रकार इस अयोध्या नगरी में महाराजा मनु और इक्ष्वाकु की प्रजा सुख से रहती और अपने कल्याण की साधना करती थी।

वेद में शरीर का नाम अयोध्या है। इसी शरीर पर से इसका नाम अयोध्या रक्खा गया है। वेद के अर्थों का तारतम्य लगाने के लिए यह कितना अच्छा प्रमाण है। बस, नगर-सम्बन्धी ये दो ही उदाहरण हैं, जिनको देकर आगे देश का वर्णन करते हैं।

आश्चर्य की बात है कि जिस देश में आर्यलोग रहते थे, उस देश का नाम भी वेद में नहीं है। ऋषियों ने हज़ारों मन्त्र उषा और अश्विनौ के बना डाले, परन्तु एक भी मन्त्र अपने देश के नाम का न रचा। इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि जब उन्होंने अपने नगर और गाँव तक का नाम न लिखा तब उनको देश का नाम रखने की कब परवाह होगी। अथवा यह कहा जा सकता है कि वेदकालीन आर्यों में देश का भाव ही पैदा नहीं हुआ था, किन्तु हम देखते हैं कि वेद में व्रज, अर्व, गान्धार, रूम, रूश, अंग, वाह्लीक और मगध आदि नाम पाये जाते हैं जो इस देश में और पृथिवी के अन्य खण्डों में स्थित हैं। इतना सब होने पर भी वेद में आर्यावर्त्त या भारतवर्ष का कुछ भी नाम नहीं है। इसी प्रकार वेद में पञ्जाब और युक्तप्रान्त का भी नाम नहीं है, जहाँ वैदिक आर्य फूले और फले थे। ऋषियों ने भारत और आर्यावर्त्त नाम तो रक्खा, परन्तु वेद ने इन नामों की चर्चा तक नहीं की। वेद में इनका वर्णन होना भी नहीं चाहिए था, क्योंकि जब वेद में इतिहास है ही नहीं तब देश का नाम कैसे हो सकता है ? इसलिए व्रज, अर्व और गान्धार आदि शब्दों से सूचित होता है कि इन शब्दों का अर्थ वर्त्तमानकालीन व्रज, अरब और गान्धार नहीं है।

हम ऊपर कहीं कह आये हैं कि व्रज नाम उस स्थान का है जहाँ गौवें चरती हों और रहती हों। हमारे देश का व्रज चौरासी कोस का है। इस चौरासी कोस में कृष्ण भगवान् के समय में गौवें चरा करती थीं। वेद में कई जगह व्रज की चर्चा आती है। यथा **'व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणः'**[४] अर्थात् राजा बहुत-से व्रज स्थापित करे, किन्तु वेद के इस व्रज से मथुरा के पासवाला व्रज न समझ लेना चाहिए, प्रत्युत यह समझना चाहिए कि यह मथुरा के पासवाला व्रज नाम भी वेद शब्द से ही रक्खा गया है। वेद में गौ-गोष्ठों का ही नाम व्रज है, इसलिए गौ-गोष्ठ होन से वह भी व्रज कहलाता है। ऋग्वेद में सूर्य और द्यौ को भी व्रज कहा गया है, क्योंकि वहाँ भी

---

१. **नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्नकारयन्।** —गीता ५।१३
नवद्वारे को पींजरा तामें पंछी पौन। रहने में अचरज घना गये अचंभा कौन।

२. मनु० १।२१

३. जयपुर नगर भी इसी सिद्धान्त के अनुसार नव द्वारों से युक्त है। इस नगर को प्रसिद्ध ज्योतिषियों की सलाह से सवाई जयसिंह ने विधिपूर्वक बसाया था।

४. ऋ० १०.१०१.८

किरणरूपी गौवें रहती हैं।

जिस प्रकार गौवों के बड़े-बड़े गोष्ठों को व्रज कहते हैं, उसी प्रकार जहाँ बहुत ही अच्छे घोड़े होते हैं उस देश के अर्व (अरब) कहते हैं। वेद में अर्वन् और अर्व शब्द अनेक बार घोड़े के लिए आते हैं। अब वर्त्तमान अरब देश की ओर दृष्टि कीजिए और देखिए कि वहाँ कैसे अच्छे घोड़े पैदा होते हैं। अच्छे घोड़े पैदा होने के कारण ही उस देश का नाम अरब या अर्व रक्खा गया था। द्युलोक को भी अर्व कहा गया है, क्योंकि वहाँ किरणरूपी अश्व रहते हैं।

जिस प्रकार अच्छी गौवों के बड़े चरागाह को व्रज और उत्तम घोड़ों के पैदा करनेवाले भूभाग को अर्व (अरब) कहते हैं, उसी प्रकार जहाँ उत्तम भेड़ें (Sheep) पैदा होती हों उस देश को गान्धार कहते हैं।

वैद्यक में गन्धारी कहते हैं जवासे को। जवासा उन दिनों में हरा-भरा होता है जब जेठ मास की लू चलती है और घास जलकर ख़ाक हो जाती है। यह जवासा जहाँ होता है वहाँ उसकी छाया में घास भी होती है और धूप के दिनों में भी मेष-मेषियों के चरने के योग्य कुछ-न-कुछ बनी रहती है। जिस स्थान में अधिक जवासा होगा वहीं पर भेड़ों की अधिक चराई होगी, अत: वही देश गान्धार कहलाएगा। वर्त्तमान काबुल के पासवाले देश का नाम भी इसीलिए गान्धार पड़ा है कि वहाँ की भेड़ें प्रसिद्ध हैं और बहुत हैं। ऋग्वेद में एक मन्त्र है—

उपोप मे परामृश मा मे दभ्राणि मन्यथा:। सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका॥

—ऋ० १।१२६।७

अर्थात् समीप आओ, मुझे छुओ, मुझे कम न समझना, अब मैं गान्धार की भेड़ों की तरह सब शरीर में रोमवाली हो गई हूँ, अत: मुझे अब योग्य समझो।

यहाँ गान्धारी भूमि, अर्थात् जवासा-भूमि में चरनेवाली भेड़ के-से बालों का वर्णन किया गया है। इससे स्पष्ट हो गया कि अच्छी भेड़ोंवाले देश को गान्धारी या गान्धार कहते हैं और वर्त्तमान गान्धार इसी कारण से प्रसिद्ध है।

ऋग्वेद ८।४।२ में **'यद्वा रुमे रुशमे',** अर्थात् रूम और रूश के नाम भी आये हैं। जिस प्रकार अमुक-अमुक उत्कृष्ट कारणों से अमुक-अमुक भूमिखण्ड को व्रज और अर्व आदि कह सकते हैं, उसी प्रकार अमुक उत्कृष्ट गुणों के कारण कुछ देशों के नाम रूम और रूश भी हो सकते हैं। वर्त्तमान प्रसिद्ध रोम और रूस देशों के भी नाम वैसे ही उत्कृष्ट कारणों से रक्खे गये होंगे, परन्तु अब उनका अर्थ ज्ञात नहीं है। सम्भव है रूम से पशमीना और रूश से भी कोई ऐसी ही वस्तु प्राप्त होती हो।

अथर्ववेद काण्ड १५।२ में मागध शब्द भी इस प्रकार आता है—

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानम्॥५॥ ऊषा: पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानम्॥१३॥
इरा पुंश्चली हसो मागधो विज्ञानम्॥१९॥ विद्युत् पुंश्चली स्तयित्नुर्मागधो विज्ञानम्॥२५॥

यहाँ पुंश्चली और मागध विज्ञान बतलाकर उषा और विद्युत् के साथ सम्बन्ध जोड़ा गया है। आकाशीय पदार्थों के व्यभिचार से ही इसका सम्बन्ध प्रतीत होता है।

मनुस्मृति में हम वर्णसङ्कर प्रकरण में देखते हैं कि अमुक-अमुक वर्ण के संकर-संयोग से मागध पैदा होते हैं। पुराने ज़माने में जहाँ दुराचारिणी स्त्रियाँ रहती होंगी उसी स्थान का नाम

मागध रखते होंगे। मगध देश जिसको 'मग' कहते हैं और जो काशी के उस पार है, उसमें मरने से नरक प्राप्त होना लिखा है। यह इसीलिए कि मध्यम काल में वह मगध था और वहाँ दुश्चरित्रा स्त्रियाँ रहा करती होंगी। इसी तरह ऋ० ३।५३।१४ में लिखा है कि **'किं ते कृण्वन्ति कीकटेषु गावः'**, अर्थात् कीकट में गौवें क्या करेंगी ? वेद में मना किया गया है कि कीकट में गौवों को नहीं रहना चाहिए। इससे ज्ञात होता है कि जहाँ गौवों को दुःख हो, जहाँ उनको दुःख देनेवाले प्राणी हों, वहाँ गौवें न रहें। गया प्रान्त में किसी समय ऐसे प्राणी थे जो गौवों को सताते थे, इसीलिए इस स्थान को कीकट कहा गया है। कीकट देश मगध और अङ्ग के पास ही है। अङ्ग देश ज्वरप्रधान होने से और मगध व्यभिचारप्रधान होने से ज्ञात होता है कि वहाँ अनार्यों का प्राधान्य था। वे गोवध करते होंगे, इसीलिए आर्यलोग उस जगह को कीकट कहने लगे और मानने लगे कि मगध, कीकट, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग आदि देशों में वास करने से मनुष्य पतित हो जाता है। कहीं का श्लोक है कि—

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु सौराष्ट्रमगधेषु च। तीर्थयात्रा विना गत्वा पुनः संस्कारमर्हति॥

अर्थात् बिना तीर्थयात्रा के यदि कोई अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सौराष्ट्र और मगध देश को जाएगा तो फिर से संस्कार करने योग्य समझा जाएगा।

तीर्थों के लिए लिखा है कि—

कीकटेषु गया पुण्या पुण्या नदी पुनपुना। च्यवनस्याश्रमं पुण्यं पुण्यं राजगृहं वनम्॥

अर्थात् कीट में गया, पुनपुन नदी, च्यवनाश्रम और राजगृह पवित्र हैं, शेष पापस्थान हैं। वेद में अङ्ग, मगध, कीकट आदि नाम उन स्थानों के लिए आये हैं जहाँ बीमारी हो, लोग दुराचारी और गोहत्यारे हों। उपर्युक्त स्थानों में यही सब लक्षण देखकर सर्वश्रेष्ठ आर्यों ने उनके नाम रक्खे थे और वहाँ जाने से भय करते थे।

वेद में वाह्लीक शब्द भी आता है। भावप्रकाश में लिखा है कि **'सहस्रवेधि जतुकं वाह्लीकं हिंगु रामठम्'**[१] अर्थात् वाह्लीक हींग को कहते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हींग, केसर आदि पदार्थ जहाँ होते हो, उसे वाह्लीक कहते हैं। आज भी बलख़—वाह्लीक से हींग और केसर आती है। पुराने ज़माने में उक्त पदार्थों के वहाँ उत्पन्न होने से ही वे नाम पड़े होंगे।

यहाँ तक हमने वेद में आये हुए राजाओं, ऋषियों, नदियों, नगरों और देशों के नामों को विस्तार से देखा और सबको अलौकिक वर्णनों से ही युक्त पाया। कोई ऐसा नाम न मिला, जिसके आसपास के शब्द चमत्कृत वर्णनवाले न हों। कहीं इन्द्र विद्यमान है, कहीं अश्विनौ बैठे हैं, कहीं सूर्य है, कहीं किरणें हैं और कहीं विद्युत् उपस्थित है, इसी प्रकार कहीं वनस्पति है अथवा शरीर की कोई इन्द्रिय है। ऐसी दशा में उन शब्दों को ऐतिहासिक व्यक्तियों के साथ जोड़ना हमें तो ठीक नहीं जँचता। हम उन विद्वानों की हिम्मत की प्रशंसा करते हैं जो हवा में पुल बाँधते हैं।

जिस प्रकार इन थोड़े-से शब्दों का नमूना दिखलाया गया, उसी प्रकार सभी ऐतिहासिक शब्दों पर प्रकाश डाला जा सकता है, किन्तु हम वेदभाष्य करने नहीं बैठे। हमें तो केवल थोड़ा-सा नमूना दिखलाकर पाठकों से यह निवेदन करना है कि वे थोड़ी देर के लिए अपने मस्तिष्क में जमें हुए विचार को निकाल दें कि वेदों में ऐतिहासिक सामग्री है और प्रत्येक ऐतिहासिक नाम

---

१. भाव० हरीत्यक० १००

के आसपासवाले शब्दों पर साधारण दृष्टि डालें तथा उन ऐतिहासिक शब्दों को मन्त्रों के अन्य शब्दों के साथ मिलाएँ तो तुरन्त ज्ञात हो जाएगा कि वेदो में न तो ऐतिहासिक मनुष्यों का वर्णन है और न उनसे सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थों की चर्चा है।

ऋ० ३।१६।२ में **'इमं नरो मरुतः'** और ३।७।७ में **'अध्वर्युभिः पञ्चभिः सप्त विप्राः'** कहा गया है। यहाँ मरुत को नर—मनुष्य और पाँच अध्वर्यु, अर्थात् पाँच ज्ञान इन्द्रियों को सात विप्र कहा गया है। आँख, कान, नाक, मुख और चर्म ये पाँच अध्वर्यु हैं और इनमें दो आँख, दो कान, दो नाक और एक मुख, ये सात छिद्र विप्र हैं। जब मनुष्यसम्बन्धी शब्दों से भी अन्य ही पदार्थों का ग्रहण किया गया है तब भला आकाशीय पदार्थों से इतिहास के लिए कहाँ ठिकाना है?

वेदों में वेदों का वर्णन

चारों वेदों में ऋक्, यजुः, साम और अथर्ववेद का वर्णन आता है, तो क्या इन वेदों के पहले और कोई चार वेद थे? जिस ऋग्वेद का वर्णन आता है, क्या वह वर्णित ऋक् कोई अन्य था। यदि कल्पना करें कि हाँ, कोई अन्य ऋग्वेद था तो इस प्रचलित ऋग्वेद का नाम कुछ और होना चाहिए था, परन्तु वैसा नहीं है। यही ऋग्वेद अपने से पूर्व ऋग्वेद का वर्णन करता है। वह पूर्व ऋग्वेद और कुछ नहीं है, वह यही वर्त्तमान ऋग्वेद ही है। इस तरह से भूत और वर्त्तमान दोनों काल में एक ही वेद अव्याहत गति से चले आ रहे हैं। जिस प्रकार वर्त्तमान ऋग्वेद में ऋग्वेद ही का वर्णन आ जाने से यह वर्त्तमान ऋग्वेद उस वर्णित ऋग्वेद से नवीन सिद्ध नहीं होता, इसी प्रकार अब तक कहे हुए समस्त ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम आ जाने से वेद उनके पश्चात् के बने हुए सिद्ध नहीं होते।

वेदों की यह विचित्र शैली है, जो बड़े मार्मिक ढंग से भूत, भविष्य और वर्त्तमान का वर्णन एक ही रीति से करती है। इसका कारण वेदों की नित्यता है। नित्यपदार्थ, नित्य और अनित्य पदार्थों को एक समान ही अनुभव करता है, तद्वत् नित्यसिद्ध वेद भी नित्य और अनित्य पदार्थों का वर्णन एक ही समान करते हैं।

वेदों में अन्य ऐतिहासिक वर्णन

वेदों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि उनमें इन्द्र और वृत्र के युद्ध, विवाह के नियम, यज्ञ के विधान, वर्णाश्रम, सदाचार आदि की शिक्षा का वर्णन है। ये सब मनुष्य-समाज के व्यवहार हैं। इन व्यवहारों से ज्ञात होता है कि वेद तब लिखे गये जब इस प्रकार के व्यवहार आर्यों में प्रचलित होकर बद्धमूल हो चुके थे। ऐसी दशा में सम्भव नहीं है कि वेदों में ऐतिहासिक वर्णन न हो। व्यक्ति-विशेष का वर्णन भले न हो, पर सामूहिक रीति से समाज के व्यवहारों का वर्णन तो है। इस शङ्का के समाधान में निवेदन है कि हम कब इन्कार करते हैं कि वेदों में सामाजिक व्यवहारों का वर्णन नहीं है। सामाजिक व्यवहारों के वर्णन के लिए ही तो वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है। सामाजिक व्यवहारों का वर्णन यदि उनमें न हो—यदि वेदों में समाज को क्या करना चाहिए और क्या न करना चाहिए न बतलाया गया हो तो फिर संसार में उनका उपयोग ही क्या है? किन्तु इस व्यावहारिक वर्णन से यह नहीं निकल सकता कि वेद व्यवहार के बाद बने, अर्थात् जब विवाह हो चुके थे तब विवाह का ज्ञान हुआ और जब युद्ध हो चुके थे तब युद्ध की शिक्षा आरम्भ हुई। प्रश्न तो यह है कि जब शादी का प्रचार ही नहीं था तब पहली शादी हुई कैसे—जब

युद्ध–जैसी वस्तु का ज्ञान ही नहीं था तब युद्ध हुआ कैसे ?

कोई भी सामाजिक व्यवहार ऐसा नहीं कहा जा सकता कि जब से यह व्यवहार हुआ तभी से इसका अस्तित्व है, इसके पहले से नहीं। इस विषय को तनिक विस्तार से समझना चाहिए।

कल्पना करो कि संसार में सबसे प्रथम आज एक विवाह हुआ, किन्तु प्रश्न यह है कि उसी समय विवाह शब्द कहाँ से आ गया, जो इस पहलेपहल आज ही आरम्भ होनेवाले विवाह के लिए प्रकट किया गया। वास्तविक बात तो यह है कि विवाह तब से है जब से विवाह शब्द का अस्तित्व है—युद्ध तब से है जब से युद्ध शब्द का अस्तित्व है, इत्यादि।

इसके पूर्व हम वेद में आये हुए ऐसे अनेक शब्दों का विवेचन कर आये हैं, जिन शब्दों का व्यवहार लोक में राजाओं, ऋषियों और नदियों आदि के नामों के लिए होता है, परन्तु सोचना चाहिए कि उस राजा, ऋषि, नदी, ग्राम तथा देश के पूर्व वे–वे शब्द विद्यमान थे या नहीं ? राजा पुरूरवा और राजा इक्ष्वाकु के नाम रखते समय ये विद्यमान थे। गङ्गा और यमुना के नाम रखते समय ये शब्द विद्यमान थे। विश्वामित्र, जमदग्नि के नाम रखते समय ये शब्द विद्यमान थे। काम्पील, अयोध्या आदि नाम रखते समय ये नाम विद्यमान थे और व्रज, अर्व तथा गान्धार आदि नाम रखने के समय भी ये नाम विद्यमान थे। यदि विद्यमान न होते तो ये नाम न रक्खे जाते, इसलिए हमें अब यह स्वीकार करना चाहिए कि जिस समय नाम रक्खे गये उस समय के पूर्व ये शब्द उन राजाओं, ऋषिओं, नदियों, ग्रामों और देशों को सूचित करनेवाले न थे। न उस समय पुरूरवा शब्द से चन्द्रवंशी पुरूरवा का बोध होता था और न गङ्गा शब्द से इस हरद्वारवाली गङ्गा का ही बोध होता था। उस समय इन शब्दों का कुछ दूसरा ही अर्थ था। इन शब्दों का उस समय जो अर्थ था वही इनका वास्तविक अर्थ है। उसी को धात्वर्थ कहते हैं। पीछे से जहाँ–जहाँ उस–उस अर्थ के–से लक्षण दिखलाई पड़े उन–उन नवीन पदार्थों के भी वही नाम रख दिये गये।

अब भी तो यही होता है। जब हम अपने लड़के या अपने अन्य किसी पदार्थ का नाम रखना चाहते हैं तब हमारे पास पहले से ही हज़ारों नाम विद्यमान होते हैं और उन्हीं में से चुनकर हम कोई नाम रख देते हैं।

इस प्रकार किसी शब्द को देखकर यह नहीं समझ लेना चाहिए कि यह शब्द अमुक व्यवहार के बाद बना, प्रत्युत यह समझना चाहिए कि प्रत्येक शब्द व्यवहार से पहले का है। वह शब्द तब का है जब उस व्यवहार का संसार में पहलेपहल जन्म हुआ था, अर्थात् नाम तब का है जब का पदार्थ है, क्योंकि संज्ञा और पदार्थ की उत्पत्ति एक ही साथ होती है।

जिस समय मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ था उस समय मनुष्य को छोड़कर शेष समस्त संसार वर्त्तमान था। पशु, पक्षी, तृण, पल्लव, नदी, पहाड़, जल, वायु, सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, मेघ और आकाश तथा लाखों तारे विद्यमान थे। इनके व्यवहार भी विद्यमान थे। वृष्टि का समुद्र और समुद्र की वृष्टि का व्यवहार उस समय भी था। उस समय में भी पृथिवी सूर्य की प्रदक्षिणा करती थी। रात को सूर्य छिप जाता था और दिन को निकल आता था। सरदी में धूप कोमल और गरमी में धूप तीक्ष्ण होती थी। सूर्य और चन्द्र की किरणें उस समय भी पानी खींचती थीं और वनस्पति को आप्यायित करती थीं। कहने का तात्पर्य यह कि लेना, देना, घूमना, बरसना, सूखना और तेज़, नरम आदि सभी कर्म और गुण विद्यमान थे, अर्थात् द्रव्य के साथ गुण और कर्मों का नित्य सम्बन्ध होने से जहाँ–जहाँ उस प्रकार का लक्षण दृष्टिगोचर आ जाता था, वहाँ–वहाँ उन लक्षणों

से वह–वह संज्ञा आप–ही–आप उत्पन्न हो जाती थी।

सृष्टि के यही लाखों पदार्थ अपने–अपने गुणों और क्रियाओं से अपनी संज्ञा, अर्थात् अपना नाम आप–ही–आप चुनकर पुकारने लगते हैं और आज हम इन्हीं सब पदार्थों के व्यवहारों से उत्पन्न हुए लाखों शब्द बोलते हैं।

यह मनुष्य बड़ा गम्भीर है। इस वाक्य में 'बड़ा' और 'गम्भीर' ये दोनों शब्द कहाँ से आये? 'गम्भीर' नदी, कुवाँ और समुद्र की गहराई से आया और 'बड़ा' पृथिवी अथवा पहाड़ या कम–से–कम ताड़ के वृक्ष से आया। अच्छा! 'प्रफुल्लित' शब्द कहाँ से आया? क्या यह शब्द निस्सन्देह फूलों पर से ही नहीं लिया गया? यदि हाँ, तो 'मन प्रफुल्लित' वाक्य, क्या सर्वथा मनुष्य–समाज के बाहर का नहीं है? अवश्य है।

उसका स्वभाव बड़ा 'उग्र' है। वह लड़का बड़ा 'तेजस्वी' है। क्या यह 'उग्र' धूप से और 'तेज' सूर्य से नहीं लिया गया? उसकी बात मन में चुभ गई। यह 'चुभना' क्या काँटों पर से नहीं लिया गया? मेरे होश 'उड़ गये'। यह 'उड़ना' तो चिड़ियों पर से ही लिया गया है। कर्म का क्या फल है। यह 'फल' तो निश्चय ही वृक्ष से लिया गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधे से अधिक शब्द हम अब भी बाहरी दुनिया के ही वर्त्तते हैं, जिनका मनुष्य–समाज से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार हमें सोचना चाहिए कि हमारी भाषा के अन्दर हज़ारों शब्द हमारे पास बाहरी संसार से ही आये हैं। 'उज्ज्वल' शब्द निस्सन्देह धूप, दूध अथवा चाँदनी से आया है। रक्त को तो अब तक लाल रंग का ही वाचक बोलते हैं। जब यह हाल है तब कैसे कह सकते हैं कि वेद में जो व्यावहारिक शब्द आते हैं वे हमारे सामाजिक व्यवहार के बाद के हैं?

हम पहले लिख आये हैं कि वेद का आकाश भी एक पृथक् संसार है। वहाँ भी राजा, प्रजा, आर्य, दस्यु, ब्राह्मण, क्षत्रिय, ग्राम, नगर, गली, लेना, देना, युद्ध, विग्रह, गाय, घोड़ा, बैल, भैंस, बकरी, कुत्ता, नाव, शकट, मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि सभी कुछ हैं। वहाँ स्त्री–पुरुष भी हैं। उनका परिणय भी है। इस प्रकार हम जो कुछ सामाजिक व्यवहार यहाँ देखते हैं, वह सबका सब (अपने निराले ढंग का) ऊपर भी विद्यमान है।

इसी प्रकार का एक दूसरा संसार हमारा शरीर है। यहाँ भी उपर्युक्त सब वस्तुएँ हैं और वेदों में कही गई हैं।

तीसरा संसार पृथिवीस्थ पदार्थों का है। इन तीन प्रकार के संसारों का वर्णन वेदों में है। पहला संसार सबसे बड़ा, दूसरा सबसे छोटा और तीसरा मध्य में मध्यम श्रेणी का है। पहले के अनुसार दूसरे को बनाना और तीसरे की सहायता लेना यही वैदिक विज्ञान है।

पहले संसार ने सरदी और गरमी पैदा की। दूसरे संसार को कष्ट हुआ, अतः तीसरे संसार से रजाई और छाता लेकर दूसरे को पहले के अनुकूल बना दिया गया। इसी का नाम कर्म है। वेदों मे इसी को यज्ञ कहा है। इसी यज्ञ के अन्य भाग ओषधिसेवन, वस्त्रधारण आदि भी है।

उक्त समग्र वर्णन का निष्कर्ष यह है कि वेदों में बहुत बड़ा भाग पहले संसार का है। उसमें आये हुए शब्द मनुष्य–समाज के व्यवहार के पहले के हैं। दूसरे संसार के शब्द भी मनुष्य से पहले के हैं और तीसरे संसार के शब्द तो उक्त दोनों से लेकर ज्यों–के–त्यों रख दिये गये हैं। उदाहरणार्थ किरणें और इन्द्रियाँ गौ हैं। ये ताप और ज्ञान देती हैं, चलनेवाली भी हैं। उनका मिलान गौ से मिलता है, अतः गौ भी उन्हीं शब्दों से कही जाती है। अश्व, तेज़ चालवाली किरण

है, अत: तेज़ चाल चलनेवाला घोड़ा भी अश्व कहलाता है। सूर्य संसार का शासन करता है, अत: वह वेदों में सम्राट् कहा गया है। यहाँ भी पृथिवीभर का राजा सम्राट् कहलाता है। तात्पर्य यह कि वेदशब्दों से ही सब संज्ञा निकली हैं। वे समाज के बाद नहीं बनी, अपितु समाज के साथ ही उत्पन्न हुई हैं, अतएव इन शब्दों से इतिहास निकालना भूल है। वेदों में इतिहास नहीं है।

अति प्राचीन भाष्यकार भी वेदों में इतिहास मानते हैं

इस समय वेदों को छोड़कर शेष समस्त संस्कृत साहित्य में ब्राह्मणग्रन्थ और निरुक्त ही प्राचीन हैं। इन दोनों के देखने से विदित होता है कि अति प्राचीन काल में भी वेदों में इतिहास के मानने और न माननेवाले थे। गोपथब्राह्मण २।६।१२ में, अथर्व २०।१२७।७ के **'राज्ञो विश्वजनीनस्य'** मन्त्र पर लिखा है कि **'अथो खल्वाहु:, गाथा एवैता: कारव्या राज्ञ: परिक्षित इति',** अर्थात् कोई कहते हैं कि ये कारु शब्दवाली ऋचाएँ गाथाएँ हैं, क्योंकि इनमें परिक्षित राजा का वर्णन है। इसी प्रकार निरुक्त में भी अनेक स्थानों पर लिखा है कि 'इत्यैतिहासिका:', अर्थात् यह इतिहासकारों का मत है। इससे ज्ञात होता है कि अति प्राचीन काल में भी वेदों में इतिहास के माननेवाले थे, किन्तु ऐतिहासिक मत का खण्डन करके सत्य अर्थ के प्रकाशित करनेवालों की भी कमी न थी। जैसाकि गोपथ की इसी कण्डिका के समग्र पाठ से विदित होता है[१]।

प्रोफ़ेसर मैकडानल ने लिखा है कि 'ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रद्रष्टा ऋषियों से बहुत दिन बाद के हैं। ब्राह्मणों के निर्माणकाल में तो ऋषि-प्रदर्शित बहुत-सा अर्थ विस्मरण हो चुका था और ऋषियों के इतिहास का ज्ञान भी लुप्त हो रहा था'। लोकमान्य तिलक भी कहते हैं कि 'तैत्तिरीयसंहिता और ब्राह्मणों के निर्माणकाल में संहिताएँ पुरातन हो चुकी थीं और उनका अर्थ समझना भी कठिन हो गया था'। ठीक यही हाल हम निरुक्तकाल में भी देखते हैं। निरुक्तकाल के विषय में मिश्रबन्धु लिखते हैं कि 'यास्क ने अपने पूर्व के १७ वैदिक टीकाकारों के नाम लिखे हैं। उस काल में भी वैदिक टाकाकारों में इतना गड़बड़ था कि कि 'कौत्स' ने जो इन १७ टीकाकारों में से एक थे, लिखा है कि वैदिक अर्थसम्बन्धी विज्ञान वृथा है, क्योंकि वैदिक सूक्त एवं ऋचाएँ अर्थहीन, गूढ़ और एक दूसरे से प्रतिकूल हैं। यास्क ने इसका उत्तर यही दिया है कि 'यदि अन्धा सूर्य को न देख सके तो भुवनभास्कर का कोई दोष नहीं है।' —भारत० इति० पृष्ठ १७२।

ब्राह्मणकाल और निरुक्तकाल दोनों में सभी लोग वेदों के ज्ञाता नहीं थे। उस समय कोई-कोई ही वेदों के सत्यार्थ तक पहुँचते थे। सूत्रकाल में तो बहुत ही बुरी दशा थी। 'दधिक्राव्णो'

---

१. अथ पारिक्षिती: संशति, 'राज्ञो विश्वजनीनस्येति' (अथर्व० २०।१२७।७-९) सवंत्सरो वै परिक्षित्, संवत्सरो हीदं सर्वे परिक्षियतीति। अथो खल्वाहुरग्निर्वै परिक्षित्, अग्निर्हीदं सर्वं परिक्षियतीति। अथो खल्वाहु:, गाथा एवैता: कारव्या राज्ञ: परिक्षित् इति। स नस्तद्यथा कुर्यात्, यथा कुर्यात्, गाथा एवैतास्य शस्ता भवन्ति। यद्यु वै गाथा अग्नेरेव गाथा: संवत्सरस्य वेति ब्रूयात् यद्यु वै मन्त्रोऽग्नेरेव मन्त्र: संवत्सरस्य वेति ब्रूयात्, ता: प्रग्राहमित्येव। —गोपथ० २।६।१२

अर्थात् पारिक्षिती: शब्दवाली ऋचाओं के विषय में कोई कहते हैं कि संवत्सर ही परीक्षित है, क्योंकि संवत्सर ही इस सबमें सब ओर से वास करता है। फिर कोई कहते हैं कि अग्नि ही परीक्षित है, क्योंकि अग्नि ही इस सबमें सब ओर से वास करता है। फिर कोई कहता है कि यह कारु शब्दवाली ऋचाएँ मनुष्य की गाथा है, परन्तु ऐसा नहीं है। वे मनुष्य की गाथा नहीं है। यदि वे गाथाएँ हैं तो अग्नि वा संवत्सर की ही गाथाएँ है और जो मन्त्र हैं वे अग्नि वा संवत्सर के ही मन्त्र हैं।

यहाँ स्पष्ट कर दिया है कि यह गाथा मनुष्य की नहीं, अग्नि या संवत्सर की है।

का अर्थ घोड़ा होता है, परन्तु जिस प्रकार 'शन्नोदेवी०' मन्त्र को शनिश्चर के लिए लगा दिया गया है, उसी प्रकार सूत्रों में 'दधिक्राव्णो०' मन्त्र को दही खाने में लगा दिया गया है।

वेद कहीं चले नहीं गये। वे आज भी सबके सामने हैं। आज भी तो लोग वेदों से इतिहास निकालते हैं और आज भी उनको उसी प्रकार उत्तर दिया जाता है जिस प्रकार पूर्व में दिया जाता था। जितना पुरातन है उतना सभी सनातन नहीं है। वैदिक काल में भी अवैदिक थे, उस समय भी मूर्ख थे और उस समय भी दुष्टों की कमी न थी, अतएव उनके किये हुए अर्थ, जिनको मूलवेद ही अर्थहीन और गूढ़ प्रतीत होते थे, विश्वास योग्य नहीं हो सकते। उनके विषय में यास्काचार्य ने सत्य ही कहा है कि यदि उल्लू को दिन में न सूझे तो इसमें सूर्य का क्या अपराध है? इसी वर्ष लाहौर में ओरिएण्टलिस्टों की सभा के प्रधान ने कहा था कि वेदों के अनेक गूढ़ शब्दों का अर्थ करना नितान्त कठिन है, अतएव अर्थ करने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिए। वेदों की गूढ़ता स्वीकार कर लेने पर स्वयं यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि जब पठन-पाठन बन्द हो जाता है तब पाठ्य विषय गूढ़ हो जाता है। ऐसे समय का अभिप्राय कुछ मूल्य नहीं रखता। इसका उतना ही मूल्य है, जितना उस पुरुष की बात का हो सकता है जो कहता है कि रेखागणित के साध्य बहुत गूढ़ हैं, इसलिए इन लकीरों का अर्थ हारमोनियम की डबल रीड है।

हमने यहाँ तक वेदों में इतिहास प्रकरण की छानबीन की और अनेक प्रकार से देखा कि वेदों में इतिहास की कोई सामग्री नहीं है, अतः इतिहास के आधार पर निकाला हुआ वेदों का समय अशुद्ध है, भ्रान्त है और सर्वथा अविश्वसनीय है।

ज्योतिष् द्वारा स्थिर किया हुआ वेदों का समय

अब तक दो आक्षेपों का उत्तर देते हुए दिखलाया गया है कि मिस्र की सभ्यता वेदों से पुरानी नहीं है और न वेदों में कोई ऐतिहासिक वर्णन ही है। उक्त दोनों आक्षेपों का, जिनसे वेदों की आयु निश्चित की जाती है, समाधान हो गया। अब तीसरे आक्षेप का, जिसके द्वारा वेदों का समय निकालने का प्रयत्न किया जाता है, समाधान करना है। इस तीसरे आरोप में ज्योतिष् के द्वारा वेदों का समय निकाला गया है। इस विषय में कुछ यूरोपनिवासियों ने भी प्रयत्न किया है, परन्तु लोकमान्य तिलक महाराज ने जैसा परिश्रम किया है, वैसा किसी ने नहीं किया। आपने वेदों में आये हुए कुछ प्रकरणों से सिद्ध करना चाहा है कि वेद उस समय बने जब वसन्त-सम्पात मृगशिरा में था। यहाँ हम संक्षेप से उनकी विवेकमाला लिखकर उसमें आये हुए वैदिक प्रमाणों पर विचार करेंगे। तिलक महोदय के कहने का सारांश इस प्रकार है—

वर्ष चार प्रकार के हैं—चान्द्रवर्ष, सौरवर्ष, नाक्षत्रवर्ष और सायन या सम्पातवर्ष। बारह अमावस्याओं या पूर्णिमाओं का चान्द्रवर्ष होता है। सूर्य उदय से दूसरे दिन सूर्य उदय तक को एक सौर दिन कहते हैं और ऐसे ३६० दिनों का सौरवर्ष होता है, किसी एक नक्षत्र से सूर्य चलकर जब फिर उसी नक्षत्र पर आता है तो इस काल को नाक्षत्रवर्ष कहते हैं और वसन्त ऋतु से वसन्त ऋतु तक के वर्ष को सम्पातवर्ष या सायनवर्ष कहते हैं। यह सायनवर्ष नाक्षत्रवर्ष से २०.४ मिनट छोटा है, अतएव सायनवर्ष प्रत्येक दो सहस्र वर्ष में एक मास पीछे खिसक जाता है। पृथिवी के एक स्थान से चलकर उसी स्थान में आने का जो समय है वही सच्चा वर्ष है। उसी का नाम सायन वर्ष है। सायन वर्ष को आरम्भ करनेवाले, साल में चार पड़ाव हैं—रात का बिलकुल बढ़ जाना—दिन का बिलकुल बढ़ जाना और दो बार रात-दिन का बराबर होना। इन

चारों में से किस स्थान से वर्ष आरम्भ करना चाहिए? इस प्रश्न का पूर्वजों ने इस प्रकार समाधान किया था कि जहाँ से प्रकृति देवी प्रफुल्लित हो उठे और जहाँ से वृक्षावली में नूतनता आरम्भ हो वहीं से वर्षारम्भ भी किया जाए। यह सब घटना वसन्त से आरम्भ होती है, इसीलिए कहा गया है कि '**मुखं वा एतत् ऋतूनां यद्वसन्तः**',[१] अर्थात् वसन्त ही सब ऋतुओं का मुख है। जब सूर्य वसन्तसम्पात में आये तभी से वर्ष आरम्भ हो। इसके आगे सारी पुस्तक में उन्होंने तीन प्रकार के वसन्तसम्पात दिखलाने की चेष्टा की है। अन्त में आप कहते हैं कि—

'यहाँ तक हमने तीन प्रकार के पञ्चाङ्गों का विचार किया। इसमें सबसे प्रथम पञ्चाङ्ग के समय को हम अदितिकाल अथवा मृगशीर्ष-पूर्वकाल कहेंगे। इसकी मर्यादा अनुमान से ईस्वी सन् पूर्व ६००० वर्ष से ४००० वर्ष तक जाती है। इस समय तक वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। दूसरे मृगशीर्षकाल की मर्यादा स्थूल परिमाण से ईस्वी सन् पूर्व ४००० वर्ष से २५०० वर्षपर्यन्त है। यह काल वसन्तसम्पात के आर्द्रा नक्षत्र से कृत्तिका नक्षत्र में आने तक का है और बड़े महत्त्व का है, क्योंकि इसी काल में ऋग्वेद के बहुत-से सूक्त निर्मित हुए थे और कितनी ही कथाएँ भी रची जा चुकी थीं। इसी से ऋग्वेद में कृत्तिकाकाल के विषय का कुछ भी प्रमाण नहीं मिलता। यह काल विशेषतः सूक्तरचनाकाल था। तृतीय कृत्तिकाकाल है। इसकी मर्यादा ईस्वी सन् पूर्व २५०० से १४०० वर्ष तक है, अर्थात् जबसे वसन्तसम्पात कृत्तिका में आया तब से लेकर वेदाङ्ग ज्योतिष्-पर्यन्त इसकी मर्यादा है। तैत्तिरीयसंहिता और कितने ही ब्राह्मणों की रचना का यही काल है। इस समय ऋग्वेदसंहिता पुरानी हो चुकी थी, अतः उसका अर्थ समझने में भी सुविधा नहीं थी[२]।'

यह तिलक महोदयकृत ओरायन्, अर्थात् मृगशीर्ष नामी ग्रन्थ का सारांश है। इस विवेचन से आप यह कहना चाहते हैं कि नाक्षत्रवर्ष से सायनवर्ष २०.४ मिनट छोटा है। ये मिनट बढ़कर दो हज़ार वर्ष में एक मास के बराबर हो जाते हैं। परिणाम यह होता है कि दो हज़ार वर्ष में वसन्तसम्पात नाक्षत्रवर्ष से एक महीना पीछे हो जाता है[३]।

इसी कारण से कृत्तिकाकाल, मृगशीर्षकाल और पुनर्वसुकाल से सम्बन्ध रखनेवाले तीन पञ्चाङ्गों का वर्णन किया गया है। जब वसन्तसम्पात कृत्तिका में होता था तब दूसरा महीना था, परन्तु जब वसन्तसम्पात मृगशिरा में आया तो दूसरा महीना हो गया। कल्पना करो कि अमुक

---

१. तै० १।१।२।६-७

२. The oldest period in the Aryan civilisation may, therefore, be called the Aditi or the pre-Orion period and we may roughly assign 6,000–4,000 B.C. as its limits. It was a period when the finished hymns do not seem to have been known and half-prose and half-poetical Nivids which are sacrifical.....were probably in use.

We next come to the Orion period which, roughly speaking, extended from 4,000 B.C. to 2,500.......This is most important period in the history of the Aryan civilisation. A good many Suktas in the Rigveda (e.g. that Vrishakapi, which contain a record of the beginning of the year where the legend was first conceived) were sung at the time.

The third of the Krittika period commences with the vernal equinox in the asterism of the Krittika's and extend up to the period recorded in the Vedang Jyotish, that is, from 2,500 B.C. to 1,400 B.C. It was the period of the Taittariya Sanhita and several of the Brahmans.

—*Orion*, pp. 206-207.

३. The difference between the sidereal and the tropical year is 20.4 minutes which causes the season to fall back nearly one lunar month in about every two thousand years, if the sideral solar year be taken as the standard of measurement. —*Orion*, p.19.

समय वसन्तसम्पात यदि माघ में था तो दो हज़ार वर्ष के बाद वह पौष में आएगा और फिर दो हज़ार वर्ष के बाद मार्गशीर्ष में। इसका कारण ऊपर बतला आये हैं कि नाक्षत्रवर्ष से सायनवर्ष कुछ मिनट छोटा है। दो हज़ार वर्ष में ये मिनट बढ़कर एक महीने के बराबर हो जाते हैं और विषुववृत्त के चलने तथा क्रान्तिवृत्त के स्थिर होने के कारण वसन्तसम्पात उस महिने से खिसक कर उसके पहले महीने में आ जाता है।

तिलक महोदय उक्त कारणों को ध्यान में रखकर वेद और ब्राह्मणों से ऐसे प्रमाण एकत्र करते हैं जिनसे जाना जाए कि पूर्वकाल में हमारा वसन्तसम्पात तीन महीनों में रह चुका है। इनमें से पहला कृत्तिकाकाल है, जिसके लिए आप कहते हैं कि इस समय का वर्णन वेदों में नहीं है। इसलिए इस विषय पर हमें भी कुछ नहीं कहना है।

दूसरा मृगशीर्षकाल है जिसके प्रमाणित करने के लिए ब्राह्मणों से कुछ वाक्य उद्धृत किये हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के होने से इन प्रमाणों के विषय में भी हमें कुछ नहीं कहना है। हाँ, परोक्षरीति से मृगशीर्षकाल को सूचित करानेवाले कुछ प्रमाण ऋग्वेद से दिये गये हैं जिनपर विचार करना हमारे लिए आवश्यक है। यद्यपि कई स्थानों पर आपने स्पष्ट रीति से कह दिया है कि 'ऋग्वेद में वसन्तसम्पात को मृगशीर्ष में बतानेवाले स्पष्ट प्रमाण नहीं हैं'[१], तथापि परोक्षरीति से दिये हुए सन्देह उत्पन्न करनेवाले प्रमाणों को भी जाँच लेना चाहिए। हमने बड़े ध्यान और परिश्रम से उन प्रमाणों को छाँट लिया है जो वेदों से दिये गये हैं।

लोकमान्य तिलक महोदय कहते हैं कि आकाश में जहाँ आकाशगङ्गा है, वहीं पर श्वान नामक दो तारे हैं। तीसरा नौका, चौथा मृगशीर्ष और पाँचवाँ नमुचि नामी तारा भी है। आप कहते है कि वह दृश्य आकाश में बहुत जल्दी दिखता है। किसी समय वर्षारम्भ पर यह समस्त तारासमूह सूर्य के उदय काल में रहता है और उस समय मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होता था। हम कहते हैं कि भले ही यह दृश्य सूर्योदय के समय वर्षारम्भ में रहा हो और भले ही उसको मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात कहा गया हो, किन्तु हमें तो यह देखना है कि ऐसी अवस्था का वर्णन वेदों में कहाँ है ? इस अवसर पर आकाशगङ्गा, नौकापुञ्ज, मृगशिर, नमुचि और श्वान तारे बतलाये गये हैं। अब देखना चाहिए कि इन पाँचों में से कौन-सा स्थान प्रायः मनुष्यों की दृष्टि में आता है। हमारी समझ में तो इनमें सबसे प्रसिद्ध वस्तु आकाशगङ्गा है, जिसको यहाँ के लोग इन्द्र के हाथी का रास्ता कहते हैं और अंग्रेज़ लोग मिल्की वे (Milky way) कहते हैं। यह विचित्र वस्तु सूक्ष्म बादल-सी प्रतीत होती है, अतः इसपर दृष्टि जाना स्वाभाविक है, किन्तु श्वान, नौका आदि नक्षत्र तो इतने दबे हुए हैं कि बड़े-बड़े ज्योतिषियों के बतलाने पर भी दृष्टि में नहीं आते। ऐसी अवस्था में उन अप्रसिद्ध तारों का वर्णन न होना चाहिए और आकाशगङ्गा का

---

१. There appears to be no express passage in the Vedic works, which state that Mrigashiras, like the Krittika, was ever the month of the Nakashatras. —*Orion*, p. 73.

But I have not been able to find out a passage where Agrayana is used in the Vedic works to expressly denote the constellation of Mrigashiras. —*Ibid.*, p. 136.

So far as I am aware there is no express authority for such a hypothesis except the statement in the Bhagwat Gita where Krishna tells Arjuna that he, Krishna, is "Margashirsha of the months and vasant of seasons." —*Ibid.*, p. 79.

The tradition of piercing the head (Mrigashirsha) does not, however, occur in this from in the Rigveda. —*Ibid.*, p. 99.

वर्णन अवश्य होना चाहिए, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। आप कहते हैं कि 'आकाशगङ्गा का उस समय का कोई नाम देखने में नहीं आता। पारसी, ग्रीक और भारतीय इन तीनों आर्यों की भाषाओं में आकाशगङ्गा का कोई नाम नहीं है[१]।' ऐसी स्पष्ट प्रत्यक्ष वस्तु का ही जब नाम नहीं है तो क्या अन्य अप्रसिद्ध तारों के साथ वसन्तसम्पात का वर्णन आता है ? नहीं, वह भी नहीं आता।

नौकातारा का वर्णन है, परन्तु ऐसा किसी स्थान पर नहीं कहा गया कि नौकातारे पर वसन्तऋतु का आरम्भ होता है या उस स्थान से सूर्योदय होता है।

अब रहे नमुचि, मृगशीर्ष और श्वान। नमुचि कोई तारा नहीं है, प्रत्युत नमुचि नाम बादल का है तथा इन्द्र नाम सूर्य और विद्युत् का है। यह सभी जानते हैं कि सूर्य या विद्युत् बादलों को छिन्न-भिन्न करके पानी बरसाता है। अमरकोश के जिस श्लोक में इन्द्र को नमुचिसूदन कहा गया है, वह श्लोक यह है—

सुत्रामा गोत्रभिद्वज्री वासवो वृत्रहा वृषा। जम्भभेदी हरिहयः स्वराण्नमुचिसूदनः ॥[२]

इससे सिद्ध है कि नमुचि वे बादल हैं जो प्रहार के बिना नहीं बरसते। यह सब जानते हैं कि शम्बर बादलों को कहते हैं। पञ्चतन्त्र में आया है कि **'शम्बरस्य च या माया सा माया नमुचेरपि'**[३] यहाँ भी नमुचि माया करनेवाले बादल ही सिद्ध होते हैं।

मृगशीर्ष शब्द के साथ ऋग्वेद में कहीं सूर्य का नाम नहीं आता, प्रत्युत मृगशब्द बादलों के लिए ही आता है। आगे हम 'वृषाकपि' सूक्त की समालोचना में दिखलाएँगे कि मृग बादल अर्थ में किस प्रकार आता है।

अब केवल 'श्वान' शब्द रह जाता है। हमने ज्योतिषियों से अच्छी प्रकार जाना है कि आकाश में श्वान नामी दो तारे हैं। इनको ग्रीक भाषा में क्वान और प्रक्वान कहा गया है[४]। अँगरेज़ी में ये दोनों कनिस मायनर और कनिस मेजर के नाम से प्रसिद्ध हैं। इन्हीं दोनों को ऋग्वेद १०।१४।११ में **'यौ ते श्वानौ यमरक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी'** कहा गया है। ये श्वान सदैव द्विवचन में कहे गये हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वे दो हैं, परन्तु तिलक महोदय श्वान के विषय के जो चार प्रमाण देते हैं उनमें सर्वत्र एक ही वचनवाला श्वान कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि एक वचनवाले श्वान से अभिप्राय दूसरा है। यहाँ जिस स्थान को आप वसन्तसम्पात बतलाना चाहते हैं, उस स्थान के लिए एक वचन श्वान का वर्णन उचित नहीं है, क्योंकि वहाँ दो श्वान हैं, और उनके लिए वेदों में सदैव द्विवचन ही आता है, जिसे आप ने भी स्वीकार किया है[५]। आपके चारों प्रमाणों का विवेचन इस प्रकार है—

---

१. The Milky way does not appear to have received a specific name in these old days and three sections of the Aryan race the Parsis, the Greeks and the Indians have no common word to denote the same. —*Orion*, p. 102.

२. अमर० स्वर्ग० १।४५-४६

३. पञ्चतन्त्र, मित्रभेदः १९४

४. संस्कृत 'श' जेन्द में 'क' हुआ है, जैसे श्वसुर का कुसुर। यही कुसुर फारसी में खुसुर हो गया है इसी प्रकार ग्रीकभाषा में भी श्वान का क्वान हुआ है।

५. In the Parsi scriptures the dogs of the Chinvat Bridge are sometimes spoken of in singular and sometimes, as in Rigveda (10.14.11) in dual. —*Orion*, p. 112.

१. आप कहते हैं कि 'ऋग्वेद में सरमा नाम की कुत्ती का वर्णन इस प्रकार है कि एक बार इन्द्र ने सरमा को गायों के ढूँढने के लिए भेजा, किन्तु बीच में पणियों ने उसे जब दूध पिला दिया तब उसने गायों के ढूँढने से इन्कार कर दिया। इन्द्र ने उसे एक लात मारी और उसने वह दूध उगल दिया। यह सरमा वही श्वान तारा है और यह उगला हुआ दूध वही आकाशगङ्गा है'।

हम ऊपर बतला आये हैं कि आकाशगङ्गा के पास दो श्वान हैं, एक नहीं, और आकाशगङ्गा के लिए तो आप कहते हैं कि कोई प्राचीन शब्द ही नहीं है, ऐसी दशा में इस एक वचनवाली सरमा का वर्णन उस अवसर का कैसे हो सकता है? जहाँ यह बात ऋग्वेद में आई है वहाँ सरमा को इन्द्र की दूती कहा गया है, और पणियों को असुर कहा गया है। ऋग्वेद १०।१०८।४ में लिखा है कि **'हता इन्द्रेण पणयः'**, अर्थात् पणियों (बादलों) को इन्द्र (सूर्य) ने मारा। आगे मन्त्र ९ में सरमा को गायों की स्वसा कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह वर्णन वर्षाऋतु का है। वेद में अन्य स्थानों में किरणों को गौ कहा गया है। सब जानते हैं कि घृताची अप्सरा सूर्य की किरण है। वही इस नीचे के मन्त्र में देवतों की गौ कही गई है—

वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनस्पृगेषा।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व॥ —अथर्व० १३।१।२७

अर्थात् बहनेवाली और जल को खींचनेवाली यह देवताओं की घृताची—गौ रुकनेवाली नहीं है। इन्द्र सोमपान करे और स्तुति करे कि 'तू वैरियों को निकाल दे'।

कहीं हम पहले लिख आये हैं कि सूर्य की किरणें तिहरी हैं, अर्थात् वे आग्नेय, जलीय तथा आकाशीय हैं। यहाँ सरमा आग्नेय किरण हैं, गौ जलीय किरण हैं, और पणि बादल हैं। इन्द्र ने आग्नेय किरणों से जलवाली किरणों को अपने पास खींचा और बादलों ने फूटकर बरस दिया। बस, पणि मर गये और सरमा ने पानी उगल दिया। इस तरह से स्पष्ट हो गया कि यह वृष्टि का अलंकार है न कि वसन्तसम्पात और श्वान तारे का। महाशय आर०सी० दत्त ने भी मैक्समूलर की राय से मिलते हुए, किरणों को गाय और पणियों को बादलरूपी अन्धकार ही माना है[१]।

२. दूसरा प्रमाण है शुनासीरौ का, जिसे तिलक महोदय श्वान तारा सिद्ध करते हैं। आप कहते हैं कि 'ऋग्वेद में पृथिवी पर स्वर्ग से दुग्ध की वृष्टि करने के लिए शुनासीरौ की प्रार्थना की गई है।' यह वर्णन ऋग्वेद ४।५७।५ में इस प्रकार है—**'शुनासीराविमां वाचं जुषेथां यद्दिवि चक्रथुः पयः। तेनेमामुप सिञ्चतम्'**। यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि हे शुनासीरो! मेरी प्रार्थना स्वीकार करके जो पय आपने द्युलोक में बनाया है, उससे इस भूमि को सींचिए।

अब देखना चाहिए कि शुनासीरौ, पय और दिवि का क्या अर्थ है। ऊपर कहे हुए ५७ वें सूक्त में शुनाशीरौ का वर्णन है। यह सारा सूक्त खेती की शिक्षा देता है। आकाश में भी खेत, किसान और हल आदि हैं। आकाशीय खेती का तात्पर्य वर्षा उत्पन्न करना है। यहाँ शुना और सीर, दोनों जल बनानेवाले कहे गये हैं, इसलिए निरुक्तकार शुनासीरौ का अर्थ 'वायु और सूर्य' करते हैं, क्योंकि इनसे ही वर्षा उत्पन्न होती है। आकाशीय खेती का एक मन्त्र यह है—

---

१. The rays of light are compared to cattle which have been stolen by the powers of darkness and Indra (the sky) seeks for in vain. He sends Sarma i.e., the dawn, after them, and Sarma finds out the Bilu, or fortrees, where the Panis, or the powers of darkness, have concealed the cattle.

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः॥

—अथर्व० ६।३०।१

अर्थात् देवों ने सरस्वती में इस मीठे यव को बोया। शतक्रतु इन्द्र, सीर के स्वामी हुए और मरुद्गण किसान हुए।

यहाँ इन्द्र को सीरपति कहा है और मरुतों को किसान। इससे ज्ञात होता है कि सूर्य और वायु ही शुनासीर हैं। गोपथब्राह्मण में लिखा है—

त्रयोदशं वा एतं मासमाप्नोति, यच्छुनासीर्येण यजते।
एतावान् वै संवत्सरः यावानेष त्रयोदशो मासः।''''''संवत्सरो वै शुनासीरः॥

—गोपथ० २।१।२६

अर्थात् जो शुनासीर से यज्ञ करता है, वह इस तेरहवें महीने को प्राप्त होता है। इतना ही संवत्सर है, जितना यह तेरहवाँ महीना है। संवत्सर ही शुनासीर है।

यहाँ तेरह मास के संवत्सर को 'शुनासीर' कहा है। संवत्सर वर्षाऋतु में ही पूरा होता है, इसी से उसको वर्ष कहते हैं। वर्षा करनेवाले इन्द्र और वायु ही है, इसलिए वे शुनासीर कहलाते हैं।

खेती के विषय में इस सूक्त का पाँचवाँ मन्त्र इस प्रकार है—

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥

—ऋ० ४।५७।४

यहाँ खेती के सभी पदार्थों को शुना कहा गया है। इस मन्त्र के आगे वह मन्त्र है जो ऊपर लिखा गया है, जिसमें शुनासीरौ पद आता है। इसमें आये हुए शुना शब्द का अर्थ तो ऊपर वेद ही ने कर दिया कि खेती के समस्त पदार्थों को शुना कहते हैं। अब 'सीर' का अर्थ देखना चाहिए।

सीर सब्द बहुत ही प्रसिद्ध है। सभी कहते हैं कि तुम्हारे कितनी सीर है, यह हमारी सीर= भूमि है, आदि। संस्कृत में सीर कहते हैं हल को। अमरकोश में लिखा है—

निरीशं कुटकं फालः कृषको लाङ्गलं हलम्।
गोदारणं च सीरोऽथ शम्या स्त्री युगकीलकः॥[1]

लाङ्गल, हल, गोदारण और सीर आदि नाम हल के हैं, इसीलिए देश में सीर भूमि—अपने हल की भूमि प्रसिद्ध हैं। यजुर्वेद में एक स्थान पर लिखा है कि '**सीरा युञ्जन्ति कवयः**'[2] अर्थात् बुद्धिमान् लोग हल जोड़ते हैं। इस प्रकार इस 'शुनासीरौ' द्विवचन से भी दोनों कुत्ते सिद्ध नहीं होते। यहाँ तक शुनासीरौ का अर्थ हुआ।

अब पयः और दिवि शब्दों का अर्थ देखिए। निघण्टु में पयः पानी को कहा गया है और दिवि शब्द तो द्यौ का वाचक है ही। इस प्रकार विवेचन करने पर ज्ञात हुआ कि शुनासीरौ आकाशीय खेती के पदार्थ हैं, जिनसे खेती और वर्षा का ज्ञान होता है और उन्हीं के अनुसार खेती की जाती है। इस प्रकार की वैदिक शैली सर्वत्र मिलती है। यहाँ भी इस श्वान शब्द से उक्त श्वानपुञ्ज का काम नहीं निकलता और न वसन्तसम्पात मृगशिरा में सिद्ध होता है।

१. अमर० २, वैश्य० १३।१४ २. यजुः० १२।६७

(३) मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात सिद्ध करने के लिए तिलक महोदय ने ऋग्वेद से जितने प्रमाण दिये हैं उन सबमें निम्न प्रमाण आपने बहुत प्रबल समझा है—

सुषुप्वांस ऋभवस्तदपृच्छतागोह्य क इदं नो अबूबुधत्।
श्वानं बस्तो बोधयितारमब्रवीत्संवत्सर इदमद्या व्यख्यत ॥ —ऋग्वेद १।१६१।१३

इसका भाव यह है कि हे ऋतुओ! तुमने जब पूछा कि हमको इस समय किसने जगाया तब वस्ता—सूर्य ने कहा कि जगानेवाला श्वान है, क्योंकि आज संवत्सर का अन्त है।

इसपर तिलक महोदय कहते हैं कि 'ऋभु नाम ऋतु का है। ये ऋतुएँ १२ दिन तक अगोह्य सूर्य के घर निद्रा लेती है, अर्थात् चान्द्रवर्ष और सौरवर्ष का मेल मिलाती हैं, तब श्वान इनको जगाता है। यह वही श्वान है जो मृगशीर्ष के पास है। इससे स्पष्ट होता है कि मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात होता था।'

हम ऊपर कई बार कह आये हैं कि मृगशीर्ष के पासवाला एक श्वान नहीं प्रत्युत दो श्वान हैं, अत: यह वर्णन उस अवसर का नहीं है। वैदिक काल में वर्षाऋतु की बड़ी महिमा थी। वर्षा का आरम्भ और अन्त बड़ा आमोदवर्द्धक था। वर्षा भी एक प्रकार का नैसर्गिक यज्ञ समझा जाता था, इसीलिए वर्षा के आरम्भ और अन्त दोनों से वर्ष का आरम्भ होता था। जैसा वेद में लिखा है कि संवत्सर के अन्त में ऋतुओं को कुत्ते जगाते हैं उसी प्रकार यह भी लिखा है कि वर्षारूपी संवत्सर के आदि को मण्डूक सूचित करते हैं। ऋग्वेद में कहा है—

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥
—ऋ० ७।१०३।१

ब्रह्मणासो अतिरात्रे न सोमे सरो: न पूर्णमभितो वदन्तः।
संवत्सरस्य तदहः परि ष्ठ यन्मण्डूकाः प्रावृषीणं बभूव ॥ —ऋ० ७।१०३।७

यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि संवत्सरभर सोये हुए मण्डूक पर्जन्य पड़ते ही बोलने लगे, क्योंकि '**संवत्सरस्य तदहः**', अर्थात् संवत्सर का वही दिन है। कहने का भाव यह है कि जिस प्रकार संवत्सर के आदि में वर्ष को मण्डूक जगाते हैं, उसी प्रकार संवत् के अन्त में वर्षाऋतु के समाप्त हो जाने पर ऋतुओं को कुत्ते जगाते हैं। एक वर्ष वर्षा के आरम्भ से शुरू होता है और दूसरा वर्षा के अन्त से शुरू होता है[१]। इस प्रकार इन दो आर्तव वर्षों की पहचान मण्डूकों और कुत्तों से बतलाई गई है।

शहरवालों को तो नहीं, परन्तु जिन्हें देहात में रहने का अवसर मिला है, वे जानते हैं कि चातुर्मास समाप्त होते ही—आश्विन-कार्त्तिक का आरम्भ होते ही कुत्तों के ऋतुदान का समय होता है। वे गर्भाधान करते हैं और रात के समय चिल्लाते हैं। उनकी वह चिल्लाहट विचित्र प्रकार की होती है। यही ऋतुदान, ऋतुओं का जगाना है और वर्षाकाल का अन्त है[२]। इस वर्णन में न कहीं मृगशीर्ष के सम्पात का नाम है और न कहीं आकशमण्डल का। यहाँ वेद के दोनों स्थलों

---

१. The end of the year, therefore, corresponded to the end of the rainy season, which also marked the beginning of the new year, and as it began from the end of Varsha (the rainy season), the year also probably came to be designated as Varsha. —*Rigvedic India, p. 456.*

२. The year too was called Sharad, because it commenced from autumn and was said to have been born of the 'watery ocean' probably meaning thereby the rainy season. —*Rigvedic India,* p. 508.

को मिलाने से यह सिद्धान्त बनता है कि वर्षा का आरम्भ मेंढ़कों से ज्ञात होता है और वर्षा का अन्त कुत्तों से। ये दोनों घटनाएँ वर्षा के आदि और अन्त में होती हैं।

४. चौथा प्रमाण है 'वृषाकपि' का। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ८६ में इस वृषाकपि का वर्णन आया है। तिलक महोदय लिखते हैं कि 'सूर्यसम्पात का दूसरा प्रमाण और भी है, परन्तु वह जिस सूक्त में आया है उसका अर्थ आज तक किसी की समझ में नहीं आया'। इसके आगे आप उस सूक्त का इस प्रकार वर्णन करते हैं—

'वृषाकपि' मृगरूप से इन्द्र का मित्र है। जहाँ वह उन्मत्त होता है, वहाँ यज्ञ बन्द हो जाते हैं। एक बार इस मृग ने इन्द्राणी की बहुत-सी वस्तुएँ नष्ट कर दीं। इन्द्र इसका बड़ा दुलार करते थे, इसलिए इन्द्राणी इन्द्र पर बहुत क्रुद्ध हुईं, परन्तु इन्द्र तो उसको कुछ दण्ड दिये बिना ही उसके पीछे-पीछे दौड़ने लगे। इससे और अधिक रुष्ट होकर वे उस मृग का मस्तक छेदन करने के लिए उठीं और उसके पीछे एक कुत्ता लगा दिया। इतने में इन्द्र ने बीच में पड़कर उनका समाधान कर दिया, इसलिए उस मृग का शिरच्छेदन तो न हुआ, परन्तु एक दूसरे ही मृग का शिर कट गया। इसके पश्चात् वृषाकपि नीचे अपने घर जाने लगा। यज्ञ पुनः चालू हों, इसलिए इन्द्र ने उसे आज्ञा देकर अपने घर बुलाया, और जब वह इन्द्र के घर पर आया तब उसके साथ वह प्रमादी मृग न था, अतः इन्द्र, इन्द्राणी और वृषाकपि परस्पर मिले-भेंटे'।

इस अलंकार को आप शरत्सम्पात की घटना बतलाते हैं। आप कहते हैं कि 'यह मृग, मृगशीर्ष ही है। श्वान का वर्णन उस अवसर को और भी पुष्ट करता है। दक्षिणायन में यज्ञ बन्द हो ही जाते हैं, और जब सूर्य वसन्तसम्पात में, अर्थात् देवयान (उत्तरायण) में ऊपर आता है तब फिर यज्ञ-याग होने लगते हैं। इस प्रकार यह शरत्सम्पात का ही वर्णन है'।

हम कई बार कह चुके हैं कि उस अवसर के दो श्वान हैं, एक नहीं। उनका वर्णन जहाँ कहीं आता है, द्विवचन में ही आता है। इस सूक्त का श्वान भी कोई दूसरा ही पदार्थ है। इसी प्रकार मृग भी मृगशिर नहीं, किन्तु बादल ही है, और इन्द्र भी सूर्य ही है। अब वृषाकपि का अर्थ खुलने से सारा ही भेद खुल जाएगा। वृषाकपि ऋग्वेद और अथर्ववेद में केवल एक ही सूक्त में इसी रूप से आता है, इसलिए वृषा और कपि दोनों शब्दों को अलग-अलग ही देखना पड़ेगा। 'वृषा' इन्द्र को कहते हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। अमरकोश में '**सुत्रामा गोत्रभिद् वज्री वसवो वृत्रहा वृषा**'[1] कहा गया है। इन्द्र के इन सब नामों में 'वृषा' शब्द स्पष्ट रूप से आया है। इन्द्र शब्द सदैव सूर्य या विद्युत् के लिए आता है, इसलिए यहाँ वृषा का अर्थ या तो सूर्य है या विद्युत्। अब कपि का अर्थ देखना है। कपि शब्द ऋग्वेद में अन्यत्र कहीं नहीं आता। वह इसी सूक्त में वृषा के साथ आता है, और एक बार इसी सूक्त में अकेला भी आया है। पाँचवें मन्त्र में कहा है—

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्। शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवम्[2] ॥

—ऋ० १०।८६।५

---

१. अमर० प्रथम० स्वर्ग० ४५

२. इस मन्त्र का अर्थ है—उस मृग ने इन्द्राणी की वस्तुएँ नष्ट कर दीं। ग्रिफिथ महोदय अपने 'हिम्स आफ़ दि ऋग्वेद' में पृष्ठ ५०७ पर लिखते हैं कि 'Kapi hath marred the beauteous things all deftly wrought, that were my joy'.

यहाँ मृग के लिए ही कपि शब्द आया है। लोक में भी हम कपि को 'शाखामृग' नाम से पाते हैं। इससे अच्छी प्रकार बोध होता है कि यह कपि मृग ही है। अब मृग का अर्थ खुलते ही सारा वर्णन स्पष्ट हो जाएगा। हम कहते हैं कि मृग बादल ही है। हम ही नहीं प्रत्युत तिलक महोदय स्वयं कहते हैं कि 'ऋग्वेद में एक दूसरे स्थान पर ऐसा वर्णन है कि इन्द्र ने वृत्र का शिरच्छेदन किया और वृत्र मृगरूप होकर दिखाई पड़ने लगा'[१]। वह मन्त्र यह है—

निरीन्द्र बृहतीभ्यो वृत्रं धनुभ्यो अस्फुरः।
निरर्बुदस्य मृगयस्य मायिनो निः पर्वतस्य गा आजः॥ —ऋ० ८।३।१९

यहाँ इन्द्र, वृत्र और मृग का ही वर्णन है। यहाँ मृग को 'मायिनः' माया करनेवाला कहा है। मारीच मायारूप मृग हुआ ही था। वृत्र भी माया करनेवाला है। निरुक्त २।१६ में लिखा है कि **'तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः'**, अर्थात् वृत्र किसे कहते हैं ? निरुक्तवाले मेघ को वृत्र कहते हैं। अब स्पष्ट हो गया कि वृत्र मेघ ही है और वृत्ररूपी मृग भी मेघ ही है, इसलिए शाखामृग रूपधारी कपि भी मेघ ही है। इस प्रकार ज्ञात हुआ कि वृषा, अर्थात् इन्द्र और कपि अर्थात् बादल ये दोनों जहाँ एक साथ हों, उस अवस्था को वृषाकपि कहते हैं।

वेदों में बादल के लिए जितने नाम आये हैं उनमें वृषभ, मृग और कपि शब्द भी बादल के लिए प्रयुक्त हुए हैं[२]। ऋग्वेद १०।१२३।४ में आया है कि—**'मृगस्य घोषम्'**, अर्थात् मृग का घोष। पृथिवी पर विचरनेवाले मृगों की आवाज़ ऐसी नहीं होती जिसको घोष कहा जाए। मृग बहुत ही धीमी आवाज़ में बोलते हैं, परन्तु यहाँ मृग का घोष कहा गया है, इससे प्रकट होता है कि 'मृग' मेघ ही है। तिलक महोदय ने स्वयं स्वीकार किया है कि 'वेद में वृत्र को मृग कहा गया है'[३]। वृत्र निश्चय ही मेघ है, अतः **'मृगस्य घोषम्'** का अर्थ बादल की गर्जना ही है। दूसरे स्थान पर ऋग्वेद १।८०।७ में **'मायिनं मृगम्'** कहा गया है। यह भी बादलों के लिए ही आया है, क्योंकि पृथिवी के मृग कोई माया नहीं करते, परन्तु बादल क्षण-क्षण में बदल-बदलकर नाना प्रकार की माया करते हैं और अनेक प्रकार के रूप धारण करते हैं। इस विवेचन से निश्चित होता है कि मृग बादल हैं और वृषाकपि, बादल संयुक्त सूर्य है, अतः उपर्युक्त वृषाकपि सूक्त की घटना मेघाच्छन्न सन्ध्याकालीन सूर्य की ही प्रतीत होती है।

तिलक महोदय ने भी वृषाकपि को एक विशेष प्रकार का सूर्य ही माना है[४], परन्तु हम यहाँ देखना चाहते हैं कि प्राचीन वैदिकों ने 'वृषाकपि' का क्या अर्थ किया है। गोपथब्राह्मण २।६।१२ में लिखा है कि 'सूर्य ही वृषाकपि है, क्योंकि वह काँपता हुआ जल बरसाता है। यही वृषाकपि का वृषाकपित्व है। कपि के समान ही वह सब लोकों में चमकता है। वृषाकपि का वर्षा ही रूप

---

१. I have already alluded to the fact that in the Rigveda Vritra is often said to appear in the form of Mriga. —*Orion, p. 117.*

२. वेदों में जो शब्द बादलों के लिए प्रयुक्त हुए हैं वे ही असुरों के लिए भी कहे गये हैं और सूर्य आदि जो शब्द देवताओं के लिए आये हैं वही आर्यों—ब्राह्मणादिकों के लिए भी कहे गये हैं। तदनुसार वेद के महिष, मृग और कपि आदि नाम बादलों के हैं तथा महिषासुर, मारीचमृग और सुग्रीवकपि आदि नाम अनार्य जातियों के रक्खे गये हैं, इससे और भी स्पष्ट हो जाता है कि 'कपि' और 'मृग' शब्द भी मेघ के ही वाचक हैं।

३. In the Rigveda Vritra is often said to appear in the form of a Mriga. —*Orion, p. 117.*

४. In fact there seems to be a general agreement that Vrishakapi represents the sun in one form or the other. —*Orion, p. 172.*

है[१]। बृहद्देवता में इस सूक्त का विषय बतलाते हुए कहा गया है कि इन मन्त्रों में वर्षाऋतु के सन्ध्याकालीन सूर्य का वर्णन है[२]। इन वैदिक अर्थों के सहारे अब देखना चाहिए कि उक्त सूक्त का क्या अर्थ होता है।

सूर्य-सम्मिलित बादल, इन्द्र (विद्युत्) के मित्र हैं। सन्ध्या समय तीनों एकत्र हुए। जब मृगरूप बादल उन्मत्त हुआ और चमक-चमककर सन्ध्याकालीन उषा (इन्द्राणी) की शोभा बिगाड़ने लगा तब इन्द्राणी ने श्वान नामी आग्नेय किरण (जिसकी चर्चा सरमा नामी शुनी के वर्णन में कर आये हैं) इस मृग के पीछे लगा दी। वर्षाऋतु में सायंकाल के समय कभी-कभी सूर्य नहीं दिखता, परन्तु एक विशेष प्रकार का प्रकाश दिखलाई पड़ता है। यह प्रकाश ही श्वान नामक किरण है। इन्द्र ने बादलों को ताड़ित किया, परन्तु बादल का वह टुकड़ा जिसमें सूर्य छिपा था न टूटा, प्रत्युत दूसरा टूट गया। इसी को कहा गया है कि वह मृग न मरा। इतने में सूर्यास्त हो गया, अर्थात् सूर्य चमकते-गरजते उस बादल के टुकड़े के साथ नीचे चला गया। रात हो गई और यज्ञ-याग—कामकाज बन्द हो गये। दूसरे दिन प्रात:काल जब सूर्य निकला उस समय मृग नहीं था, अर्थात् आकाश निरभ्र था। उस समय सूर्य, विद्युत् और उसकी आभा आपस में मिलीं, अर्थात् एक हो गईं।

यह वृषाकपि का अलङ्कार वर्षाऋतु की सन्ध्या के समय का है। वर्षाऋतु में कभी-कभी यह अनोखा और काव्यमय दृश्य दिखलाई पड़ता है। सन्ध्या समय काली घटा छाई हो, विद्युत् चमकती हो, सूर्य की प्रखरता का लोप हो और एकाध किरण दूर देश में अपना प्रकाश किये हो, उस समय इस दैवी घटना का अपूर्व दृश्य दिखलाई पड़ता है। इसी दशा में रात हो जाती है और लोगों के कामकाज पड़े रह जाते हैं। दूसरे दिन जब सूर्य निकलता है तब कामकाज आरम्भ होते हैं। देवयान, अर्थात् दिन में कामकाज होते हैं और पितृयान, अर्थात् रात में बन्द हो जाते हैं। दिन और रात भी देवयान और पितृयान कहलाते हैं[३]।

बादलयुक्त सूर्य का प्रात: और सायं दृश्य इस देश में अनेक प्रकार से वर्णित हो चुका है। वृषाकपि का अलङ्कार पुराणों में हनुमान् की उत्पत्ति के साथ जोड़ दिया गया है। यह प्रसिद्ध है कि हनुमान् ने सूर्य को निगल लिया था। वृषा सूर्य और कपि हनुमान् ही हैं। आज तक ब्राह्मण लोग प्रात:-सायं सन्ध्या के समय सूर्याञ्जलि देते हैं और कहते हैं कि बाल सूर्य को राक्षस घेरते हैं, अत: इस अञ्जलि का जल बाण होकर उनको मार देता है। तुलसीदास ने भी लिखा है कि **'बाल रवि हि घेरत दनुज'**। ये दनुज, कपि, मृग आदि बादल ही हैं, जो सायं-प्रात: सूर्य के आस-पास रहते हैं।

---

१. **आदित्यो वै वृषाकपिस्तद्यत् कम्पयमानो रेतो वर्षति तस्माद् वृषाकपि:। तद् वृषाकपेर्वृषाकपित्वम्। कपिरिव वै सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद।.....वार्षरूपं हि वृषाकपेस्तन्न्यायमित्येव।**

२. **वृषैव कपिलो भूत्वा यन्नाकमधिरोहति। वृषाकपिरसौ तेन विश्वस्मादिन्द्र उत्तर:।**
रश्मिभि: कम्पयन्नेति वृषावर्षिष्ट एव स:। सायाह्नकाले भूतानि स्वापयन्नस्तमेति च।
वृषाकपिरितो वा स्यादिति मन्त्रेषु दृश्यते। वृषाकपायी सूर्यास्तकाल आहु:।

३. **वसन्तो ग्रीष्मो वर्षा:। ते देवा ऋतव:। शरद्धेमन्त: शिशिरस्ते पितरो य एवा पूर्यतेऽर्धमास: स देवा योऽपक्षीयते स पितरोऽहरेव देवा रात्रि: पितर: पुनरह्न: पूर्वाह्णो देवा:, अपराह्न: पितर:।**

—शतपथ पृ० २।१।३।१

इस सूक्त में वेदों ने इस प्रकार के मनोहर अलङ्कार का वर्णन करके प्राकृतिक काव्य का अन्त कर दिया है। ग्रिफ़िथ साहब ने भी इस अलङ्कार को सन्ध्याकाल के सूर्य ही में घटित किया है[१]।

हम चकित हैं कि लोकमान्य तिलक ने इस सूक्त में शरत्सम्पात की कल्पना कैसे कर ली? अभी तक तो वे वसन्तसम्पात के ही लिए परिश्रम कर रहे थे, परन्तु अब शरत्सम्पात को भी सिद्ध करने लगे। जो हो, हमने स्पष्ट रीति से उनके दिये हुए प्रमाणों की आलोचना कर दी है, जिनका सम्बन्ध वेदों से था। लोकमान्य तिलक ने कुछ प्रमाण ब्राह्मणग्रन्थों से भी दिये हैं जो हमें मान्य हैं, किन्तु उन प्रमाणों में उन्होंने दो अशुद्धियाँ की हैं जो हमें मान्य नहीं है। एक तो अर्थ करने में अभिप्राय को उलट दिया है, दूसरे उनसे निकलनेवाले समय की इयत्ता निश्चित कर दी है। आगे हम इस विषय का सविस्तर वर्णन करते हैं।

ब्राह्मणग्रन्थों से जो काल ठीक-ठीक निकलता है वह तिलक महोदय के वेद से निकाले हुए काल से बहुत आगे बढ़ जाता है, इसलिए उन्हें अर्थ की काट-छाँट करने की आवश्यकता हुई। ब्राह्मणों से सिद्ध होनेवाले ज्योतिष्-सम्बन्धी तीन प्रमाणों को हम नीचे लिखते हैं और देखते हैं कि उनका ठीक-ठीक कितना समय निकलता है। स्वर्गवासी शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित का ज्योतिष्-विषयक ज्ञान बहुच ऊँचा समझा जाता है। उन्होंने शतपथब्राह्मण का यह वाक्य उद्धृत किया है—

कृत्तिकास्वादधीत। एताह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।
सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते॥ —शत० २।१।२।२-३

अर्थात् कृत्तिका में अग्न्याधान करना चाहिए, क्योंकि कृत्तिका ही पूर्व दिशा से नहीं हटती, दूसरे सब नक्षत्र हट जाते हैं।

दीक्षित महोदय का मत है कि 'च्यवन्ते' और 'न च्यवन्ते' आदि वर्त्तमानकालिक क्रिया से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस समय उक्त वाक्य लिखा गया, उस समय कृत्तिका ठीक विषुव-वृत्त पर दिखलाई पड़ती थी, किन्तु ईस्वी सन् १९०० में जब दीक्षित ने कृत्तिका का वर्त्तमान स्थान देखा तो वह विषुव-वृत्त के ऊपर ६८ अंश पर स्थित दिखाई दी। एक अंश को तय करने में ७२ वर्ष लगते हैं, इसलिए आज तक इस घटना को हुए (६८×७२=४८९६+२९=) ४९२५ वर्ष होते हैं[२], अर्थात् आज से लगभग पाँच हज़ार वर्ष पूर्व शतपथब्राह्मण का उक्त वाक्य लिखा गया सिद्ध होता है।

एक दूसरा प्रमाण है, जिसको ज्योतिःशास्त्रविशारद वी०बी० केतकर महोदय ने ढूँढा है। यह तैत्तिरीयब्राह्मण में इस प्रकार है—

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानस्तिष्यं नक्षत्रमभिसम्बभूव। —तैत्ति० ३।१।१५

इस वचन से प्रकट होता है कि बृहस्पति को तिष्य, अर्थात् पुष्यनक्षत्र का अधिक्रमण किये, ईस्वी सन् पूर्व ४६५० वर्ष हो गये थे। आज तक इसका समय (४६५०+१९२९=) ६५७९ वर्ष होता है[३]। तिलक महोदय ने वेदों की रचना का समय ईस्वी सन् पूर्व अधिक-से-अधिक चार

---

१. He is also said to be the setting sun, and the sun who draws up vapour and irrigates with mist.
—*Hymns of the Rigveda*, p. 507.

२. इस संख्या में अभी १०५ वर्ष की कमी है।

३. ऋग्वेद ४।५०।४ में भी एक इसी प्रकार का वाक्य है, परन्तु उसमें तिष्य का नाम नहीं है। वह वाक्य यह है—'**बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्योमन्**'।

ही हज़ार वर्ष माना है, जिसमें १९२९ जोड़ने से ५९२९ ही वर्ष होते हैं, परन्तु ऊपर लिखा हुआ तैत्तिरीयब्राह्मण का प्रमाण इस अवधि से ६५० वर्ष और आगे जाता है। तिलक महोदय के निकाले हुए समय से जब तैत्तिरीयब्राह्मण ही (जो सबसे नवीन है) छह-सात सौ वर्ष पुराना सिद्ध होता है तब दूसरे ब्राह्मणों की तो कथा ही क्या? आइए, शतपथब्राह्मण का एक और प्रमाण दिखलाएँ।

एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पौर्णमासी। —शत० ६।२।२।१८

इसमें कहा गया है कि फाल्गुनी पूर्णमासी संवत्सर की प्रथम रात्रि है। इसके अनुसार वसन्तसम्पात फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन होता था। गणित करने से इसका समय आज तक लगभग २२,००० वर्ष होता है। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा में २६,००० वर्ष लगते हैं, किन्तु क्रान्तिवृत्त की विरुद्ध दिशा की एक विशेष चाल के कारण, यह काल २,१०० वर्ष का ही रह जाता है। इस समय वसन्तसम्पात पूर्वाभाद्रपद में है, परन्तु जब वसन्तसम्पात फाल्गुनी पूर्णमासी में होता था उस समय वसन्तसम्पात उत्तराभाद्रपद में था। अब तक सम्पात की एक पूर्ण प्रदक्षिणा हो गई और दूसरी प्रदक्षिणा का आरम्भ हुए भी एक हज़ार वर्ष से अधिक हो गये। इस प्रकार इस घटना को हुए आज तक २२,००० वर्ष बीत चुके, परन्तु तिलक महोदय यह सब-कुछ लिखकर भी कहते हैं कि 'इन बातों में क्या रक्खा है?[१]

भला, इस अन्धेर का कुछ ठिकाना है। बिना किसी प्रमाण के, बिना किसी दलील के और बिना किसी अधिकार के केवल इतना कह देने से ही हो गया कि 'इन बातों में क्या रक्खा है?' क्या यह बाईस हज़ार वर्ष का समय ही इसकी अप्रामाणिकता का हेतु हो गया? ऐसा तो न होना चाहिए। आप इस फाल्गुनी पूर्णमासी का तात्पर्य उदगयन में वर्ष का आरम्भ मानते हैं। मानिए, परन्तु यह तो बताइए कि क्या कभी उदगयन में भी वर्ष का आरम्भ होता था? आपने तो स्वयं कहा है कि 'इन सब कारणों को देखते हुए जब तक इसके विरुद्ध कोई सबल प्रमाण न मिले तब तक इस सिद्धान्त के मानने में तनिक भी शक नहीं है कि प्राचीन वैदिक काल में जब सूर्य वसन्तसम्पात में होता था तभी वर्ष का आरम्भ होता था'[२]। जब प्राचीनकाल में सदैव वसन्तसम्पात से ही वर्ष का आरम्भ होता था तब उस समय जब वर्ष का आरम्भ फाल्गुनी पूर्णिमा कहा गया है, वर्षारम्भ वसन्तसम्पात में क्यों नहीं था? उस समय के लिए क्या प्राचीन नियम बदल गया? कभी नहीं। उस समय भी वसन्तसम्पात से ही वर्षारम्भ होता था। जब प्राचीन इतिहास उच्च स्वर से घोषणा कर रहा है कि '**मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः**',[३] अर्थात् वसन्त ही ऋतुओं का मुख है, तब यह घोषणा त्रिकाल में मिथ्या नहीं हो सकती और न उक्त वाक्य का कोई अर्थ ही हो सकता है, इसलिए हम बलपूर्वक कहते हैं कि निस्सन्देह इस वाक्य का कोई दूसरा अर्थ ही हो सकता है, इसलिए हम बलपूर्वक कहते हैं कि निस्सन्देह यह वाक्य कम-से-कम २२,००० वर्ष का प्राचीन है। यहाँ तक तो हमने तिलक महोदय के उस दोष का वर्णन किया जिसमें भाव बदलने की बात थी। अब समय निर्धारण की बात का स्पष्टीकरण करते हैं।

---

१. We can not suppose that the Phalguni full moon commenced the year at the vernal equinox; for then we shall have to place the vernal equinox in Uttara Bhadrapad, which to render possible in pre-Krittika period, we must go back to something like 20,000 B.C. —*Orion*, p. 69.

२. I do not here repeat the ground on which I hold the year, in premitive time commenced with vernal equinox. —*Orion*, p. 170.

३. तै० १।१।२।६-७

हमको, आपको, तिलक महाराज को और अन्य किसी को भी क्या अधिकार है कि वह इन समयों को पहली ही आवृत्ति का समझे, अर्थात् वह यह क्यों समझ ले कि यह अवस्था केवल अभी हाल ही की आवृत्ति की है ? हम ऊपर लिख चुके हैं कि किसी ज़माने में वसन्तसम्पात फाल्गुनी पूर्णिमा के दिन होता था। उसको बीते हुए पूरा एक चक्कर हो गया और दूसरे चक्कर में भी सैकड़ों वर्ष बीत चुके हैं, किन्तु प्रश्न तो यहीं पर होता है कि यह पहला ही चक्कर पूरा हुआ है या ऐसे कई एक चक्कर हो चुके हैं ? किसी को कुछ भी अधिकार नहीं है कि वह इसमें बिना किसी प्रमाण के कुछ भी कह सके। यही हाल और भी वचनों का है जो पूर्व तैत्तिरीय और शतपथ के नाम से लिखे जा चुके हैं। प्रमाण चाहे पहले के हों या दूसरे के, बात तो वास्तविक यह है कि तिलक महाराज ने वेदों का जो समय निश्चित किया है उससे हज़ारों वर्ष पूर्व तक तो ब्राह्मणों का ही समय जाता है जो वेदों के बहुत काल बाद बने हैं। ऐसी दशा में 'ओरायन' प्रतिपादित वेदों का काल जो ज्योतिष् द्वारा निकाला गया है, सर्वथा त्याज्य है[१]।

तिलक महोदय ने वसन्तसम्पात के बदलने का क्रम लेकर, तीन काल निर्धारित किये हैं। उनमें कृत्तिकाकाल तो यों ही गया, क्योंकि वह वैदिक काल के बाद का है। ऊपर विवेचन किया हुआ मृगशीर्षकाल ही प्रधान समय है। इसी पर लोकमान्य ने ज़ोर भी दिया है, इसी के लिए प्रमाण भी दिये हैं और इसी के नाम से पुस्तक का नाम भी 'ओरायन' रक्खा है, परन्तु हमने उनके दिये हुए समस्त प्रमाणों को देख डाला, उनमें एक भी ऐसा प्रमाण न मिला जो मृगशीर्ष में वसन्तसम्पात सिद्ध करे। इसके आगे मृगपूर्वकाल है जिसके लिए आप लिखते हैं कि 'इस काल तक वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी। मृगशीर्ष से यह काल दो हज़ार वर्ष और पहले जाता है। उस समय वसन्तसम्पात पुनर्वसु में था'। इसके लिए आपने जो वेदों से प्रमाण उद्धृत किये हैं उनकी भी आलोचना कर लेनी चाहिए। आप कहते हैं कि 'यजुर्वेद ४।१९ में अदिति को '**उभयतः शीर्ष्णी**' कहा है और ऋ० १०।७२।५ में अदिति को देवों की माता कहा है तथा ऋ० १०।७२।८ में उससे आदित्यों की उत्पत्ति कही है। इधर ऐतरेयब्राह्मण १।७ में लिखा है कि यज्ञ अदिति से शुरू हों और अदिति की समाप्ति पर समाप्त हो जाएँ। इसके अतिरिक्त यज्ञवाले ग्रन्थों में लिखा है कि अदिति पुनर्वसु की अधिष्ठात्री है'।

पुनर्वसु में वसन्तसम्पात कभी था, इसपर ध्यान देने के लिए इतने ही प्रमाण आप बताते हैं और 'अदिति' तथा 'पुनर्वसु' दो ही शब्दों पर सारा भवन खड़ा करते हैं, परन्तु वेदों में पुनर्वसु की चर्चा ही नहीं है, जिसे आप भी स्वीकार करते हैं[२], अतः हमें भी शेष प्रमाणों से सरोकार नहीं है, क्योंकि हम तो केवल संहिताओं के ही समय की आलोचना कर रहे हैं। ऊपर अदिति की चर्चा यजुर्वेद में बतलाई गई है और ऋग्वेद में वह देवताओं और आदित्यों को जननी कही गई

१. हमने ज्योतिष के आधार पर ब्राह्मणग्रन्थों से तीन प्रमाण दिये हैं, परन्तु तीनों का समय भिन्न-भिन्न है। इससे यह शंका हो सकती है कि एक ही प्रकार के ग्रन्थों से भिन्न-भिन्न समय कैसे निकलते हैं। इस आपत्ति का सरल उत्तर यही है कि ब्राह्मणग्रन्थ समय-समय पर—वैवस्वत मनु से लेकर कलि के आरम्भ तक बनते रहे हैं। जिस प्रकार १७ पुराणों में भूत इतिहास लिखकर अन्तिम भविष्यपुराण को भविष्य घटनाओं के लिए रक्खा गया है, उसी प्रकार ब्राह्मणकाल में भी तीनों कालों की घटनाएँ ब्राह्मणों में ही लिखी जाती थीं।

२. There is no express passage which states that Punarvasu was ever the first of the Nakshatras, nor have we in this case any synonym like Agrahayan or Orion wherein we might discover similar traditions. —*Orion*, p. 201.

है, इससे स्पष्ट हो गया कि वह प्रकृति है। दो शीर्ष्णी का भाव भी यही है कि वह मारने और पैदा करनेवाली है। उस अदिति, अर्थात् मूलप्रकृति से और इस पुनर्वसुवाली अदिति का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ज्योतिष् का कोई पारिभाषिक शब्द होगा, अत: हमारे प्रकरण से भी इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

यहाँ तक हमने तिलक महाराज के समस्त प्रमाणों की पड़ताल की और देखा कि उनमें वेद का कोई ऐसा प्रमाण नहीं हैं जो वसन्तसम्पात का दर्शानेवाला हो। प्रत्युत देखा गया कि वे प्रमाण कुछ दूसरे ही अर्थ के सूचक हैं। जो लोग लोकमान्य तिलक की उक्त पुस्तक के कोटिक्रम को निर्भ्रान्त समझते हों वे ध्यानपूर्वक लोकमान्य की भूमिका पढ़ें। उसमें उन्होंने स्पष्टतया कह दिया है कि 'यद्यपि मैंने इस विषय का वर्णन किया है, परन्तु मैं नहीं कह सकता कि मैंने उक्त विषय को प्रत्येक प्रकार से जैसा चाहिए वैसा प्रतिपादित किया है[१]।' इतना ही नहीं प्रत्युत उक्त विषय का खण्डन करनेवाला एक दूसरा ग्रन्थ आपने लिखा है जिसका नाम 'आर्यों का उत्तरध्रुव निवास' (Arctic Home in the Vedas) है। इस ग्रन्थ के पूर्व 'मृगशीर्ष' लिखने के कारण लोकमान्य तिलक को ऐसी अड़चन उपस्थित हुई कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। यहाँ हम उसका थोड़ा-सा इतिहास देकर उसके विषय-प्रतिपादन की ओर आना चाहते हैं। तिलक महोदय ने ओरायन (मृगशीर्ष) ग्रन्थ लिखने के पाँच वर्ष बाद सन् १८९८ में 'उत्तरध्रुव निवास' लिखा और उसका सारांश एक पत्र द्वारा मैक्समूलर के पास भेजा। पत्र के उत्तर में मैक्समूलर ने लिखा कि कितने ही वेदवाक्यों का अर्थ जैसा आप लिखते हैं वैसा हो सकता है तथापि मुझे शंका है कि आपका सिद्धान्त भूगर्भशास्त्र के साथ मिल सकेगा? इसका तात्पर्य यह है कि भूगर्भशास्त्र के अनुसार हिमप्रपात को हुए बहुत अधिक काल हो चुका है, और आप वेदों को छह हज़ार वर्ष का ही पुराना मानते हैं, ऐसी दशा में हज़ारों-लाखों वर्ष की पुरानी हिमप्रपात और उत्तरध्रुव की बात का वर्णन वेदों में कैसे आ सकता है? मैक्समूलर के ऐसा लिखने का कारण यह था कि उस समय तक भूगर्भशास्त्र ने हिमप्रपात का समय ८० हज़ार वर्ष से ऊपर माना था। तिलक महोदय इस बात से सचेत हुए और उस ग्रन्थ को पाँच वर्ष तक छपने से रोक रक्खा। इतने में 'इन्साइक्लोपिडिया ब्रिटानिका' की दशवीं आवृत्ति छपकर बाहर निकली। उसमें कुछ अमेरिकन भूशास्त्रियों ने हिमप्रपात का समय आठ-दश हज़ार वर्ष पूर्व ही माना। बस, इसको देखते ही तिलक महोदय ने सन् १९०३ में इस ग्रन्थ को छपाकर प्रकाशित कर दिया। तब भी छह हज़ार और दश हज़ार के बीच का चार हज़ार वर्ष का समय बढ़ गया, परन्तु इस चार हज़ार वर्ष की बीती हुई बातें वेदों में कैसे आईं इस प्रश्न का उत्तर आपने यह देकर टाल दिया कि आज चार हज़ार वर्ष से तो हम ब्राह्मण लोग ही वेदों को कण्ठ किये हुए हैं। जिस प्रकार इतने दिन से हम इस काव्य को याद किये हुए हैं उसी प्रकार हमारे पूर्वज भी वेदों में वर्णित घटनाओं को चार हज़ार वर्ष तक याद किये रहे और जब भारत में आकर सुख से रहने लगे तब उन्हीं याद की हुई बातों के आधार पर वेदों को छन्दोबद्ध काव्य में कर लिया। इस विषय में एक जगह आप कहते हैं कि 'एशिया में बसनेवाले आर्यों की जैसी उन्नति देखने में आती है, वैसी उन्नति नव-पाषाणयुग से उत्तरयूरोप में बसे हुए आर्यों में नहीं पाई जाती। इसका कारण यह है कि उन्होंने

१. Though I have ventured to write on the subject I can not claim to have finally solved this important problem in all its bearings. —*Orion*. p. 2.

अपनी प्राचीन सभ्यता भुला दी और जंगली हो गये। इसके विरुद्ध इस हिमपूर्व-कालीन धर्म और सभ्यता को भारतीय और ईरानी आर्यों ने ज्यों-का-त्यों स्थिर रक्खा, यही एक आश्चर्य है'।

क्यों भारतीय आर्यों ने अपनी सभ्यता स्थिर रक्खी और क्यों यूरोपीय आर्यों ने भुला दी? इस प्रश्न पर आपने कुछ भी प्रकाश नहीं डाला। हम कहते हैं कि इसमें आश्चर्य कुछ नहीं है। सीधी बात यह है कि काव्यरूप में ग्रथित होने से और उसको याद रखने से हमारी सभ्यता हमें याद रही और उस काव्य को छोड़ देने से पाश्चात्य आर्यों ने उसे भुला दिया। इसी बात को घुमा-फिराकर आगे आप कहते हैं कि 'ऋग्वेद में कहे हुए प्राचीन सूक्त, ऋषि और देवता सभी हिमपूर्व-काल के हैं, हिमोत्तरकाल के नहीं'[१]। यहाँ स्पष्ट शब्दों में लोकमान्य तिलक ने स्वीकार कर लिया कि ऋग्वेद के प्राचीन सूक्त, ऋषि और देवता हिमपात के पूर्व के हैं, पश्चात् के नहीं। हिमपात कम-से-कम, तिलक महोदय की स्वीकृति के अनुसार आज से दश हज़ार वर्ष पूर्व हुआ और प्राचीन सूक्त उसके पूर्व के हैं, ऐसी दशा में ओरायन की छह हज़ार वर्षवाली बात और मृगशीर्ष में वसन्तसम्पातवाली कारणमाला कहाँ उड़ जाती है, जिसका कुछ भी ठिकाना नहीं। एक ओर तो ओरायन में आप लिखते हैं कि पुनर्वसुकाल तक (जो आज से सात हज़ार वर्ष पूर्व था) वैदिक ऋचाओं की उत्पत्ति नहीं हुई थी, दूसरी ओर 'उत्तरध्रुवनिवास' में पुराने सूक्तों का अस्तित्व दश हज़ार वर्ष पूर्व का स्वीकार करते हैं, यही आश्चर्य है। हमने आरम्भ में उनके दिये हुए ज्योतिष्-सम्बन्धी वैदिक प्रमाणों की जो आलोचना की है, वह यथार्थ ही है। वेदों में ज्योतिष्-सम्बन्धी एक भी घटना का वर्णन नहीं है, जिससे वेदों का काल निर्धारित किया जा सके।

तिलक महोदय ने एक प्रकार से अपनी पहली पुस्तक के ज्योतिष्-सम्बन्धी विचारों को इस दूसरी पुस्तक में रद कर दिया है। इस पुस्तक की विचारपरम्परा निराली है। इसका मूल विषय है आर्यों का उत्तरध्रुव में निवास और हिमवर्षा के कारण वहाँ से भागकर भारत में आकर बसना। प्रधानतया उत्तरध्रुव के निवास ही का इसमें वर्णन है और हिमवर्षा के कारणों तथा उसके पड़ने का काल निश्चित किया गया है। हिमवर्षा का काल यदि निश्चित हो जाए तो आर्यों के वहाँ से निकल भगाने का समय निश्चित हो सकता है, परन्तु वहाँ रहनेमात्र के वर्णन से वेदों के समय का कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता।

तिलक महोदय का यह ग्रन्थ वारन नामी एक पाश्चात्य विद्वान् के Paradise Found in the North Pole नामक ग्रन्थ के पश्चात् लिखा गया है। उस ग्रन्थ में वारन महोदय ने दिखलाया है कि मनुष्यजाति उत्तरध्रुव में ही उत्पन्न हुई, परन्तु उत्तरध्रुवनिवास नामी पुस्तक में लोकमान्य तिलक ने यह सिद्ध करना चाहा है कि किसी समय आर्यलोग वहाँ रहते थे और आज से लगभग दस हज़ार वर्ष पूर्व उत्तरध्रुव में बर्फ़ की महान् वर्षा हुई, जिससे वे वहाँ से निकल भागे और भारत, ईरान, यूरोप आदि में बस गये। वेदों से आपने इस बात को इस प्रकार सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि 'उत्तरध्रुव में छह महीने की रात होती है, वेदों मे भी छह महीने की रात का वर्णन है और यह भी वर्णन है कि उस दीर्घ रात्रि से घबरा-घबराकर आर्यलोग प्रार्थना करते थे कि हे परमेश्वर! शीघ्र सवेरा हो। उत्तरध्रुव में सप्तर्षि-नक्षत्र शिर के ऊपर फिरते हैं, अतः वेदों

१. In short the ancient hymns, poets, or deities, mentioned in the Rigveda must be referred to a bygone age and not to post-Glacial times. —*Arctic Home in the Vedas*, p. 461.

में भी इस घटना का वर्णन है। उत्तरध्रुव में महीनों तक सुहावनी उषा होती है और वेदों में भी इस सुन्दर उषा का वर्णन है। उत्तरध्रुव में सूर्य दक्षिण की ओर से उदित होता हुआ दीखता है और वेदों में भी सूर्य को दक्षिण–पुत्र कहा गया है। इनके अतिरिक्त दो एक छोटी–छोटी अन्य भी घटनाएँ हैं और उनका वेदों में वर्णन है। इन समस्त घटनाओं के वर्णन से तिलक महोदय यह अर्थ निकालते हैं कि किसी समय आर्यलोग वहाँ अवश्य रहते थे, इसीलिए आँखों देखे वर्णन वेदों में लिखे जा सके। उनकी इस उक्ति पर कई विद्वानों ने अपने–अपने तर्क चलाये हैं। पूनानिवासी नारायण भवानराव पावगी ने 'आर्या वर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' नामी ग्रन्थ में लिखा है कि आर्यलोग भारत देश से उत्तरध्रुव को गये, वहाँ यह सब दृश्य देखा और लौटकर फिर इसपर रचना की। बाबू अविनाशचन्द्र दास ए० एम० ने अपने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' नामी ग्रन्थ में उक्त वर्णनों का अर्थ बदलकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि यह सब घटना पञ्जाब प्रान्त की है। इसी प्रकार बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' में लिखा है कि तिलक महोदय ने वेदों का अर्थ पाश्चात्यों के अनुसार किया है, उन्हें वेदार्थ करना ज्ञात नहीं था, इत्यादि।

हम कहते है कि जिन मन्त्रों का अर्थ तिलक महोदय ने किया है, वे मन्त्र कहीं चले तो नहीं गये? वे अब भी विद्यमान हैं, अतः जिसकी इच्छा हो वह देख ले और अर्थ कर ले। हमने भी उक्त मन्त्रों को देखा है। हमारी समझ में तो वेदों के उन मन्त्रों में उत्तरध्रुव का ही वर्णन है। चक्राकार उषा, ध्रुव और दीर्घ रात्रि–सम्बन्धी ऐसे वचन हैं, जिनका दूसरा कुछ अर्थ हो ही नहीं सकता। सायणाचार्य ने भी दीर्घ रात्रिवाले मन्त्रों का अर्थ किया है, परन्तु उनको उत्तरध्रुव का अर्थ नहीं सूझा। इसलिए दीर्घ रात्रिवाले मन्त्रों को उन्होंने हेमन्तऋतु की रात समझ लिया, किन्तु हेमन्तऋतु की रात ऐसी नहीं होती, जिसके लिए रोया–चिल्लाया जाए, उससे बचने के लिए परमेश्वर से प्रार्थना की जाए और प्राणों पर आ पड़े। यह रात निस्सन्देह उत्तरध्रुव की ही है, किन्तु प्रश्न यह है कि वेदों में उत्तरध्रुव की घटनाओं का वर्णन कहाँ से आया। हमारा तो विश्वास है कि यह वर्णन वहाँ जाने से नहीं सूझा, प्रत्युत उच्च कोटि के ज्योतिषज्ञान का फल है। वहाँ की ऐसी स्थिति जानकर कभी भी कोई वहाँ बसने की इच्छा से नहीं गया। यह हमारी ही कल्पना नहीं है। इस विषय का एक अच्छा प्रमाण वाल्मीकि रामायण में मिलता है। सुग्रीव वानरों से कहते हैं कि सीता को ढूँढने के लिए उत्तरकुरु की ओर जाओ, परन्तु—

न कथञ्चन गन्तव्यं कुरूणामुत्तरेण वः। अभास्करममर्यादं न जानीमस्ततः परम्॥

—वा० रा० कि० ४३।५७, ५९

ख़बरदार तुम लोग उत्तरकुरु के उत्तर कदापि मत जाना। वहाँ असीम अन्धकार होता है और उसके आगे का हाल कुछ भी ज्ञात नहीं है।

यह वर्णन हमें दो बातें बतलाता है—एक तो यह कि यहाँवाले वहाँ की अन्धकार आदि सब ज्योतिष्–सम्बन्धी घटनाओं को जानते थे, दूसरे यह कि वहाँ कोई जाता नहीं था। तब सवाल होता है कि बिना गये वहाँ का हाल कैसे ज्ञात हुआ? हम फिर कहते हैं कि वहाँ का ज्ञान ज्योतिश्शास्त्र और भूगोलशास्त्र की अपार विद्या से ही जाना गया। आजकल छोटे–छोटे बच्चों को स्कूलों में उत्तरध्रुव की छह महीने की रात और छह महीने का दिन, और उत्तरायण, दक्षिणायन आदि की शिक्षा किस प्रकार दी जाती है? क्या यह सब वहाँ जाकर दिखलाया जाता

है ? कभी नहीं। तब जिस प्रकार सब शिक्षक ग्लोब, नक़शा, लैम्प और अन्य साधनों से छोटे बच्चों को वहाँ का ज्ञान करा देते हैं, उसी प्रकार वेदों का भी वह ज्ञान परमात्मा की गुरुपरम्परा से आया, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं हैं। बाहर से जाकर उत्तरध्रुव में बसनेवाला, वहाँ की दीर्घ रात्रि से घबराकर, उससे छूटने की प्रार्थना कभी नहीं कर सकता, परन्तु ऋग्वेद २। २७। १४ का यह मन्त्र कि **'मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्राः'**, अर्थात् दीर्घ अन्धकार हमपर न आवे और ऋग्वेद १। ४६। ६ का यह मन्त्र कि **'या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासाथामिषम्'**, अर्थात् हमें ऐसी शक्ति दे, जो इस अन्धकार से पार करे।

अथर्ववेद का भी एक मन्त्र देखिए—

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद्विश्वमस्यां नि विशते यदेजति।
अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि॥

—अथर्व० १९। ४७। २

अर्थात् जिसका तीर दिखलाई नहीं पड़ता और सब गतिमान पदार्थ विश्राम पाते हैं, ऐसी हे प्रशस्त तमोमयी रात्रि! हमको निर्विघ्निता से अपने पार पहुँचा।

इत्यादि मन्त्र यह मानने के लिए विवश करते हैं कि बाहर का कोई यात्री ऐसे कष्ट के स्थान पर नहीं जा सकता। वहाँ जाने में तो प्रत्येक ओर से क्रम-क्रम से अन्धकार के पड़ाव आते हैं। दो-चार दिनवाली रात ही जहाँ से आरम्भ होगी वहीं से किसी को आगे जाने का साहस नहीं होगा। शोध करनेवाले भी प्रायः दिन के समय में ही वहाँ जाते हैं। जो खोज के लिए दिन के समय में वहाँ जाएगा वह छह महीने का दिन और छह महीने की रात जानता होगा। ऐसा जानकर इस प्रकार नहीं रोएगा, अतएव जिन लोगों का वर्णन उक्त वेदमन्त्रों में है वे प्रसन्नता से यात्रा करके बाहर से वहाँ नहीं गये। कौन ऐसा मूर्ख होगा जो ऐसी आपत्ति में जानबूझकर पड़े और रोये-चिल्लाये ? हम रामायण के प्रमाण से भी कह चुके हैं कि वहाँ कोई आर्य बाहर से नहीं जाता था और न पूर्व समय में वह स्थान जाने के योग्य समझा जाता था तो क्या आर्यों की वहाँ उत्पत्ति हुई ? यदि वहाँ उत्पत्ति मानी जाए तो निःसन्देह कहा जा सकता है कि वे वहाँ पैदा हुए और अन्धकार के सङ्कट को किसी प्रकार काटते रहे, परन्तु जब बर्फ़ का तूफ़ान आया तो भाग निकले। यह सब-कुछ हो सकता है, परन्तु बर्फ़ की वर्षा कब हुई, यह बात तो बड़े ध्यानपूर्वक देखने योग्य है।

तिलक महोदय ने अपने ग्रन्थ में विस्तार से लिखा है कि हिमपात का समय ज्योतिष् और भूगर्भशास्त्र के आधारों से निकाला जाता है। आप लिखते हैं कि 'कितने ही भूगर्भशास्त्रियों के मतानुसार गत हिमकाल की समाप्ति बीस हज़ार अथवा अस्सी हज़ार वर्ष के पूर्व हुई, किन्तु सर राबर्ट बाल के मत से हिमकाल के कारणों को भूगर्भशास्त्र की अपेक्षा यदि ज्योतिश्शास्त्र के द्वारा ढूँढें तो समस्त कठिनाईयाँ दूर हो सकती हैं। डॉक्टर क्रॉल ने गणित द्वारा बतलाया है कि गत ३० लाख वर्ष में पृथिवी के केन्द्र की च्युति तीन बार हुई। पहली बार एक लाख सत्तर हज़ार वर्ष की, दूसरी बार दो लाख साठ हज़ार वर्ष की और तीसरी बार एक लाख साठ हज़ार वर्ष की। इस अन्तिम केन्द्र च्युति को बीते अस्सी हज़ार वर्ष व्यतीत हो चुके। डॉ० क्रॉल के इस विवेचन से ज्ञात होता है कि अन्तिम हिमकाल आज से दो लाख चालीस हज़ार वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ था और अस्सी हज़ार वर्ष पूर्व समाप्त हुआ।' इसके आगे आप फिर कहते हैं कि 'अमेरिकन

भूशास्त्रवेत्ताओं ने जो दश हज़ार वर्ष पूर्व हिमपात माना है वह वर्त्तमान ज्ञान के अनुसार मानने योग्य है'। अन्त में आप कहते हैं कि 'हिमकाल की अन्तिम आवृत्ति के विषय में अनेक अनुमान हैं, किन्तु अपने वर्त्तमान ज्ञान की स्थिति के अनुसार हमें ज्योतिश्शास्त्र की अपेक्षा भूगर्भशास्त्र पर ही विश्वास रखना चाहिए। यद्यपि हिमपात के कारणों के सम्बन्ध में तो ज्योतिश्शास्त्र का ही मत अधिक विश्वस्त है'[१]।

यह है तिलक महोदय की हिमोत्पत्ति विषयक अन्तिम निष्पत्ति। यहाँ आप स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि हिमपात के कारण तो ज्योतिश्शास्त्र ही ठीक-ठीक बतलाता है, परन्तु अपने वर्त्तमान ज्ञान की स्थिति के अनुसार अमेरिकन भूशास्त्रवेत्ताओं का ही मत ग्राह्य है। सच है, जो ज्योतिश्शास्त्र कारण बतलावें उसके अनुसार तो कार्य न माना जाए, किन्तु भूगर्भशास्त्र के ऐसे कथानक पर विश्वास किया जाए जिसके कार्यकारण का कोई ठिकाना न हो।

यहाँ यदि सूक्ष्मता से देखें तो ज्ञात होगा कि उन्होंने ज्योतिष्प्रतिपादित काल ही सत्य माना है, परन्तु चूँकि ओरायन ग्रन्थ में आप वेदों की आयु छह हज़ार वर्ष बतला चुके हैं, ऐसी दशा में अब लाखों वर्ष की बात कैसे स्वीकार करें? 'वर्त्तमान ज्ञान' लिखकर आपने अमेरिकन विद्वानों की बात मान ली, क्योंकि ओरायन और इनकी कल्पना में थोड़ा ही अन्तर पड़ता है। इस अन्तर के लिए आपने लिखा है कि दश हज़ार वर्ष पूर्व बर्फ़ पड़ा, तथा चार हज़ार वर्ष तक सुन-सुनकर ध्रुवप्रदेश की घटनाएँ याद रक्खीं, और इसके पश्चात्, अर्थात् आज से छह हज़ार वर्ष पूर्व वेदरूप कविता में लिख लीं। इस प्रकार गोलमाल करके तिलक महोदय ने अपनी बात आगे बढ़ा दी है।

हम अभी थोड़ी देर पहले लिख आये हैं कि उत्तरध्रुव में आर्यलोग बाहर से नहीं गये। तिलक महाराज के दिये हुए विवेचन से भी यही बात पाई जाती है। ऐसी दशा में ऐसी ध्वनि निकलती है कि आर्यों की उत्पत्ति उत्तरध्रुव में हुई। यदि ऐसा है तो आर्यलोग वहाँ से तभी निकल भागे होंगे जब सबसे पहली बार वहाँ बर्फ़ का तूफ़ान आया होगा। एक स्थान पर तिलक महोदय लिखते हैं कि—'सारांश यह कि दोनों गोलार्धों में हिमकाल और हिमान्तर काल, एक के बाद दूसरा क्रम से, प्रति १०,५०० वर्ष में होता ही रहता है'[२]। यदि यह सत्य है तो यहाँ ज्योतिष् के सिद्धान्त से यह एक प्रबल सृष्टिनियम निकल आया कि प्रति १० हज़ार ५ सौ वर्ष के पश्चात् हिमपात होता ही रहता है। भले हिमपात कम या अधिक हो, परन्तु मनुष्यों को भगा देने के लिए तो थोड़ा ही बर्फ़ पर्याप्त होता है, इसलिए अब यहाँ इन तीन कल्पनाओं में से एक कल्पना सत्य होनी चाहिए। १. लोग बाहर से उत्तरध्रुव में रहने के लिए गये। २. या २० हज़ार वर्ष पूर्व आर्यलोग उत्तरध्रुव में पैदा हुए, १० हज़ार वर्ष तक सुख से वहाँ रहे और इसके पश्चात् बर्फ़ पड़ने के कारण भागकर यहाँ चले आये। ३. या वे वहाँ लाखों, करोड़ों वर्ष पूर्व आदिसृष्टि में पैदा हुए और अधिक-से-अधिक १० हज़ार वर्ष वहाँ रहकर सबसे प्रथम हिमपात में निकल आये।

---

१. These are various estimates regarding the duration of the Glacial period, but in the present state of our knowledge it is safe to rely on geology than on astronomy in this respect, though as regards the cause of the ice-age the astronomical explanation appears to be more probable.
—*Arctic Home in the Vedas, p. 38.*

२. In short, the glacial and inter-glacial period in the hemispheres will alternate with each other every 10,500 years, if the eccentricity of the earth be sufficiently great to make a perceptibly large difference between the winter and summer in each hemisphere. —*Arctic Home in the Vedas, p. 33.*

प्रथम कल्पना का हम पहले ही खण्डन कर चुके हैं कि वहाँ रहने के लिए कोई भी बाहर से नहीं जा सकता। द्वितीय कल्पना भी मानने योग्य नहीं है, क्योंकि मनुष्यों को पैदा हुए बीस हज़ार वर्ष से अधिक हो चुके। अब केवल तृतीय कल्पना ही शेष रह जाती है कि लाखों वर्ष पूर्व मनुष्य उत्तरध्रुव में पैदा हुए और पैदा होने के पश्चात् नियमानुसार साढ़े दश हज़ार वर्ष पर होनेवाला हिमपात जब हुआ तब उससे घबराकर यहाँ भाग आये। तिलक महोदय के मतानुसार ऋग्वेद के प्राचीनसूक्त हिमपात के पहले के हैं, अत: उनके मत से ही सिद्ध हुआ कि वेद भी उन पैदा होनेवालों ने ही वहाँ बनाये जो अब तक प्राप्त हैं। ओरायन नामी ग्रन्थ में वेदों की प्राचीनता को स्वीकार करते हुए, आप लिखते हैं कि 'आर्य लोग और उनका धर्म ये दोनों हिमपूर्वकालीन हैं। उनका सत्यमूल तो अतिप्राचीन भूस्तरकाल में घुसा हुआ है, अर्थात् वेद इतने प्राचीन समय से प्रचलित हैं कि जैमिनि, पाणिनि और प्राचीन ब्रह्मवादियों ने जो उनका अस्तित्व जगत् के आरम्भ से माना है और उन्हें अनादि कहा है वह स्वाभाविक ही है।' लौट-फिरकर, चक्कर लगाकर, वेद भगवान् तिलक महाराज के अनुसार, उस समय के सिद्ध होते हैं जब मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव हुआ था। यह बात अलग है कि तिलक महोदय के मत से आर्यों की उत्पत्ति उत्तरध्रुव में सिद्ध हो और हम उसे अन्यत्र मानें, परन्तु तिलक महोदय के मत से वेदों की उत्पत्ति तो मनुष्यों की उत्पत्ति के साथ-ही-साथ सिद्ध होती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

यहाँ हम अपने प्रकरण में आकर यह याद दिलाते हैं कि जिस प्रतिभाशाली विद्वान् ने ज्योतिष् के प्रमाणों से वेदों को छह हज़ार वर्ष से आगे नहीं जाने दिया वही विद्वान् अपनी दूसरी रचना में ऐसा फँस गया कि वेद लाखों-करोड़ों वर्ष के—मनुष्योत्पत्ति के समय के—आदिसृष्टि के आप-से-आप सिद्ध हो गये। अब हम यहाँ केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि ज्योतिष् सम्बन्धी कोई ऐसी घटना नहीं है, जिससे उनका समय निकाला जा सके। वेदों में उत्तरध्रुव सम्बन्धिनी घटनाएँ हैं जो घोषणापूर्वक कहती हैं कि या तो मनुष्यजाति ने उत्तरध्रुव में पैदा होकर वेदों में वहाँ का वर्णन किया या उसे यह उत्तरध्रुव का ज्योतिष्-सम्बन्धी ज्ञान गुरु-परम्परा से गुरुओं के भी गुरु उस परमात्मा की ओर से दिया गया जिसको पतञ्जलि मुनि ने '**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**'[1] कहा है। अब जमाना पलट गया है, उत्तरध्रुवोत्पत्ति का सिद्धान्त ग़लत सिद्ध हो चुका है, अत: हम विश्वासपूर्वक कहते हैं कि वेदों में जो उत्तरध्रुव-सम्बन्धी वर्णन है, उसके कारणों को ढूँढ निकालने पर हम किसी अलौकिक परिणाम पर ही पहुँचेंगे, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। तिलक महोदय के निकाले हुए समय के आधार पर, अर्थात् छह हज़ार वर्ष के आधार पर जो विद्वान् वंशावली के समय की पुष्टि करना चाहते हैं और वेदों से ऐतिहासिक राजाओं का वर्णन निकालकर सिद्ध करना चाहते हैं कि भारतवर्ष का इतिहास छह हज़ार वर्ष से आगे नहीं जाता, उनसे हम नम्रतापूर्वक पूछना चाहते हैं कि आदिसृष्टि में बने हुए इन वेदों में वर्णित राजा, ऋषि, नगर, देश कौन-से हैं और इनकी स्थिति उत्तरध्रुव में थी या और कहीं? साथ ही हम उन विद्वानों से भी जो इजिप्ट और बेबिलोन की सभ्यता को सबसे पुरानी बताना चाहते हैं, पूछते हैं, कि क्यों साहब! आप इन वेदों से पहले इजिप्ट की सभ्यता को किस प्रकार आगे बढ़ाने की हिम्मत करते हैं जबकि तिलक महोदय स्वयं ही अपनी बात का खण्डन कर गये।

---

१. योगदर्शन १।२६

तिलक महोदय ने जिस प्रकार अपनी प्रथम पुस्तक 'मृगशीर्ष' में वेदों से ज्योतिष्-सम्बन्धी घटनाएँ निकालने में भूलें की हैं, उसी प्रकार दूसरी पुस्तक 'उत्तरध्रुव निवास' में भी उन्होंने दो बड़ी ग़लतियाँ कर डाली हैं। एक ग़लती तो यह है कि उन्होंने आर्यों का उत्तरध्रुव से यहाँ आना सिद्ध किया और दूसरी ग़लती यह है कि उन्होंने युगों की लम्बी-लम्बी संख्याओं को पौराणिक कह दिया और युगों के द्वारा जो सृष्टिसंवत् निश्चित होता है, उसकी परवाह नहीं की। प्रत्युत सृष्टि-उत्पत्तिकाल को भी ध्रुव के हिमपात काल के साथ ही जोड़ दिया है, किन्तु आपका 'उत्तरध्रुव निवास' अब अमान्य हो गया है। इस सिद्धान्त के खण्डन में अब तक तीन विद्वानों ने तीन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, जिनसे स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का आगमन उत्तरध्रुव से नहीं हुआ। जब उत्तरध्रुव निवास का मूल सिद्धान्त ही ग़लत हो गया तब युगगणना और १२,००० देववर्षों की बात पर अब उनका कुछ भी प्रभाव नहीं रहा।

उत्तरध्रुव निवास की अमान्यता

तिलक महोदय के लिखे हुए 'उत्तरध्रुव निवास' ग्रन्थ का खण्डन करने के लिए बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' और बाबू अविनाशचन्द्र दास एम०ए० बी०एल० ने 'ऋग्वेदिक इंडिया' और नारायण भवानराव पावगी ने 'आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' बड़ी योग्यता से लिखे हैं। तीन ग्रन्थकार कहते हैं कि तिलक महोदय ने भूल की है। यहाँ हम तीनों ग्रन्थों से एक-एक वाक्य लिखकर दिखलाना चाहते हैं कि वे किस प्रकार लोकमान्य तिलक की पुस्तक का खण्डन करते हैं। 'आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' में पावगी महोदय कहते हैं कि 'तिलक ने अपने ग्रन्थ में लिखा है कि It is clear that this Soma juice was extracted and purified at night during the *Atiratra* sacrifice, (in the Arctic) and *Indra* was the only deity to whom the libations were offered in order to help in his fight with the *Asuras,* who had taken shelter with the darkness of the night.

अर्थात् उत्तरध्रुव में अतिरात्र यज्ञ के समय रात्रि में सोमरस निकालकर साफ़ किया जाता था और असुरों का पराभव करने के लिए इन्द्र को समर्पित किया जाता था, परन्तु उत्तरध्रुव में तो सोमलता होती ही नहीं। वह तो हिमालय में होनेवाली वस्तु है, क्योंकि अनेक स्थानों पर लिखा है कि मुंजवान् पर्वत पर होती है। यह मुंजवान् पर्वत् हिमालय का ही भाग है, इसलिए उत्तरध्रुव निवास का सिद्धान्त सच्चा नहीं है'। यह एक ऐसा प्रमाण है जिसने उस थ्योरी का खण्डन कर दिया है, जिसके द्वारा तिलक महोदय उत्तरध्रुव में आर्यों का निवास सिद्ध करते हैं। ऊपर के प्रमाण से तो यह परिणाम निकलता है कि आर्य वहाँ पैदा हुए, जहाँ सोमलता होती हो।

अविनाश बाबू अपने 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि 'वेद उस समय बने जब सरस्वती नदी हिमालय से बहकर सीधी समुद्र को जाती थी। उस समय राजपूताने का मरुस्थल समुद्र हो रहा था'[१]। इस समय सरस्वती नदी का पता भी नहीं है। वह जब बहती थी उस समय इस ऋचा के कहनेवाले उस नदी को देखते थे। समुद्र कितने दिन तक रहा, सरस्वती उसमें बहकर गिरती थी, उसको कितना समय हुआ और समुद्र तथा सरस्वती को सूखे हुए कितने दिन

---

१. A sea actually covered a very large protion of modern Rajputana. This *Rik* clearly indicates that at the time of its composition, the river *Saraswati* used to flow from the *Himalya* directly to the sea.
—*Rigvedic India,* p. 7.

हुए ? यदि समुद्र और सरस्वती एक ही समय में सूखे हों तो अविनाश बाबू की राय में उक्त घटना को हुए कम-से-कम लाखों वर्ष हो गये[१]। अविनाश बाबू के कथनानुसार लाखों वर्ष पूर्व आर्य लोग उस जगह पर थे जहाँ सरस्वती नदी और राजपूताने का समुद्र लहरा रहा था। इस प्रकार अविनाश बाबू ने भी उत्तरध्रुवोत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन कर दिया और सिद्ध कर दिया कि आर्यलोग लाखों वर्ष पूर्व आर्यावर्त्त में ही रहते थे।

बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न कहते हैं कि 'तिलक महोदय का मत संशोधन करने के लिए हम गत वर्ष उनके घर गये और उनके साथ पाँच दिन तक इस विषय में बहस करते रहे। उन्होंने हमसे सरलतापूर्वक कह दिया कि हमने मूल वेद नहीं पढ़े—हमने तो केवल साहब लोगों के अनुवाद पढ़े हैं'। इस एक ही वाक्य में उन्होंने यह कह डाला कि वेदों के द्वारा तिलक महोदय का निकाला हुआ यह सिद्धान्त कि आर्य लोग उत्तरध्रुव के निवासी हैं विश्वास योग्य नहीं है, क्योंकि जो आदमी जिस पुस्तक को समझ नहीं सकता वह उसके अन्दर की बात कैसे जान सकता है और कैसे उसके आधार पर अनुसन्धान कर सकता है ? इन तीनों विद्वानों ने इतना ही नहीं लिखा किन्तु अपने ग्रन्थों में पचास से दो सौ पृष्ठों तक का सारा स्थान लोकमान्य तिलक के सिद्धान्त के खण्डन में लगा दिया है।

वेदों में सोम किस वस्तु को कहा है और सरस्वती किस पहाड़ से निकलकर किस समुद्र में गिरती है, इसका वर्णन हम यहाँ नहीं करना चाहते। हम तो यहाँ केवल यही बतलाना चाहते हैं कि जिस रीति का अर्थ तिलक महोदय को प्रिय था उसी ढंग से अर्थ करनेवाले पाश्चात्य शिष्यगण उनको मिल गये, जिन्होंने सिद्ध कर दिया कि सोमलता उत्तरध्रुव में नहीं होती, अतः वेदों में उत्तरध्रुव के सोमयाग का वर्णन नहीं हो सकता, क्योंकि लाखों वर्ष पूर्व आर्यलोग राजपूताने के समुद्र में सरस्वती को गिरते हुए देखते थे। तात्पर्य यह कि लाखों वर्ष पूर्व आर्य लोग वहाँ थे जहाँ सोमलता हो, सरस्वती नदी हो, और राजपूताने का समुद्र हो। इन वर्णनों से दो बातें सामने आईं—एक तो यह कि वेद लाखों वर्ष के पुराने सिद्ध हुए, दूसरी यह कि आर्यों का उत्तरध्रुव में निवास सिद्ध न होकर भारतवर्ष में सिद्ध हुआ।

अब रहा दूसरा प्रश्न जिसके विषय में लोकमान्य तिलक ने लिखा है कि 'यह देववर्ष और मनुष्यों की वर्षसंख्या की गड़बड़ पौराणिक है—निराधार है। इसको देववर्ष कहना भूल है। हमारी की हुई १२,००० वर्ष की गिनती ठीक है। यह वह वर्षसंख्या है जो हिमपात आरम्भ होने से आजतक की होती है'। इसपर हम कहते हैं कि यह युगों की संख्या है, हिमकाल की नहीं।

युगगणना और मनुष्योत्पत्तिकाल

यद्यपि लोकमान्य तिलक ने अपनी पहली पुस्तक 'ओरायन' का खण्डन दूसरी पुस्तक 'आर्यों का उत्तरध्रुव निवास' के द्वारा कर दिया है, परन्तु इसमें उन्होंने बहुत ही आक्षेप योग्य यह बात लिख डाली है कि युगों की लम्बी-लम्बी संख्याएँ पौराणिक हैं, वैदिक नहीं और १२,००० देववर्षों की जो संख्या मिलती है वह उसी समय की सूचक है जिस समय उत्तरध्रुव में हिमपात हुआ था, किन्तु हम देखते हैं कि यह संख्या सृष्टि-उत्पत्ति और मनुष्य-उत्पत्ति से सम्बन्ध रखती है, इसलिए हम यहाँ

१. If the disappearance of the Saraswati was synchronous with that of the sea, then the event must have taken place some tens of thousand of years ago, if not hundreds of thousands or millions.
—*Rigvedic India*, p. 7.

इसका भी निर्णय कर लेना उचित समझते हैं। मनुष्य कब पैदा हुआ, इस विषय में तीन प्रकार के विचार पाये जाते हैं—१. धार्मिक सम्प्रदायों के अनुसार, २. वैज्ञानिकों के अनुसार और ३. वैदिक आर्यों के ज्योतिष् और ऐतिहासिक विश्वासों के अनुसार। हम यहाँ क्रम से तीनों का विचार करते हैं।

साम्प्रदायिक मनुष्योत्पत्तिकाल

धार्मिक सम्प्रदायों में इस समय हिन्दू, पारसी, यहूदी, बौद्ध, ईसाई और मुसलमान ही प्रधान हैं। शेष जितने मत-मतान्तर हैं वे सब इन्हीं की शाखा-प्रशाखा अथवा मिश्रण हैं। आर्यों और पारसियों के यहाँ सृष्टिकाल वही माना जाता है जो हमारे दैनिक संकल्प से सिद्ध होता है। १२,००० दिव्य वर्षों का दैवी समय पारसियों के यहाँ भी माना जाता है। यह सिवा आर्यों की चतुर्युगी के दूसरा कुछ नहीं है। आर्यों के यहाँ भी यही माना जाता है। इस प्रकार प्राचीन आर्यों का इस विषय में मतभेद नहीं है। अब यहूदी, ईसाई और मुसलमानों के मत से केवल एक ही समय शेष रह जाता है, जो बाइबल के पुराने अहदनामे में इस प्रकार दिया हुआ है—

आदम से नोआ तक ११ पीढ़ी	२२६२ वर्ष
नोआ के पुत्र शेम से इबराहिम तक ११ पीढ़ी	१३१० वर्ष
योग	**३५७२ वर्ष**

इबराहिम कब हुआ इसमें तनिक-सा मतभेद है। डॉक्टर स्पीगल कहते हैं कि वह ईस्वी सन् पूर्व १९०० में हुआ। इनके अनुसार इबराहिम को हुए आज तक ३८२९ वर्ष होते हैं, किन्तु अन्य विद्वान् आदम का समय आज से ६९९३ वर्ष पूर्व बतलाते हैं, इस हिसाब से इबराहिम को हुए आजतक ३४२१ वर्ष होते हैं। दोनों का मध्यभाग यदि ३६०० वर्ष मान लें तो आदम को हुए आज तक (३५७२+३६००=) ७१७२ वर्ष होते हैं। बस, संसार के ये धार्मिक सम्प्रदाय इससे आगे नहीं जाते।

वैज्ञानिक मनुष्योत्पत्तिकाल

इसके बाद वैज्ञानिकों का नम्बर है। यह समुदाय संसार की आयु बड़े संकोच के साथ आगे बढ़ाता है। अभी ऊपर हम जिस बाइबल-काल को लिख आये हैं, उसी मार्ग से विज्ञानवेत्ताओं को आना पड़ता है, क्योंकि वे ईसाई माता-पिता की गोद में पलकर बाहर आते हैं। जब कोई विद्वान् किसी नवीन खोज से कुछ समय निश्चित भी करता है तब चालाक पादरी प्रश्न करने लगते हैं कि क्या प्रमाण है कि तुम्हारा अनुमान अचूक है—सर्वथा सत्य है और क्या प्रमाण है कि तुमने अपनी इस कल्पना में धोखा नहीं खाया? इत्यादि। ऐसी दशा में बहुत-सी बाधाएँ पड़ जाती हैं। बाधाएँ, यदि शुद्ध हृदय से डाली जाएँ तो बुरी नहीं है, परन्तु दुराग्रह और हठ से बाधा डालना बहुत बुरा है। जो हो, परन्तु वैज्ञानिकों ने बड़ी बहादुरी से संकीर्णमार्ग से निकलकर नवीन खोजों के द्वारा अच्छी-से-अच्छी गणनाओं के साथ अपने-अपने मत प्रकट करके बतलाने की चेष्टा की है कि पृथिवी की आयु कितनी है और मनुष्य को उत्पन्न हुए कितने वर्ष हुए। विज्ञानवेत्ताओं ने इस विषय का कई प्रकार से समाधान किया है। किसी ने सूर्यताप से, किसी ने समुद्र के क्षारजल से, किसी ने जमी हुई पृथिवी की तहों से और किसी ने रेडियम आदि तत्त्वों की सहायता से। इन विद्वानों की सूझ और परिश्रम पर प्रसन्नता होती है, परन्तु उतना ही दुःख होता है जब हम देखते हैं कि इन सबके विचार परस्पर नहीं मिलते। विचारों का न मिलना इस बात की बड़ी स्थूल और प्रभावशाली दलील है कि इनमें से सच्चे सिद्धान्त का प्राप्त करना सहज नहीं है।

आर्थर होम्स (Arthor Holmas B.Sc., A.R.C.S.) नामी विद्वान् ने 'पृथिवी की आयु' (The Age of the Earth) नामी इस विषय की एक बहुत ही उत्तम पुस्तक लिखी है और 'हार्पर एण्ड ब्रदर्स' नामी लन्दन की एक कम्पनी ने छपाकर प्रकाशित की है। पुस्तक सर्वाङ्ग उत्तम है और थोड़े में इतिहास के साथ इस बात को बतला देती है कि अब तक कितने लोगों ने, कितने प्रकारों से, कब-कब, किस-किस पुस्तक के द्वारा इस विषय का क्या-क्या वर्णन किया है। पुस्तक के एकबार आद्योपान्त पढ़ने ही से मनुष्य इस विषय में अप-टु-डेट हो जाता है, किन्तु दुःख है कि परिणाम सन्तोषदायक नहीं होता—सर्वत्र वही अनैक्य और मतभेद का साम्राज्य है। इस विषय के विज्ञानवेत्ताओं ने अनेक प्रकार से पृथिवी की आयु का अनुमान लगाया है। इनमें सूर्यताप, भूताप, समुद्रक्षार, भौगर्भिक प्रकार और रेडियोएक्टिविटी के द्वारा जो आयु अनुमानित की है, वह इस प्रकार है—

१. सूर्यताप के द्वारा १८ से २० मिलियन[१] वर्ष।
२. भूताप के द्वारा २० से ६० मिलियन वर्ष।
३. समुद्र जल के द्वारा १०० मिलियन वर्ष।
४. भूगर्भ के द्वारा १०० मिलियन वर्ष।
५. रेडियोएक्टिविटि के द्वारा ३७० मिलियन वर्ष।

एक मिलियन दश लाख का होता है। ग्रन्थाकार ने उक्त समयों को विस्तार के साथ लिखा है। इन भिन्न-भिन्न समयों से तीन बातें पाई जाती हैं। १. एक रीति का निकाला हुआ समय दूसरी रीति से नहीं मिलता। २. सब समयों में अब तक सन्देह है, निर्भ्रान्त कोई नहीं है। ३. सब कमी की ओर से अधिक की ओर जा रहे हैं। ये तीनों बातें एक होकर यह अभिप्राय प्रकट करती हैं कि उक्त समय विश्वास के योग्य नहीं है। विश्वास योग्य न होने का कारण स्पष्ट है कि ये सब आपस में नहीं मिलते। इसलिए ये सभी सिद्धान्त अमान्य हैं। हमारी इस बात को ग्रन्थाकार ने भी स्वीकार किया है। वे कहते हैं कि इन समस्त मतों में रेडियोएक्टिविटी और भूगर्भशास्त्र के मत कुछ विश्वास के योग्य हैं, शेष सब त्याग कर देने योग्य हैं[२]। उक्त दोनों में भी वे भूगर्भशास्त्र को ही महत्त्व देते हैं और दूसरे को अमान्य करते हैं[३]। वे भूगर्भशास्त्र के प्रमाणों को कुछ अधिक विश्वस्त समझते हैं। अन्यत्र भी हम देखते हैं कि वर्त्तमान विद्वन्मण्डली भूगर्भशास्त्र पर ही भरोसा करके पृथिवी की आयु-सम्बन्धी विचार चलाती है। विकासवाद के सिद्धान्तवाले भी इसी का सहारा लेते हैं, अतः यहाँ हम थोड़े में, स्थूलरूप से, यह दिखलाना चाहते हैं कि जिस रीति से

---

१. मिलियन का अर्थ है—१० लाख। २० मिलियन का अर्थ हुआ १००००००×२०=२००००००० [दो करोड़]। ३७० मिलियन का अर्थ हुआ—१००००००×३७०=३७००००००० [सैंतीस करोड़ वर्ष]। —**सम्पादक**

२. Of the various methods which have been devised to solve the problem of the earth's age, only two, the geological and the radioactivity, have successfully withstood the force of destructive criticism. The other arguments may be dismissed without further discussion, as in every case their cogency has been vitiated by the detection of a fundamental error. —*The Age of the Earth*, p. 166.

३. The fundamental assumptions on which the arguments are based can not both be right. One of them must be rejected. We now turn with double interest to the geological estimates. With the acceptance of a reliable time-scale, geology will have gained an invaluable key to further discovery. In every branch of the science its mission will be to unify and correlate, and with its help a fresh light will be thrown on the more facinating problems of the Earth and its Past. —*The Age of the Earth*, pp. 167, 170 and 176.

भूगर्भशास्त्री भूस्तरों के द्वारा पृथिवी की आयु का अनुमान करते हैं, वह नितान्त भ्रामक है।

पृथिवी का एक परत कितने दिन में बनता है, यह जानना तो बड़ी दूर की बात है, परन्तु एक परत कहते किसे हैं यह जानना भी बड़ा कठिन है। सभी जानते हैं कि वर्षा के कारण पृथिवी में एक स्तर प्रतिवर्ष पड़ जाता है। वह कितना पतला होता है और स्थान-स्थान में उसके कितने भेद हो जाते हैं यह भी सब जानते हैं, किन्तु कई वर्ष के बाद जब हम कोई कुवाँ खोदने लगते हैं तो हमें रेत, कंकड़, काली मिट्टी और सफ़ेद मिट्टी आदि के अनेक पर्त दिखते हैं, जो एक फुट, दो फुट, चार फुट आदि के मोटे होते हैं, परन्तु उन पतले स्तरों का कहीं नाम-निशान भी देखने को नहीं मिलता जो प्रतिवर्ष बनते हैं। वे बारीक स्तर कहाँ गये ? इसका यही उत्तर है कि पृथिवी के दबाव से कई वर्ष के बाद ये पतले-पतले स्तर एक हो गये। इसी प्रकार पृथिवी के अत्यन्त नीचेवाले चट्टान जिनको Metamorphic Rocks कहते हैं, वे भी दबाव और उष्णता के कारण पिघलकर एक हो गये हैं।

ऊपर जो अंग्रेजी का शब्द दिया गया है उसका अर्थ ही यह होता है कि वे रूपान्तरित हो गये हैं। ये दोनों उदाहरण हमारे सामने हैं। एक को हम प्रतिवर्ष देखते हैं और दूसरे को विद्वानों ने समझ-बूझकर लिखा है। दोनों यह बतलाते हैं कि पृथिवी के स्तर ज्यों-के-त्यों नहीं रहते। उनके रूपों में अन्तर पड़ जाता है। अब देखना चाहिए कि रूपों का भी कोई सिद्धान्त है या नहीं। एक ही गाँव में एक कुवाँ खारा है और दूसरा मीठा है। एक में तह बालू की है तो दूसरे में उतनी ही गहराई पर लाल मिट्टी की। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि सब स्तर समान स्तर पर हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि सबकी मोटाई समान है और यह भी नहीं कहा जा सकता कि सबमें एक ही वस्तु विद्यमान है। ऐसी दशा में यह अनुमान कभी नहीं किया जा सकता कि जो स्तर यहाँ इतने दिन में हो पाया होगा वही दूसरी जगह भी उतने ही दिनों में हो सका होगा। बर्फ़ की तहों की जाँच से विद्वानों ने निश्चय किया है कि बर्फ़ संसार में सर्वत्र एक ही समय में नहीं पड़ा। यह एक दूसरी अड़चन है जो उस पहली कठिनाई को दूना कर देती है। अतएव जहाँ वार्षिक स्तरों का पता न हो, जहाँ पुराने-से-पुराने मोटे स्तरों का भी पता न हो और जहाँ एक प्रकार की समानता भी न हो वहाँ थोड़-से स्थानों की जाँच से सारी पृथिवी की आयु का अनुमान करना कितना कठिन है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। पतले तहों का मोटे तहों में लीन हो जाना और प्रत्येक स्थान की असमानता—ये दोनों ऐसी बातें हैं, जिनके कारण कभी भी भूगर्भशास्त्र का निकाला हुआ समय सत्य नहीं हो सकता। यही कारण है कि 'पृथिवी की आयु' नामी पुस्तक का लेखक, भूगर्भशास्त्र के सिद्धान्तों को मानता हुआ भी कहता है कि भूगर्भशास्त्र की मर्यादा भी निश्चयात्मक नहीं है[१]। चलो छुट्टी हुई, जिसपर इतना भरोसा था, वह भी अनिश्चित निकला। इस प्रकार वैज्ञानिक समय भी सन्तोषकारक न ठहरा।

पृथिवी की उत्पत्ति का तो यह हाल है अब तनिक मनुष्योत्पत्तिकाल को भी देखिए। मनुष्योत्पत्तिकाल में इससे भी अधिक मतों और अनैक्यताओं की भरमार है। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दि वर्ल्ड' के योग्य सम्पादकों ने मनुष्य के उत्पत्तिकाल को एक लाख वर्ष का माना है। विकासवाद में कई विद्वानों के मत से आठ लाख वर्ष माने गये हैं। अभी हाल में एक जूता मिला

---

१. The geological period is difficult to establish with certainty. —*The Age of the Earth*, p. 159.

है, जिसको देखकर वैज्ञानिक लोग मनुष्योत्पत्ति काल को ६० लाख वर्ष से भी पूर्व का मानते हैं। ऐसी दशा में ऐसे मतानैक्य के कारण वैज्ञानिकों का निकाला हुआ मनुष्योत्पत्तिकाल भी सन्तोषकारक नहीं हो सकता, इसलिए आगे हम वैदिक आर्यों के मत से देखना चाहते हैं कि मनुष्योत्पत्ति का ठीक-ठीक काल कितना है।

वैदिक मनुष्योत्पत्ति काल

जिस प्रकार बाइबल मनुष्योत्पत्तिकाल बताने में असमर्थ है, उसी प्रकार पाश्चात्य वैज्ञानिक भी पृथिवी की आयु और मनुष्योत्पत्तिकाल निकालने में हताश हो रहे हैं। मनुष्योत्पत्तिकाल और पृथिवी की सच्ची आयु कल्पना के आधार से निकल ही नहीं सकती। इनका सच्चा हिसाब कल्पना से नहीं प्रत्युत आर्यों के सृष्टिसंवत् से ही ज्ञात होता है, उसकी परवाह तिलक महोदय, श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य और श्रीमान् मिश्रबन्धुओं ने नहीं की। उन्होंने इस सच्चे सिद्धान्त को छोड़कर विदेशियों की कल्पना का ही सहारा लिया है, इसीलिए उनके सिद्धान्त निर्भ्रान्त नहीं ठहरते। बिना सृष्टिसंवत् की गणना का सहारा लिए मनुष्योत्पत्तिकाल निश्चित ही नहीं हो सकता, इसलिए यहाँ हम पहले सृष्टि-उत्पत्तिकाल देकर तब मनुष्योत्पत्ति काल का वर्णन करेंगे।

कोई आदमी यदि किसी की आयु जानना चाहे तो उसे चाहिए कि वह उसके जन्मपत्र को देख ले और उसपर विश्वास करे। उसे यह उचित नहीं है कि वह जिसकी आयु जानना चाहता है, उसके जन्मपत्र की परवाह न करे, किन्तु उसके दाँत-आँख डॉक्टर को दिखला कर उसकी अवस्था निश्चित करे। हाँ, यदि कुण्डली न हो तो वैसा करना अनुचित नहीं है। जिन देशों के पास पृथिवी और मनुष्योत्पत्ति का जन्मपत्र नहीं है, वे भले ही डॉक्टरों से उसकी आयु का अनुमान करावें, परन्तु हमारे देश में तो सृष्टि-उत्पत्ति, पृथिवी-उत्पत्ति और मनुष्योत्पत्ति का जन्मपत्र और रोज़नामचा बना-बनाया रक्खा है, अतः हमें तनिक भी आवश्यक नहीं है कि हम उसको हटाकर डॉक्टर की कल्पना पर विश्वास करें।

आगे हम आर्यों के वैदिक संवत् की पड़ताल करते हैं और देखते हैं कि उससे मनुष्योत्पत्ति काल कब निश्चित होता है। आर्यों का यह वैदिक संवत् हिन्दुओं, पारसियों, स्कण्डेनेवियनों और बेबिलोनियावालों में एक समान ही पाया जाता है और हिन्दुओं के दैनिक सङ्कल्प में प्रतिदिन पढ़ा जाता है। संकल्प का सारांश इस प्रकार है—**'द्वितीयपरार्द्धे वैवस्वतमन्वन्तरे अष्टाविंशति-कलौ युगे ५,०३० गताब्दे'**, अर्थात् यह वैवस्तमनु का अट्ठाइसवाँ कलि है, जिसके ५०३० वर्ष बीत चुके हैं। ब्रह्मा के एक दिन को कल्प अथवा सृष्टि समय कहते हैं। यह कल्प १४ मन्वन्तरों अथवा एक सहस्र चतुर्युगियों का होता है। अब तक छह मन्वतन्तर बीत चुके हैं। एक मन्वन्तर लगभग ७१ चतुर्युगियों का होता है। वैवस्वतमनु की २७ चतुर्युगी बीत चुकी हैं। अट्ठाइसवीं में भी (कृत, त्रेता और द्वापर) तीन युग बीत चुके हैं। चौथे कलि के भी ५०३० वर्ष बीत चुके हैं। गणित करके देखा गया है कि इस गणना के अनुसार सृष्टि उत्पत्ति को अब तक १,९७,२९,४०,०३० वर्ष बीत चुके हैं।

पारसियों के विश्वासानुसार संसार की स्थिति का समस्तकाल १२,००० वर्ष है[१]।

---

१. The Persian Sages, led by Zoroaster believed that the total duration of the world's existence was limited to 12,000 years. —*The Age of the Earth*, p. 3.

हमारे शास्त्रों में लिखा है कि हमारी एक चतुर्युगी देवताओं के १२ हज़ार वर्षों की होती है, क्योंकि तैत्तिरीयब्राह्मण ३।९।२२ में ही लिखा हुआ है कि **'एकं वा एतद्देवानामहः यत्संवत्सरः'**, अर्थात् जो संवत्सर है वह देवतों का एक दिन है। पारसियों के यहाँ भी वही लिखा है कि **'तएच अयर मइन्यएन्ते यतयरे'**, अर्थात् जो देवतों का दिन है वह हमारा एक वर्ष है। इस ज़न्दभाषा के वाक्य का संस्कृतवाक्य—**'ते च अहरं मन्यन्ते यद्वर्षम्'** बनता है, अतः देवों का एक वर्ष हमारे ३६० वर्षों के बराबर और १२,००० देववर्ष हमारे ४३,२०,००० वर्षों के बराबर होते हैं। यह संख्या एक महायुग, अर्थात् एक चतुर्युगी की है। इसी पर तीन शून्य और रखने से एक सृष्टि काल हो जाता है। इसी प्रकार उपर्युक्त पारसियों के १२००० देववर्षों पर भी केवल तीन शून्य रखने से सृष्टि समय निकलता है।

बेबिलोनियावालों के यहाँ भी यही गिनती चालू है। इस विषय में Origin of the Week, अर्थात् 'सप्ताह की मौलिकता' शीर्षक एक बहुत ही विचारपूर्ण लेख महाशय शामशास्त्री ने Annals of the Bhandarkar Institute Vol. IV, Part 1, July 1922 में लिखा है। आप लिखते हैं कि 'हमारे सूर्यसिद्धान्त में जिस प्रकार दश स्वर का एक श्वास, छह श्वास की एक विनाड़ी, साठ विनाड़ी की एक नाड़ी और साठ नाड़ी का एक दिन लिखा है उसी प्रकार बेबिलोनियन लोगों में भी सास, सर और नेर की गिनती है। यह सास, सर और नेर, श्वास, स्वर और नाड़ी का ही बिगड़ा हुआ रूप है। राबर्ट ब्राउन कहते हैं कि 'बेबिलोनियावालों का विश्वास है कि उनके दश राजाओं ने १२० सर राज्य किया। बेरोसस (Berosos) के मतानुसार एक सास ६० वर्ष की और एक सर ३६०० वर्ष का होता है। ३६०० को १२० से गुणा करने पर ४,३२,००० होते हैं। यह कलियुग की वर्षसंख्या है[१]।'

बेबिलोनियावालों के अनुसार और स्केण्डेनेवियावालों के यड्डा[२] के अनुसार कलियुग की गिनती का तथा पारसियों के अनुसार चतुर्युगी की गिनती का प्रमाण मिलता है, इसलिए सिद्ध है कि आर्यों की युगगणना और कल्पसंख्या ऐतिहासिक है और सत्य सिद्धान्त पर रची गई है।

---

१. According to the *Suryasiddhanta* (1.11.12) ten long syllables or Savaras=one respiration or Swasa, six Swasas or respiration=one Vinadi, sixty Vinadis=one Nadi, sixty Nadis=one day, that is, the time taken to pronounce 10×6×60×60=2,16,000 syllables is equivalent to a day of 24 hours.

The Babylonion figures like those of the Hindus are 6 and 10 and the multiples of 6 and 10 and their squares, and the terms employed by the babylonion to name them are Sar (3600), Soss (60), and Nar (600), which seem to be identical with Hindu terms, Swara, Swass, and Nadi.

Robert Brown says—This stellar and originally solar Ram stands at the head of the 10 antediluvian Babylonion kings whose reigns divide the circle of the ecliptic and who are said to have reigned 120 Sars (4,32,000 years). In Akkad 60 was the unit and according to Berosos, the time-periods were a Soss (60 years), Nar (60×10=600), and a Sar (600×60=3,600); 3,600×120=4,32,000.

२. According to the Edda, Walhall has 540 gates, if this number be multiplied by 800, the number of Einheriers who can march out abrest from each gate, the product will be 4,32,000, which forms the very elementry number for the so frequently-named ages of the world or Yugas, adopted both in the doctrine of Brahma and Buddha, of which the one now in course will extend to 4,32,000, years, the three preceding ones corresponding to the number multipiled by 2, 3, and 4.

Five hundred and forty doors, I believe to be in Walhall. Eight hundred Einheriers can go out abreast when they are to fight against the Ulfven (the wolf). Here is meant the fatal encounter with Fenris Ulfven at the end of the world, when Odin, at the head of 432,000 armed Einheriers takes the field against them. —*Theogony of the Hindus*, pp. 107 and 108.

युगों का समय शतपथब्राह्मण १०।४।२।२२-२५ में बड़ी विचित्रता से बतलाया गया है। वहाँ अग्निचयन प्रकरण में लिखा है कि ऋग्वेद के अक्षरों से प्रजापति ने १२,००० बृहती छन्द (प्रत्येक ३६ अक्षर का) बनाये, अर्थात् ऋग्वेद के कुल अक्षर ४,३२,००० हुए। इसी प्रकार यजुर्वेद के ८,००० और साम के ४,००० मिलकर कुल १२,००० के भी वही ४,३२,००० अक्षर हुए। इनके जब पंक्ति छन्द (४० अक्षर का) बनाते हैं तो १,०८,००० छन्द होते हैं। उतने ही यजु: और साम के भी होते हैं। एक वर्ष के ३६० दिन और एक दिन के ३० मुहूर्त्त होने से वर्ष के १०८०० मुहूर्त्त हुए। यहाँ मुहूर्त्त से लेकर वर्ष, युग और चतुर्युगी आदि की सभी संख्याएँ बतला दी गई हैं। ऊपर हम बतला आये हैं कि आर्यों में ही नहीं प्रत्युत पारसी, स्केण्डेनेविया और बेबिलोनिया के लोगों तक में कलि की और चतुर्युगी की संख्या विद्यमान है। तैत्तिरीय में एक दिन का एक वर्ष लिखा हुआ है और शतपथ का वर्णन वेदों के अक्षरों द्वारा मुहूर्त्त से लेकर चतुर्युगी तक की गिनती बतला रहा है। ऐसी स्थिति में कैसे कहा जा सकता है कि युगों की लम्बी-लम्बी संख्याएँ पौराणिक गपोड़े हैं। स्वयं वेद में ही लिखा है—

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र॥

—अथर्व० १०।७।९

अर्थात् भूत, भविष्यमय कालरूपी घर एक सहस्र खम्भों पर खड़ा किया गया है। इन खम्भों के अलंकार से एक कल्प में होनेवाली एक सहस्र चतुर्युगियों का वर्णन किया गया है। अथर्ववेद ८।२।२१ में एक कल्प के वर्षों की संख्या इस प्रकार बतलाई गई है—'**शतं ते अयुतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः**', अर्थात् सौ अयुत वर्षों के आगे दो, तीन और चार की संख्या लिखने से कल्पकाल निकल आवेगा। अयुत दश हज़ार का होता है। इसलिए सौ अयुत, दश लक्ष हुए। दश लक्ष के सात शून्य लिखकर उनके पहले दो तीन चार लिखने से ४,३२,००,००,००० वर्ष होते हैं। यह संख्या एक हज़ार चतुर्युगियों की है। इसी को एक ब्राह्मदिन या एक कल्प की संख्या कहते हैं। यजुर्वेद ३०।१८ में चारों युगों के नाम इस प्रकार हैं—'**कृतायादिनवदर्शं त्रेतायै कल्पिनं द्वापरायाधि कल्पिनमास्कन्दाय सभास्थाणुम्।**' इसका अर्थ तैत्तिरीय ४।३।१ में इस प्रकार है—'**कृताय सभाविनं त्रेताया आदिनवदर्शं द्वापराय बहिस्सदं कलये सभास्थाणुम्**'।

यहाँ तक हमने यह दिखलाया कि चारों युगों और उनके दीर्घ समय का वर्णन वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि प्राचीन आर्षग्रन्थों में वर्णित है और ईरान, स्केण्डेनेविया और बेबिलोनिया आदि विदेशियों के यहाँ भी पाया जाता है, इसलिए यह लम्बी संख्या मनगढ़न्त नहीं है—पौराणिक नहीं है। आगे हम यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि यह संख्या ज्योतिष् के सिद्धान्तों पर स्थिर है। हमने अब तक आर्य ज्योतिषग्रन्थों से जितने प्रमाण प्राप्त किये हैं, उन्हें यहाँ लिखते हैं और आशा करते हैं कि विद्वान् इस विषय पर अधिक विचार करने की कृपा करेंगे।

ज्योतिष् द्वारा युगों की गणना

युगों का आरम्भ ग्रहों के तारतम्य से होता है। 'आर्यों के ज्योतिश्शास्त्र का इतिहास' नामी पुस्तक के पृष्ठ १८० पर ज्योतिश्शास्त्र के अद्वितीय पण्डित शंकर बालकृष्ण दीक्षित लिखते हैं कि 'सूर्यसिद्धान्त और प्रथम आर्यभट्ट के मत से' वर्त्तमान कलि के आरम्भ में सूर्यादि सातों ग्रह एक ही स्थान में थे, अर्थात् उनका मध्यम भोग था। ब्रह्मगुप्त और दूसरे आर्यभट्ट के मत से सातों ग्रह कल्पारम्भ में एकत्र थे। तिलक महोदय अपने 'उत्तरध्रुव निवास' नामी ग्रन्थ में कहते हैं कि

'हमारे ज्योतिश्शास्त्रियों के मतानुसार कल्प के आरम्भ में, सूर्यादि समस्त ग्रह युति में थे। सम्भव है कि उन्होंने विपरीत गणित करके ग्रहों की सूर्यप्रदक्षिणा के हिसाब से समस्त ग्रहों का एक सीध, अर्थात् युति में आना निश्चित किया हो'। इन दोनों विद्वानों के लेखों से प्रतीत होता है कि युगों के आरम्भ के समय समस्त ग्रह एक सीध में आ जाते हैं, परन्तु किसी ने सृष्टि के आदि में और किसी ने कलियुग के आदि में समस्त ग्रहों का जो युति में होना बतलाया है उससे यह न समझ लेना चाहिए कि विद्वानों ने परस्पर विरोध पैदा कर दिया है, किन्तु यह समझना चाहिए कि चार कलियुगों की सम्मिलित संख्या का ही नाम सत्ययुग है, क्योंकि दो कलियुगों से द्वापर, तीन कलियुगों से त्रेता और चार कलियुगों से कृत या सत्ययुग होता है। कल्प सत्ययुग से ही आरम्भ होता है, अतः समझना चाहिए कि वह भी कलियुग से ही आरम्भ होता है, क्योंकि कलि के दश बार बीतने का ही नाम महायुग है[१]। इसी को चतुर्युगी कहा गया है। सिद्धान्त यह है कि प्रति कलियुग के आरम्भ में अथवा प्रति सृष्टि के आरम्भ में सातों ग्रह युति में होते हैं। सूर्यसिद्धान्त में लिखा है—

अस्मिन् कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः। विना तु पादमन्दोच्चान्मेषादौ तुल्यतामिताः॥

—सूर्य० १।५७

सत्ययुग के अन्त, अर्थात् त्रेता के आदि में पात और मन्दोच्च को छोड़कर सब ग्रहों का मध्य स्थान मेषराशि में था।

यहाँ त्रेतायुग के आरम्भ में भी वही स्थिति बतलाई गई है। इसका भी अभिप्राय यही है कि उस समय कलि के पाँचवें चक्कर पर उक्त स्थिति विद्यमान थी। यहाँ यह बात एक प्रकार से निश्चित हो गई कि कलि के आदि में सब ग्रह एक ही युति में थे, किन्तु विचार यह करना है कि क्या कभी यह बात जाँची गई? क्या कभी किसी ज्योतिषी ने गणित करके इस विषय को स्पष्ट किया? इसका उत्तर बड़े गर्व से दिया जा सकता है कि यूरोप का प्रसिद्ध ज्योतिषी बेली (Bailly), जिसने गणित करके उक्त घटना की जाँच की है, लिखता है कि 'कलियुग का आरम्भ ईस्वी सन् से ३१०२ वर्ष पूर्व २० फ़रवरी को २ बजकर २७ मिनट ३० सेकेण्ड पर हुआ था। उस समय समस्त ग्रह एक ही स्थान में थे'[२]।

कितना शुद्ध, स्पष्ट और जाँचा हुआ सिद्धान्त है। इसी प्रकार सन् १८९९ ई० में जिस साल कलि को बीते पूरे ५००० वर्ष व्यतीत हो रहे थे, भारत के बड़े-बड़े पण्डितों ने भी ज्योतिष के सिद्धान्तानुसार घोषणा की थी कि कलियुग का आरम्भ सप्त ग्रहों के एकत्र होने पर ही हुआ था। इस सिद्धान्त के सिवा ज्योतिष-सम्बन्धी एक दूसरा भी विचार है, जिसके अनुसार युगों की कल्पना पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। सूर्यसिद्धान्त ३।६ में लिखा है कि **'त्रिंशत् कृत्यो युगे भानां चक्रं प्राक्परिलम्बते'**, अर्थात् एक महायुग में भचक्र (राशिचक्र) पूर्व और पश्चिम दिशा में तीन-तीन सौ बार अथवा ६०० बार चलता है, अर्थात् राशिचक्र से पूर्व की ओर भी २७ अंश

---

१. **दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे।** —ऋ० १।१५८।६

२. According to the astronomical calculation of the Hindus, the present period of the world, Kaliyuga, commenced 3,102 years before the birth of Chirst on the 20th February at 2 hours, 27 minutes and 30 seconds, the time being thus calculated to minutes and seconds. They say that a conjunction of planets then took place, and their table show this conjunction. It was natural to say that a conjunction of the planets then took place. The calculation of the Brahmins is so exactly confirmed by our own astronomical tables that nothing but actual observation could have given so correspondent a result. —*Theogony of the Hindu* by Count Bjornstjerna, p. 32.

चलकर फिर विषुवत् रेखा पर आता है और उस स्थान से पूर्व की ओर भी २७ अंश तक जाकर अपने स्थान में लौट आता है। इस प्रकार एक ओर जाने में ३०० बार और दूसरी ओर जाने में ३०० बार, अर्थात् कुल ६०० बार एक महायुग में चलता है, इसलिए एक कल्प में ये चक्कर छह लाख बार होते हैं। इस हिसाब को महायुग में न लगाकर कलियुग में लगाकर देखिए। महायुग का १०वाँ भाग कलि है, अतः कलि अपनी आयु में ३० बार एक ओर और ३० बार दूसरी ओर, अर्थात् कुल ६० बार जाता है। इन तीस बारों को यदि कलि का एक मास मान लें तो एक बार का अर्थ एक दिन होगा, अर्थात् कलि की एक ओर की यात्रा को एक दिन और तीस बार की यात्रा को एक महीना मानना चाहिए। इस प्रकार वह अपने दो मास, अर्थात् एक ऋतु को ६० बार में समाप्त करता है और ऐसी १० ऋतुओं में, अर्थात् ६०० बार में एक महायुग बीत जाता है। इन १० ऋतुओं का एक वर्ष मानें तो ६,००,००० बार का एक कल्प या एक हज़ार वर्ष होंगे। इन्हीं एक हज़ार वर्षों की आयु नाग, गन्धर्व, किन्नर आदि सृष्टि के पदार्थों की लिखी हुई है। ये ज्योतिष् की प्रबल गणनाएँ हैं, जो युगों को ज्योतिष् के सिद्धान्तानुसार बतलाती हैं।

एक तीसरा प्रमाण सूर्यसिद्धान्त अध्याय १ का यह भी है कि **'युगे सूर्यज्ञशुक्राणां खचतुष्करदार्णवः। कुजार्किगुरुशीघ्राणां भगणाः पूर्वयाविनाम्',** अर्थात् एक चतुर्युग में सूर्य, बुद्ध, शुक्र, मङ्गल, शनि और बृहस्पति ४३,२०,००० भगण करते हैं। यही संख्या चतुर्युगी की भी है। इस प्रकार से भी युग, ज्योतिष्मूलक ही सिद्ध होते हैं।

परन्तु सातों ग्रहों के एक सीध में आने के विषय में चिन्तामणि विनायक वैद्य एम०ए० अपने 'महाभारत मीमांसा' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'युगों के आरम्भ होने की ज्योतिष्-सम्बन्धी ऐसी स्थिति किसी प्राचीन ग्रन्थ में नहीं है, यहाँ तक कि सातों ग्रहों का एक सीध में आना पुराणों तक में भी नहीं लिखा, इसलिए प्रश्न होता है कि इन बहुत ही नवीन ज्योतिष् के ग्रन्थों में यह बात कहाँ से आई'? ये ज्योतिष् के ग्रन्थ भले नवीन हों, परन्तु इनमें वर्णित ज्योतिष्-सम्बन्धी विषय नवीन नहीं हैं। इन विषयों का विस्तारपूर्वक वर्णन सूत्रग्रन्थों, ब्राह्मणों और वेदों के भिन्न-भिन्न स्थानों को एकत्र करने से मिल सकता है। इसके सिवा जिस सूर्यसिद्धान्त में यह सब वर्णित है वह भले नवीन हो, क्योंकि अलबरूनी ने इसे लाटकृत कहा है, तो भी दीक्षित कहते हैं कि इसके पहले भी सूर्यसिद्धान्त विद्यमान था। वेदाङ्गज्योतिष् बहुत ही पुराना ग्रन्थ विद्यमान है। उसमें बहुत ही पुरानी घटनाओं का वर्णन है, अतः यह नहीं कहा जा सकता कि यह बात नवीन है। क्या प्रमाण है कि यह बात पुराने सूर्यसिद्धान्त में नहीं थी? रहा पुराण आदि में न होना, वह कोई विशेष बात नहीं है, क्योंकि इन बातों का वर्णन ज्योतिष् के ही ग्रन्थों में होना चाहिए। पुराणों में तो ये बातें कभी-कभार ही आती हैं, जैसे महाभारत में यही बात आ गई है। वहाँ लिखा है—

यदा चन्द्रश्च सूर्यश्च तथा तिष्यबृहस्पतिः। एकराशौ समेष्यन्ति प्रवर्त्स्यति तदाकृतम्।

—महाभारत[1]

अर्थात् जब सूर्य, चन्द्र, तिष्य और बृहस्पति एक राशि में आ जाते हैं तब कृतयुग लगता है।

इस प्रकार महाभारत ने एक प्रकार से कह दिया कि कृतयुग के आरम्भ के समय सब ग्रह एक राशि में थे। यह वर्णन कृतयुग के आरम्भ का है, इसलिए सम्भव है कि उस समय चार ही

१. महा०वन० १९०।९०-९१

ग्रह एक राशि में हों और अन्य तीन ग्रह तनिक दूर रहे हों, परन्तु कलि के आरम्भ में तो सातों ग्रह एकत्र हो ही जाते हैं। इसके अतिरिक्त महाभारत कोई ज्योतिष् का ग्रन्थ नहीं है, जिसमें बिलकुल ही सँभालके सातों ग्रहों की बात कही जाए। कहने का तात्पर्य यह कि महाभारत वनपर्व में वह बात लिखी है, जिसके लिए वैद्य महोदय कहते हैं कि पुराणों में भी नहीं है। इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त हमें एक बात वाल्मीकि रामायण में मिली है, जिससे हमें अनुमान करने का पूरा अवसर मिलता है कि युगों और नक्षत्रों के सम्बन्ध का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में है।

हम पहले लिख आये हैं कि तैत्तिरीय में '**कलये सभास्थाणुम्**' लिखा है। वही यजुः० ३०।१८ में '**आस्कन्दाय सभास्थाणुम्**' कहा गया है। दोनों वाक्यों से सूचित होता है कि कलि को आस्कन्द कहते हैं। स्कन्द कहते हैं स्वामिकार्तिक को और आ कहते हैं अच्छे प्रकार को। दोनों का अर्थ हुआ कि जो अच्छे प्रकार से कार्तिकेय हो, वह आस्कन्द है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड सर्ग ३७ में स्कन्द, अर्थात् कार्तिकेय की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है कि 'इस आकाशगङ्गा में अग्निदेव एक पुत्र उत्पन्न करेंगे जो तुम्हारा (देवों का) सेनापति होगा। गङ्गा ने स्त्री का रूप धारण किया और अग्नि ने उसमें वीर्य स्थापित किया। गङ्गा ने कहा कि हम तुम्हारे इस तेज को धारण नहीं कर सकतीं। तब अग्नि ने कहा कि इस गर्भ को हिमालय के समीप छोड़ दो। वह गर्भ पुत्र था। उसको दूध पिलानेवाली कोई स्त्री न थी, अतः इन्द्र ने दूध पिलाने के लिए कृत्तिकाओं को नियुक्त किया। सब कृत्तिकाओं ने उस बालक को दूध पिलाया और स्नान कराया जिससे उसका शरीर अग्नि के समान झलकने लगा। '**स्कन्द इत्यब्रुवन्देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्त्रवे**'[१], अर्थात् गर्भस्राव होने से उस लड़के का नान स्कन्द हुआ। इसी प्रकार कृत्तिकाओं ने दूध पिलाया इसलिए उसका नाम कार्त्तिकेय हुआ। कृत्तिका नक्षत्र में छह तारे हैं। इन छह का दूध पीने से उसका नाम षडानन हुआ। वह एक ही दिन में दूध पीकर कुमार हो गया और शत्रु-सैन्य को पराजित कर दिया। तब अत्रि (सूर्य) आदि देवताओं ने उसको देवों का सेनापति बनाया[२]'। इस कथा से हम अपने विषय से सम्बन्ध रखनेवाली नीचे की बातें चुने लेते हैं।

१. आकाश गङ्गा में अग्नि ने गर्भ स्थापित किया।

२. हिमालय के पार्श्व में गर्भस्राव से पुत्र हुआ जो अग्नि के समान चमकता था।

३. उसको छह कृत्तिकाओं ने दूध पिलाया।

४. कृत्तिकाओं के दूध पिलाने से कार्तिकेय, छह कृत्तिकाओं का दूध पीने के कारण षडानन और गर्भ के स्कन् (स्खलन) से स्कन्द नाम हुआ।

५. एक ही दिन में दूध पीकर वह शत्रु-सेना को पराजित कर सका।

---

१. वा० रा० बाल० ३७।२७

२. **इयमाकाशगङ्गा च यस्यां पुत्रं हुताशनः। जनयिष्यति देवानां सेनापतिमरिन्दमम्॥ ७॥**
इह हैमवते पार्श्वे गर्भोऽयं संनिवेश्यताम्। श्रुत्वा चाग्निवचो गङ्गा तं गर्भमतिभास्वरम्॥ १७॥
तं कुमारं ततो जातं सेन्द्राः सह मरुद्गणाः। क्षीरसंभावनार्थाय कृत्तिकाः समयोजयत्॥ २३॥
ताः क्षीरं जातमात्रस्य कृत्वा समयमुत्तमम्। ददुः पुत्रोऽयमस्माकं सर्वासामिति निश्चिताः॥ २४॥
ततस्तु देवताः सर्वाः कार्तिकेय इति ब्रुवन्। पुत्रस्त्रैलोक्यविख्यातो भविष्यति न संशयः॥ २५॥
तेषां तद्वचनं श्रुत्वा स्कन्नं गर्भपरिस्त्रवे। स्नापयन्परया लक्ष्म्या दीप्यमानं यथानलम्॥ २६॥
स्कन्द इत्यब्रुवन्देवाः स्कन्नं गर्भपरिस्त्रवेः। कार्तिकेयं महाबाहुं काकुत्स्थ ज्वलनोपमम्॥ २७॥
प्रादुर्भूतं ततः क्षीरं कृत्तिकानाममुत्तमम्। षण्णां षडाननो भूत्वा जग्राह स्तनजं पयः॥ २८॥

यह उस समय की घटना है जब सूर्योदय के पूर्व आकाशगङ्गा क्षितिज के नीचे थी और सूर्योदय के पश्चात् ही उदय होने लगती थी। हिमालय में बैठे हुए लोगों ने इसे हिमालय के पार्श्व में देखा था। उस समय कृत्तिकाएँ भी वहीं विद्यमान थीं। जिस समय सूर्य कृत्तिका के साथ उदय होता था उस समय वसन्तसम्पात कृत्तिका में ही हुआ था। उपर्युक्त वर्णन उस समय के तनिक पहले का है, अर्थात् सूर्य जब स्पष्ट नहीं, किन्तु गर्भ में था, तब का है। अब हम देखना चाहते हैं कि यह समय कब था। यह समय निकालने में हमें अधिक कठिनाई न होगी, क्योंकि इस विषय का झगड़ा स्वनामधन्य दीक्षित महोदय के ही समय में तय हो चुका है। उन्होंने एक घटना शतपथब्राह्मण के इस वाक्य से निकाली है—

कृत्तिकास्वादधीत। एता ह वै प्राच्यै दिशो न च्यवन्ते।
सर्वाणि ह वा अन्यानि नक्षत्राणि प्राच्यै दिशश्च्यवन्ते।

इसका अर्थ है—कृत्तिका पूर्व दिशा से च्युत नहीं होती और सब ग्रह च्युत हो जाते हैं, इसलिए उसी में अग्न्याधान करना चाहिए। यह उस समय का वर्णन है जब कृत्तिका विषुववृत पर थी। इस समय कृत्तिका विषुववृत के ऊपर उत्तर की ओर है। दीक्षित ने सन् १९०० में देखा तो कृत्तिका ६८ अंश हटी हुई दिखी। ज्योतिष का सिद्धान्त है कि ७२ वर्ष में सम्पात एक अंश पीछे हट जाता है, अतः उक्त घटना को हुए आज तक (६८×७२=) ४८९६ वर्ष होते हैं। यह गणना सन् १९०० की है। इसमें १९०० के बाद से आज तक के २९ वर्ष और जोड़ने से कुल ४९२५ वर्ष होते हैं। कलियुग के ५०३० वर्ष बीत चुके हैं, अतः यह घटना कलियुग आरम्भ होने के १०५ वर्ष बाद की है[1], परन्तु यह घटना जब गर्भ में थी उस समय को तो ५०३० वर्ष होने में कोई सन्देह ही नहीं है। यह स्कन्द कृत्तिका में ही जन्मा, परन्तु इसका गर्भारम्भ थोड़े दिन पहले ही हो गया था, इसीलिए कृत्तिका के समय के पूर्व ही स्खलन होने के कारण इसको स्कन्द कहा गया और उसी सीमा के दोनों छोरों तक अधिकार रखने के कारण ही कलियुग को 'आस्कन्द' कहा गया है। 'आ' का अर्थ 'समन्तात्', 'अच्छी प्रकार', 'छोरतक'—जैसे 'आसमुद्रात्' 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्' इत्यादि। जो स्कन्द (कार्तिकेय) पैदा होने की पूर्व सीमा (गर्भावस्था) तक अपना अधिकार और स्थिति बतलावे उसे आस्कन्द कहते हैं। इस विवरण से हम कह सकते हैं कि कलियुग सदैव इसी घटना के आस-पास आरम्भ होता है, इसीलिए उसको आस्कन्द कहा गया है। स्कन्देनेविया का नाम भी इसी से पड़ा है, क्योंकि उनके यहाँ यह स्कन्द युद्धदेव माना जाता है[2]। कार्तिकेय सम्बन्धी यह कल्पना बिलकुल नई है। इसका उत्तरदायित्व लेखक पर ही है। ज्योतिष और वैदिक भाषा के विद्वान् इसपर अधिक प्रकाश डालें तो सम्भव है कि इसकी सत्यता का निर्णय हो जाए।

हमने यहाँ तक दिखलाने का प्रयत्न किया कि युगों की लम्बी-लम्बी अवधि कल्पित नहीं है, किन्तु उनकी व्यवस्था ज्योतिष् के सिद्धान्तों पर अवलम्बित है और ये सिद्धान्त ज्योतिष्-ग्रन्थों तक ही परिमित नहीं है, अपितु महाभारत और वाल्मीकि रामायण तक जाते हैं, अतएव युगों के द्वारा ठहराया हुआ सृष्टिसंवत् आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से कहीं अधिक विश्वस्त है

१. दीक्षित महोदय शतपथ की घटना स्पष्ट होने लगी तब से गिनते है, परन्तु वाल्मीकि रामायण में घटना के आरम्भकाल का वर्णन है। घटना के आरम्भ और स्पष्ट होने के मध्य में युग की स्थिति है, अतः दीक्षित की स्थिति से इस स्थिति में जाने के लिए १०५ वर्ष और चाहिएँ। इसी को ५०३० वर्ष मानकर कलि आरम्भ का समय समझना चाहिए।

२. Skand, the God of war, reigns there (Scandinavia). —Theogony of the Hindus, p. 109.

और ऐतिहासिक है। हम इसमें प्रतिदिन एक दिन बढ़ाते जाते हैं, इसलिए यह रोज़नामचा की भाँति सत्य और सृष्टि की आयु तथा मनुष्यजन्म की तिथि नियत करने का एकमात्र साधन है। इसी साधन से हम कह सकते हैं कि सृष्टि उत्पन्न हुए छह मन्वन्तर, सत्ताईस चतुर्युगी, तीन युग और ५०३० वर्ष बीत चुके हैं, अर्थात् कुछ कम दो अरब वर्ष आज तक व्यतीत हो चुके हैं।

अब प्रश्न यह है कि पृथिवी कब बनी और मनुष्यसृष्टि कब हुई। सृष्टि की वर्षसंख्या कुछ कम दो अरब है, परन्तु यह समय मनुष्यों की उत्पत्ति का नहीं है। यह समय सृष्टि की उत्पत्ति के आरम्भ से आज तक का है। सृष्टि-उत्पत्ति तब से मानी जाती है जब से सृष्टि का बनना आरम्भ हुआ। यह वह समय है जब प्रलय का समय पूरा होकर सृष्टि का बनना आरम्भ होता है, अर्थात् मुक्त प्रकृति का परस्पर सङ्घात आरम्भ होता है और परमाणु से द्व्यणुक आदि बनने आरम्भ होते हैं। इस समय से लेकर सूर्य, ग्रह, नक्षत्र आदि बनने तक के समय को स्वायम्भुव मनु कहते हैं। स्वायम्भुव मनु के समय में उत्पन्न उत्तानपाद ध्रुव आदि नक्षत्र आकाश में विद्यमान हैं। जिस प्रकार स्वायम्भुव मनु के समय नाक्षत्रिक जगत् तैयार हुआ, उसी प्रकार दूसरे स्वरोचिष मनु के समय में पृथिवी तैयार हुई। तीसरे मनु के समय में पृथिवी से चन्द्रमा पृथक् हुआ। चौथे मनु में समुद्र से भूमि निकली, पाँचवे में वनस्पति हुई, छठे में पशु और सातवें वैवस्वतमनु में मनुष्यों का जन्म हुआ। इसका हिसाब इस प्रकार है—

सत्ताइस चतुर्युगीयों के	११,६६,४०,००० वर्ष
सत्ययुग[1] के	१७,२८,००० वर्ष
त्रेतायुग के	१२,९६,००० वर्ष
द्वापरयुग के	८,६४,००० वर्ष
आज तक कलियुग के	५,०३० वर्ष
वैवस्वत मनु से आज तक का योग	१२,०५,३३,०३० वर्ष

हमारे हिसाब और विश्वास के अनुसार मनुष्यों को पैदा हुए भी आज तक इतना ही समय हुआ। धार्मिक विद्वानों और पदार्थ-विज्ञानियों का निकाला हुआ समय इस लम्बे समय के साथ नहीं पहुँचता, न पहुँचे, इसकी परवाह नहीं, परन्तु यहाँ प्रश्न होता है कि यदि मनुष्य वैवस्वत मनु में पैदा हुए तो उन्होंने स्वायम्भुव मनु से गिनती कैसे शुरू की? इसका उत्तर यह है कि कल का दिन अभी नहीं हुआ पर कल होगा, इस बात का जिन प्रमाणों से हम निश्चय कर सकते हैं और वह निश्चय बिलकुल सत्य होता है, उसी प्रकार आनेवाले मन्वन्तरों के विषय में भी हमारा

१. हर नाप-तौल का यह नियम है कि वह छोटे से बड़े की ओर चलता है, परन्तु युग बड़े से छोटे की ओर चलते हैं, अर्थात् पहले सत्ययुग होता है जो सबसे बड़ा है और अन्त में कलि आता है जो सबसे छोटा होता है। जब हम समयविभाग के दूसरे अङ्गों को देखते हैं तब हमें ज्ञात होता है कि इतनी घड़ी का दिन, इतने दिन का मास, और इतने मास का वर्ष होता है, किन्तु जब युगों में पहुँचते हैं तो उनको उलटा पाते हैं। इसका समाधान यह है कि युगों के क्रम में पहले कलि है, क्योंकि 'कल संख्याने' का अर्थ संख्या का आरम्भ है। संख्या का आरम्भ १ है जो कलि के लिए आता है और २, ३, ४ क्रम से द्वापर, त्रेता और कृत के लिए आते हैं। द्वापर, कलि का दूना, त्रेता कलि का तिगुना और कृत जो चार का वाचक है कलि का चौगुना समझा जाता है, अर्थात् उनका क्रम १, २, ३, ४ होता है पर '**अङ्कानां वामतो गतिः**' अर्थात् अङ्क बाईं ओर को चलते हैं, इसलिए पहले ४ अंकवाला सत्ययुग ही गिना जाता है।

निश्चय सत्य होना चाहिए। यह कोई अलौकिक विधि नहीं है, प्रत्युत ज्योतिष्-सम्बन्धी गणित ही है, जिसे परमात्मा ने वेदों के द्वारा बतलाया है।

ऊपर हमने लिखा है कि मनुष्यसृष्टि वैवस्वत मनु के समय में हुई। इस उक्ति के अनेक कारणों में से मुख्य कारण यह है कि हमारे आर्यकुलभूषण क्षत्रिय ही राजा थे और इतिहास में विशेषरूप से उन्हीं राजाओं की चर्चा है। उस चर्चा से ज्ञात होता है कि हमारे सूर्यवंश और चन्द्रवंश के राजाओं की दोनों प्रधान शाखाएँ वैवस्वत मनु से ही आरम्भ होती है। इसके पूर्व का कोई क्षत्रियवंश नहीं जाना जाता। इससे प्रतीत होता है कि मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव वैवस्वत मनु के ही समय से हुआ, परन्तु हमारी सृष्टि की संख्या सृष्टि के आरम्भ से है, वैवस्वत मनु से नहीं। सृष्टि आरम्भ का अर्थ है छूटे हुए परमाणुओं का फिर से मिलना। जबसे परमाणु मिलने लगते हैं तभी से सृष्टि का आरम्भ माना जाता है, तभी से ब्रह्मदिन शुरू होता है और तभी से कल्प का आरम्भ होता है और जब तक एक-एक परमाणु अलग-अलग न हो जाए तब तक सृष्टि ही समझी जाती है, अर्थात् परमाणुओं का बिलकुल छूट जाना ही पूर्ण प्रलय है। यदि कहो कि हम मनुष्यों की उत्पत्ति से सृष्टि का आरम्भ मानेंगे तो मनुष्यों के नाश से ही सृष्टि की समाप्ति भी माननी पड़ेगी, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य प्राणी सूर्य-चन्द्र, पशु-पक्षी और तृण-पल्लव के बाद ही उत्पन्न हुआ है और इन सबके रहते हुए ही उसका अन्त हो जाएगा, क्योंकि इन्हीं के आधार से उसकी स्थिति है। यदि मनुष्य के अन्त से सृष्टि का अन्त माना जाए तो प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या मनुष्य के अन्त के बाद जो पदार्थ संसार में रह जाएँगे वे सब प्रलय में समझे जाएँगे? और क्या जो पदार्थ मनुष्य उत्पन्न होने के पूर्व पैदा हुए थे वे सब प्रलय दशा में हुए थे? यदि कहो हाँ, तो प्रलय का कुछ भी अर्थ नहीं हो सकता और यदि कहो नहीं तो सृष्टिसंवत् मनुष्य-उत्पत्ति से नहीं प्रत्युत सृष्टि-उत्पत्ति के आरम्भ से मानना पड़ेगा, अर्थात् सृष्टि-उत्पत्ति स्वायम्भुव मनु से और मनुष्य-उत्पत्ति वैवस्वत मनु से माननी पड़ेगी। वैवस्वत मनु को पैदा हुए आज तक १२,०५,३३,०३० (बारह करोड़ पाँच लाख तेतीस हज़ार तीस) वर्ष हो गये। यही काल मनुष्य उत्पत्ति का भी है। यद्यपि यह संख्या लोगों को अधिक प्रतीत होगी, क्योंकि आधुनिक विज्ञान ने मनुष्य की उत्पत्ति का समय एक लाख से ६० लाख वर्ष तक ही माना है, परन्तु यह खोज अभी पूर्ण नहीं समझी जाती। इसमें अभी नये-नये अनुभव हो रहे हैं और नये-नये पदार्थ पृथिवी से निकल-निकलकर अपना काल पूर्व-पूर्व बढ़ा रहे हैं।

भारत की प्राचीन सभ्यता, जो भारत से आर्यों के साथ बाहर गई है, वह उन-उन देशों में किसी-न-किसी घटना के आरम्भ दिन से अपना संवत् या शाका चला रही है। उन सब संवतों के देखने से जाना जाता है कि मनुष्य करोड़ों वर्ष से अपनी ऐतिहासिक वर्ष संख्या चला रहा है। ये ऐतिहासिक घटनाएँ हैं, जो झूठी नहीं हो सकतीं। ऊपर दिये हुए आर्यों के मौलिक संवत् से चीनियों का संवत् कुछ कम है। उसकी वर्ष संख्या ९,६०,०२,४२९ है। खताई लोगों का संवत् ८,८८,४०,३०१ वर्ष का है और आजकल चल रहा है। इन संवतों की इन लम्बी संख्याओं को गप्प न समझना चाहिए। चाल्डियावाले पृथिवी की उत्पत्ति को २१५ मिरियड वर्ष बतलाते हैं। एक मिरियड दश हज़ार वर्ष का होता है। इसलिए उनका संवत् २ करोड़ १५ लाख वर्ष तक जाता है[१]। यह पृथिवी की उत्पत्ति का समय नहीं है, किन्तु उनके किसी संवत् का समय है। उनके यहाँ एक और वर्ष संख्या है जो चार लाख सत्तर हज़ार (४,७०,०००) वर्ष की मानी जाती

---

१. According to the same remarkable system, the earth had already existed for 215 myriads (a myreads of 10,000) of years. —*The Age of the Earth,* p. 3.

है[१]। इसी प्रकार फिनीशियावालों के यहाँ भी तीस हज़ार वर्ष की चर्चा है[२]। कहने का भाव यह है कि आर्य ही नहीं, प्रत्युत पृथिवी के अनेक भागों में बसे हुए मनुष्य अपना क्रम करोड़ो वर्ष पूर्व तक ले-जाते हैं। यहाँ हम संसार के थोड़े-से संवतों को नीचे लिखते हैं—

आदिसृष्टि से संकल्पसंवत्	१,९७,२९,४०,०३०
वैवस्त मनु से आर्यसंवत्	१२,०५,३३,०३०
चीन के प्रथम राजा से चीनी संवत्	९,६०,०२,४२९
खता के प्रथम पुरुष से खताई संवत्	८,८८,४०,३०१
पृथिवी उत्पत्ति का चाल्डियन संवत्	२,१५,००,०००
ज्योतिष्-विषयक चाल्डियन संवत्	४,७०,०००
ईरान के प्रथम राजा से ईरानियन संवत्	१,८९,९०८
आर्यों के फिनीशिया जाने के समय से फिनीशियन संवत्	३०,०००
इजिप्ट जाने के समय से इजिप्शियन संवत्	२८,५८२
किसी विशेष घटना से इबरानियन संवत्	५,९४२
कलि के आरम्भ से कलियुगी संवत्	५,०३०
युधिष्ठिर के प्रथम राज्यारोहण से युधिष्ठिर संवत्	४,०८५
मूसा के धर्मप्रचार से मूसाई संवत्	३,४९६
ईसा के जन्म दिन से ईसाई संवत्	१,९२९

संसार के इन संवतों को देखने से हमारा निकला हुआ मनुष्य उत्पत्ति का समय बहुत अच्छी प्रकार मिल जाता है। चीन और खता के संवतों से हमारा संवत् कुछ ही अधिक है। इसका कारण यही है कि यह मूल से सम्बन्ध रखता है और वे शाखाओं से। इन संवतों में से कुछ को लेकर संसार के इतिहासविभाग बनाये जा सकते हैं। ऊपर जो संवत् और सृष्टि-उत्पत्ति के अङ्क दिये गये हैं उनमें से कुछ वह समय सूचित करते हैं जब कई जातियाँ आर्यों से पृथक् होकर भारत से विदेश को गईं। मनुष्यों को उत्पन्न हुए बारह करोड़ वर्ष हुए। ज्ञात होता है कि उत्पत्ति के तीन करोड़ वर्ष बाद सबसे पहले चीनवाले पृथक् हुए। उनको गये नव करोड़ वर्ष बीते। इनके बाद खताई लोगों को गये आठ करोड़ वर्ष व्यतीय हुए। इनके बाद चाल्डियावालों को पृथक् हुए दो करोड़ वर्ष व्यतीत हुए। इसके पश्चात् यहाँ ज्योतिष्ग्रन्थों के लिखने का समय आता है। सूर्यसिद्धान्त को लिखे २१,६५,००० वर्ष व्यतीत हो चुके। वाल्मीकि रामायण अर्थात् रामचन्द्र को हुए १२,६९,००० वर्ष हुए। अनुमान है कि चाल्डिया को फिर एक धारा गई, जिसको गये ४,७०,००० वर्ष हो गये। फिनीशियावाले यहाँ से दुबारा गये, उस समय को ३०,००० वर्ष बीते और मिस्रवालों को गये २८,५८२ वर्ष हुए। २२ हज़ार वर्ष के ब्राह्मणग्रन्थ विद्यमान हैं। मेगास्थनीज़ के समय की वंशावली भी आज तक नौ हज़ार वर्ष की होती है और चार हज़ार वर्ष से अधिक की आनुपूर्वी भारतीय वंशावली उपस्थित है। इस प्रकार इतिहास के मुख्य खण्ड बनाये जा सकते हैं। यदि हमसे कोई पूछे कि मनुष्योत्पत्ति और वर्त्तमान समय के

१. Cicero relates that their venerable priesthood had records of stellar observation stretching back for 470,000 years. —*The Age of the Earth*, p. 2.

२. We should, in this connection, recall to mind the tradition current among the phœnicians who told Julius Africanus that they had been in phœnicia for nearly 30,000 years. —*Rigvedic India*, p. 239.

बीच की कोई दीर्घकालीन घटना बतलाइए तो हम ऊपर का हिसाब दे सकते हैं। भारत के इतिहास से संसारभर का सम्बन्ध है। सब यहाँ से गये हैं और बहुतों के जाने का समय उपर्युक्त संवतों से ज्ञात होता है। जगत् के इतिहास की यही सामग्री है और भारत के करोड़ों वर्ष का चुम्बुक इतिहास है। संसारभर के प्राचीन संवतों और इतिहासों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्यों का सृष्टिसंवत् और मनुष्योत्पत्ति काल कितना प्रामाणिक है।

जो विद्वान् इसकी दीर्घकालीनता को सिकोड़ना चाहते हैं, वे ग़लती पर हैं। इसको अधिक सिकोड़नेवाले पाश्चात्य विद्वान् ही हैं, परन्तु आनन्द की बात है कि उनकी इस संकीर्णता को सबसे पहले लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष् के प्रमाणों से ओरायन नामी पुस्तक के द्वारा हटाया। यूरोपवाले वेदों को ईस्वी सन् पूर्व १५०० वर्ष से आगे नहीं जाने देते थे, परन्तु लोकमान्य तिलक ने उस समय को ४००० वर्ष ईस्वी सन् पूर्व तक पहुँचाया और अपनी दूसरी पुस्तक 'उत्तरध्रुव निवास' के द्वारा वेदों को १० हज़ार वर्ष से भी पूर्व का सिद्ध किया, परन्तु अब तिलक महोदय के इस सिद्धान्त के भी खण्डन करनेवाले मैदान में आ गये हैं। उमेशचन्द्रदत्त, बाबू अविनाशचन्द्र दास और नाना पावगी आदि ने तिलक महोदय के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए, वेदों के प्रमाणों ही से आर्यों और वेदों की उत्पत्ति भारतदेश में लाखों वर्ष पूर्व सिद्ध की है और मान लिया है कि वेदों का प्रादुर्भाव मनुष्य-उत्पत्तिवाले युग में ही हुआ है। वेदों की आयु कितनी पुरानी है इस विषय में उक्त तीनों विद्वानों की सम्मति सुनिए। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न लिखते हैं कि सामवेद की आयु एक लाख वर्ष से कम नहीं है[१]। पावगी महोदय कहते हैं कि 'इस विषय में भूगर्भ शास्त्रियों का मत है कि मनुष्य प्राणी तृतीय युग में पैदा हुआ। हमारे ऋग्वेद के ऋषि तृतीय युग में थे। तृतीय युग के पश्चात् ही हिमयुग हुआ। हिमयुग दो बार हुआ है। इन हिमयुगों के समय में ही पाषाणयुग आरम्भ हुआ। पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि पाषाणयुग के शुरू हुए २,४०,००० वर्ष हो गये[२]'। अविनाश बाबू कहते हैं कि 'ऋग्वेद के प्राचीन सूक्त उस समय बने जिस समय राजपूताने और युक्तप्रान्त में (जहाँ गङ्गा बह रही है) समुद्र लहरा रहा था। वह 'टर्शेरी' युग था। उस समय का अनुमान आज से तीन-चार लाख वर्ष पूर्व का किया जा सकता है। भूगर्भ-सम्बन्धी साक्षियों से सिद्ध है कि संसार और भारतभूमि में टर्शेरीयुग के मायोसीन और प्लायोसीन विभाग में मनुष्य प्राणी उन्नत हुआ। प्राचीन वैदिक सभ्यता अत्यन्त भूतकालीन है, जो करोड़ों नहीं तो लाखों वर्ष की प्राचीन कही जा सकती है। मैंने वेदों की जो इतनी भूतकालीन प्राचीनता लिखी है, सम्भव है कि वैदिक विद्वान् उसपर नाक-भौं चढ़ावें, परन्तु मेरे सिद्धान्त भूगर्भशास्त्र के अनुसार हैं, अत: ये उन्हीं के साथ या तो गिर जाएँगे या स्वीकृत होंगे। इन्हीं सब कारणों से सर्वसाधारण की यह मान्यता पुष्ट होती है कि वेद नित्य, अपौरुषेय और ईश्वर प्रदत्त है[३]'।

---

१ सामवेदेर वय:क्रम लक्षवत्सरेर न्यून हईबेना। —मानवेर आदि जन्मभूमि, पृ० २८

२. मानवी प्राणी तृतीय युगान्त उत्पन्न झाल्याविषयीं भूस्तरशास्त्रज्ञांचे मतैक्यच असल्याचें दिसतें। आमचे ऋग्वेदर्षी तृतीय युगांतले होत। तृतीय युगान्तर हैम युग उद्भवलें। हीं हिमयुगें दोन असल्या विषयीं कांहीं भूस्तरशास्त्रज्ञांचे मत असून, ह्या दरम्यानच्या कालान्त, म्हणजे हैमयुगान्तराल कालान्त, जें अश्मयुग अथवा पाषाणयुग सुरूँ झालें, त्यालाच २,४०,००० वर्षें होऊन गेलीं, असें पाश्चात्य शोधक लिहितात।
—आर्यावर्तींतील आर्यींची जन्मभूमि, पृष्ठ ७६

३. As some of the ancient hymns of the Rigveda contain evidence and indication of a different distribution of land and water in Sapt-Sindhu, we are compelled to go back to that ancient time when such a distribution actually existed. The results of geological investigations go to show that

यहाँ तक हमने इन नवीन ढंग से खोज करनेवाले भारतीय विद्वानों के मत से देखा कि वेद लाखों वर्ष के प्राचीन सिद्ध होते हैं। वेदों की यह दीर्घायु, इन विद्वानों की ओर से प्रतिपादित होना बड़े सन्तोष की बात है। इस पुण्यकार्य के लिए सबसे प्रथम तिलक महोदय का ही नाम उल्लेखनीय है। यूरोपनिवासियों के निष्कर्ष का परित्याग करके स्वतन्त्र रीति से वेदों का काल निकालना और उनके निकाले हुए समय से अधिक बतलाकर इजिप्ट और बेबिलोन की सभ्यता के साथ मेल मिलाना उनका ही काम था। उनका यह अन्वेषक पन्थ उत्तरोत्तर बढ़ रहा है और आशा है कि आगे यह मण्डल वेदों की वास्तविकता तक शीघ्र पहुँच जाएगा, किन्तु दु:ख के साथ कहना पड़ता है कि उक्त महाशयों ने जिन प्रमाणों से वेदों का यह समय स्थिर किया है, वह उन प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वेदों में इतिहास नहीं है।

दासबाबू ने आर्यों का निवास सप्तसिन्धु में माना है। वे कहते हैं कि सप्तसिन्धु पञ्जाब के आसपास था। वेदों के तीन-चार मन्त्रों से वे उस समय की कल्पना करते हैं और कहते हैं कि जिस समय सरस्वती नदी राजपूताने के समुद्र में गिरती थी उस समय को हुए लाखों वर्ष बीत गये। नाना पावगी आर्यों को पञ्जाब की सैंधव श्रेणी में बतलाते हैं और कहते हैं कि वेदों में सोमलता का वर्णन है और सोमलता हिमालय पर होती हैं, इसलिए आर्यों की उत्पत्ति सप्तसिन्धु में हुई। हमारा विश्वास है कि ये कल्पनाएँ ठीक नहीं हैं, अतएव हम यहाँ सप्तसिन्धु, सोमलता, सरस्वती और समुद्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करके देखना चाहते हैं कि वेदों में आये हुए इन शब्दों और मन्त्रों का क्या अर्थ है।

सप्तसिन्धुदेश

सप्त और सिन्धु शब्द वेदों में हैं, परन्तु वे सर्वत्र सातों इन्द्रियों, वाणी और सूर्य की किरणों के लिए ही आते हैं, पृथिवी की किन्हीं सात नदियों के लिए नहीं। जिस प्रकार सात इन्द्रियों (दो आँख, दो कान, दो नासिका छिद्र और मुख) से शिरस्थान सप्तसिन्धु है और जिस प्रकार सात किरणों से द्यौस्थान सप्ससिन्धु है उसी प्रकार सात नदियों से सप्तसिन्धु हो सकता है, परन्तु भारतवर्ष को या उसके किसी प्रान्त को आर्यों ने सप्तसिन्धु के नाम से कभी नहीं पुकारा। पञ्जाब प्रत्यक्ष ही पाँच नदियों से बना है। रहा सिन्धप्रदेश, वह आज तक केवल सिन्ध ही कहलाता है, कोई उसे सप्तसिन्धु नहीं कहता। सिन्ध का सम्बन्ध बलूचिस्तान, ईरान और अरब से रहा है और वहाँ 'स' को 'ह' बोलते हैं, इसीलिए उस प्रान्त का नाम सिन्धु से सिन्ध और

---

modern Rajputana was a sea in Tertiary Era, and the Gangetic through to the east of the Punjab was also a sea up to the end of the Mioscene epoch. As there are distinct references to these seas in some hymns of the Rigveda, we cannot help assigning their age to that epoch which lasted till more than three or four hundred thousand years ago. There is also geological evidence to show that man flourished on the Global and in India in Miocene and Pliocene epochs.

—*Rigvedic India*, p. 556-557.

The age of the early Rigvedic civilisation goes back to a period of time which is last in the impenetrable darkness of the past to which hundred of thousand, if not quite a million of years, can be safely assigned, without one being accused of romancing wildly. —*Ibid*, p. 230.

As regards my calculation of the age of some of the oldest hymns of the Rigveda which I have set down to the Miocene, at any rate to the Pliocene or the Pleistocene epoch, I am afraid that Vedic scholars will accuse me of romancing wildly. But if the geological deductions are found to be correct, my calculations which are based on them can not be wrong. They will either stand or fall with them. —*Ibid*, p. 567.

This goes to confirm the popular belief that the Vedas are eternal and not ascribable to any human agency (apaurusheya), and that they emanated from Brahma, the Creator himself.

—*Ibid*, p. 558.

सिन्ध से हिन्द हो गया और उसी पर से सारे देश का नाम भी हिन्द कहलाने लगा, परन्तु उसको कभी किसी ने 'सप्तसिन्धु' नाम से नहीं पुकारा। हाँ, पारसियों के यहाँ हप्तहिन्द का वर्णन है, परन्तु किसी को अब तक पता नहीं है कि वह क्या वस्तु है, और कहाँ है। पहले आर्यों की बस्ती यहाँ से फ़ारस तक थी। फ़ारसवाले ही सिन्धुदेश को हिन्द कहते थे। वही लोग सिन्धुदेश से पूर्व बसनेवालों को पूर्वीहिन्दू और अपने को पश्चिमीहिन्दू कहते थे, तभी से सिन्धुदेश हिन्दू कहलाने लगा। उनके यश्त नामक ग्रन्थ के १०। १०४ में लिखा है कि 'मिथ' के लम्बे हाथ उनको पकड़ लेते हैं जो उसको धोखा देते हैं। जब पूर्वी हिन्दू में होते हैं तब मिथ् उन्हें पकड़ लेता है और जब पश्चिमी हिन्दू में होते हैं तब उन्हें मार डालता है'। इसी प्रकार 'सरऔश' की प्रशंसा करते हुए कहते हैं 'कि जब पूर्वी हिन्दू में हो तब भी वह अपने शत्रु को पकड़ लेता है और जब पश्चिमी हिन्दू में हो तब भी उसे मार डालता है'। यहाँ भी पूर्वी और पश्चिमी हिन्दुओं का वर्णन है, सप्तसिन्धु या हप्तहिन्द का नहीं। यह हप्तहिन्द की कल्पना पारसियों की ही है, भारतीयों की नहीं। वेदों के पदपाठ में सप्त से सम्बन्ध रखनेवाले सप्त ऋषयः, सप्ताश्वः आदि अनेक शब्द हैं, परन्तु 'सप्तसिन्धु' एकत्र नहीं है। इससे प्रकट होता है कि यह शब्द रूढ़ नहीं है। वेद के जिन मन्त्रों से लोग सप्तसिन्धु सिद्ध करते हैं, उनमें सात किरणों का ही वर्णन है। वेदों में किरणों का विज्ञान प्रचुरता से आता है। नदियों के वर्णन में इस विषय पर हम बहुत कुछ लिख चुके हैं, किन्तु यहाँ भी उचित समझते हैं कि उसका थोड़ा-सा वर्णन कर दें। अथर्ववेद में लिखा है—

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्य। स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम्॥

—अथर्व० ४।६।१

अर्थात् पहले सूर्य हुआ जिसने अपने दश शिर और दश मुख से सोम का पान किया और विषों को अरस किया।

सूर्य के ये दश मुख और दश शिर किरणें ही हैं। वेदों में इन दश प्रकार की किरणों का विलक्षण वर्णन है। ऋग्वेद ९।९७।२३ में लिखा है कि '**रश्मिभिर्दशभिः**', अर्थात् दश किरणों से। दूसरे स्थान पर ऋ० ९।९२।४ में लिखा है कि '**दश स्वधाभिरधि सानो अव्ये मृजन्ति त्वा नद्यः सप्त यह्वीः**', अर्थात् दश किरणों से सात नदियाँ बहती हैं। तीसरे स्थान पर ऋ० ६।६१।१० में कहा है कि '**सप्तस्वसा.....सरस्वती**', अर्थात् सरस्वती सात बहिनें हैं। इस मन्त्र से अगले मन्त्र ६।६१।११ में कहते हैं कि '**आपप्रुषी पार्थिवान्युरु रजो अन्तरिक्षम्। सरस्वती निदस्पातु**', अर्थात् पृथिवी का जल खींचनेवाली सरस्वति! तू अन्तरिक्ष की रक्षा कर। पानी खींचनेवाली, आकाश की रक्षा करनेवाली और सात बहिनोंवाली सरस्वती क्या कभी पञ्जाब की नदियाँ हो सकती हैं? और क्या दश रश्मियों से सम्बन्ध रखनेवाली ये सातों नदियाँ कभी पानी बहानेवाली नदियाँ हो सकती है? कभी नहीं। ऋग्वेद में तो स्पष्ट लिखा है—

याः सूर्यो रश्मिभिराततान याभ्य इन्द्रो अरदद्गातुमूर्मिम्।
ते सिन्धवो वरिवो धातना नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ —ऋ० ७।४७।४

अर्थात् सूर्य जिनको रश्मियों से फैलाता है, जिनसे इन्द्र तरङ्गावली (Vibration) पैदा करता है, वे सिन्धु नदियाँ हमारा कल्याण करें।

यहाँ स्पष्ट हो गया कि ये वे नदियाँ हैं जिनके द्वारा किरणें फैलती हैं और जिनसे तरङ्गावली पैदा होती है। हाल के विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि ईथरतत्त्व के द्वारा किरणें आती हैं और तरङ्गावली पैदा होती है। हम पहले लिख चुके हैं कि अप्सरा किरणों का नाम है। '**अप्सु सरति**

अप्सरा', अर्थात् जो अप=ईथर में सरके वही अप्सरा है। इसी को 'सप्तापः' कहा गया है। सप्तापः को तिलक महोदय ने ईथर ही माना है।

ऋग्वेद ८।६९।१२ का अर्थ करते हुए तिलक महोदय कहते हैं कि 'सातों नदियाँ वरुण के मुख में गिरती हैं'[१]। यहाँ वरुण मेघ के सिवा और कुछ नहीं है। मेघ के मुख में जब किरणें समा जाती हैं तभी अन्धकार हो जाता है। ऋग्वेद १।३२।१२ का अर्थ करते हुए नाना पावगी कहते हैं कि 'इन्द्र ने वृत्र (मेघ) को वज्र से मारकर सातों सिन्धुओं को मुक्त किया'[२]। यहाँ स्पष्ट हो गया कि सूर्य ने बादलों को छिन्न-भिन्न करके किरणों को मुक्त कर दिया। अथर्ववेद के दो मन्त्रों ने तो इस विषय को सर्वथा स्पष्ट कर दिया है। वहाँ लिखा है कि जो बादलों को मारकर सातों सिन्धुओं को मुक्त करता है[३]। ऋग्वेद ६।६१।७ के अनुसार सरस्वती भी वृत्र को मारती है। इस मन्त्र में उसको 'वृत्रघ्नी' कहा गया है[४]। इन प्रमाणों से अच्छी प्रकार विदित हो जाता है कि ये सप्तसिन्धु पृथिवी पर बहनेवाली नदियाँ नहीं, प्रत्युत आकाश में बहनेवाली किरणें हैं।

हम लिख चुके हैं कि ऋग्वेद १०।५२।४ में लिखा है कि **'त्रिवृतं सप्त तन्तुम्'** और ऋ० ८।७२।८ में **'खेदया त्रिवृता दिवः',** अर्थात् ये सातों किरणें तिहरी हैं। इनमें एक सूत ईथर का है, दूसरा अग्नि का और तीसरा पानी का। ईथर का सूत तो 'अप' शब्द के वर्णन में देख चुके हैं, अब अग्नि का वर्णन देखिए। ऋ० ८।३९।८ में लिखा है कि **'यो अग्निः सप्त मानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु',** अर्थात् जो अग्नि मनुष्यों में, संसार में और सातों नदियों में ठहरा है। यहाँ सात नदियों में अग्नि का ठहरना स्पष्ट कर देता है कि तिहरी किरणों में एक तन्तु अग्नि का है। ऋ० ९।८६।३३ में पानी के लिए लिखा है कि **'सहस्रधारः परि षिच्यते हरिः',** अर्थात् बादल हज़ारों धाराओं से किरणों को सींचते हैं। किरणें ही पानी लाती हैं, वे आग्नेय हैं और ईथर के सहारे चलती हैं, इसलिए वे 'त्रिवृत' कही गई हैं। ऊपर जो दश किरणें कही गई हैं, उनमें सात तिहरी हैं जो सप्तसिन्धु कहलाती हैं। इनके लिए ऋ० २।१२।१२ में कहा है कि **'यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवा सृजत्सर्तवे सप्त सिधून्',** अर्थात् जो सूर्य सात किरणों से सप्तसिन्धुओं को रेंगाता है। दूसरे स्थान पर ऋ० ५।५१।७ में तो स्पष्ट ही कह दिया है कि **'निम्नं न यन्ति सिन्धवः',** अर्थात् नदियाँ नीचे को आती हैं।

ऊपर से नीचे को आनेवाली और ईथर पर रेंगनेवाली नदियाँ किरणों के सिवा और कुछ नहीं हो सकतीं। इन्हीं किरणों के लिए तिलक महोदय ने लिखा है कि सात नदियाँ वरुण के मुख में गिरती हैं और इन्हीं के लिए पावगी महोदय कहते हैं कि इन्द्र ने वृत्र को मारकर सातों नदियों को मुक्त किया। सप्ताप, सप्तरश्मि और सप्तसिन्धु उसी **'त्रिवृत सप्त तन्तुम्',** अर्थात् तिहरे सातों तन्तुओं के भेद हैं। सप्ताप ईथर के लिए, सप्तरश्मि किरणों के लिए और सप्तसिन्धु उस पानी के लिए है जो किरणों के द्वारा ऊपर चढ़ता है। किरणें इकहरी नहीं बल्कि तिहरी है, इसीलिए ये कभी सात और कभी इक्कीस कही गई हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि वेदों में सप्तसिन्धु शब्द किसी ऐसे स्थान के लिए नहीं आया जहाँ सात नदियाँ हों, क्योंकि वेदों में

---

१. **सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्तसिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥** —ऋ० ८।६९।१२

२. **अश्व्यो वारो अभवस्तदिन्द्र सृके यत्त्वा प्रत्यहन्देव एकः।**
अजयो गा अजयः शूर सोममवासृजः सर्तवे सप्त सिन्धून्॥ —ऋ० १।३२।१२

३. **यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून्।** —अथर्व० २०।३४।३
अहन्नहिमरिणात् सप्त सिन्धून्। —अथर्व० २०।९१।१२

४. **उत स्या नः सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः। वृत्रघ्नी वष्टि सुष्टुतिम्।** —ऋ० ६।६१।७

भूभागों की सीमा के निर्धारण का वर्णन सर्वथा नहीं है।

सोमलता

सोमलता की उत्पत्ति पावगी महाशय ने मूजवान् पर्वत पर बतलाई है। प्रमाण में '**सोमस्येव मौजवतस्य भक्षः**' यह ऋ० १०। ३४। १ का मन्त्र उद्धृत किया है। निरुक्त में '**मूजवान् पर्वतः**' पाठ है, किन्तु वेद का 'मौजवत' और निरुक्त का 'मूजवान्' एक ही है, इसमें सन्देह है, क्योंकि सुश्रुत में 'मुञ्जवान्' सोम का पर्याय लिखा हुआ है। मौजवत, मूजवान् और मुञ्जवान् में अन्तर ज्ञात होता है। वेद में एक पदार्थ का वर्णन जो सोम नाम से आता है वह पृथिवी के वृक्षों की जान है। वह देवताओं को वृक्षों की भाँति रस, छाया, हरियाली आदि वनीय तथा सौम्य पदार्थों से तृप्त करता है। इन्द्र के नन्दनवन का यही देवतरु है। जिस प्रकार यह आकाश का वृक्ष है उसी प्रकार यह पृथिवी की वनस्पति का पोषक है, उसमें सौम्यभाव लानेवाला ओषधिराज है और वनस्पतिमात्र का स्वामी है। वह जिस स्थान में रहता है उसको 'मौजवत' कहते हैं। हम पहले दिखला आये हैं कि गौओं—किरणों के निवास को 'व्रज' और अश्वों—किरणों के निवास को 'अर्व' कहते हैं, उसी प्रकार सोम के स्थान को मौजवत कहा गया है। यह स्थान पृथिवी पर नहीं, किन्तु आकाश में है। पावगी महाशय 'आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि' में पृष्ठ २१४ पर ब्राह्मण का वाक्य '**दिवि वै सोम आसीत्**' अर्थात् दिवि ही सोम था, लिखकर स्वयं कहते हैं कि '**ह्यावरून असें दिसतें की सोम हा प्रथमतः स्वर्ग्रान्त होता, परन्तु तेथून त्याला भूतलावर आणिलें**'। अर्थात् ऐसा ज्ञात होता है कि यह सोम पहले स्वर्ग में था, परन्तु वहाँ से उसको पृथिवी पर लाये। यह सोम पहले पृथ्वी पर नहीं था, परन्तु याज्ञिक काल में जिस प्रकार यज्ञों में पशुओं का वध होने लगा, उसी प्रकार सोमरस के नाम से किसी नशीली वस्तु का उपयोग भी होने लगा। सुश्रुत में '**अंशुमान् मुञ्जावांश्चैव चन्द्रमा रजतप्रभः**'[१] आदि इसके अनेक नाम हैं और सबका गुण भी समान ही लिखा है। यथा—

सर्वेषामेव चैतेषामेको विधिरुपासने। सर्वे तुल्यगुणश्चैव विधानं तेषु दृश्यते॥ —सुश्रुत[२]

फिर यज्ञ के लिए लिखा है कि '**अंशुमन्तमादायाध्वरकल्पेनाहृतमभिषुतमभिहुतम्**'[३] अर्थात् सोम लाकर अध्वरकल्प के अनुसार आहुति देकर '**सोमकन्दं सुवर्णसूच्या विदार्य पयो गृह्णीयात्**'[४] अर्थात् सोम की जड़ को सुवर्ण की सूची से छेदकर रस निकाल लेवें और पी जावे। आगे लिखा है कि इस क्रिया से रस पीकर जो कुटी प्रवेश करता है उसको अग्नि नहीं जला सकती, उसके एक हज़ार हाथी का बल हो जाता है, वह बहुत सुन्दर और सब संसार में फिरनेवाला होता है। इसके सिवा वह '**दशवर्ष सहस्राणि नवां धारयते तनुम्**'[५], अर्थात् दश हज़ार वर्ष तक जवान बना रहता है। शुक्लपक्ष में इस सोमलता में पत्ते होते हैं, और कृष्णपक्ष में गिर जाते हैं। यह हिमालय, आबू, सह्याद्रि, महेन्द्राचल, श्रीशैल, देवगिरि, पंजाब और सिन्ध में मिलती है। यहाँ तक सुश्रुत का ही वर्णन है। इस सुश्रुत के वर्णन और वेद की पुष्टि से आपकी उत्कट इच्छा इसके पाने की हुई होगी। साथ ही इतने स्पष्ट वर्णन से यह भी विश्वास हो गया होगा कि वेद में इसी पत्ती का वर्णन है, परन्तु जब यह प्रश्न होता है कि क्या सोमलता हमको दिखला सकते हो तब सुश्रुत के ही मुँह से कहलाया जाता है कि—

---

१. सुश्रुत० चिकि० २९। ५
२. सुश्रुत० चिकि० २९। ९
३. सुश्रुत० चिकि० २९। १०
४. सुश्रुत० चिकि० २९। १०
५. सुश्रुत० चिकि० २९। १४

न तान्पश्यन्त्यधर्मिष्ठाः कृतघ्नाश्चापि मानवाः।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा॥ —सुश्रुत चिकि० २९। ३२

अर्थात् सोम का पौधा अधर्मी, कृतघ्न, औषधद्वेषी और ब्राह्मणद्वेषी को दिखलाई नहीं पड़ता।

चलो छुट्टी हुई, आँख खुल गई, कहीं कुछ नहीं। क्या इन्द्रजाल है! हम पावगी महोदय से विनयपूर्वक पूछते हैं कि क्या आपने सोमलता कभी देखी है? जिस हिमालाय से सुरगौ की पूँछ, कस्तूरी, शहद, शिलाजीत आदि सैकड़ों जंगली और पहाड़ी वस्तुएँ यहाँ बिकने को आती हैं, वहाँ से क्या आप कृपा करके हमको दस रुपये की सोमलता भी मँगा देंगे? कदापि नहीं। हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि सोमलता वास्तव में पृथिवी पर की कोई वस्तु है ही नहीं।

२५ अक्टूबर सन् १८८४ के 'एकेडेमी' में प्रो० मैक्समूलर लिखते हैं कि 'सूत्रों और ब्राह्मणों में भी यह बात मानी गई है कि सोमलता का मिलना बहुत कठिन है'। इसी प्रकार ज़न्दावस्था भाग १ पृष्ठ ६९ में डारमेस्टेटर कहता है कि 'सोम या होम के अन्तर्गत समस्त प्रकार की वनस्पतियों की जीवनीशक्ति का समावेश होता है'। रहे सोम के पीनेवाले इन्द्र, अग्नि आदि देवता जिनको पावगी महाशय भारत में ही जन्मे हुए बतलाते हैं, हमारी समझ में नहीं आता कि इसमें क्या फ़िलासफ़ी है। क्या इन्द्र और अग्नि भी कोई पहाड़ी लोग हैं? यदि नहीं, तो उनका पैदा होना क्या? सोम का अर्थ तो, इन्द्र (सूर्य) और अग्नि (विद्युत्) से ही समझ लेना था कि यह पदार्थ पृथिवी का नहीं है। मौजवत, मधुर, मदकारी और वनस्पति आदि शब्द, जो सोम के लिये ऋ० १०। ३४। १, ६; ४७। १ में आये हैं, आपको धोखा दे रहे हैं, परन्तु हम विश्वासपूर्वक कहते हैं कि सोमलता पृथिवी का पदार्थ नहीं है। जैसाकि डारमेस्टेटर कहते हैं कि सोम, समस्त वनस्पति की जीवनी-शक्ति का नाम है। हम भी कहते हैं कि यह सत्य है। वनस्पति की जीवनीशक्ति चन्द्रमा के अधीन है। उसका नाम सोम है। वह ओषधिराज है। वह लतारूप है। पन्द्रह दिन तक उसमें एक-एक पत्ता बढ़ता है और पन्द्रह दिन तक एक-एक घटता है। यह शान्त चित्तवालों के लिए मधुर, विरहियों के लिए कटु और युवावस्थावालों के लिए मदकारी है। आकाश में यह जिस स्थान में रहता है, उस स्थान को मौजवत कहते हैं। ऋग्वेद में कहा है कि—

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा।
अग्निं च विश्वशम्भुवमापश्च विश्वभेषजीः॥ —ऋ० १। २३। २०

यहाँ सोम समस्त ओषधियों के अन्दर व्याप्त बतलाया गया है। इस सोम को ऐतरेयब्राह्मण ७। २। १० में स्पष्ट कह दिया है कि '**एतद्वै देव सोमं यच्चन्द्रमाः**' अर्थात् यही देवताओं का सोम है, जो चन्द्रमा है। इस सोम को गरुड़ और श्येन स्वर्ग से लाते हैं। गरुड़ और श्येन भी सूर्य की किरणें ही हैं। सोम का सौम्य गुण ओषधियों में पड़ता है, यही स्वर्ग से गरुड़ और श्येन द्वारा उसका लाना है। महाशय पावगी को हम परामर्श देते हैं कि आप वेदपाठ करते समय ध्यान रक्खें कि वेदों में एक आकाशीय संसार भी है। पृथिवी में ऐसा एक भी पदार्थ नहीं जो वहाँ न हो। उन्हीं पदार्थों के नामों से ही पृथिवी के पदार्थों का नामकरण हुआ है। हम पिछले पृष्ठों में आकाशीय संसार के कुछ नमूने दिखला आये हैं। इन्द्र-वृत्र के युद्ध को पढ़कर भूमि पर लड़नेवाले दो राजाओं का जिस प्रकार धोखा होता है उसी प्रकार इस 'मौजवत' में होनेवाली मधुर, तेज़, मदकारी सोम वनस्पत्ति को देखकर भी धोखा होता है, परन्तु समझ तो लेना चाहिए कि वृत्र से लड़नेवाले इन्द्र के अन्य विशेषण क्या हैं? वेदों से सोमलता सिद्ध करने के लिए तो पावगी महाशय ने इतना ज़ोर लगाया पर किसी वेदमन्त्र से कपास या रुई को निकालकर न

दिखलाया जो पञ्जाब की विशेष उपज और आर्यों की प्रिय वस्तु है। वेदों में सूत कातने और कपड़े बुनने का वर्णन भरा पड़ा है, परन्तु रुई का नाम नहीं है। रेगोज़िन कहते हैं कि वैदिक काल में कपास की खेती होती थी[१]। इसी प्रकार उस समय पञ्जाब में नमक भी होता था और आर्य लोग उसका उपयोग भी करते होंगे, परन्तु दास बाबू कहते हैं कि वेदों में नमक का भी नाम नहीं है। खाने और पहनने के पदार्थों का नाम तो वेदों में नहीं है, परन्तु पावगी महाशय वेदों से सोमलता का वर्णन निकालते हैं, जो बिलकुल हवा है। हम तो इसे तब सत्य समझें जब आर्यों के नित्य उपयोग में आनेवाली कपास और नमक का भी नाम वेदों में दिखला दिया जाए। पावगी महाशय कहते हैं कि आर्य लोग पञ्जाब की सैन्धव श्रेणी (Salt Range) में रहते थे, किन्तु इसके विरुद्ध हम देखते हैं कि उनको सैन्धव=नमक का ज्ञान तक नहीं था[२]। इससे यही सिद्ध होता है कि वेद के शब्दों से ऐतिहासिक सामग्री एकत्र करना नितान्त अनुचित है।

सरस्वती नदी और समुद्र

सरस्वती नदी और समुद्र के विवेचन द्वारा अब बाबू अविनाशचन्द्र दास के उन प्रमाणों की जाँच करते हैं, जिनसे उन्होंने वेदों की आयु और सप्तसिन्धु प्रदेश का अनुमान किया है। ऋग्वेद ७।९५।२ के '**एका चेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्**', अर्थात् नदियों में एक पवित्र सरस्वती नदी है जो पहाड़ से निकलकर समुद्र तक बहती है। इस मन्त्र से बाबू साहब यह बतलाना चाहते हैं कि यह मन्त्र उस समय बना जब सरस्वती नदी हिमालय से निकलकर राजपूताने (मरु मैदान में भरे हुए) समुद्र में गिरती थी, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि मन्त्र के पूरे पाठ से यह बात नहीं निकलती। निघण्टु में सरस्वती मध्यस्थानी देवता है, गिरि बादलों को कहते हैं और समुद्र आकाश का नाम है। नदियों के वर्णन में '**इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति**' इस मन्त्र का अर्थ करते हुए हमने लिखा है कि दशों दिशा में फैलनेवाली सूर्य की दश किरणों में से एक सरस्वती भी है। यह सरस्वती नामक एक किरण बादलों से निकलकर आकाश में फैलती है, यही उपर्युक्त मन्त्र का अर्थ है। इस बात का स्पष्टीकरण उसी मन्त्र का दूसरा चरण कर देता है कि '**रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेर्घृतं पयो दुदुहे नाहुषाय**', अर्थात् वह नाहुषों के लिए भुवन का समस्त घृत, पय और धन खींचने का यत्न करती है। भुवन शब्द स्पष्ट ही है। नहुष के वर्णन में हम दिखला चुके हैं कि नहुष आकाशीय पदार्थ है। घृत, पय और धन सदैव (आकाश में) जलवाचक हैं। सरस्वती नहुषों—बादलों के लिए आकाश का जल खींचती है, यह इसका भाव है। इस प्रकार इसका यह अर्थ हुआ कि बादलों से एक किरण निकलकर नहुषों (बादलों) के लिए अथवा सौर पदार्थों के लिए समस्त भुवन का जल खींचकर समुद्र (आकाश) को भरती है। यहाँ पृथिवी की सरस्वती नदी का वर्णन नहीं है। आप ऋग्वेद का दूसरा प्रमाण यह देते हैं कि—

वातस्याश्वो वायोः सखाथो देवेषितो मुनिः। उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः॥
—ऋ० १०।१३६।५

अर्थात् सूर्य पूर्वी और उत्तरी दोनों समुद्रों में लहराता है। इससे आप यह कहना चाहते हैं कि अरब समुद्र और राजपूताने के समुद्र में उस समय सूर्य लहराता था, परन्तु इसमें तो पूर्व में

---

१. A fact which implies cultivation of the cotton plant or tree probably in Vedic times.
—*Vedic India by Ragozin*, p. 306.

२. Of the minerals in Sapta-Sindhu no mention is made of salt in the Rigveda, although the salt range exists in the very heart of the country. —*Rigvedic India*, p. 88.

प्रात:काल के समय सूर्य उदय होने का और शाम के समय पश्चिम में अस्त होने का वर्णन है। उदय और अस्त दोनों क्षितिज में ही होते हैं। ये दोनों क्षितिज आकाश=समुद्र कहे गये हैं, क्योंकि वेद में आकाश को समुद्र कहते ही हैं। इसमें भी राजपूताने के समुद्र का वर्णन नहीं है। इससे पूर्व के मन्त्र में ही कहा है कि—

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूपावचाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः॥ —ऋ० १०।१३६।४

अर्थात् (वही ऊपर के मन्त्रवाला) मुनि (सूर्य) अन्तरिक्ष से दोनों विश्वरूप आकाशों में गिरता और निकलता है। यहाँ 'विश्वरूपौ' और 'अन्तरिक्ष' पद स्पष्ट रक्खे हुए हैं, जिनसे सूर्य के उदय और अस्त होने का वर्णन स्पष्ट होता है।

रायःसमुद्राँश्चतुरोऽस्मभ्यं सोम विश्वतः। —ऋ० ९।३३।६
स्वायुधं स्ववसं सुनीथं चतुःसमुद्रं धरुणं रयीणाम्। —ऋ० १०।४७।२

इन दो मन्त्रों से दासबाबू चार समुद्रों का वर्णन बतला कर कहते हैं कि मध्य एशिया तुर्किस्तान, राजपूताना और सप्तसिन्धु के समुद्र जिस समय भरे थे और सरस्वती नदी राजपूताने के समुद्र में गिरती थी, उस समय ऋग्वेद बना, किन्तु यहाँ इन दोनों मन्त्रों में नीचे-उपर के (पृथिवी, आकाश) दो समुद्र और पूर्व-पश्चिम के (उदय-अस्तस्थान) दो समुद्र, ऐसे चार समुद्रों का वर्णन है। '**ततः समुद्रो अर्णवः**।[1] **समुद्रादर्णवादधि**'[2] इन प्रसिद्ध मन्त्रों में कहा है कि तब समुद्र से समुद्र हुआ, अर्थात् आकाशस्थ मेघों से पृथिवीस्थ समुद्र हुआ। यही दोनों ऊपर-नीचे के समुद्र हैं और पूर्व-पश्चिम के दो दूसरे समुद्र हैं, जिनमें उदय-अस्त का अलङ्कार दिखलाया गया है। इस प्रकार ये चार समुद्र हैं, जिनसे सब सांसारिक सुख होते हैं। इन मन्त्रों में अविनाशबाबू के विषय का वर्णन बिलकुल नहीं है, अतः इन मन्त्रों से वेदों का वह समय नहीं निकल सकता जो आप निकालना चाहते हैं और न इनसे सप्तसिन्धु प्रदेश में वेदों की रचना ही सिद्ध होती है।

किन्तु प्रश्न होता है जिन प्रमाणों के भरोसे पर वेदों को इतना पुराना सिद्ध किया गया था, जब वे ही ग़लत निकले तब वेदों की प्राचीनता सिद्ध करने का कौन-सा साधन रहा? साधन है, और वह देशी विधि का है। विदेशी विधि वेदों में ऐतिहासिक बातें निकालकर उन्हें प्राचीन सिद्ध करती है, परन्तु देशी विधि वेदों की अपौरुषयता को पुष्ट करती हुई आगे बढ़ती है। दास बाबू ने इतिहास और भौगोलिक प्रमाणों से वेदों को लाखों वर्ष पुराना सिद्ध किया, परन्तु हम देशी विधि से ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा उनको लाखों वर्ष से भी अधिक प्राचीन सिद्ध कर सकते हैं, और अपने परम्परागत जातीय इतिहास से सहज ही यह निश्चय कर सकते हैं कि वेद अपौरुषेय हैं, अर्थात् वेद तब के हैं जब सबसे प्रथम मनुष्य का संसार में प्रादुर्भाव हुआ था। गत पृष्ठों में जहाँ हमने ज्योतिष् द्वारा निकाले हुए वैदिक समय की समालोचना की है, वहाँ दिखलाया है कि ब्राह्मणग्रन्थों के कुछ भाग बाइस हज़ार वर्ष के पुराने हैं। उनके पाठ से अच्छी प्रकार विदित होता है कि ब्राह्मणग्रन्थों के पूर्व का साहित्य नष्ट हो गया है। यहाँ हम अपनी इस बात की पुष्टि में कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं। छान्दोग्योपनिषद्[3] में लिखा है कि '**स होवाच। ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि**

---

१. ऋ० १०।१९०।१
२. ऋ० १०।१९०।२
३. छां० ७।१।१-२

यजुर्वेदः सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यः राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्याः सर्पदेवजनविद्यामेतद् भगवोऽध्येमि', अर्थात् इतनी विद्याएँ मैंने पढ़ी हैं। इससे ज्ञात होता है कि इन विद्याओं का साहित्य उस समय था, परन्तु आज उसका कहीं पता नहीं है। गोपथब्राह्मण पूर्वभाग प्रथमप्रपाठक[1] में ओंकार के लिए पूछा गया है कि '**किं वै व्याकरणम्। शिक्षका किमुच्चारयन्ति किं छन्दः किं ज्योतिषं किं निरुक्तम्**'। यहाँ एक प्राचीन निरुक्त का भी पता मिलता है। इसी प्रकार शिक्षा, व्याकरण, छन्द और ज्योतिष के साहित्य का भी पता मिलता है। यह यास्क का निरुक्त नहीं है, क्योंकि यास्क ने तो अपने निरुक्त में वर्त्तमान ब्राह्मणों के अनेक वाक्य उद्धृत किये हैं और लिखा है कि '**इति ब्राह्मणः**'। छान्दोग्यब्राह्मण में लिखा हुआ है कि '**यद्वै किञ्चन मनुरवदत्तद्भेषजस्य भेषजताया**', अर्थात् मनु ने जो थोड़ा-सा कहा है वह दवा की भी दवा है। इससे ज्ञात होता है कि मनुस्मृति जिसके आधार पर बनी है वह मनुरचित कोई बहुत प्राचीन पुस्तक थी। उपनिषदों में अनेक श्लोक दूसरे ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं, परन्तु वे ग्रन्थ इस समय कहीं नहीं मिलते[2]। इसी प्रकार किन्हीं अति प्राचीन सूत्र, कल्प, ब्राह्मण, व्याकरण, मीमांसा आदि का पता भी ब्राह्मणग्रन्थों में मिलता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

सूत्रे सूत्रं ब्राह्मणे ब्राह्मणं श्लोके श्लोकः। —गो० १।१।२३

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु। वचनेषु च सर्वेषु यन्नवेति तदव्ययम्। —गो० १।१।२६

कबन्धस्याथर्वणस्य पुत्रो मेधावी मीमांसकोऽनूचान आस। —गो० १।२।१०

मन्त्रकल्पब्राह्मणानामप्रयोगात्। —गो० २।२।५

तदपि श्लोकाः। —गो० २।२।५

सन्ति चैषां समानाः मन्त्राः कल्पाश्च ब्राह्मणानि च। —गो० १।५।२५

इन प्रमाणों से हमें देखना चाहिए कि यह सब साहित्य कितना प्राचीन हो सकता है। इस साहित्य के पूर्व भी हम वेदों के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के इतिहास को देख रहे हैं। गोपथब्राह्मण में जहाँ 'सावित्री उपनिषद्' का वर्णन किया गया है, वहाँ पर ब्राह्मणों के पूर्व साहित्य का एक श्लोक उद्धृत किया गया है, परन्तु सावित्रीविद्या को परम्परा से जाननेवाले एक ऋषि ने उस श्लोक का खण्डन करके सावित्री का सत्यार्थ समझाया है। इससे ज्ञात होता है कि वर्त्तमान

---

१. गो० पू० १।२४

२. प्रश्नोपनिषद् १।७ में '**तदेतदृचाभ्युक्तम्**' लिखकर ८वीं ऋचा लिखी गई है और ३।११ से आगे का १२वाँ, ४।१४ से आगे छठा और ६।५ से आगे का भी छठा श्लोक लिखा है। छान्दोग्य ३।११।१ के आगे का दूसरा, और ३।७।६ के आगे के '**एतेद्वै ऋचौ भवतः**' दो श्लोक हैं। तैत्तिरीय २ में '**तदेषाभ्युक्ता**' कहकर आगे का श्लोक और २।५ में '**एष श्लोको भवति**' लिखकर आगे का श्लोक लिखा गया है। इसी तरह ३।७ से आगे का आठवाँ, ४।९ से आगे का दसवाँ और ५।११ से आगे का छठा श्लोक लिखा है। बृहदारण्यक १।५।२३ से आगे का और ४।४।७ से आगे का श्लोक भी प्राचीन है। इनके अतिरिक्त शतपथब्राह्मण में भी नीचे लिखे पुराने श्लोक आये हैं—

तदेष श्लोकः—कां० १० अ० ५ ब्रा० २ कं० १६

श्लोकाः—कां० १४ अ० ४ ब्रा० ३ कं० १

अथैष श्लोको भवित—कां० १४ अ० ४ ब्रा० ३ कं० ३४

तदप्येते श्लोकाः—कां० ११ अ० ३ ब्रा० १ कं० ५

ब्राह्मणकाल में तो लोग वेदार्थ भूल ही चुके थे, प्रत्युत इसके पूर्व साहित्य-काल में भी वेदों का अर्थ गूढ़ हो रहा था, और वेदार्थ के द्रष्टा ऋषियों की बताई हुई वेदार्थ की कुञ्जियाँ पठन-पाठन से भिन्न होकर विशेष-विशेष व्यक्तियों के ही पास रह गई थीं। इससे अनुमान करने का प्रबल कारण उपस्थित होता है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का समय लुप्त साहित्य के बहुत पूर्व का है। मन्त्रद्रष्ट्रा ऋषियों के कई काल रहे होंगे, परन्तु हमें अबतक दो ही समयों का पता लगा है। ये दोनों काल एक-दूसरे से दीर्घ काल की दूरी पर पृथक्-पृथक् स्थित हैं। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

तान्वा एतान् सम्पातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्।
तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत॥ —गो० ब्रा० २।६।१

अर्थात् इन (ऋ० ४।१६) ऋचाओं को पहले विश्वामित्र ने देखा, फिर इन विश्वामित्र द्वारा देखी हुई ऋचाओं को वामदेव ने देखा, परन्तु ऋग्वेदानुक्रमणी के अनुसार इन ऋचाओं का ऋषि इस समय वामदेव ही है, विश्वामित्र नहीं।

ऋग्वेद के दशम मण्डल के अनेक सूक्तों का जिस नाम का देवता है उसी नाम का ऋषि भी है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा को कहते हैं और देवता दृश्य विषय को। अनुमान होता है कि प्राचीन काल के मन्त्रद्रष्टा अपने विषय के ही नाम से प्रसिद्ध हो जाते थे जैसे हाल के कानूनग़ो वकील, ज्योतिषी, साइंटिस्ट, मेथेमेटीशियन आदि। इतिहास उनके वास्तविक नामों को भूल गया है। इससे ज्ञात होता है कि उनका समय बहुत ही प्राचीन है। अत्यन्त प्राचीन ऋषियों के कुछ नाम अबतक दिये हुए हैं, जैसे वैवस्वतमनु, नहुष, ययाति आदि, जिससे ज्ञात होता है कि प्रथम काल के ऋषियों का समय बहुत ही प्राचीन है। प्राचीनतम ऋषियों के विषय की एक बड़ी ही रोचक कथा पं० भगवद्दत्त बी०ए० रिसर्च स्कॉलर, ने ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर लिखी है जिसे हम यहाँ उद्धृत करते हैं। इस कथा से एक तो प्राचीनतम ऋषियों का समय ज्ञात होता है, दूसरे यह सिद्ध होता है कि वेद तब से हैं जब से मनुष्यजाति का इस पृथिवी पर प्रादुर्भाव सिद्ध होता है। उक्त कथा तैत्तरीयसंहिता, मैत्रायणीसंहिता और ऐतरेयब्राह्मण में एक समान ही आती है। यहाँ हम वही लिखते हैं—

तै० सं० ३।१।९

मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्स नाभानेदिष्ठं ब्रह्मचर्यं वसन्तं निरभजत्स आगछत्सोऽब्रवीत् कथा मा निरभागिति न त्वा निरभाक्षमित्यब्रवीदङ्गिरस इमे सत्रमासते। ते सुवर्गं लोकं न प्रजानन्ति तेभ्यं इदं ब्राह्मणं ब्रूहि ते सुवर्गं लोकं यन्तो य ऐषां पशवस्तांस्ते दास्यन्तीति तदेभ्योऽब्रवीत्ते सुवर्गं लोकं यन्तो य एषां पशव आसन्तानस्मा अददुस्तं पशुभिश्च-रन्तं यज्ञवास्तौ रुद्र आऽगच्छत्सो ब्रवीन् मम वा इमे पशव इत्यदुर्वै।

मै० सं० १।५।८

मनोर्वै दश जाया आसन् दशपुत्रा नवपुत्राष्टपुत्रा सप्तपुत्रा षटपुत्रा पञ्चपुत्रा चतुष्पुत्रा त्रिपुत्रा द्विपुत्रकैपुत्रा ये नवा-संस्तानेक उपसमक्रामद्येऽष्टौ तान्द्वौ ये सप्त तांस्त्रयो ये षट् तांश्चत्वारोऽथ वै पञ्चैव पञ्चासंस्ता इमाः पञ्चदश त इमान्पञ्च निरभजन्यदेव किंच मनोः स्वमासीत्तस्मात्ते वै मनुमेवोपाधावन्मना अनाथन्त तेभ्य एताः समिधः प्रायछत्ता-भिर्वै ते तान्निरदहंस्ताभिरेनान्परा भावयन्परा पाप्मानं भ्रातृव्यं भावयति य एवं विद्वानेताः समिध आदधाति।

ऐ० ब्रा० ५।१४

नाभानेदिष्ठं शंसति। नाभानेदिष्ठं वै मानवं ब्रह्मचर्यं वसन्तं भ्रातरो निरभ-जन्त्सोऽब्रवीदेत्य किं मह्यमभाक्तेत्येत-मेव निष्ठावमव वदितारमित्यब्रुवं-स्तस्माद्धाप्येतर्हि पितरं पुत्रा निष्ठावो ऽव वदितेत्येवा चक्षते। स पितरमेत्याब्रवीत् त्वांऽऽह वाव मह्यं तताभाक्षुरिति तं पिता ऽब्रवीन्मा पुत्रक तदादृथा अंगिरसो वा इमे स्वर्गाय लोकाय सत्रमासते ते षष्ठं षष्ठमेवाहरागत्य मुह्यंति। तानेते सूक्ते षष्ठेऽहनि शंसय तेषां यत्सहस्रं सत्र-परिवेषणं तत्ते स्वर्यतो दास्यन्तीति।

इस कथा का सार इस प्रकार है कि 'मनु की आज्ञा से उनके पुत्रों ने उनकी सम्पत्ति बाँट ली। मनु का सबसे छोटा पुत्र जिसका नाम नाभानेदिष्ठ था, इस बँटवारे के समय आचार्यकुल में

ही वास करता था। घर आकर उसने पिता से अपना हिस्सा माँगा। घर में और कोई वस्तु न थी, इसलिए पिता ने पुत्र को '**तानेते सूक्तै षष्ठेऽहनि शंसय**' इन सूक्तों को और '**तेभ्य इदं ब्राह्मणम्**' इस ब्राह्मण को दिया।' सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि '**इदमित्था सप्ताधिका नाभानेदिष्ठो मानवो वैश्वदेव तत्**', अर्थात् '**इदमित्था**' प्रतीकवाले ऋग्वेद मण्डल दश के ६१वें और ६२वें सूक्त का ऋषि नाभानेदिष्ठ है और ६१वें सूक्त के १८वें मन्त्र में नाभानेदिष्ठ का नाम भी आता है तो भी ये दोनों सूक्त उसके बनाये हुए नहीं प्रत्युत ये उसके पिता मनु को भी याद थे। सभी जानते हैं कि नाभानेदिष्ठ, वैवस्वत मनु के दश सन्तानों में से एक है[1] और मनु आर्यजाति के प्रथम पुरुष हैं। वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ में उत्पन्न होने से इनका नाम भी वैवस्वत मनु हुआ। वेदों के सूक्त उनके समय में भी विद्यमान थे। वेद ही नहीं प्रत्युत उनके समय में ब्राह्मण भी बन चुके थे। मनु का सम्बन्ध समस्त मानवजाति से पाया जाता है। उनके जलप्लावन की कथा पृथिवी की समस्त मनुष्यजातियों में प्रचलित है। मनु की मछली और नोआ एक ही वस्तु है। जिस प्रकार मनु से सूर्यवंश और चन्द्रवंश चलते हैं, उसी प्रकार नूह के पुत्र हेम और शेम से समस्त मानवजाति की उत्पत्ति मानी जाती है। हेमिटिक और सेमिटिक जातियों की ही सन्तति सारा संसार माना जाता है। जिन मनु की प्राचीनता के विषय में इतिहास की इतनी प्रबल साक्षी है, उन मनु के समय में उपस्थित मन्त्रों की प्राचीनता के विषय में विद्वानों को चाहिए कि ख़ूब सोच-समझकर सम्मति स्थिर करें। यहाँ तक के वर्णन से हम वेदों की प्राचीनता की जाँच के लिए चार समय स्थिर कर सके—

१. ब्राह्मणकाल जिसका प्राचीन भाग २२ हज़ार वर्ष का है। २. ब्राह्मणकाल के पूर्व का साहित्यकाल जो कम-से-कम उतने ही समय पूर्व तक और आगे जा सकता है। ३. प्रथम मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का काल जिसके लिए भी उतना ही समय और आगे बढ़ना चाहिए। ४. प्राचीन मन्त्रद्रष्टाकाल, जिसमें नहुष, ययाति नाभानेदिष्ठ और स्वयं वैवस्वत मनु का नाम है, आदि सृष्टि तक जा पहुँचता है। नवीन मन्त्रद्रष्टाकाल और प्राचीन मन्त्रद्रष्टाकाल में बहुत बड़ा अन्तर है। इनके बीच के समयों के साहित्य का भी कुछ पता मिलता है। मुण्डक उपनिषद् में 'तदेतत्सत्यम्' पद लिखकर यह श्लोक लिखा है—

मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके॥

—मु० उ० १।२।१

अर्थात् वेदमन्त्रों में जिन कर्मों को बड़े-बड़े विद्वानों ने ढूँढ निकाला था, वे कर्म त्रेता में बहुत प्रकार के थे। उन्हीं को हे सत्यकाम! तू कर। यही लोक में सुकृत मार्ग है।

वेद के कर्मकाण्ड की सूक्ष्म साइन्स त्रेता में भी विद्वानों ने ढूँढ निकाली थी। इसके दो बड़े प्रबल प्रमाण मिलते हैं। एक राजा जनक का यज्ञ द्वारा पानी बरसाना। दूसरा दशरथ का पुत्रोत्पन्न करना। इन्हीं दोनों बातों को वाल्मीकि ने वर्णन करते हुए रामकथा लिखी है। इससे ज्ञात होता है कि द्वापर में बने हुए उपनिषद् अपने से पहले साहित्य के श्लोक को उद्धृत करके त्रेता के

---

१. **वेनं धृष्णुं नरिष्यन्तं नाभागेक्ष्वाकुमेव च॥ १५॥**
कारुषमथ शर्यातिं तथा चैवाष्टमीमिलाम्।
पृषध्रं नवमं प्राहुः क्षत्रधर्मपरायणम्॥ १६॥
नाभानेदिष्टं दशमं मनोः पुत्रान् प्रचक्षते॥ १७॥ —पाठभेद—नाभागरिष्टदशनात्—महा० आ० अ० ७५

यज्ञविज्ञान की बड़ाई करते हैं। उसी समय में यज्ञों द्वारा ये दो अलौकिक कार्य देखे जा सकते हैं। अतएव इस निर्विवाद घटना का वर्णन त्रेता के अन्त ही में मानना चाहिए। द्वापर[१] के १२६४००० वर्ष और कलि के ५०३० वर्ष, अर्थात् आजतक वाल्मीकि रामायण को बने १२६९०३० वर्ष हुए प्रतीत होते हैं और इतना ही पुराना वह साहित्य है जिसमें पुत्रेष्टियज्ञ और जल बरसाने का वर्णन है।

इसी प्रकार हमारे देश का ज्योतिश्शास्त्र भी बहुत प्राचीन है। पुराना सूर्यसिद्धान्त जिसके सहारे यह नया सूर्यसिद्धान्त बना है, सत्ययुग के अन्त में बना था। इस नवीन सूर्यसिद्धान्त १।२ में लिखा है कि **'अल्पावशिष्टे तु कृते',** अर्थात् सत्ययुग के अन्त में यह सूर्यसिद्धान्त बना। यह बात गप्प नहीं है। सूर्यसिद्धान्त की ज्योतिष्-पद्धति उसी काल की ग्रहस्थिति से आरम्भ की गई है। उस समय, अर्थात् त्रेता के आदि में सब ग्रह मध्यगत थे, इसीलिए आवश्यकता थी कि ज्योतिष् का ध्रुव निश्चित कर लिया जाए और युगपद्धति की जाँच हो जाए। सूर्यसिद्धान्त में कहा गया है—

अस्मिन्कृतयुगस्यान्ते सर्वे मध्यगता ग्रहाः।
विना तु पातमन्दोच्चान्मेषादौ तुल्यतामिताः॥ —सू०सि० १।५७
अत ऊर्ध्वऽममी युक्ता गतकालाब्दसंख्यया।
मासीकृता युता मासैर्मधु शुक्लादिभिर्गतैः॥ —सू० सि० १।४८

अर्थात् कृतयुग के अन्त में सब ग्रह मध्यगत थे। उक्त कृतयुग के अन्त तक के वर्षों की संख्या में इस काल के गत वर्षों को जोड़ो, पुनः जोड़ को १२ से गुणा करो तो मास संख्या होगी। यहाँ त्रेता के प्रारम्भ और कृतयुग के अन्त की स्थिति से ही आरम्भ किया है। ऊपर के श्लोकों की सहायता से गणित करने पर सत्ययुग का अन्तिम दिन मङ्गलवार होता है, अतएव निर्विवाद है कि यह ग्रन्थ सर्वप्रथम त्रेता के आदि में लिखा गया। आज तक इसको बने हुए (त्रेता के १२,९६,०००, द्वापर के ८,६४,००० और कलिके आज तक ५,०३०= २१,६५,०३० वर्ष होते हैं। इस प्रकार वाल्मीकि का पता १२ लाख वर्ष पूर्व और सूर्यसिद्धान्त का पता २१ लाख वर्ष पूर्व तक चलता है। इसके पूर्व न जाने कितने पलटे खाकर, किस-किस साहित्य की सृष्टि और प्रलय होकर, तब कहीं वेदों के प्रादुर्भाव का समय आता है। वेदों के अति प्राचीन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में वैवस्वत मनु का भी नाम आता है। उन्होंने अपने पुत्र को कुछ सूक्त दायभाग में दिये थे, जो अब तक उसी के नाम से चले आते हैं। ऐसी दशा में वेदों की प्राचीनता इस ऐतिहासिक विधि से भी उस काल से बहुत पूर्व तक पहुँचती है जहाँ तक लोकमान्य तिलक, नाना पावगी और अविनाशचन्द्र दास ने छानबीन की है। वैवस्वत मनु निस्सन्देह समस्त मनुष्यजाति के पूर्वज हैं, उनके समय में भी वेदों का उपस्थित होना स्पष्ट कर देता है कि वेदों का प्रादुर्भाव मनुष्य प्रारम्भ के साथ ही हुआ।

कुछ लोग मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रकर्त्ता ऋषियों को ही वेदों के रचयिता बतलाते हैं और उनका इतिहास गढ़कर वेदों की आयु स्थिर करते हैं, परन्तु नीचे के विवरण से सिद्ध है कि वेद, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के भी पूर्व उपस्थित थे।

---

१. यहाँ पाठ भ्रष्ट हुआ है। द्वापर का समय ८,६४,००० वर्ष है। यहाँ त्रेता का समय लिखा गया है। त्रेता के अन्त के ४,३२,०००, द्वापर के ८,६४,००० और कलियुग के ५०३० वर्ष लेकर यह समय १३,०१,०३० बन सकता है। —जगदीश्वरानन्द

१. गोपथब्राह्मण में स्पष्ट लिखा है कि सम्पातऋचाओं के प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र थे, किन्तु अब वामदेव हैं[१]। यदि मन्त्रद्रष्टा ऋषि वेदों के रचनेवाले होते हैं तो दो विरोधी समयों में एक ही सूक्त की रचना दो ऋषि कैसे कर सकते हैं?

२. जिन सूक्तों का इस समय नाभानेदिष्ठ द्रष्टा ऋषि है वे सूक्त उसके पिता मनु के पास पहले से ही विद्यमान थे[२], अतः द्रष्टा ऋषि मन्त्रों के बनानेवाले नहीं हो सकते।

३. अनेक सूक्तो के एक से अधिक ऋषि हैं। ऋग्वेद १।१०५ के त्रित और कुत्स तथा ऋग्वेद २।२९ के गार्त्समद और गृत्समद ऋषि हैं। इसी प्रकार एक ही मन्त्र के कई-कई ऋषि भी हैं। ऋग्वेद ३।४।८ से ११ मन्त्रों के ऋषि विश्वामित्र हैं, परन्तु यही मन्त्र जब ऋग्वेद ७।२।८ से ११ तक में आते हैं तब इनका ऋषि वसिष्ठ हो जाता है। क्या इन सूक्तों को और मन्त्रों को अनेक कवियों ने एक साथ बैठकर बनाया?

४. ऋग्वेद ९।६६ वाले केवल एक ही सूक्त के एक सौ द्रष्टा ऋषि लिखे हैं। क्या इन सबने मिलकर यह एक सूक्त बनाया[३]।

५. यज्ञादि कर्मकाण्ड के समय मन्त्रकार का वरण आजकल भी होता है जो वास्तव में मन्त्रों का कर्त्ता नहीं है, अतः मन्त्रद्रष्टा की ही भाँति मन्त्रकार का भी अर्थ मन्त्र बनानेवाला नहीं है। स्वर्णकार, लोहकार आदि सोना और लोहा नहीं बनाते प्रत्युत बने हुए लोहे से अन्य कार्य करते हैं। वीनाकार सदैव वीना का बजानेवाला ही कहलाता है, बनानेवाला नहीं। 'कार' शब्द कृतवस्तु के उपयोग करनेवाले के लिए ही है, मूल रचना करनेवाले के लिए नहीं, इसीलिए सूत्रग्रन्थों में कर्म करानेवाले को मन्त्रकार कहा गया है[४]।

६. मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रकार, मन्त्रों के रचयिता नहीं, प्रत्युत अपने-अपने विषय के मन्त्रार्थों के प्रचारक और उन मन्त्रों के विषय के विशेषज्ञ हैं। जो ऋषि जिस सूक्त या जिस मन्त्र के सत्य और मार्मिक भाव का दर्शानेवाला हुआ है वही उस मन्त्र का द्रष्टा कहलाया है[५]।

---

१. विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्। तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत। —गो० ब्रा० २।६।१
२. ऋ० १०।६१ और ६२ सूक्त पहले मनु को ज्ञात थे, परन्तु अब उनका ऋषि मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ है।
३. पवस्वनं शतं वैखानसाः। —ऋग्वेदानुक्रमणी
४. दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः। —मानवगृह्यसूत्र १।८।२
मन्त्रकृतो वृणीते। यथर्षिमन्त्रकृतोऽवृणीत। —आप०श्रौ० २४।५।६
५. एतामृचमपश्यत्। —ऐ०ब्रा० २।१६
स एतत् सूक्तमपश्यत्। —ऐ०ब्रा० ३।१९
गौरवीति एतत्सूक्तमपश्यत्। —ऐ०ब्रा० ३।१९
एतां पदामपश्यत्। —ऐ०ब्रा० ४।१०
ऋषिर्दर्शनात्। —निरुक्त २।११
ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति। —उपनिषद्
तदेतत् पश्यन्नृषिवामेदवः। —शत०ब्रा० १४।४।२।२२
तदेतदृषिः पश्यन्नुवाच। —ऐ०ब्रा० ९।१
दृष्टं साम। —पाणिनि अ०
ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः। —ऋक्प्रातिशा०
यज्ञकाण्डद्रष्टारः ऋषयः। ऋषिशब्देनात्र मन्त्रद्रष्टारः। —नागोजिभट्ट

यही कारण है कि एक ही सूक्त और मन्त्र के समय-समय पर अनेक ऋषि हुए हैं। वेदार्थ प्रकाश करने का इन्हीं को अधिकार होता है और ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि ही वेद के सच्चे उद्धारकर्त्ता होते हैं।

वेदों में आये हुए नवीन, मध्यम और पुराकालीन ऋषियों के नामों से लोगों को सन्देह होता है कि वेदों की रचना समय-समय पर होती रही है। लोग जब देखते हैं कि '**अग्निः पूर्वेभिर्ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत**[१], **पूर्वेभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः**[२], **इति शुश्रुम धाराणाम्**[३], **अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽन्यदेवाहुरविद्यायाः**'[४], इत्यादि भाव के कुछ मन्त्र वेदों में लिखे हैं, तब उनको उपयुक्त शंका होती है, परन्तु यह शंका तुरन्त ही नष्ट हो जाती है जब हम समय-समय पर होनेवाले नये और पुराने ऋषियों को वेदमन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के साथ मिलाते हैं। मन्त्रद्रष्टा समय-समय पर होते ही रहते हैं, इसलिए वेद में इन्हीं मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के लिए नूतन, मध्यम और पूर्व शब्द आये हैं। यही ऋषि वेद का सच्चा मर्म समय-समय पर खोलते हैं, इसीलिए वेद ने सचेत कर दिया है कि सभी की बात न मान लेना, प्रत्युत नये और पुराने उन्हीं ऋषियों की बात मानना जो मन्त्रद्रष्टा हों। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों का अति प्राचीन इतिहास प्राप्त है। प्राचीन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों में वैवस्वतमनु भी लिखे हुए हैं और वेद वैवस्वतमनु के पूर्व समय से अब तक चले आ रहे हैं, अतः वे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों की रचना नहीं हो सकते। वैवस्वत मनु से ही समस्त मनुष्यों की उत्पत्ति हुई है और उन्हीं वैवस्वतमनु तक वेदों की प्राचीनता सिद्ध हो रही है, इसलिए हम यहाँ यह कहना अनुचित नहीं समझते कि वेद उतने ही प्राचीन हैं, जितना प्राचीन मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव है।

। इति।

---

१. ऋ० १।१।२
२. ऋ० ३।३२।१३
३. यजुः० ४०।१०
४. यजुः० ४०।१३

ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

द्वितीय खण्ड

वेदों की अपौरुषेयता

प्रथम खण्ड में हमने अपने देश के चार विद्वानों की विवेचना और आर्यों के प्राचीनतम इतिहास के आधार से यह बतलाने का यत्न किया है कि वेद लाखों वर्ष पुराने हैं। जब से मनुष्य प्राणी अथवा आर्यजाति के प्रादुर्भाव का पता मिलता है तब से ही, उसकी उत्पत्ति के साथ-ही-साथ, वेदों का भी पता मिलता है। लोकमान्य तिलक, उमेशचन्द्र विद्यारत्न, नारायण भवानराव पावगी और अविनाशचन्द्र दास ने प्रकरणान्तर से सिद्ध कर दिया है कि वेदों के विषय में पाश्चात्यों का निकाला हुआ समय ग़लत है—वेद हिमयुग के पूर्व के और लाखों वर्ष के पुराने हैं। इतना होते हुए भी उक्त चारों विद्वान् वेदों को अपौरुषेय नहीं मानते। सबका सिद्धान्त क्रमोन्नति (Evolution Theory) के ही अनुसार देखा जाता है। सब यही कहते हैं कि मनुष्य पहले अज्ञानदशा में था, धीरे-धीरे उसने विद्या और सभ्यता प्राप्त की। ऐसी दशा में यह बात सहज ही प्रतीत होने लगती है कि काव्यमय वेद मनुष्यों की ही रचना है, अत: वे मनुष्य प्राणी की उत्पत्ति के बाद ही बने। इस प्रकार के भावों का उत्पन्न होना आर्यजाति के लिए बड़ा भयंकर है।

आर्यजाति के ही लिए भयंकर नहीं है प्रत्युत समस्त मनुष्यजाति के लिए हानिकारक है, क्योंकि वेदों की पौरुषेयता एक ऐसे प्रबल सिद्धान्त का खण्डन करनेवाली है जो परमेश्वर, परलोक और मोक्ष से सम्बन्ध रखनेवाला है। आस्तिकों की भाषा में इस सिद्धान्त का नाम है अपौरुषेय ज्ञान। अपौरुषेय ज्ञान के बिना परलोक का कोई रहस्य विश्वासपात्र नहीं कहा जा सकता। परलोक पर अविश्वास ही नास्तिकता है। नास्तिकता मनुष्यजाति के लिए कितनी विघ्नकारी है इसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता। संसार में नास्तिकता को दूर करने का एकमात्र साधन परलोक पर विश्वास ही है और परलोक पर विश्वास दिलानेवाला अपौरुषेय ज्ञान ही है, इसलिए वेदों को अपौरुषेयता के दर्जे से हटाकर पौरुषेयता के नीच गढ़े में ढकेलना उचित नहीं है। हमें आश्चर्य होता है, जब हम देखते हैं कि इतने ऊँचे दर्जे के विद्वान् भी विकासवाद का—क्रमोन्नति के सिद्धान्त का शिकार हो गये। ये विद्वान् जहाँ अपना एक पैर यूरोपीय जाल से निकालकर यह सिद्ध करने में समर्थ हुए कि वेद लाखों वर्ष की प्राचीन रचना हैं, समस्त मनुष्यजाति आर्यों की ही सन्तति है और समस्त सभ्यता भारत से ही संसार में फैली हैं, वहाँ अपना दूसरा पैर पाश्चात्य विज्ञान-पंक में फँसा बैठे। इस महान् दु:खद परिणाम का कारण पाश्चात्य निष्पत्ति पर अटल विश्वास ही है। इसमें स्वाधीन चिन्तन की गन्ध भी प्रतीत नहीं होती। विकासवाद अपौरुषेयता का क़ायल नहीं है। वह मनुष्य की प्रत्येक उन्नति को क्रम-क्रम से मानता है। इसलिए वेद लाखों वर्ष के पुराने होने पर भी—जब मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ

तब से उनका अस्तित्व होने पर भी वे अपौरुषेय का पद प्राप्त नहीं कर सकते, परन्तु हमें आगे वेदों की अपौरुषयता पर विचार करना है—हमें दिखलाना है कि वेदों का ज्ञान अपौरुषेय है, इसलिए आवश्यकता है कि उसमें आड़े आनेवाले विकासवाद की जाँच पहले ही हो जाए।

विकासवाद

विकासवाद विज्ञानमूलक बतलाया जाता है, अत: हम पहले विज्ञान की भूत और वर्त्तमानकालिक दशा पर ही विचार करते हैं और देखते हैं कि दोनों में कितना अन्तर है। विज्ञान शब्द से हमारा अभिप्राय यूरोपिय साइंस से है। साइंस के समय के दो विभाग हैं। एक बीस-पच्चीस वर्ष पहले का और दूसरा बीस-पच्चीस वर्ष इस पार का। पहले विभाग ने अपने ज़माने में दो-चार बातें ऐसी कहीं जो पहले कभी सुनी नहीं गई थीं। उनमें से सबसे विशेष बात डारविन का विकासवाद था। इसके प्रकट होते ही सारे संसार में हल्ला मच गया। समस्त पढ़ी-लिखी जनता ने अपने विश्वासों को पलट लिया। विकासवाद ने ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म और ईश्वरीयज्ञान आदि प्राचीन सिद्धान्तों पर बड़े वेग से प्रहार किया। ऐसा जान पड़ता था कि अब ये बातें वास्तव में ही असत्य ठहर जाएँगी, किन्तु विज्ञानवादियों ने यह दृढ़ संकल्प कर लिया है कि हमें जो सत्य जँचेगा वही कहेंगे। उनकी विशेषता के कारण सतत परिश्रम के पश्चात् अब विज्ञान-संसार का दृष्टिकोण बदल गया है। बीस-पच्चीस वर्ष से इस पार जो नई-नई बातें ज्ञात हुई हैं, उनके कारण पुराने विज्ञान में एकदम फेरफार करना पड़ा है। वास्तव में यदि इस समय के साइंस-संसार का ध्यानपूर्वक निरीक्षण किया जाए तो स्पष्ट ज्ञात होगा कि पुराना युग चला गया है और नवीन खोज ने अब एक नया ही संसार रच दिया है। यद्यपि यह सब-कुछ हुआ है—विज्ञान पलट गया है और विकासवाद तो रहा ही नहीं, परन्तु अर्ध शताब्दी के जनरव से उत्पन्न हुए गहरे मानसिक संस्कार लोगों के हृदय से निकाले नहीं निकलते। यह सभी जानते हैं कि स्वेच्छारियों के लिए परमेश्वर और कर्मफलों के भोगने का सिद्धान्त हलाहल विष है। विकासवाद ने इस सबसे छुट्टी दे दी थी, किन्तु अब निकले-निकलाये शत्रु की पुन: प्रतिष्ठा लोगों को बेहद सता रही है। यूरोप में साधारणतया और हमारे देश में विशेषरूप से अब तक लोग उन्हीं बातों को महत्त्व देने की चेष्टा किया करते हैं जो रद्द हो चुकी हैं, परन्तु विद्याव्यसनी निष्पक्ष वैज्ञानिकों के सत्य सङ्कल्प पर अटल रहने के कारण अब स्वेच्छाचारियों की मन:कामना पूर्ण नहीं हो सकती।

यहाँ के स्वेच्छाचारी नास्तिक प्रथम तो कुछ पढ़े-लिखे नहीं होते, दूसरे पश्चिम की नई-नई खोजों की जानकारी नहीं रखते और आस्तिकों के सामने लज्जित भी होते हैं, इसलिए बड़ी उद्दण्डता प्रदर्शित नहीं करते। पश्चिम का वातावरण अनियन्त्रित होने के कारण वहाँ के स्वेच्छाचारियों ने आस्तिक ईसाई पादरियों को इस बीच बहुत सताना शुरू किया। यह बात लोगों को अच्छी न लगी, अत: उन लोगों ने उचित समझा कि साइंस के विद्वानों के द्वारा ही ईश्वर, जीव, धर्म और ईश्वरीयज्ञान आदि विषयों पर वे सिद्धान्त कहलाए जाएँ जो वर्त्तमान साइंस के अनुसार इन विषयों पर प्रकाश डालनेवाले हों[१]। तदनुसार सन् १९१४ में लन्दन के प्रसिद्ध ब्राउनिंग हाल में प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सात विज्ञानवेत्ताओं को आमन्त्रित करके सात दिन तक उनके प्रवचन रक्खे गये। उन्होंने उक्त विषयों पर अपना जो मत प्रकट किया है वह पुस्तकाकार छपा

---

१. The suggestion was assiduously conveyed that religion was an outworn superstition, a morbid sentiment, or a phase of hysteria, all of which had been exposed by modern science. These misleading and harmful impressions need to be dispelled. The best way of dispelling them is to let science herself speak through the lips of her chief exponents. —*Science and religion,* p. 4-5

दिया गया है। पुस्तक का नाम है Science and Religion अर्थात् 'धर्म और विज्ञान'। उक्त सातों विद्वानों का परिचय इस प्रकार है—

१. सर ओलिवर जोसेफ़ लॉज, एफ़०आर०एस०, डी०एस०सी०, एल०एल०डी०। आप वैज्ञानिक संसार में अतिप्रसिद्ध हैं। आप लिवरपूल यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसर, विरहंघम यूनिवर्सिटी के प्रिंसिपल, फ़िज़िकल सोसाइटी, लन्दन के प्रेसीडेंट, रिसर्च फ़िज़िकल सोसाइटी के प्रेसीडेंट और ब्रिटिश एसोसिएशन के प्रेसीडेंट हैं। आपने अनेक पुस्तकें लिखी हैं तथा अनेक उपाधियाँ और बड़े-बड़े पदक प्राप्त किये हैं। आप 'वायरलेस' और 'विद्युत्-शास्त्र' के विशेषज्ञ हैं।

२. प्रो० जान एम्ब्रोज़ फ़्लेमिंग, एम०ए०, डी०एस०सी०, एफ़०आर०एस०। आप रॉयल कॉलेज में केमिस्ट्री के डिमाँस्ट्रेटर, केलटनहम कॉलेज के साइंसमास्टर, लन्दन के डॉक्टर आफ़ साइंस, यूनिवर्सिटी कॉलेज, नोटिंघम में गणित और विज्ञान के प्रोफ़ेसर, एडीसन कम्पनी के इलेक्ट्रिकल इंजीनियर, मोरले कॉलेज के प्रोमोटर, यूनिवर्सिटी कॉलेज, लन्दन में इलेक्ट्रिक इंजीनियरिंग के प्रोफ़ेसर और मारकोनी कम्पनी के वैज्ञानिक सलाहकार हैं। रायल सोसाइटी के फ़ेलो, अनेक ग्रन्थों के कर्त्ता और अनेक पदक प्राप्त कर चुके हैं। आप विद्युत्-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं।

३. प्रो० डबलू०बी० बाटमली एम०ए०, पीएच०डी०, एफ़०एल०एस०, एफ़०सी०एस०। आप प्राणिशास्त्री हैं। बोटानिकल किंग्स कॉलेज के प्रोफ़ेसर हैं। कृषिशास्त्र के ज्ञाता हैं, और अनेक पद तथा पदक प्राप्त कर चुके हैं।

४. प्रो० एडवर्ड हल, एल०एल०डी०, एफ़०आर०एस०। आप जिओलोजिकल साइंस के नेस्टर, आयरलैंड भूगर्भविभाग के डाइरेक्टर, जिओलोजिकल सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, प्रसिद्ध लार्ड किचनर के मित्र और अटलांटिक में टापुओं के आविष्कर्त्ता तथा अन्य अनेक भूगर्भसम्बन्धी कार्यों के ज्ञाता हैं।

५. जान एलन हार्कर, डी०एस०सी०, एफ़०आर०एस०। आप गर्मी और विद्युत् के विशेषज्ञ, विज्ञानसम्बन्धी अनेक समितियों के सभ्य, प्रधान और कार्यकर्त्ता हैं।

६. प्रो० जर्मन सिम्स बुडहेड, एम०ए०, एल०एल०डी०, एफ़०आर०सी०पी०, एफ़०आर० एस०ई०। आप कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में पैथालॉजी के प्रोफ़ेसर, रॉयल मेडिकल सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, रॉयल माइक्रोस्कोप सोसाइटी के प्रेसीडेण्ट, रॉयल कॉलेज के डाइरेक्टर और मेडिकल विभाग के विशेषज्ञ हैं।

७. प्रो० सिलवेनिस फ़िलिप्स थॉमसन, बी०ए०, एम०डी०, एल०एल०डी०, एस०सी०, एफ़०आर०एस०। आप लण्डन यूनिवर्सिटी में फ़िज़िक्स के प्रोफ़ेसर, विद्युत् और भौतिक विज्ञान के विशेषज्ञ हैं।

ये सातों विद्वान् इस समय के प्रसिद्ध विज्ञानवेत्ता हैं। इनकी बात नवीन विज्ञान संसार में उसी प्रकार मान्य है जिस प्रकार भारत में ऋषियों की। ये सभी महात्मा चिरञ्जीव हैं। सात दिन तक उक्त अधिवेशनों में इन्होंने ईश्वर, जीव, धर्म और विकासवाद आदि पर जो कुछ कहा है वह धर्म और विज्ञान नामी पुस्तक में छप गया है। इनके ये विचार वर्त्तमान स्थितिसूचक—अप-टु-डेट हैं।

वर्त्तमान विज्ञान

विज्ञानवेत्ताओं ने पुराने विज्ञान में क्या-क्या फेरफार बतलाया है, उसका हम यहाँ दिग्दर्शन कराते हैं। वर्त्तमान वैज्ञानिक, पुराने वैज्ञानिकों को पुराना कहकर उनके मत का अनादर करते हैं।

प्रसिद्ध विद्वान् हैकल डारविन मत के पोषक थे। उनके लिए प्रो० बाटमली कहते हैं कि 'हैकल का पुराना भौतिक स्कूल वर्त्तमान युग से बिलकुल दूर है'[१]। इसी प्रकार हैकल की पुस्तक (The Riddle of Universe) का उत्तर जिस पुस्तक में दिया गया है उसका नाम विनोद के रूप में (The old Riddle and the Newest Answer) 'रद्दी विचार और नूतन उत्तर' रक्खा गया है। 'धर्म और विज्ञान' नामी पुस्तक में एक अन्य विद्वान् अपने अनेक विचारों को नवीन, अर्थात् दस-बीस वर्ष के कहता है[२]।

नवीन वैज्ञानिक कुछ समय पूर्व के सन्देहवादियों (Agnostic) को समय से दूर बतलाते हैं और नवीन खोज करनेवालों को धन्यवाद देते हैं[३]। पहले की अन्धी प्रकृति के हाथ में न रहकर उस प्रकृति को अपने हाथ में रखने की शिक्षा देते हैं[४]। विकास को मनमाना नहीं, प्रत्युत नियमबद्ध होकर कार्य करनेवाला बतलाते हैं[५] और विकास के द्वारा परमात्मा का दर्शन करते हैं[६]।

जैसा कि हमने अभी कहा है कि दस-बीस वर्ष के अन्दर, ऊपर बतलाई हुई विज्ञान सम्बन्धी बातों पर प्रकाश पड़ा है, जिससे विकासवाद के उस ढाँचे का बिलकुल ही परिवर्तन हो गया है, जिसे डारविन, हक्सले और हैकल आदि ने अपनी समझ में बड़ी दृढ़ जंजीरों से जकड़कर बाँधा था।

डारविन के समय का संसार केवल प्राकृतिक था, उसमें किसी चेतन, ज्ञानी, परम तत्त्व-जैसे पदार्थ की आवश्यकता न थी, किन्तु अब परमेश्वर-जैसा तत्त्व समस्त विज्ञानमण्डली को स्वीकृत हो गया है, अत: डारविन की प्रकृति अब स्वेच्छाचारिणी नहीं रह सकती। नवीन विज्ञान ने अब दूसरा जीव-जैसा पदार्थ भी स्वीकार कर लिया है। साइकॉलोजी, फ्रिनॉलोजी और स्प्रिचुअलिज़्म के पण्डित जीव का अस्तित्व और उसका जन्मान्तर भी स्वीकार करते हैं। इन दोनों तत्त्वों के मान लेने पर इलहाम, अर्थात् ईश्वरी आदेश और मोक्ष, अर्थात् ईश्वर-प्राप्ति का सिद्धान्त भी प्रकाश में आ जाता है। धार्मिक संसार के यही चार स्तम्भ हैं। विज्ञान ने इन चारों पर प्रकाश डाला है, इन्हें पुष्ट किया है और बतला दिया है कि साइंस इन सब तत्त्वों को आग्रहपूर्वक मानती है। ऊपर कही हुई चार चीज़ों के मान लेने पर मैटर, अर्थात् प्रकृति स्वतन्त्र नहीं रह

---

१. That is the old materialistic school—Hackel's School if you like—which, let me tell you, is hopelessly out of date and antiquated. —*Science and Religion*, p. 63.

२. And all the theories of matter advanced during the last twenty years are based on a conception—a postulate of non-material. That is the latest science. —*Ibid*, p.62.
The science of colloids is quite a new one. It has only been worked at really seriously within the last dozen years. —*Ibid*, p. 65.

३. Not very long ago, it was to some extent fashionable in scientific circles to be an Agnostic. But to-day a man who glories in his ignorance is blamed and not lionised. The attitude is quite out of fashion. Thanks to the labours of science. —*Science and Religion*, p. 85-86.

४. Progress is made more rapidly and more economically by rational than by natural selection and that the time has arrived for man to control his own evolution of leaving it the blind forces of nature. —*Deshdarshan*.

५. What is evolution? unfolding, development—unfolding as a bud unfolds into a flower,as an acorn into an oak. Every thing is subject to a process of growth, of development, of unfolding. —*Science and Religion*, p. 16.

६. And it is just here that religion completed the wonderful story of evolution, gives us the purpose of the universe, and reveals the eternal energy behind all, not as simply an impersonal Infinite Energy, which is a non-material something, but reveals the Infinite as a personal God. —*Ibid*, p. 68.

सकती। उसे नियमबद्ध होकर काम करना पड़ेगा। ऐसा नहीं है कि परिस्थिति का बहाना लेकर प्रकृति से उलटे का सीधा या सीधे का उलटा करा लिया जाए। अब डारविन की उच्छृङ्खल प्रकृति को यह अवसर नहीं मिल सकता कि वह किसी प्राणी को जो मक्खी से चिड़िया होने जा रहा हो, बीच में उसे साँप बनाने लग जाए। अभी साँप भी न बन पाया हो किन्तु संयोगवश ऊँट बनाने लग जाए और अन्ततोगत्वा उसे मोर कर डाले। अब तो जीवों के कर्म और ईश्वर की व्यवस्था में बँधी हुई प्रकृति वही कर सकेगी जो स्वीकृत हो चुका है। अब नियम अथवा स्थिर सिद्धान्तानुसार ही जिसे जो होना है वही होगा, इसीलिए विकासवाद पर अपनी सम्मति देते हुए सर ओलिवर लॉज ने कहा है कि विकास तो कली से फूल अथवा बीज से फूल अथवा बीज से वृक्ष बनानेवाला नियत नियमित नियम है। इसका तात्पर्य यही है कि परिस्थिति, संयोग, अवसर और इत्तिफ़ाक़ आदि शब्दों से जो भाव अब तक निकाला जाता था वह अब नहीं निकल सकता।

नवीन विज्ञान के सिद्धान्तानुसार संसार में अनेक प्राणी ऐसे पाये गये हैं जिन्होंने अपने आदि जन्म से लेकर अब तक अपना रूप तनिक भी नहीं बदला। ये स्थिर शरीरवाले ही कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रो० सोलस, कीथ, शिम्पर, हेकल और डाक्टर चर्च के अनुसार अब तक यही स्थिर था कि मनुष्य को हुए ८,२०,००० वर्ष हुए और इसी अवधि में उसने इतनी उन्नति की, परन्तु जब से मि० जान टी० रोड को नवादा में एक ६० लाख वर्ष का पुराना जूते का तला पत्थर की दशा में मिला है तब से विकासवाद का रहा-सहा सभी खेल बिगड़ गया है। पृथिवी की आयु अब तक जितने भी प्रकारों से स्थिर की गई है उन सब प्रकारों में से कोई भी प्रकार, इस जूते के कारण, विकासवाद की सब कड़ियों को उत्पन्न करने में अपना सामर्थ्य नहीं दिखला सकता। अमीबा से लेकर मनुष्य तक न जानें कितनी कड़ियाँ हैं। यदि एक-एक कड़ी एक-एक करोड़ वर्ष लें (क्योंकि ६० लाख वर्ष का तो जूता ही मौजूद है) तो अधिक-से-अधिक यह पृथिवी कहाँ तक अपना समय दे सकती हैं, इसका अनुमान भी नहीं हो सकता। हाल में यह भी सिद्धान्त स्थिर हुआ है कि मनुष्यों का विकास बन्दरों से नहीं हुआ प्रत्युत बन्दरों का जन्म मनुष्यों से हुआ है। इस सिद्धान्त के आविष्कर्ता कहते हैं कि पूर्वातिपूर्व काल में मनुष्यों ने ज्ञानविज्ञान में बहुत उन्नति की थी। इसीलिए उनके शिर कमज़ोर हो गये थे। कुछ दिन के बाद वे सब असभ्य जंगली बन गये और उनमें से कुछ बनमनुष्य और कुछ बन्दर हो गये। ये सिद्धान्त २० वर्ष के इस पार स्थिर हुए हैं। इनके स्थिर करनेवाले विज्ञान के प्रखर विद्वान् हैं। पूर्व के विद्वानों से इनके सिद्धान्त अधिक बलवान् इसलिए मानने चाहिएँ, क्योंकि इनको पूर्व के विद्वानों का ज्ञान मिला और उसमें इन्होंने अपने ज्ञान द्वारा वृद्धि की। उस बढ़े हुए अनुभव के द्वारा उपर्युक्त बातें निश्चित की गई हैं, अत: वे पहली पुरानी बातों की अपेक्षा अधिक माननीय हैं, इसलिए अब ऊपर के समस्त सिद्धान्तों को ध्यान में रखकर सृष्टि की उत्पत्ति का क्रम इस प्रकार हो सकता है—

जीवों के कर्मानुसार परमेश्वर ने जिस प्राणी को जैसा शरीर दिया है उसके लिए प्रकृति को वैसा ही शरीर बनाना पड़ेगा। जिस प्रकार कली से फूल होता है उसी प्रकार जिस प्राणी का जो कुछ बनना है, वही बनेगा। परिस्थिति, संयोग और इत्तिफ़ाक आदि उसे और-का-और नहीं कर सकते। अपरिवर्तनशील प्राणियों की भाँति किसी प्राणी की आकृति बदल नहीं सकती, क्योंकि मनुष्यजाति ६० लाख वर्ष से तो ज्यों-की-त्यों पाई जाती है। आदि में मनुष्य महाज्ञानी था, किन्तु पीछे से वही जंगली हो गया।

इसमें कहाँ विकासवाद की गन्ध है, कहाँ डारविनइज़्म का संस्कार है और कहाँ पुराने वैज्ञानिकों की चर्चा है? नवीन विज्ञानवाद में अब पुराने विकास के लिए स्थान नहीं है। अब तो

पुराने विज्ञान के अनुसार केवल इतनी ही बात रह जाती है कि परमेश्वर का यह नियम है कि वह विकास द्वारा प्राणियों को उसी प्रकार पैदा कर देता है जिस तरह कली से फूल होता है। आगे हम देखेंगे कि इस प्रकार पैदा करना परमेश्वर के लिए आवश्यक है या नहीं। यहाँ तो यही कहना पर्याप्त है कि पुराने प्रकार का विकासवाद नष्ट हो गया। हम अपने स्वदेश बान्धव महाशय नाना पावगी, विद्यारत्न और अविनाश बाबू से यही कहते हैं कि आपने इतिहास की धुन में पश्चिम के विज्ञान की समालोचना क्यों नहीं की ? यदि आप ध्यान से इसकी भी आलोचना करते तो आपको इसमें भी वैसी ही, किन्तु उससे भी अधिक भयंकर भूलें मिलतीं जैसीकि वेदों की प्राचीनता और आर्यों की सभ्यता में यूरोपनिवासियों की भूलें मिली हैं।

कहने को तो हमने इतने ही में विकासवाद का रहस्य खोल दिया, परन्तु जिन लोगों ने उसे जिस क्रम से ग्रहण किया है जब तक उसी क्रम से उनके मस्तिष्क से न निकाला जाए तब तक उनको तसल्ली नहीं हो सकती, अत: हम आगे क्रम से श्रीयुत विनायक गणेश साठे एम० ए० लिखित 'विकासवाद' नामी पुस्तक के अनुसार विकासवाद के समस्त अङ्ग-उपाङ्गों की विस्तृत आलोचना करके देखेंगे कि वह किस प्रकार स्थिर है। यहाँ सबसे पहले थोड़े में यह दिखलाना चाहते हैं कि विकासवाद क्या है और उसकी स्थापना किस रीति से की गई है—

प्राकृतिक पदार्थों का आदि और मूलकारण ईथर है। उसी के कम्पन और तरङ्गावली से विद्युत्, प्रकाश, शब्द और गर्मी पैदा होती है। उसी के सूक्ष्मातिसूक्ष्म कणों को इलक्ट्रोन कहते हैं। इन इलक्ट्रोनों के संघात से ही विद्युत् उत्पन्न होती है और यही शक्ति Energy के रूप में स्थूलाकार में मैटर कहलाती है। मैटर की विरल दशा को गैस, तरल दशा को लिक्विड और ठोस दशा को सॉलिड कहते हैं। ईथर से उत्पन्न ये पदार्थ घनीभूत होकर और आकर्षणानुकर्षण के नियम से चक्राकार गति में हो जाते हैं। कुछ दिनों में वही चक्र सूर्य हो जाता है। सूर्य में गर्मी और गति के कारण चक्कर (रिंग) पड़ जाते हैं और पृथक् होकर दूसरे ग्रह बन जाते हैं। उन ग्रहों से दूसरे उपग्रह बनते हैं। इसी प्रकार के ग्रहों में से हमारी पृथिवी भी एक ग्रह है और पूर्वोक्त रीति से ही बनी है। इसके बनानेवाले किसी ईश्वर, परमात्मा आदि को मानने की आवश्यकता नहीं है। यह पृथिवी पहले गर्म थी, धीरे-धीरे ठण्डी हुई, समुद्र बने, उनसे भूमि निकली और जीवन आरम्भ हुआ। जड़ से ही जीवित प्राणी पैदा हो गये।

पृथिवी में चेतन वस्तु उत्पन्न हुई और धीरे-धीरे बढ़ी। पहले वह न वनस्पति थी और न जन्तु, किन्तु दोनों को उत्पन्न करनेवाली चेतनता थी। उसकी एक शाखा एक कोष्ठधारी 'अमीबा' बन गई। अमीबा इतने बढ़े कि उन्हें खाने-पीने की कठिनाई होने लगी। वे नाना प्रकार के प्रयत्न करने लगे। उनकी सन्तति जो शारीरिक प्रयत्न और मानसिक अभ्यास में बलवान् थी और जीवन-संग्राम में बच गई, वह फिर बढ़ी। भोजन की तंगी के कारण संग्राम चालू रहा और योग्य बचे, अयोग्य मारे गये। ये बचे हुए अमीबा पहले से कुछ भिन्न प्रकार के थे। इनमें भी वही क्रम चलता रहा और बहुत दिन के बाद मरते-मरते तथा परिस्थिति के अनुसार आकार-प्रकार बदलते-बदलते मछली, मण्डूक, सर्प, पक्षी, गाय, बैल, बन्दर, वनमनुष्य और मनुष्य की उत्पत्ति हुई।

जिस कारण और क्रम की वजह से भारतीय, यूरोपियन, रेड इण्डियन, हब्शी और चीना में भेद है उसी कारण और क्रम की वजह से बहुत दिन के बाद मनुष्य और वनमनुष्य-जैसा अन्तर हो जाता है। सब प्राणियों का एक ही तत्त्व से बनना और सबमें जीवन और सन्तति धारण करनेवाले समान अवयवों का होना सिद्ध करता है कि सब एक ही मूल यन्त्र के उसी प्रकार

सुधरे हुए रूप हैं जिस प्रकार आरम्भ की बाइसिकल भद्दे प्रकार की थी, उसमें सुधार होता गया और अनेक शकलों में होती हुई आज की बाइसिकल प्रस्तुत हुई। यदि पूर्व-पूर्व की सभी साइकिलों को एक क़तार में रखकर देखें तो पता लगेगा कि उस पहली ही साइकिल के सब सुधरे हुए रूप हैं, परन्तु पहली साइकिल तीन पहिये की थी, हाल की दो ही पहिये की है। वह पैर हिलाकर चलाई जाती थी, यह मोटर के बल से दौड़ती है। जिस प्रकार ये अनेक भाँति की साइकिलें एक ही मूल साइकिल का सुधरा हुआ रूप हैं उसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी भी एक ही अमीबा के सुधरे हुए रूप हैं। इनमें कोई भी दूसरा प्राणी नहीं है। जिस प्रकार तीन पहिये और दो पहिये की साइकिल दो वस्तु नहीं हैं उसी प्रकार बिना पैर का साँप और सौ पैर का कानखजूरा भी कोई दो वस्तु नहीं है। पहले का सुधरा हुआ रूप ही दूसरा है। पहले सादी फिर संकीर्ण, पहले बिन हड्डीवाली फिर हड्डीवाली और पहले जोड़ोंवाली फिर सपाट रचना का क्रम यान्त्रिक ही है।

भूमि के खोदने से भी प्राणियों में यही क्रम पाया गया है। सादी रचनावाले निचली तहों में और क्लिष्ट रचनावाले—हड्डीवाले ऊपरी तहों में पाये जाते हैं। गर्भ में भी यही क्रम देखा जाता है। मनुष्यगर्भ पहले अमीबा की भाँति एक कोष्ठवाला, फिर मछली के आकार का, फिर मण्डूक, सर्प और पक्षी के आकार का होता हुआ बन्दर की शकल का होकर मनुष्य होता है। इस प्रकार समस्त भूगोल के प्राणियों की शरीर-रचना और जहाँ-तहाँ से प्राप्त हड्डियों की रचना तथा भिन्न-भिन्न देश में स्थित प्राणियों की रचना के मिलान से यही प्रतीत होता है कि सब एक ही मौलिक यन्त्र के परिशोधित और परिवर्धित रूप हैं। अनेक चिह्न भी अब एक-दूसरे में पाये जाते हैं और अनेक चिह्न लुप्त भी प्रतीत होते हैं। कई स्त्रियों के चार-चार, आठ-आठ स्तन और कई मनुष्यों के पूँछ का होना यही कहता है कि मनुष्य भी उन-उन योनियों में होकर आया है, जिनमें अनेक स्तन और पूँछ होती हैं। कान न हिला सकने और आँत उतरने की बीमारी से प्रतीत होता है कि मनुष्य के ये अंग शक्तिहीन हो गये हैं। कहीं-कहीं दो प्रकार के प्राणियों के-से उभय अङ्ग एक ही प्राणी में पाये जाते हैं। जैसे चिमगादड़ और उड़नेवाली गिलहरी—ये लुप्त कड़ियों के उत्तम दर्शक और विकास के उत्तम प्रमाण हैं। इन्हीं सब साधनों से विकासवाद की पुष्टि होती है। आगे हम क्रम से साधक-बाधक प्रमाणों से देखना चाहते हैं कि नवीन विज्ञान और सृष्टिपर्यालोचन से प्राप्त हुए अनुभवों के सामने विकासवाद कहाँ तक ठहर सकता है।

हमने प्रथम पैराग्राफ़ में ईथर से लेकर जीवन उत्पन्न होने तक का वर्णन दिया है। इस उत्पत्तिक्रम के विषय में तो हमें कुछ नहीं कहना, चाहे इसी प्रकार सृष्टि हुई हो, परन्तु बिना चैतन्य और परमेश्वर की क्रिया के जड़ प्रकृति कभी भी रचना नहीं कर सकती, अत: हम पहले यहाँ से आलोचना आरम्भ करते हैं—

ईश्वर की अमान्यता

परमेश्वर के सम्बन्ध में विकासवाद के योग्य लेखक महाशय विकासवाद के पृष्ठ १३ पर लिखते हैं कि 'विकासवादी कहते हैं कि जिस प्रकार आजकल परिवर्तन हो रहे हैं उसी प्रकार पूर्व समय में भी परिवर्तन हुए थे और उन्हीं परिवर्तनों के कारण सृष्टि की आजकल की दशा दृष्टिगोचर हो रही है। विकासवाद की स्थापना वैज्ञानिक रीति पर की गई है, इसलिए वर्त्तमान संसार का कारण कोई प्रारम्भिक अद्भुत शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रही'।

ऊपर जो वर्णन उद्धृत किया गया है वह यदि ठीक-ठीक वैज्ञानिक रीति से किया गया है तो निस्सन्देह उसी में प्रारम्भिक अद्भुत शक्ति का वर्णन निहित है। सारा संसार यदि परिवर्तन का

फल है और परिवर्तन यदि पूर्व से भी पूर्व काल से लगातार चला आ रहा है और अब भी चल रहा है तो परिणाम यह होनेवाला है कि यह परिवर्तन किसी-न-किसी दिन बन्द हो जाएगा, क्योंकि 'परिवर्तनशीलता' प्रकृति का स्वाभाविक गुण नहीं है। जब स्वभाव का अर्थ ही अपरिवर्तनशीलता है तो परिवर्तन स्वभाव कैसे हो सकता है ? यदि प्रकृति अवस्तु नहीं है—यदि यह दृश्यमान जगत् वास्तव में वस्तु है तो इस वस्तु के कुछ स्वाभाविक गुण होंगे जो कभी त्रिकाल में बदल न सकते होंगे, परन्तु हम प्रतिदिन परिर्वतन देखते हैं, इससे साहसपूर्वक कहते हैं कि यह परिवर्तनशील है। परिणाम स्पष्ट है कि वह गुण उसका स्वाभाविक नहीं, प्रत्युत बनानेवाले का दिया हुआ है, अतएव आगे चलकर वह गुण अवश्य नष्ट होनेवाला है। बन्दूक़ के द्वारा फेंकी हुई गोली का वेग उसका निज का नहीं है, क्योंकि वह आगे भागती जा रही है। यह अस्थिर गुण उसका स्वाभाविक नहीं, किन्तु चलानेवाले का दिया हुआ है, अत: वह आगे चलकर गिरनेवाली है। जिस प्रकार परिवर्तनशील घड़ी और बन्दूक़ की गोली आगे चलकर बन्द होनेवाले हैं, निस्सन्देह चलने के पूर्व—परिवर्तन आरम्भ होने के पूर्व—बन्द थे। चलाने के पहले घड़ी बन्द थी, बन्दूक़ की गोली बन्द थी और सभी कुछ बन्द था, अत: यह परिवर्तनशील सृष्टि जब आगे चलकर बन्द होनेवाली है तब निस्सन्देह कभी पूर्वातिपूर्व काल में बन्द थी। तब इसे चलाया किसने ? उसी परमात्मा ने।

परमेश्वर को सिद्ध करने के लिए हम बहुत-से प्रमाण इसलिए नहीं देना चाहते कि अब यह विषय वैज्ञानिकों में मान्य हो गया है। 'परमेश्वर है या नहीं' इस विषय की नवीन खोजों से पता लग गया है कि बिना परमेश्वर की सत्ता के माने, साइंस का महा विद्वान् डॉक्टर जे० ए० फ़्लेमिंग कहता है कि 'साइंस के स्वाध्याय से हमको इस प्राकृतिक जगत् में क्रम, योजना, धारणा और विचार दिखलाई पड़ते हैं। ये बातें इत्तिफ़ाक़ से, अचानक नहीं आ गईं। ये विचार और चैतन्य की सूचना देती हैं। यह संसार केवल वस्तु ही नहीं है प्रत्युत यह विचारमय है जो बिना विचारवान् के कभी हो नहीं सकता। इस संसार में एक सर्वव्यापक चैतन्य विचारवान् सत्ता भासित होती है, जिसका हम भी एक नमूना हैं'[१]। अभी हम जिन सात विज्ञानवेत्ताओं का गुणानुवाद कथन कर आये हैं उनमें से एक की राय का नमूना यह है। सबने प्राय: इसी प्रकार ज़ोर-शोर से परमेश्वर का प्रतिपादन आधुनिक रीति से किया है। यह विज्ञान की वर्त्तमान परिस्थिति है, अत: हम ईश्वर-सिद्धि पर विशेष कुछ नहीं कहना चाहते। अब दूसरा आवश्यक पदार्थ जीव है उसकी यहाँ समालोचना कर लेनी चाहिए।

चैतन्य की अमान्यता

विकासवाद के लेखक महोदय कहते हैं कि 'विकासवाद पर विचार करते हुए जीवन (Life) पर विचार करना एक प्रसंगोपात बात है—विकासवाद का यह वास्तविक विषय नहीं। इस विषय पर जो एक वा दो कल्पनाएँ वैज्ञानिकों को सूझी हैं वे निम्न प्रकार की हैं। एक कल्पना यह है कि पृथिवी पर गिरनेवाली तारकाओं (Meteorites) द्वारा जीवन का बीज हमारे यहाँ

---

१. To sum up this part of our argument, we can say that Scientific study most certainly shows us the presence in this physical universe of an Order, Stability, Directing Power and Intelligibility, and Capability of being understood by us. These qualities are not spontaneously produced. They do not come by chance. They are not the result of mere accident. They always imply thought and intelligence. This Universe is not merely a Thing; it is a Thought, and thought implies and necessitates a Thinker. Hense there is in this Universe a Supreme Thinker or Intelligence of which our own intelligence is but the faint copy and image. —*Science and Riligion,* p.48.

पहुँचा, परन्तु उसमें यह शंका हो सकती है कि क्या प्रोटोप्लाज़्म में इतनी शक्ति है कि तारकाओं द्वारा पृथिवी पर पहुँचने तक उसमें जीवन अवशिष्ट रह सकता होगा। दूसरी कल्पना यह है कि असंख्य वर्षों से पहले अनुकूल स्थिति पाने पर जीवन का एकदम प्रादुर्भाव (Spontaneous Generation) हुआ'। इसपर आप ही लिखते हैं कि 'जीवन का आरम्भ कैसे हुआ इसका वैज्ञानिकों को अब तक कुछ ज्ञान नहीं हुआ है। वैज्ञानिक सीधा-सादा उत्तर देते हैं कि हम इस बात को नहीं जानते। निर्जीव से सजीव की उत्पत्ति को नि:शंक और प्रमाणपूर्ण मन से यद्यपि अब तक हम मान नहीं सकते तथापि इतना निस्सन्देह है कि विकास स्थापना की अन्य कल्पनाओं के साथ इसका मेल भली-भाँति मिल जाता है'।

ऊपर के वर्णन से ज्ञात होता है कि वैज्ञानिक अब तक नहीं जान पाये कि चैतन्य कैसे बनता है, परन्तु उनका विश्वास है कि वह है प्राकृतिक, क्योंकि उनके मत में चेतन प्रोटोप्लाज़्म ही है और प्रोटोप्लाज़्म में जो शहद की भाँति तरल पदार्थ भरा है वह कार्बन हाइड्रोजन, नाइट्रोजन और फासफोरस आदि १२ भौतिक पदार्थों से ही बना है, जो निरे जड़ हैं। ये भौतिक पदार्थ भी इलक्ट्रोन के न्यूनाधिक मेल से बनते हैं। इलेक्ट्रोन खण्ड-खण्ड हैं, अत: हमारी देशीभाषा में ये सारे पदार्थ परमाणुओं से ही बन जाते हैं और जीव भी प्राकृतिक परमाणुओं से ही बन जाता है। पृष्ठ २७ में हक्सले का नाम देकर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'हक्सले महोदय कहते हैं कि चेतन पदार्थ दीपक की ज्योति अथवा पानी के भँवर के समान यद्यपि नित्य प्रतीत होते हैं तथापि वास्तव में प्रतिक्षण बदलनेवाले व्यक्ति हैं'। इसका तात्पर्य यही है कि आत्मा प्रकृति के परमाणुओं से बना है। नये-नये परमाणु प्रतिदिन उसमें चिपकते जाते हैं और पुराने अलग होते जाते हैं। इस प्रकार की धारा निरन्तर बहती रहती है; इसी से ज्ञान और चैतन्य क्रम नहीं टूटता।

नवीन विज्ञान बतलाता है कि प्रत्येक परमाणु (atom) कई इलेक्ट्रोनों से बना है। इलेक्ट्रोन एक-दूसरे से चिपकते नहीं, प्रत्युत दूर-दूर रहते हैं। जिस प्रकार हमारे तारागण दूर-दूर रहकर भी एक तारापिण्ड या सौरजगत् कहलाते हैं, इसी प्रकार अनेक इलेक्ट्रोनों से बना हुआ एटम भी है[१]। उसी एटम से उपर्युक्त बारह पदार्थ बने हैं। इन बारह पदार्थों से ही आत्मा बना है। ये बारह पदार्थ सदैव बदलनेवाले हैं, अत: आत्मा भी प्रतिक्षण बदलता रहता है। वैज्ञानिक कहते हैं कि परमाणुओं की गति प्रति सेकिण्ड एक लाख माइल की है। अब सोचिए कि पृथक्-पृथक् रहकर इतने झपाटे से चलनेवाले परमाणु किस प्रकार अपना ज्ञान दूसरे परमाणु में डालते हैं अथवा किस प्रकार ज्ञान उड़कर एक परमाणु से दूसरे में जाता है और चैतन्य स्थापित रहता है। यहाँ स्कूल में २० वर्ष तक मास्टर विद्यार्थी को पढ़ाता है तो भी विद्यार्थी भूल जाता है, परन्तु बिना किसी साधन के दूर-दूर स्थित परमाणु, इतने झपाटे से दौड़ते हुए, अपना ज्ञान दूसरे में फेंककर चले जाते हैं और दूसरे उस ज्ञान को ले-लेते हैं। कितना आश्चर्य है! समझ में नहीं आता कि किस प्रकार ऐसी ऊलजलूल बातें पढ़े-लिखे लोग कहते, सुनते और उन्हें सच मानते हैं! यह परमाणुओं का शीघ्र संवाद ऐसा भ्रामक एवं असत्य है कि इस पर हँसी आती है। आनन्द की बात है हैकल हेक्सले का युग अब चला गया। अब उनकी बातें रद्दी (Old Riddle) कहलाती हैं। अब तो विज्ञानवेत्ताओं ने आध्यात्मिक विद्या के द्वारा जाना है कि जीव अप्राकृतिक और अजर-अमर है।

दिसम्बर सन् १९२३ के चिल्ड्रन्स न्यूज़पेपर में प्रो० रिचेट की Thirty Years of Psychi-

---

१. Most people think of atoms as something like marbled, only very very small. They are not little hard marbles: no, they are much more like solar system. Just as the planets by laws revolve round the sun, so the electrons by laws revolve round the nucleus of the atoms—(Sir Oliver Lodge)
—*Science and Religion*, p. 18.

cal Research नामी पुस्तक का एक विज्ञापन छपा है। उसमें कहा गया है कि ३० वर्ष की खोज के पश्चात् यह पुस्तक लिखी गई है। ग्रन्थकार ने 'जीवात्मा' का अनुसन्धान कर लिया है। जीव के विषय में ग्रन्थकार के निम्न वाक्य उद्धृत किये गये हैं कि—'५० वर्ष पूर्व भौतिक विज्ञान का यही दृष्टिकोण था कि जो बात भौतिक विज्ञान से सिद्ध न हो उसका अस्तित्व ही नहीं है—वह ढोंग है, किन्तु आज ऐसे भी प्रमाण मिल रहे हैं कि भौतिक विज्ञान की पहुँच के बाहर भी पदार्थों का अस्तित्व है। ऐसी घटनाओं को 'साइकिकल' कहते हैं। यह शब्द जीव के लिए व्यवहृत होता है'[१]। जो लोग स्पष्ट नहीं कहना चाहते, वे भी अब जीवात्मा को भौतिक नहीं कहते। प्रसिद्ध डारवीन के सुपुत्र प्रोफ़ेसर जॉर्ज डारविन ने १६ अगस्त सन् १९०५ को दक्षिण अफ्रीका में ब्रिटिश एसोसियेशन के प्रधान की हैसियत से कहा है कि 'जीवन का रहस्य अब भी उतना ही गूढ़ है जितना पहले था'[२]। सन्देहवादियों की राय का अब आदर नहीं है। अब स्पष्टवादियों का समय आ गया है। स्पष्टवादियों में प्रो० गेड्स कहते हैं कि 'कुछ प्रामाणिक विज्ञानवेत्ता जो जीव के एक लोक से दूसरे लोक में आगमन की कल्पना को सन्तोषजनक मानते हैं, ऐसा भी मानते हैं कि जीव प्रकृति की भाँति अनादि है'[३]।

दूसरा विद्वान् कहता है कि 'चेतन के प्रभाव के बिना जड़ पदार्थों में चेतना आ ही नहीं सकती। विज्ञान का यह नियम मुझे पृथिवी के आकर्षण की भाँति अटल प्रतीत होता है'[४]। जब से मनोविज्ञान (साइकॉलॉजी) मस्तिष्कशास्त्र (फ्रिनालॉजी) और आत्मविद्या (स्प्रिचुअलिज़्म) का अन्वेषण हुआ है तब से जीव-सम्बन्धी सभी शंकाएँ निवृत्त हो गई हैं।'

मनोविज्ञान का एक विद्वान् लिखता है कि 'किसी भी जीवन-कार्य की सङ्गति भौतिक नियमों से अब तक स्पष्ट नहीं की जा सकी है। आँसू के निकलने या पसीने के निकलने आदि के छोटे-छोटे नियमों के स्पष्टीकरण की सब चेष्टाएँ निरर्थक सिद्ध हो चुकी हैं'[५]। मस्तिष्कशास्त्र (Phrenology) का जन्मदाता गॉज लिखता है कि 'मेरी सम्मति में एक ही निरवयव वस्तु है जो देखती, सुनती, स्पर्श करती और प्रेम, विचार तथा स्मरण आदि करती है, परन्तु यह अपने कार्य के लिए मस्तिष्क में अनेक भौतिक साधन चाहती है'[६]। इसने वही बात कह दी जो उपनिषत्कारों

---

१. Science was never so conscious as now of how much there is to learn. Fifty years ago the attitude of science was that all happenings, that could not be explained by known physical laws, were not real events, but the imaginings of credulous or superstitious people.
But to-day unanswerable proof exists that things do happen which appear to be outside all known physical laws. Such happenings are called by the rather difficult name of psychical, which comes from a Greek word meaning the soul, because such things were formerly supposed to have to do with soul and not with the body. —*Children's Newspaper* of 8th December 1923.

२. The mystery of life remains as impenetrable as ever. —Sir George Darwin

३. Some authorities who have found satisfaction in the Meteorite-Vehicle-Theory have also suggested that life is as old as matter. —*Evolution,* p. 70, by p. Geddes.

४. Dead matter can not become living without coming under the influence of matter previously living. This seems to me as sure a teaching of science as the law of gravitation.
—*The Nature and Origin of Life,* p, 173.

५. For no single organic function has yet been found explicable in purely mechanical terms, even such relatively simple processes as the secretion of a tear or the exudation of a drop of sweat continue to elude all attempts at complete explanation in terms of physical and chemical science.
—*Psychology,* p. 33-34, by prof. W. Mc Dougall F. R. S. H. B.

६. In my opinion there exists but one single principal which sees, hears, feels, loves, thinks, remembers, etc. But this principal requires the aid of various material instruments, in order to manifest its respective functions. —Dr. Gall.

ने कही है—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुषः।

अर्थात् देखनेवाला, छूनेवाला, सुननेवाला, सूँघनेवाला, चखनेवाला, मनन करनेवाला और कार्य करनेवाला विज्ञानी आत्मा है।

आत्मविद्यावालों की, देश-विदेश में सर्वत्र ही, इस समय धूम मची है। कोई प्रेत बुलाता है तो कोई आत्मा से बातें करता है। इस विषय के सबसे बड़े पण्डित और साइंस के आचार्य सर ओलिवर लॉज ने आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित कर दिया है, अतएव अब चैतन्य के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। सर ओलिवर लॉज कहते हैं कि—'एक बार आप इस बात को देखें कि अन्तःकरण बड़ी वस्तु है। वह इस मशीन (शरीर) से बाहर की वस्तु है, ऐसा नहीं है कि जब शरीर नष्ट हो जाता है तब वह अपना अस्तित्व खो देता है। हम जितने दिन पृथिवी पर रहते हैं उतने ही दिनों के लिए हमारा अस्तित्व परिमित नहीं है। हम बिना शरीर के भी रहेंगे। हमारा अस्तित्व बना ही रहेगा। मैं क्यों ऐसा कहता हूँ? इसलिए कि ये सब बातें निश्चित विज्ञान के आधार पर स्थित हैं। बहुत लोगों ने अभी इसका अनुभव नहीं किया, परन्तु यदि कोई ३० या ४० वर्ष अपनी आयु इस विषय में लगावे तभी वह यह कह सकने का अधिकारी होगा कि अब मैं किस स्थिति में पहुँचा हूँ[१]। किस दावे के साथ सर ओलिवर लॉज जीव का अनादित्व सिद्ध करते हैं और किस प्रकार इस विषय के जानने के लिए वे ३०-४० वर्ष तक श्रम करने की अपील करते हैं। हमने जीव की अप्राकृतिकता और उसका नित्य अस्तित्व बतलाने के लिए बहुत-से तर्क और प्रमाणों को एकत्र करना उचित नहीं समझा। इसका कारण यही है कि दस-बीस वर्ष पूर्व विज्ञानवेत्ताओं ने इसपर प्रकाश नहीं डाला था। वे इसकी खोज में थे। वे स्पष्ट शब्दों में कहते थे कि हम इसे नहीं ज़ानते, किन्तु अब वह बात नहीं है। अब विज्ञान उच्च स्वर से जीव का अस्तित्व और नित्यत्व स्वीकार करता है, अतः नवीन विज्ञान के इस नवीन युग में ईश्वर, जीव और पुनर्जन्म सिद्ध करने में बहुत कुछ सरलता हो गई है।'

यहाँ ईश्वर और जीव की सिद्धि से पुराने विकासवाद में भी अन्तर आ गया है। लोगों में अब कई प्रकार के विचार आरम्भ हो गये हैं। सबसे बड़ा विचार यह है कि परमेश्वर जीवों को उनके सुख-दुःख के लिए ही उत्पन्न करता है तो उनके उत्पन्न करने के लिए उसको विकासवाद का सहारा क्यों लेना पड़ता है? क्या वह अलग-अलग योनियों को उत्पन्न नहीं कर सकता। आगे हम इस बात पर विचार करना चाहते हैं कि जीव और परमेश्वर तथा जीवों के कर्म और परमेश्वर की व्यवस्था मान लेने पर सृष्टि-उत्पत्ति का उत्तम प्रकार दो में से कौन-सा प्रमाणित होता है—

पहले डारविन का विकास, जड़ प्रकृति के परिवर्तन और सृष्टि की परिस्थिति—अवसर पर अवलम्बित था, परन्तु अब ईश्वर और जीव मान लेने पर वह नियत नियमित मानना पड़ता है। सर ओलिवर लॉज लिखते हैं कि 'हम लोग विकास के ही प्रबन्धाधीन हैं। हम लोग विकास

---

१. Once you realise that the consciousness is something greater, something outside the particular mechanism which it makes use of, you realise that survival of existence is natural, is the simplest thing. It is unreasonable that the soul should jump out of existence when the body is destroyed. We ourselves are not limited to the few years that we live on this Earth. We shall go on without it. We shall certainly continue to exist, we shall certainly survive. Why do I say that? I say it on definite scientific grounds. —*Science and Religion*, p. 24.

There are many who have not yet investigated..............But if a person gives thirty or forty years of his life to this investigtion he is entitled to state the result at which he has arrived.

—*Ibid*, p. 26.

द्वारा ही इस पृथिवीग्रह पर पहुँचे हैं। यह सब सत्य है, किन्तु विकास क्या है ? विकास अबाधित उन्नति है। अबाधित, अर्थात् कली से फूल हो जाने का नियम—बीज से वृक्ष हो जाने का मार्ग। प्रत्येक पदार्थ कली से फूल की भाँति अबाधित उन्नति का ही फल है'[१]। सर ओलिवर लॉज के मत से अब प्रकृति का साम्राज्य नहीं है जो ऊँट की भेड़ बना डाले। अब तो जिसको जिस योनि में उत्पन्न होकर जो सुख-दुःख भोगना है उसको वही शरीर मिलेगा। जिस प्रकार कली का फूल ही होगा भौंरा नहीं—बीज का वृक्ष ही होगा मूँगा नहीं, उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थ कर्त्ता के नियमानुसार जो कुछ होना लिखा लाये हैं, वही होंगे अन्य नहीं। इस बात का स्पष्टीकरण टी०एच० हक्सले के 'एनीवरसरी एड्रेस' (Anniversary address) से हो जाता है। वे कहते हैं कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पति की तमाम जातियों में कुछ विशेष प्राणी ऐसे होते हैं जिनको मैं Persistent type, अर्थात् स्थिर आकृति का नाम देता हूँ। उनमें आदि सृष्टि से लेकर वर्त्तमान कालपर्यन्त कोई ऐसा प्रकट विकार नहीं हुआ, जिसे हम प्रमाणित कर सकें'। इससे भी बढ़कर मद्रास हाईकोर्ट के जज टी०एल० स्ट्रैंज महोदय अपनी 'The Development of Creation on the Earth' नामी पुस्तक में लिखते हैं कि 'जलकृमियों में बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले जन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं। इन जन्तुओं के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे दूसरे जन्तु से विकृत होकर उत्पन्न होते हों प्रत्युत वे तो एक-दूसरे से अपेक्षारहित होकर एक समय में अलग-अलग आकार के साथ उत्पन्न होते हैं'।

इस खोज ने क्रमविकास पर पानी फेर दिया है। हमारा और आपका भी यही अनुभव है कि सिर में मैल जमने से जो जूँएँ उत्पन्न होती हैं वे कई शरीरों में होकर जुँओं के रूप में दिखलाई नहीं पड़तीं। खाट का खटमल मलिनता से ही ज्यों-का-त्यों उत्पन्न हो जाता है। पेशाब के कीड़े संसार के समस्त देशों में एक ही आकार के उत्पन्न होते हैं। ये तमाम वे घटनाएँ हैं जो दावे से यह बात सिद्ध करती हैं कि अमुक आकार प्राप्त करने के लिए अमुक-अमुक आकारों का चक्कर लगाना आवश्यक नहीं है। जिस परमात्मा के भृकुटिविलास से बड़े-बड़े सूर्य-चन्द्र बनते हैं, जिसके चमत्कार से विकास का आरम्भिक प्रोटोप्लाज़्म और उससे अमीबा बनता है, क्या उसके संकेत से अन्य प्राणियों के दूसरे शरीर नहीं बन सकते ? इन्हीं बातों को देखकर वर्त्तमान समय का बहुत बड़ा वैज्ञानिक Agassiz अपनी 'Principles of Zoology' नामी पुस्तक में लिखता है कि 'पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाले, बिना हड्डी के जन्तुओं और मनुष्यादि हड्डीदार प्राणियों में एक समान ही उन्नति देखी जाती है, परन्तु इस समानता का यह तात्पर्य नहीं है कि एक प्रकार के प्राणी दूसरे प्रकार के प्राणियों से ही विकसित हुए हों। आदिम कालीन मत्स्य ही, सर्पणशील प्राणियों के पूर्वज नहीं हैं और न मनुष्य ही अन्य स्तनधारियों से विकसित हुआ है। प्राणियों की शृङ्खला किसी अभौतिक तत्त्व से सम्बन्ध रखती है, जिसने पृथिवी पर अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि करके अन्त में मनुष्य की रचना की है'[२]।

---

१. We are in the process of evolution; we have arrived in this planet by evolution. That is all right. What is evolution? Unfolding development—unfolding as a bud unfolds into a flower, as an acron into an oak. Every thing is subject to a process of growth, of development, of unfolding.

—*Science and Religion,* p. 16.

२. There is manifest progress in the succession of being on the surface of the earth. This progress consists in an increasing similarity of the living fauna, and among the vertebrates especially, in their increasing resemblance to man..........But this connection is not the consequence of a direct lineage between the fauna of different ages. There is nothing like parental descent connecting them. The fishes of the Palaeozoic age are in no respect the ancestors of the reptiles of the secondary

परमेश्वर और जीव की सत्ता मानकर यह सिद्धान्त कभी बन ही नहीं सकता कि प्रकृति ही मनमाना काम करती है और परमेश्वर ख़ाली बैठा-बैठा ऊँघता है। जब परमेश्वर सृष्टि का कर्त्ता है तब उसने किसी कारण से ही यह सृष्टि बनाई है। वह जीवों को कर्मफल देकर संसार में न्याय स्थिर रखने के लिए ही जीवों को पैदा करता है। ऐसी दशा में यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रत्येक प्राणी का सुख-दुःख उसके साथ ही लगा हो। सुख-दुःख शरीर से ही प्राप्त होता है और सुख-दुःख का न्यूनाधिक्य शरीर की बनावट पर ही अवलम्बित है। ऐसी दशा में जिस प्राणी को जो कुछ सुख-दुःख देना है, उसके लिए उसी समय वैसा शरीर न बनाकर व्यर्थ असंख्य शरीरों में फिराकर तब उस शरीर में लाना परमात्मा-जैसे महासमर्थ के लिए उचित नहीं। कर्मफलों के भुगाने के लिए यदि किसी अपराधी को कालकोठरी का तीन मास का दण्ड हो और पुलीस उसे वर्षों इधर-उधर की हवालातों में फिराती फिरे तो क्या यह कुछ न्यायसङ्गत या बुद्धि-अनुमोदित होगा? हमारी समझ में तो नहीं। हमने यहाँ तक सृष्टि-उत्पत्ति के दो प्रधान तत्त्व—ईश्वर और जीव का अस्तित्व और अनादित्व प्रतिपादन करके देखा तो पाया कि इन दोनों तत्त्वों के मान लेने पर क्रमविकास के लिए अवकाश नहीं रहता तथापि विकासवादी जिस क्रम से विकासवाद को आरोपित करते हैं उसी क्रम से यहाँ उसकी आलोचना होनी चाहिए।

तत्त्व, संस्थान और प्राणिपरिवर्तन

विकासवाद की मान्यता है कि चेतन कोष्ठ, जिससे चेतन प्राणी बनता है, सोलह पदार्थों से बना है। इन्हीं चेतन कोष्ठों से समस्त प्राणियों की रचना हुई है। इन सब जीवित प्राणियों में सामान्य बातें तीन हैं—१. सब प्राणियों के शरीर एक ही सरल पदार्थ से बने हैं। पशु-पक्षियों के शारीरिक तत्त्वों में कोई अन्तर नहीं है। २. सब प्राणी अपनी क्षीणशक्ति को स्वयं फिर प्राप्त कर लेते हैं, अर्थात् प्रतिदिन काम करके फिर ताज़े हो जाते हैं। ३. यन्त्रों की भाँति सुधरते-सुधरते एक शरीर से अन्य शरीर के हो जाते हैं।

सब प्राणियों के आठ संस्थान हैं। १. पोषण—बाहर से पदार्थ लेना, पचाना और सारे शरीर में पहुँचना। २. श्वासोच्छ्वास— शुद्ध वायु को अन्दर लेना और अशुद्ध वायु को बाहर फेंकना। ३. मलविसर्जन—अन्दर की गन्दगी और अनावश्यक पदार्थों को बाहर निकालना। ४. रक्त प्रसार—सारे शरीर में रक्त पहुँचना। ५. प्रेरण—गति देनेवाला स्थान। ६. आधार-स्थान—जिससे शरीर सधा रहता है। ७. ज्ञानतन्तु—इससे समस्त शरीर का हाल ज्ञात होता है और ८. प्रसव—जिससे सन्तति होती है।

यहाँ दो बाते हैं। एक तो सब प्राणियों के तत्त्व एक-से हैं। दूसरे सब प्राणियों के आठ संस्थान होते हैं। हमें इस सब व्यवस्था के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहना। सबके शरीर एक ही प्रकार के तत्त्वों से बने हैं। यह नवीन विज्ञान की कोई विशेषता नहीं है। **'पञ्चरचित यह अधम शरीरा'** न जाने भारत का कितना पुराना विज्ञान है। रहा दूसरा, वह कोई भी विशेष बात नहीं, न इसमें कोई खोज की बात ही दिखती है। जो प्राणी जीते हैं, खाते हैं, काम करते हैं और सन्तति उत्पन्न करते हैं, उनमें तो वे आठों संस्थान होने ही चाहिएँ। क्या कोई ऐसा भी मूर्ख है जो समझता होगा

---

age, nor does man descend from the mammals which preceded him in the Tertiary age. The link by which they are connected is of a higher and immaterial nature and Himself, whose aim in forming the earth, in allowing it to undergo successively all the different types of animals which have passed away, was to introduce man upon the surface of our globe. Man is the end towards which all the animal-creation has tended from the first appearance of the Palaeozoic fishes.

—*Principles of Zoology*, p. 205-206 by Agassiz.

कि प्राणी अपने शरीर के अन्दर जो खाद्य पहुँचाता है वह केवल पेट में रक्खा रहता है, रक्त तो केवल नाले में पानी की तरह बहता है और बिना प्रसव के सन्तति उत्पन्न होती है ? ये बातें तो सारी दुनिया मानती ही है। हाँ, केवल एक बात इसमें विचारणीय है कि जिस प्रकार धीरे-धीरे सुधरते-सुधरते यन्त्र और-के-और हो जाते हैं, इसी प्रकार प्राणी भी और-के-और हो जाते हैं।

यन्त्र मनुष्य की परिमित बुद्धि से आरम्भ होते हैं और अनुभव से वृद्धि को प्राप्त होते हैं इसलिए आरम्भिक और अन्तिम यन्त्र में अन्तर पड़ जाता है, परन्तु क्या परमेश्वरी रचना भी मनुष्य की-सी परिमित बुद्धि से आरम्भ होती है ? प्राणियों की रचना तो परमात्मा सुख-दुःख भोगने के लिए करता है, इसलिए जिस प्रकार के शरीर से अमुक प्रकार का सुख-दुःख भोगा जा सके उसी प्रकार का शरीर देता है और का और नहीं। ऐसी दशा में यन्त्रों का उदाहरण देकर प्राणियों की शीरीरिक बनावट को परिवर्तनशील सिद्ध करना सृष्टिनियम के विपरीत है। शरीर का बनाना यदि प्रकृति के अथवा स्वयं अपने अधीन मानें तो यन्त्र का दृष्टान्त ठीक हो सकता है, परन्तु यहाँ तो शरीर देनेवाला तीसरा ही है, इसलिए उपर्युक्त दृष्टान्त सर्वथा अनुपयुक्त है। ग्रन्थकार महोदय स्वयं विकासवाद पृ० २१ पर कहते हैं कि 'न्यून-से-न्यून इतना तो हमको मानना ही पड़ता है कि वैज्ञानिकों ने अब तक ऐसी कोई रीति आविष्कृत नहीं की, जिससे इन परिवर्तनों को वे परीक्षणों द्वारा सिद्ध कर सकें और न उनको अब तक यह ज्ञात हुआ है कि इस प्रकार के परिवर्तन के नियम क्या हैं'। वैज्ञानिकों को परिवर्तन के नियम ज्ञात नहीं—यह ज्ञात नहीं कि परिवर्तन कैसे होता है और परिवर्तन होते किसी ने देखा नहीं, अर्थात् यह आज तक किसी ने नहीं देखा कि अमुक प्राणी का अमुक प्राणी बन गया। ऐसी दशा में परिवर्तन, सिवा कल्पना और अनुमान के और कुछ भी सिद्ध नहीं होता।

विकासवाद को जीव की उत्पत्ति, प्राणियों की उत्पत्ति और जातियों की उत्पत्ति को अच्छी प्रकार सिद्ध करना चाहिए था, परन्तु उसने अब तक एक विषय को भी अच्छी प्रकार आरोपित नहीं किया। इस विज्ञान के प्रखर पण्डित यही कहते हैं कि इनका रहस्य हमको ज्ञात नहीं है। जीव की उत्पत्ति और प्राणियों के शरीरपरिवर्तन के विषय में विकासवाद के लेखक ही ने कह दिया है कि वैज्ञानिक इसे नहीं जानते। पृथिवी पर प्राणियों की उत्पत्ति के विषय में थामसन कहता है कि 'विज्ञान के द्वारा हम नहीं जानते कि पृथिवी पर जीवधारी प्राणियों की सृष्टि कैसे हुई'[१]। दूसरा विद्वान् भी कहता है कि 'इस उजाड़ पृथिवी पर प्राणी कैसे उत्पन्न हुए ? इस प्रश्न का हम यही उत्तर देते हैं कि हम लोग नहीं जानते'[२]। इसी प्रकार एक तीसरा विद्वान् कहता है कि 'हम लोग विकास के उत्पादक तत्त्व के विषय में निश्चितरूप से बहुत ही थोड़ा जानते हैं। हम लोगों को डारविन के ही शब्दों में स्वीकार करना चाहिए कि एक जाति से दूसरी उपजाति की भिन्नता के नियमों के विषय में हम लोग कुछ नहीं जानते'[३]।

न तो विज्ञान को जीव की उत्पत्ति ज्ञात है न प्राणियों की उत्पत्ति का पता है और न एक जाति से दूसरी जाति के उत्पन्न होने के नियमों का ज्ञान है, तब फिर ज्ञात नहीं होता कि विकास

१. How did living creatures begin to be upon the Earth? In point of science, we do not know.
—*Introduction to Science*, p. 142 by J.A. Thomson M.A.

२. The question is : what was the manner of their being upon the previously tenantless Earth? Our answer must be that we do not know. —*Evolution*, p. 70. by Prof. Patrick Geddes.

३. We know very little that is certain in regard to the originative factors in evolution. We must still confess, with Darwin: 'Our ignorance of the laws of variation is profound'.
—*Evolution*, p.11. by P. Geddes.

किस प्रकार आरोपित किया जाता है। यहाँ तक हमने विकासवाद की साधारण आलोचना की, अब आगे हम दिखलाना चाहते हैं कि विकासवाद प्राणियों की उत्पत्ति में किन-किन शास्त्रों का उपयोग करता है। विकासवाद के लेखक ने लिखा है कि विकासवाद को सिद्ध करने के लिए प्राणियों के जो प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं, उनके निम्नलिखित पाँच विभाग हैं—

१. जाति-विभाग-शास्त्र (Classification)
२. तुलनात्मक शरीर-रचना शास्त्र (Comprative Anatomy)
३. गर्भवृद्धि-शास्त्र (Embryology)
४. लुप्त-जन्तु-शास्त्र (Palaeontology)
५. भौगोलिक विभागशास्त्र (Geographical Distribution)

जाति-विभाग-शास्त्र

समस्त चेतन पदार्थों को उनके साधर्म्य-वैधर्म्यानुसार बड़ी या छोटी जातियों में बाँट देना इस शास्त्र का उद्देश्य है। जातिविभाग कई प्रकार का होता है, परन्तु वैज्ञानिकों ने स्थिर किया है कि अन्त:शरीररचना पर ही वर्गीकरण करना चाहिए। समस्त चेतन पदार्थ दो बड़े वर्गों (Kingdoms) में बँटे हैं। इनमें एक प्राणिवर्ग है और दूसरा वनस्पतिवर्ग। वनस्पतिवर्ग को विकासवाद के लेखक ने छोड़ दिया है, इसलिए हम भी उसे छोड़ देते हैं। अब रहा प्राणिवर्ग, उसके भी दो विभाग (Sub-Kingdoms) हैं। एक पृष्ठवंशधारी प्राणियों का और दूसरा पृष्ठवंशविहीन प्राणियों का। इन दोनों विभागों को अंग्रेजी में Vertebrates और Invertebrates कहते हैं। पृष्ठवंशविहीनों की पाँच श्रेणियाँ (Classes) हैं। विकासवाद के लेखक ने उनके नाम अंग्रेजी में इस प्रकार दिये हैं १. Protozoa, २. Coelenterata, ३. Echinodermata, ४. Annelida और ५. Mollusca। पृष्ठवंशधारियों की भी पाँच श्रेणियाँ बतलाई जाती हैं। उनके नाम मत्स्य (Fishes), मण्डूक (Amphibians), सर्पणशील (Repitles), पक्षी (Birds) और स्तनधारी (Mammals) हैं। इन विभागों में भी श्रेणी (Class), कक्षा (Order), वंश (Family), जाति (Genus) और उपजातियाँ (Species) हैं। यहाँ हम लेंड़ी कुत्ते के उदाहरण से दिखलाते हैं कि इस वर्गीकरण में उसका स्थान कहाँ है। लेंडी कुत्ता प्राणिवर्ग, पृष्ठवंशधारी विभाग, स्तनधारी श्रेणी, मांसभक्षी कक्षा, श्वावंश (भेड़िया-शृगालादि) कुत्ताजाति और लेंडी उपजाति का है। इस वर्गीकरण से पता लग जाता है कि कौन प्राणी किस जाति का है। इस वर्गीकरण का वर्णन विकासवाद में पृ० ३९ से ४१ तक आया है।

विकासवादी प्राणियों के वर्ग जलचर, नभचर, स्थलचर या अण्डज, पिण्डज, उद्भिज्ज, ऊष्मज या नीचे शिर, आड़े शिर, खड़े शिर अथवा वृक्ष, पशु, मनुष्य इस प्रकार नहीं करते। वे कहते हैं कि भीतरी रचना से ही शुद्ध वर्ग बन सकते हैं, किन्तु अब नवीन विज्ञान ने इसे भी अशुद्ध ठहराया है। जब से ख़ून की परीक्षा का क्रम आरम्भ हुआ है तब से उपर्युक्त वर्गविन्यास ग़लत सिद्ध हो रहा है। अब तक लोग गिनीफ़ाउल को मुर्गी के प्रकार का समझते थे, परन्तु अब रक्त की परीक्षा से वह शुतुर्मुर्ग की जाति का प्रतीत होता है। इसी प्रकार भालू को लोग कुत्ते की श्रेणी का समझते थे, विकासवाद के लेखक ने भी उसे श्वाजाति में ही गिना है, परन्तु उसके रुधिर की परीक्षा से वह सील आदि की भाँति जलजन्तु सिद्ध हो रहा है।

जब से रक्त की परीक्षा निकली है तब से पुराना वर्गभेद तो नष्ट हो ही गया है, किन्तु पर्दे में छिपे विकासवाद की जड़ ही कट गई है। जब विकासवाद एक ही प्रकार के मूल प्राणी से समस्त भूमण्डल के प्राणियों की उत्पत्ति मानता है, जब वह उनमें तात्त्विक भेद नहीं मानता, जब

वह सबके संस्थान एक समान गिनता है और जब वह सबको एक ही प्रकार से विकसित हुए मानता है, तब इन सबके रुधिरकण एक ही बनावट के क्यों नहीं होते? क्यों किसी जाति के प्राणी का रुधिरकण गोल, किसी का चपटा और किसी का वर्तुलाकार होता है? यह रुधिर का पृथक्त्व सिद्ध करता है कि प्रत्येक जाति का शरीर भिन्न-भिन्न प्रकार के रुधिरकणों से बना है, इसलिए यह निश्चित होता है कि समस्त जातियाँ एक ही प्रकार के प्राणी से विकसित नहीं हुईं, प्रत्युत सबकी उत्पत्ति अलग-अलग हुई है। यह थोड़ी-सी वर्गीकरण शास्त्र की आलोचना हुई। अब आगे तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र पर विचार करके देखते हैं कि उससे विकासवाद को कहाँ तक पुष्टि मिलती है।

तुलनात्मक शरीर-रचना-शास्त्र

विकासवाद के लेखक महोदय ने अपने ग्रन्थ में इस शास्त्र का वर्णन पृष्ठ ४२ से ८६ तक और २०० से २६८ तक इस प्रकार किया है कि वर्गीकरण निश्चित करने के लिए इस शास्त्र में बहुत कुछ सामग्री प्राप्त होती है। बाह्य रूप में अत्यन्त भिन्नता होने पर भी कई प्राणियों का जातिविभाग इस शास्त्र ने एक ही वर्ग में किया है। अन्तरीय रचनासाम्य पर ही इसका निर्णय किया जाता है। चिमगादड़, ह्वेल और गौ अनुक्रम से नभचर, जलचर और भूमिचर होने पर भी तीनों का एक ही कक्षा में समावेश किया गया है। बाह्य आकार भिन्न होने पर भी अन्तर रचनासाम्य से तीनों को स्तनधारी कक्षा में रक्खा गया है। इस शास्त्र से विकास के प्रमाण इस प्रकार एकत्र किये जाते हैं कि अनेक जाति के कुत्तों में साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों विद्यमान हैं। साधर्म्य से सब कुत्ते एक ही हैं और वैधर्म्य से बुलडाग, ताज़ी और लेंडी आदि अलग-अलग हैं, किन्तु हैं सब एक ही पूर्वपुरुष की सन्तति। इसी प्रकार लोमड़ी, शृगाल और भेड़िया वैषम्य से अलग-अलग हैं, परन्तु मांसभक्षण आदि साम्य से एक ही पूर्वपुरुष की सन्तति प्रतीत होते हैं। बिल्ली और सिंह भी अलग-अलग होते हुए भी एक ही हैं। इस सबका मांसाहारी और स्तनधारी कक्षा में समावेश होता है। इनमें से व्याघ्र तथा सिंह के मेल से और भेड़िये तथा कुत्ते के मेल से सन्तति भी होती है। भालू भी मांसभक्षक प्राणी है। इसकी अन्त:रचना कुत्ते बिल्ली की रचना से कुछ पृथक् है, परन्तु इसका मेल उन्हीं के साथ मिलता है। मांसभक्षकों में बिज्जू, नेवला, ऊदबिलाव अलग-अलग होते हुए भी एक ही प्रकार के हैं। ह्वेल मछली भी मांसभक्षक है। यह जन्तु पहले स्थलचारी था। इसका अब पानी ही घर हो गया है। इसके पैर कमज़ोर और नाव के चप्पू की भाँति हो गये हैं। शरीर में बल भी बहुत कम रह गया है। ये स्तनधारी-मांसभक्षी प्राणी हैं। स्तनधारीयों के तीक्ष्णदन्तियों में एक दल चूहा, छछूँदर, घूस, गिलहरी, शशक और स्याही का है। ये कुतरनेवाले होने से तीक्ष्णदन्ती कहलाते हैं। इन कुतरनेवाले जानवरों में ही उड़नी गिलहरी भी है। चिमगादड़ भी इसी जाति का है, किन्तु ये दोनों उड़नेवाले हैं। इनके पैरों की रचना भूमि पर चलनेवाले प्राणियों के अगले पैर के समान होती है, अत: विकासवाद का ये सबसे उत्तम प्रमाण हैं। स्तनधारियों में गौ, अश्व, हाथी, ऊँट, हिरन, गैंडा, शूकर और दरियाई घोड़ा (Hippopotamous) आदि हैं। इनके सुम या खुर होते हैं। इन जानवरों के खुर-सम्बन्धी साधर्म्य के कई प्रमाण मिलते हैं। हाथी की पाँचों अंगुलियाँ, टापीर नामक जानवर की चार, गैंडे की तीन, ऊँट की दो और घोड़े की एक ही होती है। यहाँ अंगुलियों के क्रम-क्रम ह्रास से, विकास का कितना अच्छा प्रमाण मिलता है। आस्ट्रेलिया का कंगारू भी विकास का अच्छा प्रमाण है। कंगारू की मादा के पेट में एक थैली होती है। माता बच्चों को पैदा करके इसी थैली में रख लेती है। इस थैली में स्तन होते हैं। बच्चे बड़े होने पर इससे बाहर

निकल आते हैं। इसी प्रकार का एक प्राणी अमेरिका में होता है, जिसका नाम 'ओपोसम' है। इसकी मादा के पेट में भी एक थैली होती है। इनके सिवा 'डकबिल' और 'ईकड्ना' नामक दो और स्तनधारी जन्तु हैं। इनमें विशेषता यह है कि ये अण्डे देते है, परन्तु अण्डों को पेट में रखने के लिए इनके पास भी उपर्युक्त थैली होती है। इस प्रकार स्तनधारियों में देखा गया कि कई जरायुज, कई कंगारू की भाँति अर्धजरायुज और कई डकबिल की भाँति अण्डज हैं। ये स्तनधारियों और अण्डजों के मध्यवर्ती प्राणी हैं। यहाँ तक स्तनधारियों का वर्णन हुआ।

अब पृष्ठवंशधारियों की दूसरी श्रेणी—पक्षियों का वर्णन करते हैं। पक्षी भी कई प्रकार के हैं। कोई दाना चुननेवाले, कोई मांस खानेवाले और कोई पानी में तैरनेवाले हैं। परिस्थिति के अनुसार इनकी चोंच, पैर और झिल्लीदार पञ्जों की बनावट होती है। आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, न्यूज़ीलैंड और अमेरिका का रहनेवाला 'पेंग्विन' पक्षी भी विकास का अच्छा प्रमाण है। जहाँ यह रहता है वहाँ कोई दूसरा पक्षी नहीं रहता, इसलिए इसकी उड़ने की शक्ति नष्ट हो गई है। यह पानी में तैरता है, इसलिए इसके पैर नाव के चप्पुओं की भाँति पानी काटनेवाले हो गये हैं। शुतुर्मुर्ग़ और मोर की भी उड़ने की शक्ति कम हो गई है, क्योंकि इनको किसी पक्षी का डर नहीं रहा। यह परिस्थिति से प्राप्त विकास का उदाहरण है।

पीठ की हड्डीवालों में तीसरी श्रेणी सर्पणशीलों की है। इस वर्ग में गोह, साँप, अजगर, नाकू, मगरमच्छ और कछुआ आदि हैं। इनमें से गोह की अनेक जातियाँ हैं। गोह की एक जाति में आगेवाले पैर नहीं होते। दूसरी जाति में अगले चारों पैर नहीं होते। सर्प को सब जानते हैं कि वह बिना पैर का है। ये भी विकास के ही प्रमाण हैं।

पीठ की हड्डीवाले जीवों में चौथी श्रेणी मण्डूकों की है। इसका जीवन-चरित्र बड़ा ही विचित्र है। यह अपनी उत्पत्ति से लेकर युवावस्था तक के चरित्र से प्रकट कर देता है कि किस प्रकार मछलियों से उसकी उत्पत्ति हुई है। पहले वह गलफड़ों से श्वास लेता है (जैसे मछली) फिर मुख से। पहले उसके पूँछ होती है (जैसे मछली के) फिर लुप्त हो जाती है।

पाँचवी श्रेणी मछलियों की है। सभी जानते हैं कि मछलियाँ भी हज़ारों प्रकार की हैं, जिससे सहज ही विकास का अनुमान करने की पर्याप्त सम्भावना हो जाती है।

यहाँ तक पीठ की हड्डीवाले जानवरों का वर्णन हुआ। इनके आगे अस्थिरहित प्राणियों का वर्णन है। उनमें भी विकास के प्रमाण भरे हुए हैं। इन प्राणियों के शरीर जोड़दार—जोड़ों (पर्वों) से बने होते हैं। कानखजूरा, बिच्छू, मकड़ी, भौंरा और ततैया आदि प्राणी इसी विभाग के हैं। इनमें भिन्नता होते हुए भी सबके शरीर छोटे-छोटे जोड़ों—गाँठों से ही बने होते हैं। इस साम्य से यही पाया जाता है कि सब एक ही मूल प्राणी से विकसित हुए हैं। इनके आगे अत्यन्त सूक्ष्म हैड्रा और अमीबा आदि प्राणी हैं। इनके भी पोषण, श्वासोच्छ्वास, मलविसर्जन, रक्तप्रसारण, प्रेरण, आधारस्थान, ज्ञानतन्तु और प्रसव आदि आठों संस्थान होते हैं, जिससे ऊँचे दर्जे के प्राणियों से इनका मेल मिलता है। यहाँ तक इन समस्त प्राणियों का वंशवृक्ष देकर दिखलाया गया है कि सब प्राणी वैधर्म्ययुक्त होते हुए भी साधर्म्य से ख़ाली नहीं हैं। इन सब प्राणियों को यदि क्रम से रक्खा जाए तो पहले अमीबा, फिर हैड्रा, फिर कानखजूरे आदि जाति के जोड़ोंवाले कीड़े, उसके बाद हड्डीवाली मछली, फिर मण्डूक, फिर सर्प, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारियों का स्थान है। इनकी आकृति में विभिन्नता का कारण विकास है। अच्छे यन्त्र के बन जाने पर जिस प्रकार पुराने ढंग के यन्त्र अलग हो जाते हैं, उसी प्रकार योग्य प्राणियों के उत्पन्न होने से अयोग्य पीछे रह जाते हैं और नई-नई जातियाँ बन जाती हैं। पिछली जातियों के अवशिष्ट

अवयव इस बात की साक्षी दे रहे हैं। मनुष्य भी स्तनधारियों की ही श्रणी का जन्तु है। इस श्रेणी की वनमनुष्य, बन्दर और लीमर आदि जातियाँ भी विद्यमान हैं, अतः इनकी उत्पत्ति को विकासवाद से अलग समझने की कोई आवश्यकता नहीं है।

इस समस्त वर्णन में हमें यह देखना है कि यहाँ विकासवाद को सिद्ध करनेवाली कौन-कौन सी बातें मिलीं। हमारी समझ से इस वर्णन में विकास को सहायता देनेवाली पाँच बातें हैं—

१. सब प्राणियों का अन्तरीय रचना से ही मिलान होता है बाह्य रचना से नहीं।

२. मत्स्य, मण्डूक, सर्पणशील, पक्षी और स्तनधारियों तथा अमीबा आदि कीटों तक के शरीरों की तुलना से यही प्रतीत होता है कि सब एक ही प्रकार की बनावटवाले हैं।

३, ओपसम, डकबिल, पेंग्विन, मोर और ह्वेल आदि के देखने से ज्ञात होता है कि परिस्थिति के कारण उनके शरीरों में ह्रास-विकास हुआ है और ह्रास-विकास ही दो भिन्न-भिन्न योनियों को एक में जोड़नेवाला है।

४. कई भिन्न-भिन्न जातियों के संयोग से सन्तति का होना भी पाया जाता है, इससे भी ज्ञात होता है कि वे एक ही वंश के हैं।

५. प्राणियों की उत्पत्ति का क्रम यह ज्ञात होता है कि यन्त्र की भाँति पहले सादी रचना के फिर क्लिष्ट रचना के प्राणी हुए, अर्थात् पहले एक कोष्ठधारी अमीबा, फिर दो कोष्ठ का हैड्रा, फिर छोटे कृमि, फिर जोड़ोंवाले कीड़े, फिर हड्डीवाले मत्स्य, फिर मण्डूक, फिर सर्पणशील, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारी हुए।

हमने यदि निष्कर्ष निकालने में ग़लती नहीं की है तो पिछले दोनों शास्त्रों का यही मत है। आगे हम क्रम से इन पाँचों बातों की समालोचना करते हैं।

१. शरीर की अन्तःरचना का मिलान ही ठीक है। भले हो, इसमें हमें कुछ आपत्ति नहीं है, किन्तु हम देखते हैं कि इस शरीर-तुलना-शास्त्र में तो सब श्रेणियाँ बाहरी दिखाव से ही निश्चित की गई हैं। स्तनधारियों की श्रेणी स्तनों को देखकर ही निश्चित की गई है। यह बाह्यरचना है अन्तःरचना नहीं। मांस खाना, जीभ से पानी पीना, मैथुन समय में बँध जाना, पसीना न आना, अँधेरे में देखना आदि भी सब बाहरी लक्षण ही हैं। तीक्ष्णदन्तियों की कक्षा भी तो दाँत देखकर ही बनी है जो सर्वथा ही बाहर की घटना है। सर्पणशीलता, अर्थात् तेज़ चाल भी तो बाहर का ही दिखावा है। चिड़ियों का तैरना, अर्थात् पाँव की झिल्ली और मांस खानेवालों की टेढ़ी चोंच आदि भी तो सब बाहरी ही रचना है। जोड़वाले कीड़ों का वर्गीकरण भी तो बाहर की ही रचना है। जब शुरू से अन्त तक सारा विभाग-क्रम बाह्य रचना पर ही अवलम्बित है तब क्यों व्यर्थ कहा जाता है कि अन्तरीय रचना पर ही वर्गविभाग किया गया है। ह्वेल, चिमगादड़ और गौ के स्तनों को देखकर ही तो इन सबको एक कहा गया है। चिमगादड़ के दाँत देखकर ही तो इसकी गिनती स्तनधारियों की तीक्ष्णदन्तवाली पंक्ति में हुई है, परन्तु इस विज्ञान ने जहाँ बाह्याकृति से काम नहीं लिया, वहीं पर ग़लती हुई है। ऊपर हम कहीं लिख आये हैं कि भालू और गिनीफ़ाउल की श्रेणी बनाने में भूल हुई है और उस भूल को अब रुधिरशास्त्र ठीक कर रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि इस प्रकार की अन्तरीय रचना पर वर्गविभाग कभी नहीं हो सकता। अन्दर हड्डियाँ हैं, नस-नाड़ी हैं, यकृत-प्लीहा हैं और गर्भाशय आदि अनेक यन्त्र हैं, परन्तु क्या इन सबको अस्थिविहीन कीड़ों में कोई दिखला सकता है? कभी नहीं। कुत्ते की जिह्वा से पानी पीने की और गौ की घूँट बाँधकर पानी पीने की केवल अन्तःरचना ही देखो तो कभी न कह सकोगे कि ये दोनों स्तनधारी हैं। कहने का भाव यह कि अन्तःरचना बड़ी जटिल है, उसके द्वारा वर्गविभाग

कभी सत्य-सत्य हो ही नहीं सकता।

(२) अमीबा से स्तनधारियों तक की रचना-साम्य का सिद्धान्त भी ग़लत है। अभी हम ऊपर लिख आये हैं कि बिना हड्डीवालों और हड्डीवालों के बीच में इतना अन्तर है कि विकासवाद और यूरोप का सारा विज्ञान यदि ज़मीन और आसमान को एक कर दे, तो भी वह सिद्ध नहीं कर सकता कि इनका परस्पर कुछ भी सम्बन्ध है। अस्थिसंयुक्त प्राणियों का अस्थिहीन प्राणियों के साथ कुछ भी मेल नहीं है, अतः वे एक-दूसरे का विकास नहीं हो सकते। अस्थिहीनों में अस्थियाँ कैसे उत्पन्न हुईं? जब इस प्रश्न पर विचार किया जाता है, तब बड़े-बड़े विकासवादियों के दिमाग़ भी चक्कर खाने लगते हैं। अस्थियों के उत्पन्न होने की चार ही कल्पनाएँ की जा सकती हैं—१. प्राणियों की मानसिक प्रेरणा से अस्थियाँ बन गईं। २. कठोर काम करते-करते जिस प्रकार मनुष्य के शरीर में घट्ठे पड़ जाते हैं, उसी प्रकार श्रम करने से प्राणियों के भीतर अस्थियाँ उत्पन्न हो गईं। ३. जब ऐसी ख़ुराक खाई जाने लगी जिसमें चूने का भाग अधिक था, तब हड्डियाँ पैदा हो गईं और ४. शरीर के अन्दर के अन्य अवयव ही—नस-नाड़ी ही हड्डियाँ बन गईं। अब देखना चाहिए कि इन चारों कल्पनाओं में कुछ भी तत्त्व है या नहीं।

मन का प्रभाव उस वस्तु पर पड़ता है जिसका मन से सम्बन्ध हो। हड्डी का मन से कोई सम्बन्ध नहीं है। दाँत में सुई चुभाने से मन पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता, अतः मानसिक प्रेरणा के कारण अस्थियों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। श्रम के द्वारा पड़े हुए घट्ठे का दृष्टान्त भी ठीक नहीं है, क्योंकि घट्ठा बाहरी रगड़ से चमड़े पर ही पड़ता है, अन्दर नहीं। इसी प्रकार भोजन से भी हड्डी उत्पन्न नहीं हो सकती। चूनेवाले पदार्थों को जाने दीजिए। हम यहाँ उन प्राणियों की चर्चा करना चाहते हैं, जो सदैव हड्डी पैदा करनेवाली ख़ुराक ही खाते हैं, परन्तु उनके शरीर में हड्डी उत्पन्न नहीं होती। सभी जानते हैं कि मनुष्यों और पशुओं के शरीरों में उनका ख़ून ही हड्डी उत्पन्न करता है, परन्तु लीखों और जूँओं की—चपटे और किलनों की लाखों पीढ़ियाँ मनुष्यों और पशुओं का हड्डी बनानेवाला ख़ून पीते बीत गई, परन्तु इनके शरीरों में हड्डियाँ उत्पन्न न हुईं। खटमलों और जोंकों ने ख़ून पी-पीकर लोगों को सुखा दिया, परन्तु उनके शरीरों में हड्डियाँ उत्पन्न न हुईं। चींटियों ने मनों हड्डियाँ चुन-खाईं, परन्तु वे अपने शरीरों में हड्डियाँ उत्पन्न न कर सकीं। इसलिए भोजन से भी हड्डियों की उत्पत्ति सिद्ध नहीं हो सकती। शरीर की दूसरी वस्तु—नस-नाड़ी आदि के हड्डी हो जाने की कल्पना भी युक्तिहीन है। बच्चों के मुँह में पहले दाँत नहीं होते। कुछ दिन के बाद धीरे-धीरे निकलते हैं। कल्पना करो कि कोई नस-नाड़ी दाँत बन गई, किन्तु थोड़े ही दिनों में वे सब दाँत गिर जाते हैं, परन्तु गिरते समय दाँतों की जड़ों में लगी हुई कोई नस-नाड़ी आज तक किसी को नहीं दिखी। ये गिरे हुए दाँत कुछ दिन के बाद फिर निकलते हैं। यदि मान लें कि पहली नस-नाड़ी चली गई तो यह दूसरी कहाँ से आ गई? थोड़े दिन में—वृद्धावस्था के आते ही ये दाँत फिर गिर जाते हैं। उस समय में भी कोई नस-नाड़ी नहीं निकलती। सैकड़ों आदमियों के दाँत डॉक्टर निकाल डालते हैं, परन्तु उनके साथ कोई दूसरी वस्तु नहीं निकलती। दाँत तो कीलों की तरह अलग-अलग गड़े हुए हैं। शरीर के किसी दूसरे अंग से उनका कुछ वास्ता नहीं है। दाँतों की ही भाँति शरीर के अन्दर का सारा अस्थि-पञ्जर बिलकुल अलग बना हुआ है। उसका सम्बन्ध शरीर के किसी मांस, नस, नाड़ी और चमड़े आदि से कुछ भी नहीं है, अर्थात् कोई पदार्थ उससे जुड़ा हुआ—मिला हुआ नहीं है, इसलिए यहाँ अब फिर प्रश्न होता है कि ऐसी निराली वस्तु को अस्थिविहीन प्राणियों ने कैसे प्राप्त कर लिया? स्थूल और गोलमाल शब्दों में, अर्थात् विकासवाद के विशेष शब्दों में कहें तो कह सकते

हैं कि अस्थिविहीन प्राणियों में हड्डियों को 'परिस्थिति' ने उत्पन्न कर दिया, किन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि परिस्थिति भी हड्डी की बनानेवाली नहीं है। भाई और बहिन एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होते और बढ़ते हैं, परन्तु बहिन के मुँह पर डाढ़ी-मूँछ का नाम भी नहीं होता। हाथी और हथिनी एक ही परिस्थिति में हैं, परन्तु हथिनी के मुँह में बड़े दाँत नहीं होते। मोर और मयूरी, मुर्गा और मुर्गी दोनों एक ही परिस्थिति में होते हैं, परन्तु मयूरी और मुर्गी के वे सुन्दर पर और कलग़ी नहीं है जो मोर और मुर्गे के होती है। क्या एक ही स्थान में पैदा हुए स्त्री-पुरुष की परिस्थिति में भी कोई ऐसा अन्तर है कि दो में से एक तो हड्डी बना सके पर दूसरा हड्डी न बना सके? शास्त्रकार कहते हैं कि—

यदा नार्यावुपेयातां वृषस्यन्त्यौ कथंचन। मुञ्चन्त्यौ शुक्रमन्योन्यमनस्थिस्तत्र जायते॥

—सुश्रुत शारीर० अ० २।४७

अर्थात् जब दो स्त्रियाँ परस्पर मैथुन करके वीर्य छोड़ती हैं और वह वीर्य किसी के गर्भ में धारित हो जाता है, तब बिना हड्डी का लड़का पैदा होता है। फिर कहते हैं कि—

ऋतुस्नाता तु या नारी स्वप्ने मैथुनमावहेत्। आर्तवं वायुरादाय कुक्षौ गर्भं करोति हि॥
मासि मासि विवर्धेत गर्भिण्या गर्भलक्षणम्। कललं जायते तस्या वर्जितं पैतृकैर्गुणैः॥

—सुश्रुत शारीर० अ० २।४८-४९

अर्थात् ऋतुस्नान की हुई स्त्री स्वप्न में मैथुन करती है और आर्तव, वायु द्वारा खिंच कर गर्भ में धारित होता है। वह गर्भ के लक्षणों से युक्त महीने-महीने बढ़ता है और अन्त में पिता के गुणों से रहित केवल मांसपिण्ड=कलल उत्पन्न होता है। आगे पिता के गुणों को कहते हैं कि—

केशः श्मश्रुश्च लोमानि नखा दन्ताः शिरास्थता।
धमन्यास्स्नायवः शुक्रमेतानि पितृजानि हि॥ —सुश्रुत[1]

अर्थात् केश, लोम, डाढ़ी, मूँछ, नख, दन्त, शिरा, धमनी, स्नायु और शुक्र ये पिता के अंश से उत्पन्न होते हैं।

इस कारण से स्त्री के डाढ़ी-मूँछ, मयूरी के पूँछ, मुर्गी के कलगी और हथिनी के दाँत नहीं होते। अब प्रश्न है कि क्यों पुरुष के ये कठिन पदार्थ होते हैं और क्यों स्त्री के नहीं होते? साथ ही यह भी प्रश्न है कि एक कोष्ठधारी अमीबा में स्त्री कौन और पुरुष कौन है तथा किस प्रकार उनका वंश चलता है और आगे चलकर किस प्रकार क्यों और कब नर और मादा दो भिन्न-भिन्न वर्ग स्थिर होते हैं और फिर किस प्रकार आगे चलकर अस्थिविहीन प्राणी अस्थियुक्त होते हैं? विकासवाद के पास इनका यथार्थ उत्तर नहीं है। ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि अस्थि आप-ही-आप उत्पन्न नहीं हो सकती, अतः शरीर-तुलना की दृष्टि से अस्थिविहीनों का और अस्थियुक्तों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

कहा जाता है कि एक कोष्ठ का अमीबा आगे चलकर दो कोष्ठ का हैड्रा बन गया, अर्थात् विकासवाद के सिद्धान्तानुसार हमेशा कोष्ठ दूने परिमाण से (एक के दो, दो के चार, चार के आठ और आठ के सोलह) बढ़ते हैं[2]। इस सिद्धान्त से प्रत्येक उत्तर-उत्तर की योनियाँ, आकार

---

१. तुलना कीजिए—सुश्रुत० शारीर० ३।३१

२. आरम्भ में अण्डा केवल एक कोष्ठवाला होता है और इस अवस्था से आगे अण्डे की वृद्धि शुरू हो जाती है। एक के दो, दो के चार, चार के आठ, आठ के सोलह इस प्रकार कोष्ठों की संख्या बढ़ती है।

—विकासवाद पृष्ठ ९५

और वज़न में, एक से दूनी और दूनी से चौगुनी आदि होनी चाहिए थी, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। अमीबा प्रत्येक स्थान से अपने अन्दर छेद कर लेता है, इससे वह एक कोष्ठ का भी प्रतीत नहीं होता। अगर एक कोष्ठ प्रत्येक स्थान से फटता है तो उसका चेतनरस—प्रोटोप्लाज़्म—बह जाना चाहिए, किन्तु ऐसा भी नहीं होता। इस प्रकार अमीबा से लेकर जोड़वालों तक और अस्थिहीनों से लेकर अस्थिवालों तक कोई शारीरिक तुलना दिखलाई नहीं पड़ती। हम अभी नहीं पूछना चाहते कि स्तनों का विज्ञान क्या है ? किन्तु तुलनात्मक दृष्टि से यह अवश्य पूछना चाहते हैं कि स्तनधारी नरों में घोड़े के स्तन क्यों नहीं होते ? इसका कोई उत्तर नहीं। इस प्रकार हमने यहाँ तक देखा कि अमीबा के आकार-प्रकार का ज्ञान अब तक वैज्ञानिकों को नहीं है। वे नहीं जानते कि वह एक कोष्ठवाला है या अनेक कोष्ठवाला। वे यह भी नहीं जानते कि कोष्ठ का क्या विज्ञान है और उनमें नर-मादा का क्या सिद्धान्त है। उनको इस बात का भी पता नहीं है कि हमेशा दूने कोष्ठों से उत्तर योनियों का होना किस प्रकार सिद्ध होता है। कृमियों के बाद जोड़वालों और अस्थिवालों के बीच कोई प्राणी है या नहीं, विकासवादी यह भी नहीं जानते। अस्थि की उत्पत्ति विकास के द्वारा असम्भव है। घोड़े के स्तनों का अभाव क्रम भंग करता है, अर्थात् अमीबा से लेकर स्तनधारियों की शरीर-तुलना में उपर्युक्त अनेक दोष हैं—विघ्न हैं, अतः यह शास्त्र विकास का पोषक नहीं है।

(३) परिस्थिति से प्राणियों के अङ्गों का ह्रास और विकास बताया जाता है और कहा जाता है कि ओपोसम, डकबिल, पेंग्विन, मोर, ह्वेल और शुतुर्मुर्ग़ आदि के शरीरों में ऐसे चिह्न पाये जाते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि परिस्थिति के ही कारण उनके शरीरों में ह्रास अथवा विकास हुआ है। विकासवादी कहते हैं कि इन प्राणियों के देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि किस प्रकार प्राणियों के शरीरों में फेरफार होता है। हम कहते हैं कि विकासवादियों ने कहाँ से, किस प्रमाण के आधार से कल्पना कर ली कि उक्त प्राणियों के अङ्गों में परिस्थिति के कारण ह्रास-विकास हुआ है। जिस प्राणी को परमेश्वर ने जिस प्रकार का पैदा किया है वह उसी प्रकार का है। क्या अधिकार है कि कोई यह कहे कि ह्वेल के पैर दुर्बल हो गये और क्या अधिकार है कि कोई यह कहे कि मोर और शुतुर्मुर्ग़ के पर निर्बल हो गये हैं। ह्वेल के पैर जब पानी में तैरने का बराबर काम दे रहे हैं तब उसके लिए यह कल्पना करना कि वह पहले स्थलचारी था और अब पानी में रहने से उसके पैर दुर्बल हो गये हैं, सर्वथा ग़लत है। कैसे जाना गया कि वह पहले स्थलचारी थी और उसके पैर सुदृढ़ थे ? इसी प्रकार मोर और शुतुर्मुर्ग़ हैं। वे डीलडौल में बड़े हैं। इनको पक्षियों से डर नहीं है। चरिन्दों से बचने के लिए उनके पास पर हैं ही। ऐसी दशा में यह कहना कि उनके पर परिस्थिति के कारण कमज़ोर हो गये निरी कल्पना है। आज भी जब मोर को कुत्ता पकड़कर नोच डालता है, तब कैसे अनुमान कर लिया गया कि उसका कोई शत्रु नहीं रहा और उड़ने का काम न पड़ने से उसके पर कमज़ोर हो गये ? भला, पर जैसी चीज़ को कभी कोई निकम्मा होने देगा ? पक्षियों से स्तनधारियों की उत्पत्ति कही जाती है, परन्तु तनिक सोचो तो सही कि जिस उड़ने की अधूरी विमानविद्या से मनुष्य कृतार्थ हो रहे हैं, उसको ईश्वर से पाकर भी पक्षीगण क्या योंही खो देते ? क्या इस समय पक्षियों का कोई शत्रु नहीं है ? यदि अब भी शत्रु विद्यमान हैं तो उन्होंने किस आशा पर अपने पर बरबाद करके पशुओं का स्वरूप धारण किया ? हम तो कहते हैं इस प्रकार की कल्पना ही निर्मूल है। हम पहले ही कह आये हैं कि परिस्थिति से अङ्ग लुप्त नहीं होते और न नये अङ्ग स्फुटित ही होते हैं। अङ्गों का होना यदि परिस्थिति पर होता तो हथिनी के भी बड़े दाँत होते, क्योंकि हाथी और हथिनी दोनों की परिस्थिति समान है, इसलिए

परिस्थिति के कारण शरीरों में ह्रास और विकास का होना सिद्ध नहीं होता। शरीर तो परमेश्वर की ओर से सुख-दु:ख भोगने के लिए मिलता है। प्रत्येक प्राणी अपनी योनि में पैदा होकर अमुक वर्षों तक उस शरीर के सहारे सुख-दु:ख भोगता है।

विकासवादवालों ने जो वर्गीकरण किया है, वह केवल इसलिए कि विकासवाद सरल हो जाए अन्यथा उसमें कुछ भी दम नहीं है। ह्रास-विकास की बाज़ीगरी दिखलाकर वर्गों का वह अन्तर पूरा करने का प्रयत्न किया गया है, जो हमने अभी अमीबा और हैड्रा के बीच, अस्थि और अनस्थिवालों के बीच तथा घोड़े और अन्य स्तनधारियों के बीच दिखलाया है। समस्त जातियाँ जिनकी जाति, आयु और भोग अलग-अलग नियत हैं, वे सब ईश्वरकृत, सर्वथा स्वतन्त्र और भिन्न-भिन्न जातियाँ हैं। उनके शरीरों में जो ह्रास-विकास दिखता है वह परिस्थिति आदि से नहीं हुआ, प्रत्युत उनके पूर्व कर्मानुसार ईश्वरीय व्यवस्था से सुख-दु:ख भोगने के लिए आया हुआ है।

(४) भिन्न-भिन्न दो जातियों के मिश्रण से भी वंश चलनेवाला सिद्धान्त ठीक नहीं है, क्योंकि जिन भिन्न-भिन्न दो जातियों के मिश्रण से वंश चलता है वे दो जातियाँ नहीं प्रत्युत एक ही जाति के दो विभक्त प्राणी हैं। सर्वथा भिन्न-भिन्न दो जातियों के मिश्रण से सन्तति नहीं होती। शायद कहीं होती है तो वंश नहीं चलता, अर्थात् कुछ जातियों का मैथुन निरर्थक होता है, कुछ के सन्तान होती है, परन्तु वंश, अर्थात् सन्तान के सन्तान नहीं होती और कुछ के वंश भी चलता है। वंश चलने का नमूना अब तक देखा नहीं गया। हाँ, सुनते हैं कि व्याघ्र और सिंह से तथा कुत्ते और भेड़िये के संयोग से सन्तति हो जाती है। विकासवाद के लेखक पृष्ठ ५० पर लिखते हैं कि सिंह तथा व्याघ्र के मेल से सन्तति हो जाती है। इस प्रकार की सन्तति के होने का कारण यही हो सकता है कि इन दोनों का उद्‌गम स्थान एक ही हो। यदि इन दोनों का उद्‌गम स्थान एक ही न होता तो इस प्रकार की सन्तति की सम्भावना कभी भी नहीं होती। भेड़िये तथा कुत्ते के मेल से भी सन्तति हो जाती है। शिकारी लोग इस प्रकार से पैदा हुए कुत्तों को अधिक चाहते हैं क्योंकि इन कुत्तों में श्वाजाति की स्वामिभक्त के साथ भेड़िये की शूरता भी आ जाती है'। यहाँ यही सूचित होता है कि केवल सन्तति ही होती है, उस प्रकार का वंश नहीं चलता।

यह नमूना घोड़े और गधे से उत्पन्न हुए ख़च्चर में तथा क़लमी आम और पैवन्द बेर में बहुत अच्छी प्रकार से दिखलाई पड़ता है। घोड़े गधे के मेल से सन्तति तो होती है, अर्थात् ख़च्चर तो होता है, परन्तु आगे ख़च्चर का वंश नहीं चलता। इसी प्रकार पैवन्द बेर की गुठली से भी फिर वृक्ष नहीं होता। इससे समझना चाहिए कि वे सजातीय नहीं है, किन्तु व्याघ्र और सिंह से—कुत्ते और भेड़िये से—वंश चलता है। इसी प्रकार क़लमी आम की गुठली के बोने से वृक्ष होता है, फल भी लगते हैं। इससे वे सजातीय प्रतीत होते हैं, परन्तु आगे चलकर यह मिश्र-योनिजजाति मूल जाति के रूप की हो जाती है, अर्थात् वह धीरे-धीरे व्याघ्र की अथवा सिंह की शकल की हो जाती है। इसी प्रकार क़लमी आम धीरे-धीरे छोटा होता हुआ उसी तुख़्मी आम के आकार का हो जाता है, जिसमें क़लम लगाई गई थी। उक्त दोनों सूरतों से विकास को सहारा नहीं मिलता। विकास की ख़ूबी तो अलग जाति उत्पन्न करने में है—वंश चलाने में है, केवल बच्चा पैदा करा देने में नहीं। बच्चा तो दो स्त्रियाँ मिलकर भी पैदा कर देती हैं, परन्तु क्या वह कोई बच्चा है? जब उसमें हड्डी नहीं, जान नहीं और वंश चलाने की शक्ति नहीं तब केवल कुछ-न-कुछ पैदा कर देने से क्या लाभ?

सुना गया है कि अमेरिका में लूथर वरबैंक नामी विद्वान् ने बहुत-से वृक्षों की क़लमों से अनेक प्रकार के फल-फूल उत्पन्न कर दिये हैं। हम मानते हैं कि सजातीय मिश्रण से सन्तति

होती है, वंश चल सकता है। वरबैंक ने सजातीय वृक्षों से अवश्य ऐसा कर दिया होगा, हमारी तो व्याख्या ही है कि **'समानप्रसवात्मिका जातिः'** अर्थात् जाति वही है जिसमें प्रसवसमानता हो। यह प्रसवसाम्य अन्य दो बातों की आवश्यकता रखता है। शास्त्र में कहा है कि **'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः'** अर्थात् पूर्वजन्म के कर्मों का फल जाति, भोग और आयु द्वारा मिलता है। जाति वह है जिसके परस्पर मेल से सन्तति हो। यह सन्तति उन्हीं में होगी जिनका भोग और आयु भी समान होगा। यह कभी नहीं होगा कि जो प्राणी मांस खानेवाला है, उसका संयोग घास खानेवाले से हो जाए और वंश चल पड़े तथा यह भी कभी नहीं होगा कि जिन दो जातियों के मेल से वंश हुआ है उनमें एक की आयु प्रायः ३० वर्ष है और दूसरी की १६ की। कहने का तात्पर्य यह कि जिनका प्रसव समान होगा उनका भोग भी समान होगा और आयु भी समान होगी, क्योंकि शरीर कर्मफल भोगने के लिए मिला है। साथ ही उसकी अवधि भी निश्चित है कि इतने वर्ष तक इस शरीर से अमुक भोग भोगे जाएँ।

भोगों के विषय में परिस्थिति के बहाने कहा जा सकता है कि अमुक जाति को जब जीने के लिए उसकी ख़ुराक न मिली तो वह मांस खाने लगी, परन्तु क्या विकासवाद कोई कारण बतला सकता है कि प्रत्येक जाति की आयु भिन्न-भिन्न क्यों निश्चित है ? अधिक परिचय न होने के कारण हम लोगों को ज्ञात नहीं होता कि कौन प्राणी कितने दिन तक जीता है, परन्तु मनुष्य, बन्दर, गाय, बकरी, ऊँट, गधा और छोटे-छोटे कीड़ों में आयु का महान् अन्तर है। ऐसी दशा में यह प्रश्न आप-से-आप उपस्थित होता है कि क्यों मनुष्य सौ वर्ष तक जीनेवाला प्राणी है और क्यों अन्य प्राणी भी अमुक समय तक ही जीते हैं[१]। इसका उत्तर विकासवाद के विज्ञान से बाहर है। इतना ही नहीं किन्तु जब कभी विकासवाद इसका उत्तर देने की चेष्टा करेगा, उसको अपना सिद्धान्त तुरन्त ही बदलना पड़ेगा, क्योंकि संसार में प्राणियों की आयु का क्रम महा विलक्षण है।

विकासवाद मानता है कि पृष्ठवंशधारियों में सर्पणशीलों की श्रेणी है, जिसमें कछुवा और सर्प भी हैं। आयुःशास्त्रियों का कहना है कि कछुवा १५० वर्ष और सर्प १२० वर्ष जीता है। विकासवाद कहता है कि सर्पणशील ही विकसित होकर पक्षी हो गये हैं। पक्षियों में ही कबूतर है जो ८ ही वर्ष जीता है। कहा जाता है कि इन्हीं पक्षियों का विकास स्तनधारी हैं, जिनमें आयुःशास्त्र के अनुसार शशक ८, कुत्ता १४, घोड़ा ३२, वानर २१, और मनुष्य १०० वर्ष जीता है[२]। यहाँ स्पष्ट ही दीख रहा है कि विकास में आयु का ह्रास है। कछुवा १५० वर्ष और सर्प १२० वर्ष जीता है। इससे भी अधिक योग्य स्तनधारी शशक, कुत्ता और घोड़ा भी क्रम से ८, १४ और ३२ ही वर्ष जीते हैं। मनुष्यों से उतरकर और सब प्राणियों से श्रेष्ठ वानर भी २१ ही वर्ष जीता है। यद्यपि इतना योग्य हो जाने और इतनी उन्नति के बाद मनुष्य ही १०० वर्ष जीता है, परन्तु फिर भी वह सर्प और कछुए की आयु तक नहीं पहुँचता।

विकासवाद कहता है कि जीवन-संग्राम में योग्य ही रह जाते हैं, उन्हीं से नवीन जातियों

---

१. शतमायुर्मनुष्याणां गजानां परमं स्मृतम्। चतुस्त्रिंशत्तु वर्षाणामश्वस्यायुः परं स्मृतम्।
पञ्चविंशतिवर्षाणि परमायुर्वृषोष्ट्रयोः। —शुक्रनीति
समाषष्टिर्द्विघ्ना मनुजकरिणां पञ्च च निशा। हयानां द्वात्रिंशत् वरकरभयोः पञ्चकृतिः।
विरूपासार्प्यायुर्वृषमहिषयोर्द्वादश शुनाम्। स्मृतं छागादीनां दशकसहिताः षट् च परमम्॥ —बृहज्जातक

२.

प्राणी—	शशक	कबूतर	वानर	कुत्ता	बकरा	बिलार	घोड़ा	मनुष्य	हाथी	सर्प	कछुवा
एक मिनट में श्वास—	३८	३६	३२	२९	२४	२५	१९	१३	१२	८	५
आयुवर्ष—	८	८	२१	१४	१३	१३	५०	१००	१००	१२०	१५०

का प्रादुर्भाव होता है, परन्तु हमारी समझ में नहीं आता कि विकसित होकर प्राणियों ने कौन-सा-लाभ किया—कौन-सी योग्यता प्राप्त की? जीने के लिए संग्राम किया, योग्यता प्राप्त की और रूप भी बदल डाला, किन्तु मृत्यु के अधिक निकट पहुँच गये। जो पहले के हैं और सरल रचना के हैं वे अधिक दिन जीते हैं, परन्तु जो क्लिष्ट रचना के हैं और बाद के हैं, वे कम दिन जीते हैं। विकासवाद ने क्या यही मशीनों का सुधार किया कि पहले जो मशीन १५० वर्ष टिकती थी अब वही सुधरी हुई मशीन ८ ही वर्ष रहती है? अच्छा यान्त्रिक विकास है!!

सर्पणशील ही पक्षी हो गये। ठीक, हो जाए, पर जोड़वाले कीड़ों के—भौंरा, ततैया, मक्खी आदि के—पंख कैसे हो गये और उड़नेवाली मछलियों के पर कैसे लग गये? इनके साथ पक्षियों के शरीर की तुलना किस प्रकार होगी और इन कृमियों तथा मछलियों के साथ पक्षियों का सम्बन्ध कैसे लगेगा? क्या कोई पक्षी इन पक्षधारी कीड़ों और मछलियों से वंश स्थापित कर सकता है? क्या बन्दर और मनुष्य से वंश स्थापित हो सकता है और चल सकता है? कदापि नहीं।

(५) कहा जाता है कि प्राणियों की उत्पत्ति, सादी रचना से क्लिष्ट रचना के क्रम से होती है। यह हमें मान्य है कि पहले सादी रचना के प्राणी होते हैं, फिर क्लिष्ट रचना के, किन्तु यह मान्य नहीं है कि वही सादी रचनावाले ही क्लिष्ट रचनावाले हो जाते हैं, क्योंकि कीट अवस्था में ही पक्षियों की-सी क्लिष्ट रचना उड़नेवाले कीड़ों और मछलियों की देखी जाती है। कानखजूरे की-सी क्लिष्ट रचना साँप की नहीं है और न तितली जैसी कारीगरी कौवे में ही पाई जाती है, परन्तु विकासवाद कहता है कि तितली और कानखजूरा कौवे और सर्प से पूर्व ही उत्पन्न हो गये थे। ऐसी दशा में सादी और क्लिष्ट रचना का कुछ भी मूल्य नहीं रहता। यदि विकासवाद तितली आदि की रचना को क्लिष्ट रचना न कहकर केवल अस्थिवाले प्राणियों को ही क्लिष्ट रचनावाले कहता है तो कहे, परन्तु देखने में तो अस्थिवाले मनुष्यों की रचना से वृक्षों की रचना ही अधिक क्लिष्ट है, क्योंकि वृक्षों में अस्थिपंजरों के स्थान में अनेक डालियाँ और शाखें, पत्ते, फूल, फल तथा देखने और श्वास लेनेवाले अङ्ग ऐसे अनोखे हैं कि मनुष्य का शरीर उसकी कारीगरी के सामने कुछ भी नहीं है। वृक्ष के एक फूल पर उसके रंग, बनावट और सुगन्धि पर मनुष्य की शरीर-रचना निछावर है, अतः मनुष्य वृक्षों के साथ कुछ भी मुक़ाबला नहीं कर सकता, परन्तु पशुओं और पक्षियों की-जैसी स्वतन्त्रता तथा मनुष्य-जैसा ज्ञान-विज्ञान वृक्षों में नहीं है, इसलिए हम उन्हें सादी रचनावाले कहते हैं।

सृष्टि का यह नियम है कि पहले भोग्य और फिर भोक्ता उत्पन्न होता है। कर्मानुसार प्राणी ही भोग्य और भोक्ता होता है। सादी रचनावाले भोग्य और क्लिष्ट रचनावाले भोक्ता होते हैं। यदि ऐसा न हो तो कोई भोग्य किसी के काम ही न आवे। वनस्पति यदि भाग जाए तो पशु कैसे जिएँ? और घोड़ा यदि मनुष्य से अधिक बुद्धिमान् हो जाए तो उसको सवारी का काम कौन दे? इस व्यवस्था के अनुसार सबसे पहले वनस्पति, फिर पशु (जिनमें हाथी से कृमिपर्यन्त सम्मिलित हैं) और अन्त में मनुष्य पैदा हुए। इस प्रकार की उत्पत्ति हमको सर्वथा मान्य है। यह उत्पत्ति नई नहीं, किन्तु वेदानुकूल होने से महा प्राचीन है[१]।

---

१. **सम्भृतं पृषदाज्यम्।** —यजुः० ३१।६
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये। —यजुः० ३१।६
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये। —यजुः० ३१।९

तुलनात्मक शरीररचना शास्त्र में हमने जिन पाँच बातों को विकासवाद का पोषक देखा था, यहाँ तक उनकी विस्तृत समालोचना करके हम जिस परिणाम पर पहुँचे हैं वह पढ़नेवालों के सामने है। याद रखने के लिए यहाँ फिर दोहरा देना चाहते हैं कि विकासवाद ने यहाँ तक न तो विकास को अच्छी प्रकार आरोपित ही किया है और न कोई प्रमाण ही दिया है। इस निर्बलता को स्मरण करते हुए विकासवाद के लेखक पृष्ठ ७७ पर स्वयं ही कहते हैं कि 'शरीर-रचना-शास्त्र में प्राणियों की रचना के सम्बन्ध में जो सामान्य तत्त्व ज्ञात हुए उनके जानने के लिए अनुमान-प्रमाण से ही अधिकतर काम लेना पड़ा, क्योंकि भिन्न-भिन्न प्राणियों की रचना में जो समानताएँ तथा भेद प्रतीत हुए उनपर विचार करके शास्त्रीय तथा तार्किक शैली से अनुमान लगाकर ही परिस्थिति के अनुरूप विकास को सिद्ध करना पड़ा, प्रत्यक्ष प्रमाण का वहाँ कुछ वश नहीं चला'। ग्रन्थकार के कहने का मतलब स्पष्ट है कि अब तक विकासवाद की सिद्धि नहीं हुई।

भौगोलिक विभाग-शास्त्र

विकासवाद के कर्त्ता ने इस शास्त्र को अन्त में लिखा है, परन्तु हम इसको तुलनाशास्त्र के बाद इसलिए लिखते हैं कि यह भी एक प्रकार से तुलनाशास्त्र का ही अङ्ग है। इससे भी विकासवाद का स्वरूपमात्र ही ज्ञात होता है। विकासवाद के लेखक ने इस शास्त्र का वर्णन अपने ग्रन्थ में पृष्ठ १४० से १५० तक किया है। उसी का सार नीचे देकर हम इसकी आलोचना करेंगे। यह शास्त्र विकासवाद में क्या काम देता है इसके लिए आप लिखते हैं कि 'किस-किस प्रकार के प्राणी कहाँ-कहाँ विद्यमान थे और कहाँ-कहाँ वर्त्तमान समय में विद्यमान हैं, इसकी खोज करके साधारण सिद्धान्त बना देना इस शास्त्र का काम है'। इसके आगे आप कहते हैं कि अब तक यह ज्ञात हुआ है कि संसार के प्राणी जितने और जिस प्रकार के आज विद्यमान हैं उनका अस्तित्व अनादि काल से नहीं है। इस पृथिवी पर प्राणियों की उत्पत्ति जब शुरू हुई थी तब पहले बहुत ही सीधी-सादी (Simple) रचना के प्राणी उत्पन्न हुए थे। पश्चात् जैसी-जैसी परिस्थिति बदलती गई उसके अनुकूल अधिक क्लिष्ट (Complex) रचना के भिन्न-भिन्न प्राणी उद्भूत हुए।

भारत में व्याघ्र-सिंह तथा हाथी होते हैं, परन्तु ये इंग्लैंड में नहीं होते। साँप-बिच्छू तथा गर्मी में पैदा होनेवाले अन्य प्राणी भी यूरोप के शीत देशों में नहीं होते। जिराफ़ अफ़रीका में और मोर भारत में ही होता है। इसी प्रकार अंग्रेज़, जापानी, सीदी आदि भी अपने-अपने देश में ही होते हैं और रंग-रूप में एक-दूसरे से भिन्न हैं, क्योंकि जैसी भिन्नताएँ प्राणियों और वनस्पतियों में हैं वैसी ही मनुष्यों में भी हैं। आस्ट्रेलिया में यूरोपवासियों के जाने के पूर्व ख़रगोश नहीं थे। वहाँ उनके योग्य जलवायु था, परन्तु उनके वहाँ पहुँचने का प्रतिबन्धक समुद्र था, इसी से वे पहले वहाँ नहीं पहुँच सके। जब यह प्रतिबन्ध हटाकर जहाज़ों के द्वारा ख़रगोश वहाँ पहुँचाये गये तब वहाँ भी हो गये, अर्थात् जब तक कोई प्राणी कहीं न पहुँचे और वहाँ अपनी सन्तति का विस्तार न करे तब तक आप-ही-आप कोई प्राणी कहीं पैदा नहीं हो जाता।

गेलापेगस द्वीप विचित्र प्राणियों के लिए प्रसिद्ध है। वहाँ गोह, गिरगिट, छिपकली और सर्प तथा पक्षीश्रेणी के जन्तु बहुत हैं। इस प्रकार के जन्तु अफ्रीका, भारतवर्ष और अमेरिका में भी विद्यमान हैं, परन्तु सबकी अपेक्षा अमेरिका के प्राणियों के साथ इन गेलापेगसवाले प्राणियों का अधिक मेल है। इसका कारण यही है कि ये अमेरिका-निवासियों के अनुवंशज है। इस द्वीप के निकट अमेरिका ही है जिससे ज्ञात होता है कि कभी पूर्व में जब अमेरिका और इस द्वीप की भूमि मिली रही होगी तब अमेरिका से जाकर ये प्राणी वहाँ रहने लगे होंगे। एक द्वीप से दूसरे में और दूसरे से तीसरे में बसे, इसलिए परिस्थिति बदलने के कारण थोड़ा-सा भिन्नत्व पाया जाता है,

अन्यथा वे सब एक ही पूर्वजों की सन्तति हैं।

ओजर्स द्वीप अफ्रीका के वायव्य में है। वहाँ के प्राणियों की अफ्रीका के प्राणियों के साथ बहुत समता है। इसी प्रकार पेसिफ़िक महासागर में बहुत-से द्वीप हैं। इनमें घोंघों की अनेक जातियाँ हैं। भूगर्भशास्त्री बतलाते हैं कि पूर्वकाल में इन द्वीपसमूहों की भूमि एक में जुड़ी थी, अर्थात् यह द्वीपसमूह नहीं, किन्तु महाद्वीप था। इसी से सब घोंघों का मेल है और सब एक ही पिता की सन्तति हैं। तात्पर्य यह कि किन्हीं दो प्रदेशों के प्राणियों की भिन्नता और समानता उन दोनों प्रदेशों की दूरता वा निकटता पर अवलम्बित है। यदि दोनों देश दूर होंगे तो भिन्नता अधिक होगी और निकट होंगे तो समता अधिक होगी, किन्तु कभी-कभी दूरस्थ प्रादेशिक प्राणियों में अधिक समानता होती है, जैसे ब्रिटेन और जापान देश में यद्यपि बहुत अन्तर है, परन्तु इन दोनों देशों के प्राणियों में बहुत बड़ा साम्य है, किन्तु आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड बहुत पास-पास हैं, फिर भी वहाँ के प्राणियों में महान् वैषम्य है। इसका कारण यह है कि इन दोनों को पृथक् करने में प्रकृति ही प्रतिबन्धक है। यदि दो समीपस्थ स्थानों को कोई पर्वत पृथक् करे तो एक स्थान के नदी-नालेवाली मछलियाँ जैसी होंगी वैसी दूसरे स्थानवाली नहीं होंगी, क्योंकि मछलियाँ पर्वतों को लाँघकर नहीं जा सकतीं, इसलिए समीप होते हुए भी कभी-कभी एकता नहीं हो सकती, किन्तु देश दूर होने पर भी यदि गमनागमन रहे तो समता अधिक हो सकती है। इस प्रकार के प्रमाणों को देखकर ही विकासवादी मुक्तकण्ठ से कहते हैं कि सब प्रकार के जीवित प्राणी एक ही जाति के आद्यवंशजों से सन्तति अनुसन्तति द्वारा उत्पन्न हुए हैं और इनके वर्त्तमान भिन्न-भिन्न रूप परिस्थिति के अनुरूप बने हुए हैं।

इस शास्त्र के यहाँ तक के वर्णन से पाँच ही बातें विकास के अनुकूल प्रतीत होती है—

१. पहले प्राणी सादी रचना के थे, फिर क्लिष्ट रचना के हुए।

२. कोई प्राणी जब तक एक स्थान से दूसरे स्थान में न जाए तब तक वह वहाँ आप-ही-आप उत्पन्न नहीं हो सकता।

३. भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों में जो समता है, वह उनके एक ही वंश के होने की सूचना है।

४. समानता का कारण न दूरता है न निकटता, प्रत्युत वंश और परिस्थिति ही है और

५. परिस्थिति के ही कारण मूल प्राणी की अनेक शाखाएँ होकर अनेक योनियाँ हो गई हैं।

हमारा अनुमान है कि हमने इस प्रकरण का सारांश निकाल लिया है। यद्यपि इन पाँचों बातों में से प्रायः सभी का उत्तर पिछले पृष्ठों में हो चुका है तथापि हम फिर से इनका क्रम से उत्तर देना चाहते हैं। यह प्रकरण कुछ काट-छाँट के बाद हमारे ही अनुकूल है। यदि यह बात सिद्ध हो जाए कि सब प्राणी एक ही मूलप्राणी से विकसित होकर इतनी जातियों में विभक्त नहीं हुए प्रत्युत प्रत्येक जाति के पृथक्-पृथक् पूर्वज ही एक स्थान से सारे संसार में फैले हैं तो हमारा आगे चलकर निर्णय करने का यह बोझ हलका हो जाएगा कि सारी मनुष्य-जातियाँ एक ही पूर्वजों की सन्तान हैं अथवा विकास द्वारा अनेक देशों में अलग-अलग विकसित हुई हैं। हमारी आशा एक रीति से तो पूर्ण ही है, क्योंकि विकासवाद समस्त प्राणियों को एक स्थान में ही पैदा हुए अमीबा की सन्तति मानता है। हाँ, इतनी बात अवश्य निकल जाने योग्य है कि एक ही प्राणी से परिस्थिति के अनुसार इतनी जातियाँ हो गईं। आगे हम क्रम से उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं और देखते हैं कि हमारा अनुमान कहाँ तक ठीक है।

(१) पहले प्राणी सादी रचना के थे फिर संकीर्ण रचना के हुए। पिछले पृष्ठों में इसपर

प्रकाश पड़ चुका है। वहाँ सादेपन, क्लिष्टता और कारीगरी तथा उपयोगिता आदि सभी बातों को दिखलाकर कह दिया गया है कि भोक्ता से भोग्य प्रथम होता है। इसी क्रम के कारण भोग्य को सादा और भोक्ता को क्लिष्ट कह सकते हैं, परन्तु विकासवादी जिस प्रकार की सादगी और क्लिष्टता बताते हैं, उसमें कुछ भी सत्यता नहीं है।

(२) प्राणी जब तक एक स्थान से दूसरे स्थान में नहीं जाते तब तक वे वहाँ आप-ही-आप उत्पन्न नहीं हो सकते। यदि आप-ही-आप उत्पन्न हो सकते तो आस्ट्रेलिया में ख़रगोश पहले ही पैदा हो जाते, क्योंकि वहाँ का जल-वायु उनके अनुकूल था, परन्तु जब तक वहाँ उन्हें कोई नहीं ले-गया तब तक वे आप-ही-आप वहाँ उत्पन्न नहीं हो सके। भारत का मोर अब तक दूसरे स्थानों पर बहुत कम पहुँचा है, अत: उसकी सन्तति भी दूसरे स्थान पर नहीं हुई, परन्तु जहाँ पहुँचा है वहाँ सन्तति भी हुई है, अर्थात् जब तक कोई प्राणी कहीं न जाए तब तक आप-ही-आप उसकी उत्पत्ति वहाँ नहीं होती। अब तक कोई नई जाति आप-ही-आप पैदा नहीं हुई। यह विकासवाद के लिए बड़ी भयंकर बात है। जब प्रत्येक स्थान पर प्रकृति विद्यमान है, प्रत्येक स्थान पर प्राणियों के लिए जलवायु अनुकूल हो जाता है तब क्या कारण है कि किसी स्थान में नया अमीबा पैदा होकर धीरे-धीरे वह कोई नई जाति नहीं बना डालता? क्यों उसी पुरानी ही सृष्टि के प्राणियों में विकासवाद की स्वच्छन्द प्रकृति माथा मार रही है? परन्तु क्या प्रकृति चैतन्य बना सकती है? नहीं।

(३) भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों में जो समता है वह उनके एक ही वंश के होने की सूचना है, परन्तु इसमें भेद है। भिन्न-भिन्न देशों के प्राणियों की समता यदि इस प्रकार की जाए कि बिल्ली और कुत्ता दोनों स्तनधारी मांसभक्षी हैं, अत: एक देश की बिल्ली और दूसरे देश के कुत्ते को देखकर कह दिया जाए कि दोनों प्राणी एक ही पिता के सन्तान हैं तो ठीक नहीं, किन्तु यदि बुलडॉग, ताज़ी और लेंडी कुत्तों को देखकर कहा जाए कि ये एक ही पिता के पुत्र हैं तो बिलकुल सत्य है, अर्थात् ख़ाली रचना देखकर ही एक होने का अनुमान न कर लेना चाहिए प्रत्युत समानप्रसव, समानभोग और समान आयु का जब पूरा मेल मिल जाए (चाहे आकृति मिले या न मिले) तो समझ लेना चाहिए कि वे एक ही पिता की सन्तति हैं।

डारविन को टेरोडेल्फ़िगो में जब खर्वाकार मनुष्य मिले तब वह उन्हें पहिचान ही न सका कि ये भी मनुष्य ही हैं, किन्तु जब उसने गौरेला और चिंपाञ्ज़ी आदि वनमनुष्यों को देखा तो चिल्ला उठा कि ये भी एक प्रकार के मनुष्य ही हैं। डारविन के इस भ्रम का कारण यही था कि उसने केवल आकृति साम्य पर ही भरोसा कर लिया था, किन्तु सृष्टिनियम ने समानप्रसव का सिद्धान्त सामने रखकर उसके इस भ्रम को हटा दिया और सिद्ध कर दिया कि खर्वाकार और दीर्घाकार मनुष्यों के संयोग से सन्तति होती है, परन्तु मनुष्यों तथा वनमनुष्यों के योग से सन्तति नहीं होती, अत: पहले दोनों एक जाति के हैं और दूसरे भिन्न जाति के। इसी प्रकार यद्यपि घोड़े और गधे में वनमनुष्यों से भी अधिक समानता है, परन्तु दोनों के योग से वंश नहीं चलता, इसलिए दोनों एक जाति के प्राणी नहीं हैं। इस प्रकार की छानबीन से देखना चाहिए कि किस जाति का कौन प्राणी कहाँ है? हमें यह तो स्वीकार है कि एक ही जगह से प्राणियों ने जा-जाकर संसारभर को आबाद किया है, किन्तु यह स्वीकार नहीं है कि सब जातियाँ एक ही प्राणी (अमीबा) का विकास है। हम तो यही मानते हैं कि सब जातियों के पूर्वज आदि में अलग-अलग ही उत्पन्न हुए।

(४) समानता का कारण न दूरता है न निकटता प्रत्युत वंश और परिस्थिति ही कारण है।

सीदी, चीना और भारतवासी परिस्थिति के कारण ही रंग-रूप में भिन्न हैं, परन्तु एक ही वंश के होने के कारण, एक दूसरे से हज़ारों कोस की दूरी पर रहते हुए भी सबमें समानप्रसव, समान भोग और समान आयु पाई जाती है। यदि कोई पूछे कि क्यों सबका समानप्रसव, समानभोग और समान आयु है तो यही उत्तर दिया जा सकता है कि सब एक ही पूर्वजों के वंशज हैं। रही परिस्थिति की बात, तो उसका भी स्पष्टीकरण इसी सिद्धान्त से हो जाता है। सीदी, चीना, रेड इण्डियन और जर्मनों में जो अन्तर है, बुलडॉग, ताज़ी और लेंडी कुत्ते में जो अन्तर है तथा वैलर, अरब और कच्छी घोड़े में जो भेद है, यही परिस्थिति या जलवायु अथवा environment का अन्तर कहलाता है। परिस्थिति से इतना ही भेद होता है—परिस्थिति साँप का ऊँट नहीं बना सकती।

(५) मूल प्राणी की ही अनेक शाखाएँ हो गईं, यह ठीक नहीं, क्योंकि यदि एक ही प्राणी का परिस्थिति के कारण यन्त्रों की भाँति अनेक योनियों में विभक्त होना मानें तो नीचे लिखी अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं—

१. एक कोष्ठ के अमीबा में स्त्री-पुरुष दो भेद कैसे हो गये?

२. यदि अमीबा के बाद दो कोष्ठ का हैड्रा हुआ तो क्रम से उत्तर-उत्तर समस्त योनियाँ दूने परिमाण से क्यों नहीं बढ़तीं?

३. पक्षधारी प्राणी तो सर्पणशीलों के बाद होना चाहिए था, पूर्व नहीं, तब कृमियों में पक्ष (पर) कैसे उत्पन्न हो गये?

४. अस्थियों की उत्पत्ति कैसे हुई और अस्थिविहीनों से अस्थिवालों की उत्पत्ति कैसे हुई?

५. जब पक्षी, जलजन्तु और कीड़े तक मांस खानेवाले पाये जाते हैं, तब मांसाहारियों का समावेश स्तनधारियों में ही क्यों किया गया?

६. एक ही परिस्थिति में उत्पन्न होनेवाले जोड़ों में से स्त्रियों के डाढ़ी, मूँछ, मयूरी के लम्बी पूछँ, मुर्ग़ी के शिर पर कलग़ी और हथिनी के बड़े दाँत क्यों नहीं होते?

७. प्राणियों में दाँतों की संख्या न्यूनाधिक क्यों है? क्यों घास खानेवाले स्तनधारियों में गाय भैंस के ऊपर के दाँत नहीं होते? क्यों घोड़े के ऊपर के दाँत होते हैं और क्यों कुत्तों के दूध के दाँत नहीं गिरते?

८. घोड़े के स्तन क्यों नहीं होते, बैल के स्तन अण्डकोशों के पास क्यों होते हैं और पुरुषों में स्तन किस प्रयोजन के लिए हैं?

९. घोड़े के पैर में परों के चिह्न क्यों हैं, बच्चा पैदा होते समय घोड़ी की जीभ क्यों गिर जाती है और दूसरे जानवरों की जीभ क्यों नहीं गिरती?

१०. स्त्रीजाति अस्थियों को क्यों उत्पन्न नहीं कर सकती?

११. यदि यन्त्र के सिद्धान्त पर प्राणियों का विकास हुआ, तो कछुवे और साँप की अपेक्षा पक्षी और स्तनधारी क्यों कम जीते हैं? इसी प्रकार अधिक जीनेवालों का कम जीनेवालों से गर्भवास कम क्यों है?

ये कठिनाइयाँ हैं, जो एक ही प्राणी से विकसित होकर अन्य प्राणी के बनने में सामने आती हैं। इनके सिवा और भी बहुत-सी बातें हैं जो आगे चलकर ज्ञात होंगी और ज्ञात होगा कि एक ही प्राणी परिस्थिति से विकसित होकर अन्य जाति नहीं हो सकता। कोई प्राणी अपनी मूलजाति से इतना दूर हो ही नहीं सकता कि समानप्रसव, समानभोग और समान आयु का क्रम भी बन्द हो जाए। स्त्री और पुरुष—नर और मादा—की बनावट ने परिस्थिति के सिद्धान्त का खण्डन कर

दिया है, अतएव यह बात समूल नष्ट हो गई कि एक ही मूल प्राणी परिस्थिति के कारण अनेक योनियों—जातियों—में विभक्त हो जाता है। आयु के प्रश्न से यान्त्रिक सिद्धान्त भी गिर गया है और सिद्ध हो गया है कि प्राणियों का विकास यान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार भी नहीं हुआ। यहाँ तक हमने इस भौगोलिक शास्त्र की समालोचना करके देखा कि यह शास्त्र यदि व्यर्थ की बातों को छोड़ दे तो यह शुद्ध वैदिक सिद्धान्त बन सकता है कि परमात्मा ने सब प्राणियों के पूर्वजों को अलग-अलग एक ही स्थान में पैदा किया, वहीं से वे सब देशों में फैले और परिस्थिति से यद्यपि कुछ भेद हुआ, परन्तु समानप्रसव, समानभोग और समान आयु अब भी स्थिर है।

लुप्त-जन्तुशास्त्र

विकासवाद के लेखक महोदय ने इसका वर्णन पृ० १०४ से १४० तक किया है। यहाँ हम उसी का सारांश देते हैं। आप कहते हैं कि पृथिवी की तहों में लुप्त हुए पत्थरमय प्राणियों की खोज करके वर्त्तमान समय के विद्यमान प्राणियों तक एक शृङ्खला बनाने का कार्य इस शास्त्र द्वारा होता है। शृङ्खला कड़ियों की होती है, परन्तु इसकी बहुत-सी कड़ियाँ नहीं मिलतीं। पुराने समय में उन कड़ियों को पूर्ण करनेवाले प्राणी विद्यमान थे, परन्तु आज वे नहीं हैं। कड़ियाँ क्यों लुप्त हो गईं? इस प्रश्न की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं। इस शास्त्र का यही तात्पर्य है कि उन लुप्त कड़ियों को ढूँढ-ढूँढकर इकट्ठा करना। इसमें बहुत-सा काम हुआ है और सफलता भी हुई है। विज्ञानवेत्ताओं का मत है कि विकास की सत्यता इसी शास्त्र पर अवलम्बित है। यदि इस शास्त्र ने लुप्त कड़ियाँ पूर्ण न कर दीं तो विकास पर विश्वास न रहेगा तथापि लुप्त-जन्तुशास्त्र से गर्भशास्त्र (जो आगे लिखा जाएगा) के प्रमाण अधिक बलवान् हैं, क्योंकि गर्भ में परिवर्तन स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं और समस्त परिवर्तन एक ही प्राणी के गर्भ में स्पष्ट हो जाते हैं। यह लुप्त-जन्तुशास्त्र एक सौ वर्ष से काम कर रहा है। इसने अब तक बहुत-सा कार्य कर डाला है। एल० म्यूज़ियम में घोड़े की, साउथ केन्सिग्हन में हाथीदाँतों की, ब्रसेल्स में इग्वेनोडस (Igwanodous) की और क्रिस्टल पेलेस, न्यूयार्क, लन्दन तथा जेना (Gena) में अन्य-अन्य प्राणियों की वंशपरम्परा प्रस्तरीभूत प्राप्त अस्थियों द्वारा बड़ी स्पष्ट रीति से एकत्र की गई है। घोड़े की समस्त कड़ियाँ ठीक हो गई हैं। आर्किओप्टेरिक्स Archaeopterix नामक एक ऐसा प्राणी मिला है, जिससे सर्पवर्ग और पक्षीवर्ग के बीच की कड़ी भी सिद्ध हो जाती है।

अस्थिविहीन और अस्थिसहित ऐसे दो प्रकार के प्राणी हैं। बिना हड्डीवाले मरकर मिट्टी में मिल जाते हैं, परन्तु हड्डीवालों की हड्डियाँ मिट्टी से बरबाद नहीं होतीं। वे हज़ारों वर्ष हो जाने पर भी मिलती हैं। इन्हीं प्राचीन प्रस्तरीभूत हड्डियों को 'फ़ौसील' कहते हैं। उचित था कि ये फ़ौसील सब कड़ियों को पूर्ण कर देते, परन्तु पृथिवी के बहुत बड़े भाग में समुद्र होने के कारण, शीत-उष्ण कटिबन्धों में सर्दी-गर्मी की अधिकता के कारण और अनेक प्राणियों के अत्यन्त निचली तहों में होने के कारण खुदाई का काम हो ही नहीं सकता। अच्छे स्थानों से भी हड्डियाँ प्राय: कुत्ते, गीध, शृगाल आदि उठा ले-जाते हैं। इस प्रकार के भौगर्भिक (Geological) और प्राणिविषयक (Biological) कारण हैं, जिनसे लुप्त-जन्तुशास्त्र के प्रमाण पूर्णतया नहीं मिल सकते। प्राकृतिक परिवर्तनों, अर्थात् नदी के कटाव से प्राणियों के शरीर बह जाते हैं, अग्निप्रपातों से जल जाते हैं, और पृथिवी के ऊपरी तहों के दबाव से निचले तह पिघल जाते हैं, अत: उनमें पड़े हुए फ़ौसील भी पिघल जाते हैं। रहे बिना हड्डीवाले, वे तो गलकर मिट्टी हो ही गये, अत: उनके मिलने की भी कोई आशा नहीं है।

पृथिवी की भिन्न-भिन्न तहों में जो अन्वेषण हुआ है उनमें प्राप्त प्राणियों के आपेक्षिक

समयों का निश्चय करना लुप्त–जन्तुशास्त्र का मुख्य कर्त्तव्य है, परन्तु पृथिवी की आयु का निश्चय करने के लिए वैज्ञानिकों के पास काल्पनिक सिद्धान्तों के सिवा कोई प्रबल साधन नहीं है। पृथिवी की आयु के विषय में भूगर्भशास्त्र के अनुसार प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक दश करोड़ वर्ष हुए। साइंसवाले सूर्य की गर्मी आदि से जो समय निकालते हैं वह इससे कम है, किन्तु पेरी नामक प्रोफ़ेसर ने रेडियम की खोज से जो समय निकाला है वह इससे बहुत अधिक है। भूगर्भविद्या के अनुसार पृथिवी के तहों की संख्या चार है। पहली, अर्थात् सबसे निचली तह में हड्डीरहित प्राणी रहे होंगे, परन्तु अब नहीं हैं। द्वितीय चट्टान में प्राणी हैं, परन्तु मत्स्य और मण्डूक की श्रेणी के ही हैं। तृतीय चट्टान में उन्नत प्राणी भी पाये जाते हैं और चतुर्थ में तो वर्त्तमानकाल के सभी प्राणी मिलते हैं। ये प्रमाण विकासवाद के उसी प्रकार पोषक हैं जिस प्रकार पहले तीन शास्त्रों द्वारा बतलाया गया है, अर्थात् पहले बिना हड्डीवाले फिर मत्स्य–मण्डूक आदि हड्डीवाले, फिर सर्प आदि, फिर पक्षी और अन्त में स्तनधारी हुए। जिस काल में जो प्राणी थे, वही थे और बड़े–बड़े दीर्घकाय थे। उन्हीं की अनेक उपजातियाँ विद्यमान थीं और भीमकाय थीं। जब मत्स्य थीं तब सब मत्स्य–ही–मत्स्य थीं और जब सर्प थे तब सब सर्प–ही–सर्प थे। उस समय अनेक जाति की छिपकलीयाँ थीं जो अस्सी–अस्सी मन की बतलाई जाती हैं। उनकी हड्डियों से यह बात सिद्ध की जाती है। हड्डियाँ ही नहीं प्रत्युत मिस्रदेश की ममी की भाँति अनेक प्राणियों के शरीर ऐसे मिले हैं जिनमें मांस, चर्म, नस सभी अवयव ज्यों–के–त्यों विद्यमान हैं। मत्स्यपुराण में उड़नेवाले सर्पों की कथा ग़लत नहीं है। इन सर्पश्रेणी के पक्षियों से ही पक्षियों की उत्पत्ति हुई है। जर्मनी में प्रस्तरीभूत घोंघों के कवच जो भिन्न–भिन्न तहों में पाये जाते हैं उनसे विकास का क्रम बहुत अच्छा दिखलाई पड़ता है। घोड़े के विकास के भी प्रमाण मिले हैं। भिन्न–भिन्न तहों में मिले हुए प्राणियों के पञ्जों और सुमों के मिलान से सिद्ध होता है कि घोड़ा किन प्राणियों से विकसित होकर इस रूप में आया है। ऊपर की तहों में वर्त्तमान आकार का ही घोड़ा मिलता है, परन्तु मध्यखण्ड में वह तीन और चार अंगुलीवाला मिलता है तथा अत्यन्त निचली तहों में उसका आकार शशक के समान और पूरे पाँच अंगुली के पञ्जेवाला मिलता है। जैसे गाय–भैंस की पाँच में से चार अंगुलियाँ रह गई हैं, उसी प्रकार इस जानवर की भी अंगुलियाँ क्रम–क्रम से लुप्त होकर बीच की अंगुली टाप बन गई है। घोड़ों के आदि पूर्वज का अब तक पता नहीं लगा, परन्तु ज्ञात होता है कि वह पाँच अंगुलीवाला था। इसी प्रकार हाथी और हिरन के आद्य वंशजों से लेकर वर्त्तमान समय तक की विकास परम्परा ज्ञात होती है।

लुप्त कड़ियों को अंग्रेज़ी में Missing Links कहते हैं। इसका प्रसिद्ध उदाहरण 'ओप्टेरिक्स' प्राणी है। यह पंखयुक्त उड़नेवाला सर्प है। इसका शिर छोटा, जबड़ा बड़ा और दाँत आदि तो सर्प के–से हैं, परन्तु पंख तथा पंख की पाँचों अंगुलियाँ, अर्थात् पञ्जे आदि पक्षियों के से हैं। इसी प्रकार का दूसरा प्राणी 'टेरोडेक्टिल' Teroductyl है। इसके हाथों की एक–एक अंगुली बहुत बढ़ी हुई है, जिससे पंख को सहारा मिलता है। इसमें सर्प, पक्षी और स्तनधारियों की थोड़ी–थोड़ी–सी बातें मिली हुई हैं। इसी प्रकार का हेस्पेरोर्निस तथा प्रथम कहे हुए कंगारु और ओपोसम आदि हैं जो इस शास्त्र की खोज के सहायक हैं।

इस शास्त्र का जो सारांश अब तक वर्णित हुआ है, उसमें विकासवाद को पुष्ट करनेवाली मुख्य सात बातें प्राप्त होती हैं—

१. इसी शास्त्र पर विकासवाद अवलम्बित है, परन्तु अनेक कारणों से सारी पृथिवी में दबे हुए प्राणियों की प्राप्ति नहीं हो सकती।

२. घोड़े की सब कड़ियाँ मिल गई हैं।

३. पशु ममी भी मिली हैं।

४. तहों के हिसाब से एक जाति से दूसरे जाति के प्राणियों के बनने के समय को बतलाना इस शास्त्र का काम है, परन्तु पृथिवी की आयु ही अभी सन्दिग्ध दशा में है।

५. तहों के हिसाब से भी पहले बिना हड्डीवाले, फिर हड्डीवाले पाये जाते हैं।

६. जिस समय जो प्राणी थे, वही-वही थे और भीमकाय थे।

७. उड़नेवाली सन्धियोनियाँ और मत्स्यपुराण के सर्प भी थे।

यदि दृष्टिदोष नहीं हुआ तो हम कह सकते हैं कि इस शास्त्र के वर्णन में यही बातें उपलब्ध होती हैं जो विकास की साधक-बाधक हैं। अब हम क्रम से इनकी आलोचना करते हैं।

१. इसी शास्त्र पर विकास अवलम्बित है, परन्तु सारी पृथिवी की जाँच नहीं हो सकती। हम भी मानते हैं कि पृथिवीभर की जाँच नहीं हो सकती और प्राप्त पृथिवी की पूरी खुदाई भी नहीं हो सकती। खुदाई होने पर भी उस स्थान पर प्राणियों की अविद्यमानता हो सकती है अथवा पिघल जाना आदि भी हो सकता है। सारांश यह कि सब प्राणियों की अस्थियाँ नहीं मिल सकतीं, तब इसी शास्त्र पर सब-कुछ अवलम्बित है, इसको इतना महत्त्व देने की क्या आवश्यकता है ? अस्थियों के मेल का सिद्धान्त ही ग़लत है। कल्पना करो कि एक प्रकार के प्राणी जैसेकि घोड़ा, गधा और ज़ेबरा आदि एक ही स्थान में मिलें तो विकासवाद यही कहेगा कि ये तीनों पञ्जर एक ही हैं, क्योंकि तीनों पञ्जरों में कुछ भेद नहीं है, परन्तु वास्तव में ये तीनों एक नहीं हैं। वे भिन्न-भिन्न जाति के हैं, क्योंकि घोड़े-गधे के योग से वंश नहीं चलता, अतएव केवल अस्थियों का मेल मिलाकर कड़ियों की शृङ्खला दिखलाना बहुत बड़ी ग़लती का काम है।

२. घोड़े की सब कड़ियाँ मिल गई हैं, यह बात भी ग़लत है। इसी प्रकार यह भी ग़लत है कि हिरन और हाथी आदि की भी कड़ियाँ मिल गई हैं। विकासवादियों को घोड़े की कड़ियों पर बहुत बड़ा विश्वास है, अतः हम यहाँ आधुनिक जाँच से दिखलाना चाहते हैं कि यह कितना मिथ्या सिद्धान्त है। विकासवादियों ने यूरोप और अमेरिका की खुदाई से मिले हुए भिन्न-भिन्न समयों के प्राणियों की एक विचित्र जाति के पञ्जरों से यह दिखलाने का प्रयत्न किया है कि ये सब अश्वजाति के पूर्वज हैं और अश्व के विकास की कड़ियाँ हैं। हक्सले महोदय ने एक बार अपने लेक्चर में इन जन्तुओं की चर्चा की थी तब से यह एक सिद्धान्त बन गया है[१], परन्तु वर्त्तमान जाँच से इसका खण्डन हो जाता है। सर जे० डबलू डासन ने अपने 'मार्डन आइडिया आफ़ इवोल्युशन' में अच्छी प्रकार सिद्ध कर दिया है कि अमेरिका और यूरोप के इन जन्तुओं में जिनको घोड़ों का पूर्वज कहा जाता है, परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं है[२]। घोड़ा बड़ा ही विचित्र

१. Firstly, there is the true horse. Next we have the American Pliocence form—Pliohippus. In the conformation of its limbs it presents some very slight deviation from the ordinary horse. Then comes Protohippus, which represents the European Hipparion, having one large digit and two small ones on each foot. —*The old Riddlle and the Newset Answer,* p. 94.

२. In America a series of horse-like animals has been selected, beginning with the Eohippus of the Eocene—an animal the size of a fox, and with four toes in front and three behind—and these have been marshalled as the ancestors of the fossil horses of America......... Yet all this is purely arbitrary, and dependent merely on a succession of genrea more and more closely resembling the modern horse, being procurable from successive Tertiary deposits often widely separated in time and place. In Europe, on the other hand the ancestry of the horse has been traced back to Palaeotherium—an entirly different form—by just as likely indications, the truth being that as the group to which the horse belongs culminated in the early Tertiary times, the animal has too many imaginary ancestors.

जानवर है। पाँच बातें उसको तृणाहारी पशुओं से पृथक् करती हैं—

१. उसके नीचे-ऊपर दोनों ओर दाँत होते हैं।

२. घोड़ी प्रसव के समय अपनी पहली जिह्वा गिरा देती है।

३. घोड़े के अगले पैरों की गाँठों पर चिह्न होते हैं, जिनको परों का निशान कहा जाता है।

४. नर घोड़ों के स्तन नहीं होते और

५. खुर के स्थान पर टाप होती है।

कहा जाता है कि घोड़ों के पूर्वजों के पैरों में भी पाँच-पाँच अंगुलियाँ थीं, पाँचों में से चार लुप्त हो गईं और पाँचवीं मध्यमा टाप बन गई, परन्तु जब गाय-भैंस की अंगुलियों का प्रश्न आता है तब कहा जाता है कि उनकी पाँचों में से चार विद्यमान हैं, एक बीच की लुप्त हो गई। जो विद्यमान हैं उनमें से दो तो फटे हुए दो खुर बतलाए जाते हैं और दो ऊपर उठी हुई मदनखुरी बतलाई जाती है, अर्थात् गाय-भैंस के खुरों में प्रत्यक्ष बीच की अंगुली का स्थान ख़ाली है, परन्तु जब घोड़े का प्रश्न आता है तब कहा जाता है कि सब अंगुलियाँ लुप्त हो गईं, केवल बीच की मध्यमा ही शेष रह गई है। कैसा उलटा-पलटा बिना नियम का विचित्र विकास है ? किसी में सब लुप्त होकर बीच की रहती है और किसी में सब रहती हैं, परन्तु बीच की लुप्त होती है।

ऊपर जैसे कहा गया था कि गधे, ख़च्चर, घोड़े और ज़ेबरे के पंजर में धोखा हो सकता है— वनबिलाव और चीते के पञ्जर में धोखा हो सकता है, इसी प्रकार प्रायः सभी पञ्चर मिलानवाली जातियों को एक ही जाति स्थिर करने में धोखा हो सकता है। मि० डे क्वाटरफ़ेगस अपने 'लेस अम्यूलस डे डारविन' ग्रन्थ में लिखते हैं कि 'घोड़ों की कड़ियाँ न तो इस प्रकार के ज़िन्दा जानवरों से पूरी होती हैं और न प्रस्तरीभूत अस्थिपञ्जरों से ही। ऐसे प्राणियों का अस्तित्व तो केवल कल्पनामात्र है'[१]। इसी प्रकार म्यूज़ियम की बात का खण्डन करते हुए नवम्बर सन् १९२२ के न्यू एज (New Age) नामक पत्र में जोन्स बोसन (Jones Bowson) कहते हैं कि 'ब्रिटिश म्यूज़ियम (अजायबघर) का अध्यक्ष डॉक्टर ऐथ्रिज (Ethridge) कहता है कि इस ब्रिटिश म्यूज़ियम में एक कण भी ऐसा नहीं है जो यह सिद्ध कर सके कि जातियों (species) में परिवर्तन हुआ है। विकासविषयक दश में नौ बातें व्यर्थ और निस्सार हैं। इनके परीक्षणों का आधार सत्यता और निरीक्षण पर बिलकुल अवलम्बित नहीं है। संसारभर में कोई भी सामान ऐसा नहीं है जो विकास की सहायता करता हो'। इस प्रकार की खोजों से, पुराने ज़माने का यह अनुमान अब रद्द हो गया है कि लुप्त-जन्तुशास्त्र की खोज से प्राणियों की कड़ियाँ मिल जाएँगी।

३. पशुओं की ममी भी मिली हैं। इनके विषय में कहा जाता है कि हज़ारों वर्ष पूर्व बर्फ़ के पड़ने से बहुत-से प्राणी ज्यों-के-त्यों दब गये थे और आज भी कभी-कभी मृत, किन्तु ताज़े

Both geneologies can scarcely be true, and there is no actual proof of either. The existing American horses, which are of European origin, are, according to the theory, descendants of Palaeotherium, not of Eohippus; but if we had not known this on historical evidence, there would have been nothing to prevent us from tracing them to the latter animal. This simple consideration alone is sufficient to show that such geneologies are not of the nature of scientific evidence.

—*Modern Ideas of Evolution*, p. 119.

१. The first thing to remark is that not one of the creatures exhibited in this pedigree has ever been seen, either living or fossil. Their existence is based entirely upon theory........ All the ancesteral groups more or less ill-represented in the actual organic world, do not suffice to fill up the gaps in his pedigree; from one stage to another there is sometimes too broad a gulf.

—*Les Emules de Darwin*, II. p. 76.

शरीर की दशा में मिल जाते हैं, मिल जाएँ। यह विषय हमारे इस प्रकरण में बाधक नहीं है। एक प्रकार से साधक तो है, क्योंकि उस ज़माने का कोई ऐसा प्राणी नहीं मिलता कि कड़ी बिठलाई जा सके।

४. पृथिवी की तहों के हिसाब से प्राणियों के युगों की कल्पना की जाती है, परन्तु विज्ञान की यह अधूरी शाखा भी विकासवाद को कभी हरा-भरा न होने देगी। अब तक पृथिवी की तहों की आयु का ठीक-ठीक हिसाब नहीं बैठा। पिछले पृष्ठों में हम दिखला आये हैं कि पृथिवी की आयु निकालने में कितना मतभेद है। यदि भूगर्भवादी थोड़ा समय बतलाते हैं तो रेडियमवाले उसे बहुत अधिक कहते हैं और तीसरे बीच ही में ग़ोते खाते हैं। हमारा विश्वास है कि यह हिसाब कभी भी सही नहीं होगा। यह जब कभी इन विधियों से निश्चित किया जाएगा तब अनुमान पर ही कल्पित होगा, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि सही आयु हमेशा जन्मपत्र—इतिहास—से ही जानी जाती है, कल्पना से नहीं, दाँत, बाल देखकर नहीं। तहों में दबे हुए प्राणियों का अन्तर जानने के लिए उचित था कि तहों की आयु सही होती, परन्तु जब पृथिवी की ही आयु निश्चित नहीं है तब एक तह के बाद दूसरे तहवाले प्राणी कितने दिन में हुए, यह जानने का अब और कौन-सा साधन हो सकता है? विज्ञानवेत्ता यह नहीं कह सकते कि मनुष्य का प्रादुर्भाव कितने वर्ष पूर्व हुआ और उसके पूर्व नरवानरों (वनमनुष्यों) को हुए कितने दिन हुए, अर्थात् विकासवादियों के पास समस्त कड़ियों की वर्षसंख्या मिलाकर पृथिवी की आयु के साथ मेल बैठाने का कोई साधन नहीं है, क्योंकि पृथिवी की अमुक बनावट किन साधनों से होती है और वे साधन किन कारणों से उत्पन्न होते हैं, ये बातें अब तक वर्त्तमान वैज्ञानिकों को नहीं सूझीं। यदि विज्ञान को जगत् की रचना के कारणों का ज्ञान होता तो पृथिवी की आयु तुरन्त ही निकल आती, परन्तु ये सब बातें मनुष्य के मस्तिष्क से सही-सही निकल ही नहीं सकतीं, अतः कल्पना द्वारा निकाला हुआ समय विश्वास योग्य नहीं है।

अगस्त सन् १९२३ के थियोसोफ़िकल पाथ में हैनसन् ने लिखा है कि 'नेवादा (Neveda) में जॉन टी रीड को एक आदमी का पदचिह्न और एक अच्छी प्रकार बना हुआ जूते का तला मिला है, जिसे वह अपने चट्टानविषयक भूगर्भविद्यासम्बन्धी ज्ञान से ५० लाख वर्ष का पुराना बतलाता है। इसमें ऐसी सिलाई, धागों के मरोड़, सीने के छेद और धागों के माप मिले हैं जो आजकल के अच्छे-से-अच्छे बने हुए जूतों से पक्के और सूक्ष्म हैं'। इस वर्णन से प्रकट होता है कि ५० लाख वर्ष पूर्व तो मनुष्य जूते पहनता था और लोहे की सुई बनाने, सूत बनाने और जूते को नापकर सिलाई करने का ज्ञान प्राप्त कर चुका था। विकासवाद के अनुसार तो यह ज्ञान उसको धीरे-धीरे बहुत दिन में आ पाया होगा, इसलिए उसकी उत्पत्ति का समय इस जूता के काल से बहुत दिन पूर्व ही मानना चाहिए। इस विचार के अनुसार हम यदि मनुष्य की उत्पत्ति को एक करोड़ वर्ष पूर्व माने और हैकल की History of Creation के पृष्ठ २९५ पर लिखी हुई प्राणियों की २१ कड़ियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति[१] मानें और प्रत्येक कड़ी को एक करोड़ वर्ष

१. *Monera.* 2. Single-celled Primeval animals. 3. Many-celled Primeval animals. 4. Ciliated planulae (*Planaeada*). 5. Primeval Intestinal animals (*Castraeada*). 6. Gliding Worms (*Turbelaria*). 7. Soft Worms (*Scolecida*). 8. Sack Worms (*Hamatega*). 9. *Acrania.* 10. *Monorrhina.* 11. Primeval fish (*Selachii*). 12. Salamander fish (*Pipneusta*). 13. Gilled Amphibia (*Sozobranchia*). 14. Tailed Amphibia (*Sozura*). 15. Primeval Amniota (*Protamnia*). 16. Primary mammals (*Promammalia*). 17. Marsupiala. 18. Semi-apes (*Prosimiae*). 19. Tailed narrow-nosed Apes. 20. Tail-less narrow-nosed Apes *(Men-like Apes).* 21. Pithecanthropus *(Speechless or Ape-like Man).* 22. Talking Man.

का समय दें तो प्रथम प्राणी की उत्पत्ति से मनुष्य की उत्पत्ति तक बाईस करोड़ और आज तक तेईस करोड़ वर्ष होते हैं। लोकमान्य तिलक के गीतारहस्य में डॉक्टर गेडॉ (Gadaw) की साक्षी से लिखा है कि 'मछली से मनुष्य होने में ५३ लाख ७५ हज़ार पीढ़ियाँ बीतीं'। इतनी ही पीढ़ियाँ अमीबा से मछली होने में भी बीती होंगी, अर्थात् अमीबा से आज तक लगभग एक करोड़ पीढ़ियाँ बीत चुकीं। कोई पीढ़ी एक दिन और कोई सौ वर्ष जीती है। यदि सबका औसत २५ वर्ष मान लें तो इस हिसाब से भी प्राणियों के प्रादुर्भाव के समय को आज तक २५ करोड़ वर्ष होते हैं। यह तो निश्चित ही है कि पृथिवी के हो चुकने के करोड़ों वर्ष बाद प्राणी हुए और प्राणियों की उत्पत्ति से आज तक २३ करोड़ वर्ष होते हैं, ऐसी अवस्था में यह संख्या विज्ञान और विकासवादियों की लगाई हुई संख्या से बहुत आगे निकल जाती है। विकासवाद के कर्त्ता विकासवाद में पृथिवी की उन तहों की आयु जिनमें प्राणी हैं केवल १० करोड़ वर्ष की लिखते हैं। ऐसी दशा में यह विकास समय की दृष्टि से कितना लचर है, यह स्पष्ट है।

५. पहले बिना हड्डीवाले फिर हड्डीवाले प्राणी हुए, अर्थात् पहले सादी फिर क्लिष्ट रचना के प्राणी हुए। सच पूछा जाए तो विकासवाद में इतनी ही तो सत्यता है, जिसको बार-बार लिखा जाता है। कौन कहता है कि पहले सादी रचना के प्राणी नहीं हुए। हम तो कहते हैं कि पहले सादी रचना के प्राणी हुए, परन्तु सादी से हमारा अभिप्राय अमीबा नहीं, किन्तु वनस्पति है। अमीबा सादी रचना का प्राणी नहीं है। वह तो बड़ी ही क्लिष्ट रचनायुक्त है। अपने शरीर में प्रत्येक स्थान से छिद्र कर लेना क्या कोई सहज बात है? अमीबा सादी रचना का नहीं है। सादी रचना की तो वनस्पति है, अतः वह पहले हुई। उसके बाद पशु हुए और फिर मनुष्य हुए। पशुओं में भी मांसाहारियों से पहले घास खानेवाले हुए। मांसाहारी जलचर, नभचर और स्थलचर तथा कीटों में भी पाये जाते हैं, अतः चारों प्रकार के पशुओं में मांसाहारी पहले नहीं हुए। इस प्रकार से सादी और क्लिष्ट रचना का यदि अभिप्राय हो तो हमें स्वीकृत है, क्योंकि हम तो भोग्य को सादी और भोक्ता को क्लिष्ट कहते हैं।

नीचली तहों में हड्डियाँ नहीं मिलतीं, इससे कहा जाता है कि पहले हड्डीवाले नहीं हुए। हम कहते हैं कि इस सिद्धान्त में बहुत दम नहीं है। पृथिवी के दबाब से निचली तहें पिघल जाती हैं और उनके साथ ही हड्डियाँ भी पिघल जाती हैं। यह बात विकासवाद पृष्ठ १२३ पर ही लिखी हुई है, अतः निचली तहों में हड्डियाँ नहीं मिलतीं, इसलिए पहले हड्डियाँ नहीं थीं यह स्थापना ही ग़लत है। यदि हम मान भी लें कि पहले बिना हड्डीवाले ही हुए तो इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि बिना हड्डीवाले ही हड्डीवाले हो गये। ऊपर हम अनेक प्रमाणों से लिख आये हैं कि हड्डी आप-ही-आप पैदा नहीं हो सकती, अतः बिना हड्डीवाले से हड्डीवाले उत्पन्न ही नहीं हो सकते। ऐसी दशा में इससे भी विकासवाद को कुछ लाभ नहीं हो सकता।

६. जिस समय जो प्राणी थे अपनी उपजातियों के साथ वही थे और भीमकाय थे। यदि यह बात सत्य हो तो उनसे पहले पैदा हुए प्राणियों को होना ही नहीं चाहिए, किन्तु सबसे प्रथम उत्पन्न हुए एक कोष्ठ के प्राणी भी अब तक विद्यमान हैं और अन्तिम प्राणी मनुष्य से भी अधिक हैं इससे भी ऊपर की बात सत्य ज्ञात नहीं होती। पृथिवी के खोदने से भी यह बात नहीं पाई जाती। जिस तह में जो हड्डियाँ पाई जाती हैं वह तह इस सिद्धान्तानुसार उस प्रकार के जन्तुओं से पटा रहना चाहिए था, परन्तु ऐसा नहीं है। बड़ी मुश्किल से खोदने पर भी बहुत थोड़े जन्तु एक प्रकार के मिलते हैं। रहा दीर्घकाय प्राणियों का होना। इसे हम भी सत्य मानते हैं। हमारा भी विचार है कि प्रारम्भिक प्राणियों में कुछ योनियाँ बहुत बड़े शरीरवाली थीं, किन्तु यह सिद्धान्त

तो विकासवाद के विरुद्ध है। विकास तो बहुत छोटे-छोटे प्राणियों से आरम्भ मानता है। छोटे प्राणी एकदम ऐसे दीर्घकाय हो गये कि छिपकली अस्सी मन की हो गई! वृक्ष ऐसे बढ़े कि खदानों से कोयला देनेवाले पहाड़ बन गये, परन्तु उसी नियम से आरम्भिक मनुष्य की लाशें ऐसी न मिलीं जो कम-से-कम ताड़ के वृक्ष के बराबर तो होतीं! क्यों छिपकली बढ़ी और आदि प्राणी अमीबा न बढ़ा तथा अन्तिम प्राणी मनुष्य भी न बढ़ा ? क्यों भैंस के बराबर चींटियाँ देखने को नहीं मिलतीं ? आज तो जीवित प्राणियों में कोई भी प्राणी वैसा भीमकाय नहीं है। हमारा तो विश्वास है कि जो योनियाँ भीमकाय थीं और जिनके वंश का अब पता नहीं मिलता वे सपरिवार नष्ट हो गईं, किन्तु विकासवाद कहता है कि ये भीमकाय प्राणी भी अमीबा का ही विकास थे और परिस्थिति प्रतिकूल होने से नष्ट हो गये। हम स्मरण दिलाते हैं कि यदि यह बात सत्य है तो विकासवाद का यान्त्रिक सिद्धान्त यहाँ फिर असत्य ठहर रहा है। यहाँ विकास स्पष्ट मान रहा है कि दीर्घकाय प्राणी नष्ट हो गये, परन्तु अल्पकाय जी रहे हैं। जिस प्रकार दीर्घजीवी कछुवे ने अल्पजीवी कबूतर को उत्पन्न किया उसी प्रकार भीमकाय छिपकली ने अल्पकाय छिपकली उत्पन्न की। कछुवा तो भला कहीं-कहीं पाया भी जाता है, परन्तु अस्सी मन की छिपकली का तो कहीं नाम-निशान भी नहीं है। ऐसी दशा में यह यन्त्रों का सुधार कहा जाएगा या बिगाड़। दीर्घ शरीरवाले प्राणी न किसी का विकास थे और न वर्त्तमान प्राणी किसी का ह्रास हैं। जिस कर्मफल के कारण जितना बड़ा शरीर जितने दिन के लिए उन्होंने पाया था वह भोगकर वे चले गये। अब जिन शरीरों के योग्य संसार है, वे शेष बचे हुए हैं और कर्मफल भोग रहे हैं। इसमें न कहीं विकास की बात है, न ह्रास की।

७. सन्धियोनियों और मत्स्यपुराण के सर्पों का सहारा बेकार है। विकासवादी सन्धियोनियों की सिद्धि पर ही विकास की सिद्धि माने बैठे हैं, किन्तु हम अनेक बार कह चुके हैं कि उस प्रकार के प्राणियों को सन्धियोनियाँ मानने का किसी को क्या अधिकार है ? विचित्र गढ़न को मध्यस्थ कड़ी (Missing Link) क्यों कहा जाता है और क्यों चिमगादड़ को पशु और पक्षी के बीच का माना जाता है ? पक्षी एकदम चिमगादड़ होकर स्तनधारी हो गये या धीरे-धीरे ? यदि धीरे-धीरे मानो तो इस प्रकार की आगे-पीछे की हज़ारों कड़ियाँ दिखलानी पड़ेंगी। यह मानने से काम न चलेगा कि हज़ारों कड़ियाँ आगे-पीछे दोनों ओर की नष्ट हो गईं। भला, पहली कड़ियाँ तो पिछली कड़ियों से निर्बल थीं—अयोग्य थीं—इसलिए नष्ट हो गईं, परन्तु पिछली क्यों नष्ट हो गईं, वे तो विकसित होकर सुदृढ़ बनी थीं। वर्त्तमान चिमगादड़ से उत्तर की कड़ियाँ सबल थीं वे तो नष्ट हो गईं, केवल वर्त्तमान चिमगादड़ ही अगली-पिछली पीढ़ियों को पीछे हटाकर स्वयं बच गया, इसे कौन मानेगा ?

पुराणों में भी उड़नेवाले सर्प लिखे हैं और उड़नेवाले सर्पों की हड्डियाँ भी मिल गई हैं, इसलिए विकास और पुराण दोनों की जम गई '**परस्परं प्रशंसन्ति अहोरूपमहो ध्वनिः**', परन्तु पुराणों में तो घोड़ों के उड़ने की भी बात लिखी है और पहाड़ों के उड़ने का भी वर्णन है। आल्हखण्ड में लिखा है कि महोबे के ऊदनसिंह का घोड़ा बेंदुला भी उड़ता था तो क्या यह सब सत्य है ? जिस प्रकार ये सब बातें मिथ्या हैं, वैसे ही साँप के उड़ने की बातें भी हैं। कोई-कोई तो अब भी कहते हैं कि जब साँप के पर निकल आते हैं तब वह मलयागिरि में जाकर चन्दन में लिपट जाता है और उड़ने के समय जो कोई उसकी छाया में पड़ जाता है उसे पक्षाघात हो जाता है, परन्तु क्या यह बात सत्य है ? नहीं। सत्य बात तो यह है कि वेदों में अश्व और सुपर्ण किरणों को कहते हैं। सुपर्ण पक्षी को भी कहते हैं। वह उड़ता भी है। इस अश्व और सुपर्ण की ऐक्यता

के कारण पुराणों ने जब सुपर्ण को उड़नेवाला लिखा तो अश्वों को भी उड़नेवाला लिख दिया। इसी प्रकार वेदों में बादलों और पहाड़ों का एक ही नाम होने से और बादलों के उड़ने से पुराणों में पहाड़ भी उड़नेवाले लिख दिये गये हैं। अहि भी बादल का नाम है, बादल उड़ता ही है, इसलिए अहि=साँप को भी उड़नेवाला लिख दिया है, परन्तु विकासवाद तो उड़नेवाले सर्पों, पक्षियों और बहुत-से स्तनधारियों के बाद मनुष्य की उत्पत्ति मानता है, ऐसी दशा में आप-ही-आप प्रश्न होता है कि जब मनुष्य उड़नेवाले सर्पों के लाखों वर्ष बाद हुआ तो सर्पों को उड़ते हुए देखा किसने, जिसके आधार पर पुराण लिखे गये ?

सत्य बात तो यह है कि मध्यस्थ कड़ियों की कल्पना ही मिथ्या है। सन्धियोनियाँ विकास की मध्यम कड़ियाँ नहीं हैं। वे स्वयं एक स्वतन्त्र जाति के प्राणी हैं जो कर्मफल भोग रहे हैं। यहाँ तक हमने इस लुप्त-जन्तुशास्त्र के एक-एक आरोप की आलोचना करके देखा कि विकासवाद को सिद्ध करनेवाली कोई बात प्राप्त नहीं होती। पिछले शास्त्रों के अनुसार यह शास्त्र भी केवल सादी रचना, क्लिष्ट रचना और मध्यम कड़ियों की ओर संकेत करके ही विकासवाद मान लेने के लिए दबाव डालता है, किन्तु ये दोनों बातें निर्जीव, असत्य और केवल कल्पना के आधार पर अस्तित्व रखनेवाली हैं, अतः प्रमाणकोटि में उनका समावेश नहीं हो सकता। इस शास्त्र द्वारा भी विकासवाद के लेखक कुछ सिद्ध नहीं कर सके। विकासवाद पृष्ठ १०८ पर वे स्वयं स्वीकार करते हैं कि 'जब हम लुप्त-जन्तुशास्त्र के इतिहास-प्रदर्शक पत्रों की ओर दृष्टि फेरते हैं तो प्रतीत होता है कि इस शास्त्र की अवस्था और भी अधिक शोचनीय है। लुप्त जन्तुशास्त्र द्वारा प्राप्त होनेवाले विकास-सम्बन्धी इतिहास के न केवल पृष्ठों-के-पृष्ठ, परन्तु अध्यायों-के-अध्याय लुप्त हैं, यही कारण है कि इस लुप्त-जन्तुशास्त्र के अन्वेषण अधिक भ्रम में डालनेवाले हैं। गर्भवृद्धिशास्त्र तथा लुप्त-जन्तुशास्त्र द्वारा विकास का जो संक्षिप्त इतिहास दिखता है उसमें अधिक सयौक्तिक तथा मान्य कौन-सा है, इसपर यदि विवाद हो तो हमें कहना पड़ेगा कि गर्भवृद्धिशास्त्र द्वारा मिलनेवाला इतिहास अधिक बलवान् है'। यहाँ ग्रन्थकार को स्वयं इस लुप्त जन्तुशास्त्र के प्रमाणों में अधिक सयौक्तिकता तथा मान्यता नहीं दिखती, अतः अब इस विषय में हमें भी कुछ नहीं कहना है। आगे गर्भशास्त्र को भी देखते हैं, जिसपर ग्रन्थकार को अधिक भरोसा है।

गर्भ-शास्त्र

विकासवाद में इस विषय का वर्णन पृष्ठ ८१ से ९९ तक है। उसी का सार हम यहाँ लिखकर आलोचना करेंगे। ग्रन्थकार कहते हैं कि गर्भधारण से जन्म तक और जन्म से अवस्था की पूर्णता तक प्राणियों की शरीर-रचना के जितने परिवर्तन हैं, उन समस्त परिवर्तनों का इस शास्त्र द्वारा बोध होता है। प्राणी जिस प्रकार अमीबा, हाइड्रा, जोड़वाला, मछली, मण्डूक, सर्पणशील, पक्षी और स्तनधारी हुआ है उसी प्रकार गर्भ में भी ये समस्त परिवर्तन दिखलाई पड़ते हैं। वही समस्त निरीक्षण इस शास्त्र द्वारा दिखलाये जाते हैं। सबसे प्रथम मण्डूकों के इतिहास के विकास के प्रमाण उपस्थित करते हैं। पानी में पड़े हुए पत्तों या लकड़ी पर चिपटे हुए जो लसदार, काले, चिकने पिण्ड दिखलाई पड़ते हैं, वही मण्डूकों के अण्डे हैं। तीन चार दिन में ये पिण्ड पूँछदार और चपटे शिरवाले हो जाते हैं। फिर इनके गले के पास मछलियों की भाँति श्वास लेने के लिए गलफड़ बन जाते हैं। इतनी क्रिया अण्डे में ही हो जाती है। इसके पश्चात् अण्डों को फोड़कर बच्चे पानी में तैरने लगते हैं। ये उस समय गलफड़ों से ही श्वास लेते हैं और पूँछ भी होती है। एक प्रकार से ये मछली जैसे ही होते हैं। शीतऋतु के आते ही ये बन्द जगहों

में छिप जाते हैं और वर्षा के आरम्भ होते ही फिर बढ़ने लगते हैं। धीरे-धीरे पूँछ लुप्त हो जाती है, पैर फूट निकलते हैं, फेफड़े बनने लगते हैं और गलफड़ों से श्वास लेना बन्द हो जाता है। अब वे पूरे मेंढक बन जाते हैं। यह इतिहास बतलाता है कि प्रत्येक प्राणी को अपनी उन्नति का—विकास का पूरा चक्र घूमना पड़ता है, अर्थात् जिस-जिस जाति में घूमता हुआ वह प्राणी जिस अन्तिम जाति में पहुँचा है उस पहुँचनेवाले की सन्तति को भी गर्भ से लेकर वृद्धि तक के समय में ही वह सारा चक्र घूमना पड़ता है।

मुर्ग़ी का इतिहास भी यही बतलाता है। मुर्ग़ी का अण्डा भी एक कोष्ठ से ही आरम्भ होता है। इसके अण्डे के भीतर ही मछलियों के-से गलफड़ होते हैं। गलफड़ की ये दर्जें अण्डे से बाहर आने पर भी गले के पास बनी रहती हैं। इससे भी यही अनुमान निकलता है कि पक्षी भी मछली और मण्डूकों में होता हुआ ही पक्षी हुआ है। यद्यपि गर्भ के परिवर्तन बहुत संक्षिप्त होते हैं तो भी वे पूर्व पीढ़ियों का सब इतिहास दिखला देते हैं। शूकर, गौ, शशक और मनुष्य आदि स्तनधारियों के गर्भ सब एक ही प्रणाली से विकसित होते हैं। मानवगर्भ भी पहले मछली, फिर मण्डूक, फिर सर्प, फिर पक्षी के आकार का होकर तब स्तनधारियों की अवस्था में आता है। इससे यही ज्ञात होता है कि मनुष्य का इन योनियों से सम्बन्ध है। चाहे लाखों वर्ष लग गये हों, परन्तु मनुष्य की उन्नति अमीबा से ही हुई है। यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। इससे अधिक प्रकृति हमें और क्या प्रमाण दे सकती है। कीड़ों के प्रथम पिण्ड सब एक ही समान होते हैं। उस दशा में यह नहीं पहचाना जाता कि यह आकार तितली, भौंरा, ततैया अथवा कानखजूरे में से किसका है। तितली और रेशम के कीड़े जो अपनी वृद्धि में अनेक रूप दिखलाते हैं। वे भी प्राथमिक दशा में एक ही समान रहते हैं। इससे यही अनुमान होता है कि ये सब एक ही पूर्वज की सन्तति हैं और अपनी पीढ़ियों का पूरा चक्कर लगा रहे हैं। गर्भ के बढ़ने का क्रम यह है कि वह पहले एक कोष्ठवाला होता है फिर एक के दो हो जाते हैं। दो के चार, चार के आठ, और आठ के सोलह कोष्ठ हो जाते हैं, अर्थात् कोष्ठ सदैव दूने क्रम से बढ़ते हैं। इसी प्रकार अण्डा भी दूने क्रम से बढ़ता है। अमीबा एक कोष्ठधारी और हाइड्रा दो कोष्ठधारी है, अर्थात् प्राणियों की वृद्धि भी दूने क्रम से ही होती है। इस शास्त्र से भी यही सूचित होता है कि पहले प्राणी सरल रचना के और पश्चात् क्लिष्ट रचना के होते हैं। यहाँ तक के इस सारांश से हम विकासवाद को पुष्ट करनेवाली दो ही बातें पाते हैं—

१. जिस नियम से प्राणियों की उत्पत्ति होती है वही नियम गर्भ का भी है। एक कोष्ठवाले अमीबा से बढ़कर जिस प्रकार समस्त प्राणी बने हैं उसी प्रकार गर्भ भी एक कोष्ठ से आरम्भ होकर मछली, मण्डूक, सर्प और पक्षियों की आकृतियों में घूमता हुआ स्तनधारी होता है।

२. मुर्ग़ी और मेंढ़क का इतिहास इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। शूकर, शशक, गौ और मनुष्य के गर्भों के मिलान से भी यही बात पाई जाती है। कीड़ों के आरम्भिक पिण्ड भी यही सूचित करते हैं, अर्थात् गर्भ के बढ़ने का क्रम बतलाता है कि किस प्रकार परिवर्तन होकर एक जाति से दूसरी जाति का निर्माण होता है और किस प्रकार गर्भ, अपनी पिछली पीढ़ियों का चक्कर लगाकर ही वर्त्तमान आकृति का प्राणी बनाता है। इन दोनों बातों का सारांश इतना ही है कि पहले सादी रचना और फिर क्लिष्ट रचना होती है तथा गर्भावस्था में प्रत्येक प्राणी सादी से क्लिष्ट रचना का चक्कर लगा जाता है। यहाँ हम क्रम से इन दोनों बातों की आलोचना करते हैं।

१. हम आरम्भ से ही इस बात को कहते हुए आ रहे हैं कि पहले सादे और फिर क्लिष्ट प्राणी उत्पन्न होते हैं, परन्तु सादों से ही क्लिष्ट नहीं बन जाते प्रत्युत वे अपने-अपने भिन्न-भिन्न

आदि पूर्वजों से ही उत्पन्न होते हैं। इसका कारण भोग्य और भोक्ता का सम्बन्ध है। गर्भ में जो सादी रचना के अनन्तर क्लिष्ट रचना दिखलाई पड़ती है उसका कारण विकास की उत्पत्ति का पुनर्दर्शन नहीं है, प्रत्युत यन्त्र और क्लिष्ट पुर्ज़ों के बनाने का एक साधारण नियम है। कोई भी यन्त्र बनाया जाए, उसके बारीक और क्लिष्ट पुर्ज़ों के अटकाने के लिए एक सीधा-सादा आधार अवश्य चाहिए। उदाहरण के लिए वर्त्तमान चरख़े को लीजिए। चरख़े के कारीगर ने गरारी में तख़्तियों को डालकर रक्खा। किस चीज़ में रक्खा? साधारण सीधे एक रूल जैसे डण्डे में। इसके बाद दो खूँटे गाड़े गये। कहाँ गाड़े गये? एक सीधी-सादी पटिया पर। यह पटिया ही इस चरख़ा-यन्त्र का मूल है। इसी में खूँटे गाड़े गये और इसी में वह यन्त्र रक्खा गया जो एक गरारी के साथ तख़्तियों को जोड़कर पहले रक्खा गया था। तकुवा के पासवाले छोटे-बड़े सब पुर्ज़े भी एक छोटी-सी पटिया में ही गड़े हुए हैं, अर्थात् सबसे पहले एक सीधा-सादा मज़बूत आधार बनाया जाता है उसी पर सूक्ष्म तथा क्लिष्ट पुर्ज़े गाड़े जाते हैं। चाहे जो यन्त्र हो वह इसी सिद्धान्त पर बनता है। मनुष्य का शरीर भी एक यन्त्र है। इसके सूक्ष्म और क्लिष्ट पुर्ज़ों के लिए पहले पीठ की हड्डी ही बनाई जाती है। उसी को विकासवादी मछली कहने लगते हैं। उसी में जब शिर और हाथ-पैर जोड़े गये तो उसे मण्डूक कहने लगे। क्या शिर और हाथ-पैर तथा हृदय और फुफ्फुस आदि यन्त्र बिना पीठ की हड्डी के किसी प्रकार एक में जोड़े जा सकते हैं? क्या विकासवादी कोई ऐसा यन्त्र दिखला सकते हैं जिसके सूक्ष्म और क्लिष्ट पुर्ज़े किसी आधार पर रक्खे बिना यन्त्र होकर काम दे रहे हों? क्या वे मनुष्य-शरीर के अनेक अवयवों को, बिना पीठ की हड्डी के, अलग-अलग रखकर, शरीरपञ्जर को काम के योग्य बना लेंगे? कभी नहीं। छोटे-छोटे कीड़ों में भी जोड़ों का आधार बनाया गया है। यही आधार रीढ़ की हड्डी का काम देता है, अतएव जो रचना गर्भ में होती है वह प्राणियों की पीढ़ियों का चक्कर नहीं प्रत्युत यन्त्र-रचना के नियमों का चक्कर है और अत्यन्त आवश्यक है।

यह हम पहले ही लिख आये हैं कि कोई भी प्राणी सादा नहीं है। जिस अमीबा को बिलकुल सादा कहा जाता है वह महान् क्लिष्ट है। किस प्रकार उसके समस्त सूक्ष्म अवयव उतने ही छोटे से स्थान में रक्खे गये हैं! बालों में होनेवाली लीख को या खटमल को या चींटी को सादी रचनावाला प्राणी किस प्रकार कहा जा सकता है? उसमें मनुष्यशरीर से अधिक कारीगरी और क्लिष्टता है, अतएव प्राणियों में न कोई सादा है और न कोई क्लिष्ट। हमारी इस बात को पाश्चात्य वैज्ञानिक भी दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहते हैं। 'मेन्युअल ऑफ़ ज्यूलोजी' के पृष्ठ ९-१२ में मि० मिकलसन कहते हैं कि 'अमीबा नामक क्षुद्र जन्तु एक अकल्प्य सूक्ष्म कण ही है, परन्तु उसकी पाचनशक्ति क्लिष्ट-से-क्लिष्ट रचनावाले प्राणियों की पाचनक्रिया के यन्त्रों से कम नहीं है। यह अपने अन्दर भोजन लेता है और विना किसी पृथक् अवयव के पचा जाता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वह अपना भोजन पसन्द करने की अद्भुत शक्ति रखता है। वह भोजन में से पोषक भाग रख लेता है और अनुपयोगी भाग निकाल डालता है'। इसी प्रकार के सूक्ष्म जन्तुओं के विषय में 'प्राणियों का वर्गीकरण' की भूमिका पृष्ठ १०-११ में हक्सले कहते हैं कि 'ग्रेगारिनीडा वर्ग के जन्तुओं से नीचे दर्जे के अन्य जन्तु नहीं हैं, परन्तु रीजोपोडा वर्ग के सूक्ष्म जन्तु उनसे भी अधिक सादी रचना के हैं। सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखा गया है कि इनमें शरीर जैसी कोई गढ़न होती ही नहीं। ये तो पतले किये हुए सरेस के एक परमाणु-जैसे ही हैं, परन्तु इनमें भी जीवनशक्ति के समस्त गुण विद्यमान हैं। ये अपने ही जैसे प्राणी से उत्पन्न होते हैं, भोजन पचा सकते हैं और हलचल कर सकते हैं। यही नहीं किन्तु ये अपने घुसने

की छींट, जो बिलकुल ही क्लिष्ट रचनायुक्त होती है, बना लेते हैं। जेली का यह एक कण प्राकृतिक शक्तियों को इस प्रकार क़ाबू में करके ऐसी गणितयुक्त रचना (छींट) बना सकता है, यद्यपि स्वयं रचनारहति और अवयवहीन है। मेरे लिए यह विषय असाधारण सारयुक्त है'। इन बातों से कौन नहीं जान सकता कि इनके अन्दर क्लिष्ट रचना नहीं है? सादी और क्लिष्ट रचना का अभिप्राय ही दूसरा है। सादे का तात्पर्य भोग्य और क्लिष्ट का तात्पर्य भोक्ता है। भोग्य भोक्ता में ज्ञान और कर्म का सिद्धान्त काम कर रहा है। ज्ञान और कर्म के सिद्धान्त से वृक्ष ज्ञान और कर्म दोनों से हीन हैं। पशु ज्ञानहीन, किन्तु कर्मयुक्त हैं और मनुष्य ज्ञान-कर्म दोनों से युक्त हैं। इसीलिए इनमें एक दूसरे का भोग्य और भोक्ता है। वृक्ष कर्म-ज्ञान शून्य हैं, अतः कर्मवाले पशुओं के भोग्य हैं, किन्तु मनुष्य ज्ञान और कर्म दोनों में श्रेष्ठ है, अतः कर्म से वृक्षों पर और ज्ञान से पशुओं पर शासन करता और उनको भोगता है। तात्पर्य यह कि पहले वृक्ष, फिर पशु, फिर मनुष्य को उत्पन्न होना चाहिए और इसी क्रम से सृष्टि हुई है।

विकासवादी यह सिद्ध करते हैं कि पहले सादी रचनावाले हुए फिर क्लिष्ट रचनावाले। यद्यपि इसको वे अच्छी रीति से बतला नहीं सकते तथापि हम इसे स्वीकार करते हैं, परन्तु क्या इस स्थूल बात को भी सिद्ध करने की आवश्यकता है—बार-बार कहने की आवश्यकता है कि वृक्ष के बाद पशु हुए? क्या कभी किसी युग में कोई ऐसा भी मूर्ख था जिसने यह कहा हो कि वनस्पति के पहले पशु हुए? अथवा वनस्पति या पशुओं के पहले मनुष्य हुए? किन्तु हाँ, यह विकासवादी कहते हैं कि वनस्पति और पशु साथ-ही-साथ हुए। हम कहते हैं यह ग़लत है। वृक्ष पहले हुए। यदि प्राणियों की उत्पत्ति का चक्कर गर्भ में लगता है तो गर्भ में मनुष्य प्राणी शिर के बल उलटा क्यों लटका रहता है? विकासवादी नहीं जानते, परन्तु यह वृक्षों का नमूना है कि ज्ञान-कर्मरहित वृक्ष अधोशिरवाले हैं। पैदा होकर लड़का आड़ा-आड़ा हाथ-पैर से चलता है, यह कर्मयुक्त ज्ञानरहित पशु दशा है, परन्तु ज्ञान उदय होते ही वह खड़ा होकर मनुष्य हो जाता है, यह कारण है गर्भ में नीचे शिर का और यह प्रमाण है वृक्षों के पहले उत्पन्न होने का। जब से नवीन विज्ञान ने खोज का फैलाव किया है तब से विद्वान् मानने लगे हैं कि पहले वनस्पति हुई[१]। कहने का तात्पर्य यह कि सादी और क्लिष्ट रचना का जो यथार्थ भाव है, वह यह है।

२. दूसरी बात गर्भ में पिछली योनियों के चक्कर की है। अभी ऊपर मुर्ग़ी का इतिहास दिया गया है। मुर्ग़ी पक्षीजाति का प्राणी है। इसके पूर्व मछली, मण्डूक और सर्पजाति के प्राणी हो चुके हैं। मुर्ग़ी के गलफड़ों ने मछली का आकार दिखलाया और पैर तथा शिर के फूटने पर मान लो कि उसने मेंढक की नक़ल भी कर दी, परन्तु तीसरी नक़ल सर्पणशीलों की उसने क्या दिखलाई? पक्षी सर्पों के बहुत निकट हैं। वे उन्हीं से पक्षी हुए हैं, अतएव चाहिए था कि उनमें सर्पणशीलों के गुण विशेष हों, परन्तु क्या सर्पणशीलों के दाँत पक्षियों के मुँह में दिखलाई पड़ते हैं? चिमगादड़ को छोड़कर अन्यों में नहीं, परन्तु चिमगादड़ सर्पणशीलों से पक्षी नहीं हो रहा, वह तो पशुओं से पक्षी हो रहा है, क्योंकि उसके कान और स्तन हैं। इससे ज्ञात हुआ कि मुर्ग़ी में सर्पणशीलों के गुण नहीं है। तब पिछली योनियों का चक्कर कैसा? मुर्ग़ी के गले के पास केवल दर्ज़ों को देखकर इतना बड़ा हवाईकिला खड़ा करना कितना भयंकर है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है।

---

१. 'Supposing the existence of life of some kind, it is more likely to have been vegetable than animals'. As plants are primarily the food of animals, there is reason for believing that the idea of life was first expressed in a plant. —*Mannual of Geology*, P. 742.

मण्डूक की जो वृद्धि होती है वह बिलकुल यान्त्रिक सिद्धान्त के अनुसार ही होती है। मण्डूक यदि मछली होता तो उसके पैर न होते। गलफड़ों से वह श्वास उस समय लेता है, जिस समय बढ़ता है। उसकी यह वृद्धि की अवस्था गर्भावस्था ही है। गर्भावस्था में तो मनुष्य का बच्चा भी नाल के द्वारा प्राण और पोषण पाता है तो क्या वह भी मछली ही है ? यदि ऐसा होता तो सभी बच्चे पहले गलफड़ों से ही श्वास लेते, क्योंकि सभी का विकास मछली से हुआ है, परन्तु मनुष्य और पशुओं के बच्चे माता से लगे हुए नाल के द्वारा प्राण पाते हैं, ऐसी अवस्था में विकास का प्रमाण व्यापक नहीं रहता, क्योंकि गर्भ के नियम दूसरे और बाहर के दूसरे हैं।

पशुओं और मनुष्यों के गर्भों की तुलना भी वही यान्त्रिक सिद्धान्त बतलाती है। हम सब पहले रीढ़ की हड्डी से ही आरम्भ करते हैं, उसी को विकासवादी मछली की शकल बतलाते हैं। पैर और शिर के होते ही उसे मण्डूक कहने लगते हैं, परन्तु सर्पणशीलों के दाँत और उड़नेवाले के पर, मनुष्यों और पशुओं के गर्भ में नहीं देखे गये। इस चक्कर में इन दोनों विभागों के लक्षण क्यों नहीं दिखते ? विकासवादियों के पास इसका उत्तर नहीं है। इस गर्भवृद्धि से न तो यही बात सिद्ध होती है कि यह क्रम से प्राणियों की उत्पत्ति की नक़ल है और न यही सिद्ध होता है कि यह पिछली पीढ़ियों और जातियों का चक्कर ही है।

हमने तुलनात्मक शरीररचना-शास्त्र में जैसे आयु की अनियमता का दृष्टान्त दिया था उसी प्रकार प्राणियों के गर्भवास की अवधि में भी कोई नियम नहीं है। स्तनधारियों में घोड़ी १२ महीने में, गाय ९ महीने में, भैंस दस महीने में, वानर ४ महीने में और मनुष्य ९ महीने में बच्चा पैदा करता है। चार महीनें से १२ महीने तक की अवधि है। यह नियम न तो शरीर की सुदृढ़ता पर है और न आयु पर। घोड़ा मनुष्य से बल में अधिक है, परन्तु आयु में कम और गर्भवास में अधिक है। कछुवा आयु में अधिक है, बल में कम है और गर्भवास में तो बहुत ही कम है। क्या कोई विकासवादी इस अव्यवस्थित क्रम का कारण बतला सकता है ? नहीं।

गर्भ में बँधी हुई गठरी के समान रहने पर भी कोई अङ्ग न तो एक-दूसरे से चिपकता है, न निकम्मा होता है, यद्यपि बाहर ऐसा होने पर सब अङ्ग निकम्मे हो जाते हैं। क्या इस भेद का कारण कोई बतला सकता है ? नहीं। गर्भ की विचित्रता और महत्ता तथा उस कारीगर की कारीगरी क्या तुच्छ मनुष्य की बुद्धि में आने योग्य है ? ऊपर जिन प्राणियों के चक्कर पर गर्भ का इतना बड़ा नियम कह डाला गया उस इतिहास पर विज्ञानवेत्ताओं को ही पूरा सन्तोष नहीं है। विकासवाद के लेखक पृष्ठ ९ पर स्वयं कहते हैं कि 'जैसाकि हक्सले तथा हैकल ने लिखा है कि यह इतिहास इतना संक्षेप करके लिखा हुआ है कि इसके प्रत्येक वाक्य का भाष्य और उनपर व्याख्या करने में तो बड़ा विस्तृत ग्रन्थ बन जाएगा। इस अण्डस्थ वा गर्भस्थ वृद्धि में जो इतिहास लिखा हुआ है उसमें कभी-कभी पंक्तियाँ, पूरे पैराग्राफ़ और कभी पृष्ठों-के-पृष्ठ छूटे हुए हैं। इतना ही नहीं, परन्तु कभी-कभी प्रक्षिप्त प्रकरण भी इसमें डाले हुए दृष्टिगोचर होते हैं'। यह है उस शास्त्र की दशा, जिसपर पूरा भरोसा था। जिस प्रकार लुप्त जन्तुशास्त्र में अध्याय-के-अध्याय लुप्त बतलाये गये थे उसी प्रकार यहाँ भी पृष्ठ-के-पृष्ठ लुप्त हैं।

भला! लुप्त जन्तु में तो यह बहाना था कि सारी पृथिवी खोदी नहीं गई, किन्तु गर्भ-इतिहास के पन्ने-के-पन्ने क्यों लुप्त हैं ? गर्भ-परम्परा तो अमीबा से लेकर मनुष्यपर्यन्त चली आ रही है फिर बीच में पन्ने क्यों लुप्त हुए।

हक्सले महोदय यह भी कहते हैं कि उस इतिहास में प्रक्षेप भी किया हुआ है। ग़जब हो गया! यदि गर्भ-इतिहास प्राणियों के विकासक्रम की पाठमाला है तो इसमें प्रक्षेप कहाँ से

आया ? बीच में गर्भ कर्मरहित क्यों भासित होने लगा ? मण्डूक से सर्पणशील होकर पक्षी होना था, परन्तु सर्प की अवस्थाओं का पता नहीं। बीच में पुच्छलतारे की आकृतियाँ क्यों दिखने लगीं ? इस शास्त्र में तो ऐसा न होना चाहिए। इस भयानक अड़चन का जवाब विकासवाद के ज्ञाता पृष्ठ ९१ पर यह देते हैं कि 'इस गर्भस्थ अवस्था के इतिहास में जहाँ-जहाँ समानताएँ समाप्त होकर भिन्न-भिन्न मार्गों का अवलम्बन किया हुआ प्रतीत होता है, वहाँ वे-वे स्थान बतलाये हैं कि यहाँ-यहाँ प्राणियों ने परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न मार्गों में चलना आरम्भ किया'। आपके कहने का तात्पर्य यह है कि घास खानेवाले स्तनधारियों के बाद जहाँ से मांस खानेवाले स्तनधारियों की मांस खाने की प्रवृत्ति हुई, वहीं प्रक्षेप प्रतीत होता है। यह बड़ी भद्दी रफ़ूगरी है। क्या घास खानेवाले एकदम मांस खानेवाले हो गये ? क्या गाय के बछड़ों में से एक भेड़िया हो गया ? यदि विकासवाद ऐसा मानता हो तब तो उसे आँख के सामने ही सब-कुछ सिद्ध करना चाहिए, परन्तु यदि वहाँ भी क्रम-क्रम से विकास माना जाए तो इस प्रकार का भेद न पड़ना चाहिए। मछली से मेंढक होना जितना कठिन है, उतना बछड़े का भेड़िया होना कठिन नहीं है।

ऊपर विकासवाद ने यह दिखलाने का यत्न किया है कि मेंढक गर्भ में मछली बन गया, अत: अब उपशाखाओं में चलकर पृथक् मार्ग अवलम्बन करने का बहाना बतलाना ठीक नहीं। अच्छा, यह तो प्रक्षेप का बहाना हुआ, परन्तु पृष्ठों-के-पृष्ठ लुप्त क्यों हैं ? मुर्ग़ी गर्भावस्था में सर्पणशीलों के दाँत क्यों नहीं दिखलाती ? कुछ भी उत्तर नहीं। सत्य बात तो है कि प्रत्येक जाति के गर्भ स्वतन्त्र रीति से अमुक-अमुक समय में बनते हैं। वहाँ न प्राणियों की पीढ़ियों का चक्कर है, न जातियों का इतिहास है। हार मानकर अन्त में विकासवाद के लेखक भी पृष्ठ ८१ पर कहते हैं कि 'किसी प्राणी की गर्भावस्था का इतिहास पूर्णतया हम नहीं जानते और न किसी प्राणी की गर्भावस्था के सब परिवर्तन देखे गये हैं अथवा न उनका सार्थक कारण पूर्णतया बतलाया जा सकता है'। चलो छुट्टी हुई। जिस शास्त्र पर इतना भरोसा था वह भी गया, अत: अब हम भी इसकी समालोचना यहीं समाप्त करते हैं और आगे मनुष्य की उत्पत्ति पर विचार करते हैं।

मनुष्य की उत्पत्ति

अब तक विकास का स्वरूप और उसके प्रमाणों का वर्णन हुआ और समालोचना से उसका जो कुछ परिणाम निकला उसे दुबारा कहने की आवश्यकता नहीं। यह न समझना चाहिए कि विकास और उसके प्रमाण बतलाने में विकासवाद के लेखक ने कोई कोताही की है। वे स्वयं पृ० १५४ पर कहते हैं कि 'प्राणियों की शरीर-रचना, वृद्धि तथा चट्टानवर्ती प्रस्तरीभूत शरीरों का जिस प्रकार हमने वर्णन किया है, उससे यदि अधिक विस्तारपूर्वक तथा अधिक सूक्ष्मता के साथ हम वर्णन करते तथापि हमारा यह विचार है कि विकास की वास्तविकता तथा प्रत्यक्षता अच्छे प्रकार कदाचित् ही स्पष्ट होती'। सत्य है, विकासवाद के पास केवल तीन ही बातें हैं—एक तो पृथिवी की निचली और ऊपर की तहों से यह दिखला देना कि पहले सादी रचना हुई और फिर क्लिष्ट। दूसरी यह कि गर्भ में प्रत्येक प्राणी उसी सादी रचना से आरम्भ करके पूरे शरीर, अर्थात् क्लिष्ट रचना तक अपनी पूर्वजातियों का चक्कर लगा आता है और तीसरी यह है कि मध्यम कड़ियाँ भी देखने को मिलती हैं। बस, इसके सिवा विकासवाद के पास और कुछ भी सामग्री नहीं है। विकासवाद के लेखक ने ही लुप्त-जन्तुशास्त्र की सार्थकता पर असन्तोष प्रकट किया है और गर्भशास्त्र के लिए भी कह दिया है कि इसका पूरा ज्ञान नहीं है, क्योंकि गर्भ-इतिहास के पृष्ठ लुप्त हैं। ऐसी दशा मे मध्यम कड़ियों का कुछ मूल्य ही नहीं रहता, अतएव आप जो कहते

हैं कि 'विकास की वास्तविकता तथा प्रत्यक्षता कदाचित् ही स्पष्ट होती' बहुत ठीक है।

आगे हम मनुष्य के विकास पर ग्रन्थकार का मत लिखकर समालोचना करते हैं। ग्रन्थकार ने इस प्रकरण को पृष्ठ २०० से २६० तक लिखा है। जिसका सारांश इस प्रकार है—

१. ऊपर के वर्णन के पश्चात् अब हमारा अधिकार और कर्त्तव्य हो गया है कि मनुष्य की उत्पत्ति पर भी विचार करें, किन्तु मनुष्य ने जो अपने आपको श्रेष्ठ मान लिया है, यह एक बड़ी अड़चन है।

२. तुलनात्मक दृष्टि से मनुष्य की शरीर-रचना, गर्भ-परिवर्तन, मनुष्य के प्राप्त हुए चट्टानवर्ती अवयव और यन्त्र की भाँति मनुष्य का भी उन्हीं प्राकृतिक नियमों के अधीन रहना, जिनके अधीन अन्य प्राणी हैं।

३. मनुष्य का शरीर भी उन्हीं पदार्थों से बना है, जिनसे अन्य प्राणी बने हैं। उसके भी वही आठ संस्थान हैं। शरीर कोष्ठों से और कोष्ठ प्रोटोप्लाज़्म से बने हैं। जिस तत्त्व पर पृष्ठवंशधारियों की रचना हुई है, उसी तत्त्व पर मनुष्य की भी रचना है, अतः पृष्ठवंश के स्तनधारियों में ही मनुष्य की भी गिनती करनी चाहिए। स्तनधारी श्रेणी की बन्दरकक्षावाली वनमनुष्य उपजाति में ही मनुष्य का स्थान है।

४. वानरकक्षा की आठ विशेषताएँ हैं—

(क) गर्भ नालझिल्ली से सम्बन्ध रखता है।

(ख) हाथों और पैरों के अँगूठे चारों ओर फिर सकते हैं, जिससे पैर से भी वे पकड़ सकते हैं।

(ग) ये वृक्षों पर रहते हैं।

(घ) इनके भी दूध के और स्थिर दाँत होते हैं।

(ङ) वानरकक्षा के भिन्न वंशो में दाँतों की संख्या नियत होती है।

(च) हाथ में पाँच ही अंगुलियाँ होती है, नाखून तथा पंजे भी होते हैं।

(छ) हँसली की अस्थियाँ दृढ़ और उन्नत होती हैं।

(ज) प्रत्येक के दो ही स्तन होते हैं।

५. पूर्णतया सीधे खड़े होकर चलना, मस्तिष्क का बहुत अधिक विकास, वाणी द्वारा बोलने की शक्ति और विचार करने की शक्ति—ये चार मनुष्य की विशेषताएँ हैं।

६. पहली दोनों विशेषताएँ तात्त्विक नहीं प्रत्युत परिमाण की हैं, अर्थात् छोटाई-बड़ाई का ही अन्तर है। खड़े होकर चलना भी मस्तिष्क की ही उन्नति का परिणाम है।

७. वानरों की जातियाँ, उपजातियाँ तथा वंश अनेक हैं। 'लीमर' अर्धबन्दर है, जो हाथ-पैर से ही बन्दर प्रतीत होता है। 'मार्मोसेट' भी आकार में लीमर सदृश ही होता है, परन्तु वानरों से अधिक मिलता है। इसके नाख़ून पञ्जेदार होते हैं और सामान्य बन्दरों को सब लोग जानते ही हैं।

८. वनमनुष्य भी वानरकक्षा का ही वंश है। इसके चार प्रकार हैं—गिबन, ओरांग, औटांग, चिपांजी और गोरिला। इनके दाँत मनुष्यों के दाँतों के समान होते हैं। नाक नीचे की ओर झुकी होती है, परन्तु अन्दर की ओर दो छिद्र नहीं होते। इनके हाथ, पैरों से अधिक लम्बे होते हैं। गाल की थैली और पूँछ बिलकुल नहीं होती।

९. गिबन जाति की मादा अपने बच्चे का मुँह धोती है। चिपांजी अपने शरीर से बहते हुए ख़ून को दबाकर बन्द करने की चेष्टा करता है। वैज्ञानिकों का मत है कि चिपांजी की बुद्धि नव

महीने के बालक के समान होती है।

१०. मनुष्य की ख़ास विशेषताएँ दो ही हैं, मस्तिष्क का बहुत विकास और खड़े होकर चलना। खड़े होकर चलने का भी कारण मस्तिष्क का ही विकास है। वनमनुष्य खड़े हो सकते हैं, परन्तु झुके हुए रहते हैं।

११. मनुष्य के खड़े होने से ही आँत उतरने की बीमारी होती है। मनुष्य और चिपांज़ी के मस्तिष्क की तुलना करने से ज्ञात होता है कि दोनों में परिमाण का ही अन्तर है। मनुष्य का मस्तिष्क स्पष्ट होता है और चिपांजी का अस्पष्ट। यही हाल हाथ-पैरों का भी है। बन्दर पैर से वस्तु उठा लेता है, इसी प्रकार एक जंगली स्त्री भी पैर से वस्तु उठा लेती है। अक्कलडाढ़ मनुष्य के देर से आती है और छोटी होती है, परन्तु गौरिला की बड़ी बलवान् और शीघ्र निकलनेवाली होती है। असभ्य जातियों में भी यह डाढ़ शीघ्र निकलती है। मनुष्य के शरीर में बाल बिलकुल नहीं होते, परन्तु किसी-किसी के कानों और कन्धों पर होते हैं। जापान के ऐन्यू लोगों के शरीर पर बाल बहुत होते हैं। मिस जुलिया पास्ट्राना बहुत बालवाली प्रसिद्ध है। सारांश यह कि मनुष्य का इन प्राणियों से कोई तात्त्विक भेद नहीं है। भेद केवल परिमाण का है—कम-अधिक का है।

१२. मनुष्य के शरीर में अवशिष्टाङ्ग, अर्थात् पुरानी योनियों के कई अङ्ग अब तक पाये जाते हैं। मनुष्य अपनी इच्छा से शरीर की खाल नहीं हिला सकते, यद्यपि हिलानेवाली नसें विद्यमान हैं। शिर के चाँद की चमड़ी भी सब मनुष्य नहीं हिला सकते, परन्तु कोई-कोई हिला सकते हैं। कान भी सब नहीं फड़फड़ा सकते, परन्तु कोई-कोई फड़फड़ा सकते हैं। नाक से सूँघकर भी सब मनुष्य नहीं पहचान सकते, परन्तु कोई-कोई पहचान सकते हैं। मनुष्य रोएँ खड़े नहीं कर सकता, यद्यपि रोएँ खड़े करनेवाली नसें विद्यमान हैं। इस प्रकार के अङ्ग पशुओं में पूरे काम कर रहे हैं, यद्यपि वे मनुष्य से धीरे-धीरे लुप्त हो रहे हैं, तथापि किसी-किसी में विद्यमान हैं। भौहें चढ़ाना, माथा सिकोड़ना, ओठ, गाल और नाक को मनमाना नचाना मनुष्य में अब तक बना हुआ है।

१३. अन्न-नलिका के अन्त में Vermiform Appendix नामक एक थैली है, जो जानवरों को काम देती है, परन्तु मनुष्य के लिए बिलकुल निष्प्रयोजन है। निष्प्रयोजन ही नहीं, किन्तु यदि उसमें गुठली आदि कठोर पदार्थ चला जाए तो मनुष्य के लिए घातक हो जाती है। छठे महीने गर्भ में मनुष्य का सारा शरीर बालों से छा जाता है जो वानर का पूर्वरूप है। बन्दर के बच्चे माँ के पेट में लिपटे रहते हैं, अत: जन्म होते ही बालक के हाथ की मुट्ठी इतनी मज़बूत होती है कि वह रस्सी पकड़कर लटका रह सकता है।

१४. मनुष्य की रीढ़ की अन्तिम गाँठ आसकाक्सिक्स (Oscoccyx) कहलाती है। इसी को पूँछ का चिह्न कहा जाता है। पूँछवाले मनुष्यों में यह गाँठ ८-१० इञ्च तक बढ़ी हुई पाई जाती है। यह केवल मांसस्नायुयुक्त होती है। इसमें हड्डी नहीं होती।

१५. मनुष्य की अस्थियाँ तीसरी चट्टानों में ही मिलती हैं। पहले मनुष्य की ऐसी जातियाँ हो गई हैं, जिनका अब संसार में नाम व चिह्न भी नहीं है। जावा द्वीप में एक खोपड़ी मिली है जो जंगली मनुष्य की खोपड़ी से अवनत और वनमनुष्य की खोपड़ी से उन्नत है। यह वनमनुष्य और मनुष्य के बीच की कड़ी अनुमान की जाती है।

१६. जो लीख आदि प्राणी मनुष्य के शरीर में होते हैं वही पशुओं के शरीरों में भी होते हैं। चूहों का रोग मनुष्यों के भी होता है। ऐसा कोई रोग नहीं जो मनुष्यों के होता हो और पशुओं को न होता हो। इलाज भी दोनों के एक ही है। नशा भी दोनों को होता है। किसी का रुधिरकण गोल, किसी का दीर्घ वर्तुल और किसी का चपटा होता है।

१७. स्याही के १०, चूही के ८, कुतिया और गिलहरी के ८, बिल्ली और रीछ के ६ और सब तृणाहारी तीक्ष्णदन्तियों के ४ स्तन होते हैं, परन्तु जर्मनी की एक स्त्री के ४, जापान देश की एक स्त्री के ६ और पोलैंड की एक स्त्री के १० स्तन हैं।

यहाँ तक मनुष्य के विकास पर विकासवाद के लेखक ने प्रमाण और युक्तियाँ उपस्थित की हैं, किन्तु यदि विचार से देखा जाए तो यह सारा भवन अनुमान पर ही खड़ा है। प्रत्यक्ष परीक्षण का इसमें कहीं नाम भी नहीं है। जो हो, हम इन सब बातों का उसी क्रम से उत्तर देते हैं।

१. मनुष्य की उच्च कल्पना ने डारविन, हक्सले और हैकल आदि पर कुछ भी असर नहीं किया। इस समय भी लाखों मनुष्य अपने पूर्वजों को बन्दर ही समझते हैं। सत्य विचार करनेवालों ने हमारे देश में तो कभी इस प्रकार का मिथ्या दम्भ किया ही नहीं। एक कवि की उक्ति है कि **'पशुतन की पनही बनै नरतन कछू न होय'**, अर्थात् पशु-शरीर से तो जूते बनते हैं, परन्तु मनुष्य-शरीर तो सर्वथा ही निकम्मा है। यहाँ पशु से भी उसका दर्जा नीचा किया गया है, किन्तु कब ? जब परमेश्वर की आराधना नहीं करता। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य ने निष्कारण ही अपने को बड़ा नहीं मान लिया। विकासवाद के लेखक स्वयं पृ० २३६ पर कहते हैं कि 'इसपर भी यह नहीं समझना चाहिए कि इसमें और मनुष्य में कुछ भेद ही नहीं है। मनुष्य को सब प्राणियों में जो उच्च स्थान प्राप्त हुआ है, उसका कारण उसके ज्ञानजन्तुओं का विकास है। यद्यपि गोरिला शरीरबल, हाथ-पैर और छाती में मनुष्य को हरा सकता है, किन्तु बुद्धिबल में वह मनुष्य से बहुत कम है, इसी से वह मनुष्य के अधीन हो जाता है'।

२. तुलनात्मक दृष्टि से मनुष्य की रचना, गर्भपरिवर्तन, चट्टानों में मिले हुए मनुष्य अवयव और यान्त्रिक नियमों से अन्य प्राणियों की भाँति इसे भी अपना स्वरूप प्राप्त करना आदि जितनी बातें लिखी गई हैं, इन सबका उत्तर अन्य पशुओं के वर्णन के साथ आ गया है। विकासवाद के लेखक ने स्वयं पाँचों शास्त्रीय प्रमाणों में अपनी असमर्थता दिखलाई है। प्रत्येक विभाग में केवल कल्पना और अनुमान के अतिरिक्त तनिक भी परीक्षण से काम नहीं लिया गया और परिस्थिति से यन्त्रों की भाँति प्राणियों का परिवर्तन होना भी सिद्ध नहीं हुआ, अत: अब यहाँ वही बातें फिर लिखना बेकार हैं।

३. मनुष्य का शरीर भी उन्हीं पदार्थों से बना है, जिनसे अन्य प्राणी बने हैं, उसके शरीर में भी आठ संस्थान हैं, कोष्ठ और कोष्ठान्तर्गत प्रोटोप्लाज़्म भी वैसा ही है, और पृष्ठवंशधारी की स्तनवाली श्रेणी में उसका स्थान है। इन बातों में से बहुत-सी बातों का उत्तर पिछले पृष्ठों में हो चुका है। हमारे यहाँ यह शरीर **'क्षिति, जल, पावक, गगन, समीरा। पंचरचित यह अधम शरीरा'** माना गया है। आठ संस्थान न हों तो वह प्राणी ही नहीं कहला सकता। हमने पहले ही कोष्ठ और कोष्ठान्तर्गत प्रोटोप्लाज़्म की वास्तविकता बतला दी है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि अमीबा एक कोष्ठधारी कहा जाता है, उसके एक ही कोष्ठ में आठों काम होते हैं, परन्तु जब वह एक से दो होता है तब उसी के अन्दर एक दूसरा कोष्ठ तय्यार हो जाता है और अलग होने के पहले तक दोनों कोष्ठ एक ही में रहते हैं। ऐसी दशा में उसे एक कोष्ठधारी क्यों कहा जाता है ? इसी प्रकार कई कोष्ठवाले प्राणी का प्रत्येक कोष्ठ अमीबा की भाँति आठों काम अलग-अलग नहीं करता। भिन्न-भिन्न कोष्ठों के काम भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ऐसी दशा में किस आधार से कहा जाता है कि ये कोष्ठ भी अमीबा के ही जैसे कोष्ठ हैं ? अनेक कोष्ठवाले प्राणियों में सँभाल पाया जाता है और सब कोष्ठों को सँभालनेवाला कोई एक ही कोष्ठ विदित होता है, क्योंकि यदि सब कोष्ठ प्रबन्ध करने लगें तो शरीर में अव्यवस्था हो जाए, परन्तु हम

शरीरों में व्यवस्था देखते हैं, इससे ज्ञात होता है कि व्यवस्था किसी एक ही स्थान में है, तब सब कोष्ठ चेतन हैं, ऐसा क्यों कहा जाता है ? कोष्ठों के अन्दर का रस कभी चैतन्य का कारण नहीं हो सकता। ज्ञानशक्ति, संयुक्त पदार्थ से उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि अनेक संयुक्त चैतन्यों से व्यवस्था का विघात होता है। इसी प्रकार मनुष्य हड्डीवालों में से स्तनधारियों की श्रेणी का भले हो, परन्तु न तो इनमें से किसी के संयोग से इसका वंश चलता है, न किसी के साथ आयु मिलती है, न भोग मिलता है और न गर्भवास का समय ही मिलता है। ऐसी दशा में उसको पशुओं के साथ मिलाना अन्याय ही प्रतीत होता है।

संसार में मनुष्य को छोड़कर जितने प्राणी हैं, उन सबके बालों में, पैदा होने से मृत्यु तक, किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। जो गाय जिस रंग की पैदा होती है, आजीवन उसी रंग की रहती है। यही हाल ऊँट, घोड़ा, गधा, बैल, भैंस, बकरी, भेड़ी आदि का है। बन्दर और वनमनुष्य भी जिस रंग का पैदा होता है आजीवन उसी रंग का रहता है, परन्तु मनुष्य के बालों का रंग जीवनभर में चार बार चार प्रकार का पलटता है। पैदा होने के समय सुनहरी रंग, जवानी में काला और वृद्धावस्था में सफ़ेद होता है तथा अत्यन्त वृद्धावस्था में पिङ्गल हो जाता है। पशुओं और मनुष्यों में अन्तर डालनेवाला यह बाल-परिवर्तन दोनों को पृथक् किये हुए है। दूसरा अन्तर पानी में तैरने का है। जितने पशु हैं सब पानी में डालते ही तैरने लगते हैं। यहाँ तक कि बन्दर भी तैरने लगता है, परन्तु मनुष्य बिना तैरना सीखे तैर नहीं सकता। इनके अतिरिक्त दो पैर पर खड़े होना, बोलना, विचार करना, हँसना, रोना और गाना आदि अनेक बातें हैं जो मनुष्य में ही हैं, पशुओं में नहीं, अर्थात् बिना शिक्षा के अपने कार्य कर लेना पशुओं में ही है, मनुष्यों में नहीं। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मनुष्य पशु-श्रेणी का नहीं है।

जिस प्रकार पशुओं और मनुष्यों के बीच में अन्तर है उसी प्रकार वृक्षों और पशुओं में भी अन्तर है। पशु आड़े शरीर के हैं और वृक्ष उलटे शरीर के, अर्थात् वृक्षों के शिर नीचे की ओर हैं। दूसरा अन्तर देखने-सुनने आदि के अङ्गों का है। सबसे बड़ा और विरोधी अन्तर तो दोनों की खुराक का है। वृक्ष जिस दूषित वायु को खाकर जीते हैं अन्य प्राणी उसको खाकर मर जाते हैं, अर्थात् वृक्षों की खुराक प्राणनाशक वायु है और प्राणियों की खुराक प्राणप्रद वायु है। वृक्ष प्राणप्रद वायु देते हैं और पशु प्राणनाशक वायु देते हैं। इस प्रकार वनस्पति और पशुओं का भी कोई शारीरिक अथवा उत्पादक सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। ऐसी दशा में न तो मनुष्य पशु-श्रेणी का प्रतीत होता है और न वनस्पति ही पशु-श्रेणी की ज्ञात होती है, अत: स्पष्ट है कि विकासवाद इन तीनों को एक बनाने में भारी भूल करता है।

४. वानरकक्षा की जो आठ विशेषताएँ बतलाई गई हैं वे यथार्थ में वानरों की ही विशेषताएँ नहीं है। उनमें आधी से अधिक अन्य प्राणियों में भी पाई जाती है, परन्तु दो-चार विशेषताएँ जो यथार्थ में वानरों में ही पाई जाती हैं वे स्वयं कह रही हैं कि मनुष्यजाति का वानरों से कोई सम्बन्ध नहीं है। गर्भनाल तो भैंस के भी लगा रहता है। अँगूठों के घूमने से तो वह मनुष्य श्रेणी का नहीं प्रतीत होता। वृक्ष पर तो चिड़ियाँ और कीड़े भी रहते हैं। दोनों प्रकार के दाँत तो गाय-भैंस आदि के भी होते हैं। दाँतों की अन्य पशुओं में भी अलग-अलग संख्या होती है। पाँच अंगुलियाँ तो गिलहरी के भी होती हैं। नाख़ूनों और पंजों का होना ही उसे मनुष्यश्रेणी से अलग करता है। हँसली की अस्थियों की दृढ़ता और उन्नति से यहाँ कोई सरोकार नहीं दिखता। दो स्तन तो बकरी के भी होते हैं। यहाँ सम और विषम दोनों प्रकार के अंगो का वर्णन करके पता नहीं 'विकासवाद' के लेखक ने क्यों व्यर्थ विषय को बढ़ाया है ?

५-६. मनुष्य का सीधे खड़ा होना, मस्तिष्क की बड़ाई, बोलना और विचार करना इन चारों का कारण मस्तिष्क की वृद्धि बतलाया जाता है। मस्तिष्क की वृद्धि ही मनुष्यता नहीं है। वानरों और वनमानुषों के मग़ज के दृश्य से जो यह कहा जाता है कि बोलने, विचार करने, सोचने और सीधा खड़े होने का कारण केवल मस्तिष्क की उन्नति है—उसकी शक्तियों का अधिक स्पष्टपना ही है, यह बात हाल के वैज्ञानिकों ने असिद्ध कर दी है। चींटी को सबने देखा है। उसके शिर की खोखली टोपी भी सबने देखी है। उसमें भेजे का नाम नहीं है, परन्तु चींटी इतनी बुद्धिमती और प्रबन्ध करनेवाली है कि विज्ञानवेत्ता, मनुष्य से उतरकर सारे संसार का प्रबन्ध कर सकनेवाला प्राणी चींटी को ही बतलाते हैं[१]। इससे यह नहीं पाया जाता कि बड़े और स्पष्ट मस्तिष्क से ही बुद्धि और विचारों में उन्नति होती है।

७. वानरों की अनेक जातियाँ हैं। ये उसी प्रकार की जातियाँ हैं जैसे मांसाहारियों की—कुत्ता, शृगाल, भेड़िया, बिल्ली, व्याघ्र, सिंह आदि की बतलाई गई हैं, परन्तु हमने पहले ही बतला दिया है कि जिनके मेल से वंश चले वही जाति है, अन्य नहीं। क्रमविकास दिखलाने के लिए ही ये 'लीमर' और 'मार्मोसेट' आदि प्राणी वानर कहे गये हैं, परन्तु लीमर आदि स्वतन्त्र योनियाँ हैं, इनका परस्पर वंश नहीं चलता, इसलिए ये वानरजाति की नहीं हैं।

८. चार प्रकार के वनमनुष्य भी वानरकक्षा के कहे गये हैं, परन्तु उनका बन्दरों के साथ बहुत ही थोड़ा मेल है। ये अलग स्वतन्त्रजाति के प्राणी हैं, इनका एक-दूसरे से कुछ सम्बन्ध नहीं है।

९. यदि गिबन की मादा मुँह धोती है तो गाय़-भैंस चाटकर अपने बच्चे को साफ़ करती हैं और चिड़ियाँ बच्चों को दाना लाकर देती हैं। यदि वनमनुष्य दबाकर ख़ून बन्द करता है तो कुत्ता भी घास खाकर जुलाब लेता है और हाथी भी दवा करता है। यदि चिम्पांजी केवल ९ महीने के बालक की-सी बुद्धि रखता है तो चींटी सारे संसार का प्रबन्ध मनुष्य की भाँति, कर सकती है, इसलिए वनमनुष्य मनुष्यश्रेणी के नहीं हो सकते।

१०. मस्तिष्क की थ्योरी चींटियों के प्रमाण से नष्ट हो गई है। चींटियों के मस्तिष्क होता ही नहीं। यदि मानना ही पड़े की उनके मस्तिष्क होता है तो यह तो प्रत्यक्ष ही है कि वनमनुष्य (चिम्पांजी) के मस्तिष्क से बहुत छोटा होता है। जब चींटी बिना मस्तिष्क के सब काम करती है तब मनुष्य के मग़ज़ की तुलना दोनों को एक नहीं कर सकती। विकासवाद के लेखक ने स्वयं ही मनुष्य और पशु में अन्तर माना है[२]।

---

१. Could the ant have ruled the world? Lord Avebury has suggested that in the absence of man the ant might have become master of the earth. Now here do we find the ability to rule so well developed as in these remarkable insects, which enslave other insects—the aphides, into their service. The white ants or termites, display an even higher intelligence when the eggs are about to be laid by the queen, hiding away the mother for a period. The ants which might have won the race for mastery if man had not been.

Had the ant combined its balance of experiance and specialised instinct with greater bodily development, involving greater responsibilities and opportunities it might, in time, have stood forth as certainly a competitor for the mastery of the earth.

—*Hormsworth Popular Science*, Vol. I. p. 45-55.

२. शरीररचना और स्वभाव आदि में मनुष्य और अन्य पशुओं की समानता है, इसपर भी इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उनमें कोई अन्तर नहीं और मनुष्य तथा वानर सब अंशों में परस्पर सदृश हैं। यह कथन असङ्गत और वास्तविक अवस्था की अशुद्ध कल्पना देनेवाला है। —विकासवाद पृ० २२६

११. चौपाये से जब दो पाँव का होकर मनुष्य खड़ा हुआ तो आँत उतरने लगी। यदि ऐसा होता तो यह प्राणी इस डर से कभी खड़ा ही न होता। करोड़ों वर्ष के बाद भी यदि मनुष्य की आँत खड़े होने के कारण उतरती है तो उस समय जब यह चौपाये से दो पैरवाला होकर खड़ा हो रहा होगा, उस समय के समस्त द्विपद प्राणी आँत की बीमारी से आक्रान्त हो गये होंगे। यदि वास्तव में ऐसा होता तो कहना चाहिए कि कोई भी मनुष्य कभी खड़े होने की हिम्मत ही न करता। सत्य बात तो यह है कि यह रोग मनुष्य को इसलिए होता है कि वह खाने में बड़ा पेटू है। पशु इच्छा न होने पर नहीं खाते, किन्तु यह पेट भरा रहने पर भी खा लेता है। इसी से इसे यह बीमारी होती है। सर्वमान्य डॉक्टर लुई कुन्हे अपनी पुस्तक 'न्यू साइन्स ऑफ हीलिंग' के भाग २ पृष्ठ ३९९ पर लिखते हैं कि 'आँत के उतरने का कारण पेडू के भीतर विकारी द्रव्य के बोझ की खिंचावट है। अमाशय की झिल्ली के उन स्थानों में जहाँ तनिक-सी भी रुकावट मिल जाती है, अन्तड़ियाँ अत्यन्त अन्तरीय दबाव के कारण छेद कर देती हैं और बाहर निकल आती हैं। भिन्न-भिन्न पुरुषों की झिल्ली के फटने के स्थान भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु कारण सदैव एक ही होता है। इसलिए इस रोग का कारण चोट, गिर पड़ना अथवा कोई और बतलाना भूल है। अन्य कारणों से भी झिल्ली फट सकती है, परन्तु आँत उतरने का कारण चोट आदि नहीं है। मेरी चिकित्सा रीति का सेवन करने से और इसके द्वारा विकारी द्रव्य को शरीर से निकाल देने से इस प्रकार के छिद्र आराम हो जाते हैं'।

प्रत्येक रोगी की झिल्ली भिन्न-भिन्न स्थान से फटती है। इसका कोई दूसरा कारण नहीं है। जब कुन्हे के उपाय से झिल्ली की छीरें आराम हो जाती हैं तब चौपाये से द्विपद होनेवाली बात सिवा बच्चों के खेल के और कुछ भी दम नहीं रखती। मस्तिष्क के कम-अधिक परिमाण का सिद्धान्त चींटियों ने नष्ट कर दिया है। मनुष्य के साथ किसी प्राणी की तुलना में मस्तिष्क की बात कुछ मूल्य नहीं रखती। हाथ-पैरों की समता का भी कुछ मूल्य नहीं। कहने को हाथ कह लीजिए, परन्तु जब वे चलने का—दौड़ने का काम देते हैं तब उनका नाम हाथ नहीं हो सकता। वे पैर ही हैं। जब तक वनमनुष्य दो पैर पर सीधे खड़े होकर चलने न लगें तब तक वे चतुष्पाद ही कहलाएँगे। ऐसी दशा में पैर को हाथ बतलाना उचित नहीं। मनुष्य के हाथ, हाथ हैं, परन्तु वनमनुष्य के हाथ, पैर हैं, अतएव हाथ के साथ पैरों की कोई तुलना नहीं हो सकती। बन्दर पैर से भी वस्तुएँ उठा सकते हैं और एक जंगली स्त्री भी पैरों से वस्तु उठा सकती है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि यह बन्दरों की निशानी है। अभ्यास करने से तो बाजीगर आँख से पैसा उठा लेते हैं और भानमती पानी के अन्दर मुँह डालकर जीभ से नथ में मोती पिरो देती हैं। क्या आप ये बातें बन्दरों में दिखला सकते हैं। अच्छे पहलवान पैर से दाव करते हैं, सरकसवाले पैर से अद्भुत-अद्भुत काम करते हैं तो क्या ये सब बन्दरों के ही चिह्न हैं ? इसी प्रकार अक़्कलडाढ़ की बात है। जंगली लोगों में यदि यह शीघ्र निकलती है तो उनके बन्दर से विकसित होने की यह दलील भी ठीक नहीं है। वेश्याओं की लड़कियों के स्तन बहुत शीघ्र निकल आते हैं तो क्या वे किसी शीघ्र जननेवाले प्राणी का विकास हैं ? अङ्गों का शीघ्र स्फुटित होना खाद्य-पेय, आचार-व्यवहार और जल-वायु पर अवलम्बित है। हमारा विश्वास है कि जंगली मनुष्यों में अक़्कलडाढ़ कच्चा अन्न और कच्चा मांस खाने से ही शीघ्र निकलती है और इसीलिए वह बड़ी भी होती है। किसी-किसी के शरीर पर बालों की अधिकता का कारण गर्भ में पुरुषशक्ति की अधिकता है। जब कभी गर्भ में यह शक्ति उचित परिमाण से कम या अधिक प्रविष्ट होती है, तभी सन्तान के रोमों पर प्रभाव होता है। पुरुषशक्ति अधिक होने से कभी-कभी स्त्रियों में भी डाढ़ी-मूँछ निकल

आते हैं और कभी-कभी न्यून होने से पुरुषों में भी डाढ़ी-मूँछ का अभाव हो जाता है। रोम, बाल, हड्डियाँ और स्नायु आदि कठिन पदार्थ पितृशक्ति से ही उत्पन्न होते हैं। इसलिए किसी-किसी में बाल अधिक देखकर बन्दरों के बालों का अनुमान नहीं करना चाहिए। यदि अधिक बाल वानरों का चिह्न है, तो जिन पुरुषों के मूँछ-डाढ़ी नहीं होतीं और जिन स्त्रियों के होती हैं, वे किसका विकास हैं ? क्या ऐसे बन्दर कभी किसी ने देखे हैं जिनके डाढ़ी के पास स्त्रियों की भाँति बाल बिलकुल न हों ? रहा वंशपरम्परागत बालों का होना, वह तो सहज ही सिद्ध है। जब एक बार सन्तान के बाल निकल आये तो वे धीरे-धीरे दश-पाँच पीढ़ी के बाद ही जाते हैं। जापान के ऐन्यू लोगों की सन्तान में अब बाल कम हो रहे हैं, इसलिए बालों की तुलना से मनुष्य वानरकक्षा का सिद्ध नहीं होता।

१२. अङ्गों को हिला न सकना इस बात की दलील नहीं है कि अब वे अङ्ग निकम्मे हो गये हैं। निकम्मे क्यों हुए? क्या पीठ पर बैठे मक्खी, मसे और मच्छर आदि उड़ाने की अब आवश्यकता नहीं है ? यदि कहो कि अब इनके उड़ाने के लिए दूसरे साधन हो गये हैं तो आँख, भौं, बाल, ओठ और मस्तिष्क सिकोड़ने हिलाने की शक्ति क्यों बनी हुई है ? इनकी शक्ति तो सबसे पहले ही चली जानी चाहिए थी, क्योंकि हाथ का साधन इनके समीप ही प्राप्त है। वास्तविक बात तो यह है कि परमात्मा ने जिस प्रकार के भोग भोगने के लिए जिसका जैसा शरीर बनाया है, उसमें उसी प्रकार के अवयव और शक्ति नियुक्त की है। गाल, भौं, मस्तक और ओठ का फड़काना, नचाना यदि बन्द हो जाता तो नाटक और नृत्यकारों का भाव कैसे समझ में आता तथा दो अपरिचित भाषावालों का परस्पर परिचय और संवाद कैसे जारी होता? सूँघकर पहिचानने की शक्ति सभी मनुष्यों में है। अनेक प्रकार के इत्र, अनेक प्रकार के फूलों की गन्धों के भेद, मल, मूत्र और पसीना आदि बासों का अन्तर और घी-तेल की बू का अन्तर प्रायः सभी जानते हैं, परन्तु अभ्यास के कारण इत्र बेचनेवाला सूँघकर इत्रों के भेद जितनी जल्दी बतला सकता है उतनी जल्दी ब्योरे के साथ प्रत्येक मनुष्य नहीं बतला सकता। इत्र बेचनेवाले इत्रों के पहचाननेवालों को बहुत बड़ा अमीर समझते हैं। वे कहते हैं कि अमुक नवाब साहब अच्छे सूँघनेवाले हैं। जिस प्रकार अभ्यास से गानेवाले स्वरों के भेदों को जानते हैं, जिस प्रकार उनको स्वरों के तनिक-तनिक-से भेद बहुत स्थूल सुनाई पड़ते हैं, उसी प्रकार सर्वसाधारण को वैसे भेद सुनाई नहीं पड़ते। इसी प्रकार सूँघने की भी बात है। जंगली और बेपढ़ेलिखे लोग प्रायः स्मरण से अधिक काम लेते हैं, इसलिए उनकी वह शक्ति बलवान् हो जाती है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये उनके पूर्वजातियों के चिह्न हैं। राजपूताने में पदचिह्न पहचाननेवाले ऐसे-ऐसे मनुष्य हैं कि बहुत शीघ्र दूसरे के पैर के चिह्न को पहचानकर चोरों का पता लगा लेते हैं, परन्तु बतलाइए तो सही कि यह उनका अभ्यास किस पूर्वजाति का अवशिष्ट है ? रोएँ खड़े कर सकना मनुष्य को आवश्यक नहीं, क्योंकि वह रोमवाला प्राणी नहीं है, परन्तु सच्ची मनुष्यता के समय—हर्ष, आनन्द के समय उसके रोमाञ्च होता है, इसलिए रोमाञ्च करनेवाली नसें दुर्बल नहीं कही जा सकतीं। दुर्बल वस्तु एक बार भी काम नहीं देती। टूटा हुआ हाथ यदि एक बार भी काम दे दे तो उसे टूटा नहीं कहा जा सकता, परन्तु ये रोमाञ्चवाली नसें दुर्बल नहीं हुईं। न ये अपने समय में प्रतिदिन अनेक बार काम देती हैं। हाँ, उनपर क़ाबू नहीं है। क़ाबू तो हृदय पर भी नहीं है। कोई उसे ठहरा नहीं सकता, किन्तु वह अपने ढंग से अपना काम किये जाता है। क्या कोई उसे दुर्बल कह सकता है ? कोई नहीं। जब हृदय कमज़ोर नहीं है तो रोमाञ्चवाली नसें क्योंकर दुर्बल समझी जा सकती हैं ? रोमाञ्च मनुष्य का ही गुण है। यह अन्य पशुओं को प्राप्त नहीं है, इसलिए

इसकी औरों के साथ तुलना नहीं हो सकती।

१३. Vermiform Appendix नाम की थैली तो फलों की गुठली न खाने की धमकी देने के लिए है। मनुष्य फलाहारी प्राणी है। फलों में बेर, छुहारे, आम, जामुन और अन्य अनेक फलों में गुठलियाँ होती हैं, इसीलिए प्राय: लोग बच्चों को उक्त फलों को खाते समय धमका देते हैं कि ख़बरदार गुठली न खाना, नहीं तो पेट में वृक्ष उत्पन्न हो जाएगा। इसका यही तात्पर्य है कि गुठली न खाई जाए। गुठली में यदि हानि का डर न होता तो गुठली खाने में आदमी सावधान न रहता। परिणाम यह होता कि गुठलियों की कठोरता से पाचनशक्ति नष्ट हो जाती है और मनुष्य शीघ्र ही मर जाता, अतएव मनुष्यों में यह थैली इसी धमकी के लिए है, क्योंकि मनुष्य फलाहारी है, गुठली खा जाना उसके लिए सम्भव है। गर्भ में सारा शरीर बालों से छा जाने का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य गर्भ में अपने पूर्वरूप वानर का दृश्य दिखा रहा है। गर्भपरिवर्तन का तात्पर्य यदि केवल दृश्य दिखलाने का ही हो तब तो यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता कि सबसे प्रथम एक सैल का आदि प्राणी अमीबा अपनी उत्पत्ति से किसका दृश्य दिखा रहा है, इसलिए गर्भ में बालों का कोई दूसरा ही प्रयोजन होना चाहिए। गर्भ में छह महीने के बाद बच्चे की खाल बाहर आने के योग्य होने लगती है, क्योंकि सात-सात महीने में अनेक बच्चे पैदा होते हैं और पूर्ण आयु तक जीते हैं, इसलिए उस खाल की जरायु में भरे हुए गन्दे पानी से रक्षा करने के लिए ही गर्भ में बालों का आयोजन होता है, क्योंकि बालों में पानी प्रविष्ट नहीं होता। रही मनुष्य के बालों के साथ वानरों के बालों की तुलना, वह किसी प्रकार नहीं हो सकती। बताइए तो सही किस वानर के सिर पर चार-चार फ़ीट लम्बे बाल होते हैं? बताइए तो किस वानर की डाढ़ी एक-एक गज़ लम्बी होती है? हमने चार फ़ीट लम्बे सिर के और तीन फ़ीट लम्बी डाढ़ी के बाल कई स्त्री-पुरुषों के देखे हैं। संसार में कोई प्राणी इस प्रकार के बाल नहीं रखता। तब कैसे कहा जा सकता है कि मनुष्य के बालों—रोमों की तुलना बन्दर के रोमों के साथ हो सकती है? मनुष्य का बच्चा जो सालभर तक रस्सी पकड़कर लटकने की शक्ति रखता है, इसका कारण यह नहीं है कि माँ के पेट में बन्दरों के बच्चे चिपके रहते हैं, इसलिए मनुष्य के बच्चों में भी यह शक्ति है, प्रत्युत इस शक्ति और अभ्यास का कारण बच्चे की मुट्ठी का बँधा रहना है। बच्चा गर्भ में मुट्ठी बाँधे ही रहता है। इसका कारण यह है कि यदि मुट्ठी खुली रहे तो डर है कि वह पेट की कोई चीज़ पकड़ ले और पैदा होते समय कठिनाई हो। परमात्मा ने हर बात का प्रबन्ध बड़ी बुद्धिमत्ता से किया हुआ है, परन्तु मनुष्य अपने अधूरे ज्ञान से ऐसा मतवाला हो रहा है कि वह कुछ-का-कुछ समझा करता है।

१४. मनुष्यों की यह पूँछ, पूँछ नहीं है। ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि 'इसमें हड्डी नहीं होती केवल मांस और नसें होती हैं'। यह तो बढ़ा हुआ उस स्थान का मांस है। जिस प्रकार अमेरिका की अमेज़न नदी के किनारे रहनेवाले मनुष्यों के ओठ एक-एक फ़ुट लम्बे होते हैं[1] उसी प्रकार इन मनुष्यों के उस स्थान की खाल भी बढ़ी हुई होती है, परन्तु जिस प्रकार उक्त अमेरिकन हाथी का विकास नहीं माने जाते उसी प्रकार ये भी बन्दरों का विकास नहीं हो सकते। दूसरी बात यह है कि मनुष्य वनमनुष्य का विकास है और वनमनुष्य के पूँछ होती नहीं तब मनुष्य में पूँछ कहाँ से आई? विशेषकर ऐसी दशा में जब वनमनुष्य और मनुष्य के बीच में एक और नरवानर apeman भी माना जाता है। गया ज़िले में फ़ीलपाव, फैज़ाबाद में अण्डवृद्धि और जगन्नाथपुरी की ओर घेघ बहुत बढ़ता है। मारवाड़ में पेट भी बढ़ता है। इसी प्रकार अफ़्रीका के मनुष्यों के

१. सरस्वती वर्ष १०, अंक ४

ओठ भी मोटे होते हैं, परन्तु इन सबमें ये नये अङ्ग नहीं फूट रहे। उक्त फ़ीलपाव आदि को रोग कहते हैं, परन्तु उसमें रोग की कोई बात नहीं है। न तो उसमें दर्द है, न पीड़ा है और न मौत का भय है। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि स्थानविशेष में होने के कारण इस मांसगत वृद्धि को—रोग-सदृश विशेषांग को पूँछ कहना उचित नहीं है।

१५. जावाद्वीप में जो खोपड़ी मिली है वह किसी बालक की होगी या फ्रीनालोज़ी के मत से मूर्ख की। लुप्तजन्तु-शास्त्रानुसार जिस प्रकार शशक जैसे घोड़ों का आविष्कार असत्य ठहरा है उसी प्रकार इन खोपड़ियों और अवयवों की बात है। विकासवाद के लेखक पृ० २५५ पर उसके विरुद्ध स्वयं ही कहते हैं कि 'वर्त्तमान मनुष्य और वनमनुष्य के पूर्णतया बीच की कड़ी के अन्वेषण की आशा रखना व्यर्थ है'। जब यह हाल है तब खोपड़ी की चर्चा करने की क्या आवश्यकता थी ?

१६. जिन तत्त्वों से मनुष्य बना है उन्हीं से पशु बने हैं। मांस-ख़ून उनमें भी है। अन्न ही वे भी खाते हैं। जब सभी पञ्चरचित हैं तब लीख, रोग, ओषधि, नशा आदि यदि दोनों में एक समान ही प्रभाव करते हैं तब इसमें आश्चर्य क्या है ? क्या इस समानता से मनुष्य पशु और पशु मनुष्य हो गये ? हम पहले ही लिख आये हैं कि मनुष्य बालों का रंग बदलने से और पशु पानी में तैरने से एक जाति का सिद्ध नहीं होता।

१७. विकासवाद के अनुसार अनेक स्तरों की स्त्रियों से निश्चित होता है कि मनुष्य पिछली पीढ़ियों में स्याही, कुतिया, गिलहरी, बिल्ली और रीछ होकर मनुष्यरूप में आया है, किन्तु हमने अभी अमेरिका के लम्बे ओठवालों का हाल लिखा है जो हाथी की बनावट के कहे जा सकते हैं। तो क्या मनुष्य हाथीश्रेणी की योनियों में भी होकर आया है ? अफ्रीका के बुशमैन बहुत दूर तक अँधेरे में देखते हैं और दौड़कर अपना शिकार भी पकड़ लेते हैं तो क्या मनुष्य गीध, उल्लू, सर्प और घोड़े की योनियों में होकर आया है ? उसके पूँछ भी पाई जाती है तो क्या वह कुत्ता, बिल्ली, ऊँट, वानर आदि समस्त पूँछवाली योनियों में होकर आया है ? यदि मनुष्य में किसी अन्य प्राणी के-से लक्षण इस बात का प्रमाण हैं कि वह उन-उन प्राणियों में होकर आया है तो संसारभर के मनुष्यों में यदि ऐसे गुण सूक्ष्मता से ढूँढ जाएँ तो संसार की ऐसी एक भी योनि न निकलेगी जिसके लक्षण मनुष्य में न पाये जाएँ। ऐसी दशा में क्या विकास इस बात को मान लेगा कि मनुष्य संसार की समस्त योनियों में होकर आया है ? यदि ऐसा हो तो समझना चाहिए कि हैकल, हक्सले की २१ श्रेणियों की बात असत्य है, अर्थात् मनुष्य किसी विशेष-विशेष योनियों से ही सम्बन्ध नहीं रखता प्रत्युत संसारभर की योनियों से सम्बन्ध रखता है।

विकासवाद अपनी हठ से चाहे यह न माने, परन्तु बिना ऐसा माने मनुष्य का समस्त प्राणियों के साथ जो मेल दिखता है उसकी संगति नहीं लग सकती। हिन्दूशास्त्र तो यही कहते हैं कि मनुष्य संसार की समस्त योनियों में होकर आया है—वह चौरासी लक्ष योनियों के पश्चात् उत्पन्न हुआ है। वे कहते हैं कि पैदा होते ही दूध पीने की प्रवृत्ति, हर्ष, शोक और भय का संचार उसके अनेक जन्मों की सूचना है। पैदा होने के दिन ही जब इतने चिह्न पूर्वजन्म के पाये जाते हैं तब गर्भवास के समय में भी उसके जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार उदय होते ही रहते होंगे। कहा नहीं जा सकता कि किस समय किस पूर्वजन्म की किस योनि के संस्कार उदय हो उठें। जिस प्रकार गर्भस्थ प्राणी के निज के संस्कार उदय होकर उसकी बनावट में अन्तर पैदा कर सकते हैं उसी प्रकार सगर्भा माता के विचार और व्यवहार भी गर्भस्थ पर अनेक प्रकार के प्रभाव डाला करते हैं। सुना जाता है कि जिस देश की स्त्रियों में यह रिवाज है कि गर्भिणी यदि ग्रहण पड़ने

के समय पानी में पैर डालकर न बैठे तो उसके गर्भ से बच्चा लूला-लँगड़ा पैदा होता है, वहाँ कभी-कभी ऐसा ही हो जाता है, परन्तु जहाँ इन बातों के संस्कार नहीं हैं, वहाँ ऐसा नहीं होता। माता के प्रभाव के अतिरिक्त देशकाल, जलवायु और अकाल-सुकाल का प्रभाव भी गर्भस्थ पर पड़ता है। वज्रपात, युद्ध और अग्निकाण्डों का भी प्रभाव होता है। इस प्रकार—

१. गर्भस्थ के संस्कार

२. माता के विचार तथा व्यवहार

३. देश की परिस्थिति में विशेषता उत्पन्न हो जाने तथा

४. गर्भस्थापन के समय अनेक वीर्यकणों के परस्पर मिल जाने से गर्भस्थ में विकृति उत्पन्न हो जाती है, इस विकृति के विषय में विकासवाद कहता है कि मनुष्यों के ये विकृत चिह्न—विशिष्टावशिष्ट अङ्ग—उन पिछली जातियों के चिह्न हैं, जिनसे मनुष्य विकसित हुआ है।

विकासवाद के इस आरोप के विरुद्ध सृष्टि ने कुछ ऐसी बातें प्रकट करके दिखला दी हैं कि जिनके सामने आते ही विकासवाद सदा के लिए अस्त हो जाता है। नरों के स्तन, अजा के गलस्तन, अश्व के स्तनों का अभाव, मेढ़ा के सींग और मनुष्य की छठी अंगुली ने विकासवाद के विशिष्टावशिष्ट अङ्गों की मिथ्या कल्पना का अन्त कर दिया है। बैल, भैंसा, बकरा, हाथी, ऊँट, सिंह, कुत्ता, वानर और पुरुषों में स्तन कब, क्यों और कैसे उत्पन्न हुए और घोड़ों के क्यों उत्पन्न नहीं हुए? बकरी के गले में स्तन क्यों होते है, मेढ़ा के सींग कहाँ से आ गये और मनुष्य के छठी अंगुली क्यों होती है? इन सब प्रश्नों का विकासवाद के पास कोई उत्तर नहीं है। जब से सृष्टि आरम्भ हुई—जब से अमीबा हुआ—तब से ही स्त्री-पुरुष—नर-मादा अलग-अलग नहीं थे। अमीबा अकेला ही नर-मादा का काम देता था, परन्तु कुछ ही पीढ़ियों के पश्चात् मसा, मक्खी, लीख, और जूँओं की उत्पत्ति के साथ ही नर और मादा का भेद हो गया, किन्तु स्तनों की उत्पत्ति नहीं हुई। इन कीड़ों के पश्चात् जोड़वालों—बिना हड्डीवालों की सृष्टि हुई, तब भी स्तन नहीं हुए। जोड़वालों के पश्चात् मत्स्य, मण्डूक और सर्पणशीलों की उत्पत्ति हुई, परन्तु अब भी स्तनों की उत्पत्ति नहीं हुई।

इनके बाद पक्षियों का नम्बर आया, परन्तु पक्षियों में भी स्तनों का अभाव ही रहा। हाँ, सबसे प्रथम चिमगादड़ में स्तनों का प्रादुर्भाव दिखलाई पड़ने लगा। यहीं से स्तनधारियों का क्रम शुरू हुआ। अब तक बिना स्तनों के ही, बच्चों की परवरिश का काम चलता रहा और किसी प्रकार की कोई हानि नहीं हुई। नर-मादा का भेद हुए भी लाखों पीढ़ियाँ व्यतीत हो गईं और सन्तति होते तथा उसका पालन-पोषण होते भी लाखों पीढ़ियाँ व्यतीत हो गईं, परन्तु अब तक किसी प्राणी के स्तन नहीं हुए। अब प्रश्न होता है कि चिमगादड़ के स्तन क्यों हुए? पहले तो मादा में ही स्तनों की उत्पत्ति का कारण बतलाना विकासवाद के लिए समस्या है, फिर नरों में स्तनों के प्रादुर्भाव का कारण बताना तो उसके लिए दूनी समस्या है। यह संकट और भी अधिक बढ़ जाता है जब घोड़ें में स्तनों का बिलकुल ही अभाव देखा जाता है। इसी प्रकार यह समस्या और भी अधिक भयङ्कर रूप धारण करती है जब अजा के गलस्तनों का प्रादुर्भाव सामने आता है, क्योंकि नर-मादा की पृथक्ता स्तनधारियों के पूर्व ही पक्षियों और सर्पणशील तथा मण्डूक, मत्स्य और जोड़वाले कीड़ों के पूर्व ही हो चुकी थी, इसलिए कोई यह नहीं कह सकता कि नर-मादा में स्तनों की उत्पत्ति तब की है जब नर-मादा में भेद ही नहीं हुआ था।

हम देख रहे हैं कि नर-मादा का भेद हो जाने के लाखों-करोड़ों वर्ष पश्चात् स्तनधारियों की उत्पत्ति हुई है, तब आक्रमणपूर्वक प्रबलता से प्रश्न उत्पन्न होता है कि नरों के स्तन किस

पिछली योनि के अवशिष्टांग हैं और यदि अवशिष्टांग हैं तो फिर वे घोड़ों के क्यों नहीं होते? यदि कहा जाए कि ये विशिष्टांग हैं—नये निकल रहे हैं—तो प्रश्न यह है कि इनका उपयोग क्या है, ये किस प्रयोजन के लिए हैं और वह प्रयोजन घोड़े के लिए क्यों नहीं है? इसी प्रकार अजा गलस्तन, मनुष्य की छठी अंगुली और मेढ़े के सींगों की उत्पत्ति का कारण भी अज्ञात ही है। बकरी के गले में जो स्तन होते हैं वे भी किसी प्राणी के अवशिष्टांग प्रतीत नहीं होते, क्योंकि ये बकरी के सिवा और किसी प्राणी में नहीं होते। ये विशिष्टाङ्ग भी प्रतीत नहीं होते, क्योंकि वंश परम्परा में इनका अस्तित्व नहीं देखा जाता।

यही हाल मनुष्य की छठी अंगुली का है। प्राणिसमूह के समस्त वर्गों, श्रेणियों, कक्षाओं और जाति-उपजातियों में, अमीबा से लेकर मनुष्यपर्यन्त एक भी प्राणी न कभी ऐसा हुआ और न इस समय है जिसके छह अंगुलियों के अस्तित्व की कल्पना की जा सके। ऐसी दशा में छठी अंगुली किसी प्राणी का अवशिष्टांग नहीं कही जा सकती। वह विशिष्टांग भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि वह वंशपरम्परा से आगे नहीं चलती। देखा जाता है कि यदि माता के छह अंगुली हैं तो पुत्र के नहीं है। इसी प्रकार माता, पिता, पितामह आदि के नहीं हैं, परन्तु सन्तान के हैं। ऐसी दशा में यह तो कहा ही नहीं जा सकता कि छठी अंगुली का विकास हो रहा है और न यही कहा जा सकता है कि यह पिछली जातियों का चिह्न है। तब क्या विकासवाद इसकी उत्पत्ति का कोई कारण बतला सकता है?

इसी प्रकार मेष—मेढ़े के सींगों की उत्पत्ति बतलाना भी कठिन है, क्योंकि मेढ़ों में भी सींग वंशपरम्परा से नहीं होते। ये कभी कहीं अकस्मात् हो जाते हैं। सम्भव है विकासवादी इनको किसी सींगवाली पूर्वजाति का अवशिष्टांग कह दें, परन्तु इसमें कुछ भी सार नहीं है। जब नरों के स्तन और मनुष्यों की छठी अंगुली अवशिष्टांगो की कल्पना का खण्डन प्रबलता से कर रही है तब अवशिष्टांगों की बात पर कोई कैसे विश्वास कर सकता है? विकासवाद इन अङ्गों की उत्पत्ति के कारणों को बतला ही नहीं सकता। उसके पास कोई उत्तर नहीं है। इसका जो उत्तर है वह आस्तिकों का ही है, जो हम ऊपर लिख आये हैं कि गर्भवासी प्राणी के विचार, माता के व्यवहार, जलवायु का प्रभाव और वीर्यकणों का संयोग ही प्राणियों में विकृताङ्गता उत्पन्न कर देता है। अपवाद को छोड़कर प्रायः मनुष्य में ही विकृत अङ्ग उत्पन्न होते हैं। अन्य प्राणियों में अन्य प्राणियों के चिह्न उद्भूत नहीं होते।

जिस प्रकार मनुष्यों में आठ या दस स्तन और पूँछ आदि के चिह्न देखे जाते हैं, वैसे पशुओं में किसी अन्य पशु के चिह्न नहीं देखे जाते। वानरों में कभी आठ-दश स्तन नहीं देखे गये, न एक-साथ एक से अधिक बच्चे ही उत्पन्न होते देखे गये हैं। यद्यपि वे मनुष्यों की अपेक्षा अनेक स्तन और एक साथ अनेक सन्तान उत्पन्न करनेवाले पशुओं के अधिक निकट हैं। वानरों के एक साथ अधिक बच्चे हो ही नहीं सकते, क्योंकि वे तो बच्चे को छाती से चिपटाये रहते हैं। यदि दूसरा बच्चा भी पैदा हो जाए तो उसका पालन-पोषण ही नहीं हो सकता, परन्तु मनुष्य के अनेक स्तन और अनेक बच्चे एक साथ होते हुए देखे गये हैं। ऐसी दशा में न तो वानर ही अन्य पशुओं का विकास सिद्ध होता है और न मनुष्य ही वानरों से विकसित हुआ कहा जा सकता है और न यही कहा जा सकता है कि मनुष्यों के अनेक स्तन पूर्वजातियों के अवशिष्टांग हैं। मनुष्यों में इस प्रकार के अङ्गों की उत्पत्ति का कारण उसकी मानसिक शक्ति की विशेष उन्नति ही है। इसी उन्नति के कारण जिस प्रकार वह उत्पन्न होने के दिन ही हर्ष, शोक और भय प्रदर्शित करता है उसी प्रकार वह गर्भावस्था में भी स्वप्रवत् अनेक योनियों के संस्कारों का स्मरण करता रहता है।

ये संस्कार माता के किन्हीं विशेष विचारों और व्यवहारों तथा जलवायु, देशकाल आदि परिस्थिति के किसी विशेष योग को पाकर उसके शरीर में चौरासी लक्ष योनि में से किसी योनि का कोई अङ्ग उत्पन्न कर देते हैं, परन्तु पशुओं की मानसिक शक्ति इतनी प्रबल नहीं होती, इसलिए उनको अपनी पूर्व योनियों का स्मरण-संस्कार न होने से उनके अङ्गों में किसी अन्य योनि केअङ्गों के चिह्न उत्पन्न नहीं होते। यह आध्यात्मिक सिद्धान्त है। इसी का पोषक भौतिक सिद्धान्त भी है। भौतिक सिद्धान्तानुसार अनेक वीर्यकणों में से दो कण एक में मिल जाते हैं तभी विशिष्टांगों की उत्पत्ति होती है, इसलिए हम यहाँ इसका भी विचार कर लेना चाहते हैं।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि मनुष्य का वीर्य छोटे-छोटे असंख्य दानों से बना होता है। वीर्य का प्रत्येक दाना एक-एक शरीर का बीज है। स्त्री के गर्भ में ये दाने जाते हैं, परन्तु अनेक कारणों से प्राय: सभी घिसकर—गलकर नष्ट हो जाते हैं, एकाध ही बच पाता है। कभी-कभी एक से अधिक दो चार भी बच जाते हैं और उतने ही बच्चे पैदा होते हैं। अपवादरूप से कभी घिसे हुए नष्टप्राय दानों के कोई-कोई अंश कभी छठी अंगुली के रूप में, कभी अनेक स्तनों के रूप में, कभी पूँछ के रूप में और कभी मस्से आदि के रूप में दिखलाई पड़ते हैं। इसी प्रकार मेढ़े के सींग भी होते हैं। भेड़ पर कभी-कभी बकरा चढ़ जाता है और उसका वीर्य गर्भाशय में गिर जाता है। उसी दिन मेढ़ा भी संयोग करता है और गर्भ स्थिर हो जाता है। बकरे के वीर्य में सींगों का उपादान होता ही है। यही अंश गर्भस्थ के शिर में खिंचकर जब जुड़ जाता है तब मेढ़े के भी सींग हो जाते हैं। यहाँ संसार में देखते हैं कि एक प्राणी के अङ्ग दूसरे प्राणी के शरीर में लग जाते हैं। पाँच पैर की गाय जिसने देखी है और उसके बनाने की विधि जो जानता है उससे छिपा नहीं है कि पाँचवाँ पैर दूसरी गाय का है और काटकर दूसरी में लगाया गया है। अभी मुम्बई में हमने इसी प्रकार से बना हुआ एक सींगधारी सीदी देखा था। विलायत में आजकल इस प्रकार के अनेक नमूने देखे जाते हैं—अन्य प्राणी के अङ्ग अन्य प्राणी में जोड़े जाते हैं। जिस प्रकार यहाँ, एक शरीर में दूसरे शरीर के अङ्ग जुड़ जाते हैं उसी प्रकार गर्भ में भी जुड़ जाते हैं।

थर्स्टन नामी विद्वान् अपनी 'वैवाहिक विज्ञान' नामक पुस्तक में लिखता है कि 'सगर्भा गाय साँड को कभी अपने पास नहीं आने देती। इतने पर भी यदि साँड़ उसपर अत्याचार कर ही ले तो जो बच्चा पैदा होगा वह तीन अथवा पाँच पाँव का—दो पूँछ अथवा दो शिर का होगा'। 'हिन्दी बंगवासी' की १७ मार्च सन् १९२४ में एक समाचार प्रकाशित हुआ था कि 'सर्विया की राजधानी वेलग्रेड के अस्पताल में २२ वर्ष के नवयुवक (पुरुष) के पेट से दो बच्चे निकाले गये हैं। इस घटना के कारणों पर विचार करते हुए वैज्ञानिकों ने अनुमान किया है कि जिस समय यह युवक अपनी माँ के पेट में था उस समय पेट में दो बच्चे और थे। किसी प्रकार वे दोनों इसके पेट में समा गये'। विकासवाद के लेखक पृष्ठ १६३ पर स्वयं लिखते हैं कि 'कइयों ने देखा होगा कि जिस वर्ष अकाल पड़ता है उस वर्ष न केवल वृक्षों की वृद्धि रुक जाती है, अपितु वृक्षों पर नये-नये अवयव फूट निकलते हैं'। इन प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि देश काल की परिस्थिति और गर्भदशा में अङ्गांशों के एक-दूसरे में जुड़ जाने से विशिष्टाङ्गों का प्रादुर्भाव हो जाता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि इन नवजात विकृत अङ्गों की वंशपरम्परा नहीं चलती, इसलिए ये अपवाद के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। जिस प्रकार छठी अंगुली, नर-स्तन, मेढ़े के सींग और अजागलस्तन अपवाद हैं, उसी प्रकार मनुष्यों के पूँछ का चिह्न, स्त्रियों के आठ-आठ, दश-दश स्तन और इसी प्रकार के मस्से आदि अन्य अवयव भी अपवाद ही है, पूर्व जातियों के

चिह्न नहीं है, अतएव विकासवाद का यह अन्तिम, प्रबल और भरोसे का कल्पनामय प्रमाणशैल भी गिर गया, अब उसके पास एक भी प्रमाण शेष नहीं है।

विकासवाद का यह मनुष्योत्पत्ति प्रकरण, यदि विचार से देखा जाए तो वह तीन बातों से सम्बन्ध रखता है—

१. मनुष्य कपिवंश की उपजाति का है।

२. इसके और वनमनुष्य के मस्तिष्क में केवल परिमाण का अन्तर है और

३. मनुष्य में अब तक पूर्व जातियों के विशिष्टावशिष्ट अवयव विद्यमान है। इन तीनों में तुलना और विशिष्टावशिष्ट अवयवों का ही समावेश है। यह तुलनात्मक वर्णन कैसा दुर्बल है वह पिछले पृष्ठों में विकासवाद के लेखक की ही साक्षी से दिखला दिया गया है। मस्तिष्क की तुलना को विद्वानों ने चींटियों की नवीन खोज से अनुपयोगी सिद्ध कर दिया है और विशिष्टावशिष्ट अवयवों को पुरुष स्तनों, अजागलस्तनों, अश्वस्तनों, मेषशृङ्गों और मनुष्य की छठी अंगुली ने निस्सार सिद्ध कर दिया है, इसलिए जिस प्रकार समस्त अन्य पशुओं की योनियों का प्रादुर्भाव विकास के द्वारा सिद्ध नहीं हुआ, उसी प्रकार मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव भी विकास के द्वारा सिद्ध नहीं होता। हमने आदि से अन्त तक देखा कि विकासवादियों के पास सिवा विशिष्टावशिष्ट अवयवों की चर्चा के अथवा सिवा सन्धियोनियों के बार-बार याद दिलाने के और कुछ भी सामग्री नहीं है। विशिष्टावशिष्ट अवयवों की निस्सारता दिखलाते हुए हमने उनकी उत्पत्ति का सच्चा कारण अच्छी प्रकार दिखला दिया है, अतः अब यहाँ सन्धियोनियों की भी चर्चा करके दिखला देना चाहते हैं कि सन्धियोनियों की उत्पत्ति का सच्चा प्रयोजन क्या है ?

सन्धियोनियाँ

सन्धियोनियों को विकासवादी मध्यम कड़ियाँ (Missing Links) कहते हैं। वर्गीकरण, तुलनात्मक, लुप्तजन्तु और भौगोलिक शास्त्रों से इनके प्रमाण एकत्र किये जाते हैं। इनके तीन विभाग हैं—

१. जो प्राणी बिलकुल दो श्रेणियों के-से आकार रखते हैं जैसे चिमगादड़, डकबिल, आर्किओप्टेरिक्स और ओपोसम आदि।

२. जिनके कुछ अङ्ग निकम्मे हो गये हैं, जैसे ह्वेल, मयूर, शुतुर्मुर्ग़, पेंग्विन आदि।

३. जिनके कई अङ्ग अधिक प्रस्फुटित हो गये हैं, जैसे कई स्तनों की स्त्रियाँ, दुमवाले मनुष्य आदि।

संख्या एकवाले प्राणियों में स्पष्ट ही दो प्रकार के प्राणियों के-से चिह्न पाये जाते हैं। ये मध्यम कड़ियाँ हैं, परन्तु इनको विकासवादी जिस प्रकार की मध्यम कड़ियाँ मानते हैं वैसी नहीं हैं। इनका कारण पुनर्जन्म है। इन मध्यस्थ प्राणियों में दो प्रकार के प्राणी होते हैं, जैसे उड़नी गिलहरी और चिमगादड़, अथवा जैसे वानर और वनमनुष्य। इन दोनों में एक उन्नत है और दूसरा अवनत है। एक नीच श्रेणियों से होकर उच्च श्रेणियों में जा रहा है, दूसरा उच्च श्रेणी के प्राणी से पतित होकर नीचे जा रहा है। मनुष्य पाप-कर्म के कारण पशु-पक्षी बनने जा रहा है, अतः वह पहले वनमनुष्य होगा फिर बन्दर होगा तब नीचे जाएगा। दूसरा नीच प्राणी पाप भोगकर उत्तर-उत्तर योनियों में होता हुआ मनुष्य होने जा रहा है, अतः वह पहले बन्दर में आया फिर वनमनुष्य हुआ तब मनुष्य हुआ। पशुयोनि से पक्षियोनि में जाने के लिए महान् अन्तर पड़ता है, अतः वहाँ भी पुल की भाँति चिमगादड़, उड़नी गिलहरी, डकविल, आर्किओप्टेरिक्स, ओपोसम आदि

जन्तु बनाये गये हैं। ये सब उन्नत और अवनत दो रूप के हैं। कोई पक्षी से पशु हो रहा है तो कोई पशु से पक्षी। जिसमें पशुता अधिक है वह पशु से पक्षी हो रहा है और जिसमें पक्षीपना अधिक है वह पशु से पक्षी हो रहा है। यही दशा सर्वत्र समझनी चाहिए।

विकासवादियों को अब तक वनस्पति और कीटों का भेद ज्ञात नहीं हुआ। वे कहते हैं कि आदि का प्राणी वनस्पति और रेंगनेवालों के बीच का था, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि पहले वनस्पति हुई फिर जन्तु। वनस्पति की पहचान है कि वह कटने से दो हो जाने पर भी जीवित रहती है और जन्तु कटने पर जीवित नहीं रहते, परन्तु कहते हैं कि कई रेंगनेवाले कीड़े कटकर दो हो जाते हैं और दोनों जीते रहते हैं, जैसे मानेर और केंचुए (Earthworm) आदि। मानेर की जातिवाले कृमियों को तो हम कृमि कह ही नहीं सकते, क्योंकि वे बहुत सूक्ष्म हैं और अधिकतर वनस्पतिवर्ग के प्रतीत होते हैं, परन्तु केंचुआ तो स्पष्ट ही कृमि प्रतीत होता है। यह प्रत्यक्ष रेंगता और डील–डौल में भी बड़ा होता है। यद्यपि यह रेंगता है और बड़ा भी प्रतीत होता है, परन्तु यह सर्प की प्रकार का हड्डीवाला नहीं है। यह वृक्षों में लिपटी हुई पीले रंग की नागबेल की प्रकार का है। इसमें और नागबेल में जो चैतन्य का अन्तर है वह बहुत थोड़ा है। नागबेल भी वृक्षों पर रेंगकर ही फैलती है, इससे इसका मेल नागबेल ही से अधिक मिलता है, क्योंकि टुकड़े हो जाने पर दोनों का जीवित रहना पाया जाता है। जिस प्रकार नागबेल हर जगह से टुकड़े होकर अपना रूप धारण नहीं कर लेती, किन्तु जहाँ अंकुर होता है वहीं से बढ़ती है, उसी प्रकार केंचुआ भी अमुक स्थान से कटने पर ही दो रूप में जीवित रहता है, प्रत्येक स्थान पर कटने से नहीं।

केंचुए के बीच में एक स्थान होता है, जहाँ छोटे–छोटे छिद्र होते हैं। इन छिद्रों में ही दूसरा प्राणी उत्पन्न करने का बीज रहता है। इनमें नर–मादा अलग–अलग नहीं होते। ये परस्पर लिपटकर उन्हीं बीज–छिद्रों में बीज की बदली और पुष्टि तथा वृद्धि करते हैं। इनको बीच से काटने पर यदि बीज–छिद्र दुम की ओर रह गया तो वह भाग भी जानदार हो जाता है, परन्तु यदि पूँछ की ओर छिद्र न हुआ तो वह टुकड़ा जीवित नहीं रहता। जिस प्रकार किसी मनुष्य के हाथ–पाँव काट डालो तो कटे हुए हाथ–पैर ज़िन्दा न रहेंगे, किन्तु जिस ओर शिर है, वह धड़ जीवित रहेगा, उसी प्रकार केंचुए के शरीर में भी सर्वत्र चेतना नहीं है। उसके अगले भाग ही में चैतन्य है। इससे स्पष्ट हो गया कि जीव सर्वत्र शरीरभर में फैला हुआ विभु पदार्थ नहीं है। केंचुए के पूँछवाले टुकड़े के साथ यदि बीज–छिद्र भी लगा हो तो वह टुकड़ा जीवित हो जाएगा। इससे ज्ञात हुआ कि बीज–छिद्र में जीवन है। बीज–छिद्र के पूँछ की ओर चले जाने से जहाँ पूँछवाला टुकड़ा जीवित हो जाता है और शिर की ओरवाला टुकड़ा बिना बीज–छिद्र के भी जीवित रहता है, जैसे मनुष्य का धड़। इससे स्पष्ट हो गया कि केंचुएँ का निज का जीव तो शिर की ओर है और दूसरे केंचुएँ उत्पन्न करनेवाले बीज (जीव) बीच में रहते हैं। कटने पर ये बीज जब पूँछ की ओर जाते हैं तब मुर्दा पूँछ को अपना धड़ बना लेते हैं और छिद्र को मुख बनाकर नये केचुए बन जाते हैं। मनुष्य आदि प्राणी में और इनमें यही अन्तर है, परन्तु इनका यह अन्तर वृक्षों के साथ मिल जाता है।

संसार में जितने वृक्ष हैं सबके वंशविस्तार का एक ही क्रम नहीं है। कोई वृक्ष फलों के द्वारा, कोई जड़ों के द्वारा, कोई डालियों के द्वारा वंशविस्तार करते हैं। केंचुए का मिलान डालियों के द्वारा वंशविस्तार करनेवाले वृक्षों के साथ मिलता है। डाली से दूसरा वृक्ष बनानेवाले वृक्ष की डाली काट लीजिए तो वृक्ष नहीं मरता, परन्तु यदि डाली ऐसी जगह से कटकर आई है कि जहाँ

अंकुर निकल सकता हो तो वह डाली नया वृक्ष बन जाएगी, किन्तु यदि साथ में अंकुर नहीं आया तो सूख जाएगी। इससे ज्ञात हुआ कि अंकुर में नया वृक्ष उत्पन्न करनेवाला बीज विद्यमान है। यह बीज उस डाल को अपना शरीर बना लेता है और आप सारे वृक्ष का जीव बनकर बैठ जाता है। जो अवस्था इस डाल की है वही अवस्था केंचुए की है। नागबेल की दशा भी बिलकुल इसी प्रकार की है, इसीलिए हमने केंचुए को नागबेल की जाति का माना है। इस विवरण से न तो चेतन जीव के कटने की कोई बात सिद्ध होती है और न इस सिद्धान्त का ही खण्डन होता है कि वृक्ष कटकर जीते रहते हैं और कृमि कटने से मर जाते हैं। यह सिद्धान्त अब भी वैसा ही बना हुआ है। केंचुए का उदाहरण सन्धियोनि का है, इसलिए वह अपवाद है, सिद्धान्त नहीं।

बन्दर और वनमनुष्य जिस प्रकार मनुष्यों और पशुओं के बीच में हैं और उड़नी गिलहरी और चिमगादड़ जिस प्रकार उतरने-चढ़ने की दो सन्धियाँ पशु और पक्षियों के बीच में हैं, ठीक उसी प्रकार नागबेल और केंचुआ भी कीड़ों और वनस्पतियों के बीच में है। केंचुए में कृमिपना और नागबेल में वृक्षपना अधिक है। केंचुआ नागबेल होकर आया है और कृमियों की ओर जा रहा है तथा नागबेल केंचवे के शरीर में होकर आई है और वनस्पति की ओर जा रही है। इस प्रकार से संसार की समस्त सन्धियोनियाँ जीवों को भिन्न-भिन्न योनियों में फिरने के लिए पुल का काम दे रही हैं। बिना इस प्रकार की सन्धियोनियों के पुनर्जन्म का काम चल ही नहीं सकता, इसलिए किसी प्राणी में दो जातियों के शारीरिक चिह्न देखकर उसे उन जातियों का विकास मानना भ्रम है।

दूसरी संख्यावाले अङ्गों का जो ह्रास हुआ बतलाया जाता है, यह भी भूल है। ये अङ्ग जब उनका पूरा काम दे रहे हैं—ह्वेल के पैर और पेंग्विन के पर जब पानी में तैरने का काम दे रहे हैं—तब क्यों माना जाता है कि उनके अङ्ग निर्बल हो गये? मोर के पर कुत्ते आदि से बचने के लिए पूरा काम दे रहे हैं। कुत्ता बकरी को जिस आसानी से पकड़ लेता है, मोर को नहीं पकड़ सकता, तब कैसे सिद्ध हो गया कि उसके परों का ह्रास हुआ हैं? यहाँ तो उलटा यह सिद्ध होता है कि परमात्मा ने कर्मानुसार जिसका जैसा शरीर बनाया है वह अपना जीवन-निर्वाह बहुत अच्छी प्रकार से कर रहा है और कर सकता है, बशर्ते कि मनुष्य हस्तक्षेप न करे। अङ्गों का निर्बल और सबल होना अपेक्षाकृत है। चील से मोर कम उड़ सकता है, पर इसका मतलब यह नहीं है कि परिस्थिति के कारण मोर के पर दुर्बल हो गये हैं। परिस्थिति से कोई पक्षी कभी अपने पर जैसे शीघ्रगामी विमान को छोड़कर पैर से चलनेवाले पशु का रूप धारण नहीं कर सकता, इसलिए अङ्गों का ह्रास मानकर सन्धियोनियों की कल्पना करना भूल है।

तीसरे क्रमवालों में अपवादरूप से कभी-कभी, कोई-कोई अङ्ग ऐसे निकल आते हैं जिससे विकासवादी कहते हैं कि ये चिह्न इनकी पूर्वजाति के हैं जो कभी-कभी दर्शन दे देते हैं, परन्तु हमने पिछले पृष्ठों में बतला दिया है कि पुरुषस्तन, छठी अंगुली, अजा गलस्तन और भेड़ (मेष) के सींग तथा नर घोड़े के स्तनों का अभाव और उसके पैर में पर के चिह्न ऐसे अङ्ग हैं जो उक्त बात को खण्डित कर देते हैं। पुरुषस्तनों का सिलसिला क्यों चला? क्या कभी पहले पुरुषों—नरों—के भी गर्भ होता था? कभी नहीं। तब ये चिह्न कहाँ से आये? अच्छा, फिर ये चिह्न घोड़े के क्यों नहीं होते। इसी प्रकार बकरे, बैल आदि में ये चिह्न अण्डकोशों के पास क्यों होते हैं? और बकरी के गले में स्तन क्यों है? क्या सृष्टि में कहीं कोई ऐसा भी जन्तु था जिसके गले में स्तन रहे हों? तब फिर ये कहाँ से आये? छोटे-छोटे पतङ्गों—कीड़ों के पर होते हैं, मछलियों के भी पर होते हैं, वे समुद्र में परों से दूर तक उछल भी जाती हैं, परन्तु क्या कोई कह

सकता है कि ये पर उनकी पूर्वजातियों के अवशिष्ट हैं ? कीड़ों के पूर्व अमीबा था, परन्तु वह परदार नहीं था, तब कीड़ों में पर कहाँ से आये ? यदि कहो कि अगले वंश के लिए उत्पन्न हुए हैं तो इन्हीं से बहुत आगे चलकर उत्पन्न मण्डूकों और सर्पणशीलों में पर क्यों नहीं हैं ? हड्डीवालों में मछली प्रथम प्राणी है, परन्तु इसके भी पर हैं। ये किस पूर्वजाति के अवशिष्ट हैं ?

प्रयाग की प्रदर्शिनी में एक मत्स्य-स्त्री आई थी और एक चुकन्दर की जड़ में मनुष्य की आकृति तथा एक दूसरे वृक्ष में मनुष्य के हाथ की आकृति देखी गई है[१]। क्या कोई बतला सकता है कि ये चिह्न उनकी पूर्व जातियों के हैं ? क्या वृक्षों और मछलियों के पूर्व भी मनुष्य था ? वृक्षों और मछलियों के पूर्व मनुष्य का अस्तित्व तो विकासवादी भी नहीं मानते तब फिर ऐसे चिह्नों का क्या कारण है ? यदि कहो कि आगे चलकर इन चिह्नोंवाली जातियाँ होनेवाली हैं तो इन चिह्नों का सिलसिला वंशानुक्रम से आगे नहीं चलता। ये अपवाद हैं, इसलिए अपवादों को लेकर किसी विद्या के सिद्धान्त बनाना बहुत बुरा है।

यहाँ तक हमने सन्धियोनियों का वर्णन करके देखा तो इससे भी विकासवाद को कुछ लाभ न दिखा, प्रत्युत हानि तो प्रत्यक्ष ही है। अब विकासवाद के पास प्रमाणों का अस्तित्व नहीं है। यहाँ तक विकासवाद का लक्षण, स्वरूप और प्रमाणों का वर्णन हुआ अब आगे विकास की विधि, अर्थात् विकास किस प्रकार होता है, उस रीति का वर्णन करते हैं।

विकास की विधि और प्रकार

विकास किस प्रकार का होता है—किस प्रकार एक प्राणी से दूसरा बन जाता है, किस प्रकार मछली का मेंढक, मेंढक का साँप, साँप का मोर और मोर की गाय बन जाती है—उसी का वर्णन विकासवाद के कर्त्ता ने अपने ग्रन्थ के पृष्ठ १५० से २०० तक में किया है। यहाँ उसी का सारांश लिखते हैं। आप कहते हैं कि तुलना, गर्भ और प्रस्तरीभूत प्राणियों के प्रमाणों से दिखलाया गया है कि प्राणियों की विभिन्नता संसार के प्रारम्भ से नहीं है। आदि में सब प्राणियों के जोड़े अलग-अलग उत्पन्न हुए, यह बात युक्ति, विचार और प्रमाणशून्य है। प्राणियों की विभिन्नता का कारण परिस्थिति और स्वाभाविक परिवर्तन ही हैं। यह परिवर्तन यन्त्र के अनुसार ही होता है। यन्त्र के दृष्टान्त में तीन बातें हैं—निर्माता के अनुकूल बन जाना, यन्त्र की अन्तिम अवस्था तक पहुँचने से पूर्व यन्त्र की जातियाँ बन जाना और सर्वश्रेष्ठ रचना का स्थिर रहना। जो अवस्था यन्त्र के विकास की है, वही प्राणियों के विकास की भी है।

विकास की प्रथम विधि में सबसे प्रथम बात अनुकूलन की है। इसको अंग्रेज़ी में Adaptation कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राणी परिस्थिति के अनुकूल बन जाते हैं। अनुकूलन के दो तत्त्व हैं—

१. भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के कारण प्राणियों में परिवर्तन उद्भूत होते हैं और

२. वे परिवर्तन सन्तति में संक्रमित होते हैं, अर्थात् सन्तान को मिलते हैं। परिवर्तनों (Variation) के भी तीन कारण हैं—परिस्थिति (Environment), कार्य (function), और पैतृक संस्कार (Hereditary Influences)। परिस्थिति से अभिप्राय सरदी, गरमी, वर्षा, नदी, नाले, वन, पहाड़ और उनमें बसनेवालों के प्रेम, भय, भूख, प्यास और रोग आदि हैं। ठण्डे देशों के आदमी जब गर्म देशों में जाते हैं तब उनको क्षय रोग हो जाता है, इसी प्रकार जब गर्म देशवाले सर्द देशों में जाते हैं तब उनको भी फेफड़ों की बीमारी हो जाती है। अँधेरे में वृक्षों के

---

१. 'विश्व की विचित्रता'—मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।

पत्ते पीले पड़ जाते हैं। ठण्डे देशों के कुत्ते जब गर्म देशों में जाते हैं तब मर जाते हैं। अवर्षण के साल वृक्ष सूख जाते हैं और उनमें नाना प्रकार के अवयव फूट निकलते हैं। कार्य (Function) से भी शरीर में परिवर्तन होता है। लोहार का हाथ कठोर हो जाता है और जो भिखारी हाथ ऊँचा किये फिरते हैं उनका हाथ पतला हो जाता है। इसी प्रकार पैतृक संस्कारों से भी शरीर में परिवर्तन होते हैं। कुष्ठ आदि बीमारियाँ सन्तति में आती हैं। विलायत में प्राय: भूरे बाल और काली आँखवालों से श्वेत केश और भूरी आँखवाली सन्तति होती है। ये थोड़-से परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कारों से होनेवाले परिवर्तनों के नमूने हैं।

विकास की दूसरी विधि डारविन के प्राकृतिक चुनाव की है। इसके पाँच तत्त्व हैं—

१. परिवर्तनों की सर्वत्र विद्यमानता,

२. अत्युत्पादन (Over-production),

३. जीवन-संग्राम (The struggle for existence),

४. अयोग्यों का नाश और योग्यों की रक्षा (Survival of the fittest)

५. योग्यताओं का सन्तति में संक्रमण।

इनमें से परिवर्तन का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक प्राणी की सन्तति में ही भेद होता है। इस भेद का भी नियम है। उदाहरणार्थ इग्लैंड में सबसे अधिक संख्या उन पुरुषों की है जो ५ फ़ुट ८ से ९ इञ्च तक लम्बे होते हैं। इनसे कम वे हैं जिनकी लम्बाई ५ फ़ुट ७ इञ्च से ८ इञ्च तक और ५ फ़ुट ९ इञ्च से १० इञ्च तक है। इनसे भी कम वे हैं जिनकी लम्बाई ५ फ़ुट ५ इञ्च से ६ इञ्च तक और ५ फ़ुट १० इञ्च से ११ इञ्च तक है। इन सबसे कम वे हैं जिनकी लम्बाई इनसे भी कम या अधिक होती है। इस घटना से यह नियम बना कि यदि पर्याप्त संख्या का मध्यमान ५ फ़ुट ८ इञ्च ज्ञात है और उससे अमुक लम्बाई न्यूनवालों की संख्या भी ज्ञात है तो अधिक लम्बाईवालों की संख्या बतलाई जा सकती है। यह परिवर्तन के निश्चित नियम का नमूना है।

अत्युत्पादन का तात्पर्य यह है कि १५ वर्ष में एक चिड़ी के जोड़े से दो अरब से कुछ अधिक सन्तति उत्पन्न होती है। पेट का एक कीड़ा तीस करोड़ अण्डे देता है। इनमें कई एक तो ऐसे कीड़े हैं जो चौबीस घण्टे में एक करोड़ साठ सत्तर लाख सन्तति उत्पन्न करते हैं। यदि सुख-शान्ति हो तो २५ वर्ष में मनुष्यसंख्या भी दूनी हो जाती है। एक जोड़े हाथी से ८०० वर्षों में दो करोड़ के क़रीब सन्तति होती है। इसी को अत्युत्पादन कहते हैं।

जीवन-संग्राम का तात्पर्य यह है कि सृष्टि में प्रत्येक स्थान पर संग्राम हो रहे हैं। चींटियों में ही युद्ध के कारण करोड़ों की मृत्यु होती है। कई मछलियाँ एक ऋतु में डेढ़ करोड़ अण्डे देती हैं, परन्तु उनके सिर पर बैठे हुए शत्रु उन्हें नष्ट कर देते हैं। एक ऋतु तक रहनेवाले पौधों से २० वर्ष की अवधि में १० लाख पौधे पैदा होते हैं, परन्तु उनके सब दाने अच्छी भूमि में नहीं पड़ते, इससे सन्तति का नाश हो जाता है। वर्षा, तूफ़ान, भूकम्प, सिंह, व्याघ्र, सर्प आदि से और अपने स्वजातियों से सदा असंख्य प्राणियों का नाश होता रहता है। इसी प्रकार नाना प्रकार की बीमारियाँ भी करोड़ों प्राणियों का नाश कर देती हैं। इसी को जीवन-संग्राम कहते हैं।

योग्यों के चुनाव का तात्पर्य यही है कि इन संग्रामों में वही बचते हैं जो दूसरों से योग्य होते हैं और वही मरते हैं जो दूसरों से अधिक निर्बल होते हैं। प्राकृतिक चुनाव की प्रवृत्ति रक्षा की अपेक्षा नाश करने की ओर अधिक है। यही योग्यों का चुनाव है।

योग्यताओं का—विशेषताओं का सन्तति में संक्रमण होता है। एक ही जाति की भिन्न-भिन्न

प्रकार के हज़ारों–लाखों व्यक्तियों को उत्पन्न करने में प्रकृति का हेतु यही प्रतीत होता है कि यदि इनमें से दो–चार या दश–पाँच भी परिस्थिति के अनुकूल होकर बच जाएँ तो उनसे उस जाति का अस्तित्व बना रहे। डारविन की यही विकासविधि है।

विकास की तीसरी विधि लामार्क की है। लामार्क कहता है कि कार्य (Function) से प्राप्त हुआ परिवर्तन सन्तति में आता है। ज़िराफ नामी पशु ने पत्तों के लिए गर्दन उठाई। उसकी सन्तति ने भी प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि गर्दन आगे को बढ़ गई। अगली सन्तति ने और अधिक प्रयत्न किया। परिणाम यह हुआ कि गर्दन आगे को बढ़ गई। अगली सन्तति ने और अधिक प्रयत्न किया और गर्दन थोड़ी और बढ़ाई। इस प्रकार बहुत पीढ़ियों तक प्रयत्न करने से उस पशु की गर्दन बहुत लम्बी हो गई।

विकास की और एक विधि, कृत्रिम और प्राकृतिक चुनाव की भी है। पशुओं के पालने-वाले कृत्रिम चुनाव से ही अच्छे–अच्छे बैल और घोड़े उत्पन्न करते हैं। किसान अच्छे बीज से ही अच्छी फ़सल पैदा करते हैं। इस कृत्रिम चुनाव से ही कबूतरों को अनेक प्रकार का बना दिया गया है। जापान के मुर्ग़ों की पूँछ बीस–बीस फ़ीट की लम्बी कर दी गई है। यह कृत्रिम चुनाव की विधि है। आस्ट्रेलिया के शशकों में पहले वृक्ष पर चढ़ने लायक़ नाख़ून न थे, परन्तु अब वैसे ही नाख़ून निकल रहे हैं। यह प्राकृतिक चुनाव का नमूना है।

विकास में कार्यकारणभाव देखा जाता है। इंग्लैंड की गाएँ विधवा स्त्रियों के अधीन जीती हैं। वहाँ एक क्लॉवर (Clover) नाम की वनस्पति होती है। इसकी वृद्धि मक्खियों पर निर्भर है। मक्खियों के अण्डे जब चूहे खा जाते हैं तब घास की वृद्धि मारी जाती है, परन्तु इंग्लैंड की विधवा स्त्रियाँ बिल्लियों को पालती हैं, बिल्लियाँ चूहों को खा जाती हैं, मक्खियों के अण्डे बच जाते हैं और मक्खियों की ख़ूब वृद्धि होती है। इन मक्खियों के परों में केसर पराग लग–लगकर उस घास में संयुक्त होती हैं, जिससे क्लॉवर की ख़ूब वृद्धि होती है और गाएँ उसे आनन्द से खातीं तथा वंश विस्तार करती हैं। इस प्रकार गायों का विधवाओं के साथ कार्यकारणभाव देखा जाता है। यहाँ भारत में भी जहाँ बिल्लियाँ होती है, वहाँ चूहे नहीं होते और जहाँ चूहे नहीं होते वहाँ प्लेग भी नहीं होता। मुसलमानों के घरों में प्रायः मांस की अधिकता रहती है, इसलिए बिल्लियों का पालना उनके लिए अधिक सरल होता है, अतः मुसलमानों में प्लेग भी बहुत कम होता है। यह भी कार्यकारणभाव का नमूना है।

आनुवंशिक परम्परा पर डारविन की सम्मति यह है कि शरीर के प्रत्येक अवयव के प्रत्येक कोष्ठ से उस–उस कोष्ठ के गुणधारी बहुत सूक्ष्म भाग (Gemmules) उत्पन्न होते हैं। ये सूक्ष्म भाग शरीर में सन्तति उत्पादक रजकणों में इकट्ठे हो जाते हैं। इनमें उसी प्रकार के शरीर उत्पन्न करने की शक्ति होती है, जिस प्रकार के शरीर में ये बनते हैं। ये शरीर की प्रतिकृतियाँ ही हैं। इन्हीं से शरीर उत्पन्न होते हैं। इसपर वाइज़मन (Wiseman) की सम्मति यह है कि शरीर के प्रत्येक कोष्ठ में क्रोमेटिङ्ग (Chromating) रहता है। इसी में आनुवंशिक गुण रहते हैं। इसमें माता और पिता के समान गुण विद्यमान रहते हैं। गर्भवृद्धि के साथ–साथ यह भी बढ़ता है और इसकी धारा सन्तति–अनुसन्तति तक लगातार बहती चली जाती है। यदि बीच में कोई परिवर्तन उद्भूत हो तो वह सन्तति में संक्रमित नहीं होता। यह कल्पना नहीं, प्रत्युत सूक्ष्मदर्शक यन्त्र से देखा जा सकता है। पहले वैज्ञानिक इसे नहीं मानते थे, किन्तु अब इसी का आदर करते हैं। यह डारविन के सिद्धान्त का पोषक है। मेंडल नामक विद्वान् ने यह तत्त्व निश्चित किया है कि पुत्र का पिता की अपेक्षा दादा के साथ अधिक मेल दिखलाई पड़ता है। डी० वाइज़ कहता है कि

नई-नई जातियाँ, कभी-कभी एकदम बिना किन्हीं पूर्व चिह्नों के उत्पन्न हो जाती हैं। इनको वह स्वयं परिवर्तित-(Spontaneous Modification)-जाति कहता है। ओसबोर्न (Osborne), बाल्डविन (Baldwin) तथा लायडमार्गन यह सम्मति देते हैं कि डार्विन और लामार्क के मत को मिला देने से प्राणियों का विकास अधिक अच्छे प्रकार सिद्ध किया जा सकता है। नेगेली (Naegeli) तथा ऐमर (Eimer) के सिद्धान्त पर कइयों का अधिक विश्वास है। अज्ञात तथा अज्ञेय शक्ति, आकस्मिक घटना तथा हेतुवाद (Teleology) पर भी कइयों का विश्वास होने लगा है। इससे स्पष्ट कह सकते हैं कि वह वास्तविक और स्वाभाविक है।

इस सारांश में तीन ही बातें हैं—

१. आदि में भिन्न-भिन्न जोड़े नहीं हुए, प्रत्युत एक ही प्राणी से सबका विकास हुआ है।

२. यन्त्रों के अनुसार ही सब विकसित हुए हैं और

३. सबका अनुकूलन होता है, परिवर्तन होता है और वह परिवर्तन सन्तति में संक्रमित हो जाता है। अनेक विद्वानों के एतद्विषयक मत इसी की पुष्टि करते हैं। हम समझते हैं कि उपर्युक्त वर्णन का यह चुम्बुक निकालने में बहुत करके ग़लती नहीं मालूम होती, अतः क्रम से इन सबका उत्तर दिया जाता है।

१. कई विद्वानों ने जो विकासवाद के माननेवाले हैं स्वीकार कर लिया है कि बहुत-से प्राणी अलग-अलग पैदा होते हैं और बहुत-से बिना रूप बदले आदि से अब तक वैसे ही बने हुए हैं। हक्सले अपने 'एनीवर्सरी एड्रेस' में कहते हैं कि 'प्रत्येक पशु और वनस्पति की महान् जातियों में विशेष व्यक्तियाँ ऐसी होती हैं जिनको मैं Persistent type, अर्थात् स्थिर आकृति का नाम देता हूँ। इनके स्वरूप में आदिसृष्टि से लेकर वर्त्तमान कालपर्यन्त कोई ऐसा प्रकट विकार नहीं हुआ जो प्रतीत हो सके'। विकासवाद का दूसरा बड़ा विद्वान् 'डी० वाइज़' कहता है कि नई-नई जातियाँ, कभी-कभी, एकदम बिना किसी पूर्व चिह्नों के उत्पन्न हो जाती हैं। इस विषय के तीसरे ज्ञाता टी०एल० स्ट्रेंज महोदय हैं। इन्होंने The 'Development of the Creation on the Earth' नामी एक बहुत अच्छा ग्रन्थ लिखा है। उसमें आप लिखते हैं कि जलकृमियों में बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न स्वरूपवाले जलजन्तु प्रतिदिन उत्पन्न होते रहते हैं। ये जन्तु एक ही जन्तु से विकृत होकर नहीं होते, प्रत्युत स्वतन्त्ररूप से, बिना दूसरे की अपेक्षा के, एक ही समय में, भिन्न-भिन्न शरीरों में उत्पन्न होते हैं। इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि अलग-अलग जोड़े उत्पन्न होते हैं। आज भी अलग-अलग प्राणी अपने जोड़ों के साथ नये-नये रूप से उत्पन्न होते देखे जाते हैं, इसलिए यह आवश्यक नहीं कि दूसरे प्राणी से विकसित होकर ही दूसरे प्राणी बनें। लाखों प्राणी आदिसृष्टि से एक ही आकार में बने हुए हैं। अमीबा स्वयं उसी आकार में अब तक बना है, जिस आकार में वह उत्पन्न हुआ था। ऐसी दशा में कैसे कहा जाता है कि पृथक्-पृथक् जोड़े पैदा नहीं हुए।

२. यन्त्र के दृष्टान्त में भी कुछ जान नहीं है। यन्त्र के उद्देश्य में और शरीर के उद्देश्य में आकाश-पाताल का अन्तर है। यन्त्र अपने लिए या दूसरों के लिए बनाया जाता है, यन्त्र के लिए नहीं, परन्तु यह शरीर, शरीर बनानेवाले के लिए नहीं बनाया जाता प्रत्युत शरीर और शरीरों के लिए ही बनाया जाता है। क्या कोई साइकिल उसी साइकिल के लिए बनाई गई है ? नहीं। वह तो बनानेवाले या बनानेवाले की जातिवालों के लिए बनी है, परन्तु यह शरीर न तो बनानेवाले के लिए और न उसकी जाति के लिए बना है, प्रत्युत उसी शरीर या उसी शरीर की जाति के लिए बनाया गया है। ऐसी अवस्था में शरीर के साथ यन्त्रों की तुलना नहीं हो सकती। हम पहले ही

लिख आये हैं कि यन्त्र उत्तरोत्तर टिकाऊ बनते हैं, परन्तु यहाँ तो सर्प और कछुआ १५० वर्ष जीते हैं और उनसे आगे बननेवाले दूसरे समस्त प्राणी उनसे कम जीते हैं। पक्षी से स्तनधारी बनाने में विकासवाद ने बड़ा ही धोखा खाया है। उसने पक्षी से ही मनुष्य को बनाया है जो उड़ने की शक्ति खोकर आज हवाई जहाज़ बनाने में सिर मार रहा है, इसलिए यहाँ यान्त्रिक दृष्टान्त ठीक नहीं बैठता।

३. अनुकूलन से परिवर्तन और परिवर्तन का सन्तति में संक्रमण बताया जाता है। विकासवाद का असल और मौलिक सिद्धान्त यही है। इसी पर सारा भवन खड़ा है। इसपर सैकड़ों मनुष्यों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, अतएव ऐसे प्रधान विषय को हम भी तनिक विस्तार से लिखना चाहते हैं। इसमें अनुकूलन, परिवर्तन और संक्रमण—ये तीन शब्द बड़े महत्त्व के हैं। अनुकूलन उसको कहते हैं कि जब जैसा देश, काल और स्थिति आवे तब उसको सह लेना और उसके अनुकूल हो जाना, अर्थात् परिस्थिति को अपने अनुकूल बना लेना या उसके अनुकूल बन जाना। अनुकूलन से परिवर्तन होता है। गर्मी के दिनों की खाल से सर्दी के दिनों की खाल में बड़ा अन्तर हो जाता है। कसरत और बिना कसरतवाले शरीर में भी अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार इन परिवर्तनों का सन्तति में संक्रमण भी होता है। यह सब-कुछ ठीक है, परन्तु इस थोड़े-से अनुकूलन, परिवर्तन और संक्रमण से यह बात कहाँ से निकल आई कि इससे साँप की भैंस हो जाती है ?

हम यदि प्रश्न करें कि पशुओं के शरीर पर बाल क्यों होते हैं तो यही उत्तर मिलेगा कि सर्दी से बचने के लिए। अच्छा टेराडेल्फ़िगो के आदमी जो सर्दी के कारण इतने ठिगने हो गये कि डारविन को ख़ुद उन्हें मनुष्य समझने में शंका हुई तो फिर अनुकूलन के लिए उनके शरीरों पर बड़े-बड़े बाल क्यों नहीं निकले ? विकासवादियों के पास इसका कोई उत्तर नहीं है, परन्तु हम लोगों की दृष्टि में इसका यही उत्तर है कि यदि उनके शरीर पर रीछ के समान बाल निकल आते या कोई अन्य अवयव इधर-का-उधर हो जाता तो उनका अन्य मनुष्यों के साथ समान प्रसव बन्द हो जाता और उनकी अलग एक जाति बन जाती, परन्तु परमेश्वर को एक जाति से दूसरी जाति बनाना स्वीकार नहीं है, इसलिए उनके शरीरों में कोई विकार नहीं हुआ।

इस उदाहरण से हमें अनुकूलन का यह तत्त्व ज्ञात हुआ कि अनुकूलन उतना ही होता है जितना उस प्राणी की रक्षा से सम्बन्ध रखता है। यह नहीं कि वह और-का-और हो जाए। अनुकूलन में ही परिवर्तन का उदाहरण भी मिला हुआ है। टेराडेल्फ़िगो के मनुष्यों में अनुकूलन से जितना परिवर्तन होना था उतना ही हुआ। यद्यपि विकासवाद की दृष्टि से छोटे होने की अपेक्षा बाल निकलना अधिक आवश्यक था, परन्तु बाल न निकलकर शरीर ही छोटा हुआ। इस परिवर्तन को अनुकूलन नहीं कह सकते प्रत्युत प्रतिकूलन ही कह सकते हैं। यन्त्र के उदाहरण से कह सकते हैं कि यह छोटे शरीर की मशीन पहली से ख़राब ही बनी, क्योंकि कोई मशीन पहली मशीन से छोटी—दुर्बल बन जाए, कोई मनुष्य किसी देश में जाकर छोटा या दुर्बल हो जाए तो यह परिवर्तन उसके अनुकूल नहीं, प्रत्युत प्रतिकुल ही कहा जाएगा, किन्तु विकासवाद की विचित्र व्याख्या है, जिसमें अनुकूल और प्रतिकूल अनुकूल ही कहलाते हैं। जिस प्रकार इस उदाहरण में अनुकूलन और परिवर्तन का सिद्धान्त भरा है उसी प्रकार परिवर्तन का सन्तति में संक्रमण भी स्पष्ट दिखलाई पड़ रहा है। टेराडेल्फ़िगो के मनुष्यों ने परिवर्तित होकर जितना परिवर्तन अपनी सन्तति को दिया है, उतना ही स्थिर है। जितने ठिगने वे हज़ारों वर्ष पूर्व थे, उतने ही अब भी हैं। यह नहीं है कि प्रतिवर्ष अधिकाधिक ठिगने होते जाते हों। यही गुणों का संक्रमण

है। पिता अथवा पितामह की ही भाँति बन जाना संक्रमण है, और–का–और बन जाना नहीं।

यहाँ तक विकास की तीनों विधियों का स्पष्टिकरण हो गया और परिवर्तन की तीनों विधियों (परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कारों) का मर्म भी उक्त विवेचन में आ गया। फिर भी इतना और जानना चाहिए कि इनमें अभी मतभेद है। विकासवाद के कर्त्ता लिखते हैं कि 'पैतृक संस्कार' (Hereditary Influence) का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। इसपर अभी पूरा विचार नहीं हुआ, क्योंकि 'बफन' नामक विद्वान् परिस्थिति को महत्त्व देता है। वह कहता है कि गर्म देश में रहने से शरीर काले हो जाते हैं और वह रंग उनकी सन्तति में आता है, परन्तु 'लामार्क' नामक विद्वान् कहता है कि इसका कारण 'कार्य' है। देखो लोहार का दाहिना हाथ मज़बूत होता है और यह बात जन्म से ही उसके लड़के में होती है, किन्तु डारविन इन दोनों के विरुद्ध प्राकृतिक चुनाव को ही महत्त्व देता है। वह कहता है कि संक्रमणशीलता का कारण प्राकृतिक चुनाव है। यद्यपि इन सबमें मतभेद है, परन्तु परिवर्तन सब मानते हैं। ठीक है, परिवर्तन तो हम भी मानते हैं। एक घर में ही भिन्न–भिन्न आकृति, बल और बुद्धि के मनुष्य हैं तथा देश–देशान्तरों के मनुष्यों में भी अन्तर है, परन्तु वे सब दूसरी जाति तो नहीं बन गये? हैं तो सब मनुष्य ही?

अब आगे डारविन के प्राकृतिक चुनाव (Natural Selection) को देखते हैं। उसके पाँच तत्त्व हैं। १. परिवर्तनों की सर्वत्र विद्यमानता, २. अत्युत्पादन, ३. जीवन–संग्राम, ४. योग्यों का चुनाव और ५. उस योग्यता का सन्तति में संक्रमण।

इनमें सबसे प्रथम परिवर्तन की बात है, किन्तु हम देखते हैं कि प्रकृति में सर्वत्र परिवर्तन विद्यमान नहीं है। अभी हम ऊपर स्थिर योनियों का वर्णन कर आये हैं कि उनमें आदिसृष्टि से लेकर आज तक परिवर्तन नहीं हुआ। अमीबा आज भी वैसा ही बना हुआ है जैसा लाखों वर्ष पूर्व था। हाइड्रा भी वैसा ही बना हुआ है। इसी प्रकार जितने भी प्राणी देखने में आ रहे हैं बिलकुल वैसे ही हैं जैसे वे लाखों वर्ष पूर्व थे। विकासवाद और हमारे मध्य इतना ही तो झगड़ा है। विकासवाद कहता है कि प्रत्येक स्थान पर निरन्तर परिवर्तन अव्याहत गति से चालू है। हम कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु की आयु के हिसाब से तो परिवर्तन हो रहा है, सब प्राणी या तो जवान हो रहे हैं या वृद्ध हो रहे हैं, जिसे ह्रास–वृद्धि कह सकते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि पृथिवी धीरे–धीरे रेल बन रही है और समुद्र पुच्छलतारा हो रहा है। जिस प्रकार पथिवी रेल नहीं बन रही और समुद्र पुच्छलतारा नहीं बन रहा, उसी प्रकार कबूतर भालू नहीं बन रहा, घोड़ा साँप नहीं बन रहा और गधा बिच्छू नहीं बन रहा।

जलवायु, माता–पिता और पूर्व संस्कारों के कारण जो परस्पर भिन्नता दिखलाई पड़ती है, उतना ही परिवर्तन है। यह न समझना चाहिए कि आगे चलकर किसी देश के आदमी हरे रंग के होनेवाले हैं अथवा किसी देश के ऊँटों के शिर पर सींग निकालनेवाले हैं। जो प्रदेश समुद्र में हैं, यद्यपि उनके जलवायु का पता नहीं है कि वहाँ यदि भूमि निकल आवे और आदमी बस जाएँ तो लाखों वर्ष में वे किस प्रकार के हो जाएँगे, परन्तु इतना तो निश्चय है कि जो रूप–रंग और आकार–प्रकार इस समय संसार में प्रस्तुत है, इन्हीं में तनिक–से हेर–फेर के साथ वहाँ का भी रूप–रंग और आकार–प्रकार होगा। ऐसा न होगा कि अटलांटिक सूखने पर यदि कोई टापू बनेगा तो वहाँ के निवासी ८५ हज़ार वर्ष में बैंगनी रंग के हो जाएँगे और उनके कान बढ़कर पैर तक आ जाएँगे, जिनका यदि वे बुद्धि से प्रयोग करेंगे तो मज़े में पक्षी के परों का काम देंगे। ऐसी बातें शराबघर की गप्पें हैं।

The Effect of Environment
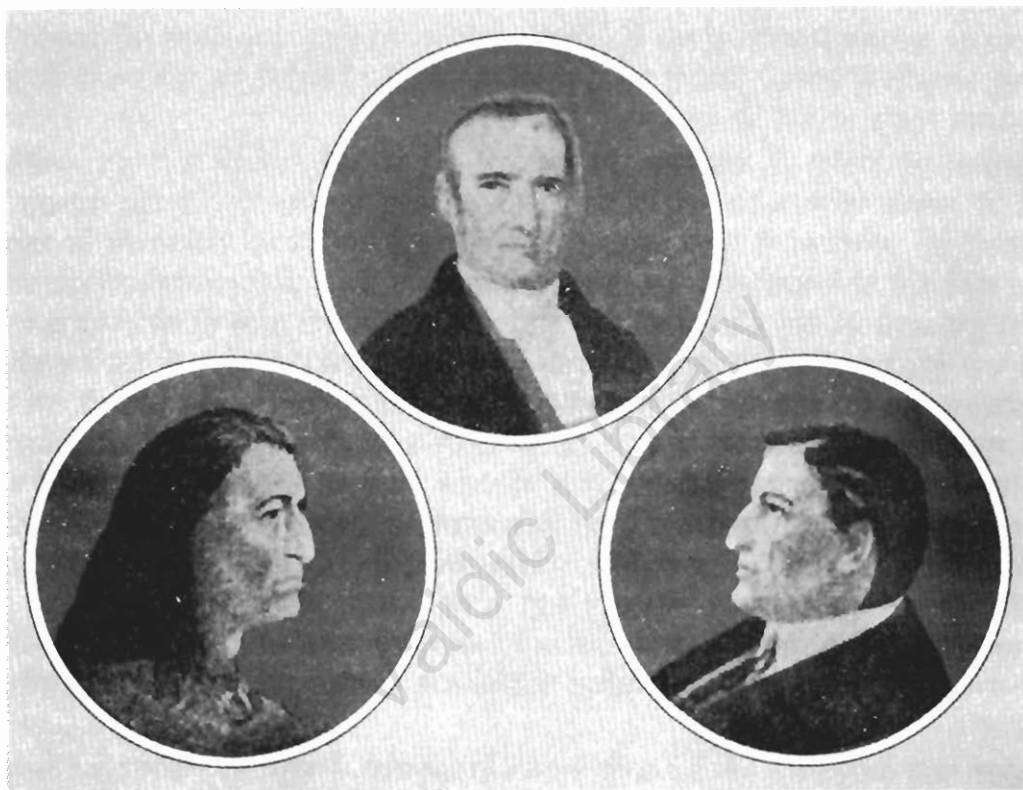
Mr. Bryce points out that the physical features of a people are determined chiefly by their environment. These illustrations show (at top) a typical English settler in the old colonial days of America, a native Red Indian (left) and a typical American of to-day (right). Without any intermingling of red men and white the modern American, thanks to the climatic condition, resembles the Red Indian far more closely than he does his own ancestor of the colonial days.

(Harmsworth History of the World, Vol. I, p. 23)

परिवर्तन का एक उत्तम नमूना अमेरिका में बन रहा है। यूरोप से जो विदेशी अमेरिका में जाकर बसे हैं, क्रम-क्रम से उनका आकार-प्रकार वहाँ के मूल निवासी रेड इण्डियनों का-सा हो रहा है। यह बात सामने के चित्रपट में अच्छी प्रकार दिखलाई पड़ती है। इसमें अलग-अलग तीन चित्र हैं। ऊपरवाला चित्र अमेरिका में उपनिवेश बसाने के समय गये हुए अंग्रेज़ यात्रियों का है, बाईं ओर का चित्र अमरीका के मूलनिवासी रेड इण्डियन का है और दाहिनी ओर का चित्र अमेरिका के वर्त्तमान निवासियों का है। यद्यपि दाहिनेवाला चित्र ऊपरवालों की सन्तान का ही है, परन्तु आकृति में उसकी जितनी समता अमेरिका के मूल निवासी रेड इण्डियनों के साथ है, उतनी अपने पूर्वज अंग्रेज़ों के साथ नहीं है।

अंग्रेज़ों को इंग्लैंड से अमेरिका गये हुए अभी पूरे चार सौ वर्ष भी नहीं हुए, क्योंकि सन् १५९८ में सबसे पहले कोलम्बस ने अमेरिका का पता लगाया था। उसके पश्चात् ही से यूरोपवालों का अमेरिका में जाना आरम्भ हुआ और इस आरम्भिक गमनागमन के बहुत दिन पश्चात् वहाँ अंग्रेज़ों ने उपनिवेश बसाया है। इसी से कहते हैं कि इंग्लैंडनिवासियों को अमेरिका में पहुँचे हुए अभी पूरे चार सौ वर्ष भी नहीं हुए, परन्तु इंग्लैंडवाले इतने ही थोड़े समय में लाखों वर्ष से बसे हुए रेड इण्डियनों के रूप-रंग के हो गये हैं। इससे ज्ञात होता है कि रेड इण्डियनों का परिवर्तन बन्द है। यदि ऐसा न होता तो दोनों का कभी साम्य न होता। चार सौ वर्ष में यदि अंग्रेज़ मूल निवासियों-जैसे हो पाये तो रेड इण्डियन उतने ही वर्षों में दूसरी ही प्रकार के हो जाते, किन्तु वहाँ के जलवायु ने जितना कुछ परिवर्तन करना था उतना उनमें भी लाखों वर्ष पूर्व ही कर डाला था। यह एक ऐसी बात है जो विकासवाद के परिवर्तन की बेतहाशा दौड़ को धीमा कर देती है। हमने यहाँ टेराडेलिफ़गो और अमेरिकावालों का परिवर्तन दिखलाकर यह बतलाया कि परिवर्तन की हद है, बेहद परिवर्तन नहीं होता, अर्थात् जो कुछ परिवर्तन होता है वह नियमित और मर्यादित होता है। उससे एक जाति की दूसरी जाति नहीं बन जाती और न परस्पर का सम्बन्ध ही टूटता है, इसलिए मर्यादित परिवर्तन से डारविन का अमर्यादित परिवर्तन सिद्ध नहीं होता।

दूसरी बात अत्युत्पादन की है। अत्युत्पादन और उत्पादन में बहुत बड़ा अन्तर है। अत्युत्पादन मानुषीय है और उत्पादन ईश्वरीय है। ये दोनों एक बड़े प्रबल नियम के अनुसार होते हैं जिसके छह विभाग हैं—

१. कर्मानुसार जाति, आयु और भोगों को लेकर पैदा होना,

२. अपनी जाति, आयु और भोगों से उनको हानि-लाभ पहुँचाना, जिनका कभी हानि-लाभ किया था,

३. पहले भोग्य और पश्चात् भोक्ता का उत्पन्न होना,

४. सब प्राणियों के जोड़े बराबर बने रहना, अर्थात् यदि किसी जाति के नर या मादा की अमुक संख्या मार दी जाए तो उसकी अधिक उत्पत्ति होकर युग्म पूरे हो जाना,

५. बिना पूर्ण आयु जिये यदि बीच में किसी जाति की अमुक संख्या मार दी जाए तो उसकी वह संख्या शीघ्र उत्पन्न हो जाना और

६. यदि पैदा होनेवाले जीवों (लिङ्गशरीरों) को पैदा होने के लिए पर्याप्त माता-पिता न मिलें तो शेष माता-पिताओं में ही अत्युत्पादन द्वारा पैदा होकर सृष्टि को विकृत करना।

इन छह विभागों में तीन ईश्वरीय उत्पादन के हैं और तीन अत्युत्पादन के। जब तक प्राणियों में अकाल मृत्यु नहीं होती, तब तक ईश्वरीय नियमित उत्पादन होता रहता है, परन्तु जब हिंसा,

भूख, युद्ध और प्राकृतिक विप्लवों से प्राणियों की अकालमृत्यु होती है तभी से अत्युत्पादन का आरम्भ होता है। प्राणियों की अकालमृत्यु का कारण मनुष्यों की कामुकता और सृष्टिविस्तार है, इसलिए मनुष्य स्वयं जब तक अपने नियमों को ठीक न करे और स्वयं सन्तति उत्पन्न करना कम न करे तब तक मनुष्यसमाज में कलह, युद्ध, बीमारियाँ और पाप कम नहीं होते। पापी मनुष्य ही अन्य योनियों में जाते हैं, भीड़ उत्पन्न करते हैं और अकालमृत्यु के द्वारा मरते और मारे जाते हैं, परन्तु यदि मनुष्य दूसरों को उत्पन्न करना कम कर दे तो स्वयं भी उत्पन्न न हो, अर्थात् जन्म-मरण से रहित हो जाए। मनुष्य के मोक्षाभिमुखी होते ही नियमित वंश रह जाएँ और संसार की भीड़ छँट जाए। नियमित सन्तति की नियमित वृद्धि के लिए जिस प्रकार पृथिवी अब तक स्थान देती जा रही है उसी प्रकार आगे भी पहाड़, समुद्र और मरुस्थल धीरे-धीरे रूप बदल-बदलकर ख़ुराक उत्पन्न करने योग्य होते जाएँगे, परन्तु अनियमित अत्युत्पादन के लिए पृथिवी में स्थान नहीं है। यदि मनुष्य मोक्षाभिमुखी हो जाए तो यहाँ की भीड़ छँट जाए और तकरार बन्द हो जाए। पहले समय में न तो इतनी वृद्धि थी, न कलह। इसका कारण यही था कि मनुष्य सादे, कम सन्तति पैदा करनेवाले और मोक्षाभिमुखी थे।

सृष्टि में जो अत्युत्पादन शक्ति देखी जाती है वह स्वाभाविक नहीं, किन्तु नैमित्तिक है और बहुत थोड़े दिन से है। जब से मनुष्यों ने स्वाभाविक जीवन निर्वाह करना छोड़ दिया तभी से सृष्टि में 'वंशवृद्धि' और अकारण मृत्यु का क्रम आरम्भ हुआ। मनुष्यों ने अपने बुद्धि-स्वातन्त्र्य से सृष्टि के नियमों का भंग करके महान् व्यतिक्रम उत्पन्न कर दिया है और सृष्टि को उसके स्वाभाविक मार्ग से च्युत कर दिया है। प्राणियों की जो बहुलता देखी जाती है उसके अनेक कारण हैं। प्रथम कारण तो यह है कि आजकल मोक्ष का मार्ग रुका हुआ है। प्राणियों का वास्तविक निवास अनन्त परमात्मा है। वहाँ न जाकर जब प्राणी संकीर्ण स्थानों में ही एकत्र होने लगते हैं, तब निःसन्देह भीड़ अधिक हो जाती है। भीड़ के कारण बीमारी, दुष्काल और युद्ध होते हैं। जिससे सब प्राणी अल्पायु में ही मरते हैं और अपने शेष फल भोगने के लिए उन्हीं योनियों में फिर आते हैं। उधर मनुष्य भी अधिक पापी होकर उन्हीं योनियों की संख्या बढ़ाते हैं। बढ़ी हुई सृष्टि के कारण सबको पोषण और शान्ति नहीं मिलती, अतः अल्पायु में ही सब मरते अथवा मारे जाते हैं और फिर-फिर पैदा होते हैं। कभी-कभी तो मरे हुओं को पैदा होने के लिए पर्याप्त माता-पिता ही नहीं मिलते। जो माता-पिता शेष बच जाते हैं, उन्हीं के गर्भ से सबके सब उत्पन्न होने लगते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि एक ही प्राणी बहुत-सी सन्तति पैदा करता है।

प्राणियों के भक्षण, जंगलों के नाश और खनिज तथा यान्त्रिक उद्योगों से मनुष्यों ने सृष्टि में महान् व्यतिक्रम (disturbance) पैदा कर दिया है। यदि मनुष्य मांस खाना छोड़ दे तो सब प्राणी अपनी पूर्ण आयु भोगकर ठीक मृत्यु के समय मरें और मृत्यु पर मरे हुए प्राणियों के मृत शरीर, मांसाहारी जन्तुओं को मिलें। परिणाम यह हो कि अभी जो प्राणी भूख से अन्य प्राणियों को जीता ही मारकर खा जाते हैं, यह क्रम बन्द हो जाए। अकालमृत्यु से बचे हुए ये प्राणी अपनी पूर्ण आयु तक जीकर अपने भोग भोगकर दूसरी योनियों में चले जाएँ और वहाँ भी इसी सुविधा के अनुसार कर्मफलों को भोगकर मनुष्य हो जाएँ। मनुष्य होकर अपना कर्त्तव्य कर्म करें तो मोक्ष हो जाए। इस प्रकार यह मोक्ष की सड़क यदि खुल जाए और सब मनुष्य उधर के पथिक बन जाएँ तो अत्युत्पादन, जीवन-संग्राम और बलवानों की जीत आदि का सारा क्रम बन्द हो जाए।

मांस-भक्षण की भाँति जंगलों का काटना भी है। मनुष्यों ने जंगलों को काटकर अपनी वास्तविक ख़ुराक फल का और पशुओं के चारे-घास का स्रोत बन्द कर दिया है। जंगलों के

कटने से बरसात भी बन्द हो गई है, अत: पोषण के लिए जितना अन्न चाहिए उतना उत्पन्न नहीं होता। इससे भी अकालमृत्यु की वृद्धि हुई है। इसी प्रकार कल-कारख़ानों, यन्त्रों, तन्त्रों और खनिज पदार्थों के निकलने से भी मनुष्यों और पशुओं का कर्मक्षेत्र रुका है तथा प्राकृतिक विप्लव (disturbance) हुआ है। जंगलों के कटने से मेघों में और भौगर्भिक उत्पात से वायुचक्र तथा विद्युत् आदि में न जाने क्या-क्या अस्वाभाविकता आई है और भीतर-ही-भीतर ज्ञात नहीं प्राणियों को पूर्ण आयु जीने में कितनी रुकावट हुई है। कहने का तात्पर्य यह कि इस समय मनुष्यों ने मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, तृण-पल्लव, खान-पहाड़ और नदी-समुद्र आदि सभी को अस्वाभाविक दशा में कर दिया है, जिससे प्राणिमात्र अल्पायु हो गये हैं। मनुष्यों में यही पाप बढ़ा है, इसीलिए समस्त मनुष्य मरकर पशु होते हैं। हिंसा से पशुओं की आयु कम होती है, अत: वे कर्म भोगे बिना ही मरते हैं और शेष कर्म भोगने के लिए उन्हीं योनियों में फिर पैदा होते हैं। आगमन अधिक होने से ही प्राणियों की भीड़ अधिक हुई है, उत्पादन बढ़ा है और संग्राम, कलह तथा नाश की मात्रा भी बढ़ी है, परन्तु यदि मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्थिति में आ जाए और ऊपर कहा हुआ सारा विप्लव बन्द कर दे तो कम-से-कम इतना तो अवश्य हो सकता है कि असंख्य प्राणियों की अकालमृत्यु बन्द हो जाए और उनका बारबार पैदा होना भी बन्द हो जाए। कहने का तात्पर्य यह कि यदि मनुष्यों का पशु होना बन्द हो जाए तो अत्युत्पादन भी बन्द हो जाए।

जब अत्युत्पादन ही अस्वाभाविक है तब उससे उत्पन्न हुआ जीवन-संग्राम भी अस्वाभाविक और कृत्रिम है। वह नियमित सन्तति में नहीं होता। अत्युत्पादन का कम करना मनुष्यों के हाथ में है, इसलिए जीवन-संग्रामों का बन्द कर देना भी मनुष्यों के ही हाथ में है। पृष्ठ १८१ पर विकासवाद के लेखक जो कहते हैं कि 'रक्षा की अपेक्षा नाश की ओर प्राकृतिक चुनाव की अधिक प्रवृत्ति है' यह बात उन्हीं के दूसरे वाक्य से खण्डित हो जाती है। पृष्ठ १७५ पर आप कहते हैं कि 'इसमें प्रकृति का यही तात्पर्य है कि दो-चार, दस-पाँच भी बच जाएँ तो इस जाति का अस्तित्व बना रहे'। भला जहाँ नाश की ओर अधिक झुकाव होगा वहाँ दो-चार, दस-पाँच को बचाकर वंशरक्षा का क्या प्रयोजन होगा? कुछ भी नहीं। यह कभी हो ही नहीं सकता कि जो नाश चाहता हो वही वंशरक्षा भी चाहता हो। यथार्थ में बात यह है कि प्रकृति रक्षा ही चाहती है, नाश नहीं। यदि रक्षा न चाहती तो आज संसार में शून्य ही होता। किन्तु हाँ, अस्वाभाविक उत्पादन से संग्राम अवश्य होते हैं जो रोके जा सकते हैं, इसलिए जीवन-संग्राम सृष्टि का नियम नहीं हो सकता, वह अपवाद ही है।

जीवन-संग्राम में ही योग्यों के चुनाव की बात कही जाती है, किन्तु हम संसार में देखते हैं कि योग्यों का चुनाव होता ही नहीं। ऊपर इंग्लैंड के मनुष्यों की ऊँचाई का नियम दिया हुआ है। उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सबसे अधिक संख्या मध्यम स्थिति की लम्बाईवालों की ही है। बहुत ही छोटे और बहुत ही लम्बे मनुष्य थोड़े हैं। यदि योग्यों के चुनाव का सिद्धान्त ठीक होता तो सबसे अधिक संख्या सबसे अधिक ऊँचे मनुष्यों की ही होती, क्योंकि मनुष्य की ऊँचाई भी एक योग्यता ही है, परन्तु इन योग्यों की संख्या महा छोटे मनुष्यों के बराबर है जो लम्बाई के हिसाब से महा अयोग्य हैं। यहाँ महा अयोग्यता, महा योग्यता का मुक़ाबला कर रही है और जब तक ये दोनों टकराते हैं तब तक मध्यम, अर्थात् साधारण लोग दोनों को पीछे हटाकर आगे बढ़ रहे हैं और संख्याक्षेत्र में अपनी विजयपताका लहरा रहे हैं।

अमीबा सबसे छोटा है और निर्बल है, परन्तु है सबसे अधिक। जितने छोटे कीड़े हैं, सब

संख्या में अधिक हैं और मनुष्य से अधिक तो प्रायः (हाथी–सिंहादि कुछ प्राणियों को छोड़कर) सभी साधारण प्राणी हैं। संख्या में इनकी विजय है। मनुष्य को बल में हाथी, घोड़ा, ऊँट आदि ने भी परास्त कर दिया है। दीर्घ जीवन में साँप और कछुआ बाज़ी मार ले–गये हैं और बुद्धि में चींटी सबसे प्रथम निकली है। परिश्रम, सञ्चय, प्रबन्धन और कारीगरी में शहद की मक्खी का स्थान प्रथम है। ये सब प्राणी अपने उत्तरवर्ती योग्यों से जब अधिक योग्य सिद्ध हो रहे हैं, तब कैसे कहा जाता है कि योग्यों का चुनाव होता है। योग्यों का चुनाव होता तो जर्मन की विजय होती, परन्तु वैसा नहीं हुआ। भारत अपने पतन के समय संसारभर में योग्य था, परन्तु अयोग्य सिद्ध हुआ। इन बातों से यह सिद्ध नहीं होता कि योग्यों की ही विजय होती है। हाँ, रोगी मनुष्य किसी समय पड़ा–पड़ा यदि शत्रु के बारूदघर में आग लगा दे और उससे उस दल की विजय हो जाए तो शायद विकासवादी बीमारी को ही योग्यता कहने लगें, परन्तु बात यह नहीं है। योग्यता योग्यता ही है। सभी कुछ योग्यता नहीं है। जीवन–संग्राम में हमें पक्षियों के परों को, कछुवा तथा साँप की आयु को और चींटी की बुद्धि को कभी न भूलना चाहिए। ये तीनों ही जीवन की वास्तविक योग्यताएँ हैं। उड़ना कितनी विशेष बात है, अधिक जीना उससे भी बड़ी विशषता है और बुद्धिमान् होना तो सबसे बड़ी विशेषता है, परन्तु जो जन्तु चींटी से आगे बढ़कर कानखजूरे आदि में होंगे उनके पल्ले क्या पड़ा होगा? साँप और कछुवा की–सी आयु छोड़कर पंख पा गये तो क्या? चींटी की अक़्ल, सर्प की आयु और पक्षी की उड़ने की शक्ति खोकर ये स्तनधारी ही हुए तो क्या? लीमर, बन्दर, गाय, भैंस, सुवर, कुत्ता आदि होकर इन्होंने कौन–सी योग्यता सम्पादन की? यदि स्तनधारियों में मनुष्य न होता, तो विकास की सार्थकता भी ज्ञात न होती। जब तक वह नहीं हुआ था तब तक उत्क्रान्ति में कौन–सी योग्यता का विकास था? कुछ नहीं, अतः यह ग़लत है कि योग्यतावाले ही बचते हैं, अयोग्य नहीं।

योग्यता का सन्तति में संक्रमण होना तो बिलकुल ही ग़लत है। हम संसार में देखते हैं कि सन्तान को अयोग्यता ही अधिक मिलती है, क्योंकि अयोग्यों की ही संख्या अधिक है। संसार में निर्धन, निर्बल और निर्बुद्धि ही अधिक पाये जाते हैं। ज्ञानी के लड़के में आप–ही–आप ज्ञान का संक्रमण नहीं होता। मनुष्य यदि अपनी सन्तान को अच्छा बनाने में सावधान न रहे तो वह सबकी सब बिगड़ ही जाए। ऐसी दशा में जब संसार में निर्बलों की,कम उम्रों की, बुद्धिहीनों की ही संख्या अधिक है, तब यह नहीं कहा जा सकता कि योग्यों का ही चुनाव होता है, वही रह जाते हैं और शेष मर जाते हैं। क्या अभी जापान के प्राकृतिक विप्लव में सब अयोग्य ही मरे? क्या जर्मन–युद्ध में सब अयोग्य ही मरे? नहीं, दोनों प्रकार के मरे। हाँ, योग्य गिन्ती में कम अवश्य मरे, परन्तु इसका कारण उनकी संख्या का कम होना ही है। योग्य संसार में कम होते ही हैं। योग्य तो मोक्ष को जाते हैं। संसार तो अयोग्यों के लिए ही हैं, अतः योग्यों के चुनाव का सिद्धान्त ग़लत है और इसके साथ योग्यता का सन्तति में संक्रमण भी ग़लत है।

इस मत से डारविन को भी सन्तोष नहीं था। विकासवाद के लेखक पृष्ठ १८५ पर लिखते हैं, कि 'यह बात दूसरी है कि परिवर्तनों के उद्‌गमों तथा उसके सन्ततिक्रमों का ठीक प्रकार का कार्यकारणवाद अभी निश्चित न हुआ हो। डारविन महाशय भी यह मानते थे कि प्राकृतिक चुनाव विकास का एक मार्ग है, विकास की युक्तियुक्तता बतलाने में उससे अच्छी सहायता मिलती है'। इसी प्रकार पृ० १७३–१७४ पर वे कहते हैं कि 'नई उपजातियों की उत्पत्ति करने में (परिस्थिति, कार्य और पैतृक संस्कार) इन तीन में से कौन–सी अधिक–कार्यकर और कौन–सी कम कार्यकर है, इसका अब तक पूर्णतया निश्चय नहीं हुआ। इस विषय में बहुत मतभेद है

तथापि सब वैज्ञानिकों का इस बात पर एक मत है कि ये तीन बातें कम वा अधिक परिमाण में विकास की उत्पादक है'। इन बातों से यही प्रतीत होता है कि डारविन और उनके अन्य शिष्य-प्रशिष्यों को अब तक विकास के कारणों का यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ। वे अब तक किसी पूर्ण निश्चय पर नहीं पहुँचे।

प्राकृतिक चुनाव की विधि पूर्ण विश्वस्त नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक चुनाव का अब तक केवल एक ही सन्दिग्ध प्रमाण दिया गया है। पृ० १९१ पर ग्रन्थकार कहते हैं कि 'आस्ट्रेलिया के शशकों में वृक्षों पर चढ़ने योग्य नाख़ून निकल रहे हैं। यदि यह बात ठीक है तो शशकों की एक नई जाति बननेवाली है'। यद्यपि ग्रन्थकार को अभी स्वयं इस बात पर विश्वास नहीं है, तथापि हम मान लेते हैं कि नाख़ून थोड़े-बहुत बढ़ गये होंगे, परन्तु बात तो यह है कि क्या तनिक-से नाख़ूनों के बढ़ने से एक नई जाति उत्पन्न हो गई? क्या उन शशकों का अन्य शशकों के साथ समानप्रसव बन्द हो गया? यदि बन्द नहीं हुआ तो अभी तक उसे दूसरी जाति नहीं कह सकते। जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति में कुछ भेद है और प्रत्येक देश के मनुष्यों में भेद है—हब्शी और चीना में भेद है—उसी प्रकार का भेद इन शशकों में भी हुआ है, किन्तु जिस प्रकार हब्शी और चीना एक ही जाति के दो रूप हैं, उसी प्रकार शशकों में भी यह देशगत भेद हो सकता है, अत: इसे नई जाति नहीं कह सकते, क्योंकि सृष्टि में दो प्रकार का प्राकृतिक चुनाव देखने में आता है। एक तो देशभेद से एक ही जाति के रूपों में कुछ अन्तर हो जाना और दूसरा अकस्मात् किसी जाति के अङ्गों में वृद्धि हो जाना।

पहला नमूना सबके सामने है। यद्यपि चीना और हब्शी में कुछ भेद है, परन्तु जातिभेद नहीं है। दूसरा नमूना दीमक का है। दीमक में अकस्मात् बड़े-बड़े पर निकल आते हैं। ये दीमक पतङ्गे बन जाते हैं। अब देखना चाहिए कि आस्ट्रेलिया के शशक यदि देश और जलवायु आदि भेद से उतना ही विकास करेंगे जितना कि हब्शी और चीना ने किया है तो दूसरी जाति न होगी। नाख़ून थोड़ा बढ़ जाएँगे, परन्तु समानप्रसव, भोग और आयु समान ही रहेगी, किन्तु यदि उनके नाख़ून बेहिसाब बढ़े तो उसका जो परिणाम होगा उसका नमूना सृष्टि ने पतङ्गों में दिखला दिया है। सबने देखा होगा कि कभी-कभी किसी कारण से दीमक के पर निकल आते हैं जो बहुत लम्बे होते हैं, किन्तु पर निकलते ही—पतङ्गा बनते ही—इनका सर्वनाश हो जाता है। न इनका परवाला पंश चलता है और न इनकी संसार में नई जाति ही स्थिर रहती है।

विकासवाद के लेखक आस्ट्रेलिया के ख़रगोशों की स्थिति पर स्वयं शङ्का करते हैं। वे कहते हैं कि 'यदि यह बात सत्य है'। ऐसी दशा में हम भी उसकी कोई विशेष आलोचना नहीं कर सकते, किन्तु एक सृष्टि का नियम सुना देते हैं कि पृथिवी का प्रत्येक भाग अपने प्रभाव से प्राणी के शरीर पर कुछ फेरफार कर देता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि वह फेरफार बहुत शीघ्र स्थिर हो जाता है। यह नहीं है कि प्रलयपर्यन्त फेरफार होता ही रहे। हम पीछे अमेरिका के रेड-इण्डियनों का वर्णन करके चित्रसहित दिखला आये हैं कि देश के कारण जो परिवर्तन होता है वह शीघ्र ही स्थिर हो जाता है और उस जाति के अन्य देशस्थ प्राणियों से सन्तति उत्पन्न होना बन्द नहीं होता, अर्थात् कोई दूसरी जाति नहीं बनती, परन्तु यदि कहीं कारणवश किसी प्राणी के शरीर में कोई अमर्यादित विकास हुआ तो वह प्राणी या प्राणिसमूह पतङ्गे की भाँति नष्ट हो जाता है—उसका वंश नहीं चलता—उस प्रकार की कोई नवीन जाति संसार में उत्पन्न नहीं होती, अतएव प्राकृतिक चुनाव से नवीन जाति का बनना असम्भव है, असत्य है। पूर्व पृष्ठों में विकासवाद के असल सिद्धान्त का खण्डन हो गया कि प्रकृति स्वाभाविक रीति से कोई नवीन

जाति नहीं बनाती।

अब उन कारीगरियों के नियम भी जान लेने चाहिएँ जिनके द्वारा वृक्षों और पशु-पक्षियों को मनुष्य विलक्षण प्रकार का बना देता है। इसी को कृत्रिम चुनाव कहते हैं। जापान और अमेरिका ने इन बातों में बड़ी उन्नति ही है। जापानवाले मुर्ग़ों की पूँछों को बीस-बीस फ़ुट लम्बी बना देते हैं और बड़े-बड़े वृक्षों को इतने छोटे बना देते हैं कि देखकर आश्चर्य होता है। अमेरिका के लूथर वरबैंक नामक माली ने अनेक प्रकार के फल-फूलों को विचित्र प्रकार का बना दिया है और अनेक बेलों को वृक्षों में परिवर्तित कर दिया है। इसी प्रकार कबूतर से खेलनेवालों ने भी अनेक प्रकार के कबूतर बना दिये हैं। यही कृत्रिम चुनाव है। इस कृत्रिम चुनाव के तीन नियम हैं—

१. अमुक मर्यादा तक कृत्रिमता होने पर भी सन्तति का होते जाना,

२. अमुक मर्यादा के बाद अपनी पहली पीढ़ियों के रूप का हो जाना और

३. अमुक मर्यादा के बाद वंश का बन्द हो जाना।

पहला नियम प्रायः सर्वत्र देखने में आता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य वृक्षों और पशुओं के उत्तम बीज पैदा करता है। आरोग्य और बलवान् माता-पिता से अच्छी सन्तति होती है। इसका विज्ञान यह है कि माता और पिता के अंशों की रक्षा करते हुए यदि विकास होगा तो वंश चलता जाएगा। बैल के अंश सींग, खुर और हड्डी आदि हैं और गाय का अंश मांस आदि। जिन बैलों में माता का अंश अधिक होता है उनके सींग नहीं होते और जिनमें पिता का अंश अधिक होता है उनके बड़े-बड़े सींग होते हैं, अर्थात् बैलजाति में मुण्डा और सिंगाड़ा दो प्रकार के बैल देखे जाते हैं। मुण्डे में सींगों का लोप नहीं होता, उनके कान के पास, बालों के भीतर सींग के चिह्न बने रहते हैं। उसी के सहारे आगे चलकर उसी की नस्ल में फिर सींगवाला बैल होने लगता है। इसी सिद्धान्त से काँटेवाले वृक्षों से काँटा हटा दिया जाता है। काँटेवाली नागफनी से बेकाँटेवाली नागफनी बना दी गई है। काँटेवाले सिंघाड़े से बिना काँटे का सिंघाड़ा भी होता है। इसका कारण इतना ही है कि नागफनी और सिंघाड़े से कृत्रिम उपायों के द्वारा पितृशक्ति कम कर दी गई है, परन्तु उनमें काँटे के चिह्न शेष हैं। उन्हीं चिह्नों से उपाय करने पर काँटेवाले फिर हो सकते हैं। बिन काँटे की नागफनी और बिना काँटे के सिंघाड़ों में कभी कोई छोटे काँटेवाला सिंघाड़ा भी मिलता है। उसी से सिंघाड़े फिर काँटेदार हो सकते हैं। इसी सिद्धान्त पर कबूतरों की उत्पत्ति भी है। यह सिद्धान्त विश्व में फैला हुआ है। स्त्री, पुरुष और नपुंसकों की बनावट इसी सिद्धान्त से होती है।

दूसरे नियम का उदाहरण क़लमी आम है। यदि क़लमी आम की गुठली बो दी जाए तो उससे उत्पन्न वृक्ष में उतने बड़े फल न लगेंगे। इसी प्रकार दो-तीन पीढ़ी के बाद वह क़लमी आम उसी तुख़्मी (बीजू, गुठलीवाले) आम के सदृश फलवाला हो जाएगा, जिसपर क़लम शुरू हुई थी। भेड़िये और कुत्ते के संयोग से तथा चीते और सिंह के संयोग से सन्तान नहीं होती। यदि होती है तो उस सन्तान का वंश कुछ पीढ़ी पश्चात् कुत्ते और चीते का-सा हो जाता है, अर्थात् विकास आगे नहीं बढ़ता, नई जाति नहीं बनती। इसी विषय पर जोंस बोसन (Jones Bowson) ने नवम्बर सन् १९२२ के 'न्यू एज' (New Age) नामक पत्र में लिखा है कि 'मैं अपने बाग़ में घूमता हुआ क़लम किये हुए पौधों को देखता हूँ तो उनमें कृत्रिमावस्था से अपनी अवस्था में आने के लिए युद्ध होता हुआ दिखता है। प्रायः यही देखने में आता है कि पूर्व की स्वाभाविक अवस्था बलशाली है जो कृत्रिम अवस्था पर विजय प्राप्त कर लेती है। प्रमाण के लिए मैं 'हेनरी

डमण्ड्स' लिखित 'Natural Law in the Spiritual World' नामक पुस्तक के उस अध्याय को प्रस्तुत करता हूँ, जहाँ वह कबूतरों और गुलाब के पेड़ों के उदाहरणों के द्वारा इसी बात को पुष्ट करता है'।

यही सिद्धान्त मेंडल नामक विद्वान् को भी ज्ञात हुआ है। उसका कहना है कि 'कभी-कभी बच्चों का अपने पिता की अपेक्षा पितामह के साथ बहुत मेल दिखाई पड़ता है'। इसका कारण यही है कि यदि कोई व्यक्ति अपने शरीर में अमर्यादित फेरफार कर डाले तो उसका लड़का अपने पिता के ये नूतन गुण न लेकर पितामह के गुणों को ही लेकर जन्म लेगा। इससे स्पष्ट हो गया कि सृष्टि ने पुरानी जातियों की रक्षा और नवीन जातियों की उत्पत्ति को रोकने के लिए कितना दृढ़ प्रबन्ध किया है। कुछ विकासवादी कहते हैं कि प्रो० डी० व्रीज (De Vries) ने सिंघाड़ा (Oenethera Lamarckiana) और पोस्त (Shirley Poppies) की प्रकार के वृक्षों से अभी हाल में एक नई जाति आप-ही-आप प्राप्त की है, जिसेस ज्ञात होता है कि नवीन जातियाँ इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं। इसी उत्पत्ति को डी० व्रीज ने 'स्वयं परिवर्तित जाति' (Spontaneous Modification) नाम दिया है, परन्तु हम प्रो० मेंडल और प्रो० जोंस बोसन के प्रमाणों से दिखला चुके हैं कि जो प्राणी किसी भी बाहरी कारण से अपनी सन्तति में फेरफार होने का अवसर प्राप्त करता है तो उसकी सन्तति की अगली सन्तति अपने पितामह अथवा वृद्ध प्रपितामह की ओर वापस आ जाती है। डी० व्रीज़ का आविष्कार अभी हाल का है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कुछ वर्ष बाद वह नई जाति जो उसने प्राप्त की है, अपने पूर्वरूप में आ जाएगी।

तीसरा नियम सृष्टि ने यह रक्खा है कि यदि कोई प्राणी बलात् अँधाधुन्ध विकास करता जाए तो उसका वंश रोक दिया जाए। जैसेकि घोड़े और गधे से एक विलक्षण प्राणी—ख़च्चर—हुआ, परन्तु ख़च्चर का वंश बन्द है। इसी प्रकार पैबन्द बेर में विशेष वृद्धि हुई, परन्तु वंश उसका भी बन्द है। जापान के छोटे-छोटे वृक्षों का और बड़े-बड़े मुर्ग़ों का वंश बन्द, पाँच पैर की गाय का वंश बन्द है और बेहिसाब बुद्धिमान् का वंश भी बन्द है[1], अर्थात् सृष्टि को बेहिसाब ह्रास-विकास स्वीकार नहीं है। कृत्रिम चुनाव में अमर्यादित विकास का अवकाश नहीं है। मर्यादा का उल्लङ्घन हुआ कि बस, वंश बन्द।

लामार्क नामक विद्वान् ने चूहों की दुमें काट-काटकर बिना दुम के चूहे पैदा करना चाहा। चूहों की अनेक पीढ़ियों तक वह ऐसा ही करता रहा, परन्तु बिना पूँछ के चूहे न हुए। लेसिस्टरशायर के ग्वालों ने चाहा कि हम अपनी भेड़ों को घोड़े के बराबर बना डालें और कुछ ने चाहा कि हम अपनी भेड़ों को चूहों के बराबर कर डालें, किन्तु इन दोनों दलों के विकासवादियों के प्रयत्न विफल हो गये। भेड़ों में न तो बेहिसाब ह्रास ही हुआ और न वृद्धि ही, किन्तु कुछ तनिक-सी छोटी हो गईं और कुछ तनिक-सी बड़ी। भेड़ों की छोटाई और बड़ाई के बीच वंश-स्थापन का नियम काम कर रहा था, इसलिए वे इतनी ही बड़ी और छोटी हुई कि दोनों से वंश चल सके। वे इस मर्यादा के आगे न गईं—दो जातियाँ न हो सकीं।

प्राकृतिक चुनाव व कृत्रिम चुनाव के नमूने हम आप सभी हैं। प्राकृतिक चुनाव से जो विकास हुआ है उसी से तो हम आप पहचाने जाते हैं। एक ही उम्र की स्त्रियाँ पहचानी जाती हैं कि अमुक उसकी है और अमुक उसकी। समान उम्रवाले घोड़े, गाय, बैल, कुत्ते सब इसी से पहचाने जाते हैं। यह पृथक्ता न होती तो संसार में महा अन्धेर मच जाता। इसलिए व्यक्ति-व्यक्ति की

१. अत्यन्तमतिमेधावी त्रयाणामेकमश्नुते। अल्पायुषो दरिद्रो वा ह्यनपत्यो न संशयः॥

पृथक्ता तो होनी ही चाहिए। रही देश-देशान्तरों की भिन्नता वह केवल विवाह-बन्धनों से हुई है। यदि सब देशों के मनुष्य परस्पर विवाह करने लगें तो भौगोलिक पृथक्ता मिट जाए, परन्तु वैयक्तिक पृथक्ता ईश्वरदत्त है। वह तो पहचान के लिए ही है। वह न हो तो संसार का काम ही न चले।

विकासवाद के पास यदि कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है तो इतना ही ही है। वह कहता है कि हममें आपमें जो अन्तर हुआ है वही आगे चलकर गिलहरी का रीछ बना देता है, परन्तु बात यह नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि यह अन्तर होना ही चाहिए था। इसके बिना संसार की व्यवस्था ही न होती। बस, यही प्राकृतिक चुनाव है। रही कृत्रिम चुनाव की बात उसे ऊपर देख ही चुके हैं। कृत्रिम चुनाव नई जाति नहीं बनाता। हम हिन्दुओं के लड़की-लड़के लाखों वर्ष से कान में छेद कराते हैं, परन्तु छेद युक्त बच्चा पैदा नहीं होता। हज़रत इबराहिम के समय से जिसको तीन हज़ार वर्ष से अधिक हुआ यहूदी और मुसलमान ख़तना कराते हैं (पहले समय में स्त्रियों का भी ख़तना होता था) पर ख़तना की हुई सन्तान नहीं होती। चीन की स्त्रियाँ न जाने कब से पैर छोटा करती रही हैं, परन्तु छोटे पैर की कोई लड़की पैदा नहीं होती। इससे ज्ञात हुआ कि कृत्रिम विकास भी अमर्यादित नहीं होता। कृत्रिम और प्राकृतिक दोनों प्रकार के चुनाव से नई जाति का—ऐसी जाति का जिसके संयोग से वंश न चले और उसकी आयु तथा भोग भी भिन्न हो—आज तक प्रत्यक्ष विकास नहीं हुआ, न ऐसा होना अनुमानप्रमाण से ही सिद्ध होता है, अतः ज़ोर देकर कहा जा सकता है कि विकासवाद सत्य सिद्धान्त पर स्थित नहीं है।

'सन्तति की धारा किस तत्त्व और सिद्धान्त से बहती है' इस विषय को स्पष्ट करने के लिए विकासवाद के लेखक ने कुछ विद्वानों की सम्मतियाँ उद्धृत की हैं, वे सबकी सब विकासवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध हैं। विलायत की विधवाओं से गौवों का पालन-पोषण और मुसलमानों का प्लेग में न मरना सर्वसम्मति से स्वीकार हुआ सिद्धान्त नहीं है। यदि ऐसा हो भी तो इससे यह सिद्ध नहीं होता कि इससे नवीन योनियाँ उत्पन्न होती हैं।

डारविन का यह सिद्धान्त कि 'माता-पिता के प्रत्येक अङ्ग से सार एकत्र होकर सन्तति का जन्म होता है' और वाईज़मैन का यह सिद्धान्त कि 'इस सार के एकत्र होने में यदि कहीं बीच में कोई परिवर्तन उद्भूत हो तो वह सन्तति में संक्रमित न होगा' तथा मेंडल का यह सिद्धान्त कि 'कभी लड़का पिता की अपेक्षा पितामह के गुण संग्रह करता है' और डी० व्रीज़ की यह सम्मति कि 'कभी-कभी नई-नई जातियाँ एकदम उत्पन्न हो जाती हैं' और 'हेतुवाद' तथा 'अज्ञात-अज्ञेय' आदि के सिद्धान्त सब मिलकर विकासवाद का खण्डन ही करते हैं।

'अङ्गादङ्गात्सम्भवसि', अर्थात् सन्तान अङ्ग-अङ्ग के सार से उत्पन्न होती है। यह वैदिक सिद्धान्त ही है जो डारविन का बतलाया जाता है। रहा यह कि इसमें यदि कोई अकस्मात् नया कारण उत्पन्न होता है तो वह नयापन सन्तति में नहीं आता और सन्तान पिता के उन नये गुणों को छोड़कर दादा के गुण ग्रहण करती है। इसका तात्पर्य यही है कि कोई नई जाति उत्पन्न न हो—नवीन अङ्ग उत्पन्न न हों।

जल-कृमियों में नवीन जातियों ने एकदम उत्पन्न होकर दिखला दिया है कि प्राणियों के शरीर बनने के लिए विकास की आवश्यकता नहीं। हेतुवाद ने और अज्ञात- अज्ञेय शक्ति ने इसको पूर्ण कर दिया कि कर्मानुसार ईश्वर प्राणियों की रचना करता है, अतः क्रम विकास की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार से जितनी भी नवीन जाँच हो रही है वह विकास के विरुद्ध और विशिष्ट उत्पत्ति के अनुकूल ही होती जाती है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। यहाँ तक ग्रन्थकार ने यह न बतलाया कि विकास किस प्रकार होता है। उन्होंने जितनी युक्तियाँ दीं, उनपर स्वयं

वैज्ञानिकों को ही सन्देह है, अतएव परिस्थिति, कार्य और वंशानुक्रम तीनों विकास की विधियाँ सफल नहीं हुईं।

ग्रन्थकार स्वयं कहते हैं कि 'प्राणियों की विकास द्वारा उत्पत्ति होती है वा नहीं—एक प्रकार के प्राणी से भिन्न-भिन्न प्रकार के प्राणी बनते हैं वा नहीं, इस प्रकार के निरीक्षण करनेवाला मनुष्य भी विकास की क्रिया के किसी अत्यन्त सूक्ष्म भाग को भी प्रत्यक्ष होते हुए पूर्णतया नहीं देख सकता' (पृ० १५५)। 'विकास की विधि पर जब हम विचार करते हैं तब ऐसे तथा एतत्सम्बन्धी कई अन्य तात्त्विक प्रश्न हमारे सन्मुख उपस्थित होते हैं। तात्त्विक प्रश्न कभी-कभी तो ऐसे होते हैं कि उनका सम्पूर्ण उत्तर प्राप्त करना बहुत कठिन तथा असम्भव भी हो जाता है, और इस प्रकार के प्रश्नों के सम्पूर्ण उत्तर प्राप्त करने की आशा भी नहीं करनी चाहिए' (पृ० १५८)। 'निरक्षर और अज्ञानी मनुष्य वैज्ञानिकों के विषय में यह कल्पना करने लगते हैं कि वैज्ञानिक लोग अपने-अपने विभागों को सम्पूर्ण समझते हैं। वास्तव में बात तो यह है कि सबसे पूर्व वैज्ञानिक ही यह कहने का साहस करते हैं कि किसी विषय में हठ करना ठीक नहीं' (पृ० ११)। 'विचार करने से यह प्रतीत होगा कि यद्यपि विकासवाद स्वयं स्पष्ट है तथापि इसका अन्तिम निश्चय करा देना बहुत सुगम नहीं है' (पृ० २)।

विकास और उसकी विधि पर 'विकासवाद' के लेखक के ये आन्तरिक उद्गार हैं। हमने अब तक जो कुछ कहा है वही बात आप भी कह रहे हैं। आप नहीं कह रहे प्रत्युत आपके मुख से यूरोप का समस्त वैज्ञानिक समाज कह रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसी दशा में ऐसे सन्दिग्ध विषय पर विश्वास करना कितना भयङ्कर है। ग्रन्थकार ने आरम्भ में कहा था कि यह विकासवाद विज्ञान द्वारा अनुमोदित है, अतः हमें चाहिए कि हम अपने भविष्य जीवन के कार्य-निर्धारण के लिए इसके नियमों को जानें, परन्तु हमने अब तक इसकी समग्र शाखा-उपशाखाओं को देखकर जान लिया कि यह एक कल्पना है—थ्योरी है, सिद्धान्त नहीं। ऐसी दशा में यदि हम अपने जीवन को विकास के अनुसार बनाएँ और यह निश्चय कर लें कि निर्बलों को मार डालना सृष्टि का नियम है तो हमारी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक कितनी हानि होगी, इसका अनुमान कौन लगा सकता है और इसका उत्तरदायी कौन हो सकता है। राज्य और धर्म समाज को सुखी और शान्त करने के लिए हैं, परन्तु यदि हम यह ठान लें कि समाज में निर्बलों को जीने का अधिकार नहीं है तो हमसे सामाजिक भलाई की क्या आशा हो सकती है? महात्मा गांधी अपनी 'नीतिधर्म और धर्मनीति' नामक पुस्तिका में लिखते हैं कि 'डारविन के कथानुसार मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों में जीते रहने की इच्छा रहती है। जो इस स्पर्धा में टिक सकता है वही जीवित रहता है और जो टिकने योग्य नहीं रहता, वह जड़मूल से नष्ट हो जाता है, किन्तु यह स्पर्धा केवल शरीर-बल से ही नहीं निभ सकती।

'मनुष्य और रीछ अथवा भैंस की तुलना करें तो ज्ञात होगा कि मनुष्य से शरीरबल में रीछ और भैंस दोनों अधिक हैं। मनुष्य यदि इन दोनों में से एक से भी कुश्ती लड़े तो हार जाए, तथापि मनुष्य बुद्धिबल के कारण अधिक बलवान् सिद्ध होता है। मनुष्य की अनेक जातियों में भी इस बात की तुलना की जा सकती है। लड़ाई के समय वही नहीं जीतता जिसके पास बहुत-से योद्धा अथवा असंख्य जनसमुदाय होता है, प्रत्युत वह जीतता है जिसके पास कला-कौशल्य और उत्तम कार्यकर्त्ता होते हैं। ये चाहे थोड़े और निर्बल ही क्यों न हों, परन्तु वही जीतते हैं। यह बुद्धिबल का उदाहरण हुआ।

'नीतिबल बुद्धिबल और शरीरबल से भी अधिक महत्त्व का है, क्योंकि अयोग्य मनुष्य की

अपेक्षा योग्य मनुष्य का निर्वाह अधिक होता है। पुराने इतिहासों से पता लगता है कि जो जातियाँ अनीतिमान् थीं, वे आज बिलकुल नष्ट हो गई हैं। सोडम और गमोरा-निवासी अपनी अनीति के कारण आज बेपता हैं। आज भी देखने को मिल रहा है कि जो लोग अनीति का व्यवहार करते हैं, वे प्रायः नष्ट हो जाते हैं।

'अब थोड़े से सादे नमूनों को लेकर देखिए कि साधारण नीति भी मनुष्य के लिए कितनी उपकारी है। 'शान्त स्वभाव' नीति का एक अङ्ग है। ऊपर-ऊपर के देखने से ज्ञात होगा कि शान्तस्वभाव मनुष्य आगे बढ़ सकता है, परन्तु सहज ही विचार करने से ज्ञात होगा कि शान्तस्वभावरूपी तलवार अन्त में अपना ही गला काटती है। 'व्यसन न करना' नीति का दूसरा अंग है। विलायत के अंकों के देखने से ज्ञात होता है कि तीस वर्ष की उम्रवाले शराबी १३-१४ वर्ष से अधिक नहीं जीते, किन्तु निर्व्यसनी मनुष्य सत्तर वर्ष तक जीते हैं। 'व्यभिचार न करना' नीति का तीसरा अङ्ग है। देखा गया है कि व्यभिचारी मनुष्य बड़े झपाटे से नष्ट होते हैं। उनके सन्तान नहीं होती। यदि होती है तो अत्यन्त निर्बल। व्यभिचारियों के मन हीन हो जाते हैं और जैसे-जैसे दिन बीतते हैं, वैसे-वैसे उनका दिखाव पागलों का-सा हो जाता है।

'अन्य जातियों की चाल-ढाल पर दृष्टि डालिए तो यही स्थिति दिखाई पड़ेगी। अण्डमान टापू के लोग अपनी स्त्रियों को उसी समय छोड़ देते हैं जब उनसे उत्पन्न बच्चे तनिक चलने-फिरने लगते हैं, अर्थात् वे परमार्थबुद्धि के स्थान में स्वार्थबुद्धि अधिक रखते हैं, परिणाम यह हुआ है कि उस जाति का धीरे-धीरे नाश होता जाता है।

'जानवरों में भी परमार्थ बुद्धि पाई जाती है। डरभुत पक्षी अपने बच्चों को बचाने के लिए आक्रामक हो जाते हैं। इससे प्रकट है कि यदि प्राणिमात्र में थोड़ी बहुत परमार्थबुद्धि न होती तो संसार में आज पत्थरों और ज़हरीली वनस्पतियों के अतिरिक्त और कुछ होता ही नहीं।

'मनुष्य और दूसरे प्राणियों में मुख्य अन्तर यही है कि मनुष्य सबसे अधिक परमार्थी है। वह अपने नीतिबल के अनुसार, दूसरों के लिए, अपनी सन्तान के लिए और अपने देश के लिए सदा से अपना बलिदान करता आया है, इसलिए शरीरबल और बुद्धिबल में नीतिबल ही सर्वोपरि है। इसका एक प्रबल प्रमाण यह है कि ग्रीस की प्रजा वर्त्तमान यूरोपीय प्रजा से अधिक बुद्धिमान् थी, परन्तु जब उसने नीति का त्याग किया, बस, उसकी बुद्धि ही उसकी शत्रु हो गई और आज उसका अस्तित्व भी नहीं है। जातियाँ न तो धन से निभती हैं न सेना से। वे केवल नीति के ही आधार पर ठहर सकती हैं, अतएव मनुष्य को उचित है कि वह इन विचारों को सदा अपने सामने रक्खे और सदैव परमार्थरूपी परम नीतियुक्त आचरण करे'।

इस समस्त वर्णन से पाया जाता है कि संसार में दया, प्रेम और न्याय से ही अस्तित्व स्थिर रहता है—परमार्थबुद्धि से ही जातियों की वृद्धि होती है। यह परमार्थबुद्धि पशु-पक्षियों में भी पाई जाती है। महात्मा गांधी ठीक कहते हैं कि यदि संसार में परमार्थबुद्धि न होती तो आज ज़हरीली वनस्पतियों और कंकड़-पत्थरों के सिवा कुछ भी न होता। ऐसी दशा में विकासवाद का यह सिद्धान्त कि संसार में सर्वत्र जीवन-संग्राम जारी है, उसमें बलवानों की ही विजय होती है नितान्त अनर्गल है, इसलिए विकासवाद की शिक्षा के अनुसार हमें अपना जीवन बनाना उचित नहीं है।

विकासवाद के लेखक ने इस क्रूर सिद्धान्त को सिद्ध करने के लिए पुराणों के वे श्लोक जिनमें ८४ लक्ष योनियों की गिनती बताई गई है उद्धृत किये हैं और विकास का सिलसिला बताने के लिए मच्छ, कच्छ, वाराह, नरसिंह आदि अवतारों को भी घसीटा है, परन्तु इसमें कुछ भी तत्त्व नहीं है। इन अवतारों के ज़माने में भी मनुष्य-शरीरधारी देवता, दानव और मनुष्य

उपस्थित थे। ऐसी दशा में अवतारों से विकास सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार आपने '**या ओषधी पूर्वाजाता....त्रियुगा पुरा०**' और '**त्वञ्जाता०**' वेद के इन दो मन्त्रों से भी इस घृणित सिद्धान्त की पुष्ट की है, परन्तु इनसे भी क्रम-विकास को सहारा नहीं मिलता। पहला मन्त्र जरायुज, अण्डज और ऊष्मजों से पूर्व ओषधियों का होना बतलाता है, जो ठीक ही है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ओषधियाँ ही मनुष्य हो गईं। रहा दूसरा मन्त्र, वह ज्योतिषविषय का है। उसमें कहा गया है की पाँचों ग्रहों में सूर्य की किरणें पड़ती हैं। इन मन्त्रों में न कहीं विकासवाद है, न विकासवाद की कोई बात है।

एक बार इसी प्रकार हक्सले ने भी '**आकाशाद्वायु०**' के वैदिक सिद्धान्त को लेकर कहा था कि पूर्वकाल में भारत देश में भी विकासवाद माना जाता था, परन्तु इसमें भी डारविन के विकासवाद की गन्ध तक नहीं है। भारतवर्ष के नाम से किसी सिद्धान्त को प्रचलित करने का इतना ही कारण है कि उसमें किसी को शंका नहीं होती, क्योंकि इतना तो यूरोप-निवासियों ने अच्छी प्रकार मान लिया है कि प्राचीन आर्यों ने सृष्टि और धर्म-सम्बन्धी जो सिद्धान्त प्राप्त किये हैं, वे अटल हैं, परन्तु हमने विकासवाद की आलोचना करके देखा कि इसका एक भी आरोप सच्चे सिद्धान्त पर स्थिर नहीं है। यही कारण है कि अब धीरे-धीरे पाश्चात्य विद्वान् भी इसके रूप में फेरफार करते जाते हैं। वर्त्तमान विज्ञान के झुकाव से प्रतीत होता है कि अब बहुत शीघ्र विकासवाद एक कल्पना सिद्ध होगा और विद्वानों के समूह से इसका आदर उठ जाएगा।

अभी प्रथम विश्वयुद्ध के समय 'क्रिश्चियन हेरल्ड' में यह समाचार छपा थी कि ब्रिटिश साइंस सोसाइटी का अधिवेशन मेलबोर्न (आस्ट्रेलिया) में हुआ। प्रोफ़ेसर विलियम वेटसन इसके सभापति थे। उन्होंने अपने भाषण में कहा कि 'डारविन का विकासवाद बिलकुल असत्य और विज्ञान के विरुद्ध है'। दूसरे वक्ताओं ने सामयिक युद्ध की ओर सङ्केत करके कहा कि 'यह युद्ध इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य जैसा पहले था वैसा ही अब भी है'। अमेरिका की कई रियासतों ने अपने यहाँ के स्कूलों में डारविन के सिद्धान्त की शिक्षा को क़ानून के विरुद्ध ठहराया है और विकासवाद की चर्चा को दण्डनीय ठहरा दिया है[१]। कानपुर के २५-७-२५ के वर्त्तमान पत्र में छपा था कि 'विकासवाद की शिक्षा देने के अपराध में अमेरिकन प्रोफ़ेसर जानस्कोप्स पर एक सौ पौंड जुर्माना किया गया। जज ने निर्णय में लिखा है कि अभियुक्त ने शिक्षा दी थी कि मनुष्य छोटे-छोटे पशुओं का विकसित स्वरूप है'। उच्च कोटि के विद्वान् अब विकासवाद पर विश्वास नहीं करते, क्योंकि मनुष्य के विकास-सम्बन्धी जितने प्रमाण मिले हैं उनसे उसका विकसित होना नहीं पाया जाता। प्रो० प्रेट्रिकगेडिस कहते हैं कि 'यह मान लेना चाहिए कि मनुष्य के विकास के प्रमाण सन्दिग्ध हैं और साइंस में उनके लिए कोई स्थायी स्थान नहीं हैं[२]'। सर जे० डब्ल्यू डासन कहते हैं कि 'विज्ञान को बन्दर और मनुष्य के बीच की आकृति का कुछ भी पता नहीं है। मनुष्य की प्राचीनतम अस्थियाँ भी वर्त्तमान मनुष्य जैसी ही हैं। इनसे उस विकास का कुछ पता नहीं लगता, जो इस मनुष्य-शरीर के पहले हुआ था'[३]। इन नवीन वैज्ञानिकों ने अब विकास का क्रम भी उलट दिया है। अब तक लोग समझते थे कि विकासवादी

१. The Court of Law in reactionary state of Tennessee has decided that it is criminal for a professor in the state to inculcate the principles of Darwinism. —*Vedic Magazine*, October 1925.

२. For it must be admitted that the factors of the evolution of man partake largely of the nature of the may-be's which has no permanent position in Science. —*Ideals of Science and Faith.*

३. No remains of intermediate form are yet known to Science. The earliest known remains of man are still human and tell us nothing as to the previous stage of development.

मनुष्य की उत्पत्ति बन्दर से मानते हैं, परन्तु प्रसिद्ध विद्वान् वुड जोन्स कहते हैं कि 'डारविन से ग़लती हुई है, मनुष्य बन्दर से उत्पन्न नहीं हुआ, प्रत्युत बन्दर मनुष्य से उत्पन्न हुए हैं'[१]। सिडनी कॉलेट कहता है कि 'साइंस की स्पष्ट साक्षी है कि मनुष्य अवनत दशा से उन्नत दशा की ओर चलने के स्थान में उलटा अवनति की ओर जा रहा है। मनुष्य की आरम्भिक दशा उत्तम थी'[२]।

प्रागुत्तर अश्मकाल की एक खोपड़ी (Neanderthal Skull) मिली है। यह खोपड़ी जिस शिर की है वह यूरोप में सबसे बड़ा समझा जाता है। यह खोपड़ी ११४ क्यूबिक इञ्च है। यूरोप में छोटे-से-छोटा सिर ५० क्यूबिक इञ्च और बड़े-से-बड़ा ७५ क्यूबिक इञ्च पाया गया है। यह शिर बता रहा है कि वर्त्तमान समय में यूरोप-निवासियों की दिमाग़ी शक्ति बढ़ नहीं रही। 'Engine Skull' के विषय में प्रसिद्ध विकासवादी प्रो० हक्सले का कहना है कि आधुनिक यूरोपियनों के सिरों से यह खोपड़ी बड़ी है। सन् १८८३ में एक सिर हालैंड में निकला है जो यूरोप निवासियों के औसत घेरे से बड़ा है। इसका घेरा १५० क्यूबिक इञ्च है। इसी प्रकार पुरातत्त्वज्ञों और भूगर्भशास्त्रियों ने 'Healing Section' को २५,००० वर्ष पुराना बतलाया है। इसका घेरा भी १५० क्यूबिक इञ्च है।

इन प्रमाणों से सिद्ध हो रहा है कि आदिम मनुष्यों ने किसी कपितुल्य हीन मस्तिष्क प्राणी से विकसित होकर उन्नति नहीं की प्रत्युत वे परमात्मा की विशिष्ट रचना थे और आज के उत्तम-से-उत्तम मस्तिष्कों की अपेक्षा अधिक उन्नत थे। विकासवादी शंका करते हैं कि यदि क्रमोन्नति का सिद्धान्त न माना जाए तो फिर दीर्घकाय प्राणियों की उत्पत्ति कैसे सम्भव हो सकती है और इतना बड़ा मनुष्य आदि में सहसा कैसे पैदा हो गया? वे एक सैल के अमीबा की सहसा उत्पत्ति को तो मान लेते हैं, परन्तु अनेक सैल संयुक्त मनुष्यप्राणी का आपसे-आप उत्पन्न होना नहीं मानते। उनकी समझ में यह नहीं आता कि जिस अन्तर्व्याप्त शक्ति के प्रभाव से एक सेल का अमीबा उत्पन्न हो सकता है उसी शक्ति से उसी प्रकार के अनेक सैल उत्पन्न होकर और एक में जुड़कर मनुष्य-शरीर की रचना हो सकती है। जो शक्ति बड़े-बड़े सूर्य-चन्द्र बना सकती है और जो शक्ति छोटे-छोटे अमीबा बना सकती है वही शक्ति गाय, बैल, हाथी, बन्दर और मनुष्य आदि प्राणियों के मँझोले शरीर भी बना सकती है। यदि एक सेल का अमीबा आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है तो मनुष्य भी आप-ही-आप उत्पन्न हो सकता है।

इस तर्क से, विकास-प्रकरण की इस समस्त आलोचना से और मनुष्य-सम्बन्धी प्राप्त सामग्री से अब इस बात में विवाद नहीं रह जाता कि क्रमविकास का सिद्धान्त असत्य और विशिष्टोत्पत्ति का सिद्धान्त सत्य है। आरम्भिक सृष्टि को नये-पुराने सभी विचारवान् विद्वानों ने परमेश्वर की विशिष्ट रचना ही माना है—उसे अमैथुनी सृष्टि के ही नाम से कहा है। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'कहा जाता है कि आदि में एक ही मनुष्य नहीं था, किन्तु हम हर प्रकार से यह अनुमान कर सकते हैं कि आदि में कुछ पुरुष और स्त्रियाँ उत्पन्न हुई थीं'[३]। मद्रास

---

१. Meanwhile professor Wood Jones of the University of Adelaide is proclaiming about his own view that Darwin has mistaken and monkey decended from man, not man from monkey.
—*Vedic Magazine*, October 1925

२. Science is equally explicit in its testimony that instead of man having slowly improved from the lower to the higher, the tendency is exactly in the oppose direction—that man's earlist state was his best.
—*The Scripture of Truth*

३. We have been told of late that there never was a first man, but we may be allowed to suppose at all events, that there were at one time a few first men and a few first women.
—*Chips from a German Workshop*, Vol. I, p. 237

हाईकोर्ट के जज न्यायमूर्ति टी०एल० स्ट्रैंज महोदय अपनी पुस्तक 'दी डेवलपमेंट आफ़ क्रियेशन ऑन दि अर्थ' के पृष्ठ १७ पर लिखते हैं कि 'आदि सृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टि में उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं'।

वैशेषिक दर्शन ४।२।५ में यही बात इस प्रकार कही गई है कि **'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च'**, अर्थात् शरीर दो प्रकार के होते हैं—एक योनिज, दूसरे अयोनिज। इस सूत्र की व्याख्या करते हुए अयोनिज के विषय में प्रशस्तपादभाष्य में कहा गया है कि **'तत्रायोनिजमनपेक्षितं शुक्रशोणितदेवर्षीणां शरीरं धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते'**, अर्थात् देवों और ऋषियों के शरीर शुक्र-शोणित के बिना ही, विशेष प्रयोजन के लिए, सूक्ष्म परमाणुओं के द्वारा उत्पन्न होते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि **'तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये'**,* अर्थात् उस परमात्मा से आदिसृष्टि में देव, ऋषि और साध्य आप-ही-आप उत्पन्न हुए। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि आदिसृष्टि में मनुष्यादि प्राणी अमैथुनी सृष्टि द्वारा ही उत्पन्न हुए, किन्तु प्रश्न होता है कि किसी विशेष प्रयोजन के लिए परमेश्वर द्वारा उत्पन्न होनेवाले ये दिव्य मनुष्य कौन थे और उनका परिचय क्या है?

मूलपुरुष कौन थे?

यह स्पष्ट हो जाने पर कि विकासवाद निर्भ्रान्त आधरों पर स्थित नहीं है और मनुष्य प्राणिविकास का परिणाम नहीं है, यह प्रश्न आप-ही-आप उपस्थित हो जाता है कि मूलपुरुषों का रूप, रंग, आकृति, प्रकृति कैसी थी, अर्थात् वे कौन थे? पुरातत्त्व के खोज करनेवाले पाश्चात्य विद्वानों के मतानुसार, मूलपुरुषों के सम्बन्ध की समस्त विचारमाला इस प्रकार है—

'मनुष्यजाति का विकास वनमनुष्यों से हुआ है। जावाद्वीप के 'कलेंग' नामी मनुष्य अधिकतर वनमनुष्यों से मिलते हैं, अतः वही मनुष्यजाति के पूर्व पितामह हैं[१]। यह कलेंगजाति मनुष्यों के चार बड़े प्रधान विभागों में से Ethiopic (निग्रो) विभाग के अन्तर्गत है। इस निग्रो विभाग की विशेषता उसका काला रंग और मोटा चेहरा है। इसका निवास-स्थान अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और पूर्वी समुद्र के अनेक टापू हैं[२]। पाश्चात्य विद्वानों की मान्यता है कि इसी विभाग ने मनुष्य-समुदाय की समस्त शाखाओं को जन्म दिया है, जिनमें से अनेक लुप्त हो गईं और इस समय एक सहस्र के लगभग विद्यमान हैं जो संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैली हैं। ये एक सहस्र शाखाएँ चार महाविभागों में विभाजित हैं। ये चारों विभाग काकेसियन, मङ्गोलियन, अमेरिकन और इथिओपिक कहलाते हैं। समस्त पृथिवी पर उक्त चार ही रूप और चार ही रंग के मनुष्य बसते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

१. सफ़ेद रंग और लम्बी आकृति के मनुष्यों को काकेसस कहते हैं।
२. पीले रंग और चौड़ी आकृति के मनुष्यों को मङ्गोलिक कहते हैं।
३. काले रंग और मोटी आकृति के मनुष्यों को इथिओपिक (निग्रो) कहते हैं।

---

१. Kalangs—A recently extinct Negrito race of Java, remnants of the Aborgines of that island, small, black and woolly-haired, with very retreating forehead and projecting jaws. The most ape-like of human beings, and the nearest approach yet found to the 'missing link' between man and ape. They belonged to the oceanic Negro family. —*Harmsworth History of the World*, p. 332.

२. Ethiopic—One of the four great divisions of the human race occupying Africa, Australia, and many islands of the Eastern Ocean. Its members are typically black-skinned and woolly-haired with projecting jaws and broad skulls. —*Ibid*, p. 326.

* यजुः० ३१।९

४. लाल रंग और पतली आकृति के मनुष्यों को अमेरिकन (रेड इण्डियन) कहते हैं।

इनके अतिरिक्त एक पाँचवाँ रंग-रूप और है जो इनके सङ्कर से बनता है। इस रंगरूप को देखकर यह सहज ही अनुमान होने लगता है कि आदि में मूलपुरुषों का वही रंग-रूप था जो सबके मिलने से हो सकता है, क्योंकि मूलपुरुषों में सभी रंगों और रूपों का अन्तर्भाव होना चाहिए। यह अनुभवसिद्ध बात है कि काले रंग से किसी अन्य रंग की उत्पत्ति नहीं हो सकती। विज्ञान की यह उच्च घोषणा है कि 'कालापन' समस्त रंगों के अभाव का ही नाम है। यह बात प्रत्यक्ष अनुभव से इस प्रकार सिद्ध की जाती है कि संसार के समस्त रंग सूर्य से प्राप्त होते हैं और सब रंगों के मिश्रण से ही सफ़ेद रंग का प्रकाश होता है, परन्तु जब सूर्य अस्त हो जाता है, अर्थात् रंग का अभाव हो जाता है तब रात या अँधेरा हो जाता है, जो काले रंग का होता है। इस वैज्ञानिक अनुभव से यह बात निष्पन्न होती है कि कालापन कोई रंग नहीं है, प्रत्युत रंगों का अभाव है। अभाव से भाव नहीं होता। यदि कालापन रंगों का अभाव है तो उससे संसार के लाल, पीले और गन्दुमी (गेहूँआ) आदि रंगों की उत्पत्ति कैसे हो सकती है? निग्रोजाति के काले मनुष्यों से अमेरिका के लाल रंगवाले, चीन के पीले रंगवाले और यूरोप के श्वेत रंगवाले कैसे उत्पन्न हो सकते हैं? हमारा तो दृढ़ विश्वास है कि उक्त चारों रूपों और रंगों के मनुष्य उसी जाति से उत्पन्न हुए हैं, जिसमें चारों रंगों और रूपों का मिश्रण था।

अक्षरविज्ञान लिखते समय हमने बम्बई में वैदिक विज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् और चित्रकार श्रीयुत शिवकरजी बापूजी तड़पदे से एक चित्र और एक पुतला ऐसा बनवाया था जिसमें चारों रूपों और रंगों का समान सम्मिश्रण था। चित्र और पुतला दोनों ही बड़े सुन्दर थे। उनकी कोई रेखा अमर्यादित न थी। आँख, नाक, गालों की हड्डियाँ, ठोढ़ी और सिर सभी सुन्दर, पुष्ट और मर्यादित थे। चित्र और पुतला दोनों की शबाहत काश्मीर के रहनेवाले ब्राह्मणों की-सी थी। काश्मीर के ब्राह्मण आर्य हैं, इससे हमें अनुमान करने का पूरा साधन प्राप्त हो गया कि मूलपुरुष निश्चितरूप से आर्य ही थे, काले रंग के कलेंग नहीं—अफ्रीका के निग्रो नहीं। दूसरी बात यह है कि मूलपुरुष आदर्श होते हैं। उन्हीं से संसार का वंश, ज्ञान और सभ्यता की परम्परा चलती है, इसलिए उनमें हर प्रकार के उत्कृष्ट गुणों का होना आवश्यक होता है। जिस प्रकार वे रंग-रूप और आकृति-प्रकृति में सर्वश्रेष्ठ होते हैं, उसी प्रकार वे ज्ञान और धर्म में भी सर्वश्रेष्ठ होते हैं। यही बात मद्रास हाईकोर्ट के जज, न्यायमूर्ति टी०एल० स्ट्रैंज महोदय ने भी स्वीकार की है। आप लिखते हैं कि 'आदिसृष्टि अमैथुनी होती है और इस अमैथुनी सृष्टि में उत्तम और सुडौल शरीर बनते हैं'[१]। अत: हम अब इतिहास और विज्ञान के आधार पर अन्वेषण करके देखते हैं कि ये मूलपुरुष कौन थे?

यह इतिहास प्रसिद्ध है कि हज़रत नूह के बेटों का नाम हेम और शेम था। हेम से हेमिटिक जाति की और शेम से सेमिटिक जाति की उत्पत्ति हुई है। यह इतिहास-प्रसिद्ध घटना इस समय दो प्रबल वैज्ञानिक खोजों के आधार पर सिद्ध हो रही है। एक खोज संसार के समस्त रंगों से सम्बन्ध रखती है और दूसरी मानववंशशास्त्र से। यहाँ हम क्रम से दोनों खोजों का सारांश लिखते हैं। पहली खोज यह है कि 'मनुष्यजाति के चारों विभागों में 'काकेसिक' विभाग सर्वश्रेष्ठ कहलाता है। इस विभाग के लोग गौरांग हैं'[२]। हम देखते हैं कि इसी विभाग से सब रंगों

---

१. *The Development of Creation on the Earth*, p.17.

२. Caucasic—One of the four great divisions of the human race. Type, white skinned, square jawed, skull between broad and long, hair soft, straight or wavy; in intelligence, enterprise and civilisation much superior to other divisions. —*Harmsworth History of the World*, p. 324.

की उत्पत्ति हुई है। विद्वानों की खोज है कि 'हेमाइट लोग काकेसिक वंश के हैं और सफ़ेद से भूरे और काले रङ्ग के हो गये हैं। उनके बाल सीधे अथवा निग्रोजाति के-से घुँघराले होते हैं'[१]। हेमिटिक शाखा के लोग मिस्र में रहते हैं। पण्डितों ने स्वीकार कर लिया है कि 'अमेरिका के लाल रंगवाले मूलनिवासियों का मिलान मिस्रनिवासियों, अर्थात् हेमिटिकों से ही होता है'[२]। 'इन्हीं की एक 'हिमेराइट' जाति 'लाल मनुष्य' भी कहलाती है। यह जाति जिस समुद्र के किनारे रहती है उसे भी लाल सागर ही कहते हैं'[३]। श्वेत रंग के यूरोपनिवासी भी अपने को काकेसिक विभाग का ही कहते हैं। इस प्रकार लाल, पीले, काले, और सफेद रङ्ग के चारों समुदाय काकेसिक विभाग से ही उत्पन्न हुए देखे जाते हैं।

दूसरी खोज यह है कि संसार के जितने मनुष्य हैं सब हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओं में समा जाते हैं। यह सभी जानते हैं कि मिस्रनिवासी हेमिटिक हैं[४]। इनके यहाँ मुर्दों में मसाला भरकर रखने का रिवाज था। मिस्र के पिरामिड इन्हीं मुर्दों (ममी) के रखने के लिए बनवाये जाते थे। अब पता लगा है कि ये सब बातें अमेरिका के लाल रंगवाले मूलनिवासियों में भी पाई जाती हैं। पुरातत्त्व के अनुसन्धानकर्त्ताओं को वहाँ भी 'ममी' और 'पिरामिड' मिले हैं, अतः विद्वानों ने बहुत कुछ छान-बीन के पश्चात् निश्चित किया है कि 'अमेरिकानिवासियों का सम्बन्ध मिस्रदेशीय हेमिटिकों से ही है'[५]।

'काकेसिक विभाग की दूसरी शाखा सेमिटिक है। इसमें अरब, बेबिलोन, सीरिया और जुड़िया के यहूदी आदि सम्मिलित हैं। इसी की एक शाखा हिट्टाइट (Hittite) है, जो पहले कभी मेसोपोटामिया में रहा करती थी'[६]। मेसोपोटामियों में पुरातत्त्व के विद्वानों को ३४०० वर्ष पूर्व की ईंटें मिली हैं, जिनमें इनके सन्धि-पत्र लिखे हुए हैं। इन्हीं लोगों का एक दल भारतवर्ष में रहता है, जिसे द्रविड़ कहते हैं। अक्षरविज्ञान लिखते समय हमने मद्रास के एक बहुत बड़े विद्वान् से द्रविड़जाति के विषय में कुछ प्रश्न किये थे। उत्तर में उन्होंने लिखा था कि द्रविड़ लोग हिट्टाइट जाति के ही हैं[७]।

भारत के द्रविड़ों की भाषा मंगोलिक और निग्रो-विभागों को जोड़ती है। भाषा ही नहीं प्रत्युत उनका रूप, रंग और शारीरिक गठन भी एक ही है। विद्वानों ने पता लगाया है कि भारत के द्रविड़ों की भाषा आस्ट्रेलिया की भाषा की भाँति है। इतना ही नहीं प्रत्युत वे कहते हैं कि वह

---

१. Hamites—A family of Caucasic man, belonging to the Melanochroid or dark type, ranging in colour from white to brown and even black; hair soft, straight or wavy.

—*Harmsworth History of the World,* p. 330.

२. Its people were more like North American Indian than anything else. —*Ibid,* p. 2014.

३. Himyarites—A branch of the Semitic family ('Red Men' whence the Red Sea) formerly occupying Arabia Felix and Abyssinia; they form the main stock of the Abyssinian race. —*Ibid,* p. 330.

४. Egyptians—The ancient inhabitants of Egypt..........belonging to the Hamitie family.

—*Ibid.,* p. 326.

५. Its people were more like North American Indians than anything else. —*Ibid,* p. 2014.

६. Hittite.—A forgotten but once mighty people of Semitic race, who contested the entry of the Israelites into Canaan, and waged war with Egypt and Assyria for many centuries. —*Ibid,* p. 330.

७. I am satisfied from Linguistic, ethnological, religious and mythological and historical consideration that the Dravedian races of the south came over, at some period not later than 500 B.C., across the sea from Western Asia and that the more progressive among them were of Hittite origine.

—*Vedam Venkata Chaliar,* B.A.B.L., Letter dated Nellore 15.1.14.

भाषा मंगोलिक विभाग से भी मिलती है[१]। आस्ट्रेलियानिवासी शुद्ध निग्रोजाति के हैं जो द्रविड़जाति से भी सम्बन्ध रखते हैं[२]। इसी प्रकार द्रविड़ लोग मंगोलिक विभाग से भी सम्बन्ध रखते हैं[३]। कहने का तात्पर्य यह कि द्रविड़जाति निग्रो और मंगोलिक विभागों को बड़ी ख़ूबी से जोड़कर अपना मूलस्रोत सेमिटिक शाखा से स्थापित करती है। उसी प्रकार हेमिटिक शाखा अमेरिका के मूलनिवासियों को जोड़ती है। इस प्रकार से काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओं से ही मंगोलियन, अमेरिकन और निग्रो-विभागों का सम्बन्ध सूचित होता है।

उक्त दोनों खोजों से सिद्ध होता है कि समस्त संसार के काले, पीले, लाल और सफ़ेद रंगवाले चारों विभाग काकेसिक विभाग की हेमिटिक और सेमिटिक शाखाओं से ही उत्पन्न हुए हैं और नूह के पुत्र हेम और शेम की ही सन्तति हैं। यह बात सर्वमान्य है कि काकेसिक विभाग में आर्य, हेमिटिक और सेमिटिक तीन उपविभाग हैं और तीनों विभागों में से दो विभाग, नूहपुत्र हेम और शेम की सन्तति है, तब प्रश्न होता है कि स्वयं हज़रत 'नूह' कौन थे? उत्तर स्पष्ट है कि हज़रत नूह आर्य थे। हज़रत नूह का आर्य होना अनेक प्रमाणों से सिद्ध है। नूह का तूफ़ान, वैवस्वतमनु की मछलीवाली कथा का अनुवाद ही है। नूह के बड़े पुत्र हेम की सन्तति जो मिस्र में रहती है अपना सम्बन्ध राजा मनु से बतलाती है, अपने को सूर्यवंशी कहती है और मनु वैवस्वत के मूल विवस्वान् सूर्य को अपना इष्ट समझती है[४]। इन मिस्रवालों की ही सन्तति अमेरिका के मूलनिवासी बतलाये जाते हैं। वे भी सूर्यवंशी राजा रामचन्द्र का 'रामसीतव' नामक उत्सव मनाते हैं। खोजनेवालों को वहाँ भी सूर्य का मन्दिर मिला है।

मनु की मछली, अर्थात् नूह के जलप्लावन की कथा मिस्र, बेबिलोन, सीरिया, चाल्डिया, जुड़िया, फ़ारस, अरब, ग्रीस, भारत, चीन और अमेरिका आदि संसार के समस्त देशों में—समस्त जातियों में पाई जाती है। इससे यह बात और भी पुष्ट हो जाती है कि हेम और शेम से ही—नूह या मनु से ही—समस्त मनुष्यजाति की उत्पत्ति हुई है। बाइबिल में जो नूह की पीढ़ियाँ लिखी हैं, वे काल्पनिक हैं। आदम से नूह तक ११ पीढ़ी होती हैं, किन्तु इनकी वर्षसंख्या २२६२ लिखी हुई है। इसी प्रकार नूह के पुत्र शेम से इबराहिम तक, ११ पीढ़ी के १३१० वर्ष कहे गये हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यह गणना विश्वास योग्य नहीं है। हज़रत नूह को पैदा हुए लाखों

---

१. India was already peopled by dark-complexioned people more like Australian than any one else and speaking a group of languages called Dravedians. —*Mure.*
Mr. Norris fully concurs in this opinion but further observes a decided relationship between these languages and those of Australia.
Dr. Rost considers it an undeniable fact that the grammatical skeleton of Australian, Mongolian and South Indian language is essentially the same. —*Ancient and Medival India.*

२. Australians—The aborigines of Australia, a branch of the Oceanic Negro family. Their numerous tribes present a general uniformity of physical and mental development, under which two types may be recognised. The earlier of these is probably that shown by the extinct Tasmanians......The other type was perhaps akin to the Dravedians of India or to a very low Caucasic race. —*Harmsworth History of the world,* p. 321.

३. Dravedians—Indigenous non-Aryan inhabitants of South India, including the Telingas or Telegu of the Nizam's Dominions, the Tamils of Karnatic and Ceylon, the Kanarese of Mysore, the Malyalim of Malabar coast those wild hunters the Gonds of Vindhya Hills, the Sinhalese of Ceylon, and perhaps the Veddahs. A Mongolian race originally, which has been assimilated to the Caucasic type by long intermixture of blood. —*Harmsworth History of the World,* p. 326.

४. The reader will not readily forget the city of the Sun 'Helispolis' or 'Menes' the first Egyptian king of the race of the Sun, the 'Menu Voivasowat' or patriarch of the Solar race nor his status, that of the great 'menoo', whose voice was said to salute the rising sun. —*India in Greece,* p. 174.

वर्ष हो चुके हैं। जो सन् संवत् महाराज मनु का है वही हज़रत नूह का है। 'नूह' की नौका और मनु की मछली की आदिम कथा का रहस्य, उस दिन फ़िनीशिया की लिपि पर विचार करते समय इस प्रकार खुला—

अरबी लिपि में वर्णमाला को 'अबजद हौवज़' कहते हैं। यह वर्णमाला फ़िनीशिया से ली गई है। फ़िनीशिया में यह 'अबजद' से शुरू होकर 'क़ुरशत' पर ही समाप्त होती थी, इसीलिए हिन्दू पण्डित इसे 'क़ुरशती' न कहकर 'खरोष्ट्री' कहा करते थे। अरबी और फ़ारसीवालों ने इसमें 'सख़ज़' और 'ज़ज़ग़'—ये छह अक्षर बढ़ा लिये हैं। इसके कई एक टुकड़े रोमन में भी विद्यमान हैं और अलिफ़ बे के कारण अलफ़ेबेट कहलाते हैं। A B C D और K L M N और Q R S T अबजद, कलमन और क़ुशरत की हूबहू नक़ल हैं। उपर्युक्त अबजद में एक कलमन है। इस कलमन में ن م ل ک काफ़, लाम, मीम और नून सम्मिलित हैं। इन अक्षरों में 'नून' अक्षर बड़ा ही मनोरञ्जक और ऐतिहासिक है। मिस्र की भाषा में 'नून' शब्द का अर्थ मछली है, जो फ़िनीशिया में ईल नामक मछली की शकल का हो गया है और समस्त सेमिटिक भाषाओं में 'नून' अक्षर के लिए व्यवहृत होता है[१]। इस अक्षर की बनावट अंग्रेज़ी और अरबी में आज भी मछली के ही आकार की होती है[२]। मछली का नाव के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। नाव की रचना मछली की रचना पर ही स्थिर हुई है। दोनों का रूप एक ही है। बम्बई प्रान्तवाले नाव को 'मछवा' कहते भी हैं। मछवा शब्द मछली से लिया गया है। उसी प्रकार मिस्र का नून शब्द भी संस्कृत के नव, नाव, नौ आदि से ही लिया गया है। नेवी शब्द अंग्रेज़ी में भी नाव के लिए ही व्यवहृत होता है। हज़रत नूह को भी आदि में 'नौआ' कहा करते थे। उसी 'नौआ' से ही नूह बन गया है। यह 'नूह' या 'नौआ' नौ या नाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। इस नौआ का सम्बन्ध मनु के जलप्लावन से ही है, इसलिए हमको 'नाव' और नौआ तथा मछली और मनु का सम्बन्ध निकालने में सरलता हो गई है। हमारा विश्वास है कि नूह—नौआ, अर्थात् नाव मनु की मछली ही है और मनु की मछली ही नूह—नौका, अर्थात् नाव है। दोनों का तात्पर्य यही है कि आदि पुरुष मनु ने मछली को देखकर नाव बनाई और उस समय के जलप्लावन से अपनी और दूसरों की रक्षा की। यह न समझना चाहिए कि मनु ने मछली से सबको बचाया। महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि **'हिमवतः श्रृंगे नावं बध्नीत'**, अर्थात् मनु ने पर्वतशृङ्ग में नाव को बाँधा। इससे स्पष्ट है कि मछली नाव ही है।

मनु का नाम था वैवस्वत मनु। विवस्वान् सूर्य को कहते हैं, इसीलिए वैवस्वत मनुवंशी इक्ष्वाकु आदि सूर्यवंशी कहलाते हैं। इला नामी लड़की सूर्यवंशियों की ही है, जिससे सोमवंश चलता है। हज़रत नूह के दोनों पुत्र हेम और शेम सूर्यवंश और चन्द्रवंश ही हैं। सूर्य को हेमगर्भ, अर्थात् हिरण्यगर्भ भी कहते हैं[३] और 'शेम' तो 'सोम' के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। मनु से आर्यों की उत्पत्ति और सूर्य-चन्द्र से आर्यक्षत्रियों की उत्पत्ति जगत् प्रसिद्ध है। इसी प्रकार यह

---

१. Nūn is a fish in Egyptian, and reduced to one of the eel type in Phoenician. In all the Semitic Languages this is the meaning of the word by which the letter is known.

—The Origin of the Alphabet by Herbert Boynes (Theosophist August, 1914).

२. N = , ں =

३. विष्णु पुराण ४।१८।११ में लिखा है कि **'तितीक्षो रुशद्रथः पुत्रोऽभूत ॥ ११ ॥ तस्यापि हेमो हेमस्यापि सुतपाः ॥ १२ ॥'** अर्थात् ययाति के वंश में रुशद्रथ हुआ और उसके वंश में हेम हुआ। सम्भव है यह वही हेम हो, क्योंकि वाल्मीकि रामायण में ययाति सूर्यवंशी कहे गये हैं।

भी प्रसिद्ध है कि पतित क्षत्रियों से ही संसार के समस्त मनुष्यों का विस्तार हुआ है। यहाँ थोड़ा-सा आर्यशास्त्रों से भी दिखलाते हैं कि उनमें आर्यों की उत्पत्ति और उनसे समस्त संसार के मनुष्यों की उत्पत्ति का वर्णन किस प्रकार किया गया है।

आर्यशास्त्रों में वेदों का पद बहुत ऊँचा है। वेद में परमात्मा आज्ञा देते हैं कि **'अहं भूमिमददामार्याय'**,* अर्थात् मैंने आर्यों को ही भूमि दी है। दूसरे स्थान पर आदेश है कि **'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्'**+ अर्थात् संसार को आर्य बनाओ। आर्य का निर्वचन करते हुए निरुक्त में यास्काचार्य कहते हैं कि **'आर्य ईश्वरपुत्रः'**× अर्थात् आर्य ईश्वरपुत्र हैं। इन सब उद्धरणों का तात्पर्य यही है कि परमेश्वर ने सबसे प्रथम आर्यों को उत्पन्न करके उनको ही यह भूमि दी है और आर्यसभ्यता में ही सबको रहने का आदेश दिया है। संसार के अन्य मनुष्य ईश्वरपुत्र इसलिए नहीं हैं कि वे ईश्वर की अमैथुनी सृष्टि द्वारा उत्पन्न नहीं हुए। वे आर्यों की पतित शाखाओं से ही हुए हैं। अमैथुनी सृष्टि द्वारा तो केवल आर्यों की ही उत्पत्ति हुई है, इसीलिए वे ईश्वरपुत्र कहलाते हैं। ये आर्य पहले चारों रंग-रूपों के मिश्रित रंग-रूप से ही उत्पन्न हुए थे, इसीलिए आदि में उनका एक ही वर्ण, एक ही रूप और एक ही भाषा थी[१]। वर्णविभाग होने के पूर्व ही आर्यों के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में से ब्रह्मा और वैवस्वत मनु, अपनी योग्यता के कारण, विद्या और शासन के लिए निर्धारित हो चुके थे, इसीलिए ये दोनों पुरुष अब तक देवतुल्य ही माने जाते हैं। **'ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव'**§ जिस प्रकार लिखा हुआ है उसी प्रकार यह भी लिखा है कि देव, असुर, मनुष्य आदि समस्त प्रजा मनु से ही उत्पन्न हुई है और मनु से उत्पन्न होने के कारण ही वह मानववंशी, अर्थात् मनुष्य कहलाती है[२]। यही बात प्रसिद्ध इतिहासकार मेनिङ्ग अपने ग्रन्थ में लिखता है कि यह बात विद्वानों ने मान ली है कि आर्यों अथवा मनुष्यजाति के पूर्व पितामह 'मनु' या 'मनस' उसी प्रकार हैं जिस प्रकार जर्मनों के 'मनस' हैं, जो ट्यूटनों के मूलपुरुष समझे जाते हैं। अंग्रेजी का मैन और जर्मन का 'मन्न' शब्द मनु शब्द के साथ उसी प्रकार मिलता है जिस प्रकार जर्मन का मेनश संस्कृत के 'मनुष्य शब्द के साथ[३]। इन्हीं मनु का यह मानवसमाज कुछ समय तो इसी प्रकार चला, परन्तु जब वर्णविभाग की आवश्यकता हुई और गुण-कर्म और स्वभावनुसार उनका वर्णविभाग हो गाय तब उन्हीं में से वर्णधर्म के प्राबल्य से, एक ही रंग के चार रंग हो गये—ब्राह्मण स्वेत, क्षत्री लाल, वैश्य पीत और शूद्र श्याम रंग के हो गये[४]। देश की परिस्थिति के कारण इन चारों की वृद्धि हुई और उन्हीं में से संसार की अनेक

---

१. **अमरेन्द्र मया बुद्ध्या प्रजाः सृष्टास्तथा प्रभो। एकवर्णाः समाभाषा एकरूपाश्च सर्वशः॥**
—वाल्मीकि रामायण, उत्तर० ३०।१९

२. **मनुना च प्रजाः सर्वाः स देवासुरमानुषाः। सृष्टव्याः सर्वलोकाश्च यच्चेङ्गं यच्च नेङ्गति॥**
—महा०वन० [१८७।५१]

धार्मात्मा स मनुर्धीमान्यत्र वंशः प्रतिष्ठितः। मनोर्वंशो मानवानां ततोऽयं प्रथितोऽभवत्॥
—महा०आदि० [७५।१३]

३. It has been remarked by various authors (as Kuhn and Zeitsaehrift IV. 94 ff) that in analogy with Manu or Manus as the father of mankind or of the Aryas, German mythology recogises Manus as the ancestor of Teutons. The English 'Man', and the German Manu apper also to be akin to the word **Manu**, as the German *Menesh* persents a close resemblance to *Manush* of Sanskrit.
—*Mannings' Ancient and Medieval India*, Vol. I, p. 118.

* ऋ० ४।२६।२ + ऋ० ९।६३।५ × निरुक्त ६।५।२६ § मुण्डक १।१।१

४. **ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां च लोहितः। वैश्यानां पीतको वर्णः, शूद्राणामसितस्तथा।**
—महा०शान्ति०

जातियाँ उत्पन्न हो गईं[१]। इस प्रकार से आदिसृष्टि में आर्यों की उत्पत्ति और उन्हीं के वंशविस्तार से संसार की जातियों का वर्णन, आर्यों और आर्येतर जातियों के प्रामाणिक इतिहास में लिखा हुआ है। आधुनिक विज्ञान भी इसी की पुष्टि करता है, अतएव अब हम इस विषय को यहीं छोड़कर इस बात की जाँच करते हैं कि आदिसृष्टि कहाँ उत्पन्न हुई ?

आदिसृष्टि की एक ही स्थान में उत्पत्ति

इस खण्ड के गत पृष्ठों में हम देख चुके हैं कि आदि में जो मनुष्य उत्पन्न हुए थे वे इथियोपिक विभाग के निग्रो न थे, प्रत्युत सब आर्य थे। अब हम आगे देखना चाहते हैं कि उन आदि मूलपुरुषों की जन्मभूमि कहाँ थी, अर्थात् आरम्भ में वे कहाँ उत्पन्न हुए थे।

क्या आदि में मनुष्यप्राणी एक ही स्थान में प्रादुर्भूत हुआ या पृथिवी के भिन्न-भिन्न स्थानों में अनेक स्थानों पर ? इस प्रश्न का उत्तर बहुत दिन पहले विद्वानों ने दो प्रकार से दिया था। एक प्रकार यह था कि मनुष्यप्राणी बन्दरों से विकसित हुआ है, अत: जहाँ-जहाँ बन्दरों का निवास रहा हो वहाँ-वहाँ मनुष्यप्राणी के उत्पन्न होने की सम्भावना है। दूसरा प्रकार यह था कि मनुष्य बन्दरों से नहीं प्रत्युत वनमनुष्यों से विकसित हुआ है, अत: इसका जन्म वहीं हो सकता है जहाँ वनमनुष्य पाये जाते हों। वनमनुष्य अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, मडगास्कर और जावा आदि में ही पाये जाते हैं, अर्थात् वे वहीं पाये जाते हैं जहाँ निग्रोदल की आबादी है। निग्रोदल अब तक सभ्यता में समस्त मनुष्यसमुदाय से पीछे है। उसमें अनेक जातियाँ और दल ऐसे हैं जो वनमनुष्य से थोड़े ही उन्नत हैं। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य उन्हीं स्थानों में से किसी एक स्थान पर पैदा हुआ जहाँ निग्रो या कपितुल्य वनमनुष्य रहते हैं, पृथिवी के प्रत्येक भाग में नहीं, परन्तु जब से भौगोलिक विभागशास्त्र का प्रादुर्भाव हुआ है और भौगोलिक प्रक्रिया के साथ-साथ यह सिद्ध हो गया है कि संसार में जितने प्राणी हैं, सबका वंशविस्तार एक ही मूल से हुआ है तब से अब यह प्रश्न उठता ही नहीं कि मनुष्य अनेक जगह अलग-अलग प्रादुर्भूत हुआ।

पिछले पृष्ठों में हम इस भौगोलिक शास्त्र पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं, इसलिए उसे यहाँ पुन: दोहराना नहीं चाहते। यहाँ केवल इतना ही बतलाना है कि 'भौगोलिक विभागशास्त्र' के अनुसार द्वीप-द्वीपान्तर में बसे हुए प्राणी, जो परस्पर शारीरिक भेद के साथ अलग-अलग प्रतीत होते हैं, कभी भूमिभाग जुड़े रहने के कारण एक ही माता-पिता से उत्पन्न हुए थे—आस्ट्रेलिया का दीर्घकाय घोड़ा और नेपाल का छोटा टट्टू एक ही पूर्वज की सन्तान हैं। कहने का तात्पर्य यह कि रूप वैचित्र्य भले हो, परन्तु एक जाति दो विभिन्न मार्गों से विकसित होकर एक रूप में नहीं आई। यह कभी नहीं हुआ कि बंगाल के मोर, ऊँट, हाथी, चीता, कौवा और साँप होते हुए विकसित हुए हों और गुजरात के मोर चींटी, न्योला, लोमड़ी, बिल्ली से गिरगिट होते हुए मोर हुए हों और अब दोनों देशो के मोर परस्पर अण्डे-बच्चे देते हों। अथवा अमेरिका का मोर दूसरी मछलियों और मण्डूकों से विकसित हुआ हो और चीन का दूसरों से। कहने का तात्पर्य यह कि अलग-अलग कई वंशों से किसी प्राणी का विकास नहीं हुआ, प्रत्युत सब एक ही पितामह की सन्तान हैं। जो हाल अन्य प्राणियों का है, वही मनुष्यों का भी समझना चाहिए।

नदी के सूख जाने पर रेत से कोई वृक्ष आप-ही-आप नहीं उग जाता और न समुद्र में भाटा हो जाने पर बालू से वृक्ष उगता हुआ देखा गया है। हम संसार में देख रहे हैं कि जब कोई भूमि

---

१. शनकैस्तु क्रियालोपादिमा क्षत्रियजातय:। वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणानामदर्शनात्॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडा: कांबोजा यवना: शका:। पारदा: पह्लवाश्चीना: किराता दरद: खशा:॥ —मनुस्मृति

समुद्र के पेट से बाहर निकलती है और रेत के मैदानों की भाँति स्थलरूप में परिणत होती है तब उसमें तब तक कोई वस्तु पैदा नहीं होती जब तक रेत बारीक होकर लसदार मिट्टी न हो जाए। लसदार मिट्टी हो जाने पर भी बीज आप-ही-आप उसमें से निकल नहीं आता जब तक अनेक कारणों के द्वारा प्रेरित होकर—आँधी, तूफ़ान, पशु, मक्खी और मच्छर आदि के द्वारा प्रभावित होकर—वहाँ नहीं पहुँचता। यदि लोग समझते हों कि कुछ दिन बाद उस जड़ और निर्जीव रेत से ही वृक्षों के अंकुर निकलने लगते होंगे तो यह अनुमान वैसा ही होगा जैसा किसी ने आटा गिरता हुआ देखकर चक्की के अन्दर गेहूँ के खेतों का अनुमान किया था। यह घटना बतलाती है कि बीज आप-ही-आप नहीं निकलता, किन्तु वह खोज करके लाया जाता है और बड़े यत्न से किसी अनुकूल स्थान में बोया जाता है, तब कहीं पौधे तैयार होते हैं और अन्य स्थानों में लगाये जाते हैं। बाग़ीचों में हम प्रतिदिन यही क्रम देखते हैं। माली पहले एक क्यारी में बीज तैयार करता है, फिर वहाँ से पौधे लेकर सारी फुलवारी में लगाता है और काम पड़ने पर दूर देशों को भी भेजता है। कहने का तात्पर्य यह कि बीज सर्वत्र पैदा नहीं होता। वह एक ही स्थान से सर्वत्र फैलता है, अत: इस बीज-क्षेत्र-न्याय के अनुसार मनुष्य भी पहले किसी एक ही स्थान में पैदा हुआ और फिर संसारभर में फैला।

माली को जिस प्रकार बीज बोने के लिए दो बातें ध्यान में रखनी पड़ती हैं, उसी प्रकार मनुष्य के पैदा करने में परमात्मा को भी दो बातें ध्यान में रखनी पड़ी होंगी। माली उसी स्थान में बीज बोता है जहाँ का जलवायु उस पौधे के अनुकूल होता है और उसका खाद्य बहुतायत से मिल सकता है। दूसरे जहाँ आँधी-ओले आदि बाहरी उत्पातों से रक्षा भी हो सकती है। इसी प्रकार मनुष्य भी एसे ही स्थान में पैदा किया गया होगा जहाँ का जलवायु उसके अनुकूल हो और उसका खाद्य-अन्न मिल सके तथा आँधी, तूफ़ान, जलप्लावन, अग्निप्रपात, भूकम्प और अनेक एसी ही आरम्भिक दुर्घटनाएँ न हो सकती हों। ऐसा ही स्थान मनुष्यों की आदिसृष्टि के योग्य हो सकता है। मनुष्यों के ही नहीं प्रत्युत पशु, पक्षी और वनस्पति आदि सभी प्राणियों की उत्पत्ति के योग्य समझा जा सकता है।

इस समय समस्त पृथिवी के बड़े-बड़े छह विभाग—एशिया, यूरोप, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और द्वीपसमुदाय हैं। कहते हैं कि किसी युग में अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, द्वीपपुञ्ज, भारत का दक्षिण प्रान्त और लंका, मडगास्कर आदि एक ही में जुड़े थे[१]। यदि यह सत्य हो तो कहना चाहिए कि पृथिवी के चार ही विभाग थे, अर्थात् एशिया, यूरोप, अमेरिका और संयुक्त द्वीपपुञ्ज। अफ्रीका, अस्ट्रेलिया, मडगास्कर, द्वीपपुञ्ज, लंका और भारत का दक्षिणी भाग उस समय एक में थे, इसलिए हमने इन सबका नाम 'संयुक्तद्वीपपुञ्ज' रक्खा है। विद्वानों का मत है कि मनुष्यजाति का आरम्भिक विकास यूरोप और अमेरिका में नहीं हुआ। जाँच करनेवाले कहते हैं कि पूर्वकाल में अमेरिका में बन्दरों के न होने से मनुष्य की उत्पत्ति वहाँ हो ही नहीं सकती[२]।

---

१. India, South Africa, and Australia were connected by an Indo Oceanic continent, in the Permian epoch, and the two former countries remained connected (with at the utmost only short interruptions) up to the end of the Mislene period. During the later part of the time this land was also connected with Malayana. —*Quarterly Journal of the Geological Society,* Vol. XXXI, p. 540

२. It is true that the cradle of the human race can hardly have been in America, to cite one objection, the Anthropoid apes which are indispensable to the theory of evolution as the connection link between the animal world and man, have at no time been native there, any more than they are now, as the fossil finds in all American excavations have proved.

—*Harmsworth History of the World,* p. 5676

आरम्भिक दशा में यूरोप की हवा भी अनुकूल न थी, इसलिए वहाँ भी बन्दर नहीं रह सकते थे। यहाँ वहाँ के पशुओं और अन्नों को देखकर भी यही कहा जाता है कि यूरोप में स्तनधारी प्राणिसमूह एशिया से ही गया है, वह वहाँ उत्पन्न नहीं हो सका[१]। इस विवरण से ज्ञात होता है कि अमेरिका और यूरोप दोनों भूभाग मनुष्यजाति के आदिजन्मस्थान की योग्यता से बहिष्कृत हो चुके हैं।

कई विद्वानों ने मनुष्यजाति का उत्पत्तिस्थान उत्तर ध्रुवप्रदेश भी माना है। बहुत दिन हुए वार्न साहब ने एक पुस्तक लिखी थी, उसका नाम है 'Paradise Found or the Cradle of the Human Race at the North Pole'। इस पुस्तक में उन्होंने सिद्ध किया है कि आदिसृष्टि उत्तरी ध्रुवप्रदेश में हुई। पुस्तक बड़ी ही रोचक है। इस पुस्तक से प्रभावित होकर ही लोकमान्य तिलक ने आर्यों का मूलनिवास उत्तरध्रुव में मानकर अपने ग्रन्थ की रचना की है, किन्तु पीछे से जब ज्योतिष्सम्बन्धी विचारों में उन्नति हुई और डॉक्टर क्राल का यह सिद्धान्त स्थिर हुआ कि तीन लाख वर्षों के अन्दर पृथिवी की केन्द्रच्युति तीन बार हुई है और उक्त प्रदेश में हिमपात का तूफ़ान भी तीन बार हुआ है तब से माना जाने लगा है कि ऐसे स्थान में, जहाँ इस प्रकार की हिमप्रलय होती रहे, वहाँ मनुष्यजाति की आदिसृष्टि नहीं हो सकती और न वहाँ आबादी ही हो सकती है। हाल में तो जाना गया है कि वहाँ प्रति साढ़े दश हज़ार वर्ष में, हिमपात हुआ ही करता है, इसलिए ऐसे स्थान में आदिसृष्टि हो ही नहीं सकती।

इंग्लैंड के नामी डॉक्टर एलेन्सन का कथन है कि 'मनुष्य की खाल पर ध्रुवीय पशुओं के समान लम्बे बाल नहीं हैं, इसलिए इसे ध्रुवीय प्रदेश में रहने के लिए परमेश्वर ने नहीं बनाया। इसकी खाल पर पसीना निकालनेवाले छोटे-छोटे रोम हैं, इसलिए यह अतिशीत प्रदेश में बसनेवाला प्राणी नहीं है'। इसी प्रकार भूगोल में लिखा है कि ध्रुवप्रदेश में वनस्पति नहीं होती। वहाँ जो मनुष्य रहते हैं, वे ठिंगने हो गये हैं। ध्रुवस्थान में तो प्राणी जी ही नहीं सकते[२]। पूना के पावगी महोदय ने अच्छी प्रकार सिद्ध कर दिया है कि वहाँ जो मनुष्यसम्बन्धी चिह्न पाये गये हैं उनसे ज्ञात होता है कि वहाँ मनुष्य बहुत दिन बाद तब पहुँचे हैं जब भारत आदि देशों में मनुष्य बहुत उन्नति कर चुके थे। इन समस्त खोजों से अब वार्न साहब का मत अस्वीकृत हो गया है और उत्तरध्रुव में सृष्टि-उत्पत्ति की कल्पना त्याज्य समझी जाती है, अतः उत्तर ध्रुवप्रदेश भी मनुष्य के प्रादुर्भाव का आदिस्थान नहीं हो सकता।

अब एशिया और संयुक्त द्वीपपुञ्ज ही शेष रह जाते हैं। मनुष्य के प्राथमिक जन्म के लिए वर्त्तमान विज्ञानवादी संयुक्त द्वीपुञ्ज में से कोई स्थान प्रस्तावित करते हैं और अन्य विद्वान् एशिया

---

१. We need not, however, expect necessarily to find the proofs in Europe, our nearest in the animal kingdom are confined to hot—almost to tropical calamities.

—*Lord Avebury's Pre-Historic Time*, p. 403

It is, therefore, extremely probable that man first evolved out of anthropoid apes in the tropics not in the Torrid Zone. —*Rigvedic India*, p. 114

But there is evidence that some of the creatures (e.g. the dog, swine, goat, horned sheep and other familiar animals) which be tamed to his use were not native of Europe, but had their original stock in central Asia, and that some of his grains must likewise have been introduced. Hence, we have glimpses into some of the early human migration from that Eastern Center whence so many successive waves of population have invaded Europe.

—*Encyclopedia Britanica*, 9th Edition, Vol. X, p. 369

२. In the Arctic regions no trees at all are found.......and even the men who live there are dwarfs. At the Poles all life ceases. —Geography

का कोई स्थान प्रस्तावित करते हैं, इसलिए हम आगे चलकर देखना चाहते हैं कि दो में से कौन-सा संस्थान ठीक है। मनुष्यजाति का सबसे पहले प्रादुर्भाव कहाँ हुआ इस विषय में अब दो ही मत हैं, अनेक मत नहीं। विकासवाद आधुनिक युग में विज्ञान पर स्थित समझा जाता है, इसलिए आधुनिक शिक्षासम्पन्न विद्वान् अधिकतर इसी पर विश्वास करते हैं। उनका विचार है कि मनुष्य क्योंकि बन्दर का विकास है, इसलिए मनुष्य तक पहुँचने में, बन्दर को जिस प्रकार वनमनुष्य और अर्धमनुष्य होते हुए जाना पड़ा है, अर्थात् पशुता समाप्त करके वनमनुष्य जब मनुष्य हुआ तब वह असभ्य, काला, कुरूप और मूर्ख था। वनमनुष्य और अर्धमनुष्य (ape-like man) जावा आदि में पाये जाते हैं तथा अफ्रीका आदि के निग्रो भी बहुत कुछ वनमनुष्यों की ही भाँति हैं, अतएव मनुष्यजाति के पूर्वपितामह वही लोग हैं और आदिसृष्टि का स्थान भी वही जावा, अफ्रीका आदि ही है। विकासवादियों के अतिरिक्त पुराने विचारों के अनुसार आदिसृष्टि मंगोलिया, मध्य एशिया, बाग़ेअदन, तिब्बत अथवा भारतवर्ष में हुई मानी जाती है। विकासवाद के कर्त्ता पृष्ठ २६० पर कहते हैं कि 'इस विषय पर भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों की अपनी-अपनी निराली सम्मतियाँ हैं—

१. कइयों की सम्मति है कि प्रथम मनुष्यजाति एशिया में उद्भूत हुई।

२. कई विचारक जिनमें बहुत प्रसिद्ध-प्रसिद्ध वैज्ञानिक हैं यह मानते हैं कि उसका स्थान वर्त्तमान एशिया और अफ्रीका के मध्यवर्ती पोलिनिशिया और जावा के समीप कहीं था जो आजकल जल से ढका हुआ है। डॉक्टर चर्चवर्ड आदि अन्य वैज्ञानिकों की यह सम्मति है कि अफ्रीका के विक्टोरिया निआञ्जा और टेंगेनिका सरोवर के पास मनुष्य का प्रादुर्भाव हुआ और वहाँ से फिर मनुष्य का अन्यत्र फैलाव हुआ। अफ्रीका खण्ड को ही मनुष्य की जन्मभूमि मानने की ओर वैज्ञानिकों का अधिक झुकाव हो रहा है। इसी प्रकार हैकल ने भी संयुक्त द्वीपपुञ्ज में से ही कोई स्थान नियत किया है[१], परन्तु हम विकासवाद की पूर्ण समालोचना करके देख आये हैं कि मनुष्य विकास का परिणाम नहीं है। आदिमनुष्यों की जाँच करके भी देख लिया है कि मूलपुरुष संयुक्त द्वीपपुञ्ज के-से रहनेवाले कपितुल्य नहीं थे, प्रत्युत अत्यन्त सभ्य, ज्ञानी और रूपवान् आर्य थे, इसलिए उनका आदिजन्म इन द्वीपों में नहीं हुआ। उनका जन्मस्थान एशियाद्वीप में ही कोई स्थान होना चाहिए, अतः हम एशिया अथवा अन्य स्थानों से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त विचारों को लिखकर देखना चाहते हैं कि आर्यों का मूलस्थान कहाँ है ? यहाँ हम सुविधा के लिए एशिया से सम्बन्ध रखनेवाले नये और पुराने समस्त विचारों को एक ही स्थान पर लिखते हैं।

१. मैक्समूलर ने मध्य एशिया बतलाया है।

२. बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न मंगोलिया का निर्देश करते हैं।

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती तिब्बत का संकेत करते हैं।

---

१. There are a number of circumstances which suggest that the primeval home of man was a continent now sunk, below the surface of the Indian Ocean, which extended along the south of Asia as it is at present towards the coast as far as India and Sundalands, towards west as far as Madagascar and the South eastern shores of Africa.

This large continent of former time, Sclater, an Englishman has called Lemuria, from the monkey-like-animals which inhabited it, and it is, at the same time, of great importance for being the probable cradle of the human race which in all likelihood here first developed out of anthropoid apes. —*History of Creation,* by Professor Haeckel, p. 325

४. भारतीय सनातनधर्मी भारतदेश के 'कुरुक्षेत्र' पर ज़ोर देते हैं और

५. ईसाई तथा मुसलमान आदम और हौवा का जन्म बाग़े अदन में कहते हैं। आदिसृष्टि के मूलस्थान के विषय में, इतने ही मत प्रसिद्ध हैं, अतः आगे हम इनकी क्रम से आलोचना करते हैं।

१. मैक्समूलर आदि भाषाशास्त्रियों का विचार है कि मध्यएशिया में ही मनुष्यसृष्टि हुई, परन्तु जिन दिनों में इस प्रकार के विचार हो रहे थे उन दिनों में विज्ञान की इतनी उन्नति नहीं हुई थी। उन दिनों में जावा, अफ्रीका आदि देश निश्चित नहीं हुए थे। मध्यएशिया में आर्यों की बस्ती का अनुमान करके और यह अनुमान करके कि आर्यों से ही समस्त मनुष्यजाति पैदा हुई होगी, उन्होंने मध्यएशिया का इशारा किया था, किन्तु अब तक की खोज से यह सिद्ध नहीं हुआ कि मनुष्यजाति मध्यएशिया में उत्पन्न हुई।

२. बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न बङ्गाल के प्रसिद्ध विद्वान् हैं। उन्होंने 'मानवेर आदि जन्मभूमि' नामी एक बड़ा ही उत्तम ग्रन्थ लिखा है। आपने उसमें मनुष्यों की आदि जन्मभूमि को मंगोलिया बतलाया है। हमने उक्त पुस्तक को बड़े ध्यान से पढ़ा, किन्तु उसमें हमें कोई ऐसा प्रमाण नहीं मिला, जिससे यह सिद्ध हो कि मनुष्यसृष्टि पहले मंगोलिया में ही हुई। उससे यह तो अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अति प्राचीनकाल में आर्यलोग वहाँ भी रहते थे और यह भी ज्ञात होता है कि आर्यों से ही समस्त मनुष्यजाति उत्पन्न हुई है, किन्तु इस बात का उसमें एक भी प्रमाण नहीं दिया गया कि मनुष्यों की सृष्टि मंगोलिया में ही हुई।

३. स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तिब्बत में आदिसृष्टि का होना बतलाया है, परन्तु कोई प्रमाण नहीं दिया।

४. भारतीय सनातनधर्मी आर्य भारतदेश के कुरुक्षेत्र को आदिस्थान बतलाते हैं, क्योंकि शतपथ में '**तेषां कुरुक्षेत्रं देवयजनमास। तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनम्**'[१] और जबालोपनिषद् में '**तदनुकुरुक्षेत्रं देवानां देवयजनं सर्वेषां भूतानां ब्रह्मसदनम्**'[२] लिखा है, परन्तु चरक के प्रमाण से सिद्ध होता है कि ऋषिलोग पहले हिमालाय में ही रहते थे। वहीं से हरद्वार के रास्ते नीचे उतरकर भारत आये और बीमार होकर फिर अपने पूर्वनिवास हिमालय को चले गये[३]। इस पूर्वनिवास पद से स्पष्ट हो जाता है कि 'कुरुक्षेत्र' आदिजन्मस्थान नहीं है, प्रत्युत वह निवासस्थान है, क्योंकि हिमालय पर जानेवाले वही ऋषि थे, जिनसे मनुष्यों का वंश चला है।

५. ईसाई और मुसलमान बाग़ अदन को मूलस्थान मानते हैं, परन्तु इससे यह ज्ञात नहीं होता कि इस स्थान से वर्त्तमान 'अदन बन्दर' का तात्पर्य है या किसी अन्य स्थान से। बाग़ कहते हैं

---

१. शतपथ० १४।१।१।२

२. जाबालो० १।१

३. ऋषयः खलु कदाचिच्छालीना यायावराश्च ग्राम्यौषध्याहाराः सन्तः साम्पन्निका मन्दचेष्टाश्च नातिकल्याणाः प्रायेण बभूवुः। ते सर्वासामितिकर्त्तव्यतानामसमर्थाः सन्तो ग्राम्यवासकृतमात्मदोषं मत्वा पूर्वानिवासमपगत-ग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्गाप्रभवममरगन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयम-चिन्त्याद्भुतप्रभवं ब्रह्मर्षिसिद्धचरणानुचरितं दिव्यतीर्थौषधिप्रभवमति शरण्यं हिमवन्तममराधिपाभिगुप्तं जग्मुर्भृग्वङ्गिरोऽत्रिवशिष्ठकश्यपागस्त्यपुलस्त्यवामदेवासितगौतमप्रभृतयो महर्षयः।

—चरक, चिकित्सास्थान १।४।३

महल को जैसे—केसरबाग़, ऐशबाग़। अब यदि 'अदन' शब्द आदिम, अर्थात् संस्कृत के 'आदिम' शब्द का अपभ्रंश हो तो दोनों शब्दों का तात्पर्य आदिम स्थान ही होता है जो किसी दूसरे स्थान की सूचना करता है, परन्तु यदि अदन या इडिन से इसी अदन बन्दर का ही अर्थ निकलता हो तो यह बात बाइबिल के उस लेख के विरुद्ध होगी जिसमें कहा गया है कि 'सबकी भाषा एक थी और आदिपुरुष पूर्व से आये'[१]। इस प्रकार से यह सिद्धान्त भी उचित नहीं जँचता।

यहाँ तक हमने आदिम स्थान के विषय में उपलब्ध मत-मतान्तरों की आलोचना करके देखा तो एक भी ऐसा मत न निकला जो किसी अकाट्य सिद्धान्त पर स्थित हो, इसलिए हम चाहते हैं कि आदिसृष्टि का मूलस्थान निश्चित करने के लिए कुछ परीक्षाएँ नियत की जाएँ तथा ऐसी कसौटी बनाई जाए जिसके अनुसार मूलस्थान का निश्चय किया जा सके। आदिमस्थान की सात कसौटियाँ हैं—

१. **वह स्थान संसारभर में सबसे ऊँचा और पुराना हो।**
२. **उस स्थान में सरदी और गरमी जुड़ती हो।**
३. **उस स्थान में मनुष्य की प्रारम्भिक भोजन फल और अन्न मिलते हों।**
४. **उस स्थान में अब भी मूलपुरुषों के रंग-रूप के मनुष्य बसते हों।**
५. **उस स्थान के आस-पास ही सब रूप-रंगों के विकास और विस्तार की परिस्थिति हो।**
६. **उस स्थान का नाम सभी मनुष्यजातियों के स्मरण में हो। विशेषकर भारतीय आर्यों और ईरानियों के यहाँ तो स्पष्ट लिखा हो कि मनुष्य अमुक स्थान में उत्पन्न हुआ, क्योंकि आर्यों की यही दो जातियाँ शेष हैं।**
७. **वह स्थान उच्च कोटि के देशी और विदेशी विद्वानों के अनुमान के बहुत विरुद्ध न हो।**

उपर्युक्त सात परीक्षाओं में से पाँच वैज्ञानिक हैं जो उस स्थान का लक्षण करती हैं और दो ऐतिहासिक हैं जो उक्त पाँचों को पुष्ट करती हैं। वह स्थान सबसे ऊचाँ और पुराना हो, समशीतोष्ण हो, वहाँ मनुष्यों का आहार फल होते हों। अब भी वहाँ मूलपुरुषों के रंग-रूपवाले बसते हों और पास ही सब रूप-रंगों के विस्तार की परिस्थिति हो, ये सब लक्षण वैज्ञानिक हैं। आर्यों तथा समस्त मनुष्यजाति के इतिहास में उस स्थान का वर्णन हो और वह स्थान विद्वानों की सम्मति के बहुत विरुद्ध न हो, ये दोनों प्रमाण ऐतिहासिक हैं। **'लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः'**, अर्थात् लक्षणों और प्रमाणों से वस्तु पहचानी जाती है, अतएव उपर्युक्त लक्षण और प्रमाणों के अनुसार देखना है कि वह कौन-सा स्थान है जिसमें ये लक्षण और प्रमाण घटते हैं। थोड़ा-सा ही विचार करने पर ज्ञात होगा कि ये लक्षण और प्रमाण हिमालय पर ही घटते हैं। इसलिए यहाँ हम इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ प्रमाण एकत्र करते हैं।

आदिसृष्टि हिमालय पर हुई

१. हिमालय सबसे ऊँचा और पुराना है। हिमालय की सबसे ऊँची चोटी एवरेस्ट है। यह समुद्र से २९००० फ़ीट ऊँची है। पृथिवीमण्डल में इससे ऊँचा और कोई स्थान नहीं है। इसकी ऊँचाई ही इसके पुरानेपन की दलील है। कहते हैं कि आरम्भ में समस्त पृथिवी जल से भरी थी।

---

१. And the whole was of one language and of one speech, and it came to pass as they journeyed from the East. —*Genisis*, chapter VI

उस जल से, सर्वप्रथम वही भूमि निकली है, उसी में वनस्पति उत्पन्न हुई है और उसी में मनुष्य प्राणी उत्पन्न हुए हैं जो सबसे अधिक ऊँची है। भूमि के ऊँची उठने का कारण भौगर्भिक विप्लव हैं। भूमि के अन्दर जो तप्त तरल पदार्थ भरे हैं, जब वे बाहर निकलते हैं और ढेर-के-ढेर एकत्र होते हैं तभी पहाड़ों की सृष्टि होती है। जो पहाड़ जितना ही ऊँचा होता है, उसके फेंकनेवाली अग्निप्रपात की शक्ति भी उतनी ही अधिक बलवान् होती है। हिमालय सबसे विशाल और उच्च है, इसलिए उसको बनानेवाली शक्ति भी समस्त प्रपातशक्तियों से प्रबल थी। इतनी बड़ी महान् शक्ति संचितरूप से तभी मिल सकती है जब वह सर्वथा अक्षुण्य रही हो और यह तो निर्विवाद है कि ऐसी शक्ति सृष्टि के आदि में ही मिल सकती है। इससे यह अनुमान सरल हो जाता है कि पृथिवी का सर्वोच्च हिमालय पहाड़ ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। हिमालय की ऊँचाई और मनुष्यसृष्टि के सिद्धान्त पर अमेरिका का प्रसिद्ध विद्वान् 'डेविस' अपनी 'हारमोनिया' नामी पुस्तक के पाँचवें भाग, पृष्ठ ३२८ पर 'ओकन' की गवाही से लिखता है कि 'हिमालय सबसे ऊँचा स्थान है, इसलिए आदिसृष्टि हिमालय पर ही हुई'।

२. हिमालय सरदी-गरमी को मिलाता है। संसार में ऋतुएँ चाहे जितनी होती हों, परन्तु सरदी और गरमी दो ही प्रधान हैं। यही कारण है कि समस्त भूमण्डल में सर्द और गर्म दो ही प्रकार के प्रदेश पाये जाते हैं। कुछ प्रदेश दोनों के मिश्रण से भी बने हैं तो भी दो में से एक ही की प्रधानता रहती है। प्राणी भी दो ही प्रकार के पाये जाते हैं। मनुष्य को छोड़कर शेष प्राणी या तो अधिक बालवाले या कम बालवाले ही पाये जाते हैं। सर्द देशवालों के शरीर पर अधिक और गर्म देशवालों के शरीर पर कम बाल होते हैं। ग्रीनलैंड आदि महाशीतल देशों में पशु-पक्षी नहीं रहते, किन्तु मनुष्य और जलजन्तु पाये जाते हैं, परन्तु वहाँ मनुष्य के शरीर पर बाल नहीं है। इससे यह बात तो स्पष्ट हो गई कि केवल सर्द देशों में रहनेमात्र से ही शरीर पर बड़े-बड़े बाल नहीं उग जाते, किन्तु यह बात पाई जाती है कि जिन जन्तुओं को सृष्टि की ओर से बड़े बाल दिये गये हैं उन्हीं के होते हैं और जिनको नहीं दिये गये उनके नहीं होते। हाँ, इतना निर्विवाद है कि जो प्राणी बालवाले हैं वे ठण्डे देशों में रहने के लिए और जो छोटे बालवाले हैं वे गर्म देशों में रहने के लिए उत्पन्न किये गये हैं। स्मरण रहे कि ठण्डे देश से अभिप्राय ग्रीनलैंड आदि का नहीं है। जहाँ पशु-पक्षी होते ही नहीं, प्रत्युत ठण्डे देश से अभिप्राय समशीतोष्ण ठण्डे देश से है। ठण्डे देशों की भेड़ (मेष), बकरी, गाय, घोड़ा और अन्य जन्तुओं के बालों से पाया जाता है कि वे उसी देश के अनुकूल हैं जहाँ रहते हैं, परन्तु मनुष्य दीर्घकाल से ग्रीनलैण्ड आदि देशों में रहता है, जहाँ इतना शीत पड़ता है कि वनस्पति बिलकुल नहीं होती और वहाँ के मनुष्य केवल मछली खाकर और बर्फ़ की गुफाओं में रहकर निर्वाह करते हैं। इतनी अधिक सरदी के कारण उनका शरीर तो ठिंगना हो गया है, परन्तु शरीर पर बाल नहीं निकले। इससे ज्ञात होता है कि वे ऐसे ठण्डे देशों में रहने के लिए पैदा नहीं किये गये। वे किन्हीं विशेष स्थानों में ही रहने के लिए पैदा किये गये हैं। मुम्बई के प्रसिद्ध पारसी विद्वान् मि० ख़ुरशेदजी रुस्तमजी कहते हैं कि माउण्ट स्टुआर्ट, एलफ़िन्सटन और बरनस आदि प्रवासियों ने पता लगाया है कि हिन्दूकुश में दो महीने गर्मी और दस महीने सरदी रहती है। हिमालय पर ही कश्मीर, नेपाल, तिब्बत और भूटान आदि देश बसे हुए हैं। इनके निवासी कहते हैं कि वहाँ सरदी और गरमी मिलती है। इससे हिमालय ही मूल स्थान सिद्ध होता है।

३. हिमालय पर फल, अन्न और घास आदि खाद्य पदार्थ होते हैं। अब यह बात निर्विवाद हो गई है कि मनुष्य का प्रधान खाद्य दूध और फल है। दूध पशुओं से और फल वृक्षों से पैदा होते

हैं। इससे पाया जाता है कि मनुष्य से पहले वृक्ष और पशु हो चुके थे तथा मनुष्य ऐसे समशीतोष्ण देशों में रह सकता है, जहाँ पशु रह सकते हों और वनस्पति उग सकती हो। पहाड़ों के सबसे ऊँचे बर्फ़ानी स्थानों और ग्रीन्लैंड आदि देशों में वनस्पति नहीं उग सकती, इसलिए वहाँ पशु-पक्षी नहीं रह सकते। इससे ज्ञात होता है कि वनस्पति और पशु-पक्षी भी मनुष्य की भाँति किसी समशीतोष्ण देश के ही रहनेवाले हैं, अर्थात् सारी सृष्टि किसी एक ही स्थान पर पैदा हुई प्रतीत होती है, परन्तु यहाँ दो शंकाएँ उत्पन्न होती हैं—एक तो यह कि ग्रीनलैंड आदि में मनुष्य क्यों पाये जाते हैं और दूसरी यह की सर्द और गर्म प्रदेशों में रहनेवाले, बालवाले और बिना बालवाले दो प्रकार के प्राणी एक ही प्रदेश में कैसे उत्पन्न हुए?

पहले प्रश्न का उत्तर तो स्पष्ट ही है कि जब वृक्ष और पशुओं के बिना, अर्थात् दूध और फलों के बिना मनुष्य रह नहीं सकता और पशु बिना वनस्पति के नहीं रह सकते तो ऐसे देश में जहाँ ये दोनों पदार्थ न होते हों, मनुष्य पैदा ही नहीं हो सकता। विकासवाद के अनुसार ही वह वहाँ पैदा नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य से पहले बन्दर होना चाहिए और बन्दर फलाहारी है, इसलिए वह ऐसे देश में मनुष्य को उत्पन्न नहीं कर सकता। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि उन देशों के निवासी जलस्थल के परिवर्तनों, युद्धों और सभ्यता के समय प्रवासों के कारण वहाँ गये होंगे, और बहुत दिन तक चालू रहनेवाले सृष्टि-परिवर्तनों के कारण वहाँ से न आ सके होंगे। अब रही दूसरी शंका, उसका उत्तर यह है कि सृष्टि में जब कभी अनुकूलता-प्रतिकूलता होती है तब पशु-पक्षियों को ज्ञात हो जाता है और वे वहाँ से चले जाते हैं। जो प्राणी जिस देश के अनुकूल बनाया गया है, वहाँ का जलवायु उसे खींच लेता है। हिमालय के पक्षी आपसे आप वहाँ चले जाते हैं, जहाँ अनुकूलता होती है और जलजन्तु आपसे आप अनुकूल पानी में चले जाते हैं चाहे जैसे प्रतिकूल पानी या स्थान में पड़ जावें[१], इसलिए सर्द और गर्म देशों में रहनेवाले बालवाले और बिना बालवाले प्राणी एक ही स्थान में (जहाँ सरदी और गरमी जुड़ती है) पैदा हुए, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं।

हम पहले ही बतला आये हैं कि बीज किसी एक ही स्थान में बोया जाता है, अतः इस बृहत् सृष्टि का बीज भी जिससे दो प्रकार के सर्द और गर्म स्वभाव रखनेवाले वृक्ष और प्राणी उत्पन्न हुए हैं ऐसे ही देश में बोया जा सकता था, जहाँ सरदी और गरमी प्राकृतिक रूप से मिली हों, क्योंकि जहाँ सरदी और गरमी प्राकृतिक रूप से मिलती हैं, वही देश वनस्पति, पशु और मनुष्यों के स्वभाव के अनुकूल होता है और सबका खाद्य भी उत्पन्न कर सकता है तथा सर्द और गर्म देशों में जाने योग्य प्राणी भी पैदा कर सकता है। डॉक्टर ई०आर० एलन्स एल०आर०सी०पी० अपनी पुस्तक 'मेडिकल एस्सेज़' में लिखते हैं कि 'मनुष्य निस्सन्देह गर्म और समशीतोष्ण देशों का रहनेवाला है, जहाँ कि अनाज और फल उसकी ख़ुराक के लिए उग सकते हैं। मनुष्य की खाल पर जो छोटे-छोटे रोम हैं, उनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य गर्म और समशीतोष्ण देशों का रहनेवाला है। बड़े रोम सर्द प्रदेश के रहनेवाले मनुष्यों के नहीं होते, इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि मनुष्य बर्फ़ानी प्रदेशों में रहने के लिए नहीं पैदा किया गया'। प्रसिद्ध सोशियलिस्ट कालचेंटर कहता है कि 'मनुष्य समशीतोष्ण गर्म प्रदेशों के रहनेवाले हैं और प्राकृतिक फल व अनाज की ख़ुराक खाते हैं, अतः वही प्रदेश उनका स्वाभाविक निवासस्थान है, जहाँ ऐसी

---

१. 'ईल' नामक मछली अटलांटिक समुद्र में पैदा होती है। पैदा होने पर वह मीठे पानी की ओर जाती है, परन्तु जब बच्चा देना होता है तब हज़ारों मील जाकर उसी अटलांटिक समुद्र के बीच में बच्चे देती है। इसी प्रकार हिमालय की चिड़ियाँ हिमालय में ही अण्डे देने के लिए बाहर से उड़कर वहाँ जाती हैं।

ख़ुराक पैदा होती हो'। हम देखते हैं कि हिमालयरूपी शंकर की गोद में वनस्पतिरूपी पार्वती अधिकता से विद्यमान है। वहाँ गाय, भैंस, घोड़ा, बकरी, ऊँट, हाथी और कुत्ता आदि मनुष्य के संघी प्राणी प्रभूत संख्या में रहते हैं। विद्वानों ने पता लगा लिया है कि हिमालय पर प्राणियों के शरीरांश (फोसील) पाये जाते हैं[१]। पृथिवी पर कोई ऐसा स्थान नहीं है जो हिमालय स्थित प्राणियों के शेषाङ्गों से अधिक पुराने चिह्न दे सके। ऐसी दशा में स्पष्ट प्रमाणित होता है कि हिमालय पर मनुष्य से पूर्व उत्पन्न होनेवाले और उसके जीवन आधार वृक्ष और गाय आदि पशु पूर्वातिपूर्वकाल में उत्पन्न हो गये थे, अतएव हिमालय आदिसृष्टि उत्पन्न करने की पूर्ण योग्यता रखता है।

४. उस स्थान के पास ही मूलपुरुषों के रंग-रूपवाले मनुष्य बसते हों। मूलपुरुषों की उत्पत्ति लिखते समय हमने कहा था कि मूलपुरुषों का रूप-रंग ऐसा होना चाहिए जिसमें सभी रूप-रंगों का मिश्रण हो। यह मिश्रित रंग-रूप देखने के लिए हमने एक चित्र और एक पुतला बनवाया था जो हूबहू काश्मीर के ब्राह्मणों के रंग-रूप से मिलता था। हम यहाँ देख रहे हैं कि काश्मीर हिमालय का ही एक भाग है जहाँ के निवासी मूलपुरुषों की शकल-सूरत के पाये जाते हैं, इसलिए हिमालय को अब मूलस्थान कहने में तनिक भी सन्देह प्रतीत नहीं होता। एक बहुत बड़े भाषाशास्त्री की साक्षी से टेलर महोदय कहते हैं कि 'मनुष्यजाति की जन्मभूमि, स्वर्गतुल्य काश्मीर ही है'[२]। बंगाल के प्रसिद्ध पुरातत्त्वविशारद बाबू अविनाशचन्द्र दास 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि 'आर्यों का आदि जन्मस्थान काश्मीर ही है'[३]। आदि मनुष्य और मूल आर्य एक ही हैं। आर्यों के विशुद्ध रूप-रंग के ब्राह्मण काश्मीर में आज भी निवास करते हैं जिससे बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आदिसृष्टि हिमालय पर ही हुई।

५. हिमालय के आसपास समस्त रंगरूपों के विकास की परिस्थिति है। भारतदेश की बनावट ऐसी है जहाँ नित्य ही छहों ऋतुएँ वर्त्तमान रहती हैं। इसी देश में सब रंग-रूप के आदमी निवास करते हैं। यह इतना पूर्ण और सर्वगुणसम्पन्न देश है जहाँ प्रत्येक स्वभाव के मनुष्य का निर्वाह हो जाता है। मूलस्थान के पास ऐसी विस्तृत भूमि की आवश्यकता थी जहाँ आकर संसारभर में रहने की योग्यता प्राप्त करके, मनुष्य पृथिवी में सर्वत्र फैलें। भारत-जैसे देश के सामीप्य के कारण भी यही प्रतीत होता है कि हिमालय पर ही मनुष्यों की आदिसृष्टि हुई।

६. समस्त मनुष्यों को हिमालय की याद हो। संसार की समस्त जातियों को साधारणत: और ईरानी तथा भारतीय आर्यों को विशेषत: हिमालय की आदिम कथा याद है। संसार की बहुत-सी जातियों को हिमालय पर हुए जलप्लावन की कथा याद है। इसी प्रकार हिमालय के दूसरे नाम 'मेरु' का स्मरण अनेक जातियाँ भिन्न-भिन्न नामों से करती हैं—भारतीय आर्य 'मेरु',

१. And the most ancient form of life occurs near the eastern end of the hill.
—*Manual of the Geography of India,* p. XXIV. Palaeogoic Rocks of the Punjab Salt Ranges.
In Asia, Lower Cambrian fossils (Olenellus and Neobolus etc.) occur in the Salt Range in India.
—*An Intermediate Text Book of Geology,* p. 198
The general facies of the faun, however, leaves no room for doubt that the beds (of the Salt Range of the Punjab) are of Cambrian age, and consequently the oldest in India whose age can not be determined with any approach to certainty. —*Manual of the Geology of India,* p. 113

२. Adelung, the father of comparative philology and leader in 1806, placed the cradle of mankind in the valley of Kashmir, which he identified with paradise. —*Tailor's Origin of the Aryans,* p. 9

३. That this beautiful mountainous country (Kashmir) and the plains of Saptasindhu were the cradle of the Aryan race. —*Rigvedic India,* p. 55

ज़ेंद भाषावाले ईरानी 'मौरु', यूनानवाले 'मेरोस', दक्षिणी तुर्किस्तानवाले 'मेरुख़', मिस्रवाले 'मेरई' और असीरियावाले 'मोरुख़' कहते हैं। ईरान के पारसी आर्य और भारतीय आर्य अपना, अर्थात् आदि मूलपुरुषों का आदिस्थान हिमालय बतलाते हैं, किन्तु आर्यों के लक्षणों और उनके मूलनिवास के विषय में पाश्चात्यों ने ऐसा भ्रम और उलझन फैला दी है कि जब तक इस विषय का निर्णय न हो जाए कि आर्य कौन हैं तथा जब तक यह भी निश्चित न हो जाए कि आर्यों का मुख्य मूल-स्थान कहाँ है तब तक हिमालय के सिद्धान्त पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ सकता, अत: हम यहाँ विस्तार से दोनों बातों की आलोचना करना चाहते हैं।

आर्यों का लक्षण करते हुए पाश्चात्य कहते हैं कि जो गोरा हो, लम्बा हो, और जिसका शिर बड़ा हो और जो भारत, ईरान, यूरोप में बसते हों उसे आर्य कहते हैं[१], परन्तु भारतीय विद्वान् कहते हैं कि जो रूप-रंग, आकृति-प्रकृति, सभ्यता, शिष्टता, धर्म-कर्म, ज्ञान-विज्ञान और आचार-विचार तथा शील-स्वभाव में सर्वश्रेष्ठ हो उसे आर्य कहते हैं[२]। पाश्चात्य विद्वानों के किये हुए लक्षण में उनका निज का स्वार्थ है। वे आर्य बनना चाहते हैं, परन्तु यथार्थ में वे आर्य नहीं हैं। उनके आर्य न होने की अनेक युक्तियों में से दो युक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

१. यूरोप की किसी भी भाषा में आर्य शब्द का बिगड़ा हुआ कोई रूप देखने में नहीं आता। यदि वे आर्य होते तो उनकी भाषा में आर्य शब्द अवश्य होता।

२. भारतवर्ष का 'अनारी'=अनाड़ी शब्द बड़ा ही ऐतिहासिक है। यह शब्द, 'अनार्य' का अपभ्रंश है, किन्तु कभी भी ऐसे लोगों को लिए प्रयुक्त नहीं होता, जिनकी नाक छोटी और रंग काला हो, प्रत्युत ऐसे लोगों के लिए प्रयुक्त होता है जो असभ्य, अशिष्ट और कम समझ हों। जिस प्रकार आर्य शब्द सज्जन और साधु पुरुष का वाचक है, उसी प्रकार अनार्य से बिगड़ा हुआ अनारी शब्द भी असभ्य, अशिष्ट के लिए प्रयुक्त होता है।

इन दोनों दलीलों से यूरोप-निवासियों के निकाले हुए आर्यत्व के लक्षण कट जाते है और यही सिद्ध होता है कि आर्य शब्द से सर्वश्रेष्ठ ही का ग्रहण होता है, लम्बा सिर, कंजी आँख और सफ़ेद रंग से नहीं। आर्यों के लक्षणों में जिस प्रकार विद्वानों ने लम्बे और गोरे आदि लक्षण किये हैं, उसी प्रकार उनके मूलस्थान के विषय में भी नाना प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। हम अभी देख चुके हैं कि यूरोपवासियों की भाषा में आर्य के लिए कोई शब्द नहीं है, न 'अनारी' शब्द का अर्थ काला, ठिंगना और छोटी नाकवाला होता है। ऐसी दशा में यूरोप-निवासियों ने 'आर्य' का लक्षण, जो अपने से मिलता हुआ किया है, वह मानने योग्य नहीं है और न उनके तथा उनके

---

१. Aryans—The Most important family of Caucasic man to which all the chief civilisations of modern times belong. A tall, fair-skinned, long-headed race, whose origin is still doubtful though it was probably in central Asia and who spread in pre-historic times over the whole of Europe and parts of Asia and Africa. Almost all modern Europeans are of Aryan descent. The family is also called indo-European or Indo-Germanic, but these names are open to objections from which the term Aryan is free. —*Harmsworth History of the World*, p. 321.

२. कर्त्तव्यमाचरन् काममकर्त्तव्यमनाचरन्। तिष्ठति प्रकृताचारे य: स आर्य इति स्मृत:। —वसिष्ठस्मृति

न वैरमुद्दीपयति प्रशान्तं न दर्पमारोहति नास्तमेति।
न दुर्गतोऽस्मीति करोत्यकार्यं तमार्यशीलं परमाहुरार्या:॥ —महा०
न स्वसुखे वै कुरुते प्रहर्षं नान्यस्य दु:खे भवति प्रहृष्ट:।
दत्त्वा न पश्चात् कुरुतेऽनुतापं स कथ्यते सत्पुरुषार्यशील:॥ —महा० उद्यो० [११२-११३]
माहाकुल: कुलीनार्य: सभ्यसज्जनसाधव:। —अमरकोष [२ ब्रह्मवर्ग ७।३]

शिष्यों के द्वारा स्थापित किया हुआ आर्यों का मूलनिवास ही मानने योग्य है। अब तक यद्यपि आर्यों के मूलनिवास के विषय में अनेक कल्पनाएँ हुई हैं तथापि उनमें चार ही कल्पनाएँ ऐसी हैं जिनपर कुछ ध्यान दिया जा सकता है। यहाँ हम उक्त चारों कल्पनाओं को लिखकर यथाक्रम उनकी आलोचना करते हैं—

१. जर्मनी के कुछ विद्वान् आर्यों की जन्मभूमि, जर्मनी और रूस के बीच में बतलाते हैं।

२. यूरोप के सभी विद्वान् मध्य एशिया बतलाते हैं।

३. लोकमान्य तिलक महाराज उत्तरीध्रुव कहते हैं और

४. पारसी लोग 'ईरानवेज़' कहते हैं।

अब तक इतने ही ऐसे मत सुने गये हैं जिनपर कुछ विचार करने की आवश्यकता है।

(१) जर्मनी के अनेक विद्वान् मानते हैं कि जर्मनों के पूर्वज लम्बे क़द और बड़े सिरवालों की सन्तति हैं, इसलिए वे अपने देश की एक लम्बे क़द और बड़े सिरवाली जातिविशेष को आदिम आर्य मानते हैं, किन्तु इसके विरुद्ध फ्रांस के विद्वानों का कहना है कि आदिम आर्य ठिंगने और छोटे सिरवाले थे। इस विवाद पर इंग्लैंड का काननटेलर नामी ग्रन्थकार कहता है कि जब दो जातियों का सङ्घट्ट होता है तब दोनों में से जो अधिक सभ्य होती है उसी की भाषा दूसरी जाति बोलने लगती है, अत: बाल्टिक के किनारे पर बसनेवाले बड़े सिर और लम्बे जंगलियों ने, ठिंगने और छोटे सिरवाले सभ्य आर्यों से ही भाषा सीखी है। इसपर लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'यही मत ठीक है'[१]। यहाँ इस बात का खण्डन हो गया कि जर्मनी और रूस के बीच में आर्य रहते थे। यहाँ तो यह प्रमाणित हो रहा है कि वहाँ लम्बे, बेडौल जंगली रहते थे जिनकी सन्तति जर्मनी और यूरोप में निवास करती है। आर्य तो वह मझोले क़द की सुन्दर जाति थी जिससे वर्त्तमान यूरोप-निवासियों ने भाषा आदि सभ्यता सीखी है। वह आर्यजाति यूरोप में अब तक रहती है। वह अब तक अपना रुधिर-सम्बन्ध पृथक् किये हुए है। वह अब तक संस्कृत से बिगड़ी हुई भाषा बोलती है। इसके सम्बन्ध में नाना प्रकार की कल्पनाएँ हो चुकी हैं, परन्तु अब निश्चित हो गया कि वह 'हिंदी' से मिलती हुई भाषा बोलती है। यह जाति ज्योतिष् द्वारा अपना निर्वाह करती है। इसका नाम 'जिपसी' जाति है[२]। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि जर्मन आदि यूरोप-निवासियों का आर्यों से जाति या वंश का कोई सम्बन्ध नहीं है। हाँ, उन्होंने आर्यों से भाषा और सभ्यता अवश्य सीखी है जो अब तक स्थिर है, इसलिए आर्यों का मूलस्थान जर्मन अथवा यूरोप का कोई स्थान नहीं हो सकता।

२. यद्यपि पाश्चात्य विद्वान् आर्यों का जन्मस्थान विशेष रीति से मध्य एशिया ही निश्चित करते हैं, परन्तु जब पूछा जाता है कि जिस रूप-रंग और भाषा, सभ्यता से आप लोग अमुक मनुष्यसमुदाय को आर्य कहते हैं, उसमें आर्यत्व के वे गुण कैसे आये तो सबके सब चुप रह जाते हैं। जब से

---

१. Arctic Home in the Vedas.

२. Gipsies—A nomadic race, which was first described as appearing in Europe in the fifteenth century and is now found in nearly all civilised countries. At first they were believed to come from Egypt, and their name is a corruption of 'Egyptians'. They have a dark, tawny skin, black hair and eyes, are small-headed and often very handsome, and live by tinkering, basket-making, fortune-telling, and other arts which can be practised on the road. Their chief characteristic is idependence and love of a wandering life. Their origin is still uncertain, though their language, Romany, is known to be a corrupt dialect of Hindi, which supports the older theory that they are of Indian descent. A later and well supported theory is that they are the descendants of the pre-historic race which introduced metal-working into Euprope. —*Harmsworth History of the World,* p. 329

इस प्रकार के प्रश्न होने लगे तब से अब वे स्पष्ट रीति से एशिया का नाम नहीं लेते, प्रत्युत बड़े संकोच से कहते हैं कि आर्यों का वास्तविक मूलस्थान सन्दिग्ध है, यद्यपि बहुत करके मध्यएशिया था[१]। प्रो० मैक्समूलर ने भी बहुत दिन पूर्व तक—'साइंस आफ दि लेंग्वेज' के समय तक—'मध्यएशिया' का ही प्रयोग किया था, परन्तु अन्त में उन्होंने 'मध्य' शब्द भी निकाल डाला था। उन्होंने अपनी एक अन्तिम रचना में लिखा है कि 'जिस प्रकार ४० वर्ष पूर्व मैंने कहा था उसी प्रकार अब भी कहता हूँ कि आर्यों की जन्मभूमि कहीं एशिया में है'[२]। मध्य- एशिया पर केवल इसीलिए ज़ोर दिया जाता था कि उसके आसपास एक ही आर्यभाषा बोलनेवालों की बस्ती है, परन्तु जब से यह सिद्ध हो गया कि केवल भाषासाम्य से जातियाँ एक नहीं हो सकतीं और न यूरोप-निवासी आर्यवंश से ही सम्बन्ध रखते हैं तब से मध्य एशिया का सिद्धान्त समूल नष्ट हो गया है। अब तो कहीं एशिया में कहा जाता है। 'कहीं एशिया में' और 'मध्यएशिया में' बड़ा अन्तर है। 'कहीं एशिया में' तो हम भी कहते हैं, परन्तु मध्य एशिया का सिद्धान्त ठीक नहीं है।

३. लोकमान्य तिलक ने जर्मनी और मध्य एशिया के सिद्धान्त का खण्डन करके अपना एक नया ही मत स्थापित किया है। आप कहते हैं कि आर्यलोग ध्रुवप्रदेश के निवासी हैं। आज से कोई दश हज़ार वर्ष पूर्व ध्रुवप्रदेश में बर्फ़ का तूफ़ान आया। इसी के कारण आर्यलोग वहाँ से भागे और यूरोप, मध्यएशिया, ईरान और भारत में आकर बस गये। आप कहते हैं कि 'ध्रुवप्रदेश में प्रति साढ़े दश हज़ार वर्ष के पश्चात् बर्फ़ का तूफ़ान आया ही करता है'[३]। आप यह भी कहते हैं कि सन् १२५० में तूफ़ान आया था और अब सन् ११७५० में फिर तूफ़ान होगा। इसका कारण यह है कि क्रान्तिवृत्त का एक चक्कर पूरा होने में २१००० वर्ष लगते हैं और इस बीच में दो बार होता है। यदि यह बात सत्य हो तो कहना चाहिए कि आज से बीस हज़ार वर्ष पूर्व आर्यलोग उत्तरीध्रुव में नहीं थे। वे आज से बीस हज़ार वर्ष पूर्व हिमपात होनेवाले तूफ़ान के पश्चात् और आज से दश हज़ार वर्ष पूर्ववाले तूफ़ान के पूर्व तक ही वहाँ रहे।

अब प्रश्न यह है कि क्या मनुष्यजाति के इस विभाग को आर्यत्व प्राप्त किये हुए केवल बीस हज़ार वर्ष ही हुए? इस प्रश्न को लोकमान्य ने उठाया ही नहीं, यद्यपि प्रश्न छोड़ने योग्य न था। तिलक महाराज के समस्त कोटिक्रम को पढ़कर यह प्रश्न तुरन्त ही उठने लगता है कि जिस मनु (नूह) के सूर्य-चन्द्र (हेम-शेम) वंश से समस्त पृथिवी की एक सहस्र जातियाँ उत्पन्न हुईं, उस आर्य मनु को पैदा हुए क्या बीस ही हज़ार वर्ष हुए? इस प्रश्न को लेकर बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् उमेशचन्द्र विद्यारत्न, तिलक महाराज के घर पूना पहुँचे और कई दिन के घोर विवाद के पश्चात् उनसे कहला लिया कि हमने मूलवेद नहीं पढ़ा। हमने तो यूरोपीय विद्वानों का किया हुआ अनुवाद ही पढ़ा है[४]। इस बात को उन्होंने पुस्तकाकार छपाकर तिलक महाराज के

---

१. Aryans, whose origin is still doubtful though it was probably in Central Asia.

—*Harmsworth History of the World,* , p. 321.

२. I should still say, as I said forty years ago, somwhere in Asia, and no more.

—*Good Words,* Aug. 1887.

३. In short, the Glacial and Inter-Glacial periods in the hemispheres alternate with each other every 10,500 years. —*Arctic Home in the Vedas,* p. 32.

४. आमि गतवत्सरे तिलक महोदयेर बाटीते आतिथ्य ग्रहण करिया छिलाम। ताँहार सहित ये विषये अमार क्रमागत पाँच दिन बहु संलाप हइया छिलो। तिनि आमाके ताँहार द्वितलग्रहे बसिया सरलहृदये बलिया छेन ये 'आमि मूलवेद अध्ययन करि नाई, आमि साहिब दिगरे अनुवाद पाठ करिया छि'।

—मानवेर आदि जन्मभूमि, पृ० १२४

जीवनकाल ही में उनके पास भेज दिया था, जिसका उत्तर उन्होंने नहीं दिया। विद्यारत्न महोदय ने आर्यों के अस्तित्व के विषय में लिखा है कि 'चन्द्र से दुर्योधन या युधिष्ठिर तक सोमवंशी क्षत्रियों की पीढ़ियाँ बीस हज़ार से कम नहीं हुईं। भारत में बसे हुए हमें दो लाख वर्ष से कम नहीं हुआ'[१]। डॉक्टर एनी बेसेंट कहती हैं कि 'पृथिवी पर आर्यजाति दश लक्ष वर्ष से है'[२]। हम तो कहते हैं कि जब मूलपुरुष ही आर्य थे तब सिद्ध है कि जब से मनुष्यप्राणी इस पृथिवी पर अवतीर्ण हुआ तभी से आर्यों का अस्तित्व है। ऐसी दशा में लोकमान्य तिलक का 'उत्तरध्रुव निवास' कुछ मूल्य नहीं रखता। यहाँ तक उन विद्वानों की कल्पनाओं की आलोचना हुई जो आर्यों के मूलस्थान को हिमालय से बहुत दूर बतलाते हैं, किन्तु आर्यों की दोनों सच्ची शाखाएँ—भारती और ईरानी—आर्यों का मूलस्थान हिमालय पहाड़ पर ही बतलाती हैं, अत: यहाँ हम उनका वर्णन कर देना चाहते हैं।

४. जब से यह बात अच्छी प्रकार सिद्ध हो गई है कि भारतीय आर्यों के किसी प्राचीन ग्रन्थ से, उनकी किसी कथा-कहानी से और उनकी किसी भी बात से यह नहीं पाया जाता कि वे किसी अन्य देश से आये[३], तब से अब विद्वानों की दृष्टि इस ओर फिरी है कि आर्यजाति भारत—काश्मीर अथवा हिमालय के ही आसपास कहीं उत्पन्न हुई। आर्यों की प्रसिद्ध ईरानी शाखा के प्रसिद्ध विद्वान्, बम्बई निवासी मि० ख़ुरशेदजी रुस्तमजी ने 'ज्ञानप्रसारक मण्डली' की प्रेरणा से, फ्रामजी कावसजी इन्स्टिट्यूट हाल, बम्बई में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान का विषय था 'मनुष्यों का मूलजन्मस्थान कहाँ था'। यह व्याख्यान पुस्तकाकार छप गया है। यहाँ उसका आवश्यक अङ्ग उद्धृत करते हैं। आप कहते हैं कि 'जहाँ से सारी मनुष्यजाति संसार में फैली है उस मूलस्थान का पता हिन्दुओं, पारसियों, यहूदियों और कृश्चियनों की धर्मपुस्तकों से इस प्रकार लगता है कि वह स्थान कहीं मध्यएशिया में था। यूरोप-निवासियों की दन्तकथाओं में वर्णन है कि जहाँ आदिसृष्टि हुई वहाँ १० महीने की सरदी और दो महीने गरमी रहती है। माउण्ट स्टुअर्ट, एलफ़िन्स्टन और बरनस आदि यात्रियों ने मध्यएशिया की यात्रा करके बतलाया है कि हिन्दूकुश पहाड़ों पर १० महीने की सरदी और दो महीने की गरमी होती है। इससे ज्ञात होता है कि पारसी पुस्तकों में लिखा हुआ 'ईरानवेज़' नामक मूलस्थान, जो ३७° से ४०° अक्षांस उत्तर तथा ८६° से ९०° रेखांश पूर्व में है, निस्सन्देह मूलस्थान है, क्योंकि वह स्थान बहुत ऊँचाई पर है। उसके ऊपर से चारों ओर नदियाँ बहती हैं। इस स्थान के ईशानकोण में 'बलूर्ताग' तथा 'मूसाताग' पहाड़ हैं। ये पहाड़ 'अलबुर्ज' के नाम से पारसियों की धर्मपुस्तकों और अन्य इतिहासों में लिखे हैं। बलूर्ताग से 'अमू' अथवा 'आक्सस' और 'जेकगार्टस' नाम की नदियाँ 'अरत' सरोवर में होकर बहती हैं। इसी पहाड़ में से 'इनडस' अथवा 'सिन्धु' नदी दक्षिण की ओर बहती है। इसी ओर के पहाड़ों से निकलकर बड़ी-बड़ी नदियाँ पूर्व की ओर चीन में और उत्तर की ओर साइबीरिया में भी बहती हैं। ऐसे रम्य और शान्त स्थान में पैदा हुए अपने को आर्य

---

१. चन्द्र अत्रिनन्दन, बुद्ध चन्द्रेर पुत्र, बुधेर पुत्र पुरूरवा। उक्त पुरूरवार पुत्र आयु, तत्पुत्र नहुष, पौत्र ययाति, ययातिर पुत्र पुरु। पुरुर अन्यून बीस सहस्र पुरुषेर परे युधिष्ठिर व दुर्योधनेर येई भारतेई जन्म हाय, किन्तु आमरा आदि पितृभूमि हइते ये भारते आसिया गृहप्रतिष्ठा करिया छि तहार वय:क्रम अन्यून दुइलक्ष वत्सर वा बहुसहस्र वत्सर हइबे। —मानवेर आदि जन्मभूमि।

२. The Aryan race on the earth is about a million years old. —*Theosophy and Religion.*

३. That so far as I know none of the Sanskrit books, not even the most ancient, contain any distinct reference or allusion to the foreign origin of the Indian.
—*Muir's Sanskrit Text Book,* Vol. II, p. 323

कहते थे और उस स्थान को स्वर्ग कहा करते थे।'

इस व्याख्यान में समस्त मनुष्यजाति के पूर्वजों के उत्पत्तिस्थान का वर्णन करते हुए पारसियों के मूलस्थान 'ईरानवेज़' का वर्णन किया गया है और बतलाया गया है कि वह हिन्दूकुश पहाड़ ही है। हिन्दूकुश काबुल के ऊपर हिमालय रेंज में ही स्थित है। इस प्रकार सच्चे आर्यों की प्रधान ईरानी शाखा ने भी हिमालय का ही सङ्केत किया है। भारत के आधुनिक विद्वान्, पूना-निवासी नाना पावगी ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आर्यावर्तातील आर्यांची जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि 'हिमालय ही हमारे और हमारे देवताओं का आदिकालिक जन्मस्थान है'[१]। इसी प्रकार बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् अविनाशचन्द्र दास अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में लिखते हैं कि 'वेदों में जो उत्तर की ओर के नक्षत्रों का वर्णन है, उससे ज्ञात होता है कि वैदिक ऋषियों ने उन्हें काश्मीर और हिमालय के ऊँचे पहाड़ों पर से ही देखा था[२]। यहाँ हमने आर्यों की दोनों शाखाओं के विद्वानों की सम्मतियों को देखा कि वे आर्यों का आदि मूलस्थान हिमालय ही बतलाते हैं, इसलिए अब आगे हम देखना चाहते हैं कि भारतीय वैदिक आर्यों के शास्त्रों में उनके मूलस्थान के विषय में क्या लिखा है—

हिमालयाभिधानोऽयं ख्यातो लोकेषु पावनः। अर्धयोजनविस्तारः पञ्चयोजनमायतः॥
परिमण्डलयोर्मध्ये मेरुरुत्तमपर्वतः। ततः सर्वाः समुत्पन्ना वृत्तयो द्विजसत्तम॥
ऐरावती वितस्ता च विशाला देविका कुहू। प्रसूतिर्यत्र विप्राणां श्रूयते भरतर्षभ॥

—महाभारत*

अर्थात् संसार में पवित्र हिमालय प्रसिद्ध है। इसमें एक योजन चौड़ा और पाँच योजन घेरेवाला 'मेरु' है, जहाँ पर मनुष्यों की उत्पत्ति हुई। यहीं से ऐरावती, वितस्ता, विशाला, देविका और कुहू आदि नदियाँ निकलती हैं। यहीं पर ब्राह्मण उत्पन्न हुए।

इन प्रमाणों में हिमालय के मेरु प्रदेश पर आदि सृष्टि होने का वर्णन है। इससे भी अधिक पुष्ट प्रमाण हमें इस विषय के मिले हैं, जिनसे हिमालय पर अमैथुनी सृष्टि के होने का निश्चय होता है। जिस मेरुस्थान का ऊपर वर्णन किया गया है उसी के पास ही **'देविका पश्चिमे पार्श्वे मानसं सिद्धसेवितम्'**, अर्थात् देविका के निकास के पश्चिमी किनारे पर 'मानस' है। यह मानस अब एक झील है। इसका 'मानस' नाम मानसी, अर्थात् अमैथुनी सृष्टि के कारण ही पड़ा है। वायुपुराण पूर्व० ५०। ८८ में लिखा है कि—

दक्षिणेन पुनर्मेरो मानसस्यैव मूर्द्धनि। वैवस्वतो निवसति यमः संयमने पुरे।

अर्थात् मेरु के दक्षिण और मानस के ऊपर यह वैवस्वत मनु अपने यमपुर में बसते हैं।

ये वही वैवस्वत मनु हैं जिनको हमने 'नूह' बतलाया था और इन्हीं से समस्त मनुष्यजाति

---

१. या प्रमाणें, सुन्दरी नमुद केलेल्या सर्वप्रमाणावरून, हा हिमाचल आमचें केवल निवासस्थानच नहीं, तरतो अनादिकाला पासून आमच्या देवादिकांची ही जन्मभूमि होऊन राहिला आहे, असें वाचकांच्या लक्षांत सहजी येईल। —आर्यावर्तांतील आर्यांची जन्मभूमि, पृ० २७२

२. On the other hand, if it refers to the constellation of Ursa Major which is the most prominent in the northern parts of India, and particularly in the high tableland north of Kashmir and the peaks of the Himalaya from which the Vedic bard may have made his observations, it is not unnatural for him to describe it as placed high above the horizon. —*Rigvedic India,* p. 376.

* ये श्लोक इस रूप में महाभारत में नहीं हैं। कोई-कोई पाद अस्त-व्यस्त, पाठभेद के साथ भिन्न-भिन्न पर्वों में आये हैं। कुछ पाद हैं ही नहीं। —जगदीश्वरानन्द

की उत्पत्ति सिद्ध की थी। यहाँ हम देख रहे हैं कि उन्हीं वैवस्वत मनु का निवासस्थान मेरु और मानस के पास है। ऐसी दशा में अब यह विषय निर्विवाद-सा हो गया है कि आर्यों का (जिनको आदिमकालीन मनुष्यजाति के पूर्वज भी कह सकते हैं) मूलस्थान हिमालय का 'मानस' स्थान ही है। शतपथ १।८।१।६ में लिखा है कि **'तदप्येतदुत्तरस्य गिरे मनोरवसर्पणम्'**, अर्थात् हिमालय पर ही मनु का अवसर्पण, अर्थात् जलप्लावन हुआ। महाभारत वनपर्व अ० १८७। [४९] में स्पष्ट लिखा है कि **'अस्मिन् हिमवतः शृङ्गे नावं बध्नीत मा चिरम्'**, अर्थात् मनु ने इस हिमालय के शृङ्ग में शीघ्रता से जलप्लावन की नाव को बाँधा। यहाँ यह बात स्पष्ट हो गई कि आर्यों के अथच मनुष्यजाति के मूलपुरुष मनु वैवस्वत हिमालय पर ही रहते थे और वहीं पर जलप्लावन हुआ था, हिमालय के 'मेरु' का नाम समस्त मनुष्यजातियों को याद है, अतएव आर्यों का मूलस्थान हिमालय ही है।

यह स्थान अन्य विद्वानों के निश्चित किये हुए स्थानों के बहुत विरुद्ध नहीं है। आप एशिया का नक़्शा हाथ में लें और सबसे पहले पाश्चात्य विद्वानों के बताये हुए मध्य एशिया पर एक बिन्दु लगावें। इसके बाद भारतीय विद्वानों के बताये हुए भारतवर्ष के कुरुक्षेत्र पर एक बिन्दु लगावें। अब स्वामी दयानन्द सरस्वती के बताये हुए तिब्बत पर बिन्दु लगावें और अन्त में पारसी महाशय के निर्देश किये हुए हिन्दूकुश पर बिन्दु लगावें और ध्यान से देखें तो ज्ञात होगा कि आपने हमारे बताये हुए 'मानस' केन्द्र की चारों सीमाओं को निश्चित कर दिया। सब सीमाएँ मानस को केन्द्र बना रही हैं, सबका मतभेद मिटाकर 'मानस' जैसे इतिहासप्रसिद्ध स्थान की उलझन सुलझा रही हैं और सिद्ध कर रही है कि अमैथुनी आर्यसृष्टि मानसी थी, इसीलिए मानस में हुई। इस आदिसृष्टि का मूलस्थान नियत करने में हमने जिस क्रम का अनुसरण किया है, वह ऐसा नहीं है, जो हमारा कपोलकल्पित हो, प्रत्युत वह, वह क्रम है जो भारत के प्राचीन ऋषियों ने हमारे आदिम इतिहास के लिए सुरक्षित रख छोड़ा है। आपको स्मरण होगा कि हम वेदों की प्राचीनता ढूँढते-ढूँढते मनु वैवस्वत तक ही पहुँचे। अब आदिसृष्टि का मूलस्थान खोज करते हुए भी हम उन्हीं वैवस्वत मनु के घर हिमालय पर ही पहुँचे हैं, इससे विश्वासपूर्वक कह सकते हैं कि आदिसृष्टि हिमालय के 'मानस' स्थान में ही हुई, किन्तु यह प्रश्न आप-ही-आप उपस्थित होता है कि हिमालय पर उत्पन्न होनेवाले आदि आर्य भाषा और ज्ञान के सहित उत्पन्न हुए या उन्होंने भाषा और ज्ञान में आप-ही-आप उन्नति की, अत: अब आगे ज्ञान और भाषा की उत्पत्ति का पता लगाते हैं।

ज्ञान और भाषा की उत्पत्ति

मनुष्य परमेश्वर की विशिष्ट रचना है। मनुष्य ही नहीं प्रत्युत सभी योनियाँ परमेश्वर की विशिष्ट रचना हैं। यद्यपि सभी योनियाँ विशिष्ट प्रकार से उत्पन्न हुई हैं तथापि यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं सब बिना किसी नैमित्तिक शिक्षा के, अपने स्वाभाविक ज्ञान से ही अपनी जीवन-यात्रा के समस्त आवश्यक कार्य सम्पन्न कर लेते हैं। भोजन ढूँढने, मकान बनाने, सन्तति उत्पन्न करने और उसका पालन कर लेने का ज्ञान उन्हें बिना सिखाये आपसे-आप आ जाता है और पैदा होने से लेकर मरने तक एक समान ही बना रहता है, घटता-बढ़ता नहीं, परन्तु मनुष्य की बात सर्वथा उलटी है। वह नैमित्तिक ज्ञान के बिना न आहार पहचाने, न वस्त्र बना सके, न घर बनाना जाने, न स्त्री-पुरुष में विवेक कर सके, न सहवास जाने, न बोल सके, न खड़ा हो सके, न हाथ से पकड़ सके, न हाथ से खा-पी सके और न एक दिन भी जी सके।

भेड़ियों की माँद से मिले हुए मनुष्य के बच्चों के देखने से ज्ञात होता है कि नैमित्तिक ज्ञान के बिना वे खड़े होकर चल नहीं सकते। वे पशुओं की भाँति चार पाँव से चलते हैं। वे बोल नहीं सकते, केवल गुर्राते हैं। हाथ से पकड़कर कुछ खा-पी नहीं सकते, प्रत्युत मुँह से ही खाते और पानी पीते हैं। इन बातों से पता लगता है कि यदि मनुष्य को अपनी असली स्थिति में रक्खा जाए और उसको नैमित्तिक ज्ञान न मिले तो वह आज के पैदा हुए बच्चे की ही अवस्था में रहेगा। मनुष्य के बच्चे में पैदा होने के दिन से जो कुछ ज्ञान की शिक्षा होती है वह दूसरों से ही होती है। यदि वह पशुओं की सङ्गति में रहे, तो उसमें पशुओं का-सा ज्ञान होगा और यदि मनुष्यों की सङ्गति में रहे तो मनुष्यों का-सा ज्ञान होगा। मनुष्यों में भी यदि वह विद्वानों की सङ्गति में रहे तो अधिक ज्ञानवान् होगा और यदि जंगली लोगों के साथ रहे तो महामूर्ख होकर पशु-तुल्य हो जाएगा। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्य को बिना नैमित्तिक ज्ञान के स्वयं ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जो लोग कहते हैं कि मनुष्य ने क्रम-क्रम से ज्ञानोन्नति की है वे ग़लती पर हैं। यदि क्रम-क्रम से आप-ही-आप ज्ञानोन्नति होती तो अण्डमान टापू के मनुष्य भी ज्योतिष् और गणित का आविष्कार कर लेते, परन्तु आजतक बेचारे पूरी पाँच तक गिनती भी गिनाना नहीं जानते। भारत में ही आज यूरोपनिवासियों के साथ रहते हुए १५० वर्ष हो गये, परन्तु यहाँवाले यह न समझ पाये कि बिना तार के तार कैसे जाता है और फोनोग्राफ कैसे बजता है। सर जगदीशचन्द्र बोस को यदि यूरोपीय विज्ञान न पढ़ाया जाता, बीसियों बार वे यूरोप जाकर विज्ञान की उन्नति न करते तो वे भी आजकल के एम०एस०सी०-जैसे होकर रह जाते। यूरोप को भी यदि मिस्र, यूनान, अरब और रोम न सिखलाता तो उन्हें भी ज्ञान न होता। इसी प्रकार उक्त देशों को भी यदि भारतीय आर्य ज्ञानोपदेश न करते तो उनके पल्ले भी कुछ न पड़ता। कहने का तात्पर्य यह कि बिना कुछ लक्ष्य कराये—बिना कुछ सूचना दिये—मनुष्य चाहे जितना प्रतिभावान् हो वह आप-ही-आप ज्ञानोपार्जन नहीं कर सकता। जब यह अवस्था है तब कैसे मान लें कि मनुष्यों ने क्रम-क्रम से उन्नति कर ली। अब तक वैज्ञानिक जाँच ने जो कुछ सामग्री उपलब्ध की है उससे भी ज्ञात नहीं होता कि ज्ञान क्रमोन्नति का फल है।

यहाँ हम इसके तीन उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। पहला उदाहरण यह है कि अब तक प्राचीन वस्तुओं के निकालने का जो कुछ काम हुआ है उसपर से विकासवादी अनुमान करते हैं कि प्राचीन समय में मनुष्य महाजंगली दशा में था, क्योंकि सबसे निचली तहों में मनुष्यों के बनाये हुए जो पदार्थ मिले हैं वे पाषाण और सींग आदि के ही बने हुए हैं। इससे ज्ञात होता है कि उस समय उनको धातुओं का ज्ञान नहीं था, परन्तु ऊपरी तहों में धातुनिर्मित शस्त्र मिलते हैं। इससे ज्ञात होता है कि वे पहलों से अधिक उन्नत थे।

यह वर्णनक्रम अच्छा था यदि सत्य होता, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। अब तक जहाँ-जहाँ खुदाई हुई है वहाँ-वहाँ एक ही गहराई पर दोनों प्रकार के उन्नत और अवनत शस्त्र मिले हैं। इससे एक ही समय पर उन्नत और अवनत दशा पाई जाती है। इस विषय का वर्णन लोकमान्य तिलक ने अपनी पुस्तक 'आर्यों का उत्तरध्रुवनिवास' में बहुत ही अच्छा किया है। आप लिखते हैं कि यूरोप में अनेक जगह, प्राचीन छावनियों, किलों की दीवारों, श्मशानों, देवालयों और जलनिवासस्थानों के खोदने से पत्थर और धातु के हज़ारों हथियार मिले हैं। इनमें कितने ही स्वच्छ किये हुए और घोटे हुए तथा कितने ही अस्वच्छ और भद्दे हैं। पुराणवस्तु शास्त्रज्ञों ने इनके तीन विभाग किये हैं। पहले विभाग में पाषाणशस्त्र हैं, जिनमें सींग, काष्ठ और हड्डियों का भी समावेश है। दूसरे विभाग में कांसे के शस्त्र हैं और तीसरे विभाग में लोहे के शस्त्र माने गये हैं,

........परन्तु ऐसा न समझ लेना चाहिए कि उपर्युक्त तीनों स्थितियाँ एक-दूसरी से भिन्न हैं। यह बिल्कुल असत्य है कि पाषाणयुग की समाप्ति हो जाने पर कांस्ययुग का आरम्भ हुआ। ये तीनों विभाग तो केवल बनावटी हैं, ...तांबा और राँगा से काँसा बनता है, इसलिए एक ताम्रयुग भी मानना पड़ता है, किन्तु ऐसा प्रमाण अब तक नहीं मिला कि ताम्रयुग और बंगयुग भिन्न-भिन्न थे। इसका कारण यह है कि यूरोप में काँसा बनाने की मूलयुक्ति इतर आर्यों से गई है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कोई भी युग भिन्न-भिन्न देशों में भी एक ही समय विद्यमान न था। उदाहरणार्थ यूरोप के लोग जिस समय पाषाणयुग की प्राथमिक भूमिका में थे, उसी समय, अर्थात् ईस्वी सन् लगभग ६००० वर्ष पूर्व इजिप्ट देशवासी उच्चतम सभ्यता प्राप्त कर चुके थे। इसी प्रकार जिस समय ग्रीक लोग लोहयुगपर्यन्त गये थे उस समय इटालियन लोग काँस्ययुग का ही भोग कर रहे थे और यूरोप के पश्चिमी भाग के लोग तो उस समय पाषाणयुग में ही पड़े हुए थे।.....ऊपर कहे हुए पाषाणयुग, काँस्ययुग और लोहयुग जिस प्रकार एक-दूसरे से पृथक् नहीं हैं, उसी प्रकार भूस्तरयुग भी एक-दूसरे से भिन्न नहीं हैं। जिस युग को ऊपर नव पाषाणयुग के नाम से कहा गया है, उसका आरम्भ कब हुआ ? यद्यपि इस प्रश्न के उत्तर में भिन्न-भिन्न विद्वानों का मतभेद है तथापि कोई भी विद्वान् उस काल को ५,००० वर्ष से पुराना नहीं कहता, परन्तु उस समय इजिप्ट और चाल्डिया देश तो उन्नति के शिखर पर पहुँच चुके थे।

यह बात सर्वथा सत्य है। अभी भी—इस समय भी संसार के भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न परिस्थिति, अर्थात् उन्नत और अवनत दशा पाई जाती है। कहाँ यूरोप का विज्ञान और कारीगरी! कहाँ अण्डमान के नग्न! जंगल में हमने एक बार किसी बाबू की घड़ी और किसी जंगली मनुष्य की चकमक पथरी एक ही जगह पड़ी पाई थी। घड़ी जंगल के किसी अफ़्सर की थी और चकमक उसका सामान ढोनेवाले मजदूर की। यदि वे दोनों चीजें भूमि में दब जातीं और खोदने पर एक ही स्थान में मिलतीं, तो क्या ऐसी दशा में यही परिणाम न निकाला जाता कि सभ्यता और असभ्यता, सज्ञानता और अज्ञानता दोनों एक ही समय में थीं ? तब फिर कैसे कहा जाता है कि मनुष्य ने ज्ञान में धीरे-धीरे उन्नति की है। पत्थरों से लोहा, तांबा निकालना क्या कोई आसान बात है। यदि कहा जाए कि ये काम तो जंगली आदमी कर लेते हैं, इसमें ज्ञान की क्या आवश्यकता है तो ठीक नहीं, क्योंकि विद्वान्-से-विद्वान् और सभ्य-से-सभ्य कारीगर भी, यदि उसने कभी पत्थर से लोहा निकलता नहीं देखा तो वह आपसे-आप कदापि लोहा नहीं निकाल सकता।

एक बार हमें जंगल में चाँदी का एक पत्थर मिला। उस पत्थर का एक टुकड़ा हमने एक नियारिये को दिया और दूसरा कलकत्ते भेजा गया। नियारिये ने सब पत्थर फूँक दिया, परन्तु रत्ती-भर भी चाँदी न निकली, किन्तु कलकत्ते से विश्लेषण का हिसाब लगाकर पुर्ज़ा आ गया कि इसमें प्रतिशतक इतनी मिट्टी, इतना सीसा और इतनी चाँदी है। कहने का तात्पर्य यह कि जिसको धातु विश्लेषण की शिक्षा मिली है वही जानता है, अन्य नहीं। इससे स्पष्ट हो गया कि जिन युगों को लोग धातुयुग कहते हैं वे जंगली युग नहीं हैं। पत्थरों से धातु निकालकर उनको तपा-तपाकर शस्त्र बनाना मूर्खता नहीं है। यह ज्ञान बहुत ऊँचे दर्जे के विज्ञानवेत्ताओं के द्वारा आविर्भूत हुआ था और साधारण लोगों को सिखाया गया था। शुद्ध धातु से मिश्रित धातु की कारीगरी तो और भी अधिक ज्ञान का फल है। हज़ारों में एक जानता है कि काँसा और फूल किस-किस धातु से कैसे बनते हैं। ऐसी दशा में जो बात महाज्ञान से सम्बन्ध रखती है उसको धातुयुग के पशु-तुल्य जंगली मनुष्यों की रचना बतलाना बड़े ही अन्याय की बात है।

जिन स्थानों में धातुनिर्मित शस्त्र मिलते हैं, पृथिवी के उन्हीं स्थानों में पाषाणनिर्मित शस्त्र भी मिलते हैं। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की खुदाई में जहाँ सभ्यतासूचक पदार्थ मिले हैं, वहीं पर पत्थर के शस्त्र भी मिले हैं। सम्भव है कि वे जंगली लोगों के ही हों। अथवा उन संन्यासियों के हों जो धातु न छूते हों—धातु का उपयोग करना बुरा समझते हों। ऐसी दशा में भौगर्भिक जाँच से यह सिद्ध नहीं होता कि मनुष्य में ज्ञान की उन्नति क्रम-क्रम से हुई। इसके अतिरिक्त जिस काल में—जिस धरातल में पाषाणशस्त्र मिलते हैं उसी काल में किसी अन्य देश के अन्य धरातल में बहुत उन्नत दशा के दर्शानेवाले पदार्थ मिलते हैं। जैसे यूरोप में अवनत दशा के और मिस्र में उन्नत दशा के। ऐसी स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्य ने क्रम-क्रम से उन्नति की। इन वर्णनों से स्पष्ट मालूम होता है कि मनुष्य में हर समय उन्नत ज्ञान पाया जाता है, अतः यही सिद्ध होता है कि आदि में उसको निमित्त से ही ज्ञान मिला। जहाँ-जहाँ, जिस-जिस समाज में उस नैमित्तिक ज्ञान के सीखने की प्रथा रही, वहाँ-वहाँ वह रहा और जिस-जिसने उसे छोड़ दिया उससे वह ज्ञान चला गया। आज भी जो पढ़ता-लिखता है, वही सभ्य हो जाता है और जो नहीं पढ़ता-लिखता वह मूर्ख रह जाता है। ऐसी स्थिति में कैसे कहा जाता है कि ज्ञान का विकास क्रम-क्रम से हुआ।

जोन्स बोसन (Jones Bowson) ने नवम्बर सन् १९२२ के न्यू एज (New Age) नामक पत्र में लिखा था कि 'यदि मनुष्यजाति का इतिहास उत्तरोत्तर विकास की ओर है तो क्यों चीनी लोग ईस्वी संवत् से पूर्व बारूद (गन पाउडर) को काम में लाते थे और समुद्रीय ध्रुवदर्शक सुई (कम्पास) को काम में लाते थे, परन्तु अब भूल गये। इसी प्रकार मिस्र में जब बड़े-बड़े पिरामिड बने थे उस समय वहाँ के लोग रेखागणित की परमसीमा तक पहुँचे थे, परन्तु अब उनको वह विद्या क्यों ज्ञात नहीं है? जावाद्वीप के मन्दिरों में चढ़े हुए विशाल पत्थर पहले समय में उठाये गये थे, परन्तु आजकल वे क्यों नहीं उठाये जा सकते? दिल्ली की लोहे की लाट भारत में ही बनी, परन्तु आज भारत क्या यूरोप भी वैसी लाट क्यों नहीं बना सकता? इन बातों से ज्ञात होता है कि विकास नहीं, प्रत्युत ह्रास हो रहा है। पुराने देशों में ह्रास है, परन्तु यूरोप, अमेरिका आदि नवीन देशों में विकास भी हो रहा है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि पहले लोग असभ्य थे और अब सभ्य हो गये हैं अथवा पहले सभ्य थे और अब असभ्य हो गये हैं।

दूसरा उदाहरण इससे भी अधिक रोचक है। सबने देखा होगा कि दीपक के पास पतङ्गा आता है, आँच का अनुभव करता है और भागता है। थोड़ी देर के बाद फिर आता है और उसी दीपक में जल जाता है। यदि क्रम-क्रम से ज्ञानप्राप्ति का सिद्धान्त सत्य होता तो पतङ्गा अपना पहला अनुभव आगे के लिए संचित करता और ज्ञानविस्तार का कारण बनाता और दो-एक बार के अनुभव से वह जान जाता कि दीपक के पास जाना अच्छा नहीं है, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। पतङ्गा जितनी बार बचकर चला जाता है उतनी ही बार फिर आता है और अनुभव होने पर भी, जब तक जलकर मर नहीं जाता, तब तक वह उसी दीपक के पास दौड़ता है। इन अनुभवों और वैज्ञानिक जाँचों से जाना गया है कि मनुष्य के ज्ञानार्जन का कारण क्रमविकास नहीं है। मनुष्य का ज्ञान, निमित्त परम्परा से चला आ रहा है और जहाँ जो लोग उस परम्परा को स्थिर रक्खे हुए हैं, वहीं रहता है, अन्यथा नष्ट हो जाता है।

तीसरा उदाहरण यह है कि यदि विकास के द्वारा ज्ञानोन्नति हुई होती तो ज्ञान की परम्परा भी पैतृक रीति से बिना सीखे ही सन्तति को मिलती, किन्तु हम देखते हैं कि बिना पढ़े कुछ भी नहीं आता। इससे ज्ञात होता है ज्ञान क्रमविकास का फल नहीं है। वह नैमित्तिक गुण है, इसलिए

आदि में वह परमात्मा के निमित्त से ही प्राप्त हुआ है और अब भी दूसरों के ही निमित्त से प्राप्त होता है। इस मूलज्ञान के सम्बन्ध में डिस्कारटीज कहता है कि 'जब मैं बहुत दूर और गहराई तक सोचता हूँ तब ज्ञात होता है कि ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान मनुष्य आप-ही-आप अपने हृदय में पैदा नहीं कर सकता, क्योंकि वह अनन्त है और हमारा मन सान्त है। वह व्यापक और हम एकदेशी हैं। इससे यह स्पष्ट है कि मूलविचारों को हमने स्वयं नहीं बनाया, किन्तु परमात्मा ने आदिपुरुषों के हृदयों में अपने हाथ से छाप दिया है'। मेडम ब्लेवेट्स्की 'सिक्रेट डाक्ट्राइन्' में कहती हैं कि 'अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने कहा है कि उस समय भी कोई नवीन धर्मप्रवर्तक नहीं हुआ, जब आर्यों, सेमेटिकों और तूरानियों ने नया धर्म—नवीन सचाई का आविष्कार किया था, ये धर्मप्रवर्तक भी केवल धर्म के पुनरुद्धारक थे, मूलशिक्षक नहीं।' 'चिप्स फ्रॉम ए जर्मन वर्कशॉप' नामक पुस्तक में प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'आदिसृष्टि से लेकर आज तक कोई भी बिलकुल नया धर्म नहीं हुआ'। इन प्रमाणों से स्पष्ट है कि ज्ञान न तो मनुष्यकृत है और न क्रमविकास से उसकी उत्पत्ति हुई है। वह निस्सन्देह ईश्वरप्रदत्त है और अपौरुषेय है।

जिस मनुष्यजाति को ईश्वरप्रदत्त ज्ञान प्राप्त हुआ है उसको भाषा भी ईश्वरीय प्रेरणा से ही प्राप्त हुई है, क्योंकि ज्ञान बिना भाषा के ठहर ही नहीं सकता, अर्थात् वह वंश-परम्परा से चल ही नहीं सकता। ज्ञान और भाषा का सम्बन्ध जोड़िया भाई-बहिन की भाँति है। एक बिना दूसरे के रह ही नहीं सकता। जिस प्रकार ज्ञान बिना सिखाये नहीं आता उसी प्रकार भाषा भी बिना सिखाये नहीं आती। मनुष्य वही भाषा बोलता है जो सुनता है। माता की गोद में या कुटुम्ब में जो भाषा सुनता है वही बोलता है। यही कारण है कि देश-देश, प्रान्त-प्रान्त और ग्राम-ग्राम की भाषा में भेद है, अर्थात् मनुष्य बिना सिखाये हुए कोई भाषा नहीं बोल सकता। बिना सीखे यदि दूसरों की भाषा नहीं बोल सकता तो उसे आप-ही-आप कोई नई भाषा बना लेनी चाहिए, परन्तु मनुष्य कोई नवीन भाषा बना भी नहीं सकता। जितने गूँगे हैं, सब बहरे हैं। बहरे होने से ही वे गूँगे हैं, क्योंकि वे न कोई भाषा सुनते हैं, न बोलते हैं। यद्यपि उनके मुख में बोलने के सब साधन हैं और गूँगे स्कूलों में यन्त्रों के सहारे उनसे बुलवा भी दिया जाता है, परन्तु यह सब निमित्त से ही होता है। वे स्वयं बिना सिखाये कोई भाषा नहीं बना सकते। गूँगा मनुष्य लोगों को जब मुँह फाड़-फाड़कर कुछ कहते देखता है तब वही नकल वह भी करता है।

यही नहीं किन्तु देखा गया है कि भेड़िया की माँद से निकाले हुए मनुष्य के बच्चे भी भेड़ियों की ही आवाज़ बोलते हैं। इन गूँगों और माँदवालों के मुँह से वर्णमाला का कोई अक्षर नहीं निकलता। अ, इ, ऊ, ऐ, ओ, अं के सिवा अर्थात् अकार के विकारों के सिवा वे कोई दूसरा वर्ण मुँह से नहीं निकाल सकते। यह भी वे दूसरों को देखकर ही निकालते हैं। गूँगा बच्चा यदि अन्धा हो तो वह यह भी नहीं निकाल सकता।

प्रो० मैक्समूलर ने 'साइन्स ऑफ दी लेंग्वेज' पृष्ठ ४८१ पर लिखा है कि 'मिस्र के बादशाह 'सामीचिक्स' ने दो सद्य:प्रसूत बालकों को गड़रिये को सौंपा और ऐसा प्रबन्ध किया कि उनको पशुओं के अतिरिक्त मनुष्यों की भाषा सुनने को न मिले। जब लड़के बड़े हुए तो देखा गया कि उनको इ, ऊ, अं आदि स्वरों के सिवा और कुछ भी बोलना नहीं आया। इसी प्रकार सवावीन, द्वितीय फ्रेडरिक, चतुर्थ जेम्स और अकबर आदि ने भी परीक्षार्थ बच्चों को मनुष्य की भाषा से पृथक् रक्खा, परन्तु अन्त में यह पाया गया कि मनुष्य बिना सिखाये कोई भाषा नहीं बोल सकता'। पाश्चात्य विज्ञानवेत्ता कहते है कि भाषा भी उसी प्रकार विकास का फल है जिस प्रकार मनुष्य और उसका ज्ञान। इस प्रकार के भाषाविज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाली दो पुस्तकें, हिन्दी

भाषा में, दो ही वर्ष के अन्दर निकली हैं। एक का नाम है 'भाषाविज्ञान' जिसे नलिनीमोहन सान्याल एम०ए० ने लिखा है और दूसरी का नाम है 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र अर्थात् भाषाविज्ञान' जिसे डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री एम०ए०, एम०ओ०एल० ने लिखा है। पुस्तकें क्या हैं पश्चिमी विचारों का फोटो हैं। दोनों विद्वान् आधुनिक भाषाविज्ञान के अच्छे पण्डित हैं। इन महानुभावों ने अपनी-अपनी पुस्तकों को अच्छे ढंग से लिखा है। इनमें भाषा की उत्पत्ति कैसे हुई, उसका आदिरूप कैसा था, उसका विस्तार और परिवर्तन किस प्रकार हुआ तथा वर्त्तमान भाषा-परिवारों का वर्गीकरण किस प्रकार करना चाहिए आदि आवश्यक बातों को विस्तारपूर्वक लिखा गया है। हमारा प्रयोजन भी इन्हीं सब बातों की जाँच से निकल सकता है, इसलिए हम डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री की पुस्तक से ही देखना चाहते हैं कि भाषाविज्ञान का क्या सिद्धान्त है। भाषा की उत्पत्ति के विषय में पृष्ठ १७३ पर आप कहते है कि 'भाषा की उत्पत्ति के विषय में चार मत हैं—१. मनुष्य की सृष्टि के साथ-ही-साथ एक दैवीशक्ति के द्वारा, एक अनोखे प्रकार से पूर्णरूप से निष्पन्न भाषा की सृष्टि संसार में हुई। २. मनुष्यों ने जब यह देखा कि हस्तादि के संकेत आदि के द्वारा वे अपने विचारों को एक-दूसरे पर अच्छी प्रकार प्रकट नहीं कर सकते तब उन्होंने विचारपूर्वक स्वयं भाषा का निर्माण किया। ३. मनुष्य के विचारों और भाषा का नित्य तथा अटूट सम्बन्ध होने से मनुष्य सृष्टि के आरम्भ में ही मनुष्यों के विचार, स्वभाव से ही भाषा के मूलतत्त्वस्वरूप कुछ धातुओं द्वारा प्रकट हो गये। फिर धीरे-धीरे उन धातुओं के आधार पर भाषा का विकास हुआ। ४. अनुकरणात्मक तथा हर्ष-क्रोधादि मनोराग-व्यञ्जक शब्दों के द्वारा तथा उनके आधार पर, परस्पर विचार-परिवर्तन में सरलता को उद्देश्य रखकर, स्वभावतया धीरे-धीरे भाषा का विकास हुआ'।

उपर्युक्त प्रथम, द्वितीय और तृतीय मत का खण्डन करके, चतुर्थ मत के लिए आप पृष्ठ १९८ पर कहते हैं कि 'भाषा की उत्पत्ति एकाएक न तो मनुष्य की स्वेच्छा से, न स्वभाव से और न दैवीशक्ति की प्रेरणा से ही हो सकती है। उसकी उत्पत्ति का प्रकार यही हो सकता है कि सभ्यता के दूसरे अङ्गों की भाँति भाषा भी धीरे-धीरे विकास का फल हो। निस्सन्देह आदि मनुष्यों का परस्पर व्यवहार बहुत कुछ शारीरिक चेष्टाओं द्वारा ही होता रहा होगा'। इसके पश्चात् पृ० १९९-२०० पर आप लिखते हैं कि पहला सिद्धान्त यह है कि पदार्थों और क्रियाओं के पहले-पहले नाम जड़-चेतनात्मक बाह्यजगत् की ध्वनियों के अनुकरण के आधार पर रक्खे गये, जैसे कोकिल 'कुकू' (Cuckoo) या 'काक' (**काक इति शब्दानुकृतिः।**—निरुक्त)....... दूसरा सिद्धान्त इस प्रकार है कि हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि के आवेश में कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ हमारे मुख से निकल पड़ती हैं जैसे 'हाहा', 'हाय-हाय', 'अहह', 'वाहवाह' इत्यादि'।

यहाँ आपने भाषा-उत्पत्ति का यह क्रम बतलाया कि पहले सङ्केतों से काम चला, फिर बाहर की ध्वनियों को सुनकर और उद्गारात्मक शब्दों की योग्यता से धीरे-धीरे भाषा बन गई। जैसे कूकू करने से कोयल का नाम अंग्रेज़ी में 'कुक्कू' पड़ गया और काँव-काँव करने से कौवा को संस्कृतवाले 'काक' कहने लगे, इसी प्रकार शब्दानुकृति से शब्द बने, परन्तु प्रश्न यह है क्या संसार में कोई ऐसा और भी प्राणी है जो इशारे से बातें करता हो? जहाजों में झण्डियों से, युद्ध के समय चिनगारियों से और तार में ट्रा-टक्कू की ध्वनियों से जो सङ्केत होते हैं क्या ये सब जंगली दशा में होने के कारण होते हैं? क्या नृत्य करते समय नर्तक अपने गीत का जो अर्थभाव इशारों से करता है वह जंगली है? हम और आप कभी काम पड़ने पर 'अंगुली, अक्षर, चुटकी मात्रा' के सिद्धान्त से जो इशारे करते हैं तो क्या हम आपको बोलना नहीं आता? जब हर प्रकार

से यह सिद्ध हो रहा है कि बोलने की शक्ति रखते हुए भी इशारा करना बहुत ऊँचे ज्ञान का फल है तब कैसे कहा जाता है कि आदिम मनुष्य ज्ञान में पशु–तुल्य थे और इशारों से ही मनोभाव व्यक्त करने की योग्यता रखते थे ? हम तो देख रहे हैं कि इशारे से बातचीत करना भाषाज्ञान से भी अधिक सूक्ष्म और उच्च है।

गूँगे मनुष्य जो इशारे से बातचीत करके अपना तात्पर्य समझा देते हैं वह इसलिए कि उनको अन्य ज्ञानवालों से उस प्रकार के सङ्केतों से बातचीत करने की शिक्षा मिलती है। इशारे से समझना और समझाना सहज नहीं है। यह काम अधिक चतुर पुरुषों का है। गानेवाले जो अर्थभाव बताने की भी विद्या जानते हैं कितने परिश्रम के बाद बताना सीख पाते हैं और उनका भाव समझनेवाले भी चतुर ही होते हैं। यह सबपर विदित है कि इशारे से समझना और समझाना बहुत बड़ी बुद्धिमानी का काम है। प्राय: लोग कहा करते हैं कि तुम्हारी यह इशारेबाजी हम समझते हैं। इशारे के पहले बुद्धि का पूर्ण विकास होने पर ही इशारे के अर्थ नियत हो सकते हैं, परन्तु कठिनाई तो यह है कि बिना भाषा के बुद्धि का पूर्ण विकास हो ही नहीं सकता। हम देखते हैं कि जितनी जल्दी, जितनी सरलता से और जितनी गूढ़ शिक्षा सर्वसाधारण लड़कों को दी जाती है उतनी जल्दी, उतनी सरलता से और उतनी गूढ़ शिक्षा गूगों के स्कूलों में गूँगे बच्चों को नहीं दी जा सकती। सूक्ष्म, वैज्ञानिक और दार्शनिक ज्ञान तो उनको कराया ही नहीं जा सकता और न वे गूँगे किसी अन्य को उच्च शिक्षा दे सकते हैं ? जब तक भाषा उत्पन्न न हो जाए और उस भाषा के द्वारा बुद्धि का पूर्ण विकास न हो जाए तब तक इशारे हो ही नहीं सकते।

रही यह बात कि 'कूकू' शब्द से 'कुक्कू' और 'काँव–काँव' से 'काक' शब्द बना लिये गये, यह बिलकुल ग़लत है। कुक्कू और 'काक' शब्द तो तब बन सकेंगे जब पहिले 'क' का उच्चारण बन चुका हो। जब तक मनुष्य के मुख से वर्ण न निकल चुके हों तब तक वह 'शब्दानुकृति' कर ही नहीं सकता। अंग्रेजी का कुक्कू शब्द तब बन पाया है जब 'क' का उच्चारण करना आ चुका था। निरुक्तकार का यह कहना नहीं है कि आदिसृष्टि में मनुष्यों ने शब्दानुकृति से उच्चारण सीखा। उनका कहना यही है कि जब वर्णोच्चारण हो जाता है तब शब्दानुकृति से नाम रक्खे जा सकते हैं। 'कट्ट, सर्र, गद्द, में, में, में' की कथा बच्चे रोज कहा करते हैं। चूहे ने कट्ट से तूँबे को काटा, वह सर्र से चला, गद्द से पीठ पर गिरा और बकरी में, में, में करने लगी। यह सारी कथा शब्दानुकृति के ही आधार पर बनी है, परन्तु क्या इसका यह अर्थ है कि कट्ट सुनने पर हमारे मुँह से 'क' और 'ट' निकले ? कभी नहीं, निरुक्त में दोनों प्रकार के मत स्पष्ट रूप से लिखे हुए हैं—

काक इति शब्दानुकृतिस्तदिदं शकुनिषु बहुलम्।

न शब्दानुकृतिर्विद्यते इत्यौपमन्यवः, काको अपकालयितव्यो भवति। —निरुक्त ३।१८

अर्थात् एक कहता है कि 'काक' नाम शब्दानुकृति से रक्खा गया, परन्तु दूसरा औपमन्यु कहता है कि काक शब्द अपकालयितव्यता—अस्पृश्यता के कारण रक्खा गया है। यहाँ औपमन्यु उसका धातुज नाम बतलाता है, किन्तु पहला कहता है कि शब्दानुकृति से भी ऐसा नाम रक्खा जा सकता है।

इस वर्णन से यह नहीं पाया जाता कि आदि में शब्दानुकृति से ही नाम रक्खे गये हैं, जैसे खाँसना, घमाघम, तड़तड़, चटपट आदि। ये नाम हम प्रतिदिन मनमानी रीति से शब्दानुकृति को देखकर ही रखते हैं, परन्तु प्रश्न तो यह है कि आदि में मनुष्य ने इन वर्णों का उच्चारण कैसे किया ? यदि कहो कि बाहर की ध्वनियों के अनुकरण से किया तो प्रश्न यह है कि क्या बाहर

की ध्वनियाँ साफ़ –साफ़ वर्णात्मक हैं ? बाहर की ध्वनियाँ जिनको हम टनटन, धमधम, खटखट, पूँ-पूँ, म्यूँ और झनझन आदि कहते हैं, क्या वास्तव में वे उन वर्णों से बनी हुई होती हैं ? क्या तोते के मुख से निकलनेवाले 'सत्त गुरुदत्त' या 'नबीजी भेजो' आदि वर्ण ठीक–ठीक स, त, ग, द, और न, ब, ज ही हैं ? क्या सारंगी से निकला हुआ गीत वास्तव में उन्हीं वर्णों को कह रहा है जिन वर्णों से वह गीत बना है ? कभी नहीं, कदापि नहीं। मनुष्य के मुख से निकलनेवाले वर्ण, सिवा मनुष्य के मुख के, दूसरे स्थान से निकल ही नहीं सकते। जब तक मनुष्य के–से कण्ठ, तालु, मूर्धा, ओष्ठ तथा जिह्वा का प्रयत्न दूसरी जगह न हो तब तक वहाँ से वे वर्ण स्पष्टतया निकल ही नहीं सकते। हमारे पास 'ट' और 'न' हैं, इसलिए हम बाहरी टनटन की आवाज को टनटन कहते हैं, परन्तु जिन जातियों में टवर्ग नहीं है, वे 'टनटन' न कहकर 'तनतन' कहेंगे। यदि उनमें 'न' की आवाज भी न हो तो न जाने वे 'टनटन' को क्या कहें ? हम मुर्गे की आवाज़ को कुक्डूँकूँ कहते हैं, परन्तु अंग्रेज उसे 'काक ए डूडिल डू' कहते हैं। ज्ञात हुआ कि मुर्गे के मुँह से स्पष्ट वर्ण नहीं निकलते, अतएव हम जो बाह्य ध्वनियों की नकल करते हैं उसका कारण बाहर की ध्वनियाँ नहीं, प्रत्युत हमारे पास वर्णों का होना है।

इस बात को और भी अधिक स्पष्ट रीति से समझिए। अंग्रेजों से भ,ख,ध,ढ,त आदि अक्षर नहीं बोले जाते। अरबी पढ़नेवालों की भाँति दूसरों से 'ऐन' ع और ح 'हे' के उच्चारण नहीं होते। महाराष्ट्रों का–सा 'च' भला कोई बोल तो दे ? 'अग्निमीळे पुरोहितम्' में जो 'ळ' अक्षर है इसको युक्तप्रान्त और बंगाल का रहनेवाला बोल तो दे ? नहीं बोल सकता, क्योंकि उसने बाल्यावस्था से वे उच्चारण नहीं सुने। जब हम बोलने की शक्ति रखते हुए भी, भिन्न–भिन्न वर्णों के उच्चारण नहीं कर सकते, जो बिलकुल स्पष्ट और मनुष्य के मुखोच्चारण हैं, तब आदि में मनुष्य ने जंगल, पहाड़, पशु और पक्षी आदि की आवाज़ों से जो बिलकुल ही अस्पष्ट हैं, वर्णोच्चारण सीख लिया, यह कितने बड़े आश्चर्य की बात है ! ग्रन्थकार के सामने यह प्रश्न प्रबल रूप से खड़ा हुआ था। इस विषय में कुछ कहे बिना उनके लिए आगे बढ़ना कठिन था, इसीलिए दबी जबान में आप पृष्ठ २०४ पर कहते हैं कि 'अनुकरण कहने से हमारा तात्पर्य किसी प्रकार की ध्वनियों की हूबहू ठीक–ठीक नकल से नहीं है। न तो ऐसा हो ही सकता है और न इसकी आवश्यकता ही है। अवर्णात्मक या अव्यक्त ध्वनि का थोड़ा–सा दृश्य ही उसके स्मरण कराने के लिए पर्याप्त होता है। किस ध्वनि के लिए किस प्रकार के वर्णात्मक शब्द को नियत किया जाएगा, यह बहुत कुछ भिन्न–भिन्न व्यक्तियों पर और भिन्न–भिन्न दशाओं पर निर्भर होता है। एक ही ध्वनि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को भिन्न–भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है। इसी कारण एक–सी ही ध्वनि के लिए भिन्न–भिन्न भाषाओं में भिन्न–भिन्न प्रकार के अनुकरणात्मक शब्द पाये जाते हैं'।

यहाँ आप 'हूबहू नकल' नहीं बतलाते। आप यह भी स्वीकार करते हैं कि 'एक ही ध्वनि भिन्न–भिन्न व्यक्तियों को भिन्न–भिन्न प्रकार की प्रतीत होती है'। आप कहते हैं कि 'अव्यक्त ध्वनि का थोड़ा–सा सादृश्य ही स्मरण कराने के लिए पर्याप्त है'। न हूबहू ध्वनि होती है और न वह सबको एकसमान सुनाई ही पड़ती है, तब स्मरण किस बात का कराती है ? स्मरण तो भूली हुई बात का कराया जाता है। क्या आदिपुरुष कोई भाषा भूल गये थे ? भूलेंगे क्या ? उन्हें तो अभी नये सिरे से वर्णोच्चारण करना सीखना है, इसलिए यह प्रश्न ज्यों–का–त्यों उपस्थित है कि आदि में वर्णोच्चारण की शिक्षा कैसे मिली ? बाह्य ध्वनियों के द्वारा वर्णोच्चारण की शिक्षा नहीं मिल सकती। हाँ, अभी एक उत्तर शेष है। आप मानते हैं कि मनुष्य बिना सुने हुए भी वर्णोच्चारण कर

सकता है। पृष्ठ २०० पर आप लिखते हैं कि 'हर्ष, शोक, आश्चर्य आदि के भावों के आवेश में कुछ स्वाभाविक ध्वनियाँ हमारे मुख से निकल जाती हैं, जैसे—हा-हा, हाय-हाय, अहह, वाह-वाह इत्यादि', परन्तु यह सिद्धान्त भी अशुद्ध है। गूँगे मनुष्य को कभी किसी ने हाय-हाय, अहह, हा-हा, वाह-वाह इत्यादि करते नहीं सुना। गूँगे अप्राप्त नहीं हैं। आप उनसे 'ह' और 'व' के उच्चारण कराकर सुन सकते हैं। जब आप-ही-आप उद्‌गारात्मक 'ह', 'व' आदि वर्ण नहीं निकल सकते तब फिर प्रश्न होता है कि ये उद्‌गार मनुष्य के मुख से कैसे निकले। आप पृष्ठ १९४ पर कहते हैं कि 'दो दुधमुँहे बच्चे यदि एकान्त में रक्खे जाएँ तो वे कोई-न-कोई टूटी-फूटी भाषा बना लेंगे'। हम कहते हैं कि इस बात में छल भरा हुआ हैं। दो दुधमुँहे बच्चे यदि अकेले छोड़ दिये जाएँ तो वे दो दिन भी जी नहीं सकते। यदि किसी की संरक्षता में छोड़े जाएँ तो वे अपने संरक्षक की भाषा बोलने लगेंगे। यदि ऐसा प्रबन्ध करें कि न तो संरक्षक बोले और न किसी की आवाज़ वहाँ पहुँचे तो निश्चय है कि वे बच्चे कुछ भी न बोल सकेंगे। ऐसा परीक्षण अकबर आदि अनेक राजाओं ने कर लिया है, जिसका फल कुछ भी नहीं हुआ।

प्रो० मैक्समूलर ने इन घटनाओं को 'साइंस ऑफ दि लेंग्वेज' नामक पुस्तक में लिख दिया है, अतएव ऊपर कहे हुए दोनों सिद्धान्तों से भाषा की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। न तो बाह्य ध्वनियों से वर्ण नक़ल किये जा सकते हैं और न अपने उद्‌गारों से ही वर्णों की उत्पत्ति हो सकती है, तब ज्ञात नहीं होता कि डॉक्टर साहब विकासक्रम से भाषा की उत्पत्ति कैसे सिद्ध करते हैं। आप इस लचर सिद्धान्त पर कैसे भरोसा करते हैं कि मनुष्य बाहर की ध्वनि की हूबहू नकल तो नहीं कर सकता, परन्तु सुनकर और स्वभाव से वर्णोच्चारण कर सकता है। क्या बोलने के पूर्व उसमें बोलने की शक्ति थी? यदि कहो हाँ, तो कहना चाहिए कि आप यह कहना चाहते हैं कि मनुष्य के आँख तो थी मगर देखता नहीं था। देखता नहीं था तो आँख के होने का विश्वास आपको कैसे हुआ? जिस प्रकार यह असम्भव है, उसी प्रकार यह भी असम्भव है कि बोलता नहीं था, परन्तु बोलने की शक्ति थी। इस उलझन को न तो डॉक्टर साहब सुलझा सकते हैं न उनकी यूरोपीय गुरुमण्डली। डॉक्टर साहब ने विकासक्रम से भाषोत्पत्ति की सिद्धि न होते देख, हार मानकर उसमें परमेश्वर को ला जोड़ा है। आप पृष्ठ १८३ पर लिखते हैं कि 'इन युक्तियों के आधार पर भाषा का ईश्वरप्रदत्त होना ऊपर के अर्थ में ठीक नहीं हो सकता। हाँ, एक आशय से भाषा को हम ईश्वरप्रदत्त कह सकते हैं। भाषा केवल मनुष्यों में ही पाई जाती है। ऐसी कोई मनुष्यजाति नहीं है जो कोई-न-कोई भाषा न बोलती हो। साथ ही मनुष्य को छोड़ ऐसा कोई और प्राणी नहीं जिसमें भाषा पाई जाती हो, इसीलिए भाषा को हम मनुष्यजाति का एक सार्वभौम और विशेष लक्षण कह सकते हैं। जिस प्रकार मानवसमाज की सारी-की-सारी सभ्यता की सामग्री, सृष्टि के आदि से ही न होने पर भी, इस आशय से ईश्वरप्रदत्त कही जा सकती है कि उसका सम्पादन मनुष्य ने सृष्टि के आरम्भ से ही बीजरूप से ईश्वरप्रदत्त शक्तियों और योग्यताओं के आधार पर किया है। उदाहरणार्थ लेखनकला या गृहवस्त्रादि निर्माण करने की कलाओं के विषय में यह कोई नहीं कह सकता कि इनको सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने मनुष्यों को सिखलाया तो भी इनके विकास का सम्भव ईश्वरप्रदत्त शक्तियों के आधार पर ही हो सका। इसी आशय से भाषा को भी हम ईश्वरप्रदत्त कह सकते हैं। यह स्पष्ट है कि ऐसा मानने से ईश्वर के महत्त्व में कोई अन्तर न आकर वह ज्यों-का-त्यों बना रहता है।

डॉक्टर साहब! आप भाषा को ईश्वर के साथ न जोड़िए—ईश्वर की छीछालेदर न कीजिए। अभी थोड़ी ही देर पहले आप ईश्वर के विषय में पृष्ठ १८५ पर कह आये हैं कि 'इसका उत्तर

यही है कि ईश्वर के सामर्थ्य के नाम पर ही यदि इस बात को सिद्ध किया जाएगा तब तो संसार में कोई भी बात सिद्ध की जा सकती है'। सत्य है! आप तो बिना ईश्वर की सहायता के ही भाषा की उत्पत्ति सिद्ध करें तभी आपकी विशेषता है। जब विकासक्रम में ईश्वर की मान्यता ही नहीं है तब आप इतना कष्ट क्यों करते हैं? आप लोग तो गाड़ी रुकने पर ही ईश्वर की मदद लेते हैं। अभी हाल ही में महाशय गोविन्दप्रसाद द्विवेदी ने 'माधुरी' में भाषा-उत्पत्ति विषय का एक लेख लिखा है। उसमें उन्होंने भी इसी प्रकार ईश्वर को ला घसीटा है। वे 'माधुरी' आषाढ़ शु० सं० ३०४[1] पृष्ठ ७३८ पर लिखते हैं कि 'भाषा की उत्पत्ति के विषय में यह सोचना स्वाभाविक है कि परमात्मा ने ही रचकर हमें भाषा उसी भाँति दी है जैसे जल-वायु आदि, परन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। पशु-पक्षी शब्दों द्वारा अपने उद्‌गार प्रकट करते होंगे, परन्तु परमात्मा ने मनुष्य को उन्नति करने की बुद्धि प्रदान की है और विभिन्न उच्चारण करने की शक्ति दी है। ये दोनों पशु-पक्षियों में नहीं हैं। इन्हीं दोनों के कारण मनुष्य भाषा-निर्माण में सफल हुआ है। मनुष्यों ने कण्ठ से ओष्ठपर्यन्त अवयवों का उपयोग कर 'अ' से 'म' पर्यन्त शब्दों का उच्चारण किया और इस प्रकार स्वर-व्यंजनों की रचना हुई। साथ ही भाषा का उद्देश्य सुधारने के लिए विवक्षित अर्थों के संकेतस्वरूप कुछ और भी सरल उच्चारण निकाले। ये संकेत आरम्भिक अवस्था में बहुत थोड़े थे, अत: उनका उच्चारण बार-बार होता रहा। भाषाशास्त्र के मत में ये संकेत अस, दा, भू, स्था आदि क्रियाएँ थीं।

इसी प्रकार डॉक्टर मङ्गलदेवीजी पृष्ठ २ पर कहते हैं कि 'भाषा ही मनुष्यजाति के दूसरे प्राणियों से ऊँचे स्थान का चिह्न है। यही उसकी सारी उन्नति का मुख्य साधन है। ठीक अर्थों में समाज का संगठन भाषा के बिना असम्भव है और सामाजिक संगठन पर ही मनुष्यजाति की सारी उन्नति निर्भर है'। आगे पृष्ठ १७३ पर आप ही कहते हैं कि 'सभ्यता की सामग्री का सम्पादन मनुष्य ने आदिसृष्टि से ही बीजरूप से ईश्वरप्रदत्त शक्तियों और योग्यताओं के आधार पर किया है, इसी आशय से हम भाषा को ईश्वरप्रदत्त कह सकते हैं'।

हम पूछते हैं कि परमेश्वर इस झमेले में क्यों पड़ गया? समस्त जीव-जन्तुओं के विकास के समय तो चुपचाप बैठा रहा, परन्तु मनुष्यजाति ज्योंही वानर का रूप बदलकर इस रूप में आई त्योंही वह उन्नति का पहाड़ लेकर क्यों चढ़ बैठा? आप लोग कहते हैं कि ईश्वर को मनुष्य की उन्नति स्वीकार है। उन्नति बिना भाषा के हो नहीं सकती, इसीलिए उसने मनुष्य के मुँह में वर्णोच्चारण की शक्ति दी है। जब ये सब बातें ठीक हैं तब साफ़-साफ़ यह कहने में आप लोगों का कौन-सा सम्मान घटा जाता है कि परमेश्वर ने मनुष्य को उसकी उन्नति के लिए भाषा दी। संसार का कोई पशु-पक्षी अपनी बोली छोड़कर दूसरे की बोली नहीं बोलता तब मनुष्य ही क्यों प्राकृतिक ध्वनियों अथवा पशुओं की बोली बोलने लगा होगा। मैक्समूलर ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य की भाषा ध्वनि अथवा पशुओं की बोली से नहीं बनी'। लाक एडम् स्मिथ और ड्यूगल्डस्टुअर्ट आदि कहते हैं कि 'मनुष्य बहुत काल तक गूँगा रहा, वह संकेत और भ्रू-प्रक्षेप से काम चलाता रहा। जब काम न चला तो भाषा बना ली और परस्पर संवाद करके शब्दों के अर्थ नियत कर लिये'। इसका उत्तर देते हुए प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि 'मैं नहीं समझता कि बिना भाषा के उनमें कैसे संवाद जारी रह सका। क्या अर्थ नियत करने से पूर्व संवाद निरर्थक ही चला आता था। अमुक ध्वनि का अमुक अर्थ नियत करना उस समय कैसे सुलभ हो सकता है

---

१. मूल पुस्तक में यही पाठ है, परन्तु तब तो यह पत्रिका निकलनी भी आरम्भ नहीं हुई थी। इस पाठ को शुद्ध करने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं है। —जगदीश्वरानन्द

जिस समय उनके पास कोई भी सार्थक ध्वनि उपस्थित नहीं थी ? कैसे एक ने दूसरे से कहा कि रोटी को 'चूँ-चूँ' कहना और समझना चाहिए और कैसे दूसरों ने यह सारा अभिप्राय समझ लिया ? बात तो असल यह है कि न बिना ज्ञान के भाषा बन सके और न बिना भाषा के ज्ञान हो सके। नाम और नामी या रूप और शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें से एक दूसरे को छोड़कर अकेला रह ही नहीं सकता। ऐसी दशा में यही तथ्य उपलब्ध होता है कि आदिम मनुष्य ज्ञान और भाषा के सहित ही पैदा हुए, परन्तु वही प्रश्न यहाँ भी आता है कि जब बिना निमित्त के ज्ञान और भाषा का बोध नहीं होता तब आदि में, जिसके पूर्व कोई ज्ञान और भाषा थी ही नहीं, उस समय मनुष्यों में किस निमित्त से ज्ञान और भाषा का आविर्भाव हुआ ? इसका उत्तर यही है कि आदिज्ञान और आदिभाषा का आविर्भाव परमात्मा की ओर से हुआ। जिस प्रकार हिप्नोटिज्म करनेवाला अपने माध्यम के मुँह से केवल मानसिक प्रेरणा से ऐसी-ऐसी भाषाओं के शब्द बुलवा सकता है, जिनको माध्यम ने पहले कभी नहीं सुना, उसी प्रकार सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् परमात्मा ने आदि में मूलपुरुषों के हृदयों में ज्ञान और भाषा का प्रकाश किया। आदिसृष्टि में पैदा होनेवाले ईश्वरपुत्र आर्य पूर्ण ज्ञानी आत्मा होते हैं। उनको अपने व्यापकत्व से परमात्मा पूर्व प्राप्तज्ञान और भाषा की याद दिला देता है। इसलिए उनमें ज्ञान और भाषा का प्रकाश हो जाता है। महात्मा सुकरात कहा करते थे कि 'कोई किसी को नया ज्ञान नहीं सिखलाता, प्रत्युत भूले हुए ज्ञान की याद दिलाता है'। सच है जिसमें कभी कोई ज्ञान था ही नहीं उसमें ज्ञान का आविर्भाव किया ही नहीं जा सकता। दीवारों और पत्थर की चट्टानों को किसी ने क्यों ज्ञानी नहीं बना दिया ? जो प्राणी पहले कभी ज्ञानी रह चुके हैं उनको ही ज्ञान दिया जा सकता है, अन्यों को नहीं। इसी सिद्धान्तानुसार परमात्मा ने भी आदिपुरुषों को अपनी व्यापकता और शक्तिमत्ता से ज्ञान और भाषा प्रदत्त की। कोलरिक कहता है कि 'भाषा मनुष्य का एक आत्मिक साधन है'। इस सूत्र की पुष्टि आर०सी० ट्रीनिच डी०डी० ने अपनी पुस्तक 'स्टडी आफ् वर्डस्' में की है कि 'ईश्वर ने मनुष्य को वाणी उसी प्रकार दी है जिस प्रकार बुद्धि दी है, क्योंकि मनुष्य का विचार ही शब्द है जो बाहर प्रकाशित होता है'। इन सबसे आगे बढ़कर प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'भिन्न-भिन्न भाषापरिवारों में जो चार-पाँच सौ धातु मूलतत्त्वरूप से शेष रह जाते हैं वे न तो मनोरागव्यञ्जक ध्वनियाँ ही हैं और न केवल अनुकरणात्मक शब्द ही। हम उनको वर्णात्मक शब्दों का साँचा कह सकते हैं। एक मानस विज्ञानी या तत्त्वज्ञानी उनका कैसा ही व्याख्यान करे, परन्तु भाषा के विद्यार्थी के लिए तो ये धातु अन्तिम तत्त्व ही हैं। प्लेटो के साथ हम यह कह सकते हैं कि वे स्वभाव से ही विद्यमान हैं, प्रत्युत इतना हम और जोड़े देते हैं कि स्वभाव से कहने का हमारा आशय ईश्वर की शक्ति से है'। इन सब कोटिक्रमों से स्पष्ट होता है कि भाषा ईश्वरप्रदत्त है, क्रम-क्रम से विकास का फल नहीं।

आदिभाषा का स्वरूप

यह जान लेने पर मनुष्यजाति को आदिमकाल में भाषा आपसे-आप प्राप्त नहीं हुई, प्रत्युत परमात्मा की ओर से उसके हृदय में उसी प्रकार प्रकाशित हुई जिस प्रकार ज्ञान प्रकाशित हुआ, अब आवश्यक प्रतीत होता है कि उस आदिमभाषा का स्वरूप समझ लें। आदिमभाषा के सम्बन्ध में पाश्चात्य सिद्धान्तों का मथितार्थ लेते हुए डॉक्टर मङ्गलदेवजी पृष्ठ ९५ पर लिखते हैं कि 'वस्तुत: नितरां आदिकालीन भाषा के विषय में जो अनेक कल्पनाएँ की गई हैं उनका आधार ठीक-ठीक साक्षी पर नहीं है। यह भी आवश्यक नहीं कि आदिकाल में मुख से निकलनेवाली स्पष्ट तथा अविभक्त शब्दधारा में से जो स्थिर और स्वतन्त्र शब्द कल्पित किये गये वे एकाक्षरात्मक

तथा अयोगात्मक ही थे', अर्थात् आदिमकालीन भाषा का अब पता नहीं लग सकता, किन्तु आदिमकालीन भाषा के प्रकार का पता आप बतलाते हैं कि वह वाक्यमय थी और एकाक्षरात्मक नहीं, प्रत्युत विभक्तियुक्त थी। आप पृष्ठ ५५, ५६ और ५७ पर कहते हैं कि 'भाषा द्वारा प्रकट किये गये इस 'विचार' को ही वाक्य कहा जाता है, इसलिए हमारे चिन्तन का वाक्य से ही आरम्भ होना चाहिए। दूसरे शब्दों में, हमारे चिन्तन की चरमव्यक्ति (या स्वतन्त्र चरमावयव) वाक्य ही हो सकता है। हम वाक्यों में ही सोचते हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि भाषा का प्रारम्भ पृथक्-पृथक् रहनेवाले अकेले शब्दों से न होकर वाक्य से ही होता है। वाक्य कितना ही बड़ा हो सकता है। वह एक अक्षर का भी हो सकता है, जैसे 'चल', 'हाँ' और अनेक शब्दों से भी बन सकता है। आवश्यक बात यह है कि उसके द्वारा वक्ता का पूरा अभिप्राय प्रकट होना चाहिए'।

आपके कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य किसी अभिप्राय से ही बोलता है, इसलिए वह बिना पूरे वाक्य के अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकता। वाक्य छोटा हो या बड़ा, परन्तु हो पूरा, जिससे कहनेवाले का तात्पर्य प्रकट हो जाए। बड़े सन्तोष की बात है कि विकासवाद भी भाषा के आदिमरूप को इस प्रकार का मानता है। हम भी तो यही कहते हैं कि मनुष्य ने सर्वप्रथम जिस भाषा का प्रयोग किया वह पूर्णार्थ द्योतक थी। इसके आगे डॉक्टर साहब ने बतलाया है कि आदिमभाषा वाक्यमय थी और आर्यभाषाओं की भाँति विभक्तियुक्त थी। आपकी विचारमाला इस प्रकार है—

'जैसा ऊपर कहा है, चीनीभाषा में प्रकृति-प्रत्यय के भेद का पता ही नहीं। चीनीभाषा का प्रत्येक शब्द एकाक्षर होता है, जिसमें गिने-चुने वर्ण (स्वर और व्यंजन) होते हैं। उन एकाक्षर शब्दों में यह प्रकृति है और यह प्रत्यय, इसका भेद करना असम्भव है[१] (पृष्ठ ७९)। तुर्कीभाषा में जैसा ऊपर कहा है, प्रकृति-प्रत्यय की कल्पना तो अवश्य होती है, परन्तु इनका भेद शब्दों की रचना में बहुत ही स्पष्ट होता है। यही नहीं कि शब्दों में उनकी धातु या प्रकृति भी आपस में एक-दूसरे से और प्रकृति से मिले हुए भी अपने-अपने रूप को स्पष्ट रखते हैं[२] (पृष्ठ ८२), जैसाकि ऊपर कहा है, संस्कृतभाषा में अनेकानेक शब्दसमूह ऐसे मिलते हैं जिनमें एक ही प्रकृति या मौलिक अंश पाया जाता है। अनेक उपसर्गों और प्रत्ययों के कारण ही उन समान प्रकृतिवाले शब्दों के अर्थों में परिवर्तन हो जाता है। ऐसा होते हुए भी प्रकृति और प्रत्यय का भेद प्रायः अस्पष्ट होता है। प्रकृति और प्रत्यय के आपस में अधिक सट जाने से प्रायः करके प्रकृत्यंश भी परिवर्तित हो जाता है[३] (पृष्ठ ८३)। चीनी, तुर्की और संस्कृतभाषाओं की शब्दरचना के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया होगा कि शब्दरचना (या शब्दाकृति) की दृष्टि से मनुष्य-जाति की भाषाओं को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। अयोगात्मक, योगात्मक और विभक्तियुक्त—इन नामों से हम उनका निर्देश कर सकते हैं। इन तीनों प्रकार की भाषाओं के आदर्श उदाहरण क्रमशः चीनी, तुर्की और संस्कृतभाषाएँ ही हैं (पृष्ठ ८४)।

कई एक भाषाविज्ञानियों का कहना है कि भाषाओं के उपर्युक्त तीन वर्ग प्रत्येक भाषा के

---

१. 'मु' का अर्थ आँख, ख्याल करना, मुख्य, आवश्यक होता है। परन्तु इस 'मु' में कोई ऐसा परिवर्तन नहीं होता जैसा 'ख्याल करना' से 'ख्याल किया' या 'आवश्यक' से 'आवश्यकता' आदि होते हैं।

२. ev घर evim मेरा घर। ev घर evler अनेक घर।

३. 'वच' धातु से ही 'उवाच', 'ऊचुः' आदि और 'कृ' से 'करोति', 'चकार', 'चक्रुः', 'अकार्षीत्' आदि होते हैं।

क्रमविकास की तीन अवस्थाओं को द्योतित करते हैं। उनका विचार है कि भाषा के विकास में क्रमश: उपर्युक्त तीनों अवस्थाओं का आना आवश्यक है। कम-से-कम प्रत्येक विभक्तियुक्त या सम्मिश्रणात्मक भाषा तीनों अवस्थाओं में गुज़र चुकी है तो भी अभी कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जो अभी तक द्वितीय, अर्थात् योगात्मक अवस्था में ही हैं और आगे नहीं बढ़ी हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषा की उन्नति का पथ अयोगात्मक→योगात्मक→विभक्तियुक्त—इस प्रकार रहा है' (पृष्ठ ९२)। इस मत के विरुद्ध आप पृष्ठ ९४ पर कहते हैं कि 'आधुनिक नये अनुसन्धान से पता लगा है कि आजकल की अयोगात्मक तथा एकाक्षरात्मक चीनीभाषा सदा से इस वर्त्तमान स्वरूप में नहीं रही है। आदिकालीन चीनीभाषा अवश्य ही इससे भिन्न रूप में रही होगी। चीनीभाषा के सैकड़ों शब्द जो अब केवल एक अक्षर के बने हैं, प्रारम्भ में दो या तीन अक्षरों के होते थे। उच्चारणसम्बन्धी परिवर्तन और ह्रास के कारण ही वे अब एक अक्षर के रह गये हैं। इस ह्रास के कारण ही अनेकानेक आधुनिक चीनी शब्दों में परस्पर वर्णकृत भेद न रहने से जो अत्यन्त गड़बड़ होने की सम्भावना थी उसी को दूर करने के लिए शब्दों के उच्चारण में भिन्न-भिन्न स्वर या लहजे के प्रयोग करने का आरम्भ हुआ होगा। चीनीभाषा का सम्बन्ध ऐसे भाषा-परिवार से है जिसमें स्वर या लहजे के प्रयोग की मात्रा शब्दों की एकाक्षरता के परिमाण पर निर्भर होती है'। इस प्रकार से उपर्युक्त तीन वर्गों का खण्डन करके आप दो ही वर्ग मानते हैं और पृष्ठ ९१ पर कहते हैं कि 'ऐसा होने पर भी यह स्मरण रखना चाहिए कि विभक्तियुक्त और योगात्मक भाषाओं में परस्पर इतना भेद नहीं है जितना इन दोनों का अयोगात्मक भाषाओं से। वस्तुत: देखा जाए तो इन दोनों में इतना प्रकार का भेद नहीं है जितना मात्रा का। दोनों की शब्दरचना का मूलसिद्धान्त एक ही है केवल भेद इतना है कि विभक्तियुक्त भाषाओं में प्रकृति-प्रत्यय का परस्पर मेल योगात्मक भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा होता है, तो भी, विभक्तियुक्त भाषाओं में यह घनिष्ठ सम्बन्ध सदा नहीं पाया जाता। अनेक शब्दों की रचना इन भाषाओं में भी ऐसी ही विशद होती है जैसी योगात्मक भाषाओं में। इसी कारण से कोई-कोई लोग पिछले वर्गों को एक में मिलाकर सारी भाषाओं को केवल दो ही वर्गों में बाँटते हैं'।

यदि कोई समझता हो कि इथिओपिक विभाग के लोग सर्वप्रथम बन्दर से विकसित हुए हैं, इसलिए उनकी भाषा एकाक्षरात्मक होगी, तो बात सर्वथा उल्टी है। डॉक्टर मंगलदेव लिखते हैं कि 'दक्षिण अफ्रीका की बन्तूभाषा में तो धातुएँ सामान्यतया अनेकाक्षरात्मक ही पाई जाती हैं' (पृष्ठ १५४)। इसी प्रकार आप अमेरिका की भाषा के विषय में लिखते हैं कि 'भाषा की रचना का एक विशेष प्रकार पाया जाता है, जिसको बहुसंश्लेषणात्मक या बहुसम्मिश्रणात्मक कह सकते हैं, इस प्रकार की रचना का विशेष उदाहरण अमेरिका के आदिनिवासी रेड-इण्डियन की भाषाएँ हैं (पृ० ९६), परन्तु भाषाविज्ञानियों की प्राय: यही सम्मति है कि इन भाषाओं में अनेक शब्दों के योग से मिलकर शब्दों के बनाने की मात्रा और भाषाओं से बहुत अधिक होने पर भी इनमें शब्द-रचना का प्रकार बिलकुल नया और अनोखा नहीं है, इसलिए इनका समावेश भिन्न-भिन्न शब्दों को देखकर योगात्मक या विभक्तियुक्त रचना में ही हो सकता है' (पृ० ९७)।

यहाँ तक चीनी, तुर्की, आर्य, इथिओपिक और अमेरिकन भाषाओं को देखा तो पता लगा कि भाषाओं के दो ही भेद हैं, एक विभक्तियुक्त और दूसरी योगात्मक या एकाक्षरात्मक। ऊपर चीनीभाषा का उदाहरण देकर बतला दिया गया है कि वह योगात्मक या विभक्तियुक्त से ही एकाक्षरात्मक हुई है। इस बात का एक प्रत्यक्ष नमूना अंग्रेजी का है। यह आर्य, अर्थात् विभक्तियुक्त भाषा से ही निकली है। इसके विषय में डॉक्टर साहब पृष्ठ ९९ पर कहते हैं कि 'अंग्रेजी का हम

ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। इस भाषा में बहुत ही थोड़ी विभक्तियाँ रह गई हैं। यहाँ तक कि नामों या संज्ञावाचक शब्दों के बहुवचन, क्रिया के प्रथमपुरुष एकवचन और भूतकाल को छोड़कर चीनीभाषा की भाँति एकाक्षरात्मक अंग्रेजी लिखी जा सकती है'। इस प्रकार ज्ञात हुआ है कि संसार की समस्त भाषाएँ आदि में वाक्यमय और विभक्तियुक्त थीं। उन्हीं से धीरे-धीरे सब योगात्मक और एकाक्षरात्मक हो गई हैं और हो रही हैं। विभक्तियुक्त भाषा के दो भेद हैं। डॉक्टर साहब पृष्ठ ९८ पर कहते हैं कि 'विभक्तियुक्त भाषाएँ थोड़ी या बहुत संश्लेषणात्मक या विश्लेषणात्मक होती हैं। संश्लेषणात्मक से आशय उन भाषाओं से है जिनमें एक शब्द के द्वारा एक पेचीदा या जटिल या संकीर्ण अर्थ को प्रकट किया जाता है। उनको अभेदात्मक भी कहा जा सकता है। इसके विपरीत विश्लेषणात्मक भाषा वह कहलाती है, जिसमें उसी अर्थ के लिए अनेक शब्द प्रयोग किये जाते हैं। ऐसी भाषा को भेदात्मक भी कहते हैं। उदाहरणार्थ संस्कृत 'भविष्यत्' के स्थान में हिन्दी में 'वह होता' और अंग्रेजी में 'He would have been' कहा जाएगा। इसी प्रकार नीचे के शब्दों में भी विश्लेषणात्मकता पाई जाती है—

संस्कृत	**हिंदी**	**अंग्रेजी**
करोति	वह कर रहा है।	He is doing.
गृहाणाम्	घरों का	Of (the) houses.
जिगमिष्यति	वह जाना चाहता है।	He desires to go.

ग्रीक और लैटिन भाषाओं की रचना में संस्कृत की भाँति संश्लेषणात्मकता अत्यधिक पाई जाती है। अंग्रेजीभाषा विश्लेषणात्मक रचना का अच्छा उदाहरण है। सामान्यतया यह कहा जा सकता है कि भारत—यूरोपीयभाषा परिवार की भाषाएँ धीरे-धीरे संश्लेषाणात्मक से विश्लेषणात्मक होती जाती हैं। इस प्रवृत्ति का उदाहरण भारतवर्ष की आधुनिक भाषाओं में अच्छी प्रकार पाया जाता है। संस्कृत की रचना स्पष्टतया संश्लेषणात्मक है। ....इनमें हिन्दी की रचना सबसे अधिक विश्लेषणात्मक है'[१]।

इसके आगे पृष्ठ ११२-११३ पर आप लिखते हैं कि 'मध्यकालीन भाषा का भी स्वरूप संश्लेषणात्मक ही था तो भी व्याकरण में बहुत कुछ सरलता आ गई थी। प्रातिपदिक और धातुओं के रूपों में बहुत कुछ कमी आ गई थी। बड़ा भारी भेद उच्चारण में आ गया था। व्यञ्जनों के क्लिष्ट संयोगों को या तो सरल संयोगों से बदल दिया गया था, या उनके स्थान में एक व्यञ्जन उच्चारण किया जाने लगा था। उदाहरणार्थ, पाली में 'धर्म' के स्थान में 'धम्म', 'मृत्यु' के स्थान में 'मच्चु', 'भैषज्य' के स्थान में 'भेसज्ज' बोला जाता था। इसी प्रकार 'स्थगयति' के स्थान में 'थकेति', 'कलक्ष्ण' के स्थान में 'सण्ह' और 'पार्ष्णि' के लिए 'पण्हि' बोला जाता था। संयोगों के विरुद्ध प्रवृत्ति, प्राकृतभाषा में तो यहाँ तक बढ़ती गई कि आदि में अनेक व्यञ्जनोंवाले शब्दों में एक-दो व्यंजन भी मुश्किल से ही शेष रहे और प्रायः शब्दों का स्वरूप केवल स्वरमय हो गया। उदाहरणार्थ, यदि=जई (या यदि)। आर्यपुत्र=अज्जपुत्त। सकल=सअल। प्रकाशयति=पआसेइ। आगतम्=आअदं (या आगदं)। आधुनिक भाषाओं में पुरानी संश्लेषणात्मक के स्थान में विश्लेषणात्मकता बहुत कुछ देखी जाती है। व्याकरण, वाक्यविन्यास आदि सब-कुछ सर्वथा बदल गया है'। यहाँ यह बात अच्छी प्रकार स्पष्ट हो गई कि संसार की समस्त

१. मैक्सिकन भाषा में बकरे के लिए kwa-kwauh-tenstsone शब्द है। जिसका अर्थ है सिर-वृक्ष (=सींग) ओष्ठ-बाल (=दाढ़ी), अर्थात् सींगवाला और दाढ़ीवाला। यह संश्लेषाणत्मक भाषा है। 'मैं रोटी अपने पुत्र को देता हूँ' इसके स्थान में वे कहेंगे 'मैं—उसे—उसको देता हूँ, रोटी अपने पुत्र को'।

संश्लेषणात्मक, अर्थात् विभक्तियुक्त भाषाएँ विश्लेषणात्मक, अर्थात् एकाक्षरात्मक होती जाती हैं। इसका तात्पर्य यह है कि संश्लेषणात्मक या विभक्तियुक्त भाषाएँ आदिकालीन हैं और विश्लेषणात्मक या एकाक्षरात्मक भाषाएँ उन्हीं आदिमकालीन भाषाओं का विकास हैं—परिवर्तन हैं—अपभ्रंश हैं।

यहाँ तक के वर्णन का निष्कर्ष यह है कि आरम्भ में भाषा वाक्यरूप, विभक्तियुक्त और संश्लेषणात्मक थी। उसी से समस्त विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है और होती जाती है, जैसे—चीनी, अंग्रेजी और हिन्दी आदि। सभी भाषाशास्त्री जानते हैं कि भारत—यूरोपीय और सेमिटिक परिवार की ही भाषाएँ विभक्तियुक्त और संश्लेषणात्मक हैं। विभक्तियुक्त भाषाओं के विषय में पृष्ठ १०० पर डॉक्टर साहब कहते हैं कि 'विभक्तियुक्त भाषावर्ग का सम्बन्ध केवल भारत—यूरोपीय और सेमिटिक इन दो भाषापरिवारों से है'। संसार में शेष जितनी अन्य भाषाएँ हैं सब विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक हैं। यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि संश्लेषणात्मक और विभक्तियुक्त भाषाओं से ही विश्लेषणात्मक और एकाक्षरात्मक भाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इससे स्पष्ट है कि आदिमकालीन मूलभाषा वही है जो विभक्तियुक्त हो, संश्लेषणात्मक हो और आर्य—यूरोपीय तथा सेमिटिक भाषाओं से सम्बन्ध रखती हो।

आगे हम मूलभाषा की खोज करके स्पष्ट करना चाहते हैं कि आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाएँ एक ही भाषा की शाखाएँ हैं, किन्तु पहले यह देखना चाहते हैं कि आर्य और सेमिटिक भाषाएँ एक ही हैं या अलग-अलग। डॉक्टर मंगलदेवजी यह मानते हुए भी कि आर्य और सेमिटिक भाषाएँ विभक्तियुक्त संश्लेषणात्मक हैं, सेमिटिक भाषाओं को आर्यभाषाओं से पृथक् मानते हैं, परन्तु हम देखते हैं कि जब आर्य और सेमिटिक भाषाओं का एक ही ढंग है—दोनों की रचना एक ही सिद्धान्त पर है, तब वे एक-दूसरी से पृथक् नहीं हो सकतीं। सभी जानते हैं कि आर्य और सेमिटिक लोग काकेसिक विभाग के हैं, दोनों का रङ्ग-रूप एक है और दोनों एक ही मनु अथवा नूह की सन्तति हैं, इसलिए दोनों की भाषा भी एक ही होनी चाहिए। डॉक्टर साहब पृष्ठ २५३ पर कहते हैं कि 'यह विश्वास से कहा जा सकता है कि उक्त दोनों भाषापरिवार पिछले सहस्त्रों वर्षों से एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न और पृथक् रहे हैं'। हम कहते हैं कि हज़ारों नहीं बल्कि लाखों वर्षों से दोनों पृथक् हैं, परन्तु इसका तात्पर्य यह तो नहीं है कि दोनों कभी एक थे ही नहीं। हमारा विश्वास है कि अतिप्राचीन काल में दोनों परिवार एक थे। हम आगे दिखलाएँगे कि दोनों का व्याकरण एक ही नियम पर चलता है, दोनों के व्यावहारिक शब्द एक ही समान मिलते हैं और दोनों की प्रकृति एक ही सामान विभक्तियुक्त संश्लेषणात्मक है। ऐसी दशा में दोनों परिवार पृथक् नहीं हो सकते। यही दोनों नहीं प्रत्युत संसार की कोई भी प्राचीन भाषा एक-दूसरी से पृथक् नहीं हो सकती। आदि में जिस प्रकार ज्ञान एक था उसी प्रकार भाषा भी एक थी।

आदिज्ञान और आदिभाषा का एकत्व

एक ही स्थान में पैदा होनेवाले मूलपुरुषों का ज्ञान और भाषा एक ही होनी चाहिए। दल बाँधकर रहनेवाले इस सामाजिक प्राणी—मनुष्य की भाषा यदि एक न होती तो उसका सार्वजनिक प्रयोजन ही सिद्ध न होता। प्रो० मैक्समूलर संसार की समस्त भाषाओं को आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाओं में विभक्त करते हुए कहते हैं कि 'निस्सन्देह मनुष्य की भाषा एक ही थी। भाषाओं के बिगड़ने का कारण मनुष्य की असावधानी ही है'। इसी प्रकार 'हारमोनिया' भाग ५ पृष्ठ ७३ पर एण्ड्रोजैक्सन डेविस कहता है कि 'भाषा भी, जो एक आन्तरिक और सार्वजनिक साधन है, स्वाभाविक और आदि है। भाषा के मुख्य उद्देश्य में कभी विकास का होना सम्भव

नहीं है, क्योंकि उद्देश्य सर्वदेशी और पूर्ण होते हैं। उनमें किसी प्रकार का भी परिवर्तन नहीं हो सकता। वे सदैव अखण्ड और एकरस रहते हैं'। प्रोफ़ेसर 'पाट' भी कहते हैं कि 'भाषा के वास्तविक स्वरूप में कभी किसी ने परिवर्तन नहीं किया। केवल बाह्यस्वरूप में कुछ परिवर्तन होते रहे हैं, परन्तु किसी भी पिछली जाति ने एक धातु भी नया नहीं बनाया। इस प्रकार से वही शब्द बोले जा रहे हैं जो सर्गारम्भ में मनुष्य के मुँह से निकले थे'।

ज्ञान-अज्ञान का ज्वारभाटा मनुष्यसमाज में सदैव आया ही करता है। जो जातियाँ कभी विद्वान् थीं, आज जंगली दशा में हैं और जो जंगली थीं, वे आज विद्वान् और सभ्य हैं। इस उतार-चढ़ाव और अदला-बदली में एक बात यह बड़ी भयंकर होती है कि पुरानी भाषा, पुराने धर्म और पुराने ज्ञान का रूप बिगड़ जाता है। नमूने के लिए आप 'भूगोल' शब्द को लीजिए। इसके अर्थ और रूप दोनों में विकार हुआ है। भू=पृथिवी और गोल=गोलाई है, अर्थात् पृथिवी की गोलाई का वर्णन इस शब्द का अर्थ है, परन्तु यह शब्द यूरोप में 'ग्लोब' हो गया है। वहाँ इसमें दो बार उलट-पुलट हुई है। यह पहले भूगोल का गोलभू हुआ और फिर गोलबू तथा ग्लोबू होता हुआ ग्लोब हो गया। साथ ही अर्थ भी पलट गया। ग्लोबशब्द गोल भूमि का वाचक होते हुए भी यूरोपवाले हज़ारों वर्ष तक पृथिवी को गोल न समझकर जाने क्या-क्या समझते रहे। यहाँ तक कि गेलेलियो, जिसने पहले-पहल पृथिवी को गोल और घूमनेवाली कहा, मारा गया, किन्तु भारत के विद्वानों के द्वारा अरब होते हुए जब वहाँ यह ज्ञान फिर पहुँचा कि पृथिवी गोल है और घूमती है तब वहाँ भी लोग जानने लगे कि पृथिवी गोल है। यहाँ भी भूगोल शब्द तो विद्यमान है, परन्तु बड़े-बड़े पण्डित भी कहते हैं कि अमुक राक्षस इसको लपेटकर तकिया की जगह रख लेता था, अर्थात् यह चौरस थी। इसी प्रकार वेद में लिखा है कि 'एक वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं। एक फलों को खाता और सुख-दुःख भोगता है और दूसरा साक्षी होकर देखता है', परन्तु वेदों का यह रूपक बाइबिल में उस कथा की सामग्री बन गया है जिसमें लिखा है कि 'आदम ने जब तक वृक्ष के फल नहीं खाये तब तक होश ठिकाने रहा, किन्तु फलों के खाते ही वह घामड़ बन गया'। ये नमूने बतालाते हैं कि वैदिक ज्ञान, वैदिक धर्म और वैदिक भाषा के असली रूप में अपभ्रष्टता हो गई है। हो जाए पर अवशिष्टाङ्गों से देखना चाहिए कि आदिधर्म, आदिज्ञान और आदिभाषा कौन-सी है?

पुरानी बातें और पुराना ज्ञान या तो कारीगरी के रूप में या भाषाओं के रूप में ही मिलते हैं। उन्हीं से जाना जाता है कि ये अमुक जाति के हैं। कारीगरी के साथ भी यदि कोई लिपि न मिले और वह लिपि पढ़कर समझ न ली जाए तो वह अपना वृत्तान्त नहीं कह सकती। प्राचीन हड्डियाँ और शास्त्रास्त्र भी नहीं कहते कि हम किस जाति के हैं। खोपड़ियों से केवल अनुमान ही लगाये जाते हैं, वे भी अधूरे। यदि प्राचीन खोपड़ियों के अनुसार जीवित मनुष्यों की खोपड़ियाँ मिलान करने को न मिलें तो अनुमान भी न हो सके। कहने का तात्पर्य यह कि प्राचीन बातों का जितना स्पष्ट और सत्य पता भाषा देती है उतना और कोई दूसरा साधन नहीं दे सकता। भाषा में ही धर्म, ज्ञान और अन्य चिह्न नूतनरूप में उपस्थित रहते हैं। मेसोपोटामिया में मिली हुई ईंटों पर यदि मित्र-वरुण आदि नाम न होते तो कैसे कहा जाता कि ये आर्यों की हैं और उस समय भी वैदिक धर्म वहाँ तक फैला हुआ था, इसलिए यहाँ हम आदिभाषा का ही पता लगाते हैं। उसके साथ ही उसमें वर्णित धर्म, ज्ञान और अन्य चिह्नों से पता लग जाएगा कि आदिज्ञान और आदिधर्म भी क्या था।

आदिभाषा का पता लगाने के पूर्व हम देखना चाहते हैं कि संसार में फैली हुई भाषाओं में

एकता है या नहीं और सब भाषाएँ एक ही मूलभाषा से निकली हैं या नहीं ? 'भाषा-विज्ञान' के पृष्ठ १०० पर डॉक्टर मंगलदेव कहते हैं कि 'एक ही भाषा में देखा जाता है कि अयोगात्मक, योगात्मक और विभक्तियुक्त होने के लक्षण पाये जाते हैं'। पृष्ठ १०१ पर फिर कहते हैं कि 'यद्यपि इन भाषाओं का झुकाव विश्लेषणात्मकता की ओर है तो भी कोई ऐसी आधुनिक भाषा नहीं पाई जाती जो संसार में एक ही भाषा ह्रास और विकास के साथ ओत-प्रोत [भरी] है और संश्लेषणात्मकता की ओर से विश्लेषणात्मकता की ओर जा रही है। भाषा की ऐक्यता पर प्रो० मैक्समूलर 'साइन्स ऑफ दि लेंग्वेज' भाग १ पृष्ठ ६६६ पर लिखते हैं कि 'यदि तुम यह कहना चाहते हो कि भाषा के प्रारम्भ अनेक हुए तो तुम्हें यह बात असम्भव सिद्ध करनी चाहिए कि सब शाखाओं का एक ही आदिमूल था। ऐसी असम्भावना कभी सिद्ध नहीं की गई'। दूसरे स्थान में आप फिर कहते हैं कि 'समस्त भाषापरिवार एक ही प्राचीन भाषा की शाखाएँ हैं, अर्थात् आदिमनुष्यों की एक ही भाषा थी'[१]। इस एक ही भाषा की इस समय संसार में तीन शाखाएँ पाई जाती हैं। इन तीनों को आर्य, सेमिटिक और तुरानी विभागों में विभक्त किया गया है, परन्तु प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि 'आर्य और सेमिटिक दोनों एक ही मूलभाषा की दो धाराएँ हैं'[२]। टेलर महोदय कहते हैं कि 'अब तक दोनों शाखाओं के अनेक शब्द एक ही रूप के मिलते हैं'[३]। इसी प्रकार तुरानी शाखा के विषय में भी विद्वानों का यही मत है। तुरानी शाखा समस्त मंगोलियन और इथिओपिक (निग्रो) जातियों में बोली जाती है। इसका फैलाव मद्रास की द्रविड़भाषाओं से लेकर आस्ट्रेलिया की भाषाओं तक है। 'इनसाईक्लोपीडिया ब्रिटानिका' में लिखा है कि 'अनेक शब्द मद्रास और आस्ट्रेलिया में एक ही रूप के बोले जाते हैं'[४]। मद्रासप्रान्त की तेलगू आदि भाषाओं के लिए केम्बेल ने और रायल एशियाटिक सोसाइटी से प्रकाशित होनेवाले जरनल के सम्पादकों ने लिखा है कि 'ये भाषाएँ भी वेदभाषा से ही निकली हैं। इनके सैकड़ों शब्द अब तक एक ही समान पाये जाते हैं'[५]। इस प्रकार समस्त आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाएँ एक ही भाषा से निकली हुई सिद्ध होती हैं। नीचे हम कुछ ऐसे शब्दों का नमूना दिखलाना चाहते हैं जिनसे ज्ञात हो जाएगा कि संसार की समस्त भाषाओं में एक ही भाषा ओत-प्रोत है और एक ही शब्द आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाओं में एक ही रूप और अर्थ के साथ

---

१. What are called families of languages are only dialects of an earlier speech.
—*China's Place in Philosophy*

२. This does not, however, exclude the possibility that both (Sanskrit and Semitic) are diverging streams of the same source, and the comparisons that have been instituted between the Semitic roots reduced to their simplest forms and the roots of the Aryan languages have made it more than probable that the material elements with which they both started were originally the same.
—*Lectures on the Science of Language,* Vol. 1, p. 316.

३. Delitzsch goes deeper. He claims to have identified one hundred Semitic roots with Aryan roots.
—*Tailor's Origin of the Aryan*

४. The aboriginal tribes in Southern and Western Australia use almost the same words for I, thou, he, we, you, etc., as the fishermen on the Madras coast and resemble in many ways the Madras hill-tribes, as in the use of their national weapon, the boomerang.
—*Encyclopaedia Britanica,* Vol. III, p. 778, Ninth Edition

५. It has been generally asserted and indeed believed that the Telegu has its origin in the language of the Vedas. —*Cambell's Telegu Grammer,* Introduction, p. XV
But this is admitted on all hands that a very large portion of their (non-Aryan languages) consituent parts is of Aryan origin. —*Journal Royal Asiatic Society,* 1870, Vol. I, p.150

प्रस्तुत है—

आर्य	सेमिटिक	तुरानी	अर्थ
संस्कृत—अम्ब	सिरियन—आमो	द्राविड़ी—अम्मा	
	सामोपेडिक—अम्म	सिथियन—अम्माल, अम्मेद,	
	अरबी—उम्म	मलयाली—अम	माता
		तूलू—अप्पा	
		चीना—मा	
संस्कृत—मेरु	मिश्री—मेरई	तुर्की—मेरुख	
जन्द—मौरु			हिमालय
ग्रीक—मेरोस			का मेरु प्रदेश
संस्कृत—द्यौ:	अरबी—यो:	चीना—तौ:	
अँग्रेज़ी—डे		जापानी—दे	सूर्य और
		तिलगू—दिवमु	सूर्यलोक
संस्कृत—ईरा			
ग्रीक—(Era) एरा	हिब्रू—एरेछ्		
लेटिन—(Tera) तेरा	अर्बी—अर्ज, जेरत		
जरमन—(Erda) एर्दे			पृथिवी
प्रा० इंगलिश—(Earthe) इयर्थि			
न० इंगलिश—(Earth) अर्थ			

इन तीनों शाखाओं का व्याकरण भी एक ही है। आर्य और सेमिटिक भाषाओं में लिङ्ग और वचन तीन-तीन हैं। जिस प्रकार संस्कृत, जेंद और लैटिन आदि प्राचीन भाषाओं में लिङ्ग और वचन तीन-तीन हैं, उसी प्रकार सेमिटिक भाषा अरबी और हिब्रू में भी लिङ्ग और वचन तीन-तीन हैं। अरबी में जब पुल्लिङ्ग का स्त्रीलिङ्ग बनाते हैं तब भी वही संस्कृत का नियम काम में लाया जाता है। जिस प्रकार संस्कृत में राम की रमा और कृष्ण की कृष्णा होती है वैसे ही अरबी में भी साहब की साहिबा, मलक की मलिका और मुकर्रम की मुकर्रिमा होती है। सेमिटिक और आर्यभाषाओं की ही भाँति आर्य और तुरानी व्याकरण में भी समानता मिलती है। तुरानी भेद के अन्तर्गत यूरल, अलताइक, तुंगलिक, मंगोलिक, तुर्की तथा तिलगू आदि हैं। इनमें से एक शाखा 'सामोपेडिक' है जो चीन देशान्तर्गत पैतिसी तथा ओब नदी के किनारे विस्तृत रूप से बोली जाती है। इस भाषा में संस्कृत की भाँति तीन वचन और आठ विभक्तियाँ हैं। इस प्रकार से व्याकरण के ये स्थूल नियम अब तक तीनों विभागों में एकसमान ही पाये जाते हैं जो तीनों की ऐक्यता का सबल प्रमाण हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि एक भाषा के भिन्न-भिन्न अनेक रूप होने के कारण क्या हैं?

भाषाओं की भिन्नता के कारण

यह मानी हुई बात है कि एक ही मूलभाषा अनेक कारणों से अनेक शाखाओं में फैलकर अनेक विभागों में बट जाती है। यहाँ हम कुछ उन कारणों का वर्णन करते हैं जिनसे भाषाओं में विभिन्नता उत्पन्न होती है। प्राय: देखा जाता है कि मूर्खों और विद्वानों के उच्चारणों का अन्तर

नवीन भाषा बनाने का कारण होता है। तीर्थयात्री प्रायः एक देश से दूसरे देशों में जाया करते हैं। उनमें विद्वान् और मूर्ख दोनों होते हैं। इसी प्रकार जिन तीर्थों में वे जाते हैं वहाँ भी विद्वान् और मूर्ख दोनों होते हैं। ऐसे स्थानों में इस बात का अच्छा पता मिलता है। यू०पी० के एक मूर्ख साधू ने नासिक के एक महाराष्ट्र पण्डित से कहा कि बच्चा 'दोगधाहार' कराओ। पण्डित घबराया कि यह दो गधों का खानेवाला कहाँ से आ गया। 'दोगधाहार' और 'दुग्धाहार' में अन्तर है, 'सूक्ष्म' और 'छुच्छिम' में जो अन्तर है, 'साङ्गोपाङ्ग' और 'सेंगापोंगा' में जो अन्तर है तथा 'टिकिट' और 'टिक्किस' में जो अन्तर है, वही अन्तर मूर्ख और विद्वानों की भाषा में समझना चाहिए। इसी अन्तर से दो भाषाओं का बनना आरम्भ होता है। हमारे एक मित्र अपने लड़के का नाम 'विक्रम' रखना चाहते थे, परन्तु उनके यहाँ मूर्खों में 'विकरमी' शब्द कुकर्मी या अकर्मी अर्थ में प्रचलित है, इसलिए उन्हें वह नाम रखने में संकोच होता था। हमारे यहाँ भी मूर्ख समुदाय में फिजूल को बेफजूल, वाहियात को बेवाहियात और खालिस को निखालिस कहने की चाल है। देहातियों और शहरातियों में, स्त्रियों और पुरुषों में मूर्खता के ही कारण भाषा में अन्तर रहता है। देहात की स्त्रियों की बातचीत शहर में रहनेवाले पुरुष अच्छी प्रकार नहीं समझते। जहाज़ के खलासी और अंग्रेजी फ़ौज के गोरों की अंग्रेजी समझने में महान् कठिनाई होती है, इसका कारण स्पष्ट है कि उनके उच्चारण शुद्ध—स्पष्ट नहीं होते। पुराने जमाने में अपभ्रष्ट उच्चारण को 'म्लेच्छ' उच्चारण कहते थे। अत्यन्त पुराकाल के कई प्रमाण मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि मूर्ख असुर आर्यों की भाषा का अशुद्ध उच्चारण करते थे। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि **'ते असुरा आत्त वचसो हेऽलवो हेऽलव इति',** अर्थात् असुर लोग हे आर्य! हे आर्य!! के स्थान में हे अलव! हे अलव!! कहते थे। महाभाष्य में भी लिखा है कि 'ते असुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः', अर्थात् असुर लोग हेलय! हेलय! कहते हैं। इन अशुद्ध उच्चारण करनेवालों को ही म्लेच्छ कहा जाता था, क्योंकि 'म्लेच्छ अव्यक्ते शब्दे' का यही तात्पर्य है कि जिससे शब्द उच्चारण शुद्ध न हो, वह म्लेच्छ है।

लिपि में अक्षरों की न्यूनता और अधिकता के कारण भी शब्दों का रूप बिगड़ता है। यूनानियों के पास चकार न होने से ही 'चन्द्रगुप्त' का नाम 'सेण्ड्राकोटस' लिखा गया और अरबी में 'चरक' का सरक बनाया गया। 'कोटपाल' का 'कोतवाल' और 'गोप' का 'गोबा' भी अरबी में 'प' अक्षर की कमी से ही हुआ है। इसी प्रकार 'कौपीन' का 'कफ़न' भी पकार के अभाव से ही हुआ है। 'चक्र' का 'चर्ख', 'यक्ष्म' का 'ज़ख्म' आदि भी अशुद्ध उच्चारणों के ही कारण हुए हैं। अमर्यादित उच्चारण भी ध्वनियों में न्यूनता और अधिकता उत्पन्न कर देते हैं। 'श्वशुर' का 'कुसर' और 'खुसर' अमर्यादित बढ़ी हुई ध्वनियों का ही फल है। 'क' के साथ एक अन्य 'क़' की, 'ख' के साथ एक 'ख़' की और ज के साथ 'ज' और ज़ की सृष्टि ने ही ध्वनियों को बढ़ाया है। बढ़ा हुआ हम इसलिए कहते हैं कि जब एक वर्ण के लिए एक ध्वनि विद्यमान थी, तब दूसरी ध्वनि व्यर्थ ही बनाई गई, परन्तु वास्तविक बात तो यह है कि ये बढ़ी हुई ध्वनियाँ भी किन्हीं दूसरे ही अक्षरों के लिए बनाई गई हैं। हम जब 'धनी' को 'ग़नी' होता हुआ देखते हैं तब हमें अनुमान करने का सहज रास्ता मिल जाता है कि 'ग' दूसरा 'ग़' नहीं है प्रत्युत 'ध' और 'घ' के स्थान में ही प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार 'ख' 'ख़' का द्वितीय नहीं, प्रत्युत ('यक्ष्म' में 'ज़ख्म' की भाँति) 'क्ष' के स्थान में प्रयुक्त हुआ है। हमारा यह अनुमान दक्षिण में जाने से अच्छी प्रकार पुष्ट हो जाता है। गुजराती और महाराष्ट्र अज़ीजखाँ को हमेशा 'अझीझखाँ' लिखते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आदि में ज और ज़ के उच्चारण 'झ' के स्थान में हुए हैं। इस विषय का एक बड़ा ही मनोरञ्जक उदाहरण उपस्थित है।

बंगाल के प्रसिद्ध विज्ञानाचार्य सर जगदीशचन्द्र बोस के नाम में जो बोस शब्द है वह संस्कृत के 'वसु' शब्द का अपभ्रंश है। बंगाली लोग 'व' का 'ब' और 'अ' का 'ओ' उच्चारण करते हैं, इसलिए 'वसु' शब्द 'बोस' हुआ। 'बोस' शब्द जब अंग्रेजी में लिखा गया तो गुजरात और महाराष्ट्र में रोज (Rose) की भाँति 'बोज' (Bose) पढ़ा गया। हम लिख चुके हैं कि गुजराती और महाराष्ट्र 'ज़' के उच्चारण को गुजराती और मरहटी में 'झ' लिखते हैं। इसलिए जब उन्होंने 'बोज़' को गुजराती या मरहटी में लिखा तो 'बोझ' बन गया। हम युक्तप्रान्तवालों के लिए यह बोझ ही है, परन्तु वे लोग वसु महाशय को जगदीशचन्द्र बोझ ही लिखते हैं। इस प्रकार देखते-देखते 'वसु' का 'बोझ' बन गया। इस उदाहरण से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि 'ज़' का उच्चारण 'झ' के स्थान ही में किया गया है। चीन का 'घोम' शब्द देखकर यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। चीनवालों ने 'होम' शब्द को 'घोम' किया है। इन उदाहरणों से स्पष्ट पाया जाता है कि ये बढ़े हुए उच्चारण भी दूसरे वर्णों के अपभ्रंश ही हैं, स्वतन्त्र वर्ण नहीं। यही अमर्यादित वृद्धि है। इससे भी नवीन शब्दों और नवीन भाषाओं की सृष्टि होती है।

उत्तम व्याकरण के न होने से भी भाषा अस्थिर रहती है और कुछ दिन के बाद उसका और का और रूप हो जाता है। सभी जानते हैं कि भारत की आधुनिक प्रान्तीय भाषाएँ संस्कृत से बिगड़कर बनी हैं, परन्तु संस्कृत का द्विवचन इन भाषाओं में नहीं है। तीन वचनवाली जेंदभाषा से ही फारसी, पश्तो और उर्दू का जन्म हुआ है, परन्तु उनमें भी दो ही वचन हैं। इसी प्रकार लेटिन आदि में भी तीन वचन थे, परन्तु उनसे निकली हुई भाषाओं में तीन वचन नहीं है। हिन्दी से देखते-देखते नपुंसकलिंग उठ गया, यद्यपि संस्कृत में है। इसी प्रकार सैकड़ों बातें हैं जो पहली भाषा की भाँति दूसरी में नहीं हैं। मूर्ख लोगों की भाषा में व्याकरण के उतने नियम नहीं होते जितने पढ़े-लिखे लोगों की भाषा में होते हैं। यही कारण है कि भाषा का रूप और-का-और हो जाता है। यद्यपि और-का-और हो जाता है, परन्तु परिश्रम से पता लगाने पर ज्ञात हो जाता है कि अमुक भाषा अमुक भाषा से निकली है, अथवा अमुक भाषा अमुक शाखा की है, परन्तु कुछ कारण ऐसे भी हैं जिनसे पता ही नहीं लगता कि इस शब्द से अथवा इस भाषा से अमुक शब्द या अमुक भाषा का कोई सम्बन्ध था।

नवीन शब्दों की रचना और कभी-कभी पूरी भाषा की ही रचना कर ली जाती है, जिससे एक भाषा से दूसरी का कुछ वास्ता ही नहीं रहता। आजकल जैसे व्यापारी लोग 'कोड वर्डस्' काम में लाते हैं और जिस प्रकार स्पेरेंटों भाषा नई उत्पन्न की गई है तथा जिस प्रकार सोनारी, सराफी और दलाली भाषाएँ बना ली गई हैं उसी प्रकार प्राचीन समय में भी राजनैतिक गुप्त कामों के लिए नवीन भाषाएँ उत्पन्न कर ली गई थीं। वाल्मीकि रामायण के हनुमान् ने और महाभारत के 'खनक' ने ऐसी ही भाषाओं से काम लिया था। ऐसे शब्द और भाषाएँ जब प्रचलित हो जाती हैं तब उनके शब्द और वाक्य दूसरी भाषाओं में भी घुस जाते हैं, जिनका तुलनात्मक दृष्टि से अनुसन्धान करने में कठिनाई होती है। 'लेडी फिंगर' (भिंडी) और 'सोपनट' (रीठे) को कैसे दूसरी भाषाओं से मिलाया जाए? कैसे चन्द्रकान्ता उपन्यास के 'चोटी-टोटी' वाक्य का क्या अर्थ किया जाए? कुछ भी उपाय नहीं है। मूत्र के लिए 'पेशाब', अर्थात् सामने का पानी जिसने नियत किया है वह बहुत ही जंगली दशा में होगा। उसके पास मूत्र के लिए शब्द नहीं था। अब यदि कोई इस शब्द की तुलना करने के लिए किसी भाषा में कोई शब्द ढूँढे तो नहीं पा सकता। ऐसी दशा में प्राय: लोग कहने लगते हैं कि यह भाषा स्वतन्त्र भाषा है अथवा अमुक शब्द किसी अन्य भाषा का है। सच है, इस प्रकार की भाषाएँ स्वतन्त्र ही हैं और ऐसे शब्द

स्वतन्त्र भाषा के ही हैं। स्वतन्त्र भाषा, भाषा नहीं है वह मनुष्य की कारीगरी है। भाषा तो सदैव परतन्त्र होती है। वह माँ-बाप या बाल-स्नेहियों के अधीन होती है और उन्हीं से मिलती है। वही परतन्त्र भाषा जो वंशपरम्परा से मनुष्यजाति को मिल रही है तुलना में ठीक उतरती है, परन्तु जहाँ राजनैतिक और अन्य काल्पनिक स्वतन्त्र भाषाएँ आ जाती हैं, वहाँ तुलना-शास्त्र की कुछ नहीं चलती।

भाषापार्थक्य का एक साधारण कारण और है। वह है अन्य भाव से अन्य भाव के शब्दों का आयोजन। जैसे संस्कृत में पीले को पीत या पिंगल कहते हैं। अंग्रेजी का पेल (Pale) शब्द इसके साथ तुलना में उतर जाता है। पीला और पेल की तुलना हो जाती है और प्रतीत होता है कि दोनों का परस्पर कुछ सम्बन्ध है, परन्तु फारसी के 'जर्द' शब्द की तुलना 'पीत', 'पीला' या 'पेल' से नहीं की जा सकती। फारसीवालों ने रंग से इस शब्द का अनुवाद नहीं किया है। पीत रंग हरिद्रा (हल्दी) से मिलता है। हरिद्रा का ही जरिद्र=जर्द बनाकर पीत के स्थान में लगा दिया गया है। ऐसे टेढ़े ढंग से जो शब्द बने हैं उनका भी पता नहीं लगता और तुलना नहीं हो सकती।

कभी-कभी कोई प्रचलित शब्द एक शाखा से लुप्त हो जाता है, परन्तु दूसरी शाखा में बना रहता है। भाषाविज्ञानी शब्दों के मिलान के समय जब उसका पता नहीं पाता तब समझता है कि शब्द नवीन है। हम देख रहे हैं कि दो-चार शब्द हमारी ग्रामीण भाषा से जा रहे हैं, जैसे—पहित, पिसान आदि। पिसान के स्थान पर आटा और पहित के स्थान पर दाल का प्राधान्य हो रहा है। कुछ दिन में ये दोनों शब्द हिन्दी से चले जाएँगे। तुलना की दृष्टि से ये उदाहरण बड़े काम के हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यह है कि भाषापार्थक्य के यही अथवा इसी प्रकार के अन्य अनेक कारण हैं, परन्तु इन सब कारणों में मुख्य बात उच्चारण वैचित्र्य और नवीन शब्दों का आविष्कार है। मूर्ख मनुष्य उच्चारणों को बिगाड़ते हैं और विद्वान् मनुष्य नवीन शब्दों की सृष्टि करते हैं। इन्हीं दो कारणों से मूलभाषाओं के अनेक भेद होते-होते इतनी दूर निकल जाते हैं कि जिससे ज्ञात ही नहीं होता कि कभी ये विभाग एक थे, किन्तु भाषाशास्त्र के तुलनात्मक सिद्धान्त से पृथक्-पृथक् विभागों के मूल का पता लगा लिया जाता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि मूलभाषा कौन थी।

मूलभाषा

यह देखा जाता है कि जिस भाषा में अधिक और क्लिष्ट उच्चारण होते हैं उससे जब कोई दूसरी भाषा पृथक् होकर नवीन रूप धारण करती है तब उसके दो रूप होते हैं, एक मूर्खों का दूसरा पढ़े-लिखों का। पढ़े-लिखे उसके समस्त उच्चारणों को स्वीकार करते हैं, परन्तु मूर्ख और असभ्य उसके क्लिष्ट उच्चारणों को छोड़ देते हैं। उनसे क्लिष्ट उच्चारण करते बनता ही नहीं। इससे उनकी भाषा में ध्वनियाँ संकुचित हो जाती हैं और थोड़ी रह जाती हैं, अर्थात् मूर्खों की भाषा में ध्वनियाँ कम और विद्वानों की भाषा में पूरी होती हैं। इन असभ्यों, अर्थात् कम उच्चारणवालों में जब विद्या—सभ्यता—उत्पन्न होती है और विद्वानों की सृष्टि होती है तब इनमें समस्त बातों की वृद्धि होती है—धन-दौलत, बल-बुद्धि, ज्ञान-विज्ञान और राजपाट बढ़ता है, परन्तु उनकी भाषा में उच्चारणों की वृद्धि नहीं होती। शब्दों की तो वृद्धि होती है, कोश बढ़ जाता है, परन्तु ध्वनियों की—उच्चारणों की वृद्धि नहीं होती। यूरोप में ये दोनों नमूने विद्यमान हैं। सभी जानते हैं कि यूरोप की भाषाएँ आर्यभाषाओं से ली गई हैं। जिस समय ये भाषाएँ ली गई थीं उस समय भी आर्यभाषाओं में विस्तृत वर्णमाला थी—विस्तृत उच्चारण थे, परन्तु यूरोपवालों के पूर्वज असभ्य थे और क्लिष्ट उच्चारण नहीं कर सकते थे, इसलिए उनकी भाषा संकुचित हो गई और

ध्वनियाँ कम हो गईं। ४७ ध्वनियों के स्थान में २६ ही ध्वनियाँ रह गईं। आजकल यूरोपवालों ने हर विषय में उन्नति की है, परन्तु उच्चारणों में उन्नति नहीं हुई। वे 'तुम' के स्थान में अब भी 'टुम' ही कहते हैं।

यही हाल यहाँ के मूर्खों में भी देखा जाता है। मूर्ख 'सूक्ष्म' को सदैव 'छुच्छिम' कहते हैं। उनसे 'क्ष' का उच्चारण चला गया है। जो लोग 'वर्षा' को 'बरखा' कहते हैं उनसे भी 'ष' का उच्चारण लुप्त हो गया है। इसी प्रकार 'ज्ञान' को 'ग्यान' कहनेवालों से भी 'ज्ञ' का उच्चारण जाता रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि मूर्खता—असभ्यता ध्वनियों को कम तो कर देती है, परन्तु सभ्यता और विद्वत्ता ध्वनियों को बढ़ा नहीं सकती। इससे यह सिद्ध हुआ कि विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारण मौलिक हैं और संकुचित तथा सरल उच्चारण अपभ्रंश हैं—परिवर्तन हैं, अर्थात् जिन भाषाओं में अधिक और क्लिष्ट ध्वनियाँ हैं, वे सभ्यों की हैं, प्राचीन हैं और मौलिक (असल) हैं, परन्तु जिन भाषाओं में कम और सरल ध्वनियाँ हैं वे मूर्खों की हैं, नवीन हैं और अपभ्रंश हैं। इस कसौटी से हम देखते हैं कि वैदिक भाषा की वर्णमाला संसार की समस्त भाषाओं से विस्तृत, विज्ञानपूर्ण और क्लिष्ट है, अतः सिद्ध है कि वही प्राचीन है, मौलिक है, ज्ञानियों की है और असल है, शेष समस्त भाषाएँ उसी की बिगड़ी हुई शाखा और प्रशाखा हैं।

वैदिक भाषा ही मूलभाषा है

संसार में जितनी भाषाएँ हैं उन सबसे अधिक विस्तृत, पूर्ण और क्लिष्ट उच्चारण वेदभाषा में ही हैं। यहाँ हम संसार की सभी प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भाषाओं की ध्वनियों की संख्या लिखकर दिखलाते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि सबसे अधिक उच्चारण वेदभाषा में ही हैं। चीनीभाषा में २०४, संस्कृत में ४७, रूसीभाषा में ३५, फारसी में ३१, तुर्की और अरबी में २८, स्पेनिश में २७, अंग्रेज़ी में २६, फ्रेंच में २५, लेटिन और हिब्रू में २० और बाल्टिक में १७ ध्वनियाँ हैं। इन संख्याओं से प्रकट हो रहा है कि वैदिकभाषा की ही वर्णमाला विस्तृत है। यद्यपि देखने में चीनी भाषा की उच्चारण संख्या बड़ी है, परन्तु वह यथार्थ में बड़ी नहीं है। चीनीभाषा में जो २०४ ध्वनियाँ हैं वे थोड़ी-सी ही ध्वनियों का विस्तार हैं। जिस प्रकार हमारा एक 'क' क्, क, का और का३ रूप से चार प्रकार का है इसी प्रकार उनकी भी कुछ ध्वनियाँ अपने अनेक रूपों के कारण २०४ तक पहुँचती हैं। हम यदि इस प्रकार का विस्तार करें तो एक ही वर्ण हल्, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत भेद से चार प्रकार का, उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से १२ प्रकार का और अनुनासिक और सानुनासिक भेद से २४ प्रकार का होता है। हमारी वर्णमाला में ४७ ध्वनियाँ हैं। इनको यदि २४ से गुणा करें तो समस्त ध्वनियाँ एक हज़ार से भी अधिक हो जाती हैं। दूसरी भाषाओं की जो ध्वनियाँ लिखी हैं, वे भी एक ही उच्चारण के कई भेदों के साथ लिखी हैं। अँग्रेजी की २६ ध्वनियाँ प्रसिद्ध हैं, परन्तु 'के', 'क्यू' और 'सी' के उच्चारण एक ही हैं। 'जे' और 'जेड' का उच्चारण भी एक ही है। यदि ये अक्षर भी निकाल डाले जाएँ तो वर्ण बहुत ही थोड़े रह जाएँगे। इसी प्रकार फ़ारसी में अलिफ और ऐन; जीम, जाल, जे, जे, ज्वाद, और ज़ोए; सीन, शीन, स्वाद और से आदि उच्चारण एक ही ध्वनि के बोधक हैं। यदि ये सब निकाल डाले जाएँ तो इसमें भी बहुत ही थोड़ी ध्वनियाँ रह जाएँगी। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिक वर्णमाला की भाँति संसार की किसी भाषा में विस्तृत वर्णमाला नहीं है। जिस प्रकार संस्कृत की वर्णमाला विस्तृत है, वैसी ही संसार की समस्त ध्वनियों से वह क्लिष्ट भी है। ऋ, ऌ, ष, क्ष, ज्ञ, घं, छ, ढ, ध, भ, ङ, ञ, ण, ळ और ळ्ह आदि ऐसे उच्चारण हैं जो दूसरे देशवालों से कहते ही नहीं बनते। दूसरों को जाने दीजिए, हमारे देश में ही करोड़ों मनुष्य ऐसे हैं जिनसे ङ, त्र, ऋ, ऌ, ज्ञ

और ळ आदि के उच्चारण ठीक–ठीक नहीं होते। यहाँ हम कुछ नमूने दिखलाते हैं जिनसे स्पष्ट हो जाएगा कि आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाएँ किस प्रकार संस्कृत के विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारणों को छोड़–छोड़कर संकुचित और सरल उच्चारणों की ओर दौड़ रही हैं—

लुप्ताक्षर	संस्कृतरूप	अपभ्रंश	अर्थ
ऋ	ऋत	राइट	सत्य
घ	मेघ	मेह	बादल
च	चरक	सरक	वैद्यक का ग्रन्थ
च	चन्द्रगुप्त	सेण्ड्राकोटस	नाम
च	वनचर	बनजर	जमीन
छ	छाया	साया	परछाईं
ट	विष्टर	बिस्तर	बिछौना
ट	उष्ट्र	उश्तर	ऊँट
थ	स्थान	स्तान	जगह
द	द्वौ	टवौ (two)	दो
ध	धनी	ग़नी	धनवान्
ध	विधवा	विडव (widow)	विधवा
ध	सिन्धु	हिन्दू	देश
ध	बुद्ध	बुत	नाम
ध	दधि	दोग़	दही
प	अप	आब	पानी
प	कोटपाल	कोतवाल	कोतवाल
प	गोप	गोबा	अहीर
प	कौपीन	कफ़न	कपड़ा
भ	गृभ	ग्रिफ़्त	पकड़ना
भ	भ्रातर	ब्रादर	भाई
भ	अभ्र	अब्र	बादल
भ	भ्रू	ब्रो	भौंह
भ	भ्रष्ट	वर्स्ट	खराब
ष	पुष्ट	पुख्ता	मजबूत
ष	हृष्ट	सख्त	मजबूत
ह	होम	घोम	हवन
क्ष	क्षुद्र	खुर्द	छोटा
क्ष	क्षत	खत	घाव
क्ष	यक्ष्म	ज़ख़्म	घाव
क्ष	उक्ष	ऑक्स	बैल
क्ष	वक्ष	बॉक्स	सन्दूक
ज्ञ	ज्ञा	क्नॉ (know)	ज्ञान

समस्त आर्यभाषाओं में 'ऋ', 'ष' और टवर्ग का संकोच दिखलाई पड़ता है। जैसे अंगुष्ठ

का अंगुश्त, शृगाल का शगाल, कृमि का किरम, कर्ष का कश, क्षीर का शीर और ऋत का राइट। सेमिटिक भाषाओं में भी संकोच दिखलाई पड़ता है, जैसे—षष्ठ का सित्ता, सप्त का सब्बा, भ्रम का वहम और द्यौ का यो आदि। इसी प्रकार तुरानी भाषाओं में भी संकोच हुआ है, जैसे—स्थान का तान, उक्ष का ओउशी, केश का के, अम्बुद का मब्बु, गौ का औ और उडुप का ओड आदि।

इन उदाहरणों से स्पष्ट हो रहा है कि संसार की समस्त भाषाओं के तीनों विभाग वैदिक भाषा से ही निकले हैं। तीनों विभागों में एक ही महान् नियम के अनुसार परिवर्तन हो रहा है—तीनों विभाग विस्तार से संकुचित और क्लिष्ट से सरल हो रहे हैं। यद्यपि यह नियम अबाधित है कि जब दो भाषाओं के एक रूप और एक अर्थवाले शब्द मिलें तो उनमें जो क्लिष्ट हो—सघोष हो वह मूलभाषा का और जो सरल हो—अघोष हो वह अपभ्रष्ट भाषा का है। जैसे धनी और ग़नी शब्द एक ही रूप और अर्थ के हैं, इनमें धनी मूलभाषा का और ग़नी अपभ्रष्ट भाषा का है, क्योंकि ग़नी से धनी सघोष होने के कारण क्लिष्ट है, तथापि इसमें यह अपवाद है कि जिन भाषाओं में अघोष-सघोष दोनों प्रकार के उच्चारण हैं उनमें कभी-कभी सरल उच्चारण क्लिष्ट हो जाते हैं और अघोष-सघोष हो जाते हैं। जैसे चीन में 'होम' का 'घोम' हो गया है। यद्यपि 'ह' से 'घ' क्लिष्ट है, परन्तु चीनी भाषा में 'घ' का उच्चारण हो सकता है, इसलिए वहाँ सरल उच्चारण क्लिष्ट हो गया है। भारतीय आधुनिक भाषाओं में ये उदाहरण बहुत ही स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं। अंग्रेजी के दी, दीज, दैट, दोज को गुजराती लोग धी, धीज, धो, धोज कहते हैं और अंग्रेजी के 'वर्ब' और 'वर्नाक्यूलर' को बंगाली लोग 'भर्व' और 'भर्नाक्यूलर' कहते हैं। इसका कारण यही है कि गुजराती और बंगालियों की भाषा में वे सघोष और क्लिष्ट अक्षर विद्यमान हैं, परन्तु जिनकी भाषा में क्लिष्ट उच्चारण नहीं है, वे क्लिष्ट उच्चारणों को सरल कर डालते हैं। कलकत्ते के चीना बाजार में आप जूता पहनने के लिए जाइए। आपसे चीना तुरन्त कहेगा कि 'अलाई लुपया लोगा'। वह अढ़ाई रुपया नहीं कह सकता, क्योंकि 'ढ़' उसकी भाषा में नहीं है। ढ क्लिष्ट है, इसलिए वह इसे 'ल' करके सरल कर लेगा। ज्ञात हुआ कि क्लिष्ट और विस्तृतभाषा मूल है, सरल तथा संकुचित भाषाएँ अपभ्रष्ट हैं। वेदभाषा मूल है और अन्य भाषाएँ अपभ्रष्ट हैं, अतएव अब प्रश्न है कि क्यों दूसरी भाषाएँ संकुचित और सरल हो गईं और क्यों वेदभाषा अब तक वैसी ही बनी हुई है। आगे भाषापरिवर्तन के नियमों की जाँच करते हैं।

भाषापरिवर्तन के नियम

भाषापरिवर्तन का सिद्धान्त सर्वमान्य है। कोई भाषा, यदि उसकी रोकथाम का अच्छा प्रबन्ध न हो तो कुछ काल के पश्चात् परिवर्तित हो जाती है। किस क्रम से परिवर्तन होता है इस बात को पाश्चात्य विद्वान् अब तक निश्चित नहीं कर सके। डॉक्टर मंगलदेव कहते हैं कि 'कालान्तर में वही भाषा इतनी परिवर्तित हो जाती है कि उसके एक रूप को जाननेवाला उसके दूसरे रूप को आसानी से नहीं समझ सकता (पृ० १०४)। यह परिवर्तन कहाँ तक किस-किस प्रकार का हो सकता है, इसका कोई निश्चित नियम नहीं है (पृ० १५७)। इस प्रकार ज्ञात किये गये साधारण सिद्धान्त सम्भव है पीछे से अन्य परिवारों से सम्बन्ध रखनेवाली भाषाओं के अध्ययन से कुछ अंशों में बदलने पड़ें (पृ० १४५)। प्रत्येक भाषा में वर्णविकारसम्बन्धी नियम विशेष-विशेष हो सकते हैं (पृ० १५२)।

जब परिवर्तन के नियम ज्ञात नहीं हो सकते, जब यह ज्ञात नहीं हो सकता कि दो कुटुम्बों की भाषाओं की विभिन्नता के बीच में क्या-क्या सिद्धान्त काम कर रहे हैं तब भाषाओं का वर्गीकरण किस आधार से किया जा सकता है? और कैसे संसार की भाषाओं की ऐक्यता

स्थापित हो सकती है ? इस प्रश्न पर विचार करते हुए वर्गीकरण के प्रकारों के विषय में डॉक्टर साहब लिखते हैं कि 'भाषाओं का वर्गीकरण दो प्रकार से किया जाता है। एक तो उनकी आकृति या रचना की समानरूपता की दृष्टि से (आकृतिमूलक वर्गीकरण) और दूसरे उनकी उत्पत्ति या परिवार की एकता की दृष्टि से (पारिवारिक या उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण)। पहली दृष्टि में भाषाओं के इतिहास आदि की ओर ध्यान न देकर उनके शब्दों के रूप, आकृति या सामान्य रचना को ही देखकर वर्गीकरण किया जाता है (पृ० २३८)। दूसरे प्रकार के वर्गीकरण का मुख्य आधार भाषाओं के वास्तविक ऐतिहासिक सम्बन्ध पर होता है' (पृ० २३८)।

आपके कहने का तात्पर्य यह है कि भाषाओं के वर्ग समानरूपता और ऐतिहासिक खोज पर निर्भर हैं। खोज की असम्भावना पर विचार करते हुए आप लिखते हैं कि 'वर्त्तमान शब्दों के मूल शब्दों की खोज के लिए उनका किसी प्राचीन साहित्यिक भाषा या साधारण प्राचीन लेखों में पाया जाना आवश्यक है। ऐसा न होने पर मूल शब्दों का वास्तव में क्या-क्या रूप था यह कहना कठिन या असम्भव-सा होता है। जिन भाषाओं में प्राचीन लेख नहीं मिलते, उनमें आधुनिक स्थानीय और प्रान्तीय बोलियों की तुलना से हमें उन भाषाओं के अधिक प्राचीन स्वरूप का ज्ञान नहीं हो सकता, केवल साधारण इतिहास का अनुमान किया जा सकता है (पृ० १५१)। शब्दों की तुलना करते हुए हमें उनके अर्थ की समानता पर भी ध्यान देना चाहिए। शब्दों के इतिहास के अनुसन्धान में शब्द और अर्थ का घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस बात को न भूलना चाहिए। शब्द और अर्थ भाषा के बाह्य और अन्तरीय रूप हैं' (पृ० १५०)।

आपके कहने का तात्पर्य यह है कि जब तक किसी भाषा का लेख न मिले और उस लेख का अर्थ समझ में न आ जाए तब तक उसकी ऐतिहासिक खोज नहीं हो सकती। संसार में ऐसी सैकड़ों प्राचीन भाषाएँ हैं जिनके लेख नहीं मिलते। इसी प्रकार अनेक ऐसे लेख हैं जिनका पढ़ना कठिन है। ऐसी अवस्था में दूसरे प्रकार की खोज से, जिसको ऐतिहासिक खोज कहते हैं, भाषाओं का वर्गीकरण करना नितान्त दुस्साध्य है। इसकी दुरूहता भाषाविज्ञानी भी अनुभव करते हैं। डॉक्टर साहब पृष्ठ २३९ पर कहते हैं कि 'उपर्युक्त लेख से यह स्पष्ट है कि भाषाओं का पारिवारिक या उत्पत्तिमूलक वर्गीकरण करना कोई सरल बात नहीं है'।

ठीक है। सरल ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। सब भाषाओं का प्राचीन साहित्य कहाँ मिल सकता है और कौन उन प्राचीन भाषाओं के अर्थों को जान सकता है ? वैदिक भाषा लिपिबद्ध प्रस्तुत है, परन्तु आज अर्थ करने में महान् कठिनता हो रही है। इस कठिनता के अतिरिक्त दूसरी आपत्ति यह है कि जो भाषाएँ एक-दूसरी से न मिलकर किसी हेतु से बिलकुल ही नवीन कल्पित की गई हैं, उनका इतिहास कहाँ से आ जाएगा ? इसलिए यह ऐतिहासिक खोज ही त्याज्य है। हमारी इस बात को भाषाविज्ञानी भी मानते हैं। डॉक्टर मंगलदेवजी कहते हैं कि 'भाषाओं के परस्पर सम्बन्ध के पता लगाने या उनको उनके सम्बन्ध के अनुसार भिन्न-भिन्न वर्गों में बाँटने के लिए साधारण दृष्टि से सबसे पहली प्रक्रिया यह समझी जा सकती है कि उन भाषाओं के शब्दों की तुलना की जाए (पृ० २४३)। भाषाओं की तुलना करने में हमें सबसे प्रथम उनके व्याकरण की तुलना करनी चाहए (पृ० १४७)। व्याकरण और रचना की तुलना के द्वारा भाषाओं के सम्बन्ध के नियम निर्धारित हो जाने पर हम उनके शब्दों की तुलना कर सकते हैं। शब्दों की तुलना करने में सबसे पहले उन शब्दों की तुलना करनी चाहिए जो या तो संख्यावाचक शब्दों की भाँति स्थिर अर्थ रखनेवाले हों या सम्बन्धवाचक (पिता, माता आदि) और प्रतिदिन व्यवहार में आनेवाले हों' (पृ० १४९)। इस राय से हम सहमत हैं। हम भी यही

कहते हैं कि व्याकरण, गिनती, सम्बन्धियों के नाम और अन्य व्यावहारिक शब्दों की समता देखकर ही भाषाओं के वर्ग बनाने चाहिएँ और कल्पित भाषाओं को छोड़ देना चाहिए, क्योंकि शब्दसाम्य से यह अच्छी प्रकार विदित हो जाता है कि किस भाषा का सम्बन्ध किससे है, कौन भाषा विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारणों को छोड़कर संकुचित और सरल उच्चारणों की ओर जा रही है और कौन मूल तथा कौन अपभ्रष्ट है। आगे हम समस्त प्रधान-प्रधान भाषाओं के शब्दसाम्य को विस्तारपूर्वक लिखते हैं।

संस्कृतभाषा

यह सर्वमान्य है कि संस्कृतभाषा वेदभाषा से निकली है, परन्तु संस्कृत को यह वर्त्तमान रूप कई रूप बदलने पर मिला है। जो लोग समझते हैं कि वेदभाषा और संस्कृतभाषा में कुछ अन्तर नहीं है, वे ग़लती पर हैं। पूर्वकाल में जिस समय वैदिक भाषा बोली जाती थी, उसी समय विद्वान् और मूर्खों के सम्मेलन, देशाटन और देशकाल की अन्य परिस्थितियों के कारण उस भाषा की कई शाखाएँ बन गई थीं और अपभ्रष्ट होकर चार बड़े विभागों में बट गई थीं—१. वह शाखा जिससे बिगड़कर तुरानी भाषाएँ हुई हैं। २. वह शाखा जिससे बिगड़कर सेमिटिक भाषाएँ हुई हैं। ३. वह शाखा जिसकी उपशाखाएँ आर्यभाषाएँ हैं और इन तीनों के अतिरिक्त एक और चौथी ४. शाखा विद्वानों ने बना ली थी जो स्पेरेंटो या कोडवर्ड्स की भाँति प्राचीन काल में राजनैतिक कामों के लिए प्रयोग में लाई जाती थी। संसार में इन्हीं चार मार्गों से भाषाधारा का प्रवाह बहा है। इन चारों में से प्रथम की तीनों शाखाएँ एक ही हैं जैसाकि पिछले वर्णनों से ज्ञात हो चुका है। चौथे प्रकार की भाषाओं और उनकी शाखा-प्रशाखाओं अथवा उनसे आये हुए शब्दों का मिलान उपर्युक्त तीनों शाखाओं से नहीं हो सकता, परन्तु आर्य, सेमिटिक और तुरानी भाषाओं का मिलान हो जाता है। अभी थोड़ी ही देर पहले हम दिखला आये हैं कि अपने विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारणों के कारण वेदभाषा ही मूल है। संस्कृतभाषा का विकास उसी मूल वेदभाषा से हुआ है, इसलिए यहाँ हम देखना चाहते हैं कि वेदभाषा और संस्कृतभाषा में क्या अन्तर है, उसकी पुत्री होते हुए भी वह उससे कितनी भिन्न है।

(१) वेदभाषा का व्याकरण संस्कृतभाषा से भिन्न है। संस्कृत में अकारान्त पुल्लिङ्ग द्विवचन में 'औ' होता है, जैसे 'रामौ', किन्तु वेद में 'आ' है। यदि संस्कृत और वेदभाषा एक ही होती तो संस्कृत के व्याकरणानुसार वेद में '**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**' के स्थान में '**द्वौ सुपर्णौ सयुजौ सखायौ**' होता।

(२) वेद में एक लकार अधिक है, जिसे लेट लकार कहते हैं। यह संस्कृत में ही क्या संसारभर की किसी भाषा में नहीं है।

(३) वेदभाषा में एक अक्षर अधिक है जो संस्कृतसाहित्य में नहीं आता। वह अक्षर 'ळ' है और '**अग्निमीळे पुरोहितम्**' इत्यादि मन्त्रों में आता है।

(४) वेदभाषा अपना अर्थ स्वरों से पुष्ट करती है। यह कौशल संसार की किसी भाषा में नहीं है।

(५) वेदों के बहुत-से शब्द जिस अर्थ में आते हैं, वही शब्द संस्कृत में उस अर्थ में नहीं आते, यथा—

वेद-शब्द	**संस्कृत-अर्थ**	**वैदिक-अर्थ**
अहि	सर्प	मेघ
अद्रि	पहाड़	मेघ

वेद-शब्द	संस्कृत-अर्थ	वैदिक-अर्थ
गिरि	पहाड़	मेघ
पर्वत	पहाड़	मेघ
अश्मा	पाषाण	मेघ
ग्रावा	पाषाण	मेघ
घृताची	वेश्या	रात्रि
वराह	शूकर	मेघ
धारा	जलप्रवाह	वाणी
विप्र	ब्राह्मण	बुद्धिमान्
गौतम	ऋषि	चन्द्रमा
अहल्या	ऋषिपत्नी	रात्रि
इन्द्र	एक राजा	सूर्य
जमदग्नि	एक ऋषि	आँख

(६) वेदों के बहुत-से शब्द संस्कृत में अपभ्रष्ट हो गये हैं, यथा—

वेद-शब्द	संस्कृत-अर्थ	वैदिक-अर्थ
स्याल	श्याल	साला
सूर्प	शूर्प	सूप
सूकर	शूकर	सुअर
वसिष्ठ	वशिष्ठ	उत्तम, स्वर्ग
विकासते	विकाशते	विकसित होना
कोस	कोष	खज़ाना
सरल	शरल	एक वृक्षविशेष
वेस	वेश	बाना

(७) वेदभाषा जहाँ अपने विकृत रूप से जगद्व्यापी होकर इतने काल के बाद अब भी संसार की समस्त भाषाओं में अपना दर्शन करा रही है, वहाँ अपने अन्दर भी अभी नमूने के लिए ऐसे शब्द रक्षित किये हुए है जिनको देखकर यही प्रतीत होने लगता है कि ये शब्द बाहर के हैं, जैसे जर्फरी, तुर्फरी, जङ्गिड और वञ्च आदि। जर्फरी, तुर्फरी शब्द अरबी-फारसी के-से ज्ञात होते हैं, जङ्गिड मद्रास प्रान्त का-सा शब्द ज्ञात होता है और वंच चीनाई साँचे का-सा शब्द है[१]।

इस घटना से अनुमान करना सहज है कि वैदिक काल में जो भाषा बोली जाती थी उसमें ऐसे शब्द विद्यमान थे जो सेमिटिक आदि से अधिक मिल जाएँ और यह भी सम्भव-सा होने लगता है कि ऐसे ही शब्दबाहुल्य ने भाषाभेद भी कर दिया हो, किन्तु आज उस समय की भाषा केवल उतनी ही रह गई है जितने में ईश्वर का दिया हुआ ज्ञान (वेद) है। शेष व्यावहारिक शब्द

१. जर्फरी' और 'तुर्फरी' ऋग्वेद १०।१०६ में, 'जंगिड' अथर्व १९।३४।३ में और 'वंच' अथर्व ४।१६।२ में है।

जिनसे लोग अनेक व्यावहारिक कार्य चलाते थे, लुप्त हो गये हैं अथवा अन्य भाषाओं में समा गये हैं तथापि जिस प्रकार पुत्री को देखकर माता के पहचानने में सुगमता होती है उसी प्रकार माता को देखकर पुत्री भी सहज में ही ज्ञात हो जाती है। आज वेदभाषा अपना रूप सब भाषाओं में और सबका रूप (जर्फरी, तुर्फरी आदि) अपने अन्दर दिखलाकर बड़े ज़ोर से घोषणा कर रही है कि मैं आदिभाषा हूँ, मैं ही सब भाषाओं की माता हूँ और मैं ही संसार में ज्ञान का प्रकाश करनेवाली वेदविद्या हूँ। वेदों में जिस प्रकार के शब्द (जर्फरी, तुर्फरी आदि) विद्यमान हैं उस प्रकार के—उस ढाँचे के शब्द संस्कृतसाहित्य में नहीं हैं। इससे सिद्ध है कि वैदिक भाषा संस्कृत से पृथक् है, परन्तु यदि उससे कोई भाषा मिलती है, उसके निकट है तो वह संस्कृत ही है।

ज़न्दभाषा

आर्यभाषाओं में दूसरा नम्बर जन्दावस्था का है[१]। पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि जिस प्रकार वैदिक धर्म की बहुत-सी बातें इसमें मिलती हैं, उसी प्रकार वेदों के शब्द भी मिलते हैं, अत: वेदभाषा और जन्दभाषा समकालीन ही हैं, परन्तु हम पहले ही लिख आये हैं कि संस्कृत ही जब वेदभाषा से दूर है तब जन्दभाषा वेदों की समकालीन कैसे हो सकती है? जन्दभाषा संस्कृत का ही अपभ्रंश है। हम यहाँ जन्द और वेदभाषा के दो प्रचलित मुहाविरे देते हैं और दिखलाते हैं कि दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर है। 'बिज़ंग्रा' और 'चथ्वारे ज़ंग्रा' पद जन्दावस्था में आये हैं, परन्तु वेद में वे ही 'द्विपद:' और 'चतुष्पद:' कहे गये हैं। भाव तो एक है, परन्तु शब्द और योजना बिलकुल पृथक् है। जन्द में जंघा के स्थान में 'ज़ंग्रा' आता है और वेद में उसी भाव के लिए 'पद' आता है। इसके अतिरिक्त 'द्वि' का 'वि' 'जंघा' का 'ज़ंग्रा' और 'चत्वारि' का 'चथ्वारे' हो गया है। यह सब होने में कितने दिन लगे होंगे इसका सहज ही अनुमान किया जा सकता है। नीचे हम जन्दभाषा का एक पूरा श्लोक देकर दिखलाते हैं कि वेदभाषा में और जन्दभाषा में कितना अन्तर है।

यथा अहु वइर्यो अथा रतुश अशात् चित् हचा बंहेउश दजदा मनंहो श्क्यो थ्निनम् अंहेउश मज़दाई ख्षथ्रेम चा आहुराई आइम द्रिगुव्यो ददात् वास्तारेम नमसेते अहुरा मज़दा थ्रीश्ची परो अन्याइश दामं।

इसको सुनकर क्या यह ज्ञात हुआ कि हम वेद सुन रहे हैं? अथवा क्या यह ज्ञात हुआ कि हम संस्कृत सुन रहे हैं? नहीं। यह अवश्य ज्ञात हुआ कि यथा, अथ, चित, मनं, क्षत्रेम्, चा, ददात् और नमसेते आदि शब्द संस्कृत से मिलते हैं, परन्तु वे भी बिगड़ी हुई दशा में ही हैं। शेष शब्द तो इतने अपभ्रष्ट हैं कि ज्ञात ही नहीं होता कि इनका भी आर्यभाषाओं से कोई सम्बन्ध है। नीचे दिये हुए शब्दकोष से स्पष्ट होता है कि जन्दभाषा वेद की समकालीन नहीं, प्रत्युत संस्कृत का अपभ्रंश है।

संस्कृत	**जन्द**	**अर्थ**
	(संस्कृत 'स' जन्द में 'ह' हो गया है)	
असुर	अहुर	परमेश्वर
सोम	होम	वनस्पति
सप्त	हप्त	सात
सेना	हेना	फ़ौज

१. ज़न्दावस्था भाषा का नाम नहीं, प्रत्युत पारसियों के प्राचीन साहित्य का नाम है।

संस्कृत	जन्द	अर्थ
	(संस्कृत 'ह' जन्द में 'ज' हो गया है)	
हस्त	जस्त	हाथ
होता	जोता	हवन करनेवाला
आहुति	आजुति	आहुति
बाहु	बाजु	हाथ
अहि	अजि	सर्प
	(संस्कृत 'ज' जन्द में 'ज़' हो गया है)	
जानु	ज़ानु	घुटना
वज्र	वज़्र	मेघ, वज्र
अजा	अज़ा	बकरी
जिह्वा	हिज़्वा	जबान (जीभ)
	(संस्कृत 'श्व' जन्द मे 'स्प' हो गया है)	
विश्व	विस्प	संसार (सब)
अश्व	अस्प	घोड़ा
	(संस्कृत 'श्व' जन्द में 'क़' हो गया है)	
श्वसुर	क़ुसुर	ससुर
स्वप्न	क़फ़्न	सपना
	(संस्कृत 'भ' ध, छ, जन्द में फ, ज़, ज हो गये हैं)	
गृभ	ग्रिफ़्त	पकड़ना
गोमेध	गोमेज़	खेती, ज़मीन सुधारना, ज्ञान
छन्द	ज़न्द	अथर्ववेद
	(बहुत से शब्द ज्यों-के-त्यों भी हैं)	
पशु	पशु	जानवर
उक्षन्	उक्षन्	बैल
यव	यव	जौ
वैद्य	वैद्य	वैद्य
वायु	वायु	हवा
इषु	इषु	बाण
रथ	रथ	गाड़ी
गान्धर्व	गान्धर्व	गानेवाला
अथर्वन	अथर्वन	यज्ञ, ऋषि
गाथा	गाथा	पवित्र पुस्तक
इष्टि	इष्टि	यज्ञ

उपर्युक्त शब्दसाम्य से ज्ञात होता है कि छ, ध, भ आदि ध्वनियाँ लुप्त हो गई हैं और 'श्व'

के स्थान में 'क़' तथा 'ह' के स्थान में 'ज़' हो गया है। इससे ज्ञात होता है कि यह संकोच और सरलता वेदभाषा के बहुत दिन बाद हुई होगी, अतः ज़न्दभाषा वेद की समकालीन नहीं है, वह बहुत दिन पश्चात् उद्भूत हुई है और संस्कृत का अपभ्रंश है।

फ़ारसीभाषा

भारतदेश में हिन्दू और मुसलमान दो ही प्रधान जातियाँ बसती हैं। दोनों में हिन्दी-उर्दू की प्रतिदिन मारामारी रहती है। संस्कृतशब्द-प्रधान भाषा को हिन्दी और फ़ारसीशब्द-प्रधान भाषा को उर्दू कहते हैं। नीचे के शब्दकोश से ज्ञात हो जाएगा कि फ़ारसी संस्कृत का ही अपभ्रष्ट रूप है। वह कोई विशेष भाषा नहीं है। जब फ़ारसी संस्कृत का ही बिगड़ा हुआ रूप है और फ़ारसी का ही बिगड़ा हुआ रूप उर्दू है तब फिर उस हिन्दी से क्या द्वेष है जो उर्दू की ही भाँति संस्कृत से बिगड़कर बनी है। उर्दू फ़ारसी प्रधान है और फ़ारसी संस्कृत का अपभ्रंश है। नीचे के शब्दसाम्य से यह बात अच्छी प्रकार ज्ञात हो जाती है।

संस्कृत	**फारसी**	**अर्थ**
तनु	तन	शरीर
जानु	ज़ानु	घुटना
बाहु	बाज़ू	हाथ
अंगुष्ठ	अंगुश्त	अंगुली
हस्त	दस्त	हाथ
पाद	पा	पैर
शिर	सर	शिर
पृष्ठ	पुश्त	पीठ
दन्त	दन्दाँ	दाँत
नाभि	नाफ़	नाभि
गला	गुलू	गला
ग्रीवा	गरेबाँ	गर्दन
बदन	बदन	मुँह, शरीर
भ्रू	अब्रू	भौंह
चर्म	चिरम	चमड़ा
अश्व	अस्प	घोड़ा
मेष	मेश	भेड़
खर	खर	गधा
उष्ट्र	उश्तर, शुतर	ऊँट
गौ	गाव	गाय
मूष	मूश	चूहा
शृगाल	शग़ाल	सियार
कृमि	किरम	कीड़े

संस्कृत	फारसी	अर्थ
काक	ज़ाग	कौवा
एक	अकनू	एक
द्वि	दो	दो
चत्वारि	चहार	चार
पञ्च	पञ्ज	पाँच
षट्	शश	छह
सप्त	हफ़्त	सात
अष्ट	हश्त	आठ
नव	नौ	नौ
दश	दह	दस
शत	सद	सौ
सहस्र	हज़ार[१]	हज़ार
पितर	पिदर	पिता
मातर	मादर	माता
भ्रातर	बिरादर	भाई
दुहितर	दुख्तर	पुत्री
श्वसुर	ख़ुसुर	ससुर
विधवा	बेवा	विधवा
आप	आब	पानी
वात	बाद	हवा
पुरोहित	फरिश्ता[२]	दूत
तारा	सितारा	तारा
ताप	ताब	गर्मी, प्रकाश
आपताप	आफ़ताब	सूर्य
मासताप	माहताब	चन्द्र, मास
मास	माह	महीना
मेघ	मेह	बादल
चक्र	चर्ख	चक्कर, आसमान
क्षीर	शीर	दूध
शर्करा	शकर	शक्कर
ताम्बूल	तम्बूल	पान

१. 'स' का 'ह' और 'ह' का 'ज' होकर जन्द में 'हजङ्ग' हुआ है। वही फ़ारसी में हज़ार हो गया है।

२. 'अग्निमीळे पुरोहितम्' और 'अग्निं दूतं पुरोदधे' में अग्नि को दूत बतलाया गया है। फ़रिश्ता भी दूत है और आतिशी=अग्नेय कहा जाता है।

संस्कृत	फ़ारसी	अर्थ
कर्पूर	काफ़ूर	कपूर
गोधूम	गन्दुम	गेहूँ
माष	माश	उड़द
यव	जौ	जौ
शालि	शाली	धान
मिश्री	मिसरी	मिश्री
चन्दन	सन्दल	चन्दन
शाखा	शाख	डाली
क्षत	खत	घाव
श्वेत	सफ़ेद	उज्ज्वल
शलाका	शलाख	सलाई
नमः	नमाज़[1]	प्रणाम
अधिकार	अख्तियार	अधिकार
दूर	दूर	दूर
वीक्षण	बीन	देखना
हरिद	ज़रद	पीला
प्रमाण	पैमाना	नाप
बन्ध	बन्द	बाँधना
आपत्ति	आफ़त	दुर्घटना
नाम	नाम	नाम
छाया	साया	छाँह
भार	बार	बोझा
विष्टर	बिस्तर	बिछौना
अहम्	अम्	मैं
त्वं	तो	तू
इदम्	ई	यह
अस्ति	अस्त	है
नास्ति	नेस्त	नहीं
कृणु	कुन	कर

समस्त टवर्ग, स, छ, ध, भ, क्ष, य, और व की आवाजों का संकोच होकर दो अवस्थाएँ हुई हैं। एक तो यह कि कहीं-कहीं क्ष का ख, भ का फ़ आदि विकृत ध्वनियाँ हुई हैं और दूसरी यह कि टवर्ग, और स, छ आदि का लोप हो गया है। विकृत उच्चारण विज्ञानयुक्त वर्णमाला में नहीं समा सकते, अतः वे उच्चारण भी वास्तविक ध्वनियाँ को लुप्त ही कर रहे हैं, अर्थात् फ़ारसी

१. मः के विसर्ग का हकार होकर 'ज़' हो गया और नमज़ होकर नमाज़ बन गया है।

भी विस्तृत वर्णमाला का संकोच करती है, अतः वह भी मूलभाषा नहीं, प्रत्युत अपभ्रष्ट ही है।

अंग्रेज़ी भाषा

अंग्रेजी भाषा में विशेषकर यूरोप के सभी देशों की भाषा के शब्द पाये जाते हैं। इसमें ग्रीक, लेटिन, फ्रेंच और रोमन आदि भाषाओं के शब्द बहुलता से विद्यमान हैं, अतः नीचे के शब्दसाम्य से ज्ञात हो जाएगा कि अंग्रेजी भाषा भी कोई सर्वथा नई भाषा नहीं है, प्रत्युत वह संस्कृत का ही बिगड़ा हुआ रूप है।

संस्कृत	अंग्रेज़ी	अर्थ
मनु	मैन	मनुष्य
पितर	फादर	पिता
मातर	मदर	माता
भ्रातर	ब्रदर	भाई
स्वसा	सिस्टर	बहिन
दुहितर	डाटर	पुत्री
सूनु	सन	पुत्र
विधवा	विडव (Widow)	राँड
एक ऊन (एकोन)[१]	वन	एक
द्वौ	टू=ट्वौ (Two)	दो
त्रि	थ्री	तीन
षट	सिक्स	छह
अष्ट	एट	आठ
षष्टि	सिक्सटी	साठ
लक्ष	लैक	लाख
उक्ष	ऑक्स	बैल
गौ	काउ	गाय
अश्व	हार्स	घोड़ा
मूष	माउस	मूष
उलूक	आउल	उल्लू
सर्प	शार्प, सर्पैंट	तेज, साँप
लोक	लुक	देखना, प्रकाश
द्यौ	डे	दिन
नक्त	नाइट	रात
द्यौपितर	जुपिटर	आकाश, बृहस्पति
मास	मन्थ	महीना
तारा	स्टार	तारा

१. एक कम को ऊन कहते हैं, जैसे—ऊनतीस और ऊनचालीस आदि।

संस्कृत	अंग्रेज़ी	अर्थ
उपरि	ओवर	ऊपर
मन	माइंड	मन
हृत्	हार्ट	हृदय
हस्त	हैंड	हाथ
अन्तर	अण्डर	नीचे, भीतर
मुख	माउथ	मुँह
दन्त	डेंट	दाँत
भ्रू	ब्रो (Brow)	भौंह
न	नो	नहीं
नास्ति	नॉट	नहीं
अस्ति	इज़	है
अहम्	आई एम	मैं हूँ
त्वा	दाउ	तू
अन	अन (Un-)	नहीं
तर	अर (-er)	विशेष
यू (यूयम्)	यू	तुम
शर्करा	शुगर	खाँड
सिव	सो=सिव (Sew)	सीना
मृद्	मड	मिट्टी, कीचड़
पथ	पाथ	रास्ता
नाम	नेम	नाम
समिति	कमिटी	सभा
तरु	ट्री	वृक्ष
वक्र	कर्व	मोड़
लम्ब	लाँग	लम्बा
द्वार	डोर	दरवाज़ा
नव	न्यू	नया
ग्रन्थि	ग्लेंड	गाँठ
ऋत	राइट	सत्य
वीरत्व	वरचू	वीरभाव
क्रूर	क्रूअल	निर्दयी
मिश्र	मिक्स	मिला हुआ
मूक	म्यूट	गूँगा

संस्कृत	अंग्रेज़ी	अर्थ
भ्रष्ट	वर्स्ट	खराब
चन्दन	सैंडल	चन्दन
लाड	लैड	बालक, प्यार
पशुचर	पाश्चर	चरागाह
भेषज	फ़िज़िक	औषध
शल्य	सर्जरी	चीर-फाड़
कोण	गोन	कोना
सप्तकोण	हेप्टगोन	सप्तकोण
त्रिकोणमिति	ट्रिगोनोमेट्री	त्रिकोणमिति
ज्यामिति	जियोमेट्री	ज्यामिति
दशमलव	डेसिमल	दशमलव
वृन्द	बैंड[१]	बाजे बजानेवाले का समूह
चरित्र	कैरेक्टर (Character)	आचरण

आजकल हमारे देश में हिन्दी, उर्दू और अंग्रेज़ी की शिक्षा दी जाती है। लोग समझते हैं कि अंग्रेज़ी और फ़ारसी कोई भिन्न भाषाएँ हैं, परन्तु हमने उपर्युक्त कोषों से दिखला दिया है कि ये भाषाएँ कोई स्वतन्त्र भाषाएँ नहीं, प्रत्युत संस्कृत का ही अपभ्रंश हैं। यहाँ तीन भाषाओं के थोड़े से ऐसे शब्दों का संग्रह करते हैं जिससे विदित हो जाएगा कि अंग्रेज़ी और फ़ारसी संस्कृत का ही बिगड़ा हुआ रूप है।

संस्कृत	फारसी	अंग्रेज़ी	अर्थ
ओम्	अलम	आमीन (Amen)	परमेश्वर
कर्पूर	काफूर	कैम्फर	कपूर
अहिफेन	अफ़यून	ओपियम	अफ़ीम
चन्दन	सन्दल	सैंडल	चन्दन
श्वेत	सफ़ेद	ह्वाइट (स्वाइट होकर)	सफेद
द्वार	दर	डोर	दरवाज़ा
बन्ध	बन्द	बाउण्ड	बाँधना
द्वौ	दो	टू	दो
षष्ट	शश	सिक्स	छह
अष्ठ	हश्त	एट	आठ
नव	नौ	नाइन	नौ
अश्व	अस्प	हार्स	घोड़ा
मूष	मूश	माउस	चूहा

१. संगति की पुस्तकों में लिखा है कि १६ बाजेवालों का उत्तम, १२ का मध्यम और १० का निकृष्ट वृन्द होता है। चार पखावज, दो वीणा, चार वंशी और छह अन्य बाजों का उत्तम वृन्द होता है। अंग्रेज़ी का बैंड उसी की नकल है और बैंड शब्द वृन्द का अपभ्रंश है।

संस्कृत	फ़ारसी	अंग्रेज़ी	अर्थ
तारा	सितारा	स्टार	तारा
शर्करा	शकर	शुगर	शक्कर
पितर	पिदर	फादर	बाप
मातर	मादर	मदर	मा
भ्रातर	बिरादर	ब्रादर	भाई
दुहितर	दुख्तर	डाटर	पुत्री
अन्तक	अन्दर	अण्डर	भीतर
नव	नौ	न्यू	नया
विधवा	बेवा	विडव (Widow)	विधवा
दन्त	दन्द	डेंट	दाँत
नास्ति	नेस्त	नाट	नहीं
अस्ति	अस्त	इज़	है
नाम	नाम	नेम	नाम
भ्रू	अब्रू	ब्रो	भौं

यहाँ तक आर्यभाषाओं की चार शाखाओं का वर्णन हुआ। जिस प्रकार ये भाषाएँ क्लिष्ट शब्दों को सरल और विस्तृत वर्णमाला को संकुचित करके संस्कृत को मूल और अपने को अपभ्रष्ट सिद्ध कर रही हैं, उसी प्रकार आर्यभाषाओं की अन्य शाखाएँ भी संस्कृत को ही मूल और अन्यों को अपभ्रष्ट सिद्ध कर रही हैं। संस्कृत का 'अग्नि' शब्द लेटिन में 'इगनिस' (Ignis) हुआ है। इसी प्रकार संस्कृत का 'द्यौ' ग्रीक में 'ज्योस' (Zews) इटली में 'जुपिटर' और ट्यूटानिक में 'त्यू' (Tuis) हो गया है। संस्कृत के 'उषस्' शब्द का ग्रीक में 'इअस' (Eos), 'नक्त' का 'निक्स' (Nyx) और 'सूर्य' का 'हिलिअस' हो गया है। इसी प्रकार संस्कृत का 'भग' ईरानी में 'बग' और स्लाविक में 'बोगू' (Bogu) हुआ है। संस्कृत के 'वरुण' का ग्रीक में 'यूरेनिस', 'वात' का 'बोटन', 'वाक्' का 'वाक्स' और 'मरुत्' का 'मार्स' हो गया है। संस्कृत का अयस् (लोहा) शब्द लेटिन में 'एस' (Aes), गाथिक में 'एरिस', पुरानी जर्मन में 'एर' (Er) वर्त्तमान जर्मन में 'राजन' और अंग्रेज़ी में 'आयर्न' (Iron) हो गया है। 'पर्जन्य' को लेटिन में 'पर्कुनस', पर्शिया में 'पर्क्युनास', स्लाविक में 'पेरुन', पोलिश में 'पायोरन' और बोहिमियन में 'पिरान' कर दिया गया है। इसी प्रकार संस्कृत का 'अजिर' शब्द जो अज=गति धातु से बना है फ्रेंच और अंग्रेजी में 'अजिल' (Agile) और लेटिन में अजिलिस (Agilis) हो गया है। इसी प्रकार संस्कृत 'ईरा' ग्रीक में 'एरा' लेटिन में 'तेरा' प्राचीन अंग्रेजी में 'इयर्थि' और नवीन अंग्रेजी में 'अर्थ' हो गया है। इस सम्बन्ध में एक नमूना संस्कृत और ग्रीक का यहाँ देखने योग्य है। यूनानी (ग्रीक) भाषा में संस्कृत के 'श' का 'क' हो गया है।

संस्कृत	यूनानी	अर्थ
शतम्	केटन	सौ
शुना	कुनोस	कुत्ता
श्वान	क्वान	कुत्ता
दश	डेक	दस
श्रुतः	क्लुटोस	सुना

संस्कृत	यूनानी	अर्थ
अश्गन्	अक्मन	पहाड़
ददर्श	डेडर्क	देखा
वेश:	ऐकोस	घर
शिर:	केरोस	सिर

इन समस्त आर्यभाषाओं के समतासूचक शब्दों से और संकोच और सरलोच्चारण से यही सूचित होता है कि संस्कृत मूल और अन्य समस्त आर्यभाषाएँ उसका अपभ्रंश हैं।

मिस्त्र की भाषा

हेमिटिक भाषाओं में से इस समय केवल मिस्त्र की ही भाषा सुरक्षित पाई जाती है। यहाँ उसके भी थोड़े-से नमूने दिखलाना चाहते हैं, जिससे स्पष्ट हो जाएगा कि वह भी मूल भाषा नहीं, प्रत्युत अपभ्रंश ही है।

संस्कृत	मिस्त्र की भाषा	अर्थ
आदि	आत	आरम्भ
अक	अक	मोड़ना
अक्ष	अख	देखना
अन्त	अन्तू	सीमा
अपूप	पूपू	रोटी
आप	आप	पानी
अर्म	रेम	रोना
आत्मा	आत्मु	सातवीं सृष्टि का
दिव	तेप	आकाश
नर	न्त्रा	मनुष्य
नाश	नाशेष	नाशेष
परि	परि	चारों ओर
पूर	पूर	बाहर निकालना
पुष्प	पुष	फूल
रसना	रस	जिह्वा
सेवा	सेव	पूजा
श्वेत	हूत	सफ़ेद
उषा	उषा	प्रात:काल
वास	आस	घर
क	क	आत्मा

अरबीभाषा

आर्य और हेमिटिक भाषाओं का विवरण समाप्त करके अब सेमिटिक भाषाओं का वर्णन करते हैं। सेमिटिक भाषाओं की भी अनेक शाखाएँ हैं, परन्तु अरबी और हिब्रूभाषा का साहित्य अच्छा है। हिब्रूभाषा में बाइबिल और अरबी में कुरान प्रसिद्ध पुस्तकें हैं, अत: नीचे अरबी भाषा

के शब्दों को दिखलाते हैं।

संस्कृत	अरबी	अर्थ
हर्म्य	हरम	महल
सुर	हूर	देवता
नरक	नार	नरक
अन्तकाल	इन्तकाल	मरना
कर्त	क़ात	कटना
कीर्तन	किरतैअन	पढ़ना, पाठ करना
गल्भ	बलग़	प्रगल्भता, बलाग़त
अजहार	इज़हार	कहना, ज़ाहिर [प्रकट] करना
लोहित	लहू	खून
मा	मा	नहीं
ये	य	और, जो
वा	व	और, अथवा
षष्ट्	सित्ता	छह
सप्त	सब्बा	सात
सिंह	हैसिम	शेर
मन्यु	मन्वुअ	गुस्सा करनेवाला
दोहन	दुहन	घी, मक्खन, दुहान
दैत्य	दियत	खून बहानेवाला
सरकत (सृ)	हरकत	सरकना
नः	ना	हम लोग
ख	खला	आकाश
औरस	वारिस	पुत्र
शरद	शिरत	सर्दी
भ्रम	वहम	भ्रम
द्यौः	योः	सूर्य
दिवम्	योम	रोज़, दिन
याम	योम	दिनांश
अम्बा	उम्भ	माता
अप्पा(पा=पिता)	अब्बा	पिता
रीति	तरीक	ढंग
धनी	ग़नी	धनवान्
अर्व	अरबन	घोड़ा

अफ्रीका की स्वाहिलीभाषा

संस्कृत	स्वाहिली	अर्थ
ध्यान	धानी	विचार करना
कर्त	काटा	काटना
मृत्यु	माती	मरना
द्यौ, ज्योति	जुआ	सूर्य
जम्बु	ज़म्बरऊ	जामुन
सिंह	सिम्बा	शेर
गौ	गोम्बे	गाय
गोधूम	गानो	गेहूँ
षष्ट	सीता	छह
सप्त	सबा	सात

सेमिटिक में हिब्रू भाषा भी है। संस्कृत के यहवः शब्द का हिब्रू में 'जिहोबा', अर्हः का 'यलिह' और आदिम का 'आदम' हो गया है। इसी प्रकार 'इलीविश'[१] का 'इब्लीस' और 'स्तेन' (चोर) का सेतन Satan या शयतान हो गया है। कहने का तात्पर्य यह कि सेमिटिक विभाग भी संस्कृत का अपभ्रंश ही है। इस विभाग में क्लिष्ट उच्चारण सरल और विस्तृत उच्चारण संकुचित हुए हैं, इससे यह बात निर्विवाद हो जाती है कि वह विभाग भी संस्कृत से ही निकला है।

अमेरिकन भाषा

अमेरिका के रेड-इण्डियनों की भाषा का शब्दकोष हमें नहीं मिल सका तथापि कुछ ऐसे शब्द हमें मिले हैं जिनसे आर्यभाषा के शब्दों के साथ पूरी समता होती है। उनकी भाषा में एक 'उनकुलंकुलु' (Unkulunkulu) शब्द है, जिसका अर्थ वंश होता है। प्रो० मैक्समूलर ने इस शब्द की तुलना संस्कृत के 'कुल' के साथ की है, क्योंकि संस्कृत में वंश को कुल भी कहते हैं। इसी प्रकार संस्कृत के कपि और मत्स्यासन शब्दों की तुलना करते हुए 'लीडर' पत्र में एक लेखक ने लिखा है कि अमेरिका का 'कपीरा' प्रदेश बन्दरों के कारण और मत्स्यासन टापू मछलियों के व्यापार के कारण कहलाता है[२]। उनका विचार है कि 'कपीरा' कपि शब्द से और मत्स्यासन मत्स्य और आसन शब्दों से लिया गया है। इस प्रकार हम सुदूर पाताल देश अमेरिका के प्राचीन निवासियों की भाषा में भी वैदिक आर्यों की ही भाषा के बीज देखते हैं।

चीनीभाषा

आर्य, हेमिटिक और सेमिटिक भाषाओं के पश्चात् अब तुरानी भाषाओं का दिग्दर्शन कराना है। चीनी, जापानी, तुर्की, द्रविड़ और आस्ट्रेलिया की भाषाएँ इसी शाखा से सम्बन्ध रखती हैं। ये भाषाएँ आर्यों की भाषा से बहुत पूर्वकाल में ही पृथक् हो गई थीं। इनको मंगोल

---

१. ऋ० १।३३।१२ मे इलीविश वृत्र=मेघ अर्थ में आया है। यह वैदिक अलंकार है जो इंजील और कुरान में गया है। मेघ को भी असुर=राक्षस कहा गया है, वैसे ही इब्लीस भी है।

२. KAPIRA, in America is the name of a region which abounds in monkeys, Matsyasan, similarly, is the name of the port which supplies fish for Maxico. —*'Leader'* 6 April, 1928.

और निग्रोजातियाँ, जो पीले और काले रंग तथा मोटी और चपटी आकृति की हैं, बोलती हैं। इन सबका तुरानी विभाग में समावेश होता है। इनमें से चीनीभाषा के शब्द बहुत ही छोटे आकार के होते हैं। वे संस्कृत की धातुओं की ही भाँति एकाक्षरी या डेढ़ाक्षरी होते हैं, परन्तु स्वरभेद से वही छोटे-छोटे शब्द अपने अनेक रूप बना लेते हैं। चीनीभाषा में कुल २५० ही धातुएँ हैं, परन्तु इतनी ही धातुओं को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत और सानुनासिक तथा बंगालियों की भाँति गोल उच्चारणों के द्वारा वे हज़ारों रूपों का बना लेते हैं। चीनीभाषा का एक विद्वान् कहता है कि 'चीनीभाषा के एक मामूली शब्द के बोलने का यत्न कीजिए। जैसे मेज़ के लिए 'टौह' शब्द है। इसको बोलिए। प्रतीत होता है कि इसका उच्चारण बिलकुल सहज है, परन्तु आपने इसके उच्चारण में यदि जरा-सी भी ग़लती की—जरा-सा भी उच्चारण में भेद हुआ कि इस एक ही शब्द के चाकू, गिरना, माँगना, मछली और ढक्कन आदि अनेक अर्थ हो जाएँगे और आपका जो असली अभीष्ट मेज़ से था, वह सिद्ध न होगा'[१]। यहाँ हम नमूने के रूप में चीनीभाषा के कुछ शब्द लिखते हैं।

संस्कृत	**चीनी**	**अर्थ**
स्थान	तान	स्थान
श्री	शिर्र	गुरु, आचार्य
ज्योतिस्थान	जितान	सूर्यमन्दिर
जन	जिन	मनुष्य
लिङ्ग	लङ्ग	चिह्न, मनुष्य
अम्बा	मा	माता
डु (कृञ्, लभस्)	डो	कर्तव्य
जनस्थान	जिनतान	पृथिवी
द्युस्थान	टियनतान	स्वर्ग
होम	घोम	होम, हवन, यज्ञ
द्यौ	तौ	प्रकाशवान्, सूर्य

चीनी लोग शब्दों के बिगाड़ने में बड़े ताक हैं। इसका कारण उनका लिपिदोष है। उनके पास ध्वन्यात्मक लिपि नहीं है, प्रत्युत चित्रलिपि है। यही कारण है कि वे शब्द को याथातथ्य नहीं रख सकते। अभी हाल के गये हुए शब्द भी और-के-और हो गये हैं। वक्ष[२] नदी को पोचू या फोचू, मालवा को मोलोपो, नवदेव कुल को 'नेफोटिपो कुलो' और तक्षशिला को 'तक्षशिथिलो' कर डाला गया है। इससे भी प्रकट होता है कि क्लिष्ट उच्चारण सरल किये गये हैं और विस्तृत वर्णमाला संकुचित हो गई है।

जापानीभाषा

कहते हैं कि जापानीभाषा में चीनीभाषा के बहुत-से शब्द हैं। सम्भव है हों, परन्तु हमारे मत से तो चीनीभाषा भी संस्कृत से ही निकली है। जिस प्रकार चीन की भाषा संस्कृत का अपभ्रंश

---

१. Try to say these simple Chinese words. There is a table '*toh*'. That seems easy. No, you are saying '*to*' a knife. Wrong again. That is '*to*' to fall, oh! when on you say your '*t*' aspirated, to demand. You try again and again and say 'cover', 'peck', 'fish', 'peach' anything but 'table'.
—*Peeps at Many Lands*, China, by Lena E. Johnston

२. रघुवंश में लिखा है कि राजा रघु ने इसी नदी के किनारे पर हूणों को पराजित किया था।

है उसी प्रकार जापानी भाषा भी है। नीचे के शब्दसाम्य से यह बात स्पष्ट हो जाती है।

संस्कृत	**जापानी**	**अर्थ**
का, कः (किं)	का	क्या
द्यौ	दे	सूर्योदय
उक्ष	ओडशी	बैल
बहुत्व	भोत्तो	बहुत
नित्यनित्य	नीची नीची	नित्यनित्य
शिष्य	शोसेइ	शिष्य
कनक	किनका	सोना
केश	के	बाल
अहिफेन	आहेन	अफ़ीम
सो	सोरे	वह
मार्ग	माच	राह
ध्यान	गेन	ध्यान
यम	इम्मा	यम

उपर्युक्त शब्दसाम्य से दिखलाई पड़ रहा है कि जापानीभाषा भी क्लिष्ट उच्चारणों से हटकर सरल उच्चारणों की ओर दौड़ रही है और विस्तृत वर्णमाला से संकुचित वर्णमाला की ओर जा रही है। चीनियों की भाँति जापानियों ने भी नवीन गये हुए शब्दों को बुरी तरह बिगाड़ा है। उन्होंने 'लेमोनेड' को 'रामुने', 'ह्विस्की' को 'बुसुकी', 'ब्राण्डी' को 'बूरान्दी' और लैम्प को 'रामपु' कर डाला है। इनमें भी वही नियम देखा जाता है—क्लिष्ट उच्चारण सरल और विस्तृत वर्णमाला संकुचित हो रही है।

द्रविड़भाषा

विद्वानों का मत है कि द्रविड़भाषाओं का सम्बन्ध कोल, भील, संथालों से लेकर लंका, मडगास्कर, द्वीपसमुदाय, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया तक है। यह तुरानी भाषा की सबसे बड़ी शाखा है। नीचे हम उसके भी कुछ शब्दों का नमूना दिखलाते हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वानों के एक आक्षेप का उत्तर भी देना चाहते हैं। वे कहते हैं कि द्रविड़ लोग ही इस देश के मूलनिवासी हैं, आर्यलोग पीछे से आये, परन्तु हम देखते हैं कि 'चन्दन' और 'कपूर' दोनों पदार्थ मद्रास इलाके में ही पैदा होते हुए भी इन दोनों पदार्थों का नाम द्रविड़ों की भाषा में नहीं है। वे चन्दन को 'मञ्छीगन्धम्' कहते हैं। मञ्छी, मंजु शब्द का और गन्धम् सुगन्ध का अनुवाद है, अर्थात् चन्दन का नाम अच्छी सुगन्ध रक्खा गया है, इसी प्रकार कर्पूर को 'करप्पू' कहते हैं, जो कर्पूर का अपभ्रंश है। हम देखते हैं कि चन्दन और कर्पूर दोनों शब्द आर्यों की तीनों शाखाओं में विद्यमान हैं। चन्दन को संस्कृत में चन्दन, फ़ारसी में सन्दल और अंग्रेजी में सेंडल कहते हैं। इससे ज्ञात होता है कि द्रविड़ों से पहले आर्यों को ये पदार्थ ज्ञात थे, उनके नाम ज्ञात थे और उन्हीं नामों की ही द्रविड़ों ने नक़ल की है, अतः सिद्ध है कि आर्य द्रविड़ों से पूर्व मद्रास में भी निवास करते थे। तृतीय खण्ड में द्रविड़ों की उत्पत्ति विस्तृतरूप से बतलाई जाएगी कि वे भी आर्यों की ही सन्तति हैं। उनकी भाषा में अब तक संस्कृत के अपभ्रष्ट रूपों का बाहुल्य पाया जाता है, जिनके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं।

संस्कृत	द्राविड़ी (तिलगू)	अर्थ
अन्य	अन्नि	दूसरे, और, सब
मनुष्य	मनजुड्ड	आदमी
तालु	तला	शिर, मस्तिष्क
इह	ई	यहाँ
रे!	ओरि!	हे (सम्बोधन)
मंजु	मंछि	अच्छा, उत्तम
अम्बुद	मब्बु	मेघ
नीर	नीलु	पानी
पत्नी	पेंडली	स्त्री
गौ	औ	गाय
मेष	मेक	बकरा, भेड़
उष्ट्र(ऊँट)	वंटे	ऊँट
दैवम्	दय्यमु	भूत-प्रेत
राजा	राजु	राजा
अटवि	अडवि	जंगल
उडुप	ओड	जहाज़
चंडाल	चड्डा	बदमाश
उत्तर	उत्तरउ	हुक्म, जवाब
शर्दी	छल्लि	सरदी
मूक	मूगा	गूँगा
काक	काकि	कौवा
समुद्र	सन्दरमु	समुद्र
चन्द्र, इन्दु	त्सन्दुरुन्दु	चन्द्रमा
वन	वनमु	जंगल
द्यौ	दिवमु	सूर्य

यहाँ तक हमने तुरानी भाषा के शब्दसाम्य और सरल तथा संकुचित उच्चारणों को देखा तो ज्ञात हुआ कि इसमें भी ध्वनियों की कमी हुई है और क्लिष्टता सरलता में बदल गई है। इससे यह शाखा भी संस्कृत का अपभ्रंश ही प्रतीत होती है। इस प्रकार से हमने आर्य, हेमिटिक, सेमिटिक, तुरानी और अमेरिका की अलग-अलग बारह भाषाओं के शब्दसाम्य से देखा तो सबमें उच्चारणों की सरलता और ध्वनियों का संकोच ही पाया। इसके विरुद्ध संस्कृत में ध्वनियों की बहुलता और क्लिष्टता मिली, जिससे सहज ही यह बात प्रमाणित हो गई कि संस्कृतभाषा मूलभाषा है—असल है और अन्य भाषाएँ उसी का अपभ्रष्ट रूप हैं—परिवर्तन हैं। संस्कृतभाषा का सीधा निकास वैदिक भाषा से है ही, इसलिए वेदभाषा ही समस्त भाषाओं की जननी प्रमाणित हुई, परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि क्यों संसार की समस्त भाषाएँ परिवर्तित हो गई और क्यों वेदभाषा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। आगे हम भाषाओं की परिवर्तनशीलता के कुछ कारणों का दिग्दर्शन कराकर दिखलाएँगे कि वेदभाषा क्यों अब तक ज्यों-की-त्यों बनी हुई है।

वैदिक भाषा की अपरिवर्तनशीलता

पिछले बृहत् शब्दसाम्यकोष से यह बात अच्छी प्रकार स्पष्ट हो गई है कि संसार की समस्त भाषाओं का परस्पर उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार माता, पुत्री और बहिनों का होता है। समस्त भाषाओं के शब्दों के अनुशीलन और सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि नवीन भाषाएँ विस्तृत वर्णमाला से संकुचित वर्णमाला की ओर और क्लिष्ट उच्चारणों से सरल उच्चारणों की ओर दौड़ रही हैं। संसार की भाषाएँ जिस प्रकार विभक्तियुक्त भाषाओं से एकाक्षरी भाषाओं की ओर और संश्लेषणात्मकता से विश्लेषणात्मकता की ओर जा रही हैं उसी प्रकार क्लिष्ट और विस्तृत उच्चारणों से सरल और संकुचित उच्चारणों की ओर भी जा रही हैं और बदल रही हैं। यह सारा परिवर्तन वैदिक भाषा से—संस्कृतभाषा से ही हुआ है, अतः प्रश्न होता है कि संसार की समस्त भाषाएँ बदल गईं, अपभ्रष्ट हो गईं और अनेक भागों में विभक्त हो गईं, किन्तु वैदिक भाषा अब तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी हुई है? अन्य भाषाओं के बनने, बिगड़ने और एक शाखा से दूसरी में परिणत होने के अनेक कारण दिखलाये जा चुके हैं, यहाँ केवल इसी बात का स्पष्टीकरण करना है कि वैदिक भाषा आदि से लेकर इस समय तक ज्यों-की-त्यों क्यों बनी हुई है।

वैदिक भाषा के ज्यों-की-त्यों बनी रहने का कारण वैदिक आर्यों की सावधानी है। वैदिक ब्राह्मणों ने बड़े कठिन श्रम से इस भाषा को शुद्धरूप में बनाये रक्खा है। आदिकाल से आजपर्यन्त उन्हीं की कृपा से यह भाषा ज्यों-की-त्यों बनी हुई है। वेद की जितनी संहिताएँ इस समय तक छपी हुई मिलती हैं उनमें एक भी ऐसी नहीं है जिसमें कुछ-न-कुछ अशुद्धि न हो, परन्तु वेदपाठी ब्राह्मणों के स्मरण में छपी हुई संहिताएँ बिलकुल शुद्ध और दोषरहित पाई जाती हैं। इस बात को वैदिक भाषा के प्रकाण्ड विद्यार्थी औंधनिवासी सातवलेकरजी ने पूरा अनुभव प्राप्त करके स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है। ब्राह्मणों ने किसी पर दया करने के लिए यह तप नहीं किया, प्रत्युत अपना धर्म समझकर ही ऐसा श्रम किया है, क्योंकि शिक्षाकार कहते हैं कि—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् जो मन्त्रों के स्वरों और वर्णों के उच्चारणों को बिगाड़कर वेदपाठ करता है वह यजमान का नाश करता है।

वेदों के अशुद्ध उच्चारण से यजमान के वध का पाप लगना क्या थोड़े भय की बात है? वैदिकों ने इसी परम्पराप्राप्त पापभय के कारण ही वेदों को सावधानी से याद रक्खा है, अतः जिन वेदों के शुद्ध पाठ करने पर इतना ज़ोर दिया गया है वे न तो कभी अशुद्ध ही हो सकत हैं और न अपभ्रष्ट ही, परन्तु यह बात तभी हो सकती है जब १. वेदों की वर्णमाला पूर्ण हो। २. लिपि वैज्ञानिक हो। ३. उनका व्याकरण ऐसा बना हो कि वह न तो शब्दों को अपभ्रष्ट होने दे, न कभी अर्थ का अनर्थ होने पावे और ४. उनके पाठ करने का ढंग ऐसा हो कि वह शब्दों को कभी अपभ्रष्ट होने ही न दे, अतः हम यहाँ क्रम से विवेचन करके देखना चाहते हैं कि वास्तव में ये बातें वेदों का साथ कहाँ तक देती हैं।

१. वेदों की वर्णमाला पूर्ण है। वह न तो कम है न अधिक, परन्तु संसार की अन्य भाषाओं की वर्णमालाएँ अस्तव्यस्त और अपूर्ण हैं। उनमें आवश्यक वर्णों का अभाव है और अनावश्यक वर्णों का बाहुल्य है। अरबी, फारसी और अंग्रेज़ी आदि की वर्णमालाओं को देखें तो ज्ञात होगा कि उनमें कुछ उच्चारण कम हैं और कुछ उच्चारण अधिक हैं। जो उच्चारण नहीं हैं उनके कारण भाषा और इतिहास में जो हानियाँ हुई हैं वे अकथनीय हैं। यूनान के लेखकों ने 'चन्द्रगुप्त' को

'सैण्ड्राकोटस' और अरबी भाषावालों ने 'चरक' को 'सरक' लिखा है। अंग्रेज़ों के मुँह से तो 'तुम' का 'टुम' प्रतिदिन ही सुनने को मिलता है। ऐसी दशा में ऐतिहासिक हानि के अतिरिक्त भाषासम्बन्धी कितनी हानि हुई है, यह सहज की अनुमान किया जा सकता है। हमने पुराने काग़ज़ों में अहीरों को 'गोबा' लिखा हुआ देखा है और शहर की कोतवाली के अफ़सर को तो कोतवाल कहते ही हैं। दोनों शब्दों को अरबी वर्णमाला की कमी के कारण संस्कृत के रूप को छोड़कर यह रूप धारण करना पड़ा है। अहीरों को संस्कृत के बहुवचन में 'गोपा:' कहा जाता है, परन्तु अरबी के अबजद [वर्णमाला] में 'प' वर्ण नहीं है। 'प' के स्थान में 'ब' का प्रयोग किया गया है, इसी से गोपा: का गोबा हो गया है। इसी प्रकार 'प' और 'ट' न होने से 'कोटपाल' का 'कोतवाल' हो गया है। ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जिनसे भाषाओं में गड़बड़ पैदा हो गई है। जिस प्रकार वर्णों की कमी से उपर्युक्त प्रकार की गड़बड़ हुई है उसी प्रकार अपभ्रष्ट भाषाओं के बढ़े हुए उच्चारणों के कारण भी भाषाओं के रूप बिगड़े हैं। इन बढ़े हुए उच्चारणों को देखकर कभी-कभी लोग कहने लगते हैं कि अ, क़, ख़, ग़, ज़, फ़, ब़, और ह् आदि वर्ण दूसरी भाषाओं में उच्चरित होते हैं, ये संस्कृत की वर्णमाला के द्वारा बोले और लिखे नहीं जा सकते, परन्तु हम कहते हैं कि इतने ही उच्चारण क्यों, मनुष्य के मुँह से निकलनेवाली सीटी, खाँसी और छींक आदि अनेक ध्वनियाँ हैं, जो कहते और लिखते नहीं बन सकतीं। इनके अतिरिक्त कोई-कोई 'स' के स्थान में 'फ़' की भाँति का एक विलक्षण उच्चारण करते हैं, परन्तु वह भी सब लोग बोल नहीं सकते और न लिख ही सकते हैं। इतना ही नहीं किन्तु जितनी पशु पक्षियों और अन्य धातु, काष्ठ आदि की ध्वनियाँ हैं उन सबको न तो मनुष्य बोल ही सकता है और न लिख ही सकता है। हमारा तो विश्वास है कि यदि मनुष्य की भाषा पर कोई वैज्ञानिक नियन्त्रण न किया जाए तो वह इतनी अस्तव्यस्त हो जाए कि एक व्यक्ति दूसरे की ध्वनि ही न समझ सके।

आज यूरोपनिवासियों के मुख से फ़ोनेटिक्स, अर्थात् शास्त्रीय उच्चारण कराने के लिए कितना प्रबन्ध किया जाता है, तब कहीं वर्षों में वैसा उच्चारण हो पाता है, वह भी शुद्ध नहीं। क्या इसका यही कारण नहीं है कि उन्होंने जिन ध्वनियों को बचपन से नहीं सुना, वे ध्वनियाँ वे अपने मुँह से शुद्ध और स्पष्ट निकाल ही नहीं सकते? क्या इस अड़चन के लिए आवश्यक नहीं है कि मनुष्यभाषा की कोई मर्यादा हो? मर्यादा स्थिर करने के लिए वेदों ने मनुष्य के मुख के समस्त स्थानों और प्रयत्नों का वर्गीकरण करके ही वैदिक वर्णमाला की सृष्टि की थी। उनकी इस वर्णमाला में स्वरों के अतिरिक्त पाँच वर्ग हैं। कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग। इन पाँचों में पाँच-पाँच वर्ण हैं, परन्तु वैदिक आर्यों ने एक-एक वर्ग के पाँच-पाँच वर्णों के अतिरिक्त और भी वर्ण निकालने शुरू किये। उन्होंने क़, ख़, ज़, ड़, ढ़ और फ़ आदि भी निकाले,[१] परन्तु तवर्ग से वे कोई अन्य छठी ध्वनि न निकाल सके, क्योंकि संसार में कोई ऐसी ध्वनि सुनाई न पड़ी जो तवर्ग के अन्दर विकार उत्पन्न करने में समर्थ हो। 'क़' और 'क' के उच्चारण में लोग अन्तर दिखला सकते हैं और 'ज़' और 'ज' में भी अन्तर है, परन्तु 'तो' (ط) और 'ते' (ت) की ध्वनि में क्या कोई अरबी जाननेवाला अन्तर दिखला सकता है? कोई नहीं। इस त्रुटि के मिलते ही वैदिक आर्यों ने विकृत उच्चारणों को छोड़ दिया और सब वर्गों को पाँच-पाँच वर्ण का रक्खा। उनको ज्ञात हो गया कि क़, ख़, ग़, ज़, आदि ध्वनियाँ वेद की अन्य ध्वनियों की अपभ्रष्ट ध्वनियाँ हैं, कोई विशेष वर्ण नहीं, इसलिए उन्होंने उसी नैसर्गिक वर्गीकरण द्वारा वैज्ञानिक आधार से मनुष्यभाषा मर्यादित कर दी, जो वेदों ने निर्धारित की थी। उस वैदिक भाषा में न तो

---

१. ये आर्यों के ही उच्चारण हैं। ज़ेंद, फ़ारसी, अंग्रेज़ी आदि में ये उच्चारण पाये जाते हैं।

यही है कि ध्वनियाँ कम कर दी जाएँ, अर्थात् ख, ध, च, छ आदि वर्ण उड़ा ही दिये जाएँ और न यही सम्भव है कि ख़, ग़, ज़ आदि विकृत ध्वनियाँ सम्मिलित ही की जाएँ और उन्हीं की वर्णमाला बनाकर मनुष्य की भाषा और उच्चारण नियन्त्रित और मर्यादित किये जाएँ। वही हुआ और आदि से आज तक उसी के अनुसार काम चल रहा है, परन्तु अरबी और फ़ारसी आदि की बात निराली है—इनकी अस्तव्यस्तता प्रसिद्ध है। इनमें 'क' तो है, परन्तु उसके पास ही का दूसरा सरल अक्षर 'ख' न होकर बिलकुल ही अस्वाभाविक 'ख़' अक्षर विद्यमान है। इसी प्रकार 'ग' होते हुए 'ग़' भी लिया गया है, जिसकी आवश्यकता न थी, परन्तु 'घ' जो एक आवश्यक ध्वनि थी वह छोड़ दी गई है। यह अमर्यादित अव्यवस्था है। न तो 'ख' ही छोड़ने योग्य है और न 'ख़' के बढ़ाने की ही आवश्यकता है, क्योंकि 'तवर्ग' ने पाँच-पाँच वर्ण के वर्ग का निश्चय कर दिया है और इन विकृत ध्वनियों का प्रबल खण्डन कर दिया है, इसलिए इन बढ़ी हुई ध्वनियों को मनुष्यों का मर्यादित उच्चारण न समझना चाहिए।

कई वर्ष पूर्व प्रयाग की सरस्वती पत्रिका में बाबू जगन्मोहन वर्मा की एक लेखमाला प्रकाशित हुई थी। यह लेखमाला भारतीय लिपी की उत्पत्ति के विषय में थी। उसमें एक स्थान पर उन्होंने लिखा था कि 'टवर्ग' आर्यों का उच्चारण नहीं है, यह तुरानीभाषाओं का उच्चारण है। आर्यलोग जब बाहर से आकर यहाँ बस गये तब उन्होंने यहाँ के बसे हुए तुरानीभाषा बोलनेवाले मूल निवासियों से ये उच्चारण ले-लिये। इस बात की पुष्टि में उन्होंने तीन प्रमाण दिये हैं—१. आर्यों की किसी भाषा में 'टवर्ग' नहीं है। २. टवर्ग से बननेवाले शब्द और धातुएँ बहुत कम हैं और ३. निरुक्तकार ने स्वीकार किया है कि तवर्ग ही टवर्ग हो गया है। ये प्रमाण बहुत लचर और अर्थहीन हैं, अतः हम इनकी भी आलोचना करना उचित समझते हैं।

पहला आरोप यह है कि आर्यों की किसी भी भाषा में टवर्ग नहीं है। इसके उत्तर में हमारा निवेदन है कि आर्यों की किसी भी भाषा में 'भ' नहीं है तो क्या संस्कृत का भकार कहीं आकाश से आ टपका? यूरोपनिवासी कहते हैं कि उनकी भाषा आर्यभाषा ही है। उनकी भाषा में 'टी' और 'डी' विद्यमान है, तब कैसे कहा जाता है कि टवर्ग आर्यों की भाषा में नहीं है। यद्यपि ज़ेंद, पहलवी और फ़ारसी भाषाओं में टवर्ग नहीं है, परन्तु इसका कारण टवर्ग के उच्चारण का अभाव नहीं है, प्रत्युत यह उनकी लिपि का दोष है। संस्कृत को छोड़कर अन्य समस्त आर्यभाषाएँ सेमिटिक लिपि में लिखी जाती हैं—ज़ेंद, पहलवी और फ़ारसी दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती हैं। यद्यपि यूरोप की समस्त भाषाएँ रोमनलिपि द्वारा बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती हैं तथापि रोमन अक्षर सेमिटिक वर्णमाला से ही लिये गये हैं। अबजद से ए बी सी डी, हौवज़ से एच आई जे, कलमन से के एल एम एन, और कुरशत से क्यू आर एस टी लिये गये हैं। इन अक्षरों के कारण ही यूरोप आदि की भाषाओं से अनेक आर्य-उच्चारण नष्ट हो गये हैं तथापि यूरोप की भाषाओं में अब भी ऐसे उच्चारण विद्यमान हैं जिनसे टवर्ग का होना सिद्ध होता है। ज़ेंद और यूरोप की भाषाओं में अब तक बैल को 'उक्ष' और 'ऑक्स' कहते हैं। संस्कृत में भी यह उक्ष ही कहलाता है। ज्ञात हुआ कि अंग्रेज़ी का एक्स (x) 'क्ष' के लिए ही प्रत्युक्त हुआ है। 'क्ष' की रचना 'क' और 'ष' के संयोग से हुई है। 'ष' का उच्चारण 'ऋटुरषाणां मूर्द्धा' के अनुसार टवर्ग के ही स्थान से होता है। जिस भाषा में 'ट' न होगा उसमें 'ष' हो जाएगा, जैसे 'मातुष्टे'। अंग्रेज़ीभाषा में 'ष' को सूचित करनेवाला 'एक्स' और 'ट' को सूचित करानेवाली 'टी' विद्यमान है। इसी प्रकार ज़ेंद में भी 'क्ष' के होने से ज्ञात होता है कि टवर्ग का उच्चारण उसमें भी था।

दूसरा आक्षेप यह है कि टवर्ग से आरम्भ होनेवाले शब्द नहीं है और टवर्ग से बहुत ही थोड़ी धातुएँ बनाई गई हैं। वेदों में टवर्ग ही से नहीं प्रत्युत थ, झ, ञ से भी कोई शब्द आरम्भ नहीं होता तो क्या ये उच्चारण भी आर्यों के नहीं हैं? रही टवर्ग से बननेवाली धातुओं की कमी वह कोई अभाव की दलील नहीं है। टवर्ग कर्णकटु है और संस्कृत का समस्त साहित्य वेदों से लेकर गङ्गाष्टक तक कविता में है, इसलिए उसका प्रयोग बहुत ही कम किया गया है, फिर भी धातु पाठ में टवर्ग से आरम्भ होनेवाली बहुत-सी धातुएँ हैं।

तीसरा आक्षेप यह है कि निरुक्तकार ने 'निघण्टव' को 'निगन्तव' शब्द का पर्याय बतलाया है, अर्थात् यास्काचार्य के मत से 'त' का 'ट' हो गया है। हम पूछते हैं कि 'ट' का 'त' तो इस प्रकार हुआ, परन्तु इसी निघण्टव शब्द में 'घ' का 'ग' कैसे हो गया। यह तो वैदिक व्याकरण का नियम है कि 'त' कारणवश 'ट' हो जाता है, जैसे 'मातुस्ते' के स्थान में 'मातुष्टे'। इस विवेचन से ज्ञात होता है कि टवर्ग को आर्यों ने अनार्यों से नहीं लिया। पाँचों वर्गों के बीच में बैठा हुआ टवर्ग क्या आर्यों के उच्चारण से बाहर का हो सकता है? ऋ, र, ष और क्ष, के साथ टवर्ग उसी प्रकार नत्थी है जैसे शरीर के साथ प्राण, अतएव टवर्ग आर्यों की भाषा से किसी प्रकार पृथक् नहीं हो सकता। इस प्रकार वैदिक भाषा पाँचों वर्ग के पाँच-पाँच वर्णों से मर्यादित और वैज्ञानिक बना दी गई है, इसलिए मर्यादित और वैज्ञानिक वर्णमाला द्वारा संरक्षित भाषा कभी बदल नहीं सकती। परिवर्तन रोकने के लिए भाषा मर्यादित की गई है। यदि मर्यादित न की जाए, मनुष्य के मुख से निकलनेवाले समस्त उच्चारणों में मनमानी फिरने दी जाए और सभी ध्वनियों को स्थिर करने का प्रयत्न किया जाए तो लिपिकला कभी पूर्णता को पहुँच ही नहीं सकती। चीन में भाषा की मर्यादा नहीं है, एक ही शब्द तनिक-से फेरफार के साथ अनेक प्रकार से बोला जाता है। परिणाम यह हुआ कि वहाँ जितने शब्द हैं उतने ही अक्षर बनाने पड़े हैं, इसलिए मनुष्य की भाषा को मर्यादित करने के लिए वैज्ञानिक नींव पर ही सारी वैदिक भाषा का भवन उठाया गया है। वैदिक वर्णमाला पूर्ण है, उसमें न कमी है न अधिकता, अतः ऐसी पूर्ण वर्णमाला से आबद्ध और संगठित वैदिक भाषा का परिवर्तन नहीं हो सकता।

२. जिन मर्यादित उच्चारणों से वेदभाषा बनी है, उन्हीं उच्चारणों के व्यक्त करनेवाले लिपिचिह्नों (अक्षरों) के द्वारा ही वह लिपिबद्ध होती चली आ रही है, इसलिए भी उसमें परिवर्तन नहीं हुआ, क्योंकि वैदिकों के पास लिखने की कला आरम्भ से विद्यमान थी। यदि आर्यब्राह्मणों के पास लिपिकला आदिसमय से न होती तो वे इतने बड़े वैदिक साहित्य का विस्तार न कर सकते। वेदों में लिपि के प्रमाणित करनेवाले इतने प्रमाण हैं कि यदि सब एकत्र किये जाएँ तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन जाए। रायबहादुर पं० गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा ने अपने बृहत् ग्रन्थ में वेदों के ही प्रमाणों से सिद्ध कर दिया है कि वैदिक काल में आर्य लिखना जानते थे, उन्होंने लिखना किसी अन्य देश से नहीं सीखा। उनकी लिपि का नाम 'ब्राह्मलिपि' था, परन्तु प्रायः लोग शंका करते हैं कि जब आर्यों में इतने प्राचीन काल से लिखने की विद्या प्रचलित थी तब अत्यन्त पुराने समय का कोई शिलालेख, ताम्रपत्र और सिक्का क्यों नहीं मिलता? इसपर हमारा निवेदन है कि जबसे अनुसन्धान होने लगा है तब से जो कुछ सामग्री प्राप्त हुई है, उससे प्रमाणित होता है कि भारतीय आर्य चौबीस सौ वर्ष पूर्व से लिखना जानते हैं। पचास वर्ष पूर्व केवल अशोकलिपियों के सिवा दूसरी लिपि नहीं प्राप्त हुई थी, किन्तु अब उसके पूर्व के भी कई लेख मिले हैं, जिनसे अनुमान होता है कि आगे चलकर और भी पुराने लेखों के मिलने की आशा है, परन्तु इस आशा में यह दुराशा भरी हुई है कि मिलनेवाले सब लेख पढ़ लिये जाएँगे या नहीं

और वे सब सत्य होंगे या नहीं।

'स्टार' टापू में जो बड़ी-बड़ी मूर्तियों पर आड़ी-टेढ़ी लकीरें लिखी हुई पाई जाती हैं उनको आज तक कोई पढ़ नहीं सका[१]। इसी प्रकार मिस्र के भी बहुत-से चित्रलेख पढ़े नहीं जा सकते[२]। ऐसी दशा में यदि कोई अत्यन्त पुराकाल का लेख मिल भी जाए तो वह पढ़ा न जा सकेगा। दूसरी अड़चन शिलालेखों की सचाई की है। पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने कई शिलालेखों को असत्य कहा है। 'भारतीय लिपिमाला' में एक शिलालेख का उल्लेख करके आप कहते हैं कि इस लेख में जो संवत्, मास, तिथि, वार दिया है, वह उस संवत् में था ही नहीं। इसी प्रकार 'राजपूताने का इतिहास' प्रथम खण्ड पृष्ठ ३९७ पर वे लिखते हैं कि "शिलालेखों में मेवाड़ के राजाओं की वंशावली गुहिल (गुहदत्त) से आरम्भ होती है। वि० सं० ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक के लेखों से ज्ञात होता है कि उस समय तक तो वहाँवालों को उक्त वंशावली का ठीक-ठीक ज्ञान था, परन्तु उसके बाद वि० सं० की १५वीं शताब्दी के अन्त तक के शिलालेखों से पाया जाता है कि उस समय लोग पुराने नाम भूल गये थे, क्योंकि जो नाम स्मरण थे वे ही उस समय के शिलालेखों में समाविष्ट किये गये हैं। वि० सं० १०२८ के शिलालेख में गुहिल के वंश में वप्प (वापा) का होना लिखा है, परन्तु वि० सं० १३३१, १३४२, १४९६ के शिलालेखों से वप्प (वापा) को, जो गुहिल से आठवीं पुश्त में हुआ था, गुहिल का पिता मान लिया। वापा किसी राजा का नाम नहीं, किन्तु उपनाम था और पीछे से तो वे यह भी भूल गये कि किसी राजा का नाम वापा था। राजा कुम्भा बड़ा ही विद्वान् राजा था जिसको अपने कुल की वंशावली की त्रुटि ज्ञात होने से उसने पहले के शिलालेखों का संग्रह कराकर वंशावली को ठीक करने और वापा किसी राजा का उपनाम था यह निश्चय करने का उद्योग कर वि०सं० १५१७ की कुम्भलगढ़ की प्रशस्ति में अपनी शोध के अनुसार वंशावली दी, परन्तु उसमें भी कुछ त्रुटियाँ रह गईं"। इस वर्णन से पता लगता है कि ११वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक के जितने लेख हैं सबमें वंशावली अशुद्ध दी हुई है। ये लेख सत्य नहीं हैं, प्रत्युत भ्रम फैलानेवाले हैं।

जैसे इस प्रकार के शिलालेख असत्य और भ्रम फैलानेवाले हैं उसी प्रकार बहुत-से लेख जान-बूझकर जालसाज़ी के रूप में भी लिखवाये गये हैं, जो इनसे भी अधिक धोखा देनेवाले हैं। सभी जानते हैं कि पुस्तकों में प्रक्षेप हुआ है। इससे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि जाली लेख जानबूझकर लिखवाये गये हैं। यही नहीं प्रत्युत अन्य देशों में भी इस प्रकार की जालसाजियाँ हुई हैं और हो रही हैं। 'गुजरात' नामक पत्र के भाग तीन, अङ्क सात, पृष्ठ ६०१ पर लिखा है कि 'अल्बेनिया के लोगों का हाल जानने के लिए वहाँ बहुत-से विद्वान् जाया करते थे और पुराने लेखों के लिए रुपया भी देते थे, अतः लेखों को व्यापार की वस्तु बनाकर ठगों ने जाली लेख लिख-लिखकर बेचना शुरू कर दिया'। हमारे देश में भी 'चारयारी' और 'रामलक्ष्मण' की छाप के रुपये बनाकर लोग बेचा करते हैं। इसलिए सभी शिलालेख, ताम्रपत्र आदि विश्वास के योग्य नहीं हैं। ऐसी दशा में जब पुराने लेखों का पढ़ना दुस्साध्य है और उनकी सत्यता में भी सन्देह है तब पुराकालीन लेख हमारे लिए उपयोगी ही होते, इसमें सन्देह है। जो वस्तुएँ अधिक काल

---

१. स्टार टापू प्रशान्तमहासागर के दक्षिण में स्थित है। इसका आयतन ४५ वर्ग मील है। इसमें बहुत-सी पाषाण की मूर्तियाँ हैं, जिनमें रेखाकार चित्रलिपि लिखी हुई है, परन्तु उसका समग्र वृत्त अज्ञात है।
—मानवेर आदि जन्मभूमि।

२. There has not yet been any authoritative study of the meaning of these earliest inscriptions which are very difficult to understand, owing to the transitory condition of ideographs having not yet yeilded to syllabic usage. —*Harmsworth History of the World.*

व्यतीत हो जाने पर निरुपयोगी हो सकती हैं और जिनमें असत्यता की भी सम्भावना हो सकती है उनकी सृष्टि करना और संचित करना कोई आवश्यक बात नहीं है। ऐसी दशा में सच्चे और उपयोगितावादी वैदिक आर्यों के यदि कोई प्राचीन लेख नहीं मिलते तो इससे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उन्हें लिखना नहीं आता था। बीस हज़ार से अधिक मन्त्रोंवाला वेदों का बड़ा पुस्तक जिस देश में लाखों वर्ष से प्रचलित है, उस देश के लिए लिखने की विद्या पर बहस करना समय खोना है। वैदिक आर्य वैदिक काल में भी लिखना जानते थे, यह बात वेदों के ही प्रमाणों से अनेक बार सिद्ध हो चुकी है, इसलिए वेदों के साथ लिपि का प्रादुर्भाव होना इस बात की प्रबल दलील है कि जो भाषा वेदों के प्रादुर्भाव के समय जिस प्रकार बोली जाती थी उसका वही उच्चारण आज भी उपस्थित है, क्योंकि लिपि उच्चारण को स्थिर करके भाषा को बहकने से बचाती है। ब्राह्मणों की ब्राह्मीलिपि में समस्त उच्चारणों के लिए पूरे चिह्न पाये जाते हैं, इससे निश्चित होता है कि वेदभाषा उसी प्रकार लिखी गई जिस प्रकार वह बोली जाती थी, इसलिए लिपि की दृष्टि से भी यही सिद्ध होता है कि वेदों का जो उच्चारण आदिकाल में था, वह अब तक बना हुआ है, कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ।

३. जिस प्रकार वैदिक वर्णमाला और ब्राह्मीलिपि ने वेदों की भाषा को परिवर्तित होने से बचाया है, उसी प्रकार वेदों के व्याकरण ने भी उसे ऐसा जकड़ दिया है कि उसमें तनिक-सा भी फेरफार नहीं हो सकता। वेदों का व्याकरण बहुत पुराना है। वह ब्राह्मणकाल के पूर्व उपस्थित था। उसकी चर्चा गोपथब्राह्मण में की गई है। यास्क, पाणिनि और पतञ्जलि ने भी व्याकरण के पूर्वाचार्यों का वर्णन किया है। पाणिनि का धातुपाठ तो कहा ही नहीं जा सकता कि कितना प्राचीन है। हमारा तो यह अनुमान है कि धातुपाठ से पुराना साहित्य इस समय और कोई दूसरा नहीं है। वैदिक व्याकरण अपनी पूरी वर्णमाला, धातुपाठ, प्रत्ययनियम, तीन लिङ्ग, तीन वचन, आठ विभक्ति, दश लकार, सन्धिकौशल और स्वरविज्ञान के लिए जगत्प्रसिद्ध है। इन समस्त प्रक्रियाओं का जब वाक्यों में ठीक-ठीक उपयोग होता है तब वे वाक्य अचल और अटल बन जाते हैं। उन वाक्यों में जो कुछ कहा जाता है, वह जिससे कहा जाता है उसके पास उसी रूप में पहुँचता है, जिस रूप में वह वक्ता के पास था। हज़ारों वर्ष तक उस वाक्य का वही तात्पर्य निकलता रहेगा जो उसके बनने के समय निश्चित हुआ था। इसका कारण यही है कि वह वाक्य अपनी वर्णमाला, स्वर, धातु और अन्य व्याकरण के नियमों में अच्छी प्रकार ग्रथित कर दिया गया है।

व्याकरण की यह विशेषता संसार के अन्य किसी व्याकरण में नहीं है। किसी अंग्रेज़ी पढ़नेवाले से पूछिए कि 'एन' और 'ओ' से 'नो' होता है, परन्तु 'डि' और 'ओ' से 'डो' क्यों नहीं होता तो वह बिचारा कुछ भी उत्तर न दे सकेगा। इसी प्रकार अरबी पढ़नेवाले से पूछिए कि जिस प्रकार 'क़त्ल' से क़ातिल और मक़तूल, 'सब्र' से साबिर और मसबूर बनता है उसी प्रकार ज़ालिम और मज़लूम बनानेवाली धातु 'ज़ल्म' क्यों नहीं? उसे 'ज़ुल्म' क्यों कहा जाता है? इसका भी कोई उत्तर नहीं है। इस गड़बड़ का कारण व्याकरण की अपूर्णता है, परन्तु वेदों के सम्पूर्ण व्याकरण में ऐसी त्रुटियों के लिए बिलकुल स्थान नहीं है। इस पूर्णता की यद्यपि लोग प्रशंसा करते हैं, परन्तु प्रशंसा के साथ शिकायत भी करते हैं। लोगों का कहना है कि इस प्रकार के प्रौढ़ और पूर्ण व्याकरण से भाषा का विकास रुक जाता है। उसमें नवीन शब्दों की सृष्टि नहीं हो सकती, किन्तु हम कहते हैं कि इन बातों में कुछ भी सार नहीं है। ऐसी बातें करनेवाले संस्कृत के इतिहास से परिचित नहीं हैं। वे नहीं जानते कि नवीन शब्दों की रचना करके भाषाविस्तार करना जितना सुगम संस्कृत में है उतना और किसी भाषा में नहीं है। हाँ, यह सुगमता उसी को है जो संस्कृत के धातु और प्रत्ययविज्ञान को जानता है। स्मरण रखना चाहिए कि भिण्डी को

'लेडीफिंगर' और रीठे को 'सोपनट' कह देना जितना सरल है उतना धातुओं के द्वारा शब्द नियत करना सहज नहीं है। धातुओं के द्वारा शब्द नियत करते समय सबसे पहले उस पदार्थ का एक लक्षण करना पड़ता है कि यह लक्षण किस गण, अर्थात् विभाग का है। इसके पश्चात् उस विभाग का लक्षण सूचित करानेवाले धातुओं पर दृष्टि डाली जाती है और जो धातु उस गण के अनुरूप उस पदार्थ के लक्षण से मिलता हुआ लक्षण कहता है उसी में प्रत्यय जोड़कर शब्द बनाया जाता है। इस सारी विधि में पदार्थ का लक्षण करना, गण स्थिर करना, उस योग्य धातु ढूँढना और प्रत्यय लगाना बड़ी प्रतिभावाले का काम है। प्रतिभावान् पण्डित थोड़े विचार से ही इस प्रकार से शब्दबाहुल्य करके भाषा का विस्तार कर सकता है।

प्राचीन आर्यों ने इसी विधि से ज्योतिष, वैद्यक और दर्शन आदि के सैकड़ों शब्दों को बनाकर भाषा का विस्तार किया है। सभी जानते हैं कि आदि में उनके पास वेद के ही शब्द थे, परन्तु उन्होंने वेदशब्दों से ही सब-कुछ नहीं लिखा। तब फिर इतना बड़ा शब्दभण्डार उन्होंने कहाँ से प्राप्त कर लिया? मानना पड़ेगा कि उन्होंने इसी धातुप्रत्ययविज्ञान से ही अपनी भाषा को इतना विस्तृत किया था। एक ही शब्द को धात्वर्थ के सहारे भिन्न-भिन्न अनेक प्रकरणों में डालकर अनेक अर्थ प्राप्त करना इसी भाषा में है। इस प्रकार का भाषा चमत्कार संसार की किसी भाषा में नहीं है। इसी से कहते हैं कि वैदिक व्याकरण में संकोच का दोष नहीं, प्रत्युत विस्तार का गुण है। वैदिक व्याकरण भाषाविस्तार में सहायक है, बाधक नहीं। रही बात यह कि इस प्रकार का व्याकरण भाषा को स्थिर कर देता है, तो यह इसकी विशेषता है। यदि इसमें यह विशेषता न होती तो आज वेदों की भाषा का क्या रूप होता और उसका अर्थ हो सकता या नहीं, कहा नहीं जा सकता। हम तो इस गुण का स्वागत करते हैं और प्रबलता से कहते हैं कि वेदों का व्याकरण ऐसा पूर्ण है कि जिससे वेदभाषा परिवर्तित नहीं हुई।

वैदिक व्याकरण में महत्त्व की बात स्वरविज्ञान की है। यह कौशल संसार की किसी अन्य भाषा में नहीं है। वेदभाषा स्वरों के द्वारा अर्थ को निश्चित करती है। हमने शिक्षाकार के श्लोक को लिखकर दिखलाया था कि **'यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्',** अर्थात् स्वर के अपराध से जैसे 'इन्द्रशत्रु का अर्थ बदल गया उसी प्रकार स्वरदोष से सर्वत्र ही अर्थ बदल जाता है। इसलिए स्वरों में कभी ग़लती न होनी चाहिए। 'इन्द्रशत्रु' शब्द में समास है, परन्तु बिना स्वर के ज्ञात नहीं होता कि कौन-सा समास है। 'इन्द्रशत्रु' पर अन्त्योदात्त स्वर लगाने से षष्ठीतत्पुरुष समास होता है जिसका अर्थ 'इन्द्र का शत्रु' होगा, परन्तु 'इन्द्रशत्रु' आद्युदात्त स्वर लगने से बहुब्रीहि समास होता है, जिसका अर्थ 'इन्द्र है शत्रु जिसका' होगा। इस प्रकार वैदिक व्याकरण जहाँ भाषा के परिवर्तन को रोकता है वहाँ स्वरों के द्वारा अर्थपरिवर्तन को भी रोकता है। यही कारण है कि वेदभाषा अपने व्याकरण आदि से आज तक एक मात्रा के बराबर भी परिवर्तित नहीं हुई।

४. वैदिक भाषा को परिवर्तन से सबसे अधिक बचानेवाली वेदों के पाठ करने की विधि है। वैदिक भाषा को शुद्ध रखने के लिए वेदों के पढ़ने के जो अनेक क्रम बनाये गये हैं, वही उसको ज्यों-का-त्यों बनाये रखने में सबसे अधिक समर्थ हुए हैं। घन, जटा और माला आदि लगाकर वेदपाठ करने से शब्दों में अशुद्धि नहीं हो सकती, न अर्थ करने में ही कठिनाई हो सकती है। हमने एक बार इस विषय की महत्ता का अनुभव किया। बम्बई में आर्यसमाज और सनातनधर्म के बीच मूर्त्तिपूजा का शास्त्रार्थ छिड़ा। आर्यसमाज की ओर से मूर्त्तिपूजा निषेध में **'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** यह मन्त्र पेश किया गया और अर्थ किया गया कि उसकी प्रतिमा नहीं है, परन्तु सनातनधर्मियों की ओर से इस वाक्य का इस प्रकार अर्थ किया गया कि **'नतस्य प्रतिमा अस्ति'** अर्थात् नत की प्रतिमा है। आर्यसमाजी कहते थे कि **'तस्य प्रतिमा नास्ति',** अर्थात् उसकी

प्रतिमा नहीं है और सनातन धर्मी कहते थे 'नतस्य—नमनशीलस्य—कोमलस्य परमेश्वरस्य प्रतिमा अस्ति' अर्थात् नत—झुकनेवाले—कोमल परमात्मा की प्रतिमा है। एक पक्ष 'न' और 'तस्य' को अलग-अलग कहता था दूसरा 'नत' और 'स्य' को अलग-अलग कहता था। ऐसी दशा में निर्णय कैसे होता ? परन्तु याद आने पर वेदपाठी बुलाये गये और उनसे घन, जटा के क्रम से इस मन्त्र का पाठ करने को कहा गया। उन्होंने न, न, न; तस्य, तस्य, तस्य; न तस्य, न तस्य, न तस्य; पाठ करके दिखलाया कि 'तस्य' से 'न' अलग है। ज्ञात हो गया कि 'न', 'त' के साथ मिला हुआ नहीं प्रत्युत अकेला है और 'स्य' तस्य के साथ लगा हुआ है 'नत' के साथ नहीं। यह तो पाठ का एक ही प्रकार दिखलाया गया पर वेदपाठ के अनेक प्रकार हैं, जिनसे शब्दों को शुद्ध रखने की उत्तम विधि प्राप्त होती है। जिस धर्मग्रन्थ की इस प्रकार रक्षा हो वही अधिक दिन तक रह सकता है और उसी की भाषा आदि से अन्त तक ज्यों-की-त्यों बिना किसी परिवर्तन के रह सकती है। वेद अपनी वर्णमाला, लिपि, व्याकरण और पाठक्रम के कारण अत्यन्त प्राचीन होने पर भी आज वैसे ही पढ़े जाते हैं जैसे वे अपने जन्मकाल में पढ़े जाते थे और उनकी वह भाषा अब तक वैसी ही बनी हुई है जैसी वह अपने जन्मसमय में थी, इसीलिए कहते हैं कि संसार की समस्त भाषाएँ परिवर्तित हो गईं, परन्तु प्रश्न उपस्थित होता है कि क्यों आर्यब्राह्मणों ने इस मूलभाषा को इतने परिश्रम, तप और यत्न से ज्यों-की-त्यों बनाये रक्खा ? इसका सरल और सीधा-सादा उत्तर यही है कि वैदिक भाषा आदिभाषा है, ईश्वरप्रदत्त, अर्थात् अपौरुषेय है, इसी से इतने परिश्रम के साथ इसकी रक्षा की गई और वह हर प्रकार के दोषों और परिवर्तनों से बची रही।

वैदिक भाषा की अपौरुषेयता

गत पृष्ठों में हमने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि जिस भाषा की वर्णमाला पूर्ण होती है, अर्थात् जिसमें विस्तृत और क्लिष्ट उच्चारण पूर्णता के साथ वैज्ञानिक क्रम से प्रस्तुत होते हैं, वह भाषा किसी दूसरी भाषा का न तो परिवर्तन या अपभ्रंश ही होती है और न उसे मनुष्य अपनी इच्छा से रच ही सकता है। हम देखते हैं कि वैदिक भाषा की वर्णमाला पूर्ण है, अर्थात् उसमें विस्तृत और क्लिष्ट रचना की वर्णमाला वैज्ञानिक क्रम से प्रस्तुत है, इसलिए वह न तो किसी भाषा का परिवर्तन या अपभ्रंश ही है और न मनुष्य की इच्छानुसार उसकी रचना ही हुई है—वह न तो शब्दानुकृति के सिद्धान्त से ही उत्पन्न हुई है और न उसे उद्गारों ने ही उत्पन्न किया है। जो भाषा संसार के किसी साधन के द्वारा उत्पन्न नहीं हुई, जिसमें मनुष्य की कारीगरी का लेश भी नहीं है और जो आदिसृष्टि से आज तक सहस्त्रों भाषाओं को जन्म देकर भी आप ज्यों-की-त्यों बनी हुई है वह मनुष्यकृत नहीं, प्रत्युत अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त है। वर्त्तमान भाषाविज्ञान के पण्डितों की खोज के अनुसार भी सिद्ध होता है कि मूलभाषा आर्यभाषा की भाँति वाक्यरूप संश्लेषणात्मक और विभक्तियुक्त थी। आर्यभाषा की भाँति वाक्यरूप, संश्लेषणात्मक, विभक्तियुक्त, परिवर्तनरहित और पूर्ण वर्णमालायुक्त भाषा की रचना बिना परमेश्वरीय प्रेरणा के आप-ही-आप हो ही नहीं सकता। आप-ही-आप भाषा की उत्पत्ति के जितने कोटिक्रम हैं उन सबको हमने गत पृष्ठों में एक-एक करके देख डाला है, परन्तु कोई भी ऐसा प्रकार हस्तगत नहीं हुआ जिसमें परमेश्वर की सहायता न ली गई हो, इसलिए अब यह बात सर्वतन्त्र सिद्धान्त की भाँति स्वीकार कर लेने योग्य है कि आदिभाषा वैदिक भाषा है और वह अपौरुषेय है—ईश्वर-प्रदत्त है।

वैदिक भाषा के अपौरुषेय होने में जिस प्रकार यह प्रबल युक्ति है कि उसकी वर्णमाला अपौरुषेय है उसी प्रकार यह प्रबलतम युक्ति है कि उसकी वर्णमाला का प्रत्येक वर्ण सार्थक है, अर्थात् वर्ण और शब्द के बीच में तथा शब्द और वाक्य के बीच में वैज्ञानिक सम्बन्ध है जो अर्थ

और ध्वनि के साथ कार्य और कारणभाव दर्शाता है। शब्दरूपी अङ्ग में वर्णरूपी अङ्ग उसी प्रकार ग्रथित हैं जिस प्रकार धड़ के साथ सिर और हाथ-पैर। जो भाषाएँ अकस्मात् उद्भूत होती हैं उनमें कारणकार्य का कौशल नहीं होता, परन्तु वेद का प्रत्येक शब्द वर्णानुसार अर्थ रखता है और प्रत्येक वर्ण अपनी बनावट से अर्थ सूचित करता है, इसलिए वैदिक भाषा की रचना ज्ञानपूर्वक है। ऐसी ज्ञानपूर्वक रचना सिवा परमात्मा के और किसी से नहीं हो सकती। आगे हम नमूने के रूप में वैदिक वर्णमाला का वैज्ञानिक अक्षरार्थ दिखलाने का यत्न करते हैं, जिससे सहज ही में ज्ञात हो जाएगा कि वैदिक भाषा अपौरुषेय है।

अक्षरविज्ञान

भाषाविज्ञान की व्याख्या करते समय प्रो० मैक्समूलर ने लिखा है कि 'ध्वनियाँ विचारों को किस प्रकार प्रकट करती हैं? किस प्रकार धातुएँ विचारों को दर्शानेवाली हो गईं? किसी प्रकार 'मा' का अर्थ नापना, 'मन्' का अर्थ विचार करना, 'गा' का अर्थ जाना, 'स्था' का ठहरना, 'सद' का बैठना, 'दा' का देना, 'मर' का मरना, 'चर' का चलना और 'कर' का अर्थ करना हो गया[१]। मैक्समूलर साहब को पता नहीं लगा कि किसी ध्वनि का अमुक अर्थ क्यों होता है। वे नहीं जान सके कि मूलभाषा की धातुओं के अर्थ किस कारणकार्यभाव से निश्चित किये गये हैं। यह सत्य है कि जो भाषाएँ काल्पनिक हैं—जिनको मनुष्यों ने आवश्यकता पड़ने पर गढ़ लिया है, उनका शब्दार्थ-सम्बन्ध किसी वैज्ञानिक कारणकार्यभाव पर स्थित नहीं बतलाया जा सकता, परन्तु जो भाषा अपौरुषेय है—ईश्वरप्रदत्त है उसके लिए इस प्रकार की शंका करना उचित ही है, अनुचित नहीं। फ़ारसी के 'पिदर' शब्द का मूल संस्कृत का 'पितृ' शब्द बतलाया जा सकता है और दलील दी जा सकती है कि 'पितृ' शब्द में 'ऋ' स्वर की क्लिष्टता है, इसलिए 'तृ' का सरल रूप तर=दर होकर 'पिदर' शब्द बन गया है और 'पिता' अर्थ में ही व्यवहृत होता है। इसलिए फ़ारसीवालों पर यह उत्तरदायित्व नहीं है कि वे 'पिदर' शब्द को पिता अर्थ में क्यों लेते हैं, परन्तु संस्कृतवाले कहते हैं कि 'पिदर' शब्द पितृ शब्द का अपभ्रंश है, इसलिए उन्हें ही बतलाना चाहिए कि वे 'पितृ' शब्द को पिता अर्थ में क्यों लेते हैं। इस उलझन पर संस्कृत का पण्डित कह सकता है कि 'पितृ' शब्द 'पा=रक्षणे' धातु से बनता है, इसलिए पिता, राजा, परमेश्वर आदि जितने रक्षा करनेवाले हैं सब पिता कहलाते हैं। उत्तर अच्छा है और समस्त संसार की भाषाओं पर प्रभाव जमानेवाला है, परन्तु प्रो० मैस्कमूलर के शब्दों में पूछा जा सकता है कि 'पा' धातु का अर्थ रक्षा करना ही क्यों होता है, और कुछ क्यों नहीं? इस प्रश्न पर यद्यपि वर्त्तमान पण्डितमण्डली चुप है, किन्तु प्राचीन वैदिक आर्य चुप नहीं थे। उनका विश्वास था कि मौलिक भाषा अपौरुषेय है और उसके कारणरूप धातुओं और वर्णों का अर्थ अवश्य है। इसी विश्वास पर उन्होंने अक्षरार्थ किया है। वे मानते थे कि जिस प्रकार एक-एक परमाणु से पृथिवी बनी है और पृथिवी में वही गुण हैं जो परमाणुओं में हैं, (ऐसा नहीं है कि पृथिवी में कुछ ऐसे भी गुण आ गये हैं, जो परमाणुओं में न हों), ठीक इसी प्रकार यह भाषारूप पृथिवी भी अक्षररूप परमाणुओं से ही बनी है और वही अर्थरूपी गुण रखती है जो उसके अक्षर रखते हैं। अक्षर शब्द के उस टुकड़े को कहते हैं जिसका फिर टुकड़ा न हो सके। मनुष्य की भाषा अर्थों के सहित है, अत: उसके कारणरूप अक्षर भी अखण्ड—टुकड़े भी सार्थक होने चाहिएँ। जिस प्रकार वाक्यों

---

१. How can sound express thought? How did roots become the signs of general ideas? How was the abstract idea of measuring expressed by *ma*, the idea of thinking by *man*? How did *gā* come to mean going, *sthā* standing, *sad* sitting, *dā* giving, *mar* dying, *char* walking and *kar* doing.?
—*Lectures on the Science of the Language,* Vol. I, p. 82 by Maxmuller.

का अर्थ तब समझ में आता है जब उस वाक्य में आये हुए सब शब्दों का अर्थ ज्ञात हो, उसी प्रकार क्या यह सिद्धान्त न होना चाहिए कि शब्दों का अर्थ तभी ठीक-ठीक समझ में आ सकता है जब उन अक्षरों का अर्थ ज्ञात हो जिनसे वे शब्द बने हैं ? विशेषकर जो भाषा परमेश्वरीय और वैज्ञानिक होने का दावा करती है उसके अक्षर तो अवश्य ही सार्थक होने चाहिएँ, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि अक्षरार्थ पर विचार करना बहुत दिन से छूट गया है।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि वैदिक काल में वेद के एक-एक अक्षर का अर्थ होता था। यह हमारी ही कल्पना नहीं है प्रत्युत संस्कृतभाषा के महा वैयाकरण पतञ्जलि की भी सम्मति है कि एक-एक वर्ण का अर्थ होता है। वे अपने महाभाष्य में लिखते हैं कि '**अर्थवन्तो वर्णाः। धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्। धातवा एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते। प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति। निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः**', अर्थात् वर्ण अर्थवाले हैं। धातु, नाम, प्रत्यय और निपात का प्रत्येक वर्ण अर्थवान् है। इसी प्रकार धातु एक वर्ण का अर्थवान् होता है, नाम अनेक वर्णों के संयोग से अर्थवान् होते हैं और निपात एक वर्ण का अर्थवान् होता है। यह महामुनि पतञ्जलि की भी कल्पना नहीं है, प्रत्युत वेद स्वयं कहते हैं कि—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते॥ —ऋग्वेद १।१६४।३९

अर्थात् ऋचाएँ परम अविनाशी शब्दमय अक्षर में ठहरी हैं, जिनमें देवता, अर्थात् शब्द के विषय (अर्थ) ठहरे हैं। जो उस अक्षरार्थ को नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त करेगा ?

इसी मन्त्र पर पतञ्जलिमुनि ने कहा है कि—

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते। तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते।

—महाभाष्य १।१२

अर्थात् वाणी का विषय वर्णज्ञान है, जहाँ ब्रह्म (वेद) विद्यमान है।

इसका तात्पर्य यही है कि बिना अक्षरार्थ के वेद का ज्ञान नहीं हो सकता। निरुक्तकार ने भी कहीं-कहीं इस वैदिक शैली का अनुकरण किया है। वे लिखते हैं कि—

कः कमनीयो भवति सुखो भवति क्रमणीयो वा।
तद्यथा कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा इति। —निरु० दै० ४।२।२२
गकारमनक्तेर्वा दहतेर्वा। —निरु० दै० १।१४

अर्थात् क, कमनीय, सुख, क्रमणीय आदि अर्थवाला है और ग, दहन आदि अर्थवाला है।

यह शैली उपनिषदों में भी पाई जाती है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'सत्य' शब्द के स, त और य अक्षर का अर्थ करते हुए कहा गया है कि—

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि 'सतियमिति'
तद्यत् सत् तदमृतमथ यत् ति तन्मर्त्यमथ यत् यम् तेनोभे यच्छति।

अर्थात् 'सत्य' शब्द के तीन अक्षरों में से 'स' का अर्थ अमृत, 'त' का अर्थ मर्त्य और 'य' का अर्थ दोनों को नियम में रखनेवाला है।

ब्राह्मणग्रन्थों में इस प्रकार के नमूने बहुत ही विशदरूप से पाये जाते हैं। गोपथब्राह्मण में 'भर्ग' शब्द के लिए लिखा है कि—

भ, इति भासयतीतीमांल्लोकान्।
र, इति रञ्जयतीतीमांल्लोकान्।
ग, इति गमयतीतीमांल्लोकान्, इत भर्गः। —गोपथब्राह्मण

अर्थात् 'भ' से भासित होना, 'र' से रञ्जित होना और 'ग' से गमन करना समझना चाहिए। दूसरे स्थान पर गोपथ २।२।५ में लिखा है कि—

मख इत्येतद् यज्ञनामधेयं छिद्रप्रतिषेधसामर्थ्यात्।
छिद्रं खमित्युक्तं तस्य मेति प्रतिषेधः मा यज्ञे छिद्रं करिष्यतीति।

अर्थात् यज्ञ का नाम मख है। उसमें कोई छिद्र (त्रुटि) न हो, इसलिए उसका नाम मख रक्खा गया है। छिद्र को 'ख' कहते हैं। उसका निषेध करनेवाला 'म' है। यज्ञ में कोई छिद्र (त्रुटि) न होने पाए, इसलिए उसको 'मख' कहते हैं।

इसी प्रकार का अर्थ 'नाक' शब्द का निरुक्त में किया गया है। वहाँ लिखा है कि '**कमिति सुखनाम, तत् प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत्**' अर्थात् 'क' सुख को कहते हैं। सुख का निषेध करनेवाला 'अ' है और 'अ' का निषेध करनेवाला 'न' है। इस प्रकार नाक नाम सुखस्थान—स्वर्ग का है।

इसी प्रकार समस्त वैदिक और लौकिक साहित्य में प्रत्येक अक्षर का अर्थ प्रचलित है। सभी जानते हैं कि अ—नहीं, आ—अच्छी प्रकार, ई—गति, उ—और, ऋ—गति, ऌ—गति, क—सुख, ख—आकाश, ग—गति, च—पुनः, ज—उत्पन्न होना, झ—नाश, त—पार, थ—ठहरना, दा—देना, धा—धारण करना, न—नहीं, पा—रक्षा करना, भा—प्रकाश करना, मा—नापना, य—जो, रा—देना, ल—लेना, वा—गति, स—साथ और ह—निश्चय अर्थ रखता है।

इन समस्त प्रमाणों से अच्छी प्रकार स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक ऋषि अक्षरार्थ का ज्ञान रखते थे और उसी शैली से अर्थ करते थे। इस प्रकार के मौलिक अर्थों को ढूँढ निकालने की विधि उन्हें वंशपरम्परा से ज्ञात थी। वे इसे योग के द्वारा सम्पादित करते थे। वे धातुओं में आये हुए वर्णों में संयम करते थे और प्रत्येक वर्ण का अर्थ स्थिर कर लेते थे। पतञ्जलिमुनि ने इस संयम के लिए योगशास्त्र में लिखा है कि—

'शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम्'।

अर्थात् शब्द, अर्थ और प्रत्ययों के संयोग-विभागों में संयम करने से समस्त प्राणियों की भाषाओं का ज्ञान हो जाता है।

जिस प्रकार धातु, प्रत्ययों में संयम करने से मनुष्य को भाषा के प्रत्येक वर्ण के अर्थों का बोध होता है उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी की भाषा में संयम करने से प्रत्येक प्राणी की भाषा का ज्ञान हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि अक्षरविज्ञान जानने के लिए धातुओं और प्रत्ययों में संयम करने की आवश्यकता है। थोड़े ही दिन संयम करने से पता लगने लगता है कि अमुक शब्द के भीतर अमुक वर्ण अपना कौन-सा भाव प्रकट कर रहा है। इस प्रकार अनेक शब्दों में ढूँढने से उस वर्ण का भाव विदित हो जाता है और ज्ञात हो जाता है कि यह वर्ण इस प्रकार का अर्थ रखता है। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसका अनुभव किया है। आर०सी० ट्रेनिच, डी०डी० अपनी पुस्तक 'स्टडी आफ़ वर्ड्स' में लिखते हैं कि एक-एक शब्द और अक्षर में कविता भरी हुई है, इसलिए शब्दों का वास्तविक अर्थ जानने के लिए शब्दों के धात्वर्थों को अवश्य जान लेना चाहिए। हम भी यही कहते हैं कि बिना धात्वर्थ के और बिना अक्षरार्थ के भाषा का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिए यदि हम चाहते हैं कि वैदिक भाषा को वैज्ञानिक, अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त सिद्ध करें तो उचित है कि उसके एक-एक अक्षर के अर्थ को समझें कि किस प्रकार और किन कारणों से उसकी धातुओं का—वर्णों का, अक्षरों का अमुक अर्थ होता है।

वेद के प्रत्येक अक्षर का अर्थ उसकी बनावट से ज्ञात होता है। अक्षरों की बनावट दो प्रकार की है। एक तो वह बनावट है जो मुँह में अक्षरों के उच्चारण करते समय बनती है और दूसरी

वह है जो लिखने के समय लेखनी से रेखारूप होकर काग़ज़ में चित्रित होती है। पहली मुख्य है और दूसरी उसकी साक्षी है। साक्षी से यह बात प्रमाणित होती है कि मुख की बनावट स्थिर करने में धोखा तो नहीं हो रहा। मुँह से निकलते समय जो अक्षर अपना जो-जो भाव, बनावट, ध्वनि, प्रभाव और क्रिया करता है, उसी से उसका अर्थ निश्चित होता है। इसी प्रकार उस अक्षर के चित्र, रेखा, बनावट और प्रभाव से जो भाव उत्पन्न होता है वह प्रथम कहे हुए अर्थ का पोषक होता है। इसका कारण यही है कि वैदिक लिपि अक्षरार्थ के ही अनुरूप बनाई गई है। उदाहरणार्थ 'अ' का अर्थ अभाव है। अभाव का चित्र इस O शून्य से अधिक अच्छा दूसरा नहीं हो सकता। यही शून्य 'अ' चित्र का मूल है। इसी प्रकार 'ई' का अर्थ गति है और गति का चित्र इससे अधिक अच्छा और कोई नहीं हो सकता। इसी प्रकार सब सानुनासिक अक्षर मूर्द्धाछिद्र से बोले जाते हैं, अतः उस छिद्र का '०' यह कैसा उत्तम चित्र है ? सब जानते हैं कि न, म, ण, आदि सानुनासिक वर्ण अभाव अर्थवाले हैं, अतः अभाव के लिए भी '०' इस शून्य से अच्छा चित्र और नहीं हो सकता। अक्षरों के अतिरिक्त अङ्क तो बहुत ही स्पष्ट रीति से अपना अर्थ प्रकट करते हैं जो इस परिणामदर्शक अङ्कमाला से स्पष्ट हो रहा है—

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १०

इसमें प्रत्येक अङ्क की मर्यादा को उसकी रेखाएँ बता रही हैं। इसी तरह बिन्दु, अर्थात् बूँद का '·' यह, रेखा का '—' यह और परिधि, अर्थात् घेरे का 'O' यह कितना स्वाभाविक चित्र है। जो भाव वस्तु के अर्थ से निकलता है वही भाव चित्र के देखने से भी प्रकट हो रहा है, अर्थात् अक्षर, अङ्क और रेखाएँ अपना-अपना अर्थ अपने-अपने रूपों से ही कह रही है, अतः हमने जो एकाक्षर अर्थ की जाँच के लिए लिपि की शकलों को प्रमाण माना है, वह बहुत ही उचित है।

वैदिक काल से लेकर आज तक जो लिपि प्रचलित है उसका नाम ब्राह्मीलिपि है। ब्रह्म नाम वेद का है, इसीलिए वेदलिपि को ब्राह्मीलिपि कहते हैं। यहाँ हम उसी ब्राह्मीलिपि की परिणामदर्शक सम्पूर्ण वर्णमाला लिखते हैं और आज तक प्राचीन-से-प्राचीन जो लेख मिले हैं उनसे अक्षरों को चुन-चनकर शताब्दीवार दिखलाते हैं कि किस प्रकार प्रत्येक वर्ण धीरे-धीरे बदलता हुआ किस रूप में पहुँचा है। जो रूप प्रथम कोष्ठक में दिया है उससे पूर्व का रूप नहीं मिलता। उसके पूर्व रूप की हमने कल्पना की है। पहले तो हमने यह कल्पना ही की थी, परन्तु ईश्वर की कृपा से हमारी इस कल्पना का एक बड़ा अंश सत्य सिद्ध हो गया है। अक्षरविज्ञान लिखते समय हमने १ २ ३ ४ ५ आदि अङ्कों के रूपों की कल्पना। = ≡ ॥ इस प्रकार की थी। उस समय तक हमको कोई ऐसा पुराना लेख नहीं मिला था जिसमें इस प्रकार के अंक हों, परन्तु पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का ग्रन्थ देखते ही ज्ञात हो गया कि अभी हाल में जो दो एक प्राचीन लेख मिले हैं उनमें अङ्क इसी प्रकार दिये हुए हैं। हमारी कल्पना सत्य हुई, अतः अब हम इसे कल्पना नहीं कहते। अब तो यह एक सिद्ध बात हो गई है, अतएव हम आगे अक्षरार्थ के साथ-साथ अक्षरों के रूपों का भी कारण बतलाते जाएँगे।

अक्षरार्थ और लिपि

वैदिक वर्णमाला में मुख्यतः १७ अक्षर हैं[१]। इन १७ में जितने अक्षर केवल प्रयत्न, अर्थात् मुख और जिह्वा के इधर-उधर हिलाने, सिकोडने और फैलाने से बोले जाते हैं और किसी विशेष स्थान से सम्बन्ध नहीं रखते उन्हें 'स्वर' कहते हैं और जिनके उच्चारण में स्थान और प्रयत्न दोनों की सहायता लेना पड़ती है, उन्हें व्यञ्जन कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ और ऌ स्वर हैं, क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प, ब, व्यञ्जन हैं और अनुस्वार तथा विसर्ग मध्यस्थ हैं। यही १७ अक्षर परस्पर के मिश्रण और संयोग से ६४ प्रकार के हो गये हैं। अ, अ, से आ और आ, अ, से आ३ बना है। इसी प्रकार इ, उ, ऋ और ऌ का भी विस्तार है[२]। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत भेद से इनके तीन-तीन रूप हो जाते हैं, इसलिए अ, से ऌ, तक इनकी संख्या १५ है और ए, ए३, ऐ, ऐ३, ओ, ओ३, औ, औ३, और अं, अः, मिलकर सब स्वरों की संख्या २५ होती हैं। इनमें अ, इ, उ, ऋ और ऌ, स्वतन्त्र हैं, परन्तु ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः मिश्रित हैं। अ और इ के मिश्रण से ए, आ और ई के मिश्रण से ऐ, अ और उ के मिश्रण से ओ तथा आ और ऊ के मिश्रण से औ बना है। इसी प्रकार अ और ँ से अं तथा अ और : से अः बना है। ञ, ण, न, ङ, म, ꣳ और ꣴ आदि समस्त सानुनासिक वर्ण अनुस्वार से और ह, स, श, ष आदि वर्ण विसर्गों से ही बने हैं। विसर्गों में 'अ' जोड़ने से 'ह' बन जाता है, 'ह' अर्थात् विसर्गों का ही 'स' हो जाता है[३] और यही 'स' टवर्ग के साथ होने से 'ष' तथा चवर्ग के साथ होने से 'श' हो जाता है। क, ग, च, ज, ट, ड, त, द, प और ब में 'ह' जोड़ने से क्रम से ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ हो जाते हैं। इ, अ, मिलकर 'य' ऋ, अ, मिलकर 'र' ल, अ, मिलकर 'ल' और उ, अ मिलकर 'व' बना है। इसी प्रकार क, ष, से 'क्ष' त, र, से 'त्र' और ज, ञ, से 'ज्ञ' भी बना है। इस प्रकार से २५ स्वर के, २५ वर्ग के और (य, व, र, ल, श, ष,स, ह, क्ष, त्र, ज्ञ, ꣳ ꣴ और ळ आदि) १३ स्फुट के मिलाकर ६३ अक्षर होते हैं। इन्हीं में एक अर्धचन्द्र शामिल करने से ६४ हो जाते हैं। इसीलिए पाणिनीय शिक्षा में लिखा है कि '**त्रिषष्टिः चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः**' अर्थात् शम्भु—परमात्मा के वैदिक मत से वर्ण ६३ या ६४ हैं, परन्तु इन सबका मूल वही १७ अक्षर हैं, जो ऊपर वेद के प्रमाण से लिखे गये हैं।

इन सत्रह का मूल भी यदि ध्यान से देखा जाए तो केवल एक अकार ही है। यह अकार ही अपने स्थान और प्रयत्न भेद से अनेक प्रकार का हो जाता है। ओष्ठ बन्द करके यदि अकार का उच्चारण किया जाए तो 'पकार' हो जाएगा और कण्ठ से उच्चारण किया जाए तो वही अकार 'क' सुनाई पड़ेगा। इसी प्रकार समस्त वर्णों के विषय में समझना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि समस्त अक्षरसमूह समस्त शब्दसमूह और समस्त ध्वनिसमूह स्थान-प्रयत्नभेद से उस अकार का ही रूपान्तर हैं। अकार प्रत्येक उच्चारण में उपस्थित रहता है। बिना उसकी सहायता के न कोई वर्ण बोला जा सकता है और न समझा जा सकता है। यही कारण है कि अकार का अर्थ

---

१. अग्निरेकाक्षरेण...अश्विनौ द्व्यक्षरेण...विष्णुस्त्र्यक्षरेण...सोमश्चतुरक्षरेण...पूषापञ्चाक्षरेण... सविता षडक्षरेण... मरुतःसप्ताक्षरेण...बृहस्पतिरष्टाक्षरेण...मित्रो नवाक्षरेण...वरुणो दशाक्षरेण... इन्द्र एकादशाक्षरेण... विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण.....वसवस्त्र्योदशाक्षरेण.....रुद्राश्चुर्दशाक्षरेण.....आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण.....अदितिः षोडषाक्षरेण.....प्रजापतिसप्तदशाक्षरेण..... —यजुः० ९।३१-३४

२. 'ऌ' का जब ह्रस्व और प्लुत है तब दीर्घ भी होना चाहिए, परन्तु संस्कृत-साहित्य में वह कहीं भी नहीं पाया जाता, इसलिए उसकी गणना वर्णमाला में नहीं की जाती।

३. मनःकामना=मनस्कामना।

सब, कुल, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक और अखण्ड आदि होता है। यह अक्षर अपने प्रबल अस्तित्व से दूसरे अक्षरों का अभाव भी सूचित करता है, इसलिए इसका अर्थ अभाव, नहीं, शून्य आदि भी होता है। इसके प्रबल अस्तित्व से पहला अर्थ होता है और दूसरे अक्षरों का अभाव दर्शाने से दूसरा अर्थ होता है। हम आवश्यक समझते हैं कि इस भेद को तनिक विस्तार से समझाएँ और साथ–ही–साथ यह भी दिखलाते जाएँ कि किस प्रकार प्रत्येक अक्षर दोनों बनावटों से अपना अर्थ स्थिर करता है।

अ

'अ' के बोलते समय जिह्वा सम और समस्त मुख चारों ओर से एक समान खुला हुआ रहता है[1]। अकार ध्वनि तालु से लेकर बाहर तक आ३...... करती हुई '। ' इस आकार की होकर मुख से निकलती है। यह चिह्न अकार शब्द का निर्भ्रान्त रूप है। हम ऊपर दर्शा चुके हैं कि बिना अकार के कोई भी अक्षर बोला ही नहीं जा सकता, इसलिए प्रत्येक अक्षर के चित्र में अकार का '।' यह मूल दण्ड विराजमान रहता है। जब कोई अक्षर हलन्त लिखा जाता है तब यही स्तम्भ लँगड़ा कर दिया जाता है, यथा त्, थ् आदि। इसी भाँति जब कोई मात्रा (स्वर) किसी अक्षर में लगाई जाती है तब वह भी इसी स्तम्भ में लगाई जाती है, यथा के, की, कु आदि। इसी प्रकार जब कोई अक्षर किसी अक्षर में संयुक्त किया जाता है तब जो अक्षर आधा होता है, उसमें '। ' यह स्तम्भ लगाये बिना ही दूसरा अक्षर जोड़ा जाता है। यदि दूसरा भी आधा लिखना होता है तो तीसरे अक्षर में अकार स्तम्भ मिलाया जाता है, यथा न्या, न्ध्या आदि। यह प्रक्रिया आज की नहीं है, अपितु पुरानी से भी पुरानी जो लिपि मिली है उसमें भी यही कौशल पाया जाता है। प्राचीन लिपि की सारणी जो पहले दी गई है, उसके पहले कोष्ठ (सन् २००) की तीसरी पंक्ति को देखिए वहाँ 'कि' अक्षर लिखा है। ककार में जो इकार जोड़ा गया है, वह उसी स्तम्भ से मिला हुआ है। उक्त सारणी में अन्यत्र भी इसी प्रकार पाया जाता है, इसलिए यह झगड़ा तय हो गया और सिद्ध हो गया कि अकार का मूलरूप यही स्तम्भ है, क्योंकि दीर्घ के लिए तो वह आता ही है। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया कि यह दूसरे अक्षरों के साथ भी इस प्रकार का पाया जाता है, परन्तु जब स्वयं 'अ' रूप से आता है तब '।' ऐसा नहीं किन्तु 'अ' ऐसा लिखा जाता है, इसीलिए हमने उसके उच्चारण के विषय में दो बातें कही हैं कि १. जिह्वा सीधी सम रेखा पर रहती है और २. मुख चारों ओर से समान खुला हुआ रहता है। सीधी रेखा का वर्णन हो चुका अब चारों ओर से मुख खुले रहने का वर्णन करते हैं। यदि आप मुँह को चारों ओर से एक समान खोलें तो उसका चित्र '०' यही होगा। हम अकार के पूर्ववर्णन में जहाँ उसकी व्यापकता, पूर्णता, और अखण्डरूपता बतला आये हैं, वहाँ उसके वैज्ञानिक कार्यों के कारण ही हमें उसका वह अर्थ करना पड़ा है। अब यदि पूर्ण, सर्वव्यापक, अखण्ड आदिभाव का चित्र बनावें तो उपर्युक्त शून्याकार से अच्छा चित्र दूसरा न बन सकेगा। चित्र की ओर देखते ही उसकी आकृति अपनी पूर्णता, व्यापकता और मुखाकृति को एक साथ ही कह देती है। अकार के 'O।' इन दोनों चिह्नों को एक में मिलाने से यह रूप होता है और अपने अभिप्राय का अर्थ अपने रूप से कहने लगता है। जैसा हमने पहले कहा था कि अकार अपनी व्यापकता और सर्वस्वता से अन्य अक्षरों का एक प्रकार से अभाव भी सूचित कराता है, इसलिए यह कभी–कभी अभाव

---

१. सर्वमुखस्थानमवर्णमित्येके। —पाणिनिशिक्षा

अर्थ में भी आता है। क्या अभाव का चित्र O इससे अच्छा दूसरा बन सकता है ? नहीं, अतः ऊपर के चित्र में यह अभाव भी सूचित करा रहा है, किन्तु व्याकरण की सुविधा के लिए ह्रस्व अकार को अशुद्ध, अयोग्य, अभाव आदि की तरह 'नहीं' अर्थ में और दीर्घ अकार को 'आलभ', 'आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तम्', आसमुद्रात् आदि की भाँति 'समस्त' अर्थ में, लिया गया है जो युक्तिसङ्गत है, क्योंकि समस्त, अर्थात् पूर्ण से अभाव का रूप छोटा है, इसीलिए ह्रस्व अकार 'अभाव' और दीर्घ अकार 'समस्त' अर्थ में आया है। इस अर्थ के अतिरिक्त कारणकार्यभाव को लक्ष्य में रखकर बिना किसी दबाव के स्वभावतः यदि और कोई अर्थ निकल सकता हो तो निकालना चाहिए और इसी शैली का व्यवहार समस्त अक्षरों में करना चाहिए।

इ, ए और य

अकार के बाद उसके निकट ही 'इ' का उच्चारण है। 'इ' 'अ' के सिवा और कुछ नहीं है। यह 'अ' ही है जो नीचे की ओर जाकर निचले ओष्ठ की सहायता से 'इ' रूप का हो गया है। अकार से ही इसकी उत्पत्ति है और उसके अत्यन्त ही निकट है, इसलिए यह इकार अकार का सम्बन्धी कहलाता है। इसी से इसका अर्थ 'वाला' होता है। वाला का अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जैसे मकानवाला, कुत्तेवाला आदि। अंग्रेज़ी का 'er' क्रिया में लगाने से जो (Speaker, Worker आदि) अर्थ पैदा करता है 'इ' भी वही अर्थ पैदा करती है। जैसे 'वा' का अर्थ गति है किन्तु 'व' में 'इ' लगाने से 'वि' का अर्थ गतिवाला होता है। 'पा' का अर्थ रक्षा करना है, किन्तु 'पि' का अर्थ रक्षा करनेवाला हो जाता है। इसके सिवा अकार एक सम शब्द था, परन्तु उसमें व्यङ्ग उत्पन्न करने से—गति पैदा करने से 'इ' हुआ है, अर्थात् अकार में सञ्चालन—परिवर्तन हुआ है तभी इकार बना है, इसलिए इकार का अर्थ गति भी होता है और 'इ' धातु गति अर्थ में आया है। इकार को बोलते समय शब्द निचले ओष्ठ द्वारा मुँह से निकलकर भूमि पर पाँव के पास गिरता है। वह 'उ' की भाँति दूर का द्योतक नहीं है, इसलिए इसका अर्थ निकट, पास और यह आदि भी होता है। 'इदम्', 'इह लोके' आदि शब्दों में 'इ' अपना यही भाव प्रकट कर रहा है। इसमें भी दो रूप हैं। पहला रूप ⌉ यह है। यह अपने को अकार का समीपी बतलाते हुए दो रेखाओं को जोड़ता है, अर्थात् इस '। ' अकार की रेखा को नीचे लाता है। दूसरा रूप ई यह है। यह गति बतलाता है। अकार से नीचे की ओर गति हुई है। वही गति इसमें दिखलाई पड़ रही है। इस 'ई' का पहला रूप 'कि', 'घी' आदि में 'ि', 'ी' इस प्रकार काम आता है, अर्थात् इसे किसी अक्षर के समीप रहना पड़ता है। उसका दूसरा रूप गति अर्थ के अनुकूल है। गति का चित्र उपर्युक्त रूप से अच्छा कोई भी चित्रकार बना नहीं सकता, अतः इसके दोनों रूप 'वाला' और 'गति' अर्थ को ध्यान में रखकर बनाये गये हैं।

'ए' अक्षर अकार और इकार के संयोग से बना है। दोनों अक्षर एक साथ बोलने से 'ए' वर्ण सुनाई पड़ता है। अकार से नहीं और अव्यग्र तथा इकार से वाला और गति अर्थ निकलता है। इन दोनों के मिलने से नहीं, गति, गतिहीन, निश्चल अथवा अव्यग्रवाला, पूर्ण अर्थ होता है। इसी से 'एक' आदि प्रख्यात शब्द बनते हैं, जो पूर्णता, अखण्डता के द्योतक हैं। इसका रूप |ʃ यह है। इसमें पहली लकीर 'अ' की और दूसरी गतिमान रेखा 'इ' की है। दोनों के संयोग से यह बना

है। जब यह स्वयं आता है (जैसे एक आदि में) तब इसका यही रूप रहता है, परन्तु जब किसी अक्षर में मिलता है तब के इस भाँति लिखा जाता है। बोलने में भी 'ए' शब्द की आकृति मुँह से तिरछी निकलती है, इसीलिए यह अक्षरों पर भी तिरछा ही लिखा जाता है।

'य' अक्षर 'इकार' और 'अकार' के मिश्रण से बना है। 'इ' और 'अ' एक साथ बोलने से 'य' ध्वनि बन जाती है। इकार का अर्थ गति और अकार का अर्थ पूर्ण होता है, इसलिए यकार का अर्थ गतिपूर्ण होता है। गति एक स्थान से निकलकर जब दूसरे स्थान में पहुँचती है, तभी पूर्ण समझी जाती है। हम देखते हैं कि यकार सर्वत्र 'यः', अर्थात् 'जो' अर्थ में आता है। जो का भावार्थ भिन्न वस्तु अथवा अन्य वस्तु है। जब हम कहते हैं कि **'जो-जो पदार्थ'** तब ज्ञात होता है कि अनेक पदार्थ दूर-दूर हैं। इसी से पूर्ण गति का भाव सूचित होता है। इसका रूप यह है। इसमें पहिली रेखा 'इ' की और दूसरी 'अ' की है, क्योंकि यह 'इ' और 'अ' से ही बना है।

उ, ओ, व

उकार प्रधानतया ऊपरवाले और साधरणताय नाचेवाले ओष्ठ की सहायता तथा मुँह की चौड़ाई को सिकोड़ (चुन्नतकर) देने से बनता है। 'उ' शब्द मुँह से निकलकर ऊपरी ओष्ठ के कारण ऊपर ही आकाश में दूर चला जाता है। उसको बोलते समय आपसे-आप ज्ञात होने लगता है कि यह आगे को निकला हुआ मुँह अपने से भिन्न और दूर स्थित किसी दूसरे का सङ्केत कर रहा है, इसीलिए उकार का अर्थ, दूर, वह, और आदि होता है। अब तक अनेक लोग वह वस्तु लाओ के स्थान पर 'उ' वस्तु लाओ कहते हैं। इसके भी यह और यह दो रूप हैं। पहला रूप ऊपर की सूचना देनेवाला और अंगुली उठाकर दूसरे को बतानेवाला है। यह अंगुली का चिह्न है। यही 'को', 'खो' आदि में काम आता है। दूसरा रूप दूर, अन्य आदि भाव समझानेवाला है। जिस प्रकार चुना हुआ मुँह आगे को निकालकर दूर और अन्य पदार्थ को सूचित किया जाता है, ठीक उसी प्रकार का अर्थ प्रकाश करने के लिए वैसी ही मुखाकृति का चित्र बना लिया गया है। इसकी पहली लकीर मुँह के भीतर का आकार है और कोने का बिन्दु चुना हुआ, लम्बा और बाहर निकला हुआ मुँह है तथा उसी से लगी हुई आड़ी लकीर शब्द को दूर फेंकती है और अन्य, वह, दूर आदि अर्थ बतलाती है। इसके इस आधे रूप से 'कु' आदि बनते हैं।

'ओ' अकार और उकार के संयोग से बना है। अकार का अर्थ 'नहीं' और उकार का अर्थ अन्य और दूसरा आदि है, इसलिए ओकार का अर्थ 'अन्य नहीं' होता है। 'अन्य नहीं' का अर्थ है वही, अर्थात् दूसरा नहीं, इसीलिए यह 'सो', 'यो' आदि शब्दों में देखा जाता है और अर्थ भी वही, जो, आदि रखता है। इसका रूप 'ो' यह है। इसमें अकार और उकार दोनों के चिह्न मिले हुए हैं। 'ओ' बोलते समय जिस प्रकार मनुष्य ऊपर की ओर हाथ उठा कर पुकारता है, उसी भाँति यह उद्गीथ का चित्र बनाया गया है।

'व' अक्षर उकार और अकार से बना है[१]। 'उ' और 'अ' एक साथ बोलने से 'व' वर्ण बनता है। उकार का अर्थ अन्य और अकार का अर्थ पूर्ण है, इसलिए वकार का अर्थ 'पूर्ण भिन्न'

१. वकार को आजकल य र ल के बाद रखते हैं, परन्तु उसे 'य के' बाद रखना चाहिए और य व र ल पढ़ना चाहिए।

हुआ। यही कारण है कि संस्कृतसाहित्य में वकार 'अथवा' अर्थ में आता है। अथवा 'पूर्ण भिन्न' का ही अनुवाद है। इस उकार का दूसरा अर्थ दूर भी है। दूरता बिना गति और बिना संचालन के नहीं होती, इसलिए वकार का अर्थ गति भी होता है। 'वा' धातु गति अर्थ में ही है। पृथिवी बड़ी गतिमान और गन्धवती है, इसलिए 'वा' गन्ध अर्थ में भी आया है। 'व' में इतना भाग उकार का और '।' इतना भाग अकार का लेकर इसका रूप इस प्रकार बनाया गया है।

ऋ और र

बकरियों को बुलाते समय जिस प्रकार लोग उर्र-उर्र करते हैं अथवा हारमोनियम की अन्तिम चाभी (Termelo) खोलने पर जो ध्वनि होती है या मेंढक अथवा झींगुर की जो ध्वनि है, वही ध्वनि 'ऋ' अक्षर की भी है। इसका कोई 'रि' और कोई 'रु' उच्चारण करते हैं, परन्तु ये दोनों उच्चारण अशुद्ध हैं। इसके उच्चारण में जिह्वा तालु से बार-बार लग-लगकर छूटती है। जितनी जल्दी छूटती है उतनी ही जल्दी फिर लगती है, अर्थात् जिह्वा किसी स्थान को नहीं पकड़ती, किन्तु निरन्तर गतिमान् रहती है[1]। इसकी गति में विश्राम नहीं है, इसीलिए इसकी गति अखण्ड, नित्य और सत्य कहलाती है। इन्हीं कारणों से 'ऋ' अक्षर सत्य और गति दो अर्थों में प्रचलित है। इसकी गति बाहर की ओर है, इसलिए यह बाहर अर्थ में भी आता है। इन्हीं अर्थों को ध्यान में रखकर इसके यह और यह दो रूप बनाये गये हैं। पहला रूप बाहर की ओर दानेदार गति का सूचक है, अर्थात् उस ध्वनि का सूचक है, जो जिह्वा के तालु में लगने से पैदा होती है, परन्तु बिना अकार के योग के यह स्वयं किसी रूप में नहीं आ सकता, इसलिए इसे अकार के साथ दूसरे रूप में दिखलाया गया है। 'ऋ' जब किसी अक्षर के साथ मिलता है तब पहले रूप से और जब स्वयं आता है तब दूसरे रूप से लिखा जाता है। ऋकार में अकार जोड़ने से 'र' बनता है। 'ऋ' के वर्णन में उसका अर्थ बाहर, सत्य और गति बताया गया है, अतः रकार बाहर फेंकने, अर्थात् देने और सत्य गति, अविच्छिन्न अस्तित्व, अर्थात् रमन अर्थ में लिया गया है, जो सारे साहित्य में प्रचलित है। इसके रूप में इतना भाग 'ऋ' का और '।' इतना भाग अकार का है। दोनों को मिलाने से ऐसा रूप बना है।

ऌ और ल

ऋकार और ऌकार के उच्चारण और स्थान में बहुत भेद नहीं है। 'ऋ' बोलते समय शब्द की गति बाहर की ओर रहती है, किन्तु 'ऌ' बोलते समय जिह्वा भीतर की ओर मुड़ जाती है, इसी से लड़बड़ाहट-सी सुनाई पड़ती है। शेष 'ऋ' और 'ऌ' का आकार-प्रकार एक ही है। यह भी अविच्छिन्न गतिमान् है, अतएव इसका भी अर्थ सत्य गति ही होता है। इसकी गति भीतर की ओर है, इसलिए इसका अर्थ भीतर भी होता है। इसके भी यह और यह—दो रूप

---

१. स्वर में निरन्तरता रहती है, परन्तु व्यंजन में नहीं, क्योंकि व्यंजन में जब तक कोई स्वर न मिले तब तक उसका स्पष्ट उच्चारण नहीं हो सकता, परन्तु स्वर की ध्वनि तब तक निरन्तर जारी रहती है जब तक कि उसका स्थानापन्न कोई दूसरा स्वर न बोला जाए। हाँ, जान-बूझकर मुँह बन्द कर लिया जाए तो अवश्य वह ध्वनि बन्द हो जाएगी।

हैं। पहला रूप भीतर की ओर दानेदार गति को दिखलाता है। यह गति जिह्वा के तालु में बार-बार छूने से पैदा होती है। यह जब किसी अक्षर के साथ मिलता है, तब प्रथम रूप से मिलता है, किन्तु जब पूर्ण रूप से आता है तब दूसरे रूप से लिखा जाता है।

ऌकार और अकार के संयोग से 'ल' बना है। शब्द को बाहर फेंकने के कारण जिस प्रकार ऋकार से बने हुए रकार का अर्थ देना हुआ है, उसी प्रकार शब्द को भीतर फेंकने के कारण इस ऌकार से बने हुए लकार का अर्थ लेना हुआ है। यही कारण है कि 'रा' धातु का अर्थ देना और 'ला' का अर्थ लेना प्रचलित है। 'ऋ' और 'ऌ' दोनों गति अर्थ में समान है, किन्तु 'ऋ' बाहर की ओर गति करता है, अर्थात् शब्द को मुख से बाहर फेंकता है, इसलिए उससे बने हुए रकार का अर्थ देना हुआ है और 'ऌ' भीतर की ओर गति करता है, अर्थात् शब्द को मुख के अन्दर फेंकता है, इसलिए उससे बने हुए लकार का अर्थ लेना किया गया है। 'ऋ' में जिह्वा का अग्रभाग तालु में छू-छूकर बाहर की ओर गति करता है और 'ऌ' में भीतर की ओर गति होती है। इन दोनों में यही अन्तर है, शेष प्रत्येक बात में दोनों समान हैं। 'ल' में इतना भाग 'ऌ' का और '।' इतना अकार का मिलकर यह रूप हुआ है।

ँ, ं, ꣳ और ङ, ञ, ण, न, म

ये सब अक्षर सानुनासिक कहलाते हैं। सानुनासिक का तात्पर्य नासिका से बोले जानेवाला होता है[1]। अकार का अन्तिम रूप 'ं' यह है। इसी को अनुस्वार कहते हैं। समस्त सानुनासिक स्थानभेद से इसी के रूपान्तर हैं। मुख बन्द करके जब अकार बोला जाता है तब उस शब्द का रूप 'ं' यह हो जाता है। इसी प्रकार कवर्ग स्थान से नासिका के द्वारा 'ङ', चवर्ग स्थान से 'ञ', टवर्ग स्थान से 'ण' तवर्ग स्थान से 'न' और पवर्ग स्थान से 'म' होता है। अनुस्वार का ही अर्ध रूप ँ और प्रबल रूप ꣳ है। जब अर्ध ध्वनि होती है तब ꣳ यह होता है। इसे 'गुं' या 'ग्वं' कहना भूल है। अकार का जहाँ अस्तित्व नष्ट होता है, वहीं से अनुस्वार और सानुनासिकों का जन्म होता है, अर्थात् अकार के अभाव को अनुस्वार, पञ्च कवर्गादि के अभाव को सानुनासिक और अन्य सबके अभाव को ꣳ कहते हैं, अतएव इन आठों ध्वनियों, अर्थात् आठों अक्षरों का अर्थ नहीं, अभाव अथवा शून्य होता है, क्योंकि अकार का अर्थ सर्व, पूर्ण और समस्त आदि है। ये आठों समस्त अक्षरों का अस्त करके स्वयं उदित होते हैं, इसलिए ये निषेध अर्थ में आये हैं, यथा म, न, आदि। अनुस्वार का रूप '०' यह है। यह उस छिद्र का चित्र है, जो मुँह के भीतर मूर्धा-स्थान में नाक से सम्बन्ध रखता है। इस चित्र को बनाकर चित्रकार ने बड़ी ही कारीगरी की है, क्योंकि इससे मूर्द्धा छिद्र और 'नहीं' दोनों अर्थ प्रकट होते हैं। छिद्र और अभाव का '०' यह उत्तम चित्र है। समस्त सानुनासिक अक्षर इसी को लक्ष्य में रखकर बनाये गये हैं और सबमें यह बिन्दु अपने वर्ग के आदि अक्षरों के साथ विद्यमान है। यथा ग्वङ् का रूप यह, ञकार का यह, णकार का यह, नकार का यह और मकार का यह है।

इन पाँचों वर्गों के प्रथम अक्षर के साथ इस अनुस्वार का बिन्दु मिला हुआ है। ꣳ के रूप में अकार और अनुस्वार दोनों दिखलाये गये हैं और शृङ्गी बाजे का चित्र बना दिया गया है।

---

१. यमाश्च नासिका जिह्वामूलीया ऐकषाम्। ꣳ ँ ङ ञ ण न माः स्वस्थाननासिकास्थानाः।

छोटे-छिद्र के फूँकने से 'अ' और बड़े छिद्र के फूँकने से '·' हो जाता है। यह मुख और नासिका के सम्बन्ध का स्पष्ट चित्र है।

: [विसर्ग] और ह

विसर्ग का उच्चारण नाभि से होता है[१], अर्थात् जहाँ तक प्राण का संचार है, वहाँ के मूल से इसकी उत्पत्ति है, इसीलिए यह पूर्णतासूचक होने से निश्चयार्थ में आया है। जहाँ से यह आता है, वहाँ शब्द का अन्त है, इसलिए यह अन्त अर्थ में भी आता है, परन्तु बिना अकार के यह कुछ भी नहीं है, अत: यह अभाव और संकोच अर्थ में भी आता है। इसका रूप यह है। पेट से गर्दन की ओर जो पोलाई है उसका पहला द्वार कण्ठ है, दूसरा द्वार बाहर का ओष्ठस्थानीय मुँह है और दोनों का रूप '०' ऐसा है। बिना इन दोनों द्वारों के इसका उच्चारण नहीं हो सकता। इसमें यह नाभि से कण्ठ तक की शब्दरेखा का चिह्न भी नली की भाँति लटकता है। इसी विसर्ग में 'अ' जोड़ने से 'ह' स्पष्ट हो जाता है और निश्चय तथा निषेधार्थ में आता है। निश्चयार्थ तो इसकी उस शब्दमूलकता से निकलता है, जो नाभि तक—प्राणों की सीमा तक विद्यमान है और निषेध अर्थ इसलिए निकलता है कि यह अपने से आगे शब्दतत्त्व का निषेध करता है, अर्थात् स्वयं शब्द का मूल बनकर अपने लिए निश्चय दिलाता है और अन्य के लिए निषेध करता है, मानो समझाता है कि अब मेरे आगे और शब्द नहीं है। इसका रूप भी उन्हीं विसर्गों में केवल अकार का चिह्न जोड़ने से और नाभिरेखा को लम्बी करने से इस प्रकार बनता है।

ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ, ये दश अक्षर इसी हकार की सहायता से बने हैं[२]। इन सब अक्षरों में इसका संक्षिप्त रूप तथा निषेध प्रदर्शक अर्थ विद्यमान है। इस हकार में यह विशेषता है कि जब यह स्वयं अपने स्पष्ट 'ह' रूप से आता है तब निश्चयार्थ कर देता है और जब खकारादि के साथ मिला हुआ आता है तब निषेध अर्थ कर देता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है, क्योंकि प्रत्यक्ष का अर्थ निश्चय और परोक्ष का अर्थ सन्दिग्ध होने से अधिकतर निषेध ही है।

क और ख

कवर्ग से लेकर पवर्ग तक पच्चीस अक्षर हैं। इनमें पाँच सानुनासिक हैं जो नकारार्थ में बतलाये गये हैं। शेष बीस में दश ककारादि स्वतन्त्र अक्षर हैं और दश खकारादि संयुक्ताक्षर हैं जो हकार के योग से बने हैं। जिस प्रकार 'क' में 'ह' मिलकर 'ख' होता है, उसी प्रकार अन्य स्वतन्त्र अक्षरों में 'ह' मिलाने से घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ आदि होते हैं। हम हकार के

---

१. हविसर्जनीयावुरस्यावेकेषाम्।

२. शादय ऊष्माण:, अर्थात् श, स, ह की ऊष्म संज्ञा है और ये महाप्राण प्रयत्न से बोले जाते हैं। **स स्थानेन द्वितीया:,** अर्थात् ख, छ, आदि द्वितीय वर्ण स स्थान से बोलना चाहिए। **हकारेण चतुर्था:,** अर्थात् घ, झ, आदि चतुर्थ वर्ण ह वाले स्थान से बोले जाते हैं। सारांश यह कि दूसरे और चैथे वर्ण महाप्राण, अर्थात् ह के योग से बोले जाते हैं।

वर्णन में लिख आये हैं कि यह जब किसी अन्य अक्षर के साथ मिलता है तब स्वयं गुप्त होकर उस अक्षर का अभाव अर्थ कर देता है। यही दशा इन समस्त द्वितीय और चतुर्थ अक्षरों में पाई जाती है। खकार ककार के विरुद्ध और घकार गकार के विरुद्ध प्रभाव (अर्थ) रखता है। यही क्रम छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ और भ-पर्यन्त है।

वैदिक वर्णमाला का क्रम वैज्ञानिक और सृष्टिनियमानुकूल है, जैसाकि पञ्चवर्गों से विदित होता है। कण्ठ से लेकर क्रम-क्रम ओष्ठपर्यन्त ये पाँचो वर्ग फैले हुए हैं। अकार स्थान से किंचित् बाहर की ओर हटकर कण्ठस्थान से कवर्ग की उत्पत्ति है। इसके पूर्व अकार का मूल और अकार के पूर्व हकार का मूल विद्यमान है, अर्थात् हकार और अकार के पश्चात् कवर्ग का ही स्थान है। अकार और हकार के धारावाहिक शब्द को सबसे प्रथम ककार ही रोकता और बाँधता है, इसलिए ककार का अर्थ बाँधना माना गया है। ककार अकार जैसे अक्षर को बाँध देता है, इसलिए इसे बलवान्, बड़ा और प्रभावशाली आदि भी कह सकते हैं। यही कारण है कि ककार प्रजापति और सुख अर्थ में भी आया है। यों तो खकारादि सभी अक्षर अपने-अपने स्थान में दूसरे शब्द को बाँधकर स्वयं प्रकाशित होते हैं, परन्तु सबसे प्रथम और सबसे आगे बढ़कर ककार ही कण्ठमूल में शब्द को बाँधता है, इसलिए बाँधना अर्थ ककार के लिए ही रूढ़ है। ककार ऐसे स्थान से उत्पन्न होता है, जिससे वह सबसे पहले अकार और हकार को बाँधता है, इसलिए भी वह विशेषकर बाँधने, रोकने, अटकाने आदि अर्थों में आया है, जैसाकि कः, का, आदि शब्दों और उनके कौन, क्या, आदि अर्थों से ज्ञात होता है, क्योंकि यह ककार प्रश्न, रोकने, बाँधने, शंका करने, उलझने आदि में ही उपस्थित होता है। इन्हीं भावों को लेकर इसका यह रूप बनाया गया है। यह रूप स्पष्टतया बता रहा है कि अकारवाली ' । ' इस सीधी शब्दरेखा को इसने ' — ' इस प्रकार मूल में जाकर बाँधा है। केवल अकार को ही नहीं बाँधा, किन्तु हकार को भी रोका है। यही कारण है कि इसका बन्धन अकार रेखा के दोनों ओर हुआ है और अकार और हकार दोनों को बाँधते हुए दिखलाया गया है।

हम हकार के वर्णन में बता आये हैं कि हकार जब किसी अक्षर के साथ मिलता है तब उस अक्षर के विरुद्ध अर्थ पैदा कर देता है। यहाँ ककार के उच्चारण के साथ केवल हकार की नली खोलनेमात्र से 'ख' शब्द सुनाई पड़ता है, इसलिए खकार का भी अर्थ उपर्युक्त विवरणानुसार 'क' के विरुद्ध ही होता है। जहाँ ककार का अर्थ बाँधना होता है, वहाँ खकार का अर्थ खुला होता है, इसलिए यह आकाश के लिए रूढ़ है। आकाश की भाँति बन्धनरहित, खुली हुई वस्तु संसार में दूसरी कोई नहीं है, इसीलिए 'ख' आकाश, पोल, छिद्र आदि अर्थों में आता है। ककार में हकार का चिह्न मिलाने से खकार का यह रूप होता है। इस अक्षर के स्तम्भ में केवल एक ही ओर बन्धन है, जो केवल अकार को ही बाँधे हुए है और हकार के लिए दूसरी ओर स्थान खुला पड़ा है। हकार की नाभि रेखा अकार में जोड़ दी गई है, जो 'क' और 'ह' के संयोग से खकार का अर्थ और रूप बता रही है।

ग और घ

ककार के ही स्थान और प्रयत्न में केवल हकार के संयोगमात्र से खकार बन गया था, परन्तु अब उसी स्थान और उसी प्रयत्न से दूसरा अक्षर नहीं बन सकता। दूसरे अक्षर के लिए स्थान और

प्रयत्न दोनों में फेरफार करना पड़ेगा और कण्ठ में ही देखना होगा कि ककार और खकार स्थान के पास ही और कौन–सा अक्षर निकल सकता है। 'क' स्थान से तनिक हटकर जिह्वा को 'क' प्रयत्न की अपेक्षा तनिक दबाकर बोलने से गकार का उच्चारण होता है। गकार के लिए जब तक 'क' स्थान और 'क' प्रयत्न छोड़कर आगे न बढ़ा जाए, कभी सम्भव नहीं है कि 'ग' शब्द उच्चरित होकर सुनाई पड़े, अतएव स्थानान्तरित होने से ही, अर्थात् प्रथम स्थान प्रयत्न में गति होने से ही गकार का अर्थ गमन, हटना, स्थान छोड़ना और पृथक् होना आदि हुआ है और 'ग' धातु गमन अर्थ में ली गई है। इसका यह रूप भी इसी अर्थ को सूचित करता है। कोई भी चित्रकार गति का चित्र बनाते समय स्थानान्तर–रेखा को ही दिखलाकर गति का रूप बना सकता है। इस गकार का यह रूप बनाकर भी ऊपर–नीचे, अगल–बगल, जिधर से देखिए उधर से गति करता हुआ वही भाव दिखलाया गया है, किन्तु बिना अकार के संयोग के इसका उच्चारण स्पष्ट नहीं होता, इसलिए ' । ' यह अकार स्तम्भ उसी गतिवाली रेखा में जोड़कर उपरिलिखित रूप बना दिया गया है। इसी गकार में हकार जोड़ने से घकार होता है और हकार की प्रकृति के अनुसार गकार के विरुद्ध अर्थ हो जाता है। गकार का अर्थ गति, गमन, पृथक्ता आदि होता है, अत: 'घ' का अर्थ रुकावट, ठहराव और एकाग्रता आदि है। यही कारण है कि घकारसम्बन्धी शब्द घन, सघन, संघट्ट, घट, घोर, मेघ, घनीभूत आदि ढंग के होते हैं। इन शब्दों में 'घ' का अर्थ भासित होता है। इनका रूप गकार में हकार का चिह्न लगाकर इस प्रकार बनाया गया है।

च और छ

कवर्ग के बाद ही ओष्ठ की ओर से स्थान और प्रयत्न हो सकता है, वह फिर एक वर्ग को आरम्भ करता है। यह वर्ग चवर्ग का प्रथम अक्षर चकार अपने वर्ग को आरम्भ करता है। वर्ग को पुन: आरम्भ करने के कारण चकार का अर्थ फिर, पुन:, बाद, दूसरा और अन्य आदि किया गया है। यह ऊपर–नीचे के जिह्वा और तालु को मिलाता है। मिलना बिना दो के नहीं होता, इसलिए इसका अर्थ भिन्न भी होता है। भिन्न, फिर, बाद, पुन:, आदि भाव किसी पूर्ण पदार्थ में नहीं होते। पुन:–पुन:, भिन्न–भिन्न भाव तभी तक रहते हैं जब तक कोई पदार्थ अपूर्ण है, अतएव चकार का अर्थ अपूर्ण और अङ्गहीन आदि भी होता है। अपूर्ण को खण्ड–खण्ड भी कह सकते हैं, क्योंकि खण्ड–खण्ड अथवा पुन:–पुन: और भिन्न–भिन्न में कोई अन्तर नहीं है। इसी भाव को लेकर इसका यह रूप बनाया गया है। तालु और जिह्वा का मिलान तथा अपूर्ण और पुन:–पुन: अथवा खण्ड–खण्ड का एकसाथ दर्शानेवाला '=' यह चित्र बनाकर चकार का अर्थ स्पष्ट कर दिया गया है। इन्हीं दो पाइयों में अकार का चिह्न जोड़ने से ऊपर का रूप बनता है।

चकार में हकार मिलने से 'छ' होता है। हकार अपनी प्रकृति के अनुसार चकार में मिलकर चकार के विरुद्ध अर्थ पैदा करता है। चकार पुन:–पुन:, खण्ड–खण्ड, अपूर्ण, अङ्गहीन आदि अर्थों का द्योतक है, परन्तु हकार के मिलने से वही छकार बनकर छाया, आच्छादन, छत्र और परिच्छद आदि शब्दों में सङ्गोपाङ्ग, पूर्ण, तथा अखण्ड आदि अर्थों की झलक दिखला रहा है। छन्द शब्द के अन्दर घुसकर उसने अपना रूप सर्वथा प्रकट कर दिया है। छन्द का अर्थ ज्ञान है।

ज्ञान में कभी खण्डभाव नहीं होता। ज्ञान हर समय हर जगह अपने पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है, इसीलिए 'छ' ज्ञान, पूर्ण, छाया आदि अर्थ में आता है। उपर्युक्त चकार के चिह्न में हकार का संक्षिप्त रूप मिलाकर छकार को इस प्रकार का बनाया गया है। इसमें चकार का पूर्ण रूप और हकार की निचली रेखा मिली हुई है।

ज और झ

जिस प्रकार 'क' और 'ख' के बाद दूसरे स्थान और प्रयत्न से कण्ठस्थान में ही गकार के लिए स्थान और प्रयत्न बदलना पड़ा है और अपने वर्ग के मूल कवर्ग के स्थान से गति कर जाने के कारण गकार का अर्थ गति हुआ है, ठीक उसी प्रकार 'च' और 'छ' से आगे चलकर और किंचित् दूसरे प्रयत्न से पैदा हुए जकार का अर्थ भी पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना और नूतनत्व आदि है। जन्म, जननी आदि 'ज' धातु से ही बनते हैं। पैदा होने का तात्पर्य केवल नूतन रूप धारण करना या विकास प्राप्त करना है। नूतन रूप बिना गति के हो ही नहीं सकता, इसलिए गकार की भाँति इसका अर्थ भी गति, अर्थात् जन्म रक्खा गया है। वही बात इसके रूप से भी पाई जाती है। कोई भी चित्रकार जब किसी पदार्थ के उत्पन्न करने का चित्र खेंचना चाहता है तब सबसे पहले उसका ध्यान किसी बीजांकुर की ओर जाता है। इसी भाव को लेकर जकार का रूप इस प्रकार बनाया गया है। इस रूप में इतना बीजांकुर का चित्र है और '।' यह चिह्न अकार की लम्बी रेखा है।

इसी जकार में हकार जोड़ने से 'झ' होता है और जकार के विरुद्ध अर्थ रखता है। जन्म के विरुद्ध मृत्यु ही है, इसीलिए 'झ' का धात्वर्थ 'नाश' होता है। 'झ' से झृणाति आदि शब्द बनते हैं, जो मृत्यु और नाश आदि के सूचक हैं। जकार में हकार की रेखा जोड़कर इसका रूप इस प्रकार बनाया गया है। इसमें जकार का पूरा रूप और हकार का निचला हिस्सा मिला हुआ है।

ट और ठ

यह बात ध्यान रखने योग्य है कि कवर्ग और चवर्ग आदि क्रमशः ओष्ठ की ओर आ रहे हैं। यह टवर्ग पाँचों वर्गों में मध्यस्थानीय है। मध्य तालु में जिह्वा के संयोग से इसका उच्चारण होता है। वर्गसंख्या और स्थान-प्रयत्न दोनों दशाओं में यह मध्यम है, अतएव टकार मध्यम, साधारण आदि अर्थों में आता है। साधारण दशा संशय, सन्दिग्ध, असमञ्जस भावयुक्त होती है, अतः टकार निर्बल अर्थ में भी लिया जाता है। निर्बलता ही संकुचित करती है, इसलिए संकोच या दबाब अर्थ में भी इसका उपयोग हुआ है। निर्बलता और दबाव प्राप्त करने की इच्छा कभी किसी की नहीं होती, इससे इसका अर्थ 'इच्छाविरुद्ध' भी हुआ है। तात्पर्य यह है कि टकार इन्हीं उपर्युक्त नम्र और निर्बल भावों का द्योतक है, जो इससे बने हुए कष्ट, नष्ट, भ्रष्ट आदि शब्दों से पाये जाते हैं। इन्हीं उपर्युक्त भावों को लेकर ही इसका यह रूप भी बनाया गया है। इसमें मध्यम दशा और तालु में छुपी हुई जिह्वा के भावों का एकसाथ समावेश है। मध्यम दशा का प्रदर्शक यह रूप है। आज तक जितने चित्रकार हुए हैं, सबने पूर्णता का यह चित्र

बनाया है। इसके मध्य में एक रेखा डालने से ऐसा रूप होगा। मध्य रेखा से उत्पन्न दोनों भागों को अलग कर डालें तो एक भाग का वही रूप होगा, जो ऊपर टकार का बतलाया गया है। इसी में अकार की रेखा जोड़ने से टकार का पूर्ण रूप होता है। बोलते समय टकार के उच्चारण में तालु को छूती हुई जिह्वा जो रूप धारण करती है, वही टकार का चित्र है।

इसी टकार में हकार जोड़ने से ठकार हो जाता है और अर्थ भी उलट जाता है। टकार के मध्यम, विकल और निर्बल आदि भाव दूर होकर निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता आदि भाव पैदा हो जाते हैं, जो इससे बने हुए कठिन, कठोर, शठ, मठादि शब्दों में पाये जाते हैं। टकार के रूप में केवल हकार की नाभिरेखा जोड़ने से यह रूप बनता है। इसमें टकार का पूर्णरूप और हकार की रेखा मिली हुई है।

ड और ढ

जिस प्रकार क, ख, के बाद 'ग' और च, छ, के बाद 'ज' स्थानान्तर व प्रयत्नान्तर होने के कारण गति और उत्पत्ति आदि अर्थों में लिये गये हैं, उसी प्रकार ट, ठ के बाद भिन्न स्थान और भिन्न प्रयत्न से उच्चरित होने के कारण डकार भी क्रियार्थ में लिया गया है और 'डुकृञ्'=करणे धातु क्रियार्थ में व्यवहृत हुआ है। बिना दो पदार्थों के संयोग के कोई भी क्रिया नहीं हो सकती। संयोग भौतिक होता है, इसलिए यह संयोगात्मक क्रिया प्रकृति अर्थ में घटती है। यही कारण है कि डकार जड़, पिण्ड, रुण्ड, मुण्ड, प्रचण्डादि शब्दों में आकर अपनी जड़ता का परिचय दे रहा है। यही अर्थ इसके रूप से भी प्रकट होता है। क्रिया का चित्र इससे अच्छा और नहीं हो सकता और न जड़ता का भाव ही इससे अधिक अन्य चित्र के द्वारा दिखाया जा सकता है। इसके सभी विभाग क्रिया में परिणत हैं, और संयोगिक भाव दिखा रहे हैं। इसके गठन (Constitution) से ही पता लगता है कि इसमें तनिक भी नम्रता, सजीवता नहीं है। इसी में अकार की रेखा जोड़कर इसका यह पूर्ण रूप बनाया गया है।

इसी डकार में हकार जुड़ने से ढकार बनता है और डकार के विरुद्ध अर्थ ध्वनित करता है। जहाँ डकार क्रिया और अचेतन अर्थ में है, वहाँ ढकार निश्चित, निश्चल, धारित, आधिपत्यादि अर्थों में लिया गया है। इससे बने हुए आरूढ़, रूढ़ि आदि शब्द इसकी निश्चलता और सजीवता को बताते हैं, क्योंकि दृढ़ता बिना चेतन के हो ही नहीं सकती और बिना ज्ञान के कोई किसी पर आरूढ भी नहीं हो सकता और न निश्चलता अथवा आधिपत्य ही जमा सकता है। इसका रूप बनाने के लिए डकार में केवल हकार की नाभि रेखा मिलाने से यह रूप बनता है।

त और थ

कवर्ग से लेकर टवर्ग तक जितने स्थानों और प्रयत्नों का वर्णन हुआ है, उनमें जिह्वा के लिए कहीं भी रुकावट नहीं आई, किन्तु टवर्ग से आगे बढ़ते ही जिह्वा को दाँतों की चौखट से टकराना पड़ता है और दाँतों के निचले स्थान में कुछ प्रयत्न करने पर जो शब्द सुनाई पड़ता है वह तकार

प्रतीत होता है। तकार का उच्चारण दाँतों के तल भाग से होता है, इसलिए तकार तलस्थान, नीचे आदि अर्थों में प्रयुक्त हुआ है और 'त' धातु किनारे के अर्थ में व्यवहृत है। तल और पार में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक ही भाव के सूचक हैं। इन्हीं अर्थों के सूचित करानेवाले तल, तरल और तथा आदि शब्द हैं। इसका ╔╗ यह रूप 'तल' आदि का भाव बता रहा है और निचले दाँतों का ढाँचा दर्शा रहा है। इसी में अकार का चिह्न जोड़ने से ┏┻┓ यह पूर्ण रूप बन जाता है।

इसी 'त' में 'ह' मिलाने से 'थ' अक्षर बनता है और 'त' के विरुद्ध ऊपर ठहरना, आधेय आदि अर्थों को ध्वनित करता है। तकार नीचे अर्थ में है तो थकार ऊपर अर्थ में है। 'त' इधर तो 'थ' उधर, तकार आधार तो थकार आधेय, तकार इस पार तो थकार उस पार का भाव सूचित करता है। तात्पर्य यह कि तकार या थकार दोनों एक सम्पुटपात्र की भाँति हैं। सम्पुटपात्र का जो भाग भूमि पर है वह 'त' और जो भाग ऊपर है वह 'थ' है। इसी प्रकार नदी का किनारा जो हमसे दूर है वह 'त' और जो हमारे पास है वह 'थ' है। तकार में हकार की नली जोड़कर थकार का रूप बनाया गया है जो /┬\ इस प्रकार है।

द और ध

कवर्ग में 'ग' चवर्ग में 'ज' टवर्ग में 'ड' जिस प्रकार स्थानान्तर होने के कारण गति, जन्म और क्रिया के वाचक हुए हैं, उसी प्रकार तवर्ग में दकार भी स्थानान्तर होने के कारण गति का अर्थ रखता है और 'दा' धातु का देना अर्थ होता है जो स्थानान्तर, परिवर्तन आदि का वाचक है, क्योंकि जब कोई पदार्थ किसी को दिया जाता है तब उसका स्थानान्तर अवश्य होता है—गति अवश्य होती है—क्रिया अवश्य होती है, परिवर्तन, नूतनत्व और जन्म अवश्य होता है, इसीलिए दकार का अर्थ स्थानान्तर, अर्थात् दान किया गया है। यही भाव इसके रूप में भी दिखलाया गया है। पूर्णता अथवा किसी भण्डार का चित्र O यही हो सकता है। पूर्ण पदार्थ से अगर कुछ निकाल लिया जाए—दे दिया जाए—स्थानान्तर कर दिया जाए तो वह कम दिखलाई पड़ेगा और जितनी क्षति हुई होगी वह भी दिखेगी। दकार के ɕ इस रूप में ये दोनों बातें दिखाई गई हैं। इस रूप से अच्छी प्रकार प्रकट हो रहा है कि किसी पूर्ण वस्तु से नीचे का भाग=लटकता भाग निकाल डाला गया है—दे दिया गया है। इसी में अकार का चिह्न जोड़ने से ɕ इस प्रकार का पूर्ण 'द' बनता है।

इसी दकार में हकार जोड़ने से 'ध' होता है। जहाँ दकार का अर्थ देना होता है, वहाँ धकार का अर्थ तद्विरुद्ध न देना, अर्थात् धारण करना, रख लेना आदि होता है। इसी अभिप्राय से 'ध' धातु का अर्थ ही धारण करना है, जिससे धरणी, धृति, धैर्यादि शब्द बनते हैं। इसका रूप केवल दकार में हकार का चिह्न मिलाने से ɕ| इस प्रकार का बनता है।

प और फ

कण्ठ, तालु और दन्त के तल भाग में होते हुए ओष्ठों की ओर आकर ओष्ठ से जो प्रथम अक्षर उच्चरित होता है वह 'प' है। पवर्ग को छोड़कर सभी अक्षरों के उच्चारण में मुखद्वार खुला रहता है, किन्तु पकार के उच्चारण का संकल्प होते ही ओष्ठ-कपाट बन्द हो जाते हैं और शब्दधारा मुख-की-मुख में ही रह जाती है—वहीं रक्षित हो जाती है। इसी कारण पकार रक्षा अर्थ में आया है। इसी से 'पा'=रक्षणे धातु बनाया गया है और पा पिता, पातु, पालन आदि शब्दों में प्रयुक्त हुआ है। इसका रूप दो ओष्ठों को '⚌' इस प्रकार जोड़कर रक्षारूपी सन्दूक़ का चित्र बनाते हुए ▭ इस प्रकार बनाया गया है। इसी में अकार की मात्रा जोड़ने से ▭। यह रूप बन जाता है।

इसी पकार में हकार मिलने से 'फ' होता है और 'प' के विरुद्ध खोलना और खुलना आदि का अर्थ रखता है। जिस प्रकार रक्षित का अभिप्राय बन्द होना है, उसी प्रकार अरक्षित का अभिप्राय खुला हुआ होता है। ओष्ठ बन्द करके हकार का उच्चारण करने से फकार सुनाई पड़ेगा। जिस प्रकार सन्दूक़ में छोटा-सा छिद्र कर देने से सन्दूक़ में रक्षित पदार्थ अपनी सूचना बाहर देने लगते हैं, उसी प्रकार बन्द ओष्ठों में तनिक-सा छिद्र करके हकार का उच्चारण करने से फकार अपना रूप प्रदर्शित करता है। यही कारण है कि इससे बने हुए फुल्ल, प्रफुल्ल, स्फुट, प्रस्फुट, स्फुरण आदि शब्द खुलने अर्थ में आते हैं। इसका रूप फकार में हकार का चिह्न जोड़कर ▭ इस प्रकार बनाया गया है।

ब और भ

कवर्ग का गकार, चवर्ग का जकार, टवर्ग का डकार और तवर्ग का दकार जिस प्रकार स्थानान्तर होने के कारण क्रमशः गति, जन्म, क्रिया और देना आदि अर्थ रखते हैं, ठीक उसी प्रकार पकार और फकार के आगे ओष्ठ के सहारे गालों के प्रयत्न को प्रबल बनाने से बकार अक्षर बनता है और अन्तर्गति, अर्थात् घुसना, समाना, छिपना आदि भावों को सूचित करनेवाला अर्थ रखता है। इस छिपाव वा गुप्त क्रिया का भाव लेकर इसका ▭ यह रूप बनाया गया है। बीच की रेखा छिपा हुआ भाव दिखा रही है और बाहर का चौकोर घेरा कोठरी का सङ्केत करता है। इसी में अकार रेखा जोड़ने से ▭ यह रूप बनता है।

इसी वकार में हकार मिलने से 'भ' अक्षर बनता है और वकार के विरुद्ध प्रकट, ज़ाहिर, बाहर आदि अर्थ रखता है, इसलिए 'भा' धातु प्रकाश अर्थ में आता है और इसी से आभा, प्रभा आदि शब्द बनते हैं। इसका रूप बकार में हकार का चिह्न मिलाकर ▭ इस प्रकार बनाया गया है।

ष, श और स[१]

जितने अक्षर केवल प्रयत्न से बोले जाते हैं वे स्वर और जिनमें स्थान-प्रयत्न दोनों का उपयोग होता है, वे व्यंजन हैं। ये ष, श, स भी स्वर ही होते यदि अपने-अपने स्थान को न

---

१. वर्त्तमान प्रचलित वर्णमाला में प्रथम 'ष' द्वितीय 'श' के स्थान में और द्वितीय 'श' प्रथम 'ष' के स्थान में लिखा जाता है।

पकड़ते। अ, ई, उ की भाँति मुख में एक सीटी का–सा स्वर भी होता है। उसी स्वर को लेकर ये तीनों अक्षर छोटी, बड़ी ध्वनि के कारण तीन प्रकार के हो गये हैं और छोटे–बड़े क्रम से एक ही अर्थ रखते हैं। किसी को दूर से सूचना देने के लिए पहले समय में शंख, फिर नफ़ीरी और आजकल बिगुल काम में आता है, परन्तु थोड़े अन्तर के लिए सीटी और बहुत ही थोड़े अन्तर के लिये सकार का ही प्रयोग होता है। मुम्बई में तो इसकी इतनी अधिकता है कि बिना इसके काम ही नहीं चलता। वहाँ दूसरे को सूचना देने के लिए यह काम में लाया जाता है। दूसरे को सूचना देना अपने अभिप्राय का प्रकाश करना है, इसीलिए इन तीनों अक्षरों का अर्थ 'प्रकाश करना' ही होता है। इनमें जो अक्षर जितना प्रबल, अर्थात् बड़ा है, उससे उतने ही दर्जे का प्रकाश बोध कराया गया है। अधिक–से–अधिक प्रकाश, अर्थात् हस्तामलक प्रकाश को ज्ञान कहते हैं, इसलिए इन तीनों में प्रथम 'ष' का अर्थ ज्ञान होता है, जिससे ऋषि आदि शब्द बनते हैं।

मध्यम शकार से प्रकाश, आकाश, नाश आदि शब्द बनते हैं और प्रत्यक्ष, आग्नेय, प्रकाश का अर्थ रखते हैं।

इसी प्रकार अन्तिम सकार से सूचना पहुँचाना, प्रकट करना, प्रकाशित करना अर्थ लिया गया है और 'स=शब्दे' धातु बनाया गया है, जिससे ह्लसति आदि परस्मैपदसूचक शब्द बनते हैं। 'स' साथ अर्थ में भी आता है और बहुधा तृतीयपुरुष के लिए भी प्रयुक्त होता है। इन दोनों से भी प्रकट करना ही अर्थ निकलता है, क्योंकि जो साथ है वह प्रकट है ही और जो तृतीय दूर खड़ा है वह भी प्रकट ही है। इन्हीं भावों को लेकर ष, श, स का रूप बनाया गया है। मुख के तालुप्रदेश में जिह्वा को लगाकर 'आ' शब्द की सहायता से ये उच्चरित होते हैं। इसी के अनुरूप इनका रूप बनाया गया है। इनके रूप में 0 यह भाग मुखाकृति का है। इनमें 'ʘ' इस प्रकार जिह्वा और तालु का रूप और '।' इस प्रकार अकार का रूप लगाया गया है और तीनों के रूपों को क्रमशः इस प्रकार पूर्णता को पहुँचाया गया है।

क्ष, त्र और ज्ञ।

क्ष, त्र, ज्ञ संयुक्ताक्षर हैं। 'क' और 'ष' के संयोग से 'क्ष', 'त' और 'र' के संयोग से 'त्र' तथा 'ज' और 'ञ' के संयोग से 'ज्ञ' बना है। ककार का अर्थ बाँधना, रोकना और षकार[1] का अर्थ ज्ञान है, इसलिए दोनों से बने हुए 'क्ष' का अर्थ रुका हुआ ज्ञान, बन्द ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव, अर्थात् नाश अथवा मृत्यु आदि होता है। इससे बने हुए क्षय, क्षयी और पक्ष आदि शब्द नष्टात्मक अर्थ को बतलाते हैं। इसका रूप भी उक्त दोनों अक्षरों के योग से इस प्रकार बना है। इसमें 'क' और 'ष' का रूप मिला हुआ है।

'त्र' में तकार का अर्थ नीचे तक और रकार का अर्थ देना है। दोनों को मिलाकर त्रकार का अर्थ नीचे तक देना, सब देना, कुल देना होता है। यही कारण है कि 'त्र' एकत्र, सर्वत्र आदि शब्दों में आकर कुल, सर्व आदि अर्थ सूचित करता है। इसका रूप तकार और रकार के संयोग से इस प्रकार बना है।

'ज्ञ' अक्षर में जकार का अर्थ जन्म और ञकार का अर्थ नहीं है, अतः दोनों से बने हुए ज्ञकार का अर्थ अजन्मा, नित्य आदि हुआ। संसार में अजन्मा और नित्य दो ही पदार्थ हैं, एक चेतन दूसरा जड़। एक का गुण कर्म है और दूसरे का गुण ज्ञान है, इसीलिए यह 'ज्ञ' कर्म सूचित

कराने के लिए यज्ञ आदि शब्दों में और ज्ञान सूचित कराने के लिए ज्ञान और प्रज्ञा आदि शब्दों में आता है और ज्ञा धातु ज्ञान अर्थ बतलाता है। इसका रूप 'ज' और 'ञ' के संयोग से [ज्ञ-चिह्न] इस प्रकार बना है।

ळ

ळकार के उच्चारण करने में मुख के सारे स्थान और सारे प्रयत्न काम में लाये जाते हैं, इसीलिए समस्त स्थान-प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाले इस अक्षर का अर्थ वाणी लिया गया है, क्योंकि वाणी सब स्थानों और प्रयत्नों से बनती है। वेद के '**अग्निमीळे**' मन्त्र में यह अक्षर '**ईळे**' शब्द में आता है। वेद में ही एक जगह लिखा है कि '**ईळे गिरा मनुर्हितम्**' (ऋग्वेद ८।१९।२१) अर्थात् मनुष्य की वाणी का नाम इळा है। इसी प्रकार निघण्टु में भी '**ईळा**' शब्द वाणी के पर्याय में कहा गया है। इसका रूप मुखाकृति और शब्दाकृति के समस्त अवयवों से बनाया गया है। '()' इस अकाराकृति, '०' इस अनुस्वाराकृति और '।' इस शब्दधाराकृति के योग से वाणी का सारा विषय स्पष्ट होता है, अतः इन तीनों चिह्नों के योग से इसका [ळ-चिह्न] यह रूप बनाया गया है।

धातुविज्ञान।

जिन अक्षरों का अब तक वर्णन किया गया है, उन्हीं से धातु बने हैं और उन्हीं धातुओं से शब्द तथा उन्हीं शब्दों से ही वाक्य, अर्थात् वेदों के मन्त्र भी बने हैं। किस प्रकार एक-एक अक्षर अपना वैज्ञानिक अर्थ रखता है और किस प्रकार वह अपनी ध्वनि, बनावट, प्रभाव और लिपि से विज्ञानयुक्त सिद्ध होता है, यह गत पृष्ठों में अच्छी प्रकार दिखला दिया गया है। अब यहाँ इस बात के दिग्दर्शन कराने का यत्न करते हैं कि उन्हीं वर्णार्थों से किस प्रकार धात्वर्थ निकलता है। पाणिनिमुनि ने बहुत ही आदिमकालीन धातुकोष को संचित करके 'धातुपाठ' के नाम से एक पुस्तिका संकलित कर दी है। यद्यपि इस धातुपाठ में बहुत-सी धातुएँ वेदों में आये हुए शब्दों के अतिरिक्त शब्दों की भी हैं, तथापि वेदों के शब्दों को सुलझानेवाले धातु भी अधिक परिमाण में हैं। हम यहाँ कुछ धातुओं का अक्षरार्थ करके देखते हैं और पता लगाते हैं कि क्या हमारे अक्षरार्थ के साथ उनका मेल मिलता है ? सबसे पहले हम निश्चित किया हुआ अक्षरार्थ लिखते हैं और फिर धातुपाठ के कुछ धातुओं से उनका सम्बन्ध दिखलाते हैं।

अ—सब, पूर्ण, व्यापक, अव्यय, एक, अखण्ड, अभाव, शून्य।

इ—वाला (जैसे मकानवाला) गति, निकट।

ए—नहीं गति, गतिहीन, निश्चल, पूर्ण, अव्यय।

उ—ऊपर, दूर, वह, तथा और आदि।

ओ—अन्य नहीं, वही, दूसरा नहीं।

ऋ—सत्य, गति, बाहर।

---

१. षकार भी स्वर से मिलता हुआ एक प्रकार का अर्ध स्वर ही है, इसीलिए यह क्षकार अक्षर को उत्पन्न कर सका है। 'त्र' में जिस प्रकार 'ऋ' स्वर मिला है और 'ज्ञ' में 'ञ' अनुस्वार रूपी स्वर का प्रतिनिधि मिला है, उसी प्रकार 'क्ष' में भी 'ष' मिला है जो एक प्रकार का स्वर ही है, इन्हीं तीनों स्वरों की सहायता से ये तीनों स्वतन्त्र अक्षर माने गये हैं।

लृ—सत्य, गति, भीतर।

०, ञ, ण, न ङ, ꣳ—नहीं, अभाव, शून्य।

:, ह—निश्चय, अन्त, अभाव, संकोच, निषेध।

क—बाँधना, बलवान्, बड़ा, प्रभावशाली, सुख।

ख—आकाश, पोल, खुला, छिद्र।

ग—गमन, हटना, स्थान छोड़ना, पृथक् होना।

घ—रुकावट, ठहराव, एकाग्रता।

च—फिर, पुनः, बाद, दूसरा, अन्य, भिन्न, अपूर्ण, अङ्गहीन, खण्ड।

छ—छाया, आच्छादन, छत्र, परिच्छद, अखण्ड आदि।

ज—पैदा होना, जन्म लेना, उत्पन्न होना, नूतनत्व, गति।

झ—नाश होना।

ट—मध्यम, साधारण, निर्बल, संकोच, इच्छाविरुद्ध।

ठ—निश्चय, प्रगल्भता, पूर्णता।

ड—क्रिया, प्रकृति, अचेतन, जड़।

ढ—निश्चित, निश्चल, धारित, चेतन।

त—तलभाग, नीचे, इधर, आधार, इस पार, किनारा, अन्तिम स्थान।

थ—ठहरना, आधेय, ऊपर, उधर, उस पार।

द—गति, देना, कम करना।

ध—न देना, धारण करना, रख लेना।

प—रक्षा।

फ—खोलना, खुलना।

ब—घुसना, समाना, छिपना।

भ—प्रकट, ज़ाहिर, बाहर, प्रकाश।

य—पूर्ण गति, जो, भिन्न वस्तु।

र—देना, रमण करना।

ल—लेना, रमण करना।

व—अन्य, पूर्ण भिन्न, अथवा, गति, गन्ध।

ष—ज्ञान, **श**—प्रकाश, **स**—साथ, शब्द, वह।

क्ष—बन्ध ज्ञान, अज्ञान, निर्जीव, नाश, मृत्यु।

त्र—नीचे तक देना, कुल देना, सब देना, कुल, सब, सर्व, समग्र।

ज्ञ—अजन्मा, नित्य, कर्म, ज्ञान।

ळ—वाणी।

इस अक्षरार्थ में ही अनेक अर्थों का भाव लक्षित और व्यञ्जित होता है, परन्तु जब कई अक्षर एक में मिलकर धातुरूप धारण करते हैं, तब उस मिश्रण से और भी अनेक भाव उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे प्रत्येक ओषधि में अनेक गुण होते हैं, परन्तु जब अनेक ओधषियों का सम्मिश्रण होता है तब पहले गुणों की अपेक्षा अनेक गुना अधिक नवीन गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार वर्णार्थों और धातुओं के सम्मिश्रण में भी अधिकाधिक अर्थों की सम्भावना है, इसलिए

यह न समझ लेना चाहिए कि धातुओं का अर्थ जितना धातुपाठ में है उतना ही है, अधिक नहीं। इस विषय में पाणिनिमुनि ने अष्टाध्यायी ६। १। ९ में एक **'सन्यङोः'** सूत्र लिखा है। उसपर पतञ्जलिमुनि ने महाभाष्य में लिखा है कि **'बह्वर्था अपि धातवो भवन्ति'**, अर्थात् धातुएँ बहुत अर्थवाली भी होती हैं। इसपर स्वामी दयानन्द सरस्वती 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' के 'व्याकरण प्रक्रियाविषयः' में लिखते है कि 'इस महाभाष्यकार के वचन से यह समझना चाहिए कि धातुपाठ में धातुओं के जितने अर्थ लिखे हैं उससे अधिक और भी बहुत अर्थ होते हैं जैसे 'ईड' धातु का स्तुति करना अर्थ तो धातुपाठ में है पर 'चोदना' आदि भी समझे जाते हैं'।

धातुएँ दो प्रकार की हैं—एक स्वाभाविक और दूसरी कृत्रिम। वेद के शब्दों की जितनी धातुएँ हैं वे स्वाभाविक हैं और मनुष्यों की कल्पना से जो धातुएँ बनी हैं वे कृत्रिम हैं। जो कृत्रिम हैं उनके लिए विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वे वैज्ञानिक आधार पर अक्षरार्थों के अनुसार बनाई गई होंगी, किन्तु जो वैदिक हैं—ईश्वरकृत हैं, उनके लिए कभी यह शंका ही नहीं हो सकती कि वे अक्षरार्थ के अनुसार हैं या नहीं, क्योंकि मनुष्य के मुख के समस्त स्थान और प्रयत्नों की रचना परमात्मा ने ही की है। उसी ने इतने वर्ण मनुष्य के मुख से उच्चरित होने का आयोजन किया है और उसी ने उन वर्णों के द्वारा मनोभाव प्रकट करने का सामर्थ्य दिया है, इसलिए यह असम्भव है कि उसने उन वर्णों का कुछ भी अर्थ न सोचा-समझा हो और यह निर्विवाद है कि उसका सोचा-समझा सार्थक होता है, अतएव ईश्वरकृत धातुएँ वर्णार्थों के अनुसार ही बनी हैं, इसमें तनिक-सा भी सन्देह नहीं है। जो हाल धातुओं का है वही प्रत्ययों का भी है। प्रत्यय भी एक प्रकार के शब्द ही हैं। उनके भी अर्थ निश्चित हैं और अक्षरार्थों के अनुकूल ही हैं। यही हाल अव्यय, उपसर्ग, निपात और समस्त उन चिह्नों का है जो लिङ्गों, वचनों, विभक्तियों, कालों और अन्यान्य स्थानों में प्रयुक्त होते हैं, किन्तु यहाँ इन सबपर विचार करने का न तो समय ही है और न इस पुस्तक में स्थान ही है, इसलिए यहाँ पर थोड़ी-सी धातुओं का वर्णविश्लेषण करके दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार विज्ञानमूलक हैं और अक्षरार्थ के अनुकूल हैं।

भग्—भ=प्रकाश, ग=गति, अर्थात् गतिमान् प्रकाश=ऐश्वर्य।

आप्—आ=चारों ओर से, प=रक्षा करना, अर्थात् चारों ओर से रक्षा करना=व्यापक।

णश्—ण=नहीं, श=प्रकाश, अर्थात् नहीं प्रकाश=अदर्शन।

अद्—अ=नहीं, द=देना, अर्थात् नहीं देना, रख लेना, पेट में डालना=भक्षण।

भू—भ=प्रकाश, उ=दूर तक, अर्थात् दूर तक प्रकाश, सदा प्रकट, सदैव विद्यमान=सत्ता।

आप्लृ—आ प्रत्येक ओर, प=रक्षा करना, लृ=भीतर गति, अर्थात् प्रत्येक ओर से भीतर रक्षा किये हुए=व्याप्ति।

चर्—च=बार-बार, र=बाहर गति, अर्थात् बार-बार बाहर गति=चलना।

मर्—म=नहीं, र=रमन, अर्थात् रमन नहीं, क्रिया नहीं, अस्तित्व नहीं=मरना।

हु—ह=अभाव, उ=दूर तक, अर्थात् दूर तक अभाव, बिलकुल नाश=दे देना, जला डालना।

मख—म=नहीं, ख=छिद्र, अर्थात् छिद्ररहितता, त्रुटिरहितता, त्रुटिरहित श्रेष्ठतम कर्म=यज्ञ।

हन्—ह=निश्चय, न=नहीं, अर्थात् निश्चयपूर्वक नहीं, बिलकुल अभाव=हिंसा।

यज्—इ=गति, अ=पूर्ण, ज=उत्पन्न करना, अर्थात् पूर्ण गति उत्पन्न करना=देवपूजा करना, संगति करना और दान देना।

सन्धिविज्ञान।

वैदिक भाषा में सन्धिविज्ञान भी बड़ी ही बुद्धिपूर्वक रचना के साथ स्थिर किया गया है। सन्धिविज्ञान दो सिद्धान्तों पर स्थिर है—एक तो वर्णमैत्री पर और दूसरे सुखोच्चारण पर। वर्णमैत्री का सिद्धान्त अधिकतर एक ही स्थान से उच्चरित होनेवाले वर्णों में पाया जाता है, परन्तु सुखोच्चारण का सिद्धान्त सरलता पर अवलम्बित है। यहाँ हम दोनों प्रकार के नमूने दिखलाते हैं। टकार की जब सकार के साथ सन्धि होती है तब सकार का रूप 'ष' हो जाता है। इसी प्रकार 'ऋ' के आसपास जब 'स' आता है तब उसका भी रूप 'ष' हो जाता है, जैसे—कष्ट, रुष्ट, पुष्ट और ऋषि, वर्षा, वृष आदि। इसका कारण यही है कि ऋ, ट और ष के उच्चरित होने का एक ही स्थान है। इसी प्रकार 'च' के साथ 'श' का भी सम्बन्ध है। पश्चात्, पश्चात्ताप, निश्चित और पुनश्च आदि प्रयोग इसी सिद्धान्त के अनुसार होते हैं। इसका भी कारण यही है कि 'च' और 'श' का उच्चारण एक ही स्थान से होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ग का प्रत्येक वर्ण अपने ही वर्ग के अनुनासिक से मिलता है, विपरीत से नहीं, जैसे—गङ्गा, चञ्चल, पण्डित, दन्त और शम्भु आदि, परन्तु जिन वर्णों के पास कोई निज का सानुनासिक नहीं है वे आवश्यकता पड़ने पर अनुस्वार के ही साथ मिलते हैं, जैसे संसार, वंश, हंस आदि। ये तो वर्णमैत्री के नमूने हैं। अब सुखोच्चारण के दो एक नमूने दिखलाते हैं।

यह सभी जानते हैं कि सत् और चरित्र एक साथ बोलने में कठिनाई होती है, क्योंकि 'त' दन्त्य है, उसका उच्चारण दाँत के पास से होता है और 'च' तालव्य है, उसका उच्चारण तालु से होता है। इस कठिनाई को हटाकर सुखोच्चारण बनाने के लिए तकार को भी चकार कर लिया गया और सत् चरित्र का सच्चरित्र हो गया। इसी प्रकार बृहत् जातक का बृहज्जातक और सत् इच्छा का सदिच्छा आदि प्रयोग किये जाते हैं। हम लिख आये हैं कि वर्ग का तृतीय अक्षर 'ह' के योग से वर्ग का चतुर्थ अक्षर हो जाता है। उसी नियम के अनुसार बृहद् हवन का बृहद्धवन हुआ है। अग्नि आधान का अग्न्याधान और मनः कामना का मनस्कामना आदि प्रयोग भी इसी सुखोच्चारण के लिए ही किये गये हैं। सम्भव है इसमें कुछ अपवाद भी हों, परन्तु वे बहुत थोड़े हैं। भाषा की प्रशस्त रचना उपर्युक्त सिद्धान्त पर ही हुई है, क्योंकि वर्णार्थवाली भाषा की सन्धि में यदि सुखद और स्वाभाविक वर्णविपर्यय का अवकाश न होता तो भाषा की दुरूहता बेहद बढ़ जाती। भाषा को अविचल और सार्थक रखने के लिए ही इतने कौशल के साथ अक्षरविज्ञान, धातुविज्ञान और सन्धिविज्ञान का आयोजन किया गया है, इसीलिए वैशेषिक दर्शन के आविष्कर्ता कणाद ऋषि कहते हैं कि '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**'[१] अर्थात् वेदवाणी की रचना परमेश्वर ने बुद्धिपूर्वक की है।

यहाँ तक वैदिक भाषा की बुद्धिपूर्वक रचना के प्रत्येक अङ्ग की आलोचना से देखा गया कि उसके वर्ण सार्थक हैं। वर्णों से बननेवाली धातुएँ और सन्धियाँ भी सार्थक, बुद्धिपूर्वक और वर्णार्थ से युक्त हैं। उनकी एक भी मात्रा निरर्थक नहीं है, अतएव आदि सृष्टि में शब्द और ज्ञान का परस्पर इस प्रकार वैज्ञानिक सम्बन्ध रखनेवाली वैदिक भाषा सिवा परमात्मा के और किसी की रचना नहीं हो सकती। यद्यपि यह सत्य है और इस प्रकार का सत्य मनुवैवस्वत के समय से लेकर भारतदेश के बड़े-बड़े समाधिस्थ योगियों द्वारा अनुमोदित, अब तक एकरस, अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है और बड़ी-बड़ी विघ्न-बाधाओं का सामना करता हुआ ज्यों-का-त्यों

---

१. वै० ६।१।१

स्थिर है तथापि कुछ लोग वेदों की अपौरुषेयता पर शंका करने का साहस भी करते हैं।

भाषा की उत्पत्ति पर विचार करते हुए डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री ने चार मतों का वर्णन करके दैवीशक्ति द्वारा भाषा की उत्पत्ति माननेवालों के मत का खण्डन किया है और निष्प्रयोजन ही वेदों के पीछे पड़ गये हैं। संसार में केवल वेद ही अपौरुषेयता (इलहाम) का दावा नहीं करते प्रत्युत क़ुरान, बाइबिल, तौरेत और गाथा आदि सभी साम्प्रदायिक ग्रन्थ अपौरुषेय कहलाते हैं, परन्तु डॉक्टर साहब ने वेदों की अपौरुषेयता पर ही पाँच आक्षेप किये हैं। आप अधिक आक्षेप नहीं कर सके। यदि वेदों में आपकी दृष्टि से ये पाँच शंकाएँ न होती तो निस्सन्देह आपको वेदों की अपौरुषेयता के विरुद्ध कुछ भी लिखने की हिम्मत न पड़ती, क्योंकि आर्यों और आधुनिक विद्वन्मण्डली के मतानुसार वेदों का प्रादुर्भाव लाखों वर्ष पूर्व हुआ है। लाखों वर्षों से वेदभगवान् आर्यों की वंशपरम्परा द्वारा स्मरणशक्ति के भरोसे सुरक्षित चले आ रहे हैं। इतने लम्बे काल में अनेक बार वेदों के विरुद्ध बड़े-बड़े उथल-पुथल हुए हैं। राक्षसों ने वेदों के नाश करने का कई बार प्रयत्न किया है। वेदों के नाम से जाली ग्रन्थ लिखे गये हैं और अनेक बार उनमें बड़े-से-बड़े प्रक्षेप करने का यत्न किया गया है। इस लम्बे काल में अनेक संकटों का सामना करते हुए यदि वेदों में केवल पाँच ही शंकाएँ पाई जाती हैं तो हम कहते हैं कि वेद धन्य हैं और वेदों के माननेवाले बड़े भाग्यशाली हैं। हम तो कहते हैं कि वेदों में यदि एक सौ शंकाएँ भी होतीं तो भी हम यही कहते कि इस दीर्घकालीन उथल-पुथल के ही कारण उनमें ये ग़लतियाँ आई हैं। डॉक्टर साहब ने जो शंकाएँ उपस्थित की हैं वे इस प्रकार की भी नहीं हैं तो भी आपकी शंकाओं को लिखकर उनके समाधान का यत्न करते हैं।

१. पहली शंका में आप कहते हैं कि 'संस्कृत-वर्णविज्ञानियों के अनुसार 'अ' और 'इ' का दीर्घ रूप 'आ' और 'ई' है, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो ऐसा नहीं है। ह्रस्व और दीर्घ का भेद कालकृत होता है, परन्तु ह्रस्व 'इ' को कितनी ही देर तक हम उच्चारण करें वह 'ई' नहीं बन जाएगी। इसी प्रकार 'ई' को कितनी ही शीघ्रता से उच्चारण करने से 'इ' सुनाई नहीं देगी। इसी प्रकार आजकल जिस प्रकार 'अ' बोला जाता है वह 'आ' का ह्रस्व रूप नहीं हो सकता। 'अ' के बाद 'आ' के उच्चारण करने में यही नहीं कि देर तक 'अ' का उच्चारण करना चाहिए किन्तु 'आ' के उच्चारण में मुख को 'अ' की अपेक्षा अधिक खोलने की आवश्यकता होगी तथा जिह्वा के पिछले भाग को कुछ ऊपर उठाना पड़ेगा' (पृ० २३७)।

इसके आगे आप कहते हैं कि 'ऋ का उच्चारण क्या था सो ज्ञात नहीं'।

२. दूसरी शंका में आप कहते हैं कि 'संस्कृत भाषा में यह एक साधारण नियम है कि एक शब्द के अन्दर विवृति (अर्थात् दो समीपस्थ स्वरों की परस्पर सन्धि न होकर प्रकृतिभाव से) नहीं देखी जाती, परन्तु ऋग्वेद (१०।७१।२) में आया हुआ 'तितउ' शब्द इसका अपवाद है। इसका कारण यही हो सकता है कि यह शब्द शुद्ध वैदिक न होकर उस समय की सर्वसाधारण की प्राकृत भाषा से लिया गया होगा' (पृ० १८२)।

३. तीसरी शंका में आप कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं कि वैदिक समय में भी भाषा में प्रादेशिक भेद पाये जाते थे। इस बात की पुष्टि 'कृ' धातु के 'कुरु' तथा 'कृणु' जैसे रूपभेदों के ऋग्वेद आदि में पाये जाने से तथा इसी प्रकार के दूसरे प्रमाणों से होती है' (पृ० २५१)।

४. चौथी शंका में आप कहते हैं कि 'कर्मन् से कर्माणि बनना तो समझ में आ सकता है परन्तु 'गृह' और 'हरि' जिनमें 'न्' है ही नहीं उनसे बननेवाले 'गृहाणि' और 'हरिणा' शब्द समझ में नहीं आते। इसका सादृश्य ही कारण हो सकता है। बच्चों की भाषा में इस प्रकार

सादृश्य से बने हुए अनेक शब्द देखे जाते हैं' (पृ० १३९)।

५. पाँचवीं शंका में आप कहते हैं कि निम्न शब्दों से ज्ञात होता है कि संस्कृत के शब्द दूसरी भाषा से निकले हैं—

संस्कृत	लेटिन	ग्रीक	अंग्रेज़ी	जर्मन
विंशतिः	Viginti	—	Twenty	Zwanzig (ट्स्वान्ट्सिक)
दुहितृ	—	Thugater	Daughter	Tochter (टॉख़्टर)
हंसः	—	Chen (ख़ेन)	Goose	Gans

उदाहरणार्थ जब विंशति के पूर्व भाग में 'त' है ही नहीं तब उससे अंग्रेज़ी का Twenty (ट्वेन्टी) कैसे निकल सकता है ? इस कारण संस्कृत दूसरों की मूलभाषा कैसे हो सकती है ? (पृ० १८१)। इसी प्रकार दुहितृ और हंस के पर्यायवाचक शब्दों में इनके 'ह' के स्थान में 'ग्' आदि अक्षरों को देखकर यह सिद्ध होता है कि दुहिता और हंस मूल या आदिभाषा के शब्द नहीं हो सकते, क्योंकि घ, ध, भ आदि से 'ह' का बनना तो स्वाभाविक है जैसे लौकिक संस्कृत के 'ग्रह' धातु के स्थान में वेद में 'ग्रभ' या 'सह' (=साथ) के स्थान में 'सध' आता है। 'ह' से 'घ' आदि का बनना वैसा नहीं है। (पृ० १८२)।

इनमें से पहली शंका अ, ई और ऋ आदि के उच्चारणों से सम्बन्ध रखती है। आप कहते हैं कि ह्रस्व और दीर्घ 'इ' और 'अ' का भेद कालकृत नहीं, प्रत्युत स्थान यौर प्रयत्नकृत है, क्योंकि दीर्घ को कितनी ही जल्दी बोलने से वह ह्रस्व नहीं होता और न ह्रस्व को देर तक बोलने से वह दीर्घ होता है, परन्तु हम कहते हैं कि इसमें ग़लती है। ह्रस्व और दीर्घ का भेद कालकृत ही है। स्थान और प्रयत्न का जो भेद दिखलाई पड़ता है वह काल के ही कारण दिखलाई पड़ता है। जब ह्रस्व 'इ' का उच्चाारण होता है तो 'इ' को बोलकर तुरन्त ही शब्द बन्द कर दिया जाता है, इसलिए स्थान और प्रयत्न को अधिक बल नहीं लगाना पड़ता, परन्तु जब दीर्घ का उच्चारण किया जाता है तब शब्द को अधिक देर तक स्थायी रखने के लिए मुख में वायु की मात्रा अधिक जमा करनी पड़ती है, इसलिए स्थान और प्रयत्न दोनों में विशेष विकृति करनी पड़ती है। जिस प्रकार सूत का धागा तोड़ने में जिन-जिन शरीरावयवों का उपयोग होता है, उसी प्रकार ज़ंजीर तोड़ने में भी उन्हीं अवयवों का उपयोग होता है, परन्तु धागा तोड़ते समय हमको शरीर में कुछ भी विकृतता ज्ञात नहीं होती और ज़ंजीर तोड़ते समय शरीरावयवों के उपयोग का—उनकी विकृतता का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। उसी प्रकार ह्रस्व और दीर्घों के उच्चारण यद्यपि एक ही स्थान प्रयत्न से होते हैं, किन्तु दीर्घों को देर तक बोला जाता है, इसलिए देर तक वायु द्वारा शब्द करते रहने के लिए मुखावयवों में प्रत्यक्ष विकृतता करनी पड़ती है, परन्तु ह्रस्व अनायास मुँह से निकल जाते हैं, इसलिए कुछ भी विकृतता नहीं करनी पड़ती। कहने का तात्पर्य यह कि दोनों के स्थान-प्रयत्न एक ही हैं, केवल दीर्घों को देर तक बोलने के लिए स्थान और प्रयत्न में स्पष्टता करनी पड़ती है, इसलिए ह्रस्व-दीर्घ का भेद—इ, ई, और अ, आ, का भेद—कालकृत ही है, स्थानकृत नहीं। यदि ह्रस्व और दीर्घ में कालकृत भेद न होता तो छन्दों में—तालों में लघु और गुरु का भेद न होता। एक मात्रा दो मात्रा से छोटी न होती और न उसका ताल मान (जो कालकृत है) ही छोटा होता, इसलिए ह्रस्व और दीर्घ का भेद कालकृत ही है।

इसी प्रकार 'ऋ' के उच्चारण के लिए आप कहते हैं कि नहीं कहा जा सकता कि पूर्व काल में 'ऋ' का उच्चारण किस प्रकार होता था। आपको यह शंका ज़न्दभाषा के एरे, दक्षिणियों के 'रु' और उत्तरीयों के 'रि' उच्चारण से हुई है। ज़न्दभाषा इस समय जिस लिपि में लिखी जाती

है, उसमें 'ऋ' के लिए जो अक्षर बनाया गया है वह 'ए' और 'रे' के संयोग से ही बनाया गया है, इसीलिए उसका उच्चारण एरे [illegible] होता है, जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार भारत के 'रु' और 'रि' उच्चारण भी ठीक नहीं है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उसके असली उच्चारण का अब पता लग ही नहीं सकता। उसका पता अइउण् सूत्रों के द्वारा ही लग सकता है। हयवरट् सूत्र को ध्यानपूर्वक पढ़ने से 'ऋ' के उच्चारण का पता मिल सकता है। 'य' की रचना 'इ' और 'अ' के योग से हुई है। जिस प्रकार 'व' से 'अ' निकाल डालने पर 'उ' का शुद्ध रूप निकल सकता है, उसी प्रकार 'र' से 'अ' निकाल डालने पर 'ऋ' का भी शुद्ध रूप निकल सकता है, परन्तु इतना सब करे कौन? हाँ, यदि थोड़ी देर एकान्त में बैठकर और 'र' से 'अ' निकालकर कोई मनुष्य 'ऋ' का उच्चारण करने का प्रयत्न करे तो निस्सन्देह उसका शुद्ध उच्चारण कर सकता है। इसी प्रकार दूसरे उच्चारणों के विषय में भी समझना चाहिए।

दूसरी शंका ऋग्वेद के 'तितउ' शब्द की है। यह शब्द ऋग्वेद १०।७१ के जिस मन्त्र में आया है उसका आवश्यक अंश **'सक्तुमिव तितउना पुनन्तः'** है। इसका अर्थ यह होता है कि जैसे सक्तुओं को छाननी (चलनी) पवित्र करती है। यहाँ 'तितउ' शब्द बिना सन्धिबन्धन के है, इसीलिए आप इसको कहीं बाहर से आया हुआ बतलाते हैं। आप कहते हैं कि 'संस्कृतभाषा में यह एक साधारण नियम है कि एक शब्द के अन्दर विवृति नहीं देखी जाती, परन्तु 'तितउ' शब्द इसका अपवाद है', किन्तु आपको यह ज्ञात नहीं है कि संस्कृत के साधारण नियम वेदों में काम नहीं देते। **'बहुलं छन्दसि'** सूत्रों में वेदों के सैकड़ों अपवाद बतलाये गये हैं जो संस्कृत के साधारण नियमों में नहीं आते। ऐसी दशा में क्या समस्त अपवादों को आप बाहर का आया हुआ बतलाएँगे? संस्कृत का साधारण नियम है कि अकारान्त पुल्लिङ्ग द्विवचन में औ होता है, जैसे—रामौ, किन्तु वेद के **'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया'** मन्त्र में यह नियम नहीं देखा जाता, ऐसी दशा में क्या आप 'द्वा' आदि प्रयोगों को कहीं बाहर का बतलाने की कृपा करेंगे? 'तितउ' शब्द यदि बाहर का होता तो प्राचीन वैदिक वैय्याकरणों को उसके मूल का पता न होता और न उसकी सिद्धि ही बतलाई जाती, किन्तु हम उणादि में देखते हैं कि वहाँ स्पष्ट **'तनोतेर्डउः सन्वच्च'**[1] लिखा हुआ मिलता है। जिससे ज्ञात होता है कि 'तितउ' शब्द 'तन्' धातु में 'डउ' प्रत्यय करने से बनता है।

अब यहाँ देखना चाहिए कि 'तन्' में 'डउ' की सन्धि हो सकती है या नहीं। हम पहले ही लिख आये हैं कि सन्धिविज्ञान वर्णमैत्री और सुखोच्चारण के सिद्धान्त पर स्थिर है। यहाँ न, ड, और उ, में वर्णमैत्री नहीं है। बीच में 'ड' आजाने से 'उ' 'तन्' के पास नहीं आ सकता, इसीलिए 'उ' 'त' में न जुड़ सका। यह वैदिक भाषा का सूक्ष्म नियम है। इसको प्रचलित साधारण लौकिक नियमों के साथ मिलाने से कैसे काम चल सकता है? **'तितउ चालनिः उमान्'** की उक्ति उच्च वैय्याकरणों में प्रचलित है। इसका वर्णन निरुक्त और उणादि में आया है। यह शब्द बहुत दिनों से वैय्याकरणों की दृष्टि के सामने हैं, इसलिए न यह कोई नई खोज है और न कोई ऐसा प्रमाण है, जिससे इस शब्द को कहीं बाहर का बताया जा सके। यदि यह 'तितउ' शब्द बाहर का है तो सक्तू, अर्थात् सत्तू शब्द भी बाहर का ही होगा, परन्तु यह बात नहीं है। सक्तू वैदिकों का ही शब्द है। यदि सत्तू शब्द बाहर का नहीं है तो क्या सत्तुओं को बिना छाने चोकर समेत ही खाया जाता था? हम बलपूर्वक कहते हैं कि सत्तुओं के साथ मिला हुआ 'तितउ' शब्द जिसकी धातु और प्रत्यय तथा सिद्धि का नियम व्याकरण में विद्यमान है और सन्धिविज्ञान के

---

१. उणादि० ५।५२

सरल उच्चारणवाले नियम के अनुकूल है, वह बाहर का नहीं हो सकता। '**सक्तुमिव तितउना पुनन्तः**' मन्त्र में 'पुनन्तः' शब्द आया है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में सत्तू छानकर ही खाये जाते थे, इसलिए उनके पास छानने का पात्र था और उस पात्र का नाम भी 'तितउ' ही था जो शुद्ध और मौलिक है।

तीसरी शंका में आप एक ही धातु से बननेवाले 'कुरु' और 'कृणु' शब्दों को प्रान्तिक भाषाभेद का नमूना बतलाते हैं और इसी को भाषापरिवर्तन का प्रमाण कहते हैं, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। ये दोनों शब्द अलग-अलग धातुओं से बने हैं, दोनों के प्रत्यय अलग-अलग हैं और दोनों अलग-अलग गणों में विभक्त हैं। 'कुरु' शब्द डुकृञ्—करणे, धातु में 'उ' प्रत्यय करने से बनता है और 'कृणु' शब्द कृञ्—हिंसायाम् धातु में 'इनु' प्रत्यय करने से बनता है। 'कुरु' तनादिगण का और 'कृणु' स्वादिगण का है। ऐसी दशा में दोनों धातुओं में केवल 'कृ' आ जानेमात्र से यह कह देना कि डुकृञ् और 'कृञ्' एक ही हैं, धातुविज्ञान की अनभिज्ञता प्रकट करता है। धातुओं में अक्षरविज्ञान भरा हुआ है, इसलिए तनिक-सा भेद होते ही अर्थ में महान् भेद हो जाता है। जिस प्रकार 'डुकृञ्' और कृञ् में तनिक-सा भेद होने के कारण एक का अर्थ 'करणे' है और दूसरी का 'हिंसायाम्' है, उसी प्रकार डुकृञ् का अर्थ 'द्रव्य विनिमये', 'कृ' का अर्थ 'विक्षेपे' और 'कृ' का अर्थ 'हिंसायाम्' होता है। सबमें 'कृ' विद्यमान है, परन्तु तनिक-तनिक- सा भेद होने के कारण अर्थ में भेद हो गया है। अर्थभेद धातु के भेद को स्पष्ट करता है और धातुभेद अर्थ को। यद्यपि स्थूलदृष्टि से देखने में 'कुरु' और 'कृणु' के अर्थ में भेद नहीं दिखलाई पड़ता, परन्तु सूक्ष्मदृष्टि से एक में साधारण क्रिया है और दूसरे में विशेष। कुरु साधारण है, परन्तु कृणु विशेष है। इस सूक्ष्म अवलोकन से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों धातुएँ भिन्न-भिन्न हैं।

चौथी शंका में आप कहते हैं कि 'कर्मन्' से कर्माणि होना तो सम्भव है, क्योंकि उसमें 'न्' है, परन्तु 'ग्रह' जिसमें 'न' है ही नहीं उससे गृहाणि कैसे बन गया ? इसका उत्तर इतना ही है कि जिस प्रकार रामः में नकार का कहीं पता नहीं है, परन्तु रामाणाम् हो गया है उसी प्रकार गृह का गृहाणि और हरि का हरिणा भी बना है। इसमें अनुकरण की कोई बात नहीं है, क्योंकि अनुकरण की सम्भावना तो समता में ही होती है, परन्तु कर्मन् और हरि में कोई समता नहीं है, इसलिए ये अनुकरण नहीं, किन्तु स्वतन्त्र विभक्तियाँ हैं।

पाँचवीं शंका हंस, दुहिता और विंशति शब्दों से सम्बन्ध रखती है। डॉक्टर साहब का विचार है कि दूसरी भाषाओं में इन शब्दों के लिए जो उच्चारण प्रयुक्त हुए हैं उनमें कुछ ऐसे वर्ण हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ये शब्द मूल में हंस, दुहिता और विंशति न थे। अंग्रेज़ी के ट्वेंटी (twenty), डॉटर (daughter) और गूज़ (goose) आदि शब्दों से ज्ञात होता है कि विंशति के आदि में तवर्ग के और दुहिता तथा हंस में कवर्ग के वर्ण थे। यहाँ हम पहले हंस शब्द पर विचार करते हैं। डॉक्टर साहब ने 'भाषाविज्ञान' में हंस के रूप इस प्रकार लिखे हैं—

संस्कृत	**ग्रीक**	**अंग्रेज़ी**	**जर्मन**
हंस	Chen (ख़ेन)	Goose	Gans

हम पिछले पृष्ठों में लिख आये हैं कि संस्कृत का 'ह' ज़न्दभाषा में 'ज़' हो गया है, जैसे हस्त का ज़स्त और होता का ज़ोता। यह हंस शब्द पहले ज़ंस हुआ और जर्मनवाले इसे जंस कहते भी रहे, परन्तु उन्होंने जब फ्रिनीशिया की लिपि स्वीकार की तब जकार का उच्चारण कभी 'जी' अक्षर से, कभी 'ज' अक्षर से और कभी 'ज़ेड' से लिखते रहे। दैवदुर्विपाक से ज़ंस को

उन्होंने जिओमेट्री की तरह 'जी' से लिखना शुरू किया और ज़ंस के स्थान में जंस कर दिया। 'जी' का अधिकतर उच्चारण 'गकार' ही होता है, अतः 'जंस' शीघ्र ही गंस होकर गंज़ हो गया और यूरोप की अनेक भाषाओं में अनेक रूप धारण करता हुआ वही गंस से गेंस और गेंस से गूज़ तथा ख़ेंस या ख़ेन आदि भी हो गया। इसलिए हंस के मूल में किसी वर्ग के मानने की बिलकुल आवश्यकता नहीं है[१]।

अब दुहिता शब्द पर विचार करना चाहिए। डॉक्टर साहब कहते हैं कि संस्कृत दुहिता के स्थान में अंग्रेज़ी में डाघ्टर और फ़ारसी में दुख़्तर पाया जाता है। अन्य भाषाओं में भी इसी प्रकार किसी-न-किसी कवर्ग का आदेश दिखलाई पड़ता है। इससे यही प्रतीत होता है कि दुहिता के मूल में कवर्ग का कोई अक्षर था। दुहिता शब्द में जो 'ह' है उसके स्थान में घ, ग या ख अक्षर था, क्योंकि घ, ध, भ आदि से 'ह' का बनना तो स्वाभाविक है, परन्तु 'ह' से घ, भ, आदि नहीं बन सकते। किसी अंश में आप ठीक कहते हैं, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ी भूल है। जिन भाषाओं में घ, ध, भ आदि नहीं हैं उनमें तो ये अक्षर 'ह' हो सकते हैं, परन्तु जिनमें हैं, उनके लिए यह नियम नहीं है। महाराष्ट्रवालों ने 'गृह्य' के लिए 'घ्या' और चीनवालों ने 'होम' के लिए 'घोम' आदेश किया है। गुजरात और महाराष्ट्रवाले 'ज' का 'झ' कर डालते हैं। इसका कारण यही है कि उनके पास 'घ' और 'झ' पहले से ही विद्यमान है। वैदिक आर्यों के पास तो पूरा कवर्ग था, ऐसी दशा में वे कवर्ग को छोड़कर 'ह' का सहारा क्यों लेते ? रहे वे लोग जिन्होंने 'ह' का 'घ' और 'ख़' किया है, उनके पास भी ये उच्चारण थे, इसीलिए घ्या और घोम की भाँति दुहिता का डाघ्टर और दुख़्तर कर लिया है। इसके अनेक नमूने विद्यमान हैं। यह सभी जानते हैं कि 'स' और 'ह' परस्पर बदल जाते हैं। सप्त का हप्त और हृष्ट का सख़्त होने में देर नहीं लगती। इसी प्रकार 'ष' का 'ख' और 'ख़' भी होते देखा जाता है, जैसे पुष्ट का पुख़्त। ऐसी अवस्था में दुहिता का दुसिता—दुषिटा—दुख़्तर और डाघ्टर होना कोई असम्भव बात नहीं है। यह नित्य का क्रम है और आर्यभाषाओं में यह क्रम भरा पड़ा है, इसलिए दुख़्तर आदि शब्द दुहिता के ही अपभ्रंश हैं।

अब अन्त में विंशति शब्द पर विचार करना चाहिए। हमारा विश्वास है कि विंशति शब्द मौलिक और अपौरुषेय है। जिस प्रकार अस्सी के लिए अष्टीति न बनाकर अशीति शब्द बनाया गया है, जिस प्रकार साठ के लिए 'षट्ति' न बनाकर 'षष्टि' शब्द बनाया गया है और जिस प्रकार सोलह के लिए षट्दश न बनाकर षोडश शब्द बनाया गया है, उसी प्रकार बीस के लिए द्विंशति न बनाकर विंशति शब्द बनाया गया है। अष्टीति में वर्णमैत्री का अभाव था। 'ट' और 'त' दोनों भिन्न-भिन्न स्थानों से उच्चरित होने के कारण पास-ही-पास अपने-अपने रूप के साथ नहीं रह सकते थे और 'ति' और 'त' दहाई के चिह्न हैं जो त्रिंशति, चत्वारिंशति, पंचाशत, षष्टि, सप्तति, अशीति और नवति में विद्यमान हैं, इसलिए हटाये नहीं जा सकते थे, अतः टकार को ही हटाना पड़ा। टकार के हटते ही उसका मित्र 'ष' आप ही आप हट गया और 'ष' के स्थान में 'श' आ गया तथा 'त' से मित्रता करके अष्टीति का अशीति बना दिया। इसी प्रकार की कठिनाई षट्ति में भी थी। इसमें भी 'ट' और 'त' एक साथ नहीं रह सकते थे। इसके दो ही उपाय थे। या तो टकार हटे या तकार हटे। अष्टीति में टकार को हटाकर एक नियम दिखला दिया गया था, परन्तु षट्ति में अष्टीति की भाँति 'अ' न था, इसलिए इसमें दूसरा नियम काम में

१. सम्भव है Chen (खेन) शब्द संस्कृत के श्येन का अपभ्रंश हो। श्येन एक पक्षी का नाम है और वेदों में उसका वर्णन आता है।

लाया गया, अर्थात् 'त' हटाने की नौबत आई, किन्तु कठिनाई यह उपस्थित हुई कि दहाई का चिह्न 'ति' निकाला नहीं जा सकता था। इसलिए 'ति' से 'इ' चिह्न ले-लिया गया और 'त' निकाल दिया गया जिससे षट्ति का षष्टि हो गया और सुखोच्चारण के लिए एक टकार के स्थान में दूसरे 'ष' का आदेश हो गया और 'षष्टि' शब्द बन गया। जो बात इनमें थी वही बात षट्दश में भी थी। इसमें भी 'ट' और 'द' दोनों हटा दिये गये, अनुकूल वर्ण का आगम कर लिया गया और सुखोच्चारणयुक्त षोडश शब्द बना लिया गया।

जिस प्रकार वर्णविरोध के कारण वैदिक सन्धिविज्ञान के अनुसार उक्त शब्द बनाये गये हैं, उसी प्रकार की कठिनाई के कारण 'द्विंशति' का 'विंशति' भी बनाया गया है। द, व, इ, श से द्विंश बना है। इन चारों वर्णों का स्थान पृथक्-पृथक् है। चारों में वर्णमैत्री का अभाव है। चारों का योग सुखोच्चारण को नष्ट करता है। गिनती के ये अङ्क शिक्षित अशिक्षित सभी मनुष्य प्रतिदिन बोलते हैं। बोलते ही नहीं, प्रत्युत इन्हीं के द्वारा लेन-देन करते हैं, इसलिए इनके नाम सरल और सुखोच्चारणयुक्त होने चाहिएँ। ऐसी दशा में भिन्न-भिन्न चार स्थानों से बोला जानेवाला 'द्विंश' शब्द क्लेशकर समझा गया, अत: उससे केवल अर्ध दकार हटा दिया गया और द्विंशति का विंशति बना लिया गया, परन्तु अंग्रेज़ी का ट्वेंटी शब्द द्विंशति से ही मिलता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ट्वेंटी का मूल द्विंशति ही है, परन्तु यह द्विंशति शब्द मौलिक नहीं है। अंग्रेज़ी आदि में यह षट्दश में सिक्सटीन की भाँति ही बनाया गया है, क्योंकि यूरोप आदि में अङ्कविद्या भारत से ही गई है, इसीलिए इसे 'इल्महिन्दसा', अर्थात् हिन्द का इल्म कहते हैं। इस भारतीय अङ्कविद्या में नौ तक इकाइयाँ और दशगुनी संख्याओं के ही नाम हैं। इन्हीं से समस्त अङ्कजाल फैलता है, इसलिए विदेशियों ने अपने यहाँ जो नाम रक्खे हैं वे इन्हीं नवाङ्कों और दहाइयों के नियम के आधार से रक्खे हैं, षोडशादि अंको के नामों पर से नहीं, इसीलिए उन्होंने सन्धिविज्ञान के सुखोच्चारण की परवाह नहीं की और विंशति के लिए ट्वेंटी तथा षोडश के लिए सिक्स्टीन शब्द प्रयुक्त कर लिये हैं। सिक्स्टीन बिलकुल षट्दश का अनुवाद है, उसी प्रकार ट्वेंटी भी द्विंशति का ही अनुवाद है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि अंग्रेज़ी आदि के ये शब्द किसी मौलिक शब्दावली से नहीं लिये गये प्रत्युत नौ अंकों और दशगुनी संख्याओं का सिद्धान्त समझकर ही ये नाम रक्खे गये हैं, अर्थात् जैसे चार और दश का चतुर्दश, आठ और दश का अष्टादश होता है, उसी प्रकार दहाइयों के साथ इकाइयाँ मिला दी गई हैं और इकाइयों के ही अनुसार दहाइयों के नाम रख दिये गये हैं, किन्तु क्लिष्ट उच्चारणों की सन्धियों को सरल करने की ओर ध्यान नहीं दिया गया, इसलिए ट्वेंटी और सिक्सटीन आदि शब्दों से विंशति और षोडश आदि शब्दों की तुलना नहीं हो सकती। विंशति आदि मौलिक शब्दों में दोनों बातें—नव अंकों और दशगुनी संख्याओं का सिद्धान्त तथा सन्धि का विज्ञान भरा है, परन्तु ट्वेंटी आदि में केवल सिद्धान्त ही है शब्दशुद्धि नहीं, किन्तु जहाँ सिद्धान्त और शब्द की मौलिकता दोनों हैं, वहीं वास्तविकता है, इसलिए विंशति मूल है और ट्वेंटी कल्पित है।

'द्वा' का सरल रूप ईरान की ज़ेन्दभाषा में 'बि' और गुजराती में 'बे' अब तक प्रचलित है। ये दोनों 'द्वा' या 'द्वे' के सरल रूप हैं। 'व' सदैव 'ब' हो जाता है, जैसे 'वर्षा' का 'बर्खा', इसीलिए 'वि' या 'वे' का रूप 'बि' और 'बे' हुआ है। इस घटना से प्रतीत होता है कि 'द्व' से जान-बूझकर स्वभावत: 'द' निकाल दिया गया है और सुखोच्चारण के सिद्धान्तानुसार जिस प्रकार अष्टीति का अशीति, षट्ति का षष्टि और षट्दश का षोडश किया गया है, उसी प्रकार परमेश्वर की ओर से मनुष्यों के सुखोच्चारण के लिए द्विंशति का विंशति भी किया गया है, किन्तु

आप जो कहते हैं कि विंशति को यदि हम सृष्टि के आरम्भ में दैवीशक्ति की प्रेरणा से स्वयं बना हुआ कहें तो प्रश्न होता है कि इसके स्थान में 'द्विदशति' जैसे स्पष्ट व्युत्पत्तिवाले शब्द को ही क्यों नहीं चुना गया (पृष्ठ १८२)। हम कहते हैं कि आपके परामर्श से यदि परमात्मा द्विदशति शब्द की प्रेरणा करता तो उसकी बड़ी भद्द होती, क्योंकि परमात्मा की तो अब तक इसीलिए प्रशंसा की जाती है कि उसने अङ्कगणित को बड़ी ही वैज्ञानिक रीति से प्रकाशित किया है। उसने केवल नौ अंकों और दशगुनी संख्याओं के ही नामों से सारे अङ्कगणित का विस्तार किया है। एक, द्वि, त्रि, चत्वारि, पंच, षट्, सप्त, अष्ट और नव तथा दश, शत, सहस्र और अयुत आदि से ही समस्त अङ्कों का विस्तार हुआ है। अन्य सब संख्याएँ इन्हीं के मेल से बनी हैं। द्वादश, पंचविंश, त्रिषष्टि और नवनवति आदि तथा त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पंचाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, और नवति आदि सब उन्हीं नौ अंकों से ही बने हैं, परन्तु आपकी सम्मति से यदि 'द्विदशति' होता तो अंकविद्या का यह वैज्ञानिक नियम भङ्ग हो जाता, इसलिए अच्छा हुआ कि परमात्मा ने आपकी सम्मति नहीं ली। जब द्वि शब्द विद्यमान है, जब त्रि से त्रिंशति आदि का अटूट नियम विद्यमान है और जब द्वि का बि, अपभ्रंश भी विद्यमान है तब कौन कह सकता है कि विंशति शब्द के पहले द्विदशति रहा होगा? वह निश्चय ही द्विंशति होता, परन्तु सरल उच्चारण के कारण विंशति किया गया है, जो सन्धिविज्ञान के अनुकूल ही है। आप जो कहते हैं कि 'जब विंशति के पूर्व भाग में तवर्ग है ही नहीं तब उससे अंग्रेज़ी का ट्वेंटी शब्द कैसे निकल सकता है? हम कहते हैं कि उसमें 'द' विद्यमान है जो कहीं बाहर से उधार नहीं आया, प्रत्युत 'द्वि' से आया है और ट्वेंटी आदि में पहुँचा है। इसलिए ट्वेंटी किसी अन्य मौलिक भाषा का अपभ्रंश नहीं है, प्रत्युत द्विंशति का ही अपभ्रंश है, इसी प्रकार विंशति भी द्विंशति का ही संस्कृत रूप है, जो वैदिक अक्षरविज्ञान और सन्धिविज्ञान के अनुकूल ही है।

यहाँ तक उक्त पाँचों शंकाओं का समाधान हुआ। इन शंकाओं की उत्पत्ति वेदों की दीर्घकालीन अवस्था से ही हुई है। यह बात डॉक्टर साहब जानते हैं कि इतने दीर्घकाल में इतने उथल-पुथलों के बाद तनिक-सा उच्चारणों में अन्तर आना सम्भव है, परन्तु उन्होंने इसकी उपेक्षा करने की उदारता भी नहीं दिखलाई। किसी वृद्ध मनुष्य की झुकी हुई कमर, सफ़ेद बाल, बिना दाँतों का मुख और सिकुड़ी हुई खाल को देखकर डॉक्टर मंगलदेव-जैसा विज्ञानवेत्ता कह सकता है कि इस पुरुष में ये चिह्न कहीं बाहर से आकर चिपक गये हैं, अतः यह अपने लड़कों का बाप नहीं हो सकता, क्योंकि लड़कों के मुँह में दाँत हैं, बाल काले हैं और कमर सीधी तथा खाल भरी हुई है, परन्तु बात सर्वथा उल्टी है, वे लड़के उसी वृद्ध पिता के ही हैं। वृद्ध के शरीर में बाहर के पदार्थ नहीं चिपके, प्रत्युत उसके शरीर से कुछ पदार्थ चले गये हैं, किन्तु वेदों की तो यह दशा भी नहीं है। वे आदि से आज तक ज्यों-के-त्यों बने हुए हैं, अतः ऐसी भ्रामक बातों से वेदों की अपौरुषेयता में बाधा नहीं पड़ सकती। वेद स्वयं कहते हैं कि—

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्विदन् ऋषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा सप्तरेभाः अभि सं नवन्ते॥[1]

अर्थात् परमात्मा की कृपा से जब मनुष्यों में वाणी की प्राप्ति का समय आता है तब वह अनुकूलता से ऋषियों में प्रविष्ट हुई, उस वाणी को, जिसकी सात स्वर—सात छन्द स्तुति करते हैं, पाते हैं और सब स्थानों में फैलाते हैं।

उस भाषा के विषय में शतपथब्राह्मण में कहा है कि '**सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता ऋचो**

---

१. ऋ० १०।७१।३

यजूंषि सामानि', अर्थात् वही भाषा ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद है। इस प्रकार भाषा की अपौरुषेयता सिद्ध हो जाने पर अब आदिज्ञान की अपौरुषेयता का पता लगाते हैं।

आदिज्ञान का स्वरूप

'आदिज्ञान और आदिभाषा' शीर्षक में पहले ही लिखा जा चुका है कि जिस प्रकार भाषा ईश्वरप्रदत है, उसी प्रकार उस भाषा में गर्भित ज्ञान भी ईश्वरप्रदत्त, अर्थात् अपौरुषेय है, अतएव अब यहाँ यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि उस अपौरुषेय आदिज्ञान का स्वरूप क्या था? आदिज्ञान का स्वरूप निश्चित करने के पूर्व ज्ञान का स्वरूप समझ लेना चाहिए। ज्ञान का स्वरूप बहुत विशाल है। खाने-पीने, उठने-बैठने और शादी-विवाह से लेकर वर्त्तमान समय के भौतिक विज्ञान और प्राचीन समय के भारतीय आध्यात्मिक ज्ञान तक इसका विस्तार है। इसके स्वरूप के तीन विभाग हैं—स्वाभाविक ज्ञान, नैमित्तिक ज्ञान और काल्पनिक ज्ञान।

१. खाना-पीना, स्त्री-बच्चों का सम्बन्ध स्थापित करना और इसी उद्देश्य के लिए परस्पर थोड़ी-सी बीतचीत कर लेना, ज्ञान की पहली श्रेणी है। इस श्रेणी के लोग जंगलों में पाये जाते हैं। गाँवों में, शहरों में और ऊँची-से-ऊँची स्थिति के लोगों में भी थोड़े बहुत मनुष्य इस श्रेणी के मिल जाते हैं। इनको हम अशिक्षित श्रेणी में रखते हैं और इनके ज्ञान को स्वाभाविक ज्ञान कहते हैं।

२. अच्छे कुलों के बेपढ़े-लिखों से लेकर प्रावेशिक शिक्षा प्राप्त पुरुषों तक को हम शिक्षित श्रेणी में गिनते हैं और इनके ज्ञान को नैमित्तिक ज्ञान समझते हैं।

३. कॉलेज से प्राप्त ज्ञान अथवा बहुत ऊँचे विद्वानों की सङ्गति से बादशाह अकबर की भाँति प्राप्त ज्ञानवालों को हम उच्चशिक्षित श्रेणी के मानते हैं और इसे काल्पनिक ज्ञान समझते हैं।

इन तीन श्रेणी के ज्ञानों में से आदि सृष्टि में प्राप्त आदि अपौरुषेय ज्ञान किस श्रेणी का था, यह यहाँ समझ लेना चाहिए। हमारा विश्वास है कि वह ज्ञान प्रथम श्रेणी का—स्वाभाविक ज्ञान—नहीं हो सकता, क्योंकि प्रथम श्रेणी के स्वाभाविक ज्ञान से मनुष्य के मस्तिष्क में ऐसी शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती, जिससे वह अपना ज्ञान अधिक विस्तृत कर सके। समस्त बेपढ़े-लिखे और जंगली मनुष्य इस बात का प्रमाण हैं। वे बिना शिक्षा के सौ तक गिन्ती का भी विस्तार नहीं कर सकते। पढ़े-लिखे सभ्य घरों की कोई-कोई स्त्रियाँ भी, जिन्होंने कुछ भी नहीं पढ़ा सौ तक गिनती नहीं गिन सकतीं। संसार का अनुभव बतला रहा है कि बिना पढ़ाये—बिना दूसरे के निमित्त के—कोई भी मनुष्य शिक्षित नहीं हो सकता। हम संसार में विस्तृत और विशाल ज्ञान देख रहे हैं, अतएव कह सकते हैं कि यह स्वाभाविक ज्ञान का परिणाम नहीं है—प्रथम श्रेणी के ज्ञान का विकास नहीं है।

आदिज्ञान तीसरी श्रेणी का भी नहीं हो सकता, क्योंकि यदि परमात्मा सभी कुछ बतलाने बैठे तो फिर मनुष्य की मनन शक्ति ही मारी जाए। वह पढ़ा-लिखा होते हुए भी मूर्खों और जंगलियों से निकृष्ट हो जाए। संसार के परिवर्तनों के कारण आपत्ति आने पर वह कुछ भी न कर सके। इस बात का नमूना हम प्रतिदिन भारतदेश में देखते हैं। सामाजिक बन्धनों के कारण लोगों ने अपने मस्तिष्कों को बुरी तरह रूढ़ियों को सौंप दिया है। गाँव के अशिक्षित पुराने रूढ़िवादी जो कुछ कहते हैं, शिक्षित पुरुष भी वही मानते हैं और उसी के अनुसार चलकर अपनी अवनति करते हैं। तनिक भी अपने मस्तिष्क से काम नहीं लेते। यदि थोड़ा भी सोचें तो बुराई दृष्टि के सामने आ जाए और उससे बच जाएँ, किन्तु वे समय की परिस्थिति को सोचकर उसके अनुसार नवीन उपायों का आयोजन नहीं करते। उन्होंने सोचना ही बन्द कर दिया है। वे पुरानी रूढ़ियों से प्राप्त ज्ञान के ही भरोसे हैं, परन्तु देखा जाता है कि पुराने प्राप्त ज्ञान से सदैव काम नहीं चलता।

इसीलिए आदि सृष्टि में सभी कुछ नहीं बतलाया जाता। कहने का तात्पर्य यह कि आदिज्ञान ऐसा नहीं हो सकता जिसके कारण मनुष्य के विचार करने के सब दरवाज़े ही बन्द हो जाएँ, इसलिए आदिज्ञान दूसरी श्रेणी का प्रावेशिक ही था। प्रावेशिक शिक्षा दे देने पर—हर विषय में प्रवेश करा देने पर—मनुष्य धीरे-धीरे आप-ही-आप सोच-सोचकर उच्चज्ञान—विश्वविद्यालयों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, इसलिए आरम्भिक अपौरुषेय ज्ञान प्रावेशिक शिक्षा तक ही था। इस अपौरुषेय ज्ञान के दो विभाग हैं—लौकिक और पारलौकिक। इस ज्ञान में पारलौकिक ज्ञान विशेषरूप से और लौकिक ज्ञान साधारणरूप से रहता है। इसका कारण यही है कि मनुष्य की कल्पाना से निर्भ्रान्त पारलौकिक ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता और लौकिक ज्ञान में कल्पनाशक्ति से उन्नति हो जाती है, इसीलिए परमात्मा ने आदि में पारलौकिक ज्ञान विशेषरूप से और लौकिक ज्ञान साधारणरूप से दिया है। इसमें मनुष्योपयोगी समस्त आवश्यक ज्ञान बीज रूप में विद्यमान है। यही आदिज्ञान का स्वरूप है। आदिज्ञान का स्वरूप ज्ञात हो जाने पर अब हम देखना चाहते हैं कि वेदों का ज्ञान किस श्रेणी का है। उपर्युक्त ज्ञान के स्वरूप के साथ उसका मेल मिलता है या नहीं—वह आदिज्ञान के स्वरूप का सिद्ध होता है या नहीं।

वैदिक ज्ञान का स्वरूप—यज्ञ

अभी हम दिखला आये हैं कि आदि नैमित्तिक ज्ञान प्रावेशिक होता है और उसमें पारलौकिक ज्ञान विशेष तथा लौकिक ज्ञान साधारण होता है। पारलौकिक ज्ञान परमात्मा की प्राप्ति तक जाता है और लौकिक ज्ञान संसार के समस्त कार्यों को करके पारलौकिक सिद्धि में सहायता देने तक पहुँचता है। इतने ज्ञान से मनुष्य की बुद्धि विकसित हो जाती है और वह बहुत दूर तक ज्ञान-विज्ञान में उन्नति कर लेता है। परमात्मा के जान लेने पर—प्राप्त कर लेने पर तो उसे कुछ ज्ञातव्य ही नहीं रहता, प्रत्येक विषय हस्तामलक हो जाता है, अतः हम यहाँ वेदों के समस्त ज्ञानभण्डार का थोड़ा-सा नमूना दिखलाना चाहते हैं। वेदों का समस्त ज्ञानभण्डार अकेले एक 'यज्ञ' ही में चरितार्थ है। वेद में जो कुछ कहा गया है वह यज्ञ के ही लिए है। वैदिक ज्ञान यज्ञों में ही ओतप्रोत है, इसलिए हम यहाँ थोड़ा-सा यज्ञ-विषय का वर्णन करते हैं और देखते हैं कि उसका स्वरूप आदिज्ञान के स्वरूप से मिलता है या नहीं।

यज्ञशब्द 'यज्' धातु से बनता है। यज् धातु का अर्थ देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान है। अपने से जो बड़े हैं वे देव-समान हैं, उनकी पूजा करना यज्ञ है। बराबरवालों के साथ सङ्गति करना और छोटों को कुछ देना भी यज्ञ ही है। यह छोटाई-बड़ाई केवल मनुष्यों में ही न समझनी चाहिए, प्रत्युत संसार का चाहे जो पदार्थ हो, चाहे जो शक्ति हो और चाहे जो गुण हो यदि वह बड़ा है तो पूजनीय है, यदि बराबरवाला है तो मिलने के योग्य है और यदि छोटा है तो कुछ पाने का अधिकारी है। जिस प्रकार उक्त तीनों व्यक्ति हमसे पूजा, सङ्गति और दान पाने के अधिकारी हैं, उसी प्रकार हम भी दूसरों के द्वारा योग्यतानुसार पूजा, मेल और दान पाने के अधिकारी हैं। इस प्रकार समस्त जड़ और चेतन जगत् को परस्पर एक-दूसरे से लाभ पहुँचाना ही यज्ञ है। ऐसे महान् यज्ञ को शतपथब्राह्मण १।७।४।५ में **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म',** अर्थात् श्रेष्ठतम कर्म कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि जितने श्रेष्ठतम कर्म हैं वे सब यज्ञ ही हैं। इन यज्ञों के तीन विभाग हैं—कर्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ और उपासनायज्ञ। षोडश संस्कार (विवाह, सन्तान), शिक्षा, आहार, वस्त्र, गृह, समाज, राज्य, कृषि, पशुपालन, संगीत, गणित, भूगोल, ज्योतिष्, वैद्यक, रसायन, भवन, यन्त्र, शस्त्र, वाहन और युद्धविद्या आदि पदार्थ और विद्याएँ कर्मयज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। ईश्वर जीव, पुनर्जन्म, कर्मफल, सृष्टि, प्रलय, वर्ण, आश्रम और स्वाध्याय आदि ज्ञानयज्ञ से सम्बन्ध

रखते हैं और सदाचार, दया, प्रेम, दर्शन, भक्ति, वैराग्य, योग और समाधि आदि क्रियाएँ उपासनायज्ञ से सम्बन्ध रखती हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के यज्ञों में वेद का लौकिक और पारलौकिक ज्ञान चरितार्थ होता है, अतः यहाँ हम पहले कर्मयज्ञ का वर्णन करते हैं।

इस यज्ञ को आर्यों ने बड़ी ही उन्नत दशा तक पहुँचाया था। इसके स्थूल और सूक्ष्म विज्ञानों को देखकर हमारी यह बात बहुत अच्छी प्रकार पुष्ट हो जाती है कि वैदिक ज्ञान से मनुष्य काल्पनिक ज्ञान की बहुत बड़ी उन्नति कर सकता है। ऋषियों ने वैदिक ज्ञान के द्वारा यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाले उच्च-से- उच्च भौतिक विज्ञान में अपनी गति कर ली थी। यद्यपि ब्राह्मण और सूत्रग्रन्थों में इन यज्ञों के अनेक प्रकार बहुत विस्तार से वर्णित हैं, परन्तु बीजरूप से अथर्ववेद ११।७ में कुछ यज्ञों का वर्णन इस प्रकार है—

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधवुच्छिष्टे जीव बर्हिर्मदिन्तमः॥ ७॥
अगन्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सहः॥ ८॥
अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः॥ ९॥
चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः॥ १९॥[१]

इन मन्त्रों में राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, अश्वमेध, अग्निहोत्र, अग्न्याधान और चातुर्मास्य का वर्णन आता है। इस वेद का गोपथब्राह्मण इन यज्ञों का जो क्रम बतलाता है उस क्रम में अग्न्याधान, पूर्णाहुति, अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, आग्रहायण (नवसस्येष्टि), चातुर्मास्य, पशुबन्ध, अग्निष्टोम, राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध,पुरुषमेध, सर्वमेध, दक्षिणावाले, बहुत दक्षिणावाले, और असंख्य दक्षिणावाले यज्ञों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि जो इन यज्ञक्रमों को जानता है वह यज्ञों के साथ एक आत्मा होकर और एक निवास होकर दिव्य गुणों को पाता है[२]। इन यज्ञों का विवरण इस प्रकार है—

***अग्न्याधान*—अग्नीन् आधाय पूर्णाहुत्या यजेत्** (गोप० २।५।८), अर्थात् पूर्ण आहुतिपर्यन्त अग्न्याधान करे। यह अग्न्याधान है।

***अग्निहोत्र*—अग्नये एव सायं सूर्याय प्रातरेव ह वै अग्निहोत्रं जुहोति** (शतपथ० २।२।४।१७), अर्थात् अग्नि के लिए सन्ध्या समय और सूर्य के लिए प्रातःकाल जो हवन किया जाता है, वह अग्निहोत्र है।

***दर्शपूर्णमास*—सुवर्गाय ह वै लोकाय दर्शपूर्णमासौ इज्येते** (तैत्ति० सं० २।२।५), अर्थात् अमावास्या और पूर्णिमा के दिन के हवन को दर्शपूर्णमास कहते हैं।

***चातुर्मास्य*—फाल्गुन्यां पौर्णमास्यां चातुर्मास्यानि प्रयुञ्जीत मुखं वा एतत् संवत्सरस्य यत् फाल्गुनी पौर्णमासी** (गोप० ३।१।११), अर्थात् फाल्गुनी पूर्णमासी, आषाढ़ी पौर्णमासी और कार्त्तिकी पौर्णमासी को जो यज्ञ किये जाते हैं, वे चातुर्मास्य कहलाते हैं।

आग्रहायण वा नवसस्येष्टि—उत्तरायण-दक्षिणायन के आरम्भ में जो यज्ञ होते हैं, वे

---

१. अथर्व० ११।७।७-९, १९

२. अथातो यज्ञ क्रमः। अग्न्याधेयमग्न्याधेयात् पूर्णाहुतिः पूर्णाहुतेऽग्निहोत्रमग्निहोत्रा दर्शपूर्णमासौ दर्शपूर्णमासाभ्या-माग्रहायणमाग्रहायणाच्चातुर्मास्यानि चातुर्मासेभ्यः पशुबन्धः पशुबन्धादग्निष्टोमः अग्निष्टोमाद्राजसूयो राजसूयाद्वाजपेय वाजपेयादश्वमेधः, अश्वमेधात्पुरुषमेधः पुरुषमेधात् सर्वमेधः सर्वमेधाद्दक्षिणावन्तो दक्षिणावद्भ्योऽदक्षिणा अदक्षिणाः सहस्रदक्षिणे प्रत्यतिष्ठंस्ते एते यज्ञक्रमाः। स य एवमेतान् यज्ञक्रमान् वेद यज्ञेन स आत्मा सलोको भूत्वा देवानप्येतीति ब्राह्मणम्। —गोप० ब्रा० १।५।७

आग्रहायण या नवसस्येष्टि कहलाते हैं।

***अग्निष्टोम*—एष वै ज्येष्ठो यज्ञानां यदग्निष्टोमः (तस्मात् उह वसन्ते वसन्ते) ज्योतिष्टोमेन एव अग्निष्टोमेन यजेत्** (ताण्ड्यब्रा० ६।३।८ और शत० १०।१।२।९)।

जो प्रतिवर्ष वसन्त में वार्षिक यज्ञ होता है, उसे अग्निष्टोम कहते हैं। इसके अग्निष्टोम, उक्थ, वाजपेय, अतिरात्र आदि अनेक प्रकार हैं। यह उपर्युक्त सब यज्ञों में श्रेष्ठ कहलाता है।

***पितृयज्ञ*—अथ यत् प्रजामिच्छते यत् पितृभ्यो निपृणाति** (श० ६।७।३।७)।

अर्थात् जो पुत्र चाहता है और जो पितरों को तृप्त करता है। पुत्रार्थी को पितृयज्ञ आवश्यक है। यही पुत्रकामेष्टि है।

***पञ्चमहायज्ञ*—पञ्च वै एते महायज्ञाः सततिप्रतायन्ते** (तैत्ति० आ० २।१०)।

अर्थात् ये पञ्च महायज्ञ हैं, जो सदा आरम्भ किये जाते हैं।

***राजसूय और अश्वमेधयज्ञ*—राज्ञ एव राजसूयः राजा वै राजसूयेन इष्ट्वा भवति** (शतपथ० ५।१।१।१२)।

अर्थात् राजसूय से ही राजा होता है। यह राजगद्दी के समय का यज्ञ है।

'राजा वा एष यज्ञानां यदश्वमेधः (शत० १३।२।२।१)।

सर्वा वै देवता अश्वमेधेऽन्वायत्ताः। तस्माद् अश्वमेधयाजी सर्वादिशो अभिजयति (शतपथ० १३।१।२-३।९)।

अर्थात् सब देवता अश्वमेध में आते हैं। अश्वमेध करनेवाला सब दिशाओं का जीतनेवाला होता है।

श्रीर्वैराष्ट्रम्, राष्ट्रं वै अश्वमेधः। तस्माद्राष्ट्री अश्वमेधेन यजेत्।

ऐश्वर्य ही राज्य है। राष्ट्र ही अश्वमेध है, इसलिए सम्राट् अश्वमेध करे। इसे अश्वमेधयज्ञ कहते हैं।

गोमेधयज्ञ—पृथिवी को उर्वरा बनाना, नई भूमि तय्यार करना और नये-नये टापू खोजना, इस यज्ञ का प्रधान कार्य है। इसे गोमेध यज्ञ कहते हैं।

सारांशरूप से यज्ञों का यही क्रम और प्रकार है। इस सारांश में बतला दिया गया है कि किस यज्ञ के बाद कौन-सा यज्ञ करना चाहिए और कितने यज्ञ विशेषरूप से महत्त्ववाले हैं, अतः हम चाहते हैं कि इन यज्ञों से निष्पन्न होनेवाले फलों के नाम से जो आधुनिक ग्रन्थों में नाम दिये गये हैं, उन नामों के साथ कुछ यज्ञों की उपयोगिता का वर्णन भी कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाए, क्योंकि वैदिक आर्यों का यह सनातन विश्वास है कि यज्ञों से आरोग्यता, सन्तति, वर्षा का नियन्त्रण, राज्य, विद्या, सेवा और परमात्मा की प्राप्ति होती है। इन सिद्धियों के प्राप्त हो जाने पर मनुष्य-जीवन में फिर कोई ऐसी काम्य वस्तु शेष नहीं रह जाती जिसके लिए वह लालायित होता रहे। इनके द्वारा लोक-परलोक के सभी सुख प्राप्त हो जाते हैं। इन यज्ञों का विवरण इस प्रकार है—

आरोग्यता—आरोग्यता दो प्रकार की है। एक व्यक्ति की दूसरी समाज की। ज़ुकाम, बुख़ार, दस्त और शरीर-पीड़ा आदि मौसमी तथा चेचक, हैज़ा, प्लेग और इन्फ़्लूएँज़ा अथवा अन्य ऐसी ही सामयिक बीमारियाँ होती हैं जो सबपर आक्रमण करती हैं, अतः जो बीमारियाँ एक व्यक्ति को होती हैं उनके निवारण का नाम चिकित्सा, अर्थात् आयुर्वेद है और दूसरे प्रकार की सार्वजनिक बीमारियाँ जिस सामूहिक रीति से निवारण की जाती हैं उसका नाम 'भैषज्य यज्ञ'

है।

सन्तान—सन्तान न होती हो तो सन्तान उत्पन्न करनेवाले, मनचाही सन्तान उत्पन्न करनेवाले तथा सन्तान को दीर्घजीवी बनानेवाले यज्ञ का नाम 'पुत्रकामेष्टि यज्ञ' है। इस यज्ञ का कुछ भाग गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कारों में तथा कुछ भाग पितृयज्ञ में मिला हुआ है। इसका कुछ वर्णन बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में दिया हुआ है।

वर्षा का नियन्त्रण—पूर्व समय में ऋषियों ने अवर्षण के समय यज्ञों द्वारा उसी प्रकार पानी भी बरसाया था जिस प्रकार यज्ञों के द्वारा पुत्र उत्पन्न कराया था। वेद का **'निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'**[1], अर्थात् इच्छानुसार वर्षा हो यह वाक्य इसी बात की सूचना देता है। इसको 'अवर्षण यज्ञ' कहते हैं।

सम्पत्ति—आवश्यक पदार्थों का नाम सम्पत्ति है। आजकल का अर्थशास्त्र भी सम्पत्ति का यही अर्थ करता है। रुपया तो केवल क्रय-विक्रय का साधन है। जब अधिक धन होता है तब रुपया काम नहीं देता। वहाँ नोट, चेक अथवा बदले के माल से ही काम चलता है। संसार में जितना माल है, उतने मूल्य के लिए सोना और चाँदी नहीं है, इसलिए वैदिकों ने आदिम काल ही में पशुओं, अन्नों और अन्य आवश्यक पदार्थों को ही सम्पत्ति माना था। यज्ञों में अन्न, घृत, मेवा, ओषधि और काष्ठ आदि पदार्थों की आवश्यकता होती है, इसलिए कृषि, इष्टापूर्त (जिसमें कुवाँ, ताल, बाग़-बग़ीचे सम्मिलित हैं), जंगल और अनेक प्रकार के पशुओं की आवश्यकता होती है। यही सम्पत्ति है। यज्ञानुष्ठान का मन में संस्कार होते ही सम्पत्ति की आवश्यकता होती है। इसे 'गोमेधयज्ञ' कहते हैं। देशों की बनावट, नये टापू खोजना और भूमि को उर्वरा बनाना इसका प्रधान उद्देश्य है।

राज्य—आर्यसभ्यता में अश्वमेध, अर्थात् चक्रवर्ती राज्य की अभिलाषा भी एक विशेष उपज है। सबसे बड़ा यज्ञ यही है। एक राष्ट्र में संसारभर के मनुष्यों का सुख-दुःख सम्मिलित करके 'सबसे सबको लाभ पहुँचाना' इस यज्ञ का अभिप्राय है। यज्ञ की कामना करनेवाले के मन में तुरन्त ही राज्य का अंकुर उत्पन्न होना स्वाभाविक-सी बात है। इस यज्ञ के लिए शौर्य और युद्धकौशल उत्पन्न करना प्रथम कर्त्तव्य होता है। युद्ध से मुँह छिपानेवाला आर्य नहीं समझा जाता। अर्जुन को ऐसा देखकर कृष्ण ने कहा था कि **'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन'**[2] अर्थात् हे अर्जुन! तेरी ये कायरपने की बातें अनार्यों की हैं। इस यज्ञ का नाम 'अश्वमेधयज्ञ' है।

सेवा—पञ्चमहायज्ञों के द्वारा सौर और चान्द्र संसार को आप्यायित करके अतिथियों, वृद्धों, रोगियों, पतितों, पशु-पक्षियों और कीट-पतङ्गों तक को आहार पहुँचाने से बड़ी संसार की और क्या सेवा हो सकती है? इसी को पञ्च महायज्ञ कहते हैं।

ईश्वर—जो मनुष्य इतना सब-कुछ करके भी निःस्वार्थभाव से कहता है कि **'इदं न मम'**, अर्थात् यह मेरा नहीं है, उससे बढ़कर ईश्वरार्पणबुद्धि और कहाँ हो सकती है? ऐसे कर्म करनेवाले को **'न कर्म लिप्यते'**[3] अर्थात् कभी कर्मबन्धन नहीं होता। वह मोक्ष का अधिकारी हो जाता है। यह 'उपासनायज्ञ' है।

उपर्युक्त यज्ञों के यही प्रकार और लाभ हैं। ये समस्त लाभ, भैषज्ययज्ञ, पुत्रकामेष्टियज्ञ, अवर्षणयज्ञ, गोमेधयज्ञ, अश्वमेधयज्ञ और पञ्चमहायज्ञों से प्राप्त हो जाते हैं। इनमें से पुत्रेष्टि

---

१. यजुः० २२।२२
२. यजुः० ४२।२
३. गीता २।२

और अवर्षण यज्ञों पर हम यहाँ अधिक कुछ नहीं कहना चाहते, परन्तु यदि रामायण की कथा सत्य है तो जनक ने अवर्षण दूर करने के लिए और दशरथ ने अपुत्रत्व मिटाने के लिए यज्ञ किये थे और दोनों में सफलता हुई थी। रामायण की ये दोनों घटनाएँ निकाल डालने पर रामायण का ऐतिहासिक भाग हिल जाता है, अतएव इन घटनाओं को असत्य नहीं कहा जा सकता, किन्तु अब तो वह ज़माना है कि जब सन्तान-प्रतिरोध का प्रबन्ध हो रहा है और नहरों से सिंचाई का क्रम चल रहा है। पुराने ज़माने में भी लोगों ने दत्तक पुत्र और संन्यास तथा इष्टापूर्त, अर्थात् कुवाँ, ताल, नहर बनवाकर इन दोनों बातों को सरल कर लिया था, इसलिए यदि इन दोनों यज्ञों को छोड़ भी दें तो शेष छह प्रकार के यज्ञ ही ऐसे हैं कि जिनके फलों के प्राप्त होने पर हर प्रकार की कृतकृत्यता हो जाती है।

इसीलिए समस्त संसार ने यज्ञों को स्वीकार किया था और अबतक संसार के प्रायः सब सम्प्रदायों में वे प्रचलित हैं, यह सब 'फिज़कल रिलीजन' में मैक्समूलर ने भी स्वीकार किया है। संसार में क्या नये और क्या पुराने जितने धर्म प्रचलित थे और हैं सबमें यज्ञ का कोई-न-कोई प्रकार अवश्य स्वीकार किया गया है। आर्यों की समस्त प्राचीन शाखाओं में यज्ञ प्रचिलित था। प्राचीन समय में ग्रीकों और रोम-निवासियों के यहाँ भी यज्ञ प्रचलित थे। पारसियों और वैदिक आर्यों में यज्ञ अब तक प्रचलित हैं। जैनियों में भी धूपदीप, जो यज्ञ का ही अवशिष्ट और सूक्ष्म रूप है, प्रचलित है। यह तो आर्य-शाखा की बात हुई। सेमिटिक शाखा के भी इस समय तीन धर्म—यहूदी, ईसाई और मुसलमानी—प्रचलित हैं। इनमें से यहूदियों के यहाँ यज्ञ होते थे। वे कुण्ड को 'कैर' कहते थे। ईसाई और मुसलमानों में भी ऊदबत्ती और लोबान आदि जलाने का रिवाज अबतक विद्यमान है। भले उनके रूप बिगड़े हुए हैं, परन्तु इससे इन्कार नहीं हो सकता कि वह यज्ञ का अपभ्रष्ट रूप नहीं है? इस प्रकार मनुष्यजाति की यह दूसरी सेमिटिक शाखा यज्ञ को पुराकाल से लेकर अब तक करती और मानती जाती है। तीसरी तुरानी शाखा में भी यज्ञ के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं। चीनवाले यज्ञ को 'घोम' कहते हैं, जो होम के सिवा और कुछ नहीं है। इस प्रकार से मनुष्यजाति के तीनों विभागों में यज्ञ प्रचलित थे और प्रचलित हैं। मिस्र की प्राचीन जातियों में तथा अमेरिका के रेडइण्डियनों में भी यज्ञ की प्रथा प्रचलित थी। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ मनुष्य का आदिम धर्म है। यज्ञ इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण है कि सब मनुष्य एक ही वंश की शाखा-उपशाखा हैं और यह यज्ञ उस समय उत्पन्न हुआ था जब संसार में थोड़े से मनुष्य पैदा हुए थे और वे सब एक ही स्थान में रहते थे। एक विज्ञानवेत्ता ने लिखा है कि अग्नि का उत्पन्न करना ही मनुष्य का आदिम वैज्ञानिक आविष्कार है। यहीं से उसकी बुद्धि का विकास हुआ है। लकड़ियों को घिसकर अग्नि उत्पन्न करना भौतिक विज्ञान में प्राथमिक आविष्कार है और मौलिक है। हमारा तो यह दावा है कि मनुष्य में यदि यज्ञ का ज्ञान न होता तो वह इस उन्नति को पहुँचता ही नहीं, जिसमें वह इस समय स्थित है।

गत पृष्ठों में हमने यज्ञों की व्यापकता दिखलाते हुए उनकी प्राचीनता पर भी कुछ लिख डाला है, किन्तु प्रश्न यह है कि आर्यों में इसका रिवाज कब से आरम्भ हुआ। हम देखते हैं कि आर्यजाति का कोई संस्कार, कोई धार्मिक कृत्य और कोई त्यौहार ऐसा नहीं है, जिसमें होम न होता हो। जहाँ तक लिखित प्रमाण मिलता है वहाँ तक आर्यजाति में यज्ञों का होना पाया जाता है। हम प्रथम खण्ड में दिखला आये हैं कि वेद लाखों वर्ष के प्राचीन—आदिम और अपौरुषेय हैं। विदेशी भी मानते हैं कि वेदों से प्राचीन संसार में कोई लिखित पुस्तक नहीं है। उन वेदों में यज्ञों का वर्णन है, अतः यज्ञ वेदकालीन हैं, इसमें सन्देह नहीं। ये वेद चार हैं। चारों में ऋग्वेद

प्रथम है। इस सर्वप्रथम ऋग्वेद के सर्वप्रथम मन्त्र में—'**अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्**' इस प्रकार यज्ञ, पुरोहित, ऋत्विज् और होता का स्पष्ट वर्णन है। इसलिए यज्ञ उतने ही पुराने हैं जितना पुराना ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र है।

यज्ञों के तीन संसार और तीन प्रकार

वेदों में तीन संसारों का वर्णन है। एक आकाशीय है जिसमें सूर्य, चन्द्र, तारा, वायु, जल और विद्युत् आदि हैं। इस आकाशीय संसार में राजा, पुरोहित, सेना, नगर, ग्राम, वीथी, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र, नदी, समुद्र, जगंल, पशु, पक्षी आदि सभी कुछ है। वहाँ शत्रु हैं, बड़े-बड़े युद्ध हैं और जो कुछ यहाँ संसार में दिखाई पड़ता है, वह सब आकाशीय संसार में विद्यमान है। जिस प्रकार यह आकाशीय संसार है उसी प्रकार का दूसरा संसार मनुष्य का शरीर है, जिसमें नगर, द्वार, राजा, ऋषि, शत्रु, ब्राह्मण, युद्ध और उसी प्रकार के समस्त पदार्थ हैं, जिस प्रकार के आकाशीय संसार में हैं। तीसरा यह पृथिवीस्थ संसार है जिसमें उक्त सभी पदार्थ विद्यमान हैं। वेदों के ये तीनों संसार आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक कहलाते हैं। इनमें से आकाशीय संसार और मनुष्य-शरीरस्थ संसार दोनों परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध रखते हैं। आकाशीय संसार का एक-एक पदार्थ शारीरिक संसार का आधार है। आकाशीय संसार में जिस प्रकार अन्य समस्त पदार्थ विराजमान हैं उसी प्रकार वहाँ यज्ञ भी हुआ करता है और जिस प्रकार आकाश में यज्ञ हुआ करता है उसी प्रकार शरीर में भी यज्ञ हुआ करता है। ये पिण्ड और ब्रह्माण्ड के यज्ञ निरन्तर चालू रहते हैं, किन्तु परिवर्तनों के कारण कभी-कभी दोनों में वैषम्य उत्पन्न हो जाता है। इसलिए भौतिक यज्ञों से दोनों का सामञ्जस्य करना ही वैदिक यज्ञों का मुख्य उद्देश्य है। हम चाहते हैं कि यहाँ थोड़ा-सा पिण्ड-ब्रह्माण्ड के यज्ञ और उनका परस्पर सम्बन्ध वर्णन कर दें, जिससे विषय स्पष्ट हो जाए और ज्ञात हो जाए कि किस प्रकार यज्ञ वैज्ञानिक नींव पर स्थित हैं और पिण्ड-ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्ड का सम्बन्ध बताते हुए एक वेदमन्त्र कहता है कि—

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणोऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं निदधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥

—अथर्व० ५।९।७

अर्थात् सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अन्तरिक्ष मेरा आत्मा (हृदय) है और पृथिवी मेरा शरीर है। मैं अपने आपको अपराजित समझकर द्यावा और पृथिवी के बीच में सुरक्षित रखता हूँ।

यह मन्त्र पिण्ड और ब्रह्माण्ड का स्पष्ट सम्बन्ध बतलाता है। यजुर्वेद में कहा है—**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत॥**[1] **यस्य वातः प्राणापाणौ॥**[2] **नाभ्याऽसीदन्तरिक्षम्॥**[3] **दिशः श्रोत्रात्॥**[4] **पद्भ्यां भूमिः॥**[5] —यजुर्वेद

अर्थात् द्यौ शिर, वायु प्राण, अन्तरिक्ष नाभि, दिशा कान और भूमि उसके पैर हैं।

यहाँ भी वही सम्बन्ध वर्णित है। वेदों में इस प्रकार के बहुत वर्णन हैं। इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि पिण्ड के साथ ब्रह्माण्ड का घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह बात प्रत्यक्ष भी है कि बिना सूर्य के हम देख नहीं सकते, बिना वायु के साँस नहीं ले-सकते और बिना पृथिवी के खड़े नहीं हो सकते। कहने का तात्पर्य यह कि पिण्ड ब्रह्माण्ड के साथ नत्थी है। जैसे इन दोनों का आधार

---

१. यजुः० ३१।१३
२. अथर्व० १०।७।३४
३. यजुः० ३१।१३
४. यजुः० ३१।१३
५. यजुः० ३१।१५

आधेय सम्बन्ध वर्णित है वैसे ही वेदों में दोनों स्थानों के यज्ञों का भी वर्णन है। ब्रह्माण्डयज्ञ के विषय में लिखा है कि—

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रि सप्त समिधः कृताः। देवा यद्यज्ञं तन्वानाऽअबध्नन्पुरुषं पशुम्॥
यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत। वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥

—यजुर्वेद ३१।१५,१४

अर्थात् यज्ञवेदी की सात परिधियाँ हैं। उसमें इक्कीस समिधा हैं। ऐसे यज्ञ को देवताओं ने फैला रक्खा है, जिसमें पुरुष पशु बँधा हुआ है। पुरुष के द्वारा हवि से देवता जिस यज्ञ को फैलाते हैं उस यज्ञ में वसन्तऋतु घी है, ग्रीष्मऋतु ईंधन है और शरद्ऋतु हवि है।

गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

तमाहरत् येनायजत तस्याग्निर्होताऽऽसीद् वायुरध्वर्युः
सूर्य उद्गाता चन्द्रमा ब्रह्मा पर्जन्यः सदस्यः॥ —गोपथ० १।१।१३

अर्थात् अग्नि होता, वायु अध्वर्यु, सूर्य उद्गाता, चन्द्रमा ब्रह्मा, और वर्षा सदस्य है। यह ब्रह्माण्ड यज्ञ है।

पिण्डयज्ञ के लिए वेद में लिखा है कि—

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्। रेतः कृत्वाऽऽज्यं देवाः पुरुषमाविशन्।

—अथ० ११।८।२९

अर्थात् हड्डियों की समिधा बनाकर, रेत का घी करके और आठ प्रकार के रसों को लेकर सब देवताओं ने पुरुष में प्रवेश किया।

शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

पुरुषो वै यज्ञः। पुरुषस्तेन यज्ञो यदेनं पुरुषस्तनुत एष वै
तायमानो यावानेव पुरुषस्तावान् विधीयते तस्मात् पुरुषो यज्ञः॥ [१।३।२।१]

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है, क्योंकि वही यज्ञ करता है। वह उतना ही सत्कर्म करता है जितना वह स्वयं होता है, इसलिए पुरुष ही यज्ञ है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उपनिषद् में भी पुरुष को यज्ञ कहा है। वहाँ लिखा है कि—

पुरुषो वाव यज्ञस्तस्य यानि चतुर्विꣳशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनम्॥ १॥
यानि चतुश्चत्वारिꣳशद् वर्षाणि तन्माध्यन्दिनꣳसवनम्॥ २॥
यान्यष्टाचत्वारिꣳशद्वर्षाणि तृत्ततीयसवनम्॥ ४॥ —छान्दो० ३।[१६।१-२,४]

अर्थात् पुरुष ही यज्ञ है। इसके जो चौबीस वर्ष हैं वह प्रातःसवन है, जो चवालीस वर्ष हैं वह माध्यन्दिनसवन है और जो अड़तालीस वर्ष हैं, वह तृतीय सवन है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि ऊपर जिन सूर्य आदि देवताओं का ब्रह्माण्डयज्ञ के नाम से वर्णन हुआ है वही देवता मनुष्यशरीर में प्रवेश कर गये और मनुष्यशरीर के पदार्थों को यज्ञ की सामग्री बनाकर वहाँ भी यज्ञ करने लगे, मानो पिण्ड-ब्रह्माण्ड के यज्ञ और उन दोनों का सम्बन्ध दृढ़ हो गया और इस प्रकार यह नित्य सम्बन्ध स्थापित हो गया। इसी सम्बन्ध के अनुसार पिण्ड और ब्रह्माण्ड के दोनों यज्ञ, यज्ञ के तीनों धर्म—देवपूजा, सङ्गतीकरण और दान निरन्तर कर रहे हैं। गर्मी, सर्दी, जल, हवा, प्रकाश और अन्धकार से ब्रह्माण्ड सदैव हमारी सबकी पूजा, सङ्गति और दान किया करता है। मनुष्यशरीर भी सर्दी, गर्मी, प्रकाश आदि से सङ्गति करता है। इन्द्रियाँ परस्पर पूजा करती हैं और दान देती हैं। इसी प्रकार मनुष्यशरीर भी अन्य प्राणियों के साथ पूजा,

सङ्गति और दान का व्यवहार करता है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों यज्ञ का कार्य बराबर सम्पादन करते हैं। हम कह आये हैं कि ब्रह्माण्ड पिण्ड का आधार है। शरीर सर्वथा ब्रह्माण्ड के अधीन है। आँख सूर्य के, श्वास वायु के और पैर पृथिवी के अधीन हैं, परन्तु जब सूर्य चला जाता है, वायु का चलना बन्द हो जाता है और पृथिवी ठण्डी या गर्म हो जाती है, अर्थात् जब दोनों संसारों में विषमता उत्पन्न हो जाती है तब हम तीसरे भौतिक यज्ञ से दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न करते हैं। हम दीपक जलाकर सूर्य का काम लेते हैं, पंखा झलकर वायु का काम लेते हैं और जूता पहनकर या ऊँचे मञ्च पर खड़े होकर पृथिवी की सर्दी-गर्मी का अनुकूलन कर लेते हैं। यह अनुकूलन ही यज्ञ का सङ्गतीकरण, पूजा और दान है, अर्थात् विषमता उपस्थित होने पर पृथिवीस्थ पदार्थों को लेकर वैज्ञानिक सिद्धान्त से पिण्ड-ब्रह्माण्ड में सामञ्जस्य उत्पन्न कर देना ही यज्ञ का प्रधान कार्य है, इसीलिए वेद में कहा गया है कि '**यज्ञो यज्ञेन कल्पताम्,**[1] **यज्ञने यज्ञमयजन्त देवाः**'[2], अर्थात् यज्ञ से यज्ञ कल्पित हुए हैं। देवता भी यज्ञ से यज्ञ कर रहे हैं। शतपथब्राह्मण में भी लिखा है कि '**यज्ञाद्यज्ञं निर्मिमा इति**'[3], अर्थात् मैं यज्ञ से यज्ञ का निर्माण करता हूँ। इस सब वर्णन का यही तात्पर्य है कि पिण्ड-ब्रह्माण्ड के यज्ञों की विषमता का भौतिक यज्ञों से सामञ्जस्य करते रहना चाहिए।

यद्यपि सत्कर्ममात्र यज्ञ के नाम से कहा गया है, परन्तु भैषज्ययज्ञ, पुत्रेष्टियज्ञ, अवर्षणयज्ञ, गोमेधयज्ञ, अश्वमेधयज्ञ और पञ्चमहायज्ञ आदि स्थूल और व्यावहारिक यज्ञ प्रधान हैं। ये सभी यज्ञ अपने-अपने ढंग के निराले हैं, अतएव इन सबके साधन भी निराले हैं। अपने-अपने यज्ञ के अनुकूल साधन अलग-अलग होने पर भी अग्न्याधान, हवनीय पदार्थ, समयनिरूपण और यज्ञदेश का विचार आदि सबमें हैं। सबमें यज्ञकर्ता, यज्ञमण्डप आदि एक समान ही होते हैं, परन्तु कुण्डों की बनावट, पात्र, हवनीय पदार्थ और अन्य विधियाँ अलग-अलग हैं। इसी प्रकार और भी बहुत-सी बातों में अन्तर है। जैसे अश्वमेध में अमुक प्रकार का घोड़ा, युद्धसामग्री, सेना आदि विशेषरूप से आवश्यक होते हैं, किन्तु पुत्रेष्टि में इनकी बिलकुल आवश्यकता नहीं होती। तात्पर्य यह कि यज्ञों में सामान्य-विशेषभाव सदैव बना रहता है, इसीलिए सबके उपकरण भी सामान्य-विशेषरूप से पृथक्-पृथक् और एक-समान भी होते हैं। आगे हम यज्ञों का वर्णन करते हुए यह भी बतलाते जाएँगे कि किन-किन यज्ञों में कौन-कौन-सी वस्तुएँ विशेषरूप से आवश्यक होती हैं। यज्ञों को सफल बनाने के लिए बहुत-से पदार्थों के साथ अनेक प्रकार की विद्याओं की भी आवश्यकता होती है। मनुष्य से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी एक भी आवश्यक विद्या नहीं है जिसकी यज्ञ में आवश्यकता न होती हो। आर्यलोग इसीलिए यज्ञों को धर्म का मूल बतलाते हैं और थीबो साहब कहते हैं कि 'आर्यों' के पुरातन धर्म से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विद्याएँ हैं, सब उनकी निज की उपज है[4]। भैषज्ययज्ञ आर्यों का पुरातन धर्म है और उसका सम्बन्ध आयुर्वेद से है, अतः आयुर्वेद भी आर्यों की ही उपज है।

हम पहले ही बता आये हैं कि यज्ञ के लाभों में सबसे बड़ा लाभ सार्वजनीन आरोग्यता है। सफ़ाई, सड़क, रोशनी, अस्पताल आदि जिस प्रकार सार्वजनीन आरोग्यता के साधन हैं, उसी प्रकार यज्ञ भी हैं। आरोग्यता का सम्बन्ध जीवन से है। संसार में जीवन सबसे अधिक मूल्यवान्

१. यजुः० ९।२१ २. यजुः० ३१।१६

३. शतपथ० १।१।२।७

४. Science is closely connected with the ancient Indian Religion and must be considered as having sprung up among the Indians themselves.

है, अतः सार्वजनीन जीवन-रक्षा का श्रेय होने के कारण यज्ञ का आरोग्य-सम्बन्धी विषय प्रथम और प्रधान है, क्योंकि आरोग्यता नष्ट होने पर शरीर रोगी हो जाता है और रोग से मृत्यु का भय रहता है। मृत्यु कोई पसन्द नहीं करता। एक व्यक्ति का जीवन चाहे सबके लिए मूल्यवान् न हो, परन्तु सबका जीवन तो सबके लिए ही मूल्यवान् है, इसलिए जिसमें सार्वजनीन आरोग्यता का विधान हो, वही यज्ञ सब यज्ञों में अधिक उपयोगी, आवश्यक और वर्णन करने योग्य है, अतएव हम यहाँ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाले भैषज्ययज्ञ का वर्णन करते हैं।

यज्ञों में आयुर्वेद

भैषज्ययज्ञ आयुर्वेद से सम्बन्ध रखते हैं। इनमें देशकाल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान होना आवश्यक होता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि—

'भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते'[१]।

अर्थात् ये भैषज्ययज्ञ कहलाते हैं। ऋतुओं की सन्धि में व्याधियाँ पैदा होती हैं, इसलिए इनका प्रयोग ऋतुसन्धियों में होता है।

छान्दोग्य ४।१७।८ में भी लिखा है कि—

'भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति'।

अर्थात् जिनमें वैद्यकशास्त्रज्ञ ब्रह्मा होता है, वे भैषज्ययज्ञ हैं।

इन दोनों प्रमाणों में ऋतुसन्धि और भैषज्ययज्ञ का स्पष्ट वर्णन है, इसलिए वनस्पतियों के गुण और समय का ज्ञान होना आवश्यक है। ओषधियों के लिए स्पष्ट लिखा है कि **'यस्य देशस्य यो जन्तुस्तज्जातस्यौषधं हितम्'।**

अर्थात् जो प्राणी जिस देश का होता है उसके लिए वहाँ की ही उत्पन्न ओषधियाँ हितकर होती हैं। इसके अतिरिक्त ओषधियों पर ऋतुओं का प्रभाव देशभेद से अलग-अलग होता है, इसलिए देश का भी ज्ञान बहुत आवश्यक होता है। देश, काल और पदार्थों के गुणों का ज्ञान आयुर्वेद से ही सम्बन्ध रखता है। इसमें शारीरिक ज्ञान और निदान मिला देने से ही पूरा आयुर्वेद बन जाता है। शारीरिक निदान, त्रिदोष, नाडीज्ञान और अन्य ऐसी ही अनेक बातें हैं जो व्यक्तिव्याधि से सम्बन्ध रखती हैं और वेदों में विस्तार से वर्णित हैं, किन्तु हम यहाँ सार्वजनीन व्याधियों के सार्वजनीन उपचार का ही वर्णन कर रहे हैं, इसलिए उन विषयों का वर्णन करना उचित नहीं समझते। सफ़ाई, प्रकाश, सड़क और अस्पताल आदि म्युनिसिपेलिटी के काम जिस प्रकार सार्वजनिक हैं, उसी प्रकार ये यज्ञ भी है। होली ऐसा ही सार्वजनिक भैषज्ययज्ञ है, जो संवत्सर के अन्त में किया जाता है। यह नवसस्येष्टि भी कहलाता है। 'नवसस्य' का नाम ही होला है। हरे चनों को भूनकर लोग होला खाते हैं, इसलिए होली में भुने हुए हरे चने ही होला कहलाते हैं। यह होली एक प्रकार का भैषज्ययज्ञ ही है।

संसार में सर्दी और गर्मी दो ही हैं। सर्दी की दवा गर्मी और गर्मा की दवा सर्दी है। यजुर्वेद २३।१० में स्पष्ट कहा है कि **'अग्निर्हिमस्य भेषजम्',** अर्थात् अग्नि शीत की दवा है, अर्थापत्ति से समझ लेना चाहिए कि सर्दी भी गर्मी की दवा है। शतपथब्राह्मण में लिखा है—

द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति। आर्द्रं चैव शुष्कं च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्। अग्नीषोमयोर्हैवैतावती विभूतः प्रजातिः। सूर्य एवाग्नेयः चन्द्रमा सौम्यः॥[२]

---

१. गोपथ० २.१.१९

२. शतपथ० १.६.३.२३-२४

अर्थात् सूखा और गीला दो ही हैं, तीसरा नहीं। अग्नि ही सूखा है और सौम्य ही गीला है। इस प्रकार अग्नि और सौम्य की उत्पादकशक्ति विविध प्रकार की है। सूर्य ही अग्नि है और चन्द्रमा ही सौम्य है। अग्नि और जल से ही पित्त और कफ की उत्पत्ति हुई है। तीसरी वस्तु वायु है, जो न शीत है न उष्ण। वायु धूप के संयोग से उष्ण और जल के संयोग से ठण्डी हो जाती है और दोनों के प्रभाव को प्रबल कर देती है। यही सिद्धान्त आयुर्वेद में भी वर्णित है। वेदों में **'अग्निषोमौ'** का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जो अग्नि और जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, अर्थात् संसार में सर्दी और गर्मी दो ही प्रभाव हैं। यही दो प्रभाव संसार के समस्त पदार्थों में हैं। किसी पदार्थ में गर्मी अधिक है और किसी में सर्दी, इसीलिए कोई पित्तकर है और कोई कफकर, परन्तु बादी करनेवाले पदार्थों का कोई लक्षण नहीं किया जा सकता। गर्म पदार्थ भी बादी होते हैं, परन्तु जिन पदार्थों में गर्मी-सर्दी बराबर होती है व बादी नहीं होते। उन्हीं का नाम समशीतोष्ण और त्रिदोषघ्न है। इस सबका कारण स्पष्ट है कि वायु निज में कुछ भी प्रभाव करनेवाली नहीं है। वह प्रबल गुण के साथ मैत्री करके उसके बल को बेहद बलवान् कर देता है। संसार के सर्द और गर्म पदार्थ वायु के सहचार से अधिक बलवान् हो जाते हैं, इसीलिए कहा है कि कफ़ और पित्त पंगु हैं। वायु जहाँ उनको ले-जाता है वहाँ वे उसी प्रकार जाते हैं जैसे हवा पाकर मेघ भागते हैं, परन्तु यह न समझना चाहिए कि वायु उनका कारण भी है। इस सर्दी-गर्मी का कारण तो ऋतुएँ हैं। ऋतुओं के योग से पदार्थों में प्रायः ऋतुओं के गुण आया करते हैं। इन ऋतुओं का जन्म सूर्य और पृथिवी की चाल पर है, इसलिए देशभेद से ऋतुओं में और ऋतुभेद से पदार्थों के गुणों में अन्तर पड़ जाता है। इस सब वैज्ञानिक भेद को जाननेवाले को भिषक् कहते हैं। छान्दोग्य के अनुसार भैषज्ययज्ञों में जो ब्रह्मा होता है, वह इस विद्या का जाननेवाला होता है। उसके पास वे ओषधियाँ जो भैषज्ययज्ञ में काम आती हैं प्रचुरता से तैयार रहती है। ऋग्वेद में लिखा है—

यत्रौषधीः समग्मतः राजानः समितामिव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः॥

—ऋग्वेद [१०।९७।६]

अर्थात् जिसके पास नाना प्रकार की अनेक ओषधियाँ राजा की सभा की भाँति ख़ूब सजी हुई क्रम से इकट्ठी रक्खी हों वह रक्षोह, अर्थात् रोग का नाशक और अमीवचातन, अर्थात् रोगबीजों का दूर करनेवाला भिषक् है।

अथर्व० ५।२९।१ में लिखा है कि **'त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता'**, अर्थात् ओषधियों का बनानेवाला तू वैद्य है। बात स्पष्ट हो गई कि भैषज्ययज्ञों के लिए ऐसे वैद्य की आवश्यकता है जो देश, काल और पदार्थों के गुण जानता हो तथा हवनीय ओषधियाँ अपने पास रखता हो। भैषज्ययज्ञों में जिन ओषधियों की आवश्यकता होती है वे बहुत हैं। उनकी एक सूची स्वामी दयानन्द ने रोगनाशक, पुष्टिकारक, बलवर्धक और मिष्ठ तथा सुगन्धित पदार्थों के नाम से दी है। वेदों में बहुत-सी ओषधियों का वर्णन है, जो अमुक-अमुक यज्ञों में काम आती हैं, परन्तु यहाँ हम कुछ ऐसी ओषधियों का वर्णन करते हैं, जिनका अब पता नहीं लगता। यजुर्वेद में हवनीय ओषधियों को अम्ब कहा गया है। वहाँ लिखा है—

शतं वो अम्ब धामानि सहस्त्रमुत वो रुहः। अधा शतक्रत्वो यूयमिमं मे अगदं कृत॥

—यजुः० १२।७६

हे अम्ब! तुम्हारे सैकड़ों स्थान हैं और तुम हज़ारों प्रकार से उगती हो। तुम मेरे यज्ञ में आओ और सबको आरोग्य करो।

दूसरे स्थान में कहा गया है कि '**एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्रांबिकया तं जुषस्व**'[१], अर्थात् यह तेरा रुद्रभाग है, उसका अम्बिका की बहिनों के साथ होम कर। यहाँ अम्बा की भाँति अम्बिाका का भी वर्णन आया है और तीनों बहिनों की चर्चा भी है। अन्य मन्त्र में कहा है कि—

प्राणाय स्वाहापानाय स्वाहा व्यानाय स्वाहा।
अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके न मा नयति कश्चन॥[२]

अर्थात् हे अम्बे, अम्बिके, अम्बालिके! तुम्हारा प्राण, अपान, व्यान के लिए हवन करते हैं। इनके लिए निम्नलिखित प्रसिद्ध मन्त्र में कहा गया है कि—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्पुष्टिवर्द्धनम्। उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

—यजुर्वेद ३।६०

अर्थात् सुगन्धि और पुष्टि को बढ़ानेवाली तीनों अम्बिकाओं का हवन करता हूँ, जिससे मृत्यु के दुःख से उसी प्रकार छूट जाऊँ जिस प्रकार पका हुआ फल अनायास अपने बन्धन से छूट जाता है, परन्तु मोक्ष से न छूटूँ।

इस वर्णन से ज्ञात हो गया कि अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका, अर्थात् तीनों बहिनों को रोगनाश करने और जीवन-रक्षा के लिए हवन करने को कहा गया है। ये ओषधियाँ हैं, मनुष्य नहीं, किन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि इनकी पहचान किसी को नहीं है। बहुत कुछ अन्वेषण करने पर यह तो पता लग गया है कि ये ओषधियाँ हैं और इनके पर्याय नाम अमुक-अमुक हैं, परन्तु इनका पहचाननेवाला आज कोई नहीं है। इनका आज यदि पता मिलता तो बड़ा काम निकलता, क्योंकि यजुर्वेद ३।५७ में जहाँ इन तीनों बहिनों का हवन करना लिखा है, वहाँ चूहे का भी वर्णन है[३]। सम्भव है ये प्लेग की दवाएँ हों और सार्वजनिक रोगों को दूर करने के लिए भैषज्ययज्ञ में प्रयुक्त होती हों, परन्तु आज तो लोग इन्हें भूल गये हैं। भूल जाएँ, इस बात की यहाँ चर्चा नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही कहना है कि यज्ञों में वैद्यक के ज्ञान की आवश्यकता है। कोई यह नहीं कह सकता कि यज्ञों के लिए आयुर्वेद के ज्ञान की आवश्यकता नहीं है और वैदिक काल के आर्य बिना वैद्यक ज्ञान के ही यज्ञ किया करते थे अथवा केवल कार्बन फैलाते थे। हम देखते हैं कि आजकल चेपी बीमारियों के लिए बड़े-बड़े डॉक्टरों ने भी आग जलाना, शक्कर जलाना और नीम की पत्ती जलाना आरम्भ कर दिया है। यह उनमें भैषज्ययज्ञ का आरम्भ है। इस आरम्भ से हम आशा करते हैं कि वर्त्तमान विज्ञान भी कभी यज्ञों की सार्थकता पर प्रकाश डालेगा। यहाँ तक के वर्णन से देखा गया कि ऋतु-सन्धियों में व्याधियाँ होती हैं तभी भैषज्य यज्ञों का प्रयोग होता है, अतः प्रश्न होता है कि क्या यज्ञों में ऋतुसन्धियों को जानने के लिए ज्योतिष् का ज्ञान आवश्यक है?

यज्ञों में ज्योतिष्

यज्ञों में ज्योतिष् की आवश्यकता अनिवार्य है। आर्यों के दो विश्वास ऐसे हैं, जिनके कारण ज्योतिष का सूक्ष्म ज्ञान आवश्यक है। एक तो भैषद्ययज्ञ के लिए ऋतुओं की सन्धियाँ जानना दूसरे दक्षिणायन और उत्तरायण में मरने से दो प्रकार की गतियाँ मानना। वे मानते थे कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है और दक्षिणायन में मरने से पुनर्जन्म होता है। जिसका यह

१. यजुः० ३।५७
२. यजुः० २३।१८
३. एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः (यजुः० ३।५७), अर्थात् यह तेरा रुद्रभाग है, तेरा पशु चूहा है।

विश्वास हो कि उत्तरायण में मरने से मोक्ष होता है वह भला उसके सूक्ष्म ज्ञान के बिना कैसे रह सकता है ? देशी और विदेशी विद्वान् एक स्वर से कहते हैं कि आर्यों में ज्योतिष् का प्रादुर्भाव यज्ञों का समय देखने के लिए ही हुआ है। भास्कराचार्य सिद्धान्तशिरोमणि में कहते हैं कि वेदों में यज्ञों का वर्णन है और यज्ञ काल के आश्रित हैं, इसलिए जिसमें काल का वर्णन हो वह ज्योतिश्शास्त्र वेद का अङ्ग कहलाता है[१]। ज्योतिष् वेद का नेत्र इसी कारण कहलाता है कि ज्योतिष् से समय दिखलाई पड़ता है, इसीलिए जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् थीबो कहता है कि यज्ञों का ठीक समय जानने के लिए ही आर्यों में सबसे पहले ज्योतिश्शास्त्र के सूक्ष्म अवलोकनों की आवश्यकता हुई[२]। यह बात बिलकुल सत्य है कि यज्ञ, चाहे छोटे हों या बड़े, सन्धियों में ही होते हैं। सन्धि के लिए दूसरा शब्द पर्व है। गाँठ, जोड़, अथवा सन्धि को पर्व भी कहते हैं। प्रातः-सायं की सन्धि में हवन होता है[३]। पक्ष की सन्धि, मास की सन्धि, ऋतु की सन्धि[४] चातुर्मास्य की सन्धि, दोनों अयनों की सन्धि और वर्ष की सन्धि पर ही यज्ञ (हवन) होते हैं। यही सब सन्धियाँ पर्व भी कहलाती हैं। इनका सूक्ष्म ज्ञान ज्योतिष् से ही होता है। पक्ष और मास की सन्धि चाहे चन्द्रमा के स्थूल अवलोकन से अमावास्या और पूर्णिमा के दिन ज्ञात हो जाएँ, परन्तु ऋतु, अयन, संवत्सर का सन्धिज्ञान जब तक सायन गणनानुसार ज्योतिष् का ठीक-ठीक ज्ञान न हो तब तक नहीं हो सकता।

वेदों में ऋतुओं के हिसाब से १२ महीनों के नाम दिये हुए हैं[५], अतः प्रश्न है कि इन महीनों की सन्धियों को वे कैसे जानते थे ? वे कैसे जानते थे कि मधुमास आज बीत गया और माधव लगा तथा आज माधव बीतने पर वसन्तऋतु समाप्त हुई। वेदों में इसी प्रकार दोनों अयनों का भी वर्णन है[६]। यह भी कैसे जाना जाता था कि आज उत्तरायण समाप्त हुआ और दक्षिणायन लगा। इसके लिए तो उनको अयनों का बहुत ही सूक्ष्म ज्ञान होना चाहिए। अयनों का सूक्ष्म ज्ञान इसलिए भी होना चाहिए कि वे उत्तरायण को मोक्षदाता मानते थे। वे हमेशा कहते थे कि **'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'**[७] अर्थात् उत्तरायण के लिए परमेश्वर की भक्ति के सिवा और कोई दूसरा पन्थ नहीं है। दोनों पन्थ शास्त्रों में कहे गये हैं। दक्षिण अयनवाले चन्द्रलोक को जाकर फिर जन्म-मरण के फेर में पड़ते हैं, परन्तु उत्तरायणवाले सूर्यलोक को जाते हैं और फिर नहीं आते। ऐसे बड़े काम के मुहूर्त (क्षण) को जिसमें दोनों अयन पृथक् होते हैं, उन्होंने न जाना हो यह नहीं कहा जा सकता।

---

१. वेदास्तावद्यज्ञकर्मप्रवृत्ता यज्ञाप्रोक्तास्ते कालाश्रयेण।
शास्त्रादस्मात् कालबोधो यतः स्याद्वेदाङ्गत्वं ज्योतिषस्योक्तमस्मात्॥ —[सिद्धान्त० ग्रह० मध्य० १।९]

२. The want of some rule by which to fix right time for the sacrifices gave the first impulse to astro nomical observation.

३. **प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो। सायंसायं गृहपतिर्नो।** ये प्रातःसायं के सवन कहलाते हैं। इन्हीं के कारण उदय से उदय तक के समय को सावनदिन कहते हैं।

४. ऋतुओं में ही यज्ञ करने से यज्ञकर्ता का नान ऋत्विज्, अर्थात् ऋतुओं में यजन करनेवाला है।

५. मधुश्च माधवश्च वासन्तिकावृतू। शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मावृतू।
नभश्च नभस्यश्च वार्षिकावृतू। तपश्च तपस्यश्च शैशिरावृतू। —यजुः० अ० १३[२५]

६. द्वे सृती अश्रृण्वं पितृणामहं देवानामुत॥ —यजुः० १९।४७
षडाहुः शीतान् षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत॥ —अथ० ८।९।१७

७. यजुः० ३१।१८

ऐतरेयब्राह्मण की भूमिका में मार्टिन हाग कहते हैं कि 'जो यज्ञ सालभर चलता है वह सौरजगत् की वार्षिक परिक्रमा का रूप ही है। यह यज्ञ दो बराबर भागों में बाँट दिया जाता है। जिसका प्रत्येक भाग तीस अंशों में छह-छह मास का होता है। दोनों के बीच में जो दोनों अयनों को काटता है वह 'विषुवान्' नामी दिन है'[१]। इससे ज्ञात होता है कि आर्यों को दोनों अयनों का और वर्ष समाप्त होनेवाले दिन का सूक्ष्म ज्ञान था। इसी से उन्होंने उसका नाम विषुवान् रक्खा था, क्योंकि यज्ञ सौरजगत् की आकृति के ही होते हैं। कहा भी है कि **'यज्ञो वै संवत्सरः'**, अर्थात् यज्ञ संवत्सर ही है। यज्ञों में स्थापित इन्द्र, वरुण, कुबेर, गणेश और गौरी क्रम से अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथिवी के रूप ही हैं। इनके प्रतिनिधि दीपक, कलश, अन्न, नवग्रह और गौरी आदि हैं। यह गौरी पृथिवी की प्रतिमा ही है। इसकी बनावट में अब तक पृथिवी के ध्रुवप्रदेश दबे हुए होते हैं। यज्ञों में अन्य ग्रह भी बनाये जाते हैं, जिनके स्थान में मन्थिन आदि पात्र रक्खे जाते हैं जो ग्रहों के ही रूपक हैं। इस प्रकार यज्ञ जगद्रूपी वर्ष का रूप ही है। वर्ष को अनुकूल बनाने के लिए ही यज्ञ होता है, अतः हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि आर्यों को ज्योतिष् का सूक्ष्म ज्ञान था और उसका उपयोग यज्ञों में होता था।

पाश्चात्य विद्वान् और कुछ एतद्देशीय विद्वान् कहते हैं कि सायन-गणना आर्यों की उपज नहीं है, क्योंकि आर्यों के प्राचीन साहित्य में राशियों के नाम नहीं है। बारह राशियाँ, उनके मेष वृषादि रूप और ३६५ दिन ६ घण्टे का वर्ष आदि आर्यों के नहीं है। आर्यलोग चान्द्रवर्ष और नाक्षत्रवर्ष जानते थे। नाक्षत्रवर्ष सायनवर्ष से कुछ मिनट बड़ा है, इसलिए २००० वर्ष में एक महीना आर्यों को पीछे खिसकाना पड़ता था। उनको विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त में जो 'नति' या तिर्यक्त्व है, उसका ज्ञान नहीं था। यहाँ के प्राचीन साहित्य में बारह राशियों के नाम नहीं मिलते। इसलिए मेष, वृष आदि गणना ग्रीकों की है।

इन बातों में से केवल इतना तो हमें भी स्वीकार है कि मेष, वृष आदि नाम हमारे पुराने ग्रन्थों में नहीं मिलते, परन्तु इतने से क्या यह सिद्ध हो गया कि हमको बारह राशियों के रूपों और उनके द्वारा उत्पन्न हुए वर्ष का ज्ञान नहीं था? वेदों में बारह राशियों के रूपों का वर्णन आया है[२]। अभी हमने बारह सायन महीनों के नाम दो-दो ऋतुओं के साथ फुटनोट में लिखे हैं। वेदों में बारह आदित्यों के नाम प्रसिद्ध हैं। शतपथ में आया है कि बारह आदित्य हैं, ये सबको देते हैं, इसलिए आदित्य कहलाते हैं[३]। पं० सत्यव्रत सामश्रमी इन बारह आदित्यों के नाम सविता, भग, सूर्य, पूषा, विष्णु, विश्वानर, वरुण, केशी, वृषाकपि, यम, अजएकपात् और समुद्र बतलाते हैं। यही बारह राशियों के नाम हैं। इस प्रकार राशियों के नाम, उनके रूप और उनके मधु-माधव आदि महीनों के नाम वेदों में लिखे हुए हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक आर्य सायन वर्ष जानते थे। अयनज्ञान जब उनको था तो सायन का ज्ञान अवश्य ही था, क्योंकि सायन का अर्थ

---

१. The satrās which lasted for one year were nothing but an imitation of the sun's yearly course. They were divided into two distinct parts, each consisting of six months of 30 days each. In the midst of both was the Vishuvān i.e., the equator or the central day, cutting the whole satra into two halves. —Ait. Brah, Intro., p. 48.

२. **'पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिम्'।** [ऋ० १।१६४।१२] यह मेष-वृषादि १२ आकृतियों का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि मेष, वृष आदि नाम यहाँवालों ने ही रक्खा होगा और यहाँ से ही ग्रीकों ने लिया होगा।

३. **कतम आदित्या इति। द्वादश मासाः संवत्सरस्यैत आदित्या, एते हीदꣳ सर्वमाददाना यन्ति तद्यदिदꣳ सर्वमाददाना यन्ति, तस्मादादित्या इति।** —शतपथब्राह्मण १४।६।९।६

ही अयन के साथ होता है। अयनज्ञान के लिए पृथिवी का घूमना, राशिपथ, उसके बारह भाग, अधिमास, ग्रहण, ध्रुवों में छह मास की रात और दिन, क्रान्तिवृत्त, विषुववृत्त, नति और विषुवान् आदि का ज्ञान होना ही चाहिए। यदि इतनी बातें वेदों में हों तो समझना चाहिए कि वैदिकों को सायन गणना याद थी, अतः हम दिखलाना चाहते हैं कि ये बातें वेदों में हैं। सबसे पहले हम वेदों से पृथिवी के गोल होने और घूमने का वर्णन दिखलाते हैं। ऋग्वेद में लिखा है—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वानासस्तितिरुस्त इन्द्रं परि स्पशो अदधात् सूर्येण॥

—ऋ० १।३३।८

अर्थात् पृथिवी गोलाकार है। इसका आधा भाग सूर्य से प्रकाशित होता है और आधा भाग अन्धकारावृत रहता है। यह सूर्य के ही आकर्षण से ठहरी है। पृथिवी सूर्य के ही आधार पर है।

इसी बात का वर्णन ऋग्वेद में दूसरे स्थान पर इस प्रकार है '**उक्षा स द्यावापृथिवी बिभर्ति**'[१], अर्थात् पृथिवी सूर्य के आधार पर ठहरी है।

वेद में दूसरे स्थान पर स्पष्ट ही लिखा है कि '**दाधार्त्थ पृथिवीमभितो मयूखैः**'[२] अर्थात् किरणों से सूर्य पृथिवी को धारण किये हुए है।

तीसरे स्थान पर ऋग्वेद १०।१४९।१ में है कि '**सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत**', अर्थात् निराधार प्रदेश में सूर्ययन्त्र द्वारा पृथिवी घूम रही है और उसी ने ग्रहों को दृढ़ किया है। अथर्ववेद में पृथिवी के घूमने के विषय में कहा है—

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥

—अथर्व० १२।१।५२

अर्थात् जो पृथिवी के दैनिक एवं वार्षिक वृत्तावृत्ता होते हैं और जिसके ३० दिन और १२ महीने=धाम हैं, वे हमारी रक्षा करें।।

यहाँ स्पष्ट ही भूमि और पृथिवी के साथ वृत्तावृत्ता दो बार आया है, जिससे दैनिक और वार्षिक गतियाँ स्पष्ट होती हैं। यहाँ इस वृत्त शब्द का अर्थ चक्कर ही है। जिस मार्ग से होकर पृथिवी वर्षभर में घूम आती है, वही राशिपथ है। उसको वैश्वानर कहते हैं। वेद में लिखा है—

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः॥ —अथर्ववेद ८।९।६

अर्थात् वैश्वानर राशिपथ के ऊपर जो स्थान है, उससे सूर्य छह भाग एक ओर और छह भाग दूसरी ओर रहता है। इसी से ध्रुवों में छह मास की रात और छह मास का दिन होता है।

इस वैश्वानर नामी राशिचक्र का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी आया है—

गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद्बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ ते तु ज्योतिषु जाज्वलन्॥ —बाल० सर्ग ६०

अर्थात् गगन में वैश्वानर-पथ के बाहर बहुत-से चमकीले नक्षत्र हैं।

इसपर राम नामक टीकाकार कहता है कि ज्योतिश्चक्रमार्ग से बाहर सब नक्षत्र प्रकाशित

---

१. ऋ० १०।३१।७
२. यजुः० ५।१६

हैं। यह ज्योतिश्चक्रमार्ग राशिचक्र ही है। इस राशिपथ के १२ भाग हैं।

ऋग्वेद [१।१६४।४८] में कहा है कि—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नाभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन् साकं त्रिंशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः॥

अर्थात् १२ भागों में विभक्त ३६० अंश का एक चक्र (संवत्सर का क्षेत्र) होता है, जिसमें सर्दी, गर्मी, वर्षा तीन नाभियाँ है।

मन्त्र कहता है कि इस चक्र के ३६० अंश अचल हैं। इससे ये सावनदिन नहीं प्रत्युत सायनदिन प्रतीत होते हैं। यही मन्त्र अथर्व में पाठभेद से इस प्रकार आता है—

'तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये'।[1]

इसमें शङ्कु और खीला बताकर स्पष्ट कर दिया गया है कि यह ज्योतिष् का चक्र बिलकुल सायन है। इस चक्र का वर्णन महाभारत में भी इस प्रकार है—

चतुर्विंशतिपर्व त्वां षण्णाभि द्वादशप्रधि। तत्त्रिषष्टिशतारं वै चक्रं पातु सदा गतिः।
—वनपर्व अ० १३३[२५]

अर्थात् हे राजन्! वह चक्र तुम्हारा कल्याण करे, जिसमें २४ पर्व, ६ नाभियाँ, १२ घेरे और ३६० आरे हैं।

यह वही चक्र है जिसका वर्णन वेद में किया गया है। इसके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यह चक्र बहुत पुराना है और वैदिक साहित्य में पाया जाता है। इस चक्र से आकशस्थ ग्रहों के वेधने का चक्र उत्पन्न होना असम्भव नहीं है। ऐसे एकाध चक्र के बिना सूर्य की प्रदक्षिणा और उत्तरगति का सूक्ष्म ज्ञान एवं दिशाओं का भी सूक्ष्म ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इतिहास से सिद्ध है कि भारतकाल में आर्यों को इन दोनों बातों का सूक्ष्म ज्ञान हो गया था'। इसी चक्र से चान्द्रवर्ष का अन्तर ज्ञात होता था और तेरहवें महीने की योजना हुई थी, क्योंकि राशिचक्र का यदि सूक्ष्म ज्ञान न हो जाता तो वैदिक आर्यों को अधिक मास या १३वें मास का ज्ञान न होता। ऋग्वेद में लिखा है **'वेद मासो धृतव्रतः',**[2] और अथर्व १३।३।८ में कहा है **'अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते',** अर्थात् ३० दिन का महीना मानने से १३वाँ महीना मानना पड़ता है। इस वर्णन से ऊपरवाले चक्र को नहीं कहा जा सकता कि वह चान्द्र है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में सूर्य को बारह दिन और बारह रात्रि तक ठहरकर साल पूरा करने की विधि लिखी है[3]। इसलिए वैदिक आर्य सायनगणना जानते थे। यदि वे सायनगति न जानते तो ग्रहण न जान सकते, परन्तु वेदों में ग्रहण का वर्णन है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्त्वा सूर्य स्वर्भानुस्तमसाविध्यदासुरः। अक्षेत्रविद्यथा मुग्धो भुवनान्यदीधयुः॥
स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः। —ऋ० ५।४०।५-६

अर्थात् हे सूर्य! तुम्हें चन्द्रमा नो जो अन्धकार से घेर लिया है, इससे ज्योतिष् और रेखागणित न जाननेवाले मुग्ध हो रहे हैं। द्युलोक में तुम्हारा प्रकाश है उसको चन्द्रमा ने आच्छादित कर दिया है, इसलिए विद्वान् लोग सूर्य को तुरीययन्त्र से देखते हैं।

---

१. अथर्व० १०।८।४ २. ऋ० १।२५।८

३. द्वादश द्यून्यदगोह्यस्य। —ऋ० ४।३३।७

यहाँ स्पष्ट कह दिया गया है कि जो रेखागणित नहीं जानता वह अक्षेत्रविद् है और ग्रहण से मुग्ध हो जाता है, परन्तु जो विद्वान् है वह गणित करके देख लेता है कि किस दिन चन्द्र सूर्य के ऊपर आ जाएगा और यह घटना पृथिवी के किस स्थान से दिखेगी। ग्रहण का समय किसी प्रकार नहीं ज्ञात हो सकता जब तक पृथिवी और चन्द्रमा की चालें ठीक ज्ञात न हों और जब तक अक्षांशज्ञान न हो। इस ऋग्वेद की घटना का वर्णन समस्त प्राचीन ग्रन्थों में आया है। यहाँ हम उनमें से नमूने के लिए कुछ प्रमाण लिखते हैं—

स्वर्भानुर्ह वाऽआसुरः। सूर्यं तमसा विव्याध। —शतपथ० ५।३।२।२
स्वर्भानुर्वा आसुरः सूर्यं तमसा विध्यत। —गोपथ० २।३।१९
स्वर्भानुर्वा आसुरः। आदित्यन्तमसोऽविध्यत्। —ताण्ड्य० ४।५।२
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः। —आश्वलायनशाखा अष्टक ४
अभ्यधावत काकुत्स्थं स्वर्भानुरिव भास्करम्। —वाल्मी० यु० स० १०२।३

ये पाँचों वाक्य उपर्युक्त ऋग्वेद के मन्त्रों का ही आशय कह रहे हैं। इन सबका तात्पर्य यही होता है कि सूर्य को स्वर्भानु (चन्द्रमा) अपने अन्धकार से छिपा देता है।

सारांश यह कि वैदिकों को ग्रहण का पूर्ण ज्ञान था। ज्ञान ही नहीं था, किन्तु जिस प्रकार उन्होंने सायनगणना के लिए वेधशाला के राशिचक्र का निर्माण किया था उसी प्रकार ग्रहण देखने के लिए तुरीययन्त्र का भी आविष्कार कर लिया था। इस तुरीययन्त्र का वर्णन भास्कराचार्य ने सिद्धान्तशिरोमणि में किया है[1] और शिल्पसंहिता में तो दूरबीन बनाने का भी विस्तार से वर्णन है। वहाँ लिखा है कि—

**मनोर्वाक्यं समाधाय ते च शिल्पीन्द्र शाश्वतः। यन्त्रं चकार सहसा दृष्ट्यर्थे दूरदर्शनम्॥
पलालाग्नौ दग्धमृदा कृत्वा काचमनश्वरम्। शोधयत्विा तु शिल्पीन्द्रो नैर्मल्यं क्रियते च।
चकार बलवत्स्वच्छं पातनं सूपविष्कृतम्। वंशपर्व समाकारं धातुदण्डप्रकल्पितम्।
तत्पश्चादग्रमध्येषु मुकुरं च विवेश सः।** —शिल्पसंहिता

अर्थात् दूर तक देखने के लिए इस प्रकार का यन्त्र बनाना चाहिए कि पहले मिट्टी को जलाकर काच तैयार करे। फिर उसको साफ़ करके उस स्वच्छ काच को बाँस या धातु की नली में (आदि, मध्य और अन्त में) लगाकर देखे। यह तुरीययन्त्र की भाँति ही ग्रहों के देखने में काम आता है।

इस तमाम वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिकों को ग्रहण जानने का ज्ञान था। यदि ग्रहण न जान सकते होते तो उन्हें कैसे ज्ञात होता कि सूर्य को चन्द्रमा ढकता है, क्योंकि सूर्यग्रहण सदा अमावास्या को ही होता है, जिस दिन चन्द्रमा का कहीं पता ही नहीं रहता, वह भी दिन के समय और प्रत्येक अमावास्या को नहीं, किन्तु कभी-कभी। कभी किसी अमावास्या को दिन के समय सूर्य को चन्द्र से ढकनेवाले सूर्यग्रहण की कल्पाना, वह भी तुरीययन्त्र के द्वारा, क्या कभी आकस्मिक हो सकती है? कभी नहीं।

इसके सिवा वेदों में ध्रुवप्रदेश में होनेवाले छह-छह मास के दिन-रात का भी वर्णन है जिससे प्रकट हो जाता है कि याज्ञिक ज्योतिषियों को सायनगणना का पूरा ज्ञान था। अभी हमने दिखलाया था कि अथर्ववेद ८।७।६ के **'वैश्वानरस्य प्रतिमा'** मन्त्र में बतलाया गया है कि

---

१. दृगुच्च मूलं नलकं निवेश्य वंशद्वयाधारमथास्य रन्ध्रे। विलोकयेत्खेचरं किलैवं जले विलोमं तदपि प्रवक्ष्ये।
—सिद्धान्तशिरोमणि

वैश्वानर राशिपथ पर घूमती हुई पृथिवी में छह मास की रात और छह मास के दिन होते हैं। इसी विषय का स्पष्ट वर्णन तैत्तिरीयसंहिता में आया है कि '**एकं वा एतद्देवानामहः। यत्संवत्सरः**'[१] अर्थात् मनुष्यों का संवत्सर देवताओं के एक दिन के बराबर है। यह देवताओं का दिन ध्रुवप्रदेशों में ही होता है। वैदिक काल में ही आर्यों को इसका ज्ञान था, किन्तु ४५० ईस्वी सन् पूर्व तक ग्रीकों को इस बात का ज्ञान नहीं था। 'आर्यों का उत्तरध्रुवनिवास' में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'हिराडोटस नामक ग्रीक इतिहासज्ञ के समय (४५० ई० पूर्व) में लोगों को यह बात असत्य प्रतीत होती थी कि इस पृथिवी पर लोग छह मास की भी रात मानते हैं'। इससे ज्ञात होता है कि ध्रुवों में छह मास की रात और छह मास का दिन ज्ञात करना ज्योतिष और भूगोल के महान् सूक्ष्म ज्ञान पर ही अवलम्बित है। जब तक क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्त के चलाचल का ज्ञान न हो तब तक ध्रुव का हाल ज्ञात ही नहीं होता। क्रान्तिवृत्त राशिचक्र है, जो अचल है, परन्तु विषुववृत्त पृथिवी की गोलाई की रेखा है जो नति, अर्थात् पृथिवी के झुकाव के कारण चला करती है। इन्हीं दोनों से रात-दिन का घटाव-बढ़ाव, रात-दिन की बराबरी और सायनवर्ष होता है। वैदिक आर्यों को ध्रुव का ज्ञान होने से इन सब बातों का ज्ञान होना पाया जाता है, अतएव सिद्ध है कि वैदिक आर्य सायनगणना अच्छी प्रकार जानते थे।

उनको नति का भी ज्ञान था। विषुववृत्त और क्रान्तिवृत्त के बीच में लगभग २२१/२ अंश का जो कोण है उसे नति कहते हैं। लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'प्रोफ़ेसर लुडविग के कथनानुसार ऋग्वेद में क्रान्तिवृत्त और विषुववृत्त की नति, अर्थात् तिर्यक्त्व का उल्लेख है'[२]। नति का सूक्ष्म ज्ञान होने पर ही ध्रुवों का वृत्तान्त ज्ञात हो सकता है और तभी सायनगणना ठीक हो सकती है। ग्रीक लोगों को ध्रुव का ज्ञान नहीं था। इससे पाया जाता है कि वे क्रान्तिवृत्त का रहस्य नहीं जानते थे, किन्तु आर्यलोग जानते थे। ऐसी दशा में कैसे कहा जाता है कि आर्यों ने सायनगणना ग्रीकों से सीखी ?

वैदिक आर्यों का वर्ष हमेशा सायन था और वसन्त ऋतु से ही आरम्भ होता था। तैत्तिरीयब्राह्मण में लिखा है कि '**मुखं वा एतदृतूनां यद्वसन्तः**',[३] अर्थात् वसन्तऋतु सब ऋतुओं का मुख है। इसके विषय में 'ओरायन' में लोकमान्य तिलक कहते हैं कि 'यह मानने में लेशमात्र हानि नहीं है कि प्राचीन वैदिक काल में जब सूर्य वसन्तसम्पात में होता था तभी वर्ष का आरम्भ होता था'। इससे सिद्ध है कि वैदिक आर्यों का वर्ष सायन था, क्योंकि सायनगणना में ही वर्ष ऋतुओंवाला होता है और ऋतुएँ अयनोंवाली होती हैं। हम पहले ही कह आये हैं कि ऋतुओं की सन्धियों में यज्ञ करने के लिए और उत्तरायण को मोक्षसाधक मानकर उसकी प्रतीक्षा करने के लिए उनको अयन-चलन का सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त हो गया था। सूक्ष्म ज्ञान से ही वे वर्ष के मध्य का दिन निकाल सकते थे और उसी दिन से वसन्तऋतु का आरम्भ मानकर वर्ष का आरम्भ करते थे। यह सब-कुछ बिना अयनगति और राशिचक्र के ठीक-ठीक ज्ञान के हो ही नहीं सकता। ग्रीकों को इतना सूक्ष्म ज्ञान नहीं था। उनके विषय में लोकमान्य तिलक 'ओरायन' में कहते हैं कि 'दूसरे सर्व राष्ट्रों से पूर्व और विशेष सूक्ष्मता से अयनगति को भारतवासियों ने ही जाना था। ग्रीक ज्योतिश्शास्त्र हिपार्कस ने इस अयनगति को प्रतिवर्ष कम-से-कम ३६ विकला माना है, परन्तु इस समय वह

---

१. तै० ३।९।२२।१

२. Prof. Ludwig goes further and holds that the Rigveda mentions the inclination of the ecliptic with the equator (1.110.12) and the axis of the Earth (10.89.4). —*Orion*, p. 158.

३. तै० १।१।२।६-७

ठीक ५० १/४ विकला है और भारतीय ज्योतिर्विदों के हिसाब से वह ५४ विकला है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीयों ने अयनगति ग्रीकों से नहीं ली। इस अयनगति को भारतीय ज्योतिषियों ने स्वयं ढूँढ निकाला है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं'। हमारा तो विश्वास है कि यह ज्ञान ग्रीकों ने भारत से ही सीखा है। भारतवासी **'पंचपादं पितरं द्वादशाकृतिम्'**[१] के अनुसार बारह राशियों की आकृति को जानते थे। वे उन्हें प्रतिमा, अर्थात् नाप बतलाते हैं। इससे हम कह सकते हैं कि निस्सन्देह मेष-वृष आदि राशियों के नाम भी यहाँवालों ने ही रक्खा है और पीछे से उन आकृतियों के नामों का ग्रीकों ने अनुवाद कर लिया है। जो हो, इसमें सन्देह नहीं कि यहाँवाले राशिचक्र, अयनगति और सायनवर्ष वैदिक काल से ही जानते थे, क्योंकि उनको यज्ञ में ज्योतिष् के सूक्ष्म विचारों की आवश्यकता होती थी।

इस वैदिक ज्ञान से ऋषियों ने अपनी कल्पनाशक्ति के द्वारा ज्योतिष्-सम्बन्धी जो सूक्ष्म ज्ञान आविष्कृत किया था, वह समय की अस्थिरता है। समय जिसे काल कहते हैं वह पानी की धारा की भाँति अटूट बहता है। उसमें भूत, भविष्य और वर्त्तमान की रेखा नहीं खींची जा सकती। कोई नहीं कह सकता कि इतने बजकर इतने मिनट और इतने सेकिण्ड पर वर्ष समाप्त हुआ और नया लगा, क्योंकि काल का प्रवाह अबाधित गति से बह रहा है। यज्ञों के लिए ऋषियों को वर्ष का कोई एक ऐसा दिन निश्चित करना पड़ता था जिससे वे छह-छह महीने के दोनों अयनों को बाँट दें। उन्होंने उस दिन का नाम विषुवान् रक्खा था और उसको निश्चित भी कर दिया था, परन्तु कालप्रवाह अस्थिर है यह सोचकर उन्होंने गोपथब्राह्मण में लिखा है कि विषुवान् संवत्सर का आत्मा है और दो महीने अङ्ग हैं। जहाँ आत्मा वहाँ अङ्ग और जहाँ अङ्ग वहाँ आत्मा है। आत्मा अङ्गों से अलग नहीं और अङ्ग आत्मा से अलग नहीं। इसी प्रकार इधरवाले दिनों का वह पसीना है जो उधरवाला है और उधरवाले दिनों का यह पसीना है जो इधरवाला है। यही संवत्सर है[२]। कितना सूक्ष्म विज्ञान है! वे यह मानते हैं कि दो महीनों के बीच में कोई स्थान है जो दोनों का आत्मा है, परन्तु उसका नियन्त्रण नहीं हो सकता, इसलिए कभी तनिक-सा इस ओर और कभी तनिक-सा उस ओर हो जाता है, क्योंकि दोनों खण्ड एक-दूसरे का पसीना हैं। राय बहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य कहते हैं कि 'यज्ञों में प्राची दिशा का साधना आवश्यक है और वर्षसत्र करते समय विषुवदिवस जानने का बड़ा माहात्म्य है। उस दिन सूर्य ठीक पूर्व में उदय होता है'। इस प्रकार जहाँ वर्ष स्थिर करने के लिए, विषुवान् दिन नियत करने के लिए, वसन्तसम्पात स्थिर करने के लिए और मोक्षदायक उत्तरायण जानने के लिए इतना सूक्ष्म विचार हो, वहाँ कौन कह सकता है कि वेदों की पूर्ण शिक्षा से आगे बढ़ने, विचार सकने और सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों के निश्चित करने का ज्ञान नहीं होता?

दूसरी सूक्ष्मता है सूर्य के उदय-अस्त की। आधुनिक विद्वान् मानते हैं कि सूर्य का उदयास्त वैदिक काल में आजकल की भाँति ज्ञात नहीं था, परन्तु यह बात सत्य नहीं है। ऐतरेय और गोपथब्राह्मण में लिखा है कि न सूर्य कभी अस्त होता है और न उदय होता है। वह सदैव बना रहता है, परन्तु जब पृथिवी से छिप जाता है तब रात्रि हो जाती है और जब पृथिवी उसकी आड़ से हट जाती है तब दिन हो जाता है। यही बात डॉक्टर हाग ने ऐतरेयब्राह्मण के अनुवाद में

---

१. ऋ० १।१६४।१२

२. आत्मा वै संवत्सरस्य विषुवानङ्गानि मासौ यत्र वा आत्मा तदङ्गानि यत्राङ्गानि तदात्मा। न वा आत्माऽङ्गान्यतिरिच्येते नोऽङ्गान्यात्मानमतिरिच्यन्त इत्येवमु हैव तदपरेषां स्विदितमह्नां परेषामित्यपरेषां चैव परेषां चेति ब्रूयात्स वा एष संवत्सरः। —गोपथ० १।४।१९

स्वीकार की है[१]। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि खगोलिक भूगोल का सूक्ष्म ज्ञान उन्होंने आविष्कृत नहीं किया था। इसी प्रकार पृथिवी का आकर्षण भी उन्होंने ज्ञात कर लिया था। भास्कराचार्य स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि कोई भी भारी पदार्थ ऊपर की ओर फेंकने से वह नीचे गिर जाता है, इससे सिद्ध है कि पृथिवी में आकर्षण है[२]। लोग इस आकर्षण के आविष्कार का श्रेय न्यूटन को देते हैं, परन्तु न्यूटन से सैकड़ों वर्ष पूर्व यह ज्ञान यहाँ उत्पन्न हो चुका था। इसी प्रकार ग्रहों के आकर्षण की जो दूसरी बात समुद्र में ज्वारभाटे की है वह भी आर्यों को ज्ञात थी। विष्णुपुराण में लिखा है कि यथार्थ में ज्वारभाटे से समुद्र का जल कम और अधिक नहीं हो जाता, प्रत्युत अग्नि पर थाली में जल रखने से जिस प्रकार वह उमड़ पड़ता है, उसी प्रकार चन्द्रमा के आकषर्ण से ज्वारभाटा होता है[३]। ज्योतिष का सूक्ष्म गणित बीजगणित के बिना सरलता से नहीं हो सकता, अत: आर्यों ने याज्ञिक ज्योतिष के लिए उसका भी आविष्कार किया था। मोनियर विलियम लिखते हैं कि बीजगणित और रेखागणित का आविष्कार तथा ज्योतिष् के साथ उनका उपयोग सबसे प्रथम हिन्दुओं के द्वारा ही हुआ है[४]।

यज्ञों में प्रयुक्त होनेवाले ज्योतिष्ज्ञान के कारण ऋषियों को सूक्ष्म और सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त हुआ था। यज्ञों में जिस प्रकार पदार्थों के गुण और समय के प्रभाव के ज्ञान की आवश्यकता होती थी उसी प्रकार यज्ञ के लिए दशा और देश के ज्ञान की भी आवश्यकता होती थी, अत: हम चाहते हैं यहाँ थोड़ा-सा भौगोलिक ज्ञान के विषय में भी लिख दें, जिससे ज्ञात हो जाए कि यज्ञप्रकरण में उसका क्या उपयोग है।

यज्ञों में भौगोलिक ज्ञान

देश और काल का जोड़ा है। कालज्ञान के साथ यदि देश का ज्ञान न हो तो पदार्थों का उपयोग ठीक-ठीक नहीं हो सकता, इसलिए यज्ञ के प्रकरण में देश का ज्ञान भी परमावश्यक है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

कृष्णसारस्तु चरति मृगो यत्र स्वभावत:। स ज्ञेयो यज्ञियो देशो म्लेच्छदेशस्त्वत: पर:॥

—मनु० २।२३

अर्थात् जहाँ काले मृग स्वभाव से विचरते हों, वही यज्ञ करने योग्य भूमि है, शेष म्लेच्छदेश हैं। इस श्लोक में यज्ञदेश स्थिर करने के लिए दो बातें बताई गई हैं—

१. जहाँ कृष्णमृग स्वभाव से चरते-फिरते हों, अर्थात् जहाँ उनकी जीविका के लिए यथेष्ट

---

१. स वा एष न कदाचनास्तमोति नोदेति... ... ...अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रिरेव तदन्तमित्वा अथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात्। स वा एष न कदाचन निम्रोचति न ह वै कदाचन निम्रोचति।

—ऐतरे० ३।१४।६

The Aitareya Brahmana explains that the sun neither sets nor rises, that when the Earth, owing to the rotation on its axis is lighted up, it is called, and so on.

—*Hang's Aitereya Brahnana,* Vol. 11, p. 243.

२. आकृष्टशक्तिश्च महीतया यत् स्वस्थं गुरु: स्वाभिमुखं स्वशक्तया।
आकृष्यते तत् पततीवि भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे॥ —गोलाध्याय [२।६]

३. स्थालीस्थमग्निसंयोगादुद्रेकिसलिले यथा। तथेन्दु वृद्धौ सलिलमम्बोधौ मुनिसत्तम॥

—विष्णुपुराण [२।४।८९]

४. To the Hindus is due the invention of Algebra and Geometry and their application to Astronomy.

—*Indian Wisdom,* p. 185.

चरभूमि हो—जंगल हों और

२. जहाँ म्लेच्छ, अर्थात् दस्यु न हों।

ज्ञात हुआ कि यज्ञ वहाँ हो सकते हैं जहाँ चरभूमि हो—जंगल हो—और जहाँ म्लेच्छ न हों—अनार्य न हों—शत्रु न हों। जंगलों में यज्ञोपयोगी ओषधियाँ और काष्ठ आदि मिलते हैं। यज्ञों में पुष्कल घृत की आवश्यकता होती है, वह पशुओं से प्राप्त होता है और पशु बिना गोचरभूमियों के रह नहीं सकते। व्रज, अर्व, गान्धार आदि देश गाय, घोड़े और बकरी आदि गोचर चारागाह होने से ही प्रसिद्ध हैं, इसलिए जंगली भूमि होना सबसे पहली शर्त है, क्योंकि चरभूमि, अर्थात् जंगलों के बिना यज्ञ नहीं हो सकते। ये याज्ञिक जंगल पर्वतों से घिरे हुए होने चाहिएँ। वेद में लिखा है कि '**गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं पृथिवि स्योनमस्तु**'[1], अर्थात् हिमाच्छादित बड़े-बड़े गिरि और छोटे-छोटे पर्वत तथा अरण्ययुक्त पृथिवी कल्याणकारी हो। इन पहाड़युक्त जंगलों में ही यज्ञ करने से वास्तविक लाभ होता है, क्योंकि यज्ञों से उत्पन्न होनेवाले रोगनाशक बाष्प वायु में मिलकर वायु को तभी शुद्ध करते हैं जब पहाड़ों से घिरे रहें और कहीं दूसरे देश को न उड़ जाएँ। इसी प्रकार जल बरसानेवाले, यज्ञों के जल बनानेवाले हुत पदार्थ भी वायु में मिलकर तभी काम दे सकते हैं जब यज्ञदेश जंगलों और पहाड़ों से घिरा हो। हमें यह उपदेश देवयज्ञों से—प्राकृत यज्ञों से ग्रहण करना चाहिए। आकाशीय देवयज्ञ उन देशों में पानी नहीं बरसाते, जहाँ न तो जंगल हैं और न पहाड़, क्योंकि पहाड़ों और जंगलों में पानी बरसाने का भी गुण होता है। भारत में यदि हिमालय न होता तो बादलों को कौन रोककर पानी बरसाता? यहाँ के सब बादल ऊपर-ही-ऊपर उत्तर को चले जाते और दक्षिण का मानसून कुछ भी काम न करता। अरब, राजपूताना और कच्छ आदि में पानी न बरसने का कारण जंगलों और पहाड़ों का अभाव ही है। इसी प्रकार बिना पहाड़ों की दीवार के यज्ञों के गुणदायक तत्त्व भी उड़ जाते हैं, इसीलिए वेद में यज्ञोपयोगी देश का प्रथम लक्षण यही बतलाया गया कि वह जंगलयुक्त और पहाड़ी हो। वेदों में भूगोल के ज्ञान का वर्णन इसीलिए किया गया है और इसीलिए संसार के टापू, द्वीप और देशों का ज्ञान प्राप्त करना भी लिखा है। अथर्ववेद में कहा है कि—

नवभूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि। —अथर्व० ११।७।१४

मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः। —अथर्व० ४।८।७

यहाँ समुद्र से नई भूमि निकलने और समुद्रों के बीच में अन्य द्वीपनिवासियों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए कहा गया है। यह ज्ञान गोमेधयज्ञ से सम्बन्ध रखता है, इसलिए इसका वर्णन आगे करेंगे। यहाँ तो यही दिखलाना अभीष्ट है कि यज्ञ के प्रकरण में भूगोल का ज्ञान, अर्थात् यज्ञोपयोगी देश के जानने की आवश्यकता पड़ती है। देशज्ञान से वायु के चलने और उसके अनुकूल-प्रतिकूल होने का भी सम्बन्ध है। किस देश में कब कौन-सी वायु चलेगी, बिना यह जाने पहाड़ों से भी काम नहीं चल सकता। यही अच्छे मुहूर्त का प्राथमिक बीज है। कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यज्ञ के प्रकरण में भूगोलज्ञान बहुत ही आवश्यक है। जहाँ यज्ञमण्डप और यज्ञकुण्ड बनाया जाता है, वहाँ सबसे पहले भूमि का संशोधन किया जाता है। यज्ञविधियों में कहा गया है कि अमुक-अमुक कुण्डों के लिए इतने-इतने पुरुष[2] भूमि खोदनी चाहिए। भूमि में गड़े हुए मृतक शरीर निकालकर फेंक देने चाहिएँ। किसी धातु या पुराने नगर के भग्नावशेष वहाँ

---

१. अथर्व० १२।१।११

२. एक पुरुष=१२० अंगुल

नहीं होना चाहिएँ और न वहाँ किसी प्रकार की दुर्गन्धि या खारी जल के कुएँ होने चाहिएँ। इस प्रकार पृथिवी की ऊपरी सतह से लेकर पानी की तह तक भूमि के संशोधन का विधान है, इसलिए याज्ञिकों को जहाँ भूगोल का ज्ञान होना आवश्यक है वहाँ थोड़ा बहुत ज्ञान भूगर्भ का भी होना ही चाहिए।

अब रही दूसरी शर्त जिसमें कहा गया है कि वह देश म्लेच्छदेश न हो, अर्थात् जिसमें अनार्य न रहते हों। यज्ञ न करनेवाले अथवा यज्ञों में विघ्न करनेवालों को ही म्लेच्छ=अनार्य कहा गया है। यही आर्यों के शत्रु हैं। इन्हीं के निवारण के लिए अश्वमेधयज्ञ का विधान किया गया है, परन्तु यहाँ उसका वर्णन नहीं करेंगे। उसका वर्णन आगे किया जाएगा। यहाँ तो यज्ञदेश से सम्बन्ध रखनेवाले केवल भूगोल और भूगर्भज्ञान का ही वर्णन किया गया है। यज्ञों में जिस प्रकार भूगोल और भूगर्भज्ञान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार भवन-निर्माण के ज्ञान की भी आवश्यकता होती है, इसलिए यहाँ थोड़ा-सा वास्तुशास्त्र का भी वर्णन करते हैं।

यज्ञों में वास्तुशास्त्र

आर्य लोगों के रहने के मकान तो बहुत ही सादे, मिट्टी और फूस के ही होते थे, परन्तु यज्ञमण्डप को वे बहुत दृढ़ और सुन्दर बनवाते थे। साधारण यज्ञशालाएँ तो फूस की ही होती थीं, परन्तु जहाँ हमेशा यज्ञ हुआ करते थे ऐसी यज्ञशालाएँ प्रत्येक ग्राम में ईंटों की पक्की बनती थीं। आजकल शिवालय को भी गाँववाले मण्डप ही कहते हैं। यह मण्डप वास्तव में यज्ञमण्डप ही है। इसमें आठ दरवाज़े अब तक होते हैं, परन्तु सात बन्द कर दिये जाते हैं और एक निकलने के लिए रक्खा जाता है। जहाँ शङ्कर की मूर्त्ति स्थापित होती है वही हवनकुण्ड का स्थान है। शिव की पूजा आरम्भ होने के समय से ही यज्ञकुण्ड के स्थान में शिवलिङ्ग की स्थापना हुई है। यह रिवाज मद्रास से ही आरम्भ हुआ होगा। चाहे जहाँ से आरम्भ हुआ हो, परन्तु शिवालय यज्ञमण्डप ही हैं, इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है।

वैदिक काल के लोग ईंटें बनाना और उनको आग में पकाना जानते थे। इन ईंटों से कहीं कहीं राजमहल भी बनाये जाते थे, परन्तु सर्वसाधारण के मकान तो बहुत ही सादे होते थे, क्योंकि आर्यसभ्यता में ऐश्वर्ययुक्त महलों का समावेश नहीं है, परन्तु यज्ञमण्डपों के बनने का पता मिलता है, अतएव यज्ञप्रकरण में वास्तुशास्त्र के लिए पर्याप्त स्थान है। यह वास्तुशास्त्र गणितशास्त्र से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि उसमें नापने की आवश्यकता होती है। जहाँ नापना है वहीं गणित है, अतएव यहाँ हम गणित का थोड़ा-सा वर्णन करके दिखलाना चाहते हैं कि यज्ञ के साथ अङ्क और रेखागणित का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है।

यज्ञों में गणित

जिस सूक्ष्म ज्योतिश्शास्त्र का हम वर्णन कर चुके हैं वह बिना गणितज्ञान के पूर्ण नहीं हो सकता। उस गणित का वर्णन यज्ञ-प्रकरण में भी किया गया है, जिसका दिग्दर्शन हम यहाँ कराते हैं। यज्ञ में अङ्कगणित और रेखागणित दोनों का काम पड़ता है। यज्ञ में अङ्कगणित से सम्बन्ध रखनेवाला एक मन्त्र यह है—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च दश च शतं च शतं च सहस्त्रं च सहस्त्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके। —यजुर्वेद १७।२

इसमें इकाई से लेकर परार्द्ध तक की संख्या बताई गई है। इस मन्त्र में लम्बी संख्या का

वर्णन तो है ही, परन्तु इसमें एक बात यह भी कही गई है कि '**इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्तु**' अर्थात् ये मेरी ईंटें यज्ञ में गौ के तुल्य लाभदायक हों। यहाँ यह संख्या ईंटों की गिन्ती के लिए है। ईंटें हवनकुण्ड के लिए बनाई जाती थीं, इसलिए उनको धेनुरूप होकर फल देनेवाली कहा गया है। ये ईंटें नपी-तुली होती थीं, इसलिए गणित के द्वारा यह सूचित करा दिया जाता था कि अमुक प्रकार के इतने बड़े कुण्ड के लिए ये इतनी ईंटें लगेंगी। ये 'अग्न इष्टका' कही गई हैं, जिसका तात्पर्य यज्ञ की ईंटें है। यज्ञ में ईंटें पक्की लगाई जाती हैं, इसलिए भी उन्हें '**अग्न इष्टका**' अर्थात् पकी हुई ईंटें कहा गया है। कुण्ड की ईंटों के लिए एक लम्बा गणित बतलाकर दर्शा दिया गया है कि यज्ञ में लम्बे अङ्कोंवाले गणित की आवश्यकता होती है। आहुतियों की इयत्ता निर्धारित करने में भी गणित करने का काम पड़ता है और ओषधियों के ख़रीदने, अर्थात् 'सोमक्रय' करने में भी गणित काम आता है। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि अङ्कगणित यज्ञ में अपना विशेष स्थान रखता है। अङ्कगणित ही नहीं, किन्तु रेखागणित भी काम आता है। ज्योतिष का वर्णन करते हुए हमने ग्रहणों के प्रकरण में ऋग्वेद का एक मन्त्र दिया है, उसमें लिखा है कि '**अक्षेत्रविद्यथा मुग्धः**'[१] अर्थात् ग्रहण को देखकर रेखागणित के ज्ञान से शून्य पुरुष मुग्ध हो जाता है। ज्योतिष् में रेखागणित का काम पड़ता है। जितने ग्रह-उपग्रह हैं उनकी परिधि, व्यास, नति, कोण, लम्ब आदि से ही दूरी और मिलाप आदि बताया जाता है। रेखागणित के बिना ज्योतिष् बन ही नहीं सकता, इसलिए 'अक्षेत्रवित्' शब्द बतला रहा है कि वैदिक आर्य रेखागणित जानते थे। ज्योतिष् के अतिरिक्त यज्ञप्रकरण में तो बिना रेखागणित के काम ही नहीं चल सकता। यजुर्वेद में लिखा है—

को अस्य वेद भुवनस्य नाभिम्। —[यजुः० २३।५९]
पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः। —[यजुः० २३।६१]
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः॥ —[यजुः० २३।६२]

अर्थात् भुवन का मध्य कौन जानता है?

मैं पृथिवी का अन्त और भुवन का मध्य पूछता हूँ। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा गया है कि यह यज्ञ ही भुवन का बीच है और यह यज्ञवेदी ही पृथिवी का अन्त है।

इन प्रश्नोत्तरों में संसार की गोलाई और पृथिवी की गोलाई का वर्णन कर दिया गया है और बतला दिया गया है कि गोल वस्तु का मध्य उसके प्रत्येक स्थान में है। भुवन गोल है, इसलिए जहाँ पर यह यज्ञ हो रहा है, वही स्थान उसका मध्य है। इसी प्रकार पृथिवी गोल है, इसलिए यज्ञवेदी ही उसका अन्त है, क्योंकि गोल वस्तु का अन्त भी उसके प्रत्येक स्थान में होता है। वेद में गोल क्षेत्र का यह सिद्धान्त कहकर नापने के साधनों को भी बताया गया है कि '**मा असि, प्रमा असि, प्रतिमा असि**'[२] अर्थात् तू मा=माप (लट्ठा) है, पैमाना है और मानचित्र है। यहाँ 'प्रमा' शब्द 'पैमानों' का आदिम रूप है। अपभ्रंश के कारण ही रकार का लोप हो गया है और प्रतिमा तो नक़शा=मानचित्र है ही। इस प्रकार से नाप, पैमाना और नक़शे के वर्णन से पता लगता है कि याज्ञिकों के पास रेखागणित के साधन थे। इस विषय पर विनयकुमार सरकार कहते हैं कि वैदिक काल में, हिन्दुओं ने π (पाई) को खोज लिया था और उसका मूल्य ३.००४४ निकाला था। अब वही ३.१४१६ के बराबर निकाला गया है। अतुल्य लम्बक (Trampizium) के

---

१. ऋ० ५.४०.५
२. ये वाक्य किसी भी वेद में नहीं हैं। —जगदीश्वरानन्द

वर्गक्षेत्र का निर्णय करना, जबकि उसकी दो समानान्तर भुजाओं की लम्बाई तथा उनके बीच की दूरी ज्ञात हो, हिन्दुओं को उस आदिकाल में भी अच्छी प्रकार ज्ञात था[१]।

सब यज्ञकुण्ड रेखागणित के सिद्धान्त पर बनाये जाते थे। वे रेखागणित का एक-न-एक साध्य होते थे। कृष्णयजुर्वेद ५।४।११ में अनेक हवनकुण्डों का वर्णन है और आश्वलायन तथा बौधायनसूत्रग्रन्थों में इनका विस्तृत वर्णन है। वहाँ उनके चतुरस्रस्येन, वक्रपक्ष, व्यस्तपुच्छ, कंकचित, अजलचित, प्रोगचित और उभायत आदि नाम दिये हैं। ये पक्षियों के आकार के होते थे। किसी-किसी में दो-दो पक्षियों की शकल एक में भी दी होती थी, अत: यह सारी रचना रेखागणित और चित्रलिपि के बिना नहीं हो सकती। रेखागणित यज्ञ में काम आने से धार्मिक विद्या है और विद्वान् कहते हैं कि जितनी धार्मिक विद्याएँ हैं सब आर्यों की निजी उपज हैं। इसीलिए आर०सी० दत्त कहते हैं कि 'ज्योतिष् की भाँति ज्यामितिशास्त्र भी धार्मिक प्रयोग होने से आर्यों के द्वारा ही आविष्कृत हुआ है'[२]। इस बात को थीबो साहब ने सिद्ध कर दिया है। थीबो साहब ने शुल्बसूत्रों के अध्ययन से उनमें रेखागणित के ४७वें साध्य को ढूँढ निकाला है, जिसको लोग पैथागोरस का आविष्कार मानते हैं और अब तक उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध किये हुए हैं। शुल्बसूत्रों के विषय में थीबो साहब कहते हैं कि 'जिन शुल्बसूत्रों का मैंने अभी वर्णन किया है वे ईस्वी सन् के पूर्व आठवीं शताब्दी के हैं। उनमें ४७वाँ साध्य जो इस समय ग्रीक विद्वान् पैथागोरस के नाम से प्रसिद्ध है वह पैथागोरस के सैकड़ों वर्ष पूर्व भारतीयों को ज्ञात हो चुका था। निस्सन्देह इन सिद्धान्तों को पैथागोरस ने भारतीयों से ही सीखा है'[३]। क्या स्पष्ट सम्मति है! यह साध्य निस्सन्देह एक कुण्ड के लिए ही बनाया गया था। थीबो साहब ने इसका रूप भी दिया है। यह प्रचलित यूक्लिड का ४७वाँ साध्य है। इसकी व्याख्या यह है कि १. किसी वर्ग (Square) के कर्ण (Diagonal) पर जो वर्ग बनाया जाता है वह उस वर्ग से दुगुना होता है और २. एक आयत (Oblong) के कर्ण (Diagonal) पर का वर्ग उस आयत के दो असमान बाहुओं (Sides) पर के वर्ग के बराबर होता है। शुल्बसूत्र के इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञों में रेखागणित का पूर्ण प्रयोग होता है।

यज्ञों में पदार्थविज्ञान

यज्ञों में पदार्थविज्ञान की अत्यन्त आवश्यकता इसलिए होती है कि यज्ञों का अधिकतर उपयोग पानी बरसाने और वायुशुद्ध करने में होता है, इसलिए याज्ञिकों को वायु, जल और अग्नि के सूक्ष्म कार्यों का ज्ञान अवश्य ही प्राप्त करना पड़ता है, क्योंकि वर्षा वायुचक्र पर, वायुचक्र सर्दी-गर्मी पर और सर्दी-गर्मी ग्रह, उपग्रह और पृथिवी की चालों पर अवलम्बित है, इसलिए जब तक इन तीनों तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त न हो तब तक न तो इच्छापूर्वक पानी ही बरसाया जा सकता है और न वायु ही शुद्ध की जा सकती है। यह सभी जानते हैं कि सूर्य की गर्मी और वर्षा के पानी से हवा हलकी होकर ज़ोर से चलने लगती है। यही कारण है कि गर्मी में आँधी चलती है, इसी प्रकार वर्षाऋतु में वायुस्थान में पानी भर जाने से भी वायु में हलचल उत्पन्न हो जाती है,

---

१. Achievements of Hindus in Exact Science, p. 16-17.

२. Geometry, like astronomy, owes its origin in India to religion.

३. These Sulba Sūtrās, as we have stated before, dated from the eighth century before Christ. The Geometrical theorem that square of the hypotenuse is equal to the squares of the other two sides of a rectangular triangle is ascribed by the Greeks to Pythagoras, but it was known in India centuries before and Pythagoras undoubtedy learnt this rule from India.

इसलिए ज्योतिष् के द्वारा ग्रहों की चालों से ऋतुओं को स्थिर करके यज्ञ किये जाते हैं, परन्तु जंगलों में बाहर की हवा का प्रवेश नहीं होता, इसलिए वहाँ आँधी नहीं चलती। वहाँ बहुत ही धीमी हवा चलती है। विशेषकर वे जंगल जो पहाड़ों से घिरे हैं, उनमें तो वायु का वेग बहुत ही कम रहता है, इसलिए पर्वतों से घिरी हुई जंगली भूमि यज्ञों के लिए अधिक उपयोगी बतलाई गई है। इन सब बातों से पता लगता है कि वैदिककाल में वायु का ज्ञान बहुत ही ऊँचे दर्जे का था। **'वायोर्यजुर्वेदः'** के अनुसार वायुज्ञान से सम्बन्ध रखनेवाला एक यजुर्वेद ही अलग कर दिया गया था। इसका कारण यही है कि अन्तरिक्षलोक का देवता वायु ही है। अथर्ववेद ५।२४।८ में लिखा है कि **'वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः',** अर्थात् वायु अन्तरिक्ष का राजा है।

वैदिकों को वायु की दो प्रकार की सूक्ष्मताएँ ज्ञात थीं, एक पिण्ड की और दूसरी ब्रह्माण्ड की। प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय नामी वायु के सूक्ष्म भेद पिण्ड से सम्बन्ध रखते हैं और उनञ्चास प्रकार के सूक्ष्म भेद ब्रह्माण्ड से सम्बन्ध रखते हैं। इन उनञ्चास प्रकार के भेदों का वर्णन यजुर्वेद (अध्याय १७ के मन्त्र ८० से ८५ और अध्याय ३९ के मन्त्र ७) में विस्तारपूर्वक किया गया है। शतपथब्राह्मण ९।११।१।२६ में लिखा है कि ये उनञ्चासों नाम मरुतों के हैं। लंका जलते समय तुलसीदास ने इन्हीं उनञ्चास पवनों के लिए लिखा है कि **'पवन चले उनञ्चास'**। इन उनञ्चास पवनों के भेद जानकर उनके अनुसार यज्ञ करने से ही सफलता होती है। पानी बरसानेवाले यज्ञों में इनका अधिक विचार किया जाता है। इस विचारविधि का वर्णन ऋग्वेद मण्डल १० के **शान्तनुसूक्त** में बहुत ही विशद रूप से किया गया है।

यज्ञों में जिस प्रकार वायु के सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार पानी के सूक्ष्म ज्ञान की भी आवश्यकता होती है। वेदों में इन्द्र और वृत्र के अलंकारों से पानी से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक सूक्ष्म बातें बतलाई गई हैं। वही बातें वैशेषिक दर्शन में दोहराई गई हैं। कणादमुनि कहते हैं कि **'द्रवत्वात् स्यन्दनम्'**[१], अर्थात् तरल होने से पानी बहता है। बहने का कारण नीची भूमि है। जहाँ नीची भूमि होगी वहीं पानी जाएगा और जहाँ नीची भूमि न होगी वहाँ नहीं जाएगा। यदि किसी ओर भी नीची न होगी तो कहीं नहीं जाएगा। आकाश की ओर निचाई-ऊँचाई नहीं है, इसलिए वहाँ पानी अपनी सतह (Level) को बराबर कर लेता है। इस समान सतह से पानी में हलचल उत्पन्न करने की पहली विधि यह है कि **'नाड्यो वायुसंयोगादारोहणम्'**[२], अर्थात् नली से वायु के निकाल लेने पर पानी ऊपर चढ़ता है। वायु निकालते जाइए पानी ऊपर चढ़ता जाएगा। आजकल के पानी के पम्प इसी सिद्धान्त पर काम करते हैं। पानी को ऊपर चढ़ाने की एक दूसरी विधि भी है। कणादमुनि कहते हैं कि **'नोदनापीडनात् संयुक्तसंयोगाच्च'**[३] अर्थात् ढकेलने और दबाने से भी वह ऊपर चढ़ता है। पिचकारी में पानी भरकर जब डण्डी से दबाते हैं तब ऊपर जाता है और कोई चीज़ छानते समय जब हाथ से निचोड़ते हैं तब भी वह बाहर निकल पड़ता है। अथवा दोनों प्रयोगों से उसमें गति होती है। इन तीनों सूत्रों में पानी का लेवल और उसमें गति पैदा करने की विधि बतलाई गई है। साथ ही यह भी बतलाया गया है कि यह सारी क्रिया वायु के ही प्रयोग से हो सकती है। अन्त के सूत्र में कहा है कि **'वैदिकञ्च'**[४] अर्थात् वैदिकों—याज्ञिकों का यही मत है। ज्ञात हुआ कि वायु के सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा याज्ञिक लोग पानी में क्रिया उत्पन्न करने का ज्ञान रखते थे। जिस सिद्धान्त से वे लोक के

१. वै० द० ५।२।४
२. वै० द० ५।२।५
३. वै० द० ५।२।६
४. वै० द० ५।२।१०

पानी को वायु की सहायता से अनायास ही ऊपर चढ़ा देते थे, उसी सिद्धान्त से वे जब चाहते थे तब वायुविद्या से पानी को नीचे भी उतार लेते थे—बरसा भी लेते थे। वेद में लिखा है कि **'निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'**[१] अर्थात् इच्छानुसार पानी बरसे। इच्छानुसार पानी बरसने का यही कारण है कि वैदिक आर्य वायुविद्या के द्वारा मनचाहे समय पर पानी बरसा लेते थे।

यज्ञों के द्वारा वायुचक्र में गति उत्पन्न करके पानी बरसाना तब तक नहीं हो सकता जब तक अग्निविद्या का ज्ञान न हो। याज्ञिकों को अग्निविद्या का ज्ञान बहुत ऊँचे दर्जे का था। अग्नि के द्वारा सूर्यताप उत्पन्न करके वायुचक्र में अनुकूल गति उत्पन्न कर देना ही अग्निविद्या का सबसे बड़ा चमत्कार है। यज्ञकर्त्ताओं को ज्ञात था कि अग्नि सर्वत्र है। उन्होंने ज्ञात कर लिया था कि जो अग्नि लकड़ियों को जला देता है वह इन लकड़ियों में भी भरा हुआ है। यही कारण है कि वे दो लकड़ियों को मथकर यज्ञ के लिए अग्नि निकालते थे। वेद में कहा गया है कि **'अग्निदूतं वृणीमहे'**[२], अर्थात् हम अग्नि को दूत नियत करते हैं। दूसरी जगह कहा गया है कि **'अग्निमीळे पुरोहितम्'**[३], अर्थात् अग्नि पुरोहित है। दोनों का तात्पर्य है कि हम पुरोहित अग्नि को दूत निश्चित करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि राजदूत=पुरोहित—ब्राह्मण ही होता है, अतः पुरोहितरूपी अग्निदूत वायु आदि देवताओं के पास भेजा जाए, किन्तु इस सूक्ष्म विज्ञान को न समझकर सेमिटिक धर्मप्रचारकों ने बड़ा ही अनर्थ कर डाला है। उन्होंने इस पुरोहित शब्द को 'फ़रिश्ता' बना डाला है। जिस प्रकार 'प' का 'फ़' करके कौपीन का कफ़न बनाया गया है और 'ह' का 'ज़' करके बाहु का बाज़ु किया गया है उसी प्रकार पुरोहित का पहले 'पुरिज़्ता' किया गया है और फिर 'ज़' का 'श' करके फ़रिश्ता कर दिया गया है।

वेद में कहा गया है कि अग्निरूपी पुरोहित ही दूत है। उसी को सेमिटिक कहते हैं कि फ़रिश्ता आतशी, अर्थात् आग्नेय होते हैं। वेद में अग्नि और सूर्य की किरणों का नाम 'सुपर्ण' भी है और सुपर्ण पक्षी को भी कहते हैं। उसी को सेमिटिक कहते हैं कि फ़रिश्तों के पर होते हैं। पारसियों के मन्दिरों में सूर्य का चित्र पक्षी की शकल का ही बनाया गया है। हमारे यहाँ भी विष्णु (सूर्य) का वाहन गुरुड़ पक्षी ही है। कहने का भाव यह कि याज्ञिकों ने जो अग्नि को दूत बनाकर और अन्तरिक्ष के राजा वायु के पास भेजकर पानी बरसाने का सूक्ष्म विज्ञान निकाला था, उसका ऐतिहासिक प्रमाण भी मिलता है।

वेदों में आकाश की सबसे बड़ी शक्ति को इन्द्र कहा गया है। उसी के अधीन वर्षा है। उस इन्द्र को मरुत्सखा कहा गया है। अग्निदूत जब मरुत में प्रेरणा करता है तब वह इन्द्र के द्वारा वृष्टि करता है। इस प्रकार की सूक्ष्म साइंस जो वायु, जल और अग्नि से सम्बन्ध रखती है, वेदों में विस्तार से वर्णित है, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि याज्ञिक लोग पदार्थविद्या नहीं जानते थे अथवा यज्ञों में पदार्थविज्ञान की आवश्यकता नहीं होती थी। यहाँ इस विषय का इतना ही दिग्दर्शन कराकर अब हम उन यन्त्रों का भी वर्णन कर देना चाहते हैं जो उन्होंने ग्रहों के वेध और वायुचक्र की गति जानने के लिए तैयार किये थे।

हम पहले ही वेद के प्रमाण से लिख चुके हैं कि ग्रहों की चाल जानने के लिए याज्ञिकों के पास वेधचक्र और तुरीययन्त्र (दूरबीन) था। इसी प्रकार उनके पास कम्पास भी था। कम्पास का सिद्धान्त चुम्बक की सुई पर अवलम्बित है। हम देखते हैं कि वैशेषिक ५।१।१५ में कणाद

---

१. यजुः० २२।२२ २. साम० २

३. ऋ० १।१।१

मुनि लिखते हैं कि '**मणिगमनं सूच्याभिसर्पणमित्यदृष्टकारणम्**', अर्थात् लोहे के चुम्बक की सुई की ओर दौड़ने का कारण अदृष्ट है। यह लोहचुम्बक सुई के अस्तित्व का प्राचीनतम प्रमाण है। इसी प्रकार हस्तलिखित शिल्पसंहिता जो गुजरात अणहिलपुर के जैनपुस्तकालय में है, उसमें ध्रुवमत्स्य यन्त्र बनाने की विधि स्पष्ट रूप से लिखी मिलती है। इसके साथ ही उसी शिल्पसंहिता में थर्मामीटर और बारोमीटर बनाने की भी विधि लिखी हुई है। वहाँ लिखा है कि '**पारदाम्बुज-सूत्राणि शुक्लतैलजलानि च बीजानि पांसवस्तेषु०**' अर्थात् पारा, सूत, तेल और जल के योग से यह यन्त्र बनता है। शिल्पसंहिताकार कहते हैं कि इस यन्त्र से ग्रीष्म आदि ऋतुओं का निर्णय होता है और जाना जाता है कि कितनी सर्दी और गर्मी है। इसका वर्णन सिद्धान्तशिरोमणि में भी है। इसके अतिरिक्त याज्ञिकों ने वैदिक काल में समय जानने के लिए धूपघड़ी, जलघड़ी और बालुकाघड़ी का भी निर्माण कर लिया था। ज्योतिषग्रन्थों में लिखा है कि—

तोययन्त्रकपालाद्यैर्मयूरनरवानरैः। ससूत्ररेणुगर्भैश्च सम्यक्कालं प्रसाधयेत्॥

अर्थात् जलयन्त्र से समय जाना जाता है अथवा मयूर, नर और वानर आकृति के यन्त्र बनाकर उनमें बालू भरने और एक ओर का रेणुसूत्र दूसरे में गिरने से भी समय जानने का यन्त्र बन जाता है। इस प्रकार के दूरबीन, कम्पास, बारोमीटर और घड़ी आदि यन्त्रों के बन जाने से आदिम याज्ञिकों को ग्रहों की चाल, उनसे उत्पन्न हुए वायुवेग की दिशा, गर्मी का पारा और समय आदि का ज्ञान सम्पादन करने में सुविधा होती थी। इतना ही नहीं, किन्तु उन्होंने एक 'स्वयंवह' नामी यन्त्र भी बना लिया था जो गर्मी या सर्दी पाकर अमुक वेग से आप-ही-आप चलने लगता था। इसका वर्णन सिद्धान्तशिरोमणि में इस प्रकार आया है—

तुंगबीजसमायुक्तं गोलयन्त्रं प्रसाधयेत्। गोप्यमेतत् प्रकाशोक्तं सर्वगम्यं भवेदिह।

अर्थात् पारा भरकर इस गोलयन्त्र को बनावे। यह यन्त्र थोड़ी-सी भी हवा चलने से, गर्मी पाकर आप-ही-आप चल पड़ता था।

तूफ़ान जानने या मोनसून जानने के लिए आज तक जितने यन्त्र बनें हैं, इसकी विशेषता को एक भी नहीं पहुँचा। इन सब यन्त्रों का आविष्कार केवल पानी बरसानेवाले यज्ञों के लिए ही नहीं हुआ था, प्रत्युत भैषज्ययज्ञ में भी इनका प्रयोग होता था। इस वर्णन से यहाँ इतना ही दिखलाने का प्रयोजन है कि यज्ञों में वैज्ञानिक सूक्ष्म ज्ञान की आवश्यकता थी, जिसकी पूर्ति वैदिक याज्ञिकों ने कर ली थी। अब आगे हम देखना चाहते हैं कि यज्ञों में कला-कौशल की भी आवश्यकता है या नहीं।

यज्ञों में कला-कौशल, कृषि और पाकशास्त्र

आजकल जिसको 'इण्डस्ट्री' कहते हैं, वैदिक काल में उसी को शिल्पशास्त्र अथवा कलाज्ञान कहते थे। इसके जाननेवाले विश्वकर्मा या शिल्पी कहलाते थे। यज्ञमण्डप, कुण्ड, यज्ञपात्र, शस्त्रास्त्र, शकट और रथ आदि जितने कारीगरी से सम्बन्ध रखनेवाले याज्ञिक पदार्थ हैं सबका समावेश उक्त शास्त्र में किया जा सकता है। यज्ञपात्र मिट्टी, काष्ठ, पत्थर, कांस्य, लकड़ी, तांबा, पीतल, सोने और चाँदी आदि के होते थे। यज्ञों में अनेक प्रकार के अन्नों और ओषधियों की भी आवश्यकता होती थी, इसलिए उनके उत्पन्न करने में जिन औज़ारों की आवश्यकता होती थी वे भी बनाये जाते थे। हल, फाल आदि जोतने के, चक्र आदि पानी निकालने के और

भूमि खोदने, काटने, पीटने, पीसने, कूटने आदि के सभी यन्त्र बनाये जाते थे। इसी प्रकार यज्ञरक्षा के लिए बाणों से लदी हुई गाड़ियाँ और रथ भी होते थे। उनके बनाने के भी सब साधन थे। पञ्चमहायज्ञों के स्रुवा, प्रणीता से लेकर अश्वमेध यज्ञ के युद्ध उपकरणों तक सभी कारीगरी के पदार्थ बनाये जाते थे। वीणा, मृदङ्ग आदि संगीत के, शङ्ख-घण्टा आदि उत्सव के और रणभेरी आदि युद्धों के वाद्य भी बनाये जाते थे। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिक काल के याज्ञिक पदार्थ संख्या में बहुत थे। एक चक्रवर्ती राजा से लेकर एक साधारण किसान तक के आवश्यक यन्त्र और शास्त्रास्त्र तैयार होते थे। कपास और ऊर्ण वस्त्रों की भी यज्ञों में आवश्यकता होती थी, क्योंकि पुरुषों और स्त्रियों को अधो और उत्तरीय वस्त्र पहनकर यज्ञ में आना पड़ता था। इसी प्रकार सत्तू छानने के लिए ऊर्णसूत्र से मढ़ी हुई तितउ (छाननी) और शूर्प की भी आवश्यकता होती थी। वस्त्रों के बुनने और सूत कातने के औज़ार भी बनाये जाते थे। कहाँ तक गिनावें, सभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ उपस्थित थे और सब यज्ञों के लिए ही थे, शौक़ के लिए नहीं।

उन दिनों में कारीगरी का मान भी बहुत था। यजुर्वेद में **'कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमः'*** के अनुसार कुम्हार और बढ़इयों से लेकर जितने कारीगर हैं सबके लिए आदर और अन्न की व्यवस्था बतलाई गई है। शिल्पियों और रथकारों को यज्ञ में सम्मिलित होने का भी आदेश है और इनका दर्जा ब्राह्मणों के बराबर दिया गया है, इसीलिए उस समय के आर्य कला-कौशल के द्वारा विश्वविजयी होकर 'अश्वमेध' कर सकते थे, क्योंकि कला-कौशल की महिमा महान् है। इस कला-कौशल में यज्ञों के पात्रों की बड़ी महिमा है। उनके बनाने में बड़ी कारीगरी है। वे पदार्थों के रखने और यज्ञ का काम चलाने के लिए बनाये जाते थे, इसलिए इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खा जाता था कि उनका अच्छी प्रकार उपयोग हो सके। इन पात्रों में बहुत-से खाद्य द्रव्य भी रक्खे जाते थे, क्योंकि यज्ञों में पाकशास्त्र का भी विशेष स्थान है। पाक का सम्बन्ध कृषि से है, इसलिए यहाँ कृषि और पाक का वर्णन भी होना आवश्यक है।

यज्ञों में ओषधियों के अतिरिक्त जौ, चावल, तिल, सत्तू, हवि, करम्भ, मालपुवा और भात आदि का भी हवन होता है। बग़ीचों के अनेक मेवों और जंगलों की अनेक जड़ी-बूटियों का भी हवन होता है। दोनों का कृषि से सम्बन्ध है, इसलिए यज्ञों के प्रकरण में कृषि का स्थान बहुत विशेष है। वेदों में खेती का वर्णन विस्तार से आया है तथा अनेक प्रकार के अन्नों के नाम भी आते हैं। वहाँ लिखा है कि **'सीरा युञ्जन्ति कवयः,[१] सीते......अर्वाची सुभगे भव,[२] युनक्त सीरा,[३] शुनं वाहाः,[४] शुनं सुफालाः'[५]**, अर्थात् बड़े-बड़े विद्वान् हलों को जोड़ते हैं। हे हल की फाल! हमारे लिए कल्याणदायक हो। हल को चलाओ। बैलों और हल की फाल को चलाओ। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में कहा है कि **'यत्र वा अस्यै बहुलतया ओषधयस्तदास्या उपजीवनी-यतमम्',[६]** अर्थात् जहाँ ओषधियों की बहुलता होती है, वहीं जीवन का साधन—अन्न उत्पन्न होता है। कृषि के अतिरिक्त बाग़-बग़ीचे लगाना भी एक प्रकार का यज्ञ ही कहा गया है। इस यज्ञ का नाम 'इष्टापूर्त' है। इष्टापूर्त में कुवाँ और तालाब बनवाना तथा बाग़-बग़ीचे लगाना सम्मिलित है। बाग़ों से ही काष्ठ और यज्ञोपयोगी फल मिलते हैं। रहे जंगल, वे तो यज्ञों की जान ही हैं।

---

१. अथर्व० ३।१७।१
२. अथर्व० ३।१७।८
३. अथर्व० ३।१७।२
४. अथर्व० ३।१७।६
५. अथर्व० ३।१७।५
६. शत० १।३।३।१०
* यजुः० १६।२७

वेदों में जंगलों का विस्तृत वर्णन है। ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त[1] बड़े महत्त्व का है। आर्यों का एक आश्रम ही जिसका नाम वानप्रस्थ आश्रम है, जंगलों के आधार पर ही स्थित है। वनस्थों के लिए नित्य फल-मूल से यज्ञ करने का विधान किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि— **स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय,**[2] **बह्वन्नामकृषीवलाम्**[3], अर्थात् जंगलों से सुस्वादु फलों की और बिना खेती के ही बहुत-से अन्नों की प्राप्ति होती है। इसलिए यज्ञ के साधनों में खेती, जहाँ से हवनीय अन्न मिलते हैं, बग़ीचे जहाँ से समिधा मिलती हैं और अरण्य जहाँ से ओषधियाँ और नाना प्रकार की मेवा प्राप्त होती हैं, बहुत आवश्यक हैं। अन्न, समिधा और मेवों से ही पाक बनते हैं, अतः यज्ञों में पाकशास्त्र का भी महत्त्व कम नहीं है।

यज्ञों के लिए वेदों में हवि, करम्भ, सत्तू और मालपुए तथा ओदन बनाने का वर्णन आता है। यजुर्वेद २०। २९ में '**धानावन्तं करम्भिणम्**' मन्त्र आया है, जिसका अर्थ यह है कि हे इन्द्र! प्रातःकाल हमारे धानवाले पदार्थ, दहीमिश्रित सत्तूवाले करम्भ और मालपुएवाले उक्थ के पुरोडाश का सेवन कीजिए। अथर्ववेद में ओदन तथा यजुर्वेद में हवियों का वर्णन भी आता है, इसलिए वैदिक याज्ञिक पाकशास्त्र में बहुत ही कुशल प्रतीत होते हैं। इसका कारण यही है कि आर्यों के धर्मानुसार और उनकी प्रवृत्ति के अनुसार तो जो कुछ पकाया जाए वह यज्ञ के ही लिए पकाया जाए, अपने लिए नहीं, क्योंकि लिखा है कि जो केवल अपने लिए पकाता है वह निरा पाप खाता है*, अतः यज्ञशिष्ट ही खाना चाहिए। यज्ञ का प्रसाद ही अपना भोजन है। यह भी इसलिए कि यदि इसमें इतना भी मनुष्य का स्वार्थ न होगा तो वह हवनीय पदार्थों को उत्तमत्ता के साथ न पकाएगा, अर्थात् जैसे-तैसे बना डालेगा, परन्तु पुरोडाश—प्रसाद पाने के लोभ से उत्तम बनाएगा। पाक की उत्तमता खाने से ही ज्ञात होगी और यदि त्रुटि होगी तो वह दूसरे दिन दूर की जा सकेगी, इसलिए प्रसाद के तौर पर यज्ञान्न खाया जाता है, अन्यथा वैदिकों का वास्तविक भोजन तो फल और दूध ही है। दूध के बिना घृत और दधि प्राप्त नहीं हो सकता, और बिना दूध-घृत के हवि, अपूप, करम्भ आदि नहीं बन सकते। दूध-घृत आदि पशुओं से प्राप्त होते हैं, अतः यज्ञ में पशुपालन भी एक प्रधान कार्य है, अतएव पाकशास्त्र के साथ ही पशुपालन पर भी प्रकाश डालना प्रकरणान्तर न होगा।

यज्ञों में पशुपालन और चरभूमि

यज्ञों में अनेक प्रकार के पशुओं की आवश्यकता होती है। इन पशुओं का नाम वेद में ग्राम्यपशु है। इन ग्राम्यपशुओं में गाय, भैंस, बकरी, भेड़ी, घोड़ा, कुत्ता और सुवर यज्ञपशु हैं। यज्ञ में इन पशुओं का उपयोग होता है। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि '**कतमः प्रजापतिरिति, यज्ञः प्रजापतिरिति, कतमो यज्ञ इति पशव इति**'[4], अर्थात् प्रजापति क्या है? प्रजापति यज्ञ है। यज्ञ क्या है? पशु ही यज्ञ है। यहाँ पशु को यज्ञ और प्रजापति कहा गया है। मनुष्य उन्हीं से पालित होते हैं और यज्ञ भी उन्हीं से सम्पन्न होते हैं, इसलिए वही प्रजापति और यज्ञ हैं। इन यज्ञीय पशुओं में गाय का स्थान सर्वश्रेष्ठ है, क्योंकि यज्ञ की प्रधान वस्तु घी और अन्न गाय और बैलों से ही प्राप्त होता है। भैंस और बकरी भी दूध-घृत से सहायता पहुँचाती हैं। भेड़ी दूध और रोम से यज्ञ को लाभ पहुँचाती है। बैल हल में तथा बाणों से लदे हुए छकड़ों में काम आते हैं। घोड़ा

---

१. ऋ० १०।१४६ २. ऋ० १०।१४६।५

३. ऋ० १०।१६४।६ ४. शत० ११।६।३।९

* केवलाघो भवति केवलादी।—ऋ० १०।११७।६

अश्वमेध में काम आता है और घुड़सवार सेना में भी काम आता है तथा रथों को भी खींचता है। कुत्ता रखवाली करता है और सुवर सफ़ाई करता है। सफ़ाई के प्रकरण में सुवर का बहुत बड़ा माहात्म्य है। जितने यज्ञीय पशु हैं उनमें सुवर की भी गिनती है। भागवत में इसे स्पष्ट ही 'यज्ञ' कहा गया है। वहाँ लिखा है कि **'छान्दांसि यस्य त्वचि बर्हिरोमस्वाज्यं दृशि त्वंघ्रिषु चातुर्होत्रम्',**[१] अर्थात् शूकर यज्ञरूप है, गायत्र्यादि उसकी त्वचा हैं, रोम कुश हैं, दृष्टि घृत और चारों पैर यज्ञ के चारों ऋत्विज हैं। यही बात पद्मपुराण में इस प्रकार लिखी है कि **'अग्निजिह्वा दर्भलोमा ब्रह्मशीर्षो महातपः'**[२], अर्थात् उसकी जिह्वा अग्नि है[३], रोम कुश हैं और शिर ब्रह्म है। निस्सन्देह शूकर इतना ही उपकारी है। यह यज्ञरूप ही है। जो सार्वजनिक स्वास्थ्य की रक्षा करता हो वह यज्ञ ही है। शतपथ में लिखा है कि **'यज्ञो वै विष्णुः'**[४], अर्थात् यज्ञ ही विष्णु है। यहाँ शूकर यज्ञ कहा गया है, इसीलिए उसे विष्णु का अवतार कहते हैं। विष्णु का अर्थ पालनकर्त्ता है। निस्सन्देह मनुष्यों के पालन करने से शूकर विष्णु ही है, क्योंकि यज्ञ में सुवर के द्वारा सफ़ाई-सम्बन्धी जो लाभ होता है वह तो अत्यन्त ही उपयोगी है, परन्तु उसके सिवा उसके बालों का यज्ञ में 'दर्भकूर्च' भी बनाया जाता है। अभी आप पढ़ चुके हैं कि उसके रोम कुश हैं। यज्ञ में झाड़ने-माँजने के लिए इन्हीं बालों का कूर्च बनाया जाता है। कपड़ा बुननेवाले अब तक इसके बालों का कूर्च बनवाते हैं, जिसको वे कूँची कहते हैं। उसी के बालों से बनी हुई छोटी ब्रुश को सभी लोग कूँची कहते हैं। इस प्रकार यह सुवर यज्ञ में अपना विशेष स्थान रखता है, इसलिए वह यज्ञपशु है।

यज्ञ के समय दूध-दही देनेवाले और घोड़े आदि पशु वहाँ विद्यमान रहते हैं। उनके बड़े-बड़े झुण्ड लाकर यज्ञ के पास बाँध दिये जाते हैं। जहाँ बाँधे जाते हैं, वह स्तम्भ 'यूप' कहलाता है। इनके वहाँ बाँधने के दो प्रयोजन हैं। एक तो यह कि समय पर दूध की आवश्यकता पड़े तो तुरन्त ताज़ा दूध निकाल लिया जाए। दूसरा यह कि दान में देने के लिए शीघ्र ही गाय-घोड़े मिल जाएँ। उस समय लोग पशुओं को ही प्रायः धन मानते थे। धातु के सिक्के का उतना आदर न था। सोना गायों के सींगों में लगाने और चाँदी यज्ञपात्रों के काम आती थी। वैदिकों में धातु के आभरण पहनने का रिवाज बहुत ही कम था, इसलिए सोने का मूल्य भी बहुत कम था। उस समय पशु ही धन थे। दक्षिणी लोग अब तक पशुओं को धन ही कहते हैं, अतः वे लोग दक्षिणा में इन पशुओं को ही देते थे, अर्थात् गोदान, अश्वदान, अजादान करते थे। इसी से 'अश्वालम्भ', 'गवालम्भ' आदि कहा जाता था। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ के प्रकरण में पशुओं का विशेष स्थान है। वेदों में गोप, अश्वप आदि शब्द आते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक लोगों के पास पशुओं की अत्यधिकता थी और उनके चरने का पर्याप्त प्रबन्ध था।

यह मानी हुई बात है कि चर-भूमि के बिना पशु रह ही नहीं सकते। जिस प्रकार पशुओं को प्रजापति कहा गया है उसी प्रकार वृक्षों को 'पशुपति' कहा गया है। तृण और वृक्षादि ही पशुओं का पालन करते हैं, इसीलिए वेदों में पशुओं के चरने की भूमि के अनेक नाम दिये हुए हैं। जहाँ

---

१. भागवत ३।१३।३६

२. पद्मपु० सृष्टि १६।५६

३. जिस प्रकार अग्नि मल को जला देता है और वायु को शुद्ध कर देता है उसी प्रकार शूकर भी मल को नष्ट कर देता है, इसीलिए शूकर 'अग्निजिह्वा' कहलाता है।

४. शत० १।१।२।१३

गाएँ चरती हों उसका नाम 'व्रज' है। युक्तप्रान्त[१] में मथुरा के आसपास व्रज की मर्यादा ८४ कोस की थी। वहाँ ८४ कोस तक गोचर भूमि थी। इसी प्रकार वेद में घोड़ों के चरागाह को 'अर्व' कहते थे। हाल का अर्वस्तान घोड़ों के चरने का ही स्थान था। जैसे ये स्थान थे वैसा ही भेड़ों के चरने का स्थान 'गान्धार' कहलाता था। याज्ञिक काल में इतने-इतने बड़े भूभागों में एक-एक जाति के पशुओं के लिए चरागाह नियत होते थे। वैदिक काल के बाद इन चरागाहों का नाम बदल गया। मध्यम काल में इनका नाम वनचर और पशुचर हो गया। फ़ारसी का 'बनजर' शब्द (जो आजकल पटवारियों के काग़जों में पड़ती भूमि के लिए लिखा जाता है) 'वनचर' का और अंग्रेज़ी का 'पाश्चर' शब्द 'पशुचर' का ही अपभ्रंश है। शतपथब्राह्मण और बौद्धकालिक ग्रन्थों के हवाले से टी०डबलू० रिस डेविड्स एलएल०डी०, पीएच०डी० ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि—

'चरागाहों और जंगलों के अधिकारों की ओर अधिक ध्यान दिया जाता था। पुरोहित सर्वदा इस बात की इच्छा करते थे कि किसी यज्ञादि करने के बदले उन्हें ऐसी ही भूमि की प्राप्ति हो। दानपत्र लिखने में इस बात का विशेष ध्यान रहता था कि इसमें इस प्रकार के एकाध चरागाह या जंगल ही रहें'[२]। इस प्रकार के इन वैदिक और ब्राह्मणकालिक प्रमाणों से सिद्ध है कि प्राचीन याज्ञिक आर्य किस प्रकार पशुचर भूमि का ध्यान रखते थे। यही कारण है कि उनके चरागाहों में आज व्रज, अर्व और गान्धार जैसे प्रदेश बसे हुए हैं। उस समय यह एक बहुत बड़ा कार्य समझा जाता था कि पृथिवी के किन-किन भागों में कौन-सौन से पशु उन्नत हो सकते हैं। अथवा किस भूमि को किस पशु के योग्य बनाना चाहिए। उनका यह भौगोलिक ज्ञान और प्रयत्न उस समय 'गोमेधयज्ञ' के नाम से प्रसिद्ध था, परन्तु कुछ लोग गोमेध का अर्थ गोवध ही करते हैं और बहुत-से पाश्चात्य विद्वान् कहते हैं कि प्राचीन आर्य गाय का वध करके उसी के मांस से यज्ञ किया करते थे, परन्तु पारसियों की पवित्र पुस्तकों के स्वाध्याय से डॉक्टर मार्टिन हाग (जो ज़न्द भाषा के प्रकाण्ड पण्डित हैं) कहते हैं कि गोमेध का अर्थ गोवध नहीं, प्रत्युत उसका अर्थ भूमि को उर्वरा बनाकर वनस्पति उगने योग्य कर देना है। उन्होंने इस प्रकार की केवल कल्पना ही नहीं की, किन्तु ज़न्दभाषा से गोमेध का अपभ्रंश 'गोमेज़' शब्द भी निकालकर रख दिया है। इस शब्द के प्राप्त हो जाने से गोमेध शब्द पर अपूर्व प्रकाश पड़ा है। गोमेज़ शब्द पर लिखते हुए हाग साहब कहते हैं कि 'पारसी धर्म में खेती करना धर्म समझा जाता है, अत: खेतीधर्म से सम्बन्ध रखनेवाले समस्त क्रियाकलाप का नाम गोमेज़ है'[३]। इस खोज को शतपथब्राह्मण के प्रमाण से स्वामी दयानन्द ने ६० वर्ष पूर्व लिखा था कि '**अन्न ़ हि गौ**'[४] अर्थात् अन्न ही का नाम गौ है। रहा 'मेध' शब्द, वह तो मेधा और मेधावी अर्थ में आता ही है। मेधा का अंग्रेज़ी अनुवाद 'कलचर' है। कलचर शब्द कृषि के लिए आता ही है, अत: अन्न के योग्य—उत्तम खेती के योग्य भूमि तैयार करने का ही नाम 'गोमेध' सिद्ध होता है।

---

१. अब उत्तरप्रदेश

२. Great importance was attached to these rights of pastures and forestry. These priests claimed to be able, as one result of performing a particular sacrifice, to ensure that a wide tract of such land should be provided (Sat. B. 13.3.7). And it is often made a special point, in describing the grant of a village to a priest, that it contains such common lands. (Dialogue of Buddha, p. 48)—The Story of the Nations, Buddhist India, by T.W. Rhys Davids, LL.D., Ph.D.

३. The Pārsi religion enjoins agriculture as religious duty and this is the whole meaning of 'Gomez'.
—*Essays on the Sacred Language,* Writings and Religion.

४. शत० ४।३।४।२५

इसका तात्पर्य यही है कि जहाँ की भूमि, गौएँ और अन्न क्रम से उर्वरा, बलवान् और स्वादिष्ट हो उस स्थान को 'गोमेध' कहते हैं और ऐसी भूमि बनाने को या नई भूमि खोजकर उसको इस योग्य बनाने के पुण्यकार्य को 'गोमेधयज्ञ' कहते हैं। इसी गोमेधयज्ञ के कारण आर्यलोग पृथिवी के अनेक भागों में व्रज, अर्व और गान्धार आदि स्थापित करते थे और वनचर तथा पशुचर भूमियों का विस्तार करते थे। चरभूमि का देना अथवा ऐसी भूमि मोल लेकर चरने के निमित्त छोड़ना अथवा ऊबड़-खाबड़ भूमि को इस योग्य बना देना कि उसमें हर प्रकार के अन्न, घास, बाग़ और जंगल हो सकें आर्यसभ्यता का विशेष गुण था। इस काम के लिए उनको सुदूर भूभागों का भौगोलिक ज्ञान रखना आवश्यक होता था। हम भौगोलिक ज्ञान के वर्णन में लिख आये हैं कि वेदों में समुद्र से नई भूमियों के निकलने और समुद्रों के बीच में बड़े-बड़े द्वीपों की ख़बर रखने का आदेश है, अतएव आर्यलोग इस चरभूमि के उद्देश्य से नई-नई भूमि खोजते थे और उनको गोमेधयज्ञ के द्वारा ठीक करके जिसको जिस पशुसमूह के योग्य समझते थे वहाँ वही पशुसमूह रखकर मनुष्यों की जनसंख्या को बढ़ाते थे और यज्ञों का प्रचार करते थे। इस कार्य के लिए उनमें शासनव्यवस्था, राज्यसङ्गठन, सेना और अन्य बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय भावनाओं का उदय हुआ था। उन्होंने इस तत्त्व को हल कर लिया था कि जब तक संसारभर एक ही शासन के नीचे न हो जाए तब तक न तो मनुष्यों को ही सुख हो सकता है और न पशुओं को ही, अतः उन्होंने अश्वमेध यज्ञ का आविष्कार किया। यहाँ थोड़ा-सा हम इस अश्वमेध के विषय में भी प्रकाश डालते हैं।

यज्ञों में सार्वभौम राज्य

शतपथब्राह्मण में लिखा है कि **'राष्ट्रं वा अश्वमेधः......तस्माद्राष्ट्र्यश्वमेधेन यजेत।**[१] **अश्वमेधयाजी सर्वा दिशोऽभिजयन्ति'**[२], अर्थात् राष्ट्र ही अश्वमेध है, इसलिए राष्ट्रवादी को अश्वमेध करना चाहिए, क्योंकि अश्वमेध करनेवाला समस्त पृथिवी को जीत लेता है।

इस वर्णन से पाया जाता है कि आर्यों के समस्त बड़े-बड़े याज्ञिक आविष्कारों में अश्वमेधयज्ञ भी एक विशेष स्थान रखता है। जहाँ गोमेधयज्ञ के लिए समस्त पृथिवी की आवश्यकता है वहाँ अश्वमेध के भीतर सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का मन्त्र भरा हुआ है। पहला, बिना इस दूसरे के पूर्ण ही नहीं हो सकता। आर्यों की अभिलाषा थी कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनुस्मृति [२।२०]

अर्थात् इस ब्रह्मावर्त देश के आदि ब्राह्मणों से समस्त भूमण्डल के मनुष्य गुण-कर्मानुसार अपना-अपना चरित्र सीखें।

इसका यही तात्पर्य था कि समस्त संसार के लोग एक जाति, एक धर्म, एक भाषा, एक आचारण और एक राष्ट्र में आबद्ध होकर रहें, जिससे मनुष्य, पशु-पक्षी, तृण-पल्लव, कीट-पतङ्ग किसी को भी दुःख न हो, इसीलिए पूर्वकाल में बड़े-बड़े नरेश जब शक्तिसम्पन्न होते थे तब एक बार अपना प्रभुत्व स्थापित करके वैदिक धर्म और वैदिक यज्ञों का प्रचार करने के लिए अश्वमेधयज्ञ अवश्य करते थे और यज्ञ विद्वेषी अनार्यों—म्लेच्छों को दण्ड देकर उस देश को यज्ञोपयोगी बनाते थे। इस यज्ञ में एक श्यामकर्ण घोड़ा छोड़ दिया जाता था। उसके पीछे बड़े-

---

१. शत० १३।१।६।३

२. शत० १३।१।२।३

बड़े योद्धा बड़ी सेना और युद्ध के समस्त उपकरण लेकर चलते थे। जिस देश से वह निकलता था वहाँ का राजा या तो उस घोड़े के स्वामी की अधीनता स्वीकार कर लेता या उसे बाँधता था। यदि बाँधता था तो उसके साथ युद्ध होता था। युद्ध में यदि घोड़ेवाला राजा जीतता था तो बाँधनेवाला उसके अधीन हो जाता था और यदि हार जाता था तो वह अश्वमेधयज्ञ का अधिकारी नहीं रहता था। उस यज्ञ का अधिकारी वही होता था जो सब देशों से या तो अधीनता स्वीकार करा ले या उन्हें युद्धों में हरा दे। जब सब देश अधीन और परास्त हो जाते थे तब इसे 'चक्रवर्ती राजा' का पद मिलता था। वैदिक काल में इस प्रकार की भावना थी। ब्राह्मणों, महाभारत और पुराणों में ऐसे अनेक चक्रवर्ती राजाओं और अनेक अश्वमेधयज्ञों का वर्णन है। अश्वमेधयज्ञ करने का कारण सब मनुष्यों को एक समान सुख–दु:ख में सम्मिलित करना, दुष्ट राजाओं और यज्ञद्वेषी म्लेच्छों से प्रजा और याज्ञिकों का दु:ख दूर करना, गोमेधयज्ञ के द्वारा पृथिवी को उर्वरा बनाना और मनुष्यों तथा पशु–पक्षियों को सुख पहुँचाना ही था, क्योंकि यज्ञों का अभिप्राय सार्वजनिक सुखों की वृद्धि ही है। सार्वजनिक सुख तब तक नहीं हो सकते जब तक समस्त मानवसमुदाय समान सुख–दु:ख का भागी न हो जाए, अनेक जातीयता की भावना नष्ट न हो जाए और साम्यभाव न आ जाए। हम देखते हैं कि वेदों में साम्यभाव के सैकड़ों मन्त्र विद्यमान हैं। वेद संसार में साम्यभाव फैलाते हैं और वेद के यज्ञ सबको एक समान लाभ पहुँचाने के लिए ही किये जाते हैं, इसलिए पृथिवी में बसे हुए समस्त मनुष्यों को समान लाभ पहुँचाने की स्वाभाविक प्रेरणा से प्रेरित होकर ही अश्वमेध यज्ञ किया जाता था।

इस समय 'लीग आफ दी नेशन्स' के अन्दर, अर्थात् सब जातियों की महासभा के भीतर भी यही तत्त्व काम कर रहा है। यद्यपि उसके भीतर अभी शुद्ध भाव नहीं है, परन्तु विवश होकर संसार का यह पवित्र स्वाँग करना पड़ा है। इस बनावटी नाटक से ही सार्वभौम सिद्धान्त की सत्यता प्रकट होती है। विलायत के बड़े–बड़े राजनीतिविशारद अब इस चक्रवर्ती राज्य का स्वप्न देख रहे हैं। स्वामी दयानन्दजी सदैव ईश्वर से चक्रवर्ती राज्य की प्रार्थना करते थे। आज पश्चिम के विद्वान् भी वही बातें करने लगे हैं। वर्त्तमान 'लीग आफ़ नेशन्स' के विरुद्ध लिखता हुआ एक विद्वान् कहता है कि 'यदि मनुष्य को तबाही से बचना है तो सार्वभौमिक अध्यक्षता होनी चाहिए। उसके पास इतनी सेना होनी चाहिए कि वह ब्रिटिश और फ्रेंच सेनाओं से अधिक हो। हवाई तथा समुद्री जहाज़ इतने हों कि वे तमाम दुनिया से अधिक हों तथा समस्त राजकीय झण्डों के स्थान में एक ही सार्वभौम झण्डा लहराता हो'[१]।

ये चक्रवर्ती राज्य के आधुनिक स्वप्न हैं, परन्तु वैदिक याज्ञिकों को तो आदिम काल ही में यह सब सूझ चुका था। उन्होंने तो इसे यज्ञ स्वीकार करके धर्म में सम्मिलित कर लिया था, क्योंकि बिना इस यज्ञ के दूसरे यज्ञ निर्विघ्नता से हो ही नहीं सकते। बिना इसकी सहायता के गोमेधयज्ञ कैसे होगा? कैसे जंगलों और पशुओं की रक्षा होगी और कैसे मनुष्यजाति परस्पर प्रीति से रहेगी? धन्य हैं वे वेद और धन्य हैं वे यज्ञ जिनमें इतनी महान् भावना गर्भित है। इससे सहज ही ज्ञान करना चाहिए कि जिस यज्ञ में इतने बड़े सौर्वभौमिक राज्य का समावेश है, वहाँ खण्ड राज्यों का वर्णन क्या मूल्य रखता है, अर्थात् कुछ भी नहीं। सार्वभौम राज्य के प्रबन्ध

---

१. A league from which large sections of the world are excluded is no contribution to that need. It may be worse than nothing. If man is to be saved form destruction there must be a world control—such a world Goverment that should have might to supersede the British artillery, to surpass the French artillery and air-force superseding all navy and air forces. For many flags there must be one sovereign flag. —*Salvaging of Civilisation* by H.C. Wells.

करनेवाले, सेना, शस्त्र, युद्ध और रसद का प्रबन्ध जानते ही होंगे। यह कभी कहा ही नहीं जा सकता कि सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य बिना सेना और युद्धों के प्राप्त हो जाता है। ऋग्वेद का बड़ा भाग सेना और युद्धों के वर्णन से भरा हुआ है, क्योंकि युद्ध आर्यसभ्यता का एक आवश्यक अङ्ग है। अर्जुन को युद्ध से हटते हुए देखकर भगवान् श्रीकृष्ण ने स्पष्ट ही कहा था कि अर्जुन! तेरा यह मोह अनार्यभावयुक्त है, अर्थात् यह आर्यभावना नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञों के प्रकरण में सार्वभौम राज्य बहुत ही प्रभावशाली और ऐश्वर्यसम्पन्न अभिलाषा है, परन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यज्ञों में इसी प्रकार के रूखे-सूखे और जान को जोखिम में डालनेवाले विषयों का ही समावेश है अथवा याज्ञिक लोग ज्योतिष् आदि वैज्ञानिक और शुष्क विषयों में ही माथा मारा करते थे, प्रत्युत यह समझना चाहिए कि यज्ञ बड़े ही मनोरञ्जक होते थे। यहाँ हम उनकी मनोरञ्जकता का कुछ वर्णन करते हैं।

यज्ञों में ललित कला

ललित कला में काव्य, सङ्गीत और चित्रकला का समावेश होता है। इसे अंग्रेज़ी में 'फ़ाइन आर्ट्स' कहते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर ने अपने एजुकेशन नामी ग्रन्थ में लिखा है कि 'ललित कलाएँ उन्नति के फूल हैं'। सत्य है, जब सब प्रकार की उन्नति हो जाती है तभी कविता की सामग्री उत्पन्न होती है और उसी का सङ्गीत और चित्र में अङ्कन होता है। यज्ञ में ललित कलाओं का पूर्णरूप से समावेश है, इसलिए यज्ञ ललित कला के द्वारा मनुष्यों का रञ्जन भी करते हैं, क्योंकि यज्ञों में काव्य, सङ्गीत, चित्रण और सजावट का पूर्ण प्रबन्ध होता है। इससे मनुष्य का हृदय सदैव प्रफुल्लित रहता है। यह सभी जानते हैं कि मनोरञ्जन का सबसे उत्तम साधन सङ्गीत है। यज्ञों में सामगायन के लिए उद्‌गाताओं की नियुक्ति होती है जो सदैव वीणा के द्वारा सामगायन किया करते हैं। वीणा और मृदङ्ग स्वर और ताल के साथ बजते हैं। सात स्वरों के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से तीन ग्रामों के साथ श्रुति, मूर्च्छन और तानों को साममन्त्रों के द्वारा प्रकट किया जाता है, जिससे अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। सङ्गीत के आदि प्रचारक वैदिक याज्ञिक ही हैं। उनके निकाले हुए सात स्वरों के अतिरिक्त आज तक किसी ने आठवाँ स्वर नहीं ढूँढ निकाला। वीणा से उत्तम बाजा आज तक पृथिवीमण्डल में कोई नहीं बना पाया। वीणा का वर्णन वेदों में है, जिससे ज्ञात होता है कि सङ्गीत के मूल—सात स्वरों—के आदि प्रचारक याज्ञिक ही हैं। जर्मन का प्रसिद्ध विद्वान् 'वेबर' अपनी भारतीय साहित्य सम्बन्धी पुस्तक के पृ० २९७ पर लिखते हैं कि 'हिन्दुओं के सात स्वर—सा, रे, ग, म, प, ध, नी—की नक़ल ईरानियों ने की और दो, रे, मि, फ़, सो, ल, सि के रूप में परिवर्तित किया। फ़ारसवालों से लेकर 'गिडो' नामक अंग्रेज़ ने इनको दो, रे, मि, फ, सोल, लो, टी कर दिया। इस प्रकार फ्रांसीसियों का 'ग्राम' और अंग्रेज़ों का 'गेमट' शब्द भी संस्कृत के 'ग्राम' और प्राकृत के 'गम' का ही रूपान्तर है'[१], अत: यह विद्या याज्ञिकों की ही है।

ललित कला का दूसरा मनमोहक विषय काव्य है। वेद स्वयं काव्यरूप हैं। वेदों से अच्छी कविता आज तक संसार में कहीं नहीं हुई। पहले लोग कहा करते थे कि वेदों के भाव बड़े गूढ़ हैं, परन्तु जब से पश्चिम में छायावाद, रहस्यवाद और भाववाद की कविता का प्रचार हुआ है तब

१. The Hindu scale, sa, re, ga, ma, pa, dha, ni, has been borrowed also by the Persians, where we find it in the form do, re, me, fa, so, la, ci. It came to the west and was introduced by Guido of Arezzo in Europe in the form do, re, mi, fa, sol, lo, ti.

I have, moreover, hazarded the conjecture that even the *gamma* of Guido (French *Gramma* English *Gamut*), goes back on the Sanskrit *Grama* and Prakrita *Gama* and is thus a direct testimony of the Indian origin of our European Scale of seven notes.

से वेदों की काव्यछटा पर विशेष प्रकाश पड़ा है। वेदों की-सी छायामयी और भावमयी कविता, उनके-से व्यवस्थित और मुक्त छन्द तथा उनके-से मनुष्यसमाज के हर आवश्यक अङ्ग पर नवरसपूर्ण अलंकार संसार में अन्यत्र कहाँ हैं? वालिस महोदय अपनी 'Social Environment and Moral Progress' नामी पुस्तक में ठीक ही कहते हैं कि 'हमें स्वीकार करना चाहिए कि वे मस्तिष्क जिन्होंने ऐसे विचारों को जो इन वेद की ऋचाओं से प्रकट होते हैं, विचारा और उन्हें उपपन्न भाषा में प्रकट किया, किसी अवस्था में भी हमारे उत्तम-से-उत्तम धार्मिक शिक्षकों, कवियों, हमारे मिल्टनों और टेनिसनों से न्यून नहीं हैं'। वीणा के साथ ताल, स्वर और अनेक प्रकार की तानों के साथ गाई जानेवाली इतनी उत्कृष्ट कविता के श्रवणसुख का आनन्द बिना सुने कैसे वर्णित किया जा सकता है? ऐसी कविता सुनकर और समझकर भी यदि किसी का मनोरञ्जन न हो तो समझना चाहिए कि मनोरञ्जन उसके भाग्य में है ही नहीं।'

ललित कला की तीसरी महान् वस्तु चित्रकला है। गृहप्रवेश और महादेवों की प्रतिष्ठा के समय सभी ने देखा होगा कि अनेक रङ्ग के अन्नों से किस प्रकार यज्ञवेदियाँ चित्रित की जाती हैं। यह तो इस पतन के समय का दृश्य है। प्रौढ़ यज्ञकाल में बहुत ही बड़ी चित्रकला का प्रदर्शन होता था। यज्ञों में अनेक पक्षियों की शकल के कुण्ड होते थे। उनके पंख, पुच्छ और चोंच आदि रूप उसी-उसी रंग के बनाये जाते थे जैसे उन पक्षियों के होते हैं। इससे यही प्रतीत होता था कि बड़ी शकल में साक्षात् वही पक्षी बैठा है। इसके अतिरिक्त ध्वजा, पताका, तोरण और बन्दनवारों से यज्ञवेदी, मण्डप और यज्ञप्रदेश को इतना दिव्य, चित्ताकर्षक और मोहक बनाया जाता था कि आँखों की पूर्ण तृप्ति हो जाती थी। हाँ, आजकल की भाँति विदेशी चुड़ैलों के नंगे चित्र नहीं लगाये जाते थे। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ में मनुष्य की पाँचों इन्द्रियों की तृप्ति होती थी। सङ्गीत से कान, चित्रकला और सजावट से नेत्र, हवन की सुगन्धि से नासिका, नाना प्रकार के हविष्यान्न, मधुपर्क और फलों के पुरोडाश (भोजन) से जिह्वा और सायं-प्रातः आग्नेय हवन की गर्मी से तथा अपराह्न में जलीय यज्ञ (तर्पण) की सर्दी से त्वचा की तृप्ति होती थी। इस प्रकार यज्ञ लौकिक सुखों को पूर्ण रीति से पहुँचाकर कान आदि स्थूल और मन आदि सूक्ष्म इन्द्रियों का भी रञ्जन करते थे। कुटुम्ब, इष्टमित्र, भाईबन्धु, विद्वान्, राजा और सेठ-साहूकारों का समारोह, चक्रवर्ती राज्य का उत्साह आदि सभी इस लोक से सम्बन्ध रखनेवाले स्वर्गीय सुख यज्ञों से मिलते थे, इसलिए यज्ञप्रकरण में मनोरञ्जन की कमी नहीं थी, परन्तु यज्ञ कोरे मनोरञ्जक ही न थे। वहाँ विद्वत्ता भी थी। यज्ञों में व्याकरण, निरुक्त और स्वरशास्त्र का समावेश था।

यज्ञों में व्याकरण, स्वरविद्या और लिपिकला

हम पिछले पृष्ठों में लिख आये हैं कि वैदिकों के विश्वासानुसार यज्ञों में वेदपाठ करते समय एक वर्ण या तनिक-सी स्वर की भी ग़लती यज्ञकर्त्ता यजमान का नाश कर देती है। इसका तात्पर्य यही है कि वेदपाठ अशुद्ध न हो। थीबो साहब कहते हैं कि 'उच्चारणसम्बन्धी नियमों का आविष्कार इसीलिए हुआ था कि अशुद्ध उच्चारण से यज्ञकर्त्ता यजमान का अनिष्ट हो जाएगा'[१]। इसी प्रकार आर०सी० दत्त महोदय कहते हैं कि 'आर्यों का व्याकरण और दर्शन भी धर्म से ही सम्बन्ध रखते हैं'[२]। इसका कारण यही है कि व्याकरण और स्वर से वेदों का पाठ अशुद्ध नहीं होता। पाठ अशुद्ध न होने से अर्थ ठीक रहता है और वेदों की आज्ञाओं पर सन्देह नहीं होता।

---

१. The laws of phonetics were investigated, because the wrath of the gods followed the wrong pronunciation of a single letter of the sacrificial formulæ.

२. Grammer and philosophy, too, were similarly inspired by religion.

आज्ञापूर्वक व्यवहार करने से कल्याण होता है और अनर्थ से उत्पन्न अज्ञान के अनुसार कार्य करने से अनिष्ट होता है, इसलिए वेदों को अशुद्धि से बचाना ही धर्म की जड़ को सींचना है। सम्पूर्ण वेद यज्ञों में ही विनियुक्त हैं, इसलिए यज्ञों में स्वर और वर्ण की अशुद्धि से बचने का कठोर नियम बनाया गया है। इस नियम के अनुसार बिना पढ़ा—वेदविहीन—मनुष्य यज्ञों का करने और करानेवाला नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार व्यवहार करने से पठन-पाठन की परम्परा नष्ट नहीं हो सकती। प्राचीन याज्ञिक काल में ये बातें थीं। यज्ञ के करने और करानेवाले विद्वान् होते थे, इसलिए यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि यज्ञ में व्याकरण की आवश्यकता होती है।

वेदों में स्वरों का विज्ञान भी अपूर्व है। स्वर के हेरफेर से अर्थ में अन्तर पड़ जाता है। भिक्षा और तक़ाज़ा दोनों 'दीजिए' शब्द से ही किये जाते हैं, परन्तु भिक्षा माँगते समय जब 'दीजिए' कहा जाता है तब उसमें दूसरे स्वर लगाये जाते हैं और जब तक़ाज़ा करते समय 'दीजिए' कहा जाता है तब दूसरे ही स्वर लगाये जाते हैं। पहले में करुणोत्पादक स्वर होते हैं और दूसरे में दर्पोत्पादक स्वर होते हैं। यद्यपि स्वर इतना बड़ा अन्तर कर देते हैं, परन्तु उनका लिखना आज तक किसी भाषा में प्रचलित नहीं है। नाटककारों को करुणा और दर्प के शब्दों के लिए ब्रेकट में 'कड़ी आवाज़ से', 'धीमे स्वर से' आदि लिखकर भाव स्पष्ट करना पड़ता है, परन्तु वेद में यह भाव स्वरों से व्यक्त किया जाता है, इसलिए याज्ञिकों का ध्यान स्वरों की शुद्धि-अशुद्धि पर पूर्णरूप से रहा है।

यज्ञों में लिखने की भी आवश्यकता होती थी। हम लिख आये हैं कि यज्ञकुण्ड रेखागणित के सिद्धान्त पर बनाये जाते थे, इसलिए जब तक लिखना न आता हो तब तक रेखा ही नहीं खींची जा सकती। यज्ञों में ज्योतिष् की आवश्यकता होती है। ज्योतिष् में बिना रेखा और अङ्कों के काम ही नहीं चलता। गणित-प्रकरण में हम यजुर्वेद के उस मन्त्र को लिख आये हैं, जिसमें परार्द्ध तक की गिनती दी हुई है। इस गिनती का उपयोग बिना लिखे नहीं हो सकता। यज्ञों में गायों के बड़े-बड़े गोष्ठ इकट्ठे होते थे। अनेक देशावरों के हिसाब से अनेक गोष्ठ अलग-अलग रहते थे। एक गोष्ठ की गाय दूसरी में न मिल जाए अथवा दान की हुई गाय बिना दान की हुई गायों में न मिल जाए, इसलिए उन गायों के कानों में अष्ट, षट्, आदि के अङ्क बना दिये जाते थे। इसी प्रकार यज्ञ कराते समय सदैव पुस्तक को देखकर ही मन्त्रपाठ करने की आज्ञा है, इसलिए यज्ञों में लिखित पुस्तकों की भी आवश्यकता होती थी। इन सब बातों से पाया जाता है कि यज्ञों में व्याकरण, निरुक्त, लिखने-पढ़ने, हिसाब-किताब, नाप-तौल और स्वरविद्या आदि की आवश्यकता पड़ती थी, अर्थात् यज्ञों में हर प्रकार की उन्नत विद्या की चर्चा थी तभी ऐसे विद्वत्तापूर्ण यज्ञों से संसार की तुष्टि होती थी।

यज्ञों से संसार की तुष्टि

यज्ञ से केवल ब्राह्मणों को ही लाभ नहीं है, प्रत्युत समस्त प्रकृति, समस्त मनुष्य, समस्त पशु-पक्षी और समस्त कीट-पतङ्गों की एक समान ही तुष्टि होती है। यह तुष्टि देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और भूतयज्ञ के द्वारा की जाती है। देवयज्ञ और पितृयज्ञ से समस्त प्रकृति को सहायता पहुँचाई जाती है। समस्त प्रकृति आग्नेय और सौम्य दो भागों में बँटी है। एक का स्वामी सूर्य और दूसरी का चन्द्रमा है। सौरजगत् देव और चान्द्रजगत् पितर कहलाता है, इसीलिए अग्नि से सौरयज्ञ और जल से चान्द्रयज्ञ किया जाता है। अग्नि और जल भी सौर्य और सौम्य ही हैं। यज्ञों के द्वारा अग्नि और जल दोनों वायु को शुद्ध करते हैं। वायु में उड़ता हुआ मल या तो अग्नि की गर्मी से या जल की वृष्टि से ही नष्ट होता है। हम पहले ही कह चुके हैं कि

यद्यपि वायु, अग्नि और जल के ही अधीन है, परन्तु उसका यह विचित्र स्वभाव है कि वह दो में से जो वस्तु अधिक प्रबल होती है उसी का सखा बन जाता है, इसलिए इन दोनों प्रकार के यज्ञों से अग्नि और जल, अर्थात् सौर और चान्द्र दोनों प्रकृति की महान् शक्तियाँ वायु के सहचार से शुद्ध और पवित्र हो जाती हैं, अर्थात् देव और पितर तृप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार अतिथियज्ञ से आगत पुरुषों तथा यात्रियों की सहायता होती है। यह यज्ञ जहाँ प्रचलित होता है वहाँ मनुष्यों को कितनी सुविधा होती है इसकी व्याख्या करना व्यर्थ है। इस यज्ञ से सभ्य मनुष्यों, साधु-संन्यासियों और इष्टमित्रों को सहायता मिलती है, परन्तु जो नीच और रोगी हैं वे बलियज्ञ से तृप्त किये जाते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु बलियज्ञ से कुत्ते आदि पशु, कौवा आदि पक्षी और चींटी आदि कृमियों का भी पोषण होता है। इस प्रकार इन यज्ञों के द्वारा प्राकृतिक शक्तियों, मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों और कृमियों तक का पोषण होता है। महाभाष्यकार के अनुसार पितृयज्ञ के जल से वृक्षों का भी पोषण होता है, इसलिए यह बात बिल्कुल सत्य है कि यज्ञों से सबकी तुष्टि होती है, अतः ये यज्ञ सभी के लिए कर्त्तव्य हैं और सभी को इनका अधिकार है।

मनुष्यमात्र का यज्ञाधिकार और कर्त्तव्य

सबको लाभ पहुँचानेवाले यज्ञ बिना सबकी सहायता के हो ही नहीं सकते। सार्वजनिक कार्य सार्वजनसम्मेलन से ही होते हैं, इसीलिए यज्ञों में मनुष्य, पशु और वृक्षों तक की सहायता ली जाती है, क्योंकि यज्ञ सभी का कर्त्तव्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, असुर, स्त्री, लड़के, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वनस्थ, संन्यासी, राजा और रंक सभी यज्ञ के अधिकारी हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि '**अयं स होता यो द्विजन्मा**'[१] अर्थात् यह होता द्विज है। दूसरी जगह लिखा है कि '**पञ्चजना मम होत्रं जुषन्ताम्**'[२]। 'पञ्चजना' शब्द पर उव्वट कहते हैं कि '**चत्वारो वर्णा निषादपञ्चमाः पञ्चजनास्तेषां यज्ञेऽधिकारोऽस्ति**' अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अनार्य को भी यज्ञ करने का अधिकार है। यह सभी जानते हैं कि रथकारों के लिए अग्न्याधान का समय '**वर्षासु रथकारः**' कहकर वर्षाऋतु बताया गया है। स्त्रियों के बिना तो यज्ञ होता ही नहीं। सीता के अभाव में रामचन्द्र ने सोने की सीता बनवाकर यज्ञ किया था। क्षत्रिय राजसूय और अश्वमेध आदि बड़े-बड़े यज्ञों के कर्त्ता हैं। वैश्यों को भी बड़े महत्त्व का गोमेधयज्ञ करना पड़ता है। ब्रह्मचारी के लिए नित्य हवन करने का विधान है। गृहस्थ तो पञ्चमहायज्ञों को करता है ही। महा ग़रीब वनस्थ भी इससे नहीं बचा। उसके लिए भी कहा है कि वह फल और मूलों से यज्ञ करे, इसी प्रकार कहा गया है कि संन्यासी भी प्राणायामरूपी यज्ञ करे। असमर्थ आर्य के लिए यहाँ तक कहा गया है कि यदि कुछ भी न हो तो केवल हवनीय लकड़ियों से ही यज्ञ करना चाहिए। ऋग्वेद में कहा गया है—

यदग्ने कानि कानि चिदा ते दारूणि दध्मसि। ता जुषस्व यविष्ठ्य॥
नहि मे अस्त्यघ्न्या न स्वधितिर्वनन्वति। अथैतादृग्भरामि ते॥ —ऋ० ८।१०२।२०-१९

अर्थात् हे अग्ने! मैं जो केवल छोटी-छोटी लकड़ियाँ लाया हूँ, उन्हीं को स्वीकार कीजिए, क्योंकि मेरे पास न तो घी देनेवाली गाय ही है और न मोटी लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी ही है, इसलिए जो कुछ लाया हूँ, वही स्वीकार कीजिए।

ओषधियाँ सबको मुफ़्त प्राप्त हैं, अतः वैद्यों से पूछकर ऋतु के अनुसार ओषधियों का हवन

---

१. ऋ० १.१४९.५
२. ऋ० १०.५३.४

बड़ा ही लाभदायक हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्यमात्र को यज्ञ करने का कठोर आदेश है, क्योंकि यज्ञ एक बहुत बड़ा सङ्गठन है। यज्ञों में बड़े समारोह के साथ सब श्रेणी के मनुष्य एक ही सार्वजनिक लाभ के उद्देश्य से एकत्र होते हैं, इसलिए उससे बढ़कर और दूसरा सङ्गठन नहीं हो सकता। हम देखते हैं कि आजकल हिन्दुओं के बड़े-बड़े समारोह होते हैं, परन्तु यज्ञ और सर्ववर्णसम्मेलन नहीं होते। यदि हम भूलते नहीं हैं तो कह सकते हैं कि यज्ञों के स्थान में किसी बुद्धिमान् नेता ने सत्यनारायण की कथा का प्रचार किया था। इसमें यज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी वस्तुएँ हैं। मण्डप, वेदी, कलश, नवग्रह, धूप, दीप, सर्ववर्णसम्मेलन, पुरोडाश (प्रसाद) और गीत-वाद्य आदि सभी कुछ उपस्थित है। सत्यनारायण की कथा में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और अनार्य तक के यहाँ जाने और प्रसाद लेने का विधान है। इस बात पर बड़ा बल दिया गया है कि जो प्रसाद का अनादर करता है उसका नाश हो जाता है। गोपों की कथा में यह भाव स्पष्ट रूप से दिखलाया गया है। प्रसाद भी अन्न का ही कहा गया है, गेंहू या चावल का आटा घी, शक्कर मेवा से सुस्वादु बनाकर देना लिखा है। यज्ञ के 'मधुपर्क' को पञ्चामृत का रूप देकर बड़ी ही योग्यता दिखलाई गई है। इतना सब-कुछ होने पर भी आज हिन्दुओं के पाँचों विभागों में स्पर्शास्पर्श और खान-पान का मिथ्या प्रपञ्च बना हुआ है। यह सत्यनारायण की कथा वैज्ञानिक नियम पर स्थित नहीं है, इसलिए पढ़े-लिखे समुदाय में अब उसपर प्रकाश नहीं डाला जा सकता, परन्तु यज्ञों की बात वैसी नहीं है। यज्ञ तो आरम्भ से अन्त तक बहुत बड़े वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर स्थित हैं, इसलिए अब समय आ गया है कि हम उन्हें अच्छे रूप में उपस्थित करें और उन्हीं को हिन्दूसङ्गठन का केन्द्र बनाएँ। पुराने समय में यज्ञ करना आवश्यक समझा जाता था। वह ऋणमुक्ति का साधन माना गया है। यहाँ हम थोड़ी-सी इस विषय की भी चर्चा करना चाहते हैं।

यज्ञों से ऋण-मुक्ति

ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि **'जायमानो ह वै पुरुषस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते'**, अर्थात् प्रत्येक मनुष्य तीन प्रकार के ऋणों से ऋणी उत्पन्न होता है। ये तीनों ऋण देवऋण, ऋषिऋण और पितृऋण कहलाते हैं। कर्मयज्ञ करने से देवऋण, ज्ञानयज्ञ करने से ऋषि-ऋण और पुत्रेष्टियज्ञ करने से पितृऋण चुकते हैं। कर्मयज्ञ का हम विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए आ रहे हैं। इस यज्ञ में अग्निहोत्र की प्रधानता रहती है। जल, वायु आदि प्राकृतिक देवता हमारा नित्य कल्याण करते रहते हैं। यही इनका हमपर ऋण होता है। इस ऋण से हम तभी छूटते हैं जब हम जल, वायु आदि को हवन के द्वारा शुद्ध कर दें। यही ऋण से अनृण होना है। इसी प्रकार ऋषिलोग वेदविद्या पढ़ाकर हमें ऋणी करते हैं। इस ऋण से हम तब छूटते हैं जब ऋषि-सन्तान=मनुष्य को विद्या का दान दें। जिस प्रकार के ये दो ऋण हैं उसी प्रकार का पितृऋण भी है। पिता, पितामह और प्रपितामह आदि हमें जन्म देकर लालन-पालन और शिक्षण से योग्य बनाते हैं। यही हमपर उनका ऋण होता है। इस ऋण से हम केवल भोजन-वस्त्र देकर और सेवा टहल करके ही अनृण नहीं हो सकते। इस ऋण से हम तभी अनृण हो सकते हैं जब हम भी उन्हें अपनी स्त्री से उत्पन्न करें और लालन, पालन, शिक्षण से योग्य बनावें, परन्तु यह तभी हो सकता है जब हम उनको अपने वीर्य में आकर्षित करके अपनी स्त्री के गर्भ से उत्पन्न कर सकें। जिस क्रिया से यह सब-कुछ किया जा सकता है उस कर्म का नाम पुत्रेष्टियज्ञ है। पुत्रेष्टियज्ञ का बहुत-सा भाग पुंसवन आदि संस्कारों में और पितृश्राद्ध आदि कर्मों में सम्मिलित है, अतएव हम यहाँ थोड़ा-सा भाग केवल पितृश्राद्ध का लेकर पुत्रेष्टियज्ञ का दिग्दर्शन कराते हैं।

यह सभी जानते हैं कि जितने मनुष्य मरते हैं वे या तो सूर्यलोक को जाते हैं या चन्द्रलोक को। जो मोक्ष को जाते हैं और आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं वे सूर्यलोक को जाते हैं, परन्तु जो कर्मवश फिर लौटने के लिए जाते हैं, वे चन्द्रलोक को जाते हैं[१]। चन्द्रमा वीर्य का देवता है। चन्द्रलोक से जीव मनुष्यलोक को आते हैं[२] और किरणों के द्वारा मनुष्य के वीर्य में प्रवेश कर जाते हैं[३]। मनुष्यवीर्य से स्त्री के गर्भ में जाते हैं और गर्भ से बाहर निकलकर संसार में विचरते हैं। इस प्रकार से पुनर्जन्म का क्रम चालू रहता है, परन्तु कारणवश जब मनुष्य के वीर्य में अथवा स्त्री के गर्भाशय में किसी प्रकार का दोष उत्पन्न हो जाता है और सन्तान नहीं होती अथवा लड़की-ही-लड़की होती हैं तो पुत्रेष्टियज्ञ अथवा पुंसवन के द्वारा वह दोष दूर कर दिया जाता है और पुत्र उत्पन्न होता है। जिसके लड़की-ही-लड़की उत्पन्न होती हों वह पुंसवन संस्कार के दिन से दो महीने तक अथर्ववेद के अनुसार शमीवृक्ष पर उगे हुए वटवृक्ष की जड़ को लाकर और पानी में पीसकर गर्भवती स्त्री को पिलावे तो पुत्र उत्पन्न होगा[४], परन्तु दम्पती के योग्य होते हुए जिनके सन्तान ही न होती हो वे पुत्रेष्टियज्ञ के द्वारा ही पुत्रोत्पन्न करें।

हम लिख आये हैं कि मनुष्य पुत्रोत्पन्न करके ही पितृऋण से अनृण होता है, इसलिए पुत्रकामा मनुष्य पितृपिण्डयज्ञ, अर्थात् पुत्रेष्टियज्ञ के द्वारा अपने पितरों को हविष्यान्न में आकर्षित करके वह हवि स्त्री को खाने के लिए देवे, किन्तु प्रश्न यह है कि चान्द्रलोक से जीवों को किस प्रकार खींचा जाए? जीवों के खींचने की वही विधि है जो सूर्यकान्तमणि के द्वारा सूर्यताप के खींचने में और चन्द्रकान्तमणि के द्वारा चान्द्रजल के खींचने में प्रयुक्त की जाती है। जिस प्रकार चन्द्रकान्त के प्रयोग से चान्द्रजल की प्राप्ति होती है उसी प्रकार चान्द्रपदार्थों को एकत्र करने से चान्द्रवीर्य भी आकर्षित होता है। चान्द्रवीर्य ही में जीव रहते हैं, इसलिए वे उन पदार्थों में खिंच आते हैं जो चन्द्राकर्षण के लिए विधि से एकत्र किये जाते हैं। वे पदार्थ दूध, घृत, चावल, मधु, तिल, रजतपात्र, कुश और जल हैं। ये सभी पदार्थ वीर्यवर्द्धक हैं, इसलिए आकर्षणानुकर्षण के सिद्धान्तानुसार चान्द्रवीर्य का इनके साथ सम्बन्ध हो जाता है और चान्द्रवीर्य खिंच आता है। यह प्रक्रिया लोग शरद्पूर्णिमा के दिन करते हैं, परन्तु विधिपूर्वक क्रिया तो पितृश्राद्ध के ही समय होती है। पितृश्राद्ध अपराह्न के समय होता है। उसमें घृत, दूध, मधु, कुश आदि सभी पदार्थ रक्खे जाते हैं। पितरों का प्रतिनिधि पुत्र अथवा पौत्र भी उन पदार्थों को छूता हुआ वहीं पर बैठता है, इसलिए यह सब हवि आदि सामग्री उसी प्रकार का यन्त्र बन जाती है जिस प्रकार चन्द्रकान्त मणि। इसी में पितर खिंचकर आते हैं[५] और हविपिण्ड सूँघने अथवा खाने से वीर्य और गर्भ में जाते हैं। शतपथब्राह्मण १४।४।२।२९ में लिखा है कि **'अथ यत् प्रजाममिच्छते, यत् पितृभ्यो निपृणाति तेन पितृणाम्',** अर्थात् जो प्रजा की इच्छा रखता हो वह पितृयज्ञ करे। यजुर्वेद २।२३ में लिखा है कि—

'आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करसृजम्। यथेह पुरुषोऽसत्'॥

अर्थात् इस पुरुष की भाँति के आकाशस्थ कुमार पितर गर्भ को धारण करें।

---

१. ये वै चास्माल्लोकात्प्रयान्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति। —कौषीतकी उपनिषद्

२. तथा च तत्पितृलोकाज्जवीलोकमभ्यायन्ति। —शतपथब्रा० १३।४।७।९

३. अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि। —अथर्व० ९।२७।१०

४. शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि। —अथर्व० ६।११।१

५. परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ —अथर्ववेद [१८।४।६३]

ज्ञात हुआ कि आकाशस्थ पितर पितृयज्ञ या पुत्रयज्ञ के द्वारा गर्भ धारण करते हैं। गृह्यसूत्र में इसी मन्त्र के लिए लिखा है कि 'आधत्त पितरो गर्भामिति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नीयात्', अर्थात् इस 'आधत्त' मन्त्र को कहकर बीच के पिण्ड को पत्नी खा जाए। यही बात मनुस्मृति में भी लिखी है कि—

पतिव्रता धर्मपत्नी पितृपूजनतत्परा। मध्यमं तु ततः पिण्डमद्यात्सम्यक् सुखार्थिनी।

—मनुस्मृति [३।२६२]

अर्थात् पितृपूजन में रत पुत्र की इच्छा रखनेवाली पतिव्रता स्त्री बीच का पिण्ड खावे।

इस प्रकार से यह पुत्रेष्टियज्ञ की क्रिया पितृपिण्डश्राद्ध में घुसी हुई पाई जाती है। कहने का भाव यह कि जहाँ देवऋण और ऋषिऋण कर्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ से चुकते हैं वहाँ पितृऋण पुत्रेष्टियज्ञ से चुकता है, अर्थात् सब प्रकार के ऋण यज्ञों से ही चुकते हैं।

जिन यज्ञों का इतना बड़ा माहात्म्य है, जिनमें इतनी बड़ी-बड़ी विद्याओं की आवश्यकता होती है और जो बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय भावनाओं को बल देनेवाली हैं उनका ज्ञान देकर वेदों ने आदिज्ञान के स्वरूप का पूरा दिग्दर्शन करा दिया है। हमने यहाँ तक अभी केवल कर्मयज्ञों का ही वर्णन किया है। हम देख रहे हैं कि लोक से सम्बन्ध रखनेवाली जितनी विभूतियाँ—सुख और विज्ञान आदि हैं, वे सब कूट-कूटकर इन्हीं में भर दी गई हैं। वेदों के द्वारा इस प्रकार का मौलिक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर प्राचीन आर्यों ने इसी ज्ञान के सहारे बहुत विशाल और सूक्ष्म काल्पनिक ज्ञान में उन्नति की थी, परन्तु यह सब-कुछ होते हुए भी लोग कहते हैं कि यहाँवालों में सूक्ष्म ज्ञान तक पहुँचने की योग्यता नहीं थी। वे कहते हैं कि वैदिक आर्य आजकल की भाँति सूक्ष्म साइंस, सूक्ष्म यन्त्र और सूक्ष्म विद्याओं को नहीं जानते थे। मोटर, रेल, हवाई जहाज़, घड़ी, टेलीफ़ोन, वायरलेस और फ़ोनोग्राफ़ जैसे यन्त्र उनके पास नहीं थे, परन्तु हम कहते हैं कि यदि भारतदेश का दीर्घकालीन इतिहास सूक्ष्मता से देखा जाए तो पता लगेगा कि उसके भूत-भवन में इसी प्रकार के पदार्थ एकत्र थे। वर्त्तमान यूरोप की ही भाँति यहाँ भी भौतिक उन्नति थी और ऐसे ही भौतिक साधन उपस्थित थे, किन्तु हमें उनका अभिमान नहीं है। हम जानते हैं कि उन्हीं के कारण हमारा पतन हुआ है। हमारा ही नहीं, प्रत्युत मिस्र, यूनान और रोम तथा चीन का भी इन्हीं भौतिक उन्नतियों के कारण ही पतन हुआ है और यह निर्विवाद है कि यदि यूरोप और अमेरिका शीघ्र ही इसका अन्त न कर देंगे तो उनका भी पतन अनिवार्य है, क्योंकि इसमें दो दोष हैं।

एक तो यह भौतिक विज्ञान-जात भौतिक उन्नति अनिश्चित होती है, दूसरा यह कि इससे विलास उत्पन्न होता है। वह ज्ञान जिसे बड़े-बड़े विद्वान् सोचकर अपने मस्तिष्क से निकालते हैं, प्रायः अनिश्चित होता है। इसका कारण यह है कि जिन सूक्ष्म पदार्थों से हमारा मस्तिष्क बना है उनसे भी अधिक सूक्ष्म पदार्थ संसार में विद्यमान हैं। जिस प्रकार नेत्र की दर्शनशक्ति से दृश्य पदार्थ सूक्ष्म पाये जाते हैं, उसी प्रकार सोचनेवाले यन्त्र मस्तिष्क से भी अधिक सूक्ष्म पदार्थ हैं, जो सोचे और समझे नहीं जा सकते। आधुनिक विज्ञान का प्रसिद्ध विद्वान् थामसन कहता है कि 'जब संसार के छोटे रहस्य खुल जाते हैं तब आगे बड़े रहस्य आ उपस्थित होते हैं। संसार के आश्चर्यों को विज्ञान कभी मिटा नहीं सकता, प्रत्युत उन्हें अथाह और अगाध बना देता है'[१]। मनोविज्ञान का एक दूसरा विद्वान् कहता है कि 'किसी भी जीवन-कार्य की संगति भौतिक नियमों से अब तक स्पष्ट नहीं की जा सकी। आँसू निकलने या पसीना बहने के छोटे-छोटे

१. When minor mysteries disappear, greater mysteries stand confessed. Science never destroys wonder, but only shifts it higher and deeper. —*Introduction to Science* by J.A. Thomson, M.A.

जीवन-कार्य भी भौतिक तथा रासायनिक नियमों से स्पष्ट नहीं हो सकते'[१]। इसी प्रकार महाशय एफ० सोडी कहते हैं कि 'परस्पर दो पदार्थ क्यों आकर्षित होते हैं और क्यों दो पदार्थ पृथक् होते हैं, यह ज्ञात नहीं है'[२]। यही अवस्था प्रत्येक विज्ञान की है। ऊँचे दर्जे के विज्ञानों में सदैव अनेक मत रहते हैं और प्रतिवर्ष थ्यूरियाँ (कल्पनाएँ) बदला करती हैं, परन्तु वेदों में ऐसे अस्थिर और सन्दिग्ध विज्ञान का वर्णन नहीं किया गया।

दूसरा दोष इस काल्पनिक विज्ञान में यह है कि यह तुरन्त ही विलास में वृद्धि करता है। विलास-वृद्धि से मनुष्य रोगी और शीघ्र मरनेवाले हो जाते हैं, इसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि जो सन्दिग्ध और हानिकारक हो उसका वर्णन वेद-जैसी पवित्र ईश्वरीय पुस्तक में हो ही नहीं सकता। वेद में सूक्ष्म ज्ञान जानने की विधि का एक निराला ही वर्णन है। वेद कहते हैं कि परमात्मा के जान लेने पर संसार के समस्त सूक्ष्म पदार्थ और नियम ज्ञात हो जाते हैं। दूसरी जगह आदेश है कि सम्भूति को केवल जानो, परन्तु उसकी उपासना न करो, अर्थात् परमेश्वर के सकाश से समस्त सूक्ष्म ज्ञान प्राप्त करो, परन्तु उसकी उपासना न करो—विलास में न फँस जाओ। जो योग और समाधि के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं उनके सब भ्रम जाते रहते हैं और वे संसार के मायाजाल में नहीं फँसते। यद्यपि वेदों में इस प्रकार का आदेश है, तथापि इस देश के विद्वानों ने शत्रुओं से रक्षा के उद्देश्य से अनेक प्रकार के सूक्ष्मतर विज्ञानों और कलापूर्ण यन्त्रों का आविष्कार किया था। यहाँ हम उनके कुछ नमूने लिखते हैं।

भरद्वाज मुनिकृत यन्त्रार्णव के वैज्ञानिक प्रकरण में लिखा है कि जल और वायु के स्तम्भन से जो शक्ति उत्पन्न होती है, उसे मन्त्र कहते हैं और दण्ड, चक्र, दाँतों की योजना, सरणि और भ्रामक आदि के द्वारा जिस शक्ति का वर्धन और सञ्चालन किया जाता है, उसे यन्त्र कहते हैं तथा मनुष्यों और पशुओं की शक्ति से जो कार्य किया जाता है उसे तन्त्र कहते हैं[३]। यहाँ इन मन्त्र, यन्त्र और तन्त्रों के अनेक प्रमाण मिलते हैं जो विज्ञान की उत्कृष्टता को प्रकट करते हैं। हम ज्योतिष् के प्रकरण में लिख आये हैं कि याज्ञिकों ने ग्रहवेध के लिए तुरीययन्त्र बनाया था और भूगोल तथा खगोल का नक़शा भी काष्ठ के गोलों पर बना लिया था। इसी प्रकार ऋतु जानने के लिए उन्होंने थरमामीटर, बारोमीटर और घड़ी[४] भी बना ली थी। उन्होंने वह यन्त्र भी बना लिया था जो आप-ही-आप चलता था। हमने यह भी लिख दिया है कि वे पृथिवी की आकर्षणशक्ति और ज्वारभाटे के कारणों को जानते थे तथा विद्युदाकर्षण, अर्थात् चुम्बुकशक्ति से पूर्ण परिचित थे।

अब हम उन यन्त्रों का वर्णन करते हैं जो सवारी, मनोरञ्जन और युद्ध आदि के काम आते थे। भोजनप्रबन्ध में लिखा है कि राजा भोज के पास एक काठ का घोड़ा था जो एक घड़ी में

---

१. For no single organic function has yet been found explicable in purely machanical terms. Even such relatively simple processes as the secretion of a tear or the exudation of a drop of sweat continue to elude all attempts at complete explanation in terms of physical and chemical science.
—*Psychology* by Prof. W Medougall. F.R.S., M.B.

२. Why two bodies tractate or peltate is not known in a single instance.
—*Matter and Energy* by F. Soddy M.A.

३. मन्त्रज्ञा ब्राह्माणा: पूर्वे जलवाय्वादिस्तम्भने। शक्तेरुत्पादनं चक्रुस्तन्मन्त्रमिति गद्यते।
दण्डैश्चक्रैश्च दन्तैश्च सरणिभ्रामकादिभि:। शक्तेस्तु वर्द्धकं यत्तच्चालकं यन्त्रमुच्यते।
मानवीपाशवीशक्तिकार्यं तन्त्रमिति स्मृतम्। —यन्त्रार्णव

४. "**घटीयन्त्रं यथा मर्त्या भ्रमन्ति मम मायया**"—गरुड़पुराण के इस लेख से पाया जाता है कि आर्यों के पास आजकल जैसा ही घटीयन्त्र था, क्योंकि इसमें भी घूमने का वर्णन है।

ग्यारह कोस जाता था और एक पंखा था जो बिना किसी मनुष्य की सहायता से आप-ही-आप ख़ूब तेज़ चलता था और ख़ूब हवा देता था[१]। इसी प्रकार धम्मपद की कथा वासुलदत्ता वत्थु पृष्ठ ९८ पर लिखा है कि कौशाम्बी के राजा उदयन से उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत की शत्रुता थी। प्रद्योत ने राजा उदयन को धोखा देकर पकड़ने के लिए एक हस्तीयन्त्र तैयार करवाया। यह हाथी लकड़ी का था। इसका रङ्ग सफ़ेद था। वह आप-ही-आप यन्त्र के सहारे चलता था। इसके अन्दर ६० योद्धा बैठ सकते थे। प्रद्योत ने इस हाथी को उदयन के जंगल में छुड़वा दिया। यह इधर-उधर फिरने लगा। सफ़ेद हाथी की ख़बर पाकर उदयन उसके पकड़ने के लिए आया, परन्तु स्वयं पकड़ा गया। उसी ग्रन्थ की कथा विसाखवत्थु पृष्ठ १९५ में लिखा है कि विशाखा के लिए एक महालता नाम का आभूषण बनवाया गया था। यह शिर से पैर तक था। चार महीने में ५०० सुनार इसे बना पाये थे। इसका मूल्य उस समय के किसी सिक्के के भाव से नव करोड़ था। इस आभूषण में एक मोर लगा था जो हर समय विशाखा के मस्तक पर नाचा करता था। इसी प्रकार महाभारत आदिपर्व में उत्तङ्क के घोड़े का वर्णन है। वह भी यन्त्र के ही सहारे चलता था। शहबाज़गढ़ी (पेशावर) में एक पत्थर पर रेल का इशारा भी है। विमान नामक यन्त्र तो वैदिक काल से ही इस देश में प्रचलित था। वेद में विमान के बनाने की विधि बतलाते हुए कहा गया है कि जो आकाश में पक्षियों के उड़ने की स्थिति को जानता है वह समुद्र—आकाश की नाव—विमान को जानता है[२]। संस्कृत में 'वी' पक्षी को कहते हैं और 'मान' का अर्थ अनुरूप अथवा सदृश है। इसलिए विमान का अर्थ 'पक्षी के सदृश' होता है। ऊपर हमने जो वेद में विमान बनाने की विधि की चर्चा की है, उससे भी यही ज्ञात होता है कि विमान की रचना पक्षियों के ही सिद्धान्त पर हुई थी। आज हम प्रत्यक्ष भी ऐरोप्लेनों को चिड़िया की ही शकल का उड़ता हुआ देखते हैं। इससे ऊपर की बात में कुछ शंका नहीं रह जाती।

पञ्चतन्त्र की एक कथा में लिखा है कि एक धूर्त मनुष्य विष्णु का रूप धारण करके आया करता था और गरुड़ की आकृति का ही वाहन लाता था। इसी प्रकार 'गयाचिन्तामणि' नामी ग्रन्थ में मयूर की आकृति के विमान का वर्णन है। वाल्मीकि रामायण सुन्दरकाण्ड सर्ग ९ में पुष्पक विमान का वर्णन है[३] और भागवत में शाल्व राजा के विमान का भी वर्णन आया है। शाल्व का यह विमान भूमि, आकाश, जल और पहाड़ पर भी आसानी से चलता था[४]। सबसे विशाल और भव्य विमान कर्दम ऋषि का था। भागवत में इसका भी अपूर्व वर्णन देखने योग्य है। विमानों के बनानेवाले कारीगर इस देश में बौद्धकाल तक मौजूद थे। धम्मपद के बोधिराजकुमार वत्थु पृष्ठ ४१० में एक कारीगर का हाल इस प्रकार लिखा है कि बोधिराजकुमार ने एक महल बनवाया। बनानेवाले कारीगर ने उसे बड़ा ही विचित्र बनाया। बोधिराज ने सोचा कि यह कारीगर कहीं दूसरे का मकान भी ऐसा ही न बना दे, इसलिए इसके हाथ काट लेने चाहिएँ। राजा ने यह बात अपने एक सलाहकार से कह भी दी। सलाहकार ने यह ख़बर कारीगर के पास पहुँचा दी। कारीगर ने अपनी स्त्री से कहला भेजा कि वह घर-द्वार, माल-मता बेचकर एक दिन इस महल

---

१. घट्यैकया क्रोशदशैकमश्वाः सुकृत्रिमो गच्छति चारु गत्या।
वायुं ददाति व्यजनं सुपुष्कलं विना मनुष्येण चलत्यजस्रम्॥ —भोजप्रबन्ध

२. वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। —ऋग्वेद १.२५.७

३. ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणा। विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम्॥ —वाल्मीकि रामायण

४. स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधाम दुरासदम्। ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिं कृतं स्मरन्॥
क्वचिद् भूमौ क्वचिद् व्योम्नि गिरिशृङ्गे जले क्वचित्। —भागवत

के देखने की प्रार्थना करे। स्त्री ने वही किया और राजा से आज्ञा लेकर वह महल देखने गई। कारीगर उसे एक कोठरी में ले गया और (पुत्रदारमरुस सकुनस्स कुच्छियं निसीदयित्वा वातपातेन निक्सनित्वा पलायि)। स्त्री तथा लड़कों समेत एक गरुड़यन्त्र पर चढ़कर भाग गया और नेपाल के काठमाण्डू में रहने लगा। इन सब उपलब्ध प्रमाणों से जाना जाता है कि इस देश में विमान बनाने की कला ज्ञात थी। विमान पक्षी (गरुड़) की आकृति के बनते थे। इसलिए विष्णु का वाहन गरुड़ कहा गया हैं। इन विमानों से सम्बन्ध रखनेवाली एक प्राचीन पुस्तक है। इसका नाम है 'अंशुबोधनी'। यह भरद्वाज ऋषि की बनाई हुई है। इस पुस्तक में अनेक विद्याओं का वर्णन है। प्रत्येक विद्या के लिए एक-एक अधिकरण रक्खा गया है। इन अधिकरणों में एक विमान अधिकरण भी है। इस अधिकरण में आये हुए भरद्वाज ऋषि के 'शक्त्युद्गमोद्यष्टौ' सूत्र पर बौधायन ऋषि की वृत्ति इस प्रकार है—

शक्त्युद्गमो भूतवाहो धूमयानशिखोद्गमः। अंशुवाहस्तारामुखो मणिवाहो मरुत्सखः॥
इत्यष्टकाधिकरणे वर्गाण्युक्तानि शास्त्रतः।

इन श्लोकों में विमान की रचना और उनकी आकाश-संचारी गति के आठ विभाग इस प्रकार हैं—'शक्त्युद्गम' बिजली से चलनेवाला, 'भूतवाह' अग्नि, जल और वायु आदि से चलनेवाला, 'धूमयान' वाष्प से चलनेवाला, 'शिखोद्गम' पंचशिखी के तेल से चलनेवाला, 'अंशुवाह' सूर्यकिरणों से चलनेवाला, 'तारामुख' उल्कारस (चुम्बक) से चलनेवाला, 'मणिवाह' सूर्यकान्त-चन्द्रकान्त आदि मणियों से चलनेवाला और 'मरुत्सखा' केवल वायु से चलनेवाला। इस प्रकार से विमान बनाने और चलाने के अनेक प्रमाण मिलते हैं। इन उपलब्ध प्रमाणों से यह नहीं कहा जा सकता है कि भारतीय आर्य विमान बनाना नहीं जानते थे।

उनके अस्त्र-शस्त्रों में अनेक प्रकार के यन्त्र सम्मिलित थे। तोप और बन्दूक यन्त्र बनाने की विस्तारपूर्वक विधि शुक्रनीति अध्याय ४ में लिखी है। वहाँ बन्दूक और तोप दोनों का वर्णन है। बारूद बनाने और बारूद के द्वारा उनके चलाने का भी वर्णन है[१]। पुराने जमाने में ऐसा यन्त्र भी बनाया जाता था जो मनुष्य की भाँति बोलता था।

विक्रमादित्य के सिंहासन की पुतलियाँ बराबर बोलती थीं। यही नहीं, प्रत्युत् वाल्मीकि रामायण लंकाकाण्ड सर्ग ८० में लिखा है कि रावण ने एक कृत्रिम सीता बनाई थी जो राम का नाम ले-लेकर रोती थी[२]। इसी प्रकार वैदिक काल में दूर समाचार भेजने का भी साधन था। यह साधन कबूतर थे। ये कबूतर पत्र पहुँचाया करते थे। ऋग्वेद में इनका वर्णन है। कबूतरों के सिवा थोड़ी-थोड़ी दूर पर नगाड़े रखवाकर भी एक-दूसरे की आवाज़ के द्वारा शीघ्र और दूर ख़बर पहुँचाई जाती थी। अभी हाल में 'अमृत बाज़ार पत्रिका' ने इस विषय से सम्बन्ध रखनेवाला एक

---

१. नालिकं द्विविधं ज्ञेयं बृहत्क्षुद्रविभेदतः। तिर्यगूर्ध्वच्छिद्रमूलं छिद्रं नालं पंचवितस्तिकम्॥ १८४॥
मूलाग्रयोर्लक्ष्यभेदितिलबिन्दुयुतं सदा। यन्त्राघाताग्निकृद् ग्रावचूर्णधृक्कर्णमूलकम्॥ १८५॥
सुकाष्ठोपाङ्गबुध्नञ्च मध्यांगुलिबिलान्तरम्। स्वान्तेऽग्निचूर्णसंधातृशलाकासंयुतं दृढम्।
लघुनालीकमप्यैतत् प्रधार्यं पत्तिसादिभिः॥ १८६॥
यथा यथा तु त्वक्सारं यथास्थूलबिलान्तरम्। यथा दीर्घं बृहद् भगोलं दूरभेदि तथा तथा॥ १८७॥
मूलकीलभ्रमाल्लक्ष्यसमसंधानाभाजि यत्। बृहन्नालीकसंज्ञं तत्काष्ठबुध्नविवर्जितम्।
प्रवाह्यं शकटाद्यैस्तु सुयुक्तं विजयप्रदम्॥ १८८॥ —शुक्रनीति अ० ४

२. क्रोशन्ती रामरामेति मायया योजितां रथे॥ १५॥
तमेवमुक्त्वा रुदतीं सीतां मायामयीं च ताम्॥ २९॥ —वा०रा०यु० ८१। १५,२९

बड़ा ही उत्तम निबन्ध छापा है। वह कहता है कि दक्षिण हैदराबाद में पत्थरघाटी नाम का एक ग्राम है। उस ग्राम में डाक्टर सैयद मुहम्मदक़ासिम साहब रहते हैं। आपके पूर्वज बीजापुर राज्य के पुरोहित थे। आपके यहाँ संस्कृत का बहुत बड़ा पुस्तकालय है। आप इस पुस्तकालय की अच्छी देख-भाल रखते हैं। इस पुस्तकालय में एक संस्कृत की पुस्तक है जिसमें अनेक विद्याओं के वर्णनों के साथ दूर देश में समाचार भेजनेवाले यन्त्र का भी वर्णन दिया हुआ है। इसमें लिखी हुई विधि के अनुसार दो पत्थरों को बनाकर और चाहे जितनी दूरी पर रखकर उनके द्वारा बातचीत कर सकते हैं[१]। हमारा विश्वास है कि पुराने ज़माने में इस यन्त्र के द्वारा काम भी लिया जाता होगा, क्योंकि शुक्रनीति अध्याय १ श्लोक ३६७ में लिखा है कि **'अयुतं क्रोशजां वार्तां हरेदेकदिनेन वै'** अर्थात् राजा एक दिन में दश हज़ार कोस की बात जाने। इससे ज्ञात होता है कि शीघ्र ख़बर पहुँचानेवाले यन्त्रों का आविष्कार हो चुका था।

हमने यहाँ तक सूक्ष्म यन्त्रों का पर्याप्त वर्णन कर दिया है। अब थोड़ा-सा भौतिक विज्ञान का भी वर्णन करते हैं। पुराने ज़मानेवालों ने सूर्यकान्तमणि का तो आविष्कार किया ही था, किन्तु उससे भी सूक्ष्म चन्द्रकान्तमणि का भी आविष्कार कर लिया था। अब तक यूरोप की बढ़ी हुई साइंस भी ऐसा वैज्ञानिक यन्त्र नहीं बना सकी है। चन्द्रकान्तमणि के द्वारा चन्द्रमा से पानी बनाया जाता था और बीमारों को पिलाया जाता था। सुश्रुत सूत्रस्थान ४५। ३० में लिखा है कि—

रक्षोघ्नं शीतलं ह्लादिज्वरदाहविषापहम्। चन्द्रकान्तोद्भवं वारि पित्तघ्नं विमलं स्मृतम्।

अर्थात् चन्द्रकान्त से बना हुआ जल शीतल, विमल, आनन्द देनेवाला, पित्त, ज्वरदाह और विष का नाश करनेवाला है।

यह चन्द्रकान्तमणि अकबर बादशाह के ज़माने तक थी। इसकी चर्चा 'आईनअकबरी' में आई है[२]। सूर्य की सात किरणों का प्रभाव भी यहाँवालों को ज्ञात था। वेद के 'सप्ताश्व' प्रकरणानुसार सूर्य की सात किरणों का ज्ञान संसार में सबसे पहले आर्यों ने ही प्राप्त किया था। वे आकाश की अन्य शक्तियों का विज्ञान भी जानते थे। ज्योतिष् के ग्रन्थों में भूमि से ऊपर की दूरी लिखी हुई है जहाँ पृथिवी के कण, वायु, मेघ और विद्युत् आदि रहते हैं। वहाँ लिखा है कि **'भूमेर्बहिर्द्वादशयोजनानि भूवायुरम्बाम्बुदविद्युताद्याम्'**, अर्थात् मेघ, विद्युत् और वायु आदि भूमि से बारह योजन की ऊँचाई पर हैं। यही नहीं, प्रत्युत सूर्य के अन्दर के उन काले धब्बों को भी देख लिया था, जिनको बड़े-बड़े पाश्चात्य ज्योतिषियों ने बड़े-बड़े दूरबीनों के सहारे जाना है। वाल्मीकि रामायण में रामचन्द्र लक्ष्मण से कहते हैं कि—

ह्रस्वो रूक्षोऽप्रशस्तश्च परिवेशस्तु लोहितः।
आदित्ये विमले नीलं लक्ष्म लक्ष्मण दृश्यते॥ —वा०रा०युद्ध० २३। ९

अर्थात् देखो विमल आदित्य में छोटा-सा काला धब्बा दिखलाई पड़ता है।

इन वर्णनों से स्पष्ट है कि उस युग में विज्ञान बहुत ऊँचे दर्जे तक पहुँच चुका था और यहाँ बहुत ही ऊँचे वैज्ञानिक साधन प्रस्तुत थे। भारत के जिन दिनों का यह वर्णन है वे दिन यहाँ वैज्ञानिक दृष्टि से उसी प्रकार के थे, जैसे आजकल यूरोप के हैं। हम कह आये हैं कि सूक्ष्मतर विज्ञान से विलासिता बढ़ती है। वह विलासिता यहाँ भी बढ़ी थी और उसने पृथिवी के दूर-दूर

१. इसी पुस्तक में ऐसा मसाला लिखा है जिसके उपयोग से मृतशरीर हज़ारों वर्ष अविकृत अवस्था में रह सकते हैं।

२. There is also a shining white stone called Chandrakant which upon being exposed to the moon's beams drips water. —*Ayeen Akbari*, p. 40

देशों तक अपना विष फैलाया था। यदि सच कहें तो हम कह सकते हैं कि भारतदेश आजकल उसी पाप का प्रायश्चित कर रहा है। यहाँ के सूक्ष्मतर विज्ञान के द्वारा यहाँ विलासिता के अनेक पदार्थ बनने लगे थे और दूसरे देशों का धन अपहरण होने लगा था। यहाँ की मज़लीन और मलमल, यहाँ की छींट और यहाँ के जवाहरातों ने संसार को चकाचौंध में डाल दिया था। एनटानियो सैन्सन ने छींट छापने के विषय में एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा है। उसमें लिखा है कि ईस्वी सन् के २००० वर्ष पूर्व इस विद्या को भारतीय जानते थे। समस्त लेखक इस विषय में सहमत हैं कि भारतवर्ष कपड़ा पर छींट छापने की जन्मभूमि है। यूरोपवाले इस कला की नक़ल करने के बहुत दिन पूर्व भारत के छपे कपड़े को जानते थे। इतने वर्ष बीतने पर हमने रंगों में अन्तर किया है, परन्तु उनका मूलरूप वैसा ही है जैसा भारतवासियों ने बताया था[१]।

आर्यों ने ऊँचे-से-ऊँचे दर्जे के व्यापार किये थे। सबसे बहुमूल्य जवाहरात होते हैं, परन्तु आर्यों ने जवाहरात के धन्धे की भी पराकाष्ठा कर दी थी। 'प्रेशियस स्टोन्स एण्ड जेम्स' नामी ग्रन्थ में एडविन डब्लू स्ट्रीटर एफ़०आर०जी०एस०, एम०ए० लिखते हैं 'बहुत पुराने समय से हिन्दुओं को रत्नों का शौक़ है। वे आदिकाल से ही हीरे निकालते रहे हैं'।

राजा सुरेन्द्रमोहन टेगोर के 'मणिमाला' नामक ग्रन्थ के प्रमाण से वे लिखते हैं कि 'कोहनूर आदि हीरे भारतवर्ष की ही खानों से निकले हैं। आर्य उन्हें काटना और कमल बनाना जानते थे। वे उन्हें रंगना, उनके रंग बनाना और उनपर से रंग निकालना भी जानते थे। ऐसा एक भी रत्न नहीं है, जिसे वे पहले ही से न जानते हों'। ये सब बड़े-बड़े धन्धे दूसरे देशों के साथ जहाज़ों के द्वारा होते थे। यहाँ का नौकाशास्त्र बहुत ही उन्नत दशा में था। नौ शब्द से ही अंग्रेज़ी का नेवी शब्द बना है। कहने का तात्पर्य यह कि यहाँवालों ने हर विषय को सूक्ष्मतर ज्ञान की चरमसीमा तक पहुँचाया था। देश के कई विद्वानों ने कई एक विषयों को लेकर कई एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं जो आर्यों के उच्च विज्ञान की साक्षी दे रहे हैं। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय ने रसायनशास्त्र पर, विनयकुमार सरकार ने रेखागणित पर, राजा साहब गोंडल ने वैद्यकशास्त्र पर और रामविलास शारदा ने प्रत्येक विषय पर बहुत कुछ लिखा है, परन्तु प्रश्न यह है कि इस प्रकार ज्ञान, विज्ञान, सभ्यता और सदाचार में बढ़ी हुई आर्यजाति क्यों विदेशियों से हारती रही और क्यों सदा दूसरों की ग़ुलाम रही ? यद्यपि इसका उत्तर भी गर्वपूर्वक कह सकते हैं कि हमें कभी किसी दूसरे ने पराजित नहीं किया, परन्तु शर्म से गर्दन नीची हो जाती है जब हम देखते हैं कि हम सदैव अपने आपको स्वयं पराजित करते रहे हैं और पराजित होते रहे हैं। हमारे सामने तीन ऐसे बड़े-बड़े ऐतिहासिक प्रसङ्ग उपस्थित हैं, जिनसे हमारी उपर्युक्त बात सिद्ध होती है।

सबसे प्रथम सिकन्दर की चढ़ाई होती है। हम उससे हारते हैं, परन्तु क्या हम सिकन्दर के बल या रणकौशल से हारते हैं ? नहीं। हम अपने ही बल और रणकौशल से हारते हैं। हमारे ही

---

१. The art of staining or producing designs on fabrics can be traced to very remote times, and it is, by some authors, asserted that it was practised 2,000 years before the Christian Era. All writers on the subject are agreed in considering India as the birth place of calico printing.

The Indian printed, or rather painted fabrics were known a long time in Europe before any attempt was made to similate them.

By looking at the patterns in vogue in the last few months, it will have been observed that Indigo-blue and red have been very prominent, in other words it is interesting to observe that after all we have gone back in these styles to the effects produced 2,000 years ago by the Hindus. We can produce brighter reds and execute finer patterns but the colours are just the same althogh fixed differently. —*The Printing of Cotton Fabrics* by Antonio Sansone.

आदमी सिकन्दर की सेना में शामिल होते हैं और हमारा पराजय होता है। इतिहास में लिखा है कि तक्षशिला के मोफी ने ५,००० योद्धाओं को साथ लेकर सिकन्दर को सहायता दी और पोरस को हराया[१]।

यदि यह देशशत्रु सिकन्दर को मदद न देता तो सिकन्दर को आगे बढ़ने का साहस न होता, क्योंकि मगध के राजा महानन्द की सेना की चढ़ाई से सिकन्दर घबरा गया था[२]। यहाँ हम स्वयं ही इस सिकन्दर की विजय के कारण सिद्ध होते हैं।

हमपर दूसरा विजय मुसलमानों का है। मुसलमानों को बुलानेवाले, उनको सहायता देनेवाले, उनकी नौकरी करनेवाले और उनसे रिश्तेदारी करनेवाले भी तो हम ही हैं। उनको हमने ही बुलाया और हमने ही उनकी अधीनता स्वीकार की। इसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है।

यूरोप-निवासियों की विजय का तीसरा इतिहास हमारे सामने है। कालीकट के राजा ने उन्हें टिकाया। मुसलमान बादशाहों ने उन्हें व्यापार करने, ज़मीन ख़रीदने, फ़ौज रखने और सिक्का चलाने का परवाना दिया। हमारे देशी सिपाहियों ने अंग्रेज़ों की फ़ौजों में नौकरी की और बेशर्मी से अपने आपको पराजित करते रहे।

इस प्रकार इतिहास बलपूर्वक सिद्ध करता है कि हमपर कभी किसी ने बल से या रणकौशल से राज्य नहीं किया, प्रत्युत हमने स्वयं अपने आपको धोखा दिया है और अपने आपको पराजित किया है। इसका प्रबल प्रमाण यह है कि अपनी उक्त बेशर्म नीति के विरुद्ध हमने जब इच्छा की है तब अपना शासन अपने हाथ में ले-लिया है। राजा चन्द्रगुप्त ने सिकन्द्र को हटा दिया, मरहटों और सिक्खों ने मुसलमानों को हटा दिया, और यदि समस्त देश के हिन्दू एकमत होकर ईमानदारी से स्वराज्य का प्रयत्न करें तो वे उसे प्राप्त कर सकते हैं, इसमें अधिक बहस करने की आवश्यकता नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि हमारी सहायता के बिना हमपर कोई सुख से राज्य नहीं कर सकता।

हममें कभी कम ताक़त नहीं रही, हममें ज्ञान की कभी कमी नहीं रही और हममें धन की भी कभी कमी नहीं रही। अगर कोई कमी कभी हुई है तो परस्पर के मेल-मिलाप की। हममें मतभेद बहुत ही शीघ्र हो जाता है। यह हमारे मिश्रित दर्शनज्ञान का ही दोष है। जहाँ दर्शन मिश्रित हो जाता है वहाँ के दार्शनिकों में सदैव मतभेद बना रहता है। दर्शन भी सूक्ष्मतर ज्ञान की एक शाखा है। वह सदैव अस्थिर रहता है। इसलिए हम दार्शनिक मतभेद को छोड़कर जब तक पूर्ण शुद्ध वैदिक न हो जाएँ तब तक हमारा मतभेद मिट नहीं सकता और जब तक मतभेद न मिटे तब तक हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार हमने इस सूक्ष्मतर ज्ञान के नमूने दिखलाते

---

१. Sir William Hunter says—The Hindu King Mophis of Taxila joined Alexander with 5,000 men against Porus. —*Imperial Gazzetteer of India.*

It may be remembered that it was with the help of the traitors, Sasigupta (Sasikottos) and others that Alexander obtained a footing in the Swat Valley and conquered the Usufzi country.

Professor Maxeduncker says that when Alexander attacked Porus, his army was twice as strong and had been yet further increased by 5,000 Indians from Mophis and some smaller states.

—*History of Antiquity,* Vol. IV, p. 399.

२. Alexander, the great, with his fine army was able to gain only one victory over a small Hindu kingdom and that with the aid of another Hindu chief, the king of Takshashila.

The advance of Maharaja Mahanand of Magadh struck terror in the army of Alexander and had he advanced further the great Alexander would have shared the fate of the Assyrian Semiramis.

—*The Early History of India,* p. 104.

हुए यह बतलाया कि आर्यों ने सूक्ष्मतर ज्ञान वेद से ही उपलब्ध किया था, उसी से बढ़ाया है और संसार के किसी भी अन्य देश से कोई ज्ञान नहीं सीखा, प्रत्युत दूसरों को सिखलाया है। ऐसी दशा में आदिज्ञान के स्वरूप के साथ वेद के 'कर्मयज्ञ' पूर्ण रीति से मिलते हैं, परन्तु इस कर्मयज्ञ पर कुछ लोग एक आध वैज्ञानिक शंका भी करते हैं, इसलिए यहाँ उनका भी समाधान कर देना अनुचित नहीं है।

हवन और वैज्ञानिक शङ्का

यूरोपीय साइंस की नक़ल करके उसको बदनाम करनेवाले कुछ देशी विद्वान् कहा करते हैं कि हवन से कारबन, अर्थात् ऐसी वायु उत्पन्न होती है जो मनुष्य के लिए हानिकारक है। हम कहते हैं कि यज्ञों के जितने गुण हैं उनको देखते हुए हवन के धुएँ से उत्पन्न होनेवाली हानियाँ कुछ मूल्य नहीं रखतीं, विशेषकर ऐसे समय में जब रेल के एंजिन, मिलों की चिमनियाँ और सिगरेट के धुएँ रात-दिन लोगों का स्वास्थ्य नष्ट कर रहे हैं, परन्तु फिर भी लोग कहते हैं कि हवन से वायु बिगड़ती है, इसलिए हम उचित समझते हैं कि यहाँ पर यह दिखलाने का यत्न करें कि कभी-कभी धुवाँ भी लाभदायक होता है और बिना धुएँ के भी वायु हानिकारक होती है। धुएँ के लाभ दिखलाते हुए फ्रांस के विज्ञानवेत्ता अध्यापक ट्रिलवर्ट कहते हैं कि जलती हुई शक्कर में वायु शुद्ध करने की बहुत बड़ी शक्ति है। उन्होंने इसके प्रयोग भी दिखलाये हैं। वे कहते हैं कि इससे, क्षय, चेचक, हैज़ा आदि बीमारियाँ तुरन्त नष्ट हो जाती हैं[१]। इसी प्रकार डॉक्टर एम० ट्रेल्ट ने मुनक़्क़ा, किशमिश आदि फलों को (जिनमें शक्कर अधिक होती है) जलाकर देखा है। उनको ज्ञात हुआ है कि इनके धुएँ से टाइफ़ाइड के रोगकीट ३० मिनट में और दूसरे रोगों के कीट घण्टे-दो घण्टे में नष्ट हो जाते हैं[२]।

मेड्रास के सेनेटरी कमिश्नर डॉक्टर कर्नल किंग आइ० एम० एस० ने कॉलेज के विद्यार्थियों को उपदेश किया है कि घी और चावल में केसर मिलाकर जलाने से रोगजन्तुओं का नाश हो जाता है[३]।

फ्रांस का डॉक्टर हैफ़किन कहता है कि घी के जलाने से रोगकीट मर जाते हैं[३]।

इन प्रमाणों से पाया जाता है कि विचारपूर्वक स्थिर किये हुए रोगनाशक पदार्थों के धुएँ से लाभ ही होता है, परन्तु यह न समझना चाहिए कि वायु से केवल कारबन निकाल डालने पर ही उसकी शुद्धि होती है। वायु में बिना कारबन के भी बहुत से मारनेवाले तत्त्व उपस्थित हो जाते हैं। डॉक्टर जे० लैन नाटर एम०ए०, एम०डी०, आर०एच०, एफ़०आर०सी०एस० ने 'हाइजिन' नामी पुस्तक में लिखा है कि जिन कोठरियों में बहुत-से आदमी हों और खिड़कियाँ खुली न हों वहाँ का वायु दोषयुक्त होता है। वहाँ कारबोनिक एसिड अधिक परिमाण में होता है।

वहाँ शिर घूमने लगता है और मूर्च्छा भी हो जाती है, परन्तु इसका कारण गर्मी या कारबन डाईआक्साइड की उत्पत्ति ही नहीं है, प्रत्युत वायु के अन्दर आक्सीजन का कम हो जाना है, क्योंकि मनुष्य अथवा पशुओं के वे मलिन पदार्थ जो उनके श्वास और त्वचा से निकलते हैं, वायु में भर जाते हैं और विष का काम करते हैं। इसका परीक्षण इस प्रकार किया गया है कि हवा से कारबन डाईआक्साइड निकाल लिया गया और मनुष्यों के श्वास से उत्पन्न हुआ वायु रहने दिया गया। उस वायु में जब चूहा रक्खा गया तो वह ४५ मिनट में मर गया। इससे सिद्ध है कि मैली

१. 'सरस्वती' अक्टूबर सन् १९१९
२. 'भारत सुदशा प्रवर्तक' जून सन् १९०३
३. 'ब्यूबोनिक' पायोनियर प्रेस, प्रयाग

हवा कारबन डाईआक्साइड से भी अधिक ज़हरीली होती है। कहने का तात्पर्य यह कि हवा केवल कारबन ही के निकाल देने पर शुद्ध नहीं हो सकती। उसमें से तो दूषित मलिनता के निकालने की आवश्यकता है। हवन में यह गुण है कि वह दूषित मलिनता को जला देता है, परन्तु थोड़ा-सा कारबन रहने देता है, क्योंकि हवन से निकला हुआ कारबन वृक्षों का भोजन है। हवन से जहाँ वायु शुद्ध होती है वहाँ हवन से वृक्षों को भी भोजन मिलता है। हवन जब सघन वृक्षावली (जंगल) में होता है तब वहाँ की वायु शुद्ध हो जाती है और वनवृक्षों को भोजन भी मिल जाता है। इस प्रकार हवन सार्थक हो जाता है और उसमें कारबन फैलाने का दोष नहीं रहता, क्योंकि हमने पिछले प्रकरणों में बतलाया है कि यज्ञ की सामग्री घी, दूध आदि पशुओं से और ओषधियों जंगलों से ही प्राप्त होती हैं। पशु भी जंगल में ही चरते हैं, इसलिए यज्ञ का समस्त कार्य जंगल से ही चलता है। यज्ञ का ही काम नहीं चलता, प्रत्युत प्राणिमात्र का जीवन भी जंगल पर ही—वनस्पति पर ही अवलम्बित है, इसलिए यज्ञ के मुख्य उद्देश्य में वनस्पति को लाभ पहुँचाना भी है। वनस्पति को पानी और कारबन वायु की आवश्यकता होती है। वृक्ष कारबन वायु को खाते और वृष्टि के जल को पीते हैं। हम देखते हैं कि यज्ञ अपने धूम से कार्बन और वृष्टि की रचना एक ही साथ करते हैं और ये दोनों पदार्थ वृक्षों के खाने और पीने के काम आते हैं।

विज्ञान ने अब यह बात सिद्ध कर दी है कि वायु में जो डस्ट—धूल उड़ा करती है, वही आक्सीजन और हाईड्रोजन को मिलाकर पानी बनाने के लिए जामन का काम करती है। सभी को मालूम है कि यज्ञों का उद्देश्य पानी बरसाना भी है, अतः हवा का कारबोनिक गैस जो वृक्षों के खाने से बच जाता है और 'डस्ट' के रूप में रह जाता है उसे बरसात का पानी नीचे खींच लाता है और वह भी वृक्षों के लिए खाद बन जाता है। इस प्रकार कारबन पानी बरसाने और वृक्षों का भोजन बनने में सहायता करता है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह कारबनयुक्त वायु मनुष्यों के लिए हानिकारक है? हम कहते हैं कि नहीं। हमारा सिद्धान्त है कि यज्ञ का स्थान जंगल होना चाहिए। याज्ञिकों के लिए जंगल अनिवार्य वस्तु है। जंगल तुरन्त ही वायु के कारबन को खा जाता है और तुरन्त ही आक्सीजन वायु दे देता है, क्योंकि यह भी सिद्धान्त है कि वृक्ष कारबोनिक गैस को खाते और आक्सीजन, अर्थात् प्राणप्रद वायु देते हैं। इस प्रकार वैदिक यज्ञदेश में वैदिक यज्ञों द्वारा उत्पन्न वायु तत्क्षण उसी प्रकार लाभदायक हो जाती है, जिस प्रकार हमारे श्वासप्रश्वास। हमारे श्वासप्रश्वास प्राणप्रद वायु लेते हैं, इसलिए यज्ञों पर कारबन फैलाने का अभियोग नहीं लग सकता। पूर्वोक्त समस्त विवरण के द्वारा यहाँ तक कर्मयज्ञों का वर्णन करके देखा तो ज्ञात हुआ कि वे हर प्रकार से विज्ञानयुक्त और आदिज्ञान के अनुरूप हैं, अतः अब आगे ज्ञानयज्ञ का वर्णन करते हैं।

ज्ञानयज्ञ

ज्ञानयज्ञ का सम्बन्ध विद्याध्ययन से है। वैदिकों में इसका बड़ा माहात्म्य था। नित्य के पञ्च महायज्ञों में ब्रह्मयज्ञ सर्वप्रथम है। इस सर्वप्रथम ब्रह्मयज्ञ के विषय में मनु महाराज मनुस्मृति में कहते हैं कि '**अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः**', अर्थात् पढ़ाना ही ब्रह्मयज्ञ है। द्विजों को चाहिए कि वे नित्य पढ़ावें, क्योंकि उनपर ऋषिऋण है, परन्तु प्रश्न तो यह है कि बिना पढ़े पढ़ावें क्या? इसलिए अभिप्राय यह निकला कि वे स्वयं नित्य पढ़ें। मनुस्मृति में स्वाध्याय के लिए लिखा है कि—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः। तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु॥

—मनु० २। १०७

अर्थात् जो नियत समय में विधि से एक वर्ष भी स्वाध्याय करता है, उसको स्वाभाविक ही दूध, दधि, घृत और मधु नित्य मिलते हैं।

इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में भी लिखा है कि—

यद्यद् ह वै अयं छन्दतः स्वाध्यायमधीते तेन तेन ह एव अस्य यज्ञक्रतुना इष्टं भवति। तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः। —शत० ११।५।७।२

एष पन्था एतत् कर्म एतत् ब्रह्म एतत् सत्यं तस्मात् न प्रमाद्येत् तत् न अतीत्। —ऐतरेय० ५।१।१

अर्थात् जितना-जितना वह स्वाध्याय करता है उतना ही उसे यज्ञ का फल होता है, इसलिए स्वाध्याय अवश्य करे। यही लोक-परलोक का मार्ग है, यही सब कर्त्तव्यों का कर्त्तव्य कर्म है, यही सत्य है और यही ब्रह्मप्राप्ति का उपाय है, इसलिए स्वाध्याय अवश्य करे।

गीता में इस ज्ञानयज्ञ के विषय में कहा है—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परं तपः। सर्वकर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते॥ —भगवद्गीता [४। ३३]

अर्थात् द्रव्ययज्ञ—कर्मयज्ञ बहुत उत्तम हैं, परन्तु ज्ञानयज्ञ तो बहुत ही श्रेष्ठ है। ज्ञान के सामने सब कर्म समाप्त हो जाते हैं।

शास्त्रों में इस प्रकार ज्ञानयज्ञ का माहात्म्य बतलाया गया है। इस ज्ञानयज्ञ में यद्यपि तृण से लेकर ईश्वरपर्यन्त का ज्ञान सम्मिलित है, परन्तु मुख्यतः इस ज्ञान के तीन विभाग हैं। प्रथम विभाग में धर्म है। सदाचार, सभ्यता, वर्णाश्रम मर्यादा और संस्कार आदि इस धर्मविभाग के अङ्ग हैं। दूसरा विभाग विद्याओं से सम्बन्ध रखता है। वैद्यक, ज्योतिष्, गणित, भूगोल, रसायन, विज्ञान, कला, संगीत आदि इसके अङ्ग हैं। तीसरा विभाग परलोक से सम्बन्ध रखता है। ईश्वर, जीव, पुनर्जन्म, कर्म, कर्मफल, स्वर्ग, नरक और बन्ध-मोक्ष आदि इसके अङ्ग हैं। इन तीनों विभागों को जानना ही ज्ञानयज्ञ कहलाता है। इस ज्ञानयज्ञ से दो प्रकार के यज्ञ उत्पन्न होते हैं—कर्मयज्ञ और उपासनायज्ञ। कर्मयज्ञ का वर्णन इसके पहले हो चुका है और उपासनायज्ञ का वर्णन इसके आगे होनेवाला है। बीच का यह ज्ञानयज्ञ ही उक्त दोनों यज्ञों को सफल बनाता है। यह न हो तो भी यज्ञ सम्पन्न नहीं हो सकता। इस यज्ञ को प्राचीन आर्यों ने बहुत ही अच्छी प्रकार पहचाना था। इसका नाम ब्रह्मयज्ञ है और नित्य के कर्त्तव्य कर्मों में सम्मिलित है। इस यज्ञ का सर्वप्रधान अङ्ग धर्म है। यदि मनुष्य में धर्म नहीं है—यदि वह कर्त्तव्याकर्त्तव्य को नहीं जानता तो उसका जीवन व्यर्थ है।

भारतीय आर्यों ने सारे संसार को धर्म की शिक्षा दी है और अब भी दे रहा है। पश्चिम के विद्वान् कहते हैं कि वैदिक धर्म ही समस्त धर्मों का उद्गम है। मौरिस मेटेरलिंक नामक विद्वान् अपनी पुस्तक 'दी ग्रेट सिक्रेट' में लिखता है कि धन्यवाद है उस नई विद्या और उस विद्वन्मण्डली को जो मिस्र और हिन्द की प्राचीन सभ्यता का पता लगाती है। इसने सम्भव कर दिया है कि हम उस गुप्त किन्तु अन्दर फैली हुई धारा के निकास और प्रवाहमार्ग का पता लगावें जो सृष्टि के आदि से संसार के सब मतों, सम्प्रदायों और दार्शनिक विद्याओं की जड़ को सींचती है और जिसके आधार पर मनुष्यमात्र के सारे आधुनिक विचार बने प्रतीत होते हैं। अब इसमें मुश्किल से ही विवाद हो सकता है कि इस धारा का निकास प्राचीन भारतवर्ष से ही हुआ था। भारत से यह आध्यात्मिक विद्या की धारा मिस्र में फैली, पुराने पारसीक और चाल्डिया देशों में पहुँची, इबरानी बोलनेवाली जातियों पर इसने अपना प्रभाव डाला और यूनान और उत्तरीय यूरोप में

अपना सिक्का जमाया और अन्त में चीन से अमेरिका तक अपना प्रभाव पहुँचाया। इसी प्रकार 'लुईस जेकालियट' लिखता है कि 'हम समस्त संसार के नये और पुराने धार्मिक विश्वासों को भारत से ही सम्बन्ध रखता हुआ देखते हैं'[१]।

इसी प्रकार काउण्ट जार्नस्टजेरना कहता है कि चाल्डिया और बेबिलोनिया-निवासियों ने अपनी सभ्यता भारत से ही प्राप्त की है[२]। कहने का तात्पर्य यह कि वैदिक धर्म ही संसार में फैला हुआ है, इसलिए उस धर्म का जानना अत्यावश्यक था।

जिस प्रकार धर्मज्ञान सम्पादन करना आवश्यक था उसी प्रकार प्रत्येक विद्या का ज्ञान प्राप्त करना भी आवश्यक था। वैदिक आर्य इसे भी बहुत ही अच्छी प्रकार मन लगाकर पढ़ते थे। इन विद्याओं को भी संसार में वैदिक आर्यों ने ही फैलाया है। प्रो० मैकडॉनल लिखते हैं कि 'विद्याओं के लिए भी यूरोप भारतवर्ष का ऋणी है'[३]।

यूरोप ही नहीं, समस्त संसार ऋणी है। ऐसी उपकारी विद्याएँ जिनको संसार के लोग वैदिक आर्यों से सीखते थे, उनको आर्य क्यों न पढ़ते। आर्यों के स्वाध्याय की तीसरी शाखा पारलौकिक विषयों की थी। उनका जैसा अध्यात्मशास्त्र संसार में कहीं नहीं है। इस विद्या को सीखने के लिए ईरान से जामास्प, यूनान से पैथागोरस, पेलिस्टाइन से क्राइस्ट और चीन से ह्वेन्त्सांग आदि विद्वान् समय-समय पर आते रहे हैं।

आज भी अमेरिका और यूरोप में भारत के अध्यात्मशास्त्र की शिक्षा फैल रही है। इस प्रकार ज्ञान के तीनों विभाग प्रचीनकाल में अच्छी प्रकार उन्नत थे और उनका पठन-पाठन भी यज्ञ ही कहलाता था जो नित्य ब्रह्मयज्ञ के नाम से किया जाता था। इस ज्ञानयज्ञ का स्वरूप भी आदिज्ञान के स्वरूप के साथ मिलता है। इस ज्ञानयज्ञ के आगे उपासना यज्ञ है। यहाँ हम उसका भी थोड़ा-सा वर्णन करते हैं।

उपासनायज्ञ

अब तक हम जिस प्रकार के सार्वजनिक सुख-साधक यज्ञों का वर्णन कर आये हैं उनको नि:स्वार्थ भाव से करनेवाला—सब-कुछ देकर भी 'इदं न मम', अर्थात् यह मेरा नहीं है, कहनेवाला वैदिकों के मत से मोक्षभागी हो जाता है। मनुस्मृति में लिखा है कि '**महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः**', अर्थात् पञ्चमहायज्ञों और अन्य यज्ञों से यह शरीर ब्राह्मी बनाया जाता है। ब्राह्मी शरीर का तात्पर्य ब्रह्मयोग्य बनना ही है। फल की आशा का त्याग करके परोपकार-दृष्टि से सार्वजनिक लोकसेवा करने से मोक्ष होता है। इस बात को गीता ने भी माना है। वहाँ लिखा है—

संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते॥

—भगवद्गीता [५।२]

अर्थात् संन्यासरूपी ज्ञानमार्ग और लोकसेवा रूपी कर्ममार्ग दोनों मोक्ष के देनेवाले हैं, परन्तु ज्ञानमार्ग से कर्ममार्ग विशेष रूप से उपयोगी है।

---

१. So, in returning to the fountain head, do we find in India all the poetic and religious traditions of ancient and modern peoples.

२. The Chaldeans, the Babylonians and the habitants of Calchis derived their civilisation from India.
—*Theogony of the Hindus*, p. 108.

३. In science too, the debt of Enrope to India has been considerable.
—*History of the Sanskrit Literature* by Macdonell.

मनु ने तो इसे ही वैदिक कहा है। वे कहते हैं कि—

कामात्मता न प्रशस्ता न चैवेहास्त्यकामता। काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः॥

—मनुस्मृति [२।२]

अर्थात् न कामात्मा होना अच्छा है और न निष्काम ही होना चाहिए, प्रत्युत काम्यभाव से वेद प्राप्त होता है, इसलिए कर्मयोग ही वैदिक है।

वेदों में भी लिखा है कि—

तं पत्नीभिरनुगच्छेम देवाः पुत्रैर्भ्रातृभिरुत वा हिरण्यैः।
नाकं गृभ्णानाः सुकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे अधिरोचने दिवः॥ —यजुः० १५।५०

अर्थात् हे देवो! हम पत्नी, पुत्र, भाई और सम्पूर्ण धन के साथ उस यज्ञ का सम्पादन करेंगे, जिससे दिव्य तेजस्वी तृतीय पुण्यलोक में सुखी होकर रहें।

पुरुषसूक्त में स्पष्ट ही लिखा है कि—

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ —यजुर्वेद [३१।१६]

अर्थात् देवताओं ने यज्ञ किया जो प्रथम धर्म था। वे उसी से उस महान् स्वर्ग को गये जहाँ पूर्वकाल के वेदर्षि गये हैं।

इसका भाव यही है कि शरीरयज्ञ से जो तप, योग आदि क्रियाएँ की जाती हैं, उसी का नाम उपासनायज्ञ है। उसी से स्वर्ग-प्राप्ति होती है। स्वर्ग और मोक्ष में कोई अन्तर नहीं है। वैदिक कालीन स्वर्ग और मोक्ष एक ही वस्तु है, क्योंकि लिखा है कि मोक्ष में जानेवाले सूर्यलोक से जाते हैं और सूर्यलोक ही स्वर्ग है। यदि ऐसा न होता तो वेद में यह न लिखा होता कि—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ —यजुर्वेद ४०।२

अर्थात् कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। इस प्रकार की जीवन-यात्रा से ही कर्म लिप्यमान न होंगे। इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है।

भाव यह कि यज्ञयोगरूपी सत्कर्म से कर्मफल लिप्यमान नहीं होते। ऐसे यज्ञों से मनुष्य मोक्ष का अधिकारी हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि मोक्षवाले यज्ञ भी यही कर्मयज्ञ ही हैं, जो सायं-प्रातः के अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त कहे गये हैं। इन यज्ञों से तो वह केवल 'ब्राह्मीतनु' अर्थात् ब्रह्मयोग्य ही होता है। मोक्ष के लिए तो एक आध्यात्मिक यज्ञ ही निराला है। यह यज्ञ भी सब यज्ञों की भाँति दोनों सन्ध्याओं में ही होता है। इसी से इस यज्ञ का नाम सन्ध्या है। सन्ध्या में हृदय की वेदी पर प्राणों की समिधा से ज्ञान की अग्नि के द्वारा मन की चंचलता का होम किया जाता है। वेद में कहा है कि **'तायते सप्तहोता। तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु'**, अर्थात् सातों इन्द्रियाँ होता होकर जब प्राणों का होम करती हैं तब मन एकाग्र होकर समाधिस्थ होता है और दीनभाव की प्रार्थना से परमात्मा के शरणागत होकर उसको अपने अन्दर प्रकट करता है—साक्षात्कार करता है।

वेद में लिखा है कि **'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'** अर्थात् उसी का दर्शन प्राप्त होने पर मोक्ष होता है। इस उपासनायज्ञ का वर्णन वेदों, उपनिषदों, गीता और अन्य तत्सम्बन्धी पुस्तकों में विस्तृतरूप से है। इसको योगयज्ञ भी कहते हैं। सन्ध्या योगयज्ञ ही है। आधुनिक काल में उसका नाम ब्रह्मयज्ञ हो गया है, परन्तु ब्रह्मयज्ञ का अर्थ पढ़ाना है, इसलिए वह ज्ञानयज्ञ है, उपासनायज्ञ

नहीं। उपासनायज्ञ का सम्बन्ध जप, तप, योग, वैराग्य, ज्ञान, भक्ति, और ईश्वरपरायणता आदि से ही है। इसलिए उपासनायज्ञ के विषय में गीता उपदेश करती है कि—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना॥
अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे। प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा॥

—भगवद्गीता [४।२४,२९]

अर्थात् ब्रह्म ही हवि है, वही अग्नि है, वही हुत पदार्थ है और यह सब उसी में जाता है। समाधिवालों का यही ब्रह्मकर्म है। अपान को प्राण में और प्राण को अपान में अर्थात् प्राणापान दोनों की गतियों को रोककर ध्यान करे और स्तुति-प्रार्थना करता रहे, क्योंकि मनुस्मृति २।८५ में लिखा है कि '**विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः**', अर्थात् कर्मयज्ञ से यह उपासनायज्ञ—जपयज्ञ दशगुना उत्तम है। इस उपासनायज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाली समाधि की दशा का वर्णन करते हुए उपनिषद् कहते हैं कि—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥[१]

अर्थात् धुले हुए मलों के बाद समाधि में निवेश करने से आत्मा को जो सुख प्राप्त होता है, वह वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। वह सुख तो अपने हृदय से ही अनुभव होने योग्य है।

इस प्रकार से इस उपासनायज्ञ का वर्णन किया गया है। यह उपासना यज्ञ सब यज्ञों में श्रेष्ठ है, क्योंकि इस यज्ञ से ही ज्ञान की सब उलझनें सुलझ जाती हैं। उपनिषदों में लिखा है कि—

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे॥[२]

अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार होते ही हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और कर्मों का क्षय हो जाता है।

संसार में देखा जाता है कि उच्च ज्ञान और उच्च शिक्षा प्राप्त लोग भी निर्भ्रान्त नहीं होते, परन्तु इस स्थिति में पहुँचकर समस्त विश्वब्रह्माण्ड का निर्भ्रान्त ज्ञान हो जाता है, इसीलिए वेदों में वह युक्ति बतलाई गई है, जिसका प्रयोग करने से मनुष्य निर्भ्रान्त ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

हमने ज्ञान के विभाग करते हुए बतलाया था कि प्रावेशिका ज्ञान के आगे काल्पनिक ज्ञान होता है, परन्तु वह मनुष्यों का सोचा हुआ होने के कारण निर्भ्रान्त नहीं होता, इसीलिए आदिज्ञान प्रावेशिका ही था। इस प्रावेशिका ज्ञान में ही लौकिक और पारलौकिक दो प्रकार के ज्ञान हैं। दोनों प्रकार के ज्ञान यज्ञ में ही ओतप्रोत हैं। यज्ञ के तीनों विभाग—कर्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ और उपासनायज्ञ—लोक-परलोक की पूर्ण शिक्षा देते हैं। लोक से सम्बन्ध रखनेवाले कर्मयज्ञ जिस प्रकार चक्रवर्ती राज्य तक पहुँचाते हैं और ज्ञानयज्ञ जिस प्रकार सामाजिक उन्नति की चरम सीमा तक पहुँचाते हैं उसी प्रकार परलोक शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले उपासनायज्ञ जिनका वर्णन हमने अभी किया है, परमेश्वर तक पहुँचा देते हैं। इस प्रकार यज्ञ के तीनों विभाग लोक और परलोक सुखों को देकर जीव को निर्भ्रान्त, निर्दोष बनाकर अक्षयपद और अनुपमेय आनन्द देते हैं। इनसे मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है, उसे फिर कोई इच्छा नहीं रहती।

इस प्रकार यहाँ तक हमने तीनों प्रकार के यज्ञों का अच्छी प्रकार दर्शन कराया। ये तीनों

---

१. मैत्रायण्युप० ६।३४ २. मुण्डको० २।२।८

प्रकार के यज्ञ एक ही यज्ञ के रूप हैं, इसलिए यह सारा वर्णन यज्ञ ही समझना चाहिए। यज्ञ की इस व्यापक व्याख्या और इस विस्तृत वर्णन से हमने यह दिखलाने की चेष्टा की है कि प्राचीनकाल में ये यज्ञ होते थे और इन यज्ञों के करनेवाले इतना विस्तृत ज्ञान रखते थे तथा यह समस्त ज्ञान वेद से ही उपलब्ध हुआ था[१], क्योंकि वेद का एक भी ऐसा मन्त्र नहीं है जो किसी-न-किसी यज्ञ के किसी-न-किसी कार्य में प्रयुक्त न हो। ब्राह्मणग्रन्थों का मुख्य अभिप्राय ही यह है कि समस्त वेद को कहीं-न-कहीं विनियुक्त करें। विनियोग का अर्थ है उपयोग। यदि वेद यज्ञ में विनियुक्त नहीं होते तो वे बेकार हैं—बुद्धिविरुद्ध हैं, परन्तु आज लोग समस्त वेद को यज्ञवेदी पर इधर-उधर उछलने-कूदने की ऊलजलूल कसरत पर ही लगा रहे हैं। हाथ उठाने, पैर फैलाने, स्रुवा लेने और प्रोक्षणी को उत्तर-दक्षिण रखने में ही समस्त मन्त्रों को लगाकर वेदों की, यज्ञों की और देश की छीछालेदर कर रहे हैं। यदि ठीक-ठीक यज्ञ का अभिप्राय समझा जाता—ठीक-ठीक यज्ञ-विधान किये जाते तो देश से ज्ञान, पुरुषार्थ और ऐक्यता नष्ट न हो जाती और न देश का सत्यानाश ही होता।

हम पूछना चाहते हैं कि क्या आजकल याज्ञिक लोग उन वेदाङ्गों को जानते हैं जिनकी यज्ञ में आवश्यकता होती है? क्या यज्ञों को सार्वजनिक लाभार्थ कोई करता है और क्या उसमें हिन्दूमात्र का संगठन होता है? कभी नहीं, कदापि नहीं। यज्ञ तो आजकल एक प्रकार का दम्भ होते हैं, इसलिए हम आशा करते हैं कि अब हिन्दूसंगठन के ही नाम से सही यज्ञों का उद्धार किया जाए। यज्ञों में जितनी विद्याओं की आवश्यकता होती है उनके वैदिक ज्ञाता तय्यार किये जाएँ और आदेश दिया जाए कि वे वेदों से ही वह ज्ञान उपलब्ध करें। यज्ञों को सार्वजनिक लाभदायक बनाने का यत्न किया जाए और यज्ञों में हिन्दूजातिमात्र का सम्मेलन करके सबमें एक उद्देश्य, एक लक्ष्य और एक भावना का संचार किया जाए, क्योंकि यज्ञों से इन्हीं तीन बातों का लाभ है। देवपूजा, संगतीकरण और दान ही इन तीनों के मूल में काम कर रहे हैं। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जब तक विधिपूर्वक यज्ञ होते रहे तब तक इस जाति में ज्ञान, ऐक्यता तथा पुरुषार्थ रहा है, परन्तु जब से केवल हवन करने का ही नाम यज्ञ हो गया है तब से सभी कुछ नष्ट हो गया है। हम देखते हैं कि यह समय विद्या, बुद्धि, पुरुषार्थ और सङ्गठन का है। इन चारों बातों का यज्ञ में बहुत ही उचित रीति से सम्मिश्रण विद्यमान है, अत: यज्ञों का संशोधन करके उनका पुन: प्रचार करना चाहिए। जो हो, हमें तो यहाँ केवल यही दिखलाना था कि वेदों के ज्ञान का स्वरूप जो यज्ञों में ओत-प्रोत है वह आदिज्ञान के स्वरूप के अनुरूप है या नहीं—उससे मिलता है या नहीं। इस बात को हमने हर प्रकार से जाँचा और देखा कि वैदिक ज्ञान का स्वरूप आदि ज्ञान के स्वरूप से मिलता है, इसलिए हम बलपूर्वक कहते हैं कि वैदिक ज्ञान अपौरुषेय है।

वैदिक ज्ञान की अपौरुषेयता

यहाँ तक हमने वेदों के ज्ञान और विज्ञान को यज्ञों और यज्ञसम्बन्धी अन्य कार्यों की सिद्धि में चरितार्थ देखा। कितने प्रकार के यज्ञ हैं, उन सबकी पूर्ति के लिए कितने ज्ञान-विज्ञान, कितने अस्त्र-शस्त्र और कितने यन्त्र-तन्त्रों की आवश्यकता पड़ती है यह सब सहज ही देखा गया। यह ज्ञान इतने परिमाण में है कि इसका सम्पूर्ण ज्ञाता अपने विचारों को आसानी से सूक्ष्मतर नहीं, किन्तु सूक्ष्मतम ज्ञान तक पहुँचा सकता है। हमने ऋषियों के सूक्ष्मतर ज्ञान के जो दो-चार नमूने

---

१. The Hindus of Vedic age even had attained to an advanced stage of civilization.
—*Rigveda*, by H.H. Wilson.

दिखलाये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस ज्ञान के द्वारा उन्नति करना मनुष्य के लिए शक्य है।

वेदों का ऐतिहासिक काल अत्यन्त भूत में विलीन है। वे मनुष्य के साथ ही उत्पन्न हुए सिद्ध होते हैं। साथ ही यह भी सिद्ध हो रहा है कि वेदों का ज्ञान आर्यों ने किसी दूसरे से नहीं सीखा, प्रत्युत उन्होंने दूसरों को सिखलाया है। इन उपर्युक्त कोटिक्रमों से सिद्ध है कि आर्यों के विश्वासानुसार वेद मनुष्य की रचना नहीं, प्रत्युत वे अपौरुषेय हैं। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि वेदों को हम इसलिए आदिसृष्टि से कह सकते हैं कि उनसे पूर्व का कोई अन्य लिखित चिह्न नहीं मिलता, परन्तु वेद के भीतर जो भाषा, देवमाला, धर्म और अध्यात्मविद्या का ज्ञान हमें मिलता है वह हमारे सामने इतनी प्राचीनता का दृश्य दिखलाता है कि कोई भी मनुष्य उस प्राचीनता को वर्षों की संख्या में नहीं ला सकता[१]। इसके अतिरिक्त भाषा-सम्बन्धी विवेचन से यह प्रमाणित हो गया है कि परमात्मा ने ही मनुष्य के मुखस्थित अवयवों, स्थानों और प्रयत्नों को वैदिक वर्णमाला के उच्चारण-योग्य बनाकर अन्तःस्फुरण से वैदिक भाषा का ज्ञान प्रदान किया है। कोई भाषा बिना अर्थ के नहीं होती, इससे आप-ही-आप प्रमाणित हो रहा है कि परमात्मा ने मुखस्थित स्थानों से निकलनेवाले वर्ण, शब्द और वाक्यों को मनुष्यों के मनोभाव प्रकाशित करने के लिए ही उस प्रकार के बनाकर दिये हैं, अतएव निर्विवाद है कि ईश्वरप्रेरणा द्वारा मनुष्य के मुख से निकलनेवाले आदिम—वैदिक मन्त्र, वाक्य, शब्द और वर्ण सार्थक हैं। वर्णार्थ, धात्वर्थ और सन्धिविज्ञान से यह बात और भी अधिक पुष्ट हो रही है कि वर्णार्थ का सम्बन्ध धातुओं से, धातुओं का शब्दों से और शब्दों का वाक्यों तथा मन्त्रों से अविच्छिन्न, धारावाहिक, निरन्तर एक-दूसरे में बह रहा है—ओतप्रोत हो रहा है। ऐसी दशा में यह बात अनायास ही कही जा सकती है कि वैदिक भाषा और उस भाषा में भरा हुआ वैदिक ज्ञान, कारणकार्यभाव से युक्त, परस्पर आधाराधेय सम्बन्ध रखता है, अतएव जहाँ वैदिक भाषा है वहीं वैदिक ज्ञान है और जहाँ वैदिक ज्ञान है वहीं आदिमकालीन ईश्वरप्रदत्त अपौरुषेय आदेश है। भाषा और ज्ञान सदैव एक साथ रहते हैं और दोनों आदि में ईश्वरीय प्रेरणा से ही प्राप्त होते हैं। हम अच्छी प्रकार देख आये हैं कि आदि में वैदिक भाषा ही ईश्वर प्रेरणा से प्राप्त हुई है, अतः उस भाषा में गर्भित वैदिक ज्ञान भी ईश्वर प्रेरणा से ही प्राप्त हुआ है और अपौरुषेय है।

वेदों के पढ़नेवाले जानते हैं कि वेदों में लोक और परलोक की विशद शिक्षा है। परलोकशिक्षा को और उस लोकशिक्षा को जिससे परलोक में सुख प्राप्त हो धर्म कहते हैं। धर्म परलोक से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसकी शिक्षा मनुष्य की कल्पना से आरम्भ नहीं हुई। वह ईश्वरप्रदत्त ही है। हम देखते हैं कि संसार के समस्त धर्मों का उद्गमस्थान वेद ही हैं, इसलिए वेदों के अपौरुषेय होने का यह दूसरा प्रमाण भी कम महत्त्व का नहीं है। जिस प्रकार वेदों ने संसार को धर्म की शिक्षा दी है, उसी प्रकार ज्योतिष्, गणित, वैद्यक, राजनीति और अन्य सङ्गीत आदि विद्याओं की शिक्षा भी संसार को वैदिक ऋषियों ने ही दी है। ऋषियों ने उक्त विद्याओं को किसी अन्य देशवासियों से नहीं सीखा। वे कहते हैं कि हमने समस्त ज्ञान वेदों से ही प्राप्त किया है। मनुष्य विद्याओं का ज्ञान कल्पना से प्राप्त नहीं कर सकता। वे भी अपौरुषेय ज्ञान द्वारा ही प्राप्त होती हैं।

---

१. The Vedās may be called primitive because there is no other literary document more primitive, than it, but the language, the mythology, religion and philosophy that meet us in the Veda open vistas of the past which no one could venture to measure in years.

—*India, What Can It Teach us,* p. 118.

वेद ही उक्त विद्याओं के प्रचारक हैं, इसलिए वेदों के अपौरुषेय होने का यह तीसरा प्रबल प्रमाण भी सबके सामने ही है। इसी प्रकार वेदों ने ही समस्त संसार को सदाचार, सभ्यता, न्याय और दया की शिक्षा दी है[१]। अतएव यह उनकी अपौरुषेयता का चौथा प्रमाण है। इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध है कि वैदिक ज्ञान अपौरुषेय है।

संसारभर को ज्ञान की शिक्षा देनेवाले ऋषि वेदों की अपौरुषेयता पर कहते हैं कि ज्ञान का प्रादुर्भाव परमेश्वर से ही हुआ है, इसीलिए उसे वेदान्तशास्त्र में **'शास्त्रयोनि'** और योगशास्त्र में **'पूर्वेषामपि गुरुः'**, अर्थात् वेदों का प्रकाशक और पूर्वजों का भी गुरु कहा गया है। निरुक्तकार ने भी ऋषियों को **'साक्षात्कृतधर्मा'** अर्थात् ज्ञान को ईश्वर द्वारा साक्षात् करनेवाला कहा है। अब हम ऋषियों के सम्मुख श्रद्धाञ्जलि होकर प्रश्न करते हैं कि भगवन्! आप ही से संसार ने धर्म, विद्या और सभ्यता सीखी है, इसलिए अब आप ही बतलावें कि आपने यह समस्त ज्ञान कहाँ से प्राप्त किया है। संसारभर को समस्त ज्ञान की शिक्षा देनेवाले आदिम ऋषि बृहदारण्यक उपनिषद् में कहते हैं कि—

अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्। यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥[२]

अर्थात् अरे मनुष्य! ऋग्, यजुः, साम और अथर्व उस परम पूज्य परमात्मा के ही निःश्वास हैं।

इसी बात को वेद स्वयं कहते हैं कि—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाᳫंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—यजुर्वेद ३१।७

अर्थात् ऋग्, यजुः, साम और अथर्व उस परम पूज्य परमात्मा से ही उत्पन्न हुए हैं।

इन प्रबल साक्षियों और अब तक की वैज्ञानिक खोजों से सिद्ध है कि वेद ईश्वर प्रदत्त हैं—अपौरुषेय हैं।

—०—

१. मनु० २।२०
२. बृह० २।४।१०

ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

तृतीय खण्ड

वेदों की उपेक्षा

द्वितीय खण्ड के अन्त में हमने वेदों की अपौरुषेयता सिद्ध करते हुए कहा था कि इसी वैदिक ज्ञान के कारण आदिमकालीन आर्यऋषियों ने यज्ञों की उन्नति के लिए बड़े-बड़े आविष्कार किये थे, किन्तु जब से उनमें मिश्रित दर्शन, मिश्रित विश्वास और मिश्रित विचारों का समावेश हुआ तब से परस्पर भयङ्कर अनैक्यता का साम्राज्य हो गया और उनका हर प्रकार से पतन हो गया। आज उन वैदिक आर्यों के वंशजों की वर्त्तमान दशा को देखकर कौन कह सकता है कि ये उसी अपौरुषेय ज्ञान के माननेवाले हैं, जिसने समस्त संसार को ज्ञानी और सदाचारी बनाया था। इनकी धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक अवस्था को देखकर कौन कह सकता है कि ये उन्हीं ऐश्वर्यवान् ऋषियों और राजाओं की सन्तति हैं जिन्होंने समस्त भूमण्डल को अपने विज्ञान, कला और शौर्य-कौशल से चकित कर दिया था? इसमें सन्देह नहीं कि आर्यों का याज्ञिक काल बड़ा ही भव्य, तेजस्वी और विशाल था। उस समय कला, विज्ञान और सेना का महान् आयोजन था। आमोद, प्रमोद और विलास का साम्राज्य था और बल, शौर्य तथा साहस का समुद्र उमड़ रहा था, इसलिए आवश्यक था कि उनकी गिरावट आरम्भ हो। अपने समय के सबसे महान् पुरुष स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सत्य ही कहा है कि 'यह संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति है कि जब प्रयोजन से अधिक—असंख्य अर्थात् बहुत-सा धन होता है तब आलस्य, पुरुषार्थरहितता, ईर्ष्या-द्वेष, विषयासक्ति और प्रमाद बढ़ता है'। वही हुआ, आर्यों में आलस्य और प्रमाद बढ़ा। उनके उज्ज्वल समाज में छोटे-छोटे काले दाग़ दिखलाई पड़ने लगे। जहाँ-तहाँ आलसी, अनाचारी और मूर्खों का प्रादुर्भाव हुआ, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या इस आनाचार के आरम्भ का कारण वैदिक शिक्षा है और क्या जिन वेदों की इतनी प्रशंसा की जा रही है उन्हीं वेदों के अनुसार इस समय हमारा आचार, व्यवहार, धर्म, कर्म और रीति-रस्म चल रहे हैं? क्या वर्त्तमान हिन्दुत्व, जिसके सुधारने का प्रयास चारों ओर से हो रहा है, उसी वैदिकता से उत्पन्न हुआ है जिसका इतना लम्बा गुणानुवाद गाया जाता है और क्या उसी अपौरुषेय वैदिकता ने हमारा अध:पतन किया है जिसका प्रादुर्भाव आदिसृष्टि में परमात्मा की ओर से हुआ था? इन प्रश्नों का उत्तर दिये बिना वेदों की अपौरुषेयता की कोई विशेषता समझ में नहीं आती। हम इस तृतीय खण्ड में उन्हीं सब बातों का स्पष्टीकरण करना चाहते हैं।

हमारा विश्वास है कि आर्यों का पतन दर्शनमिश्रण और विश्वासमिश्रण से ही हुआ है। उनके पतन का कारण न वेद है और न वैदिक ऋषि, किन्तु उनके पतन का कारण केवल विदेशी ही हैं, अत: हम समस्त विवरण का पता लगाने के लिए आर्यों का सामाजिक बन्धन, उनका विदेशगमन, विदेश से पुनरागमन, आर्यों के दर्शनों में विदेशियों के विश्वासों का मिश्रण और

उनके पतन का आरम्भ आदि समस्त विषय विस्तार से लिखते हैं।

आर्यों में अवैदिकता का संचार और प्रसार कैसे हुआ, इसका भी उत्तर स्वामी दयानन्द सरस्वती के वाक्यों में ही भरा हुआ है। समाज में चाहे जितना अच्छा और दृढ़ प्रबन्ध हो, परन्तु कुछ या अधिक काल के बाद प्रबन्ध में शिथिलता आ ही जाती है और दुष्ट मनुष्यों का प्रादुर्भाव हो ही जाता है। आर्यों में भी इसी स्वाभाविक नियमानुसार आलस आया, शिथिलता ने दुष्ट मनुष्यों को उत्पन्न किया और चारों वर्णों में एकसाथ ही प्रमाद उत्पन्न हुआ, परन्तु विचक्षण आर्यों ने तुरन्त ही इस बात को ताड़ लिया और उपाय भी करने लगे। सबसे उत्तम और आर्योचित उपाय यही हो सकता था कि दुष्ट, दुर्जन, अर्थात् अनार्य लोग समाज से बाहर निकाल दिये जाएँ, अत: ऐसे लोगों को समाज से पृथक् करने के कई एक मार्ग सोचे गये। सबसे पहले यह स्थिर किया गया कि अमुक समय तक यज्ञोपवित कराके यदि कोई आर्य आचार्यकुल में प्रविष्ट न हो जाए तो वह समाज से पृथक् कर दिया जाए। इसी प्रकार यदि कोई आर्य किसी को अकारण सताये तो वह भी असुर—दस्यु स्वभाववाला समझा जाए और समाज से निकाल दिया जाए। यदि कोई द्विज वेद न पढ़कर अन्यत्र श्रम करे तो शूद्र समझा जाए। यदि कोई दोनों समय सन्ध्या न करता हो तो वह भी शूद्र समझा जाए। यदि कोई आर्य सवर्णा स्त्री के अतिरिक्त अनुलोम-प्रतिलोम विवाह करके प्रजा उत्पन्न करे तो वह प्रजा भी चातुर्वर्ण के अन्दर स्थान न पावे और यदि माता, पिता, आचार्य, राजा और अन्य माननीयों की आज्ञा न माने तो वह भी समाज से निकाल दिया जाए। इस प्रकार से समाजशुद्धि के अनेक द्वार खोले गये और चुन-चुनकर नियमभंग करनेवालों को जाति से—समाज से बाहर निकाल दिया गया। चाहे वह ब्रह्मण हो, क्षत्रय हो अथवा वैश्य हो, यदि वह मूर्ख और अनाचारी है तो तुरन्त ही जातिबहिष्कार के योग्य समझा गया।

समाज को स्वच्छ रखने के तीन ही उपाय हैं। पहला और सर्वप्रधान उपाय यही है कि समाज में ऐसा एक भी व्यक्ति न रहने पावे जिसने गुरु के पास रहकर विद्या, सदाचार और सभ्यता न सीखी हो। दूसरा मार्ग यह है कि यदि कारणवश विद्या, सदाचार और सभ्यता सिखलाने पर भी वह बदमाश हो जाए—चोर, व्यभिचारी, अत्याचारी और हत्यारा हो जाए—तो उसे जाति से निकाल दिया जाए। इन दो प्रधान नियमों से समाज में न तो कोई मूर्ख ही रह सकता है और न अत्याचारी ही। इन दोनों की रक्षा के लिए तीसरे उस मार्ग की आवश्यकता होती है जिससे सब लोग ईश्वर की उपासना, वेद द्वारा सृष्टि का ज्ञान और बड़ों का आदर करने का अभ्यास रक्खें, जिससे पहले दोनों प्रधान नियमों के पालन करने में असुविधा न हो। आदर्श आर्य बनाने के ये ही मार्ग हैं और पूर्वकाल में इन्हीं का अवलम्बन किया गया था। इन्हीं से उस आदर्श आर्यजाति की प्राप्ति हो सकती थी जिसका वर्णन हमने गत खण्ड में किया है। जातिबहिष्कार के अतिरिक्ति उस समय दूसरे दण्ड भी थे—प्रायश्चित्त भी थे, जेल और जुर्माने भी होते थे, परन्तु उस समय के महान् सभ्यता प्राप्त आर्यों में जाति-अपमान का दण्ड सबसे कड़ा समझा जाता था। सच भी है, एक मनुष्य इसलिए आर्य न कहलाने पावे कि वह मूर्ख अथवा बदमाश है, इससे बढ़कर और क्या दण्ड हो सकता था? सभ्य समाज से जिसका सम्बन्ध तोड़ दिया जाए, जिसके साथ कोई सभ्य मनुष्य किसी प्रकार का व्यवहार न रक्खे उसके लिए इससे बड़ा और क्या दण्ड हो सकता था और आदर्श आर्यत्व स्थिर रखने के लिए इससे अच्छा और क्या उपाय हो सकता था? परन्तु प्रत्येक अच्छाई में कुछ बुराई भी होती है, प्रत्येक व्यवस्था में त्रुटि भी होती है और प्रत्येक सुधार में दोष छिपा होता है। इस अद्भुत नियमानुसार इस बहिष्कारपद्धति में भी आगे चलकर विष के फूल फूले। हम यहाँ सारांशरूप से उन जातियों के बहिष्कार का वर्णन कर देना चाहते हैं जो पहले आर्य थीं और फिर अनार्थ हो गईं तथा जातिच्युत होकर दस्यु, दास, राक्षस, असुर,

महिष, कपि, मृग, नाग आदि नीच नामों से पुकारी जाने लगीं और आर्यों के पतन का कारण हुईं।

द्वितीय खण्ड में हम दिखला आये हैं कि आदिसृष्टि में समस्त गुणगणालंकृत आर्यजाति का ही जन्म हुआ था और उसी से मूर्ख और असभ्यों ने निकल-निकलकर दस्यु और राक्षसादि की उत्पत्ति की थी, क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मणों के पास न पहुँच सकने के कारण क्षत्रियों की जातियाँ क्रियालुप्त होने से पतित हो गईं। वही पौंड्र, औंड्र, द्रविड़, काम्बोज, पारद, खश, पह्लव, चीन, किरात, झल्ल, मल्ल, दरद और शक नामधारिणी अनार्य जातियाँ हो गईं। यह सत्य है कि पहले इसी प्रकार के व्रात्य ही जातिच्युत किये जाते थे, परन्तु कुछ दिन के बाद जातिबहिष्कार का रूप कुछ उग्र हो चला। महाभारत, हरिवंश और विष्णुपुराण में यह कथा है कि राजा हरिश्चन्द्र के बाहु नामी सातवाँ वंशज हुआ। वह हैहा और तालजंघा नामी राक्षसों से पराजित हुआ और अपनी गर्भिणी स्त्री के सहित जंगल में भाग गया। उससे सगर पैदा हुआ। सगर ने अपने बाप के शत्रु शक, यवन, काम्बोज, चोल, केरल आदि को जीतकर उनका समूल नाश करना चाहा, परन्तु अपने गुरु वसिष्ट के कहने पर उन सबको वेदभ्रष्ट करके, दक्षिण देश के अरण्यों में निकाल दिया[१]। आगे चलकर इस प्रथा ने और भी उग्र रूप धारण किया। नहुष के पुत्र ययाति ने अपने पाँचों पुत्रों में से तुर्वसु से युवा अवस्था माँगी, पर उसने देने से इनकार कर दिया। इससे पिता ने नाराज़ होकर उसको सपरिवार जातिभ्रष्ट करके जहाँ अगम्यगामी, मांसाहारी और पशुवृत्तिवाले म्लेच्छ रहते थे उस दक्षिण दिशा में धकेल दिया[२]। ये घटनाएँ क्षत्रियों में हुईं। इसी प्रकार ब्राह्मणों में भी जातिबहिष्कार हुआ। महर्षि विश्वामित्रजी ने कहीं से एक लड़का प्राप्त किया और उसे अपने सौ पुत्रों में सबसे मुख्य ठहराया, किन्तु पचास लड़कों ने पिता की इस आज्ञा को मानने से इनकार कर दिया, इसलिए द्विजदेव विश्वामित्र महाराज ने क्रोधित होकर उन्हें दक्षिण के जंगल में निकाल दिया। वही सब आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द आदि राक्षस हो गये[३]। यह ब्राह्मणों का हाल हुआ।

वैश्यों का हाल इससे भी अधिक विचित्र है। कहते हैं कि अति प्राचीन काल में आर्यलोग लोभी वणिक् को 'पणिक्' कहते थे। वणिक्, पणिक् या पणि लोभी होते ही हैं, अतः आर्यजनता इनपर भी रुष्ट हुई और विवश होकर इनको भी उसी दक्षिण दिशा में जाना पड़ा[४]। इस प्रकार

---

१. शका यवनकाम्बोजा:पारदा: पह्लवास्तथा। कौलिसर्पा: स महिषा दार्वाश्चोला: स केरला॥
सर्वे ते क्षत्रियास्तात धर्मस्तेषां निराकृत:। वसिष्ठवचनाद्राजन् सगरेण महात्मना॥ —महाभारत*

२. यत्त्वं मे हृदयाज्जातो वय: स्वं न प्रयच्छसि। तस्मात् प्रजा समुच्छेदं तुर्वसो तव यास्यति।
संकीर्णाचारधर्मेषु प्रतिलोमचरेषु च। पिशिताशिषु चान्त्येषु मूढ राजा भविष्यति॥
गुरुदारप्रसक्तेषु तिर्य्यग्योनिगतेषु च। पशुधर्षेषु पापेषु म्लेच्छेषु त्वं भविष्यसि॥
—महा० [आदि० ८४।१३-१५]

३. तस्य ह विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्रा आसु:। पञ्चाशदेव ज्यायांसो मधुछन्दस:। पञ्चाशत्कनीयांसस्तद् ये ज्यायांसो न ते कुशलं मेनिरे।ताननु व्याजहार तान्व: प्रजा भक्षीष्टेति। त एतेऽन्ध्रा: पुण्ड्रा: शबरा: पुलिन्दा: मूतिबा इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति। विश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठा:। —ऐतरेयब्राह्मण ७।३३।६

४. The panis have been mentioned more than once in the previous chapter. We have shown that they were Aryans, belonging to the trading class.....They were a community by themselves, selfish, narrowminded, intent only on their business and gain...They did not perform the same sacrifice nor worship the same God, as the cultured Aryans did, which made them incur their displeasure, nay, hatred. Hated and persecuted by Vedic Aryans....they must have moved along the western coast of the Deccan Peninsula in search of suitable land. —*Rigvedic India*, p. 180-181

* ये श्लोक इस रूप में महाभारत में नहीं हैं। **—जगदीश्वरानन्द**

आर्यों द्वारा पृथक् की हुई यह समस्त टोली दक्षिणी प्रान्त से भारत के अन्य सीमाप्रान्तों में जा-जाकर बस गई। पश्चिम, उत्तर, पूर्व और दक्षिण में ये जातियाँ बसीं, बढ़ीं और पुष्ट होकर आर्यों से लड़ीं तथा परास्त हो-होकर अन्य-अन्य देशों को चली गईं। आन्ध्र लोग आन्ध्रालय, अर्थात् आस्ट्रेलिया को गये, झल्ल लोग अफ्रीका में जाकर ज़ूलू हो गये, चीना लोग चीन में जाकर बसे और किरात बलूचिस्तान में बस गये। नट, कंजर, बेड़िया आदि बहुत-सी जातियाँ इसी देश के जंगलों में रह गईं। इसी प्रकार अन्य पतित जातियाँ भी पृथिवी के अन्य-अन्य भागों में जाकर बसीं और अपने-अपने नामों से उन-उन देशों का नाम रखकर बहुत दिन के बाद स्वयं उस-उस नाम से प्रसिद्ध हो गईं। अति प्राचीन काल में सबसे प्रथम जो जातियाँ भारत से निकाली जाकर अन्य-अन्य भूभागों में जाकर बसी हैं उनका यह दिग्दर्शनमात्र है। इनके अतिरिक्त व्यापार करने के लिए, धर्मोपदेश करने के लिए और शासन, सभ्यता तथा आचार-प्रचार करने के लिए भी कई बार यहाँ से आर्यलोग पूर्वोक्त देशों तथा अन्य-अन्य भूभागों में जाकर बसे हैं, उन सबका वर्णन अगले पृष्ठों में विस्तारपूर्वक किया जाएगा, परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि चीन, यवन और शक आदि शब्द विदेशी नहीं, किन्तु भारतीय हैं और बहुत पुराने हैं। चीन शब्द के विषय में प्रो० हीरेन कहते हैं कि चीन शब्द हिन्दुओं का है और हिन्दुस्तान से ही आया है[१]।

पञ्चतन्त्र की एक कथा में लिखा है कि एक कौलिक विष्णुरूप धारण करके किसी राजकन्या के पास जाया करता था। वहाँ उस कन्या के सर्वाङ्गसुन्दर वर्णन में 'चीना नाभिः' लिखा हुआ है। यहाँ चीना शब्द का गहरा अर्थ है। अमरकोश में मृगों का भेद-वर्णन करते हुए एक प्रकार के मृग को भी चीन कहा गया है। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चीन शब्द के वास्तविक आर्थों के कारण ही—गहराई में रहने और तेज़ तबीयत होने से ही—चीनवालों को चीना कहा गया है। इसी प्रकार यवन शब्द भी पुराना है। पुराणों में **'तुर्वसो यवना जाता'**, अर्थात् तुर्वसु से यवन पैदा हुए, ऐसा लिखा है। तुर्वसु ययाति का पुत्र था। इससे ज्ञात होता है कि यवन शब्द भी नवीन नहीं है। इस शब्द के विषय में स्वामी विवेकानन्द ने लिखा है कि मिस्र और बेबिलोनवाले भी बहुत समय पूर्व, शक, ग्रीक लोगों को यवन ही कहते थे। शक भी पुराना शब्द है। **'नरिष्यन्तः शकाः पुत्राः'** वाक्य से प्रकट होता है कि शक इक्ष्वाकु का पौत्र था। शक इतना पुराना शब्द है कि यह ऋग्वेद में भी आया है। कहने का भाव यह कि आर्यों ने अपने अन्दर से जिन पतित आर्यों को निकालकर दस्यु, राक्षस आदि कहा है और चीना, यवन, शक आदि शब्दों से पुकारा है, वे शब्द आर्यों के पास आदिमकाल में भी उपस्थित थे और उनका कुछ अर्थ था। उसी अर्थ के अनुसार जिनमें जैसे गुण देखे उनके वैसे ही नाम रख दिये और उन्होंने भी वे नाम अपने साथ ले-जाकर अपने नवीन देशों के भी वही नाम रक्खे और स्वयं भी अब तक उन्हीं नामों को स्वीकार किये हुए हैं।

आर्यों का विदेशगमन

पश्चिमी एशिया

भारत में पश्चिम की ओर सबसे प्रथम अफ़रीदी, काबुली और बलूचियों के देश आते हैं। इन देशों में इस्लाम-प्रचार के पूर्व आर्य ही निवास करते थे। यहीं पर गान्धार था जहाँ की गान्धारी राजा धृतराष्ट्र की रानी थी। गान्धार को इस समय कन्धार कहते हैं, जिसका अपभ्रंश कन्दार और खन्धार भी है। इसी के पास राजा गजसिंह का बसाया हुआ ग़ज़नी नगर अब तक विद्यमान

१. The name of China is of Hindu origin and came to us from India. —*Professor Heeren.*

है। काबुल में जो पठानजाति रहती है वह प्रतिष्ठान (झूसी) राजधानी की रहनेवाली चन्द्रवंशी क्षत्रियजाति है। झूसी से आकर पहले यह सरहद (फ्रंटियर) में बसी और वहाँ इसने प्रजासत्तात्मक शासनपद्धति स्थापित की। प्रजासत्तात्मक शासनपद्धति को उस समय गणराज्य कहते थे। अफ़रीदी लोग उस समय के गण लोग ही हैं। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने अपने महाभारतमीमांसा नामी ग्रन्थ में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। आप कहते हैं कि महाभारत में लिखा है कि '**गणानुत्सवसंकेतान् दस्यून् पर्वतवासिनः। अजयन् सप्त पाण्डवः**' अर्थात् सप्त गणों को पाण्डवों ने जीत लिया। इन्हीं गणों ने तनिक आगे बढ़कर 'उपगण' या 'अपगण' राज्य स्थापित किया। इसी को इस समय अफ़ग़ान कहते हैं और उनके स्थान का नाम अफ़ग़ानिस्तान है। इसका असली उच्चारण 'उपगण-स्थान' है। यह पहले गणराज्य के अधीन था। ये गण (अफ़रीदी) आर्यों से द्वेष रखने के कारण ही आर्यों के शासन से अलग रहते थे। इसी प्रकार बलोचिस्तान भी बलोच्चस्थान शब्द का अपभ्रंश है। इसमें केलात नामक नगर अब तक विद्यमान है। यह केलात तब का है जब किरात नामी पतित आर्यक्षत्रिय यहाँ आकर बसे थे। ये क्षत्रिय होने से ही बल में उच्चस्थान प्राप्त कर सके थे। मनुस्मृति में जहाँ अन्य पतित क्षत्रियों के नाम गिनाये गये हैं वहाँ '**किराता यवनाः शकाः**' कहकर किरात भी गिनाये गये हैं। हम आगे विस्तारपूर्वक इनका वर्णन करेंगे और दिखलाएँगे कि ये किरात नेपाल और भूटान आदि में जाकर मंगोलियाजाति के मूलपुरुष भी बने हैं।

अफ़ग़ानिस्तान के आगे ईरान है जिसको पारश्य देश भी कहते हैं। यहाँ पहले वह जाति बसी हुई थी जो आजकल हिन्दोस्तान में पारसी नाम से प्रसिद्ध है। यह जाति अति प्राचीन काल में ही आर्यों से पृथक् होकर ईरान में बसी थी। मैक्समूलर कहते हैं कि 'यह बात भौगोलिक प्रमाणों से सिद्ध है कि पारसी लोग फ़ारस में बसने से पहले भारत में बसे हुए थे। उत्तर भारत से जाकर ही पारसियों ने ईरान में उपनिवेश बसाया था'[१]। वे अपने साथ यहाँ की नदियों के नाम ले-गये। उन्होंने सरस्वती के स्थान में '**हरहवती**' और सरयू के स्थान में '**हरयू**' नाम रक्खा। वे अपने साथ शहरों के नाम भी ले-गये। उन्होंने भरत को '**फरत**' किया और वही फरत '**यूफ़रत**' हो गया। उन्होंने भूपाल (न) को बेबिलन और काशी को कास्सी (Cassoci) तथा आर्यन को ईरान नाम से भी प्रसिद्ध किया। इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि पारसी भी भारतीय आर्यों की ही शाखा हैं।

ईरान के पास ही अरब है। वैदिक भाषा में अर्वन् घोड़े को कहते हैं और जहाँ घोड़े रहते हैं उस स्थान को अर्व कहते हैं। जिस प्रकार गौओं की बड़ी गोचरभूमि को व्रज, और भेड़ी-बकरीवाले देश को गन्धार कहते हैं, उसी प्रकार जहाँ अच्छी जाति के घोड़े रहते हैं उसको अर्व कहते हैं। अब भी अरबी घोड़ा सर्वोपरि समझा जाता है। उत्तम घोड़े उत्पन्न होने से ही आर्यों ने इस देश का नाम अर्व रक्खा था। स्मृतियों के पढ़नेवाले जानते हैं कि आर्यों से उत्पन्न एक वर्णसंकर जाति को 'शैख' कहते हैं। यह संकरजाति ब्राह्मण के योग से उत्पन्न होती है[२]। प्रतीत होता है कि वही शैखजाति अरब में बसकर शेख़ हो गई है, क्योंकि शेख़ों का अरब में वही मान

---

१. It can now be proved even by geographical evidence that the Zoroastrian had been settled in India before they immigrated into Persia. —*Chips From a German Workshop*, p. 235.
The Zoroastrians were a colony from Northern India. —*Science of Language.*

२. व्रात्यात्तु जायते विप्रात्पापात्मा भूर्जकण्टकः। आवन्त्यवाटधानौ च पुष्पधः शैख एव च।
—मनुस्मृति [१०।२१]

है जो भारत में ब्राह्मणों का है। यह प्रसिद्ध बात है कि मुसलमान होने से पहले वहाँ के निवासी अपने को ब्राह्मण ही कहते थे। अरब से ही रामानुज सम्प्रदाय का मूलप्रचारक यवनाचार्य लगभग नवीं शताब्दी में यहाँ आया था, क्योंकि ग्यारहवीं शताब्दी में रामानुजाचार्य का जन्म हुआ। इनके दो सौ वर्ष पूर्व मद्रास प्रान्त में शूद्रजाति पर महान् अत्याचार होता था। उसी समय इस अरबदेशनिवासी ब्राह्मणकुलोत्पन्न दयालु यवनाचार्य का आना हुआ। उस समय वहाँ महात्मा शटकोप आदि आन्दोलनकर्त्ताओं की यवनाचार्य ने सहायता की।

एशियाटिक रिसर्चिज़ भाग १० में बिलफोर्ड नामी विद्वान् लिखित एक निबन्ध छपा है। उसमें लिखा है कि 'यवनाचार्य का जन्म अरब देश के एक ब्राह्मणकुल में हुआ था और अलेक्ज़ेंड्रिया के प्रसिद्ध विश्वविद्यालय में उन्होंने शिक्षा पाई थी'[१]। अरब में अब तक बहुत-से आर्य निवास करते हैं, परन्तु उनका आचार यहाँ के हिन्दुओं का-सा नहीं है। जर्मनयुद्ध के समय यहाँ के कई फ़ौजी सिपाही बग़दाद, बसरा और मेसोपोटामिया आदि में रहकर यहाँ आये हैं। वे बतलाते हैं कि वहाँ अब तक पुराने हिन्दुओं के चिह्न पाये जाते हैं। इन घटनाओं से अच्छी प्रकार सिद्ध होता है कि अरबनिवासी आर्य ही हैं। इस अरब से आगे चलने के पूर्व, हम उन स्थानों के प्राचीन नाम और पते बतला देना चाहते हैं, जिनका इस समय एशिया माइनर या निकट ईस्ट में समावेश होता है। आजकल के नक़शे के अनुसार फ़ारस, मेडिटरेनियन समुद्र, अरब और मेसोपोटामिया को सब जानते हैं, इसलिए नीचे लिखे देशों की कल्पना कर लेना सहज होगा। फ़िनीशिया पश्चिमी एशिया में मेडिटरेनियन समुद्र के किनारे पर है। सीरिया देश फ़िनीशिया से मिला हुआ पूर्व की ओर है। बेबिलोनिया सीरिया के दक्षिण, फ़ारस के पश्चिम और अरब के उत्तर में है। चाल्डिया भी इसी के पास है। जुडिया को सीरिया भी कहते हैं, वह भी यहीं पर है और मेसोपोटामिया असीरिया के पश्चिम में है। इन देशों के निवासियों का परिचय इस प्रकार है—

फ़िनीशिया प्रदेश मेडिटरेनियन समुद्र के किनारे पर स्थित है। पूर्व पृष्ठों में हम आर्यजाति के वैश्यवर्णान्तर्गत पणि नामक आसुरी वृत्तिवाले बनियों का वर्णन कर आये हैं। वैदिक भाषा में वैश्यवर्ण के बदमाश, ठग, धोखेबाज़ और धनलोलुप गिरोह को पणि कहते हैं। ये पणि आर्यों द्वारा निकाल दिये गये और दक्षिण-प्रदेश में एक अच्छा बाज़ार बनाकर बस गये। इस बाज़ार को लोग पण्य कहते थे। कुछ दिन में यही पण्य पाण्डय कहलाने लगा और इन्हीं पणियों के नाम से पाण्डय प्रदेश क़ायम हो गया[२]। इन्हीं की एक दूसरी शाखा चोर होने के कारण इनसे भिन्न स्थान में बसी और 'चोल' कहलाने लगी। इसी के नाम से चोलप्रदेश प्रसिद्ध हुआ। ये पाण्डय और चोल दोनों प्रदेश मद्रास प्रान्त में अब तक विद्यमान हैं। ये पणि लोभी थे और बहुत बड़े व्यापारी थे। जहाज़ बनाना भी जानते थे। मद्रास प्रान्त में सागवान की लकड़ी अधिक थी ही, अतः उसके

---

१. But before telling anything of these learned men, something needs to be said of that great man, Yawanacharya. He took his birth in a Brahman family in Arabia and was educated in the University of Alexandria. —*Asiatic Researches,* Vol. X.

२. पणियों के लिए ऋग्वेद ७।६।७ में लिखा है कि **'अक्रतून् ग्रथिनो मृध्रवाचः पणींरश्रद्धान्'** अर्थात् गाँठ काटनेवाले, पाकेटमार पणि।

चेम्बर्स डिक्शनरी में लिखा है कि Punic—Pertaining to or like the ancient Carthaginians: faithless, treacherous, deceitful. (L. Punicus—Poeni, the Carthaginians.)

सकबर्ग (Suckburgh) नामी विद्वान् अपने रोम के इतिहास में लिखता है कि 'The Roman words Poeni and Punicus are corruptions of Phoenix and Phoenician.'

जहाज़ बना–बनाकर ये पणि दूर देशों को प्रस्थित हुए और पश्चिमी एशिया में मेडिटरेनियन समुद्र के किनारे पर आबाद हुए। जिस प्रकार इनके नाम से यहाँ पाण्डय और चोलप्रदेश प्रसिद्ध हुए थे, उसी प्रकार पणियों से फ़िनीशिया और चोलों से चाल्डिया देशों के नाम भी प्रसिद्ध हो गये। फ़िनीशियावाले पणि अथवा पणिक् ही हैं, इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि बेबिलोनियावालों के मूलपुरुषों के विषय में 'हिस्टोरिकल हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड' में लिखा है कि 'बेबिलोनियावालों के वायुदेवता का नाम 'मतु या 'मर्तु' है। यह हमें वैदिक शब्द 'मरुत' ही प्रतीत होता है। यह पणियों और चोलों के द्वारा ही बेबिलोनिया में लाया गया है'[१]। इस वर्णन से यह स्पष्ट हो गया कि पणियों का चोलों के साथ सम्बन्ध है और यह भी निश्चय हो गया कि इन्होंने ही बेबिलोनिया को भी बसाया था। राजनिघण्टु में लिखा है कि **'वैश्यस्तु व्यवहर्ता विड् वार्तिको पणिजो वणिक्'** * अर्थात् व्यवहर्ता, विट, वार्तिक, पणिक् और वणिक् वैश्य के ही भेद हैं। इस प्रमाण से सुलझ गया कि वे आर्य ही हैं। इसके अतिरिक्त तिलक महोदय ने लिखा है कि 'वैदिक 'मना' और फ़िनीशिया का 'मनह' शब्द एक ही है और वहाँ भारत से ही गया है। मन के लिए ऋग्वेद ८।७८।२ में आया है कि **'आ नो भर व्यंजनं गामश्वमभ्यञ्जनम्। सचा मना हिरण्यया'**। यह मन वज़न के लिए काम में आता था और अब भी आता है। इसको लेटिन में मिन, ग्रीक में मिना, बेबिलोनियन में मिन और वर्त्तमान अंग्रेज़ी में माउण्ड कहते हैं[२]। इसी प्रकार फ़िनीशिया की भाषा में ऊँट को जिमल कहते हैं। वही अंग्रेज़ी में केमल कहलाता है। यह संस्कृत के क्रमेलक शब्द का ही अपभ्रंश है। क्रमेलक का कमेलक और कमेलक का केमल तथा केमल का जिमल हो गया है[३], परन्तु यह अफ्रीका का प्राणी नहीं है[४]। इससे ज्ञात होता है कि ऊँट और उसका वाचक शब्द दोनों भारत से ही गये हैं और इनके ले–जानेवाले पणिक् ही हैं।

इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि पणि और चोल ही फ़िनीशिया और चाल्डिया में बसे। इस समस्त वर्णन का सारांश यह है कि आदि में वैश्यों से पणि हुए और वही पणिक् हो गये। उन्होंने ही दक्षिण में जाकर पण्य, अर्थात् पाण्ड्य नाम का बाज़ार बसाया, जो कुछ दिन में उसी नाम का व्यापारी प्रदेश हो गया। इसी प्रकार अपने पड़ोस में चोलों—गाँठ काटनेवालों को भी चोलप्रदेश में बसाया। वहाँ से ये लोग पश्चिम दिशा को गये और वहाँ पाण्ड्यों ने प्यूनिक या फ़्यूनिक देश बसाया जो अब फ़िनीशिया कहलाता है और चोलों ने चाल्डिया बसाया जो बहुत दिन तक इस देश के साथ व्यापार करता रहा। इस प्रकार आर्यलोग अपनी आर्यसभ्यता के साथ पूर्व से पश्चिम में पहुँचे।

अभी ऊपर हमने तिलक महोदय के जिस निबन्ध का प्रमाण दिया है उसमें उन्होंने अथर्ववेद और चाल्डियनवेद के कई शब्दों का मिलान करके बतलाया है कि दोनों की भाषा

---

१. The name of the Babylonian strom-God was Matu or Martu which, as we have seen, was the same as the Vedic Marut, and must have been taken by the Panis and Cholas to Babylonia.
—*Historical History of the World,* Vol. 1, p. 89.

२. Dr. Bhandarker Commemoration essays.

३. फ़िनीशिया लिपि के अबजद का 'जीम' ऊँट के ही आकार का है। इस जीम को पहले फिनीशिया भाषा में जिमल (ऊँट) कहते थे, क्योंकि यह अक्षर ऊँट से ही लिया गया है। अबजद का अंग्रेज़ी 'A B C D' (अबसद) हुआ है, परन्तु 'सी' का उच्चारण 'क' भी होता है, इसलिए जिमल का केमल हुआ है।

४. The other domestic animals have certainly been introduced from other continents, as for instance, the camel, which seems, to have been entirely unknown in Africa before the period of the great migration in Western Asia about 2,000 B.C. —*Harmsworth History of the World,* p. 2007.

* राजनि० अष्टादशो० ५

दूसरे से मिलती है। इस मिलान का नमूना इस प्रकार है—

संस्कृत	**चाल्डियन**	**अर्थ**
सिनीवालि	सिनवुव्वुलि	अमावास्या
अप्सु	अब्जु (जुअब)	पानी
यह्व[१]	यहवे	महान्
ऋतु	इतु	मौसिम
परसु	पिलक्कु, बलगु[२]	शस्त्र
अलिगीविलगी[३]	विलगी[४]	सर्पदेव
तैमात	तिआमत[५]	देवता
उहगुला	उरुगुल[५]	देवता

इस शब्दसाम्य के अतिरिक्त, चाल्डिया की डैल्यूज़ टेबलेट, अर्थात् मनु के तूफ़ान की कथा भी ज्यों-की-त्यों यहाँ के अनुसार ही लिखी हुई मिलती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे आर्य ही हैं। हम अभी फ़िनीशियावालों के वर्णन के साथ लिख आये हैं कि बेबिलोनिया में पणियों और चोलों ने ही उपनिवेश बसाया था। ये चाल्डियन उन चोलों के अतिरिक्त और कोई दूसरे नहीं है जो आर्यों से पृथक् होकर पहले चोल देश में बसे थे, इसलिए चाल्डिया-निवासी भी भारतवासी आर्य ही हैं।

जुडिया यहूदियों का देश है। इसी में हज़रत मूसा और हज़रत ईसा जैसे जगत् प्रसिद्ध धर्माचार्य उत्पन्न हुए हैं। बाइबिल में लिखा है कि पश्चिम में आनेवालों की एक ही भाषा थी और वे सब पूर्व ही से आये हैं[६]। इनके विषय में पोकाक नामी विद्वान् अपने 'इण्डिया इन ग्रीस' नामी ग्रन्थ में लिखता है कि युडा (जुडा) जाति भारत की यदु, अर्थात् यदुवंशीय क्षत्रिय जाति ही है[७]। इसके अतिरिक्त अभी हमने तिलक महोदय के लिखित शब्दसाम्य के हवाले से दिखलाया है कि यहूदियों का यहोवा शब्द संस्कृत के यहु शब्द का ही अपभ्रंश है। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न कहते हैं कि ज्यू शब्द संस्कृत का ही है। आप मेदिनी कोष का यह वचन उद्धृत करते हैं कि '**जूराकाशे सरस्वत्यां पिशाचे यवनेऽपि च**' अर्थात् 'जू' शब्द यवन शब्द का ही अपभ्रंश है। मानवेर आदि जन्मभूमि पृष्ठ ३ पर आप कहते हैं कि राजा सगर की आज्ञा से यवनों ने जिस पल्ली स्थान में निवास किया था, वही पेलेस्टाइन हो गया है और यवन शब्द का ही विकार (यवन-जोन) 'जू' है[८]। इस

---

१. यह शब्द ऋग्वेद ९।७५।१, ३।१।१२ और ८।१३।२४ में 'महान्' अर्थ में आया है और ज़ेन्द में यही 'यजु' हुआ है। हज़रत मूसा का जिहोवा शब्द इसी से निकला है। ग्रिफिथ ने इसका अर्थ 'Lord' किया है।

२. 'पिलक्कु', अकेडियन और 'बलगु' सुमेरियन भाषा का है।

३. यह शब्द अथर्ववेद ५।१३।७ में आया है। ४. यह शब्द असीरियन भाषा का है।

५. ये शब्द अकेडियन भाषा के हैं।

६. And the whole was of one language, and of one speech. And it came to pass, as they journeyed from the East. —*Genisis*, Chapter XI.

७. The tribe of Yudah is, in fact, the very Yadu of which considerable notice has been taken in my previous remarks. —*India in Greece*, p.22.

८. सगर आदेशे हिन्दू यवनगन प्रथमत: ये पल्लीस्थानेर प्रतिष्ठा करेन, ताहा Palastine बलिया प्रख्यात हय एवं उक्त यवनगन, यवन शब्देर विकार (यवन—जोन—जू) क्रमे 'जू' नामे प्रख्यात लाभ करेन।
—मानवेर आदि जन्मभूमि

वर्णन से सिद्ध होता है कि यदुवंशी क्षत्रिय राजा सगर के द्वारा यवन करके निकाले गये 'जू' पेलेस्टाइन में बसे। यही बात बाइबिल और पोकाक के वचनों से भी सिद्ध होती है। बाइबिल का नूह का वर्णन भी मनु के तूफ़ान की ही सूचना देता है, अतएव यहूदियों के आर्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता। साथ ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि वे भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं।

फ़िनीशिया के वर्णन में हम ऊपर लिख आये हैं कि बेबिलोनियावालों का वायु देवता जिसको वे मतु या मर्तु कहते हैं, वह वैदिक आर्यों का मरुत ही है। यह पणियों और चोलों के द्वारा बेबिलोनिया में गया है, अत: सिद्ध है कि पणिक् और चोल ही फ़िनीशिया और चाल्डिया से जाकर बेबिलोनिया में बसे। ए० बेरीडल कीथ महोदय कहते हैं कि 'विशेष ध्यान देने योग्य शब्द 'सूरिआस' है, जो इनमें सूर्य के ही अर्थ में बोला जाता है और ई० मेयर साहब ने मान लिया है कि यह 'सूरिआस' वैदिक 'सूर्या (स) ही है'[१]। यह सूरिआस शब्द सर्वथा सूर्या: का रूप है, क्योंकि विसर्ग का उच्चारण सकार ही होता है। इसके अतिरिक्त बेबिलोनिया की एक बहुत पुरानी सूची में सिन्धु नामक बारीक मलमल का नाम आता है। बेबिलन में इस सिन्धु शब्द का कुछ भी अर्थ नहीं है। जिस प्रकार कालीकट ग्राम से जाने के कारण यूरोप में एक छींट का नाम केलिको प्रसिद्ध है, उसी प्रकार सिन्ध हैदराबाद से जाने के कारण इस वस्त्र का भी सिन्धु नाम हो गया था। यही सिन्धु वस्त्र पुरानी बाइबिल सें सेडिन (Sadin), ग्रीक में सिण्डम् (Sindam) कहा गया है और अब अंग्रेज़ी में साटिन (Satin) नाम से बाज़ारों में बिकता है[२]।

कहने का तात्पर्य यह कि इन वर्णनों से यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि पूर्वातिपूर्व काल में इस देश के साथ बेबिलन का घनिष्ठ सम्बन्ध था और सिन्धु नामक वस्त्र अपने नाम के साथ वहाँ पहुँचता था। हम जिन चोलों का वर्णन पहले कर आये हैं वे दक्षिण से सागौन की लकड़ी भी अपने नवीन देशों में ले-जाया करते थे। अभी कुछ समय हुआ मुघेर के खण्डहरों से पाँच हज़ार वर्ष की पुरानी सागौन की लकड़ी का टुकड़ा मिला है[३]। बेबिलोनिया के प्रथम बादशाह की बनवाई हुई इमारत से इस टुकड़े का प्राप्त होना यह सूचित करता है कि ये निस्सन्देह भारतवासी ही हैं—आर्य ही हैं और दक्षिण के पाण्ड्य और चोल से ही वहाँ जाकर अपने वंश और अपनी सभ्यता का विस्तार किया है।

असीरिया में भी आर्यों का ही निवास था। ए० बेरिडेल कीथ ने वहाँ के सुवरदत्त, जशदत्त और सुबन्धि आदि राजाओं के नामों से सिद्ध किया है कि वे आर्य ही थे[४]। इन देशों के निवासियों को आर्यलोग असुर कहा करते थे, इसीलिए ये सदैव अपने नाम के साथ असुर शब्द का प्रयोग करते रहे हैं। प्रसिद्ध बादशाह असुर नासिरपाल और असुर वाणीपाल इस बात के उदाहरण हैं। इनके नाम असुर शब्द के साथ आर्यभाषा के ही हैं। हमने आरम्भ में ही कहा था कि आर्यों ने जिन गुण-दोषों के सूचित करनेवाले नामों को रखकर दुष्ट आर्यों को अपने से अलग किया था

१. More noteworthy is Sūrias, since it is explained as meaning the sun. And E. Meyer has yielded to the temptation to accept equation with the Vedic Surāyas. —*Dr. Bhandarker Commemoration Essays,* The Early History of Indo-Iranians by A. Berriedale Keith.

२. Dr. Bhandarker Commemoration Essays, Chaldian and Indian Veda by B. G. Tilak.

३. In the ruins of Mugheir, ancient *Ure* of the Chaldees, built by *Uria* (or *Ur—Bagash*), the first king of Babylonia who ruled not less than 3,000 years B. C., was found a piece of Indian teak. —*Vedic India* by A. Ragozin.

४. Aryan names among the princes in Syria such as Suwordatta, Jasdatta, Arzawiya, Artamanya, Rasmanya, Subandhi and Sutarana....—*Dr. Bhandarker Commemoration Essays,* The Early History of Indo-Iranians by A. Berriedale Keith.

वे नाम उन्होंने भी स्थिर रक्खे थे तथा उन्हीं नामों से अपने देशों को भी प्रसिद्ध किया था, जैसे चीना से चीन, आन्ध्र से आन्ध्रालय (आस्ट्रेलिया) आदि। कहने का तात्पर्य यह कि असीरियानिवासी भी आर्य ही हैं और भारत से ही जाकर वहाँ बसे हैं।

मेसोपोटामियावाले भी आर्य हैं। इनके विषय में ए० बेरिडल कीथ ने लिखा है कि दसरथ नाम का मितानी राजा इजिप्ट के एक राजा का साला था। यह आर्य था और ई० सन् के १३००-१४०० वर्ष पूर्व राज्य करता था। इसी प्रकार मितानियों के दूसरे राजा का हरि नाम भी आर्यों का ही सिद्ध होता है[१]। अभी हाल में जो मेसोपोटामिया के पुराने मकानों की खुदाई से मिट्टी की पकी हुई लिखित ईंटें प्राप्त हुई हैं, उन ईंटों में मितानी और हिट्टाई राजों का सन्धिपत्र लिखा हुआ मिला है, जिसमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं के नाम लिखे हुए हैं[२]। इस घटना से यह बात पूर्णरूप से सिद्ध हो जाती है कि ये दोनों जातियाँ आर्य ही थीं, क्योंकि हिटी (Hittite) लोगों के लिए अब सिद्ध हो गया है कि वे क्षत्री थे। क्षत्री का ही अपभ्रंश 'खत्ती' है। जिस प्रकार पंजाब के रहनेवाले खत्री अपनी उत्पत्ति क्षत्रियों से ही बतलाते हैं, उसी प्रकार ये खत्ती भी जो इस समय हिट्टी (Hittite) लिखे जाते हैं, क्षत्री ही हैं।

इस प्रकार हमने यहाँ तक एशिया माइनर के तमाम प्राचीन देशों को देखा तो ज्ञात हुआ कि वहाँ प्राचीन काल में ही आर्यजाति जाकर बसी और उसी ने अपनी सभ्यता का वहाँ प्रचार किया है। यही थोड़ा-सा पश्चिमी एशिया में आदिकालीन आर्यों के गमन का इतिहास है।

उत्तरी एशिया

हम आरम्भ में लिख आये है कि किरात लोग पतित क्षत्रिय हैं। ये दो भागों में बँट गये थे। एक दल बलूचिस्तान में जाकर बसा और दूसरा हिमालय पर जाकर बसा। हम अभी पहले दल का वर्णन कर आये हैं, अब दूसरे दल का वर्णन करते हैं। नेपाल में जितने ब्राह्मण बसते हैं, वे सब कान्यकुब्ज हैं और जितने क्षत्रिय हैं वे सब रामचन्द्र के वंशज सूर्यवंशी हैं। कहा जाता है कि इनका सम्बन्ध महाराणा उदयपुर से है, इसलिए इनके आर्य होने में तो कोई शंका ही नहीं है, किन्तु नेपाल में एक चपटे चेहरेवाली मंगोलियन जाति भी रहती है। यह जाति अति प्राचीन काल में आर्यों की ही एक शाखा थी, परन्तु यह दीर्घातिदीर्घ काल पूर्व ही आर्यों से पृथक् होकर चीना नामक हिमालय के उत्तर ओरवाली गहराई में बस गई थी, इसलिए अब उसके आकार, रंग और भाषा आदि में बहुत अन्तर आ गया है।

बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने लिखा है कि किरात लोग नेपाल के उत्तर-पश्चिम में बसते थे और पतित क्षत्रिय थे और हमने बतलाया है कि चीना हिमालय के नीचे उत्तर पूर्व में रहते थे और ये भी क्षत्रिय ही थे। इन्हीं दोनों के मेल से मंगोलियाजाति के पूर्वजों की उत्पत्ति हुई है। यही

---

१. Dasratta, the Mitani King, brother-in-law of Amenholeb of Egypt (1414—1379 B. C.). The name Harri, used of the Mitani, is really the Aryan name. —*Dr. Bhandarker Commemoration Essays,* The Early History of Indo-Iranian by A. Berriedale Keith.

The obvious conclusion that the Aryan of Mitani and Syria penetrated these lands from the east....... —*Ibid.*

२. एशिया माइनर के बग़ाज़कोई (Baghazkoi) स्थान पर हिटीशिया (Hetitia) के बादशाह सुब्बिलुलिउमा (Subbiluliuma) और मितानी (Mitani-Modern Mesopotamea) के बादशाह मुट्टीवुज़ा (Muttivuza) के बीच के (ई० सन् पर्व १४०० के) कुछ सन्धिपत्र मिले हैं, जिनमें मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य आदि वैदिक देवताओं की वन्दना की गई है।

—रायल एशियाटिक सोसाइटी का सन् १९१० का जर्नल पृ० ७२१ और ४५६

नेपालनिवासी चपटे मुँहवाली जाति है। यही जति मंगोलियन विभाग की जननी है। उमेश बाबू कहते हैं कि नवीन जाति का रंग वाल्मीकि रामायण में सुवर्ण का-सा लिखा है। जिस समय की यह बात है उस समय जिस प्रकार तनिक साँवले रंगवाले श्याम और श्यामा बड़े सुन्दर समझे जाते थे, उसी प्रकार ये पीत, अर्थात् सुवर्ण के-से रंगवाले भी बहुत उत्तम समझे जाते थे। महाभारत मीमांसा में रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य ने महाभारत के प्रमाणों से लिखा है कि कौरव-पाण्डवों की गौरवर्ण स्त्रियों का रंग तप्त सुवर्ण का-सा था। यह उस समय के रंग की विशेषता का वर्णन है। दक्षिण के गुजराती और महाराष्ट्र आदिकों का भी प्रायः यही रंग है। वे न तो सफ़ेद हैं और न लालिमा लिये हुए ही हैं। आदिम काल में आर्यों ने तनिक साँवले और तनिक पीले रंग को ही अपने मन में उत्तम समझा था, इसीलिए माताओं के संस्कार प्रबल हुए और अधिक प्रजा इसी रंग की हो गई। हम देखते हैं कि नेपाल में बसनेवालों का भी प्रायः यही रंग है। वहाँ चपटे चेहरे और पीतवर्णवालों में कुछ ताम्रवर्ण के श्याम लोग भी पाये जाते हैं। अभी हमने जिस श्याम रंग का वर्णन किया है ये लोग उसी रुचि के परिणाम हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि ये चपटे चेहरे और पीले तथा श्याम रंगवाले मंगोलियन आर्यों से भिन्न किसी अन्य जाति के मनुष्य नहीं हैं।

नेपाल से आगे हिमालय के नीचे रूसी तुर्किस्तान है। वहाँ बहुत पूर्व काल से आर्यों का निवास है[1]। इसके आगे बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने आर्यों का मूल स्थान मंगोलिया के अलताई पहाड़ पर सिद्ध करने के लिए 'मानवेर आदि जन्मभूमि' नामक ग्रन्थ लिखा है। उस ग्रन्थ के पढ़ने से अधिक तो नहीं, परन्तु इतना अवश्य भासित होता है कि पूर्वातिपूर्वकाल में आर्य लोग अलताई, अर्थात् इलावृत में रहते थे और यह अलताई शब्द इलावृत का ही अपभ्रंश है। मानवेर आदि जन्मभूमि पृष्ठ ११९ पर वायुपुराण पूर्वार्द्ध अध्याय ३४ के कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं, जिनसे ऊपर की बात पुष्ट होती है। उनमें से दो श्लोक ये हैं—

वेद्यर्द्धे दक्षिणे त्रीणि वर्षाणि त्रीणि चोत्तरे॥ ३२॥
तयोर्मध्ये तु विज्ञेयं मेरुमध्यमिलावृतम्॥ ३३॥
तत्र देवगणाः सर्वे गन्धर्वोरगराक्षसाः। शैलराज्ये प्रमोदन्ते[2] शुभाश्चाप्सरसांगनाः॥ ५५॥

अर्थात् इलावृतवर्ष के दक्षिण में हरिवर्ष, किम्पुरुषवर्ष और भारतवर्ष ये तीन वर्ष हैं और उत्तर की ओर रम्यकवर्ष, हिरण्यवर्ष और उत्तरकुरुवर्ष ये तीन वर्ष हैं। इनके बीच में इलावृतवर्ष है।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि मंगोलिया में आर्यलोगों ने ही अपना उपनिवेश बसाया था।

सिथिया देश किसी समय भारत से निकाले हुए शक नामी पतित क्षत्रियों द्वारा बसाया गया था। इन शकों के विषय में पुराणकार लिखते हैं कि—

इक्ष्वाकुश्चैव नाभागो धृष्टः शर्यातिरेव च। नरिष्यन्तश्च विख्यातो नाभानेदिष्ठ एव हि॥
करुषश्च पृषध्रश्च वसुमान् लोकविश्रुतः। मनोर्वैवस्वतस्यैते नव पुत्राश्च धार्मिकाः॥

—विष्णुपुराण [३।१।३३-३४]

अर्थात् वैवस्वत मनु के इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नाभानेदिष्ठ, करुष, पृषध्र, वसुमान्

---

१. It appears very probable that at the dawn of history, East Turkistan was inhabited by an Aryan population. —*Lassen's Indiscehe Alterthumskunda.*

२. वर्त्तमान पाठ है—**शैलराजैः प्रदृश्यन्ते।**

और नरिष्यन्त—ये नव पुत्र थे।

हरिवंश अध्याय १० श्लोक २८ में लिखा है कि—

नरिष्यन्तः शकाः पुत्रा नाभागस्य तु भारत। अम्बरीषोऽभवत् पुत्रः पार्थिवर्षभसत्तमः ॥

अर्थात् नरिष्यन्त के पुत्रों का ही नाम शक है। इन शकों को राजा सगर ने '**अर्धमुण्डान् शकान्**' (विष्णुपुराण अं० ४ अ० ३ श्लोक २१), अर्थात् आधा शिर मुंडवाकर निकाल दिया था। यही लोग सिथिया (जिसको शकावस्था कहना चाहिए) में जाकर बस गये, इसलिए इनके आर्य होने में कोई सन्देह नहीं है[१]।

उत्तरकुरु प्रदेश साइबीरिया से लेकर आगे तक है। इसके विषय में वायुपुराण पूर्वार्द्ध अध्याय ४५ के ये श्लोक पढ़ने योग्य हैं—

उत्तरस्य समुद्रस्य समुद्रान्ते च दक्षिणे। कुरवस्तत्र तद्वर्षं पुण्यं सिद्धनिषेवितम्॥ ११ ॥

देवलोकात् च्युतास्तत्र जायन्ते मानवाः शुभाः ॥ १६ ॥

अर्थात् उत्तर महासमुद्र के दक्षिण किनारे पर अति पवित्र उत्तरकुरुवर्ष है, जहाँ देवलोक से गये हुए उत्तम पुरुष निवास करते हैं।

यह देवलोक हिमालय के सिवा और कुछ नहीं है। आर्यलोग हिमालय से जाकर उत्तर समुद्र, अर्थात् शीतकटिबन्ध के इस पार तक और साइबीरिया के उस पार तक कुरुदेश में निवास करते थे। जिस प्रकार भारत में कुरुक्षेत्र था उसी प्रकार उतनी दूर जाने पर भी उन्होंने कुरु नाम से ही उस देश को सम्बोधित किया था। आर्यलोग सदैव ही अपने साथ अपने-अपने स्थानों के नाम ले-गये हैं। उसी प्रकार उत्तरकुरु का नाम भी कुरु शब्द से ही रक्खा गया है।

यहाँ तक हमने एशिया की उत्तरी सीमा को देखा तो वहाँ सर्वत्र आर्यजनता को ही भारत से जा-जाकर बसते हुए पाया, परन्तु इस उत्तरकुरु से आगे जहाँ ध्रुवप्रदेश है वहाँ आर्यलोग कभी नहीं जाते थे। वहाँ उनको यज्ञ-याग करने का सुभीता नहीं था। वहाँ महा विकट अँधेरा था और वह आसुरी भूमि आर्य स्वभाववालों के लिए अनुकूल नहीं थी। यही कारण है कि सुग्रीव ने वानरों को उत्तर की ओर भेजते समय कह दिया था कि तुम लोग उत्तरध्रुव में मत जाना। यह वैदिक आदेश था, क्योंकि वेदों में दीर्घरात्रि और उस रात्रि में पड़े हुए रोनेवालों के अलङ्कार से उपदेश दे दिया गया है कि वहाँ किसी को न जाना चाहिए, परन्तु वहाँ एक 'Navya Zimala' अर्थात् नव्य हिमालय का पता मिलता है, जिससे सूचित होता है कि कभी ईरानियों के बुज़ुर्गों ने वहाँ जाकर उपनिवेश बसाया था। उनकी भाषा में संस्कृत के 'ह' का 'ज' हो जाता है, इसीलिए प्रतीत होता है कि 'नव्य ज़िमालय' नाम उन्हीं ने रक्खा है और पुराने हिमालय के साथ मिलाया है। यदि वैदिक आर्य नाम रखते तो 'नव्यहिमालय' ही रखते। इस नव्यज़िमालय को उर्दू ज्योग्रॅफ़ी में 'नवज़ुमला' लिखा हुआ है। इसका वर्णन इनसाइक्लोपेडिया ब्रिटानिका में भी आया है[२]।

---

१. Their original home was in Mongolia. Seythia is only corruption from Sakavastha or 'the abode of the Sakas on the west bank of Kasyapia (Caspean) sea.' Hence the Northern Sakasunu proceeded still more to the North-West and thus became the Saxons of Saxony.

—*Reproduced from Manavera Adi Janma Bhumi*, p. 13.

२. The original people of the farthest north of Europe are now represented by the Lapps, who lead a migratory life. Further east their place is taken by the Somoyedes, who live along the coast of the Karases and the Yalmal Peninsula. They have also a small settlement in Navya Zemla.

—*Enclyopaedia Britannica.*

आइसलैंड और ग्रीनलैंड यद्यपि यूरोप से उत्तर की ओर हैं, परन्तु वहाँ के निवासियों का सम्बन्ध आर्यों से ही है, अतः कुरु के इन पड़ोसी देशों का भी वर्णन कर देना चाहिए। इनके विषय में प्रोफ़ेसर हीर्ट नामक विद्वान् कहता है कि आइसलैंड और ग्रीनलैंड के निवासियों की भाषा जर्मनभाषा से मिलती है, अतः अनुमान होता है कि वे भी आर्य ही हैं, हमने इन लोगों के विषय में अधिक स्वाध्याय नहीं किया। सम्भव है ये यूरोप से गये हों, परन्तु यूरोप की प्रजा स्वयं आर्यों की भाषा बोलनेवाली निग्रो-तुरानी प्रजा है, इससे अनुमान होता है कि आइसलैण्ड और ग्रीनलैण्ड भी निग्रो-तुरानी ही होंगे जो निश्चत ही पतित आर्य हैं।

यहाँ तक हमने उत्तरी एशिया से सम्बन्ध रखनेवाले उन आर्यों का वर्णन किया जिनको इस समय मंगोलिया या तुरानी टाइप के कहा जाता है, परन्तु हमारे अब तक के विवेचन से यही ज्ञात होता है कि वे आर्य ही हैं। उनकी सभ्यता, भाषा, रूप और रंग बदल जाने से अब उनको चाहे जो कुछ कहा जाए, परन्तु उनके मूल में आर्यों का ही रुधिर प्रवाहित है।

पूर्वी एशिया

भारतवर्ष से पूर्व सबसे नज़दीक जो पहला देश है वह बर्मा है। इसको संस्कृत में ब्रह्मदेश कहते हैं। वामनपुराण में लिखा है कि तिब्बत में रहनेवाले असुरों के द्वारा सताये जाने पर पूर्व कथित कुछ पीतवर्ण आर्य ब्रह्मदेश में जाकर बस गये। ये असुर भी कोई दूसरे नहीं थे। वायुपुराण में लिखा है कि असुर आर्यों के दायाद बान्धव ही हैं[१]। दायाद बान्धव उन्हीं को कहते हैं जिनका पैतृक सम्पत्ति में हक़ हो। इनके विषय में महाभारत में लिखा है कि जो कुरुक्षेत्र में बसते हैं वही तिब्बत में बसते हैं[२]। इससे स्पष्ट हो गया कि ये आर्य ही हैं जो पतित होकर तिब्बत में गये हैं। रामायण में इनका सुवर्ण का-सा रंग लिखा है। वामनपुराण में इनका तिब्बत से ब्रह्मदेश को जाना भी पाया जाता है[३]। इससे ज्ञात होता है कि ये भी वही किरात नामी क्षत्रिय ही हैं जो नेपाल से लेकर तिब्बत तक बसते थे। उन्होंने ही बर्मा में जाकर अमरावती और मिथला नगरी बसायी है, जो अब तक हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ये आर्य ही हैं और उक्त नगरों के बसाते समय तक इनकी भाषा संस्कृत ही थी। इतना ही नहीं, प्रत्युत बुद्धधर्मप्रचार के समय भी ये हिन्दूधर्म के अनुयायी थे, इसी से ये सबके सब बौद्ध हो गये। ब्रह्मदेश नाम से भी ज्ञात होता है कि वह वैदिक आर्यों के ही द्वारा रक्खा गया है और ब्रह्मनिवासी आर्य ही हैं।

चीनदेश के विषय में लिखा जा चुका है कि आर्यों के प्रारम्भिक काल में ही कुछ लोग पतित होकर चीना (नीचे दर्जे के) हो गये थे और हिमालय से नीचे चीना—गहराई में जा बसे थे। समस्त भाषाओं के एक ही व्याकरण के विषय में हम लिख आये हैं कि सामोपेडिक भाषा जो चीन देशान्तर्गत पैतिसी और ओब नदियों के किनारे पर बसनेवालों में बोली जाती है उसमें आर्यभाषाओं की भाँति तीन वचन और आठ विभक्तियाँ हैं। इससे पाया जाता है कि चीन में बसनेवाले मूलपुरुष आर्य ही थे। चीनीयों के विषय में टाड इण्टर साहब ने अपने राजस्थान के इतिहास, परिशिष्ट, अध्याय दूसरे में इनके वंश का वृत्तान्त लिखा है। उसका सारांश यह है कि 'मोग़ल, तातार और चीनी लोग अपने को चन्द्रवंशी क्षत्रिय बतलाते हैं। इनमें से तातार के लोग अपने को 'अय' का वंशज कहते हैं। यह अय पुरुरवा का पुत्र आयु ही है। इस आयु के वंश ही

---

१. असुरा ये तदा आसन् तेषां दायादबान्धवाः। —वायुपुराण

२. ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे। —महाभारत [वन० ८३। २०५]

३. ततोऽसुरा यथाकामं विहरन्ति त्रिविष्टपे। ब्रह्मलोके च त्रिदशाः संस्थिता दुःखकर्षिताः। —वामनपुराण [७८। १८]

में यदु था और उसका पौत्र हय था। चीना लोग इसी हय को ह्यु कहते हैं और अपना पूर्वज मानते हैं। उक्त अय की नवीं पीढ़ी में एलखाँ के दो पुत्र हुए। उनके नाम काइयान और नगस थे। इसी नगस से नागवंश की उत्पत्ति प्रतीत होती है। चीनवालों के पास यू की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है कि एक तारे का समागम यू की माता के साथ हो गया। इसी से यू हुआ। यह बुद्ध और इला के समागम की-सी बात ज्ञात होती है। इस प्रकार तातारों का अय, चीनियों का यू और पौराणिकों का आयु एक ही व्यक्ति है। इन तीनों का आदिपुरुष चन्द्रमा था और ये चन्द्रवंशी क्षत्रिय हैं, यह अच्छी प्रकार सिद्ध होता है। चीनियों के आदिपुरुष के विषय में प्रसिद्ध चीनी विद्वान् यांगत्साई ने सन् १५५८ में एक ग्रन्थ लिखा था। इस ग्रन्थ को सन् १७७६ में हूया नामी विद्वान् ने फिर सम्पादित किया। उसी पुस्तक का पादरी क्लार्क ने अनुवाद किया है। उसमें लिखा है कि 'अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत के मो०लो०ची० राज्य का आह०यू० नामक राजकुमार यून्नन प्रान्त में आया। इसके पुत्र का नाम ती० भोगंगे था। इसके नौ पुत्र हुए। इन्हीं के सन्तति विस्तार से समस्त चीनियों की वंश वृद्धि हुई है'। इसके अतिरिक्त चीनदेश में होम (हवन) को घोम कहते हैं। इससे प्रतीत होता है कि उनमें आर्यों का कर्मकाण्ड दीर्घकाल तक प्रचलित था। चीनवालों का भारत से इतना अधिक सम्बन्ध रहा है कि यहाँ से ब्राह्मण लोग धर्मप्रचार के लिए चीन को जाते थे और चीन-निवासी यहाँ आकर फिर से आर्यों के समाज में मिल जाते थे। हिन्दी विश्वकोश पृष्ठ ३१८ पर उपनिवेश शब्द पर लिखा है कि 'चीन देश की पुरातत्त्व आलोचना से यह सिद्ध होता है कि ई० सन् पूर्व ८वीं शताब्दी में भारतीय आर्य वणिकों ने चीन देश के बहुत-से स्थानों में अपना प्रभाव फैलाया था और बहुत-से स्थानों में उपनिवेश भी किया था', तभी तो दारुचीनी जिसे दालचीनी कहते हैं वहाँ से आती थी। दारु लकड़ी को कहते हैं, इसलिए एक विशेष प्रकार की चीन की लकड़ी को दारुचीनी कहा जाता था। यह लगभग तीन हज़ार वर्ष के पूर्व की बात है, परन्तु हमने चन्द्रवंश और आर्यभाषा की जो बात लिखी है वह तो उस समय की है जब सर्वप्रथम आर्यलोग चीना होकर चीन गये थे, इसलिए चीनियों के आर्य वंशज होने में तनिक भी सन्देह नहीं है।

लोग कहते हैं कि जापान में जो जाति निवास करती है वह चीन से ही जाकर वहाँ बसी है, क्योंकि दोनों की भाषा आदि में बहुत अन्तर नहीं है। यह बात ठीक है, परन्तु हमारा अन्वेषण इतना और बतलाता है कि चीन की ही भाँति जापान में भी अभी उस आर्यजाति की एक शाखा विद्यमान है, जिसकी अन्य शाखाओं से जापानियों की उत्पत्ति हुई है। उस मूलनिवासिनी जाति का नाम 'ऐन्यू' है। इसको काकेशियन विभाग के अन्तर्गत समझा जाता है[१]। ऐन्यू लोग अब तक प्राचीन ऋषियों के भेष से रहते हैं, अर्थात् डाढ़ी और केश नहीं निकालते, इसीलिए इनको आजकल Hairy man, अर्थात् बालवाले लोग कहा जाता है। चाहे जापानी इन काकेशियन की सन्तति हों और चाहे चीनियों की, दोनों दशाओं में वे आर्य क्षत्रिय ही हैं। जापानियों का 'बुशीडो', अर्थात् क्षात्रधर्म अब तक प्राचीन क्षत्रियपने का स्मरण दिला रहा है। ऐन्यू लोगों का विद्यमान होना, जापान की स्त्रियों में भारतीयपन का होना और पुरुषों का क्षात्रधर्म-पालन आदि बातें एक स्वर से पुकार रही हैं कि वे आर्यवंशज ही हैं।

---

१. Ainus.—An aberrant family of Caucasic man in the Far East. They were probably the aboriginal inhabitants of Japan, but are now few in number and confined to Yezo, the Kurile Islands, and part of Sakhalin. —*Harmsworth History of the World*, p. 312.

दक्षिणी एशिया

दक्षिणी एशिया पर कुछ लिखने से पूर्व दक्षिण भारत में बसी हुई द्रविड़ जाति की उत्पत्ति का विवरण विस्तारपूर्वक हो जाना चाहिए, क्योंकि पाश्चात्यों और उनके द्वारा शिक्षा पाये हुए कतिपय एतद्देशीय विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष के मूलनिवासी कोल और द्रविड़ ही हैं। आर्य लोग तो यहाँ कहीं बाहर से आकर बसे हैं। यहाँ के स्वामी कोल और द्रविड़ ही थे, परन्तु आर्यों ने यहाँ आकर उनको युद्धों में परास्त करके जंगलों में भगा दिया, आप राजा हो गये और मूलनिवासियों को दास, दस्यु, राक्षस, असुर और यातुधान आदि नामों से पुकारने लगे। ये विद्वान् अपने इस आरोप की पुष्टि में कहते हैं कि

१. वेदों में आर्य और दस्यु दो जातियों का वर्णन है। २. दस्युओं के श्याम वर्ण और उनकी म्लेच्छ भाषा का वर्णन है। ३. उनके साथ युद्धों का वर्णन है और ४. यहाँ के मूलनिवासी कोल, भील, संथाल, नट, कंजर और द्रविड़ों में श्यामवर्ण और अनार्यभाषा पाई भी जाती है, अतएव ये समस्त वर्णन उन्हीं के लिए हैं।

हम देखते है कि इन वर्णनों और अवलोकनों से उपर्युक्त आरोप को सहारा मिलता है, अतएव इस बात के जाँचने की आवश्यकता है कि यह आरोप और ये प्रमाण परस्पर कितने सहायक हैं। सबसे पहले हम देखना चाहते हैं कि

१. आर्यों के बाहर से आने और उनके पूर्व यहाँ के मूलनिवासियों के विषय में क्या-क्या प्रमाण हैं। २. दस्युओं के रूप-रंग, भाषा और युद्धों का वेदों में क्या उल्लेख है और ३. मूलनिवासियों की मौलिकता का क्या रहस्य है। इन तीन ही वाक्यों में समस्त जिज्ञासा भरी हुई है। इन सबमें पहला प्रश्न यह है कि क्या आर्यलोग बाहर से आये ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए आर्यजाति का साहित्य ही आदरणीय हो सकता है, क्योंकि यह बात सर्वमान्य हो चुकी है कि आर्यों के वैदिक साहित्य (वेद) से पुराना साहित्य आर्यों की किसी शाखा के पास नहीं है, अतः हम सबसे प्रथम यही देखना चाहते हैं कि आर्यों ने अपने साहित्य में भारत आगमन के विषय में स्वयं क्या लिख रक्खा है। आर्यों ने अपने इतिहास में कहीं नहीं लिखा है कि वे कहीं बाहर से आये। आर्यों को विदेशी सिद्ध करनेवाले विद्वानों में मि० मूर प्रसिद्ध हैं। आप आर्यसाहित्य को दीर्घकाल तक उलटने-पलटने के पश्चात् हताश होकर लिखते हैं कि 'जहाँ तक मुझे ज्ञात है संस्कृत की किसी पुस्तक से अथवा किसी प्राचीन पुस्तक के अवतरण से यह बात सिद्ध नहीं होती कि भारतवासी किसी अन्य देश से आये'[१]।

आर्यों के साहित्य से न सही मूलनिवासियों की ही किसी कथा से यह बात सिद्ध होती कि आर्यलोग कहीं बाहर से आये और हमको जंगलों में निकाल दिया, परन्तु यह बात भी अब तक किसी ने नहीं ढूँढ निकाली। इसके अतिरिक्त यदि आर्यों के पहले कोल और द्रविड़ यहाँ के मूलनिवासी होते तो उनकी भाषा में इस देश का कुछ नाम अवश्य होता, परन्तु अनार्यों की भाषा में आर्यावर्त्त और भारतवर्ष नाम के पहले का कोई भी नाम नहीं मिलता। इससे तो यह बात बिलकुल ही उड़ जाती है कि यहाँ आर्यों के पूर्व कोल और द्रविड़ रहा करते थे। कुछ समय से पढ़े-लिखे द्रविड़ों ने अपना कुछ इतिहास लिखना शुरू किया है, परन्तु उन्होंने अपना इतिहास किन्हीं अनार्य नामों से आरम्भ न करके अगस्त्य और कण्व आदि ऋषियों के चरित्रों से ही

---

१. That so far as I know, none of the Sanskrit books, not even the most ancient, contain any distinct reference or allusion to the foreign origin of the Indians.

—*Muir's original Sanskrit Texts*, Vol. II, p. 322.

आरम्भ किया है। अगस्त्य और कण्व निस्सन्देह आर्य नाम हैं। इतिहास के मूल में इन नामों के होने से यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है द्रविड़ों के पूर्व भी यहाँ आर्य ही निवास करते थे। इस विषय पर एक द्रविड़ पण्डित मद्रास प्रान्त से लिखते हैं कि द्रविड़ों की भाषा, रूप, विश्वास, धर्म और इतिहास से मुझे पूर्ण सन्तोष हो गया है कि वे लगभग ५०० वर्ष ईस्वी सन् पूर्व पश्चिमी एशिया के समुद्र पार से यहाँ आये। यह एक पढ़े-लिखे द्रविड़जाति के आधुनिक विद्वान् की सम्मति है। सभी जानते हैं कि बुद्ध भगवान् के जन्म का संवत् ईस्वी सन् के पूर्व छठी शताब्दी है। उस समय से हज़ारों वर्ष पूर्व तक आर्यों के यहाँ बसने का प्रमाण मिलता है, परन्तु उपर्युक्त द्रविड़ विद्वान् ने स्पष्ट ही कह दिया है कि द्रविड़ लोग ईस्वी सन् से ५०० वर्ष पूर्व बाहर से आये। ऐसी दशा में द्रविड़ों के मत से भी आर्यलोग द्रविड़ों से पूर्व यहाँ बसे हुए पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त आर्यों की किसी भिन्न शाखा ने भी स्वीकार नहीं किया कि वैदिक आर्य हमसे पृथक् होकर भारत को गये। कहने का तात्पर्य यह कि संसार में इस प्रकार का कोई इतिहास उपलब्ध नहीं है, जिसमें लिखा हो या कहा जाता हो कि आर्यलोग भारत में कहीं बाहर से आये। इसके विरुद्ध वैदिक आर्यों ने अपने प्राचीनतम इतिहास में लिख रक्खा है कि ब्रह्मावर्त के जंगलों को काटकर सबसे प्रथम हमने ही बसती की है।

द्वितीय खण्ड में हम लिख आये हैं कि आर्यों की उत्पत्ति हिमालय के 'मानस' स्थान पर हुई। बहुत दिन तक आर्य लोग हिमालय पर ही रहे। सन्ततिविस्तार के कारण उन्होंने हिमालय से नीचे उतरकर भूमि तलाश की। जिस रास्ते से वे आये उस रास्ते का नाम उन्होंने हरद्वार (हर=हिमालय और द्वार=दरवाज़ा), अर्थात् हिमालय का दरवाज़ा रक्खा। यहाँ आकर वे कुछ दिन तो रहे, परन्तु जंगली जल-वायु के कारण सब रोगी हो गये और फिर अपने पूर्वनिवास हिमालय को चले गये[१], परन्तु कुछ समय बाद वे फिर यहाँ आये। अब की बार उन्होंने यहाँ के जंगलों को काटकर देश को बसने योग्य बनाया और हरद्वार, कुरुक्षेत्र, अर्थात् सरस्वती नदी से लेकर पूर्व की गण्डकी नदी (जिसको सदानीरा और दृषद्वती कहते हैं) तक जंगलों को जलाकर बसावट की[२] और इस बसी हुई भूमि का नाम ब्रह्मावर्त रक्खा[३]। इसके आगे के देश का नाम विदेह हुआ जिसका अर्थ शरीरशून्य, अर्थात् निर्जन है[४]। इस इतिहास से ज्ञात होता है कि इसके पूर्व यहाँ कोई भी निवास नहीं करता था। यदि बसावट होती तो जंगल न जलाने पड़ते और देशों का नाम विदेह न रखना पड़ता। जिन दस्युओं को मूलनिवासी कहा जाता है, वे युद्ध करना जानते थे, उनके बड़े-बड़े नगर थे, क्योंकि **'असुरः पुरो प्रकुर्वीत'** शतपथ में लिखा हुआ है। वे व्यापारी थे और जहाज़ चलाना भी जानते थे। ऐसे लोगों ने जंगलों में ही निवास रक्खा हो यह युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कोल-भील तो जंगल काटने में अब तक बड़े प्रबल होते हैं, परन्तु आर्यों के उपर्युक्त वर्णन से पाया जाता है कि आर्यों के पूर्व यहाँ बसने योग्य स्थान ही न था। इस प्रकार न तो यहाँ आर्यों के पूर्व किसी के बसने का पता मिलता है और न यहाँ कोई

---

१. दोषं मत्वा पूर्वनिवासं हिमवन्तं जग्मुः। —चरकसंहिता

२. तर्हि विदेधो माथव आस। सरस्वत्या ॐ स तत एव प्राङ् दहन्न भीयायेमां पृथिवीं तं गोतमश्च राहूगणो विदेधश्च माथवः पश्चाद्दहन्तमन्वीयतुः। स इमाः सर्वा नदीरतिददाह, सदानीरेत्युत्तराद् गिरेर्निर्धावति ता ॐ हैव नातिददाह। ताॐह स्म तां पुरा ब्राह्मणा न तरन्त्यनतिदग्धाग्निना वैश्वानरेणेति।
—शतपथब्राह्मण १।४।१।१४

३. सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्। तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते॥ —मनुस्मृति [२।१७]

४. एतर्हि कोसलविदेहानां मर्यादा। —शतपथ १।४।१।१७

पराजित या विजित ही था। पाश्चात्य विद्वानों की इस ऊलजलूल थ्यूरी का तीव्र प्रतिवाद करते हुए प्रसिद्ध विद्वान् नैसफ़ील्ड साहब लिखते हैं कि 'भारतीयों में आर्यविजेता और मूलनिवासी जैसे कोई विभाग नहीं हैं। ये विभाग बिलकुल आधुनिक हैं। यहाँ तो समस्त भारतीय जातियों में अत्यन्त एकता है। ब्राह्मणों से लेकर सड़क झाड़नेवाले भंगियों तक का रूप, रंग और रक्त एकसमान ही है'[१]।

हमने यहाँ तक यह दिखलाने का यत्न किया कि इस देश में न तो आर्यों के पूर्व कोई मूलनिवासी नाम के कोल, द्रविड़ आदि ही रहते थे और न आर्यों के साहित्य से आर्यों का बाहर से आना ही सिद्ध होता है। इसी प्रकार न मूलनिवासियों की किसी कथा या नाम से ही सिद्ध होता है कि आर्य बाहर से आये और कोल, भील, द्रविड़ यहाँ के मूलनिवासी थे और न इस बात को आर्यों की किसी अन्य शाखा ने ही स्वीार किया है कि हमारा एक दल भारत को गया। जब यह हाल है तब फिर नहीं मालूम होता कि संसारभर के प्रमाणों के विरुद्ध किस आधार से कहा जाता है कि आर्यलोग कहीं बाहर से आये और यहाँ के मूलनिवासी कोल और द्रविड़ ही हैं, इसलिए पाश्चात्यों का यह आरोप कि आर्यलोग बाहर से आये, सर्वथा निराधार है। इसी प्रकार यह भी निराधार है कि आर्यों के पूर्व यहाँ कोल और द्रविड़ रहते थे। इसके बाद अब हम इस प्रश्न का उत्तर ढूँढते हैं कि दस्युओं के रूप, रंग, भाषा और युद्धों का वेदों में क्या उल्लेख है?

एक व्यक्ति ने प्यार करते-करते बच्चे को कहा कि यह बड़ा शैतान है। इस बात पर पास बैठे हुए उसके दोस्त ने कहा कि जी हाँ, इसका वर्णन तो बाइबिल और क़ुरान में भी आया है। जो बात इस विनोद में दिखलाई पड़ती है ठीक वही बात वेदों में दस्यु आदि शब्द देखकर कोल-भीलों के लिए बताई जाती है, किन्तु वेदों को ध्यान से पढ़नेवाले इस बात से इनकार करते हैं। वेदों में आये हुए दस्यु आदि शब्दों पर मिस्टर मूर लिखते हैं कि 'मैंने ऋग्वेद के दस्यु या असुर आदि नामों को इसलिए पढ़ा कि वे अनार्यों' के हैं या मूलनिवासियों के, परन्तु मुझे कोई भी नाम न मिला जो इस प्रकार का हो[२]। इसी प्रकार प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि दस्यु का अर्थ केवल शत्रु है[३]। ए० रागोज़िन कहते हैं कि दस्यु का अर्थ केवल लोग है और ईरानियों की अवस्था पुस्तक में उनका दह्यु शब्द इसी अर्थ में आया है[४]। ज़न्दावस्था के इस प्रमाण से रागोज़िन ने सिद्ध कर दिया कि ईरानी लोग अपने ईरानी लोगों को ही दह्यु, अर्थात् दस्यु कहते थे। मैक्समूलर ने स्पष्ट कर दिया कि दस्यु दुश्मन को कहते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि चाहे अपनी जाति का हो अथवा दूसरी जाति का, जो द्वेष करने योग्य है, वही दस्यु है। यदि ऐसा न होता तो ईरानी लोग अपनी ही

---

१. There is no division of the people as the Aryan conquerors of India and the aborigines of the country, that division is *modern* and that there is essential unity of the Indian races. The great majority of Brahmins are not of lighter complexion or of finer or better red features than any other caste, or distinct in race and blood from the scavengers who swept the road.
—*Brief View of the Caste System of the North-West Provinces and Oudh,* p. 271.

२. I have gone over the names of the Dasyus or Asuras mentioned in the Rigveda with the view of discovering whether any of them could be regarded as of non-Aryan or indiginous origin, but I have not observed any that appear to be of this character. —*Original Sanskrit Texts,* Vol. II, p. 387.

३. Dasyu simply means enemy. —*Last Results of the Turanian Research,* p. 344.

४. Dasyu meaning simply people, a meaning which the word under the Iranian form 'Dahyu' retain all through the Awastha and Akhaeminian inscription. —*Vedic India,* p. 113.
दह्यु शब्द दस्यु का अपभ्रंश है, क्योंकि संस्कृत का 'स' ज़ेंदभाषा में 'ह' हो जाता है, जैसे सप्त का हप्त और मास का माह आदि।

जाति को दह्यु न कहते, क्योंकि उनके यहाँ तो कोई श्याम वर्ण और भिन्न भाषाभाषी था ही नहीं।

भाषा के विषय में जो वर्णन वेद में आये हैं वे भी मूलनिवासियों की भाषा के लिए नहीं हैं। वेदों में आये हुए 'मृध्रवाचा' आदि शब्द जिनको अनार्यों की भाषा कहा जाता है, जाँच से सिद्ध नहीं होते कि वे अनार्यों की भाषा के लिए आये हैं। मिस्टर मूर कहते हैं कि 'मृध्रवाचा' से अनार्यों की भाषा किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती[१]। इसी प्रकार श्याम वर्ण का वर्णन भी अनार्यों की त्वचा के लिए नहीं आया। प्रो० रॉय अपने कोष में लिखते हैं कि कृष्णगर्भा और कृष्णयोनि आदि शब्द कृष्ण मेघ के लिए आये हैं, जो काला ढक्कन है। यही अभिप्राय ए० मारेनीरने के लेख का भी है[२]। बाबू अविनाशचन्द्र दास कहते हैं कि जिस प्रकार एक अंग्रेज़ किसी डाकू अंग्रेज़ को 'ब्लैक गार्ड' कहता है उसी प्रकार श्याम चर्म का वर्णन, जो आर्यों ने अपने एक दल के लिए किया है, वह उपमा काले बादलों से ही आई है, जिसे वे वृत्र की खाल कहते हैं[३]।

इस छानबीन से यह पता लग गया कि वेदों में आये हुए कृष्णयोनी और मृध्रवाचा आदि शब्द मूलनिवासियों के लिए प्रयुक्त नहीं हुए। उलटा यह सिद्ध हो रहा है कि वेदों में श्याम त्वचा, मृध्रवाचा और दस्यु आदि शब्द बादलों के लिए प्रयुक्त हुए हैं और युद्धों के वर्णन इन्द्र और वृत्र के हैं जो वास्तव में विद्युत्, सूर्य तथा मेघों के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। यहाँ दस्यु और वृत्र आदि शब्दों पर विचार कर लेने से ही यह सारी उलझन सुलझ जाएगी। वेद के पढ़नेवाले जानते हैं कि वेदों में इन्द्र और वृत्र का वर्णन बहुत आता है। यह वर्णन युद्ध के रूप में भी आता है। हम चाहते हैं कि यहाँ वेदों के थोड़े-से वे वाक्य, जिनमें इन्द्र, वृत्र, दस्यु, मृध्रवाचा, कृष्णयोनि आदि शब्दों की व्याख्या की गई है, लिख दें जिससे स्पष्ट हो जाए कि यह सब वर्णन पृथिवी पर का नहीं है। ऋग्वेद में एक सूक्त केवल इसलिए आता है जिससे इन्द्र का वास्तविक स्वरूप समझ में आ जाए। इस सूक्त का नाम **'स जना स इन्द्रः'** है। इसके आवश्यक अंश इस प्रकार हैं—

यो जात एव प्रथमः। यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्। पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्। यो अन्तरिक्षं विममे। यो द्यामस्तभ्नात्। यो हत्वाहिमरिणात् सप्तसिन्धून्। यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान्। यो दासं वर्णमधरं गुहाकः। यस्याश्वासः प्रदिशि। यः सूर्यं य उषसं जजान्। यो अपां नेता। यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव। यो दस्योर्हन्ता। यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तम्। यो अहिं जघान। यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्। यो वज्रहस्ता...स जनास इन्द्रः। —ऋ० २।१२

अर्थात् जो सबसे प्रथम उत्पन्न हुआ, जो पृथिवी को कम्पायमान करता है, जो पर्वतों, अर्थात् बादलों को कुपित करता है, जो अन्तरिक्ष में है, जो द्यौ को रोके हुए हैं, जो बादलों को मारकर सातों किरणों को मुक्त करता है, जो बादलों में अग्नि उत्पन्न करता है, जो बादलों को नीचे गिराता है, जिसकी किरणें सब दिशाओं में फैली हैं, जो सूर्य और ऊषा को उत्पन्न करता है, जो जलों का नेता है, जो संसार का पैमाना है, जो दस्युओं—बादलों—का मारनेवाला है, जो शंबर को—पर्वतों—बादलों को छिन्न-भिन्न करता है, जो बादलों को मारता है और जो वज्रहस्त है, उसे हे मनुष्यो! इन्द्र समझो।

---

१. In any case, the sense of the word मृध्रवाचा is too uncertain to adimt of our referring it with confidence to any peculiarity in the speech of the aborigines. —*Original Sanskrit Texts*, p. 378.

२. Etude Sur l' Idiome Deo Vedas, p. 154.

३. Just as an Englishman would call an English robber or swindler a black guard, the analogy of the 'black skin' was possibly drawn by the Rigvedic Aryan from the colour of clouds which was regarded as the body demon, Vritra. —*Rigvedic India*, p.123.

अब विचार करके देखना चाहिए कि क्या यह उपर्युक्त इन्द्र कोई पृथिवी का देहधारी राजा है या आकाशीय सर्वप्रधान शक्ति है। यदि यह आकाशीय शक्ति हैं तो फिर यह आकाशीय पदार्थों को ही मारता है और उन्हीं के साथ युद्ध करता है। ऊपर के पर्वत, अहि, दास, दस्यु, शम्बर आदि सब शब्द आकाश के ही पदार्थ हैं। निघण्टु में ये सब नाम बादलों के लिए ही आये हैं। इन्द्र के लिए ही वेद में और भी वर्णन देखने योग्य हैं। एक स्थान पर लिखा है कि—

अयमिन्द्रो मरुत्सखा वि वृत्रस्याभिनच्छिरः। वज्रेण शतपर्वणा॥
वावृधानो मरुत्सखेन्द्रो वि वृत्रमैरयत्। सृजन्त्समुद्रिया अपः॥ —ऋ० ८।७६।२-३

अर्थात् इस इन्द्र ने वज्र से मरुत् के सिर के सौ टुकड़े कर दिये। हे मरुत् के सखा इन्द्र! वृत्र को मारकर समुद्र के जलों को उत्पन्न कीजिए।

यहाँ स्पष्ट हो गया कि इन्द्र मरुतों, अर्थात् हवाओं का सखा है जो बादलों को मारकर समुद्र बनाता है। ऋग्वेद ८।२५।४ में स्पष्ट कह दिया है कि '**महान्ता मित्रावरुणा सम्राजा देवावसुरा**' अर्थात् मित्र और वरुण दोनों देवों और असुरों के राजा हैं। मित्र सूर्य है और सभी जानते हैं कि वरुण जल का स्वामी है। सूर्य देवों का राजा और वरुण असुरों का राजा है। ऐसी दशा में यह वरुण बादलों के सिवा और क्या हो सकता है? ऋग्वेद में स्पष्ट लिखा है कि—

इन्द्रो मघैर्मघवा वृत्रहा भुवत्। —ऋ० १०।२३।२
वृत्रहणं पुरन्दरम्। —ऋ० ६।१६।१४
यो दस्योर्हन्ता स जना स इन्द्रः। ऋ० २।१२।१०

अर्थात् इन्द्र ही मघवा वृत्र को मारनेवाला हुआ। वृत्र को मारनेवाला ही पुरन्दर है और जो दस्यु को मारनेवाला है, वही इन्द्र है।

यहाँ वृत्र और दस्यु शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं। इन्द्र और दस्यु शब्द पर मैक्समूलर कहते हैं कि 'तब इन्द्र की स्तुति की जाती है, क्योंकि उसने दस्युओं का नाश किया और आर्य-रङ्गों की रक्षा की'[१]। हम पहले ही लिख आये हैं कि मैक्समूलर दस्यु को शत्रु कहते हैं और मिस्टर मूर कहते हैं कि वेदों में अनेक प्रमाण हैं, जिनमें वृत्र को शत्रु कहा गया है[२]। इससे ज्ञात हुआ कि वृत्र और दस्यु एक ही पदार्थ हैं। दस्यु शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्क कहते हैं कि '**दस्युर्दस्यतेः क्षयार्थादुपदस्यन्त्यस्मिन् रसा उपदासयति कर्माणि**'[३], अर्थात् दस्यु शब्द क्षयार्थक 'दस' धातु से बना है, अतः जो रसों का क्षय करता है और यज्ञों को नष्ट करता है, वही दस्यु है। संसार के सब रस खिंचकर बादलों में ही जाते हैं, इसलिए सच्चे दस्यु बादल ही हैं। इसी प्रकार वृत्रों की निरुक्ति में यास्काचार्य कहते हैं कि '**तत्को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः**'[४], अर्थात् वृत्र कौन है? उत्तर देते हैं कि नैरुक्तों के मत से मेघ ही वृत्र हैं, इसीलिए ऋग्वेद में आया है कि '**इन्द्रो यो दस्यूँरधराँ अवातिरन्**'[५], अर्थात् जो इन्द्र दस्युओं को नीचे गिराता है। अर्थ स्पष्ट हो गया कि इन्द्र, अर्थात् विद्युत् या सूर्य ताड़न के द्वारा बादलों को भगा देता है तथा बादल ही कृष्णयोनि हैं और वही मृध्रवाचा हैं।

---

१. When Indra is praised because he destroyed the Dasyus and protected the Aryan Colour.
—*Last Results of the Turanian Research*, p. 344.

२. And yet there are many passages in which, the word, Vritra, has the signification of enemy in general. —*Muir's Original Sanskrit Texts*, Vol. II, p. 389.

३. निरुक्त ७।६।२३ ४. निरुक्त २।५।१७

५. ऋ० १।१०१।५

ऋग्वेद २।२०।७ में लिखा है कि **'स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः'**, अर्थात् वृत्र ही निश्चयपूर्वक कृष्णयोनि हैं और **'दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः'** (ऋ० १।१७४।२), अर्थात् इन्द्र ही वृत्र में घुसकर मृध्रवाचा बोलता है। तात्पर्य यह कि काले बादल कृष्णयोनि हैं और बादलों में विद्युत् की गड़गड़ाहट ही मृध्रवाचा है।

वेदों में आया हुआ इन्द्र और वृत्र का अलङ्कार ही देव और असुर तथा आर्य और दस्यु के संग्राम के नाम से प्रसिद्ध है। आर्यों का विश्वास है कि उन्होंने संसार में जितने पदार्थों का ज्ञान प्राप्त किया है उनका नाम वेदशब्दों से ही रक्खा है। प्रकाश के विरुद्ध आनेवाले बादलों को जिस प्रकार वेद ने दस्यु कहा है उसी प्रकार श्रेष्ठ आर्यों से विरोध करनेवालों को भी दस्यु कहा है, इसीलिए आर्यों ने वेदों से नामकरण की यह सच्ची कुंजी पाकर अपनी जाति को दो भागों में बाँट दिया, क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है कि **'विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवः'**, अर्थात् आर्य और दस्यु को अलग-अलग जानो। दस्यु का लक्षण करते हुए वेद ने बताया है कि—

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम्। —ऋ० ८।७०।११
अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। —ऋ० १०।२२।८

अर्थात् कर्महीन—यज्ञहीन, अविचारी—अनीश्वरवादी अमानुषों को दस्यु समझना चाहिए। इनके विरुद्ध आर्य का लक्षण करते हुए निरुक्तकार कहते हैं कि **'आर्य ईश्वरपुत्रः'**, अर्थात् आर्य परमेश्वर के पुत्र हैं। तात्पर्य यह कि जैसे बादल सूर्य के प्रकाश को रोककर अन्धकार फैलाते हैं वैसे ही अनार्य—दस्यु भी आर्यों के श्रेष्ठ कर्मों में विघ्न करते हैं और जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रखर किरणों से बादलों को नष्ट करते हैं वैसे ही आर्य भी दुष्टों का दमन करते हैं, इसीलिए आर्य ईश्वरपुत्र कहलाते हैं। वेद की इस अलंकृत शिक्षा के द्वारा प्राचीन आर्यों ने अपनी जाति के भीतर ही दुष्ट स्वभाव के मनुष्यों को अनार्य कहा है—दस्यु कहा है और उत्तम स्वभाववालों को आर्य कहा है।

वेदों में इतिहास माननेवाले भी स्वीकार करते हैं कि सुदास, दिवोदास और त्रिसदस्यु आदि राजा आर्य ही थे। पारसी भी अपने गोल में ही दह्यु की कल्पना करते थे, अतः इसका यह अर्थ नहीं है कि दस्यु कोई दूसरी जाति थी। वेदों में किसी जाति का दस्यु नाम से वर्णन नहीं है, न आर्यों के पूर्व किसी मूलनिवासिनी जाति का पता मिलता है, इसलिए दूसरा प्रश्न भी निराधार ही सिद्ध होता है। इतना वर्णन कर चुकने के बाद अब आगे तीसरे प्रधान प्रश्न पर विचार करते हैं कि मूलनिवासियों की मौलिकता का क्या रहस्य है?

जब से यह बात सिद्ध हो गई है कि द्रविड़ लोग बाहर से आकर आबाद हुए हैं और उनकी आबादी का समय बहुत ही न्यून है तब से पाश्चात्यों ने मूलनिवासियों के दो विभाग कर दिये हैं। इन दोनों विभागों में एक का नाम कोलारियन विभाग है और दूसरे का द्रविड़ियन। कोलारियन विभाग को द्रविड़यन विभाग से पृथक् मानते हुए भी दोनों को न तो वे लोग स्पष्ट रीति से पृथक् करते हैं और न एक में मिलाते हैं। कुछ समय पूर्व वे दोनों दलों को एक ही मानते थे और दोनों को मूलनिवासी, अर्थात् 'एबॉरिजिनीज़' कहते थे, परन्तु अब मूलनिवासियों के दो विभाग मानते हैं। हम यहाँ देखना चाहते हैं कि क्या कोलारियन और द्रविड़ियन एक ही दल के हैं या पृथक्-पृथक्। साथ ही यह भी देखना चाहते हैं कि इन दोनों दलों की वास्तविकता क्या है।

मिस्टर हॉज़सन, कर्नल डालटन और मिस्टर क्लाडवेल आदि विद्वानों ने द्रविड़ों और कोलों की भाषा, रूप-रंग और उनकी जातिविभाग के विषय में बड़ी खोजें की हैं, बड़े-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं और उनमें अपना मत प्रकट किया है। यहाँ हम मिस्टर क्लाडवेल के ग्रन्थ से इस

विषय के प्रमाण उपस्थित करते हैं कि द्रविड़ और कोल एक ही जाति की दो सभ्य-असभ्य शाखाएँ हैं। मिस्टर क्लाडवेल कहते हैं कि द्रविड़ भाषाओं के १२ विभाग हैं—

परिमार्जित विभाग	**अपरिमार्जित विभाग**
१. तामिल	१. तूदा
२. मलयालम	२. कोटा
३. तेलुगू	३. गोंड
४. कनाड़ी	४. खोंड या कू
५. तूलू	५. उराँव
६. कुडग (कुर्ग)	६. राजमहाल

तूदा, कोटा, गोंड और कू आदि भाषाएँ यद्यपि असभ्य और असंस्कृत हैं तथापि निस्सन्देह तामिल, कनाड़ी और तेलुगू के समान द्रविड़ियन हैं। उसी क्रम में राजमहाल और उराँव भाषाओं को रखने में मुझे संकोच होता है, क्योंकि उनमें कोलभाषा की बहुत-सी धातुएँ मिली हैं, तो भी मैं उनको द्रविड़ियन विभाग में रखता हूँ[१]।

उराँव भाषा के लिए मिस्टर हॉज़सन का विचार है कि वह द्रविड़ और कोलभाषा के बीच की कड़ी है[२]। कर्नल डालटन इससे भी आगे बढ़कर कहते हैं कि 'द्रविड़ तत्त्व बंगाल' के निवासियों तक फैला हुआ है[३]। इन वर्णनों से यहाँ यह स्पष्ट हो गया कि कोल, भील और बंगाल के संथालों से लेकर दक्षिण के समस्त द्रविड़ एक ही जाति के लोग हैं और एक ही मूलभाषा की शाखाओं को बोलते हैं। यही नहीं, प्रत्युत विद्वानों की खोज से यह भी सिद्ध हो गया है कि यहाँ के कोलों और द्रविड़ों से लेकर लंका, मेडेगास्कर, अफ्रीका और आस्ट्रेलिया तक जितने लोग इथिओपिक विभाग के हैं, वे सब एक ही भाषा बोलते हैं और सब एक ही जाति के हैं[४]।

---

१. The idioms which I designated as Dravidian are twelve in number exclusive of the Brahvi. They are as follows—

Cultivated Dialects	**Uncultivated Dialects**
1. Tamil	1. Tuda
2. Malyalam	2. Kota
3. Telgu	3. Gond
4. Canarese	4. Khond or ku
5. Tulu	5. Oraon
6. Kudagin (Coorg)	6. Rajmhal

Tuda, Kota, Gond and Ku, though rude and uncultivated, are undoubtedly to be regarded as essentially Dravidian dialects equally with the Tamil, the Canarese and Telugu. I feel some hestation in placing in the same category the Rajmahal and the Oraon, seeing that they appear to contain so large an admixture of roots and tongues, probably the Kolarian. I venture, however, to classify them as in the main Dravidian. —*Comparative Grammer of Drividian Languages*

२. The Oraon was considered by Mr. Hodgson as a connecting link between the Kol dialects and destinctively Tamilian family. —*Comprative Grammer of Dravidian Languages*, p. 49

३. Colonel Dalton carries the Dravidian element still further than I have ventured to do. He says (Ethnology of Bengal. p. 243) the Dravidian element enters more largely into the composition of the population of Bengal than in general, supposed. —*Ibid*, p. 41

४. Whilst the base of this pronoun seems to be closely allied to the corresponding pronoun in Tibetian and in the Indo-Chinese family generally, the manner in which it is pluralised in the Australian dialects bears a marked resemblance to the Dravidian and especially to Telugu. —*Ibid*, p. 78

Some resemblance may be treated between the Dravidian languages and the Bārnū or rather

इथिओपिक विभाग की पहिचान श्याम रंग, घुँघराले बाल, चौड़ी खोपड़ी और तंग जबड़ा है[१]। यह विभाग उक्त समस्त विभागों को एक में जोड़ता है।

ऊपर के वर्णन में यह स्पष्ट दिखलाई पड़ता है कि कोल और द्रविड़ों की कड़ियाँ जुड़ी हुई हैं। मध्यप्रान्त का गेज़ेटियर भी इसी परिणाम पर पहुँचा है। यही नहीं, प्रत्युत भारतवर्ष का प्राचीनतम इतिहास भी यही कहता है कि आन्ध्र, द्रविड़, शबर और किरात आदि सब एक ही हैं। हम यहाँ मिस्टर क्लाडवेल की एक खोज लिखते हैं। वे कहते हैं कि 'ऊपर कही हुई द्रविड़ भाषाओं की सूची में मैंने मुण्डा, हो, कोल और शबर भाषाओं को नहीं रक्खा, जो कोलारियन भाषाएँ हैं'[२]। क्लाडवेल शबरजाति को कोलारियन विभाग में गिनते हैं। अब हम दिखलाना चाहते हैं कि द्रविड़ और शबर एक ही जाति के हैं।

कोलों और द्रविड़ों को एक ही समुदाय के बतानेवाले और दोनों की मौलिकता का पता देनेवाले प्रमाण आर्यजाति के प्राचीनतम ग्रन्थों में सुरक्षित हैं। हम ऐतरेयब्राह्मण के प्रमाण से लिख आये हैं कि विश्वमामित्र आर्यराजा और ऋषि थे। उनके एक सौ पुत्र (शिष्य) थे। उनमें पचास लड़के दुष्ट हो गये और प्रजा को दुःख देने लगे। विश्वामित्र ने उनको आर्यसमाज से निकाल दिया। वही सब आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द आदि हो गये और दस्यु कहलाने लगे[३]। मनुस्मृति में लिखा है कि ब्राह्मणों के न मिलने से वृषल हुई क्षत्रियजाति बाहर निकाल दी गई जो औण्ड्र, पौण्ड्र, द्रविड़, कम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद और खश नाम से प्रसिद्ध हो गईं[४]। ये दोनों ऐतिहासिक प्रमाण किसी सामान्य गन्थ के नहीं हैं, प्रत्युत ऐतरेयब्राह्मण और मनुस्मृति के हैं जिनकी प्रामाणिकता के विषय में किसी को इनकार नहीं हो सकता। इनमें आये हुए नामों में से आन्ध्र, शबर, द्रविड़ और किरात शब्द विशेष ध्यान देने योग्य हैं[५]। आन्ध्र और द्रविड़, द्रवीड़ियन विभाग के हैं और शबर तथा किरात कोलारियन विभाग के हैं। ये दोनों विभाग क्षत्रियजाति से उत्पन्न कहे गये हैं। क्षत्रियजाति निस्सन्देह आर्य ही है, इसलिए अब हमारा प्रबलतापूर्वक दावा है कि कोल और द्रविड़ दोनों एक ही आर्यजाति की शाखाएँ हैं और आर्यावर्त में ही आर्यों से उत्पन्न हुई हैं।

---

the Kanari, one of languages spoken in the Bārnū country in Central Africa. —*Ibid*, p. 80

Even this, however, as has been shown, is common to the Dravidian with Brahvi, Chinese, the languages of the second Behistan tables and the Australian dialects. —*Ibid*, p. 80

१. Ethiopic—One of the four great divisions of the human races, occupying Africa, Australia and many islands of Eastern Ocean. Its members are typically black skinned and wooly haired with projecting jaws and broad skull. —*Harmsworth History of the World*, p. 326.

२. In the above list of the Dravidian languages I have not included the Ho, the Munda, or any of the rest of the languages of the kols, the *savaras* and other rude tribes of Central India and of Bengal called Kolarian by Sir George Campbell, and included by Mr. Hodgson under the general term Tamilian. —*Comparative Grammer of Dravidian Languages*, p. 42.

३. विश्वामित्रस्यैकशतं पुत्राऽऽसुः। पञ्चाशदेव ज्यायांसः। ताननु व्याजहार तान्वः प्रजा भक्षीष्टेति। त एतेऽन्ध्राः पुण्ड्राः शबराः पुलिन्दा मूतिवा इत्युदन्त्या बहवो भवन्ति। विश्वामित्रा दस्यूनां भूयिष्ठाः।

—ऐतरेयब्रा० ७।१८

४. शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः। वृषलत्वं परिगता ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौण्ड्रद्रविडाः काम्बोजाः यवनाशकाः। पारदा पह्लवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥ —मनुस्मृति

५. इस शबर जाति की ही प्रसिद्ध शबरी थी, जो रामचन्द्र के समय में उपस्थित थी। यह भिल्लिनी भी कही जाती है। भिल्ल और कोल एक साथ ही 'कोलभिल्ल' कहलाते हैं, अतएव शबरजाति निश्चय ही कोलारियन विभाग की है।

हमने पहले ही कहा है कि आर्यलोग अपने ही पतित आर्यों को उसी प्रकार दस्यु कहा करते थे जिस प्रकार ईरानी लोग अपने ही पतित भाई को 'दह्यु' कहा करते थे। हमने ही नहीं कहा प्रत्युत यूरोप के विद्वान् भी इसी बात को स्वीकार करते हैं कि आर्यों ने दुष्ट आर्यों को ही दस्यु, राक्षस और यातुधान आदि कहा है। प्रो० मैक्समूलर कहते हैं कि वसिष्ठ एक शुद्ध ब्राह्मण था, परन्तु विश्वामित्र ने उसे यातुधान तक कह डाला है[१]। यही क्यों, कृष्ण भगवान् ने तो अर्जुन जैसे आर्यवीर को भी जब कायरता की बातें करते सुना तो तुरन्त ही कह दिया कि '**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यम्**', अर्थात् तू अनार्य स्वभाव धारण कर रहा है। वायुपुराण में स्पष्ट ही लिखा है कि '**असुरा ये तदा आसन् तेषां दायादबान्धवाः**', अर्थात् असुर तो आर्यों के दायाद (उत्तराधिकारी) बन्धु ही हैं। इसी प्रकार महाभारत शान्तिपर्व में भी लिखा है कि '**दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः**', अर्थात् आजकल तो सभी वर्णों में दस्यु दिखलाई पड़ रहे हैं। अब सोचना चाहिए कि दस्यु अगर कोई भिन्न जाति होती या उसके रूप, रंग, भाषा में भेद होता तो सब वर्णों में दस्यु कैसे दिखलाई पड़ते। वास्तविक बात तो यह है कि आर्यलोग सदैव दुष्टों को दस्यु कहते रहे हैं, चाहे वे अपनी जाति के हों या अन्य जाति के। मनु महाराज स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—

मुखबाहूरुपज्जानां या लोके जातयो बहिः।
म्लेच्छवाचाश्चार्यवाचः सर्वे ते दस्यवः स्मृताः॥ —मनुस्मृति [१०।४५]

अर्थात् वर्णाश्रमहीन जातियाँ, चाहे आर्यभाषा बोलनेवाली हों और चाहे म्लेच्छभाषा बोलती हों, सब दस्यु ही हैं।

रहा यह कि आर्यों का दस्युओं को मारना लिखा है वह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वेदों में तो आर्य को भी मारना लिखा है, परन्तु वह राजा के लिए है, क्योंकि राजा तो युद्ध में शत्रु को दण्ड देता ही है, चाहे शत्रु आर्य हो या दस्यु। जिस मन्त्र में आर्यों के मारने के लिए लिखा है, वह यह है—

त्वं ताँ इन्द्रोभयाँ अमित्रान् दासा वृत्राण्यार्या च शूर।
वधीर्वनेव सुधितेभिरत्कैरा पृत्सु दर्षि नृणां नृतम॥ —ऋ० ६।३३।३

अर्थात् हे मनुष्यों के श्रेष्ठ नेता पराक्रमी इन्द्र! तू उन दोनों पापात्मा अमित्रों, दस्युओं और आर्यों को मार। जैसे कुल्हाड़ों से वन काटे जाते हैं वैसे ही तू उनको तीक्ष्ण किये हुए शस्त्रों से युद्धों में अच्छी प्रकार काट।

इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि दस्यु, असुर, राक्षस, यातुधान आदि शब्द किसी अन्य जाति के लिए नहीं हैं, प्रत्युत उनके लिए हैं जो वर्णाश्रमधर्म के विपरीत आचरण करते हैं, अधर्मी और बदमाश हैं। यह प्रमाणित हो जाने पर कि अनार्य, दस्यु आदि आर्यों की ही शाखाएँ हैं और द्रविड़, शबर आदि मूलतः आर्य ही हैं तथा वेदों के वर्णनों से इनका सम्बन्ध नहीं है तब उनका रूप, रंग और भाषा पृथक् क्यों हैं?

रूप, रंग और भाषा के विषय में हम द्वितीय खण्ड में सप्रमाण सिद्ध कर आये हैं कि कारणवश गोरी जातियाँ काली हो जाती हैं और अन्य जाति की भाषा अन्य जाति के लोग बोलने लगते हैं। इसी प्रकार हम यह भी सिद्ध कर आये हैं कि आर्यों से ही सब रंगों और रूपों की उत्पत्ति हुई है, इसलिए श्याम रंग और भिन्न भाषा के कारण ये आर्यों से पृथक् नहीं हो सकते।

---

१. Vasistha himself, the very true Aryan Brahman, when in feud with Vishwamitra is called not only an enemy but a Yatudhan and other names, which in common parlance are only bestowed on barbarian savages and evil spirit. —*Original Sanskrit Texts,* Vol. II, p. 389, by Muir.

इस प्रकार यहाँ तक हमने भारत के मूलनिवासियों के विषय में उसी ढंग से खोज की जिस ढंग से पाश्चात्य विद्वान् या उनसे शिक्षा पाये हुए देशी विद्वान् करते हैं। हमने उन्हीं की खोजों और वेदों के उद्धरणों से ही अपने सिद्धान्त की पुष्टि और उनके मत का निरसन किया है, इसलिए अब यहाँ साहसपूर्वक कहते हैं कि मद्रास प्रान्त में बसनेवाले द्रविड़ तथा दक्षिणी प्रदेशों में बसनेवाले कोल आर्य ही हैं और आर्यजाति के लोग ही समस्त दक्षिणी एशिया में बसते हैं।

दक्षिण में सबसे निकट सीलोन (लंका) है, परन्तु पूर्वकाल में केवल सीलोन का ही नाम लंका नहीं था। सीलोन तो लंकादेश का एक टुकड़ा है। इसके आगे जो भूमि समुद्र में डूब गई है उसको और दक्षिणी द्वीपसमुदाय तक फैले हुए एक बड़े भूभाग को लंका कहते थे। इस वर्त्तमान सीलोन का नाम तो सिंहलद्वीप है। सिंहल क्षत्रियों को कहते हैं। जिस प्रकार वृष के मारनेवाले को वृषल कहते हैं उसी प्रकार सिंह के मारनेवाले को सिंहल कहते हैं। पहले जो क्षत्रिय सिंह को मारते थे उनको सिंहल कहते होंगे, किन्तु पीछे से 'ल' निकल गया और केवल अमुक सिंह ही नाम रखने का रिवाज हो गया। कहते हैं कि जब से यह द्वीप लंका से अलग होकर इस आकार में आया तभी से उत्तर के क्षत्रियों ने जाकर वहाँ अपनी सत्ता जमाई और जंगलों के सिंहों को मारकर सिंहलद्वीप नाम रक्खा, परन्तु इस द्वीप में मद्रास के द्रविड़ लोग तो आदि से ही—वास्तविक लंका के समय से ही बसे हुए थे। अभी हाल में नवीन खोजों से ज्ञात हुआ है कि मलय और सुमात्रा की ही भूमि में लंका थी। हमारा तो अनुमान है कि आरम्भ में मेडेगास्कर, सीलोन और द्वीपपुंज एक में मिले थे और इस विशाल समस्त भूभाग को लंका कहा जाता था। मलय-सुमात्रा से लंका-सम्बन्धी जो प्रमाण मिले हैं उनमें कतिपय प्रमाण इस प्रकार हैं। ब्रह्मण्डपुराण में लिखा है कि—

तथैव मलयद्वीपमेवमेव सुसंवृतम्। नित्यप्रमुदिता स्फीता लङ्कानाम महापुरी।

—ब्रह्माण्डपुराण

इस श्लोक से लंका मलयद्वीप में ही पाई जाती है। इसके अतिरिक्त अन्य खोजों से ज्ञात हुआ कि सुमात्रा द्वीप के उत्तर-पूर्ववाले पर्वत के पास समुद्रतट पर सोनीलंका नामक स्थान है और इसी सुमात्रा में ही लङ्कत नामी एक द्वीप भी है। लंका के साथ सुवर्ण का नाम बहुत प्रसिद्ध है। लोग समझते हैं कि लंका में सोना बहुत था। अब ज्ञात हुआ है कि यह बात कल्पना नहीं है। इन द्वीपों में पहले बहुत सोना निकलता था। इसी से असुरों ने भी इस स्थान को राजधानी बनाया था और वह सुवर्ण-भूमि के नाम से प्रसिद्ध भी था। इस बात से जाना जाता है कि यहाँ भारत के लोग, अर्थात् पतित क्षत्रियगण और अन्य लोग भी सुवर्ण के ही लिए उपनिवेश बनाकर बसते थे। नारदखण्ड में लिखा है कि—

भविष्यन्ति काले कलि दरिद्रा नृपमानवः। तेऽत्र स्वर्णस्य लोभेन देवतादर्शनाय च॥
नित्यं चैवागमिष्यन्ति त्यक्त्वा रक्षः कृतं भयम्।

अर्थात् कलियुग में राजा-प्रजा दरिद्री हो जाएँगे, इसलिए यहाँ लोभ के कारण नित्य ही आया करेंगे।

प्रतीत होता है कि इस द्वीपपुञ्ज में सुवर्ण की अधिकता के ही कारण ये श्लोक बनाये गये हैं। इन श्लोकों से सोनीलंका और सुवर्णमय लंका की बात एकदम पुष्ट हो जाती है और यह भी ज्ञात हो जाता है कि वर्त्तमान लंका—सीलोन द्वीपपुंज तक फैला था। सीलोन भी सिंहल का ही अपभ्रंश है। सिंहल का सिंलन और सिंलन का सीलोन हो गया है। यहाँ तक के वर्णन का भाव यह है कि सीलोन में पहले पहल द्रविड़ गये और पीछे से सिंहल नामी क्षत्रिय गये। दोनों

आरम्भ में आर्य ही थे, अतः लंका में भी आर्यों का ही विस्तार सिद्ध होता है।

इस द्वीपपुंज में प्रधानतया छह-सात द्वीप हैं। यूरोपनिवासी अब तक यहाँ के निवासियों के लिए नाना प्रकार की कल्पना करते हैं, परन्तु संस्कृत के प्राचीन साहित्य से सिद्ध होता है कि मलय, जावा, सुमात्रा आदि देशों में आर्यों ने ही सबसे प्रथम उपनिवेश किया था। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि '**यत्नवन्तो यवद्वीपः सप्तराज्योपशोभितः**', अर्थात् यवद्वीप सात राज्यों से सुशोभित है। इन द्वीपों के लिए वायुपुराण में भी लिखा है कि—

अङ्गद्वीपं यवद्वीपं मलयद्वीपमेव च। शंखद्वीपं कुशद्वीपं[1] वराहद्वीपमेव च॥
एवं षडेते कथिता अनुद्वीपाः समन्ततः। भारतं द्वीपदेशो वै दक्षिणे बहुविस्तरः॥

—वायुपुराण

अर्थात् अङ्गद्वीप, यवद्वीप, मलयद्वीप, शंखद्वीप, कुशद्वीप और वराहद्वीप आदि भारतवर्ष के अनुद्वीप ही हैं, जो दक्षिण की ओर दूर तक फैले हैं।

इन श्लोकों से स्पष्ट हो जाता है कि यह द्वीपपुंज भारतीयों का ही उपनिवेश था। इन छह के सिवा सातवाँ बालिद्वीप भी है। इस बालिद्वीप में अब तक मनुस्मृति का क़ानून चल रहा है। डॉक्टर देसाई ने वहीं से प्राप्त महाभारत की पुस्तक से ७० श्लोक की गीता की खोज की है। वहाँ के रहनेवाले द्रविड़, मंगोल और भारतीयों की मिश्रित सन्तान हैं। द्रविड़ और मंगोल एक ही तुरानी भाषा बोलते हैं और आर्यों के ही वंशज हैं, अतः द्वीपपुञ्ज के रहनेवाले भी आर्यों की ही उपशाखा में गिने जाते हैं। इस प्रकार एशिया का यह दक्षिण प्रदेश भी भारतीय आर्यसन्तति से ही भरा हुआ और बसा हुआ दिखलाई पड़ता है। कहा नहीं जा सकता कि आर्यों ने कितने काल पूर्व, सुवर्ण निकालने के लिए इन द्वीपों की खोज करके वहाँ अपना उपनिवेश बसाया था।

इस प्रकार हमने एशिया की चारों सीमाओं के प्रधान-प्रधान और प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नये तथा पुराने देशों, प्रान्तों और जातियों को देखा तो ज्ञात हुआ कि सर्वत्र ही आर्यसभ्यता, आर्यवंश और आर्यगौरव की जयध्वनि गूँज रही है। सर्वत्र ही यह प्रमाणित हो रहा है कि समस्त मानवजाति जो एशियाखण्ड में निवास करती है चाहे काली, पीली, सफ़ेद आदि किसी रंग-रूपवाली हो तथा आर्य, सेमिटिक और तुरानी आदि कोई भाषा बोलती हो, परन्तु वह आर्यों की ही शाखा या उपशाखा है।

अफ्रीक़ाखण्ड

अफ्रीक़ाखण्ड में मिस्र देश है। मिस्र को आजकल इजिप्ट कहते हैं। लोगों का विचार है कि मिस्रनिवासियों की सभ्यता बहुत पुरानी है, परन्तु आगे आनेवाले वर्णन से ज्ञात हो जाएगा कि मिस्रनिवासी भारतवासी ही हैं। इसके पहले पश्चिमी एशिया के वर्णन से ज्ञात हो चुका है कि फ़ारस, अरब, मेसोपोटामिया, जुड़िया, बेबिलन, चाल्डिया और फ़िनीशिया में आर्य ही निवास कर रहे हैं। भारतीय आर्यों ने ही पंजाब, मद्रास और द्वीपपुंज तथा नेपाल से जाकर उक्त देशों में निवास किया था। उक्त देशों से मिस्र में जाने के लिए एक छोटा-सा समुद्र पार करना

१. कुशद्वीप में, रामचन्द्र के लंका विजय के पश्चात्, उनके पुत्र कुश ने सर्वप्रथम राज्य किया। यह कुशद्वीप द्वीपपुंज में से ही है। यहाँ से भी बहुत प्राचीन काल में पणिक् लोग बेबिलोन को गये हैं।
The people who brought its culture to the southern coast of Babylonia, and probably also to the coast of Elam and communicated it to the still uncultured races living there, seems to have belonged to that peaceful commercial race which the Hebrews designated as the 'Son of Kush' which was not unlike the Phoenicians and was placed in the same category.

—*Historical History of the World*, Vo. 1, p. 536.

पड़ता था। जिस प्रकार अफ्रीक़ा और एशिया को स्वेज़ नहर ने इस समय पृथक् कर रक्खा है, उसी प्रकार वे पहले भी पृथक् थे। जहाँ इस समय स्वेज़ नहर है वहाँ छोटी-सी नदी की भाँति पहले भी समुद्र भरा था। इस छोटी-सी नदी को लाँघकर आर्यों ने ही मिस्र को बसाया था। इस विषय में बूरसवे नामक विद्वान् ने लिखा है कि 'इतिहास पूर्व भारतीय आर्यों ने स्वेज़ पुल को पार करके नील नदी के किनारे अपना उपनिवेश बनाया था'[१]। इसी प्रकार हिस्टॉरिकल हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड, भाग १ पृष्ठ ८९ में लिखा है कि 'इजिप्टनिवासी पणिकों की शाखा हैं। ये लोग परशियन गल्फ़ होते हुए लाल समुद्र के दक्षिण में पान्त नामक देश से गये'[२]। हमारा विश्वास है कि यह पान्त देश पाण्ड्य के सिवा और कुछ नहीं है और पणिक् भी वही पणि हैं, जिन्होंने पाण्ड्य और फ़िनीशिया बसाया था। विद्वानों ने प्राचीन खोपड़ियों के मिलान से भी निश्चित किया है कि मिस्रनिवासी भारतीय आर्य ही हैं[३], परन्तु भारत के पाण्ड्य देश के निवासी होने से यह न समझ लेना चाहिए कि मिस्रनिवासी श्याम वर्ण के मद्रासी द्रविड़ हैं। मिस्रवालों का रंग श्याम नहीं है, न उनकी भाषा द्रविड़ है। वे तो गौर वर्ण और हेमिटिक भाषा के बोलनेवाले हैं। मद्रास के श्याम रंगवालों का यह रंग आस्ट्रेलिया के कारण हुआ है, परन्तु इनका आस्ट्रेलिया से कोई सम्बन्ध नहीं रहा, इसलिए वे गौर वर्ण आर्य ही हैं।

इजिप्ट देश के तीन नाम हैं कमित, हपि और मिस्र। कमित 'कुमृत्' का अपभ्रंश है। मृत् मिट्टी को कहते हैं, इसलिए कुमृत् का अर्थ काली मिट्टी होता है। यह नाम नील नदी के कारण ही रक्खा गया है। नील नदी की काली मिट्टी पर इजिप्ट बसा हुआ है, इसीलिए उसका नाम कुमृत् है। इसी प्रकार हपि शब्द 'अप' का अपभ्रंश है और अप जल को कहते हैं। मिस्र तो मिलावट को कहते ही हैं। इसलिए संस्कृत के अप और मिस्र नाम रखने से भी वे आर्य ही सिद्ध होते हैं।

मिस्र में एक दानवजाति भी थी। यह दानव शब्द आर्यों का ही है। वहाँ की क़ब्रों से नील रंग और इमली की लकड़ी भी मिली है, जो केवल भारतीय उपज है। माशा, सिलक, मन आदि वज़नसम्बन्धी शब्द भी भारतीय ही हैं, जो वहाँ पहले चलते थे। वहाँ के स्थानों के नाम भी शिव और मेरु आदि हैं, जिनसे वे आर्य ही सिद्ध होते हैं[४]। 'इण्डिया इन ग्रीस' नामी पुस्तक में पोकाक कहते हैं कि वे (मिस्र-निवासी) अपने को सूर्यवंशी कहते हैं, सूर्य की पूजा करते हैं और मनु को अपना मूलपुरुष समझते हैं[५]। इसी प्रकार उनके पुराने लिखित पत्रों से पाया जाता है कि वे

---

१. Indians migrated from India long before Historic memory and crossed that bridge of nations, the isthmus of Suez to find a new fatherland on the banks of the Nile.

—हिन्दी विश्वकोष 'उपनिवेश शब्द'

२. It seems probable that they came up from the land of Pant, at the south of the Red sea, and they may have been a branch of the punic-race in its migration from the Persian Gulf round by sea to the Mediterranean. —*Historical History of the World,* Vo. 1, p. 89.

३. Heeran was prominent in pointing out an alleged analogy between the form of skull of the Egyptian and that of Indian races. He believed in the Indian origin of the Egyptian.

—*Historical History of the World, Vol. 1, p. 77.*

४. हिन्दी विश्वकोष 'उपनिवेश शब्द'।

५. The reader will not readily forget the renowned City of the Sun, Helispolis, nor 'Menes' the first Egyptian King of the race of the Sun, the Manu Vaivaswat for Patriarch of the Solar race, nor his statue, that of the great Menoo, whose voice was said to salute the rising sun.

—*India in Greece,* p. 178.

भारत के पुनर्जन्म के सिद्धान्त के माननेवाले भी थे[१]। कर्नल आलकट कहते हैं कि आठ हज़ार वर्ष पूर्व उन्होंने भारत से जाकर मिस्र में उपनिवेश बसाया और भारतीय सभ्यता का विस्तार किया[२]। इस प्रकार इतने स्पष्ट और विस्तृत प्रमाणों के होते हुए कौन कह सकता है कि वे आर्यवंशज नहीं हैं और भारत से वहाँ नहीं गये ?

मिस्र से आगे दक्षिण अफ्रीक़ा में भी बहुत प्राचीन काल में आर्यों के जाने का पता मिलता है। हमने आरम्भ में ही लिखा है कि व्रात्य क्षत्रिय 'झल्ल' होकर अफ्रीक़ा गये और वहाँ 'जूलू' हो गये। इनके बाद वहाँ आर्यों का जाना शुरू हुआ। स्वर्गवासी शास्त्री काशीनाथ वामन लेले के एक लेख के आधार पर अक्तूबर सन् १९२२ के दीपमालिका अंक में 'गुजराती' नामक पत्र लिखता है कि 'ऐतरेयब्राह्मण के ३९वें अध्याय के अन्त में वह मन्त्र है कि **'हिरण्येन परिवृतान्कृष्णाञ्शुक्लदतो मृगान्। मष्णारे भरतोऽददाच्छतं बद्वानि सप्त च'**। इस मन्त्र पर सायणाचार्य कहते हैं कि **'मृगशब्देन गजाः विवक्षितास्ते च गजा हिरण्येन परिवृताः सर्वाभरणयुक्ताः कृष्णाः शुक्लाभ्यां दन्ताभ्यां तादृशान् गजान् मष्णारनामके देशे भरतो राजा दत्तवान्। शतमित्यादि तत्संख्योच्यते। बद्वं वृन्दमित्येतौ पर्यायौ। बद्वानि सप्ताधिकशत-सांख्याकानि तावतो गजान् दत्तवनित्यर्थः'**, अर्थात् दुष्यन्त के पुत्र राजा भरत ने मष्णार नामक देश में, सुवर्ण अलंकारों से युक्त बड़े-बड़े श्वेत दाँतवाले हाथियों के एक सौ सात वृन्द दान में दिये। इस महान् हस्तिदान से भरत राजा को महाकर्म की उपाधि मिली। जिस प्रकरण में यह वर्णन आया है, वहाँ पाँच मन्त्र हैं। अन्तिम मन्त्र में इस महाकर्म की व्याख्या लिखी है कि **'महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनः। दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोऽदापुः पंच मानवः'**, अर्थात् ऐसा महाकर्म भरत राजा के न तो पूर्वजों ने किया और न पीछेवालों ने और न किसी अन्य मनुष्यजाति ने। इस बात पर अब प्रश्न होता है कि वह मष्णार देश कहाँ है, जहाँ इतने अधिक हाथी थे और इतना अधिक सोना पाया जाता था।

मेन्युअल आफ जिओग्राफ़ी के देखने से ज्ञात होता है कि अफ्रीक़ाखण्ड में दक्षिणी रोडेशिया देश है, जहाँ 'मष्णा' नामक स्थान है। पूर्वकाल में वहाँ बहुतायत से सोना होता था और हाथियों की भी बहुतायत थी। वहाँ के खण्डहरों के देखने से ज्ञात होता है कि वहाँ कोई सभ्य जाति रह चुकी है। भूगोल की पुस्तकों में वहाँ का वर्णन दिया गया है, जिससे अच्छी प्रकार प्रकट हो जाता है कि बहुत काल पूर्व वहाँ किसी सभ्य जाति ने सोना निकाला था और मकान तथा मन्दिर आदि बनवाये थे। वहाँ हाथी भी बहुतायत से होते थे, परन्तु अब उनकी संख्या इसलिए कम हो गई है कि वहाँ के सब हाथी मार डाले गये हैं[३]। वही स्थान 'मष्णा' है। संस्कृत में उसी का नाम

---

१. Undated Hemetic Writings, p. 90.

२. We have a right to more than suspect that India, eight thousand years ago, sent a coloay of emigrants who carried their arts and high civilization into what is now known to us as Egypt..........The old civilization of Egypt is the direct outcome of that of the older India.
—*Theosophist for March 1881*, p. 123.

३. In southern Rhodesia, which includes both Matabole land and Mashna land, extensive gold-fields have been discovered. —*Manual of Geography.*

Remarkable ruins of stone-built fortifications and temples, curiously carved and containing evidence that the builders worked in gold, are scattered over the plateau. They point to the early possession of the country by a civilised people.

Elephants once very plentiful throughout the greater portion of Rhodesia, had become so much reduced in numbers by constant hunting and the indiscriminate slaughter of females and calves as well as males. —*The Inter Geography by Seventy Authors*, p. 1000 and 1001.

'मष्णार' लिखा है। 'र' का लोप हो जाना सहल है। हमेशा 'र' का विसर्ग होकर अथवा विसर्ग का 'र' होकर अपभ्रंश हुआ ही करता है, इसलिए वह स्थान मष्णार ही है। राजा भरत ने इसी में सुवर्ण के साथ कोटि हाथियों का दान किया था।

यह मध्यकालीन सभ्यता है जो आर्यों के द्वारा अफ्रीक़ा पहुँची है। इसके भी पूर्व, अर्थात् आरम्भ काल में भी दक्षिण से झल्ल लोग जाकर वहाँ रहे थे। उनको इस समय ज़ूलू कहते हैं। उनके विषय में आधुनिक पुस्तकों में लिखा है कि—

रथक्रान्ते नराः कृष्णाः प्रायशो विकृताननाः। आममांसभुजाः सर्वे शूराः कुंचितमूर्द्धजाः।

—भविष्यपुराण

अर्थात् यहाँ के मनुष्य काले, विकृत मुँहवाले, कच्चा मांस खानेवाले और सिर में घुँघराले बालवाले होते हैं।

इस प्रकार अफ्रीका में आर्यों की तीन धाराएँ तीन बार पहुँची हैं। झल्लकाल, अर्थात् आदिमकाल, भरतकाल, अर्थात् मध्यम काल और पणिकाल, अर्थात् अन्तिम मिस्रकाल। हमारा अनुमान है कि पुराने आर्यों में नवीनों का मिश्रण होने से ही इस देश का नाम मिस्र रक्खा गया होगा। यही थोड़ा-सा अफ्रीक़ा खण्ड में आर्यों के विस्तार का वर्णन है।

यूरोपखण्ड

यूरोप के विद्वानों ने हल्ला मचा दिया है कि हम भी आर्य हैं। दूसरे खण्ड में हमने स्पष्ट रीति से दर्शा दिया है कि आर्य सर्वश्रेष्ठ को कहते हैं, लम्बी नाक, सफ़ेद चेहरा और केन्तुम अथवा शतम् भाषा बोलनेवालों को नहीं[१]। यद्यपि वैदिक आर्यों के विद्या, बुद्धि, सभ्यता आदि के इतिहास से प्रभावित होकर यूरोपनिवासी आर्यों का वह लक्षण करते हैं जो उनमें घट जाए, परन्तु खोज करनेवालों ने पता लगा लिया है कि यूरोपनिवासी प्राचीन वैदिक आर्यों के वंशज नहीं है। हाँ, उन्होंने आर्यों की भाषा अवश्य स्वीकार की है। जिस प्रकार आजकल गोआ प्रदेश में बसनेवाले देशी क्रिश्चियन अंग्रेज़ी को अपनी भाषा बना रहे हैं उसी प्रकार यूरोपवालों ने भी आर्यभाषा ग्रहण की है। हम लिख आये हैं कि यूरोपनिवासी दो भिन्न-भिन्न मनुष्यसमुदायों के मिश्रण से पैदा हुए हैं। वे दोनों समुदाय किसी युग में आर्य थे, परन्तु आर्यत्व नष्ट करके एक दल मंगोल हुआ और दूसरा निग्रो। इन्हीं मंगोल और निग्रो लोगों के मिश्रण से यूरोपनिवासीयों का प्रादुर्भाव हुआ है। वैदिक आर्यों की उच्च सभ्यता उस समय प्रज्वलित थी, अतः इस काले-पीले रंगों के मिश्रित वंश ने आर्यों की भाषा और उच्च सभ्यता से प्रभावित होकर उसे स्वीकार किया।

विद्वानों की जाँच से ज्ञात होता है कि यूरोप में मनुष्यों की बस्ती बहुत पीछे हुई है। तिलक महोदय के निष्कर्ष से तो यूरोप की बस्ती दश हज़ार वर्ष से अधिक पुरानी सिद्ध ही नहीं होती, परन्तु दूसरे विद्वान् इसको बहुत अधिक मानते हैं। चाहे जो हो, परन्तु यूरोप में अन्य भूभागों की अपेक्षा मनुष्यजाति बहुत ही पीछे बसी है, इसलिए प्रश्न होता है कि यह मिश्रित जाति कहाँ पर उत्पन्न हुई और कहाँ पर इसने आर्यभाषा सीखी। इसकी निष्पत्ति पर दो-एक मत है, परन्तु सबसे उत्तम मत यह है कि एशिया माइनर में ही यह सब रचना हुई। एशिया माइनर के वर्णन में हम पहले ही दिखला चुके हैं कि वहाँ द्रविड़ भाषा बोलनेवाली हिट्टी (Hittite)=खत्तीजाति निवास

---

१. आदि में केन्तुम और शतं बोलनेवाले दो प्रकार के लोग थे। ग्रीस और ईरान में भी केन्तुम विभाग था। ये 'श' के स्थान पर क़ाफ़ (क) का उच्चारण करते थे। ग्रीक में श्वान को क्कान और ज़ेंद में श्वसुर को कुसुर कहते थे।

करती थी। स्वेज़ ब्रिज से अफ्रीक़ा के काले रंगवाले निग्रो भी वहाँ आया करते थे और वहीं पर तुरानीजाति भी विद्यमान थी। डॉक्टर भण्डारकर के स्मृतिनिबन्ध में तिलक महोदय ने भी यही बात लिखी है। उधर 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ दी वर्ल्ड' में लिखा है कि वहाँ मंगोलिक जाति भी रहती थी।[१] हमारी खोज बतलाती है कि वैदिक काल की पतित क्षत्रियजाति किरात होकर हिमालय पर गई और केलात नाम धारण करके उसकी एक शाखा बहुत दिन बाद तातारवालों की पूर्वज होकर एशिया माइनर में भी बसी और यूरोप देश की केल्टजाति की जन्मदात्री हुई। इसी प्रकार मद्रास के झल्ल अफ्रीका के ज़ूलू हुए और स्वेज़ पुल से एशिया माइनर में आकर केल्ट नामक तातारियों से मिलकर पीले और काले रंग को मिलाकर श्वेत रंग की उत्पत्ति की तथा वहीं पर बसे हुए अन्य शुद्ध आर्यों की भाषा सीखकर आर्यमणि—आरमेनिया—नामक स्थान में अपना निवास किया।

यहीं से यूरोप में मनुष्यजाति के—एक प्रकार से आर्यजाति के पदार्पण का आरम्भ हुआ। उनकी भाषा आर्यभाषा हो चुकी थी। इसी आर्यभाषा के कारण उन्होंने आर्यनन्द, अर्थात् आयर्लैंड और शर्मदेशीया, अर्थात् सरमेशिया आदि नाम रक्खे। रोम शब्द लेटिन का नहीं,[२] किन्तु भास्कराचार्य द्वारा ढूँढा हुआ संस्कृत का ही है। वेद में रुमे, रुशमे शब्द आते हैं। ये लोग पहलेपहल 'श' का उच्चारण नहीं कर सकते थे, इसीलिए लेटिन में शतं (सौ) को 'केन्तुम्' ग्रीक में 'कातोन', प्राचीन जर्मन में 'हुण्ड' (Hund) गाथिक में 'खन्तु' और अंग्रेज़ी में 'हण्ड्रेड' कहते हैं, किन्तु कुछ दिन के बाद आर्यों की एक अन्य शाखा भी यूरोप में निवास करने के लिए गई। यह बराबर शतं बोलती थी। अवस्था में शतेम और रशिया की भाषा में स्तो बोलते थे। यह शुद्ध उच्चारण पीछे से जिस शुद्ध वैदिक आर्यजाति से यूरोपवालों ने सीखा, वह जाति अब तक वहाँ विद्यमान है।

इसके लिए वहाँवालों ने न जाने क्या-क्या कल्पना कर डाली है, परन्तु जब उनकी भाषा का मिलान किया गया तब वे ठीक हिन्दी-जैसी भाषा बोलनेवाले निकले। पहले यह प्रसिद्ध किया गया कि ये सभी हाल ही में भारतवर्ष से यूरोप में गये हैं, परन्तु अब ज्ञात हुआ है कि ये बहुत पुराने समय से वहाँ रहते हैं और लोहे की विद्या यूरोप में इन्हींने फैलाई है। हम द्वितीय खण्ड में इस जिप्सीजाति का वर्णन करके इसका परिचय दे आये हैं।

आगे हम उन प्रमाणों को उद्धृत करना चाहते हैं जिनमें यह दिखलाया गया है कि यूरोपनिवासी काली और पीली जातियों के वंशज हैं और केवल आर्यभाषा ही बोलते हैं। इस विषय में मिस्टर टेलर, लो० तिलक और अविनाशचन्द्र दास ने पर्याप्त प्रकाश डाला है, अत: उन्हीं के आधार से हम दिखलाना चाहते हैं कि यूरोपनिवासी आर्यों की शाखा नहीं, प्रत्युत प्रशाखा हैं।

टेलर महोदय अपने 'ओरिजिन आफ आर्यन्स' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं कि यूरोपनिवासी अफ्रीका और मंगोलनिवासीयों के मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं और एशिया की मूल आर्यभाषा बोलते हैं'[३]। इस विष का स्पष्टीकरण करते हुए 'ऋग्वेदिक इण्डिया' में दासबाबू कहते हैं कि 'सबसे

---

१. Chinese—One of the most numerous races of the world inhabiting the Chinese Empire. They are a stock of the southern Mongolic family and it is thought by some ethnologists that they are descended from the Mongolic Akkads of Mesopotamia. —*Harmsworth History of the World,* p. 329

२. That Rome, writes Neibuhr, was not a Latin name. —*India in Greece*

३. Europe may have been the place where the African and Asiatic types must have met and mingled. The latter opinion may maintain that while Aryan speech came originally from Asia, it was subsequently acquired by men who were largely of African origin. —*Origin of the Aryans,* p. 66.

प्रथम जंगली आर्यों का जंगली मंगोलियनों के साथ मिश्रण हुआ। इस मिश्रित दल की भाषा आर्यभाषा ही हो गई। कुछ दिन के बाद इस मिश्रित दल का मिश्रण उस अफ्रीका की जाति के साथ हो गया जो यूरोप में पहले से ही बसी हुई थी। इस दुबारा मिश्रित दल की भाषा भी आर्यभाषा ही हो गई। यही आर्यभाषाभाषी मिश्रित दल वर्त्तमान समस्त यूरोप की जातियों का पूर्वज है'[१]।

'आर्यों का उत्तरध्रुवनिवास' नामी ग्रन्थ में इस मत की पुष्टि करते हुए तिलक महोदय कहते हैं कि प्राचीन खोपड़ियों की परीक्षा से विद्वानों ने यूरोप में चार प्रकार की खोपड़ियाँ निश्चित की हैं। वर्त्तमान यूरोपनिवासी इन्हीं के वंशज हैं। इन चारों में दो वर्ग तो बड़े सिरवाले हैं और दो छोटे सिरवाले। इनमें एक वर्ग ऊँचा था दूसरा ठिंगना। यूरोपनिवासी सब आर्यभाषा बोलते हैं, इससे यह तो स्पष्ट ही है कि इन दो में से एक वर्ग आर्यों का है। विद्वानों में यह प्रश्न बहुत दिन तक होता रहा है कि इनमें से कौन आर्य और कौन आर्येतर हैं। कई एक जर्मन पण्डितों का मत है कि इस समय के पूर्वज वही थे, जो बड़े सिर और लम्बे क़द के थे। इस विवाद पर कैनन् टेलर नामक एक अंग्रेज़ ग्रन्थकार कहता है कि जब दो जातियों का संघट्ट होता है तब उनमें जो अधिक सभ्य होती है उसी की भाषा दूसरी असभ्य जाति स्वीकार करती है। इस महान् नियम के अनुसार बाल्टिक समुद्र के किनारे पर बसनेवाले बड़े सिर और लम्बे जंगलियों ने जब छोटे सिर और ठिंगने आर्यों की सङ्गति की तो उन्होंने आर्यों की ही भाषा सीख ली। यही मत सत्य प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में अब तक कुछ-न-कुछ तुरानी शब्द पाये जाते हैं, क्योंकि अफ्रीका के निग्रो और एशिया के मंगोल तुरानी भाषा ही बोलते हैं[२]। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि यूरोपनिवासी वैदिक आर्य नहीं हैं। इनकी उत्पत्ति दो पतित आर्यजातियों के विचित्र (काले-पीले) मिश्रण से हुई है और केवल आर्यों की भाषा ही बोलने को मिली है, अर्थात् ये आर्यों की दो पतित शाखाओं के संकरमिश्रण से ही हुए हैं। इसलिए हमारा ऊपर का वर्णन और लोगों का यह अनुमान कि वे आर्य ही हैं, दोनों आरोप यह बात सिद्ध करते हैं कि ये आर्यों की शाखा नहीं, किन्तु प्रशाखा हैं, क्योंकि यह बात सिद्ध हो चुकी है कि आदि में सभ्य वैदिक आर्यों का ही प्रादुभार्व हुआ और उनकी ही शाखाएँ अथवा उपशाखाएँ या प्रशाखाएँ ही संसार के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में बसी हैं। ऐसी दशा में यूरोपवालों के आर्य होने में तो बहुतों को शक ही नहीं है, परन्तु जो उन्हें मिस्त्रवंशज कहते हैं उनके अनुसार भी वे आर्यों की ही प्रशाखा सिद्ध होते हैं, क्योंकि तुरानी और निग्रो दोनों ही पतित आर्य हैं, इसलिए यूरोप-निवासीयों के आर्य होने में कुछ भी सन्देह नहीं है।

---

१. From the evidence about the hoary antiquity of the Aryans of Saptasindhu, and the proofs we have adduced of the savage Aryan tribes having gradually migrated Westward through Western Asia to Europe. We hold the opinion that Aryan speech went originally from Sapta-Sindhu to Eurpoe along with the savage Aryan nomads who got mixed with the Mongolian savages in western Asia and imposed their speech upon them, and that these savages having commingled their blood, afterwards came in contact with the early inhabitants of Europe, who had immigrated from Africa with the retreat of the great ice-sheet northward at the end of the Glacid Epoch.

—*Rigvedic India*, p. 313.

२. My own theory is that the Dravidian languages occupy a position of their own between the languages of the Indo-European family and those of the Turanian or Scythian group.

—*Dravidian Grammer* by Dr. Cladwell

इनके आदिमकालीन पुरोहित 'ड्रुइड' कहलाते हैं। यह ड्रुइड शब्द 'द्रविड़' का ही अपभ्रंश है।

आस्ट्रेलिया खण्ड

हमने अभी थोड़ी देर पहले दक्षिणी भारत के लंका और द्वीपपुञ्ज आदि का वृत्तान्त लिखा है और बतलाया है कि वहाँ आर्य और द्रविड़ों का ही निवास था और है। ये सब दक्षिण भारत, अर्थात् मद्रास प्रदेश से ही उक्त द्वीपों में पहुँचे हैं। जिस प्रकार ये सब मद्रास प्रान्त से इन द्वीपों में पहुँचे हैं उसी प्रकार उनकी एक आन्ध्रशाखा जो महाराज विश्वामित्र के पतित पुत्रों से उत्पन्न हुई थी आदिमकाल ही में आन्ध्रालय, अर्थात् आस्ट्रेलिया में जाकर बसी थी। आधुनिक खोजों के अनुसार विद्वानों का विचार है कि आस्ट्रेलिया में मनुष्यों की बस्ती बहुत प्राचीन काल से है। यह बात उक्त घटना से सिद्ध होती है। विश्वामित्र के पुत्रों की घटना अत्यन्त प्राचीन है। इसका वर्णन ऐतरेयब्राह्मण में आया है, अत: पूर्वकाल में ही आर्यलोग पतित होकर आन्ध्रालय को गये थे। कहते हैं उस समय भारत और आस्ट्रेलिया के बीच इतना बड़ा अन्तर न था। उस समय सीलोन और मेडेगास्कर की भूमि बहुत चौड़ी थी और भारत तथा आस्ट्रेलिया को जोड़ती थी तथा समस्त टापुओं में एक ही जाति निवास करती थी, क्योंकि आस्ट्रेलियावालों की और भारती द्रविड़ों तथा कोल, भील और सन्थालों की भाषा एक ही है। इससे यह बात सुदृढ़ हो जाती है कि सब एक ही जाति के हैं। पतित आर्यों से ही इन सबकी उत्पत्ति हुई है, अत: सबके पूर्वज आर्य ही थे, इसीलिए धर्मोपदेश के लिए यहाँ के आर्य ऋषि (पुलस्त्य) बहुत ही प्राचीन काल में राजा तृणबिन्दु के यहाँ आस्ट्रेलिया गये थे। यह बात वाल्मीकि रामायण से अच्छी प्रकार सिद्ध होती है।

नवीन खोजों से भी वहाँ के निवासी आर्य ही सिद्ध होते हैं। सन् १९२२ में गुजरात के एक सुयोग्य लेखक ने 'गुजराती' नामक पत्र के दीपमालिका अंक में वहाँ की बहुत-सी बातें लिखकर अन्त में लिखा है कि 'आस्ट्रेलिया के मूलनिवासीयों की रूप-रेखा आदि से यूरोपवालों ने उनका नाम इण्डियन रक्खा है। इन लोगों में हिन्दुओं की भाँति बहुत बड़ा जातिभेद है। ये लोग परस्पर एक-दूसरे के हाथ का छुआ हुआ नहीं खाते। इसी प्रकार वे अपनी जाति में किसी दूसरी जाति का मिश्रण नहीं होने देते। आर्यजाति के स्वभाव से मिलती हुई इन बातों से ज्ञात होता है कि ये लोग आदि में आर्यकुल के ही होंगे[१]। आर्य क्षत्रियों का एक बहुत बड़ा चिह्न इनके पास अब तक विद्यमान है। यह क्षत्रियों का अक्षयतूण शस्त्र है। यह अपने शत्रु को मारकर मारनेवाले के पास फिर वापस आ जाता है। इसको ये लोग 'बूमरांग' कहते हैं। इस शस्त्र के चलाने की विधि और बनाने की विधि बड़ी ही विज्ञानपूर्ण है। अब तक हम सुनते थे कि आगे के क्षत्रियों के बाण शत्रु को मारकर लौट आते थे तो इसे हम चण्डूख़ाने की ग़प समझते थे, परन्तु अब आस्ट्रेलिया के बूमरांग ने इस विषय को सत्य कर दिया है[२]। इस शस्त्र के सिवा उनके पास आर्यों की एक ख़ास धरोहर अब तक विद्यमान है और वह है पुनर्जन्म पर विश्वास। आस्ट्रेलिया के मूलनिवासी पुनर्जन्म मानते हैं। अगस्त १९१४ के थियॉसॉफ़िस्ट में जिनराज दास एम०ए० ने Northern Tribes of Central Australia Baldwin Spencer and H.G. Gilen के हवाले से

---

१. आस्ट्रेलिया ना मूल वतनी लोकोने तेमना रूप विगेरे ऊपरथी यूरोपीअन लोकोए 'इंडियन' एवुं नाम आपेलुं छे। ए लोको मां हिन्दुओनी पेठे जातिभेद घणो छे अने एक बीजाना हाथ नुं रांधेलूं खावा न खावानी बाबत मां पण ते लोकोनो रिवाज विचित्र छे। तेज प्रमाणे पोतानी जाति मां बीजी जातनुं मिश्रण न आय, ते बाबत पण ते लोको बहु काळजी राखे छे। आर्यजाति ना स्वभाव ने मळती आवनारी आ बाबतो छे अने तेथी ए लोको मूल आर्यकुळ ना होवा जाइये एम लागे छे।

२. Boomerang—A hard wood missile used by the natives of Australia shaped like the segment of a circle and so balanced that when thrown to a distance it returns towards the thrower.

एक लेख लिखा है। उसमें इस विषय का सविस्तर वर्णन है[१]। उनकी भाषा द्रविड़ भाषा से मिलती है। उनका रूप-रंग भी वही होता है। वे अनेक जातियों (वर्णों) में विभक्त हैं। वे किसी का छुआ हुआ नहीं खाते। वे अपनी जाति को दूसरी जातियों के साथ मिश्रित नहीं करना चाहते, उनके पास आर्य क्षत्रियों का अक्षयतूण शस्त्र अब तक विद्यमान है और वे पुनर्जन्म पर विश्वास करते हैं। उनके यहाँ अति प्राचीन काल में ही ऋषि-मुनि जाते थे और उनके राजाओं के नाम आर्यों के ही (तृणबिन्दु आदि) थे। इन तमाम बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे आदि में आर्य थे। कारणवश पतित होकर मद्रास प्रान्त में गये और वहाँ से आस्ट्रेलिया में बस गये, अतः उनके पूर्वज आर्य थे और भारत निवासी थे, इसमें सन्देह नहीं।

आस्ट्रेलिया से आगे दक्षिणदिशा में कोई देश नहीं है। उसके आगे दक्षिणीध्रुव है। जिस प्रकार उत्तरध्रुव की ओर जाना आर्यों के यहाँ निषिद्ध था, उसी प्रकार दक्षिणध्रुव में भी जाना अच्छा नहीं समझा जाता था। वाल्मीकि रामायण में ही लिखा है कि सीता की खोज करने के लिए वानरों को भेजते समय सुग्रीव ने जिस प्रकार उत्तरध्रुव में जाना मना किया था उसी प्रकार दणिक्षध्रुव (मेरु) में भी जाना मना किया था। सुग्रीव ने कहा था कि—

अन्ते पृथिव्या दुर्धर्षास्ततः स्वर्गजिताः स्थिताः।
ततः परं न वः सेव्यः पितृलोकः सुदारुणः॥ —वा० रामायण कि० ४१।४४

अर्थात् पृथिवी के अन्तिम भाग दक्षिणीध्रुव में पितर निवास करते हैं। वह स्थान महा भयंकर है, अतः वहाँ न जाना।

ध्रुवों में जाने से मना करने का कारण यही है कि वहाँ वैदिक आर्य अपने धर्म-कर्म के साथ जीवन नहीं बिता सकते। इसी से वेद ने भी मना किया है, अतः दक्षिणध्रुव के उत्तरप्रदेश आस्ट्रेलिया तक ही आर्यों की बस्ती थी। इसके आगे आर्यलोग नहीं जाते थे।

अमेरिकाखण्ड

हमारा विश्वास है कि अमेरिका में शुद्ध आर्यों का निवास पूर्वातिपूर्व काल में ही हो गया था, परन्तु किसी-किसी का ऐसा भी विचार है कि पुरानी दुनिया से—एशिया यूरोपादि से अमेरिका जाने का कोई रास्ता ही नहीं था, इसलिए अमेरिका-निवासी एशिया आदि से नहीं गये, प्रत्युत उन्होंने स्वयं अपना विकास प्राप्त करके मनुष्यता प्राप्त कर ली है, किन्तु हाल में वैज्ञानिक रीति से—भौगोलिक, भौगर्भिक और प्राणिशास्त्रसम्बन्धी खोजों से जो परिणाम निकला है, वह इसके सर्वथा विरुद्ध है। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ दि वर्ल्ड' नामक महान् ग्रन्थ में इस खण्ड का विस्तृत वर्णन है। इसके पृष्ठ ५६७५ पर लिखा है कि उत्तरीय अटलांटिक समुद्र सदा से ही जलमय नहीं था। वहाँ की भूमि पुरानी दुनिया से मिली थी और अमेरिका में मनुष्य पुरानी दुनिया से ही प्रविष्ट हुए हैं[२]। इसके आगे पृष्ठ ५६७६ पर लिखा है कि अमेरिका में मनुष्य की उत्पत्ति

१. When the idea of reincarnation is heard of for the first time, the student naturally supposes that it is a Hindu doctrine........but the strong fact is that reincarnation is found everywhere as a belief........We hear of it in far off Australia, and there is a story on record of an Australian aborigine who went cheerfully to the gallows and replied on being questioned as to his levity—'Tumble down black fellow, jump up white fellow and have lots of sixpences to spend.'

२. On the other hand, geologists of note believe that they can prove that the northern part of the Atlantic Ocean was not always covered by water, and they think it was by this way that man came from the Old World to the New, in times when the climatic conditions of our parts of the globe were still considerably different from those of history.

—*Harmsworth History of the World*, p. 5675.

हो ही नहीं सकती, क्योंकि मनुष्य का विकास होने के लिए वनमनुष्यों की आवश्यकता होती है, किन्तु अमेरिका में इस प्राणी का न तो पूर्व में अस्तित्व था और न अब है, इसलिए अमेरिका में मनुष्यजाति का विकास नहीं हुआ[१]।

इस वर्णन से इतना तो निर्विवाद हो गया कि अमेरिका में मनुष्य का विकास नहीं हुआ और वहाँ जो मनुष्य बसते हैं वे प्राचीन दुनिया से ही गये हैं, परन्तु प्रश्न यह है कि वहाँ वे किस देश से गये? हमारी समझ में इस प्रश्न का उत्तर १. उनके धार्मिक विश्वासों, २. उनकी शक्ल-सूरत के मिलानों, ३. उनकी कारीगरी और रिवाजों, ४. उनके पूर्वकालिक गमनागमनों और ५. उनके विषय में स्थिर की हुई विस्तृत जानकारी से ही मिल सकता है और ज्ञात हो सकता है कि वे किस देश के हैं, अतः हम यहाँ क्रम से इन सभी बातों का उत्तर ढूँढते हैं।

१. उनके धार्मिक विश्वासों के विषय में कहा जाता है कि वे नागपूजक थे। उनके यहाँ पंखधारी सर्प पर अब भी विश्वास किया जाता है[१]। इसीलिए भारतवासी उनको नाग कहते हैं। यह इतिहास-सिद्ध बात भारत में प्रसिद्ध है कि अमेरिका (पाताल) में नागलोग ही वास करते हैं। यह बात केवल प्रसिद्ध ही नहीं प्रत्युत यहाँ नागलोक विद्यमान है, जहाँ से ये वहाँ गये हैं। बंगाल का नागा पर्वत अब तक प्रसिद्ध है। बंगाल में एक कुल का नाग नामक आस्पद अब तक विख्यात है। प्रोफ़ेसर नाग, जो हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापक हैं, उसी कुल के हैं। 'मानवेर आदि जन्मभूमि' की भूमिका में लिखा है कि 'इन नाग महाशयों का गोत्र भी वासुकी ही है'। छोटा नागपुर इन्हीं के नाम से बसा हुआ है। उत्तरीय एशिया के वर्णन में हमने दिखलाया है कि नेपाल में एक लाल रंग की जाति भी पाई जाती है। इसके भी पूर्व हमने लिख दिया है कि काकेसिक दल में ही एक जाति ने रक्तवर्ण प्राप्त कर लिया था। यह दल बड़ा बलवान् था। इसकी उत्पत्ति क्षत्रियजाति से हुई थी। उसी के प्रभाव से कुछ दिन तक क्षत्रियवर्ण लाल रंग का ही आदर्श रूप माना जाता था, किन्तु कारणवश यह दल पतित हुआ और वह दल पाताल देश को चला गया। यही नाम अपने साथ ले-गया और नाग शब्द का असली इतिहास भूलकर अपने को नागों का वंशज मानने लगा और नागों की पूजा करने लगा। इस दल के कुछ लोग प्राचीन काल में यहाँ आते-जाते थे। इस विषय की भागवत में कथा है। वहाँ लिखा है कि—

नर्मदा भ्रातृभिर्दत्ता पुरुकुत्साय यो नगैः। तया रसातलं नीतो भुजगेन्द्रप्रयुक्तया॥

—भागवत [९।७।२]

अर्थात् वासुकी की मदद से नागों द्वारा दी हुई नर्मदा पुरुकुत्स को रसातल ले-गई।

इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उनको यहीं पर नागत्व प्राप्त हुआ और वे अपने साथ ये विचार वहाँ भी ले-गये, और पीछे से इतिहास के स्थान में वही विचार धार्मिक पूजा बन गये। इस देश के जंगलियों में भी अब तक नागपूजा होती है। इससे ज्ञात होता है कि यह रिवाज उनके ही पूर्वजों से चला है, जो बीजरूप से अब तक विद्यमान है।

इसके अतिरिक्त इनके आर्यत्व का बोध करानेवाला और इनको असल भारतीय सिद्ध

---
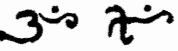
१. Since it has been proved that the human race in American soil can be traced back to the same periods of the earth's history as in the Old World, the question whence the first man came there has lost much of its importance. It is true that the cradle of the human race can hardly have been in America, to cite one objection, the anthropoid apes, which are indispensable to the theory of evolution as the connection-link between the animal world and man, have at no time been native there any more than they are now, as the fossil finds in all American excavation have proved.
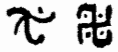
—*Harmsworth History of the World*, p. 5676.

करनेवाला एक प्रबल प्रमाण यह है कि अमेरिका में ये एक देवता बनाते हैं जिसका धड़ आदमी का और सिर हाथी का होता है। यह विचित्र जन्तु गणेश की मूर्त्ति से बिलकुल मिलता है। प्राच्यविद्यामहार्णव नगेन्द्रनाथ सेन हिन्दी विश्वकोष में उपनिवेश शब्द पर लिखते हैं कि 'अमेरिका में तो हाथी होता ही नहीं, फिर यह हाथी का चित्र उनके यहाँ सिवा भारत के और कहाँ से गया'? हम भी कहते हैं कि हाथी अमेरिका में नहीं होता, अतः यह देवता भारत से ही वहाँ गया है, परन्तु प्रश्न यह है कि भारत में यह इस प्रकार से क्यों बनाया जाता है। यह सभी जानते हैं कि गणेश आरम्भ का देवता है। इसकी उत्पत्ति ओ३म् से हुई है, क्योंकि यही आरम्भ में मंगलाचरण के लिए लिखा जाता है। यही लिखते-लिखते शीघ्रता के कारण गजानन बन गया है। ओ३म् का रूप, [illegible] होता हुआ [illegible] इस प्रकार बन गया है।

इसमें अकार सिर और शरीर है, ओं (ों) का 'ा' यह भाग सूँड है, ओं का '`' यह भाग एकदन्त है और ओं का (·) यह भाग मोदक है। प्लुत का '३' यह चिह्न मूषक वाहन है। इस प्रकार मोदकभोजी, मूषकारोही और एकदन्तधारी गजानन की उत्पत्ति हुई है।

तिलक महोदय ने C. Reginald Enock की 'The Secret of the Pacific' नामी पुस्तक के पृष्ठ २४८-५२ के आधार से गीतारहस्य पृष्ठ २९० पर लिखा है कि 'प्राचीन शोधकों ने यह भी निश्चय किया है कि मिस्र आदि पृथिवी के पुरातन खण्डों के देशों में ही नहीं, किन्तु कोलम्बस के कुछ शतक पहले अमेरिका के पेरू तथा मेक्सिको देश में भी स्वस्तिक चिह्न शुभदायक माना जाता था'। यह स्वस्तिक भी ओ३म् का ही अपभ्रंश है। यहाँ भी ओंकार ही, ओं [illegible] हो गया है। जिस प्रकार यहाँ ओं का स्वस्तिक और गणपति बना है उसी प्रकार अमेरिका में भी बनाया गया है। हमने ओं और गजानन के विषय में जो कुछ लिखा है यह हमारी कल्पना नहीं है। गणेशपुराण में यह वर्णन शुरू में ही आया है। वहाँ स्पष्ट लिखा है कि—

ओंकाररूपी भगवान् यो वेदादौ प्रतिष्ठितः। यं सदा मुनयो देवा स्मरन्तीन्द्रादयो हृदि॥
आकाररूपी भगवानुक्तस्तु गणनायकः। यथा सर्वेषु कर्मेषु पूज्यते सो विनायकः॥

—गणेशपुराण

अर्थात् गणपति ओंकाररूप ही हैं। इसी से सब कर्मों के आदि में उसकी पूजा होती है।

इस प्रमाण से हम कह सकते हैं कि ओंकार और स्वस्तिक की दुर्गति भारत अथवा अमेरिका में हुई, क्योंकि दोनों देशों में एक ही जाति के लोग हैं, अतः दोनों में ओंकार का एकसमान ही रूप पाया जाता है।

२. उनका रूप-रंग वैसा ही है जैसा नेपाल में बसे हुए कुछ लाल वर्णवाले मंगोलियनों का है। आर्यक्षत्रियों का रंग पूर्व में ही लाल हो चुका था, अतः पातालवासियों का रंग-रूप आर्यों के प्रारम्भिक रंग-रूप से दूर नहीं जाता। यद्यपि अमेरिका के जल-वायु ने भी उनपर बहुत बड़ा प्रभाव डाला है, जिससे उनके रूप-रंग में अन्तर पड़ा है, परन्तु वह इतना दूर नहीं गया कि आर्यों के साथ उनका मेल ही न हो सके।

---

१. The religious conception, on which the symbol of the feathered snake is based, is so widely spread over American soil that we can not at once assume it to have been borrowed from any similar neighbouring worship. —*Harmsworth History of the World*, p. 5771

३. उनकी कारीगरी और रिवाज भी उनको आर्य सिद्ध करते हैं। दुनिया में इजिप्ट के पिरामिड बहुत प्रसिद्ध हैं और उनमें रक्खे हुए हज़ारों वर्ष के मुर्दे भी प्रसिद्ध हैं। ये दोनों बातें कारीगरी की दृष्टि से बहुत अद्भुत हैं, परन्तु मज़ा यह है कि अमेरिका में भी ये दोनों बातें उसी प्रकार पाई जाती हैं, जिस प्रकार इजिप्ट (मिस्र) में[१]। इसके अतिरिक्त इजिप्ट से मिलती हुई इनकी दूसरी बात सूर्यपूजा है। वहाँ सूर्यदेवता के भी चिह्न पाये जाते हैं[२]।

हम गत पृष्ठों में अच्छी प्रकार सिद्ध कर आये हैं कि इजिप्टनिवासी भारतीय आर्य हैं। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड' में लिखा है कि 'इजिप्टवाले उत्तर अमेरिकन की ही भाँति हैं'[३]। इससे और भी दृढ़ हो जाता है कि पातालनिवासी भी आर्य ही हैं।

४. उनके इतिहास से तथा पूर्वकाल में उनके यहाँ भारतीयों के आने-जाने से भी ज्ञात होता है कि वे आर्य ही हैं। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड' में लिखा है कि उनके यहाँ अब तक रामसीतव नामी उत्सव होता है[४]। इस उत्सव के लिए 'मानवेर आदि जन्मभूमि' में बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न लिखते हैं कि 'आज भी अमेरिका में रामसीतोत्सव होता है'[५]। इस प्राचीन इतिहास से भी वे भारतीय आर्य ही सिद्ध होते हैं। इसके अतिरिक्त उनके यहाँ वैवस्वत मनु की जलप्लावनवाली कथा भी अब तक चल रही है। इससे भी वे आर्य ही सिद्ध होते हैं और इसीलिए उनके यहाँ अनेक बार आर्यगण गये हैं। आर्य ही नहीं प्रत्युत अनेक बार यहाँ के निकाले हुए अत्याचारी आर्य, जिनको असुर वा राक्षस कहा जाता था, वे भी वहाँ गये हैं। चण्डीपाठ में लिखा है कि—

दैत्याश्च देव्या निहते शुम्भे देवरिपौ युधि। निशुम्भे च महावीर्ये शेषाः पातालमाययुः।

—सप्तसती [८९। ३२]

अर्थात् जब शुम्भ और निशुम्भ राक्षसों को देवी ने मार डाला तब शेष जो बचे, वे भागकर पाताल (अमेरिका) को चले गये।

इनके सिवा यह सभी जानते हैं कि बलि नामक किसी राजा को भी पाताल देश में भेज दिया गया था। अमरकोष में लिखा है कि '**अधोभुवनपातालबलिसद्मरसातलम्। नागलोकोऽथ कुहरं सुषिरं विवरं बिलम्**'*, अर्थात् पाताल, रसातल और बलि का घर आदि सब एक ही वस्तु हैं। नागलोक भी उसी को कहा गया है। इस नागलोक या पातालदेश में राजा बलि की राजधानी दक्षिण अमेरिका में बलिविया (Bolivia) नाम से प्रसिद्ध है। अमेरिकावालों का आदिस्थान

---

१. The question may be left undecided as to whether the modern designation of the most important Pyramids of Teotihuacan as 'the hill of Sun, the hill of the Moon' has been justified by archaeological inquiry, at any rate, the name 'path of the dead' is correct for the long range of little hills which streches out behind the larger Pyramids. Teotihuacan was, like Mitla, not only a place of pilgrimage for the living, but also a sacred place in which to be buried was to be sure of salvation.
—*Harmsworth History of the World,* p. 5775.
The custom of preserving the bodies of the dead prevailed among the early people of America. The illustration shows a mummified body prepared for burial. —*Ibid,* p. 5829.

२. The Piece of terra-cotta here illustrated showing the sun-god of the ancient people of Chimu was discovered near Trujillo by Mr. T. Hewith Myring. Its antiquity is undoubted dating possibly to 5,000 B.C. —*Ibid,* p. 5817.

३. Its people were more like north American Indian than anything else. —*ibid,* p. 2014.

४. Of a different charactor was the third feast or Situa Raimi, which fell at the time of the spring equinox in September. —*Ibid,* p. 2014.

५. एखनउ दक्षिण अमेरिकाय रामसीताया उत्सव सम्पन्न हइया थाके। —मानवेर आदि जन्मभूमि

* अमर० प्रथमं० पाताल० १

यही है[१]। हिन्दी विश्वकोष के उपनिवेश शब्द में लिखा है कि 'आनाम में खोदने पर बहुत-से शिलालेख निकले हैं, जिनसे पाया जाता है कि इनके राजाओं की उपाधि सूर्यवंशी इन्द्र थी। सम्भव है, अङ्गदेश से सूर्यवंशी राजकीय शाखा अमेरिका में 'इङ्क' नाम से प्रसिद्ध हुई हो। पीरू के भवनों और पहाड़ों में बनाई हुई गुफाएँ भारत से मिलती हैं'। इन इतिहासों से भी उनका आर्य ही होना पाया जाता है।

५. भारतदेश में ही उनके सम्बन्ध में अधिक जानकारी पाई जाती है। अब तक जो कुछ लिखा गया है क्या उससे यह नहीं पाया जाता कि भारतदेश उस देश के मूल को केवल जानता ही नहीं था, प्रत्युत भारत के ही निवासी वहाँ जाकर बसे हैं ? भारत में प्राचीन-से-प्राचीन और नवीन-से-नवीन साहित्य में अमेरिकावालों की चर्चा विद्यमान है। ऐतरेयब्राह्मण ८।३८।३ के ऐन्द्रा महा अभिषेक प्रकरण में लिखा है कि '**तस्मादेतस्यां प्रतीच्यां दिशि ये के च नीच्यानां राजानो येऽ पाच्यानां स्वाराज्यायैव तेऽ भिषिच्यन्ते स्वराळित्येनानाभिषिक्तानाचक्षते**'। इसमें नीच्यों और अपाच्यों के राजाओं का वर्णन है और कहा गया है कि ये पश्चिम दिशा में हैं। भूगोल के ज्ञाता जानते हैं कि अमेरिका का मध्यभाग भारत से पश्चिम में ही है। उत्तर अमेरिका के मेक्सिको स्टेट में अपाच्य नामक मूल निवासी अब तक रहते हैं, जिससे जाना जाता है कि अति प्राचीन आर्यसाहित्य में पातालवासियों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त महाभारत में लिखा है कि उद्दालक मुनि पाताल में ही निवास करते थे, अर्जुन की उलोपी स्त्री भी वहीं की थी और वेदव्यास भी एक बार वहाँ गये थे। ये सब बातें स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने 'सत्यार्थप्रकाश' में लिखी हैं। इससे ज्ञात होता है कि महाभारत के युद्ध तक आर्यों का अमेरिका में गमनागमन अच्छी प्रकार था, किन्तु वहाँ सर्वप्रथम वह आर्यजाति गई जो अपने साथ स्वस्तिक, गजाननपूजा, नागपूजा और रामसीतोत्सव आदि भाव ले-गई।

इस प्रकार उक्त पाँचों प्रश्नों का यही उत्तर आता है कि मूल अमेरिका-निवासी भारतीय आर्य ही हैं, इसमें सन्देह नहीं। हमने इस प्रकार से यहाँ तक सारे भूगोल के प्रधान-प्रधान देशों में शुद्ध आर्यों की शाखा अथवा उनकी मिश्रित प्रशाखाओं को ही बसते हुए पाया, अतः हमारा यह दावा है कि आदि में वैदिक आर्य ही पैदा हुए और उन्हीं की शाखा-प्रशाखाएँ सारे संसार में फैली हैं। यहाँ तक वर्णित देशों के अतिरिक्त हमने जिन देशों का वर्णन नहीं किया, वे बहुत थोड़े हैं और उनमें इन वर्णित देशों की ही शाखा-प्रशाखाएँ बसती हैं, अतएव आर्यों से ही सारी पृथिवी बसी हुई दिखाई देती है। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दी वर्ल्ड' में संसार की समस्त पुरानी जातियों के चित्र दिये हुए हैं। उन चित्रों में सबके पास धनुषबाण पाया जाता है, जिससे ज्ञात होता है संसार की समस्त जातियाँ आदि में धनुषबाण चलाती थीं। धनुषबाण आर्यों का ही शस्त्र है, इसमें प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, अतः सिद्ध है कि संसार के भिन्न-भिन्न देशों में बसनेवाले एक वंश के हैं और वह महान् वंश आर्यवंश ही है।

दुःख से कहना पड़ता है कि आर्यों से पृथक् होकर समस्त शाखाएँ आचारहीन होकर अनार्य हो गईं। वैदिकता नष्ट होने से ही अनार्यता होती है। वैदिकता का अर्थ वर्णाश्रम धर्म का पालन है। वर्णाश्रमधर्म के नष्ट होते ही वैदिकता नष्ट हो जाती है और अनार्यता आ जाती है।

---

१. Now as we find them on the Eastern slopes of the Cordillers from the peninsula of Goujira in the north down to the borders of Chili and in specially large numbers in Eastern Bolivia, the original home of all these tribes is probably to be sought in this direction.

—*Harmsworth History of the World*, p. 5680

अब तक के विस्तृत वर्णन के द्वारा हम दिखला आये हैं कि वैदिक आर्यों में विद्या न पढ़ने, आचारहीन होने और पूज्यों की आज्ञा भंग करने से ही अनार्यता का प्रवेश आरम्भ हुआ। उन्होंने उसे तुरन्त ही ताड़ लिया और आचारहीनों को जाति बाहर करके ही शेष आर्यसमाज को पवित्र रखने का प्रबन्ध किया, परन्तु त्यक्त समुदाय जाति अपमान से लज्जित होकर शत्रुभाव से वैदिकों से लड़ता रहा, अतः कभी पराजित होकर, कभी अपनी इच्छा से और कभी निर्वासित होकर पृथिवी के अन्य भागों में जा–जाकर बस गया। उन बसे हुओं के साथ व्यापार करने, उनपर राज्य करने और उपदेश करने के लिए भी यहाँ से आर्यगण समय–समय पर जाते रहे और वहीं बस गये तथा पूर्व बसे हुओं के साथ मिल भी गये। इस प्रकार समस्त भूभाग पतित आर्यों से वासित हो गया और यहाँ की परिभाषा के अनुसार पतित विदेशी आर्य असुर, राक्षस, अनार्य, कपि, महिष, नाग और जाने किन–किन नामों से पुकारे जाने लगे। कुछ ही समय में शुद्ध वैदिक धर्म और शुद्ध आर्य शासन के अभाव से उनके बिगड़े हुए स्वभाव और भी अधिक उग्र हो गये और नाना प्रकार के अनाचार, असभ्य रिवाज, मूर्खताजन्य पाप, और जंगली स्वभाव ने उनको मनुष्य–शरीर में ही पशु बना दिया।

जिन देशों का वर्णन हमने इस प्रकरण में किया है उन देशों के रहनेवालों के रीति–रिवाजों, आचार व्यवहारों और धर्म–कर्मों तथा विश्वासों का विस्तारपूर्वक वर्णन उन–उन देशों का इतिहास लिखनेवालों ने किया है, जिससे उनकी असभ्यता और अनार्यता का पता मिल जाता है। हम यहाँ विस्तारभय से वह सब नहीं लिखना चाहते। हम तो यहाँ केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि भारतीय आर्यों ने उनको इस पतित दशा से छुड़ाने के लिए उनमें धर्मप्रचार का आयोजन किया। उन्होंने देखा कि बहिष्कार से लाभ के स्थान में हानि भी हुई है। एक बहुत बड़ा मनुष्यसमाज आचारहीन और पापी हो गया है तथा शत्रु होकर समय–समय पर दुःख देने लगा है और आर्यजनता उनसे सशंकित रहने लगी है। इस शंका के उद्धार के लिए आर्यों ने धर्मप्रचार की सर्वोत्कृष्ट नीति का आयोजन किया। जातिबहिष्कार अथवा कठोर शासन की अपेक्षा धर्मप्रचार के द्वारा लोगों के मन पवित्र कर देना सब सुधारों की जड़ समझा, इसलिए उन्होंने एक बहुत ही उत्तम क़ानून बनाया। उस क़ानून में लिखा कि—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।

—मनुस्मृति [२।२०]

अर्थात् ब्रह्मावर्त के रहनेवाले ब्राह्मणों से समस्त पृथिवी के मनुष्य अपने चरित्र सीखें।

क़ानून तो बन गया, परन्तु संसार के लोग इसे मानें कैसे और अपने–अपने चरित्र सुधारें कैसे ? सुधार तभी हो सकता था कि या तो संसार के लोग यहाँ आवें या यहाँवाले उन–उन देशों में जाएँ। दोनों दशाएँ उपस्थित हुईं। इतिहास से पता मिलता है कि ईरान, सीरिया, ग्रीस और चीन आदि देशों से लोग यहाँ शिक्षा ग्रहण करने के लिए आया करते थे[१]। यहाँवाले भी

१. ईरान का जामास्प हकीम भारत में प्रतिवर्ष आया करता था और जैमिनि का शिष्य हुआ था। इसी प्रकार तिब्बत में हज़रत ईसा का एक पुराना जीवन–चरित्र मिला है उससे पाया जाता है कि हज़रत ईसा ने भारत में आकर धर्म के सिद्धान्त सीखे और बहुत दिन तक काशी आदि स्थानों में रहे। चीन निवासी सोमाचीन तथा फ़ाहियान और ह्यूनत्सांग आदि भी विक्रम की चौथी शताब्दी में यहाँ से पुस्तकें ले–गये, संस्कृत जाननेवाले अनेक ब्राह्मण ले–गये और स्वयं अनेक बातें सीखकर गये।

The doctrine of the transmigration of souls indigenous to India was brought into Greece by Pythagoras. —*History of Literature.*

We find that it (India) was visited for the purpose of aquiring knowledge by Pythagoras, Anaxarches, Pyrrhs, and others who afterwards became eminent philosophers in Greece. —*History of Philosophy.*

आस्ट्रेलिया, अमेरिका, सीरिया, ग्रीस और चीन आदि देशों में शिक्षा देने के लिए जाया करते थे। ऋषि पुलस्त्य धर्मप्रचार करने के लिए आस्ट्रेलिया गये, वेदव्यास अमेरिका और बलख़ को गये, बौद्ध संन्यासी पेलिस्टाइन, ग्रीस और चीन को जाते रहे,[१] अर्थात् पुलस्त्य से लेकर सन् ईस्वी के आरम्भ तक आर्य ऋषि-मुनि और संन्यासी वैदिक धर्म का प्रचार दूसरे देशों में करते रहे और वहाँ के असभ्य लोगों में सभ्यता का संचार होता रहा। धर्मप्रचार होता रहा, परन्तु इस गमनागमन से जहाँ कुछ लाभ हुआ होगा वहाँ हानि भी इतनी हुई है कि जिसकी पूर्ति होना कठिन है। हम देखते हैं कि गमनागमन के संसर्ग से उन-उन देशों के पतित मनुष्यों का आगमन इस देश में समय-समय पर हुआ, जिससे आर्यों में भी अवैदिकता का समावेश हुआ। इस प्रकार जातिबहिष्कार, धर्मप्रचार और पुन: जातिसम्मिलन आदि जितने कुछ आर्योचित मृदु उपाय अब तक हुए हैं सबके परिणाम में लाभ के साथ-साथ कुछ-न-कुछ हानि भी हुई है। आगे हम उसी आगमन, सम्मेलन और तज्जन्य हानि का वर्णन करते हैं।

विदेशियों का भारत में आगमन

गत पृष्ठों में हम लिख आये हैं कि भारतवर्ष से अनेक जातियाँ पृथिवी के अनेक भागों में जाकर बस गईं और दीर्घकाल तक वैदिक आर्यों से पृथक् रहने के कारण अपने स्वभाव, रूप-रंग, शकल-सूरत और आचार-व्यवहार को बदल-बदलकर कुरूप और अनाचारिणी हो गईं। यहाँ के प्रवासियों, धर्मप्रचारकों और व्यापारियों तथा राजनैतिक यात्रियों ने उन-उन देशों में सभ्यता का प्रचार किया, इसलिए उनके सहारे विदेशियों का इस देश में फिर आना शुरू हुआ।

हमारा दृढ़ विश्वास है कि जिन लोगों ने अनार्यता को जन्म दिया था और अपनी अनार्यता के कारण विदेश को भागे थे, उन्हीं लोगों ने यहाँ आकर, आर्यों में मिलकर, अवैदिकता और अनार्यता का प्रचार किया, जिससे आर्यों का हर प्रकार से पतन हुआ। यह इतिहास-सिद्ध बात है कि इस देश में पृथिवी के प्राय: सभी प्रधान-प्रधान देशों के लोग आकर बसे हैं। यहाँवालों ने उनके साथ रोटी-बेटी का व्यवहार करके अपने में सम्मिलित किया है। बहुतों को तो अपना गुरु मान लिया है और उनके उपदेशों को मानकर अपना सर्वस्व नष्ट कर लिया है। यह सर्वथा सत्य है कि प्राचीन काल में अनार्यों को आर्यधर्म में सम्मिलित करने का रिवाज था। पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा राजपूताने के इतिहास में लिखते हैं कि 'वैदिक काल में व्रात्य, अर्थात् पतित एवं विधर्मियों को वैदिक धर्म में लेने के समय 'व्रात्यस्तोम' नामक शुद्धि की एक क्रिया होती थी, जिससे उन व्रात्यों की गणना द्विजवर्णों में हो जाती थी। व्रात्यस्तोम का वर्णन सामवेद के ताण्ड्यब्राह्मण प्रकरण १७ और लाट्यायनश्रौतसूत्र (६।८) में मिलता है'। इससे विदितो होता है कि आर्यों ने बिछुड़े हुए अपने पतित भाइयों को फिर से आर्यसमाज में प्रविष्ट किया। यहाँ हम इस प्रकरण में विदेशियों का इस देश में आना, उनके आचार-व्यावहार की रूपरेखा, आर्यों के साथ उनका सम्मेलन और साहित्य-प्रचार आदि विषयों को विस्तारपूर्वक लिखते हैं जिससे ज्ञात हो जाएगा कि किस प्रकार इन विदेशियों ने वेदों की उपेक्षा की और वह उपेक्षा किस प्रकार हमारे पतन का कारण बनी।

विदेशियों के प्रथम दल का आगमन

सबसे प्रथम जिन विदेशियों के भारत-प्रवेश का इतिहास मिलता है, वह आस्ट्रेलिया

१. A very considerable portion of these people was of the Budhistic faith and by their number and material powers ulitmately succeeded in expelling from northern Greece the classes of the Solar race. —*India in Greece*

निवासियों का है। हमने पूर्व पृष्ठों में कहा है कि ऋषि पुलस्त्य धर्मप्रचार के लिए आस्ट्रेलिया गये थे, परन्तु वहाँ के राजा तृणबिन्दु की पुत्री से उनका विवाह हो गया। उसी से विश्रवा पैदा हुआ जो प्रसिद्ध राजा रावण का पिता था[१]। रावण कैसा विद्वान् और योद्धा था, यह किसी से छिपा नहीं है। उसने राजा होकर समस्त दक्षिणी टापुओं (आस्ट्रेलिया, अफ्रीक़ा, मेडेगास्कर और उस समय के अन्य खुले द्वीपों) को अपने अधिकार में करके चारों ओर से समुद्र द्वारा घिरा और बड़ी-बड़ी सोने की खानों से भरा हुआ लङ्काद्वीप अपनी राजधानी के लिए चुना और वहीं पर अपनी राजधानी निश्चित कर दी। कुछ काल के पश्चात् रामेश्वर के पास से लङ्का तक पड़े हुए खण्ड पहाड़ों के द्वारा थोड़े-से नावों के बेड़ों के सहारे लङ्कानिवासी रावण आदि दक्षिण भारत में आने-जाने लगे। वे जिस मार्ग से आते-जाते थे उस मार्ग के चिह्न अब तक बने हुए हैं। भगवान् रामचन्द्र ने पूर्वकाल में उन्हीं पहाड़ी भग्नावशेषों पर पुल बनाया था। इस पुल के इस पार मद्रासप्रान्त में आर्यों द्वारा निर्वासित कुछ पतित आर्य ही रहते ही थे और जाति-अपमान के कारण आर्यों से द्वेष भी रखते थे, अतः इनकी उनके साथ मित्रता होना सरल और सहज था। हुआ भी वही, दोनों दल दक्षिणप्रान्त के अनेक स्थानों में रहने लगे। पहले के पतित आर्य अपने को आर्य और आनेवाले नवीनों को अनार्य कहा करते थे। ये दोनों शब्द मद्रास-निवासियों में अब तक अय्यर और नय्यर के रूप से प्रचलित हैं, जो वास्तव में आर्य और अनार्य के अपभ्रंश हैं। मद्रास प्रान्तवाले महाशय या जनाब के स्थान में अब तक 'अय्या' शब्द का प्रयोग करते हैं जो आर्य का ही रूपान्तर है। इन दोनों दलों में नवीन दल बहुत ही काले रंग का था। वह असभ्य भी था, इसीलिए उसे अनार्य कहा करते थे। दुर्दैव से रावण का उसके बहनोई, अर्थात् सूर्पणखा के पति से युद्ध हो गया। युद्ध में रावण के हाथ से सूर्पणखा का पति मारा गया। सूर्पणखा विलाप करती हुई रावण के पास गई और कहने लगी कि तूने मुझे विधवा कर डाला अब मैं क्या करूँ। सान्त्वना के लिए रावण ने सूर्पणखा से कहा कि तू शोक मत कर, मैं तुझे खर नामक योद्धा की सरदारी में चौदह सहस्र फ़ौज देकर भारत के दक्षिण अरण्य की स्वामिनी बनाता हूँ। वहाँ जा और आनन्द कर। तदनुसार वह राक्षसों की फ़ौज के साथ दण्डकारण्य मे रहने लगी[२]।

इस प्रकार रावण का सैनिक बल आर्यों के देश में जम गया। इसी बीच में कारणवशात् रामचन्द्र को वनवास हुआ। वे घूमते हुए दण्डकारण्य पहुँचे। उनपर सूर्पणखा आसक्त हुई और आगे जो हाल हुआ वह सबको ज्ञात है। इस प्रकार मद्रास प्रान्त में वैदेशिक अनार्यों का आगमन और सम्मिश्रण हो गया। अय्यर और नय्यर सब एक ही प्रकार के हो गये और वनवासी आर्य तपस्वियों की दुर्गति करने लगे। बहुत दिन के बाद समय पाकर नागा पर्वत के नाग लोग भी इनमें आ मिले और अन्त में इनकी एक शाखा अफ्रीक़ा से भी निकलकर मेसोपोटामिया होती हुई यहाँ

---

१. **पुरा कृतयुगे राम प्रजापतिसुतः प्रभुः। पुलस्त्यो नाम ब्रह्मर्षिः साक्षादिव पितामहः॥**
स तु धर्मप्रसङ्गेन मेरोः पार्श्वे महागिरेः। तृणबिन्द्वाश्रमं गत्वाप्यवसन्मुनिपुंगवः॥
—वाल्मीकि रामायण [उत्तर० २।४, ७]

२. **अब्रवीत् किमिदं भद्रे वक्तुकामासि मां द्रुतम्। सा बाष्पपरिरुद्धाक्षी रक्ताक्षी वाक्यमब्रबीत्॥ २६॥**
कृतास्मि विधवा राजंस्त्वया बलवता बलात्॥ २७॥
स त्वया निहतो युद्धे स्वयमेव न लज्जसे। एवमुक्तो दशग्रीवो भगिन्या क्रोशमानया॥ ३१॥
अब्रवीत् सन्त्वयित्वा तां सामपूर्वमिदं वचः। अलं वत्से रुदित्वा ते न भेतव्यं च सर्वशः॥ ३२॥
भ्रातुरैश्वर्ययुक्तस्य खरस्य वस पाश्वर्तः। चतुर्दशानां भ्राता ते सहस्त्राणां भविष्यति॥ ३६॥
आगच्छत खरः शीघ्रं दण्डकानकुतोभयः। स तत्र कारयामास राज्यं निहतकण्टकम्।
सा च सूर्पणखा तत्र न्वसद्दण्डके वने॥ ४२॥ —वाल्मीकि रामायण [उत्तर० सर्ग २४]

आ गई[१]। इस प्रकार इनका एक अच्छा जमाव यहाँ हो गया। आस्ट्रेलिया से आये हुए इन लङ्का-निवासियों का क्या स्वभाव था और यहाँ के रहनेवालों के साथ उनका क्या व्यवहार था, यह सब लिखने से पूर्व यह जानना आवश्यक है कि ये आस्ट्रेलियानिवासी हैं या नहीं।

हमारे देश का इतिहास जो हमने वाल्मीकि रामायण से उद्धृत करके पिछले पृष्ठ में लिखा है यही कहता है कि ये लोग दक्षिण मेरु के पास स्थित एक पहाड़ी देश के रहनेवाले थे, जहाँ का राजा तृणबिन्दु था। वहाँ से लंकाद्वीप होते हुए बहुत पहले ही ये द्रविड़ देश में बस गये थे। महाभारत* में लिखा है कि—

नन्दिन्या गोस्तनात्पूर्वं जातैर्म्लेच्छैर्विनिर्मितः। द्राविडाख्यो महादेशः स्ववासायेति निश्चितम्॥

अर्थात् वसिष्ठ के नन्दिनी गौ की कथा के पूर्व ही म्लेच्छ जातियों ने द्रविड़ देश बसा लिया था।

वाल्मीकि रामायण और महाभारत के इन दोनों प्रमाणों से इनका आस्ट्रेलिया से आना सिद्ध होता है। इन प्रमाणों के अतिरिक्त इनकी भाषा, रूप, गठन आदि के मिलान से पाश्चात्य विद्वानों ने भी निश्चित कर दिया है कि ये आस्ट्रेलिया निवासी ही हैं। भारतवर्ष के इतिहास में ई० मार्सडन बी०ए० लिखते हैं कि कुछ लोग सोचते हैं कि द्रविड़ लोग दक्षिण से आये अथवा उस देश से आये जो अब दक्षिणी महासागर में डूब गया है और दिखलाई नहीं पड़ता या उन टापुओं से आये जो एशिया और आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व से जुड़े थे और अब समुद्र में डूब गये हैं[२]। इसी प्रकार मिस्टर मैनिंग अपने 'प्राचीन और मध्यान्तरीय भारत' नामी ग्रन्थ में अनेक विद्वानों की सम्मतियों को उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि मिस्टर नॉरिस की सम्मति है कि सब द्रविड़ भाषाएँ एक-दूसरी से सम्बन्ध रखती हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत वे आगे बढ़कर यह कहते है कि द्रविड़ और आस्ट्रेलिया की भाषाओं में निश्चितरूप से घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। मिस्टर जान हट्ट भी जो बहुत दिन तक आस्ट्रेलिया में रहे हैं, वे भी इसी प्रकार कहते हैं। साथ ही डॉक्टर रोस्ट का भी यही विचार है। वे भी कहते हैं कि आस्ट्रेलिया-निवासियों, मंगोलियनों और भारतीय द्रविड़ों की भाषा के व्याकरण का साँचा सर्वथा एक ही है[३]। मिस्टर क्लैडवेल कहते हैं कि इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि सीलोन—लंका से आकर लोगों ने दक्षिणी ज़िलों में निवास किया है[४]।

---

१. इसी को वेदम वेंकट चालिया बी०ए० ने लिखा है कि ५०० वर्ष ईस्वी सन् पूर्व भारत में आई, परन्तु यह बात ग़लत है। इसको आये बहुत दिन हुए।

२. Other think that the Dravids came from the south, either from a great country which very long ago stretched far into the Indian Ocean to the south of India, but now lies sunk beneath the sea and can not be seen, or from the islands which stretch away from the south-east of Asia to Australia, and were formerly joined to it by land now sunk beneath the sea.
—*History of India* by E. Marsden, B.A.

३. Mr. Norris fully concurs in this opinion but further observers decided relationship between these languages and those of Australia.
Mr. John Hutt, who was long resident in Australia, has simultaneously made the discovery and for the truth of these observations Dr. Rost of the Royal Asiatic Society of London may be cited as another independent witness, he having in 1847, submitted a memoir on the subject to the late Chevalier Bunsen. Dr. Rost considers it an undeniable fact that the grammatical skeleton of the Australian, Mongolian, and South Indian languages is essentially the same.
—*Ancient and Medieval India*

४. It is undeniable that immigration from Ceylon to the southern districts of India has occasionally taken place. —*Comparative Grammer of Dravidian Languages*, p. 118

* हमें बहुत खोजने पर भी यह श्लोक महाभारत में नहीं मिला। —जगदीश्वरानन्द

इन प्रमाणों से अच्छी प्रकार प्रकट हो जाता है कि ये द्रविड़ दक्षिण टापुओं के, अर्थात् आस्ट्रेलिया आदि के रहनेवाले हैं। इन्हीं को यहाँवाले असुर, राक्षस, नाग, महिष और कपि आदि कहते थे[१]। इनके ये नाम अन्यायवश नहीं रक्खे गये थे, किन्तु इनके कर्म ही इस प्रकार के थे। यह बात बहुत पुराने ज़माने से प्रसिद्ध है कि इन असुरों, राक्षसों, यक्ष, और पिशाचों का स्वाभाविक खाना-पीना मांस-मद्य था। मनुस्मृति अध्याय ११ श्लोक ९५ में लिखा है कि **'यक्षः रक्षपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्'**, अर्थात् मद्य-मांस आदि अभक्ष्य पदार्थ ही यक्ष, रक्ष और पिशाचों का अन्न है। इसी प्रकार वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

भक्ष्यन्ते राक्षसैर्भीमैर्नरमांसोपजीविभिः। ते भक्ष्यमाणा मुनयो दण्डकारण्यवासिनः॥

—वा०रा० [अरण्य १०।६]

अर्थात् ये मनुष्यमांस खानेवाले राक्षस दण्डकारण्यवासी मुनियों को खा जाते हैं।

इन्हीं लोगों में से मारीच और सुबाहु विश्वामित्र के यज्ञ में क्या-क्या कृत्य करते थे वह भी देखने योग्य है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड में लिखा है कि **'तौ मांसरुधिरौघेण वेदिं तमभ्यवर्षताम्'**[२], अर्थात् मांस और रुधिर से यज्ञवेदी को पाट दिया था। विश्वामित्र रामचन्द्रजी से कहते हैं कि—**'इमौ जनपदौ नित्यं विनाशयति राघव'**[३], अर्थात् हे राम! इन लोगों ने इसी तरह इन दोनों राज्यों का सत्यानाश कर दिया है। इसी प्रकार रामचन्द्र जिस समय दण्डकारण्य में पहुँचे उस समय भी वहाँ के तपस्वियों ने उनसे कहा कि—

रक्षांसि पुरुषादानि नानारूपाणि राघव। वसन्त्यस्मिन् महारण्ये व्यालाश्च रुधिराशनाः॥
उच्छिष्टं वा प्रमत्तं वा तापसं ब्रह्मचारिणम्। अदन्त्यस्मिन् महारण्ये तान्निवारय राघव॥

—वाल्मीकि रामायण [अयो० ११९।१९, २०]

अर्थात् हे राम! इस अरण्य में अत्यन्त क्रूर और मनुष्यभक्षक लोग रहते हैं। वे हम तपस्वियों और ब्रह्मचारियों को मार कर खा जाते हैं, अतः किसी प्रकार इनका निवारण कीजिए।

रामचन्द्र को एक दिन इनमें से विराध नामक एक राक्षस मिला। वह **'वसानं चर्मवैयाघ्रं वसार्द्रं रुधिरोक्षितम्'**[४], अर्थात् चर्बी और रुधिर से सना हुआ व्याघ्रचर्म पहने हुए था। इसी प्रकार एक दिन ऋषियों ने रामचन्द्र को अस्थियों का एक ढेर दिखलाकर कहा कि—

एहि पश्य शरीराणि मुनिनां भावितात्मनाम्। हतानां राक्षसैर्घोरैर्बहूनां बहुधा वने॥
पम्पानदीनिवासानामनुमन्दाकिनीमपि। चित्रकूटालयानां च क्रियेत कदनं महत्॥
ततस्त्वां शरणार्थं च शरण्यं समुपस्थिताः। परिपालय नो राम वध्यमानन्निशाचरैः॥

—वा०रा०, अरण्य ६।१६,१७,१९

अर्थात् राक्षसों द्वारा खाये हुए ऋषियों के ढेर देखिए। पम्पा नदी से चित्रकूट तक तमाम अरण्य-वासियों का इन्होंने नाश कर दिया है, अतः हम आपके शरणागत हैं, इनको मारकर हमें बचाइए।

इन अत्याचारों के अतिरिक्त ये आर्यों की कन्याओं को बलात् अपने घर में डाल लेते थे। उनका कौमार्य नष्ट हो जाता था और वे हारकर उन्हीं को अपना पति मान लेती थीं, इसीलिए

---

१. They are called Dasas, other native tribes are called Nagas, Asuras, Danvas and Deityas. They are said to be black-skinned, to have a vile colour, to eat raw flesh, to have flat noses and to have no religion. —*History of India,* by E. Marsden.

२. वा०रा० बाल० २१।६   ३. वा०रा० बाल० २४।२८

४. वा०रा० अरण्य० २।६

राक्षस, असुर और पैशाच विवाह भी धर्मशास्त्र में सम्मिलित करने पड़े[१]। इनके कर्मों का चित्र तुलसीदास ने भी ख़ूब अच्छी प्रकार खींचा है। वे कहते हैं—

कामरूप जानहिं सब माया। सपनेहु जिनके धर्म न दाया॥
जेहि विधि होय धर्मनिर्मूला। सो सब करहिं वेदप्रतिकूला॥
जेहि जेहि देश देव द्विज पावहिं। नगर ग्राम पुर आगि लगावहिं॥
शुभ आचरण कतहुँ नहि होई। वेद विप्र गुरु मान न कोई॥
हिंसा पर अति प्रीति तिनके पापन कौन मिति।
रावण माँगे कोटि घट मद अरु महिष अनेक॥
महिष खाय करि मदिरा पाना। गर्जेउ वज्रपात अनुमाना॥
जाय कपिन देखा सो वैसा। आहुति देत रुधिर अरु भैंसा॥
सुरा पान अरु परतिय भोगा।

उपर्युक्त वर्णन से उनके कर्म, प्रवृत्ति और आचरण आदि का पता मिलता है। आरम्भ में उनके ये कर्म स्वाभाविक थे, परन्तु पीछे से आर्यों से द्वेष के कारण वे अधिक बढ़े और अन्त में वही धर्म बन गये। धर्मरूप से इस प्रकार की दो-तीन रिवाजें इनमें अब तक शेष हैं। ता० २६ नवम्बर सन् १९१६ के 'गुजराती' पत्र में एक समाचार इस प्रकार छपा था कि 'श्री जीवरक्षा ज्ञानप्रचारक फ़ण्ड' (दक्षिण हैदराबाद) की ओर से मिस्टर के० एन० जोषी लिखते हैं कि यहाँ के विश्वनामी ब्राह्मणों में यह रिवाज है कि किसी भी शुभ अवसर पर बकरे का मांस अपनी जाति-बिरादरी को खिलाते हैं और मदिरा पिलाते हैं'। इनके यहाँ एक और रिवाज है जो अनार्यों का ही है। इसके सम्बन्ध में 'भारत ना स्त्रीरत्नों' नामी गुजराती पुस्तक के पृ० ६२० पर रानी लम्मीबाई की कथा में लिखा है कि 'दक्षिण में मालाबार प्रदेश है। वहाँ के निवासी मलियाली कहलाते हैं। मलाबार में कोचीन और ट्रावनकोर दो देशी राज्य हैं। ट्रावनकोर राज्य में स्त्रियाँ बहुत स्वतन्त्र हैं। वहाँ वारसा (दायभाग) में स्त्रियों का अधिकार मुख्य है। विवाह में वर को स्त्री ही पसन्द करती है। मलाबार के हिन्दुओं में हिन्दूशास्त्र-सम्मत विवाह-पद्धति प्रचलित नहीं है। नाम्बुद्री ब्राह्मणों में सबसे बड़ा लड़का ही विवाह कर सकता है, दूसरे लड़के नहीं। दूसरे लड़के शूद्र (नय्यर) जाति की लड़कियों से विवाह करते हैं। वे उन स्त्रियों के हाथ का पानी नहीं पीते। वे स्त्रियाँ अपने माँ-बाप के घर पर ही रहती हैं। पति रात के समय स्त्री के घर और दिन के समय अपने घर में रहता है, इसलिए उनकी सन्तति माता को ही अधिक जानती हैं, पिता को नहीं। वे मामा को ही अपना कुटुम्बी समझते हैं। यही कारण है कि वहाँ मामा का उत्तराधिकारी भानजा ही होता है। इस प्रकार नय्यर स्त्रियाँ स्वतन्त्रतापूर्वक पति-वरण करके माता पिता के ही घर रहकर जीवन बिताती हैं। ऐसे विवाहों के लिए शास्त्रानुसार संस्कार नहीं करना पड़ता'।

इन वर्णनों से प्राचीन राक्षसों और वर्त्तमान पतित द्रविड़ों का मेल बहुत कुछ मिलता है। यद्यपि विशुद्ध द्रविड़ सब कार्य आर्योचित रीति से ही करते हैं, किन्तु उनमें ये अनार्योचित रीतियाँ नवीन ही हैं। प्राचीन अनार्यों ने तो रावण के समय में अपनी प्रवृत्ति के अनुसार आर्यों के

---

१. **हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च क्रोशन्तीं रुदतीं गृहात्। प्रसह्य कन्याहरणं राक्षसो विधिरुच्यते॥**
सुप्तां मत्तां प्रमत्तां वा रहो यत्रोपगच्छति। स पापिष्ठो विवाहानां पैशाचश्चाष्टमोऽधमः॥
ज्ञातिभ्यो द्रविणं दत्त्वा कन्यायै चैव शक्तितः। कन्याप्रदानं स्वाच्छन्द्यादासुरो धर्म उच्यते॥
—मनु० ३.३२,३३,३१

साथ द्वेष से जो अत्याचार किये थे उनका यदि वर्गीकरण करें तो ज्ञात होगा कि उनके स्वभाव में मनुष्यमांस खाना और पशु मारना था। वे महाव्यभिचारी थे, शराब पीते थे, मांस-रुधिर से यज्ञ करते थे और जंगलों का नाश करते थे। पञ्चतन्त्र में ठीक ही कहा है कि राक्षस लोग **'वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्'**[१], अर्थात् जंगल काटना, पशु मारना और मनुष्यों का ख़ून करना तो उनके बायें हाथ का खेल था। वृक्ष, पशु और ऋषि-मुनि जो आर्यों की प्रधान सम्पत्ति है, ये उसी को नष्ट करते थे। इनमें ऐसे अनेक अवगुण थे, परन्तु इनमें से कई एक आर्यों के समागम तथा ऋषि पुलस्त्य आदि के कारण संस्कृतभाषा भी सीखते थे। रावण संस्कृत का बहुत बड़ा पण्डित था। यही कारण है कि इनके यहाँ दोनों भाषाएँ चलती थीं। आर्यों में घुसने के लिए ये संस्कृत को अपनाते जाते थे, परन्तु इनके घर की भाषा द्रविड़ ही थी। यह बात अब तक बनी हुई है। द्रविड़ और कोल दोनों जातियाँ अपनी और आर्यों की भाषा साथ-ही-साथ सीखती हैं। वे संस्कृत अथवा प्रान्तिक आर्यभाषा अवश्य जानती हैं। इनसे सम्बन्ध रखनेवाले गोंडों ने सन् १८९१ की जनगणना में अपने को रावणवंशी लिखवाया है। छत्तीसगढ़ के गोंड राजा संग्रामशाह के जो सिक्के मिले हैं उनमें उसका पौलस्त्यवंश खुदा हुआ है। कहने का तात्पर्य यह है कि ये रावणवंशीय विदेशी यहाँ आकर, संस्कृत सीखकर और ब्राह्मण-क्षत्रिय बनकर आर्यों में मिल गये हैं, इसमें सन्देह नहीं।

विदेशियों के द्वितीय दल का आगमन

अफ्रीका देश के एक प्रान्त का नाम मिस्र है, जिसको आजकल इजिप्ट कहते हैं। कोई सोलह-सत्रह सौ वर्ष पूर्व यहाँ के निवासियों ने आकर इस देश में प्रवेश किया। पहले तो उनके आने से कुछ भी प्रकट न हुआ। वे चुपके-चुपके देश में रहे, किन्तु अन्त में उनकी एक शाखा ने इस देश में एक बहुत बड़ा राज्य स्थापित कर दिया। ये मिस्रनिवासी जाति के यहूदी थे। ये लोग सबसे प्रथम दक्षिणी मलाबार में आकर रहे। इनके विषय में जेम्स बरजिस नामी एक यूरोपियन शोधक कहता है कि 'ये यहूदी लोग ईसवी सन् की तीसरी या चौथी शताब्दी में दक्षिणी मलाबार के किनारे पर आकर बसे'[१]।

ये लोग जब मिस्र से चले थे उस समय ये कई एक नावों में सवार होकर निकले थे। उनमें से एक तरणी भारतीय समुद्र के किनारे पर पहुँचते-ही-पहुँचते टूट गई और जो लोग उसपर सवार थे वे बह चले। ये बहे हुए मनुष्य सह्याद्रि के पश्चिमी किनारे पर आकर लगे। वहाँ एक गाँव में जिसमें अन्त्यजों के १४ कुटुम्ब रहते थे, ये भी टिके। इस कथा का सारांश स्कन्दपुराण में दिया हुआ है। वहाँ लिखा है कि—

एवं निवासं कुर्वत्सु अकस्माद्दैवयोगतः।
नीत्वा सागरमध्यस्थैर्म्लेच्छैर्बर्बरकादिभिः॥
बहुन्यब्दान्यतीतानि तेभ्यो जाता च सन्ततिः।
जातिं पृच्छसि हे राजन् जातिकैवर्तकः स्मृतः॥
सिन्धुतीरे कृतो वासो व्याधकर्मविशारदः।
चतुर्दश गोत्रकुलं स्थपितं चातुरंगके॥
सर्वे च गौरवर्णास्ते सुनेत्राश्च सुदर्शनाः।

---

१. Trichur is the capital of Cochin............where Jews and Syrian Christians have been established since the 3rd or 4th century A.D. It is the principal residence of the black and white Jews.

अर्थात् दैवयोग से अफ्रीका देश के बर्बरादि अनार्य लोग हिन्दुस्तान के पश्चिमी मार्ग से आकर सह्याद्रि किनारे पर बसे। बहुत वर्षों के बाद उनसे जो सन्तति हुई उसने उस समय के परशुराम नामी राजा के पूछने पर कहा कि हे राजन्! हम लोग मल्लाह हैं, समुद्र के किनारे पर रहते हैं और शिकार करना हमारा काम है। सबको गौर वर्ण, सुन्दर और सुन्दर नेत्रवाले देखकर परशुराम ने चितपावन बनाया। दूसरी जगह 'माधव शतप्रश्नकल्पलतिका' नामी पुस्तक में लिखा है कि—

शाखायुग्मं च संस्थाप्य शाकलांस्तैत्तिरीयकान्।
निषिद्धकर्मनिरता मत्स्यभक्षणतत्पराः॥
कन्याविक्रयकारांश्च इन्द्रियाणामनिग्रहात्।
कलभाषी पालनाच्च कर्कलाख्याः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् ये लोग निषिद्ध कर्म करनेवाले, मत्स्य, बतख़ आदि मधुर ध्वनि करनेवाले, पालतू पक्षियों का मांस खानेवाले, कन्याविक्रय करनेवाले और अगम्यगामी हैं।

इन वर्णनों से पाया जाता है कि ये लोग यथार्थ में बाहर से ही आकर बसे हैं। कुछ दिन तो ये लोग उसी स्थिति में रहे, परन्तु जब देखा कि इस देश में ब्राह्मणों की बड़ी प्रतिष्ठा है तब उन्होंने ब्राह्मण बन जाना अच्छा समझा, अतः सब ब्राह्मण बन गये तथा अपने को 'चितपावन ब्राह्मण' कहने लगे और संस्कृत भी पढ़ने लगे। उधर इनके साथ ही बहे हुए अन्य लोग भी समुद्र के अन्य किनारों पर जा ठहरे। बहुत दिन के बाद उन्होंने अपना इतिहास लिखा। उस इतिहास में लिखा है कि 'बेनी इसरायल कहते हैं कि उनके बुज़ुर्ग लगभग सोलह सौ या अठारह सौ वर्ष पूर्व विजयी समूहों के लगातार आक्रमणों के दुःखों से बचने के लिए उत्तर की ओर से या उत्तरी सूबों से भारतवर्ष में आये। उनके यहाँ आने का कारण जान और माल की रक्षा ही था, परन्तु आपत्ति ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। वे जिस जलयान के द्वारा भारतवर्ष को आ रहे थे वह हिन्द महासागर के हेनेरी और केनेरी द्वीपों के निकट टूट गया। ये द्वीप उस च्यूल बन्दर से लगभग पन्द्रह मील की दूरी पर हैं जो लगभग दो हज़ार वर्ष पूर्व लालसमुद्र के साथ व्यापार करने का बहुत बड़ा केन्द्र था। जलयान के टूटने से केवल सात पुरुष और सात स्त्रियाँ ही बचीं। इन बचे हुओं ने हेनेरी और केनेरी द्वीपों से छह मील की दूरी पर समुद्र के किनारे नौगाँव नामक गाँव में आश्रय ग्रहण किया। डूबे हुओं में से और भी बहुत-से बहते हुए उसी नौगाँव तक पहुँचे जहाँ उक्त सात जोड़ों ने आश्रय लिया था। इनके अतिरिक्त दूसरे डूबे हुए अन्य किनारों को बह गये पर उनके विषय में अब तक कुछ भी ज्ञात नहीं है'[१]। कुछ दिन के बाद पता लगने पर उन्होंने

१. Beni Israels say that their ancestors came to India about sixteen or eighteen hundred years ago from a country northward (see Lands of the Bible, vol. ii, page 667) or from the northern provinces, to avoid persecution that followed in the train of its constant invasions by a host of conquerors. Thus their motive in coming to India was the safety of their lives and property; but although they went to a new place or to a new country, they brougth with them their misfortunes, and consequently the ship in which they came to their Indian refuge was wrecked near the Henery and Kenery Islands in the Indian Ocean. These islands are about 15 miles distant from Cheul, which was a great emporium of trade with the Red Sea about 2,000 years ago. Of the ship-wrecked only seven men and seven women were saved who took refuge on the shore of Navgaon, a village on the coast about six miles from Henery and Kenery Islands. Many of the drowned were washed away to the shore of the very village where the seven pairs took refuge, while others were carried to other shores, of which nothing was known until recent time.

फिर अपने इतिहास में लिखा है कि 'नवीन खोजों से ज्ञात हुआ है कि कोकणस्थों या चितपावन ब्राह्मणों के बुज़ुर्ग किसी डूबे हुए जहाज़ के विदेशी यात्री थे जो बहकर सह्याद्रि पहाड़ी के नीचे आ लगे थे। हिन्दू दन्तकथाओं और पुराणों के अनुसार परशुराम ने इन विदेशियों के चौदह मुर्दे एक चिता पर जीवित कर दिये थे। इन चितपावनों की बस्ती चिपलूण में बसाई गई। ऐसा प्रतीत होता है कि चितपावनों के बुज़ुर्ग भूमि के मार्ग से कोकण में नहीं आये, परन्तु बहुत दूर समुद्र पार से आये हैं। उनका गौर वर्ण, भूरे नेत्र और नाव डूबने की कथा उपर्युक्त बात को पुष्ट करती है। कुछ लोग कहते हैं कि इस जाति के बुज़ुर्ग जहाज़ के द्वारा मिस्र होते हुए आये हैं। दूसरे कहते हैं कि वे अफ्रीक़ान्तर्गत बारबरी के यहूदी हैं और मिस्र से यहाँ आये हैं[१]।

इस विषय में हमें अधिक प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि इसी जाति के एक बहुत बड़े नामी चितपावन ब्राह्मण, विश्वनाथ नारायण मण्डलीक, ने अपनी जाति का जो विवरण एशियाटिक सोसाइटी के पास भेजा है, उसमें स्पष्ट लिखा हुआ है कि 'ऐतिहासिक ग्रन्थों से ऐसा प्रतीत होता है कि चितपावन जाति के प्रथम पूर्वज हिन्दुस्तान के पश्चिम ओर से, अर्थात् अफ्रीक़ा के सामनेवाले किनारे से बहुत करके नावों के द्वारा आये'। इसके अतिरिक्त अभी हाल में केलकर महोदय ने जो लोकमान्य तिलक का बृहत् जीवन-चरित्र लिखा है उसमें भी ये बातें स्वीकार की हैं। आप लिखते हैं कि 'सच्चे इतिहासज्ञ कोंकणस्थों के लिए कहते हैं कि वे इस देश के नहीं, प्रत्युत बाहर के हैं। हीन दशा बतलानेवाली इस बात से क्रुद्ध होना स्वाभाविक है, परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह बात असत्य नहीं है। कोंकणस्थों के सम्बन्ध में स्वर्गवासी विश्वनाथ नारायण मण्डलीक ने सन् १८६५ के उस अंग्रेज़ी निबन्ध में जो उन्होंने रॉयल एशियाटिक सोसाइटी के पास भेजा था स्वयं स्वीकार किया है कि चितपावन ब्राह्मणों के आदि पूर्वज अन्य देश से जहाज़ों के द्वारा आये अथवा चाहे हिन्दुस्तान के ही किसी दूर बन्दर से आये हों या कोंकण के पश्चिमी अरब समुद्र के द्वारा दक्षिण अफ्रीक़ा से आये हों।

'हिन्दुस्तान में आ जाने पर द्रविड़ों के साथ मेलजोल होने से उनकी गणना पञ्च द्रविड़ों में हो गई।'

'जहाँ नई बस्ती होती है वहीं पर सब जातियों की वर्गवार बस्ती बन सकती है। इस तरह की पद्धतिवार बस्तीवाले गाँव कोंकण में ही हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि कोंकणस्थ ब्राह्मण कहीं बाहर से आकर बसे।'

'प्रोफ़ेसर कर्वे ने अपने जीवन में ऐसे एक गाँव का विस्तारपूर्वक बड़ा ही मनोरंजक वर्णन किया है, और बतलाया है कि कब, क्यों और कैसे वह गाँव जंगल काटकर बसाया गया।'

'चिता से चित्पावन हुए अथवा कोंकणस्थों में अभिमानबुद्धि व्यक्त करानेवाली 'जिसका चित्त पावन, अर्थात् पवित्र हो वह चित्पावन है' ऐसी व्युत्पत्ति हो सकती है, परन्तु वास्तव में ये

---

१. Recent researches have discovered that the ancestors of the Kokanastha or Chitpavan Brahmins were probably same ship-wrecked foreigners, who were cast ashore at the foot of Sahyadri hills. The fourteen corpses of these foreigners were, accoding to a Hindoo legend, animated with life on a pyre or chita by Parashuram as mentioned in the Hindoo Purans. The colony of these Chitpavans was established at Chiplon. It seems that the ancestors of the Chitpavans did not enter Kokan by land but came in from far beyond the sea. Their fair complexion, their light and grey eyes, and the legend of their shipwreck corroborate the above statement. Some say that the ancestors of the tribe have probably come by ship either from Egypt or through Egypt, while others maintain that they are the descendants of Jews from Barbary, a province in Africa and that they came through Egypt.

दोनों प्रकार के शब्दसाधन कल्पनामात्र ही है'[१]।

इस प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि चितपावन ब्राह्मण मिस्रदेशनिवाशी यहूदी हैं। ये वहाँ से दक्षिण देश में आये और ब्राह्मण बन गये। यद्यपि ब्राह्मण बन गये, परन्तु उस समय किसी ब्राह्मण ने इनको ब्राह्मण नहीं माना, क्योंकि इनका आचार-व्यवहार बहुत नीच था। ये अपने कुत्सित और नीच व्यवहार का प्रचार भी करने लगे, इसलिए दक्षिण में बहुत बड़ा कोलाहल मचा और तुरन्त ही वहाँ के निवासियों की एक बड़ी सभा द्वारा कनारी भाषा में 'अफ्रीका खण्डद इजिप्तदेश दिन्द बन्दिरुव इजिप्तवान जिप्तवान या चितपावन एवं जातिय निर्णयवु', अर्थात् ये अफ्रीका खण्ड के इजिप्त देश के रहनेवाले हैं, इसीलिए इनको इजिप्तवान या जिप्तवान अथवा चितपावन कहते हैं, इस शीर्षक का एक विस्तृत घोषणापत्र निकाला गया और उसमें लिखा गया कि 'चितपावन जाति के सम्बन्ध में अब तक चले हुए साद्यन्त काग़ज़-पत्रों को देखकर और ऐतिहासिक प्रमाणों तथा अन्य अनेक विषयों पर विचार करके इस सभा ने जो निष्पत्ति दी है, उसका अच्छी प्रकार अवलोकन करने से सिद्ध होता है कि चितपावन जाति भरतखण्ड की मूलनिवासिनी नहीं है। वह अफ्रीका देशान्तर्गत इजिप्ट प्रदेश की रहनेवाली है। इसके अतिरिक्त उनकी जाति के ही शोधकों के स्वीकार करने तथा सभा को भी वैसा ही प्रतीत होने से यही सिद्ध होता है कि वे लोग भारतवर्ष के निवासी नहीं हैं। भारतवर्ष के दश प्रकार के ब्राह्मणों का इनके साथ मिलकर रहना सदाचार के अनुकूल नहीं है। इन चितपावनों के बारे में अब तक कोई भी निश्चयात्मक निर्णय किसी की ओर से नहीं हुआ। चितपावनों की ओर से जो कुछ लिखा हुआ इस सभा में आया है, उसमें कुछ भी आधार नहीं है। आधार न होते हुए भी सबकी सम्मति लाने के लिए जो सभा की आज्ञा थी न तो वही लाई गई और न कोई आधार ही पेश किया गया। इसलिए इस सभा की ओर से यह घोषणा की जाती है कि इस चितपावनजाति के लोग अफ्रीक़ा खण्ड नामी द्वीप से आये हैं। चितपावन लोग भरतखण्ड के ब्राह्मणलोगों में मिल जाने और उनमें अधर्मी तथा स्वार्थी आचार-विचार फैलाने के लिए बड़ी-बड़ी नीच युक्ति-प्रयुक्ति से प्रयत्न कर रहे हैं,

---

१. सत्यशोधक लोक हे दक्षिणी ब्रह्मणांना, विशेषत: कोंकणस्थ ब्रह्मणांना, उद्देशून 'हेया भूमिं तले च नव्यहेतु पर के आहेत' असें हिणवण्याच्या बुद्धिने म्हणतात म्हणून त्यांचा कोणास राग येवो, परन्तु इतिहासदृष्ट्या ही गोष्ट कांहीं अगदीच खोटी नाहीं।

कोकणस्थां सम्बन्धाने खुद्द कै० विश्वनाथ नारायण मण्डलिकांनी १८६५ सालीं रॉयल एशियाटिक सोसाइटी-पुढे इंग्रेजी निबन्धांत असे कबूल केलें आहे कीं, चित्पावन ब्राह्मणांचे आद्य पूर्वज हे पर प्रान्तांतून जहाजांवर बसून आले खास, मग ते हिन्दुस्थानच्या किनार्यावरीलच एकाद्य दूरच्या बंदरांतून जहाजांवर चढले म्हणा, किंवा कोंकण पट्टीच्या पश्चिमेस अरबी समुद्रापलीकडे असलेल्या दक्षिण आफ्रिकेच्या किनार्यावरून चढले म्हणा! हिन्दुस्थानांत आल्यावर मग येथील पूर्वीच्या द्रविड ब्राह्मणसंघात—पंचद्रविडांत त्यांची गणना होऊँ लागली।

नवी वसाहत होते तेव्हांच तिच्ची वर्गवार रचना होऊँ शकते, या मुळे पद्धतिशीर ब्राह्मण वस्तीचे गांव कोंकणांत आढलतात। या वरूनच कोंकणांत कोंकणस्थ ब्राह्मण बहिरून येऊन वसाहत करून राहिले असें सिद्ध करण्यास मदत होते।

प्रो० कर्वे यांनी आपल्या आत्मवृत्ताच्या परिशिष्टांत मूळ मराठींत छापली आहे त्यांत जंगल तोडून वसतिक्षेत्र कसें सिद्ध केलें व कोणच्या पद्धती ने हेतूनें गांव कसा बसविला याचें मोठें मनोरंजक वर्णन आहे।

चिते पासून झालेला म्हणून 'चित्पावन' असें म्हणावें, किंवा कोंकणस्थाविषयी अभिमानबुद्धि व्यक्त करावयाची तर 'ज्यांचे चित्त पावन म्हणजे पवित्र ते चित्पान' अशी व्युत्पत्ति लढवितां येते, वास्तविक हें दोन्ही प्रकारचें शब्दसाधन काल्पनिक आहे। —लो० टिलक यांचे चरित्र

इसलिए भारतवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों को चाहिए कि इनकी नीच चातुरी को बड़े ध्यान और बारीकी से देखते रहें, अर्थात् उनके साथ मिलकर धर्म, कर्म, जाति और सत्य से भ्रष्ट न हों'[1]। इस प्रकार की चर्चा और प्रचार से महाराष्ट्र ब्राह्मणों के दो भेद हो गये। जो असल थे वे देशस्थ और जो बनावटी थे वे कोंकणस्थ कहलाने लगे। महाराष्ट्र में ये दोनों जातियाँ विद्यमान हैं और एक का दूसरी के साथ विवाह-सम्बन्ध प्रायः नहीं है। कोंकणस्थों ने ब्राह्मण बन चुकने पर राज्य लेने का प्रयत्न आरम्भ किया। अन्त में यही पेशवा नाम के राजा हुए और पूना शहर इनका अड्डा हुआ।

विदेशियों के तृतीय दल का आगमन

दक्षिण में चितपावनजाति से सम्बन्ध रखनेवाली एक तीसरी जाति और है जिसका नाम 'कह्राडे ब्राह्मण' हैं। ये भी बाहर के रहनेवाले हैं। विद्वानों का अनुमान है कि ये चीनदेश के रहनेवाले हैं। आगे के वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि ये चीन के ही हैं, क्योंकि हेमाद्रि में जिन चीना ब्राह्मणों की चर्चा है, वे यही हैं[2]। ये लोग नरबलि देनेवाले थे और अपने दामाद को भी विष देकर मार डालते थे। इनके विषय में लिखा है कि—

कह्लाडदेशनामा च दुष्टदेशः प्रकीर्तितः। सर्वलोकाश्च कठिना दुर्जनाः पापकर्मिणः।

अर्थात् कह्राड देश दुष्टदेश है। वहाँ के रहनेवाले कठिन, दुर्जन और पापी होते हैं।

इनके विषय में महाराष्ट्र देशवासियों की यह उक्ति प्रसिद्ध है कि 'कसाया चा विश्वास धरवेल पण कह्राड्याचा धरवणार नाहीं', अर्थात् क़साई का विश्वास करना, परन्तु कह्राडे का विश्वास नहीं करना। इनके विषय में प्रसिद्ध विद्वान् बालाजी विट्ठल गावस्कर कहते हैं कि 'मिस्टर बिलफ़र्ड और केंबेल का मत है कि ये लोग बारह सौ वर्ष पूर्व चीन से आये। यह बात मुझे भी सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि मनुष्य मारने की जो प्रथा उन देशों में है वही इनमें भी पाई जाती है। हेमाद्रि के श्लोकों में जिन चीनी ब्राह्मणों का वर्णन है वे यही कह्राडे ही हैं'[3]। इनके

---

१. चितपावन जातिय विषयवागि नडदिरुव रिकार्डनु साद्यंतवागि सभेय वरु विमर्शे माडिनोडिद्दायितु। मत्तु प्रातिवंदु विषयद मेलु विचार माडि सभेयवरु पट्टिरुव अभिप्रायवू नमगे सल्पट्टदें, इवु गळन्नु पर्यालोचीसलु चितपावन जातियु भरतखंडदल्लि आफ्रीका खंडद्देन्दु निर्णयवागिरुतदे। मत्तु अवर जातियवराद शोधकरु ओप्पिरुवन्ते इ सभेय वरिगू निज वागि कंडु बन्दद्दरिन्द भरतखंडद ब्राह्मणरल्लबेन्दु निर्णय वागिदे। ई आफ्रीकाखंडदवर संसर्गदल्लि भरतखंडद दशविधरु शेरिदूदु इरुवदु सदाचारक्के योग्य वागिदे।

ईं चितपावन जातिय विषय वागि इष्टु खंडितवाद निर्णयवु ईवरीगू यारिन्दलू माडल्पट्टिर लिल्ल। चितपावन-रिन्द ईग सभेगे वन्दिरुव जबाबिनल्लि निराधारवागिये यल्ल पट्टिरुत्ते। आधारवू इल्लदे होदरे यल्ला ब्राह्मणर संमति यन्नादरु कळुहिसबेकेन्दु सभेइन्द केळल्ल पट्टित्तु। अदरन्ते सम्मतियन्नु अथवा आधारवन्नु सुद्धा कलुहिस लिल्ल, आद्दरिन्द सभेयधरु विचार माडि चितपावन जातीयु आफ्रिकाखंड मुन्नाद द्वीपान्तरदिन्द बन्द्देन्दु निर्णइसल्ल पट्टित्तु। चितपावनरु भरखंडद ब्राह्मणरोळगे शेर बेकेंब असत्य साधन वन्नु माडुत्तारे, आदकारण भरतखंडद ब्राह्मणादि चातुर्वर्णदवरु इंथा असत्यक्के अवकाश उंटागदहागे दक्षते इन्द सत्य साधनवन्नु माड बेकागिरुत्तदे। सत्यमेव जयति नानृतम्।

२. **त्रिशंकून् बर्बरानान्ध्रान् चीनद्रविडकौकणान्। कर्णाटकांस्तथाभीरान् कलिंगांश्च विवर्जयेत्॥** —हेमाद्रि

३. हे लोक बहुधा चीनाहून सुमारें १२०० वर्षां पूर्वी आलेले असल्याबद्दल मि० बिलफर्ड, क्योंबल अशा शोधक यूरोपिअनांचे म्हणनें आढ़लतें, तें बर्याच अंशीं संभवनीय दिसते; कारण त्या देशांत असें क्रूर व नीच आचरण करणारे लोक बरेच आहेत, व तद्वत् च त्या कह्राड्यांनां मनुष्यांचा साक्षात् प्राण घेण्याची कांहींच पर्वा वाटत नाहीं, व मघां हेमाद्रीचा जो श्लोक सांगितला, पर अशापैकीं जे चीनीं ब्राह्मण सांगितले ते च हे कह्राडे होत।

विषय में रत्नागिरी गेज़ेटियर में भी लिखा है कि 'प्राचीन समय में वे कभी-कभी अपने दामादों, मुलाक़ात करनेवालों और अतिथियों को विष देकर अपनी देवी को इसलिए बलिदान देते थे कि वंशवृद्धि के लिए उनके सन्तान उत्पन्न हो'[१]। इस प्रकार की एक घटना का वर्णन मिडफ़र्ड नामी विद्वान् ने बड़ी ही विचित्रता के साथ किया है। वह लिखता है—

कम्पनी के राज्य में नरमेध अब तक गुप्त रीति से, परन्तु बहुतायत से प्रचलित है। दशहरा के उत्सव में कह्राडे लोगों का जो यज्ञ होता है वह नरमेध कहलाता है। डॉक्टर कॉलियर ने मुझसे नीचे लिखी हुई घटना कही है जो गत पेशवा के पिता बालाजी बाजीराव के समय ख़ास पूना में हुई थी। यह असाधारण बात बतलाती है कि किस प्रकार प्रत्येक पवित्र मनोभाव अत्यन्त क्रूर धर्मान्धता के तीर्थ में अपवित्र किये जाते थे। एक दिन एक कह्राडे ने अपने दरवाज़े से एक मुसाफ़िर को सामनेवाले कुएँ पर बैठा हुआ देखा और सोचा कि आनेवाले दशहरा में बलि देने के योग्य यह अच्छा शिकार है। उसने उस मुसाफ़िर को अपने घर बुलाया और बहुत कुछ कह-सुनकर घर में ठहरा लिया। कुछ दिन के बाद उस मुसाफ़िर ने अपना आदर-आतिथ्य करनेवाले गृहस्वामी से छुट्टी लेकर अपने घर जाना चाहा, परन्तु दशहरा दूर होने से और उसको शंकाहीन करने के अभिप्राय से कह्राड़े महाशय ने उसका ब्याह अपनी लड़की के साथ कर दिया। मुसाफ़िर को अन्धा बनाने के लिए यह उपाय पर्याप्त था। यात्री फँस गया और यात्री का ससुर अपना दुष्ट हेतु सिद्ध करने के लिए दशहरा के उत्सव की राह देखने लगा, परन्तु उसकी लड़की अपने इस बलिपशु पति को बहुत ही चाहती थी। जब बलि का समय आ गया, सब तैयारी हो गई, उसके पिलाने के लिए ज़हर का प्याला भी बन गया और उस स्थान में जाने का अवसर भी आ गया जहाँ उसका गला काटकर भवानी के चरणों में उसका शरीर अर्पण होनेवाला था, जिससे बलिदाताओं का कल्याण हो, तब उसकी स्त्री ने वह ज़हर का प्याला बदल दिया। फल यह हुआ कि वह पति के स्थान में भाई को पिला दिया गया।

इस घटना से सारा रहस्य खुल गया और अपराधी पकड़कर पेशवा की अदालत में लाये गये। पेशवा सरकार ने इनको सज़ा दी और इस सम्प्रदाय के समस्त व्यक्तियों को पूना से निकाल दिया[२]। महाराष्ट्र प्रान्त में कह्राड़े लोग अब तक बहुतायत से रहते हैं।

---

१. In former times they occasionally poisoned their sons-in-law, visitors and strangers as sacrifices to their goddess in the hope of securing offspring, Vansha-vridhi. —*Ratnagiri Gazetteer*

२. Human sacrifices are still common in the Compan's territories in India, although the practice is kept more secret. (One instant is cited here.)

On the festival of Dasara the Karharas's sacrifice is called Narmedha. Dr. Collier related to me the following story which took place in the time of Balaji Bajirav, the father of the late Peshva, in Poona itself; this extraordinary case exhibits the desecration of every hallowed sentiment and feeling at the shrine of the most atrocious superstition.

A Karhada sitting at his door, when he observed a Brahmin traveller sit down to rest at the well in front of his house, the thought struck him that this man would answer well as a victim at the next Dasahara, and he accordingly invited him to his house, and eventually induced him to remain as his guest; after remaining a considerable time, the young man wished to take leave of his hospitable host. The festival was yet distant and the crafty Karhada, finding no other means of detaining him, and perhaps imagining he might be suspected, actually bestowed on him his daughter in marriage; this, besides blinding the eyes of his victim, was an effectual way of detaining him. The father-in-law only waited for the festival day to consummate his diabolical plot; however, there was a lady in the case, and what was more, she loved her new husband and was not inclined to part with him so easily.

When the heart is engaged it would be an insult to the most beautiful half of the creation to

विदेशियों के चतुर्थ दल का आगमन

इस चौथे आगमन में हम कई स्फुट जातियों का वर्णन करना चाहते हैं। इनमें अमेरिका के नाग, मद्र और बाह्लीक से असुर, मंगोलिया और तातार के मग, शक और हूण तथा यूनान (ग्रीस) के यवनों का समावेश है। इनके सिवा मिस्र-निवासियों और ईरान-वासियों का भी वर्णन है। भारतीय आर्यों के साथ इन जातियों का सम्मिश्रण वैवाहिक कारणों से ही हुआ है। यहाँवालों ने उपर्युक्त देशों की स्त्रियों के साथ विवाह करके, उन विवाहित स्त्रियों के भाई-भतीजों के साथ खान-पान और सम्मेलन करके उनकी जाति को आर्यों में घुसने का अवसर प्रदान किया।

चन्द्रवंशी क्षत्रिय सुन्दर स्त्रियों के साथ विवाह करके सुन्दर और बलवान् प्रजा उत्पन्न करने के बड़े अभिलाषी थे। इन्होंने जहाँ सुन्दर स्त्रियों को पाया वहीं शादी कर ली है। इसी आदत के वशीभूत होकर अर्जुन ने अमेरिका की उलोपी नामी स्त्री के साथ विवाह किया। उसके साथ अनेक पातालनिवासी नाग यहाँ आकर बस गये। यह पहला सम्मेलन नागों का है।

इसी प्रकार का दूसरा सम्मेलन मद्रों और बाह्लीकों का है। पाण्डु की एक शादी मद्रदेश में हुई थी। इसी से उनकी एक स्त्री का नाम माद्री था। माद्री का भाई शल्य कौरवदल की ओर से लड़ा था। एक दिन वह कर्ण का सारथी बना। उस समय कर्ण ने मद्रदेशवासियों के आचार की जो निन्दा की है वह महाभारत में लिखी है। उसमें से यहाँ थोड़ा-सा उद्धृत करते हैं। कर्ण कहता है—

पितापुत्रश्च माता च श्वश्रूश्वशुरमातुलाः। जामाता दुहिता भ्राता नप्ता ते ते च बान्धवा॥
वयस्याभ्यागताश्चान्ये दासी दासं च सङ्गतम्। पुंभिर्विमिस्त्रानार्यश्च ज्ञाताज्ञाताः स्वयेच्छया॥
येषां गृहेष्वशिष्टानां सक्तुमत्स्याशिनां तथा। पीत्वा सीधु सगोमांसं क्रन्दन्ति च हसन्ति च॥
यथा ब्रह्मद्विषो नित्यं गच्छन्तीह पराभवम्। तथैव सङ्गतिं कृत्वा नरः पतति मद्रकैः॥
वासांस्युत्सृज्य नृत्यन्ति स्त्रियो याः मद्यमोहिताः। तासां पुत्रः कथं धर्मं मद्रको वक्तुमर्हति॥
पापदेशज दुर्बुद्धे क्षुद्रक्षत्रियपांसुल। आपृच्छता मया राजन् बाह्लीके छाद्मशामितम्॥
तत्र वै ब्राह्मणो भूत्वा पुनर्भवति क्षत्रियः। वैश्यशूद्रश्च बाह्लीकः ततो भवति नापितः॥
नापितश्च पुनर्भूत्वा पुनर्भवति ब्राह्मणः। द्विजो भूत्वा तु तत्रैव पुनर्दासो व्यजायत॥
गान्धारा मद्रकाश्चैव बाह्लीकाश्चाप्यचेतसः। एतन्मया श्रुतं तत्र धर्मसंकरकारकाः॥

अर्थात् जहाँ स्त्री-पुरुषों में विवेक नहीं, सबसे सब मिलते हैं, जहाँ सत्तू के साथ मछली खाई जाती है, जहाँ लोग गोमांस खाते, शराब पीकर नाचते-हँसते हैं, और जहाँ के रहनेवालों का साथ करने से अधोगति होती है, उस देश का रहनेवाला तू नीच! क्षत्रियाधम! निर्बुद्धे! मुझे शत्रुओं की बड़ाई करके डराना चाहता है। मैंने सुना है कि वहाँ वर्णव्यवस्था की मर्यादा नहीं है। वहाँ कभी ब्राह्मण क्षत्रिय हो जाता है, कभी वैश्य, शूद्र, अर्थात् नापित हो जाता है और नापित

---

suppose that a woman could not outwit a priest. Every thing was arranged for the concluding scene; at a great banquet a narcotic or poisonous draught was to be administered, and the victim was to be carried before the idol of Bhawani, where his throat was to be cut, and his body afterwards buried at the feet of the idol to insure prosperity to his murderers for the ensuning year. The lady had for more pleasing prospects in view for him and on the day of the festival succeded in changing the poisoned cup, which fell to the lot of her brother, who was poisoned instead of the intended sacrifice; thus unexpected development caused an uproar and was the means of making the whole affair public, and bringing it before the Peshva, who punished the guilty individuals and banished the whole sect from Poona.

फिर ब्राह्मण हो जाता है। द्विज का दास और दास का द्विज हो जाता है। इस प्रकार इन गान्धार, मद्रक और बाह्लीक लोगों ने धर्म को संकर कर दिया है।

इन लोगों के इस वर्णन से वहाँ के अनाचार का पता लगता है और अनुमान करना सहज हो जाता है कि इनके सम्मेलन से आर्यों में ये दुर्गुण प्रविष्ट हो गये।

तीसरा मिश्रण मग, शक और हूणों का है। मग मंगोलिया देश के रहनेवाले हैं। बाबू उमेशचन्द्र विद्यारत्न ने लिखा है कि मग ब्राह्मण मंगोलिया के हैं। शाकद्वीपी ब्राह्मण अवध में विद्यमान हैं। अयोध्या के राजा साहब शाकद्वीपी ही हैं। ये अपने को मग कहते हैं। इनके इतिहास में लिखा है कि—

लवणोदात्परं पारे क्षीरोदेन समावृतः। जम्बूद्वीपात्परं तस्माच्छाकद्वीप इति श्रुतः॥
तत्र पुण्या जनपदश्चातुर्वर्ण्यसमाश्रिताः। मगाश्च मामगाश्चैव मानसामन्दगास्तथा॥
मगा ब्राह्मणभूयिष्ठा मामगाः क्षत्रियास्तथा। वैश्यास्तु मानसा ज्ञेया शूद्रास्तेषान्तु मन्दगाः॥
विवस्वतं पूजयन्तो धूपगन्धादिभिः शुभैः। अष्टादशकुलानीह मगानां वेदवादिनाम्॥
यास्यन्ति च त्वया सार्द्धं यत्र सन्निहितो रविः। —साम्बपुराण अ० २५

अर्थात् लवणसागर के पार, क्षीरसागर से घिरा हुआ और जम्बूद्वीप से दूर शाकद्वीप है। उस पुण्य राज्य में चारों वर्ण हैं। वहाँ मगब्राह्मण, मगक्षत्रिय, मगवैश्य और मगशूद्र बसते हैं। वे सूर्य की पूजा करते हैं। उनके अठारह कुल वेदपाठी हैं। यही शक हैं।

नवीन इतिहासकार इन्हीं को सिथियन कहते हैं[१]। हूण प्रत्यक्ष ही तातारी हैं। कलचुरी नामी क्षत्रियजाति के साथ हूणों का विवाह सम्बन्ध था। 'सरस्वती' अगस्त १९१४ में लिखा है कि रीवाँ राज्य में एक ताम्रपत्र मिला है। उसमें लिखा है कि कलचुरी राजा कर्ण ने (जिसने काशी का कर्णमेरु बनवाया है) तातारी हूणों को परास्त करके उनकी कन्या के साथ विवाह किया[२]। खत्रियों में और राजपूतों में हूण संज्ञा अब तक विद्यमान है।

चौथा मिश्रण यूनान के यवनों का है। यह ऐतिहासिक प्रसिद्धि है कि राजा चन्द्रगुप्त ने यूनानी सेल्यूकस की कन्या से शादी कर ली थी[३]। अनेक यूनानी पाटलिपुत्र (पटना) में रहा करते थे। फलित-ज्योतिष का इन्होंने ही यहाँ प्रचार किया है। इतिहास जाननेवालों का विचार है कि बहुत-से यवन हिन्दू बन गये हैं।

पाँचवा मिश्रण ईरानवालों का है। उदयपुर राज्य के राजा गोह की शादी ईरान के प्रसिद्ध बादशाह नौशेरवाँ की पौत्री के साथ हुई थीं। लोगों का विचार है कि ज़िला बस्ती के रहनेवाले

---

१. Seythia is only a corruption from Sakawastha or the abode of the Sakas.
—मानवेर आदि जन्मभूमि, पृ० १३

शाकद्वीपं च वक्ष्यामि यथावदिह पार्थिव॥ ८॥
तत्र पुण्या जनपदाश्चत्वारो लोकसम्मताः॥ ३५॥
मङ्गाश्च मशकाश्चैव मन्दगा मानसास्तथा। मङ्गा ब्राह्मणभूयिष्ठाः स्वकर्मनिरता नृप॥ ३६॥
—महाभारत [भीष्म० ११]

२. **पुत्रोऽस्य खड्गदलितारिकरीन्द्रकुम्भमुक्ताफलैः स्म ककुभोर्चति कर्णदेवः॥**
अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हूणान्वयजलनिधिलक्ष्म्यां श्रीमदावल्लदेव्याम्॥
—राजपूताने का इतिहास से उद्धृत

३. **चन्द्रगुप्तस्य सुतः पौरसाधिपतेः सुताम्। सुलूकस्य तथोद्वाह्य यावनीं बौद्धतत्परः॥**
—भविष्यपुराण [प्रतिसर्ग० १।६।४३]

कलहंस क्षत्रिय भी ईरान के ही रहनेवाले हैं।

छठा मिश्रण मिस्त्रनिवासियों का है। कहते हैं कि कण्व ने मिस्त्रदेश (ईजिप्ट) में जाकर वहाँ के दश हज़ार निवासियों को यहाँ का धर्म और भाषा सिखलाकर आर्य बनाया। पहले उनको शूद्रकोटि में रक्खा, फिर उनमें से कुछ को वैश्य बनाया और कुछ को क्षत्रिय। इस प्रकार से मिस्त्रनिवासियों का हिन्दुओं में सम्मिश्रण पाया जाता है। यह सारी कथा भविष्यपुराण में लिखी हुई है[१]।

इस संक्षिप्त वर्णन से इतना परिणाम निकालने में अब कोई बाधा प्रतीत नहीं होती कि संसार के प्राय: सभी प्रधान-प्रधान देशों के रहनेवाले लोग (जिनके आचार-व्यवहार, रीति-रस्म, खान-पान अवैदिक थे) आर्यों में मिल गये और उनके अनेक आचार-विश्वास धीरे-धीरे आर्यों में प्रविष्ट हो गये, अत: भारत के आर्य इस मिश्रण से आर्य न रहकर हिन्दू हो गये। मिश्रण सभी वर्णों में हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी विदेशियों के मिश्रण से मिश्रित हुए, परन्तु क्षत्रियों में इन विदेशियों का मिश्रण अधिकता से हुआ। ई०डबलू० थामसन 'हिस्ट्री आफ़ इण्डिया' में लिखते हैं कि 'इस अध्याय में हम विशेषकर राजपूतों का वर्णन करेंगे। राजपूत लोग विशेषकर उन मरु मैदानों और पहाड़ी प्रदेशों में रहते हैं जो सिन्धु और गङ्गा के बीच में हैं। उनके देश दक्षिण में नर्मदा तक फैले हुए हैं। वे भिन्न-भिन्न जातियों से सम्बन्ध रखते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन आर्यों की सन्तान हैं और कुछ सिथियन, हूण तथा द्रविड़ों के समूह में से भी हैं'[२]।

यद्यपि यही हाल ब्राह्मणों का भी है—उनमें भी द्रविड़, चितपावन, कहाडे, मग, शाकद्वीपी आदि अन्य देशीय जातियाँ पाई जाती हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है, परन्तु उनका मिश्रण वैसा नहीं है, जैसा होना चाहिए।

विदेशियों के पंचम दल का आगमन

इस आगमन में मुसलमान कहलानेवाली जाति से सम्बन्ध रखनेवाली लोदी, पठान, मुग़ल आदि जातियाँ सम्मिलित हैं। इनका इतिहास नया है। इनकी उत्पत्ति और भारत आगमन आदि का वृत्तान्त सबको ज्ञात है। इनके अत्याचार और कठोर शासन, लूट और साहित्य-विध्वंस की कथा भी सब जानते हैं। इन्होंने हिन्दुओं को बलात् मुसलमान बनाया यह बात भी प्रसिद्ध है। हम यहाँ इनमें से एक का भी वर्णन नहीं करना चाहते। हम तो यहाँ केवल इसी बात की चर्चा करना चाहते हैं कि इनका आर्यों में प्रवेश किस प्रकार हुआ। हिन्दुओं में इनका प्रवेश होना अनेक ऐतिहासिक घटनाओं से सिद्ध है। यह प्रसिद्ध है कि स्वामी रामानन्द ने अयोध्या में सैकड़ों मुसलमानों को हिन्दू बनाया था। भविष्यपुराण प्रतिसर्गपर्व अध्याय २१ में लिखा है कि रामानन्द का शिष्य अयोध्यापुरी में गया और म्लेच्छों के मन्त्रप्रभाव को उलटा करके उन सब मुसलमान हुए हिन्दुओं को फिर वैष्णव धर्म में प्रविष्ट कर दिया। उनके माथे में त्रिशूल की शकल का तिलक

---

१. **सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिस्त्रदेशमुपाययौ। म्लेच्छान् संस्कृत्य चाभाष्य तदा दशसहस्त्रकान्॥ १५॥**
सपत्नीकांश्च तान् म्लेच्छान् शूद्रवर्णाय चाकरोत्॥ १६॥
द्विसहस्त्रास्तदा तेषां मध्ये वैश्या बभूविरे॥ १७॥
तेषां चकार राजानं राजपुत्रं पुरन्दरम्॥ १९॥ —भविष्यपुराण [प्रतिसर्ग० ४। २१। १५-१९]

२. In this chapter we must deal chiefly with the Rajputs. The Rajputs are the tribe and clans who live in the deserts, mountains, ranges and valleys that lie between the Ganges and Indus. Their country reaches southward almost as far as Narmada. They belong to several races. Some of the clans; may be descended from the old Aryan chieftains, others are sprung from the Sythian and Hun invaders, while others again are probably Dravidian tribesmen. —*History of India* by E. W. Thomson.

देकर, गले में तुलसी की माला पहिनाकर और मुख में रामनाम का मन्त्र डालकर सुन्दर वैष्णव बना दिया। सब मुसलमान रामानन्द के प्रभाव से श्रेष्ठ आर्य बन गये और अयोध्या में रहने लगे[१]।

इसके अतिरिक्त हिन्दुओं के साथ मुसलमानों के अनेक सम्बन्ध हुए। 'चाँद' नामक हिन्दी मासिक पत्र में डाक्टर ताराचन्द के 'विधवाविवाह' लेख के आधार पर 'गुणसुन्दरी' नामक गुजराती पत्र के सम्पादक ने वर्ष १ अंक १ में एक नोट लिख दिया है। उस नोट में लिखा है कि 'सवाई माधवराव की शादी में सब सरदारों को निमन्त्रण दिया गया और हिन्दू-मुसलमानों ने एक ही जगह पर बैठकर भोजन किया तथा पेशवा बाजीराव ने हैदराबाद के नवाब की कन्या 'मस्तानी' के साथ विवाह किया'[२]।

इस घटनाओं से इस बात का दिग्दर्शन हो गया कि मुसलमान हिन्दू बने और उनकी लड़कियों के साथ विवाह हुए तथा उनके साथ पंक्तिभोजन हुआ। यह सब-कुछ करनेवाले वही ब्राह्मण और क्षत्रिय हैं जो हिन्दूजाति के अगुवा समझे जाते हैं। इनके अतिरिक्त रसखान आदि अनेक मुसलमानों ने हिन्दू साधु होकर हिन्दूसमाज में प्रवेश किया। इस तरह से मुसलमान तत्त्व का हिन्दूसमाज में प्रविष्ट होना इस बात की सिद्धि का प्रबल प्रमाण है कि हिन्दुओं की प्राचीन आर्यता की जड़ हिलाने में इसने भी कम काम नहीं किया।

विदेशियों के षष्ठम दल का आगमन

छठा और अन्तिम आगमन यूरोप-निवासी ईसाइयों का है। इन्होंने इस देश में आकर कहाँ तक राजनैतिक और व्यापारिक हानि पहुँचाई है इसका वर्णन हम यहाँ नहीं करना चाहते। हम तो आगे यही दिखलाने का यत्न करेंगे कि इनके द्वारा हमारी नैतिक, धार्मिक, सामाजिक और साहित्यिक क्या-क्या हानियाँ हुई हैं तथा हमारे आर्यत्व के नष्ट करने में इनका आगमन भी कहाँ तक सफल हुआ है। इनका सम्मिश्रण भी हममें हो रहा है। सैकड़ों यूरोपीय गौरांग महिलाएँ आर्यों के घर पवित्र कर रही हैं और मद्य-मांस से उनके पितरों का सत्कार कर रही हैं। जिन घरों में इनका प्रवेश है वे घर, उन घरों के पड़ोसी और वह पड़ोसी समाज जिसके वे एक अङ्ग हैं इनकी छूत से कैसे पवित्र रह सका होगा? हमें तो यही प्रश्न चकित कर रहा है।

यहाँ तक हमने आदिमकाल से लेकर वर्त्तमान समय तक उक्त छह अनार्य प्रवेशों में दस-बारह जातियों का सम्मिश्रण बतलाया। साथ ही प्रविष्ट हुए लोगों के विश्वास, रीति-रिवाज और कर्म-धर्म भी लिखे। इससे सहज ही जाना जा सकता है कि इनके मिश्रण से आर्यों में भी इनके गुण-दोषों का सम्मिश्रण हुआ होगा और आर्यों के पतन का कारण बना होगा। आगे थोड़ा-सा आर्यों के पतन के प्रधान कारण मिश्रित दर्शन का वर्णन करते हैं।

सम्प्रदायप्रवर्तन और आर्यसाहित्यविध्वंस

इस देश की धार्मिक अवस्था को देखकर यह बात ध्यान में आये बिना नहीं रह सकती कि हिन्दू आर्यजाति का धर्म अव्यवस्थित है, उसकी कोई सङ्गति नहीं है। पशुहिंसा, मद्यपान,

---

१. **रामानन्दस्य शिष्यो वै चायोध्यायामुपागतः। कृत्वा विलोमं तं मन्त्रं वैष्णवांस्तानकारयत्॥ ५२॥
भाले त्रिशूलचिह्नं च श्वेतरक्तं तदाभवत्। कण्ठे च तुलसीमाला जिह्वा राममयी कृता॥ ५३॥
म्लेच्छास्ते वैष्णावाश्चासन् रामानन्दप्रभावतः। संयोगिनश्च ते ज्ञेया रामानन्दमते स्थिताः॥ ५४॥
आर्याश्च वैष्णवा मुख्या अयोध्यायां बभूविरे॥ ५५॥** —भविष्यपुराण [प्रतिसर्ग० ४।२१।५२-५५]

२. 'सवाई माधवराव ना विवाह मां वधा सरदारोने नोतरूँ देवायुं अने मराठा तथा मुसलमान एकज स्थान पर बेसीने जम्या। पेशवा बाजीरावे हैदराबादना नवाबनी कन्या मस्तानी साथे लग्न कर्युं।'

स्त्रीसमर्पण, गुप्तेन्द्रियपूजन, वामियों का व्यभिचार, जगन्नाथपुरी की चित्रशाला, यज्ञों में पशुवध, गोवध, ब्राह्मणवध और कुमारीवध आदि उत्पातों का वर्णन देखकर एकाएक ऐसी शंकाएँ उत्पन्न होने लगती हैं कि क्या आर्यों में सभ्यता का प्रचार बिलकुल नहीं था ? क्या वे निरे जंगली ही थे ? क्योंकि जहाँ विश्वामित्र, पराशर आदि व्यभिचारी हों, जहाँ राजा रन्तिदेव के घर हज़ारों गौओं का प्रतिदिन वध हो, शिव और कृष्ण व्यभिचार करें, इन्द्र और चन्द्रमा ऋषि-पत्नियों के साथ मुँह काला करें, एक-एक स्त्री के बाईस-बाईस बार विवाह हों, तिसपर भी तुर्रा यह कि यह सब अनाचार और अत्याचार करते हुए भी वे लोग ऋषि, मुनि, परमेश्वर, ईश्वरावतार और देवता कहलाते रहें और उनकी बड़ाई के पुल रात-दिन बाँधे जाएँ, ऐसी दशा में उन पुरातन हिन्दुओं के जंगली होने में सन्देह ही क्या है ? निश्चय ही वे जङ्गली और असभ्य थे। उनका इतिहास ही उन्हें असभ्य और जङ्गली बता रहा है। हिन्दू साहित्य को देखकर कोई भी मनुष्य बिना ऐसा विचार किये रह ही नहीं सकता।

जो लोग कहते हैं कि पराशरजी कुहरा पैदा कर देते थे, विश्वामित्र ने नई सृष्टि बना दी थी और कृष्ण ने गोवर्धन उठा लिया था, इसलिए सामर्थ्यवान् होने से उनको दोष नहीं लगता, वे लोग मानो उनकी बुराई को पक्का कर रहे हैं और यह सिद्ध कर रहे हैं कि मांसाहारी, व्यभिचारी और शराबी भी सिद्ध, योगी और अवतार या महात्मा होते हैं और मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। क्या कभी व्यभिचारी, मांसाहारी, शराबी, पतित और भ्रष्ट मनुष्य ऋषि, मुनि, देवता और अवतार हो सकता है और सिद्धि प्राप्त कर सकता है ? कभी नहीं, क्योंकि सिद्धि तो योग से प्राप्त होती है और योग का आरम्भ ही अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य आदि से होता है। अहिंसा, योग और सिद्धि आदि का विस्तृत वर्णन योगशास्त्र में पतञ्जलि मुनि ने कर दिया है, अत: सोचना चाहिए कि जब बिना उक्त पापकर्मों का त्याग किये योग में प्रवेश ही नहीं हो सकता और जब साधारण सिद्धियों तक पहुँच ही नहीं हो सकती तब भला पतित कर्म करते हुए इस क्षुद्र मनुष्य को ऋषित्व, देवत्व और परमेश्वरत्व कैसे प्राप्त हो सकता है ? इस विचार से स्पष्ट हो जाता है कि ऋषि-मुनि कुमार्गी न थे। कुमार्गी और पापी मनुष्य ऋषि, मुनि, देवता आदि हो ही नहीं सकता। वह इस प्रकार की उन्नति कर ही नहीं सकता, जिस प्रकार की उन्नति आर्य ऋषियों ने याज्ञिक काल में की थी, इसलिए इस प्रकार के वर्णनों और इस प्रकार की अधोगति का कारण विदेशियों का सम्मेलन ही है—दार्शनिक मिश्रण ही है—वेद और वैदिक ऋषि नहीं।

गत पृष्ठों के वर्णन से यह ज्ञात हो चुका है कि पृथिवी के भिन्न-भिन्न देशों से अनेक जातियाँ भारत में आकर आर्यों में मिल गई हैं। साथ ही यह भी ज्ञात हो गया है कि उनके आचार व्यवहार और चरित्र कैसे थे। अब आगे हम उनमें से केवल चार जातियों का साहित्य प्रचार दिखलाना चाहते हैं और बताना चाहते हैं कि किस प्रकार उन्होंने नवीन ग्रन्थ रचे, पुराने ग्रन्थों में प्रक्षेप किया, उनका अभिप्राय बदला और किस प्रकार शुद्ध आर्यों में अनेक सम्प्रदायों को प्रचलित करके अपना आचार-व्यवहार फैलाया। यहाँ हम सबसे पहले मद्रास प्रान्तनिवासिनी द्रविड़ जाति की साहित्यरचना दिखलाना चाहते हैं और बतलाना चाहते हैं कि उनके समिश्रण से किस प्रकार आर्यों की वैदिकता नष्ट हुई।

द्रविड़ और आर्य-शास्त्र

हम इसके पूर्व बतला आये हैं कि आस्ट्रेलिया से लङ्का होते हुए विदेशियों का एक दल आकर मद्रास प्रान्त में बस गया था। इस आगत दल का राजा रावण था। वह पण्डित और योद्धा होते हुए भी दुराचारी था। वह इस देश में राज्यकामना से आया था, परन्तु रामचन्द्र के द्वारा युद्ध

में मारे जाने के कारण उसकी राज्यश्री उससे और उसके वंशजों से सदा के लिए नष्ट हो गई। रामचन्द्र के पुत्र कुश ने कुशद्वीप के साथ इन तमाम देशों पर अधिकार कर लिया, इसलिए उनकी रही सही राज्यकामना भी लुप्त हो गई। इस प्रकार से राज्य और ऐश्वर्य को खोकर ये बचे हुए अनार्य अपने को हिन्दू कहने लगे और ऋषि पुलस्त्य तथा रावण का क्रम (वंशपरम्परा) जोड़कर कुछ लोग ब्राह्मण भी बन गये तथा अपने को आर्य बनाने के लिए आर्यजाति के मूलपुरुष वैवस्वत मनु को भी द्रविड़ बनाया। भागवत में लिखा है कि—

योऽसौ सत्यव्रतो नाम राजर्षिर्द्रविडेश्वरः। स वै विवस्वतः पुत्रो मनुरासीदिति श्रुतम्॥

अर्थात् सत्यव्रत नामी द्रविड़ राजा ही वैवस्वत मनु हो गया।

इस जाली लेख का यह अर्थ है कि आर्यों की उत्पत्ति द्रविड़ों से ही सिद्ध की जाए, परन्तु शतपथब्राह्मण में लिखा है कि '**उत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणम्**', * अर्थात् मनु का प्रादुर्भाव उत्तरगिरि हिमालय पर हुआ। इससे प्रकट है कि उत्तरनिवासी मनु का दक्षिणी द्रविड़ राजा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है और यह जाली कथा केवल आर्य बनने की अभिलाषा से ही लिखी गई है। इस एक ही कल्पित कथा से सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने आरम्भ से ही आर्य बनने की कैसी चेष्टा की है? इसके अतिरिक्त रावण ने अपने राक्षसी सिद्धान्तों को आर्यों में प्रचलित करके दोनों जातियों को एक करने का भी प्रयत्न किया। उसने वेदों का भाष्य[१] किया और उस भाष्य में वेदों का अभिप्राय बदलकर आसुरी सिद्धान्तों का प्रक्षेप किया, किन्तु अब वह भाष्य रावण के नाम से नहीं मिलता। रावण के नाम से एक भाष्य का कुछ अंश मिलता है, परन्तु वह उस रावण का भाष्य नहीं है। हाँ, द्रविड़ों में एक कृष्णवेद अब तक अवश्य चल रहा है, जिसमें प्राचीन रावण के भाष्य का अंश प्रतीत होता है। यद्यपि उसका भाष्य अब अलग नहीं मिलता, परन्तु उसका हिंसामय यज्ञ, सुरापान, मांसभक्षण, व्यभिचार, आर्यबलि, लिङ्गपूजन आदि धर्म जो वह मानता था, कृष्णवेद के साहित्य में लिखे हुए मिलते हैं, रावण इन्हीं धर्मों का माननेवाला था, क्योंकि चक्रदत्त नामक वैद्यक के ग्रन्थ में रावणसम्प्रदाय की बात रावण के ही नाम से लिखी है[२]।

इसमें मांस, मद्य और देवपूजा वैसी ही है जैसी वाममार्गियों की होती है। वाममार्ग के ग्रन्थों में रावण के पुत्र के नाम से 'मेघनाद उड्डीस' आदि अन्य ग्रन्थ भी प्रचलित हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि रावण के राक्षसी धर्म से ही वाममार्ग चला है और रावणकृत ग्रन्थों में उसी का वर्णन होना चाहिए। कृष्णवेद का समस्त तैत्तिरीय साहित्य इसी प्रकार के पतित विचारों से पूर्ण है। इसलिए कृष्णवेद में रावणभाष्य का बहुत बड़ा भाग विद्यमान है, इसमें सन्देह नहीं। यदि कोई इस बात से इन्कार करे तो उसे बताना चाहिए कि रावणादि अनार्यों का साहित्य कहाँ गया। हम तो कहते हैं कि वह सारा साहित्य इस तैत्तिरीय में ही समा गया है। हमारा यह अनुमान बहुत ही

---

१. लङ्काधिपति रावण ने वेद का कोई भाष्य नहीं किया। वेद का भाष्य करनेवाला काश्मीरी ब्राह्मण था। उसने ऋग्वेद के बहुत थोड़े-से अंश का भाष्य किया था। —जगदीश्वरानन्द

२. बलिं तस्य प्रवक्ष्यामि येन सम्पद्यते शुभम्। नद्युभयतटमृत्तिका गृहीत्वा पुत्तलिका कृत्वा शुक्लपुष्पं शुक्लसप्तध्वजाः सप्तप्रदीपाः सप्तस्वस्तिकाः सप्तवटकाः सप्तशष्कुलिकाः सप्तजम्बुडिका सप्तमुस्तकाः गन्धं पुष्पं ताम्बूलं मत्स्यं मांसं सुराग्रभक्तञ्च पूर्वस्यां दिशि चतुष्पथे मध्याह्ने बलिर्दातव्यः। ततः अश्वत्थपत्रं जलकुम्भे निक्षिप्य शान्त्युदकेन स्नापयेत्, रसेन सिद्धार्थकमेष शृङ्गनिम्बपत्रशिवनिर्माल्यैर्बालकं धूपयेत्। ओं नमो रावणाय, अमुकस्य व्याधिहनहनं मुञ्च मुञ्च ह्रीं फट् स्वाहा। एवं दिनत्रयं बलिं दत्त्वा चतुर्थे ब्राह्मणं भोजयेत् ततः सम्पद्यते शुभम्। —चक्रदत्त, बालरोगचिकित्सा।

* शत० १।८।१।६

स्पष्ट हो जाता है जब हम उस वेद की उत्पत्ति, उसके अन्दर की गड़बड़ और उसपर विद्वानों की सम्मति की ओर दृष्टि डालते हैं। उसकी उत्पत्ति के विषय में महीधर ने अपने यजुर्वेदभाष्य की भूमिका में लिखा है कि व्यास ने अपने वैशम्पायन आदि चार शिष्यों को यजुर्वेद पढ़ाया। उन चारों में से वैशम्पायन ने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य को भी पढ़ाया। एक दिन वैशम्पायन किसी कारण से क्रुद्ध होकर याज्ञवल्क्य से बोले कि तू हमारी सिखाई हुई विद्या त्याग दे। इसपर याज्ञवल्क्य ने वेद को उगल दिया। उस उगलन को वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने तीतर पक्षी होकर चुग लिया। वही यह तैत्तिरीय नाम का वेद है। इसके बाद याज्ञवल्क्य ने दुःखित होकर सूर्य के पास से जो दूसरा वेद सीखा वही शुक्ल यजुर्वेद कहलाया[१]। इस प्रकार बेसिर-पैर की एक गल्प (गप्प) रचकर तैत्तिरीय प्रचारकों ने तैत्तिरीयवेद, अर्थात् कृष्णयजुर्वेद का महत्त्व बनाया, परन्तु इसमें कोई महत्त्व की बात दिखाई नहीं देती। हम तो इसे बहुत ही नीच बात समझते हैं। वान्त सदृश इस ज्ञानजूठन की समता ईश्वरप्रदत्त अपौरुषेय ज्ञान के साथ कैसे हो सकती है? इस कल्पना से तो यही सूचित होता है कि तैत्तिरीयवेद बनावटी है। इसके बनावटी होने में अनेक हेतु हैं, परन्तु हम यहाँ दो चार ही प्रमाण उपस्थित करते हैं।

१. इस तैत्तिरीय कृष्ण यजुर्वेद के विषय में नये और पुराने सभी विद्वानों ने कहा है कि यह मलिन बुद्धि से रचा गया है, इसलिए यह द्रविड़ों का ही रचा हुआ है। वेदभाष्यकार महीधर कहते हैं कि '**तानि यजूंषि बुद्धिमालिन्यात्कृष्णा जातानि**', अर्थात् बुद्धिमालिन्य से कृष्ण यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई है। इसी प्रकार स्वामी विद्यारण्य कहते हैं कि '**बुद्धिमालिन्यहेतुत्वात् तद्यजुः कृष्णमीर्यते**', अर्थात् बुद्धि की मलिनता से वह यजुः 'कृष्ण' कहा गया है। यही सम्मति प्राचीन भाष्यकार द्विवेदाङ्ग की भी है। वे भी कहते हैं कि '**शुक्लानि यजूंषि शुद्धानि यद्वा ब्राह्मणेन मिश्रितमन्त्रकानि०**', अर्थात् शुक्ल यजुर्वेद शुद्ध है, परन्तु ब्राह्मणमिश्रित मन्त्रों के कारण कृष्णवेद अशुद्ध है। 'आर्यविद्यासुधाकर' में भट्ट यज्ञेश्वर कहते हैं कि '**यज्ञकर्मानुष्ठानमार्गस्य दुर्ज्ञेयत्वात् कृष्णत्वमिति**', अर्थात् यज्ञकर्म के अनुष्ठानमार्ग में दुर्ज्ञेयता उत्पन्न होने से ही उसको कृष्णत्व प्राप्त हुआ है। पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी 'निरुक्तालोचन' में लिखते हैं कि '**गुरुमुखतोऽधीताऽपि तत्परित्यक्ता प्राचीनतमा चरकाध्वर्युसंहितैर्वान्यैरान्ध्रादि देशीयैस्तित्तिर्यादि संज्ञकैर्गृहीता... एवं तत् तित्तिर्यादिभिर्मन्त्रब्राह्मणश्रुतयश्च पृथक्पृथगधीता अपि यज्ञकार्येषु तद् व्यवहारसौष्ठवं साधायितुं विमिश्रीकृता**', अर्थात् गुरुमुख से पढ़ी हुई और त्याग की हुई, अथवा तैत्तिरीयसंज्ञक आन्ध्रदिकों द्वारा ग्रहण की हुई चरकाध्वर्युसंहिता, जो मन्त्रब्राह्मणों का मिश्रण करके यज्ञसाधन के योग्य बनाई गई है, वान्त की भाँति मिश्रित होने से कृष्णवेद कही है।

इन सब प्रमाणों से प्रतीत होता है कि तैत्तिरीयसंहिता मन्त्रब्राह्मणों का मिश्रण करके आन्ध्रादिकों के द्वारा तय्यार की गई है, इसलिए आदि में इसके रावणरचित होने में अधिक सन्देह नहीं रहता।

२. ऊपर जितने प्रमाण दिये गये हैं उन सबसे यही प्रतीत होता है कि इस वेद में मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग का मिश्रण है, परन्तु प्राचीन संहिताओं के ब्राह्मण अलग-अलग हैं, मिश्रित

१. व्यासशिष्यो वैशंपायनो याज्ञवल्क्यादिभ्यः स्वशिष्येभ्यो यजुर्वेदमध्यापयत्। तत्र दैवात्केनापि हेतुना क्रुद्धो वैशम्पायनो याज्ञवल्क्यं प्रत्युवाच—मदधीतं त्यजेति। स योगसामर्थ्यान्मूर्तां विद्यां विधायोद्ववाम। वान्तानि यजूंषि गृह्णीतेति गुरूक्त्वा अन्ये वैशंपायनशिष्यास्तित्तिरयो भूत्वा यजूंष्यभक्षयन्। तानि यजूंषि बुद्धिमालिन्यात्कृष्णानि जातानि। ततो दुःखितो याज्ञवल्क्यः सूर्यमाराध्यान्यानि शुक्लानि यजूंषि प्राप्तवान्।
—महीधरकृत यजुर्वेदभाष्य

नहीं। ऋग्वेद का ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, साम का ताण्डय और छान्दोग्य तथा अथर्व का गोपथब्राह्मण अलग-अलग है, परन्तु तैत्तिरीय में यह बात नहीं है। इसकी संहिता के मन्त्रभाग में ब्राह्मणभाग और ब्राह्मणभाग में मन्त्रभाग मिला हुआ है। यही कारण है कि अब तक यह निर्णय नहीं हुआ कि तैत्तिरीय साहित्य में कौन-सा मन्त्रभाग है और कौन-सा ब्राह्मणभाग है। जितने तैत्तिरीय शाखा के माननेवाले ब्राह्मण हैं और अपने वेद का ज्ञान रखते हैं उतने ही प्रकार की बातें करते हैं। कोई किसी अंश को मन्त्र कहता है और कोई किसी भाग को ब्राह्मण कहता है। यही कारण है कि उस वेद की मन्त्रसंख्या का पता नहीं है। मन्त्रसंख्यासम्बन्धी उनका प्रसिद्ध श्लोक यह है—

अष्टादशसहस्राणि मन्त्रब्राह्मणयोः सह।
यजूँषि यत्र पठ्यन्ते स यजुर्वेद उच्यते॥

अर्थात् मन्त्रब्राह्मण के साथ जहाँ अठारह हज़ार यजुः पढ़े जाते हैं, वही यजुर्वेद कहलाता है।

इसमें मन्त्रब्राह्मण की संयुक्त संख्या अठारह हज़ार बतलाई गई है और समस्त संख्या यजुर्वेद की कही गई है, परन्तु कहीं भी आज तक किसी ने यजुर्वेद को ब्राह्मण नहीं कहा और न ब्राह्मण को ही यजुर्वेद कहा है। इसलिए उक्त संख्या शुद्ध यजुर्वेद की नहीं है। शुद्ध यजुर्वेद की मन्त्रसंख्या इस संख्या से बहुत कम है। शुद्ध यजुर्वेद की मन्त्रसंख्या के लिए स्पष्ट लिखा है कि—

द्वेसहस्त्रे शतन्यूनं मन्त्रे वाजसनेयके।

अर्थात् यजुर्वेद के १९०० मन्त्रों का द्रष्टा वाजसनेय ऋषि है।

इस प्रकार से शुद्ध यजुर्वेद की समस्त मन्त्रसंख्या केवल १९०० है। कहाँ सौ कम दो हज़ार और कहाँ अठारह हज़ार? कुछ ठिकाना है, कितना बड़ा मिश्रण किया गया है? इन दोनों संख्याओं के मिलान से ही ज्ञात होता है कि कृष्णयजुर्वेद रावणादि द्रविड़ों का ही बनाया हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

३. वैदिकों की सनातन मर्यादा के अनुसार यज्ञ कराने के लिए चार विद्वानों की आवश्यकता होती है। ये चारों विद्वान् एक-एक वेद के ज्ञाता होते हैं। इनके पद का काम इस प्रकार होता है कि '**ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्युः, सामवेदेनोद्गाता, अथर्वैर्वा ब्रह्मा**', अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, साम से उद्गाता और अथर्व अथवा चारों वेदों से ब्रह्मा होता है। इसी मर्यादा के अनुसार पूर्वकाल में जब राजा हरिश्चन्द्र ने यज्ञ किया था उस समय उनके यज्ञ में विश्वामित्र, जमदग्नि, अगस्त्य और वसिष्ठ आदि चार ही ऋषि क्रम से चारों पदों पर नियुक्त हुए थे। इसी प्रकार जब धर्मराज युधिष्ठिर ने यज्ञ किया था तब उसमें भी याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, ब्रह्मदेव और व्यास आदि चार ही ऋषि चारों कार्यों पर नियुक्त हुए थे, परन्तु इस सनातन वैदिक मर्यादा के विरुद्ध इस तैत्तिरीय साहित्य में उक्त चार कार्यकर्ताओं के स्थान में केवल एक चरक नामक आचार्य की ही योजना बतलाई गई है, यह कितनी बड़ी अनार्यता है?

पुराणों में जितने यज्ञों का वर्णन है उन सबमें यजुर्वेद से अध्वर्यु की ही योजना पाई जाती है। विष्णु और वायुपुराण के देखने से ज्ञात होता है कि जन्मेजय के दोनों यज्ञों में शुक्ल यजुर्वेद से अध्वर्यु की ही योजना हुई थी और धर्मराज के यज्ञ में याज्ञवल्क्य की ही योजना हुई थी। यदि प्राचीन काल में चरक की योजना का नियम होता तो जिन याज्ञवल्क्य आदि के द्वारा इस तैत्तिरीय वेद की उत्पत्ति बतलाई जाती है उन्हीं के समय में उन्हीं के साथ चरक की नियुक्त होती, परन्तु

वहाँ चरक का कहीं पता नहीं मिलता। चरक की आर्यसमाज में नियुक्ति ही नहीं है। चरक तो अनार्य जाति का आचार्य है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि **'मद्रेषु चरकाः पर्यव्रजाम'** अर्थात् चरक तो मद्र देश के घूमनेवाले हैं। कर्ण ने भी मद्रों की निन्दा की है, अतः मद्य, मांस, व्यभिचार करने का प्रचार करनेवाले यही हैं, इसीलिए यजुर्वेद ३०।१८ में लिखा हुआ है कि **'दुष्कृताय च चरकाचार्यम्'**, अर्थात् दुष्ट कर्म करनेवालों को चरकाचार्य कहते हैं। अतएव चरक को महत्त्व देनेवाला यह तैत्तिरीयवेद निश्चय ही दुष्कर्मी विदेशियों का, असुरों का—रावण का—द्रविड़ों का बनाया हुआ है, इसमें सन्देह नहीं।

४. पूर्वकाल में जब वेदों का पठन-पाठन था, उस समय ऋषियों ने वेदों के पठन-पाठन करने की कई एक विधियाँ निर्धारित की थीं। उन विधियों को शाखाभेद कहा करते थे। शाखाभेद के प्रवर्तक ही गोत्रप्रर्वतक होते थे। जो विद्यार्थी जिस शाखा का अध्ययन करता था वह अपने को उसी शाखा और उसी शाखा के प्रवर्तक ऋषि के गोत्र को कहता था, इसलिए उस समय में एक-एक वेद की अनेक शाखाएँ और अनेक गोत्र हो गये थे और अनेक ब्राह्मण अनेक शाखाओं और अनेक गोत्रों में विभक्त हो गये थे, परन्तु इस तैत्तिरीयवेद की कोई भी भिन्न शाखा नहीं थी, न इनके कोई नवीन गोत्र ही बने थे, इसलिए द्रविड़ों में शाखाभेद नहीं पाया जाता। शाखाभेद के लिए उनके यहाँ उसी तैत्तिरीयवेद के तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा है कि—

अस्याः शाखाभेदेनानुवाकसंख्याभेदो वर्तते।
तत्र द्राविडैरस्याश्चतुःषष्टिसंख्याकानुवाकाः पठ्यन्ते।
आन्ध्रैरस्याशीत्यनुवाकाः। कर्णाटकैश्चतुःसप्तत्यनुवाकाः।
अन्यैरेकोननवत्यनुवाकाः परिपठ्यन्ते।

अर्थात् इसमें शाखाभेद के स्थान में अनुवाकों की संख्या का भेद रक्खा गया है। इस तैत्तिरीयवेद के ६४ अनुवाक द्रविड़ों के, ८० आन्ध्रों के, ७४ कर्णाटकों के और ८९ अन्य तैलङ्गादिकों के हैं।

इस प्रमाण से यह स्पष्ट हो गया कि इस वेद की शाखाएँ नहीं हैं। साथ ही यह भी सिद्ध हो गया कि यह समस्त वेद इन्हीं में चरितार्थ है और इस वेद का आर्यजनता से कुछ सम्बन्ध नहीं है। हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं कि किसी भी आर्षब्राह्मण की शाखा तैत्तिरीय कृष्णवेद नहीं है, इसलिए यह वेद इन्हीं का या इनके पूर्वाचार्य रावणादि का बनाया हुआ है। इसके अतिरिक्त समस्त द्रावड़ों के वही गोत्र हैं जो अन्य शुद्ध ऋग्वेदी, यजुर्वेदी, सामवेदी ब्राह्मणों के हैं। क्या कारण है कि तैत्तिरीय से सम्बन्ध रखनेवाला कोई गोत्र नहीं है? कारण स्पष्ट है कि तैत्तिरीय का किसी ऋषि-मुनि से सम्बन्ध नहीं है। वह रावणादि द्रविड़ों की रचना है और उन्हीं के लिए है, क्योंकि मनुस्मृति में लिखा है कि **'यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्'**[1], अर्थात् मद्य-मांस आदि राक्षसों के ही खाद्य-पेय पदार्थ हैं। उधर चारवाक कहता है कि **'मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्'**, अर्थात् वेदों में मांसाहार निशाचरों का मिलाया हुआ है। इधर हम देख रहे हैं कि रावणादि राक्षस मद्य-मांसभक्षी थे, अतः वेदों के नाम से मद्य-मांस का प्रचार उन्हीं का किया हुआ है। आगे हम इस रावणादिकृत तैत्तिरीय साहित्य से मद्य-मांस की लीला भी दिखलाने का यत्न करते हैं।

कृष्णयजुर्वेद के तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि **'वाचे पुरुषमालभते'**। इसपर सायणाचार्य

---

१. मनु० ११।९५

भाष्य करते हुए लिखते हैं कि '**वाग्देवतायै पुरुषं पूरकं स्थूलशरीरमित्यर्थः**', अर्थात् वाणी के देवता के लिए पुरुष का वध करे। उसी में फिर लिखा है कि '**ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभते**'। इस पर सायणाचार्य कहते हैं कि '**ब्राह्मणजात्यभिमानी देवस्तस्मै कंचित् ब्रह्मवर्चसयुक्तं ब्राह्मण-जातीयं पुरुषमालभते**', अर्थात् ब्राह्मण अभिमानी देवता के लिए ब्राह्मवचर्सयुक्त ब्राह्मण का वध करे। उसी ग्रन्थ में फिर लिखा है कि '**आशायै जामिम्**'। इसपर सायणाचार्य भाष्य करते हुए लिखते हैं कि '**आशायै अलभ्यवस्तुविषयतृष्णाभिमानिन्यै निवृत्तरजस्कां भोगयोग्यां स्त्रियमालभते**', अर्थात् अलभ्य वस्तु की तृष्णा के अभिमानी देवता के लिए जिस स्त्री का मासिक बन्द हो गया हो, उसका वध करे। उसी में फिर लिखा है '**प्रतीक्षायै कुमारीम्**'। इसपर सायणाचार्य कहते हैं कि '**प्रतीक्षायै लब्धव्यस्य वस्तुनो लाभप्रतीक्षणाभिमानिन्यै कुमारीमनूढां कन्यामालभते**', अर्थात् लब्ध प्रतीक्षावाले देवतों के लिए कुमारी जो अभी युवा नहीं हुई, उसका वध करे। इसके सिवा '**तैत्तिरीयापस्तंभहिरण्यकेशी**' नामी उसी की एक पुस्तक के काण्ड ६ प्र० १ अ० ८ में लिखा है कि '**पशूनेवावरुन्धे सप्तग्राम्याः पशवः सप्तारण्याः सप्तच्छन्दा ꣳस्युभयस्यावरुध्यै**', अर्थात् यज्ञ में गाय, घोड़ा आदि सात ग्राम्य पशु, काले हिरण आदि जंगली सात पशु, अथवा दोनों प्रकार के सात पशुओं की योजना करे।

फिर लिखा है कि '**आदद ऋतस्य त्वां देवहविः पाशेनाऽऽरभे०**'। इसपर सायण के भाष्य में है कि '**सावित्रेण रशनामादाय पशोर्दक्षिणबाह्वौ परिवीयोर्ध्वमुत्कृष्य आदद इति। दक्षिणोऽधःशिरसि पाशेनाक्ष्णया प्रतिमुच्य धर्षा मानुषानित्युत्तरतो यूपस्य नियुनक्ति दक्षिणात ऐकादशिनान् इति। अक्ष्णया परिहरति वध्य ꣳ हि प्रत्यञ्चं प्रतिमुञ्चति व्यावृत्यै**', अर्थात् '**देवस्य त्वां०**' इस मन्त्र से रस्सी लेकर '**तत्सवितु०**', इस मन्त्र से पशु की दक्षिण बाहु बाँधकर ऊपर खींचे, पश्चात् '**आदद०**' इस मन्त्र से रस्सी को सिर की ओर ले-जाकर दूसरे पैरों को बाँधकर पशु को अच्छी तरह जकड़ दे, जिससे हिले-डुले नहीं। इसके बाद लिखा है कि '**वज्रो वै स्वधितिः शान्त्यै पार्श्वत्०**'। इसके भाष्य में लिखा है कि '**वपोत्खेदनार्थं दक्षिणपार्श्वे छिन्द्यात्। शूलाग्रेणा वपां छिन्द्यात्**', अर्थात् उस पशु के चर्म को त्रिशूल से निकाले और शूल की नोक से चर्बी पृथक् करे। जब मांस इकट्ठा हो जाए तब '**सुकृतातच्छमितारः कृण्वन्तूत मेध ꣳ शृतपाकं पचन्तु**', अर्थात् शमिता (मांस को साफ़ करनेवालों) से मांस को साफ़ कराकर पकाया जाए और '**एतद्यज्ञस्य यादिडा सामिप्रश्नाति**', अर्थात् उस मांस से होम करके शेष मांस को खाया जाए।

इस तैत्तिरीय साहित्य में इस प्रकार से पशुहिंसा और मांसयज्ञ तथा मांसभक्षण की विधि का वर्णन है। इसी साहित्य में मद्य (शराब) बनाने और पीने की विधि का भी उल्लेख है। वहाँ लिखा है कि '**अन्नस्य वा एतच्छमलं यत्सुरा। यस्य पिता पितामहादि सुरां न पिबेत् स व्रात्यः**', अर्थात् दो प्रकार की मदिरा को मिलाकर पिये, क्योंकि जिसके पिता-पितामहादि सुरा नहीं पीते वे व्रात्य हैं—नीच हैं। इसके आगे मांस खाकर और मद्य पीकर फिर यजमान पत्नी के साथ क्या-क्या व्यवहार करना लिखा है, वह हम यहाँ नहीं लिखना चाहते।

इस प्रकार हमने इस तैत्तिरीय साहित्य से अच्छी प्रकार दिखला दिया कि उसमें द्रविड़ों ने अपने आचार-व्यवहारों का ख़ूब वर्णन किया है। इतना ही नहीं कि उन्होंने यज्ञों के नाम से केवल मद्य-मांस ही का प्रचार किया है, प्रत्युत उन्होंने वाममार्ग के समस्त अङ्ग-उपाङ्गों का प्रचार किया है। यह बात सबपर विदित है कि रावण लिंगपूजक था। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि—

यत्र तत्र च याति स्म रावणो राक्षसेश्वरः। जाम्बूनदमयं लिङ्गं तत्र तत्र स्म नीयते॥

—वा० रा० उत्तर० ३१।४२

अर्थात् रावण जहाँ-जहाँ जाता था, वहाँ-वहाँ सुवर्णमय लिंग ले-जाता था।

दूसरे स्थान पर लिखा है कि '**बालुकावेदिमध्ये तु तल्लिगं स्थाप्य रावणः**',[1] अर्थात् बालू की वेदी पर रावण ने लिंग की स्थापना की।

इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि वह लिङ्ग की पूजा करता था। उसकी जाति में यह रिवाज आज तक प्रचलित है। दक्षिण के कनाड़ी लोग सोने, चाँदी और पाषाण के लिङ्ग गले में डाले रहते हैं। इसी लिङ्गपूजा से ही शिवलिङ्ग की पूजा प्रचलित हुई है। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम० ए० 'भारतमीमांसा' के पृष्ठ ४५२ पर लिखते हैं कि 'ऐसा मानने के लिए अवकाश है कि लिङ्गपूजा बहुधा अनार्य लोगों में बहुत दिन से प्रचलित थी और आर्यों ने उस पूजा का शङ्कर के स्वरूप में अपने धर्म में समावेश कर लिया'।

इसी प्रकार 'भारतवर्ष का इतिहास' भाग १ पृष्ठ ६८ पर श्रीमान् मिश्रबन्धु लिखते हैं कि 'प्राचीन ग्रन्थों के अवलोकन से इतना अनुमान होता है कि ये अनार्य लोग भूत, प्रेत, पर्वत और वृक्ष आदि को पूजते थे। आर्यमत में रुद्र, काली आदि के पूजनविधान तत्कालिक अनार्य मत के छाया-से समझ पड़ते हैं', अत: यह स्पष्ट हो गया कि वामामार्ग का पूरा सामान अनार्य-जातियों से ही आया है, क्योंकि 'कुलार्णवतन्त्र' में लिखा हुआ है कि—

मद्यमांसविहीनेन न कुर्यात् पूजनं शिवे। न तुष्यामि वरारोहे भगलिङ्गामृतं विना॥

अर्थात् हे पार्वती! मद्य-मांस के बिना मेरी (शिव की) पूजा न करनी चाहिए। मैं बिना....के सन्तुष्ट नहीं होता।

यह घृणित पूजा आफ्रीका-निवासी प्राचीन सीरियन लोगों में प्रचलित थी। वहाँ से आये हुए रावणादि के चरित्र से भी यही बात पाई जाती है, इसलिए यह बात निर्विवाद हो गई कि आर्यों में वाममार्ग का प्रचार अनार्यों से ही आया है और इसी वाममार्ग को लेकर इन्हीं द्रविड़ों के द्वारा भारतदेश में अनेक अवैदिक मत-मतान्तर प्रचलित हुए हैं। यहाँ हम थोड़ा-सा मत-मतान्तर, अर्थात् सारे सम्प्रदायप्रवर्तन का इतिहास लिखते हैं और दिखलाते हैं कि भारतदेश में किस प्रकार ऐसे मत-मतान्तरों और सम्प्रदायों की प्रवृत्ति हुई और उससे आर्यजाति को हानि पहुँची।

सम्प्रदायप्रवर्तन

ऊपर हम यह दिखला आये हैं कि आस्ट्रेलिया-निवासी अनार्य लोग, अवसर पाकर द्रविड़ होकर ब्राह्मण बन गये और अपने देश तथा जाति के असभ्य और अनार्य आचार-विचारों को आर्यों में वेद, धर्म और यज्ञ आदि के नाम से प्रचलित किया। वही सब आचार-विचार पहले पड़ोसी देशों में और फिर उड़ीसा, बंगाल, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि में धीर-धीरे प्रचलित हुए, क्योंकि यह निश्चित बात है कि मनुष्यजाति यदि धर्म, शासन और सामाजिक बन्धनों से सीधे रास्ते पर न चलाई जाए तो वह पतित होकर, अनाचारिणी हो जाती है। विशेषकर ऐसी स्थिति में जब उसका धर्म और समाज स्वयं ही अधर्म और अनाचार को कर्त्तव्य तथा मोक्षप्रद मान ले, ऐसी दशा में उत्तम मनुष्यों के बिगड़ने में भी देर नहीं लग सकती। उत्तम मनुष्यों को बिगाड़नेवाले दुष्ट मनुष्य पहले स्वयं दिखाने को उत्तम बनते हैं और फिर धीरे-धीरे अपना दुष्ट स्वभाव उत्तम

---

१. वा०रा० उत्तर० ३१।४३

मनुष्यों में प्रविष्ट करते हैं। नवीन सिद्धान्त के प्रचार करनेवालों ने हमेशा से इसी रीति का अवलम्बन किया है। उनका सिद्धान्त है कि जिस जाति को अपने सिद्धान्त सिखलाने हों, उसकी भाषा में ऐसे-ऐसे ग्रन्थ लिखे जाएँ जिनमें तीन बातों का सम्मिश्रण हो।

पहली बात यह हो कि उस जाति के जो सिद्धान्त अपने प्रचार में बाधक न हों वे सब मान लिये जाएँ। उनकी प्रशंसा की जाए और विस्तार से उनका वर्णन किया जाए। दूसरी बात यह हो कि उस धर्म की सूक्ष्म बातें जो सर्वसाधारण की समझ में न आती हों उनका अभिप्राय बदलकर उसमें अपने मत की आवश्यक बातें मिश्रित करके गूढ़ भाषा में वर्णित की जाएँ और तीसरी बात यह हो कि साधारण बातों का खण्डन करके उनके स्थान में अपनी समस्त बातें भर दी जाएँ। ये तीनों बातें इस क्रम से डाली जाएँ कि पहली बात बहुत विस्तार से हो, दूसरी साधारण हो और तीसरी बहुत ही न्यून परिमाण में हो। इस प्रकार करने से एक जाति दूसरी जाति में अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर सकती है। ये सिद्धान्त इतने व्यापक और सच्चे हैं कि नवीन सिद्धान्तप्रवर्तकों को, यदि वे बुद्धिमान् हैं तो, काम में लाना ही पड़ता है। हम जिन-जिन जातियों का साहित्य-प्रचार इस प्रकरण में लिखना चाहते हैं यद्यपि उन सबने इस सिद्धान्त का अनुकरण किया है, तथापि यह बात द्रविड़ों के सिद्धान्तप्रचार में विशेषरूप से देखी जाती है। द्रविड़ों ने आर्यों के विश्वासों को इसी क्रम से बिगाड़ा है। यह बात आर्यों के दार्शनिक विषयों के अवलोकन से अच्छी प्रकार ज्ञात हो जाती है। उपनिषद्, गीता और वेदान्तदर्शन में अनार्य दर्शन का मेल बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है, अतः हम यहाँ इस प्रस्थानत्रयी की विस्तृत आलोचना करके दिखलाना चाहते हैं कि किस प्रकार आर्ष उपनिषदों में आसुर उपनिषदों का मिश्रण हुआ है।

हम गत पृष्ठों में लिख आये हैं कि पूर्वकाल में ही मद्रासप्रान्त में आस्ट्रेलिया, अफ्रीका और मेसोपोटामिया की हिट्टाइट जाति का जमाव हो गया था। इस जमे हुए द्रविड़दल में असीरिया और मिस्र के असुरों के ही-जैसे आचार और विचार अच्छी प्रकार भरे हुए थे, क्योंकि एक ही स्थान में उत्पन्न होने से इन सबके आचार-विचार एक-समान ही थे। उन विचारों में जो विचार दर्शनशास्त्र से सम्बन्ध रखते थे वही आसुर उपनिषद् कहलाते थे। इस आसुर उपनिषद् की चर्चा छान्दोग्य उपनिषद् में है। वहाँ लिखा है कि '**असुराणां ह्येषा उपनिषद्**', अर्थात् यह असुरों का उपनिषद् है। इससे प्रतीत होता है कि उपनिषदों में आसुर उपनिषद् का समावेश है। उपनिषदों में ही नहीं वह गीता और ब्रह्मसूत्रों में भी मिश्रित है। कहने का तात्पर्य यह कि उपनिषद्, गीता और वेदान्तदर्शन जिन्हें प्रस्थानत्रयी कहा जाता है कुछ अंशों में आसुरी विचारों से भरे हुए हैं। इस प्रस्थानत्रयी की आलोचना करने से पूर्व जान लेना चाहिए कि इसका यह नाम क्यों रक्खा गया है।

प्रस्थानत्रयी नाम बौद्धों के त्रिपिटक नाम की नक़ल है। जिस प्रकार बौद्धों के तीन प्रकार के साहित्य को त्रिपिटक कहते हैं, उसी प्रकार वेदान्त से सम्बन्ध रखनेवाले तीन प्रकार के साहित्य को प्रस्थानत्रयी कहते हैं और जिस प्रकार आसुर धर्म हटाने के लिए त्रिपिटक की योजना हुई थी उसी प्रकार आसुरधर्म की पुनः प्रतिष्ठा के लिए प्रस्थानत्रयी की योजना हुई है। त्रिपिटक बौद्ध साहित्य है, परन्तु वह साहित्य जिस प्राचीन साहित्य के आधार पर तय्यार हुआ है वह चारवाक का बार्हस्पत्य साहित्य है। आसुरी आचार का सबसे प्रथम खण्डन करनेवाला चारवाक ही हुआ है। उसी ने कहा है—

पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति। स्वपिता यजमानने तत्र कस्मान्न हिंस्यते॥

अर्थात् यदि यज्ञ में मारा हुआ पशु स्वर्ग को जाता है तो यजमान अपने पिता को मारकर स्वर्ग को क्यों नहीं भेज देता?

बृहस्पति कहता है कि '**मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्**'[१], अर्थात् वेदों में मांसाहार निशाचरों का मिलाया हुआ है, इसलिए वह कहता है कि '**त्रयो वेदस्य कर्तारः भण्डधूर्तनिशाचराः**'[२], अर्थात् उपर्युक्त प्रकार के मांस-मद्यविधानयुक्त तीनों वेद धूर्त और निशाचरों के बनाये हुए हैं। उसने केवल कहा ही नहीं प्रत्युत जिन वेदों में इस प्रकार की लीला है उनमें कहे हुए धर्म-कर्म आदि सभी शिक्षाओं का खण्डन करते हुए वह उनसे अलग हो गया और अलग होकर अपना एक सम्प्रदाय खड़ा कर दिया, जिसके द्वारा असुरधर्म का खण्डन होता रहा। इसी सम्प्रदाय के उपदेशों ने बौद्ध और जैन सम्प्रदायों की सृष्टि की। इनमें बौद्धों ने बड़ी उन्नति की। उनका मत समस्त भारतवर्ष में फैल गया और पाँच-छह सौ वर्ष तक धूम से प्रचलित रहा। इस बीच में जो कुछ साहित्य तैयार हुआ, वह तीन भागों में विभक्त किया गया और उसी का नाम त्रिपिटक रक्खा गया, किन्तु मद्रासप्रान्त में एक गोष्ठी थी, जो असुरधर्म का फिर से प्रचार करना चाहती थी। इस गोष्ठी का मूल प्रचारक वादरायण था। इसी की शिष्य और वंशपरम्परा में स्वामी श्री आदि शंकराचार्य का जन्म हुआ। 'The Age of Shankar' नामी ग्रन्थ के लेखक ने इस वंशपरम्परा के विषय में लिखा है कि वादरायण के शुक, शुक के गौड़पाद, गौड़पाद के गोविन्द और गोविन्द के शंकराचार्य हुए। शंकराचार्य के द्वारा जिस साहित्य का विस्तारपूर्वक प्रचार हुआ उसका मूल सम्पादक वादरायण ही था। वादरायण द्वारा सङ्कलित वेदान्तदर्शन प्रसिद्ध है। हमारा अनुमान है कि गीता और उपनिषदों में भी मिश्रण इसी गोष्ठी के द्वारा हुआ है। इस प्रकार से यह समस्त मिश्रित साहित्य तैयार हुआ और इसी मिश्रित साहित्य द्वारा श्रीशंकराचार्य ने प्रचार किया। उनके प्रचार से प्रभावित होकर कई राजाओं ने बौद्धों को नष्ट कर दिया। माधवाचार्यकृत 'शंकरदिग्विजय' में लिखा है कि उस समय राजाओं की आज्ञा थी कि हिमालय से लेकर समुद्रपर्यन्त बसे हुए आबालवृद्ध बौद्धों को जो न मारे वह मृत्युदण्ड के योग्य है[३]। इस सख़्ती का फल यह हुआ कि भारतवर्ष में बौद्धों का अभाव हो गया। इस प्रचार में सुविधा उत्पन्न करने के लिए शंकराचार्य ने पूर्वरचित साहित्य के तीनों विभागों का भाष्य कर दिया, अतः सभाष्य उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हो गये। हमारा दृढ़ विश्वास है कि यदि वेदों का कोई विरोधी है, यदि आर्यसमाज का कोई नाश करनेवाला है और यदि आसुरी भाव फैलाकर जाति का कोई पतन करनेवाला है तो वह प्रस्थानत्रयी का मिश्रण ही है। इसी की आड़ से देश में अनेक सम्प्रदाय, अनेक अनाचार और अनेक भ्रम फैले हुए हैं। आज तक श्रुति, स्मृति और दर्शन आदि गम्भीर शब्दों से प्रभावित होकर वृत्तान्त को जानते हुए भी किसी ने इन ग्रन्थों के विरुद्ध लेखनी नहीं उठाई। सबने अर्थ बदल-बदलकर अपनी बातों को सिद्ध करने की झूठी पैरवी की है, परन्तु अब वह समय नहीं है। हम चाहते हैं कि इस प्रस्थानत्रयी का भेद खोल दें और इन तीनों ग्रन्थों की वास्तविकता लोगों के सामने रख दें।

प्रस्थानत्रयी की पड़ताल

जिस समय वर्त्तमान प्रस्थानत्रयी का सम्पादन हुआ उस समय न तो यह रूप इन उपनिषदों का था और न गीता तथा व्याससूत्रों का ही। हमारा विश्वास है कि सनातन से संहिताओं के मन्त्रों को ही श्रुति कहा जाता था, क्योंकि सब लोग उन्हीं को आज तक सुनते-सुनते आ रहे हैं। उपनिषद् तो ब्राह्मणों के कतिपय भाग हैं, जो ऋषियों के बनाये हुए हैं। गीता में ही लिखा हुआ

---

१. सर्वदर्शन संग्रह, चार्वाक० २२ २. सर्वदर्शन संग्रह, चार्वाक० २१

३. **आसेतोरातुषाराद्रेर्बौद्धानां वृद्धबालकम्। न हन्ति यः स हन्तव्यो भृत्य इत्येव संनृपाः॥**

—शंकरदिग्विजय [१।९३]

है कि '**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्**'[१], अर्थात् अलग-अलग छन्दों में उपनिषदों को अनेक ऋषियों ने कहा है। यहाँ सब छन्द ब्रह्मसूत्रों में ग्रथित किये गये हैं। इस वाक्य से ही इन उपनिषदों की वास्तविकता प्रकट हो जाती है कि वे वेद नहीं प्रत्युत ऋषिप्रणीत ग्रन्थ हैं। शंकराचार्य स्वामी ने प्रायः सब प्रमाण इन्हीं उपनिषदों से ब्रह्मसूत्रों के भाष्य में उद्धृत किये हैं। जिस प्रकार उपनिषदें श्रुति बनाई गईं, उसी प्रकार गीता को स्मृति बनाया गया, परन्तु गीता को कभी किसी ने स्मृति कहीं नहीं कहा। प्राचीन समय की स्मृतियाँ मनु, याज्ञवल्क्य आदि हैं, परन्तु इनमें वे बातें वर्णित नहीं हैं, जिनकी आवश्यकता वादरायणगोष्ठी को थी। जिस प्रकार संहिता में आवश्यक बातों के न मिलने से उपनिषदें श्रुति बनीं, उसी प्रकार स्मृतियों में वे बातें न मिलने से स्मृति के लिए गीता ढूँढ निकाली गई और स्मृति बनाई गई। व्याससूत्रों में जहाँ स्मृति के प्रमाणों की आवश्यकता पड़ी है वहाँ श्रीशंकराचार्य ने गीता के ही श्लोक उद्धृत किये हैं। उस प्रकार इस नवीन श्रुति-स्मृति की सृष्टि करके सिद्धान्तों को दार्शनिक विचारों से पुष्ट करने के लिए ब्रह्मसूत्रों की रचना हुई। कहा नहीं जा सकता कि वेदव्यास का लिखा हुआ कोई सूत्रग्रन्थ था। यदि था तो उसमें बहुत थोड़े सूत्र थे। वर्त्तमान ब्रह्मसूत्रों के बहुत-से सूत्रों में तो केवल उक्त उपनिषद् और गीता में आये हुए शब्दों का स्पष्टीकरण ही है अथवा उन श्रुतियों पर दार्शनिक प्रभाव डाला गया है जो आसुर उपनिषद् से ली गई हैं। इस प्रकार प्रस्थानत्रयी बनी है। आगे हम उक्त तीनों ग्रन्थों का विस्तारपूर्वक वर्णन करके दिखलाते हैं कि इनमें किस प्रकार आसुर सिद्धान्त भरे हुए हैं और किस प्रकार उनको हिन्दुओं ने स्वीकार किया है।

उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्रों में मुख्य उपनिषद् ही हैं, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है कि कृष्ण भगवान् ने उपनिषद्रूपी गौओं को दुहकर गीतारूप दुग्ध अर्जुन को पिलाया और यह भी प्रसिद्ध है कि उपनिषदों में गाये हुए पद ही ब्रह्मसूत्रों में पिरोये गये हैं। तात्पर्य यह कि गीता और वेदान्तदर्शन सर्वथा उपनिषदों के आधार पर हैं, इसलिए उपनिषदों की ही आलोचना से यद्यपि दोनों की आलोचना हो जाती है, तथापि हम उपनिषदों के साथ-साथ थोड़ा बहुत गीता और ब्रह्मसूत्रों की भी आलोचना करते चलेंगे। ये उपनिषद् यों तो सैकड़ों हैं, परन्तु श्रीशंकराचार्य ने दश उपनिषदों पर ही भाष्य किया है। इससे इन दशों की मर्यादा अधिक मानी जाती है। इन दशों उपनिषदों में आसुर उपनिषद् का मिश्रण है। आसुर भाग वेदों की उपेक्षा करते हैं, ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं, यज्ञों के करनेवालों को गालियाँ देते हैं और अनाचार का प्रचार करते हैं। आगे हम इन समस्त बातों को एक-एक करके दिखलाएँगे और साथ-साथ गीता और उपनिषदों की भी पड़ताल करते चलेंगे। हमारी इस आलोचना के दो विभाग होंगे। पहले विभाग में गीता और उपनिषदों में मिश्रण दिखलाएँगे और फिर दूसरे विभाग में दिखलाएँगे कि यह मिश्रण असुरों का किया हुआ है। इस समालोचना के अन्त में ब्रह्मसूत्रों की जाँच करेंगे।

गीता और उपनिषदों में मिश्रण

जिन दश उपनिषदों पर श्रीशंकराचार्य ने भाष्य किया है उनमें सबसे प्रथम ईशोपनिषद् है। यह वाजसनेयी शुक्ल यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है और 'ईशावास्य' वाक्य से आरम्भ होता है, इसलिए ईशोपनिषद् कहलाता है। यह मूल संहिता में से लिया गया है, इसलिए उसका स्थान सर्वप्रथम है, परन्तु इसमें डेढ़ श्लोक की मिलावट की गई है। वेद में मन्त्र है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम्॥ —यजुर्वेद

१. गीता १३।४

परन्तु प्रचलित उपनिषद् में इसी मन्त्र के बीच में डेढ़ श्लोक मिलाया गया है। मिलाया हुआ डेढ़ श्लोक यह है—

तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।
पूषन्नेकर्षे यमसूर्यप्राजापत्यव्यूहरश्मीन् समूह।
तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि। —ईशोपनिषद्

कुछ लोग कहते हैं कि ईशोपनिषद् काण्वशाखा से ली गई है और ऊपरवाला डेढ़ श्लोक काण्वशाखा में है। हमने भी काण्वशाखा देखी है, उसमें यह डेढ़ श्लोक है, परन्तु यह डेढ़ श्लोक काण्वशाखा से नहीं लिया गया। हमारा तो अनुमान है कि यह काण्वशाखा में भी बाहर से ही आया है। इस समय यह बृहदारण्यक के ५।१५।१ में ज्यों-का-त्यों उपस्थित है। बृहदारण्यक उपनिषद् में आसुर उपनिषद् का अपरिमित मिश्रण है, इसलिए यह भी आसुर उपनिषदों से ही आया है, क्योंकि इसकी रचना भी विचित्र ही है। यजुर्वेद अध्याय ४० के जो अन्य मन्त्र हैं उनके छन्दों का वज़न बराबर और सही है, परन्तु यह तो गद्य-पद्य का एक विचित्र मिश्रण है, जो वाक्यरूप से लिख दिया गया है। इसका सम्मिश्रण क्यों किया गया है, इस बात पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो केवल मिश्रण ही दिखलाना है, जो इस डेढ़ श्लोक से स्पष्ट हो रहा है। इस मिश्रण में कितनी बड़ी धृष्टता है यह प्रत्यक्ष ही दिखलाई पड़ रहा है। जिस स्तोत्र का मूल—वेद विद्यमान है, जिस वेद के एक-एक अक्षर की गिनती विद्यमान है और जो वेद, वेदपाठियों को कण्ठ है, जब उसमें प्रक्षेप करने की हिम्मत पड़ गई तो वे लावारिस उपनिषद् जिनका मूल भी अब ब्राह्मणग्रन्थों में नहीं मिलता, किस स्थिति में होंगे, उनमें क्या-क्या मिलाया गया होगा और उस मिलावट में आसुर उपनिषद् की कितनी मात्रा होगी, कौन निर्णय कर सकता है? यद्यपि मिलावट ढूँढना कठिन है तो भी कुछ मिले हुए ऐसे स्थल हैं जिनके देखने से तुरन्त ही ज्ञात हो जाता है कि इनमें मिलावट है। यहाँ हम दो एक नमूने दिखलाने का यत्न करते हैं।

मुण्डक उपनिषद् का तृतीय मुण्डक पूर्ण वैदिक है। इसमें नवें खण्ड का एक श्लोक ऋचा के नाम से लिखा गया है। सभी जानते हैं कि वेद के मन्त्र ही ऋचा कहलाते हैं, परन्तु जो श्लोक ऋचा के नाम से लिखा गया है, उसका चारों वेदों में कहीं पता नहीं है। इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह श्लोक कहीं बाहर से लाकर ऋचा के नाम से प्रक्षेप किया गया है। प्रक्षेप करनेवाले वैदिक न थे। यदि वैदिक होते तो प्रक्षेप में ऐसी ग़लतियाँ न होतीं। उनके वैदिक ज्ञान की अनभिज्ञता का एक नमूना तैत्तिरीय उपनिषद् में भी है। मिश्रण करनेवालों ने तैत्तिरीय उपनिषद् में वेदों से सम्बन्ध रखनेवाली एक भूल की है। तैत्तिरीय उपनिषद् १।५।२ में लिखा है कि **'भूरिति वा अग्निः, भुवरति वायुः सुवरित्यादित्यः। भूरिति वा ऋचः भुव इति सामानि सुवरिति यजूꣳषि'**, अर्थात् भूः अग्नि है, भुवः वायु है और स्वः आदित्य है। भूः ऋग्वेद है। भुवः सामवेद है और स्वः यजुर्वेद है। यहाँ भुवः को सामवेद और स्वः को यजुर्वेद बतलाना समस्त वैदिक संस्था के विरुद्ध है। वेदों में सर्वत्र भुवः वायुस्यानी होने से यजुर्वेद ही से सम्बन्ध रखता है और स्वः आदित्य स्थानी होने से सामवेद से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि वैदिक साहित्य में सर्वत्र यही लिखा हुआ है कि **'अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः'**[१], अर्थात् अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद का सम्बन्ध है, किन्तु इस समस्त वैदिक संस्था के विरुद्ध, तैत्तिरीय उपनिषद् भुवः का सामवेद और स्वः का यजुर्वेद से सम्बन्ध बतलाता है,

१. शत० १४।५।४।१०

इसलिए मिश्रण करनेवाले की वैदिक अनभिज्ञता प्रकट होती है। मिश्रण करनेवालों का वैदिक ज्ञान इसी तैत्तिरीय उपनिषद् के आरम्भ से भी प्रकट होता है। तैत्तिरीय उपनिषद् के आरम्भ में लिखा है कि '**नमस्ते वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि**'[1], अर्थात् हे वायो! तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है, अत: तुझे नमस्कार है। इसपर भाष्य करनेवाले 'वायु' शब्द का अर्थ परमात्मा करते हैं, परन्तु यहाँ तो ब्रह्म के साथ 'प्रत्यक्ष' शब्द रक्खा हुआ है, इसलिए इसका अर्थ परमात्मा नहीं हो सकता। ब्रह्म को कभी किसी ने साक्षात् नहीं किया। वह तो आत्मा से ही जाना जाता है, इसलिए यह प्रत्यक्ष शब्द इस भौतिक वायु—हवा—के लिए ही आया है। प्रत्यक्ष वायु को नमस्कार करनेवाले ब्रह्मविद्या के कितने पण्डित थे और उनको वैदिकता का कितना ज्ञान था यह इसी से जाना जा सकता है और मिलावट का निर्भ्रान्त अनुमान सहज ही हो सकता है।

इसके अतिरिक्त उपनिषदों के परस्पर विरोधी वाक्यों और विरोधी सिद्धान्तों से भी मिश्रण ज्ञात हो जाता है। साधारण मनुष्य भी अपनी बात में विरोध बचाने का यत्न करते हैं, किन्तु ब्रह्मविद्या के आचार्य द्वारा यदि विरोध रखनेवाले सिद्धान्त पास-ही-पास मिलें तो यही समझना चाहिए कि दोनों विचार दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के आचार्यों के हैं। ऐतरेयोपनिषद् १।१ में लिखा है कि '**आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्**', अर्थात् आरम्भ में एक आत्मा ही था और दूसरी वस्तु सर्वथा नहीं थी। इसके विरुद्ध छान्दोग्य ६।२।१ में लिखा है कि '**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्**', अर्थात् आरम्भ में एक अकेला सत् ही था और दूसरी वस्तु नहीं थी। इन दोनों विरोधी सिद्धान्तों का तात्पर्य यह है कि एक आचार्य कहता है कि सृष्टि के पूर्व केवल एक आत्मा ही था और दूसरी वस्तु सर्वथा नहीं थी, अर्थात् दूसरी वस्तु का अत्यन्ताभाव था और दूसरे सम्प्रदाय का आचार्य कहता है कि नहीं, आरम्भ में केवल एक सत् ही था उसी से यह समस्त सृष्टि हुई, परन्तु इन दोनों के विरुद्ध उसी छान्दोग्य ६।२।१ में लिखा है कि '**तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत**', अर्थात् एक कहता है कि आरम्भ में एक अकेला असत् ही था उसी से सत् की उत्पत्ति हुई। एक कहता है कि एक अद्वितीय सत् ही पहले था, परन्तु दूसरा कहता है कि पहले एक अद्वितीय असत् ही था, उसी से सत् हुआ। इस सत् असत् की बहस पर छान्दोग्य ६।२।२-३ में यह युक्ति दी गई है '**कथमसतः सज्जायेत्। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। तत्तेजोऽसृजत तदापोऽसृजत्**', अर्थात् असत् से सत् कैसे हो सकता है, अत: पहले एक अद्वितीय सत् ही था, उसी से अग्नि और जल की उत्पत्ति हुई है। इस विवाद से पाया जाता है कि उस समय में आत्मा, सत् और असत् पर विश्वास करनेवाले तीन सम्प्रदाय थे। एक ब्रह्म से, दूसरा सत् से और तीसरा असत् से संसार की उत्पत्ति मानता था। एक कहता था कि आरम्भ में ब्रह्म-ही-ब्रह्म था, अन्य वस्तु न थी। दूसरा कहता था कि सत् अर्थात् दूसरी वस्तु (प्रकृति) ही थी और उसी से सृष्टि हुई और तीसरा कहता था कि यह दूसरी वस्तु भी नहीं थी केवल असत् से ही, अर्थात् अभाव (शून्य) से ही सत् अर्थात् दूसरी वस्तु की उत्पत्ति हुई।

सत् और असत् शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। इनके दो-दो अर्थ हैं। सत् का एक अर्थ भाव, अर्थात् अस्तित्व है और दूसरा अर्थ सृष्टि की वर्त्तमान दशा है। इसी प्रकार असत् शब्द का एक अर्थ अभाव, अर्थात् शून्य है और दूसरा सृष्टिपूर्व की प्रलय दशा है। ऊपर उपनिषद् के जिन सत् और असत् का वर्णन है वे भाव और अभाव ही अर्थ रखते हैं, क्योंकि कहा गया है कि असत् से तेज और जल उत्पन्न हुए। असत् से तेज और जल कैसे उत्पन्न हो सकते हैं। इस तेज और

१. तैत्तिरीय० १।१।१

जल की दलील से स्पष्ट हो जाता है कि ये सत् और असत् प्रकृति के लिए ही हैं और भाव तथा अभाव ही अर्थ रखते हैं, परन्तु वेदों में असत् शब्द अभाव (शून्य) अथवा प्रलय दशा के अर्थ में भी आता है। ऋग्वेद में लिखा है कि **'नासदासीन्नो सदासीत्, नासीद्रजः। तमासीत्तमसा गुळ्हमग्रे',** अर्थात् न असत् था, न सत् था और न रज था, प्रत्युत तम-ही-तम था। यहाँ सृष्ट्यारम्भ के पूर्व का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उस समय असत् नहीं था, अर्थात् उस समय अभाव या शून्य नहीं था और सत् तथा रज भी नहीं था। फिर क्या था? कहते हैं कि उस समय तम-ही-तम था। इसके विरुद्ध ऋग्वेद १०।७२।३ में कहा गया है कि **'देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत',** अर्थात् आरम्भ कालिक देवकाल में असत् से ही सत् हुआ और उससे ही सृष्टि हुई[1]। यहाँ असत् शब्द अभाव अर्थ में नहीं, प्रत्युत सत्, रज और तमवाले सत् के विरुद्ध, वर्त्तमान सृष्टि की पूर्वावस्था के अर्थ में आया है। वहाँ असत् का अर्थ अभाव (शून्य) नहीं है। इन दोनों प्रमाणों से ज्ञात हुआ कि सत् और असत् के दो-दो अर्थ हैं। एक अर्थ भाव-अभाव का और दूसरा सत्, रज, तम का। यद्यपि सत्, रज, तम के विषय में भी लोगों में भ्रम फैला हुआ है, परन्तु ऊपरवाले ऋग्वेद के प्रमाण से ज्ञात हुआ कि सत्, रज, तम सृष्टि की स्थितियाँ हैं। सत्, रज, तम के इस जटिल-से प्रश्न को श्रीमद्भागवत ने बहुत ही अच्छी प्रकार सुलझाया है। वहाँ लिखा है—

स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः।
सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये॥ —भागवत १०।३।२०

अर्थात् हे भगवन्! आप अपनी माया से त्रिलोक की रक्षा के लिए सात्त्विक—शुक्लरूप धारण करते हैं, सृष्टि के हेतु सर्गारम्भ में राजस् गुणप्रधान रक्तरूप धारण करते हैं और नाश के लिए तामस् गुणप्रधान कृष्णरूप को धारण करते हैं।

इस श्लोक से स्पष्ट हो गया कि बनी हुई सृष्टि सत् है और इसका रूप शुक्ल है, बनने के समय सृष्टि के आदि में यह सृष्टि राजस् है और इसका रंग लाल है और प्रलय के समय यह तम है तथा इसका रूप कृष्ण है। शुक्ल, रक्त और कृष्ण रंगों की उपमा देकर रात, प्रभात और दिन के अलङ्कार से सृष्टि की तीनों स्थितियाँ समझा दी गई हैं। दिन का रंग शुक्ल है और वह बनी हुई सृष्टि की भाँति है, अतएव वह सत् की दशा में है, प्रभात के उषाकाल का रंग लाल है और वह सृष्ट्यारम्भ की भाँति है, अतएव रज की दशा में है और रात का रंग श्याम है, वह प्रलय की भाँति है, इसलिए वह तम कहलाता है, अर्थात् सृष्टि की स्थिति सत् है, सृष्ट्यारम्भ रज है और प्रलयदशा तम है।

सृष्टि की स्थिति, सृष्टि का आरम्भ और सृष्टि की प्रलय आदि दशाएँ सब भौतिक (Material) ही हैं, इसलिए यह सत्, रज, तम भी भौतिक ही है—प्रकृति ही है, इसीलिए प्रकृति को कहा गया है कि **'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्',** अर्थात् एक न उत्पन्न होनेवाली प्रकृति है, जिसकी कार्यदशा शुक्ल है, आरम्भ दशा रक्त है और आरम्भपूर्व दशा कृष्ण है। इस वाक्य ने वेद के मन्त्रों का भाव स्पष्ट कर दिया है। वेद में जो कहा गया है कि असत् नहीं था, उसका यही तात्पर्य है कि अभाव नहीं था, प्रत्युत 'अजा' अर्थात् न उत्पन्न होनेवाली प्रकृति थी। उसी में कहा गया है कि सत् और रज भी नहीं था। इसका तात्पर्य यही है कि उस समय न तो

---

१. ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्। देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत॥
देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत। तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि॥
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि॥ —ऋ० १०।७२।२,३,४

सृष्टि की वर्त्तमान स्थिति ही थी और न सृष्टि का आरम्भ ही था, परन्तु मन्त्र कहता है कि उस समय तम-ही-तम था। इसका तात्पर्य यही है कि उस समय प्रलयदशा थी। तात्पर्य यह कि उपनिषद्वाक्य के सत् और असत् शब्दों से परमात्मा का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। परमात्मा के लिए सत्, असत् शब्दों का प्रयोग होता ही नहीं। गीता में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥

—गीता १३।१२

अर्थात् जानने योग्य, जिसके जानने से मोक्ष मिलता है, वह अनादि परमब्रह्म न सत् कहलाता है और न असत् कहलाता है।

गीता के इस प्रमाण से ज्ञात हुआ कि उपनिषदों का सत्-असत् का झगड़ा परमात्मा सम्बन्धी नहीं है, प्रत्युत वह झगड़ा भौतिक है, क्योंकि उपनिषदों में परमात्मा के लिए तो पृथक् ही कह दिया गया है कि एक के मत से आदि में केवल आत्मा ही था। इस अकेले आत्मा से सृष्टि माननेवालों के अतिरिक्त उस समय एक दल ऐसा था जो कहता था कि असत् अर्थात् भौतिक पदार्थों के अभाव से सृष्टि हुई है और दूसरा दल ऐसा भी था जो कहता था कि सत् अर्थात् भौतिक पदार्थों के भाव से ही सृष्टि हुई है, क्योंकि बिना भूतों के अग्नि और जल की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस प्रकार के झगड़े यूरोप के वैज्ञानिकों में आजकल भी होते हैं। एक दल कहता है कि मैटर (परमाणुओं) की उत्पत्ति एनर्जी (शक्ति) से ही हुई है, परन्तु दूसरा दल कहता है कि प्रकृति के भौतिक परमाणु भी हैं। इस विषय में साइंस के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० डब्ल्यू०बी० बॉटमली 'विज्ञान और धर्म' नामी पुस्तक में कहते हैं कि विज्ञान शक्ति (Energy) के सिद्धान्त तक पहुँचा है, परन्तु अनेक विद्वान् हैं जो मूलप्रकृति (Matter) को अब तक परमाणुवाला ही मानते हैं[१]।

कहने का तात्पर्य यह कि यूरोप की भाँति उपनिषदों में भी आत्मा, सत् और असत् आदि तीन सिद्धान्तों का वर्णन है, जिससे यही सूचित होता है कि उपनिषदों में इन तीन प्रकार के वर्णन करनेवाले तीन सम्प्रदायों के लोग हैं। तीनों के तीन सिद्धान्त लिखे हुए हैं, इसलिए तीनों सिद्धान्त एक ही धर्म के नहीं हो सकते। इन तीनों में आर्यों का एक भी सिद्धान्त नहीं है। आर्यों का वैदिक सिद्धान्त अनिश्चित हो ही नहीं सकता, अतएव ये सिद्धान्त मिश्रण से ही उपनिषदों में आये हैं, इसमें सन्देह नहीं।

---

१. But what has modern science to say as to what matter is? All matter can be resolved into a form of energy, and all the theories of matter advanced during the last twenty years are based on a conception—a postulate of the non-material. That is science? That is the latest in science.

—*Science and Religion*, p. 62.

The statement on page 62 that all matters can be resolved into a form of energy has been challenged as being contrary to the views held by modern physicists. I am told that "other men of science say that all matter is not resolvable into a form of energy, that there is still an irreducible somthing, a surd, as it were, the dark back ground, the substance of which energy is but an attribute." The following quotations from some of the leading physicists of the day (Professor Cox, Professor Soddy, and Sir Oliver Lodge etc.) are commended to the critics. —*Ibid*, 75.

Perhaps the statement that "all matter can be resolved into a form of energy" was too comprehensive for the critics. I might have said all matter is divisible into two parts, the known, and the hypothetical. All known matter, the part made up of 'the smallest entities known to sceince,' can be resolved into atoms of negative electricity," which are popularly spoken of as a form of energy. The hypothetical part consists of "purely hyopthetical structural units of electricity," or "a positive charge" or "invented ether."

—*Ibid*, p. 75.

जिस प्रकार इस सिद्धान्तविरोध से प्रक्षेप ज्ञात होता है, उसी प्रकार उपनिषदों में नवीन बातों के होने से भी मिश्रण पाया जाता है। हमने प्रथम खण्ड में जहाँ लो० तिलक महोदय के ज्योतिष-सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की है, वहाँ ब्राह्मणग्रन्थों में आये हुए प्रमाणों से बतलाया है कि ब्राह्मणों के कुछ भाग बाईस हज़ार वर्ष के प्राचीन हैं। उपनिषद् भी ब्राह्मणग्रन्थों के ही भाग हैं, परन्तु इनके बहुत-से स्थल बहुत ही नवीन ज्ञात होते हैं, जिससे प्रमाणित होता है कि इनमें वे भाग पीछे से मिलाये गये हैं। बृहदारण्यक २।४।१० में लिखा है कि '**अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानान्यस्यैवैतानि**', अर्थात् ऋक्, यजु, साम, अथर्वाङ्गिरस, इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान और अनुव्याख्यान आदि सब अपौरुषेय हैं।

इस वर्णन में उपनिषद्, श्लोक, सूत्र और व्याख्यान आदि पर ध्यान देने की आवश्यकता है। इनमें भी सूत्रग्रन्थ तो बहुत ही आधुनिक हैं[1]। कोई भी सूत्रग्रन्थ, चाहे वह गृह्य हो या श्रौत, दर्शन हो या व्याकरण, ब्राह्मणग्रन्थों के पूर्व का नहीं है। उन सूत्रों की व्याख्या तो बहुत ही नवीन है, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों से सम्बन्ध रखनेवाले ये उपनिषद् सूत्रों और उनकी व्याख्याओं का वर्णन करते हैं, इससे प्रतीत होता है कि इनका यह भाग बहुत ही नवीन है। कुछ लोग कहते हैं कि वेदों में ही इतिहास, पुराण, श्लोक, सूत्र और व्याख्यान आदि सम्मिलित हैं, परन्तु यदि ऐसा होता तो ऋग्वेदादि कहने से ही सबका समावेश हो जाता, अलग-अलग सबके नाम कहने की आवश्यकता न होती। इसके अतिरिक्त वेदों में न श्लोक हैं और न सूत्र ही हैं। ऐसी दशा में उपनिषदों का यह भाग बहुत ही आधुनिक सिद्ध होता है।

उपनिषदों की नवीनता का दूसरा प्रमाण तो बहुत ही स्पष्ट है। छान्दोग्य ३।१७।६ में लिखा है कि '**तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्राय**', अर्थात् घोर आङ्गिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण के लिए। इसमें देवकीपुत्र कृष्ण का नाम आया है। यह वाक्य कृष्ण के बाद ही लिखा गया है। हम प्रथम खण्ड में कृष्णकालीन महाभारतयुद्ध को लगभग ४१०० वर्ष पूर्व का सिद्ध कर आये हैं, इसलिए उपनिषद् का यह वाक्य उस समय के बाद का है। यह उस समय का है जब कृष्ण भगवान् अवतार माने जा चुके थे और उनकी भक्ति अच्छी प्रकार प्रचलित हो चुकी थी। हमारा अनुमान है कि वैष्णवधर्म के आरम्भ के बाद और गीता प्रचार के साथ उपनिषदों में यह अंश मिलाया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि ऐतिहासिक घटनाओं से भी सिद्ध होता है कि उपनिषदों में मिश्रण है।

उपनिषदों में मिश्रण का यह प्रबल प्रमाण है कि उपनिषत्काल ही में श्रोतागण उनके सिद्धान्तों को मोह में डालनेवाले मानते थे। बृहदारण्यक ४।५।१४ में मैत्रेयी ने स्पष्ट कहा है कि '**मा भगवन्मोहान्तम्**', अर्थात् मुझे मोह में न डालिए। मोह भ्रम को कहते हैं। भ्रम उत्पन्न करा देना यह नवीन धर्मप्रवर्तकों का सबसे पहला काम है। गीता में भी लिखा है कि अर्जुन ने कृष्ण से कहा कि मुझे आपकी बातों से मोह होता है[2]। जिन बातों से मोह पैदा हो—भ्रम उत्पन्न

---

१. इन सूत्रों में से बोधायनसूत्र २।२२।९ में गीता के 'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' वाले श्लोक का और वासुदेव की भक्ति का भी उल्लेख है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रग्रन्थ गीता की वासुदेवभक्ति के प्रचलित हो जाने पर बने हैं।

२. **व्यामिश्रेणैव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे। तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।** —गीता ३।२
अर्थात् मिश्रित—अनिश्चित—गड़बड़ में डालनेवाली बातों से बुद्धि में भ्रम होता है—मोह होता है, अतः कोई एक निश्चित बात कहिए, जिससे मेरा कल्याण हो।

हो वे बातें इस महान् ब्रह्मविद्या में कभी भी उपयोगी नहीं हो सकतीं, परन्तु ऊलजलूल बातों से तो भ्रम होता ही है। भ्रम को हटानेवाला तर्क ही है—न्यायशास्त्र ही है, परन्तु उससे तो आसुर आचार्य घबराते हैं। कठोपनिषद २।९ में लिखा है कि **'नैषा तर्केण मतिरापनेया'**, अर्थात् तर्क से यह मति प्राप्त होने योग्य नहीं है। जहाँ निरुक्तकार ने कहा है कि **'तर्क एव ऋषिः'**, अर्थात् तर्क ही ऋषि है, जहाँ न्यायशास्त्र बना हुआ है और जहाँ मनु जैसे धर्माचार्य कहते हैं कि **'यस्तर्केणानुसंद्धत्ते'**, अर्थात् जो वैदिक ज्ञान तर्क से सिद्ध हो वही धर्म है, वहाँ तर्क से घबराना और तर्क को अप्रतिष्ठा का सिद्धान्त बताना उसी का काम हो सकता है, जिसका सिद्धान्त लचर है, जो मोह—भ्रम उत्पन्न करानेवाला है और जो नवीन अवैदिक सिद्धान्त प्रचलित करना चाहता है। अन्यथा जहाँ परस्पर विरोधी दो सिद्धान्त उपस्थित हों वहाँ बिना तर्क के कैसे जाना जा सकता है कि इनमें से कौन सत्य है और कौन असत्य? कहने का तात्पर्य यह कि तर्क से घबराना और भ्रम उत्पन्न करना वैदिक शैली नहीं है। उपनिषदों के ऐसे भाग निस्सन्देह प्रक्षिप्त हैं और आसुर हैं।

गीता भी तर्क से घबराती है। वह कहती है कि **'संशयात्मा विनश्यति'**, अर्थात् संशयात्मा नष्ट हो जाता है, परन्तु हम देखते हैं कि तर्कशास्त्र में संशय एक आवश्यक विषय है[१]। जो सत्यासत्य के निर्णन में काम आता है। बिना संशय के तो किसी बात का निर्णय ही नहीं हो सकता और न कोई सत्य सिद्धान्त पर पहुँच सकता है, परन्तु उपनिषदों के अनेक स्थल निस्सन्देह बुद्धिविरुद्ध और जंगली हैं। उनके लिए तर्क से काम लेना समय खोना है। ऐसे विश्वास अवश्य तर्क की कसौटी से नहीं कसे जा सकते। इनसे अवश्य भ्रम होता है। यहाँ हम दो तीन बातें नमूने के रूप में दिखलाते हैं। छान्दोग्य ६।१६।१ में लिखा है—

'पुरुषꣳसोम्योत हस्तगृहीतमानयन्त्यपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति। स यदि तस्य कर्ता भवति तत एवानृतमात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनाऽऽत्मानमन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति। स दह्यतेऽथ हन्यते'॥

अर्थात् हे सोम्य! राजकर्मचारी पुरुष को हाथ बाँधकर लाते हैं और कहते हैं कि इसने चोरी की है। राजा लोहे का परशु तप्त करवाकर उसके हाथ पर रखवाता है। यदि वह सचमुच चोर है तो जल जाता है।

हम देखते हैं कि आग से गर्म किया हुआ लोहे का गोला उठवाने की चाल इस देस के मूर्खों में बहुत दिन तक रही है। यह बिलकुल जंगली रिवाज है। अग्नि ऐसी वस्तु है जो चोर-साह सब को जलाती है। वह किसी को पहचानती नहीं। यदि वह आर्य-धर्म होता तो धर्मशास्त्रों में गवाही लेने, चेष्टा देखने और पता लगाने की चर्चा क्यों की जाती। आज भी उसी प्रकार परीक्षा होती, परन्तु जब यह सिद्धान्त ही ग़लत है तब इसके द्वारा सत्य का निर्णय कैसे किया जा सकता है? इसलिए यह रिवाज जंगली है, आसुर है और अज्ञानता का ज्वलन्त प्रमाण है। दूसरी जगह उसी छान्दोग्य ५।२।८ में लिखा है कि—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन्स्वप्ननिदर्शने॥

अर्थात् स्वप्न में यदि स्त्री दिखलाई पड़े, तो समझना चाहिए कि बहुत बड़ी समृद्धि होनेवाली

---

१. प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन आदि जो तर्कशास्त्र के मूल सिद्धान्त हैं, उनमें संशय तीसरा है। बिना संशय के तो निर्णय हो ही नहीं सकता—सत्य मिल ही नहीं सकता।

है। दूसरी जगह लिखा है कि **'पुरुषं कृष्णं कृष्णदन्तं पश्यति स एनं हन्ति'**, अर्थात् स्वप्न में काले दाँतवाले काले पुरुष को देखे, तो समझना चाहिए कि मेरी मृत्यु निकट ही है। ये स्वप्नपरीक्षा के वे विश्वास हैं जिनकी ओर सिवा मूर्खों के पढ़े-लिखे लोगों का ध्यान भी नहीं जा सकता।

इसी प्रकार की बात छान्दोग्य ८।१३।१ में यह लिखी है कि **'चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य'**, अर्थात् जैसे चन्द्रमा राहु के मुख से छूट जाता है। यह दृष्टान्त भी उन्हीं गँवारू बातों को चरितार्थ करता है जो चन्द्रग्रहण के विषय में प्रचलित है, अर्थात् चन्द्रमा को राहु खा जाता है और फिर उगल देता है। ऐसे विश्वासवाले ज्योतिष् और भूगोल-ज्ञान से बिलकुल शून्य थे, परन्तु वैदिकों में सबसे पहले ज्योतिष् का ज्ञान होना चाहिए, क्योंकि ज्योतिष् वेद का नेत्र है। वेदों में जितना ज्योतिष् का वर्णन है उतना शायद ही किसी अन्य विषय का वर्णन होगा, परन्तु इन ज्योतिष्ज्ञानशून्य असुरों को क्या पता कि ग्रहणों के होने का क्या सिद्धान्त है? इसी प्रकार की बात बृहदारण्यक ६।३।१२ में यह लिखी है कि **'शुष्के स्थाणौ निषिञ्चेज्जायेरञ्छाखाः प्ररोहेयुःपलाशानीति तमेतं नापुत्राय वाऽनन्तेवासिने वा ब्रूयात्'**, अर्थात् सूखा काठ हरा करनेवाली वाजीकरण ओषधि को अपने पुत्र या शिष्य के अतिरिक्त और किसी को न बतलाना चाहिए। ठीक है, न बतलाइए, परन्तु यह तो बतलाइए कि सूखा काष्ठ हरा हो भी सकता है? हमारी समझ में तो हरा वही होगा जिसमें कुछ भी हरापन शेष होगा और जिसमें कुछ भी जान होगी, किन्तु जिसका हरापन नष्ट हो गया है, जो मर गया है, वह कदापि हरा नहीं हो सकता। हाँ, दवा के प्रलोभन से भोले आदमी फाँसे जा सकते हैं और इसीलिए ऐसी फँसानेवाली नवीन बातें उपनिषदों में मिश्रित की गई हैं, परन्तु हमें तो यहाँ केवल उपनिषत्कारों के ज्ञान का नमूना दिखलाना है। हम समझते हैं कि ये सभी बातें मोह पैदा करानेवाली तर्क, विद्या, बुद्धि से कोसों दूर और प्रक्षेप करनेवालों के मनोभाव और उनकी स्थिति की यथार्थ सूचक हैं। हमने इन बातों को इसीलिए लिखा है कि जिससे मिश्रण करनेवालों का भ्रम पैदा कराने और तर्क से घबराने का कारण विदित हो जाए और यह स्पष्ट हो जाए कि इन उपनिषदों में किसी आर्येतर जाति का हाथ रहा है।

इन बातों के अतिरिक्त उपनिषदों में वैदिक यज्ञों की निन्दा है। इससे भी उनमें मिश्रण विदित होता है। यह लीला मुण्डक उपनिषद् में अच्छी तरह दिखलाई पड़ती है। वैदिक कर्मकाण्ड का जहाँ पर खण्डन मिलाया गया है, वहाँ यह प्रकरण इस प्रकार शुरू होता है कि **'काली कराली च मनोजवा च'**[१], अर्थात् काली आदि अग्नि की सात जिह्वाएँ हैं। इन अग्नि की सात जिह्वाओं, अर्थात् सात रंग की ज्वालाओं का वर्णन करके कहा गया है कि ये सात लपटें नित्य हवन करनेवाले को सूर्य की सात किरणों में प्रविष्ट करा देती हैं। उनके द्वारा वह सूर्यलोक को चला जाता है और वहाँ से ब्रह्मलोक को जाता है, अर्थात् नित्य हवन करनेवाला मोक्ष का भागी बनता है, परन्तु इसके आगे सातवें श्लोक से दसवें श्लोक तक चार श्लोकों में यज्ञों पर विश्वास करनेवालों को हज़ारों गालियाँ दी गई हैं। गालियाँ देते हुए कहा गया है कि **'एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः, पण्डितम्मन्यमानाः, जघन्यमानाः, मूढाः, अन्धाः, बालाः'**[२], अर्थात् यज्ञ से गति माननेवाले मूढ, अन्धे, मूर्ख और जघन्य हैं। इसके साथ ही याज्ञिकों को बार-बार पैदा होनेवाला और हीनतर योनियों में जानेवाला भी कहा गया है। इसके सिवा स्वर्ग और मोक्ष-धाम में एक ऐसा भेद उपस्थित कर दिया गया है कि जिससे पता ही नहीं लगता कि प्राचीन वैदिक

---

१. मुण्डक १।२।४
२. मुण्डक १।२।७-८

सिद्धान्तानुसार स्वर्ग और मोक्ष का रहस्य क्या है?

उपनिषदों में स्वर्ग और सृष्टि से सम्बन्ध रखनेवाले दो सेमिटिक सिद्धान्त काम कर रहे हैं। एक तो यह कि सृष्टि के पूर्व क्षण में एक अकेला परमात्मा ही था और कुछ भी न था। दूसरा यह कि स्वर्ग अलग वस्तु है, जहाँ अनेक प्रकार के संसारी सुख एक समय तक मिलते हैं। सेमिटिक दर्शन में जिस प्रकार बहिश्त और नजात में अन्तर है, उसी प्रकार आसुर उपनिषद् स्वर्ग और मोक्ष में अन्तर बताया गया है, परन्तु प्रक्षेपरहित शुद्ध वैदिक उपनिषद् स्वर्ग और मोक्ष में कुछ भी अन्तर नहीं बतलाते। वे कहते हैं कि सूर्य के उस पार स्वर्ग है और मोक्ष को जानेवाले सूर्य द्वार से वहाँ जाते हैं, इसलिए स्वर्ग और मोक्ष दोनों एक ही पदार्थ हैं। इसपर से भी ज्ञात होता है कि उपनिषदों में इस प्रकार के विरोधी सिद्धान्तों का मिश्रण हुआ है।

जिस प्रकार उपनिषदों में मिलावट है उसी प्रकार गीता में भी मिलावट है। इस काल में लोकमान्य तिलक-जैसा गीता का विद्यार्थी दूसरा कोई नहीं हुआ। गीता की मिलावट के विषय में गीतारहस्य भाग ३ पृ० ५३६ पर आप कहते हैं कि 'जिस गीता के आधार पर वर्त्तमान गीता बनी है, वह बादरायणाचार्य के पहले भी मौजूद थी'। कोई गीता बादरायणाचार्य के पहले विद्यमान थी या नहीं और बादरायण कौन हैं, इन बातों की यहाँ व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो यही देखना है कि यह सम्पूर्ण वर्त्तमान गीता मूलगीता नहीं है। हाँ, एक गीता अभी हाल में प्रसिद्ध प्रवासी मिस्टर एन्० जी० देसाई को भारत से दूर बालीद्वीप में मिली है जो भीष्मपर्व के अन्दर है और उसमें कुल ७० ही श्लोक पाये जाते हैं। यह भीष्मपर्व हस्तलिखित प्राचीन पुस्तक है, किन्तु हम देखते हैं कि वर्त्तमान गीता में ७०० श्लोक हैं। इससे ज्ञात होता है कि केवल एक शून्य ही बढ़ाया गया है। बढ़ाने की बात तब और भी अधिक दृढ़ हो जाती है जब हम देखते हैं कि इसपर शंकराचार्य से पूर्व पृथक् रूप से किसी अन्य की टीका नहीं मिलती और न शंकर के पूर्व महाभारत से पृथक् इसका अस्तित्व ही पाया जाता है। इसके अतिरिक्त गीता के १८वें अध्याय के अन्त में संजय कहते हैं कि—

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद् गुह्यमहं परम्। योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्॥[1]

अर्थात् व्यास की कृपा से मैंने इस परमगुह्य योग को योगिराज कृष्ण से सुना।

संजाय ने कृष्ण से सुना, पर व्यास की कृपा से, यह कैसी बात है? क्या व्यास संजय को अपने साथ लेकर वहाँ गये थे जहाँ कृष्ण अर्जुन को उपदेश कर रहे थे? ऐसा तो कहीं वर्णन नहीं है और न इस श्लोक से ही यह बात सिद्ध होती है। संजय तो स्वयं धृतराष्ट्र से युद्ध का वृत्तान्त कह रहे हैं। व्यास से पहले तो सारा वृत्तान्त संजय को ही ज्ञात होता था। यह ठीक भी है। राजा के लिए तो उनको सब वृत्तान्त पहले मिलना ही चाहिए। संजय ने प्रबन्ध कर रक्खा होगा कि जिससे सब हाल मिलता रहे[2]। व्यास को तो संजय के द्वारा वृत्तान्त मिला होगा, परन्तु उनको व्यास के प्रसाद से गीता सुनने को मिली, यह बात बड़े ही सन्देह की है। इससे तो श्लोक का ऐसा तात्पर्य प्रतीत होता है कि कृष्ण का उपदेश जो व्यास के द्वारा लिखा गया था, वह संजय को सुनने या जानने को मिला, परन्तु समस्त गीता संजय और धृतराष्ट्र की बातचीत है। इस बातचीत

---

१. गीता १८।७५

२. श्रीधर आदि टीकाकारों ने लिखा है कि व्यासजी ने संजय को दिव्य दृष्टि दी थी। उस कृपा से वे दूर बैठे हुए कृष्ण की बात सुन सकते थे, परन्तु इसमें कुछ भी सत्य नहीं है। प्रथम तो दिव्य दृष्टि और उससे दिव्य श्रवण शक्ति का होना ही विश्वास योग्य नहीं है, फिर यह बात भी असत्य सिद्ध हो जाती है जब हम देखते हैं कि यह शक्ति धृतराष्ट्र को न देकर संजय को क्यों दी गई?

को यदि व्यास ने श्लोकबद्ध किया तो श्लोकबद्ध करने के पहले ही संजय ने व्यास की कृपा से कैसे सुना? इस गोलमाल से प्रकट होता है कि समस्त गीता दो सम्पादकों ने रची है। व्यासकृत गीता से कृष्ण का वृत्तान्त संजय को ज्ञात हुआ, परन्तु यह संजय और धृतराष्ट्र का वार्तालाप और व्यास की कृपा की बात दूसरे सम्पादक की रचना प्रतीत होती है। इसी प्रकार '**मुनिनां चाप्यहं व्यास**'[1] तथा '**असितो देवलो व्यासः**' आदि रचना भी व्यास की नहीं है, क्योंकि वेदव्यास अपने आपको कभी न कहते कि सब मुनियों में व्यास परमेश्वर के तुल्य हैं, अर्थात् परमेश्वर ही हैं, इसलिए गीता के ये प्रकरण प्रक्षिप्त ही हैं। इस प्रकार उपनिषदों और गीता में मिश्रण दिखाने के पश्चात् अब हम यह प्रतिपादन करने की चेष्टा करते हैं कि उपनिषदों में असुरों ने आसुर उपनिषद् का किस प्रकार मिश्रण किया।

आसुर उपनिषद् की उत्पत्ति

छान्दोग्य उपनिषद् में विस्तारपूर्वक लिखा है कि इन्द्र (आर्य) और विरोचन (अनार्य) दोनों मिलकर किसी के पास ज्ञान सीखने लगे। गुरु ने उनकी पात्रता और कुपात्रता की परीक्षा की। इन्द्र संस्कृत आत्मा और विरोचन मलिन आत्मा निकला और ज्ञान के ग्रहण करने में असमर्थ सिद्ध हुआ। गुरु ने परीक्षार्थ जितनी बातें उससे कहीं उन सब बातों को उसने सिद्धान्त ही समझा, तनिक भी अपनी बुद्धि से काम न लिया, परन्तु इन्द्र ने हर परीक्षावाक्य की एकान्त में तर्क से पड़ताल की और असत्य ज्ञात होने पर वापस आया। कई बार इस प्रकार परीक्षा और तर्क करने से वह सत्य ज्ञान को पहुँच गया, परन्तु विरोचन एक ही बार आकर और जो कुछ उलटा-सीधा सुना था उसी को सिद्धान्त मानकर चुप बैठ गया और उन्हीं सन्दिग्ध बातों का असुरों में प्रचार करने लगा। यहीं से आसुर उपनिषद् का आरम्भ हुआ। इस उपनिषद् की उत्पत्ति अफ्रीका खण्ड में हुई, क्योंकि असीरिया और इजिप्ट के निवासी असुर कहलाते थे। असीरिया में ही असुरबाणापाल और असुरनासिरपाल नामी राजा हुए हैं। वे लोग अपने को असुर ही कहते थे। इजिप्टवालों से उनकी रिश्तेदारी भी थी। इजिप्ट अफ्रीका में ही है। वहाँ से ही आसुर उपनिषद् का सिद्धान्त प्रचलित हुआ है। मद्रासी द्रविड़ों में अफ्रीका का निवासी हिट्टाइट (Hittite) जाति का मिश्रण है ही। यह जाति यद्यपि एशिया माइनर की बसनेवाली कही जाती है, परन्तु यथार्थ में यह अफ्रीका और आस्ट्रेलिया की ही रहनेवाली है, क्योंकि हिट्टाइटों, आस्ट्रेलिया-निवासियों और द्रविड़ों का रूप-रंग और भाषा आदि सब एक-समान ही हैं। इस प्रकार ये आसुरी सिद्धान्त अफ्रीका में उत्पन्न होकर मद्रास आये और वहाँ से भारत में फैले।

छान्दोग्य में वर्णित उक्त विरोचन की कथा में लिखा है कि अपने आपको ब्रह्म माननेवाले असुरों की यह पहचान है कि वे मुर्दों को वस्त्रालङ्कार से सजाकर गाड़ते हैं और इसी में दोनों लोकों की जय समझते हैं। यह इशारा मिस्रवालों की ममी और पिरामिडों की ओर है। वहीं पर मुर्दे इस प्रकार रक्खे जाते हैं और वहीं पर इसमें लोक-परलोक की जय मानी जाती है। इस कथन की पुष्टि में हम यहाँ छान्दोग्य उपनिषद् से यह सारा प्रकरण लिखते हैं और बतलाते हैं कि किस प्रकार आसुर उपनिषद् की उत्पत्ति हुई। यह कथा छान्दोग्य उपनिषद् के आठवें खण्ड में है। वहाँ लिखा है कि इन्द्र और विरोचन प्रजापति के पास गये। प्रजापति ने कहा कि आँख में जो पुरुष है, वही आत्मा है। इसपर विश्वास करके दोनों ने दर्पण में देखा तो जिस प्रकार के वे थे वैसे ही दिखे और लौटकर प्रजापति से कहा कि—

---

१. गीता १०।३७

तौ होचतुर्यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतावित्येष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति तौ ह शान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः। —छान्दोग्य ८।८।३

अर्थात् जैसा यह शरीर साफ़-सुथरा पहले था वैसा ही अब भी देखते हैं। हे भगवन्! जैसे हम दोनों विमल वस्त्रों से अलंकृत हैं उसी प्रकार हम दोनों दर्पण में विमल और उत्तम वस्त्रों से अलंकृत दिखलाई पड़ते हैं। तब प्रजापति बोले कि 'यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अक्षय है और यही ब्रह्म है'। यह सुनकर वे दोनों शान्त हृदय वहाँ से चले गये। इसपर प्रजापति ने कहा कि—

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाचाऽनुपलभ्यात्मानमननुविद्य व्रजतो यतर एतदुपनिषदो भविष्यन्ति। देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति सह शान्तहृदय एव विरोचनोऽ सुरान् जगाम्। तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मनं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमं चामुञ्चेति। —छान्दोग्य ८।८।४

अर्थात् ये आत्मा को न पाकर और न जानकर जाते हैं। जो देवता अथवा असुर इस ज्ञान-वाले होंगे, वे नष्ट हो जाएँगे। अब वह प्रसिद्ध शान्तहृदय विरोचन असुरों के निकट पहुँचा और उनसे यह उपनिषद् कहने लगा कि इस लोक में मनुष्य स्वयं ही पूजनीय और सेवनीय है, इसलिए यहाँ अपने आपको ही पूजता हुआ और सेवन करता हुआ मनुष्य दोनों लोकों को प्राप्त होता है। इस उपदेश के अनुसार लोग अपने आपको ही ईश्वर मानने लगे और दान-यज्ञादिकों को बन्द कर दिया। इसके आगे लिखा है कि—

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेत्यसुराणाꣳह्येषोपनिषत्प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालंकारेणेति सꣳस्कुर्वन्त्येतेन ह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते।

—छान्दोग्य ८।८।५

अर्थात् यही कारण है कि आजकल भी यहाँ असुर लोग न दान में श्रद्धा रखते हैं और न यज्ञ करते हैं। लोग उनके इस ज्ञान को आसुर उपनिषद् कहते हैं। वे मृत शरीरों को अनेक मसालों से सँवारते और वस्त्र-आभूषणों से सजाते हैं और समझते हैं कि इसी से हम परलोक जीत लेंगे।

इस वर्णन में असुरों के ऐसा समझने और यज्ञादि बन्द करने का कारण स्पष्ट विद्यमान है। प्रजापति ने उनसे पहले ही कह दिया था कि '**एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति**', अर्थात् यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है और यही ब्रह्म है। बस, तभी से अफ्रीका, इजिप्ट, असीरिया और बेबिलोन में अपने आपको ब्रह्म कहने की प्रथा चली और '**असुराणां ह्येषोपनिषद्**', अर्थात् यही असुरों का उपनिषद् कहलाया। यह अहंभाव और नास्तिकता की बात गीता की आसुरी सम्पति के वर्णन से अच्छी प्रकार स्पष्ट हो जाती है। गीता में आसुरी सम्पत्ति की अनेक बातों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्।[१]
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहम्बलवान् सुखी॥[२]

अर्थात् असुर लोग मानते हैं कि यह संसार असत्य है। इसमें कोई ईश्वर नहीं है। मैं ही ईश्वर हूँ, मैं ही भोक्ता हूँ और मैं ही सिद्ध, बलवान् और सुखी हूँ।

उपनिषद् और गीता के इन प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है कि आसुर उपनिषद् का प्रधान

---

१. गीता १६।८
२. गीता १६।१४

सिद्धान्त यही है कि अपने-आपके अतिरिक्त परमेश्वर कोई वस्तु नहीं है, इसलिए सांसारिक सुखों में ही—खाने, पीने, भोग और ऐश्वर्य में ही—जीवन व्यतीत करो। असुरों के इस सिद्धान्त की तुलना करते हुए कुछ लोग कहते हैं कि वेदान्त का यह सिद्धान्त कि '**ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः**', अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ही ब्रह्म है, आसुर उपनिषद् का ही परिमार्जित रूप है, क्योंकि वेदान्तियों का '**अहं ब्रह्मास्मि**' असुरों के गीतोक्त '**ईश्वरोहम्**' और असुरों के उपनिषदोक्त '**य एष आत्मेति, एतद् ब्रह्म**' से अच्छी प्रकार मिल जाता है, इसलिए दोनों सिद्धान्त एक ही हैं। जो हो, हम यहाँ इस बात पर बहस नहीं कर रहे। हम तो यहाँ केवल आसुर उपनिषद् की उत्पत्ति और उसका प्राचीन उपनिषद् और गीता आदि में मिश्रण ही दिखला रहे हैं और प्रमाणित करना चाहते हैं कि आसुर उपनिषदों के सिद्धान्त वैदिक सिद्धान्तों के विपरीत हैं। इतना ही नहीं, प्रत्युत यह भी दिखलाना चाहते हैं कि आसुर उपनिषद् वेदों का अपमान भी करते हैं। आसुर उपनिषद् के रचयिता जानते थे कि अनादि मान्य वेदों को आर्यहृदयों से सहज में नहीं निकाला जा सकता, इसलिए उन्होंने यह प्रसिद्ध किया कि वेदों में ज्ञान की शिक्षा नहीं है। वे तो केवल यज्ञों की विधि बतलाते हैं और स्वर्ग की कामना कराते हैं। इस प्रकार उन्होंने वेदों की महत्ता और उच्चता को कम करने का उद्योग किया है। नीचे का वर्णन इस विषय में पर्याप्त प्रकाश डालता है। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है कि—

तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च॥ ४॥
तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥ ५॥ —मु०उ० १।१।४-५

अर्थात् दो प्रकार की विद्याएँ हैं, एक परा दूसरी अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष आदि अपरा विद्याएँ हैं और जिससे वह अक्षर प्राप्त होता है और वह परा विद्या है।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि वेदों में पराविद्या का वर्णन नहीं है, अर्थात् वेद परमतत्त्व का स्वरूप और उसकी प्राप्ति की विधि नहीं बतला सकते, परन्तु '**अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते**' इस वाक्य से उस पराविद्या का ज्ञान कराया जा रहा है, जो परमतत्त्व की शिक्षा देता है, परन्तु पराविद्या का ज्ञान क्या है ? वह ज्ञान सिवा आसुर उपनिषद् के और कुछ नहीं है। दश उपनिषदों में ईशोपनिषद् वेदभाग ही है। इसके सिवा वेदों में पुरुषसूक्त, नासदीयसूक्त आदि सैकड़ों ऐसे स्तोत्र और स्थल हैं जो बड़ी उत्तमता से जीव, ब्रह्म और प्रकृति के भेद, सृष्टि की पूर्व अवस्था, उसकी रचना, पुनर्जन्म, मोक्ष का साधन और मोक्ष आदि जितने प्रकरण ब्रह्मविद्या से सम्बन्ध रखते हैं, सबका उत्तम वर्णन करते हैं, परन्तु यहाँ तो आसुरी धर्म, आसुरी आचार और आसुरी सिद्धान्तों का प्रचार करना है, इसलिए कहा गया है कि वेदों में पराविद्या नहीं है। इस प्रकार की बातों से आसुरी उपनिषद् का परिचय कराया गया है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्य १।४।३ में भी वेदों पर अच्छी चोट की गई है। वहाँ लिखा है कि—

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं पर्यपश्यदृचि साम्नि यजुषि।
ते नु वित्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः स्वरमेव प्राविशन्।

अर्थात् जैसे मछली को जल में मत्स्यघाती देखता है, उसी प्रकार मृत्यु ने देवों को ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद में स्थित देखा। वे देव मृत्यु के इस आशय को जानकर ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद से ऊपर स्वर को प्राप्त हुए।

इस आख्यायिका का रचनेवाला इस अलंकृत भाषा के द्वारा कहता है कि वेदों के आश्रित

रहने से मृत्यु कभी नहीं छोड़ता, अर्थात् आवागमन बना रहता है, परन्तु वेदों के आगे स्वर का आश्रय लेनेवाला मृत्यु से छूटकर मुक्त हो जाता है। यहाँ भी वही परा और अपरा विद्यावाली बात बहुत बारीकी से कही गई है। यदि यह स्वर ओंकार है तो क्या वेदों में ओंकार की महिमा का वर्णन नहीं है, क्या यजुर्वेद में **'ओ३म् क्रतो स्मर'** नहीं कहा गया और क्या यजुर्वेद के अन्त में **'ओ३म् खं ब्रह्म'** उपस्थित नहीं है? जब हम मूलसंहिताओं में ही ओंकार की इतनी महिमा देखते हैं, तब स्वर के लिए वेदों को छोड़कर किसी अन्य साहित्य की ओर इशारा क्यों है? कहा नहीं जा सकता कि यह 'स्वर' क्या है? कहीं कबीर साहब का-सा 'अनहत शबद' तो नहीं है? हमारी समझ में तो मिश्रण करनेवालों को जिस बात की आवश्यकता है वह वेदों से पूरी नहीं होती, इसीलिए कहीं स्वर के नाम से, कहीं परा के नाम से आसुर सिद्धान्तों की ओर इशारा किया गया है और वेदों की निन्दा की गई है। जिस प्रकार यह वेदों की निन्दा उपनिषदों में है उसी प्रकार वेदों की निन्दा गीता में भी विद्यमान है। गीता के उस प्रकरण के पढ़ने से प्रस्थानत्रयी की भीतरी जालसाज़ी और आसुरी प्रचार की विधि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। गीता में वेदों को किस प्रकार गालियाँ दी गई हैं, यहाँ हम उसका संक्षेप से दिग्दर्शन कराते हैं। गीता के दूसरे अध्याय ४१-४६, ५३ में लिखा है कि—

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥ ४१॥
यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः। वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥ ४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्। क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥ ४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृत् चेतसाम्। व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥ ४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन। निर्द्वन्द्वो नित्य सत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥ ४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके। तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥ ४६॥
श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला। समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि॥ ५३॥

अर्थात् बहुत शाखावाले, अनन्त वेदों से बुद्धि चंचल हो जाती है। वेदवादरत जो इस प्रफुल्लित वेदवाणी के द्वारा कहते हैं कि वेदों के सिवा और कुछ नहीं है, वे अज्ञानी हैं। वे काम, भोग और स्वर्ग के माननेवाले हैं और कर्म में अनेक प्रकार की विधि करनेवाले तथा भोग और ऐश्वर्य में ही प्रीति रखते हैं, ऐसे लोग समाधि को प्राप्त नहीं हो सकते। हे अर्जुन! वेद त्रिगुणात्मक हैं, इसलिए तू निर्द्वन्द्व, शुद्धचित्, योगक्षेम का त्यागी, आत्मनिष्ठ, अर्थात् निस्त्रैगुण्य हो जा। वेद बहुत उपयोगी नहीं हैं। वे तो बड़े तड़ाग की अपेक्षा एक छोटे-से कुएँ के ही बराबर हैं। वेद से तेरी मति मन्द हो गई है, अतः जब निश्चल बुद्धि होगी तभी योग प्राप्त होगा।

यह है गीता में वर्णित वेदों की कीर्ति! इस वर्णन में विलासियों के जितने लक्षण हैं वे सब वैदिकों में घटा दिये गये हैं, और वेदों को मोक्षमार्ग के लिए महान् हानिकारक बतलाया गया है। वेदों की इस निन्दा का कारण स्पष्ट है। आसुर सिद्धान्तप्रवर्तक वेदों की विधि और निषेध में बड़ी अड़चन देखते थे, इसीलिए उन्होंने वेद के विरुद्ध इस प्रकार की रचना की है, क्योंकि **'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'** वाक्य पर कहा गया है कि **'निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः'**, जिसका यही तात्पर्य है कि त्रिगुणातीत, अर्थात् अवैदिक हो जाने पर फिर कोई विधि-निषेध नहीं रहता।

यह सारा वृत्तान्त अधिक स्पष्ट हो जाता है जब हम आसुर उपनिषद् में लिखा हुआ पाते हैं कि उपनिषद् विद्या को ब्राह्मण नहीं जानते थे। छान्दोग्य ५।३।७ में लिखा है कि **'न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति'**, अर्थात् तुमसे पूर्व इस विद्या को ब्राह्मण नहीं जानते थे।

इसी प्रकार बृहदारण्यक ६।२।८ में लिखा है कि **'यथेयं विद्येतः पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास ताम्',** अर्थात् इसके पूर्व कोई ब्राह्मण इस विद्या को नहीं जानता था। इस वर्णन से यह ज्ञात हुआ कि इस आसुर उपनिषद् को, जो वेदों के विरुद्ध है, ब्राह्मण नहीं जानते थे। ठीक है, जो बात वेद में ही नहीं है उसको ब्राह्मण कैसे जानते, किन्तु प्रश्न तो यह है कि इसे जानता कौन था और यह आर्यों की विद्या है या नहीं। इस प्रश्न का उत्तर जब तक न गढ़ लिया जाता तब तक आर्यों में इसका प्रचार हो ही नहीं सकता था, इसलिए इन्होंने बेचारे क्षत्रियों को अपने अनुकूल बनाया, क्योंकि छान्दोग्य ५।३।७ में लिखा है कि **'सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत्',** अर्थात् इस विद्या में सदैव क्षत्रियों का ही अधिकार रहा है। इसी प्रकार फिर छान्दोग्य ३।११।४ में लिखा है कि **'तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः',** अर्थात् इस विद्या को ब्रह्मा ने प्रजापति को, प्रजापति ने मनु को और मनु ने प्रजा को बतलाया। इस प्रकार यह विद्या क्षत्रियों से ही प्रचलित हुई और उन्हीं में रही। इस उक्ति का कारण यह है कि ये मिश्रण करनेवाले विदेशी भी पहले के प्रायः क्षत्रिय ही थे। हम आर्यों के विदेशगमन में लिख आये हैं कि क्षत्रियजाति के कतिपय मनुष्य वृषल होकर आन्ध्रादि हो गये थे और आस्ट्रेलियादि देशों को चले गये थे। इस ऐतिहासिक सत्यता के आधार पर ही इन्होंने यह विद्या क्षत्रियों की बतलाई है और इसी आधार से इन्होंने कुछ क्षत्रियों को मिलाकर, उपनिषदों में मिश्रित आसुरी लीला का प्रचार करने के लिए एक गुप्त मण्डली भी बनाई थी[1]। इसी समस्त कार्यसाधन के लिए लिखा है कि यह विद्या क्षत्रियों की है। जो हो, परन्तु बड़े ही दुःख की बात है कि इस आसुरी उपनिषद् को इन जालसाज़ों ने हमारे आर्यमुकुट हिन्दूकुलपति पूज्य क्षत्रियों के नाम से प्रसिद्ध किया। यह प्रसिद्धि उपनिषदों तक ही नहीं रही। प्रत्युत यह ज़हर गीता में भी डाला गया है। गीता में स्पष्ट लिखा है कि—

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्। विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥
एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः। स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप॥
स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः। भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्॥[2]
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्। प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥

—भगवद्गीता[3]

अर्थात् इस विद्या को सूर्य ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु को सिखलाया। इस प्रकार इक्ष्वाकु से वंशपरम्पराप्राप्त यह विद्या क्षत्रिय राजर्षियों में चली आ रही है। यह राजविद्या है और गुप्तविद्या है। तू मेरा मित्र है, इसलिए हे अर्जुन! वह तुझे बतलाता हूँ।

उपनिषद् और गीता के इस समस्त वर्णन से, कम-से-कम इतना तो निर्णय हो ही गया कि उपनिषदों का बहुत-सा भाग वैदिक नहीं है और न उसका बहुत-सा भाग ब्राह्मणों द्वारा अनुमोदित ही है। इतना ही नहीं, प्रत्युत यह भी निर्णय हो गया कि वह एक गुप्त मण्डली के द्वारा आसुर प्रवृत्तिवाले राजनैतिक पुरुषों में वंशपरम्परा से आ रहा है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि इसका आर्यक्षत्रियों से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि इन उपनिषदों में असुरों की आसुरी लीला पर्याप्त परिमाण में पाई जाती है और इन उपनिषदों में आसुराचार्यों की जो वंशावलियाँ दी

---

१. जुलाई सन् १९१५ की 'सरस्वती' में पण्डित जनार्दन भट्ट एम०ए० लिखते हैं कि 'उपनिषद्, रहस्य और गुह्य आदि शब्द उस गोष्ठी के सूचक है, जो क्षत्रियों ने ब्रह्मविद्या के उपदेश के लिए बनाई थी'।

२. गीता ४।१-३

३. गीता ९।२

हैं, उनमें आये हुए भालुकी, क्रौंचकी, आसुरायण और वैयाघ्रपदी आदि नामों से ही पाया जाता है कि वे असुर हैं, क्षत्रिय नहीं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मविद्या का स्वाँग करनेवाले इन अवैदिकों के रहन–सहन से भी प्रतीत होता है कि वे वैदिक नहीं हैं। इन्हीं उपनिषदों में 'वैदिक ब्रह्मपरायणता और लौकिक ऐश्वर्य में क्या भेद है, पारलौकिक साधन के योग्य कौन नहीं हैं और ब्रह्म–प्राप्ति किससे होती है', आदि बातों का स्पष्ट वर्णन है। कठोपनिषद् में लिखा है कि श्रेय और प्रेय दो मार्ग हैं। श्रेय को विद्या और प्रेय को अविद्या कहते हैं। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं। श्रेय से निवृत्ति और निवृत्ति से मोक्ष होता है तथा प्रेय से प्रवृत्ति और प्रवृत्ति से जन्म–मरण होता है। धन, ऐश्वर्य आदि लौकिक सुखों का समावेश प्रेय में है और इन सबका त्याग तथा परलोकचिन्ता आदि का समावेश श्रेय में है[१]। इस भेद से प्रतीत होता है कि ब्रह्मप्राप्तिवाले वैदिक ब्रह्मज्ञानी श्रेयमार्गी थे[२]। आसुर उपनिषद् के आचार्य प्रेयमार्गी थे। उनके पास बड़े–बड़े मकान, वस्त्रालंकार, रथादि यान, दास–दासी, सुन्दरी स्त्रियाँ और मांस–शराब की पूरी भरमार थी। वे महाव्यभिचारी थे और उनके कृत्य आसुरी और राक्षसी थे।

यहाँ हम क्रम से उनकी उपर्युक्त समस्त बातें उपनिषदों से ही उद्धृत करते हैं। सबसे पहले हम यह दिखलाते हैं कि उनके बड़े–बड़े महल थे। छान्दो० ५।११।१ में उनको '**प्राचीनशाल औपमन्यवः। महाशाला महाश्रोत्रियाः**' लिखा है। इसी प्रकार मुण्डक १।१।३ में '**शौनको ह वै महाशालः**' लिखा हुआ है। इन वाक्यों में इनको बड़े–बड़े महलवाले कहा गया है। इसके सिवा कठोपनिषद् १।२५ में नचिकेता का आचार्य कहता है कि नचिकेता! तू मुझसे बड़े–बड़े मकान, ज़मींदारी, आभूषण, हाथी, घोड़े, पुत्र, पौत्र और सुन्दर–सुन्दर स्त्रियाँ माँग ले, परन्तु यह प्रश्न न कर। इन बातों से स्पष्ट हो जाता है कि आसुर उपनिषद् के आचार्य बड़े ऐश्वर्यवान् थे और उनको चेलों से ख़ूब धन मिलता था, क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद् ४।२।५ में एक असुर आचार्य की आय और चरित्र का वृत्तान्त इस प्रकार वर्णित है कि रैक्वनामी एक ऋषि के पास राजा जानश्रुति छह सौ गाएँ, सुवर्ण, मणि, रथ और बहुत–सा धन लेकर गये, परन्तु ऋषि ने कहा कि हे शूद्र! यह हमको नहीं चाहिए। राजा दुबारा एक हज़ार गौवें, बहुत–सा धन, अपनी कन्या और उस गाँव का पट्टा जिसमें ऋषि रहते थे लेकर गया और प्रणाम किया। कन्या को देखते ही ऋषि पिघल गये और—

तस्या ह मुखमुपोद् गृह्णन्नुवाचाऽऽजहारेमाः शूद्रानेनैव मुखेनाऽऽलापयिष्यथा इति।

अर्थात् राजा की उस कन्या के मुख को प्यार से देखकर ऋषि बोले कि हे शूद्र! यह जो भेंट लाये हो सो ठीक है, अब इस कन्या के मुख से ही (इसके मुखकमल के कारण ही) आप मेरा भाषण सुन सकेंगे।

इस घटना से सहज ही विचार होता है कि यह किस प्रकार का ऋषि था, इसका क्या व्यवसाय था और उस समय के धर्मान्ध चेले कैसे थे? हमारी समझ में तो वे आजकल के धर्मान्धों से कम नहीं था। उस समय बड़ा ही अत्याचार हो रहा था। इन असुराचार्यों के पास सिवा इस कामकला के और कोई काम ही न था, क्योंकि आसुर उपनिषद् का निम्न वर्णन कोकशास्त्र को भी मात कर रहा है। बृहदा० ६।२।१३ में और छान्दोग्य ५।८।१–२ में लिखा है कि—

---

१. कठोपनिषद् २।१–५

२. यात्रामात्र प्रसिध्यर्थम्। —मनुस्मृति

योषा वा अग्निर्गौतम तस्य उपस्थ एव समिल्लोमानि धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुल्लिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेता जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषः सम्भवति॥ योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते सधूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुल्लिङ्गाः ॥ १ ॥ तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति तस्या आहुतेर्गर्भः सम्भवति॥ २ ॥

उक्त दोनों वर्णन एक ही भाषा में एक ही भाव के व्यक्त करनेवाले हैं। इनमें अश्लीलता की पराकाष्ठा है। इनका अर्थ लिखने में भी संकोच होता है। भाव यह है कि स्त्री अग्नि है, पुरुषेन्द्रिय ही समिधा है, स्त्री का गुप्ताङ्ग ही ज्वाला है, उसका आकर्षण ही धूम है, प्रवेश ही अंगार है, आनन्द ही चिनगारी है और रेत ही आहुति है।

इस वर्णन में यज्ञ के लिए बड़ी ही घृणित उपमा दी गई है। यह उपमा नहीं है, प्रत्युत वैदिक यज्ञों और कर्मकाण्डों की निन्दा करके इसी प्रकार के यज्ञों का प्रचार किया गया है। इसी के लिए लिखा है कि यह विद्या ब्राह्मण नहीं जानते थे। यह तो यज्ञ की उपमा हुई, अब तनिक वेदपाठ की उपमा सुनिए। सभी जानते हैं कि वेदपाठ में सामगान की महिमा महान् है। उसके गान की बहुत-सी उपमाएँ भी हैं, परन्तु आसुर उपनिषद् जो उपमा देता है और जिस सिद्धान्त का उपदेश करता है वह महान् अश्लील और भयंकर है। छान्दोग्य में लिखा है कि—

उपमन्त्रयते स हिङ्कारो ज्ञपयते स प्रस्तावः स्त्रिया सह शेते स उद्गीथः प्रति स्त्रीं सह शेते स प्रतिहारः कालं गच्छति तन्निधनं पारं गच्छति तन्निधनमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतम्।

—छान्दो० २।१३।१

अर्थात् सन्देशा भेजना हिंकार, सङ्केत करना प्रस्ताव, रति उद्गीथ, प्रत्येक स्त्री के साथ मुँह काला करना प्रतिहार और रुकावट तथा वीर्यपात निधन है। यह वामदेव्य गान मैथुन के द्वारा समझाया गया है। इसमें हिंकार, प्रस्ताव, उद्गीथ आदि सामगायन की विधियाँ हैं। स्वरसाधन, राग का अलाप, सरगम आदि जिस प्रकार प्रारम्भ किये जाते हैं उसी प्रकार सामगायन की विधि में भी हिंकार, प्रस्ताव आदि होते हैं। उनके साथ-साथ मैथुन, वह भी प्रत्येक स्त्री के साथ बलात्कर किस प्रकार पवित्र सामवेद को कलङ्कित किया गया है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। इसके आगे फिर कहते हैं—

स य एवमेतद्वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद मिथुनी भवति मिथुनान्मिथुनात्प्रजायते सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या न काञ्चन परिहरेत्तद् व्रतम्॥[1]

अर्थात् जो वामदेव्य गान को मैथुन में ओतप्रोत जानता है वह मिथुनी (मैथुन में प्रवीण) होता है, इस मैथुन से सन्तानवाला होता है, सारी आयु सुखी रहता है, बहुत दिन जीता है, बड़ा धनी और कीर्तिवाला होता है, इसलिए किसी स्त्री को न छोड़ना चहिए, यही व्रत है।

इसका भाष्य करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि '**न काञ्चन काञ्चिदपि स्त्रियं स्वात्मतल्प-प्राप्तां न परिहरेत्समागमार्थिनीम्**', अर्थात् समागम चाहनेवाली जो अपनी शय्या पर आवे तो ऐसी किसी भी स्त्री को न छोड़े। अब भी कुछ शेष रह गया? हम नहीं कह सकते कि इसमें कौन-सी विशेषता है और ब्रह्मविद्या से इसका क्या सम्बन्ध है? क्या उपनिषदों में ऐसी बातें होनी चाहिएँ? इसपर कई एक टीकाकारों ने '**न काञ्चन परिहरेत्**' का अर्थ यह किया है कि दम्पती परस्पर किसी को न छोड़े, परन्तु पहली श्रुति में '**प्रतिस्त्री सह शेते**', अर्थात् प्रत्येक स्त्री

---

१. छान्दोग्य २।१३।२

के साथ सोवे, लिखा है। इससे किसी को भी न छोड़े यह घृणित वाक्य पवित्र दम्पतिप्रेम में नहीं बैठता। यह तो सारा वर्णन व्यभिचार के ही प्रचार का है, क्योंकि बृहदारण्यक ६।४।१२ में लिखा है कि **'अथ यस्य जायायै जारः स्यात्तं चेद् द्विष्यादामपात्रेऽग्निमुपसमाधाय०'**, अर्थात् व्यभिचारिणी स्त्री को इस विधि से शुद्ध कर देना चाहिए। इससे यह सिद्ध होता है कि असुराचार्य व्यभिचार को युक्ति से बड़ी ही सरलता दे रहे हैं। यज्ञ और वेद के स्थान में प्रति स्त्री के साथ मुँह काला करना, किसी को न छोड़ना और उन स्त्रियों को इस विधि से शुद्ध करके उनके घरवालों को समझा देना ही इनका उद्देश्य प्रतीत होता है। जहाँ वेद कहते हैं कि **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'**[1], अर्थात् ब्रह्मचर्य से ही देवता अमृत को प्राप्त होते हैं और जहाँ छान्दोग्य ८।४।३ कहता है कि **'तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति'**, अर्थात् वे निश्चय ही ब्रह्मचर्य से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं और ब्रह्मलोकवासी सब लोकों में जानेवाले इच्छाचारी होते हैं, वहाँ आसुर उपनिषद् की अश्लील और बीभत्स काम-कथाएँ आकाश-पाताल का अन्तर पैदा कर देती हैं। यही नहीं कि आसुर उपनिषदों ने व्यभिचार को ही स्थान दिया है। वे मांस खाने का भी आदेश करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में है कि—

अथ य इच्छेत्पुत्रो मे पण्डितो विगीतः समितिंगमः शुश्रूषितां वाचं भाषिता जायेत सर्वान्वेदाननुब्रुवीत सर्वमायुरियादिति माꣳसौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयित वा औक्षेण वाऽऽर्षभेण वा। —बृहदा० ६।४।१८

अर्थात् यदि इच्छा हो कि मेरा पुत्र पण्डित, सभा में जाने योग्य, अच्छा भाषण करनेवाला, सब वेदों का ज्ञाता और सारी आयु सुख से रहनेवाला हो तो उसे चाहिए कि वह घोड़े या बैल का मांस घृत मिले भात के साथ खावे।

गाय, बैल, घोड़ा, बकरी, भेड़ी—ये तो आर्यों की बड़ी प्यारी वस्तुएँ हैं। इनको मारना और खाना उनकी संस्कृति के विरुद्ध है, इसलिए यह कभी सम्भव नहीं है कि आर्यों ने इस प्रकार की शिक्षा दी हो। यह सारा हत्याकाण्ड तो अनार्यों का ही है। गीता में ठीक ही लिखा है कि **'यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्'**[2], अर्थात् ये असुर यज्ञों में मांस, मद्य और व्यभिचार की ही प्रधानता रखते हैं, इसीलिए इन अनार्य असुरों ने समस्त राक्षसी लीला को ब्रह्मविद्या के नाम से उपनिषदों में बड़ी ख़ूबी के साथ मिश्रित किया है। वे समझते थे कि सभी चाहते हैं कि हमारे घर में सर्वाङ्ग सुन्दर और विद्वान् लड़का हो, अतः ऐसी शास्त्राज्ञा पाकर सभी की प्रवृत्ति मांस खाने की ओर हो जाएगी। वही हुआ भी। आर्यजाति इसी प्रकार के आसुरी साहित्य के कारण मांसभक्षण जैसे आसुरी स्वभाव को शास्त्रीय माननेवाली हो गई। इतना ही नहीं हुआ प्रत्युत बृहदारण्यक ४।३।२१ और ४।३।३४ में ब्रह्मानन्द जैसे उच्चपद की उपमा स्त्रीभोग से देकर इन्होंने आर्यों को ब्रह्मप्राप्ति की ओर से भी हटाकर महाकामी बना दिया है और उसी प्रकरण के आगे लिख दिया है कि **'एतस्मिन् स्वप्नान्ते रत्वा चरित्वा'**[3], अर्थात् बेहोशी की हालत में—सुषुप्ति में—मनुष्य आनन्द प्राप्त करता है। इस वाक्य से ज्ञात होता है कि ये लोग शराब पीकर ही यह सुषुप्ति प्राप्त करते थे, क्योंकि जहाँ मांस हो और व्यभिचार हो वहाँ सुरा होनी ही चाहिए। यही कारण है कि तैत्तिरीयब्राह्मण में सुरा का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि **'यस्य पिता पितामहादि सुरां न पिबेत् स व्रात्यः'**, अर्थात् जिसके पिता-पितामहादि शराब न पीते हों,

---

१. अथर्व० ११।५।१९ २. गीता १६।१७

३. बृह० ४।३।३४

वह नीच है।

इस प्रकार यहाँ तक हमने उपनिषदों में आसुरी सिद्धान्तों के मिश्रण के अनेक प्रमाण दिये। अब हम नहीं समझते कि इस प्रकार के प्रमाणों की और आवश्यकता है। गीता में जितने लक्षण आसुरी सम्पत्तिवालों के लिखे हैं, वे सब इन उपनिषदों में मिश्रण करनेवालों के साथ मिल जाते हैं। कामी, दम्भी, धनलोलुप, मांस-मद्य से यज्ञ करनेवाले और अपने आपको परमेश्वर मानकर इस लोक के सुखोपभोग में जीवन बितानेवालों को गीता में आसुरी सम्पत्तिवाला बतलाया गया है[१]। वही सब बातें हमने इन मिश्रणकर्ताओं में भी देखीं, इसलिए अब यह माने बिना छुटकारा नहीं है कि ये समस्त सिद्धान्त आसुरी हैं। गीता में भी आसुरी सिद्धान्तों का मिश्रण है, क्योंकि उसमें भी दुराचरियों को मोक्षभागी बताया गया है[२]। इस प्रकार हमने देखा कि प्रस्थानत्रयी के दोनों प्रधान साहित्य—उपनिषद् और गीता—आसुर सिद्धान्तों से परिपूर्ण हैं। इसके आगे अब हम ब्रह्मसूत्रों की आलोचना करते हैं और देखते हैं कि उनमें भी क्या-क्या लीला हुई है।

ब्रह्मसूत्रों की नवीनता

प्रस्थानत्रयी के प्रधान साहित्य उपनिषद् की विशेष रीति से और दूसरे साधारण साहित्य गीता की साधारण रीति से आलोचना हो गई। दोनों साहित्यों में आसुरी सिद्धान्तों का मिश्रण सिद्ध हो गया था। अब उक्त दोनों पुस्तकों के आसुरी सिद्धान्तों को दार्शनिक रूप देने के लिए जो वेदान्तदर्शन नामी नवीन दर्शन गढ़ा गया है उसकी भी आलोचना कर लेनी चाहिए। वेदान्तदर्शन—उत्तरमीमांसा—ब्रह्मसूत्र आदि शब्द एक ही ग्रन्थ के वाचक हैं। यह प्रसिद्ध है कि ये सूत्र वेदव्यास के ही रचे हुए हैं, परन्तु हमारा विश्वास है कि यह पुस्तक साद्यन्त वेदव्यासकृत नहीं है। शायद इस बात में हम भूलते हों तो इसमें तो कुछ सन्देह ही नहीं है कि इसमें वेदव्यास की रचना बहुत थोड़ी है। रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम०ए० 'महाभारतमीमांसा' के पृष्ठ ५५ पर लिखते हैं कि 'ब्रह्मसूत्र नामक भी कोई ग्रन्थ रहा होगा और वह वेदान्तसूत्रों में सम्मिलित कर दिया होगा।' इससे पाया जाता है कि समग्र ब्रह्मसूत्र वेदव्यासकृत नहीं है,

---

१. द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च। देवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरम्पार्थ मे शृणु॥ ६॥
प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते॥ ७॥
काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः॥ १०॥
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः॥ ११॥
इदमद्य मया लब्धमिदम्प्राप्स्ये मनोरथम्। इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्॥ १३॥
असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्॥ ८॥
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहम्बलवान् सुखी॥ १४॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया॥ १५॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ १६॥
आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्॥ १७॥
अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः॥ १८॥
आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि॥ २०॥ —गीता अ० १६

२. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि॥
अपिचेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ —गीता ९। ३०

इसीलिए वेदान्तदर्शन के अधिकांश स्थल वेदानुकूल नहीं हैं। **'शास्त्रयोनित्वात्'**[१], यह एक सूत्र है जो ईश्वरसिद्धि के लिए इसमें दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर न होता तो संसार में ज्ञान कैसे आता? दूसरी दलील **'जन्माद्यस्य यतः'**[२] की दी गई है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर न होता तो संसार की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय कैसे होती? बस, यही दो सूत्र ईश्वरसिद्धि के लिए हैं। इनमें वेदों की कोई बात नहीं है। इसके आगे तीसरी दलील यह है कि **'तत्तु समन्वयात्'**[३], अर्थात् उसका समन्वय होने से—वर्णन होने से—उसका अस्तित्व है। ब्रह्मसूत्रों में समन्वय के जितने प्रमाण उद्धृत किये गये हैं, वे सब उपनिषद् और गीता के ही हैं। उपनिषद् और गीता के भी अधिकतर वही स्थल उद्धृत हुए हैं, जो आसुर हैं। वेद से कुछ भी उद्धृत नहीं किया गया। यदि कहीं वेदों की चर्चा आई है तो भाष्यकारों की ओर से आई है, मूलग्रन्थ की ओर से नहीं। ऐसी दशा में उसे वेदानुकूल कैसे कह सकते हैं? जो ग्रन्थ जिसके अनुकूल होता है, वह उसकी बात अवश्य कहता है, परन्तु यहाँ तो उपनिषदों के शब्दों से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है और वेदों का नाम तक भी नहीं है। इस ग्रन्थ ने उपनिषदों को श्रुति और गीता को स्मृति बनाने में बड़ा ज़ोर लगाया है। इससे वास्तविक श्रुति और स्मृति की मान-मर्य्यादा का बहुत ही ह्रास हुआ है, क्योंकि जो उपनिषद् और गीता वेदों और ब्राह्मणों का तिरस्कार करते हैं उन्हीं को श्रुति और स्मृति बतानेवाला यह ग्रन्थ वेदों के अनुकूल कैसे हो सकता है?

वेदान्तदर्शन की वेदविरुद्धता इस बात से भी प्रतीत होती है कि उसमें सब दर्शनों का—न्याय, वैशेषिक, योग, सांख्य, मीमांसा का—खण्डन है। शंकराचार्य ने वेदान्त के सूत्रों से ही समस्त दर्शनों का खण्डन किया है, परन्तु हम देखते हैं कि वैशेषिक आदि दर्शन वेदों को बुद्धिपूर्वक बतलाते हैं, इसलिए वे वेदानुकूल हैं, परन्तु उनका खण्डन करनेवाला वेदों के अनुकूल कैसे हो सकता है? योगदर्शन पर वेदव्यास ने भाष्य किया है। यदि योगदर्शन खण्डन करने के योग्य होता तो वे उसका भाष्य क्यों करते? इससे तो यही सूचित होता है कि योग का खण्डन करनेवाला वेदान्तदर्शन वेदव्यास की रचना भी नहीं है, क्योंकि यदि यह वेदव्यास की रचना होती तो उसमें बौद्धों के सिद्धान्त का खण्डन न होता, परन्तु वेदान्तदर्शन में बौद्धों के उभय समुदाय का खण्डन है, इससे वह वेदव्यासकृत नहीं है। बौद्धशास्त्रों का स्वाध्याय करनेवाले जानते हैं कि बौद्धधर्म के चार भेद हैं। इन चारों में से दो दल ज्ञानादिक पदार्थों को क्षणिक मानते हैं। ये दोनों दल संसार में दो प्रकार के समुदाय मानते हैं। पहले समुदाय में भूमि, जल, तेज और वायु के परमाणु सम्मिलित हैं। ये बाह्यसमुदाय कहलाते हैं। दूसरे समुदाय में रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार के पाँच स्कन्ध सम्मिलित हैं। ये अन्तःसमुदाय कहलाते हैं। यही दोनों समुदाय इस सृष्टि का कारण बतलाये जाते हैं और इन्हीं दोनों समुदायों पर वेदान्तदर्शन २।२।१८ में **'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः'** सूत्र की रचना हुई है। इस सूत्र का अर्थ यह है कि दोनों समुदायों के जड़ होने के कारण उन दोनों से संसार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस वर्णन से स्पष्ट हो गया कि वेदान्तदर्शन वेदव्यासकृत नहीं है, क्योंकि वेदव्यास के पन्द्रह सौ वर्ष बाद बुद्ध भगवान् का जन्म हुआ है और उनके चार सौ वर्ष बाद बौद्धों में चार प्रकार के सम्प्रदायों का विस्तार हुआ है। ऐसी दशा में ये सूत्र व्यासकृत कैसे हो सकते हैं?

वेदान्तदर्शन के अनेक सूत्र तैत्तिरीय और बृहदारण्यक उपनिषद् के आधार पर बने हैं, इसलिए भी वेदान्तदर्शन वेदव्यासकृत नहीं हो सकता, क्योंकि हम रावणकृत कृष्णयजुर्वेद की

---

१. वेदान्त० १।१।३
२. वेदान्त० १।१।२
३. वेदान्त० १।१।४

उत्पत्ति के इतिहास में लिख आये हैं कि वह व्यास के शिष्य के शिष्य याज्ञवल्क्य के समय में वर्त्तमान रूप में सम्पादित हुआ है। उसके बहुत दिन बाद उसका ब्राह्मण बना और ब्राह्मण के बहुत दिन बाद उसके उपनिषद् का पृथक् अस्तित्व हुआ, अर्थात् तैत्तिरीय उपनिषद् वेदव्यास के बहुत दिन बाद इस रूप में आया, परन्तु वेदान्तदर्शन का द्वितीय सूत्र तैत्तिरीय उपनिषद् के '**यतो वा इमानि भूतानि०**' वाक्य के आधार पर बना है, इसलिए वेदान्तदर्शन व्यासकृत नहीं हो सकता। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् के अन्त में उसी कृष्णयजुर्वेद की उत्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाला '**आदित्यानीमानि शुक्लानि यजूꣳषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्ते**'[१], यह वाक्य लिखा हुआ है, जिससे प्रतीत होता है कि यह उपनिषद् भी वेदव्यास के बहुत दिन बाद सङ्कलित हुआ है, परन्तु वेदान्तदर्शन का तृतीय सूत्र बृहदारण्यक उपनिषद् के '**एतस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेवैतत्**'[२] वाक्य के आधार पर बना है, इसलिए भी वेदान्तदर्शन वेदव्यास का बनाया हुआ सिद्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त वेदान्तदर्शन में अनेक जगह वेदव्यास के नाम से उनकी सम्मति उद्धृत की गई है। उनकी ही नहीं, प्रत्युत उनके पुत्र शुकदेवमुनि की और उनके पिता पराशरजी की भी सम्मति लिखी गई है। जिन सूत्रों में वेदव्यास की सम्मति का वर्णन है वे ये हैं—

पूर्वं तु बादरायणो हेतुत्वव्यपदशात्। —वेदान्त० ३।२।४१
पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः। —वेदान्त० ३।४।१
अनुष्ठेयं बादरायणः साम्मश्रुतेः। —वेदान्त० ३।४।१९
द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽ तः। —वेदान्त० ४।४।१२

यह प्रसिद्ध है कि वेदव्यास का नाम बादरायण भी था। ऐसी दशा में वेदव्यास ही अपनी रचना में अपनी सम्मति कैसे उद्धृत करते? इसलिए यह निर्विवाद है कि यह रचना वेदव्यास की नहीं है। वेदव्यास की रचना न होने का एक प्रमाण यह भी है कि उसपर किसी प्राचीन भाष्यकार का भाष्य नहीं है। लोग कहते हैं कि इसपर कोई बौद्धायनी टीका थी, परन्तु पता नहीं कि वह थी या नहीं। इसके अतिरिक्त जितने जाली ग्रन्थ बने हैं उनमें अधिकांश वेदव्यास के ही नाम से बने हैं। ब्रह्मसूत्र भी वेदव्यास के ही नाम से प्रसिद्ध हैं, परन्तु ये भी किसी दूसरे के ही बनाये हुए हैं। यह बात उस समय अधिक पुष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि भागवत और इस वेदान्तसूत्र का आरम्भ एक ही वाक्य से होता है। भागवत का '**जन्माद्यस्य यतः**' और वेदान्तदर्शन का '**जन्माद्यस्य यतः**' दोनों एक ही हैं। भागवत के कर्ता का अब तक कोई पक्का पता नहीं लगा, इसलिए इस वेदान्तसूत्र के रचयिता का भी कोई पक्का पता नहीं है। लोग कहते हैं कि गीता भी वेदव्यास कृत है, परन्तु उसमें आये हुए—

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्। ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः॥
—गीता [१३।४]

इस श्लोक से पाया जाता है कि उनके समय में भी कोई ब्रह्मसूत्र थे। इधर देखते हैं कि वेदान्तसूत्रों में अनेक सूत्र गीता के श्लोकों के आधार पर भी रचे गये हैं, ऐसी दशा में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि वेदव्यास ने पहले कौन-सा ग्रन्थ रचा? गीता के पूर्व ब्रह्मसूत्र उपस्थित हैं और ब्रह्मसूत्रों के पूर्व गीता उपस्थित है। ऐसी दशा में यही कहना सरल प्रतीत होता है कि ये दोनों ग्रन्थ वेदव्यास की रचना नहीं हैं। यहाँ हम थोड़े-से वे सूत्र उद्धृत करते हैं जो गीता

---

१. बृ० ६।५।३ २. बृ० २।४।१०

के श्लोकों के आधार पर बनाये गये हैं। वेदान्तसूत्र १।२।६ का **'स्मृतेश्च'** सूत्र गीता के **'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति'**[१] के आधार पर बनाया गया है और **'अपि च स्मर्यते'** (वेदान्त० २।३।४५) सूत्र **'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः'**[२] के आधार पर बनाया गया है। इसी प्रकार **'अपि च स्मर्यते'** (वेदान्त० १।३।२४) सूत्र गीता के **'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः'**[३] के आधार पर बनाया गया है। इन सब सूत्रों में स्मृति के प्रमाणों की जिज्ञासा पाई जाती है और वह गीता से ही पूरी की जाती है। जिस प्रकार श्रुति का स्थान उपनिषदों को दिया गया है उसी प्रकार स्मृति का स्थान गीता को दिया गया है। शंकराचार्य ने स्पष्ट कर दिया है कि स्मृति शब्द से गीता का ही ग्रहण है। वेदान्तसूत्र के २।३।४५वें और १।३।२४वें सूत्र के भाष्य में वे स्वयं लिखते हैं कि **'स्मर्यते भगवद्गीतासु गीतास्वपि च स्मर्यते'**, अर्थात् गीतास्मृति में यह बात है। इन वर्णनों से पुष्ट हो जाता है कि उक्त सूत्र गीता के ही आधार पर बने हैं। गीता में भी ब्रह्मसूत्रों का वर्णन विद्यमान है, इसलिए वेदान्तसूत्र गीतावाले व्यास के बनाये हुए नहीं हैं। ये उन बादरायण के बनाये हैं, जिनका वर्णन हम प्रस्थानत्रयी की उत्पत्ति के साथ कर आये हैं। वे मद्रास-निवासी द्रविड़ थे। उन्हीं से प्रस्थानत्रयी के शाखा की परम्परा चली है। इनका स्मरण अब तक शंकराचार्य की गुरुपरम्परा में किया जाता है[४]।

हमने यहाँ तक प्रस्थानत्रयी की पड़ताल करके देखा कि उसमें आसुर दर्शन का मिश्रण है और वह मिश्रण रावण के समय में आरम्भ हुआ था जो बादरायण, शुक, गोविन्दनाथ और शंकराचार्य के समय तक चलता रहा और प्रस्थानत्रयी के नाम से सम्मानित हुआ। इसी के द्वारा बौद्धों और जैनों को नष्ट किया गया और इसी के द्वारा भारतवर्ष में अनेक सम्प्रदायों को जन्म दिया गया। द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और द्वैताद्वैत आदि दर्शनों तथा शाक्त, शैव, वैष्णव आदि सम्प्रदायों को इसी दल और इसी साहित्य ने उत्पन्न किया। शंकराचार्य ने रावणकृत लिंग-पूजा को शिवलिंग-पूजा में परिवर्तित किया और यज्ञों में गोवध तथा मांसाहार को सहारा दिया। बात आ पड़ने पर वे कह देते कि—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतौ नायं हन्ति न हन्यते॥

अर्थात् जो मारनेवाले को हिंसक समझते हैं और जो हत को मारा हुआ समझते हैं, वे दोनों ही अज्ञ हैं। इनमें न किसी ने मारा है और न कोई मरा है।

इन बातों से और **'कूटस्थ चेतन'** और **'चिदाभास'** आदि नवीन पारिभाषिक शब्दों की रचना से लोगों में कोलाहल मच गया। लोगों ने कह दिया कि शंकराचार्य वर्णाश्रम को नहीं मानते, क्योंकि वे कहते हैं कि वर्ण, आश्रम, वेद, यज्ञ आदि कुछ भी नहीं हैं,[५] इसलिए शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं[६]। उनके विरुद्ध अनेक श्लोक स्कन्दपुराण के उत्तराखण्ड में स्कन्द के मुँह से कहलाकर लिखे गये हैं। वे हमें एक मरहटी पत्र में मिले हैं जो अशुद्ध और अस्तव्यस्त

---

१. गीता १८।६१
२. गीता १५।७
३. गीता १५।६
४. व्यासः पराशरसुतः किल सत्यवत्यां तस्मादभूच्छुकमुनिः प्रथितानुभावः।
तच्छिष्यतामुपगता किल गौडपादः गोविन्दनानिरस्य च शिष्यभूतः॥ —शंकरदिग्विजय
५. न वर्णा न वर्णाश्रमाचारधर्मा न मे धारणाध्यानयोगादयोऽपि न।
न माता पिता वा न देवा न लोका न वेदा न यज्ञा न तीर्थं ब्रुवन्ति।
६. मायावादमसच्छास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धमेव च।

प्रतीत होते हैं, परन्तु हम उनको ज्यों-का-त्यों फुटनोट में लिख देते हैं[१]। हमारे इस समस्त विवेचन का उद्देश्य केवल इतना ही है कि यह बात अच्छी प्रकार सिद्ध हो जाए कि नवीन दर्शन और नवीन सम्प्रदायों का जन्म मद्रास से ही हुआ है। हम यहाँ द्वैत और अद्वैत पर बिलकुल बहस नहीं करते, क्योंकि वैदिकों के मत में न तो द्वैत ही होता है न अद्वैत ही। वेदों में द्वैत-अद्वैत का झगड़ा ही नहीं है। वेदों के सिद्धान्तानुसार द्वैत में अद्वैत और अद्वैत में द्वैत सदैव बना रहता है। वेद में तो स्पष्ट लिखा है कि **'तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः'**[२], अर्थात् वह परमात्मा इस सबके भीतर भी है और बाहर भी है। जो सब के भीतर और बाहर भी भरा है और जो **'यत् किञ्च जगत्यां जगत्'**[३], अर्थात् यत् किञ्चस्थान में भी उपस्थित है, उसके अतिरिक्त अन्य वस्तु का कहाँ अवकाश है और अन्य वस्तु उसके अस्तित्व के अतिरिक्त कहाँ रह सकती है। इसी प्रकार अनिर्वचनीय माया और मायाविशिष्ट चेतन के बिना उस व्यापक का अस्तित्व ही कहाँ रह सकता है और वह बिना व्याप्य के किसका व्यापक हो सकता है, इसीलिए कोई ऐसा अद्वैतवादी नहीं है जो अनिर्वचनीय जैसी कोई वस्तु और मायामोहित जीव-जैसा एक पदार्थ अनादि न मानता हो और कोई ऐसा द्वैतवादी नहीं है जो तीनों पदार्थों को व्याप्य-व्यापकभाव से एक न मानता हो। हमारी समझ में तो अनिर्वचनीय माया और मायाविशिष्ट चेतन को अनादि मान लेने पर और दोनों में परमात्मा को ओतप्रोत व्यापक मान लेने पर द्वैत-अद्वैत में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता। इस प्रकार के समतोल सिद्धान्त में जो मनुष्य तनिक-सा भी सुधार करने जाएगा वह आर्यों की प्राचीनतम तत्त्वज्ञानविषयक परिस्थिति में बहुत बड़ा धक्का लगाएगा, इसलिए वैदिकों में द्वैत-अद्वैत के नाम से सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। द्वैत-अद्वैत के सम्प्रदायों की सृष्टि तो वैदेशिक है और अनार्ष है।

हम ऊपर लिख आये हैं कि शैवधर्म और आसुर उपनिषद् के प्रचार से बौद्धों का नाश हो गया, किन्तु जो शुद्ध बौद्ध होकर अच्छी स्थिति में पहुँच चुके थे, वे फिर हिन्दूधर्म में आने से शूद्र ही रह गये और उच्चजाति के लोगों के द्वारा सताये जाने लगे, क्योंकि बौद्ध होकर शूद्रों ने द्विजातियों की समानता करना आरम्भ कर दिया था, इसलिए उच्च हिन्दुओं ने इनपर अत्याचार करना शुरू किया। वेद पढ़ने पर उनकी जिह्वा काटी जाने लगी और वेद के सुनने से उनके कानों में गर्म सीसा डलवाया जाने लगा[४]। यही कारण है कि अब तक उनको अस्पृश्य बताकर रास्ता बन्द करना, उनकी छाया से घृणा करना और उनके साथ बोलने में भी संकोच करना मद्रास प्रान्त में ही प्रचलित है, अन्यत्र नहीं। अगले समय में यह अत्याचार और भी अधिक भयङ्कर था। इस अत्याचार से मुक्ति पाने के लिए नीचकुलोत्पन्न शठकोपाचार्य आदि साधु पुरुष उद्योग कर रहे

---

१. मणिमत्पूर्वका दुष्टा दैत्या आसन् कलौ युगे। ते कुशास्त्रं प्रकुर्वन्तो हरिवायुविरोधिनः ॥
तेषां मध्ये शंकरस्तु पूर्वं यो मणिमान् खलः। सौगन्धिकवने दिव्ये भीमसेनहतोऽसुरः ॥
यः क्रोधतन्त्रको दुष्टो मिथ्या शास्त्रं वदन् पुनः। कृष्णो भीमे च विद्वेषं कुर्वन् भूमावजायत ॥
कालडीग्रामके रुद्र वराञ्जगद्विमोहयन्। बौद्धशास्त्रपरो विप्रो यः कश्चिद्वापरशिष्यकः ॥
स शंकरश्च संन्यस्य तस्मात्संन्यासरूपिणः। वेदान्तमतमित्येतद् दुष्टशास्त्रं चकार ह ॥

२. यजुः० ४०।५ ३. यजुः० ४०.१

४. वेदान्तदर्शन १।३।३८ के **'श्रवणाध्ययनप्रतिषेधात् स्मृतेश्च'** के भाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं कि **'अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणम्। उच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे हृदयविदारणम्। पद्यु ह वा एतद् श्मशानं तस्मात् शूद्रसमीपे नाध्येतव्यम्'**, अर्थात् यदि शूद्र वेद को सुन ले तो उसके कानों में गर्म सीसा और लाख डाली जावे, यदि पढ़े तो जिह्वा काट ली जावे और यदि याद करे तो हृदय फाड़ डाला जावे, क्योंकि शूद्र श्मशान के तुल्य अपवित्र है, इसलिए उसके निकट स्वयं भी न पढ़े।

थे। उनमें अरबदेशनिवासी, ब्राह्मणकुलोत्पन्न और अलग्ज़ेंड्रिया विद्यालय का ग्रेजुएट यवनाचार्य आ मिला। इन सबने मिलकर तथा अत्याचारी स्मार्तों से पृथक् होकर बौद्ध और नवीन हिन्दुओं के कुछ-कुछ तत्त्व एकत्र करके वैष्णवधर्म की नींव डाली, इसीलिए भागवत के माहात्म्य अध्याय १ श्लोक ४८ के अनुसार भक्ति कहती है कि—

उत्पन्ना द्राविडे साहं वृद्धिं कर्णाटके गता
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता।

अर्थात् मैं द्रविड़ देश में पैदा हुई, कर्णाटक में बढ़ी, थोड़ा-बहुत महाराष्ट्र में भी बढ़ी और गुजरात में आकर वृद्ध हो गई।

यहाँ भक्ति से अभिप्राय वैष्णव-सम्प्रदाय से ही है। इसे सबसे प्रथम मद्रासप्रान्तनिवासी विष्णुस्वामी ने ईस्वी सन् की तीसरी शताब्दी में चलाया, परन्तु इसको इस सम्प्रदाय के दूसरे आचार्य रामानुज ने चमकाया। ये भी मद्रासप्रान्त ही में पैदा हुए और इन्होंने भी उसी प्रस्थानत्रयी का सहारा लिया। वैष्णवों का तीसरा सम्प्रदाय निम्बार्क स्वामी ने चलाया। ये भी मद्रासी ही थे। इनका जन्म हैदराबाद राज्य के बेदर गाँव में हुआ, जिसे कोई-कोई वैदूर्यपत्तन और पण्डरपुर भी कहते हैं। वैष्णवधर्म का चौथा सम्प्रदाय वल्लभसम्प्रदाय कहलाता है। यह भी मद्रासप्रान्तनिवासी तैलङ्गी ब्राह्मणों से ही चला। इन चारों के दार्शनिक सिद्धान्त भिन्न-भिन्न हैं। कोई द्वैत, कोई विशिष्टाद्वैत, कोई शुद्धाद्वैत और कोई द्वैताद्वैत के माननेवाले हैं। जिस प्रकार अद्वैतदर्शन का शैवसम्प्रदाय मद्रासप्रान्त से चला है, उसी प्रकार वैष्णवधर्म भी वहीं पर पैदा हुआ और उसकी सभी शाखाओं के आचार्य वहीं के रहनेवाले द्रविड़ ही हैं। रावणादि का वाममार्ग, शंकराचार्य का शैवमत और वैष्णवों का भक्तिमार्ग द्रविड़ों से ही पैदा हुआ है, अर्थात् भारतवर्ष में द्वैत, अद्वैत आदि दार्शनिक और शैव, वैष्णवादि जितने सम्प्रदाय हैं सबकी उत्पत्ति का स्थान मद्रासप्रान्त के द्रविड़ों के ही घर हैं। रामानुज वैष्णव होते हुए भी यज्ञों में पशुवध को मानते थे। यह बात उन्होंने स्पष्टरूप से लिख दी है, अर्थात् मांस-मद्य को ये समस्त सम्प्रदायप्रवर्तक उसी प्रकार मानते आ रहे हैं जिस प्रकार पूर्व समय के रावणादि मानते थे। उसी प्रकार रावण की भगलिङ्गपूजा भी शंकराचार्य की शिवपार्वती होकर, रामानुजाचार्य की लक्ष्मीनारायण बनकर अन्त में बल्लभाचार्य के द्वारा राधाकृष्ण हो गई। राधाकृष्ण व्यभिचार के देवता बने और उसी वाममार्ग का प्रचार होने लगा जो रावण के समय में था। जिस प्रकार वाममार्गी कहते हैं कि '**अहं भैरवस्त्वं भैरवी**' उसी प्रकार वल्लभकुलवाले भी कहते हैं कि '**कृष्णोऽहं भवती राधा आवयोरस्तु संगमः**', अर्थात् मैं कृष्ण हूँ तू राधा है, हम दोनों का....... । इनकी समस्त लीला का रहस्य उस मुक़द्दमे से खुलता है जिसका नाम 'महाराज लाइबल केस' है। यह प्रसिद्ध है कि मुम्बई में इनके अत्याचारों से घबराकर इन के शिष्यों ने ही इनपर एक मुक़द्दमा चलाया था। उसमें इन लोगों के जो बयान हुए थे और उसपर हाईकोर्ट के जज ने जो निर्णय सुनाया था उस समस्त मिसल को एक अंग्रेज़ ने पुस्तकाकार छपा दिया है। उसी का नाम 'महाराज लाइबल केस' है। यहाँ हम उसी का कुछ भाग लेकर थोड़ा-सा वर्णन करते हैं और दिखलाते हैं कि यह वल्लभसम्प्रदाय वाममार्ग का ही रूपान्तर है। इस मुक़द्दमे में हाईकोर्ट के जज कहते हैं कि वल्लभ और उसका पिता लक्ष्मणभट्ट दोनों तैलङ्गी ब्राह्मण हैं। वल्लभ एक नवीन सम्प्रदाय का स्थापक हुआ[१]।

इन लोगों ने पाशविक अत्याचार के लिए जो शास्त्र बना रक्खा है, उसको भी जजों ने इस

---

१. Laxman Bhatta (a Teling) the father of Vallabh and Vallabh himself were excommunicated by the Teling for founding a new sect. —*Maharaja Libel Case*

प्रकार उद्धृत किया है—

तस्मादादौ स्वोपभोगात्पूर्वमेव सर्ववस्तुपदेन भार्यापुत्रादिनामपि समर्पणं कर्तव्यं विवाहानन्तरं स्वोपभोगे सर्वकार्ये सर्वकार्यनिमित्ते तत्तत्कार्योपभोगी वस्तुसमर्पणं कार्यं समर्पणं कृत्वा पश्चात्तानि तानि कार्यणि कर्तव्यानीत्यर्थः।

अर्थात् वर को चाहिए कि अपनी सद्योविवाहिता पत्नी को अपने भोग के पूर्व अपने महाराज के पास भेजे। भार्या, पुत्र, धनादि अर्पण करे, अर्थात् जिस-जिस भोग की जो-जो वस्तु हो उस-उस भोग की वह-वह वस्तु महाराज के पास भेजे। पाणिग्रहणसंस्कार होने के बाद अपने संभोग के प्रथम, वर अपनी वधू को महाराज के पास भेजे, पश्चात् अपने काम में लावे[१]।

अन्त में हाईकोर्ट-जज ने लिखा है कि 'स्त्रियाँ चाहे अविवाहिता कुमारी हों या विवाहिता हों, उनका धर्म है कि वे महाराजों से उनकी इच्छानुसार व्यभिचारिक प्रेम और विषय-लालसा से प्रेम करें। महाराजों के साथ व्यभिचार करना केवल विहित ही नहीं है प्रत्युत वह अत्यन्त आवश्यक है। उसके बिना कोई भी लोक-परलोक के सुख की आशा नहीं कर सकता। यह पाशव व्यभिचार का मार्ग ही उनके लिए स्वर्गीय सुख है। वे शैतान के जीवित अवतार हैं'[२]। इस प्रकार वैष्णव सम्प्रदाय भी वाममार्ग ही बन गया और अन्त में अपना आसुर रूप प्रकट कर दिया।

द्रविड़ों का वेदभाष्य

कृष्णवेद और उसका साहित्य, रावण का गुप्तेन्द्रियपूजन, शंकराचार्य का मांसयज्ञ और वैष्णवों का तन-मन अर्पण अच्छी प्रकार प्रचलित होने लगा और यह समस्त आधुनिक रचना हिन्दूधर्म बन गई। यद्यपि यह सब-कुछ हो गया तथापि कभी-कभी विद्वानों को मूल संहिताओं के देखने, पढ़ने और अर्थ करने का प्रसङ्ग आया ही करता था और शुद्ध वेदों से तथा आसुरीधर्म से विरोध दिखने ही लगता था, इसलिए द्रविड़ों को इस बात की आवश्यकता हुई कि मूल संहिताओं को भी अपने अनुकूल कर लिया जाए। इस विचार से पहले अनन्त ज्ञानभण्डार वेदों का भाष्य कभी किसी ने नहीं किया था। पूर्व समय के लोग वेदों के कुछ मन्त्र चुनकर अमुक-अमुक विषय की पद्धतियाँ बना लेते थे और विद्यार्थियों को वेदार्थ करने का नमूना बतलाने के लिए निरुक्त अथवा ब्राह्मणग्रन्थों की भाँति छोटे-छोटे पाठ्य पुस्तक बना लिये जाते थे, परन्तु समग्र वेदों का भाष्य करके वेदों के अभिप्राय की इयत्ता निर्धारित करने का साहस कभी आर्यों ने नहीं किया, परन्तु ईस्वी सन् की चौदहवीं शताब्दी में सायण नामी एक द्रविड़ ब्राह्मण ने यह साहस किया। सायणाचार्य विजयनगर के राजा बुक्क के दीवान थे[३]।

---

१. Consequently before he himself has enjoyed her, he should make over his own married wife (to the Maharaja). After having got married he should, before having himself enjoyed his wife, make on offering of her (to the Maharaja) after which he should apply her to his own use.

— *Maharaja Libel Case*

२. It is the duty of the female members to love the Maharajas with adulterive love and sexual lust whensoever called upon or required by any of the latter so to do, albeit such female members are or may be unmarried maidens or wives of other men. Adultery with the Maharaja is not only enjoined but an absolute necessity without which no man can expect happiness in this world or bliss in the next. A course of bestial licentiousness is their beautitude of heaven. They (Maharajas) may be described as living incarnation of Satan. —*Maharaja Libel Case*

३. The great scholiast Sayana was Prime Minister at the court of the King Bukka of Vijainagar—in what is now the Madras District of Bellary in the fourteenth century of our era.

—*Introduction, Hymns of the Rigveda* by Ralph T.H. Griffith. M.A.

इन्होंने पण्डितों की सहायता से समस्त वेदों और ब्राह्मणों का भाष्य किया। उस भाष्य में मनुष्यबलि, पशुबलि, इतिहास और दग्ध–छाप आदि जितने आसुरी सिद्धान्त हैं सबको वेदमन्त्रों से ही खींचखाँचकर अपने भाष्य में मिश्रित कर दिया। सायणाचार्य के बाद उव्वट भी दक्षिण में ही पैरा हुए। उन्होंने भी यजुर्वेद पर भाष्य किया। इनका भाष्य भी सायणाचार्य के ही आधार पर है। उव्वट के पश्चात् महीधर हुए। उन्होंने भी सायणाचार्य और उव्वट के ही आधार पर भाष्य किया। महीधर ने अपने भाष्य के आरम्भ ही में लिख दिया है कि **'भाष्यं विलोक्यौवट–माधवीयम्'**[१], अर्थात् मैंने सायण और उव्वट के भाष्यों को देखकर ही यह भाष्य लिखा है। यजुर्वेद पर सायणाचार्य का भाष्य इस समय नहीं मिलता, परन्तु उव्वट और महीधर के भाष्य मिलते हैं। दोनों के भाष्य में कुछ अन्तर नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि सायणाचार्य का भाष्य भी इसी प्रकार का रहा होगा। कहने का तात्पर्य यह कि सबने सायणाचार्य का ही अनुकरण किया है। आधुनिक भाष्यकारों में सबके अगुआ सायणाचार्य ही हैं। आगे हम यजुर्वेद से महीधर के भाष्य का और ऋग्वेद से सायणाचार्य के भाष्य का नमूना दिखलाते हैं और बतलाते हैं कि उनका भाष्य कैसा है। **'गणानां त्वा गणपति ँ हवामहे'**[२] इस प्रसिद्ध मन्त्र का भाष्य करते हुए महीधर लिखते हैं कि—

'[३]अस्मिन्मन्त्रे गणपतिशब्दादश्वो वाजी ग्रहीतव्य इति। तद्यथा महिषी यजमानस्य पत्नी यज्ञशालायां पश्यतां सर्वेषामृत्विजा[३]मश्वसमीपे शेते शयाना सत्याह हे अश्व गर्भधं गर्भधारकं रेतः अहं आ अजानि आकृष्य क्षिपामि त्वं च गर्भधं आ अजासि आकृष्य क्षिपसि।'[३]

अर्थात् यजमानपत्नी सबके सामने यज्ञमण्डप में घोड़े के पास सोवे और घोड़े से गर्भ धारण करने के लिए कहे।

महीधर और उव्वट दोनों भाष्यकारों ने इस स्थल के कई एक मन्त्रों का अर्थ इसी प्रकार अश्लील ही किया है, परन्तु शतपथब्राह्मण में इन्हीं मन्त्रों का अर्थ बहुत ही शुद्ध और आर्योचित किया गया है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने यह सारा प्रकरण अपने 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नामी ग्रन्थ में अच्छी प्रकार लिख दिया है, तथापि यह स्मरण रखना चाहिए कि दूसरी जगह शतपथादि ग्रन्थों में भी उव्वट और महीधर के अनुसार ही अर्थ मिलता है। इससे अनुमान करने का पूरा अवसर मिल जाता है कि उपनिषदों की भाँति ब्राह्मणग्रन्थों में भी मिश्रण है। अन्यथा एक ही ग्रन्थ में एक ही प्रकार के मन्त्रों का भाव भिन्न–भिन्न स्थलों में परस्पर विरोधी क्यों होता? एक ही सम्पादक इस प्रकार की भयङ्कर भूल नहीं कर सकता, इसलिए यह स्पष्ट है कि शतपथादि में अश्लील प्रकरण बादरायणकालीन है और उसपर भाष्य सायणकालीन है।

उव्वट और महीधर के भाष्य में इसी प्रकार के अनेक अश्लील, असभ्य और क्रूर वर्णन हैं जिनको लिखकर हम व्यर्थ ग्रन्थ विस्तार नहीं करना चाहते। जिस प्रकार महीधर के भाष्य का नमूना अर्योचितभाव के प्रतिकूल है उसी प्रकार सायणाचार्य के भाष्य का नमूना भी क्रूर कर्म की पराकाष्ठा बता रहा है। सायणाचार्य ने ऋग्वेद मं० १ सू० २४ से ३० तक के भाष्य में शुनःशेप की कथा लिखकर मनुष्यबलि का एक भयङ्कर आदर्श सामने खड़ा कर दिया है, परन्तु वेद में इन बातों का कहीं चिह्न भी नहीं है। निरुक्त में शुनःशेप का अर्थ विज्ञानवेत्ता किया गया है, परन्तु सायणाचार्य ने शुनःशेप का अर्थ कुत्ते का.......किया है। इस पर मिस्टर मूर कहते हैं कि डॉक्टर

---

१. यजुः० १।१ २. यजुः० २३.१९

३–३. इस समय यह पाठ उपलब्ध नहीं है। —जगदीश्वरानन्द

रोसिन को अनुमान करने का मौक़ा मिला है कि रामायणोक्त अजीगर्त की कथा से वेदों का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है[१]। इसके आगे वही मूर साहब कहते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थों में अजीगर्त का वर्णन इतना भयङ्कर है जो भारत के अनार्यों का एक नमूना कहाने योग्य है[२]।

इन साक्षियों से स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में नरबलि का कुछ भी उल्लेख नहीं है, परन्तु अनार्य जातियों में नरबलि होती है, अतः उन्होंने वेदों से भी वही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। रामायण और ब्राह्मणग्रन्थों में तो प्रक्षेप सम्भव है, परन्तु संहिताओं में एक-एक अक्षर की गिनती होने से उनमें प्रक्षेप नहीं हो सकता, इसीलिए उनके मन्त्रों के भाष्य द्वारा खींचतान करके ऐसे क्रूरकर्म-प्रवर्तक कृत्य का वर्णन किया गया है। यह सायणाचार्य का काम है।

सायणाचार्य ने '**इदं विष्णुर्विचक्रमे**' मन्त्र से वामन अवतार भी सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, परन्तु यही मन्त्र निरुक्त में सूर्यपरक लगाया गया है। निरुक्त में इस मन्त्र के होते हुए भी सायणाचार्य ने ऐसा अनर्थ किया है जो उनके लिए उचित न था। इसी प्रकार वैष्णव होने के कारण उन्होंने शरीर को दग्ध करनेवाली छाप का वर्णन भी ऋग्वेद से निकाला है और जगन्नाथजी की उस लकड़ी का भी ऋग्वेद से वर्णन किया है जो उनके कलेवर के काम आती है। वेदों में इतिहास तो उन्होंने इतना भर दिया है कि वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करना कठिन हो गया है। इस प्रकार सायणाचार्य ने वेदों को बहुत ही हीनकोटि का बना दिया है और वेदों में से वे समस्त बातें सिद्ध कर दी हैं जिनका प्रारम्भ रावण और बादरायण आदि ने किया था तथा जिसका पोषण शंकराचार्य और रामानुजाचार्यादि ने किया है।

बहुत दिन तक इसी भाष्य का भारतवर्ष में प्रचार रहा और द्रविड़ ही वेदाचार्य प्रसिद्ध रहे। जब यूरोपियन लोग इस देश में आये तब उन्होंने यहाँ वेदों की बड़ी भारी महिमा सुनी। उनकी इच्छा हुई कि ऐसी पवित्र और प्राचीन पुस्तक हम भी अपने देश के पुस्तकालयों में रक्खें। दुर्दैव से उन दिनों में मद्रास प्रान्त के ये द्रविड़ ही आर्यजाति के गुरु हो रहे थे। वही वेदपात्र, वही याज्ञिक और वही हिन्दूधर्म के नेता समझे जाते थे, अतः यूरोपियनों ने भी उन्हीं से वेदों की पुस्तक चाही। सन् १७०० के आरम्भ में ही कोलब्रुक साहब को किसी दक्षिणी ने वैदिक छन्दों में लिखी हुई और देवी-देवताओं की स्तुति से पूर्ण एक पुस्तक दे दी, किन्तु जब ज्ञात हुआ कि यह पुस्तक वेद नहीं है तब वह त्याग दी गई। यद्यपि वह पुस्तक त्याग दी गई, तो भी यूरोपनिवासियों ने वेदों की प्राप्ति की चेष्टा जारी रक्खी और मद्रासियों द्वारा अनेक बार ठगे भी गये। अन्त में, अर्थात् सन् १७७९ में कर्नल पोलियर ने तत्कालीन महाराजा साहब जयपुर से वेदों की नक़ल माँगी। नक़ल दी गई और वह नक़ल प्रसिद्ध पंडित आनन्दराम को दिखलाकर लन्दन भेजी गई और वहाँ के ब्रिटिश म्यूज़ियम में रक्खी गई तथा द्रविड़ों की ठगाई से छुट्टी मिली। कहने का तात्पर्य यह कि वेद के सम्बन्ध में ये अन्त तक धोखा ही देते रहे। ये शुद्ध वेदों का प्रचार नहीं चाहते थे, इसीलिए इन्होंने इस प्रकार की ठगाई अब तक जारी रक्खी और रावण से सायण तक किये हुए कृत्य का पोषण करते रहे।

उपर्युक्त समस्त वर्णन से अच्छी प्रकार प्रकट हो जाता है कि रावण से सायण तक इन्हीं

---

१. Hence the Doctor Rosin was led to infer that Vedic Hymns bore no relation to the legend of the Ramayan and offered no indication of a human victim deprecating death.

—*Text Book of Sanskrit Literature*

२. So revolting, indeed, is the description given of Ajigarta's behaviour in the Brahman that we should rather recognize in him a specimen of the un-Aryan population of India. —*Ibid.*

लोगों ने मांसयज्ञ, मद्यपान और गुप्तेन्द्रिय-पूजन आदि आसुरी प्रवृत्तियों का प्रचार किया, इन्हीं लोगों ने वाममार्ग, शैव और वैष्णवादि सम्प्रदाय चलाये, इन्हीं लोगों ने शङ्कर, रामानुज, माध्व आदि रूप से धर्मगुरु बनकर द्वैत, अद्वैतादि मतों का प्रचार किया और इन्हीं लोगों ने वेदों का भाष्य करके आर्यों को प्राचीन वैदिक धर्म से पतित किया और उनके हर प्रकार के पतन का कारण हुए। इस प्रकरण के आरम्भ में हमने कहा था कि जितने विदेशी इस देश में आये हैं उनमें से केवल चार ही विदेशी दलों के सम्प्रदाय प्रवर्तन और साहित्यविध्वंस का वर्णन करेंगे। उनमें से इस प्रधान द्रविड़ जाति के कृत्यों का वर्णन हुआ। अब इसके आगे चितपावनों के साहित्य-विध्वंस का वर्णन करते हैं।

चितपावन और आर्यशास्त्र

हम पहले लिख आये हैं कि चितपावन मिस्र के रहनेवाले यहूदी हैं। इन्होंने ब्राह्मण बनकर उसी समय महाराष्ट्रों में घुसना चाहा था, परन्तु उन्हें नहीं घुसने दिया, इसीलिए देशस्थ और कोंकणस्थ दो भेद हो गये। कोंकणस्थ ही चितपावन हैं। ब्राह्मण होकर इन्होंने संस्कृत में अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली और इन्होंने भी तैत्तिरीय कृष्णयजुर्वेद ही स्वीकार किया तथा यहाँ के साहित्य में कृष्णयजुर्वेद का वेदत्व, अपना सब ब्राह्मणों में श्रेष्ठत्व और मिस्र के रीति-रिवाजों को आर्यों की पुस्तकों और रीति-रिवाजों में मिश्रित किया। जब प्रेस नहीं थे तब लोगों के पास हस्तलिखित पुस्तक ही थे। उस समय नये ग्रन्थों का पहचानना और पुराने ग्रन्थों के प्रक्षिप्त भागों का पकड़ना भी कठिन था, इसलिए पुराने युग में इन्होंने क्या-क्या रचना की है, यह सिद्ध करना कठिन है, परन्तु इस प्रकाश के युग में जब हज़ारों प्रेस धड़ाधड़ पुस्तकें प्रकाशित करके घर-घर पहुँचा रहे हैं, ऐसे युग में भी इन्होंने जो कुछ प्रक्षेप किया है, यहाँ उसी का वर्णन करते हैं।

'अहिंसा धर्मप्रकाश' नामी ग्रन्थ में गावस्कर महोदय कहते हैं कि तुकाराम तात्या ने राजाराम वोडस नामी एक चितपावन ब्राह्मण को प्रस्तावनासहित ऋग्वेद का सायणभाष्य छपाने के लिए नियुक्त किया और सब काम उन्हीं को सौंप दिया। वोडस महोदय कृष्णयजुर्वेद के माननेवाले थे, इसलिए उस वेद का महत्त्व दर्शाने और नीचत्व छिपाने के लिए उन्होंने सायणाचार्य की प्रस्तावना में लिख दिया कि कृष्णयजुर्वेद में जो मन्त्रभाग और ब्राह्मणभाग का मिश्रण है उसके लिए ब्रह्मदेव ने सारस्वत और उसके शिष्यों के विवाद के अन्त में पहले ही कह दिया है कि वह मिश्रण सर्वथा निर्दोष है। प्रस्तावना में यह उक्ति मिल गई और ऋग्वेद छप गया, किन्तु प्रो० मैक्समूलर और प्रो० पिटर्सन के छपाये हुए ऋग्वेद जो वोडस महोदयवाले ऋग्वेद से पहले ही भिन्न-भिन्न समयों में छप चुके थे, जब भारत में आये और लोगों ने पढ़ा, तो उनमें वह उक्ति न मिली। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि यह कृत्य उक्त चितपावन महोदय का ही है।

उक्त पुस्तक में जो दूसरी घटना लिखी है, वह इस प्रकार है कि कृष्णसाठे नाम के एक चितपावन ब्राह्मण ने वृद्ध पराशरस्मृति की जितनी भी हस्तलिखित प्रतियाँ मिल सकीं, एकत्र कीं। उनमें एक प्रति मुम्बईनिवासी बाबा पाठक शुक्ल की भी थी। उस पुस्तक के बारहवें अध्याय में जहाँ ब्रह्मनिरूपण का विषय है वहाँ उक्त साठे महोदय ने अपनी चितपावन जाति को उच्च सिद्ध करने के लिए बहुत-से श्लोक मिला दिये और उस अध्याय के आदि से अन्त तक समस्त अंकों को भी बढ़ा दिया। श्लोक कई एक थे, इसलिए पत्रों के हाशियों (Margin) पर भी लिख दिये और उसी प्रति के अनुसार श्रीधर शिवलाल के ज्ञानसागर प्रेस में हज़ारों प्रतियाँ छपा डालीं। जब पुस्तक छप गई तब हस्तलिखित प्रति बाबा पाठक शुक्ल को चुपचाप दे आये। कुछ दिन के बाद बाबा पाठक की दृष्टि इस कृत्य पर पड़ी। बाबा साहब ने महा कोलाहल

मचाया। अदालत की भी नौबत आई, परन्तु कुछ भले पुरुषों के बीच में पड़ जाने से मामला शान्त हो गया। जो श्लोक मिलाये गये थे वे बड़े ही मज़ेदार हैं, अत: हम उनमें से कुछ श्लोक यहाँ लिखते हैं—

कोंकणाश्चितपूर्णास्ते चितपावनसंज्ञकाः। ब्राह्मणेषु च सर्वेसु यतस्ते उत्तमा मताः॥
एतेषां वंशजाः सर्वे विज्ञेया ब्राह्मणाः खलु। माध्यंदिनाश्च देशस्था गौडद्रविडगुर्जराः॥
कर्णाटातैलंगाद्यपि चितपूर्णस्य वंशजः। अतश्चितस्य पूर्णं यो निन्द्यात्तस्य क्षयो भवेत्॥

अर्थात् सब ब्राह्मणों में चितपावन ब्राह्मण ही श्रेष्ठ हैं। गौड, देशस्थ, द्रविड़, गुर्जर, कर्णाटक और तैलङ्ग आदि जितने ब्राह्मण हैं सब चितपावनों के ही वंशज हैं, इसलिए जो इन चितपावन ब्राह्मणों की निन्दा करे, उसका क्षय हो जावे।

इन्होंने इस प्रकार की रचना करके अपनी जाति की निकृष्टता को दूर करने का प्रयत्न किया था, परन्तु यह बात आगे न चली और लोगों को इनका प्रपञ्च ज्ञात हो गया। इसके अतिरिक्त इन्होंने जिस समय क्षत्रियों के राज्य का अपहरण किया उस समय सतीप्रथा के सम्बन्ध में इन्होंने जो कुछ नवीन रचना की वह बड़ी ही विचित्र है। यहाँ हम उसका भी थोड़ा-सा वर्णन करते हैं। सोशल रिफ़ार्म सिरीज़ २ में और 'अहिंसा धर्मप्रकाश' में पं० गावस्कर लिखते हैं कि दक्षिण के शाहुराजा ने बालाजी विश्वनाथ नामी एक चितपावन ब्राह्मण को अपना सेनापति बनाया। बालाजी विश्वनाथ ने अवसर पाकर शाहुराजा को उपचार प्रयोग द्वारा मरवा डाला और स्वयं राजा बनने की चेष्टा करने लगा। उधर शाहुराजा की रानी शंकराबाई राज्य का उत्तराधिकारी बनाने के लिए दत्तक पुत्र लेने का विचार करने लगीं। इसपर बालाजी विश्वनाथ ने शंकराबाई को समझाना शुरू किया। उसने कहा कि हाय! जिस पति पर आपकी इतनी भक्ति थी, जो तुम्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करता था, अभी उसे मरे हुए कुछ भी समय नहीं बीता कि आप राज्य-शासन का आनन्द लेने लगीं। धन्य थीं वे पतिव्रता स्त्रियाँ जो अपने प्राणप्रिय के साथ धधकती हुई चिता में जलकर सदैव के लिए पति के समीप चली जाती थीं। शंकराबाई के दिल पर इन बातों ने बड़ा प्रभाव डाला, किन्तु स्त्री का पति के साथ जलना भी कोई विशेष धर्म है, यह बात उसने अपने जीवन में नई सुनी। वह जल्दी से बोल उठी कि क्या पति के साथ जल मरने पर पतिदेव मिल सकते हैं? बालाजी ने उस समय की समस्त हस्तलिखित पुस्तकों में क्षेपक मिलवा-मिलवाकर कथा बाँचनेवाले भटों के द्वारा दिखला दिया कि दशरथ, पाण्डु, रावण, इन्द्रजीत आदि बड़े-बड़े पुरुषों की स्त्रियों ने अपने पति के साथ जलकर प्राण दिये हैं[१]।

बालाजी ने यह भी कहलवाया कि यदि पति जल में डूबकर मर गया हो, दूसरे ग्राम में मर गया हो, उसकी लाश का पता न हो अथवा उस समय स्त्री सगर्भा हो तो समय आने पर सुभीते के साथ अपने पति की खड़ाऊँ या वस्त्र आदि लेकर जल मरने से भी वह अपने पति को प्राप्त होती है और दोनों स्वर्ग को जाते हैं। इस उपदेश से शंकराबाई जलने के लिए तय्यार हुईं। बालाजी ने तुरन्त ही अपने कृष्णवेद के तैत्तिरीय आरण्यक ६। २० में आये हुए ऋग्वेद के **'इमा नारीरविधवाः सुपत्नीरांजनने सर्पिषाः संविशन्तु। अनश्रवोऽनमीवाः सुरत्ना रोहन्तु जनया योनिमग्रे'** इस मन्त्र

---

१. तें शाहू राजाला जारणमारणादि ओषधिप्रयोगनें मारून व त्याची निपुत्रिक विधवा बायको राज्यप्राप्तीच्या कामांत प्रतिकूल होईल, म्हणून सती जाण्याचे नवे ग्रन्थ रचून व प्राचीन ग्रंथान्त दशरथ, पांडु, रावण, इन्द्रजीत अशांच्या स्त्रिया सती गेल्याकारणाने स्वर्गीं गेल्या, अशीं क्षेपकें घुसडून ते मतलब ग्रंथ भटोवां-कडून तिला बांचवून दाखवून वा शिवाय द्रव्यलालुचीनें वश केलेल्या तिच्या भावां कडून उपदेश करून व भीति दर्शवून तिच्या इच्छेविरुद्ध तिजला सती घालवून, अर्थात् जीवंत जाळन टाकून मिळूविळें होतें।

के 'अग्रे' शब्द को 'अग्ने' करके पति के साथ अग्नि में जल मरने की वैदिक विधि और विनियोग भी दिखला दिया। वेद पर विश्वास करनेवाली आर्यजाति की पतिव्रता राजमहिषी अपने पति के पास जाने को उत्तेजित हो उठी और बालाजी के षड्यन्त्र से तुरन्त ही चिता में धरकर फूँक दी गई। रानी के जलते ही समस्त राज्यसूत्र चितपावनों के हाथ में आ गया तथा शाहूराजा की मृत्यु और शंकराबाई के सतीचरित्र की यह करुणापूर्ण कहानी समस्त महाराष्ट्र देश में अच्छी प्रकार फैल गई। वहाँ के ग्रामीण अब तक इस कलंक कथा को गाया करते हैं। उन गीतों में से एक गीत नीचे फ़ुटनोट में दिया गया है, जिसमें उपर्युक्त कथा का सार वर्णित है[१]।

चितपावनों ने इस अपयश को दूर करने के लिए सतीप्रथा को धर्म ही मान लिया और अपने ख़ास शहर पूना में मूला मूठा नदी के संगम पर सती होने का एक स्थान ही नियत कर दिया। सतीधर्म की इस उत्तेजना पर सतीप्रथा की वह धूम जारी हुई कि पूना में रहनेवाला अंग्रेज़ी रेज़ीडेंट भी घबरा गया। उसने वहाँ के पेशवा से इस निन्द्य कर्म को बन्द करने के लिए प्रार्थना की। उस समय की सतीप्रथा का वर्णन करते हुए मूर साहब कहते हैं कि 'चितपावन लोग सतीप्रथा पर बड़े आसक्त थे, परन्तु जब सन् १८३० में गवर्नमेंट ने सतीप्रथा निषेधक क़ानून बनाया तो उन्होंने बिना कुछ कहे सुने ही उसे बन्द कर दिया। कुछ चितपावन अपने जातिबन्धु नाना साहब को इस भयङ्कर अपराध से मुक्त देखकर प्रसन्न होंगे, परन्तु उनकी प्रसन्नता इसलिए न होगी कि नाना साहब इसे अपनी न्यायबुद्धि से उचित मानते थे या अनुचित, प्रत्युत इसलिए प्रसन्नता होगी कि वे इस लज्जायुक्त भयङ्कर कृत्य के कलंक से छुट्टी पा गये। पूना में विधवाओं का उनके मृत पतियों के साथ जलना बहुत अधिक था। वहाँ प्रति वर्ष पाँच-छह सतियाँ होती थीं। यह कृत्य ब्रिटिश रेसिडेन्सी के पास मूल मूठा नदी के संगम पर होता था'[२]। इस वर्णन से पाया जाता है कि इन्होंने शंकराबाई को सती करने के लिए शास्त्रों में अवश्य प्रक्षेप कराया।

इन सब प्रमाणों के अतिरिक्त अभी हाल में जो प्रमाण मिले हैं उनसे भी विदित होता है कि चितपावनों ने जाली ग्रन्थों की रचना की है। 'सिद्धान्तविजय' के पृष्ठ ९, १० पर लिखा है कि

---

१. शाहूराजा भ्रमीभूत। होवोनि रहिला दु:खखाईंत। सन्निध बाजीराय सुत। नाना साहेब पेशवे॥
परम आर्जवी चितपावन। तशांत भ्रमिष्ट शाहूमन। झालें म्हणोनि अपल्याधीन। करोनि लीन शेवेशीं॥
स्वकार्य साधू बाजीराव। जारणादि करोनि उपाय। शाहूराजासी करोनि मरणप्राय। राजसूत्र बळकाविलें॥
पोटीं नव्हता शाहूस पुत्र। नानास लाभलें अधिकारपत्र। तेव्हां राज्याधिकारसूत्र। नृपमृत्यन्तीं आवरिलें॥
स्वाधीन सेनासमुदाय पाहीं। प्रतिनिधीचें न चलें कांहीं। त्याचीं बेडी घालोनि पायीं। पर्वतारूढ तोकेला॥
शाहू भार्या शंकराबाई। नृपासंगें सती न जाई। म्हणोनि तिजला नाना उपायीं। बोधोनि अपाई दग्धविली॥
लोभदावोनि बंधूस तीचे। होते बन्धु दुष्ट मतीचे। त्यांही बलात्कारें सतीतें। धर्म बोधोनि सतीनेली॥
शाहूनृपाचे सुहृदन्यत्र। सातार्यासी ते सर्वत्र। रक्षोनि स्वाज्ञें निबन्धसूत्र। आपुल्या तन्त्रान्त ठेविलें॥
सातार्याचें सोडोनिस्थान। पुणिया सीं केलें अधिष्ठान। नृपाधिकार मानपान। सातार्यास करवी तया॥
वृक्षीं फलें येतां पाड़ा। वानरें पहोनि त्या झाडा। शाखोंशाखीं उडिया धडधडा। घेबोनि कडाडा भक्षिती फलें॥
किंवा मर्कटें सिंदीवन। देखोनि करिती मधु-सेवन। तैसे अधर्मी चितपावन। धांवोनि आले पुणियासी॥

२. The Konkanasthas (Chitpavans) were greatly addicted to Sati; but when that horrid Act was introduced by Government in 1830, they discontinued it without any remonstrance. Some of the Chitpavans would be glad to exculpate their fellow casteman 'Nana Sahab' from the atrocities laid to his charge, but this is more creditable to their feeling of shame on account of these atrocities than to the soundness of the judgement which they form of their perpetrator.

The burning of widows with their husband's corpses is very frequent at Poona, where five or six instances occur every year, and the immolation is usually performed at the junction of the Moota and Moola rivers, close to the British residency.
—*Mure*

सतारा दरबार के दफ़्तर में जो काग़ज़-पत्र मिले हैं, उनसे प्रकट होता है कि पेशवाई काल में अप्पा साहब पटवर्धन और नीलकण्ठ शास्त्री ने जाली ग्रन्थों की रचना की थी। इसके सिवा 'राजवाड़ा ची गंगाभट्टी' आदि पुस्तकों में चितपावनों द्वारा जाली ग्रन्थों की रचना का विस्तृत वर्णन है, इसलिए यहाँ अब अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो केवल इतनी ही लिखना है कि अभी हाल में सबके देखते-देखते निर्णयसागर प्रेस में जो उव्वट, महीधर के भाष्यसहित यजुर्वेद छपा है, उसमें भी पाठभेद किया गया है। यजुर्वेद का '**श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या**' प्रसिद्ध मन्त्र है। यह मन्त्र बंगाल की छपी हुई प्रति में महीधर, उव्वट के भाष्य के साथ छपा है। उसमें श्री और लक्ष्मी रूप दो वेश्याओं का वर्णन है, परन्तु हाल की छपी हुई निर्णयसागर की प्रति से वेश्याओं की बात निकाल डाली गई है। परन्तु यूरोप की छपी हुई प्रति निर्णयसागर की प्रति से पहले की छपी है और उसमें वही वेश्याओं की बात है। इससे ज्ञात होता है कि उव्वट, महीधर का असली अर्थ वही है। निर्णयसागरवालों ने व्यर्थ ही उस पाठ को बदला है। निर्णयसागर प्रेस का सम्बन्ध दाक्षिणात्यों से ही है, इसलिए अनुमान होता है कि यह कृत्य भी किसी चितपावन महात्मा ही का होगा। जो हो, यहाँ कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि चितपावनों ने आर्यशास्त्रों में मिश्रण किया है। यही नहीं कि इन्होंने नवीन ग्रन्थों की रचना और प्राचीन ग्रन्थों में केवल मिश्रण ही किया है, प्रत्युत उन्होंने यहाँ के हिन्दुओं में अपने जाति और देश के पूज्य देवी-देवताओं की पूजा का भी प्रचार किया है। यहाँ हम उनके देवता का भी एक नमूना दिखलाते हैं।

जिस प्रकार भारत देश में श्री नामी देवी के अंशों से दुर्गा, काली, भवानी, भैरवी, चण्डी, अन्नपूर्णा और चामुण्डा आदि रूप बनाये गये हैं, उसी प्रकार मिस्रदेश में भी आदिमाया इसिसू के अंशों से मिनर्वा, जुनो, वेनसा, होआ, हेकेटी, डायना और ह्या आदि रूप माने जाते हैं। यहाँवाले जिस प्रकार चन्दन, अक्षत, धूप, दीप, मांस, रुधिर से अपनी देवियों की पूजा-अर्चा करते हैं, ठीक उसी प्रकार मिस्रवाले भी करते हैं। जिस प्रकार यहाँ की देवियों के चतुर्भुज, अष्टभुज और सहस्रभुज आदि रूप हैं, उसी प्रकार मिस्र की प्रतिमाओं के भी हैं। जिस प्रकार के अस्त्र-शस्त्र यहाँ की देवियाँ रखती हैं, वैसे ही मिस्र की देवियों के पास भी हैं। जिस प्रकार यहाँ की देवी ने महिषासुर—भैंसे के-से मुँहवाले राक्षस को मारा है, वैसे ही मिस्र की इसिसू-मिनर्वा देवी ने भी 'हीकस-हिपोपोटेमस' नामी (दरियाई घोड़े के-से मुँहवाले) राक्षस को मारा है। जिस प्रकार के नवरात्र यहाँ होते हैं ठीक वैसा ही नवरात्रि का उत्सव मिस्र में भी होता है। जिस प्रकार उत्सव में यहाँ उदकपूर्ण कुम्भ रक्खा जाता है, वैसा ही मिस्र में भी रक्खा जाता है। वहाँ इस घट को 'केनाव' कहते हैं। जिस प्रकार यहाँ घट पर स्वस्तिक आदि चिह्न बनाये जाते हैं वैसे ही मिस्रवाले भी स्वस्तिक, द्वित्व, त्रिकोण, त्रिपुण्ड्र तथा त्रिशूल आदि चिह्न बनाते हैं।

इस समता के अतिरिक्त देवियों की उत्पत्ति के विषय में यहाँ एक कथा प्रचलित है। उस कथा का सार इस प्रकार है कि दक्ष की लड़की पार्वती थी। उसका विवाह शिव के साथ हुआ। एक दिन उसके पिता ने अनेक पशुओं की बलि दी, किन्तु इस बलिदान के समय अपनी कन्या को न बुलाया, परन्तु कन्या स्वयं वहाँ गई। कन्या ने वहाँ जाकर जब अपने पति का भाग न देखा, तब उसने प्राण त्याग दिया। इसपर शिव ने क्रोध किया और वीरभद्र नामी एक भयानक जन्तु को पैदाकर और वहाँ भेजकर दक्ष का शिर कटवा लिया। दक्ष के मरने पर शिव अपनी स्त्री के शव को लेकर नाचने लगे। इसी बीच में विष्णु ने अपने चक्र से उस स्त्री-शव के ५१ टुकड़े कर डाले और अनेक स्थानों में फेंक दिये। ये सब टुकड़े कामाक्षी, मीनाक्षी आदि नाम से मातापुर और

कलकत्ता आदि में उग्रपीठ बन गये। इनमें सबसे प्रधान कामाक्षी है। इसका काम–अक्षी नाम इसलिए पड़ा है कि यह उस शव की काम की आँख, अर्थात् गुप्ताङ्ग है। यह कथा ज्यों–की–त्यों दूसरे नामों के साथ मिस्री लोगों में भी प्रचलित है। उनके यहाँ लिखा है कि उस इसिसू के टुकड़े मिनर्वा, आसरपायन, डायना आदि हो गये और इन–इन नामों से प्रख्यात हुए। इस कथा की शृङ्खला तब अच्छी प्रकार समझ में आ जाती है जब हम दत्तात्रेय के जन्म की कथा को ध्यान से पढ़ते हैं।

दत्तात्रेय की कथा पुराणों के अनेक भागों के जोड़ने से जो रूप बनाती है, वही रूप मिस्रियों की तमाम कथा के मिलाने से भी बनता है। दत्तात्रेय के इतिहास के तीन भाग हैं। दत्तात्रेय किससे पैदा हुए, जिससे दत्तात्रय पैदा हुए वे किससे पैदा हुए और जिससे वे सब पैदा हुए, वह कौन है ? यहाँ हम तीनों भागों को लिखते हैं। देवीभागवत में लिखा है कि श्रीपुरनिवासिनी देवी ने अपने हाथ को घिसा। घिसने से हाथ में छाला पड़ गया। छाला फूटा। उस छाले से एक लड़का पैदा हुआ जिसका नाम ब्रह्मा था। माता ने उससे कुचेष्टा की, परन्तु उसने माता का कहना न माना। माता ने उसे भस्म कर दिया और हाथ रगड़कर फिर एक लड़का पैदा किया, जिसका नाम विष्णु था। इससे भी इच्छा प्रकट की, किन्तु उसने भी न माना और भस्म कर दिया गया। तब तीसरी बार देवी ने फिर हाथ रगड़ा और छाले से शिव नाम का लड़का पैदा किया। इस शिव को भी आज्ञा दी गई। शिव ने कहा कि पहले यह बतलाइए कि ये दोनों राख की ढेरियाँ क्या हैं। माता ने कहा कि ये दोनों ढेरियाँ तेरे बड़े भाइयों की हैं। शिव ने कहा कि माँ! इन्हें जिला दे। माता ने उन दोनों को जिला दिया। देवी के यही तीनों पुत्र ब्रह्मा, विष्णु और महेश नामी विख्यात देवता हुए। इन तीनों देवतों से दत्तात्रेय कैसे उत्पन्न हुए वह कथा इस प्रकार है—

पद्मपुराण में लिखा है कि अत्रि ऋषि शीत–कटिबन्ध में तपस्या कर रहे थे। वहाँ उनको सरदी लगी। वह सरदी अत्रि ऋषि की आँखों में घुस गई और आँसू बनकर बाहर निकल पड़ी। उसी गिरे हुए आँसू से चन्द्रद्वीप, शीतद्वीप आदि भूभाग बन गये। फिर वह सरदी आकाश की ओर उड़ी, परन्तु ख़ाली जगह में पैर न जम सके, इसलिए समुद्र में गिर पड़ी। उस गिरी हुई सरदी को अत्रि ने अपना चन्द्र नामी पुत्र मानकर समुद्र से कहा कि इसकी रक्षा करना। बहुत दिन तक समुद्र ने इसकी परवा न की, परन्तु अन्त में उसको मनुष्य–रूप देकर अपना पुत्र और लक्ष्मी का बन्धु माना। उस समय यह चन्द्र प्रकाशहीन था, इसलिए देवताओं ने उसे ओखली में कूटकर समुद्र में फेंक दिया। वह फेंका हुआ चूर्ण उत्तम चन्द्रमा बन गया। वही चन्द्रमा समुद्र–मन्थन के समय बाहर निकला और आकाश को उड़ गया। अत्रि का यही चन्द्र जगत् के कल्याण के लिए हुआ, परन्तु उन्होंने मनुष्य शरीरधारी पुत्र के लिए ब्रह्मा, विष्णु और शिव की आराधना की। ब्रह्मा, विष्णु और शिव ने क्रम से सोम, दत्तात्रेय और दुर्वासा नामक तीन पुत्र दिये। इसी से सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी कथा स्कन्दपुराण में इस प्रकार है कि अत्रि ऋषि ने मनुष्यों को वेद समझाने के लिए तीन पुत्र बनाये। एक सोम जो ब्रह्मा की आकृति का था, दूसरा दत्तात्रेय जो विष्णु की आकृति का था और तीसरा दुर्वासा जो शंकर की आकृति का था। इन तीनों कथाओं से ज्ञात हुआ कि देवी से ब्रह्मा, विष्णु और शिव हुए तथा ब्रह्मा, विष्णु और शिव से सोम, दत्तात्रेय और दुर्वासा हुए।

अब एक मार्कण्डेय पुराण की कथा का भी वर्णन करते हैं। उसमें लिखा है कि कौशिक नामी एक ब्राह्मण अपने पूर्वकृत कर्मानुसार कोढ़ी हो गया। उसकी सहधर्मिणी ग्लानिरहित होकर उसकी सेवा करती थी। एक दिन कुष्ठी ब्राह्मण ने अपनी स्त्री से कहा कि मैंने रास्ते में जो वेश्या

---

१. या सा वेश्या मया द्रष्टा राजमार्गे गृहोषिता ॥ २० ॥
तां मे प्रापय धर्मज्ञे सैव मे हृदि वर्तते ॥ २१ ॥

देखी थी वह मेरे मन को विचलित कर रही है, अत: उसके प्राप्त करने का उपाय कर[१]।

यह सुनकर वह स्त्री अपने पति को कन्धे पर चढ़ाकर धीरे-धीरे उस वेश्या की ओर-ले चली, किन्तु रास्ते में उस कुष्ठी का पैर माण्डव्य नामी ऋषि के बदन में लग गया। माण्डव्य ने महाक्रोध करके शाप दे दिया कि कल प्रात:काल होने के पूर्व ही तू मर जाएगा। कुष्ठी की स्त्री इस शाप से भयभीत हुई और इधर-उधर ऋषि-मुनियों से इस शाप का मोक्ष पूछती हुई अत्रि ऋषि की स्त्री अनुसूया के आश्रम में पहुँची और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। अनुसूया ने कहा कि डरो मत। इतने में सूर्योदय हो गया और वह कुष्ठी ब्राह्मण मर गया[१]। अनुसूया ने उस स्त्री से कहा कि तू भय मत कर, मेरा सामर्थ्य देख। पतिसेवा के सामने तपस्या क्या वस्तु है। मैंने अपने जीवन में अन्य पुरुष अथवा किसी देवता की भी कामना नहीं की। इतना कहकर अनुसूया ने कहा कि मेरे सतबल से यह मृत पुरुष कुष्ठरोगरहित, तरुण होकर और जीवित होकर अपनी स्त्री के साथ सौ वर्ष तक रहे। अनुसूया के इतना कहते ही वह मृत पुरुष जी उठा, तरुण हो गया और कुष्ठरोग से भी छुटकारा पा गया[२]। यह देख देवताओं ने आनन्दित होकर पुष्पों की वृष्टि की और अनुसूया से बोले कि तूने देवताओं से भी न होनेवाला कार्य किया है, इसलिए वर माँग। देवताओं से अनुसूया ने कहा कि यदि वर देते हो तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर को एक में मिलाकर मुझको पुत्र दीजिए[३]। देवतों ने यही वरदान दिया और कुछ दिन के बाद ये तीनों देवता उसके उदर से इस प्रकार पैदा हुए—

सोमो ब्रह्माभवद् विष्णुर्दत्तात्रेयो व्यजायत। दुर्वासा: शंकरो जज्ञे वरदानाद् दिवौकसाम्॥

अर्थात् ब्रह्मदेव का सोम, विष्णु का दत्तात्रेय और शंकर का दुर्वासा होकर और एक में मिलकर दत्तात्रेय नामी पुत्र हुआ। इन्हीं तीनों रूपों से युक्त आजकल दत्तात्रेय की मूर्त्ति बनती है।

इन समस्त कथाओं का इतना ही तात्पर्य है कि देवी से ब्रह्मा, विष्णु और शंकर हुए और ब्रह्मा, विष्णु और शंकर के मिश्रण से दत्तात्रेय की उत्पत्ति हुई, अर्थात् दत्तात्रेय की उत्पत्ति ब्रह्मा, विष्णु, महेश से हुई और ब्रह्मा, विष्णु, महेश को पैदा करनेवाली देवी है। अब देखना चाहिए कि इस दत्तात्रेय की इस मिश्रित उत्पत्ति का क्या रहस्य है। हम मिस्रदेश के दैवी इतिहास में देखते हैं कि उसमें भी उपर्युक्त वर्णन ज्यों-का-त्यों दिया हुआ है। हम अभी गत पृष्ठ में लिख आये हैं कि मिस्रदेश की आदि देवी का नाम इसिस् है। वही इसिस् यहाँ श्री के नाम से प्रसिद्ध है। जिस प्रकार इस देवी से ब्रह्मा, विष्णु और शंकर हुए हैं उसी प्रकार मिस्रदेश में प्रसिद्ध है कि इसी

---

१. स्कंधे भर्तारमादाय जगाम मृदुगामिनी॥ २६॥
पत्नीस्कन्ध समारूढश्चालयामास कौशिक:॥ २८॥
पादावमर्षणात् क्रुद्धो माण्डव्यस्तमुवाच ह। येनाहमेवमत्यर्थं दु:खितश्चालित: पदा॥ २९॥
दशां कष्टामनुप्राप्त: स पापात्मा नराधम:। सूर्योदयेऽवश: प्राणैर्विमोक्ष्यति न संशय:॥ ३०॥
भास्करावलोकनादेव स विनाशमवाप्स्यति॥ ३१॥ [—मार्क० १६।२०-३१]

२. न विषादस्त्वया भद्रे कर्तव्य: पश्य मे बलम्। पतिशुश्रूषयावाप्तं तपस: किं चिरेण मे॥ ८१॥
यथा भर्तृसमं नान्यमपश्यं पुरुषं क्वचित्। रूपत: शीलतो बुध्या वाङ्माधुर्यादिभूषणै:॥ ८२॥
तेन सत्येन विप्रोऽयं व्याधिमुक्त: पुनर्युवा। प्राप्नोतु जीवितं भार्यासहाय: शरदां शतम्॥ ८३॥
यथा भर्तृसमं नान्यमहं पश्यामि दैवतम्। तेन सत्येन विप्रोऽयं पुनर्जीवत्वनामय:॥ ८४॥
ततो विप्र: समुत्तस्थौ व्याधिमुक्त: पुनर्युवा॥ ८६॥ [—मार्क० १६।८१-९०]

३. तद्यान्तु मम पुत्रत्वं ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा:॥ ९०॥
एवमस्त्विति तां देवा ब्रह्मविष्णुशिवादय:। प्रोक्ता जग्मुर्यथान्यायमनुमान्य तपस्विनीम्॥ ९२॥

इसिस् से ऑसिरिस, होरुस और टायफ़ान नामी तीन पुत्र हुए हैं और जिस प्रकार ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के मेल से दत्तात्रेय की उत्पत्ति हुई है उसी प्रकार मिस्रदेश में ऑसिरिस, होरुस और टायफ़ान से मेल से टॉथ नामी पुतला बना है।

इस टॉथ के विषय में अर्केश्वर नामी प्रसिद्ध प्रवासी लिखता है कि मिस्रदेश के पेकीन शहर में शहर की दीवार के उत्तर-पश्चिम कोण पर 'महाकाल म्यौ' नामी एक मन्दिर है। मन्दिर का यह नाम महाकाल नामी मुख्य देवता के कारण पड़ा है। वहाँ महाकाल नामी देव का पुतला है। वहाँ के लोग उसका भजन करते हैं। मन्दिर के एक भाग में मच्छोदरनाथ का १८ फ़ीट ऊँचा पुतला है और दूसरे भाग में दत्तात्रेय या दत्ता का पादचिह्न है। इस दत्तात्रेय का नाम वहाँ टॉथ है[१]।

उपर्युक्त वर्णन से पाया जाता है कि दत्तात्रेय-सम्बन्धी सारी कथा और दत्तात्रेय की मूर्त्ति का यह विचित्र प्रकार मिस्रदेश ही का है और वहीं से चितपावनों द्वारा आया है, क्योंकि दत्तात्रेय की पूजा उत्तर भारत में कहीं नहीं होती और न किसी हिन्दू का दत्तात्रेय नाम ही होता है, परन्तु दत्तात्रेय को महाराष्ट्रयन ही इष्टदेव मानते हैं और उन्हीं के दत्तात्रेय आदि नाम भी होते हैं, अतएव उन्हीं से इसका सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

कुछ लोग कहते हैं कि सम्भव है दत्तात्रेय की कथा और उसकी मूर्त्तिपूजा भारत से ही वहाँ गई हो, किन्तु इस बात में कुछ भी सत्य नहीं है। प्रथम तो प्राचीन भारतीय आर्यों में मूर्त्तिपूजा थी ही नहीं, फिर दत्तात्रेय जैसी विचित्र मूर्त्ति यहाँ की उपज कैसे हो सकती है ? इसलिए वह यहाँ से मिस्र नहीं गई। मिस्रदेश में जिस इसिस् और ऑसिरिस आदि देवियों के आधार पर टॉथ बना है वे शब्द न तो आर्यभाषा के हैं और न मिस्रियों की हेमिटिक भाषा के ही हैं। वे शब्द तो सेमिटिक भाषा के हैं। इसलिए ज्ञात होता है कि मिस्रियों में दत्तात्रेय की मान्यता भारत से या आर्यों से नहीं गई। यह सेमिटिकों से मिस्रियों में गई है और मिस्रियों से भारत में आई है। भारत में भी दक्षिणियों में ही इसका प्रचार है, क्योंकि मिस्रनिवासी इजिप्तवान, अर्थात् चितपावन दक्षिणियों में ही घुसे हुए हैं, इसलिए दत्तात्रेय की समस्त मान्यता चितपावनों की है और उन्हीं ने इसका इस देश में प्रचार और विस्तार किया है। इसी बात को स्वीकार करते हुए पण्डित गावस्कर कहते हैं कि यह दत्तात्रेय की उत्पत्ति इजिप्ट देश की है और वहीं से भारत में आई है[२]।

इसलिए यह निश्चित और निर्विवाद है कि चितपावनों ने जिस प्रकार छल से क्षत्रियों का राज्य लिया और जिस प्रकार छल से ग्रन्थों में मिश्रण किया उसी प्रकार छल से ही उन्होंने अपनी जाति की यह कथा और पूजा भी आर्यों में प्रविष्ट कर दी। यहूदी लोग संसार में छली प्रसिद्ध हैं। ये चितपावन भी यहूदी ही हैं, इसलिए छल करने में इनको सङ्कोच नहीं हो सका। इनको हम ही छली नहीं कहते प्रत्युत लोकमान्य तिलक के जीवन-चरित्र में प्रसिद्ध लेखक नरसिंह

---

१. The Myau or temple is at a small distance from the north-west corner of the wall of Pechin and is called Maha-cala-myau from its chief deity. Mahacala who is worshiped there and whose statue is on one side of the river and the Myau on the other. There in one part of the Myau, is a guilt statue of Machhodaranath about 18 feet high; in another part is the charanapad or the impression of the feet of Dattatraya or Datta called Toth by the Egyptians.

२. ऑसिरिस, होरुस व टायफ़ान या इजिप्ट लोकांच्या तीन पुरुषांचा जसा 'टॉथ' नामें पुतला घड़विला तद्वत्च हिन्दू लोकांनीं त्या इजिप्ट देशस्थ ऑसिरिसादि तीन पुरुषांप्रमाणें घड़विलेल्या ब्रह्मा, विष्णु व शिव या तीन पुरुषांचा मिळून हा गुरुदत्त पुतळा घड़विला आहे, व या इजिप्टदेशस्थ 'टॉथ' प्रमाणेंच गुरुदत्ता चा अवडंबर कांहीं अविचारी हिंदुलोकांत माजलेला आहे। तात्पर्य ब्रह्मा, विष्णु व शिवजन्य धर्मसम्बन्धी जो क्रियामार्ग व आचार-विचार त्या सर्वांचें मूळ अफ्रिकास्थ इजिपशियन लोक हें स्पष्ट होतें।

चिन्तामणि केलकर लिखते हैं कि 'देशस्थ लोकों में जैसे साधु-सन्त उत्पन्न हुए वैसे ही कोंकणस्थों में वीर और नीतिमान् उत्पन्न हुए। यदि पूछा जाए कि अंग्रेज़ी राज्य में छल करना किसके हिस्से में आया होगा तो कहा जाएगा कि कोंकणस्थों के, क्योंकि ज्यू लोगों की भाँति चितपावनों के लिए भी प्रसिद्ध है कि वे छली हैं और इस छल के ही कारण उनको वीरता और ऐश्वर्य की प्राप्ति हुई है। इतिहास प्रसिद्ध है कि कोंकणस्थ भट घराना छल से ही देश में घुसा और पेशवाई प्राप्त की'[१]। इस प्रकार इनका छली और प्रपञ्ची होना तथा विदेशी होना सिद्ध है। इनमें विदेशीपन और अनार्यत्व की एक रिवाज अब तक बनी हुई है। पण्डित गावस्कर कहते हैं कि 'विसलामपुर तथा रत्नागिरी के रहनेवाले चितपावनों में अब तक रिवाज है कि श्रावणी (उपाकर्म) विधि में अथवा और किसी दिन साल में एक बार ये लोग जातिभोजन कराते हैं। उस समय आटे की एक गाय बनाकर पकाते हैं और उसके पेट में मधु (शहद) भरकर उसकी बलि देते हैं। अपने कुलदेवता को बलि देकर उसके अनेक टुकड़े कर डालते हैं और जब सब लोग भोजन करने के लिए बैठते हैं तब सबकी पत्तलों में प्रसाद के रूप में उसका एक-एक टुकड़ा परसते हैं। उसके भीतर जो शहद होता है उसे तीर्थ कहते हैं। यदि यह सत्य है तो दुःख से कहना पड़ता है कि यह रिवाज इनमें बहुत भी भयङ्कर है।'

यहाँ तक हमने मिस्रनिवासी चितपावनों का शास्त्रविध्वंस दिखलाया और बतलाया कि इनके मिश्रण से, इनकी सङ्गति से और इनके सकाश से आर्यों में कैसे-कैसे भयङ्कर रिवाज चालू हुए और किस प्रकार शुद्ध आर्य अपवित्र हुए। कौन कह सकता है कि ये अपवित्र आसुरी रिवाज और आचरण आर्यजाति के पतन का कारण नहीं हुए और इन्हीं से आर्यजाति का पतन नहीं हुआ?

ब्राह्मण बन जानेवाली दो अनार्य जातियों का हाल यहाँ तक लिखकर देखा गया कि उन्होंने किस प्रकार आर्यसाहित्य का सत्यानाश किया है। इन दो जातियों के अतिरिक्त अन्य अनेक जातियाँ आर्यों में समा गई हैं। ज्ञात नहीं उन्होंने और क्या-क्या मिश्रण किया हो। कुछ काल पूर्व नये-नये सम्प्रदाय चलाना, नये-नये ग्रन्थ रचना और पुराने ग्रन्थों में प्रक्षेप करने का तो तूफ़ान ही खड़ा हो गया था, यही नहीं कि ब्राह्मणों ने ही प्रक्षेप किया है, किन्तु हमने गत प्रकरण में दिखला दिया है कि उपनिषदों में क्षत्रियों की ओर से भी प्रक्षेप हुआ है। यही नहीं प्रत्युत हमें कायस्थों की ओर से भी प्रक्षेप किया हुआ लेख मिला है। महागरुडपुराण अध्याय ९।२ में लिखा है कि—

चित्रगुप्तपुरं तत्र योजनानां तु विंशतिः। कायस्थास्तत्र पश्यन्ति पापपुण्ये च सर्वशः॥

अर्थात् चित्रगुप्त का पुर बीस योजन के विस्तार में है, जहाँ सब लोगों के पाप-पुण्यों को कायस्थ लोग देखते हैं।

यह प्रक्षेप न तो ब्राह्मणों का किया हुआ है और न क्षत्रियों का। इस गप्प में कायस्थों का ही स्वार्थ है, इसलिए यह उन्हीं का किया हुआ है, क्योंकि कायस्थों के स्वार्थ की बदनामी न तो पहले कम थी, न अब कम है। मिताक्षरा में लिखा है कि कायस्थों को पीटकर प्रजा की रक्षा की जाए[२]। इससे पाया जाता है कि इन्होंने बहुत बड़ा अत्याचार कर रक्खा था, इसीलिए ऐसा कहा गया है।

---

१. देशस्थ लोकान्त जसे साधुसन्त निर्माण झाले, तसेच कोंकणस्थान्त वीर व मुत्सद्दी उत्पन्न झाले। इंग्रेजी राज्यांत छळ कोणाच्या विशेष वांटणीस आला असेल, तर तो कोंकणस्थांच्या। ज्यू लोकां प्रमाणें चित्पावन जातीवर छळाचा छाप मारलेला आहे। पण या छळामुळेंच त्यांच्या हातून वीरश्रीचीं कृत्येंहि झालेलीं असयाचा संभव आहे। ऐतिहासिक काळांत कोंकणस्थ भट घराण्यचा छल झाल्यामुळेंच देशावर ते गेलें व पेशवेपद पावलें। —लो० टिळक यांचे चरित्र, पृ० २

२. चारचारणदुर्वृत्यं महासाहस आदिभिः। पीड्यमानः प्रजा रक्षेत् कायस्थैश्च विशेषतः।

जाली ग्रन्थों के रचने का एक नमूना हमने स्वयं देखा है। उड़ीसा में आठगढ़ नामी एक देशी राज्य है। वहाँ के राजा का नाम विश्वनाथ है। राजा साहब संस्कृत में कविता कर लेते हैं। उन्होंने व्यास के नाम से अपने गाँव के महादेव का माहात्म्य वर्णन किया है और एक पुस्तक में छपा भी दिया है। कहने का तात्पर्य यह कि जाली रचनाएँ अब तक हुई हैं और हो रही हैं। पुरानी और मध्यकालीन जाली रचनाओं की खोज यूरोप के विद्वानों ने ख़ूब की है।

इस प्रकार की जाली रचनाओं के लिए कोलब्रुक कहता है कि मेरे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि जालसाजियाँ कभी नहीं होतीं अथवा पूरे या अधूरे बनावटी ग्रन्थ नहीं बनाये गये। सर डब्ल्यू जोंस, ब्लैकवेयर और मैंने प्रक्षेपों को पकड़ा है। इनसे भी बड़ी धोखेधड़ियाँ करने का प्रयत्न किया गया है। उनमें से कुछ तो थोड़े समय के लिए सफल हुईं और अन्त में खुल गईं, परन्तु कुछ तो तुरन्त ही पकड़ ली गईं। नियमित जालसाज़ी का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रकाशित हो चुका है, जिसने केप्टन बिलफ़ोर्ड को धोखे में डाल दिया था। इसका वर्णन बिलफ़ोर्ड ने ही कर दिया है। इस प्रकार यद्यपि कुछ प्रयत्न निष्फल हुए हैं तथापि दूसरे प्रयत्न निस्सन्देह सफल भी हुए हैं। पूर्वी साहित्य के खोज की वृद्धि होने से और समालोचकों के चातुर्य से जाली पुस्तकें और पुस्तकों में मिलाये हुए जाली पृष्ठ पकड़े जाएँगे, परन्तु मुझे यह शंका नहीं है कि वेद भी इस प्रकार के निकलेंगे[१]।

कहने का तात्पर्य यह कि आसुरी संसर्ग से इस प्रकार की जाली रचनाओं के कारण आर्यजाति हिन्दू हो गई और उसमें मनमाने सम्प्रदाय, मनमाने ग्रन्थ और मनमाने सिद्धान्तों ने हज़ारों रूपों से विस्तार किया तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी को नीच बना दिया और आर्यजाति का पतन हो गया। इस पतित दशा में ही मुसलमानों का आगमन हुआ। इनमें से हज़ारों मुसलमान हिन्दू हो गये और अनेक ने अर्ध हिन्दू और अर्ध मुसलमानरूप धारण करके हिन्दुओं के रहे सहे विश्वासों और ग्रन्थों को नष्ट कर दिया।

मुसलमान और आर्यशास्त्र

जिसको इन बातों के जानने का न तो अवकाश है, न आवश्यकता है, उसे ज्ञात नहीं कि हमारी वास्तविक दशा क्या है, हमारा प्राचीन वैदिक धर्म क्या है और हमारा प्राचीन आर्य आदर्श क्या है? अभी गत पृष्ठों में हमने दो जातियों के द्वारा शास्त्रविध्वंस का वर्णन किया और दिखला दिया है कि किस प्रकार शास्त्रों में आसुरी बातों का प्रक्षेप किया गया है। इन दो जातियों के अतिरिक्त हिन्दुओं की अन्य शाखाओं ने भी शास्त्रविध्वंस की हत्या से अपने को पृथक् नहीं रक्खा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों ने मनमाना साहित्य रचा है और पुराने साहित्य में मिश्रण किया है। सबके सामने देखते देखते ५० वर्ष के अन्दर ही तुलसीकृत रामायण में इतना अधिक क्षेपक घुस गया है कि असली ग्रन्थ पहले से दूना हो गया है और सात काण्ड के नौ-दश काण्ड

---

१. I don't mean to say that forgeries are not sometimes committed; or that books are not counterfeited, in whole or in part. Sir W. Jones and Mr. Blaquiere and myself have detected interpolations. Many greater forgeries have been attempted, some have for a time succeeded and been altimately discovered, in regard to others detection has immediately overtaken the fraudulent attempt. A conspicuous instance of systematic fabrication by which Captain Wilford was for a time deceived has been brought to light as has been fully stated by the gentleman. But though some attempts have been abortive, others may doubtless have succeeded.

Some fabricated works, some interpolated pages will be detected by the sagacity of critics in the progress of researches into the learning of the East, but I don't doubt that the Vedas will appear to be of this description.

हो गये हैं। तीन सौ वर्ष में एक हिन्दी पुस्तक की जब यह अवस्था है तब हज़ारों वर्ष की पुरानी संस्कृत की पुस्तकें जिनका सम्बन्ध धर्म, इतिहास और स्वास्थ्य आदि से है और जो आर्यजाति का जीवन हैं कितनी दूषित की गई होंगी, कौन जान सकता है ? इन हिन्दू नामधारी शास्त्रविध्वंसकों के अतिरिक्त मुसलमानों का राज्य इस देश में बहुत दिन तक रहा है। उन्होंने भी इस देश के हिन्दुओं पर अत्याचारों के साथ इस्लाम धर्म के प्रचार का बहुत प्रयत्न किया है। उनका धर्मप्रचार अत्याचार और क्रूरता के साथ था, परन्तु उनकी क्रूरता बहुत प्रचार नहीं कर सकी। अलताफ़ हुसेन हाली कहते हैं कि—

वो दीने हिजाज़ी का बेबाक़ बेड़ा। निशाँ जिसका अक़साय आलम में पहुँचा।
न जैहुँ में अटका न कुलज़म् में झझका। मुक़ाबिल हुआ कोई खतरा न जिसका।
किये पे सिपर जिसने सातों समन्दर। वो डूबा दहाने में गंगा के आकर।

अर्थात् इस्लाम ने तलवार के ज़ोर से सातों समुद्रों को जीत लिया, परन्तु इस्लाम का वह बेड़ा गंगा के निकास में आकर डूब गया।

सच है, इस्लाम की तलवार ने जिस देश में प्रवेश किया उस देश को इस्लाम करके ही छोड़ा। काबुल, ईरान, अरब, तुर्क, पुर्तगाल, स्पेन, मिस्र, अफ़्रीक़ा, रूस और चीन तक जहाँ कहीं प्रचार हुआ बस देश-का-देश इस्लाम में आ गया, किन्तु यह एक भारतवर्ष ही है जहाँ सैकड़ों वर्षों तक लगातार तलवार चली, परन्तु सिवा थोड़ी-सी नीचजातियों के, भले आदमी अधिक मुसलमान नहीं हुए। जब अत्याचार से काम न चला तब वही पुराना सिद्धान्त काम में लाया गया, अर्थात् कुछ बातें इधर-उधर की लेकर नये-नये रूप से मुसलमानों ने हिन्दूसाहित्य को गन्दा करना शुरू किया और स्वयं उनके गुरु बनकर उनमें अपने विचार स्थापित करने का प्रयत्न करने लगे। यहाँ हम वही सब बातें सारांशरूप से दिखलाने का यत्न करते हैं। हम यह नहीं लिखना चाहते कि अत्याचारी मुसलमानों ने अपने शासनकाल में इस देश के निवासियों के साथ क्या-क्या व्यवहार किया। हम तो यहाँ केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि उनके प्रभाव से यहाँ का संस्कृतसाहित्य किस प्रकार नष्ट हुआ और वैदिक धर्म को कितना धक्का पहुँचा।

सभी जानते हैं कि संस्कृत के लाखों ग्रन्थ वर्षों तक मुसलमानों के हमामों में जलते रहे हैं और उदन्तापुरी आदि के नौ-नौ मंज़िल ऊँचे पुस्तकालय बात-की-बात में भस्म कर दिये गये हैं, परन्तु यह समग्र वृत्तान्त लिखकर हम ग्रन्थ को बढ़ाना नहीं चाहते, क्योंकि पाठकों से कुछ छिपा नहीं है और न सब काग़ज-पत्र और इतिहास कहीं चला ही गया है, इसलिए हम यहाँ केवल यही दिखलाना चाहते हैं कि मुसलमानजाति जब अपने कठोर शासन से भी हिन्दूधर्म का नाश न कर पाई तब उसने अपने सिद्धान्त संस्कृतभाषा में लिखवाना शुरू किया और अपना एक दल अपने से अलग करके हिन्दुओं का गुरु बनने के लिए स्थिर किया। एक ओर तो मुसलमान अपने प्रचार के लिए इस प्रकार साहित्य नष्ट करने लगे और दूसरी ओर हिन्दुओं ने मुसलमानी अत्याचार से पीड़ित होकर उनसे बचने के लिए स्वयं भी नवीन-नवीन रचना करके शास्त्रों में मिश्रण करना शुरू कर दिया। इस प्रकार इन दो मार्गों के द्वारा हिन्दुओं का साहित्य बिगड़ने लगा। यहाँ पर पहले नवीन रचना के प्रमाण उपस्थित करते हैं। नवीन रचना में अल्लोपनिषद् विशेष उल्लेखनीय है, क्योंकि यह सभी जानते हैं कि अल्लोपनिषद् मुसलमानों की ही रचना है। यहाँ हम उसे ज्यों-का-त्यों उद्धृत करते हैं—

अस्माल्लां इल्ले मित्रावरुणा दिव्यानि धत्ते।
इल्लल्ले वरुणो राजा पुनर्ददुः।

हयामित्रो इल्लां इल्लल्ले इल्लां वरुणो मित्रस्तेजस्कामः ॥ १ ॥
होतारमिन्द्रो होतारमिन्द्र महासुरिन्द्राः ।
अल्लो ज्येष्ठं श्रेष्ठं परमं पूर्णं ब्रह्माणं अल्लाम् ॥ २ ॥
अल्लो रसूलमहामदरकबरस्य अल्लो अल्लाम् ॥ ३ ॥
आदल्लाबूकमेककम् । अल्लबूकनिखादकम् ॥ ४ ॥
अल्लो यज्ञेन हुतहुत्वा । अल्ला सूर्यचन्द्रसर्वनक्षत्राः ॥ ५ ॥
अल्ला ऋषीणां सर्वदिव्यां इन्द्राय पूर्वं माया परममन्तरिक्षाः ॥ ६ ॥
अल्लः पृथिव्या अन्तरिक्षं विश्वरूपम् ॥ ७ ॥
इल्लांकबर इल्लांकबर इल्लां इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥ ८ ॥
ओम् अल्ला इल्लल्ला अनादिस्वरूपाय अथर्वणाश्यामा हुँ ह्रीं जनान्
पशून् सिद्धान् जलचरान् अदृष्टं कुरु कुरु फट ॥ ९ ॥
असुरसंहारिणी हुं ह्रीं अल्लो रसूलमहमदरकबरस्य
अल्लो अल्लाम् इल्लल्लेति इल्लल्लाः ॥ १० ॥ इति अल्लोपनिषत् ।

इसको पढ़कर कौन कह सकता है कि यह मुसलमानों की रचना नहीं है अथवा यह बिना उनकी प्रेरणा के बना है। इसके अतिरिक्त यूनानी वैद्यक को भी संस्कृत में लिखवाकर हिन्दू जनता में मुसलमानी हिकमत के प्रचार का उद्योग किया गया है। यहाँ हम उसका भी एक नमूना दिखलाते हैं। वैद्यक का एक 'अभिनव-निघण्टु' नामी ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ मुम्बई में पं० दत्तराम रामनारायण चौबे के तत्त्वविवेक प्रेस में छपा है। इसके श्लोक इस प्रकार हैं—

दोषः खिल्त इति प्रोक्तः स चतुर्द्धा निरूप्यते। सौदासफरा तथा बलग़ं तुरीयं खून उच्यते ॥
तबियत् कैफ़ियत् कुव्वत् खासियच्च चतुष्टयम्। निखिलं द्रव्यसंज्ञेयमल्पं किंवाप्यनल्पकम् ॥
अपरा मुसहिलनाम्नी इसहालरेचनं विशः। नौमनिद्रा समाख्यात मुनक्किम तद्विधायनी ॥
खुशी फ़र्हत् प्रसादः स्यान्मनसौदेहपाटवम्। उभयं विदधात्येषा मुफ़र्रह सा प्रकीर्तिता ॥
दिमाग़दिलजिरं मादा एतदंगचतुष्टयम्। आज़ायरईस इत्युक्तं देहे शरीरिणाम् ॥

यहाँ इनका अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। इनके शब्दों से ही ज्ञात हो रहा है कि इनमें यूनानी हिकमत की बातें भरी हुई हैं और इनके प्रचलित करनेवाले मुसलमान हैं। जिस प्रकार वैद्यक में हिकमत का मिश्रण किया गया है उसी प्रकार ज्योतिष् में भी इस्लामी तत्त्व प्रविष्ट करने का प्रयत्न हुआ है। खोज करनेवाले जानते हैं कि फलित ज्योतिष् का प्रचार विदेशी है। वह इस देश में यूनान से ही आया है। पारसियों और मुसलमानों का उसपर अधिक विश्वास है। लखनऊ के नवाब तो बिना ज्योतिष् का मुहूर्त दिखलाये छोटे-छोटे काम भी नहीं करते थे—झाड़े और पेशाब को भी नहीं जाते थे, उसी फलित को मुसलमानी भाषा में संस्कृत मिलाकर किस प्रकार हिन्दुओं में प्रविष्ट किया गया है, उसका भी एक नमूना यहाँ हम दिखलाते हैं। नवाब ख़ानख़ाना की 'खेटकौतुक' नामी एक छोटी-सी पुस्तिका है। उसको पं० रामरत्न वाजपेयी ने लखनऊ में छापा है। उसमें लिखा है कि—

यदा माहताबो भवेत्मालखाने मिरीखोऽथवा मुश्तरी बख़्तख़ाने।
अतारिद्विलग्ने भवेद्बख़्शपूर्णं भवेद्दीनदारोऽथवा बादशाहः ॥ १ ॥
भवेदाफ़ताबो यदा षष्ठखाने पुनर्दैत्यपीरोऽथ केन्द्रे गुरुर्वा।
सुजातः शुतुर्फ़ीलताञ्यो हयाढ्यो ज़री ज़र्जरावश्यदातः चिरायुः ॥ २ ॥

यदा चश्मखोरा भवेद्दोस्तखाने ततो मुश्तरी दोस्तखाने विलग्नात्॥
अतारिद्धनस्थो बृहत्साहिबी स्यात् बृहत् सूर्यमखमल़्ख़ज़ानाश्वपूर्णः॥ ३॥
तृतीये भवेदाफ़ताबस्य पुत्रो यदा माहताबस्य पुत्रो विलग्ने।
भवेन्मुश्तरी केन्द्रख़ाने नराणां बृहत् साहिबी तस्य तालेरुजु स्यात्॥ ४॥
यदा मुश्तरी पंजख़ाने मिरीख़ो यदा बख़्तखाने रिपौ आफ़ताबः।
नरो बावक़ूफ़ो भवेत्कुंजरेशो बृहद्रोसनोवाहिनी वारणाढ्यः॥ ५॥
अतारिद् विलग्ने सुखे माहताबो गुरुस्स्वपरख़ाने तमो लाभखाने।
जहानस्य धूरी भवेन्नेक बख़्तः ख़ज़ानागजाढ्यो मुलुक् साहिबी स्यात्॥ ६॥
यदा देवपीरो भवेद्बख़्तखाने पुनर्दैत्यपीरोऽथवा स्वपरखाने।
अतारिद्विलग्ने तृतीये मिरीखः शनिर्लाभखाने नरः क़ाबिलः स्यात्॥ ७॥
महलमाहताबो व्यये आफ़ताबो यदा मुश्तरी केन्द्रखाने त्रिकोणे।
भवेन्मानवो देव तेजस्कराढ्यो बृहत् साहिबी बख़्तखूबी कमालः॥ ८॥
ख़ज़ानागजाढ्यो भवेल्लश्कराढ्यो महानप्रियो मुश्तरी जायख़ाने।
मिरीख़ोऽथ लाभे बुधः पंजख़ाने शनिः शत्रुखाने नरः क़ाबिलः स्यात्॥ ९॥
क़मर-केन्द्र खाने शनिः शत्रुख़ाने त्रिकोणेऽथवा मुशतरी चश्मखोरी
स जाता नरो साविरः सुद्गणज्ञो भवेत् शायरो मालदारोऽथ खूबी॥ १०॥

इन श्लोकों का भी अर्थ करने की आवश्यकता नहीं है। इनमें आये हुए फ़ारसी शब्दों से ही ज्ञात हो रहा है कि इनमें मुसलमानों के ज्योतिष का वर्णन है। इसके अतिरिक्त इस्लाम प्रचार के लिए उर्दू मिश्रित अन्य श्लोक भी ऐसे-ऐसे बनाये गये हैं जिनसे उनके अल्लाह की भक्ति की जा सके। यहाँ हम नमूने के लिए इस प्रकार का भी एक श्लोक लिखते हैं—

हेच फ़िक्रमकर्तव्यं कर्तव्यं ज़िकरे खुदा। खुदातालाप्रसादेन सर्वकार्यं फ़तह भवेत्॥

इस प्रकार से मुसलमानों ने संस्कृतभाषा के द्वारा अपने भाव, अपने विचार और अपने विश्वासों को हमारे भावों, विचारों और विश्वासों में भरा है और हमारी संस्कृति में क्षोभ पैदा कर दिया है। इसी प्रकार उनके दूसरे दल ने गुरु बनकर और देशी भाषा में नये-नये ग्रन्थ रचकर भी हिन्दुओं के विश्वासों में बहुत-सा अन्तर पैदा कर दिया है। यह मुसलमानों का दल जो हिन्दुओं का गुरु बनने चला था वंशपरम्परा से अब तक विद्यमान है। मुम्बईनिवासी सर आग़ाख़ाँ उसी गद्दी के वर्त्तमान आचार्य हैं और इस समय भी कई लाख हिन्दुओं के गुरु हैं। गुजरात, सिन्ध और पंजाब में लाखों आदमी उनके चेले हैं और हर वर्ष कई लाख रुपया दशांश के नाम से उनके पास पहुँचते हैं। उनके ग्रन्थ सिन्धी, पंजाबी और गुजराती भाषा की एक मिश्रित भाषा में लिखे गये हैं। उन ग्रन्थों में लिखा है कि अथर्ववेद से हमारा धर्म चला है। उन्होंने इस अथर्ववेद का क्रम आगे चलकर क़ुरान से जोड़ दिया है। इसी प्रकार उस आदि मुसलमान को कलंकी अवतार माना गया है जिसकी गद्दी पर इस समय सर आग़ाख़ाँ साहब विराजमान हैं। इनका क्रम किसी प्रकार हज़रत मुहम्मद से भी जा मिलाया है। इस धर्म में गाय का खाना और पालना दोनों लिखा है। पाँच-छह वर्ष से सर आग़ाख़ाँ ने आज्ञा दे दी है कि अब हमारे सब चेले अपने नाम मुसलमानी ढंग के रक्खें और हिन्दुओं से पृथक् हो जाएँ। कहते हैं कि हिन्दुओं की एक बहुत बड़ी जमात जिसमें लाखों मनुष्यों की संख्या है अब हिन्दुओं के हाथ से निकलनेवाली है। यहाँ हम थोड़ा-सा इस आग़ाख़ानी मत का भी इतिहास और सिद्धान्त लिखते हैं।

मुसलमानी मत के संस्थापक और क़ुरानमजीद के प्रचारक हज़रत मुहम्मद के दामाद

हज़रत अली से शाहज़ादा ज़ाफ़र सादिक़ छठा इमाम हुआ। इसी से ज़ाफ़री फ़िरक़ा चला, जिसको शिया कहते हैं। इन ज़ाफ़र सादिक़ के इस्माइल और मूसाक़ाज़म दो लड़के थे। इस्माइली मत इन्हीं इस्माइल के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'हिस्ट्री आफ़ दी एसेशिन्स' में लिखा है कि इस्माइलियों ने अपना राज्य इजिप्ट (मिस्र) में स्थापित किया और वहाँ बहुत दिन तक राज्य किया। उनमें मुस्तनसर नामी एक ख़लीफ़ा हुआ जिसने अपने बड़े लड़के मुस्तफ़ा अलीदीन अल्लानिज़ार को उत्तराधिकारी बनाया। इसी निज़ार के नाम से निज़ारी फ़िरक़ा हुआ। बहुत दिन के बाद इन निज़ारी लोगों ने अपनी गद्दी अलमूत में स्थापित की। यह अलमूत एक पहाड़ी क़िला है जो कास्पियन समुद्र के दक्षिण और ईरान के उत्तर में स्थित है। इसी को इनके ग्रन्थों में 'अलमूत गढ़' के नाम से लिखा है। आज से कोई ७५० वर्ष पूर्व यहीं से इन लोगों ने अपने उपदेशकों को भारत में इस्लाममत के फैलाने के लिए भेजा। पहले ये लोग काश्मीर में आये और वहीं से लाहौर और लाहौर से सिन्ध के कोटड़ा ग्राम में आकर बसे। इनके ग्रन्थों में लिखा है कि—

पीर सदरदीन पंथज किया ज़ाहर खाना मकान।
ऐलो खानो आवी कर्यो 'कोटड़ा' ग्राम निधान॥
पीर सदरदीन ज़ाहर थया हिन्दू कर्या मुसलमान।
लोवाणा फिर खोजा कर्या तेने आप्यो साचो इमान॥

अर्थात् पीर सदरदीन ने सबसे पहले कोटड़ा ग्राम में वास किया और हिन्दुओं को मुसलमान किया तथा वहीं पर लोहाणों को खोजा बनाया। इन आनेवाले इस्लाम प्रचारकों की गोल के उस समय पीर सदरदीन गुरु थे। उन पीर सदरदीन ने अपने तीन नाम रक्खे थे—सदरदीन, सहदेव और हरिचन्द्र। पीर सदरदीन की गद्दी पर आजकल मुम्बई निवासी हिज़ हाईनेस सर आग़ाख़ाँ विराजमान हैं।

इन आग़ाख़ानी गुरुओं के पूर्वज बड़े ही चालाक थे। इन्होंने अपनी चालाकी से दूर-दूर तक अपने मत का प्रचार किया। इन्होंने मिस्त्रियों में, ईसाइयों में और दूसरे सम्प्रदायों में बड़ी-ही चातुरी से प्रचार किया। इनकी प्रचार-सम्बन्धी चालाकियों का पता खोजों के एक मुक़द्दमे का निर्णय देखने से लगता है। यह निर्णय सन् १८६६ ईस्वी में हाईकोर्ट के जजों ने लिखा है। इसमें लिखा है कि जब किसी शिया को इमामी इस्माइली मत में लाना होता है तब इस्माइली उपदेशक पहले शियामत की शिक्षा को हृदय से स्वीकार करता है, अली और उसके पुत्र पर हुए अत्याचारों पर दुःख प्रकट करता है, हुसेन के शहीद होने पर दया दिखलाता है और उनके कुटुम्ब के साथ कुछ सहायता करने के लिए विचार दर्शाता है तथा बनी, उमैया और अब्बाशी के लिए तिरस्कार प्रकट करता है। इस प्रकार अपने लिए रास्ता तैयार करता है फिर धीरे से सङ्केत करता है कि शियामत जानने और पालने की अपेक्षा इस्माइलीमत के गुप्त भेदों को जानना चाहिए। इसी प्रकार जब किसी यहूदी को अपने मत में लाना होता है तब इनका उपदेशक ख्रीस्ती और मुसलमानी मत के विरुद्ध बोलता है और जिसको अपने धर्म में लाना होता है उसके साथ मिलकर कहता है कि यह विश्वास रखना चाहिए कि मसीहा आनेवाला है, परन्तु धीरे-धीरे उसके मन में यह बात जमाता है कि जो मसीहा आनेवाला है वह अली के सिवा और दूसरा कोई नहीं है। इसी प्रकार जब किसी ईसाई को अपने मत में लाना होता है तब यहूदियों की हठ और मुसलमानों की अज्ञानता का वर्णन करता है और ईसाईमत के मुख्य अंशों को मान देने का ढोंग रचता है, किन्तु धीर-धीरे ऐसा सङ्केत भी करता है कि यह सब ठीक है, परन्तु इसके भीतर बड़ा

भेद है और वह भेद प्रकट करनेवाला एकमात्र इस्माइली मत ही है। फिर उसको ऐसी सूचना करता है कि ईसाइयों ने पाराक्लीट (Paraclete=The Holy Ghost or Spirit) की शिक्षा का अर्थ उलट दिया है। तात्पर्य यह कि ये लोग अपने मत के विचार गुप्त रखते हैं और जिसको अपने धर्म में लाना होता है उसके धर्म का एक बड़ा भाग स्वयं स्वीकार कर लेते हैं।

इसी ढंग से शिक्षा देने के लिए इन्होंने मिस्र में एक विद्यालय भी खोला था। उस विद्यालय की वार्षिक आमदनी २५,००० डयूकेट थी[१]। उस विद्यालय में धर्मशिक्षा के नौ दर्जे थे और शिक्षा का क्रम यह था—

प्रथम श्रेणी—शिक्षक के वचनों पर विश्वास रखना। धर्म पर भरोसा रखने के लिए प्रेरणा करना। धर्म के गुप्त भेदों में बाधा न डालने और उनमें श्रद्धा रखने के लिए क़सम खाना। धर्म और बुद्धिवाद में जहाँ अन्तर आवे वहाँ उलटी-सीधी बातें बनाकर जिज्ञासु को सन्देह में डालना। इन समस्त बातों को काम में लाने के लिए कोई कमी न छोड़ना।

द्वितीय श्रेणी—परमेश्वर के बनाये हुए इमाम जो विद्याप्रचार के मूल थे उनकी पहचान कराना, उनकी बड़ाई करना और उनपर विश्वास पक्का कराना।

तीसरी श्रेणी—इमामों पर विश्वास हो जाने पर उनकी संख्या के विषय में बातचीत करना और कहना कि इमामों की संख्या सात ही थी, क्योंकि सात की संख्या पवित्र होती है। परमेश्वर ने जिस प्रकार सात की पवित्रता को ध्यान में रखकर सात दुनिया, सात आसमान, सात दरिया, सात ग्रह, सात रंग, सात स्वर और सात धातुओं को बनाया है उसी प्रकार प्राणियों में श्रेष्ठ सात ही इमामों को भेजा है। इसके बाद उन सात इमामों के नाम अली, हसन, हुसेन, अली जेनलाबदीन, मुहम्मद बाक़र, ज़ाफ़रसादिक़ और इस्माइल बताना[२]।

चौथी श्रेणी—पहले यह सिखलाना कि संसार के आरम्भ के पश्चात् ईश्वरी नियमों का प्रचार करनेवाले परमेश्वर की ओर से सात पैग़ंबर बोलनेवाले—लेकचरर्स हुए। उन्होंने ख़ुदा की आज्ञा से अपना मत फैलाया। इसके बाद यह सिखलाना कि उन सातों के साथ बिना बोलनेवाले भी सात थे, जो उन बोलनेवालों के आचार्य की भाँति प्रतीत होते थे। पहले सातों को सूस कहते थे। इन सातों के नाम आदम, नूह, इब्राहीम, मूसा, ईसा, मुहम्मद और ज़ाफ़र का लड़का इस्माइल हैं। बिना बोलनेवाले उनके सात सहायकों के नाम—सेथ, शेम, इब्राहीम का लड़का इस्माइल, आइरन, सीमियन, अली और इस्माइल का लड़का मुहम्मद—हैं।

पाँचवीं श्रेणी—जिज्ञासु को खुली रीति से ईमान आ जाए, इसलिए प्रथम से ही ऐसा कहना कि हर एक गूँगे पैग़ंबर के साथ बारह-बारह मददगार थे। दलील यह देना कि सात के बाद बारह का ही अंक श्रेष्ठ है, क्योंकि राशियाँ बारह हैं और अँगूठे को छोड़कर चारों अंगुलियों के पोर भी बारह ही हैं। बारह इमामों के बाद इस्माइली मत के सिद्धान्त सिखलाना।

छठी श्रेणी—इस श्रेणी में अपने नवीन धर्म के नियम थोड़े सिखलाना और तत्त्वज्ञान के नियम अधिक पढ़ाना। इस दर्जे में प्लेटो, अरिस्टॉटल, पैथागोरस के सिद्धान्तों का प्रमाण स्वीकार करना।

सातवीं श्रेणी—सातवीं श्रेणी में इस्माइली धर्म के गुप्तसिद्धान्तों के सीखने का अवसर देना और धर्म की वास्तविक आज्ञाओं को समझाना।

---

१. एक ड्यूकेट बारह रुपये के बराबर होता है।

२. इमामी लोग सात के स्थान में बारह इमाम मानते हैं।

आठवीं श्रेणी—सभी पैग़म्बरों ने अपने से पूर्व पैग़म्बरों की बात को काटकर सर्वथा नष्ट कर दिया है, इसलिए इस श्रेणी में इस्माइली मत की इस निर्बलता को नष्ट करने के लिए स्वर्ग-नरक का वर्णन करके जिज्ञासु के मन को भयभीत कर देना।

नवीं श्रेणी—इस श्रेणी में अपना पूरा अभीष्ट प्रकट रूप से सिखला देना।

खोजों के मुक़दमे में इनके धर्म-प्रचार का जो ढंग जजों ने वर्णन किया है वही विधि इस विद्यालय की इस शिक्षाप्रणाली में भी पाई जाती है और इनका वही ढंग हम यहाँ भारत में भी देख रहे हैं। इन्होंने इस्लाम धर्म के प्रचार करने के लिए जो ग्रन्थरचना की है और हिन्दू बनकर जिस प्रकार हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का प्रपञ्च किया है उसका हम यहाँ थोड़ा-सा नमूना दिखाते हैं। इनके एक ग्रन्थ में आग़ाख़ान आदि गुरुओं के लिए मुहम्मदशाह ने लिखा है कि—

जीरे कृष्ण पहेरतां पीतांबर धोती। जीरे आज कलि में कभी ने टोपी॥
जीरे कृष्ण चालतां टिलड़ी काढ़ी। जीरे आज कलि में बढ़ाई डाढ़ी॥

अर्थात् जहाँ कृष्ण पीताम्बर पहनते थे वहाँ आज कलियुग में गुरुजी टोपी पहिनते हैं और जहाँ कृष्ण टिलड़ी सँवारते थे, वहाँ आज कलियुग में गुरुजी डाढ़ी रखते हैं।

इसी प्रकार हज़रत आदम और हज़रत मुहम्मद के लिए लिखा है कि—

जीरे भाई रे आज कलजुग माँ ईश्वर आदम नाम भणाया
गुरु ब्रह्मा ने रची मुहम्मद कहाव्या हो जीरे भाई
जीरे भाई रे पुरुख उत्तम विष्णुजी अलीरूप नाम भणाया
ते तो नाम रखो सरे धायाँ हो जीरे भाई॥

अर्थात् कलियुग में परमेश्वर ने अपना नाम आदम रक्खा, ब्रह्मा मुहम्मद कहलाये और विष्णु अली नाम से प्रसिद्ध हुए।

इनके अतिरिक्त पीर सदरदीन को हिन्दुओं का दशवाँ अवतार बताया है। एक पद्य में लिखा है कि—

कलजुग मधे अनंत क्रोडी पीर सहनशाये वर आलिया।
अवतार दशमो दिलमां धरी घट कलशरूपे सही थापिया।

अर्थात् कलियुग में दशवाँ अवतार पीर सदरदीन ही हैं जो घट, कलश आदि रखवाते हैं। इसके आगे फिर लिखा है कि—

येजी अलख पुरख शाजी वेजो दातार
अलख पुरख शासरणी सतार
श्रेवो श्री इसलामशा दशमो अवतार।

अर्थात् ये दशवें अवतार और इस्लाम के बादशाह पीर सदरदीन ही अलखपुरुष हैं।

इसके आगे पश्चिम दिशा की प्रशंसा में लिखा है कि—

कृता जुगे द्वार उत्तर मुखे हुआ त्रेता में मुख पूर्व रचायां।
द्वापर दखण आज कलि पच्छिमे मेहदीशा नाम भणायां॥

अर्थात् सत्ययुग में उत्तर मुख का द्वार, त्रेता में पूर्व मुख का, द्वापर में दक्षिण मुख का और आज कलियुग में पश्चिम मुख का द्वार हुआ, जहाँ मेहदीशाह हुए।

इसके आगे अपने घट पाट का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

आज कलजुग मधे साहेब नुं एक रूप
पच्छम दिशा वार क्रोडी सुं पीर सदरदीन
घट पाट स्थापतां, माटीना घट माटीना पाट,
अजा जाग करतवा। अजानु मूल ते सेजादान देतवा।
एशो फलेथी वार क्रोडी सुं पीर सदरदीन सीजंता।
अमीर अमरापुरी पोंचता।

अर्थात् आज कलियुग में साहब का एक ही रूप है। पश्चिम दिशा में माटी का घट और माटी का पाट स्थापित करके अमीर-उमरा सब पीर सदरदीन की सेवा करके अमरपुरी को जाते हैं।

इसके आगे दशों अवतारों का वर्णन इस प्रकार है—

मछ कोरम वाराह मणा पाँई
नरसिंह रूपे स्वामीजी विष्णु भणो
वामन परसराम सोई अवतर्यो
श्रीरामें लंकागढ़ नहियो
कानजी बुध दखण अवतर्यो
अढार खुणी शानर देर्यो
पाछमें पात्र निकलंकी नारायण
धेलम देश में शाजो स्थान रच्यो
कोडी पंज, सत, नव, चारों अनत ही नारींधो
श्री इस्लामशा जो नाम भणांया॥

अर्थात् विष्णु ने मच्छ, कूर्म, वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम आदि अवतार धारण किये। रामचन्द्र ने लंका में चढ़ाई की। श्रीकृष्ण और बुद्ध भी हुए। इनके बाद सबसे पीछे धेलमदेश में निष्कलङ्की नारायण ने अवतार धारण किया। वही श्री इस्लामशाह पीर सदरदीन हैं।

इसके आगे मुसलमानी मत में सबको लाने के लिए लिखा है कि—

चीला छोड़ो न दीन का धांचा मत खाव
सुनो बटाऊ बावरे मत भूल न जाव।
साँचा दीन रसूल का सो तमे सही करिजाणों
जो कोई आवे दीन में उनको दीन में आणों॥

अर्थात् हे मुसाफिर! सुन, भूलना नहीं, धोखा मत खाना और दीन की डोर मत छोड़ना, क्योंकि रसूल का ही दीन सच्चा है, इसलिए तू उसे सच्चा समझ और जो दूसरे लोग आवें उनको उस दीन में ला।

इसके आगे उस दीन का वर्णन करते हुए पीर साहब ख़ुद अपने प्रचारकों को गुप्त बात का उपदेश करते हैं कि—

अली थकी बहु पेनज चाल्यां सो सतगुर नूरे पाया
साले दीन पुरा कहिये हुआ सुदीन रहेमान

शाह शम्स केरो दिन पिछाणो चोदिश तेणे पाय
सूरज अगामी जोत देखाडी नर सोई अवतार
करणी कारण खाल उतारी प्रतक्ष ये परमाण्या
मुआ जीवता ते नर करिया करणी विना नव होय
नशीरदीन नूरज पाया हुआ सुदीन रहेमान
हिन्दू केरी पूजा करता किन्ने न पाया भेद
चरित्र हिन्दू अन्दर मुसलमान कोई नव तेने जाणे।
राम राम काया नव राखे रातियाँ करे जु जाग
नशीरदीन एवा बुजर्ग कहिये कई एक हिन्दू ने तार्या
तिस्की आल पीर साहबदीन हुआ हुआ सुदीन रहमान
साहबदीन गरीबी वेशे फकीरी पूरी राखी
सफल तेणे दशोंद कीधी पाया दीन रहेमान
पीर सदरदीन बुजरग कहिये वार क्रोडी ना धार्या
कलजुग मां तेणे जिवड़ा तार्या जेणें साची दशोंद कीधी
हसन कबीरदीन गरीब बंदा होता साहबजी के चरणं
अनंत क्रोडी ना गुरुजी आव्या करवा ऊनां काम।

—पीर सदरदीनकृत अनन्तज्ञान

इसमें इन्होंने सालेदीन का प्रभाव, शम्सतबरेज़ी का तपोबल और नशीरदीन का प्रताप वर्णन करके इस्लाममत के प्रचार की यह युक्ति बतलाई है कि प्रकट में हिन्दूरूप से और अन्त:करण में मुसलमान रहकर प्रचार करना चाहिए और शिष्यसम्प्रदाय से दशोंध, अर्थात् आय का दशांश वसूल करना चाहिए।

इस प्रकार से मुसलमानों के इस दल ने जो हिन्दुओं का गुरु बनकर उनका धन और धर्म लेने आया था, इस प्रकार जाली ग्रन्थों की रचना से लाखों हिन्दुओं को पतित किया है। जिस प्रकार के ये इस्माइली प्रचारक थे उसी ढंग का प्रचारक कबीर भी था। वह भी हिन्दू-मुसलमानों के बीच में एक विचित्र मत खड़ा करके हिन्दुओं में से अपने चेले छीन लेने का प्रयास करता था। वह कुछ अंश में सफल भी हुआ था। जितने कबीरपन्थी हैं यदि वे कट्टर हैं तो बजाय अग्निदाह के गाड़ना अधिक पसन्द करते हैं और वेदों तथा ब्राह्मणों की निन्दा करते हैं। इस बात को गुरु नानक ने ताड़ लिया था। गुरु नानक पर कबीर का जादू नहीं चला। वे कबीरपन्थ से सचेत रहे और अलग एक ऐसा पन्थ बना सके जो ठीक मुसलमानों का विरोधी है, परन्तु दु:ख से कहना पड़ता है कि कभी-कभी सिक्ख कह देते हैं कि हम हिन्दू नहीं हैं।

जिस प्रकार कबीर साहब गुरु बन गये थे, उसी प्रकार अकबर बादशाह भी गुरु बनना चाहता था। उसने यह प्रसिद्ध कर दिया था कि मैं पूर्वजन्म का हिन्दू हूँ और मेरा नाम मुकुन्द ब्रह्मचारी था। उसने मुकुन्द ब्रह्मचारी होने की पुष्टी में जो श्लोक बनवाया था वह इस प्रकार है—

वसुरन्ध्रबाणचन्द्रे तीर्थराजप्रयागे। तपसि बहुलपक्षे द्वादशी पूर्वयामे॥
नखशिखतनुहोमे सर्वभूम्याधिपत्ये। सकलदुरतिहारी ब्रह्मचारी मुकुन्दः॥

अर्थात् संवत् १५९८ की फाल्गुण शुक्ला द्वादशी को प्रात:काल पृथिवी का सम्पूर्ण राज्य प्राप्त करने के लिए मुकुन्द ब्रह्मचारी ने अपना शरीर नख से शिखा तक होम कर दिया।

अकबर मुकुन्द ब्रह्मचारी बनकर अपना हिन्दूरूप दिखलाना चाहता था। वह कभी–कभी यज्ञोपवीत भी पहनता था और दाढ़ी निकाल डालता था। यह सब इसीलिए कि हिन्दू उसके चक्कर में आ जाएँ। अकबर अपने समय के बड़े–बड़े लोगों को ऐसी–ऐसी बातें सुनाकर अपने क़ाबू में लाता था। उसकी ये चालें बहुत अंशों में हिन्दुओं पर प्रभाव कर गई थीं। वह उनके साथ शादी–विवाह का सम्बन्ध खुले आम करना चाहता था। इतना ही नहीं, प्रत्युत उसने हिन्दुओं को एक साथ ही मुसलमान बनाने का बहुत बड़ा आयोजन किया था। उसने फ़तेहपुर सीकरी में एक उपासनागृह बनवाया था जहाँ पर भारतवर्ष के समस्त सम्प्रदायों के आचार्य एकत्र होते थे। इसमें पारसियों के दस्तूर मेहरजी राना नौसारी से बुलाये गये थे, अब्बुलफ़ज़ल के कहने से उनके लिए एक आग्यारी भी बनवाई गई थी और उनको दो सौ बीघा ज़मीन भी दी गई थी। इसी प्रकार पादरी Rodolfo Aquavivo भी इस उपासनागृह में रहते थे। इनके अतिरिक्त हरिविजय सूरि, विजयसेन सूरि, चन्द्रसूरि आदि जैन और बौद्ध साधु भी वहाँ रहते थे। इन सबके इकट्ठा करने का यही कारण था कि कोई ऐसी युक्ति निकल आवे कि ये समस्त हिन्दूजातियाँ मुसलमान हो जाएँ। हमारे इस आरोप में यह प्रबल प्रमाण है कि अकबर ने जो नवीन मत बनाया था उसका नाम दीने इलाही था और जहाँ इस मत की चर्चा होती थी उस स्थान का नाम उपासनागृह था। ये दोनों नाम इसलाम के ही अनुकूल हैं दूसरों के नहीं और इनकी तहों में इस्लाम ही झलकता है, अन्य नहीं।

ये मुसलमानों के गुरु बनने के नमूने हैं। इन रचनाओं, इन युक्तियों और गुरुओं की इन विधियों से हिन्दुओं के विश्वासों में और उनके व्यवहारों में क्या–क्या फेरफार हुआ और इनके प्रभाव, दबाव और अत्याचारों से बचने के लिए हिन्दुओं ने स्वयं अपने विचारों और पुस्तकों में क्या–क्या फेरफार किया, इसकी याद आते ही रोमाञ्च होता है। अष्टवर्षा आदि श्लोकों की रचना करके बाल–विवाह का जारी करना, सुवर का मांसाहार स्वीकार करना, पुत्री–हत्या का प्रचार करना और पर्दा–प्रथा का जारी करना क्या इस्लामी अत्याचारों के कारण ही नहीं स्वीकार किया गया? कौन कह सकता है कि हिन्दुओं को इस्लाम ही के कारण ये अनार्य सिद्धान्त नहीं स्वीकार करने पड़े? कोई भी विचारवान् हमारी इस बात का यही उत्तर देगा कि मुसलमानों ने स्वयं और हिन्दुओं ने विवश होकर आर्य–साहित्य और आर्य–संस्कृति का नाश किया है तथा आर्य–साहित्य और आर्यसंस्कृति के नष्ट होने से ही हिन्दुओं का पतन हुआ है।

ईसाई और आर्यशास्त्र

चौथी यूरोपनिवासिनी ईसाईजाति है जिसने भारत में आकर आर्यों के रहे सहे विश्वासों को बदलने और वैदिक साहित्य के द्वारा अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए महान् प्रयत्न किया है। यद्यपि ईसाईजाति ने इस देश को बहुत बड़ी हानि पहुँचाई है, परन्तु हम यहाँ वह सब नहीं लिखना चाहते। हम यहाँ यह नहीं लिखना चाहते कि ईसाइयों के शासन द्वारा हिन्दुओं को क्या लाभ और हानि हुई। हम यह भी नहीं लिखना चाहते कि इस देश में आने के साथ ही वास्कोडिगामा ने अपने आश्रयदाता कालिकट के राजा के साथ कैसी बेईमानी की। हम यह भी नहीं लिखना चाहते कि पुर्तगाल के पादरियों ने गोवा में माँ–बापविहीन लड़कों को किस क्रूरता से क्रिश्चियन बनाया। हम यहाँ यह भी नहीं लिखना चाहते कि किस प्रकार यहाँ के कारीगरों के अँगूठे काट–काटकर इन ईसाइयों ने यहाँ का व्यापार नष्ट किया और इस तपस्वी देश को

विलासी बनाया, क्योंकि सभी जानते हैं कि भारतवासी इनके कारण भूख और अपमान से शारीरिक तथा मानसिक बल खो चुके हैं, अत: हम यहाँ केवल उतना ही भाग लिखना चाहते हैं, जिसके कारण हमारे आर्यत्व, अर्थात् वैदिकता का ह्रास हुआ है। यह मानी हुई बात है कि जब कभी कोई नवीन जाति दूसरी जाति में अपने विचार और विश्वास प्रविष्ट करना चाहती है तब वह उस जाति की कुछ बातों को मान लेती है, कुछ का अर्थ बदल देती है और अपने कुछ विचार उसमें प्रविष्ट कर देती है। इस देश में ईसाइयों ने भी इस सिद्धान्त से बहुत लाभ उठाया है। आरम्भ में ईसाई पादरियों ने देखा कि यहाँ के धर्मगुरु ब्राह्मण हैं, अत: वे भी यज्ञोपवीत पहनकर और ब्राह्मणों के-से अपने नाम रखकर ईसाईमत का उपदेश करने लगे। जब उन्होंने देखा कि यहाँ साधु-संन्यासियों का बड़ा मान है, उनपर लोग बड़ी श्रद्धा रखते हैं और उनके वचनों को मानते हैं तब मुक्ति फ़ौज के ईसाईप्रचारकों ने भी वस्त्रों को भगवा रंग से रंगकर और संन्यासियों का भेष बनाकर प्रचार करना आरम्भ किया। इसी प्रकार जब उन्होंने देखा कि यहाँ उपनिषदों का बड़ा मान है तब वाजसनेयी उपनिषद् की '**ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्**' इस श्रुति से ईसा मसीह का उपदेश करने लगे। इसी प्रकार बाइबिल को संस्कृत में लिखवाकर भी बड़े-बड़े पण्डितों को ईसाई बना लिया। यह सारी सचाई सब लोग जानते हैं, इसलिए यहाँ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, केवल इस बात की चर्चा कर देना आवश्यक है कि इन्होंने किस प्रकार अपने सिद्धान्तों को संस्कृत द्वारा हिन्दुओं में प्रचलित करने की धोखाधड़ी की।

हम पहले ही लिख आये हैं कि कोलब्रुक आदि ने वेदों को प्राप्त करना चाहा था, परन्तु द्रविड़ों ने उन्हें ठग लिया और वेदों को न दिया, किन्तु पादरियों ने सोचा कि लोभी द्रविड़ों को रुपया देकर बाइबिल के सिद्धान्तों को संस्कृत में लिखवाकर एक वेद तैयार कराना चाहिए। वही किया गया। सन् १७६१ में रॉबर्ट डी० नोबली नामक पादरी ने एक द्रविड़ पण्डित को रुपया देकर पुराण और बाइबिलमिश्रित एक पुस्तक संस्कृत में लिखवाई और उसका नाम यजुर्वेद रक्खा। उस समय यह वेद के नाम से लोगों को सुनाया जाने लगा। इसका फ्रेंचभाषा में अनुवाद भी हुआ और बड़ी धूमधाम से पेरिस के पुस्तकालय में रक्खा गया। सन् १७७८ में इसपर बड़े-बड़े लेख निकले, परन्तु बात खुल गई और अन्त में मैक्समूलर ने कह दिया कि 'In plain English the whole book is childishly derived', अर्थात् यह समग्र पुस्तक लड़कों का लेख है। यह पुस्तक भी यदि अल्लोपनिषद् की भाँति आज तक प्रचलित रहती तो वह भी हिन्दुओं में मान्यग्रन्थ हो जाता, किन्तु ईसाइयों का यह प्रपञ्च न चला और इस साहित्यध्वंस के उपाय का अन्त हो गया।

यह मानी हुई बात है कि किसी भी जाति के उत्तम साहित्य का नाश करना उस जाति के नाश करने का प्रबल उपाय है। साहित्यनाश करने के तीन उपाय हैं। जला देना, गड़वा देना या दरिया में डलवा देना—ये नीच उपाय हैं; उसमें अपने सिद्धान्तों का प्रक्षेप कर देना मध्यम उपाय है; और उसे निकम्मा सिद्ध करना गूढ़ अथवा उत्तम उपाय है। पहले दोनों उपायों से तो बचने का उपाय है। कण्ठस्थ करके उत्तम साहित्य बचाया जा सकता है और जाँच-पड़ताल से प्रक्षेप भी पकड़ में आ सकता है, परन्तु तीसरा उपाय बड़ा ही दुर्गम है। इससे बचना बहुत ही कठिन है। ईसाइयों ने हमारे साहित्य को नष्ट करने का दूसरा उपाय ही अपनाया। वे हमारे देश के बच्चों की शिक्षा का भार अपने हाथ में लेकर मनमाना साहित्य पढ़ाते हैं और उसका मनमाना अर्थ भी करते हैं। उन्होंने हमारे देश के साहित्य पर विचार भी किया है। कृष्णयजुर्वेद से लेकर अल्लोपनिषद् तक जो कुछ अब तक आर्यों और अनार्यों ने मिश्रण किया है सबको समझा है और हमें जंगली

सिद्ध करने में उसका उपयोग भी किया है, क्योंकि वे मान बैठे हैं कि भारतीयों के कल्याण में हम यूरोपवासियों का कल्याण नहीं है। जबसे उन्होंने इस देश को राजनैतिक दृष्टि से देखना आरम्भ किया है, जब से उनको यहाँ की ३० कोटि जनसंख्या सैनिक दृष्टि से दिखने लगी है, जब से उन्होंने देखा है कि यह देश यदि सशस्त्र स्वतन्त्र हो जाए तो युद्ध के लिए प्रति वर्ष बीस लक्ष जवान दे सकता है और हमेशा के लिए युद्धोपकरण तथा खाने-पीने का सामान अपने-आप पूरा कर सकता है और जबसे उन्होंने देखा है कि पारसी, यहूदी, देशी ईसाई, मुसलमान और बौद्ध आदि भारतवासी देशप्रेम से प्ररित होकर एक हो सकते हैं तबसे यूरोपनिवासी इस देश के साहित्य, इस देश के इतिहास, इस देश के व्यापार और राज्य आदि किसी भी उत्कर्ष को पनपने नहीं देते। वे जानते हैं कि प्राचीन जातियों के समस्त उत्कर्ष की कुंजी उनके साहित्य में होती है, इसीलिए ये ईसाई कुटिल नीति से प्रेरित होकर यहाँ के उत्तम साहित्य का अनर्थ करके अभिप्राय पलट देते हैं।

बंगाल के प्रसिद्ध विद्वान् और रसायनशास्त्र के आचार्य श्रीयुत पी० सी० राय 'हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन केमिस्ट्री' के पृष्ठ ४२ पर लिखते हैं कि 'जब यूरोपियन विद्वानों को स्वीकार करना पड़ता है कि विद्या-सम्बन्धी विषयों में यूरोप देश भारतवर्ष का ऋणी है तब उनको बहुत बुरा लगता है। यही कारण है कि ये लोग ऐतिहासिक विषयों को अन्य रीति से वर्णन करने का व्यर्थ प्रयत्न करते हैं'।

यूरोपनिवासियों की यह बात शिक्षाविषयक पाठ्य पुस्तकों में बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखालाई पड़ती है। यह सभी जानते हैं कि वेदों का समय प्रत्येक प्रकार से बहुत पुराना सिद्ध हो चुका है, परन्तु स्कूलों में अब तक वेदों की प्राचीनता वही तीन हज़ार वर्ष की पढ़ाई जा रही है। इसी प्रकार यह सिद्ध हो चुका है कि आर्यों के पूर्व इस देश में कोल, द्रविड़ादि कोई भी असभ्य जातियाँ नहीं रहती थीं और आर्यलोग कहीं बाहर से आकर यहाँ नहीं बसे, परन्तु अबतक वही पुरानी बातें पढ़ाई जाती हैं कि यहाँ के मूलनिवासी द्रविड़ और कोल हैं, आर्य तो कहीं बाहर से आये हैं। इसका तात्पर्य यही है कि इस प्रकार की बातों को पढ़कर भारतीय आर्य अपने साहित्य से उदासीन हो जाएँ और बिना जलाये, बिना प्रक्षेप किये ही उनके लिए उनका इतिहास मुर्दे से भी अधिक निकृष्ट हो जाए। वही हुआ। हमारे विश्वासों में अन्तर आने लगा। हम ईसाई शासकों के द्वारा प्रतारित होकर इस साहित्य के साथ ईसाई-गार में समाना ही चाहते थे कि बंगाल के आर्यशिरोमणि राजा राममोहन राय ने ब्राह्मसमाज द्वारा हमें बचाने का यत्न किया, परन्तु उनके बाद ही केशवचन्द्र सेन ने ईसाइयों से प्रभावित होकर ब्राह्मसमाज के सिद्धान्तों को ईसाई सिद्धान्तों के साथ मिलाकर ब्राह्मसमाज को भी एक प्रकार से देशी ईसाईसमाज ही बना दिया, किन्तु तुरन्त ही स्वामी दयानन्द ने इस क्षेत्र में अपना कार्य आरम्भ कर दिया। उन्होंने आर्यों में उनकी प्राचीन विद्या, सभ्यता, संस्कार, धर्म और सार्वभौम राज्य आदि के मन्त्र फूँके। उन्होंने सारे देश में घूम-घूमकर तत्कालीन समझदार लोगों के हृदयों में प्राचीन आर्यों का जाज्वल्यमान यश प्रकाशित कर दिया। उन्होंने वेदों की उच्च शिक्षा का विस्तारपूर्वक वर्णन किया और आर्यजाति को सचेत किया कि वे अपनी डूबती हुई आर्यनौका को सँभालें। यह बात लोगों की समझ में आ गई और स्वामी दयानन्द के धर्मप्रचार का तूफ़ान उमड़ पड़ा। सारे देश में स्वामी दयानन्द के उद्देश्य की चर्चा होने लगी। **काँग्रेस के जन्मदाता मिस्टर ह्यूम ने कहा कि स्वामी दयानन्द इतना बड़ा आदमी है कि मैं उसके पैर के बूटों के तस्मे खोलने की भी योग्यता नहीं रखता।** दूसरे अंग्रेज़ भी उनकी प्रतिभा के सामने नत मस्तक हुए। यह चर्चा यूरोप और अमेरिका

में भी पहुँची।

यूरोप और अमेरिका में स्वामी दयानन्द के आविर्भाव, धर्मप्रचार और संगठन पर लेख निकलने लगे। वहाँ के लोग घबराये और अनुभव करने लगे कि ईसाईमत की कुशलता नहीं है। अमेरिका के उन लेखों में से एण्ड्रो जैक्सन डेविस के एक लेख का कुछ अंश हम यहाँ उद्धृत करते हैं। वह लिखता है कि '**मुझे एक आग दिखलाई पड़ती है जो सर्वत्र फैली हुई है। वह आग सनातन आर्यधर्म को स्वाभाविक पवित्र दशा में लाने के लिए आर्यसमाजरूपी भट्ठी में से निकली है और भारत के एक परम योगी दयानन्द सरस्वती के हृदय में प्रकाशित हुई है। हिन्दू और मुसलमान इस प्रचण्ड अग्नि को बुझाने के लिए दौड़े, ईसाइयों ने भी इसके बुझाने के लिए हिन्दू और मुसलमानों का साथ दिया, परन्तु यह ईश्वरीय आग और भी भड़क उठी और सर्वत्र फैल गई**'।

इस प्रकार के लेखों से वहाँ के पादरी घबराये। उस समय अमेरिका में कर्नल अल्काट और मेडम ब्लेवेट्स्की आदि जो वैज्ञानिक रीतियों से ईसाईधर्म की सिद्धि किया करते थे दूर तक सोचने और भारत से ईसाईजाति के प्रस्थान का स्वप्न देखने लगे और भविष्य को अन्धकारमय समझकर स्वामी दयानन्द को अपने पंजे में फँसाने के लिए निकल पड़े। वे भारत में आये और आर्यसमाज में घुसे, परन्तु स्वामी दयानन्द ने उनको ताड़ लिया और तुरन्त ही आर्यसमाज से पृथक् कर दिया। निराश होकर उन्होंने भारतवर्ष में ईसाईमत के प्रचार के लिए थिओसोफ़िकल सोसाइटी की स्थापना की और प्रचार करने लगे। उन्होंने संसारभर के बड़े-बड़े धर्मों को थिओसोफ़ी के चक्कर में लाकर सबको ईसा का चेला बनाने की विधि रच डाली। मेडम ब्लेवेट्स्की तो कुछ ही वर्षों के बाद चल बसीं, परन्तु उनकी स्थानापन्न एनी बीसेंट नाम्नी आयरलेंडवासिनी एक दूसरी गौरांग महिला यहाँ आकर उपस्थित हो गई। आप बड़ी ही चलता पुर्ज़ा, ज़बरदस्त लेखिका और प्रभावशालिनी व्याख्यानदात्री सिद्ध हुई। हमेशा हर विषय में अप-टु-डेट रहने लगीं और अपने यहाँ के नवशिक्षित समाज में अपने सिद्धान्तों को साइंस से सजाकर फैलाना शुरू किया।

बाहरी प्लान तथा भीतरी अदृश्य प्लानों की थ्योरी बनाकर वह अदृश्य साधुओं से योग द्वारा अपना सम्बन्ध बतलाने लगीं और भूत-प्रेत आदि का ढकोसला भी चालू कर दिया। उन्होंने कई प्रकार के यन्त्र बनवाये, जिनके द्वारा भूत-प्रेत और मृत आत्माओं का दर्शन कराने लगीं। मैस्मरेज़म और हिपनाटिज़्म द्वारा योग की क्रियाएँ बतलाकर और दिखलाकर लोगों को मोह में डालने लगीं। इसी प्रकार अपने धर्म के विचित्र सिद्धान्त बनाकर समस्त सम्प्रदायों और समस्त धर्मों को एक ही स्थान में मिलाकर सबको ईसा के जटिल फन्दे में फसाने की युक्ति करने लगीं और कहने लगीं कि संसार का शिक्षक आनेवाला है जो ईसा का ही रूप है, अतएव उसके लिए हृदय और देश तैयार करना चाहिए। यहाँ हम उनके इस सिद्धान्त का वर्णन उनके ही शब्दों में करते हैं। आप कहती हैं कि 'संसार में दो शक्तियाँ हैं, एक शासक दूसरी शिक्षक। शासक शक्ति पहले मनु, अर्थात् मनुष्य हुई। इसी के साथ-साथ उसका भाई शिक्षक भी हुआ। आर्यजाति में यह व्यास हुआ जिसने सूर्यचिह्न को प्रचलित किया। दुबारा वही शक्ति मिस्र में टॉथ नाम से और ग्रीस में हर्म्स नाम से प्रादुर्भूत हुई। तीसरी बार वही ईरान में जरथुस्त के नाम से कही गई। चौथी बार वही ग्रीस में आरफन नाम से अवतीर्ण हुई। पाँचवीं बार वही शक्ति बुद्ध हुई और मुक्त होकर चली गई। चलते समय वह संसार के शिक्षक का काम अपने भाई मैत्रेय को दे गई जो अब क्राइस्ट—ईसा—कहलाता है। बुद्ध बुद्धि का और ईसा प्रेम का देवता है। यही प्रेमदेव—ईसा—

आजकल संसार का शिक्षक है'[१]।

इस लेख में शिक्षा गुरुओं का क्रम व्यास से शुरू होकर बुद्ध तक चला। जब बुद्ध का निर्वाण होने लगा तब जाते समय उन्होंने यह काम अपने भाई मैत्रेय ऋषि को दे दिया, और वही मैत्रेय ईसा हो गये। तब से अब प्रबन्ध तीव्र हो गया है। अब संसार के धर्मगुरु ईसा ही है। इस फन्दे में हिन्दू, मिस्त्री, पारसी, बौद्ध आदि सभी धर्मावलम्बी फाँसे गये हैं और बिना इच्छा के बलात् ईसा के चेले बना दिये गये हैं। इस रचना के साथ ही एक मद्रासी लड़के के लिए प्रसिद्ध किया गया है कि वही संसार का शिक्षक है, अर्थात् वही ईसा का अवतार है। इस प्रकार उस नवीन शिक्षक के द्वारा शिक्षा दिलाकर संसार को ईसाई मत के अनुकूल बनाने और सब धर्मों में ईसाइयत का शासन जमाने का उत्तम साधन किया गया, परन्तु पाप की नाव बहुत दिन तक नहीं चलती। भूत-प्रेत दिखलानेवाले यन्त्रों का भण्डाफोड़ स्वयं उसी आर्टिस्ट ने कर दिया जो उन यन्त्रों को बनाया करता था और इस सारी सचाई को यन्त्रों के फ़ोटोसहित पियर्सन्स मेगेज़ीन ने छाप दिया है जो सबके सामने है। इसी प्रकार एफ़०टी० ब्रूक्स ने Theosophical Bogyism नामी पुस्तक में इनके भीतरी अदृश्य प्लानों (inner circle) की पोल ख़ोल दी है। नये संसार-शिक्षक की उत्पत्ति और अनेक ऐसी ही चालाकियों से विवश होकर बाबू भगवान्दास आदि

---

१. The comming of a World-Teacher—That mighty Hierarchy has two chief departments concerned with the growth and the evolution of man—one the department that guides the outer evolution, that shapes the forms of races, that raises and casts down civilisations, to whom kings and the nations of the world are as pawns in the mighty game of life; the other, the department of teaching which gives religion after religion to the world as the world has need of it.

At the head of the ruling department—so far as appearance in the world is concerned—stands the Mighty Being from whom our very name of man is drawn. He is the 'Manu' the man. The name Manu means the thinker, the reasoner, the intelligent one, so this name of the typical man, the Manu, stands for the Ruler, the Law-giver of the race. And side by side of him, his brother in the great world of evolution, stands the World-Teacher, called by that name in some of the ancient books of earth, known as the one who embodies in himself the wisdom which is the truth that feeds the human race.

In the stock of our races, the first great Aryan people, there they had as the World-Teacher the great one known under the name of Vyasa, and he taught the one truth by the figure and the symbol of the sun.

Then when he came to the second sub-race and taught in Egypt under a different name, of Thoth, whom the Greeks called Hermes.

Then he came to the third sub-race, to the Iranians, and he came then under the name of Zarthustra, better known as Zoraoster.

Then a fourth time he came to the fourth sub-race the Greeks known as Orphens; but he no longer spoke in light but in music, and by the mysteries of sound he taught the unfolding of the spirit in man.

Then that Mighty one returned to earth, but once more, to become the Lord Buddha, and to found the religion that still outnumbers any other faith on earth.

And then : He passed away, never again to take a mortal form, and handed on the duty of the World-Teaching to his Brother, who has come side-by-side with him through many ages, to Him who is the World-Teacher of to-day, the great Lord Maitreya, whom Christendom calls the Christ and between these two identical in thought, identical in teaching there was yet a difference of temperament that coloured all they thought; for He who became the Budda is known as Lord of Wisdom, and He who was the Christ is known as the Lord of Love—one teaching the law, calling on men for right understanding, for right thinking; the other seeing in love the fulfilling of the law and seeing in love the very face of God, Lord of Wisdom! Lord of Love! It is the Lord of Love who is the World-Teacher of to-day.

—*The Immediate Future and Other Lectures* by Annie Besant.

विद्वान् थियासोफीकल सोसाइटी से दूर हट गये। फल यह हुआ कि थियोसोफ़ी की पोल खुल गई और उसकी धार्मिक स्कीम एक प्रकार से गिर गई और कुछ दिन के लिए एनी बीसेंट का रंग फीका पड़ गया—उनकी भद्द हो गई।

धर्मप्रचार का बना-बनाया खेल बिगड़ते देखकर उन्होंने दूसरा प्रपञ्च शुरू किया और विद्याप्रचार के काम में तीव्रता दिखलाने लगीं तथा कई एक नये कॉलेज खोल दिये। उस समय ऐसा प्रतीत होता था कि वे भारतभर की शिक्षा का भार अपने ही हाथ में ले-लेंगी। शिक्षाप्रचार का काम हाथ में लेने के दो कारण थे। एक तो शिक्षा के साथ-साथ गुप्त रीति से ईसाई सिद्धन्तों का सिखलाना, दूसरे अखण्ड ब्रह्मचर्य से विद्यार्थियों को उदासीन बनाना। जहाँ देश के हितचिन्तक गुरुकुल, ऋषिकुल आदि खोलकर अखण्ड ब्रह्मचर्य का प्रचार करते थे, वहाँ ठीक इसके विरुद्ध इनके यहाँ इस प्रकार की शिक्षा होती थी। इस प्रचार का यही उद्देश्य होगा कि जितने लड़के ब्रह्मचारी हों कम-से-कम उतने ही लड़के ब्रह्मचर्य से उदासीन बना दिये जाएँ, जिससे कभी भी यह जाति अंग्रेज़ों के मुक़ाबले में न तो पढ़-लिख सके और न शौर्य, तेज, बल और पराक्रम आदि ही धारण कर सके। सारांश यह कि इस प्रकार की शिक्षा एनी बीसेंट के सहायक महाशय लेडबिटर के द्वारा जारी कराई गई, परन्तु भाग्य से यह सारा भेद प्रकट हो गया और प्रकट होते ही सारे देश में इसी की चर्चा होने लगी और टीका-टिप्पणियों से प्रत्येक समूह उपेक्षा दिखलाने लगा। लोगों ने अपने बच्चों को स्कूलों से उठना शुरू कर दिया और देश में एनी बीसेंट की बुरी तरह से भद्द हो गई। स्कूलों और कालेजों से उनका सम्बन्ध छूट गया और उनका यह वार भी ख़ाली गया। धर्मप्रचार और विद्याप्रचार के द्वारा वे ईसाईमत और अंग्रेज़जाति की बहुत सेवा न कर सकीं।

कुछ दिन के बाद आयरलैंड और इंग्लैंड की बीच खटपट हुई। एनी बीसेंट आइरिश हैं, अत: वे अंग्रेज़ों को बन्दरघुड़की देने और एक नई स्कीम के द्वारा भारतवासियों को फिर से अपने पंजे में फँसाने के लिए अब की बार राजनैतिक रूप में दिखलाई पड़ीं। यह उनका तीसरा रूप है। आयरलैंड और भारत में पुजने के लिए उन्होंने गवर्नमेंट के विरुद्ध बड़े ही गर्मागर्म लेक्चर देने शुरू किये और होमरूल नामी एक नई संस्था को जन्म दिया। उन्हीं दिनों में लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी देश का राजनैतिक कार्य कुछ आगे बढ़ानेवाले थे, परन्तु एनी बीसेंट ने, इस डर से कहीं इन लोगों का उद्देश्य विशाल न हो जाए, चट होमरूल लीग के द्वारा गवर्नमेंट से परिमित अधिकार चाहनेवाले नियम बनाकर और उनका नाम होमरूल रखकर लोगों को उसी की हलचल में चिपका दिया और लोकमान्य तिलक तथा महात्मा गांधी की संयुक्त शक्ति के द्वारा होनेवाले काम को सदा के लिए नष्ट कर दिया।

होमरूल लीग से पृथक् लोकमान्य तिलक ने तो अपनी एक अलग संस्था निकाली। महात्मा गांधी भी कुछ काम करना ही चाहते थे और इसके लिए केवल देश का वातावरण ही देख रहे थे। इतने में हिन्दू यूनिवर्सिटी का उत्सव हुआ। इसी में महात्मा गांधी के कार्य का भविष्य सोचकर एनी बीसेंट ने वहीं पर महात्मा गांधी को गिराने का प्रयत्न किया, परन्तु सूर्य पापी के कोसने से नहीं छिपता, अत: एनी बीसेंट का वह वार भी ख़ाली गया। वहाँ से लौटकर एनी बीसेंट ने कुछ ऐसे लेक्चर दिये जो आपत्तिजनक थे। उन्हीं के कारण एनी बीसेंट को जेल हुई। इस गुण से मुग्ध होकर देश के अनुभवहीनों ने उनको कांग्रेस का प्रेसीडेंट बनाया, परन्तु उन्होंने वहाँ भी अपना रूप प्रकट कर दिया। अपने भाषण में कह दिया कि मैं आपको सदा प्रसन्न रखने की प्रतिज्ञा तो नहीं कर सकती, परन्तु यह प्रतिज्ञा कर सकती हूँ कि राष्ट्र की सेवा के लिए सब प्रकार उद्योग करूँगी। मैं आपकी सभी बातों से सहमत होने तथा आपके मार्ग का अनुसरण

करने की प्रतिज्ञा नहीं कर सकती, क्योंकि नेता का कर्त्तव्य नेतृत्व करना ही होता है। इस बात से हमको तो उसी दिन ज्ञात हो गया था कि इन्होंने अपना रूप प्रकट कर दिया है। हमें ही नहीं प्रत्युत और भी सब देशवासियों को ज्ञात हो गया था कि वे राजनैतिक मैदान में हमारा साथ वहीं तक दे सकती हैं, जहाँ तक हमको ईसाइयों की गुलामी करना स्वीकार हो, इससे आगे नहीं। पिछले काग़ज़-पत्रों के देखने से ज्ञात होता है कि होमरूल लीग उन्होंने इसलिए बनाई थी कि अगर उनपर कोई आपत्ति आये तो देश के लोग उसके द्वारा पुकार करने पर उनको उस सङ्कट से बचाएँ। यह बात १६।१०।१६ के 'नवजीवन अने सत्य' नामी पत्र में छपे हुए शंकरलाल बेंकर एम०ए० के लेख से अच्छी प्रकार प्रकट होती है। कहने का तात्पर्य यह कि होमरूल लीग उनकी प्रशंसा करने, आयरलैंडवालों को सहायता देने और एक प्रकार से अपने चेलों को अपने फन्दे में फँसाये रखने के लिए ही थी। महात्मा गांधी के सच्चे काम के आरम्भ करते ही न होमरूल लीग का कहीं पता लगा और न एनी बीसेंट का।' इस प्रकार उनका यह तीसरा धावा भी समाप्त हुआ। यद्यपि वे पूर्ण रीति से अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुई तथापि हज़ारों और लाखों मनुष्यों के विचारों और विश्वासों को इतना लचर और कमज़ोर बना दिया कि उनकी हालत पर दया और खेद होता है। पढ़े-लिखे हिन्दुओं का जितना जीवन थियोसोफ़ी ने नष्ट किया है उतना और किसी ने नहीं। उनका उद्देश्य ही यह था कि जहाँ आर्यों का उत्कर्ष हो वहीं पर उपाय से बाधा पहुँचाना। थियोसोफिस्ट किसी भी भारतवासी की प्रबल आवाज़ को सुनते हैं तो तुरन्त उसको नीचा दिखाने के लिए आगे पहुँचते हैं। ये नहीं चाहते कि इस देश के लोग तनिक भी उठ सकें।

स्वामी दयानन्द और महात्मा गांधी का उत्कर्ष नष्ट करने का जैसा घृणित उद्योग इन लोगों ने किया है वह हम ऊपर लिख चुके हैं। उससे भी अधिक भयङ्कर व्यवहार इन्होंने स्वामी विवेकानन्द के साथ भी किया है। अमेरिका में जब स्वामी विवेकानन्द की कीर्ति आरम्भ हुई थी तब वहाँ इन लोगों ने उनके प्राण तक लेने का सङ्कल्प किया था। अपने-आपपर बीती हुई इस सच्चाई को स्वामी विवेकानन्द ने मद्रास के विक्टोरिया हाल में वक्तृता देते हुए स्वयं कहा है कि 'अमेरिका जाने के समय थियोसोफ़िकल सोसाइटी के नेता महाशय से, जो अमेरिकावासी होते हुए भी भारतभक्त कहलाते हैं, मिलकर मैंने एक परिचय-पत्र के लिए प्रार्थना की, परन्तु फल यह हुआ कि उक्त महोदय ने मुझे अपनी सोसाइटी से अलग समझकर कहा कि हम तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सकते। जब मैं अमेरिका पहुँचा तो वहाँ मुझे आर्थिक दशा पर कठोर दुःखों का सामना करते देख, इन्हीं में से एक ने लिखा कि शैतान बहुत जल्द मरेगा, परन्तु ईश्वरेच्छा मैं बच गया। इतना ही करके इन लोगों ने मेरा पीछा नहीं छोड़ा, किन्तु जहाँ पर मैं ठहरता था वहाँ से लात मारकर मुझे निकाल बाहर कराने और मेरे मित्रों से ही मुझे मरवा डालने की भी बड़े वेग से हज़ारों कोशिशें कीं; परन्तु ईश्वर की मर्ज़ी से उनकी एक भी कोशिश सफल न हुई। सब-के-सब हाथ मलते रह गये। जब धर्म महासभा में मेरी ख्याति बढ़ी तब तो इन लोगों की ईर्ष्या का ठिकाना ही न रहा''[१]।

स्वामी विवेकानन्द की इस वक्तृता से स्पष्ट हो जाता है कि थियोसोफ़िस्ट भारत का उत्कर्ष नहीं चाहते थे। उनका उद्देश्य तो संसार को ईसाई बनाना है। एनी बीसेंट सब धर्मावलम्बियों को थियोसोफ़ी में केन्द्रित करके ईसा को संसार का धर्मगुरु मनवाने का यत्न करती हैं और कृष्णमूर्ति को ईसा का अवतार बनाकर वर्त्तमान विज्ञान के टूटे-फूटे और झूठे चमत्कारों से भोलभाले लोगों को उनके धर्म से पतित करना चाहती हैं। इस कृष्णमूर्ति के नवीन अवतार पर यद्यपि आजकल थियोसोफ़िस्टों में भी असन्तोष फैल रहा है तथापि एनी बीसेंट ईसाईधर्म प्रचार की धुन में किसी

---

१. भारते विवेकानन्द, आमार समरनीति।

की नहीं सुनतीं। ये कृष्णमूर्ति कौन हैं और इनके विषय में क्या चर्चा है, यहाँ थोड़ा-सा इसका भी वर्णन करते हैं।

कृष्णमूर्ति एक मद्रासी ब्राह्मण के पुत्र हैं। इनके पिता तहसीलदार थे। एनी बीसेंट ने कृष्णमूर्ति को उनके पिता से शिक्षा देने के लिए माँग लिया और लेडबिटर नामी अपने एक सहायक को सौंप दिया, परन्तु लेडबिटर के पास रखना कृष्णमूर्ति के पिता को स्वीकार न हुआ, इसलिए उन्होंने अपने पुत्र को वापस लेना चाहा। वापस न देने पर उन्होंने अदालत में दावा किया, परन्तु अदालत ने उनको उनका पुत्र न दिलाया और कृष्णमूर्ति शिक्षा प्राप्त करने के लिए यूरोप भेज दिये गये। अब वे वहाँ से शिक्षा प्राप्त करके यहाँ आ गये हैं। सन् १९२६ ई० में मद्रास प्रान्त के अद्यार नामी क़सबे में संसार की समस्त जातियों के दो हज़ार थियोसोफ़िस्ट प्रतिनिधियों की उपस्थिति में एक वटवृक्ष के नीचे कृष्णमूर्ति का 'नवीन मसीहा' के रूप में अभिषेक हुआ। इस नवीन मसीहा के विषय में एनी बीसेंट ने कहा कि नवीन मसीहा संसार के समस्त धर्मों की ऐक्यता करने के लिए अवतरित हुए हैं। इसी प्रकार पेरिस में स्वयं कृष्णमूर्ति ने भी कहा कि मैं संसार में उदारता, प्रेम, तितिक्षा और सब धर्मों की एकता का प्रचार करता हूँ, परन्तु इस नवीन मसीहा के विरुद्ध आज समस्त थियोसोफ़ी मण्डल में आन्दोलन हो रहा है। सभी इस पाखण्ड का खण्डन कर रहे हैं। लण्डन थियोसोफ़ी लॉज के प्रेसीडेंट लेफ़्टिनेंट कर्नल सी०एल० पीकॉक ने लिखा है कि बीसेंट का यह नया धर्म थियोसोफ़ी के वास्तविक रूप के विरुद्ध है। इसी प्रकार केलीफ़ोर्निया और न्यूयार्क के नेताओं ने भी इस नवीन मसीहा सम्बन्धी निश्चय का विरोध किया है। सब कहते हैं कि एनी बीसेंट कृष्णमूर्ति को क्राइस्ट का अवतार बनाना चाहती हैं और वे यह भी चाहती हैं कि सब थियोसोफ़िस्टों का धर्मचिह्न क्रॉस हो, परन्तु अनेक व्यक्तियों ने इसे अस्वीकार कर दिया है। इस प्रकार कृष्णमूर्ति को ईसा का अवतार बनाने के प्रयत्न की सबने निन्दा की है। जेकोस्लाविया, फ्रांस और मद्रास आदि के लोगों ने उनके इस नये धर्म की निन्दा की है। इस सम्बन्ध में पेरिस के 'ईवनिङ्ग वर्ल्ड' नामी पत्र ने लिखा है कि कृष्णमूर्ति कहता है कि मेरे कमज़ोर कन्धों पर क्यों यह धर्म का बोझ लादा जा रहा है[१]। मुझे तो टेनिस खेलने में जितना आनन्द आता है, उतना और किसी बात में नहीं। इसी से अमेरिकावाले विनोद से कृष्णमूर्ति को टेनिस प्रेमी मसीहा कहते हैं। नवीन मसीहा के इस समस्त वर्णन से स्पष्ट हो रहा है कि किस प्रकार एनी बीसेंट भारतवासियों को ईसाई बनाना चाहती हैं। बड़े मार्के की बात यह है कि एनी बीसेंट को ईसा का अवतार बनाने के लिए आदमी भी कहाँ मिला ? वहीं मद्रास में— द्रविड़ों में। वहीं से तो आर्यों के वैदिक धर्म को नष्ट करने और आर्यों को पतित करने का सूत्रपात हुआ है। यह बात थियोसोफ़िस्ट जानते हैं। उन्होंने यह सब समझ-बूझकर ही अपना अड्डा मद्रासप्रान्त में लगाया है।

हमने यहाँ तक यह थोड़ी-सी किन्तु देर तक विचार करने योग्य बात ईसाइयों, ईसाई शासकों और ईसाई थियोसोफ़िस्टों की लिखी है। यह वर्त्तमान युग की बात है जो सबके सामने है, तो भी कितनी पेचदार है ? पढ़े-लिखे हिन्दू, पारसी, मुसलमान आदि सभी इसके फेर में हैं। सभी को आक्सीजन, हाइड्रोजन, इलक्ट्रीसिटी, ईथर और इलेक्ट्रोन की थ्योरी बताकर और

---

१. अभी हाल में समाचार आये हैं कि कृष्णमूर्ति ने अब इस गुरुडम से अपने को पृथक् कर लिया है और आर्डर आफ़ दि ईस्ट नामी पन्थ (जो एनी बीसेंट ने कृष्णमूर्ति के लिए बनाया है) से पृथक् हो गये हैं। इस घटना से शर्मिन्दा होकर आप कहती हैं कि कृष्णमूर्ति अवतार हैं और हमसे अधिक बुद्धिमान् हैं, इसलिए जो कुछ करते हैं, सब ठीक ही है।

स्प्रिचुअल् इज़्म, योग और वेदान्त की बातें सुनाकर तथा भूत-प्रेत और आत्मा के इनर प्लानों की बातें सिखाकर ये लोग भोले मनुष्यों को चक्कर में डालते हैं। पढ़े-लिखे किन्तु भोले लोग ही इनके चक्कर में पड़ते हैं और अपना हर प्रकार से पतन कर लेते हैं। वे आर्योचित कर्त्तव्य के योग्य नहीं रहते और ईसाई-प्रचारकों के अनुकूल हो जाते हैं, इसलिए इनको अब सचेत हो जाना चाहिए और निश्चय कर लेना चाहिए कि इस पन्थ में हमारा कल्याण नहीं है, क्योंकि जिस ईसाईमत की ओर थियोसोफ़िस्ट ले-जाते हैं, उस धर्म को यूरोपनिवासी अपने लिए लाभदायक नहीं समझते, प्रत्युत वे दूसरों का सत्यानाश करने के लिए ही इसे पादरियों के द्वारा दूसरे देशों में भेजते हैं। फ्रेंच पार्लियामेंट में बजट-सम्बन्धी वादविवाद के समय जब ईसाई धर्म-प्रचार के ख़र्च पर आपत्ति की गई तब इस आपत्ति का उत्तर देते हुए मन्त्री ने कहा कि 'Christianity is not for home consumption, it is for colonial export', अर्थात् ईसाइयत घर के लिए नहीं प्रत्युत उपनिवेशों में भेजने के लिए है। ईसाइयत यदि अच्छी वस्तु होती तो घर के योग्य अवश्य समझी जाती, परन्तु निकम्मी वस्तु है और निकम्मी वस्तु के द्वारा दूसरे देशों को निकम्मा बनाना है, इसलिए उसका प्रचार दूर देशों में किया जाता है। ईसाइयों के द्वारा और ईसाईधर्मप्रचार के द्वारा दूसरे देशों को किस प्रकार निकम्मा बनाया जाता है, इसका उदाहरण ढूँढने की आवश्यकता नहीं है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण भारतवर्ष है। किस प्रकार इन्होंने अपनी कुटिल नीति से इस देश की आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शक्तियों का सत्यानाश किया है, वह सबके सामने है और सभी उसका फल भोग रहे हैं। प्रत्येक वर्ष कहीं-न-कहीं दुष्काल, नाना प्रकार की जनसंहारिणी बीमारियाँ और परस्पर कलहाग्नि भारत के कोने-कोने में व्याप्त हो रही है। ईसाई शासकों, ईसाई प्रचारकों और ईसाई व्यापारियों ने इस देश में ऐसी-ऐसी बीमारियाँ फैला दी हैं कि इस देश का प्रलयपर्यन्त कल्याण दिखलाई नहीं पड़ता। ऐसी चेपी बीमारियों में से उपदंश की बीमारी इन्हीं की फैलाई हुई है। इनके आने के पूर्व तक इस देश में इसका कोई नाम भी नहीं जानता था, परन्तु पोर्च्युगीज़ों के आते ही यह भयङ्कर रोग इस देश में फैल गया[१]। कहने का तात्पर्य यह कि ईसाइयों के द्वारा इस देश की जो हानि हुई है वह अकथनीय है।

यहाँ तक हमने विदेशियों द्वारा नवीन सम्प्रदायों का प्रवर्तन और वैदिक साहित्य का विध्वंस दिखलाया। अब हम यह समस्त कथा यहीं पर समाप्त करते हैं। इतने ही वर्णन से अनुमान करने के लिए अवसर न छोड़ना चाहिए और तुरन्त ही यह बात ध्यान में ले-लेनी चाहिए कि जब इतने दीर्घकाल के बाद भी आज साहित्यविध्वंस का पता इतनी अधिकता से लग सकता है तब न जाने पूर्वकाल में पता लगाने से कितना पता मिलता और किन-किन विदेशियों ने क्या-क्या रचना की है, जाना जाता, इसलिए यदि कोई हिन्दूधर्म की अव्यवस्था और आर्यजाति की दुर्गति का कारण जानना चाहे तो वह इतने ही वर्णन से अच्छी प्रकार समझ सकता है। आज हिन्दुओं में जो नाना प्रकार के कुसंस्कार, अविद्या और अनैक्यता दिखलाई पड़ती है और आज जो आर्यजाति पतित दशा में पहुँची है उसका कारण इस वर्णन से सहज ही दिखने लगता है, क्योंकि यह मानी हुई बात है कि मनुष्यजाति का पतन अनैक्य, अविद्या और अनाचार से ही होता है। हमारे इस समस्त वर्णन से स्पष्ट हो रहा है कि आर्यों में विदेशियों के द्वारा अनेक मत-मतान्तरों, दार्शनिक विचारों और अनेक सम्प्रदायों का प्रचार हुआ है और उसी से हममें अनैक्यता उत्पन्न हुई है। इसी तरह विदेशियों के ही द्वारा धर्म के नाम से मद्य, मांस, व्यभिचार आदि दुर्व्यसन और अनाचार भी

---

१. Syphilis apears to have been unknown in India till the end of the fifteenth or beginning of the sixteenth century, when it was introduced by the Portuguese. —*The Ocean of Story,* by Penger.

आर्यों में प्रविष्ट हुए हैं, जिनसे हममें प्रत्येक प्रकार की दुर्बलता, निरुत्साह और अपवित्रता समा गई है। इसी प्रकार विदेशियों की ही कृपा से हममें अविद्या का प्रचार भी हुआ है। जहाँ मद्य, मांस और व्यभिचार हो, जहाँ जंगली व्यवहार ही धर्म हों, जहाँ वंचक और अविवेकी मनुष्य गुरु बन जाएँ और इसी प्रकार के गुरुओं की बात पर विश्वास किया जाना धर्म हो, वहाँ विद्या का प्रचार कैसे हो सकता है ? विद्या तो इन सब उपद्रवों की शत्रु है, इसीलिए गुरुपूजा, गुरुओं की सम्प्रदायपूजा और गुरुओं की वाक्यपूजा ही ने सब विद्याओं का स्थान ले-लिया। वही जो कुछ कहें वह सत्य और सब झूठ हो गया। इन गुरुओं के आदेश से देश की प्रधान जनसंख्या शूद्र हो गई और वह विद्या से अलग हुई। बची हुई थोड़ी-सी संख्या का आधा भाग स्त्रियों का भी विद्या से अलग हुआ तथा ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य सब विदेशी गुरुओं की आज्ञा पालन करने और उनकी ही सेवा करने में लग गये। ऐसी स्थिति में विद्या कौन पढ़े ? इस प्रकार सारे हिन्दूसमाज में अनैक्यता, अनाचार और अविद्या का साम्राज्य हो गया और इन तीनों दुर्गुणों के कारण आर्यजाति का हर प्रकार से पतन हो गया, जिसका चित्र सबके सामने विद्यमान है।

इस इतिहास से यह निश्चय कर लेना सहज है कि अब हमें क्या करना चाहिए, अर्थात् हमें धार्मिक विश्वासों में किस प्रकार फेरफार करना चाहिए। हम कहते हैं कि सत्यासत्य के निर्णय के लिए, अर्थात् वैदिक धर्म और आसुरी विश्वासों का निश्चय करने के लिए और दोनों का अन्तर जानने के लिए यही उत्तम कुंजी है कि हम केवल वेदों पर ही विश्वास करें, अन्य ग्रन्थों पर नहीं, क्योंकि रावण से सायण तक और कबीर से एनी बीसेंट के द्वारा स्थापित द्रविड़ावतार तक समस्त विदेशी धर्मप्रचारकों के द्वारा आर्यधर्म में आधे से अधिक आसुरी विश्वासों का मिश्रण किया गया है, इसलिए वेदों को स्वत:प्रमाण और अन्य ग्रन्थों को परत:प्रमाण मानने का जो प्राचीन विश्वास चला आता है उसी को मान्य समझकर प्रत्येक आर्य [हिन्दू] को चाहिए कि वह वेदों का स्वाध्याय करके केवल संहिताओं से ही अपने धर्म-कर्म की शिक्षा ग्रहण करे, क्योंकि मनु महाराज स्पष्ट शब्दों में कह रहे हैं कि वेदों को छोड़कर अन्य ग्रन्थों में श्रम करने से आर्यत्व नहीं रह सकता। इसका कारण स्पष्ट है कि अन्य ग्रन्थों में मनुष्यों की कपोलकल्पना का होना सम्भव है, किन्तु वेद ईश्वरप्रदत्त है, इसलिए उनके आदेश निर्भान्त हैं। थोड़े-से विष के मिलने से जिस प्रकार पका हुआ अन्न का बहुत बड़ा भाग त्याज्य समझा जाता है, उसी प्रकार दूषित साहित्य के पढ़ने से भी विषतुल्य आसुरी भावों के चिपक जाने की सम्भावना रहती है, इसलिए अपने धर्म को वेदानुकूल ही बनाना चाहिए, परन्तु दु:ख से कहना पड़ता है कि आसुरी भावों की उत्पत्ति, उनका विस्तार और आर्यविश्वासों में उनके मिश्रण का यह इतिहास स्पष्ट बता रहा है कि आज तक वेदों की किस प्रकार उपेक्षा हुई है। अनार्यों ने तो उनको नष्ट करने की प्रेरणा से उनकी महत्ता की उपेक्षा की है और आर्यों ने उनकी निर्मल शिक्षा के प्राप्त करने और उस शिक्षा के ग्रहण करने में उपेक्षा की है, अर्थात् प्रत्येक प्रकार से वेदों की उपेक्षा हुई है। जो वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं और जो मनुष्य की शिक्षा के लिए आदिसृष्टि में दिये गये हैं उनकी उपेक्षा करके मनुष्यजाति कैसे सुखी हो सकती है, विशेषकर आर्यजाति कैसे आर्यत्व की रक्षा कर सकती है और कैसे पतन से बच सकती है ? आर्यों ने वेदों की उपेक्षा करके आसुरी सिद्धान्तों को ग्रहण किया, इसीलिए उनका पतन हुआ जो इस समय सबके सामने है, अत: आर्यों के इस पतन का कारण वेद नहीं हैं, प्रत्युत इस पतन का कारण तो वेदों की उपेक्षा ही है।

इति।

ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

चतुर्थ खण्ड

वेदों की शिक्षा

इसके पूर्व तीन खण्डों में हमने वेदों की प्राचीनता, वेदों की अपौरुषेयता और वेदों की उपेक्षा पर प्रकाश डाला है। हमने यथाशक्ति यह दिखलाने का यत्न किया है कि वेद अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त हैं, अत: जब तक आर्यों ने उनके अनुकूल अपना रहन-सहन, शिक्षा-सभ्यता, धर्म-कर्म और नीति-आचार स्थिर रक्खा तब तक उनकी हर प्रकार से उन्नति रही, परन्तु जब से उनमें आलस आया, जब से उनमें विदेशियों का मिश्रण हुआ और जब से उन्होंने मिश्रित सिद्धान्तों पर विश्वास करके अपना रहन-सहन, शिक्षा-सभ्यता, धर्म-कर्म और नीति-आचार को आसुरी बना लिया और वेदों की उपेक्षा कर दी तब से उनमें अनैक्य, अनाचार और अविद्या ने घर कर लिया और उनका हर प्रकार से पतन हो गया, इसलिए यह निर्विवाद और निस्संशय है कि जब तक हम समस्त आर्य-हिन्दू सम्पूर्ण दूषित साहित्य को छोड़कर केवल वेदों पर ही विश्वास करनेवाले न हो जाएँ, वेदों की शिक्षा के अनुसार ही अपना आचरण न बना लें और वेदों के ही अनुकूल न हो जाएँ तब तक हमारी अनैक्यता, हमारी कुरीतियाँ और हमारा अज्ञान दूर नहीं हो सकता, परन्तु वेदों के विषय में बड़े-बड़े पण्डितों में भी अनेक प्रकार की भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। कुछ लोग समझते हैं कि वेद और ब्राह्मण एक ही वस्तु हैं। कुछ लोगों का विचार है कि पहले तीन ही वेद थे, अथर्ववेद बहुत दिन के बाद बना लिया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि वेदों की बहुत-सी शाखाएँ लुप्त हो गई हैं, इसलिए अब वेद पूरे-पूरे प्राप्त नहीं होते। कई लोग विचार करते हैं कि इन वेदों में बहुत-सा ब्राह्मणों का भाग मिल गया है। अनेक लोगों का विश्वास है कि वेदों में बहुत-सी पुनरुक्ति है। कुछ का विचार है कि वेदों में लिखे हुए ऋषि, देवता और छन्दों का तात्पर्य समझ में नहीं आता। कुछ का कहना है कि वेदों के ही पठन-पाठन से अथवा केवल वेदानुकूल ही अपना रहन-सहन, शिक्षा-सभ्यता, धर्म-कर्म और नीति-आचार बना लेने से काम नहीं चल सकता। इसलिए जब तक इन आक्षेपों का समुचित उत्तर न दिया जाए, वैदिक शिक्षा की एक पर्याप्त मन्त्रसूची सप्रमाण न उपस्थित की जाए और जब तक प्राचीन आर्यसभ्यता का विस्तृत वर्णन न किया जाए तब तक वेदों के अपौरुषेय सिद्ध हो जाने पर और यह सिद्ध हो जाने पर भी कि हमारा पतन वेदों की उपेक्षा से ही हुआ है, वेदों का जैसा चाहिए वैसा महत्त्व समझ में नहीं आ सकता, इसलिए हम यहाँ इन आक्षेपों का यथामति उत्तर देते हुए वेदमन्त्रों से ही वेदों की शिक्षा की एक विस्तृत सूची देते हैं और आर्यसभ्यता का विस्तृत

वर्णन करते हैं, जिससे ज्ञात हो जाएगा कि वेद कुत्सित आक्षेपों से रहित हैं और उनकी शिक्षा पूर्ण, विशाल और उपयोगी है। हमारे इस वर्णन के तीन विभाग होंगे। पहले विभाग में वेदों की आभ्यन्तरीय परीक्षा होगी, दूसरे में वैदिक मन्त्रों से वेदों की शिक्षा दिखलाई जाएगी और तीसरे में आर्यसभ्यता का विस्तृत वर्णन किया जाएगा।

वेदों की आभ्यन्तरीय परीक्षा

ऊपर जितने आक्षेप लिखे गये हैं वे दो भागों में विभक्त हैं। एक विभाग वेदों की इयत्ता से सम्बन्ध रखता है और दूसरा उनकी अन्तरङ्ग परीक्षा से। पहले विभाग में वेद और ब्राह्मणों की एकता, अथर्व का वेदत्व, शाखाओं की गड़बड़, वेदों में प्रक्षेप और पुनरुक्ति आदि विषय हैं। इन विवादों के कारण यह नहीं सूचित होता कि वेदों का परिमाण कितना है। दूसरे विभाग में ऋषि, देवता, छन्द और स्वरों का तात्पर्य तथा इतिहास, पशुहिंसा और अश्लीलता आदि विषय सम्मिलित हैं। ये विषय वेदों की अन्तरङ्ग परीक्षा से सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार ये दोनों विभाग विचारणीय हैं। हम यहाँ क्रम से इनकी आलोचना आरम्भ करते हैं और दिखलाते हैं कि वेदों की इयत्ता और अन्तरङ्ग परीक्षा से क्या तथ्य उपलब्ध होता है।

वेद और ब्राह्मण

प्राचीन काल में वेद शब्द बड़े महत्त्व का समझा जाता था। जिस प्रकार शास्त्र शब्द किसी समय अनेक विषयों के लिए प्रयुक्त होने लगा था और धर्मशास्त्र, ज्योतिश्शास्त्र आदि नामों से अनेक विद्याएँ कही जाती थीं, जिस प्रकार किसी युग में सूत्रों का महत्त्व बढ़ा और धर्मग्रन्थ, क्रियाग्रन्थ, व्याकरण और दर्शन आदि समस्त ग्रन्थ सूत्रों में ही लिखे-पढ़े जाने लगे, जिस प्रकार स्मृतिकाल में अनेक ग्रन्थ स्मृति के नाम से, ब्राह्मणकाल में अनेक ग्रन्थ ब्राह्मणों के नाम से और पुराणकाल में पुराण शब्द का महत्त्व होने से अनेक ग्रन्थ पुराण शब्द से लिखे-पढ़े जाने लगे, ठीक उसी प्रकार वैदिक काल में वेद शब्द की महत्ता के कारण अनेक विद्याएँ, अनेक पुस्तकें वेद के ही नाम से कही जाती थीं। यही कारण है कि **'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्'**, अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण दोनों का नाम वेद कहा जाने लगा। इतना ही नहीं किन्तु वेद के नाम से अनेक विद्याएँ प्रसिद्ध हो गईं। गोपथब्राह्मण १।१० में प्रसिद्ध चारों वेदों के अतिरिक्त पाँच प्रकार के अन्य वेदों का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि **'ताभ्यः पंचवेदान्निरमियत। सर्पवेदं पिशाचवेदमसुरवेदमितिहासवेदं पुराणवेदमिति'**, अर्थात् उससे सर्पवेद, पिशाचवेद, असुरवेद, इतिहासवेद और पुराणवेद निर्मित हुए। यहाँ इतिहास और पुराण भी वेद ही के नाम से कहे गये हैं। भरतकृत नाट्यशास्त्र में लिखा है कि—

सङ्कल्प्य भगवानेवं सर्ववेदाननुस्मरन्। नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्॥
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामेभ्यो गीतमेव च। यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

—नाट्यशास्त्र [१।१६-१७]

अर्थात् चारों वेदों से संकलन करके भगवान् ने नाट्यवेद बनाया। ऋग्वेद से पाठ [Part] लिया, सामवेद से गीत लिया, यजुर्वेद से अभिनय लिया और अथर्ववेद से रसों का ग्रहण किया।

यहाँ स्पष्ट ही नाट्यशास्त्र को नाट्यवेद कहा गया है। यही क्यों चरक और सुश्रुत को आयुर्वेद, नारदसंहिता को गान्धर्ववेद और एक अन्य पुस्तक को धनुर्वेद सभी लोग कहते हैं और इन्हीं नामों से व्यवहार करते हैं। यहाँ तक कि महाभारत को भी पञ्चम वेद के नाम से लिखा गया है और अल्लोपनिषद् भी वेद ही के नाम से प्रसिद्ध है। हमने तो एक कवि को एक राजा के

सम्मुख यह कहते हुए सुना है कि **'भूपति तिहारो गुन वेदन में गायो है'**। इसने अपनी इस कविता को भी वेद ही बना दिया है। कहने का तात्पर्य यह कि वेद शब्द की महत्ता के कारण लोगों ने मनमाने साहित्य को वेद के नाम से प्रसिद्ध कर दिया है, इसलिए केवल वेद शब्द के द्वारा हम अपने अभीष्ट वेदों तक नहीं पहुँच सकते और न श्रुति, आम्नाय आदि विवादास्पद शब्दों से ही हमारा अभिप्राय सिद्ध हो सकता है, अतएव हम इस नाम के जाल से हटकर अब यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सी पुस्तक या वाक्यसमूह है जो आदि-सृष्टि से आज तक ईश्वरप्रदत्त अपौरुषेय ज्ञान के नाम से प्रसिद्ध है। इस विचार के उपस्थित होते ही समस्त वैदिक साहित्य एक स्वर से कहता है कि—

अरे अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्। यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥
—बृहदारण्यक उपनिषद् [२।४।१०]

त्रयो वेदा अजायन्त ऋग्वेद एवाग्नेरजायत यजुर्वेदो वायोः सामवेद आदित्यात्॥
—ऐतरेयब्राह्मण [२५।७]

त्रयो वेदा अजायन्ताग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः॥
—शतपथब्राह्मण [११।५।८।३]

अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्॥ —छान्दोग्य उपनिषद् [४।१७।२]

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयो ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥
—मनुस्मृति [१।२३]

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥
—ऋग्वेद [१०।९०।९]

यस्मिनृचः सामयजूꣳषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः॥ —यजुर्वेद [३४।५]

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥
—अथर्ववेद [१०।७।२०]

इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अपौरुषेयता और ईश्वरप्रदत्तता ऋग्यजुसाम और अथर्व को ही प्राप्त है, अन्य को नहीं। कुछ लोग कहते हैं कि बृहदारण्यक २।४।१० में लिखा है कि इतिहास, पुराण, उपनिषद्, श्लोक, सूत्र, व्याख्या और अनुव्याख्या भी अपौरुषेय ही है, परन्तु हम विगत पृष्ठों में उपनिषदों को मिश्रित सिद्ध करते हुए इस वाक्य के विषय में लिख आये हैं कि इसमें वर्णित सूत्रग्रन्थ बहुत ही आधुनिक हैं और वेदों में सूत्रों का पता भी नहीं है, इसलिए यह वाक्य प्रक्षिप्त है। इतना ही क्यों? प्रक्षिप्त वचन तो लोगों ने यहाँ तक डाले हैं कि पुराणों को वेद के पहले का बतला दिया है। मत्स्यपुराण ५३।३ में लिखा है कि—

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्। अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गतः॥

अर्थात् ब्रह्मा ने सब शास्त्रों के पूर्व पुराण बनाये और पुराणों के बाद वेद बनाया।

यहाँ पुराणों को वेद से भी पहले का कह दिया है, इसलिए इस प्रकार के वाक्य विश्वास-योग्य नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अपौरुषेयता ऋग्यजुसाम और अथर्व को ही प्राप्त है, अन्य को नहीं। इसलिए अब देखना चाहिए कि क्या कभी किसी ने ब्राह्मणों को ऋग्यजु आदि कहा है और क्या कभी ऋग्यजु आदि के अतिरिक्त भी किसी ने किसी अन्य ग्रन्थ को अपौरुषेय कहा है। उत्तर एक स्वर से यही आता है कि नहीं। इस विषय का बहुत ही अच्छा निर्णय मीमांसाशास्त्र में किया गया है। यहाँ हम उस स्थल के समस्त सूत्र लिखते हैं—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः ॥[1] **विधिमन्त्रयोरेकार्थ्यमैकशब्द्यात् ॥**
तच्चोदकेषु मन्त्राख्या ॥
शेषे ब्राह्मणशब्दः ॥
अनाम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः ॥
तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था ॥
गीतिषु सामाख्या ॥
शेषे यजुः शब्दः ॥
निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् ॥[2]

अर्थात् प्रेरणात्मक लक्षणावाला अर्थ ही धर्म है। विधि (प्रेरणा) और मन्त्र का एक ही अर्थ है, क्योंकि प्रेरणात्मकों को मन्त्र कहते हैं और शेष को ब्राह्मण कहते हैं। अनाम्नों (ब्राह्मणों) में अमन्त्रत्व है, अतः आम्नायों (मन्त्रों) का विभाग करते हैं। वे (मन्त्र) जिनकी अर्थसहित पादव्यवस्था है, ऋक् हैं, जो गाये जाते हैं वे साम हैं, शेष यजु हैं और सरलार्थवालों को चौथा—अथर्व—कहते हैं। इन सूत्रों में दो सूत्र बड़े महत्त्व के हैं। पहले सूत्र में कहा गया है कि **'अनम्नातेष्वमन्त्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः'**, अर्थात् जिसको मन्त्रत्व प्राप्त है उसी का विभाग करते हैं और जिसको मन्त्रत्व प्राप्त नहीं है उसको छोड़े देते हैं। इस प्रतिज्ञा के अनुसार ऋग्यजुसामादि को ही मन्त्रत्व प्राप्त है, ब्राह्मणों को नहीं। दूसरे सूत्र में स्पष्ट ही कह दिया है कि **'तच्चोदकेषु मन्त्राख्या'**, अर्थात् प्रेरणात्मकों में ही मन्त्रत्व है। तात्पर्य यह कि जो ईश्वरप्रदत्त हैं, वही मन्त्र हैं और उन्हीं मन्त्रों का ऋग्यजुसामादि में विभाग किया गया है, अतः ज्ञात हुआ कि ऋग्यजुसामादि ही ईश्वरप्रदत्त हैं—अपौरुषेय हैं, ब्राह्मण नहीं, क्योंकि ब्राह्मण शेषभाग हैं।

कुछ लोग शेष शब्द पर कहते हैं कि मूल पदार्थ ही के बचे हुए भाग को शेष कहते हैं, इसलिए ब्राह्मण भी वेद ही का भाग हैं। हम भी स्वीकार करते हैं कि शेष का अर्थ बाक़ी ही है, परन्तु यहाँ शेष पारिभाषिक है, बाक़ी का बोधक नहीं[3]। मीमांसा ३।१।१-२ में ही लिखा हुआ है कि **'अथातः शेषलक्षणम्। शेषः परार्थत्वात्'**, अर्थात् अब शेष का लक्षण करते हैं। दूसरे के अर्थ को शेष कहते हैं। यही बात मीमांसा की दूसरी पुस्तकों में भी लिखी हुई हैं। एक स्थान पर लिखा है कि **'विधिस्तुतिकरं शेषं ब्राह्मणं कथयन्ति हि'**, अर्थात् विधि (मन्त्र) की स्तुति करनेवाले को शेषब्राह्मण कहते हैं। तात्पर्य यह कि जो मन्त्रों की व्याख्या करे—विस्तार करे—वही ब्राह्मण है। इन सब प्रमाणों से ज्ञात हुआ कि ऋग्यजुसामादि ईश्वरप्रदत्त तथा अपौरुषेय हैं और उसके अर्थ—भाष्य—आदि शेष हैं—ब्राह्मण हैं, इसलिए ब्राह्मणों को अपौरुषेयत्व प्राप्त नहीं है। ब्राह्मणग्रन्थ तो वेदों का अर्थ प्रतिपादन करनेवाले, उनके अभिप्राय को विस्तृत करनेवाले और समस्त वेदमन्त्रों को यज्ञों में विनियुक्त करनेवाले हैं। इस बात को प्राचीन, मध्यमकालीन और अर्वाचीन सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है और माना है कि ब्राह्मणभाग मन्त्रों की व्याख्या हैं। आपस्तम्ब ३६-३७ में लिखा है कि **'ब्राह्मणशेषोऽर्थवादो निन्दा प्रशंसा परकृतिः पुराकल्पश्च'**, अर्थात् ब्राह्मणग्रन्थों में अर्थवाद, निन्दा, प्रशंसा, परकृति और पुराकल्प का ही

---

१. मीमांसा १।१।२ २. मीमांसा० २।१।३०, ३२-३८

३. शेष शब्द बाक़ी का भी बोधक है। मीमांसा में ही लिखा है कि 'शेषे यजुः शब्दः', परन्तु 'शेषे ब्राह्मणशब्दः' में आया हुआ शेषशब्द परिभाषिक है, इसलिए उसका अर्थ परार्थ ही है।

वर्णन है। इसी प्रकार वैशेषिकदर्शन ६।१।१ में '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**' लिखकर अगले सूत्र में '**ब्राह्मणे संज्ञाकर्मसिद्धिर्लिङ्गम्**' लिखा गया है, जिसका अर्थ होता है कि ब्राह्मणों में शब्दों की परिभाषा और शब्दों की सिद्धि के चिह्न पाये जाते हैं। यहाँ भी ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों के ही अर्थों के बतलानेवाले कहे गये हैं। इसी प्रकार मीमांसादर्शन [१।२।२३] के '**विधिशब्दाच्च**' सूत्र पर शबरस्वामी कहते हैं कि '**मन्त्रव्याख्यानरूपो ब्राह्मणगतः शब्दो विधिशब्दवदित्युच्यते**' अर्थात् ब्राह्मणों के शब्द मन्त्रों के व्याख्यान रूप होने से विधि शब्दों की ही भाँति हैं। छान्दोग्य उपनिषद् ७।१४।१ के भाष्य में स्वामी श्रीशंकराचार्य कहते हैं कि—

ऋगादीन्मन्त्रानधीतेऽधीत्य च तदर्थं
ब्राह्मणेभ्यो विधींश्च श्रुत्वा कर्माणि कुरुते।

अर्थात् ऋग्वेदादि के मन्त्रों को पढ़कर और उनके अर्थों और विधियों को ब्राह्मणग्रन्थों से सुनकर कर्म करते हैं।

यहाँ ब्राह्मणग्रन्थों को मन्त्रों का अर्थ करनेवाला ही बतलाया है। इसी प्रकार तैत्तिरीयसंहिता की भाष्यभूमिका में सायणाचार्य कहते हैं कि—

यद्यपि मन्त्रब्राह्मणात्मको वेदस्तथापि
ब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वान्मन्त्रा एवादौ समाम्नातः।

अर्थात् यद्यपि मन्त्र और ब्राह्मण दोनों वेद कहलाते हैं, तथापि ब्राह्मणग्रन्थ मन्त्रों के व्याख्यान ही हैं, अतः मन्त्र ही आदि में प्रादुर्भूत हुए।

जयपुर राज्य के राजपण्डित पं० श्रीयुत् मधुसूदन शर्मा ने भी अपने '**वेदधर्मव्याख्यानम्**' नामी निबन्ध में सिद्ध किया है कि ऋगादि मन्त्र ही अपौरुषेय हैं और ब्राह्मण मनुष्यकृत हैं। इसी प्रकार इटावानिवासी पण्डित भीमसेन शर्मा ने गुजरानवाला में जैनियों के साथ शास्त्रार्थ करते समय ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण न मानते हुए लिखा था कि 'पहले मूलवेद का कोई मन्त्र लिखके उसके सीधे-सीधे अक्षरार्थ लिखकर यह दिखाओ कि मनुष्य को मारने, काटने और होमने, चढ़ाने की आज्ञा कहाँ है। मूलवेद ही में गौ को मारने की आज्ञा दिखाओ और जब तक यह न दिखा दो कि नरमेध, गोमेध (मनुष्य, गौ का मारना) मूलवेद में है, तब तक अन्य का प्रमाण नहीं माना जाएगा'[१]। इस प्रकार से प्राचीन, मध्यमकालीन और अर्वाचीन विद्वान् एक स्वर से कहते हैं कि ऋग्यजुसामादि मन्त्र ही अपौरुषेय हैं—ईश्वरप्रदत्त हैं और ब्राह्मणग्रन्थ उनके व्याख्यान हैं और मनुष्यकृत हैं। यह बात भगवद्गीता में बहुत ही स्पष्ट रीति से लिखी हुई है। गीता में लिखा है कि उपनिषद् (जो ब्राह्मणों का ही भाग हैं) ऋषियों की रचना हैं[२]। तात्पर्य यह कि ऋग्यजुसामादि ही अपौरुषेय वेद हैं, ब्राह्मण नहीं, क्योंकि ब्राह्मणग्रन्थों को ऋषियों ने वेदों के व्याख्यानों का विस्तार करने के लिए बनाया है, इसीलिए ब्राह्मणों में सैकड़ों वेदमन्त्रों का अर्थ लिखा हुआ है। इतना ही नहीं प्रत्युत ब्राह्मणग्रन्थों में वेदों की शाखाओं और वेदों के खैलिक भागों का भी वर्णन है[३]। शाखाभेद और खैलिक (प्रक्षेप) भाग दोनों आधुनिक हैं, इसलिए ये ब्राह्मणग्रन्थ अपौरुषेय नहीं, प्रत्युत वेदों की अपेक्षा बहुत ही नवीन हैं, अतः उनका मूलमन्त्रसंहिताओं से कुछ भी वास्ता नहीं है।

---

१. भीमज्ञानत्रिंशिका का परिशिष्ट, पृष्ठ ३
२. ऋषिभिबर्हुधा गीतं छान्दोभिर्विविधैः पृथक्। [गीता १३।४]
३. ऐतरेयब्रा० १४।५ और २८।८, ऐतरेय आ० ३।५।३

अथर्ववेद

बहुत-से लोगों का विचार है कि अथर्ववेद ऋगादि तीनों वेदों के बाद बना है। वे अपने इस विचार की पुष्टि में दो तर्क प्रस्तुत करते हैं। वे कहते हैं कि एक तो अनेक जगह त्रयीविद्या का ही नाम आता है और ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद ही के नाम कहे जाते हैं, दूसरे अथर्ववेद का नाम अथर्ववेद के सिवा अन्य तीनों वेदों में नहीं आता, इसलिए अथर्ववेद बाद का है। हम यहाँ इन दोनों युक्तियों की आलोचना करके बतलाना चाहते हैं कि ये दोनों युक्तियाँ निस्सार हैं। जो लोग कहते हैं कि त्रयीविद्या से अभिप्राय, ऋक्, यजु और साम ही से है वे ग़लती पर हैं। त्रयीविद्या का यह तात्पर्य ही नहीं हैं। त्रयीविद्या का अभिप्राय तो ज्ञान, कर्म और उपासना है। ज्ञान, कर्म, उपासना ही का वर्णन चारों वेदों में आता है, इसलिए चारों वेद त्रयीविद्या कहलाते हैं, तीन ही नहीं। महाभारत में लिखा है कि—

त्रयीविद्यामवेक्षेत वेदेषूक्तामथाङ्गतः। ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा॥

—महाभारत शांति० २३५।१

अर्थात् ऋग्यजु, साम और अथर्व में ही त्रयीविद्या है।

यहाँ त्रयीविद्या के साथ चारों वेदों के नाम दिये गये हैं जिससे ज्ञात होता है कि त्रयीविद्य से अभिप्राय चारों वेदों से ही हैं। दूसरी बात यह है कि चारों वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं, इसलिए चारों वेदों का समावेश तीन ही में हो जाता है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधिः सम्प्रदर्श्यते। ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये॥

अर्थात् विनियोग किये जानेवाले मन्त्र चारों वेदों में तीन प्रकार के हैं।

मीमांसा में इन तीनों प्रकार के मन्त्रों का वर्णन करते हुए लिखा गया है कि जिन मन्त्रों के अर्थ के साथ पादव्यव्था है वे ऋक्, जो गाने योग्य हैं वे साम और जो इन दोनों के अतिरिक्त हैं वे सब यजु हैं[1]। इससे ज्ञात होता है कि चारों वेदों को तीन ही विभागों में विभक्त करने का कारण मन्त्रों के तीन प्रकार और उन मन्त्रों में प्रतिपादित तीन (ज्ञान, कर्म, उपासना) विषय ही हैं। रहा यह कि प्राचीन ग्रन्थों में तीन ही वेदों के नाम कहे गये हैं, यह ग़लत है। समस्त ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों वेदों के साथ अथर्ववेद का भी वर्णन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि '**अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदऽथर्वांगिरसः**'।[2] यहाँ स्पष्ट अथर्व का नाम आया है। इसी प्रकार ताण्ड्यमहाब्राह्मण १२।९।१० में लिखा है कि '**भेषजं वा अथर्वणानि**', अर्थात् अथर्व में ओषधि विद्या का वर्णन है। इसके अतिरिक्त यज्ञों में जो ब्रह्मा होता है वह अथर्व का ही विशेष ज्ञाता होता है। उसके लिए सर्वत्र ही लिखा हुआ है कि— '**अथर्वैर्वा ब्रह्मा**', अर्थात् ब्रह्मा अथर्ववेदवाला ही हो। इन प्रमाणों से विदित होता है कि तीनों वेदों के साथ अथर्व की गणना समस्त प्राचीनतम साहित्य में है, इसलिए त्रयीविद्या अथवा कारणवश केवल ऋग्यजु और साम का ही नाम आ जाने से यह न समझना चाहिए कि अथर्ववेद तीनों वेदों के बाद बना है। अथर्ववेद उतना ही प्राचीन है जितने प्राचीन ऋग्यजु और साम हैं।

इस तर्क के अतिरिक्त अथर्ववेद के नवीन होने में जो दूसरी युक्ति दी जाती है कि अथर्ववेद का नाम ऋग्यजु और साम में नहीं आता वह भी निस्सार ही है। हम लिख आये हैं कि अथर्व में

---

१. **तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था॥ गीतिषु सामाख्या॥ शेषे यजुः शब्दाः॥**

—मीमांसा २।१।३५-३७

२. बृहदा० २।४।१०

भी उसी त्रयीविद्या का वर्णन है और उसी प्रकार के मन्त्रों का समावेश है, जिस प्रकार से अन्य तीनों वेदों में है, किन्तु अथर्ववेद के मन्त्र कुछ सरलार्थ बोधक हैं, इसलिए अथर्व का पृथक् अस्तित्व स्थिर किया गया है। मीमांसा में लिखा है कि **'निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात्'** अर्थात् विशेषता के कारण ही निगद=चतुर्थ वेद का अस्तित्व है। अथर्व का निगदत्व ही उसको तीनों से पृथक् किये हुए हैं। शेष सब बातें चारों की समान ही हैं। यही कारण है कि अथर्व न तो तीनों से अलग ही हो सकता है, न तीनों में समा ही सकता है और न ऋग्यजु और साम की भाँति उसका कोई स्थिर नाम ही रक्खा जा सकता है।

वैदिक साहित्य में हमें अथर्ववेद के चार नाम—निगद, ब्रह्म, अथर्व और छन्द—मिलते हैं। ये चारों नाम इसके चार गुणों के कारण पड़े हैं। इसका निगद नाम इसकी सरलता के कारण पड़ा है जैसाकि हमने ऊपर मीमांसा के प्रमाण से लिखा है। इसका दूसरा नाम ब्रह्म है। अथर्ववेद १५।७।८ ही में लिखा है कि **'तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म च'**, यहाँ ऋग्, यजु और साम के साथ ब्रह्म का भी नाम है। यही बात गोपथब्राह्मण में इस प्रकार लिखी है कि **'चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः'**, यहाँ स्पष्ट तीनों वेदों के साथ ब्रह्मवेद का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। इसका ब्रह्मवेद नाम इसलिए पड़ा है कि यज्ञ का अधिष्ठाता ब्रह्मा इसी वेद के साथ नियुक्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है कि **'ऋग्वेदेन होता करोति, यजुर्वेदेनाध्वर्युः, सामवेदेनोद्गाता, अथर्वैर्वा ब्रह्मा'**, अर्थात् ऋग्वेद से होता, यजुर्वेद से अध्वर्यु, सामवेद से उद्गाता और अथर्ववेद से ब्रह्मा को नियुक्त करे। अथर्ववेद से ब्रह्मा की नियुक्ति के लिए गोपथब्राह्मण में कहा गया है कि **'अथर्वाङ्गिरोभिर्ब्रह्मत्वम्। अथर्वांगिरोविद् ब्रह्माणम्'**, अर्थात् अथर्व से ब्रह्मा होता है—अथर्व का जाननेवाला ब्रह्मा है। इसका अभिप्राय यही है कि चारों वेदों का जाननेवाला, अर्थात् ऋग्वेद से लेकर अथर्ववेद तक जाननेवाले ब्रह्मा की नियुक्ति अथर्व से ही होती है, इसलिए अथर्व का नाम भी ब्रह्मवेद रक्खा गया है। इसी प्रकार तीसरा नाम अथर्व है। अथर्ववेद में विराट् का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम्॥

—अथर्व० १०।७।२०

इस मन्त्र में तीन वेदों से विराट् के अन्य-अन्य अङ्ग बतलाये गये हैं, परन्तु अथर्व से विराट् का मुख बतलाया गया है। विराट् के मुख से ही अग्नि की उत्पत्ति हुई है। यजुर्वेद में लिखा है कि **'मुखादग्निरजायत्'**, अर्थात् विराट् के मुख से अग्नि उत्पन्न हुई। ज्ञात हुआ कि अथर्व भी अग्नि ही है। ऊपर के मन्त्र में स्पष्ट ही अथर्व के साथ अंगिरस शब्द आया है। अंगिरस अंगारों को कहते हैं। इससे स्पष्ट हो गया कि अथर्व अग्नि ही है। जिस प्रकार यज्ञ में ब्रह्मा विशेष वस्तु है उसी प्रकार यज्ञ में अग्नि भी प्रधान वस्तु है। अग्नि प्रधान होने से ही अथर्ववेद का यज्ञ में विशेष स्थान है। वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि राजा दशरथ ने अथर्ववेद के ही अनुसार पुत्रेष्टि यज्ञ किया था[1]। ऋग्वेद में भी अथर्व को यज्ञप्रधान कहा गया है। वहाँ लिखा है कि **'यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते'**,[2] अर्थात् अथर्वा ने पहले यज्ञ से धर्ममार्ग स्थिर किया, **'अग्निर्जातो अथर्वणा'**,[3] अर्थात् अथर्वा से अग्नि उत्पन्न हुए और **'त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत्'**,[4]

---

१. **इष्टिं तेऽहं करिष्यामि पुत्रायां पुत्रकारणात्। अथर्वशिरसि प्रोक्तैर्मन्त्रैः सिद्धां विधानतः॥**

—वा०रा०, बाल० ८।६

२. ऋ० १।८३।५ ३. ऋ० १०।२१।५ ४. ऋ० ६।१६।१३

अर्थात् हे अग्नि! तुझको पुष्कर (आकाश) में अथर्वा ने मथकर निकाला। इन प्रमाणों से पाया जाता है कि अथर्व यज्ञ का भी वाचक है। अग्नि और यज्ञ का वाचक होने से ही अथर्व नाम इस वेद के लिए भी प्रयुक्त हुआ है।

अथर्ववेद का चौथा नाम छन्द भी है। अथर्ववेद ११।७।२४ में ही लिखा हुआ है कि **'ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह'**। इस मन्त्र में ऋग्, यजु, साम के साथ अथर्व को छन्दांसि कहा गया है। अन्य नामों की अपेक्षा इसका यह नाम अधिक युक्तिसंगत है। यह नाम इसके प्रधान निगद गुण के कारण पड़ा है। निगद सरलार्थ छन्दों को कहते हैं। इस वेद में हर प्रकार के छन्द हैं और सब सरलार्थ द्योतक ही हैं, इसीलिए इसका नाम छन्दवेद है। इसका यह नाम जिस मन्त्र में आता है, वह मन्त्र चारों वेदों में आया है। यहाँ हम उस मन्त्र को उद्धृत करते हैं—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत्॥[1]

यह मन्त्र पुरुषसूक्त का है और पुरुषसूक्त चारों वेदों में आता है, इसलिए यह मन्त्र चारों वेदों में आया हुआ समझना चाहिए और मानना चाहिए कि चारों वेदों में अथर्व को छन्द कहा गया है। कुछ लोग इस छन्द शब्द से वेदों में आये हुए अनेक छन्दों का ग्रहण करते हैं, परन्तु यह उनकी भूल है, क्योंकि जब चारों वेद ही छन्दों में हैं[2] तब वेदों का नाम आने से ही छन्दों का नाम आ गया और अलग छन्द कहने की कोई आवश्यकता न रही प्रत्युत सब छन्दवाले वेदों के साथ—ऋक्, यजु, साम के साथ—छन्द का नाम आने से यही सिद्ध होता है कि यहाँ यह छन्द शब्द अथर्व के लिए ही आया है। यह बात हमारी कल्पना नहीं है। अथर्ववेद का गोपथब्राह्मण स्वयं अथर्ववेद को छन्दवेद कहने का कारण बतलाता है। गोपथब्राह्मण में लिखा है कि **'अथर्वणां चन्द्रमा दैवतं तदेव ज्योतिः सर्वाणि छन्दांसि आपस्थानम्'**, अर्थात् अथर्ववेद का चन्द्रमा देवता है, वही ज्योति है, सभी प्रकार के छन्द हैं और जल स्थान है। यहाँ सभी प्रकार के छन्द कहकर बतला दिया गया है कि अथर्ववेद में सब प्रकार के सरलार्थबोधक छन्द हैं, इसीलिए बृहदारण्यक उपनिषद् १।२।५ में लिखा है कि **'यदिदं किंचर्चो यजूंꣳषि सामानि च्छन्दाꣳसि'**। यहाँ ऋग्, यजु, साम के साथ छन्दवेद का वर्णन किया गया है। यही नहीं, किन्तु ऋग्वेद ९।११३।६ में स्पष्ट कर दिया गया कि **'यत्र ब्रह्मा पवमान च्छन्दस्यां वाचं वदन्'**, अर्थात् जहाँ यज्ञ में ब्रह्मा छन्दवाणी बोलता है। यज्ञ में ब्रह्मा अथर्ववेद से ही नियुक्त होता है। वही बात इस ऋचा में कह दी गई है। ऋचा कहती है कि ब्रह्मा छन्दवाणी बोलता है। इसका तात्पर्य यही है कि ब्रह्मा अपने अथर्ववेद को पढ़ता है। इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि छन्द अथर्ववेद ही है। पुराणों में तो यह बात बहुत ही अच्छी प्रकार स्पष्ट कर दी गई है। हरिवंशपुराण में लिखा है कि—

ऋचो यजूंषि सामानि छन्दांस्याथर्वणानि च। चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्यास्सविस्तरः।

—हरिवंशपुराण

यहाँ ऋग्, यजु, साम के साथ **'छन्दांसि अथर्वणानि'** कहा गया है, जिससे अब निर्विवाद हो गया कि अथर्ववेद का ही नाम छन्दवेद है। इस छन्दवेद का वर्णन चारों वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों और पुराणों में एक स्वर से अथर्ववेद के लिए ही किया गया है, इससे हम कह सकते

---

१. ऋ० १०।९०।७, यजुः० ३१।७, सामवेद में यह मन्त्र नहीं है, अथर्व० १९।६।१३। —**जगदीश्वरानन्द**

२. तीनों वेद छन्दों में ही हैं। यजुर्वेद की कण्डिकाएँ भी किसी-न-किसी छन्द के ही नाम से लिखी हैं।

हैं कि अथर्ववेद का वर्णन चारों वेदों में आता है। यही नहीं, किन्तु पारसी धर्म के प्राचीन धर्मग्रन्थ गाथा में भी अथर्ववेद को छन्द ही कहा गया है।

हम बचपन से यह बात सुनते आते हैं कि मुसलमानी, यहूदी और पारसी आदि मत अथर्ववेद से ही निकले हैं, परन्तु अथर्ववेद के पन्ने उलटने-पलटने पर हमें कहीं भी अल्ला, बिस्मिल्ला का पता न मिला। हमने समझा कि सम्भव है यह बात सत्य न हो, किन्तु पारसीमत की पुस्तकों और उन पुस्तकों के पढ़ने से जिनको यूरोपीय विद्वानों ने खोजों के साथ लिखा है, यह बात खुल गई कि इस्लाम आदि मतों का स्रोत अथर्ववेद ही से बहा है। अरबी भाषा के प्रसिद्ध पण्डित और क़ुरानशरीफ़ के ज्ञाता सेल साहब अपनी क़ुरान की भूमिका में लिखते हैं कि 'हज़रत मुहम्मद ने अपने विश्वास यहूदियों से लिये हैं और यहूदियों ने पारसियों से'[१]। पारसियों के विश्वासों के सम्बन्ध में मार्टिन हॉग कहते हैं कि 'पारसियों के पुराने साहित्य गाथ में महात्मा ज़रदुस्त एक पुराने ईश्वरीय ज्ञान को स्वीकार करते हैं, अथर्वा की प्रशंसा करते हैं और उसी अङ्गिरा की प्रशंसा करते हैं, जिसका वेदों में वर्णन है'[२]। गाथा के जिस श्लोक में अङ्गिरा का वर्णन आता है, वह यह है—

स्पेन्तेम अतथ्वा मज़्दा में गही अहुरा ह्यत मा वोहु पइरि-जसत् मनंगहा
दक्षत् उष्या तुष्नां मइतिश वहिश्ता नोइत् ना पोउरुश् द्रेग्वतो ख़्यात् चिक्ष्नुषो
अत् तो वीस्पेंग अंग्रेंग अषाउना आदरे। —गाथा, य० १८।१२

अर्थात् हे अहुरमज़्द! मैंने तुझे आबादी करनेवाला जाना। जब तेरा सन्देश लानेवाला अंगिरा मेरे पास आया तो उसने प्रकट किया कि सन्तोष सबसे अच्छी चीज़ है। एक पूर्ण मनुष्य कभी भी पापी को राज़ी नहीं रख सकता, क्योंकि वह सत्य ही का पक्ष करता है।

इस श्लोक में अंग्रेंग शब्द अंगिरा के लिए आया है। अङ्गिरा अथर्व का ही वाचक है, क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि '**अथर्वाङ्गिरसो मुखम्**' अर्थात् अथर्व—अंगिरा विराट् का मुख है। इस वाक्य में अथर्व और अंगिरा एक ही वस्तु बतलाये गये हैं, इसलिए ज़रदुस्त देव जिस अंगिरा के द्वारा परमात्मा का सन्देश अपने पास आना बतलाते हैं, वह अथर्ववेद ही है। अथर्ववेद छन्दवेद कहलाता है, इसीलिए पारसीधर्म का उपदेश जिस साहित्य के द्वारा हुआ है वह भी ज़न्द अथवा ज़न्दावस्था कहलाता है। ज़न्द और ज़न्दावस्था छन्द और छन्दावस्था का ही रूपान्तर है। प्रो० मैक्मूलर कहते हैं कि 'मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि ज़न्द शब्द संस्कृत के छन्द शब्द का ही अपभ्रंश है, जिसे पाणिनि और अन्य विद्वानों ने वैदिक भाषा के लिए कहा है'[३]। छन्द शब्द वैदिक भाषा में वेदों के लिए इसी कारण प्रयुक्त हुआ है कि वेदों का चतुर्थ भाग अथर्व छन्दवेद ही कहलाता है। पारसियों का अथर्ववेद से ही अधिक सम्बन्ध है, इसलिए उनके साहित्य का छन्द नाम अथर्ववेद ही के कारण पड़ा है, अतएव अथर्ववेद के छन्दवेद होने में अब

---

१. Mohammed borrowed from the Jews who learnt the names and offices of those beings from the Persians, as they themselves confess. —Talmud Hieros and Roshbashan. —*Sale's Koran*, p. 56.

२. In the Gatha (which are the oldest parts of the Zend-Avasta) we find Zarthushtra alluding to old revelation and praising the wisdom of Saoshyants, Atharvas, fire priests. He exhorts his party to respect and revere the Angira (yas. XVIII, 12) i.e. the Angiras of the Vedic Hymns.
—*Haug's Essays*, p. 294.

३. I still hold that the name of Zend was originally a corruption of the Sanskrit word छन्दः Chhanda, which is the name given to the language of the Veda by Panini and others.
—*Chips from a German Workshop*, Vol. I, p. 84.

कुछ भी सन्देह नहीं है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक देखा कि अथर्ववेद त्रयीविद्या के अन्तर्गत है और अथर्ववेद का नाम समस्त प्राचीन साहित्य तथा ऋग्यजु और सामवेद में उसी प्रकार आता है जिस प्रकार दूसरों का, इसलिए अथर्ववेद भी उसी प्रकार अपौरुषेय है, जिस प्रकार ऋग्यजु और साम तथा अथर्ववेद को भी उसी प्रकार वेदत्व प्राप्त है, जिस प्रकार ऋग्यजु और साम को।

वेदों की शाखाएँ

यह स्पष्ट हो जाने पर कि ब्राह्मणग्रन्थों को अपौरुषेयत्व प्राप्त नहीं है—वे संहिताओं के व्याख्यान ही हैं—और यह भी स्पष्ट हो जाने पर कि अथर्ववेद भी अपौरुषेय है, वेदों की इयत्ता निर्धारित हो जाती है और ज्ञात हो जाता है कि अपौरुषेय वेद चार हैं और उनके नाम ऋग्, यजु, साम और अथर्व हैं, परन्तु जब हम देखते हैं कि प्राचीन काल में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की सैकड़ों शाखाएँ थीं और अब भी आठ-दश शाखाएँ उपलब्ध हैं तब वेदों की इयत्ता का प्रश्न पहले से भी अधिक जटिल हो जाता है। क्या वेदों की शाखाएँ वृक्ष की शाखाओं की भाँति किसी अन्य स्तम्भ (मूल) से सम्बन्ध रखती हैं, क्या वेदों की अनेक शाखाओं के लुप्त हो जाने से वेदों का बहुत-सा भाग नष्ट हो गया और क्या प्राप्त शाखाओं में परस्पर कोई अन्तर नहीं है—सब एक ही प्रकार की हैं? इत्यादि अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं, जिनका समाधान किये बिना वेदों की इयत्ता निर्धारित करना कठिन है, इसलिए हम यहाँ शाखाओं का तत्त्व, उनका इतिहास, प्राप्त शाखाओं का रहस्य और इयत्ता आदि विषयों को संक्षेप से लिखते हैं और दिखलाते हैं कि वेदों का शाखाप्रकरण कितना विचारणीय है।

शाखातत्त्व पर विचार करनेवाले देशी विद्वानों में तीन ही विद्वान् उल्लेखनीय हैं। सबसे पहले स्वनामधन्य पंडित सत्यव्रत सामश्रमी हैं। आपने 'ऐतरेयालोचन' नामी ग्रन्थ में शाखाओं पर अच्छा प्रकाश डाला है। आपके बाद स्वामी हरिप्रसाद ने 'वेदसर्वस्व' नामी ग्रन्थ में शाखाओं का विस्तृत वर्णन किया है और इनके बाद रिसर्च स्कालर पं० भगवद्दत्त बी०ए० ने भी शाखाओं पर लिखा है। इन विद्वानों ने शाखाएँ क्या हैं, आदि में कितनी शाखाएँ थीं और अब कितनी प्राप्त हैं, प्राप्त शाखाओं का विवरण क्या है और उनमें कितना अन्तर है, आदि विषयों पर प्रकाश डाला है। इनके वर्णनों को पढ़कर शाखाविषय में प्रवेश हो जाता और अनायास ही यह प्रश्न सामने आ जाता है कि इन सब प्राप्त शाखाओं में ज्येष्ठत्व किनको है और कौन-कौन-सी शाखाएँ आदि और अपौरुषेय हैं। हम चाहते हैं कि यहाँ शाखाओं से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों को संक्षेप से लिखकर यह बतलाने का यत्न करें कि किन शाखाओं का ज्येष्ठत्व है और कौन-सी शाखाएँ अपौरुषेय हैं।

वैदिक काल में जिस समय केवल वेदों का ही पठन-पाठन होता था, वैदिक विद्वान् एक, दो, तीन अथवा चारों वेदों को पढ़ते थे और उसी पठन-पाठन की योग्यता के अनुसार ऋग्वेदी, यजुर्वेदी और सामवेदी अथवा त्रिवेदी, चतुर्वेदी आदि कहलाते थे। उस समय केवल चार वेदों का ही पठन-पाठन होता था और इन चारों वेदों का स्वरूप ऋक्, यजु, साम और अथर्व ही था, अर्थात् अर्थवश पादव्यवस्थावाले मन्त्र ऋग्वेद, गाये जानेवाले साम, सरलार्थ छन्दोंवाले अथर्व और शेष बचे हुए गद्याकृति छन्दोंवाले यजु कहलाते थे[१]। इन्हीं चारों भेदों के ज्ञाता ऋग्वेदी,

---

१. प्रायः लोग समझते हैं कि चार वेदों का विभाग व्यास ने किया है, परन्तु यह भ्रम है। व्यास के पूर्व तो उपनिषद् और ब्राह्मण भी उपस्थित थे, जिनमें वेदों की शाखाओं और उन शाखाओं में प्रक्षेपों तक का वर्णन है। शाखाविभागों के पूर्व भी चार प्रकार के मन्त्रों की अलग-अलग योजना थी और चारों ऋग्, यजु, साम और अथर्व के नामों से अलग-अलग प्रसिद्ध थे।

यजुर्वेदी, द्विवेदी अथवा त्रिवेदी थे, परन्तु जब इस प्रकार की योग्यतावाले और इन–इन उपाधियोंवाले ब्राह्मण बहुत हो गये और प्राचीन मौलिक वेदों के पठन–पाठन का प्रचार पुराना हो गया तथा वेदों में सन्देह होने लगा, तब नवीन–नवीन प्रकार की संहिताओं की सृष्टि होने लगी। आदिम मूल संहिताओं का स्वरूप संहिता ही था। संहिता नाम ज्यों–के–त्यों मन्त्रों का है। संहिता का अर्थ करते हुए पाणिनि मुनि अष्टाध्यायी १।४।१०९ में कहते हैं कि '**परः सन्निकर्षः संहिता**', अर्थात् '**पदान्तान्पदादिभिः सन्दधेति यत्सा**', अर्थात् पदों के अन्त को अन्य पदों के आदि के साथ सन्धिनियम से बाँधने का नाम संहिता है। ऋक्प्रातिशाख्य में लिखा है कि '**पदप्रकृतिः संहिता**', अर्थात् पदों की प्रकृति की वास्तविक अवस्था का नाम संहिता है। आदिमकालीन संहिताएँ, संहिता ही थीं। उनमें मन्त्रों के पद अलग–अलग न थे। सब मन्त्र सन्धियुक्त ही थे, परन्तु कुछ दिन के बाद वेदार्थ करने में झगड़ा होने लगा। कोई '**न तस्य**' को '**नतस्य**' कहने लगा और कोई '**न तस्य**' ही।

ऐसी दशा में आवश्यकता हुई कि पदों का विच्छेद पाठ भी आरम्भ किया जाए, अतः वैदिक आचार्यों ने अलग–अलग करके एक–एक संहिता की दो–दो संहिताएँ कर लीं। यहीं से शाखाओं का आरम्भ हुआ। यह आरम्भकाल बहुत प्राचीन है। यह काल ब्राह्मणकाल के बहुत पूर्व का है, क्योंकि शाखा आरम्भकाल के बहुत दिन बाद संहिताओं में खैलिक भाग—प्रक्षिप्त भाग—जोड़े गये हैं और उन खैलिक भागों का वर्णन ब्राह्मणों में है, इससे प्रतीत होता है कि शाखाओं का आरम्भ बहुत ही पुराकाल में हुआ था। इसके अतिरिक्त शाखाओं के कारण गोत्रों का प्रचार भी हुआ है। शाखाप्रचारक ही प्रायः गोत्रप्रवर्तक भी देखे जाते हैं[१]। इन गोत्रप्रवर्तक ऋषियों का समय बहुत ही प्राचीन है, इससे भी पाया जाता है कि शाखाओं का आरम्भ अत्यन्त पुराकाल में ही हुआ है। उपर्युक्त प्रकृतिसंहिता और पदसंहिता का लक्षण करते हुए ऐतरेय आरण्यक ३।१३ में लिखा है कि '**यद्धि सन्धिं विवर्तयति तन्निर्भुजस्य रूपमथ यच्छुद्धे अक्षरे अभिव्याहरति तत् प्रतृण्णस्य**', अर्थात् जिसमें सन्धि ज्यों–की–त्यों बनी रहती है वह निर्भुजसंहिता है और जिसमें सन्धि के बिना केवल पदों का उच्चारण होता है वह प्रतृण्ण संहिता है। उदाहरण के लिए जिसमें '**अग्निमीळे पुरोहितम्**' इस प्रकार का पाठ है वह निर्भुजसंहिता है और जिसमें इस प्रकृति पाठ का '**अग्निम् ईळे पुरः अहितम्**' करके पदपाठ कर दिया गया है, वह प्रतृण्ण संहिता है। इन दोनों प्रकार की संहिताओं में न पाठभेद होता है और न पाठ न्यूनाधिक ही होता है। इन दोनों में सब मन्त्र ज्यों–के–त्यों बने रहते हैं। प्राचीन काल में इसी प्रकार की शाखाएँ थीं, परन्तु कुछ दिन के बाद इससे भी सन्तोष न हुआ। वेदों को शुद्ध रखने के लिए मन्त्रों के पाठ करने की अनेक विधियों का आयोजन हुआ और प्रत्येक विधि भी अलग–अलग एक–एक शाखा बन गई।

ऐतरेय आरण्यक ३।१३ में लिखा है कि '**अग्र उ एवोभयमन्तरेणोभयव्याप्तं भवति**', अर्थात् आगे चलकर प्रतृण्णसंहिता उक्त दोनों के योग और घन, जटा, माला आदि भेदों से विकृत रूप हो जाती है और क्रमसंहिता कहलाती है। इसका भी तात्पर्य यह है कि जिसमें मूल मन्त्र हों, उनके पद भी अलग–अलग हों और इन पदों की विकृति भी हो वह क्रमसंहिता है। क्रमसंहिता के इस विकृत प्रकरण को लेकर व्याडिमुनि ने एक विकृतवल्ली नाम का ग्रन्थ ही बना डाला है। उस ग्रन्थ में लिखा है—

---

१. वेद का पढ़ानेवाला भी पिता है। मनुस्मृति में '**गरीयान्मन्त्रदा पिता**' लिखा है। यह शाखाप्रचारक मन्त्रदा पिता ही नाती पोते—शिष्य–प्रशिष्य—का गोत्र हो जाता था।

जटा माला शिखा रेखा ध्वजो दण्डो रथो घनः।
अष्टौ विकृतयः प्रोक्ताः क्रमपूर्वा मनीषिभिः॥ —विकृतवल्ली १।५

अर्थात् जटा, माला, शिखा, रेखा, ध्वज, दण्ड, रथ और घन आदि आठ भेद हैं। इन भेदों के कारण पहली शाखाओं के आठ भेद हो गये और उनकी संस्था दश बारह हो गई, परन्तु इतने पर भी सन्तोष न हुआ। गोत्रप्रवर्तन और शाखासम्प्रदाय से प्रेरित होकर वैदिक आचार्यों ने शाखाओं के भेदों में और भी अधिक वृद्धि की। बृहद्देवता १।१४ में लिखा है कि '**देवतार्षार्थछन्दोभ्यो वैविध्यं तस्य जायते**', अर्थात् देवता, ऋषि, अर्थ और छन्दभेद से सूक्तों के अनेक भेद हो गये। सभी जानते हैं कि प्रत्येक मन्त्र का देवता, ऋषि, छन्द और अर्थ होता है, अतः इस सूक्तक्रम से भी संहिताएँ बनीं। अमुक देवतावाले सूक्तों के बाद अमुक देवतावाले सूक्तों को रखकर जो संहिता बनाई गई वह दैवत शाखा कहलाई। इसी प्रकार अमुक ऋषिवाले सूक्तों के बाद अमुक ऋषिवाले सूक्तों को रखकर जो संहिता बनाई गई वह आर्षशाखा कहलाई। इसी प्रकार अमुक अर्थवाले सूक्तों के बाद अमुक अर्थवाले सूक्तों के क्रमवाली संहिता अर्थशाखा और अमुक छन्दवाले सूक्तों के क्रमवाली संहिता छान्दशाखा कहलाई। यद्यपि मन्त्रों का इतना अधिक उलट-फेर हुआ, परन्तु अब तक मन्त्रों में पाठभेद अथवा न्यूनाधिकता नहीं हुई। उपर्युक्त समस्त शाखाविभागों की संख्या चौदह-पन्द्रह तक पहुँची—प्रत्येक संहिता इतने-इतने प्रकारों की हो गई—किन्तु मन्त्रों में गड़बड़ नहीं हुई।

गोत्रप्रवर्तक वैदिक ऋषियों का शाखाभेद इतने ही दर्जे का था। वे मानते थे कि पठन-पाठन शैली में तो भेद हो, परन्तु मूल मन्त्रों में भेद न पड़ने पाये। मीमांसादर्शन १।१।३० में शाखातत्त्व का निर्वचन करते हुए जैमिनिमुनि ने लिखा है कि '**आख्याप्रवचनात्**', अर्थात् प्रवचन के कारण ही शाखा नाम हुआ है। जो ऋषि मूलमन्त्रों को जिस क्रम से पढ़ाते थे केवल वह क्रम ही अमुक शाखा है। भाग, अंश, चरण आदि भाव शाखा के नहीं हैं, प्रत्युत शाखा का तात्पर्य पठन-पाठन का क्रम—शैली ही है। महाभाष्य की कारिका (अष्टा० ४।१।६३) में लिखा है कि '**गोत्रं च चरणैः सह**', अर्थात् चरण के साथ गोत्र। यहाँ चरण शब्द शाखा के लिए ही आया है और चरण—आचरण—पठन अध्ययन आदि ही अर्थ रखता है, परन्तु बहुत-से व्यक्तियों ने चरण शब्द का तात्पर्य वेदों का एक देश—एक भाग समझा है। उनको चरण शब्द का आचरण अर्थ ग्रहण करने की नहीं सूझी, परन्तु महाभाष्य की इस कारिका का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रसिद्ध वैयाकरण कैयट महोदय लिखते हैं कि '**चरणशब्दाऽध्ययनवचनः**', अर्थात् चरण शब्द अध्ययन का वाचक है। कहने का तात्पर्य यह कि चरण और शाखा शब्द वेदों के पठन-पाठन की शैली के ही वाचक हैं, वेदों के विभाग के बोधक नहीं। इस शाखातत्त्व पर विचार करते हुए वैदिक साहित्य के प्रसिद्ध मर्मज्ञ पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी 'ऐतरेयालोचन' में लिखते हैं कि '**तत्त्वतो नहि वेदशाखा वृक्षशाखेव नापि नदीशाखेव प्रत्युताध्येतृभेदात् सम्प्रदायभेदजन्याध्ययनविशेषरूपैव**', अर्थात् वास्तव में वेद की शाखाएँ न तो वृक्षों की शाखाओं की भाँति हैं और न नदी की शाखाओं की भाँति हैं, प्रत्युत वे पठन-पाठन-भेद से सम्प्रदायजन्य अध्ययन का ही विशेष रूप हैं। इस निष्पत्ति से जाना गया कि वेद की शाखाएँ वेद का अंश या भाग नहीं हैं प्रत्युत पठन-पाठन का भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। यह बात हम उन शब्दों से भी जान सकते हैं जो शाखाओं के लिए प्रयुक्त हुए हैं। अनेक ग्रन्थों में लिखा है कि—

एकशतमध्वर्युशाखाः सहस्रवर्त्मा सामवेदः।
एकविंशतिधा बाह्वृच्यं नवधाऽथर्वणो वेदः॥ —महाभाष्य पस्पशाह्निक

एकविंशतिभेदेन ऋग्वेदः कृतवान् पुरा।
शाखानां तु शतं नाथ यजुर्वेदमथाकरोत्॥
सामवेदं सहस्रेण शाखानां च विभेदतः।
आथर्वाणमथो वेदं विभेदं नवकेन तु॥ —कूर्मपुराण
पञ्चैते शाकला शिष्या शाखाभेदप्रवर्तकाः। —विकृतवल्ली
शाखासु त्रिविधा भूप शाकलयास्कमाण्डुकाः॥ —देवीपुराण
सामवेदस्य किल सहस्रभेदा आसन्
यजुर्वेदस्य षडशीतिर्भेदा भवन्ति अथर्ववेदस्य नवभेदा भवन्ति॥ —चरणव्यूह

यहाँ जितने वाक्य उद्धृत हुए हैं सबमें शाखाओं के लिए भेद, विधि, वर्त्मा, धा, आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये सभी शब्द प्रकार, तरीक़ा और ढंग आदि के ही वाचक हैं खण्ड, भाग, प्रकरण, देश और अंश आदि के नहीं। इससे अच्छी प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि शाखाएँ वेदों के भाग नहीं, प्रत्युत भेद ही हैं। भेद में घटाव-बढ़ाव की गुंजायश नहीं रहती केवल परिवर्तन ही हो सकता है। यही कारण है कि दैवत, आर्ष आदि विभागों तक मन्त्रों की अदला-बदली ही हुई है। जब तक इस प्रकार की अदला-बदलीवाली शाखाएँ बनती रहीं तब तक वेदों के स्वरूप में अन्तर नहीं पड़ा—उनमें घटाव-बढ़ाव नहीं हुआ, किन्तु कृष्णयजुर्वेद के अवतार धारण करते ही वैदिक शाखाओं में उथल-पुथल आरम्भ हुई। रावणादिकृत साहित्य के सम्मिश्रण से शाखाओं में गड़बड़ मची और संहिताओं में ब्राह्मणभाग तथा ब्राह्मणेतर भाग भी मिला-मिलाकर अथवा मूलमन्त्रों को ही घटा-घटाकर और पाठभेद कर-करके अनेक शाखाओं को जन्म दिया गया। पुराने ग्रन्थों में शाखाओं की जो संख्या लिखी हुई है वह हज़ारों तक पहुँची है और सबमें मतभेद है। महाभाष्यकार चारों वेदों की शाखाएँ ११३१ बतलाते हैं। सर्वानुक्रमणी में ११३७ लिखी हैं। कूर्मपुराण के अनुसार ११३० हैं और चरणव्यूह में ११६ ही लिखी हुई हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों में भी मनमानी संख्याएँ पाई जाती हैं। इन अनिश्चित संख्याओं में आर्य-अनार्य सभी शाखाएँ गिन ली गई हैं। इसलिए हम आवश्यक समझते हैं कि मूल आर्यशाखाओं का पता लगावें।

जिस समय गोत्र और शाखाप्रचार की धूम हो रही थी उस समय एक-एक वेद की अनेक शाखाएँ हो गई थीं। मूलमन्त्रों की ज्यों-की-त्यों रक्षा करते हुए केवल मन्त्रों के उलट-फेर से जितनी शाखाएँ हो सकती थीं उतनी हुईं। हम उन शाखाओं को आर्यशाखा कहते हैं, परन्तु रावण-सम्प्रदाय के कारण जितनी शाखाएँ बनीं उनमें आर्यशाखाओं की अपेक्षा दो बातें अधिक हुईं। एक बात तो यह हुई कि मन्त्रों में पाठभेद किया गया और उनके साथ आसुरी साहित्य, ब्राह्मणभाग और मनःकल्पित बाह्य संस्कृत का मिश्रण करके शाखाएँ बनाई गईं और दूसरी बात यह हुई कि मन्त्रों का बहुत-सा भाग निकाल डाला गया और मन्त्रों का रूप विकृत करके छोटे-छोटे वेदांशों का नाम भी शाखा रक्खा गया। इन दोनों प्रकारों से बनी हुई शाखाओं को हम अनार्यशाखाएँ कहते हैं। आर्यशाखाओं का उत्तम नमूना शाकल, बाष्कल आदि शाखाएँ हैं और अनार्यशाखाओं का नमूना तैत्तिरीय और काठक आदि हैं। आर्यशाखाओं में उलट-फेर के अतिरिक्त न्यूनाधिकता नहीं है, परन्तु अनार्यशाखाओं में दोनों बातें विद्यमान हैं।

ऋग्वेद की मूल आर्यशाखा के अतिरिक्त अब तक किसी अनार्यशाखा का पता नहीं मिला। कहते हैं कि ऋग्वेद की इक्कीस शाखाएँ थीं, परन्तु इस समय ऋग्वेद की शाकल और बाष्कल दो ही शाखाएँ एक में मिली हुई मिलती हैं। ऋक् प्रातिशाख्य में लिखा है कि—

ऋचां समूह ऋग्वेदस्तमभ्यस्य प्रयत्नतः। पठितः शाकलेनादौ चतुर्भिस्तदनन्तरम्॥

अर्थात् ऋग्वेद की समस्त ऋचाओं का स्वाध्याय करके बड़े यत्न से उनको आदि में पहले-पहले शाकल ऋषि ने शाखा का रूप दिया और शाकल के बाद अन्य चार शाखाकारों ने अन्य-अन्य शाखाओं का प्रवचन किया।

इस प्रमाण से पाया जाता है कि सबसे प्रथम शाकल ऋषि ने ही शाकल शाखा का प्रवचन किया है। शाकल ऋषि अत्यन्त प्राचीन हैं और उनकी प्रामाणिकता सर्वमान्य है, क्योंकि शाकलसंहिता के विषय में ऐतरेयब्राह्मण में लिखा है—

यदस्य पूर्वमपरं तदस्य यद्वस्य परं तद्वस्य पूर्वम्।
अहेरिव सर्पणं शाकलस्य न विजानन्ति यतरत् परस्तात्॥ —ऐतरेयब्रा० १४।५

अर्थात् शाकलसंहिता का जैसा आदि है वैसा ही अन्त है और जैसा अन्त है वैसा ही आदि है। जिस प्रकार सर्प की चाल आदि से अन्त तक एक-समान होती है इसी प्रकार शाकलसंहिता का भी क्रम एक ही समान है, उसकी गति में कोई भेद नहीं कर सकता।

इस प्रमाण में शाकल की प्राचीनता और उसकी शाखा की एकरसता स्पष्ट दिखलाई पड़ रही है। उपर्युक्त श्लोक ऐतरेय के गाथा भाग का ही है और ब्राह्मणों का गाथाभाग ब्राह्मणों के पूर्व साहित्य का निर्विवाद भाग है, इसलिए इसकी प्राचीनता आदिम काल तक पहुँचती है। इस आदिमकालीन प्रमाण में शाकलशाखा की पूर्णता और एकरसता का स्पष्ट वर्णन है, इसलिए शाकलसंहिता ही आदिम संहिता है, इसमें सन्देह नहीं। अनुवाकानुक्रमणी में लिखा है—

ऋग्वेदे शैशिरीयायां संहितायां यथाक्रमम्। प्रमाणमनुवाकानां सूक्तैः शृणुत शाकलाः॥

अर्थात् मण्डल, अनुवाक और सूक्तों में शाकल ने अपनी शाखा का प्रवचन किया। ज्ञात हुआ कि जिस शाखा में मण्डल, अनुवाक और सूक्त हों वह शाकलसंहिता है। वर्त्तमान शाकलसंहिता में ये लक्षण पाये जाते हैं, अतः शाकलसंहिता ही आदि है, क्योंकि लिखा हुआ है कि '**पठितः शाकलेनादौ**', अर्थात् उसका सबसे पहले शाकल ने ही प्रवचन किया। इससे ज्ञात हुआ कि बाक़ी शाखाएँ शाकल के बाद ही बनीं। विकृतवल्ली की टीका में लिखा है कि—

शिशिरो वाष्कलः शाङ्खो वातश्चैवाश्वलायनः।
पञ्चैते शाकलाः शिष्याः शाखाभेदप्रवर्तकाः॥

अर्थात् शाकल ऋषि की शिष्यपरम्परा में पाँच ही आचार्य—शिशिर, वाष्कल, शङ्ख, वात और आश्वलायन—शाखाभेद के प्रचारक हुए हैं।

इन पाँचों में वाष्कल बहुत प्राचीन है। इसी ने ऋग्वेद को अष्टक, अध्याय और वर्गों में सङ्कलित किया है। इस प्रकार ये दोनों शाकल और वाष्कल शाखाएँ अत्यन्त प्राचीन, अर्थात् आदिम कालीन हैं। कोई-कोई महानुभाव शाकल को शाकल्य भी मानते हैं और कहते हैं कि शाकलशाखा का पदपाठ करनेवाला शाकल्य ही है और शाकल्य के कारण ही उसका शाकल शाखा नाम पड़ा है, परन्तु हमें इस विवाद से कोई प्रयोजन नहीं है। शाकलसंहिता चाहे शाकल के नाम से प्रसिद्ध हुई हो चाहे शाकल्य के, देखना तो यह है कि जब ऋक्प्रातिशाख्य में स्पष्ट रीति से कह दिया गया है कि '**पठितः शाकलेनादौ**', अर्थात् सबसे पहले शाकल ने ही इसका प्रवचन किया तब इस बात के लिए स्थान ही नहीं रह जाता कि इससे पहले भी कोई और शाखा थी। शाकल्य अथवा शाकल ने ही सबसे पहले प्राचीन प्रकृति और पदपाठयुक्त संहिता को दश मण्डलों और एक सहस्र सूक्तों में विभक्त किया है। इसीलिए यह संहिता दाशतयी, अर्थात्

दशवाली कहलाती है। इस शाखा के पश्चात् थोड़े ही दिनों में इनके प्रधान शिष्य वाष्कल ने उसी शाखा को अष्टक, वर्ग और अध्यायों में भी विभाजित कर दिया, परन्तु इस विभाजन के कारण मन्त्रों के केवल संख्या अङ्क ही फिरे और किसी प्रकार का फेरफार नहीं हुआ, इसीलिए वैदिकों ने दोनों को एक ही मानकर एक में मिला दिया। अब तक दोनों शाखाएँ एक ही में मिली हुई मिलती हैं और केवल इतिहास स्मरणार्थ दोनों प्रकार के पते वर्त्तमान ऋग्वेद के पृष्ठों में लिखे रहते हैं। यह क्रम आदिकाल ही से चला आ रहा है। इस प्रकार से यह आदि प्रवचनकर्ता की स्थिर की हुई ऋग्वेदशाखा प्राप्त है और इसमें अब तक आरम्भिक संहिता के प्रकृत मन्त्र और पदपाठ दोनों एक ही में छपते हैं। वर्त्तमान ऋग्वेदसंहिता के सायणाचार्य और स्वामी दयानन्द के भाष्यों में मन्त्र और पदपाठ तथा मण्डल, सूक्त और अष्टक, वर्ग आदि चारों आरम्भिक और प्राथमिक चिह्न आज तक लिखे हुए मिलते हैं, इसलिए आदिम अपौरुषेय ऋग्वेदसंहिता पूर्ण रूप से प्राप्त है, इसमें तनिक भी संदेह नहीं है।

शाकल और वाष्कल शाखाओं के संयुक्त रूप के अतिरिक्त ऋग्वेद की कोई दूसरी शाखा अब नहीं मिलती। कहते हैं कि कलकत्ते की एशियाटिक सोसायटी के पुस्तकालय में ऋग्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली शांख्यायनी शाखा मिलती है, परन्तु उसका स्वरूप अस्त-व्यस्त है। अस्त-व्यस्तता के अतिरिक्त वह शाकल के शिष्यों की प्रवचन की हुई है, इसलिए शाकल की अपेक्षा उसको ज्येष्ठत्व—अपौरुषेयत्व प्राप्त नहीं हो सकता। ऋग्वेद से सम्बन्ध रखनेवाला शाखाभेद इतना ही है।

यजुर्वेद की शाखाएँ किसी समय एक सौ एक तक पहुँची थीं, किन्तु इस समय केवल पाँच ही मिलती हैं। इन पाँचों में तीन शाखाएँ कृष्णवेद से सम्बन्ध रखनेवाली हैं। कृष्णवेद का विस्तृत वर्णन हम तृतीय खण्ड में कर चुके हैं। हमने वहाँ अच्छी प्रकार दिखला दिया है कि कृष्णवेद रावणकाल से आरम्भ होकर द्रविड़काल तक बनता रहा है। उसमें असल यजुर्वेद का भाग तो थोड़ा है, परन्तु रावणकृत प्राचीन वेदभाष्य का, ब्राह्मणग्रन्थों का और अन्यान्य स्थलों का ही बहुत बड़ा भाग मिश्रित है। इस कृष्णयजुर्वेद से सम्बन्ध रखनेवाली इन तीनों शाखाओं में एक तैत्तिरीयों की और दो चरकों की हैं। तैत्तिरीयों की तैत्तिरीय और चरकों की कठ और मैत्रायणी कहलाती हैं। हम लिख आये हैं कि चरकों का सम्बन्ध तैत्तिरीयों से ही है। तैत्तिरीय शाखावाले ही चरक नामी यज्ञ करानेवाले का वरण करते हैं, इसलिए ये तीनों शाखाएँ आर्यसम्प्रदाय में मान्य नहीं हो सकतीं और न अपौरुषेय मूल यजुर्वेद की शाखाएँ हो सकती हैं। हमने बतला दिया है कि अवैदिक शाखाओं में दो दोष हैं। इन तीनों की रचनाओं में वही पूर्वोक्त दोनों दोष पाये जाते हैं। शाखाओं का प्रधान दोष मिश्रण है, अर्थात् बाह्य सामग्री को लेकर मूलसंहिताओं की वृद्धि है और दूसरा दोष मूल संहिता के मन्त्रों को घटाकर छोटा कर डालना है और पाठभेद कर देना है। हम देखते हैं कि तैत्तिरीयशाखा में मिश्रण हुआ है—बाह्य सामग्री से उसकी वृद्धि की गई है और कठ तथा मैत्रायणी शाखाएँ घटाई गई हैं—उनसे असल मन्त्र निकाल डाले गये हैं और कहीं-कहीं पाठभेद किया गया है। जहाँ तैत्तिरीय की मन्त्र संख्या बढ़ाकर १८००० कर दी गई है[1] वहाँ कठ शाखा में घटाकर २६४ और मैत्रायणी में घटाकर ६५४ ही मन्त्र रक्खे गये हैं। इतने पर भी पाठभेद इतना किया गया है कि उनको यजुर्वेद कहने में भी संकोच होता है। इस ह्रास-विकास से भी उक्त शाखाएँ विश्वास योग्य नहीं रहीं और न उनकी गणना मूल यजुर्वेद में हो

१. **'अष्टादश यजुसहस्त्रमधीत्य शाखापारो भवति।'** —चरणव्यूह
अर्थात् तैत्तिरीय यजुर्वेद में अठारह हज़ार मन्त्र हैं।

सकती है[१]।

यजुर्वेद की पाँच शाखाओं में अब केवल दो ही शाखाएँ रह जाती हैं। ये दोनों शाखाएँ वाजसनेयी कहलाती हैं। इनके नाम माध्यन्दिनीय और काण्व हैं। माध्यन्दिनीय शाखा यही है जिस पर उव्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द ने भाष्य किया है। काण्वशाखा भी भाष्यसहित अलग मिलती है। जर्मनीवालों ने तो माध्यन्दिनीय के साथ काण्वशाखा के पाठभेद को भी अलग करके छाप दिया है। यद्यपि अन्तर बहुत कम है तथापि अपौरुषेय वेद में एक मात्रा का भी अन्तर सहनयोग्य नहीं हो सकता, इसलिए इस बात का निर्णय हो जाना अत्यन्त आवश्यक है कि इन दोनों में से ज्येष्ठत्व किसको है—कौन मूल और कौन परिवर्तित है। हमें अब तक जितने प्रमाण मिले हैं उनके देखने से यही प्रतीत होता है कि माध्यन्दिनीय शाखा ही असल है, काण्व शाखा नहीं।

हमने तृतीय खण्ड में उपनिषदों में मिश्रण सिद्ध करते हुए लिखा है कि काण्वशाखा में बृहदारण्यक का भाग मिश्रित है और यह मिश्रण द्रविड़देश में तैत्तिरीय शाखावालों के हाथ से हुआ है। कण्वऋषि का तैत्तिरीयशाखावालों से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य रहा है। उपनिषदों के संग्रह करनेवाले और उनमें आसुरी भावों के भरनेवाले द्रविड़ ही हैं। जब उन्होंने ईशोपनिषद् को काण्वशाखा और बृहदारण्यक उपनिषद् से ही सजाया है तब स्पष्ट है कि द्रविड़ों में काण्वसंहिता का ही मान रहा है, माध्यन्दिनीय का नहीं। स्वामी हरिप्रसाद वेदसर्वस्व पृष्ठ १५४ पर लिखते हैं कि 'शंकराचार्य के प्रधान शिष्य सुरेश्वराचार्य इस काण्वयजु:संहिता के ही मुख्य अध्यापक थे'। इसका कारण स्पष्ट है कि कण्वऋषि का सम्बन्ध द्रविड़ देश से रहा है। द्रविड़ देश से ही नहीं किन्तु जिस प्रकार कृष्णयजुर्वेद के चरक लोग मद्रदेश से भी सम्बन्ध रखते थे उसी प्रकार कण्वऋषि भी न केवल मद्रासप्रान्त तक प्रत्युत मिस्रदेश तक धावा लगाते थे। धावा ही न लगाते थे, उन्होंने मिस्रदेश से दश हज़ार मिश्रियों को लाकर भारतीय आर्यों में मिश्रित भी कर दिया था जिसका इतिहास पुराणों में लिखा हुआ मिलता है[२]। इससे सिद्ध है कि आर्यों में मिस्रियों के मिलाने के कारण और द्रविड़ों के साथ सम्बन्ध रखने के कारण कण्वऋषि को अपने विचारों में कुछ फेरफार अवश्य ही करना पड़ा होगा। हमारा अनुमान है कि माध्यन्दिनीय में आये हुए मन्त्रों के अतिरिक्त काण्वशाखा में जो फेरफार हुआ है—पाठभेद और न्यूनाधिकाता हुई है उसका कारण कण्वऋषि का विचार-परिवर्तन ही है। विचार-परिवर्तनों से ही सम्प्रदायों की सृष्टि होती है, अतएव कण्वऋषि ने भी अपना एक अलग शाखासम्प्रदाय प्रचलित किया और सनातन यजुर्वेद में यत्किञ्चित् पाठभेद करके अपनी अलग एक शाखा बना दी। कण्वऋषि के इस घालमेल का वर्णन महाभारत में सारांश रूप से लिखा हुआ है। महाभारत में कण्व कुलपति का विस्तृत वर्णन है। शकुन्तला इन्हीं कण्व के आश्रम में रहती थी। वहाँ अनेक विद्यार्थी वेदाध्ययन करते थे। इस अध्ययन-अध्यापन में वेदों की शाखाओं का उलट-फेर होता था, एक शाखा में दूसरी और दूसरी में तीसरी का मिश्रण किया जाता था। महाभारत मीमांसा पृष्ठ २११ पर श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य लिखते हैं कि 'कण्व कुलपति के आश्रम में अनेक ऋषि ऋग्वेद के मन्त्र पढ़ते थे। व्रतस्थ ऋषि सामवेद का गान करते थे। साम और अथर्व के मन्त्रों का पदक्रमसहित उच्चारण सुनाई दे रहा था। वहाँ पर एक ही शाखा में अनेक शाखाओं का समाहार करनेवाले और अनेक शाखाओं की गुणविधियों का समवाय एक ही शाखा में करनेवाले ऋषियों

---

१. **'द्वे सहस्त्रे शतं न्यूनं मन्त्रे वाजसनेयके'**, अर्थात् मूल यजुर्वेद में एक सौ कम दो हज़ार मन्त्र हैं।

२. **सरस्वत्या सह यो कण्वो मिस्रदेशमुपाययौ। म्लेच्छान् संस्कृत्य चाभाष्य तदा दश सहस्त्रकान्।**

की धूम थी'[१]।

इस वर्णन से पाया जाता है कि कण्वऋषि के आश्रम में वेदों की शाखाओं का ज़ोरों से उलट-फेर होता था। कण्वऋषि से सम्बन्ध रखनेवाले महाभारत के जो श्लोक अभी पादटिप्पणी में दिये गये हैं उनमें '**अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः। संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते**'। यह श्लोक विशेष महत्त्व का है। इसका अर्थ यह है कि अथर्ववेद के जाननेवाले अनेक शाखाओं को एक में और एक को अनेक में मिलानेवाले, यज्ञकर्म के जाननेवाले और सामवेद के गानेवाले ऋषि पदक्रम के सहित संहिता को मिला रहे थे। यहाँ पूग शब्द बड़ा ही मनोरंजक है। अष्टाध्यायी ५।२।५२ और ५।३।११२ में पाणिनी ने '**बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्। पूगाञ्ज्योऽग्रामणीपूर्वात्**' लिखा है। अन्तिम सूत्र वृत्ति में भट्टोजिदीक्षित लिखते हैं कि '**नाना जातिया अनियतवृत्तयोर्थकामप्रधानाः संघाः पूगाः**', अर्थात् जिसमें अनियमित रीति से अनेक प्रकार की भिन्न-भिन्न वस्तुओं का संग्रह हो वह पूग कहलाता है। उपर्युक्त कण्व के आश्रम में भी अनियमित रीति से अनेक शाखाओं का घालमेल एक में होता था, इसीलिए उस घालमेल को पूग कहा गया है। पुराने युग में अनेक वर्ण के साधु जब एक जगह मिलते थे तब उनके संघ को पूग कहते थे। बौद्धभिक्षु भी प्रायः अनेक जाति के व्यक्तियों से अपना संघ बनाते थे, इसलिए वे भी पूग कहलाते थे, इसीलिए बरमा में बौद्धभिक्षु पूगी कहलाते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि कण्व के आश्रम में यजुर्वेद में पूग, अर्थात् घालमेल होता था। यही कारण है कि काण्वशाखा में उलटफेर और घालमेल विद्यमान है। इस घालमेल, उलटफेर और न्यूनाधिकता के ही कारण वैदिकों में उसका उतना आदर नहीं रहा, जितना माध्यन्दिनीय का है। लोग कहते हैं कि माध्यन्दिनीय और काण्वशाखा को लेकर भी ब्राह्मण बने हैं, परन्तु इससे काण्वशाखा को वह पदवी प्राप्त नहीं हो सकती जो माध्यन्दिनीय को प्राप्त है। ब्राह्मणकाल में तो सभी शाखाओं पर अलग-अलग ब्राह्मण थे, अतएव ब्राह्मणों के कारण शाखाओं की ज्येष्ठता और कनिष्ठता में अन्तर नहीं पड़ सकता। शाखाओं की ज्येष्ठता तो उनकी शुद्धता पर अवलम्बित है। काण्वशाखा की अपेक्षा माध्यन्दिनीय शाखा की शुद्धता सर्वमान्य है। यही कारण है कि माधवाचार्य, उव्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द आदि ने माध्यन्दिनीय शाखा पर ही भाष्य किया है। माध्यन्दिनीय शाखा की ज्येष्ठता का सबसे प्रबल और ऐतिहासिक प्रमाण यह है कि जितने शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण हैं सब माध्यन्दिनीय शाखा के ही हैं, काण्वशाखा के नहीं। इसलिए माध्यन्दिनीय शाखा ही आदि, मूल और अपौरुषेय है इसमें सन्देह नहीं। यही यजुर्वेद की शाखाओं का स्पष्टीकरण है।

सामवेद की किसी युग में एक हज़ार तक शाखाएँ हो गई थीं, परन्तु इस समय उनका कहीं पता नहीं है। चरणव्यूह की टीका में महीदास ने लिखा है कि '**आसां षोडशशाखानां मध्ये तिस्त्रः शाखा विद्यन्ते गुर्जरदेशे कौथुमी प्रसिद्धा, कर्नाटके जैमिनीया प्रसिद्धा, महाराष्ट्रे तु राणायनीया**', अर्थात् इसकी सोलह शाखाओं में अब केवल तीन ही शाखा विद्यमान हैं। इनमें कौथुमीशाखा गुजरात में, जैमिनीयशाखा कर्णाटक में और राणायनीशाखा महाराष्ट्र में प्रसिद्ध है, परन्तु स्वामी हरिप्रसाद वेदसर्वस्व के पृष्ठ १७४ पर कहते हैं कि 'सम्भव है महीदास के समय में गुर्जर आदि देशों में उक्त तीनों शाखाओं की प्रसिद्धि रही हो, परन्तु इस समय तो वे नहीं पाई

---

१. **ऋचो वह्वृचमुख्यैश्च प्रेर्यमाणाः पदक्रमैः। शुश्राव मनुजव्याघ्रो विततेष्विह कर्मसु॥ ३७॥ यज्ञविद्यांगविद्भिश्च ऋषिभिर्नियतव्रतैः॥ ३८॥ भारुण्डसामगीताभिरथर्वशिरसोद्गतैः॥ यतात्मभिः सुनियतैः शुशुभे स तदाश्रमः॥ ३९॥ अथर्ववेदप्रवराः पूगयज्ञियसामगाः॥ संहितामीरयन्ति स्म पदक्रमयुतां तु ते॥ ४०॥** —महाभारत [आदि० ७।३७-४०]

जातीं.....मुद्रणालयों में तो अब तक जितनी संहिता मुद्रित हुई हैं वे सब कौथुमीशाखा-संहिता ही हैं'। तात्पर्य यह कि अब केवल एक कौथुमीशाखा ही पाई जाती है और वह ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेद के साथ ही सनातन से पठन-पाठन में चली आ रही है। मद्रास और महाराष्ट्र देश में सामवेदी ब्राह्मण शायद ही कहीं ढूँढने से निकल आवें, किन्तु गुर्जरप्रान्त के उदीच्यों में सामवेदियों की अधिकता है। उदीच्य निस्सन्देह उत्तरीय ब्राह्मणों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और उत्तरीयों में सामवेदियों की संख्या बहुत अधिक है, इसलिए उत्तरभारत से सम्बन्ध रखनेवाली और गुर्जर तक फैली हुई कौथुमीशाखा ही आर्यशाखा है और आर्यशाखा ही मौलिक है, अतएव कौथुमीशाखा के आदिम, अर्थात् अपौरुषेय होने में कुछ भी सन्देह नहीं है।

किसी समय अथर्व की भी नौ शाखाएँ थीं, किन्तु इस समय पैप्पलाद और शौनक दो ही शाखाएँ मिलती हैं। इन दोनों शाखाओं में देखना है कि कौन असल और कौन नक़ल है। इस समय अथर्व से सम्बन्ध रखनेवाला केवल गोपथब्राह्मण ही मिलता है। गोपथब्राह्मण में अथर्वसंहिता के बीस काण्ड लिखे हैं, किन्तु पैप्पलादसंहिता में उन्नीस ही काण्ड हैं। इससे ज्ञात होता है कि यह शाखा अपने ब्राह्मण के अनुसार नहीं है। स्वामी हरिप्रसाद कहते हैं कि अथर्ववेद के केवल दश ही काण्ड हैं, बीस नहीं। वेदसर्वस्व पृष्ठ १०८ पर आप कहते हैं कि 'अथर्वसंहिता का आरम्भ **'स्तुवानमग्ने'** (अथर्व १।७।१) मन्त्र से और उपसंहार **'वशां देवा'** (अथर्व १०।१०।३४) मन्त्र पर होता है, शेष दश काण्ड अङ्गिरोवेद परिशिष्ट हैं', परन्तु हम अथर्ववेद के दशवें काण्ड ही में देखते हैं कि उसमें 'यस्मादृचो अपातक्षन्.......अथर्वाङ्गिरसो मुखम्' लिखा हुआ है। यह अथर्ववेद के दशवें काण्ड के सातवें सूक्त का बीसवाँ मन्त्र है। इसके आगे दशवें काण्ड में अभी साढ़े तीन सूक्त और हैं जिनमें २२९ मन्त्र हैं। इतने मन्त्रों के पहले ही और दशवें काण्ड में ही **'अथर्वाङ्गिरसो मुखम्'** कह दिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि अथर्व को अङ्गिरा का साझा स्वीकार है। जब दशवें काण्ड में ही स्वयं अथर्ववेद ही अंगिरोवेद को स्वीकार कर रहा है तब आपको, गोपथब्राह्मण को अथवा और किसी को क्या अधिकार है कि वह अथर्व को बीस काण्ड के स्थान में दश ही काण्ड का कहे? अथर्ववेद बीस काण्ड का सर्वमान्य है, इसलिए उसके प्रधान अङ्ग को पृथक् नहीं किया जा सकता, किन्तु हम देखते हैं कि पैप्पलादसंहिता में गोपथब्राह्मण के विरुद्ध बीस काण्ड के स्थान में उन्नीस ही काण्ड हैं, इसलिए यह शाखा आर्यशाखा नहीं है।

हमारा यह अनुमान और भी दृढ़ हो जाता है जब हम देखते हैं कि पैप्पलादसंहिता का सम्बन्ध आर्यों से विरोध करनेवाले पारसियों से रह चुका है। हम अथर्ववेद का वेदत्व सिद्ध करते हुए लिख आये हैं कि पारसी धर्म अथर्ववेद से ही निकला है। इस बात को जब और अधिक बारीकी से देखते हैं तब ज्ञात होता है कि पारसीमत अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा से ही निकला है। पैप्पलाद संहिता का आरम्भ **'शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये'** मन्त्र से होता है। गोपथब्राह्मण १।१९ में लिखा है कि **'शन्नो देवीरभिष्टय इत्येवमादि कृत्वा अथर्ववेदमधीयते'** अर्थात् शन्नो देवी मन्त्र से आरम्भ करके अथर्ववेद पढ़ना चाहिए। यही बात हम पारसीमत की प्राचीनतम पुस्तक में भी पाते हैं। वहाँ भी अथर्ववेद का संङ्केत शन्नो देवी मन्त्र से ही किया गया है। होमयश्त १।२४ में लिखा है कि—

हओमो तम् चित् यिम् कॅरॅसानीम् अप-क्षथ्रॅम्
निषाधयत्, यो रओस्त क्षथ्रो-काम्य यो दवत्
नोइत् मे अपाँम् आथ्रव अइव्रिशतिश् वॅरॅध्ये
दञ्हव चरात्; हो वीस्पे वॅरॅधिनाँम् वनात्,
नी वीस्पे वॅरॅधिनाँम् जनात्। —होमयश्त १।२४

अर्थात् जो केरेसेनी बादशाही के कारण बड़ा ही अभिमानी हो गया था और जो बोलता था कि मेरे राज्य में समस्त वृद्धि का नाश करनेवाले अथर्वा के '**अइविशतिश अपाम**' का फैलाव न फैले उसको होम ने बादशाही से दूर करके नीचे बैठा दिया[१]।

इस श्लोक में आये हुए '**अइविशतिश अपाम्**' पद अथर्वसंहिता का '**अभिष्टय आपो**' ही है[२], परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि '**शन्नो देवीरभिष्टय आपो**' मन्त्र से, जैसाकि हम गोपथब्राह्मण के प्रमाण से लिख चुके हैं, पैप्पलादसंहिता ही का आरम्भ होता है, शौनकसंहिता का नहीं। इसलिए पैप्पलादसंहिता का सम्बन्ध विदेशियों से—आर्यविरोधियों से रहा है, इसमें सन्देह करने की आवश्यकता नहीं है। वर्त्तमान पैप्पलादसंहिता में गोपथ के विरुद्ध बीस काण्ड के स्थान में उन्नीस ही काण्ड रह गये हैं। इसके फेरफार में ईरान देश के पारसियों का हाथ रहा है, इसलिए उसका अब शुद्ध रूप नहीं रह गया। पं० जयदेव विद्यालङ्कार अपने अथर्ववेदभाष्य की भूमिका में कहते हैं कि 'पैप्लादसंहिता के बहुत-से स्थल इतने विकृत और व्याकरण के नियमों के विपरीत हैं कि उनको मूलवेद मानना असम्भव ही है'। इसलिए पैप्पलाद शाखा मूलसंहिता का स्थान नहीं प्राप्त कर सकती। मूल आर्य और अपौरुषेय संहिता तो शौनकसंहिता ही है। वही ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद के साथ सनातन से पठन-पाठन में चली आ रही है, उसी पर भाष्यकारों ने भाष्य किया है और उसी में वेद के सब लक्षण पाये जाते हैं, इसलिए शौनकसंहिता ही सनातन ईश्वरप्रदत्त है, इसमें सन्देह नहीं।

इन चारों ईश्वरप्रदत्त शुद्ध संहिताओं में न तो एक अक्षर की कमी हुई है और न अधिकता। इनमें शाखाप्रचारकों की ओर से जो परिवर्तन हुआ है वह इतना ही है कि प्रकरणों की सुविधा के लिए आदिम शाखाप्रचारकों ने मण्डल, अष्टक, काण्ड, अध्याय और सूक्तों की रचना करके मन्त्रों का ग्रन्थन कर दिया है और यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए इस वेद के मन्त्र उस वेद में, इस अध्याय या सूक्त के मन्त्र उस अध्याय या सूक्त में तथा ऋग्वेद के कुछ सूक्तों को छोड़कर शेष समस्त काण्डों, आर्चिकों, अध्यायों और सूक्तों में मन्त्रों को आगे-पीछे रख दिया है। बस, इसके सिवा उन्होंने और कुछ नहीं किया। यह सब-कुछ भी उन्होंने अपनी मर्ज़ी से केवल सुविधा के लिए ही किया है, इसलिए यह शाखासम्पादन पौरुषेय ही है, किन्तु इस सम्पादन से न तो किसी मन्त्र में एक मात्रा की न्यूनता हुई है न अधिकता, प्रत्युत समस्त मन्त्रसमूह आदिम काल से लेकर आजपर्यन्त बिना किसी भूल के ज्यों-का-त्यों चारों संहिताओं में सुरक्षित है।

इस प्रकार हमने यहाँ तक चारों वेदों के शाखाप्रकरण की आलोचना करके देखा तो ज्ञात हुआ कि वेद के किसी भी भाग, अंश या अक्षर की कमी नहीं हुई[३]। हाँ, उनमें फेरफार हुआ है—मन्त्रों की उलट-पुलट हुई है, इसीलिए महाभाष्यकार कहते हैं कि वेदों के छन्द और अर्थ नित्य

---

१. Home deposed keresani from his sovereignty whose lust of power had so increased that he said; no Atharva's (fire priest's) repetition of *Apam Aivishtish* (approach of the water) should be tolerated in my empire. —*Haugh's Essays,* p. 182.

२. These words (Apam aivishtish) are evidently a technical name for the Atharvaveda Sañhita, which commences in some manuscripts with the mantra '*Shanno devi rabhishtaya apo bhavantu pitaye*' in which both words occur. —*Ibid,* p.182

३. These hymns, however, were not committed to writing on papyrus, palm-leaves or baked clay-bricks, but to human memory carefully cultivated for the purpose, and were handed down from generation to generation without the loss of even a single word or syllable.
—*Rigvedic India,* p. 5, by Abinashchandra Dass

हैं, परन्तु उनमें जो वर्णों की आनुपूर्वीयता है वह शाखाभेद के कारण अनित्य है[१], किन्तु इस उलट-पुलट से वेदों में कुछ भी कमी नहीं आई। वे ज्यों-के-त्यों उतने ही अब भी प्रस्तुत हैं, जितने सृष्टि की आदि में थे, परन्तु स्वामी हरिप्रसाद ने लिखा है कि वर्त्तमान संहिताओं में बहुत-सा भाग प्रक्षिप्त है और बहुत-सा भाग पुनरुक्त है, इसलिए हम यहाँ इन दोनों विषयों की भी अलोचना करके देखते हैं कि इस आरोप में कहाँ तक सत्यांश है।

प्रक्षेप और पुनरुक्ति

जहाँ तक हमें ज्ञात है अब तक एक भी प्रमाण इस प्रकार का नहीं उपस्थित किया गया कि अमुक स्थल प्रक्षिप्त है और इसे आज तक कोई नहीं जानता था। जिन स्थानों को प्रक्षिप्त बतलाया जाता है वे बहुत दिन से—ब्राह्मणकाल से सबको ज्ञात हैं। वे प्रक्षिप्त नहीं हैं, किन्तु एक प्रकार के परिशिष्ट हैं जो लेखकों और प्रेसवालों की असावधानी से मूल में घुसकर मूल जैसे प्रतीत होते हैं। बालखिल्य सूक्त ऋग्वेद में, खिल अर्थात् ब्राह्मणभाग यजुर्वेद में, आरण्यक और महानाम्नी सूक्त सामवेद में और कुन्तापसूक्त अथर्ववेद में मिले हुए हैं। इनको सब लोग जानते हैं और सबके विषय में विस्तृत प्रमाण उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त कुछ स्थल यजुर्वेद और अथर्ववेद में और हैं जिनकी सूचना उन्हीं वाक्यों से हो जाती है कि वे प्रक्षिप्त हैं। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शाखाओं का गड़बड़ सबको ज्ञात है और शुद्ध वैदिक शाखाएँ उपलब्ध हैं, उसी प्रकार प्रक्षिप्त भाग का भी ज्ञान सबको है और उसको हटाकर शुद्धसंहिताओं के रूप को सब जानते हैं। ऋग्वेद के बालखिल्य सूक्तों के लिए ऐतरेयब्रा० २८।८ में लिखा है कि '**वज्रेण बालखिल्याभिर्वाचः कूटेन**'। इसके भाष्य में सायणाचार्य कहते हैं कि '**बालखिल्य-नामकाः केचन महर्षयस्तेषां सम्बन्धीन्यष्टौ सूक्तानि विद्यन्ते तानि बालखिल्यनामके ग्रन्थे समाम्नायन्ते**', अर्थात् बालखिल्य नाम के कोई महर्षि थे। उनसे सम्बन्ध रखनेवाले आठ सूक्त हैं। वे खिल्य नाम के ग्रन्थ में लिखे गये हैं। इस वर्णन से ज्ञात हुआ कि बालखिल्य सूक्तों की अलग पुस्तक थी। वही पुस्तक ऋग्वेद के परिशिष्ट में आ गई है और अब तक अथ बालखिल्य और इति बालखिल्य के साथ ऋग्वेद में ही सम्मिलित है। इसके अतिरिक्त अनुवाकानुक्रमणी में स्पष्ट लिखा हुआ है कि '**सहस्त्रमेतत्सूक्तानां निश्चितं खैलिकैर्विना**', अर्थात् खिल भाग को छोड़कर ऋग्वेद के एक सहस्र सूक्त निश्चित हैं। यहाँ बालखिल्यों को ऋग्वेद की गिन्ती में नहीं गिना गया। इस प्रकार ऋग्वेद का खिल सबको ज्ञात है।

इसी प्रकार यजुर्वेद का मिश्रण भी प्रसिद्ध है। सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि '**माध्यन्दिनीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नाये सर्वे सखिले सशुक्रिय ऋषिदैवतछन्दाᳪस्यानुक्रमिष्यामः**', अर्थात् ऋचा, खिल और शुक्रिय मन्त्रों के सहित माध्यन्दिनीय यजुर्वेद के ऋषि, देवता और छन्दों की अनुक्रमणी बनाता हूँ। यहाँ खिल भाग का प्रत्यक्ष सङ्केत है। इसके आगे अनुक्रमणी में ही लिखा हुआ है कि '**देवा यज्ञं ब्राह्मणानुवाकोविंशतिरनुष्टभः सोमसम्पत्**', अर्थात् यजुर्वेद १९।१२ के '**देवा यज्ञमतन्वत**' मन्त्र से लेकर बीस अनुष्टुप्छन्द ब्राह्मणभाग हैं और '**अश्वस्तूपरो ब्राह्मणाध्यायः शादंदद्भिस्त्वचान्तश्च**', अर्थात् यजुर्वेद का चौबीसवाँ अध्याय सबका सब और २५वें अध्याय के आरम्भ के शादं से लेकर त्वचा तक नौ मन्त्र ब्राह्मण हैं और '**ब्राह्मणे ब्राह्मणमिति द्वे काण्डिके तपसे अनुवाकश्च ब्राह्मणम्**', अर्थात् यजुर्वेद अध्याय ३० के '**ब्राह्मणे ब्राह्मणम्**' और शेष सारा अध्याय ब्राह्मण है, परन्तु हम देखते हैं कि वाजसनेयी संहिता

१. ननु चोक्तं नहि छन्दांसि क्रियन्ते नित्यानि छन्दांसीति। यद्यप्यर्थो नित्यः यत्त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद्भवति काठकं, कालापकं, मौदकं, पैप्लादकमिति। —महाभाष्य

की मन्त्रसंख्या १९०० ही है जिसमें शुक्रिय के भी मन्त्र मिले हुए हैं क्योंकि लिखा है कि—

द्वे सहस्रे शतं न्यूनं मन्त्रे वाजसेनयके। इत्युक्तं परिसंख्यातमेतत्सर्वं सशुक्रियम्।

अर्थात् सौ कम दो हज़ार मन्त्र वाजसनेय के हैं और इसी में शुक्रिय के भी सम्मिलित हैं। जब यह वाजसनेयी संहिता है तब इसमें सब मन्त्र वाजसनेय के ही होने चाहिएँ, शुक्रिय के नहीं किन्तु हम देखते हैं कि वर्त्तमान वाजसनेयी संहिता की मन्त्रसंख्या १९७५ है, इससे स्पष्ट हो जाता है कि शुक्रिय के मन्त्र तो १९०० में ही घुसे हैं और शेष ७५ मन्त्र कहीं बाहर से लाकर जोड़े गये हैं। हमको ब्राह्मणभाग के प्रक्षेप का पता मिल रहा है इससे ज्ञात होता है कि यजुर्वेद का प्रक्षेप भी सबपर प्रकट है और प्रसिद्ध है।

इसी तरह सामवेद का भी खिलभाग, अर्थात् परिशिष्ट भाग प्रसिद्ध है। सभी जानते हैं कि सामवेद की महानाम्नी ऋचाएँ और आरण्यकभाग परिशिष्ट हैं। महानाम्नी ऋचाओं के विषय में ऐतरेयब्राह्मण २२। २ में लिखा है कि '**ता ऊर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत। यदूर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत तत् सिमा अभवन् तत्सिमानां सिमात्वम्**', अर्थात् इन महानाम्नी ऋचाओं को प्रजापति ने वेद की सीमा के बाहर बनाया है। बाहर होने के कारण ही इनका नाम सिमा है। यहाँ महानाम्नी ऋचाएँ स्पष्ट रीति से ऋग्वेद की सीमा के बाहर बतलाई गई हैं। ये अब तक पूर्वार्चिक के अन्त में लिखी जाती हैं। इसी प्रकार आरण्यकभाग भी परिशिष्ट ही है। यह बात सामवेदसंहिता के देखनेमात्र से स्पष्ट हो जाती है। सामवेदसंहिता के दो विभाग हैं। एक का नाम पूर्वार्चिक है और दूसरे का उत्तरार्चिक। पूर्वार्चिक में छह प्रपाठक हैं और प्रत्येक प्रपाठक के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो-दो विभाग हैं। यह क्रम पाँच प्रपाठकों में एक ही समान है, परन्तु छठे प्रपाठक में जहाँ यह आरण्यकखण्ड जुड़ा हुआ है उसमें तीन विभाग छपे हुए हैं। यह तीसरा विभाग ही आरण्यक है। इसको सायणाचार्य ने भी परिशिष्ट ही कहा है और क्रम के देखने से भी यह परिशिष्ट ही ज्ञात होता है, इसलिए इसके खिल होने में सन्देह नहीं है।

जिस प्रकार इन तीनों वेदों का खैलिक भाग प्रसिद्ध है उसी प्रकार अथर्ववेद का कुन्तापसूक्त भी खिल के ही नाम से प्रसिद्ध है। अजमेर की छपी हुई संहिता में जिस प्रकार ऋग्वेद का खिलभाग, '**अथ बालखिल्य**' और '**इति बालखिल्य**' लिखकर छापा गया है, उसी प्रकार अजमेर की छपी हुई अथर्वसंहिता के काण्ड २०, सूक्त १२६ के आगे '**अथ कुन्तापसूक्तानि**' लिखकर छापा गया है और सूक्त १३७ के पहले '**इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि**' भी छपा हुआ है, जिससे प्रकट हो जाता है कि इतना भाग परिशिष्ट ही है। स्वामी हरिप्रसाद वेदसर्वस्व पृष्ठ ९७ पर लिखते हैं कि 'जैसे ऋग्वेदसंहिता में बालखिल्य सूक्त मिलाये जा रहे हैं वैसे अथर्वसंहिता के अन्त में आजकल कुन्तापसूक्त मिलाये जा रहे हैं'। इस विवरण से पाया जाता है कि कुन्तापसूक्त भी परिशिष्ट ही हैं और शुरू से ही सबको ज्ञात हैं।

इन प्रसिद्ध और सर्वमान्य परिशिष्टों के अतिरिक्त भी चारों संहिताओं में कहीं-कहीं प्रक्षिप्त भाग है जो उसी स्थल की सूचना से स्पष्ट हो जाता है। उदाहरणार्थ यजुर्वेद का निम्न मन्त्र देखने योग्य है—

न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येषा मा मा हिꣳसीदित्येषा यस्मान्नजात इत्येषाः। —यजुः० ३२।३

इस मन्त्र में आधा भाग तो मन्त्र का है, परन्तु आधा भाग तीन भिन्न-भिन्न स्थलों में आये हुए मन्त्रों की प्रतीकों का बतलानेवाला बाह्य वाक्य है। '**हिरण्यगर्भः**' यजुः० १३।४ में, '**मा मा हिंसीत्**' यजुर्वेद १२।१०२ में और '**यस्मान्नजातः**' यजुर्वेद ८।३६ में आये हुए मन्त्रों के

आरम्भिक शब्द हैं। इसलिए मूल मन्त्रों की प्रतिकों का बतानेवाला संस्कृतवाक्य है, क्योंकि सर्वानुक्रमणी ३।१५ में लिखा है कि **'एताः प्रतीकचोदिता ब्रह्मयज्ञे ध्येयाः'**, अर्थात् यह प्रतीकवाला मन्त्र ब्रह्मयज्ञ का है। प्रतीक कहने से ही यह बाहर का सूचित होता है। इसी प्रकार और भी बहुत-से छोटे-छोटे टुकड़े अनेक मन्त्रों में मिले हैं, जिनकी सूचना उव्वट और महीधर आदि ने यजु के नाम से कर दी है। इसका उत्तम नमूना यजु १०।२० के भाष्य में दिखलाई पड़ता है, इसी प्रकार की बाह्य संस्कृत का एक नमूना अथर्ववेद में भी देखा जाता है। अथर्वकाण्ड १९ सूक्त २२ और २३ में लिखा है कि—

अङ्गिरसानामाद्यैः पञ्चानुवाकैः स्वाहा।
आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा।

अर्थात् अङ्गिरस वेद के पाँच अनुवाकों से स्वाहा और अथर्ववेद की चार ऋचाओं से स्वाहा।

इन वाक्यों से प्रतीत होता है कि ये वाक्य कहीं बाहर के हैं। ऐसे वाक्य स्वयं प्रक्षिप्त होने की सूचना दे रहे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मूल वैदिक संहिताओं में जो कुछ परिशिष्ट, खैलिक और प्रक्षिप्त भाग है वह आदिमकाल से आज तक सबको ज्ञात है। ऐसा नहीं है कि प्रक्षिप्त भाग वेदपाठियों से छिपा हो। यदि छिपा होता तो महाभारत में वेदों को अशुद्ध लिखकर बेचनेवाले वेददूषकों का वर्णन न होता[1]। अशुद्ध लिखनेवाले मूर्ख लेखकों के कारण ही गोपथब्राह्मण १।२९ में आज तक **'इषे त्वोर्जे त्वा'** के स्थान में **'इखे त्वोर्जे त्वा'** छप रहा है। कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शाखाओं के विस्तार से मूलसंहिताओं की एक मात्रा का भी लोप नहीं हुआ उसी प्रकार समस्त मूलसंहिताओं में एक मात्रा का भी बाहर से प्रक्षेप नहीं हुआ और जिस प्रकार अनार्यशाखाओं की न्यूनाधिकता सबको प्रकट है, उसी प्रकार आर्यशाखाओं का प्रक्षेप भी सबको प्रकट है, अर्थात् आदिसृष्टि से लेकर आज तक चारों मूलवेद विना किसी न्यूनाधिकता के ज्यों-के-त्यों प्राप्त हैं। गत पृष्ठ में हम लिख आये हैं कि शाकल ऋग्वेदसंहिता जो इस समय प्राप्त है वह आदिमकालीन है। उसके साथ रहनेवाली एक सैट में आबद्ध यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की माध्यन्दिनीय, कौथुमी और शौनक आदि आर्यशाखाएँ भी आदिमकालीन ही हैं और यही ईश्वरप्रदत्त, अपौरुषेय हैं।

अब रही बात पुनरुक्ति की। पुनरुक्ति दो प्रकार की है—एक भाषा की दूसरी अर्थ की। बार-बार कहे हुए मन्त्रों को भाषापुनरुक्ति और बार-बार एक ही भाव के कहे हुए मन्त्रों को अर्थपुनरुक्ति कहते हैं। भाषापुनरुक्ति दो प्रकार की है—एक में ज्यों-के-त्यों पूरे मन्त्र बार-बार आते हैं और दूसरी में जो मन्त्र आते हैं उनमें कहीं-कहीं पाठभेद होता है। जो मन्त्र पूरे पुनरुक्त होते हैं उनके पुनरुक्त होने के दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि प्रायः मन्त्रों के दो-दो, तीन-तीन भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं, इसलिए यद्यपि देखने में वही मन्त्र बार-बार आया हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वह अपने निराले अर्थ के साथ ही आता है। इसका उत्तम नमूना चत्वारि शृंगा० और द्वा सुपर्णा० आदि मन्त्र हैं। चत्वारिशृंङ्गावाले मन्त्रों को निरुक्तकारों ने यज्ञप्रकरण में और वैयाकरणों ने व्याकरणप्रकरण में लगाया है। दोनों प्रकार का अर्थ करनेवाले कोई साधारण मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत यास्क और पतञ्जलि-जैसे ऋषि हैं, जिनकी प्रामाणिकता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता। इसी प्रकार द्वा सुपर्णावाले मन्त्र का कोई विद्वान् जीव, ब्रह्म और प्रकृति अर्थ करते हैं और कोई-कोई किरण, जल और सूर्य का अर्थ सूचित करते हैं[2]। इस प्रकार के

---

१. वेदविक्रयणश्चैव वेदानां चैव दूषकाः। वेदनां लेखकाश्चैव ते वै निरयगामिनः। —महा० अनु० ६३।२८

२. निघण्टु में सुपर्ण को किरण और पिप्पल को जल भी कहा गया है तथा निरुक्त में सूर्य को वृक्ष भी कहा है।

नमूने निरुक्त में दिये हुए हैं। निरुक्तकार अनेक मन्त्रों का आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—तीन प्रकार का अर्थ करते हैं, इसलिए वेदों में जो अनेक मन्त्र अनेक बार आते हैं उसका कारण प्राय: अर्थ की भिन्नता ही है। इस प्रकार की पुनरुक्ति आदिमकालीन ही है, परन्तु पुनरुक्ति का दूसरा कारण विषयप्रतिपादन और यज्ञों की सुविधा है। इस प्रकार की पुनरुक्ति के तीन भेद हैं। पहला भेद मन्त्रों की पुनरुक्ति का है। इसमें एक ही मन्त्र भिन्न-भिन्न स्थानों में ज्यों-का-त्यों आता है। दूसरा भेद सूक्तपुनरुक्ति का है। इसमें एक वेद के मन्त्र और सूक्त ज्यों-के-त्यों दूसरे वेद में आते हैं। ये पुनरुक्तियाँ आदिम शाखाप्रवर्तकों की की हुई हैं और याज्ञिक विषयों में सुविधा के लिए की गई हैं।

यह मानी हुई बात है कि संसार के समस्त विषय एक-दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं। गणित और रसायनशास्त्र यद्यपि देखने में परस्पर कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते, परन्तु रसायनशास्त्री जानता है कि उसका काम बिना गणित के नहीं चल सकता। भवन और गणित का भी कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु बिना गणित के उसका भी काम नहीं चलता। कहने का तात्पर्य यह कि ऐसी एक भी विद्या नहीं है जिसमें गणित की आवश्यकता न होती हो। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य का विषय है। मनुष्यजीवन की एक भी सार्थकता सिद्ध नहीं हो सकती जब तक ब्रह्मचर्य का सम्मिश्रण न हो। जो दशा इन विषयों की है वही दशा राजनीति की भी है। शासन के बिना भी मनुष्यसमाज का काम नहीं चल सकता। इन सबसे बढ़कर आहार है। उसके बिना तो कुछ हो ही नहीं सकता। कहने का तात्पर्य यह कि संसार का प्रत्येक पदार्थ और संसार का प्रत्येक ज्ञान एक-दूसरे से इस प्रकार जुड़ा हुआ है कि बिना एक के दूसरे का काम चल ही नहीं सकता। आप किसी भी विषय का वर्णन करें, उससे सम्बन्ध रखनेवाले कई विषयों का दिग्दर्शन आपसे-आप ही हो जाएगा। आप जितना ही अपने विषय को समझाने का प्रयत्न करेंगे, आपके व्याख्यान का रूप उतना ही अधिक विस्तृत होता जाएगा और अनेक विषयों का दिग्दर्शन कराना पड़ेगा। जो दशा एक अच्छे विषयप्रतिपादक की हो सकती है वही दशा आदिम शाखाप्रवर्तकों की हुई है। उन्होंने याज्ञिक विषयों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए जिस-जिस विषय के जो-जो मन्त्र और सूक्त जिस-जिस वेद के जिस-जिस स्थल में रखना उचित समझा है उस-उस विषय के वे-वे मन्त्र और सूक्त उस-उस वेद के उस-उस स्थल में रक्खे हैं। जिस प्रकार पाणिनि मुनि ने अष्टाध्यायी में **'बहुलं छन्दसि'** सूत्र को आवश्यकतानुसार अनेक स्थानों में रक्खा है, उसी प्रकार वेदों में भी आवश्यकतानुसार ही पुनरुक्तियाँ रक्खी गई हैं।

इस बात को सन्ध्या के नमूने से अच्छी प्रकार समझाया जा सकता है। सन्ध्या में तीन बार आचमन करने की आवश्कता होती है। इसलिए आचमन करते समय पढ़ा जानेवाला मन्त्र सन्ध्या जैसी छोटी पुस्तक में तीन बार आया है। पुस्तक पढ़ते समय तो वह मन्त्र पुनरुक्त प्रतीत होता है, परन्तु सन्ध्या करते समय नहीं। इसी प्रकार जिन लोगों ने वेदों का केवल पाठ ही किया है उनकी दृष्टि में तो वेदों में पुनरुक्तियाँ दिखती हैं, परन्तु जो लोग वेदों को शिक्षा-पुस्तक समझते हैं, जिनकी दृष्टि में वेद केवल पाठ करने की वस्तु नहीं प्रत्युत एक समाज और राष्ट्र चलाने का क़ानून है, वे जानते हैं कि वैदिक विद्याएँ, वैदिक समाज और वैदिक राष्ट्र यज्ञों में ओत-प्रोत हैं, इसलिए उनमें प्रकरणवश एक बात—एक विषय अनेक स्थलों में आना ही चाहिए। वेदों के उक्त तीनों पुनरुक्त विभाग इसी प्रकार की आवश्यकताओं के लिए आये हैं। इस बात को यजुर्वेद के भाष्य में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कई स्थानों पर स्वीकार किया है। यजुर्वेद २३/२१ के भाष्य की टिप्पणी में आप कहते हैं कि **'तं प्रत्नथा, अयं वेन:'** यह दो

प्रतीकें, पूर्व कहे अध्याय ७ मन्त्र १२-१६ की, यहाँ किसी कर्मकाण्डविशेष में बोलने के अर्थ रक्खी हैं। कहने का तात्पर्य यह कि वेदों में जो मन्त्र और सूक्त एक वेद में या एक से दूसरे में पुनरुक्त हुए हैं वे प्रतिपादित विषय को स्पष्ट करने—यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए पुनरुक्त हुए हैं, व्यर्थ नहीं। वेदसर्वस्व पृष्ठ १५१ पर स्वामी हरिप्रसाद भी कहते हैं कि 'इसमें सन्देह नहीं कि ऋचा मन्त्रों के उद्धृत करने से यज्ञकर्म करनेवालों को बहुत कुछ सुविधा हुई है'। यज्ञों में सुविधा उत्पन्न करने के लिए ही तो वेदों का प्रादुर्भाव हुआ है, परन्तु जब से यज्ञयाग मुचण्डों के द्वारा होहल्ला के अखाड़े बन गये तब से वेदों का सङ्कलन अस्त-व्यस्त भासित होने लगा। कहने का तात्पर्य यह कि वेदों में इस प्रकार की पुनरुक्ति अनर्गल नहीं है, किन्तु जान-बूझकर काम के लिए की गई है।

वेदों में मन्त्रांशों का पाठभेद भी पुनरुक्त कहा जाता है। एक ही प्रकार के मन्त्रों को जिनके एक-दो शब्दों में पाठभेद दिखलाई पड़ता है उनको भी लोग पुनरुक्त कहते हैं, किन्तु वे मन्त्र अपना विशेष अर्थ रखने के कारण पुनरुक्त नहीं कहला सकते। यह सभी जानते हैं कि सृष्टि उत्पत्ति का विषय पुरुषसूक्त में बहुत ही अच्छी प्रकार समझाया गया है, इसीलिए वह प्रकरणवश आवश्यकतानुसार चारों वेदों में आया है। उसके कई मन्त्रों में पाठभेद है। नमूने के लिए हम यहाँ दो पाठभेद उपस्थित करते हैं—

१. **सहस्रशीर्षा पुरुषः।** —ऋग्वेद
सहस्रबाहुः पुरुषः। —अथर्ववेद
२. **ऊरू तदस्य यद्वैश्यः।** —यजुर्वेद
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः। —अथर्ववेद

जहाँ ऋग्वेद में शीर्ष शब्द है वहाँ अथर्ववेद में बाहु शब्द है और जहाँ यजुर्वेद में ऊरू शब्द है वहाँ अथर्ववेद में मध्यम् शब्द है। पहला ऋग्वेद और अथर्ववेद का पाठभेद है। ऋग्वेद एक पुरुष का वर्णन करता है और कहता है कि '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**', अर्थात् एक पुरुष है जिसके हज़ारों शिर हैं, हज़ारों आँखें हैं और हज़ारों पैर हैं। इसमें शिर से पैर तक सारे शरीर का ढाँचा बतलाया है और आँखों का भी वर्णन कर दिया है। अब आप इस प्रकार का एक पुतला बनावें जिसमें शिर हो, आँखें हों और पैर भी लगे हों और ध्यान से देखें कि इसमें किस बात की कमी है। आपको ज्ञात हो जाएगा कि इसके हाथ नहीं हैं। अथर्ववेद का मन्त्र इसी कमी को पूरा करता है। अथर्ववेद कहता है कि '**सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**', अर्थात् एक पुरुष है जिसके हज़ारों हाथ हैं, हज़ारों आँखें हैं और हज़ारों पैर हैं। आप इसका भी एक पुतला बनावें और देखें कि इस पुतले के पास उस पुतले की एक वस्तु नहीं है और एक वस्तु अधिक है—शिर नहीं है और हाथ हैं, अर्थात् ज्ञानप्रधान शिर है, परन्तु कर्मप्रधान हाथ नहीं हैं, अतः जब तक दोनों एक में न मिलें पूर्णता नहीं हो सकती, क्योंकि अकेला ऋग्वेद बिना अथर्व के—अकेला ज्ञान बिना कर्म के अपूर्ण है। इस साहित्यिक छायावाद काव्य के द्वारा वेदों ने कैसी अच्छी शिक्षा दी है। यदि इन दोनों मन्त्रों में से एक भी पुनरुक्त मान लिया जाए तो जो कमी रहेगी, उसकी पूर्ति कैसे हो सकेगी? इसलिए इनमें से कोई भी पुनरुक्त नहीं है, किन्तु परमात्मा की ओर से पाठभेद करके किन्हीं विशेषभावों को सूचित कराने के लिए दोनों मन्त्रों का प्रकाश किया गया है।

इसी प्रकार का एक गम्भीर सामाजिक और वैज्ञानिक प्रकाश दूसरे नम्बर के पाठभेद में डाला गया है। यजुर्वेद में है कि '**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः**', अर्थात् उसकी ऊरू वैश्य है। वैश्य दो

काम करता है—एक तो इधर–उधर–आता जाता है, दूसरे पदार्थों को यथायोग्य आवश्यकतानुसार पहुँचाता है। यदि वैश्य केवल इधर–उधर दौड़ता ही है और पदार्थों को साथ नहीं ले–जाता तो उसका दौड़ना व्यर्थ है। ऊपर जो यजुर्वेद का पाठ दिया गया है उसमें वैश्य के लिए ऊरू पद आया है। ऊरू शब्द जाँघों का वाचक है। जाँघों के ही बल से मनुष्य इधर–का–उधर जाता है, परन्तु आवश्यकतानुसार कुछ लेकर ही इधर–उधर जाता है यह बात केवल जाँघों से सूचित नहीं होती, क्योंकि जाँघों में यथायोग्य ले–जानेवाले भाव का दिखानेवाला कोई पदार्थ नहीं है। दूसरी कठिनाई इस उपमा में यह है कि शूद्र के लिए भी **'पद्भ्याꣳ शूद्रो अजायत्'** कहा गया है। जंघा और पाद एक ही अंग के दो भाग हैं, परन्तु वैश्य और शूद्र एक ही वर्ण के दो भाग नहीं हैं, इसलिए वैश्यवर्ण का पूरा बोध 'ऊरू' पद से नहीं होता। इसी कमी को पूरा करने के लिए अथर्ववेद में **'मध्यं तदस्य यद्वैश्यः'** कहा गया है। शरीर का मध्य पेट है। पेट में आवश्यकतानुसार यथायोग्य पदार्थ पहुँचाने की योग्यता है। वही शरीर में यथायोग्य पोषण पहुँचाता है, इसलिए यजुर्वेद ऊरू के द्वारा वैश्य का गमनागमन बतलाता है और अथर्ववेद मध्यं शब्द के द्वारा आवश्यकतानुसार पदार्थों को पहुँचाना बतलाता है। इसके साथ–ही–साथ मध्यभाग कहकर शूद्रवर्ण से पृथक् भी करता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि बिना जाँघों की सहायता के भी पदार्थ पहुँचाये नहीं जा सकते। जाँघें पैरों से मिली हुई हैं, इसलिए बिना शूद्रों की सहायता के, बिना मज़दूर दल को साथ लिये, व्यापार भी नहीं हो सकता। जब तक मनुष्य यजुर्वेद और अथर्ववेद की संयुक्त शिक्षा का पालन न करे—जब तक वैश्यवर्ण पेट से लेकर जाँघों तक के गुणों को धारण न करे तब तक कल्याण नहीं हो सकता। इस प्रकार इन दोनों उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट हो गया कि जिन मन्त्रों में पाठभेद पाया जाता है उस भेद का कारण अर्थ की विशेषता ही है, क्योंकि प्रत्येक शब्द अपना कुछ अलग अर्थ रखता है और पाठभेद में शब्दभेद होता ही है, इसलिए पाठभेदवाले मन्त्र पुनरुक्त नहीं हैं, प्रत्युत वे विशेष आवश्यक उपदेश के लिए ही कहे गये हैं।

यहाँ तक भाषा पुनरुक्ति का वर्णन हुआ, अब अर्थपुनरुक्ति पर विचार करते हैं। अर्थपुनरुक्ति का तात्पर्य इतना ही है कि यदि शब्द दूसरे हों, अर्थात् मन्त्र दूसरे हों और उनका अर्थ एक ही हो तो वह भी पुनरुक्ति ही है। यद्यपि ऊपर के देखने से यह बात सत्य प्रतीत होती है, परन्तु वास्तव में पाठभेद के समान ही यह शंका भी कुछ मूल्य नहीं रखती, क्योंकि जितने मन्त्र एक ही प्रकार का भाव व्यक्त करने के लिए आते हैं उनमें शब्दों का भेद होता ही है और शब्द अपना धातुज अर्थ रखते ही हैं, इसलिए एक ही प्रकार के अर्थ में भी भावान्तर हो जाता है। इस भावान्तर का एक नमूना यहाँ उद्धृत करते हैं—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

—अथर्ववेद [१९।६२।१]

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳ राजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥

—यजुर्वेद [१८।४८]

अर्थात् हे परमेश्वर! मुझको ब्राह्मणों में प्रिय कीजिए, क्षत्रियों में प्रिय कीजिए और वैश्य तथा शूद्र आदि सबमें प्रिय कीजिए।

हे परमेश्वर! हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, क्षत्रियों में रुचि हो और वैश्यों तथा शूद्रादि सबमें रुचि हो।

इन दोनों मन्त्रों में एक ही भाव है। पहले में सब लोगों में प्रिय होने की प्रार्थना है, और दूसरे

में सब लोगों में रुचि रखने की प्रार्थना है। दोनों में ऊपरी दृष्टि से भावों की समानता पाई जाती है और दोनों में एक-दूसरे के प्रति प्रेम और रुचि रखने की प्रार्थना है, परन्तु दोनों बिना एक-दूसरे के अधूरे हैं। अथर्ववेद का मन्त्र कहता है कि मुझे सबमें प्रिय कीजिए। सबमें प्रिय वही हो सकता है जो सबको प्रिय समझता हो, परन्तु मन्त्र में यह भाव नहीं है। मन्त्र में इतना ही है कि मुझसे सब प्यार करें, किन्तु यह नहीं है कि मैं सबको प्यार करूँ और सब मुझे प्यार करें। जब तक परस्पर एक-दूसरे के प्यार करने की विधि न हो तब तक प्यार की विधि पूर्ण नहीं हो सकती। वेद पूर्ण शिक्षा देते हैं, इसलिए यजुर्वेद में कहा गया है कि मेरी रुचि सबमें हो। दोनों मन्त्रों का यह भाव हुआ कि सबमें मेरी रुचि हो और सब मुझे प्यार करें। इस प्रकार एक ही भाव के मन्त्रों में भी शब्दभेद के कारण भावान्तर विद्यमान है और वह भावान्तर बहुत बड़ी कमी को पूरा कर रहा है।

यहाँ तक हमने चार प्रकार की पुनरुक्तियों का विस्तृत वर्णन करके दिखलाया कि ये पुनरुक्तियाँ यथार्थ में पुनरुक्तियाँ नहीं हैं, प्रत्युत उसी प्रकार आवश्यक हैं जिस प्रकार पाणिनि के 'बहुलं छन्दसि' और सन्ध्या के आचमन के मन्त्र हैं। भिन्न-भिन्न अर्थों के कारण भिन्न-भिन्न भाव प्रकट करने के लिए जो मन्त्र बार-बार आते हैं वे पुनरुक्त नहीं हैं। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थों के कारण ही भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न अर्थ रखते हैं, इसी प्रकार वे भी पुनरुक्त नहीं हैं, जो पाठभेद के कारण बार-बार आते हैं अथवा एक ही अर्थ में भिन्न-भिन्न भाव की सूचना देते हैं, किन्तु पुनरुक्त वही हैं जो मन्त्र के मन्त्र, सूक्त के सूक्त और अध्याय के अध्याय बार-बार एक ही वेद के कई स्थानों में या एक वेद से दूसरे वेदों में विषय-प्रतिपादन की सुविधा और यज्ञ-याग में अनुकूलता उत्पन्न करने के लिए शाखाप्रचारकों की ओर से डाले गये हैं। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार की पुनरुक्ति नहीं है। कहने का तात्पर्य यह कि चारों वेदों में खैलिक, परिशिष्ट और प्रक्षिप्त भाग को छोड़कर और किसी प्रकार की अधिकता नहीं है। वेदों में जिस प्रकार न्यूनता नहीं है उसी प्रकार अधिकता भी नहीं है, परन्तु हस्तलिखित प्रतियों और छपी हुई संहिताओं तथा वैदिक साहित्य से प्रकट हो रहा है कि वेदों की मन्त्रसंख्याओं में अन्तर है। किसी प्रति की मन्त्रसंख्या कुछ है और किसी की कुछ, किन्तु इसका भी कारण वेदों की न्यूनाधिकता नहीं है प्रत्युत कुपढ़ लेखकों की असावधानी ही है। छन्दज्ञान के न होने से ही ऐसा हुआ है। किसी ने मन्त्र के अर्धभाग पर ही अङ्क लगा दिये हैं और किसी ने डेढ़ मन्त्र पर अङ्क लगाये हैं, इसीलिए संख्याओं में न्यूनाधिक्य दिखलाई पड़ता है, परन्तु वास्तव में न्यूनाधिक्य नहीं है। यदि न्यूनाधिकता होती तो पाठ में अन्तर होता—एक बात एक प्रति में होती और वही बात दूसरी प्रति में न होती, किन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए संख्यासूचक अङ्कों की न्यूनाधिकता से भी वेदों में न्यूनाधिकता सिद्ध नहीं होती। तात्पर्य यह कि अपौरुषेय वेद आदि सृष्टि से लेकर आजपर्यन्त ज्यों-के-त्यों पूर्ण सुप्राप्य हैं और उनकी इयत्ता इस समस्त शाखाभेद के वर्णन से स्पष्ट हो रही है।

ऋषि, देवता, छन्द और स्वर

वेदों की इयत्ता निर्धारित हो जाने के बाद अब ऋषि, देवता आदि की परीक्षा होनी चाहिए। वेदों की पुस्तकों को खोलते ही सबसे प्रथम प्रत्येक सूक्त या अध्याय के सिरे पर लिखे हुए ऋषि, देवता, छन्द और स्वर मिलते हैं। ऋषि और देवता आदि के देखने से यह प्रश्न सहज ही उपस्थित हो जाता है कि ये क्या हैं, इनका क्या तात्पर्य है और ये क्यों लिखे जाते हैं। हम प्रथम खण्ड के अन्त में इन ऋषियों के विषय में कुछ लिख आये हैं। वहाँ हमने बतलाया है कि यद्यपि

पाश्चात्य विद्वान् इन ऋषियों को मन्त्रों के बनानेवाले कहते हैं, परन्तु यह सप्रमाण सिद्ध हो चुका है कि इन वर्त्तमान ऋषियों के पूर्व इन्हीं सूक्तों के दूसरे ऋषि उसी प्रकार प्रसिद्ध थे जिस प्रकार ये हैं, इसलिए ऋषि मन्त्रों के कर्त्ता नहीं हो सकते। वैदिक साहित्य में ये मन्त्रद्रष्टा कहे गये हैं और मन्त्रद्रष्टा का अभिप्राय मन्त्रों का आशय देखनेवाला है। मन्त्रों के अनेक आशय होते हैं। इसलिए जब किसी ऋषि ने कोई आशय प्रकट किया है और वह आशय वेद की प्रशस्त शिक्षा के अनुकूल होता हुआ विशेषार्थ का द्योतक समझा गया है तब उस आशय का वह ऋषि द्रष्टा समझा गया है और उस मन्त्र का वही ऋषि हो गया है। यही कारण है कि समय-समय पर सूक्तों के अनेक आशयों के देखनेवाले अनेक ऋषि हो गये हैं और होंगे भी। इन्हीं भूत, भविष्य और वर्त्तमान मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के लिए वेद में कहा गया है कि उन्हीं की बात मानने योग्य है, औरों की नहीं। समय-समय पर होनेवाले ऐसे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम तीन प्रकार के आते हैं। कुछ ऋषि ऐसे हैं जिनका कुछ नाम है और अमुक सूक्त के ऋषि कहलाते हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिनका नाम वेद के उसी सूक्त में भी आता है, जिसके वे ऋषि हैं। इसके अतिरिक्त बहुत-से ऋषियों के नाम उन्हीं सूक्तों में आये हुए देवता के नाम से प्रसिद्ध किये गये हैं जिन सूक्तों के वे ऋषि हैं।

इन तीन प्रकार के ऋषियों के दो भेद हैं—साधारण और उत्कृष्ट। जिन ऋषियों के नाम न तो मन्त्र में हैं और न उस मन्त्र के देवता के नाम से ही मिलते हैं, वे साधारण ऋषि हैं। उनके विषय में कुछ विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु जिनके नाम मन्त्र में आते हैं अथवा किसी सूक्त या मन्त्र के देवता के ही नाम के साथ मिलते हैं वे उत्कृष्ट हैं, अतः उनकी चर्चा करने की आवश्यकता है। हमारा अनुमान है कि ऐसे नामों की ख्याति किसी विशेष उत्कृष्ट अर्थाविष्कार के ही कारण हुई है—किसी गूढ़ विषय के व्यक्त करने के ही कारण हुई है। जब किसी ऋषि ने किसी शब्द का या किसी देवतावाले सूक्त के भाव का विशेषरूप से दर्शन किया है तब उस ऋषि का वास्तविक नाम लुप्त हो गया है और वह शब्द अथवा वह देवता ही उसका नाम हो गया है। जिस प्रकार गिरि, पुरी, अरण्य आदि में प्रचार करने से अनेक संन्यासी उसी नाम से गिरी, पुरी, भारती, वन, अरण्य आदि नाम के हो गये हैं, उसी प्रकार अमुक प्रकार की मन्त्रार्थदृष्टि की ख्याति से अनेक ऋषियों का भी वही नाम हो गया है। इस प्रकार के नामों का पता नीचे लिखे स्थलों के देखने से मिलता है।

ऋग्वेद १०।७३ का ऋषि ध्रुव है और देवता राज्ञःस्तुति है। इस सूक्त में छह मन्त्र हैं। छहों में ध्रुव का वर्णन आया है और छहों मन्त्र राजा की स्तुति के हैं। इसी प्रकार ऋग्वेद १०।१७० का ऋषि विभ्राट् सूर्य है और देवता सूर्यो देवता है। इस सूक्त में ४ मन्त्र हैं। चारों में विभ्राट् शब्द आता है। मन्त्रों में आये हुए शब्दों के कारण ऋषियों के नामकरण के ये नमूने हैं। इनके अतिरिक्त ऋग्वेद १०।१६१ का ऋषि यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः है और देवता राजयक्ष्मघ्नम् है। इसमें ५ मन्त्र हैं। इनमें दीर्घ जीवन और आरोग्य के लिए प्रार्थनाएँ हैं। इसी प्रकार ऋ० १०।१५९ का ऋषि शची पौलोमी है और देवता भी शची पौलोमी है। ऋ० १० सूक्त १४० का ऋषि अग्निपावकः है और देवता भी अग्निर्देवता ही है। ऋ० १०।१२३ का ऋषि वेन है और देवता भी वेन ही है। ऋग्वेद १०।४८ और ४९ का ऋषि इन्द्रो वैकुण्ठः है और देवता भी इन्द्रो वैकुण्ठः है और ऋग्वेद १०।१५ का ऋषि वागाम्भृणी और देवता भी वागाम्भृणी ही है। सूक्तों के देवता के कारण ऋषियों के नामकरण के ये नमूने हैं। दोनों प्रकार के ये नमूने उत्कृष्ट ऋषियों के ही हैं और किसी बड़े आविष्कार के ही कारण वे अपने विषय के नाम से प्रसिद्ध हो गये हैं, अर्थात् ऋषि

और देवता का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से ही—विशेष और विशेषज्ञ की ऐक्यता होने से ही ये नाम रक्खे गये हैं। ये ऋषि समय-समय पर बदलते रहे हैं और नवीन-नवीन भावों का प्रचार करने के कारण पुराने ऋषियों के स्थान में नवीन ऋषियों के नाम प्रयुक्त हुए हैं। सर्वानुक्रमणी १।२ में लिखा है कि **'इषे त्वादि खं ब्रह्मान्तं विवस्वानपश्यत् ततः प्रतिकर्मविभागेन ब्राह्मणानुसारेण ऋषयो वेदितव्याः। परमेष्ठी प्राजापत्यो दर्शपूर्णमासमन्त्राणां ऋषिर्देवा वा प्राजापत्याः',** अर्थात् इषे त्वादि से लेकर खं ब्रह्मपर्यन्त समस्त यजुर्वेद को आदि में विवस्वान् ने ही देखा। इसके बाद ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार कर्मविभाग के कारण दर्शपूर्णमास मन्त्रों का परमेष्ठी प्राजापत्य ऋषि माना गया। यहाँ स्पष्ट हो गया कि विवस्वान् को हटाकर कर्म में सुविधा बतानेवालों के नाम ऋषि के स्थान में रख दिये गये हैं, अतएव ऋषि कोई स्थिर वस्तु नहीं है। हाँ, ऐतिहासिक दृष्टि से उनका बहुत बड़ा महत्त्व है, इसीलिए वे सूक्तों और मन्त्रों के आदि में स्मरण किये जाते हैं। यही थोड़ा-सा ऋषि विषय का परिचय है।

ऋषि के आगे देवता हैं। देवता के विषय में सर्वानुक्रमणी में लिखा है कि **'या तेनोच्यते सा देवता',** अर्थात् मन्त्र में जिस विषय का वर्णन हो वही विषय उस मन्त्र का देवता है। यदि किसी मन्त्र का देवता अग्नि हो तो समझना चाहिए कि इस मन्त्र में अग्नि का ही वर्णन है, परन्तु अग्नि शब्द के कई अर्थ होते हैं, इसलिए अग्नि के विशेषणों तथा मन्त्र की अन्य परिस्थितियों से जान लेना चाहिए कि यहाँ अग्नि किस विशेषविषय को दर्शाता है। इसी प्रकार की विशेष, अर्थात् सूक्ष्म विशेषताओं को ढूँढ निकालना ही ऋषि का काम होता है अतएव ऋषि और देवता प्रायः आधार-आधेय-सम्बन्ध रखते हैं और इसीलिए इन दोनों के नाम भी प्रायः एक ही शब्द से रख लिये जाते हैं। निरुक्त में लिखा है कि **'यत्कामऋषिर्यस्यां देवतायामर्थप्रत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद् दैवतः स मन्त्रो भवति',** अर्थात् ऋषि लोग जिस अर्थ के प्रकाश करने की कामना करते हुए जिस देवता का वर्णन करते हैं, वही उस मन्त्र का देवता होता है। इस उक्ति से स्पष्ट हो रहा है कि किसी मन्त्र का कोई देवता निश्चित नहीं है। एक ही मन्त्र से एक, दो अथवा कई-एक भाव निकाले जा सकते हैं और वे सभी भाव उस मन्त्र के देवता हो सकते हैं। ऐसे ही नवीन गूढ़भाव निकालने के कारण कभी-कभी, किसी-किसी ऋषि का वही नाम भी पड़ जाता है जो नाम किसी शब्द से उस मन्त्र के देवता का स्थिर होता है, परन्तु जबसे देवताविषयक ज्ञान में त्रुटि हुई तब से वैदिक साहित्य में बहुत बड़ी गड़बड़ मच गई है। सर्वानुक्रमणी १।३७ में लिखा है कि **'क्षत्रस्य चतुर्णां तार्प्यपाण्डवाधिवासोष्णीषाणि',** अर्थात् यजुर्वेद अ० १० मन्त्र ८ के 'क्षत्रस्य जराय्वसि' मन्त्र का देवता पाण्डव है। मन्त्र में क्षत्र शब्द के आने से ही किसी बुझक्कड़ ने पाण्डवों का नाम देवता में लिख दिया है। राजा लिखने के स्थान में पाण्डव राजा नाम हो गया है। हम देखते हैं कि बहुत-से देवता ऋषियों के ही नाम से पाये जाते हैं। उनमें अधिकांश इसी प्रकार के भ्रम से रक्खे गये हों तो आश्चर्य नहीं। बात तो असल में यह है कि मन्त्र का देवता पहचानना ही वेदज्ञता है। यह विद्या बिना योगसाधन के नहीं आती, इसीलिए योगशास्त्र में लिखा है कि **'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः',** अर्थात् स्वाध्याय से ही इष्टदेवता की प्राप्ति होती है। वेदों का जो जितना ही बड़ा स्वाध्यायी है, वह देवता का उतना ही ठीक-ठीक निर्णय कर सकता है। देवता विषय का यही थोड़ा-सा निर्णय है।

छन्द की रचना स्वयं एक काव्य है। छन्द शब्दशुद्धि और सङ्गीत का प्राण है। जब शब्द छन्द के शिकञ्जे में कस दिया जाता है तब वह इधर-उधर बहक नहीं सकता। उसका उच्चारण ज्यों-का-त्यों बना रहता है और छन्दताल में जकड़े रहने के कारण नृत्य का प्रधान अङ्ग हो जाता

है और सङ्गीतशास्त्र में अपना विशेष स्थान प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त छन्दोबद्धविषयों की स्थिति स्मरण में भी बहुत शीघ्र और देर तक रहनेवाली होती है। परमेश्वर को वेदों की शब्दशुद्धि, सङ्गीत और विषयस्मृति को रखना स्वीकार्य है, इसी लिए शायद कुछ भाग को छोड़कर शेष चारों वेद छन्दोबद्ध ही हैं, परन्तु वैदिक छन्दों का ज्ञान लोगों को बिलकुल नहीं है। छन्दों का ठीक-ठीक ज्ञान न होने से ही मन्त्रों की संख्या में गोलमाल हुआ है। यजुर्वेद का पहला मन्त्र एक ही कहलाता है, परन्तु उसमें दो मन्त्र भिन्न-भिन्न छन्दों के मिले हुए हैं। स्मरण रखने के लिए दोनों छन्दों के नाम लिखे हुए हैं और दोनों को पृथक् करने के लिए बीच में 'र' अक्षर लिखा हुआ है। हमारा अनुमान है कि और भी बहुत से मन्त्रों में ऐसा ही गोलमाल है।

वेदों के छन्द बड़े विचित्र हैं। प्राय: ऋग्वेद के मन्त्र जब पदपाठ, अर्थात् सन्धिविच्छेद से पढ़े जाते हैं तब शुद्ध प्रतीत होते हैं, परन्तु जब ज्यों-के-त्यों सन्धिसहित पढ़े जाते हैं तब घटबढ़ जाते हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय ४० के स पर्यगाच्छुक्र० वाले मन्त्र का अन्तिम चरण बढ़ा हुआ दिखता है, परन्तु वह जिस छन्द का है उस छन्द के हिसाब से ठीक है। यजुर्वेद के छन्द छोटे-बड़े प्रत्येक प्रकार के हैं। सबसे छोटा छन्द २२ अक्षर का है जिसको विराट्गायत्री कहते हैं और सबसे बड़ा छन्द स्वराड्कृति: है जो १०६ अक्षर का है। मध्यम दर्जे के अनेक छन्द हैं जो क्रम से चार-चार अक्षर बढ़ाते हुए २२ से १०६ तक पहुँचते हैं। सर्वानुक्रमणीकार ने आरम्भ में ही कहा है कि **'यजुषामनियताक्षरत्वादेतेषां छन्दो न विद्यते',** अर्थात् यजुर्मन्त्रों के अक्षर नियत न होने से उनमें छन्दत्व नहीं है, परन्तु जब हम चार-चार अक्षरों की वृद्धि का क्रम देखते हैं तब यही प्रतीत होता है कि दीर्घवृत्तों की बनावट भी मर्यादित ही है। यह बात अलग है कि फ़ारसी की बहरतवीलों की भाँति हम दीर्घवृत्तों को गाने में प्रयुक्त न कर सकें, परन्तु उनको अमर्यादित नहीं कह सकते। कहने का तात्पर्य यह कि वेदों के छन्दों की रचना के अनेक विशेष नियम हैं। उन नियमों में एक यह नियम बड़ा प्रसिद्ध है कि वेद के छन्द मात्रिक नहीं हैं, उनकी गिनती अक्षरों से ही की जाती है, इसलिए वे एक नियत लाइन के अगल-बगल चलते हैं। छन्द की छाया दिखती है, रूप नहीं। पाठ से छाया और गीत से रूप दिखता है। इस प्रकार से वैदिक छन्द स्वयं एक उत्कृष्ट काव्य की भाँति रचे गये हैं। यही छन्दों का थोड़ा-सा विवरण है।

छन्दों के आगे स्वर हैं। स्वरों का वर्णन यज्ञ के प्रकरण में हो चुका है। वहाँ अच्छी प्रकार दिखला दिया गया है कि स्वर अपने कौशल से किस प्रकार अर्थ को पुष्ट करते हैं। यहाँ फिर भी प्रकरणवश उसी को दोहराये देते हैं। याज्ञवल्क्यशिक्षा में लिखा है कि—

उच्चैर्निषादगान्धारौ नीचैर्ऋषभधैवतौ। शेषास्तु स्वरिता ज्ञेयाः षड्जमध्यमपञ्चमाः।

अर्थात् गान्धार और निषाद को उदात्त, ऋषभ और धैवत को अनुदात्त और षड्ज, मध्यम और पञ्चम को स्वरित कहते हैं। इन स्वरों के विषय में लिखा है कि—

मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥

अर्थात् जो मन्त्र यज्ञ में स्वर और वर्णहीन मिथ्या उच्चरित होते हैं उनका अर्थ ज्ञात नहीं होता और अशुद्ध उच्चारण अनर्थक होकर यजमान के नाश का कारण होता है। जैसे स्वर की भूल से इन्द्रशत्रुः का भाव इन्द्रस्य शत्रुः हो जाता है। इस विषय को इसप्रकार समझना चाहिए कि एक ही समय में एक व्यक्ति के पास एक भिखारी और एक महाजान आया। दोनों को उस आदमी से माँगना है। एक को भीख माँगनी है और दूसरे को तकाज़े के तौर पर ऋण लेना है। दोनों ही एक ही शब्द द्वारा माँगते हैं। वह शब्द है 'दीजिए'। भिखारी इस शब्द को प्रार्थना के

स्वरों में लपेटकर बोल रहा है और महाजन उसी शब्द को दर्प के स्वरों में लपेटकर बोल रहा है। कानों में एक शब्द से करुणा प्रकट हो रही है, दूसरे से दर्प और क्रोध का संचार हो रहा है। यद्यपि दोनों के बोलने में तीन ही अक्षर (दीजिए) उच्चरित हो रहे हैं, परन्तु स्वरों का फेर अर्थ को इतना बदले हुए है कि आकाश-पाताल का अन्तर हुआ जाता है। दोनों के स्वरों में कैसे अन्तर हुआ? यदि यह जानना हो तो सारङ्गी में भिखारी की याचना के स्वर और महाजन के तक़ाज़ेवाले स्वरों को निकालिए, तुरन्त ज्ञात हो जाएगा कि दोनों का सरगम अलग-अलग है। इस नमूने से स्वरों की ख़ूबी समझ में आ जाती है। यह ख़ूबी सिवा वेदों के दुनिया की और किसी लिपि में नहीं है। कोई नाटककार जब किसी राजा के द्वारपाल के लिए शासक के शब्दों में आज्ञा दिखलाता है, तब लिखता है कि राजा ने द्वारपाल से कहा—द्वारपाल! (तनिक कड़ी आवाज़ से)। यहाँ नाटककार को कोष्ठक में 'तनिक कड़ी आवाज़ से' इतना बढ़ाकर लिखना पड़ता है, परन्तु यदि वह स्वर-लिपि के साथ लिखता तो उसे कोष्ठक का लेख लिखने की आवश्यकता न होती। आजकल सङ्गीतलिपि जिसको अंग्रेज़ी में नोटेशन कहते हैं प्रचलित हो रही है। जिन्होंने उसपर ध्यान दिया है वे सहज ही स्वरलिपि और स्वर अर्थ का रहस्य समझ सकते हैं। वेदों के स्वर इसी प्रकार अपने शब्द का अर्थ निश्चित रखते हैं।

इस प्रकार हमने यहाँ तक ऋषि, देवता, छन्द और स्वरों का थोड़ा-सा वर्णन करके दिखलाया जिससे स्पष्ट हो रहा है कि उक्त चार वस्तुओं में ऋषि, देवता और स्वर अस्थिर और छन्द स्थिर हैं, अर्थात् ऋषि, देवता और स्वर आवश्यकता पड़ने पर बदले जा सकते हैं—अनेक बार बदले जा चुके हैं और छन्द ज्यों-के-त्यों बने हैं, इसलिए इन चारों वस्तुओं में केवल छन्द ही स्थिर हैं। शेष ऋषि, देवता और स्वर अर्थानुसार प्रायः बदलते रहते हैं, इसलिए वे अस्थिर हैं, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि वेदों का स्वाध्याय करनेवालों के लिए ऋषि, देवता, छन्द और स्वरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

मण्डल, अध्याय और सूक्त आदि

ऋषि, देवता आदि के आगे बढ़ते ही मन्त्रों पर दृष्टि पड़ती है और दिखलाई पड़ता है कि थोड़े-थोड़े मन्त्र एक-एक सूक्त अथवा अध्याय में और अनेक सूक्त अनेक मण्डलों में ग्रथित हैं। हम शाखाप्रकरण में लिख आये हैं कि यह काम आदिशाखा-प्रचारकों ने ही किया है। इसी सम्पादित समूह को मूलसंहिता कहा गया है। इस सम्पदान में कुछ अपौरुषेयता और कुछ पौरुषेयता सम्मिलित है। सम्पादनक्रम का ज्ञान परमेश्वर ने ही दिया है, इसलिए अनेक सूक्त ऐसे हैं जो बने बनाये अदि से ही चले आ रहे हैं। ऋग्वेद मण्डल एक के '**वृजनं जीरदानुम्**' अन्तवाले, मण्डल दो के '**विदथेषु सुवीराः**' अन्तवाले मण्डल तीन के '**सञ्जितं धनानाम्**' अन्तवाले और मण्डल चार के '**रथ्यः सदासा**' अन्तवाले सूक्तों का क्रम किसी ऋषि का दिया हुआ नहीं है। इन सैकड़ों सूक्तों के अन्त का मन्त्र एक ही वाक्य से समाप्त होता है, इससे ज्ञात होता है कि जिसने इन मन्त्रों की रचना की है उसी ने उन सूक्तों की भी रचना की है, जिनके अन्त में एक ही समान वाक्य आते हैं। इसी प्रकार मण्डल दस का ५८ वाँ सूक्त है। इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र में '**मनोजगाम दूरकम्**' और '**क्षयाय जीवसे**' पद आते हैं। इसी प्रकार '**इन्द्रस्येन्दो परिस्रव**' और '**स जनास इन्द्रः**' वाले सूक्त भी आदि से ही बने हुए चले आ रहे हैं। इन समस्त सूक्तों को किसी शाखा बनानेवाले ने नहीं बनाया, प्रत्युत ये सूक्त आदिकाल ही से एक में सुबद्ध चले आ रहे हैं। हाँ, शाखाप्रचारक ने इनको अपनी इच्छा से अमुक मण्डल के अमुक स्थान में रक्खा है, परन्तु दूसरे प्रकार के सूक्तों को शाखाकार ने ही अपनी इच्छा से मन्त्रों को सूक्तरूप में और सूक्तों को मण्डलरूप में ग्रथित

किया है। इस बात का सुन्दर नमूना '**कस्मै देवाय हविषा विधेम**' सूक्त में दिखलाई पड़ता है। यह सूक्त ऋग्वेद १०।१२१ में है। इस सूक्त में १० मन्त्र थे, परन्तु इस समय ९ ही पाये जाते हैं। अन्त का दशवाँ '**प्रजापते न त्वदेता**' रख दिया गया है। यह मन्त्र इस सूक्त का नहीं है, क्योंकि इसके अन्त में हविषा विधेम नहीं है। इस सूक्त का १०वाँ मन्त्र अथर्व० ४।२।८ में चला गया है, जिसमें '**हविषा विधेम**' विद्यमान है[१]। जिस प्रकार ऋग्वेद के सूक्तों की रचना हुई है उसी प्रकार यजु, साम और अथर्व की भी समझनी चाहिए। चारों वेदों में आये हुए सूक्तों, मण्डलों, अध्यायों और आर्चिकों में सब मन्त्र इसी प्रकार ग्रथित हैं। इस ग्रन्थन में पौरुषेय और अपौरुषेय दोनों हाथ समानरूप से विद्यमान हैं। इसलिए सम्भव है कि पौरुषेय सम्पदान में त्रुटि हो—मन्त्र और सूक्त उचित स्थान में न हों, परन्तु शेषरचना सुसम्बद्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

वेदमन्त्रों के अर्थ, भाष्य और टीकाएँ

ऋषि, देवता और छन्दादि तथा सूक्त, अध्याय और मण्डल आदि की आलोचना के बाद अब वेदों के अर्थों की—भाष्यों की बात सामने आती है, क्योंकि अर्थों, अर्थात् भाष्यों के ही द्वारा जाना जाता है कि वेदों में किन-किन विषयों का वर्णन है, परन्तु अब तक वेदों के जितने भाष्य हुए हैं उन सबमें मतभेद है, इसलिए किसी एक भाष्य को प्रामाणिक और दूसरे को अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। हाँ, प्राचीन शैली—आर्यशैली और वैदिक शैली के अनुसार इतना अवश्य कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण वेदों का भाष्य करना उचित नहीं है। पुराकाल में कभी चारों वेदों का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया गया था। इसका कारण यह नहीं है कि लोगों को भाष्य करना नहीं आता था अथवा सब लोग वेदों के ज्ञाता ही थे, इसलिए भाष्य करने की आवश्यकता नहीं समझते थे, प्रत्युत भाष्य न करने का कारण यह था कि वे ज्ञानभण्डार वेद के ज्ञान की इयत्ता एक ही मस्तिष्क द्वारा निर्धारित करना वेद का अपमान समझते थे। जिस प्रकार वेद के स्वरूप की इयत्ता निर्धारित है उसी प्रकार वेद के ज्ञान की इयत्ता निर्धारित नहीं है। यह ठीक भी है। मनुष्य के शिर की इयत्ता हो सकती है कि वह कितना लम्बा-चौड़ा है, परन्तु उसके अन्दर जो विचारशक्ति है उसकी लम्बाई-चौड़ाई की इयत्ता निर्धारित नहीं हो सकती। यही हाल वेदों का भी है, इसीलिए पूर्व समय वेदों का सम्पूर्ण भाष्य नहीं किया गया, किन्तु पठन-पाठन के लिए, अर्थ करने की परिपाटी बताने के लिए और मन्त्रों में श्रम करने के लिए निरुक्त-जैसे ग्रन्थ बना लिये गये थे अथवा ब्राह्मणग्रन्थों में आये हुए वेदार्थसूचक प्रकरणों की भाँति छोटे-छोटे पुस्तक रच लिये गये थे जिनके द्वारा वेदार्थ का ज्ञान और भाष्य की शैली ज्ञात रहती थी।

वेदभाष्य करने का सबसे प्रथम आरम्भ रावण ने किया। उसे वेदों का अर्थ और भाव पलटना था, इसलिए उसे ऐसा करना पड़ा। तभी से भाष्य करने का रिवाज़ हो गया। सायणाचार्य, उव्वट, महीधर और स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा यूरोप के अनेक विद्वानों ने वेदों का भाष्य कर डाला है, किन्तु वेद का पठन-पाठन करनेवालों को अबतक इन भाष्यों से तसल्ली नहीं हुई। अब भी—इस समय भी अनेक भाष्य हो रहे हैं और आगे भी होंगे, किन्तु कभी भी सन्तोष न होगा। इसका कारण यही है कि वेदों के ज्ञान की इयत्ता नहीं हो सकती। वेदों में अनेक प्रकार का ज्ञान है। उस ज्ञान की अनेक छोटी-बड़ी शाखाएँ हैं और उन शाखाओं में अनेकभाव हैं, इसलिए एक या दो आदमी समग्र वेद के ज्ञानसमुद्र की थाह नहीं लगा सकते। पुराने समय में तो एक-एक, दो-दो अथवा दस-बीस मन्त्रों का अर्थ विचार करने ही में बड़े-बड़े मन्त्रद्रष्टा ऋषि अपना

---

१. आपो वत्सं जनयन्तीर्गर्भमग्रे समैरयन्।
तस्योत जायमानस्योल्ब: आसीद्धिरण्यय: कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ —अथ० ४।२।८

जीवन बिता देते थे। अभी हम जिन ऋषियों और देवताओं का वर्णन कर आये हैं उस वर्णन से स्पष्ट हो गया है कि एक-एक सूक्त का ही उत्कृष्टभाव निकालने में ऋषियों का नाम उक्त सूक्तों के ही नाम से रख दिया गया था, जो अबतक स्थिर है और अमर है। ऐसी दशा में एक दो व्यक्तियों का किया हुआ सम्पूर्ण वेदभाष्य पूर्ण कैसे समझा जा सकता है और कैसे वह सर्वमान्य हो सकता है। पूर्व समय में लोग मनोयोग के द्वारा मन्त्रार्थ का विचार करते थे। योगशास्त्र में लिखा है कि '**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः**', अर्थात् स्वाध्याय से इष्टदेवता का सम्प्रयोग होता है। वेदों के पठनपाठन का ही नाम स्वाध्याय है और वेद के विषयों को ही देवता कहते हैं। अमुक देवतावाले मन्त्रों का दीर्घकाल तक स्वाध्याय—विचार करने से ही उनका अच्छी प्रकार प्रयोग हो सकता है। कहने का भाव यह कि यथार्थ वेदार्थ करना—भाष्य करना सरल नहीं है और न वह एक-दो मनुष्यों से हो सकता है।

वेद ईश्वरीय ज्ञान है। ईश्वरीय ज्ञान मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए है। वेदों की सभी शिक्षाएँ उपयोगी हैं, इसलिए वेदों का थोड़ा-सा चाहे जो अंश लेकर और उसका सरलार्थ करके लोगों में प्रचार किया जा सकता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि वह अर्थ चार परीक्षाओं से परिक्षित हो, क्योंकि वेदार्थ की ये चारों परीक्षाएँ प्राचीन बड़े-बड़े वेदज्ञ ऋषि-मुनियों की स्थापित की हुई हैं। सबसे पहली परीक्षा यह है कि वेद का जो अर्थ किया जाए वह यज्ञ में कहीं-न-कहीं काम देता हो, क्योंकि ऋग्वेद में स्वयं ही लिखा हुआ है कि '**यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्**'[1], अर्थात् समस्त वेदवाणी यज्ञ के द्वारा ही स्थान पाती है। दूसरी परीक्षा यह है कि वह अर्थ बुद्धि के विपरीत न हो, किन्तु बुद्धि के अनुकूल हो, क्योंकि कणादमुनि वैशेषिक दर्शन में कहते हैं कि '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**'[2], अर्थात् वेदवाणी की प्रकृति बुद्धिपूर्वक है। तीसरी परीक्षा यह है कि वह वेदार्थ तर्क से सिद्ध किया गया हो, क्योंकि निरुक्तकार कहते हैं कि मनुष्यों के प्रश्न करने पर देवताओं ने कहा कि तर्क ही ऋषि है, अतः जो तर्क से गवेषणा करके अर्थ निश्चित करेगा वही वेदार्थ का ऋषि होगा[3]। चौथी परीक्षा यह है कि वह अर्थ धातुज हो, अर्थात् वह अर्थ प्रत्येक शब्द की धातु से निष्पन्न होता हो, क्योंकि पतञ्जलिमुनि महाभाष्य में कहते हैं कि '**नाम च धातुजमाह निरुक्ते**', अर्थात् निरुक्तकार धातुज ही अर्थ ग्रहण करते हैं। इन चारों परीक्षाओं में सायणाचार्य ने प्रायः याज्ञिक अर्थ का अनुकरण किया है और स्वामी दयानन्द सरस्वती ने बुद्धि, तर्क और धातुज अर्थ का ध्यान रक्खा है। दोनों भाष्यकारों ने चारों परीक्षाओं का उपयोग नहीं किया तथापि स्वामी दयानन्द का हेतु बड़ा पवित्र है। यद्यपि लोग कहते हैं कि उनसे संस्कृत व्याकरण की भूलें हुई हैं और उन्होंने वेदमन्त्रों का अर्थ भी बदल दिया है, किन्तु इस बात में कुछ भी दम नहीं है। संस्कृत के व्याकरण की ग़लतियाँ तो लोगों ने स्वामी श्रीशंकराचार्य के भाष्य में भी ढूँढ निकाली हैं[4] और '**चत्वारि वाक् परिमिता०**' मन्त्र को यास्काचार्य ने निरुक्त में देकर

---

१. ऋ० १०।७१।३ २. वैशेषिक० ६।१।१

३. मनुष्या वा ऋषिषूत्क्रामत्सु देवानब्रुवन्को न ऋषिर्भविष्यतीति, तेभ्य एतं तर्कऋषिं प्रायच्छन्मन्त्रार्थ-चिन्ताभ्यूहमभ्यूढम्। तस्माद्यदेवं किंचानूचानोऽभ्यूह इत्यार्षं तद्भवति। —निरुक्त १३।१२

४. छान्दोग्योपनिषद् १।६।१ की टीका में 'ऋक्सामनी नात्यन्तं भिन्ने' है, परन्तु यह पाणिनि के 'अचतुर-विचतुर' सूत्र के अनुसार 'ऋक्सामे' होना चाहिए। इसी प्रकार छान्दोग्य ८।८।४ में गच्छेयाताम् है, जो गच्छेताम् होना चाहिए। इसी प्रकार छान्दोग्य ८।१२।३ के प्रारम्भ में 'अहं मनुष्यपुत्रो जातो जीर्णो मरिष्ये इत्येवं प्रकारम् है, परन्तु यहाँ 'मृ' धातु के भविष्यकाल में परस्मैपदी है, इसलिए 'मरिष्ये' के स्थान में मरिष्यामि होना चाहिए।

सात सम्प्रदायों द्वारा रचित उसके सात प्रकार के भिन्न-भिन्न अर्थों को मान्य बतलाया है, जिससे बड़े-बड़े प्राचीन ऋषियों के अर्थों में भी अदला-बदली पाई जाती है[१]। ऐसी दशा में स्वामी दयानन्द पर ही आक्षेप नहीं हो सकता। स्वामी दयानन्द ने बड़े ही पवित्र उद्देश्य से भाष्य किया है, इसलिए उनकी शैली में सायणाचार्य की केवल याज्ञिक शैली मिला देने से ही कुछ प्रचारयोग्य पद्धतियाँ तैयार हो सकती हैं।

जब तक स्वामी दयानन्द ने बुद्धि, तर्क और धातु के सहारे अर्थ नहीं किया था तब तक लोग वेदों से अनेक ऊल-जलूल बातें निकाला करते थे, किन्तु उनके आर्षप्रणाली से अर्थ करते ही वेदों का उज्ज्वलरूप सामने आ गया और वेदों का अन्तरङ्ग प्रकाशित हो उठा तथा हमारे सामने अर्वाचीन, मध्यमकालीन और प्राचीन वेदार्थों का नमूना उपस्थित हो गया। इन नमूनों में नाना प्रकार की बातें हैं और उनमें नाना प्रकार के अन्तर और भेद हैं, परन्तु हम यहाँ उन समस्त अन्तरों और भेदों का वर्णन नहीं करना चाहते। हम तो ऐसे समग्र वेदभाष्य को पसन्द ही नहीं करते, इसलिए वेदों के ऐसे अर्थों पर यहाँ बहस भी नहीं करना चाहते, किन्तु कुछ भाष्यकारों के कारण वेदों में इतिहास, पशुहिंसा और अश्लीलता का वर्णन दिखलाई पड़ता है जिसको लेकर यूरोप के विद्वानों ने वेदों को नवीन और निकृष्ट सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसके कारण वेदों की अपौरुषेयता में बट्टा लगने का भय है, इसलिए हम यहाँ थोड़ी-सी इन विषयों की भी आलोचना करते हैं।

इतिहास, पशुहिंसा और अश्लीलता

हम प्रथमखण्ड में अच्छी प्रकार सिद्ध कर आये हैं कि वेदों में इतिहास से सम्बन्ध रखने-वाली सामग्री नहीं है। जिन ऐतिहासिक नामों, ज्योतिष् के चमत्कारों और भौगोलिक अथवा भौगर्भिक बातों को लेकर लोग वेदों से इतिहास निकालते हैं वे निस्सत्व हैं। उनसे इतिहास नहीं निकलता। वेदों में आये हुए एतिहासिक नाम तो इतिहास का साथ ही नहीं देते। इतिहास निकालनेवाले जानते ही नहीं कि पुराणकारों ने वेदों के अलङ्कारों को लेकर और उनको ऐतिहासिकरूप देकर पुराणों में केवल अर्थ ही खोला है, इतिहास नहीं लिखा। श्रीमद्भागवत १।४।२८ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—

भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः। —[भा० १।४।२९]

अर्थात् भारतीय इतिहास के मिष से वेद का अर्थ ही प्रदर्शित किया गया है।

जब भारतीय लेखक स्वयं स्वीकार करते हैं कि हमने पुराणों में इतिहास का रूप देकर केवल वेदों के अलङ्कारों का ही भाव खोला है तब दूसरों को क्या अधिकार है कि वे मनगढ़न्त कल्पना कर लें कि वेदों का इतिहास पुराणों में विस्तृत किया गया है ? बात तो असल यह है कि आधुनिक विद्वानों ने न तो वेदों की शैली को ही समझा है, न पुराणों का तात्पर्य ही समझा है और न यही ढूँढ पाया है कि दोनों का सम्बन्ध क्या है ? महाभारत में स्पष्ट लिखा है कि—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्। —[महा० आदि० १।२६७]

अर्थात् इतिहास और पुराणों से वेदों का मर्म जाना जाता है। इसका तात्पर्य यही है कि पुराणों में पञ्चतन्त्र की भाँति ऐतिहासिक कथाओं को गढ़कर वेदों के अलङ्कारों को खोला गया

---

१. कतमानि तानि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रःकल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। सर्वाणां वाग्वयसां क्षुद्रस्य सरीसृपस्य चतुर्थी व्यावहारिकीत्येके। पशुषु तूणवेषु मृगेष्वात्मनि चेत्यात्मप्रवादाः। अथापि ब्राह्मणं भवति।

है, परन्तु वह वर्णन वास्तविक इतिहास के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखता। इसलिए यदि वास्तविक इतिहास और पुराण दोनों की तुलनात्मक दृष्टि से वेदों के साथ आलोचना की जाए तो इतिहास साथ न देगा। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराणों का वर्णन इतिहास नहीं, प्रत्युत अलङ्कारों का स्पष्टीकरण है। कहने का तात्पर्य यह कि वेदों में इतिहास नहीं है। जिस प्रकार वेदों में इतिहास नहीं है उसी प्रकार वेदों में पशुहिंसा भी नहीं है। हिन्दूसाहित्य के देखने से पता लगता है कि आर्यों के याज्ञिक इतिहास में भिन्न-भिन्न दो समय हैं, जिनमें से एक में पशुहिंसा नहीं पाई जाती और दूसरे में पाई जाती है। पहला आदिमकाल, अर्थात् शुद्ध संहिताकाल है और दूसरा रावणकाल से लेकर आधुनिक ब्राह्मण और सूत्रकाल है। आदिमकाल, अर्थात् संहिताकाल के यज्ञों में पशुहिंसा और मांस-मद्य का सेवन नहीं होता था, परन्तु रावणकाल से इस पार के यज्ञों में कहीं-कहीं होता था। हम अपने इस आरोप की पुष्टि में कुछ प्रमाण उपस्थित करते हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) वेदों में यज्ञ के लिए जितने शब्द आये हैं उनमें से किसी के भी अर्थ से पशुवध अथवा हिंसा सूचित नहीं होती, प्रत्युत अध्वर शब्द से अहिंसा ही सूचित होती है। ध्वर शब्द का अर्थ हिंसा है और अध्वर का अहिंसा। अहिंसा के लिए ही यज्ञों में अध्वर्यु की नियुक्ति होती है। यह यज्ञ में कायिक, वाचिक और मानसिक किसी प्रकार की हिंसा नहीं होने देता। यहाँ तक कि छोटे-छोटे कीटों को भी अग्नि में जलने से बचाता है, इसीलिए वेदी में दो-तीन परिखाएँ बनाई जाती हैं और उनमें पानी भर दिया जाता है।

(२) यज्ञों में जिस गौ का वध बतलाया जाता है, वेदों में उसके कई नाम हैं। उन नामों में एक नाम अघ्न्या भी है। अघ्न्या का अर्थ 'किसी अवस्था में भी न मारने योग्य' है। यदि गौ यज्ञ में वध्य होती तो उसका नाम इस प्रकार का न होता। वह यज्ञ के लिए वध्य समझी जाती, परन्तु ऐसा अवकाश नहीं रक्खा गया।

(३) वेदों में स्पष्ट उल्लेख है कि मांस जलानेवाली अग्नि यज्ञों में प्रयुक्त न होने पावे। मांस जलानेवाली अग्नि बहुत करके चिताग्नि ही होती है। जब वेदों में चिता की अग्नि तक को यज्ञों में लाने का निषेध है तब मनुष्यमांस अथवा पशुमांस से यज्ञ करने की आज्ञा कैसे हो सकती है? वेद में स्पष्ट लिखा हुआ है कि—

क्रव्यादमग्निं प्र हिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु रिप्रवाहः।
इहैवायमितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्॥

—ऋ० १०।१६।९

यो अग्निः क्रव्यात् प्रविवेश नो गृहमिमं पश्यन्नितरं जातवेदसम्।
तं हरामि पितृयज्ञाय दूरं स घर्ममिन्धां परमे सधस्थे॥

—अथर्व० १२।२।७

अर्थात् मैं मांस खानेवाली अग्नि को दूर करता हूँ। वह पाप ढोनेवाली है, इसलिए वह यमराज के घर जावे। यहाँ दूसरी ही अग्नि जो सबकी जानी हुई और देवों के लिए हवि ढोनेवाली है उसे रखता हूँ। जो मांसभक्षक अग्नि तुम लोगों के घरों में प्रवेश करती है, उसको पितृयज्ञ के लिए दूर करता हूँ। तुम्हारे घरों में दूसरी ही अग्नि को देखना चाहता हूँ, वही उत्तम स्थानों में घर्म को प्राप्त हो।

इस प्रकार से इन दोनों मन्त्रों में बतलाया गया कि मांस जलानेवाली अग्नि न तो देवयज्ञों में रह सकती है और न पितृयज्ञों में, क्योंकि दोनों यज्ञ घर में ही होते हैं। यहाँ मांस जलानेवाली

अग्नि को घर से दूर हटाने का उपदेश है, अतः ज्ञात हुआ कि मृतसंस्कार के लिए ही उसे घर से दूर यमराज्य में भेज रहे हैं[१]। मूल संहिताओं के इन मौलिक प्रमाणों से पाया जाता है कि वेदों के अनुसार यज्ञों में हिंसा और गोवधादि नहीं हो सकता। यहाँ तक कि मांस जलानेवाली अग्नि भी यज्ञों में नहीं लाई जा सकती। जब वैदिक यज्ञ मांस और हिंसा से इतना परहेज़ करते हैं और इन बातों से इतना दूर भागते हैं तब यही सिद्ध होता है कि आदिमकाल में—संहिताकाल में मांसयज्ञ नहीं होते थे।

(४) संहिताकाल में मांसयज्ञ न होने का सबसे बड़ा कारण आर्यों का हिंसा से डरना है। यजुर्वेद में इस प्रकार के वचनांश मिलते हैं, जिनसे सूचित होता है कि वे पशुओं को पालते थे, न कि उनकी हिंसा करते थे।

पशून् पाहि॥[२] गां मा हिंसीः॥[३] अजां मा हिंसीः॥
अविं मा हिंसीः॥ इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्॥[४]
मा हिंसीरेकशफं पशुम्॥[५] मा हिंस्यात् सर्वभूतानि॥

अर्थात् पशुओं की रक्षा करो, गाय को मत मारो, बकरी को मत मारो, भेड़ को मत मारो, इस मनुष्य और द्विपद पक्षियों को मत मारो, एक खुरवाले घोड़े, गधे को मत मारो और किसी भी प्राणी को मत मारो।

यहाँ पर किसी भी पशु-पक्षी के मारने की आज्ञा नहीं है। इतना ही नहीं प्रत्युत स्पष्ट लिखा है कि—

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्॥ —अथर्व ९।६(३)।९

अर्थात् गाय का यह क्षीर, दधि और घृत ही खाने योग्य है, मांस नहीं।

ऋग्वेद में लिखा है कि—

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च॥ —ऋ० १०।८७।१६

अर्थात् जो राक्षस मनुष्य का, घोड़े का और गाय का मांस खाता हो तथा दूध की चोरी करता हो, उसके शिर को कुचल देना चाहिए।

अथर्ववेद में लिखा है कि—

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
—अथर्व० ६।७०।१

अर्थात् मांसाहारी, शराब पीनेवाला और व्यभिचारी एक समान ही मार डालने योग्य हैं।

इन प्रमाणों से सूचित होता है कि वेदों में पशुओं के मारने और उनका मांस खाने की सख़्त मनाई है। वैदिक आर्यलोग न तो मांस ही खाते थे और न पशुओं को ही मारते थे। वैदिक काल में मनुष्य मांस नहीं खाता था और न वैदिक काल, अर्थात् मनुष्योत्पत्तिकाल में मनुष्य की प्रवृत्ति

---

१. इस मन्त्र का ऋग्वेद १०।१६।१० में 'तं हरामि पितृयज्ञाय देवम्' पाठभेद है। दोनों में परस्पर देवं और दूरं का भेद है। ये दोनों शब्द दो प्रकार के पितृयज्ञों को सूचित कराते हैं। एक मृतक संस्कार और दूसरा पितृश्राद्ध। घर से बाहर दूरवाला पितृयज्ञ मृतसंस्कार है और घर के अन्दरवाला पितृयज्ञ श्राद्ध है, जो नित्य किया जाता है।

२. यजुः० १।१

३. यजुः० १३।४३

४. यजुः० १३।४७

५. यजुः० १३।४८

ही मांस की ओर थी, क्योंकि मांस में न तो कोई स्वाद ही है और न उसको देखकर मनुष्य की रुचि ही हो सकती है, इसलिए मनुष्य आदिमकाल में—वैदिक काल में मांसाहारी न था। मांसाहारी प्राणियों के साथ मनुष्य की समता ही नहीं है। यह बात निम्नलिखित कारणों से स्पष्ट होती है।

(१) जितने मांसाहारी प्राणी हैं वे सब जीभ से पानी पीते हैं। (२) जितने मांसाहारी प्राणी हैं, वे सब अँधेरे में देखते हैं। (३) जितने मांसाहारी प्राणी हैं, उनके शरीर में पसीना नहीं आता। (४) जितने मांसाहारी प्राणी हैं, सब मैथुन के समय जुड़ जाते हैं। (५) जितने मांसाहारी प्राणी हैं, उनके बच्चों की आँखें पैदा होने के समय बन्द रहती हैं। (६) जितने मांसाहारी प्राणी हैं सबके दाँत नुकीले और चुभनेवाले होते हैं। (७) जितने मांसाहारी प्राणी हैं उनकी आँतें शरीर के परिमाण से बड़ी होती हैं। (८) जितने मांसाहारी प्राणी हैं, उन सबका मेदा बड़ा होता है। (९) जितने मांसाहारी प्राणी हैं, वे सब डरते हैं और (१०) जितने मांसाहारी प्राणी हैं, वे सब भयानक बनावट के होते हैं, किन्तु घास और फल-फूल खानेवालों में ये एक भी लक्षण नहीं पाया जाता। मनुष्य में भी वे लक्षण नहीं पाये जाते। इससे ज्ञात होता है कि मनुष्य स्वभाव से मांस खानेवाला नहीं है। उसका मांस का खाना अस्वाभाविक है और बाद का है, किन्तु वेद आदिमकालीन हैं, इसलिए वेदों में पशुवध और मांसाहार की विधि नहीं हो सकती और न संहिताकाल में मांसयज्ञों का ही विधान हो सकता है। आदिमकाल में मांसयज्ञों के न होने के कई एक ऐतिहासिक प्रमाण भी उपस्थित हैं। यहाँ हम उनका भी वर्णन कर देना उचित समझते हैं।

(५) हम लिख आये हैं कि रावणादि ने मांसयज्ञ प्रचलित कर दिया था और उसका अनार्य म्लेच्छों में ख़ूब प्रचार था। हेमाद्रिरामायण में लिखा है कि पूर्वसमय में अनार्य म्लेच्छों के संसर्ग से पतित हुआ पर्वतक नामी ब्राह्मण मरुत राजा के पुत्र वसु राजा का सहपाठी होकर अन्त में उसका उपाध्याय हो गया। उसकी दीर्घकालीन सङ्गति से वसु राजा भी आसुर प्रवृत्तिवाला हो गया और भीतर-ही-भीतर ऋषियों से द्वेष रखने लगा, परन्तु ऋषियों को यह बात ज्ञात न थी कि राजा वसु आसुर प्रवृत्तिवाला है और हम लोगों को पसन्द नहीं करता। मत्स्यपुराण अध्याय १४३ में, वायुपुराण में और महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३३६ में लिखा है कि इसी समय देवताओं और ऋषियों के बीच 'अज' शब्द के अर्थ पर विवाद हुआ। देवता कहते थे कि अज शब्द का अर्थ बकरा है, इसलिए पशुमांस से यज्ञ करना चाहिए और ऋषि कहते थे कि अज शब्द का अर्थ बीज है, इसलिए केवल अन्न से ही यज्ञ करना चाहिए। दोनों ने निश्चय किया कि राजा वसु जो अर्थ निश्चित करें वही हम लोगों को मानना चाहिए। तदनुसार दोनों ने राजा वसु के पास आकर कहा कि महाराज! बताइए कि यज्ञों को पशुमांस से करना चाहिए या अन्न से। राजा वसु ने प्रश्न तो सुन लिया पर केवल इतने ही प्रश्न से यह ज्ञात न कर सका कि दोनों दलों में से किसका क्या पक्ष है। अन्दर से तो राजा वसु ऋषियों को हराना चाहता था, इसलिए उसने पूछा कि **'कस्य वै को मतः पक्षो ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः'** (महाभारत शान्तिपर्व ३३७।१२), अर्थात् हे देवर्षियो! आप सत्य-सत्य बतलाइए कि किसका क्या पक्ष है। इस प्रश्न को सुनकर ऋषियों ने कहा कि—

धान्यैर्यष्टव्यमित्येव पक्षोऽस्माकं नराधिप।
देवानां तु पशुपक्षो मतो राजन्वदस्व नः॥ —महा० शां० ३३७।१३

अर्थात् हमारा यह पक्ष है कि धान्य ही से यज्ञ करना चाहिए और देवताओं का यह पक्ष है कि पशुमांस से ही यज्ञ करना चाहिए, इसलिए हे राजन्! इस विषय में आप अपना मत प्रकट कीजिए। इसके आगे लिखा है कि—

देवानां तु मतं ज्ञात्वा वसूनां पक्षसंश्रयात्।
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा॥ —महा० शां० ३३७।१४

अर्थात् देवताओं का मत ज्ञात करके राजा वसु ने कहा कि अज—छाग ही से यज्ञ करना चाहिए।

राजा वसु के इस निर्णय से ऋषियों का पक्ष गिर गया और उसी दिन से पशुयज्ञ होने लगे और यज्ञों में मांस का होम होने लगा, परन्तु इस निर्णय के पहले पशुमांस से यज्ञ नहीं होते थे। इसके पहले स्वयं राजा वसु ने ही यज्ञ किया था, किन्तु उस यज्ञ में पशुवध नहीं हुआ था। इसी कथा में लिखा है कि **'न तत्र पशुघातोऽभूत् स राजैरास्थितोऽभवत्'** (महा० शां० ३३६।१०) अर्थात् उस यज्ञ में पशुघात नहीं हुआ था।

इस वर्णन से पाया जाता है कि एक समय था जब पशुमांस से यज्ञ नहीं होते थे। हमारी यह बात इसी कथा के अगले भाग से अच्छी प्रकार पुष्ट होती है। महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३४० श्लोक ८२ से ९४ तक के लेख का सार यह है कि—

इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः। अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा॥
चतुष्पात्सकलो धर्मो भविष्यत्यत्र वै सुराः। ततस्त्रेतायुगं नाम त्रयी यत्र भविष्यति॥
प्रोक्षिता यज्ञपशवो वधं प्राप्स्यन्ति वै मखे। यत्र पादश्चतुर्थो वै धर्मस्य न भविष्यति॥

अर्थात् यह सत्ययुग है—श्रेष्ठकाल है, इसमें यज्ञ के लिए पशुहिंसा करने योग्य नहीं है, क्योंकि धर्म चारों कलाओं से परिपूर्ण है, परन्तु इसके आगे त्रेतायुग होगा, उसमें धर्म के तीन ही पाद होंगे, इसलिए उसमें यज्ञों में पशुवध होगा।

इस वर्णन से ज्ञात होता है कि पूर्वयुग में—आदिमकाल में—संहिताकाल में पशुवध नहीं होता था, प्रत्युत उसके बाद उत्तरयुग में जब धर्म में ह्रास हुआ तब पशुवध होने लगा।

(६) इस पूर्वयुग और उत्तरयुग की बात पर यज्ञ की पूर्ववेदी और उत्तरवेदी स्पष्टरूप से प्रकाश डालती हैं, क्योंकि जिन यज्ञों में पशुवध होता है उनमें पूर्ववेदी और उत्तरवेदी बनाई जाती हैं और पशुवध उत्तरवेदी में ही होता है। पूना कॉलेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल डॉक्टर मार्टिन हाग ने ऐतरेयब्राह्मण के भाष्य में अग्निष्टोमयज्ञ का एक बहुत ही उत्तम चित्र दिया है। उसमें वेदी, मण्डप और ऋत्विजों के स्थान आदि का विस्तृत चित्रण है। उस चित्रपट के देखने से पता लगता है कि उत्तरवेदी, पूर्ववेदी से बहुत दूर है और उत्तरवेदी ही के पास बलिपशु के बाँधने का यूप है। चित्र में दिखलाया गया है और होम करने के लिए अग्नि पूर्ववेदी से तीन द्वारों में घुमाकर उत्तरवेदी में लाई जाती है और उसी वेदी में पशुमांस का होम होता है। इस प्रमाण से स्पष्ट हो रहा है कि पूर्ववेदी में, अर्थात् आदिम कालीन यज्ञवेदी में पशुमांस का होम नहीं होता था, किन्तु उत्तरवेदी, अर्थात् पश्चात् कालीन वेदी में ही होता है, अतः पशुयज्ञ संहिताकालिक नहीं है। यह बात बिलकुल ही स्पष्ट हो जाती है जब हम देखते हैं कि उत्तरवेदी शब्द चारों वेदों में नहीं है। उत्तरवेदी शब्द यजुर्वेद १९।१६ में एकबार आता है, परन्तु हम कात्यायनकृत सर्वानुक्रमणी के प्रमाण से लिख आये हैं कि वह भाग ब्राह्मण है, संहिता नहीं। इससे ज्ञात हुआ कि उत्तरवेदी जिसमें पशुवध होता है वह संहिताकालीन नहीं है, प्रत्युत ब्राह्मणकालीन है, अतः वेदों में पशुयज्ञ का वर्णन और विधान नहीं है।

(७) पशुयज्ञों के संहिताकालिक न होने का बहुत बड़ा प्रमाण तैत्तिरीयसाहित्य में लिखा हुआ है। वहाँ लिखा है कि—

यदृचोऽध्यगीषत ताः पय आहुतयो देवानामभवन्। यद्यजूꣳषि घृताहुतयो यत्सामानि सोमाहुतयो यदर्थवाङ्गिरसो मध्वाहुतयो यद्ब्राह्मणानि इतिहासान् पुराणानि कल्पान् गाथा-नाराशंसीर्मेदाहुतयो देवानामभवन्। —तैत्तिरीय प्र० २ अ० ९ मं० २

अर्थात् ऋग्वेद का पाठ देवताओं के लिए दूध की आहुतियाँ, यजुर्वेद का घृत की आहुतियाँ, सामवेद का सोम की आहुतियाँ, अथर्ववेद का मधु की आहुतियाँ और ब्राह्मण, इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी आदि का पाठ मेद की आहुतियाँ हैं।

यहाँ चारों वेदों का सम्बन्ध दूध, घृत, सोमरस और मधु की आहुतियों के साथ बतलाया गया है, किन्तु वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मण और पुराण आदि जितने उत्तरयुगीय शास्त्र हैं, सबका सम्बन्ध मेद, अर्थात् चर्बी की आहुतियों के साथ बतलाया गया है। इस प्रमाण से बहुत ही अच्छी प्रकार प्रमाणित हो जाता है कि पशुयज्ञ संहिताकालिक नहीं प्रत्युत तैत्तिरीय, अर्थात् रावणादिकालिक है और रावणादि से राजा वसु के पास पहुँचा है तथा (जैसा कि ऊपर कहा गया है) राजा वसु ने आर्यों में प्रचलित कर दिया है।

(८) पशुहिंसा के उत्तरकालीन होने में बुद्ध भगवान् की सर्वोत्कृष्ट साक्षी है। सुत्तनिपात ग्रन्थ में लिखा है कि एकबार ब्राह्मणों ने बुद्ध से पूछा कि क्या इस समय ब्राह्मण लोग सनातनधर्म का पालन करते हैं? इसपर बुद्ध ने कहा कि—

अन्नदा बलदा नेता वण्णदा सुखदा तथा
एतमत्थवसं ञत्वा नास्सु गावो हनिंसुते।
न पादा न विसाणेन नास्सु हिंसन्ति केनचि
गावो एळक समाना सोरता कुंभ दूहना।
ता विसाणे गहेत्वान राजा सत्येन घातयि।

अर्थात् पूर्वसमय में ब्राह्मण लोग गौ को अन्न, बल, कान्ति और सुख देनेवाली मानकर उसकी कभी हिंसा नहीं करते थे, परन्तु आज घड़ों दूध देनेवाली, पैर और सींग से न मारनेवाली बकरी के समान सीधी गाय को गोमेध में मारते हैं।

इससे स्पष्ट पाया जाता है कि बुद्ध के समय में यह बात अच्छी प्रकार प्रकट थी कि पूर्वसमय में गौ का यज्ञ में वध नहीं होता था। चारवाक स्पष्ट ही कहता है कि '**मांसानां खादनं तद्वन्निशाचरसमीरितम्**', अर्थात् वेदों में मांसभक्षण निशाचरों का मिलाया हुआ है। इससे यह बात और भी दृढ़ हो जाती है कि पशुवध वेदों में नहीं है, यह कृत्य पीछे से रासक्षों के संसर्ग से आया है।

(९) यज्ञों में मांसाहुति और मांसाहार का प्रचार करनेवालों की हिन्दूशास्त्रों में बहुत अधिक निन्दा की गई है। निन्दा करते हुए कहा गया है कि पशुयज्ञ नवीन है। महाभारत में लिखा है—

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयः पशुः। येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः॥
—महा० अनु० ११५।४९

सुरां मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्। धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्। —महा० शां० मो० २६५।९-१०

अर्थात् पूर्वकाल में अन्नपशु से ही याज्ञिक लोग यज्ञ करते थे। मद्य, मांस आदि का प्रचार तो लोभी, लोलुप और धूर्तों ने कर दिया है, इसकी वेद में कुछ भी चर्चा नहीं है।

इसी प्रकार महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय ११५ में लिखा है कि 'नाभाग, अम्बरीष, गय, आयुर्नाथ, अरण्य, दिलीप, रघु, पुरु, नहुष, ययाति, नृग, शशबिन्दु, युवानाश्व, शिवि, औशीनर, मुचकुन्द, हरिश्चन्द्र, सेनचित्र, सोमक, वृक, रैवत, रन्तिदेव, वसु, संजय, कृपभरत, राम, अलक, विरूपाश्व, निमि, जनक, ऐल, पृथु, वीरसेन, इक्ष्वाकु, शंभु, श्वेत, सगर, अज, धुंधु, सुबाहु, क्षुप, मरुत, एतैश्चान्येश्च राजेन्द्र पुरा मांसं न भक्षितम्' अर्थात् उपर्युक्त समस्त राजाओं तथा अन्य राजाओं ने कभी मांस नहीं खाया। इन समस्त प्रमाणों, पुरातन आचारों और ऐतिहासिक साक्षियों से स्पष्ट है कि मांसयज्ञ वेदकालिक नहीं प्रत्युत मध्यमकालिक हैं और रावणादि असुर धूर्तों के प्रचलित किये हुए हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि असुरों ने इन्हें कैसे प्रचलित किया?

यह तो मानी हुई बात है कि असुर और राक्षस मांसहारी थे। उपर्युक्त राजा वसु के इतिहास से प्रकट हो रहा है कि असुरों की सङ्गति से ही प्रेरित होकर राजा वसु ने मांसयज्ञ के पक्ष में अपना मत दिया था और अज शब्द के दो अर्थ हैं—पुराना धान्य और बकरा। जिस प्रकार अज के दो अर्थ हैं उसी प्रकार गौ, अश्व, मांस, रुधिर, त्वचा आदि शब्दों के भी दो-दो, तीन तीन अर्थ हैं। इन्हीं द्व्यर्थक शब्दों के कुछ नमूने उद्धृत करते हैं—

वैदिक कोष निघण्टु के देखने से ज्ञात होता है कि वेद में मेघ को अद्रि, अश्मा, पर्वत, गिरि और उपल भी कहते हैं, परन्तु ये सब शब्द लोक में पहाड़ों के लिए ही व्यवहार में आते हैं। इसी प्रकार वेद में सागर और समुद्र शब्द अन्तरिक्ष के लिए भी आये हैं, परन्तु व्यवहार में ये शब्द समुद्र के लिए ही आते हैं। वेद में गाव:शब्द किरणों के लिए और सुपर्ण शब्द घोड़े तथा किरणों के लिए भी आता है। इस प्रकार गौ और अश्व दोनों शब्द सूर्यकिरणों के भी वाची माने जाते हैं। जो दशा इन शब्दों की है वही दशा अन्य सैकड़ों शब्दों की भी है। इन अर्थों के अतिरिक्त वैज्ञानिक परिभाषा के कारण भी शब्दों के दो-दो अर्थ हो जाते हैं। वेद का '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**' मन्त्र प्रसिद्ध है। यास्काचार्य ने इस टुकड़े का अर्थ करते हुए लिखा है कि '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा—अग्निना अग्निमयजन्त देवा—अग्निः पशुरासीत्तं देवाऽलभन्त**', अर्थात् देवों ने अग्नि से अग्नि का यजन किया, क्योंकि अग्नि ही पशु था उसी को देवता प्राप्त हुए। यहाँ अग्नि को पशु कहा गया है। यही नहीं, किन्तु वायु और सूर्य को भी पशु कहा गया है[1] तथा यजुर्वेद अध्याय ३१ के '**सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृता। देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्**', मन्त्र में पुरुष को भी पशु कहा गया है। इस मन्त्र के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ यह है कि रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा मेद और वीर्य की सात परिधियाँ बनाकर पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, दश प्राण और एक मन की इक्कीस समिधाओं को लेकर और आत्मारूपी पुरुष पशु को बाँधकर देवतों ने शरीरयज्ञ को फैलाया। दूसरा अर्थ यह है कि सातों स्वरों की सात परिधियाँ बनाकर इक्कीस मूर्छनाओं की इक्कीस समिधाओं को लेकर और नादरूपी पुरुष पशु को बाँधकर देवताओं ने सङ्गीतयज्ञ को फैलाया। इन दोनों अर्थों से आत्मा और नाद भी पशु ही सिद्ध होते हैं, किन्तु प्रश्न यह है कि इन अग्नि, वायु, सूर्य, आत्मा और नाद आदि को पशु कहने का क्या कारण है। इस विषय का निर्णय शतपथब्राह्मण के एक प्रश्नोत्तर से अच्छी प्रकार हो जाता है। वहाँ पूछा गया है कि कतम:प्रजापतिरिति, अर्थात् प्रजा का पालन करनेवाला कौन हैं? उत्तर दिया गया है कि 'पशुरिति', अर्थात् प्रजा का पालन करनेवाला पशु ही है। ज्ञात हुआ कि जो पदार्थ या शक्तियाँ प्रजा का पालन करती हैं वे सब पशु शब्द से ही सूचित की गई हैं। अग्नि आँख और रूप को देकर, वायु प्राण और बल को देकर, सूर्य मेधा और चैतन्य को

---

१. **अग्निः पशुरासीत्तेनायजन्त, वायुःपशुरासीत्तेनायजन्त, सूर्यः पशुरासीत्तेनायजन्त।** —यजुर्वेद २३।१७

देकर, आत्मा जीवन देकर और नाद आनन्द देकर प्रजा का पालन करते हैं, इसीलिए पशु नाम से सूचित किये गये हैं और इसी प्रकार अनेक शब्द वैज्ञानिक परिभाषाओं के कारण दो-दो अर्थ रखते हैं। जिस प्रकार ये शब्द अपना अपूर्व अर्थ रखते हैं उसी प्रकार उपर्युक्त अज शब्द भी वैज्ञानिक अर्थ के ही कारण बीज अर्थ में आता है। अज का अर्थ न पैदा होनेवाला है। बीज का मतलब भी यही है। बीज भी कभी पैदा नहीं होता। बीज—कारण सदैव उत्पत्तिरहित अनादि काल से चला आ रहा है। इसीलिए '**अजसंज्ञानि बीजानि**' के अनुसार अज का अर्थ बीज भी होता है। वेद में इस प्रकार के अर्थकौशल का चमत्कार भरा पड़ा है। जिस प्रकार वेदशब्दों के दो-दो, तीन-तीन अर्थ होते हैं उसी प्रकार लौकिक शब्दों के भी अनेक अर्थ होते हैं। भावप्रकाश में इस प्रकार के कई शब्द दिये हुए हैं—

अक्षशब्दः स्मृतोऽष्टासु सौवर्चलविभीतके। कर्षपद्माक्षरुद्राक्षशकटेन्द्रियपाशके॥
काकाख्यः काकमाची च काकोली काकणन्तिका। काकजंघा काकनासा काकोदुंबरि कापि च॥
सप्तस्वर्थेषु कथितः काकशब्दो विचक्षणैः। सर्पद्विरदमेषेषु सीसके नागकेसरे॥
नागवल्यां नागदन्त्यां नागशब्दः प्रयुज्यते। मांसे द्रवे चेक्षुरसे पारदे मधुरादिषु॥
बालरोगे विषे नीरे रसो नवसु वर्तते।

अर्थात् अक्ष शब्द के आठ अर्थ हैं—संचर नमक, बहेड़ा, एक कर्ष (तौल), पद्माक्ष, रुद्राक्ष, छकड़ा, इन्द्रिय और पासे। काकशब्द के सात अर्थ हैं—मकोय, काकोली, लाल घूँघची, काकजंघा, काकनासा, कठूमर और काकपक्षी। नाग शब्द के आठ नाम हैं—सांप, हाथी, मेढ़ा, सीसा, नागकेशर, नागरबेल, पान और नागदन्ती। रस शब्द के नौ अर्थ हैं—मांस, द्रव, ईख का रस, पारद, मधुरादि छह रस, बालक का एक रोग, विष, जल और काव्य के नौ रस।

जिस प्रकार ये शब्द अनेक अर्थ रखते हैं उसी प्रकार गौ, वृषभ, अज और अश्व आदि शब्द भी अनेक अर्थ रखते हैं। यहाँ हम नमूने के रूप में गौ आदि कुछ शब्दों के अनेक अर्थों को दिखलाने का यत्न करते हैं। निरुक्त में लिखा है कि '**चर्म च श्लेष्मा च स्नायु च ज्यापि गौरुच्यते**', अर्थात् चमड़ा, श्लेष्मा, नसें और धनुष की डोरी को भी गौ कहते हैं। ऐसी दशा में जहाँ चमड़े और प्रत्यञ्चा के काटने की बात हो वहाँ गौ के काटने का अर्थ ले-दौड़ना बहुत ही सहज है। इन नामों के अतिरिक्त जिह्वा, वाणी, पृथिवी, किरण और इन्द्रियों को भी गौ कहा गया है। इस प्रकार जब गौ शब्द के अनेक अर्थ हैं तब प्रत्येक स्थान पर चतुष्पाद गौ का ही ग्रहण करना नितान्त अनुचित है।

जिस प्रकार गौ शब्द के अनेक अर्थ हैं उसी प्रकार वृषभ शब्द भी अनेक अर्थों में आता है। यहाँ हम वैद्यक के ग्रन्थों से दिखलाते हैं कि संस्कृत में जितने शब्द बैल के अर्थ में आते हैं, वे सब काकड़ासिंगी ओषधि के लिए भी प्रयुक्त हुए हैं।

ऋषभो गोपतिर्धीरो वृषाणी धूर्धरो वृषः।
ककुद्मान् पुंगवो वोढा शृङ्गी धुर्यश्च भूपतिः॥ —राजनिघण्टु० १।१५६
शृङ्गी कर्कटशृङ्गी च स्यात् कुलीरविषाणिका।
अजशृङ्गी च रक्ता च कर्कटाख्या च कीर्तिता॥ —भावप्रकाश० हरित० १८१

इन श्लोकों में वृषभ के समस्त नाम काकड़ासिंगी के लिए आये हैं। ऐसी अवस्था में जहाँ कहीं काकड़ासिंगी के काटने, पकाने और खाने का वर्णन हो वहाँ बैल के काटने, पकाने और खाने का अर्थ करना बहुत ही सहज है। इसी प्रकार वाग्भट्ट में अनेक प्राणियों के नाम से धानों

(चावलों) की अनेक जातियों का वर्णन किया गया है। एक स्थान पर लिखा है कि—

ततः क्रमान् महाव्रीहिः कृष्णव्रीहिजतूमुखाः।
कुक्कुटाण्डकपालाख्या पारावतकसूकराः॥
वारकोद्दालको ज्वालचीनशारददर्दुराः।

यहाँ जतूमुख, कुक्कुटाण्ड, कपाल, पारावत, सूकर और दर्दुर आदि अनेक प्राणियों के नाम से चावलों का वर्णन किया गया है। यदि कहीं पर सूकर और दर्दुर पकाकर हवन करने की विधि हो तो लोग यही कहेंगे सुवर और मेंढक के मारने, पकाने, हवन करने और खाने का विधान है, परन्तु यहाँ बात ही कुछ और है। इसी प्रकार भावप्रकाश में लिखा है कि—

अजमोदा खराश्वा च मयूरी दीप्यकस्तथा।

यहाँ अश्व, खर और मयूरी आदि नाम अजमोदा के बताये गये हैं। अश्वगन्धा का भी अश्व के नाम से वर्णन किया गया है। इसी प्रकार सुश्रुत में लिखा है कि—

अजा महौषधी ज्ञेया शंखकुन्देन्दुपाण्डुरः।

यहाँ अजा भी ओषधि ही बताई गई है।

कहने का तात्पर्य यह है कि गौ, वृषभ, सूकर, अश्व और अजा आदि जितने प्राणियों की यज्ञ में हिंसा बतलाई जाती है वे सब ओषधियाँ हैं और हवनीय तथा प्राश्नीय पदार्थ हैं। केवल द्व्यर्थक होने से ही असुरों ने उनका हिंसापरक अर्थ करके अपना स्वार्थ सिद्ध किया है। इसपर कोई कह सकता है कि यह तो पशुओं और अन्नों के नामों की समता का समाधान हुआ, परन्तु जहाँ यज्ञ में स्पष्ट मांस, अस्थि, मज्जा और नसों के वर्णन आते हैं, उसका क्या इलाज है। हम कहते हैं वहाँ भी दो भिन्न-भिन्न अर्थों के ही कारण ऐसा भासित होता है। सुश्रुत में आम के फल का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

अपक्वे चूतफले स्नाय्वस्थिमज्जानः
सूक्ष्मत्वान्नोपलभ्यन्ते पक्वे त्वाऽविर्भूता उपलभ्यन्ते।

अर्थात् आम के कच्चे फल में नसें, हड्डियाँ और मज्जा आदि प्रतीत नहीं होती, किन्तु पकने पर सब आविर्भूत हो जाती हैं।

यहाँ गुठली के तन्तु रोम, गुठली हड्डियाँ, रेशे नसें और चिकना भाग मज्जा कहा गया है। इसी प्रकार का वर्णन भावप्रकाश में भी आया है। वहाँ लिखा है कि—

आम्रास्यानुफले भवन्ति युगपन्मांसास्थिमज्जादयो
लक्ष्यन्ते न पृथक् पृथक् तनुतया पुष्टास्त एव स्फुटाः।
एवं गर्भसमुद्भवे त्ववयवाः सर्वे भवन्त्येकदा
लक्ष्याः सूक्ष्मतया न ते प्रकटतामायान्ति वृद्धिङ्गताः।

अर्थात् जिस प्रकार कच्चे आम के फल में मांस, अस्थि और मज्जादि पृथक्-पृथक् नहीं दिखलाई पड़ते, किन्तु पकने पर ही ज्ञात होते हैं उसी प्रकार गर्भ के आरम्भ में मनुष्य के अङ्ग भी नहीं ज्ञात होते, किन्तु जब उनकी वृद्धि होती है तब स्पष्ट हो जाते हैं।

इन दोनों प्रमाणों से प्रकट हो रहा है कि फलों में भी मांस, अस्थि, नाड़ी और मज्जा आदि उसी प्रकार कहे गये हैं जिस प्रकार प्राणियों के शरीर में। वैद्यक के एक ग्रन्थ में लिखा है कि—

प्रस्थं कुमारिकामांसम्।

अर्थात् एक सेर कुमारिका का मांस। यहाँ घीकुवार को कुमारिका और उसके गूदे को मांस

कहा गया है।

कहने का तात्पर्य यह कि जिस प्रकार ओषधियों और पशुओं के नाम एक ही शब्द से रक्खे गये हैं उसी प्रकार ओषधियों और पशुओं के शरीरावयव भी एक ही शब्द से कहे गये हैं। इस प्रकार का वर्णन आयुर्वेद के ग्रन्थों में भरा पड़ा है। श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, मुम्बई के छपे हुए 'ओषधिकोष' में नीचे लिखे समस्त पशुसंज्ञक नाम और अवयव वनस्पतियों के लिए भी आये हुए दिखलाये गये हैं। हम नमूने के लिए कुछ शब्द उद्धृत करते हैं—

वृषभ—ऋषभकन्द
श्वान—कुत्ताघास, ग्रन्थिपर्ण
मार्जार—बिल्लीघास, चित्ता
मयूर—मयूरशिखा
बीछू—बीछूबूटी
सर्प—सर्पिणीबूटी
अश्व—अश्वगन्धा
अजमोदा
नकुल—नाकुलीबूटी
हंस—हंसपदी
मत्स्य—मत्स्याक्षी
मूषक—मूषाकर्णी
गो—गौलोमी
महाज—बड़ी अजवायन
सिंही—कटेली, वासा
खर—खरपर्णिनी
काक—काकमाची
वाराह—वाराहीकन्द
महिष—महिषाक्ष, गुग्गुल
श्येन—श्येनघंटी (दन्ती)
मेष—जीवशाक
कुक्कुट (टी) शाल्मलीवृक्ष
नर—सौगन्धिक तृण
मातुल—घमरा
मृग—सहदेवी, इन्द्रायण, जटामासी, कपूर
पशु—अम्बाड़ा, मोथा
कुमारी—घीकुमार
हस्ति—हस्तिकन्द
वपा—झिल्ली=बक्कल के भीतर का जाला
अस्थि—गुठली
मांस—गूदा, जटामासी
चर्म—बक्कल
स्नायु—रेशा
नख—नखबूटी
मेद—मेदा
लोम (शा)—जटामासी
हृद—दारचीनी
पेशी—जटामासी
रुधिर—केसर
आलम्भन—स्पर्श

इस सूची में समस्त पशु-पक्षियों और उनके अवयवों के नाम तथा समस्त वनस्पतियों और उनके अवयवों के नाम एक ही शब्द से सूचित किये गये हैं। ऐसी दशा में किसी शब्द से पशु और उसका ही अवयव ग्रहण नहीं किया जा सकता। यद्यपि बिना कारण के कोई विशेष अर्थ ग्रहण नहीं किया जा सकता तथापि यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि ऐसी सन्देहात्मक भाषा क्यों बनाई गई, जिसका अर्थ ही स्पष्ट नहीं होता। इस प्रश्न का इतना ही उत्तर है कि संसार में ऐसी एक भी भाषा नहीं है जिसके शब्दों के दो-दो, तीन-तीन अर्थ न होते हों। अब रही यह बात कि ऐसा क्यों होता है और क्यों एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, इसका उत्तर बहुत ही सरल है। हम देखते हैं कि वेद में दो कारणों से ऐसा हुआ है। एक कारण तो यह है कि दो पदार्थों की समता के कारण भी दोनों का एक ही नाम दिया जाए। पहला कारण स्पष्ट है, उसमें लिखने की आवश्यकता नहीं है। सभी भाषाशास्त्री चाहते हैं कि यदि थोड़े-से शब्दों ही के द्वारा संसार का

काम चल जाए तो अच्छा, किन्तु पदार्थसाम्य से भिन्न-भिन्न पदार्थों का नाम एक ही शब्द के द्वारा रखने में बहुत ही ऊँचे ज्ञान की आवश्यकता है। अभी थोड़ी देर पहले हम लिख आये हैं कि अन्तरिक्ष और समुद्र के नाम एक ही शब्द के द्वारा रक्खे गये हैं। इसी प्रकार पहाड़ों और बादलों के नाम भी एक ही शब्द के द्वारा रक्खे गये हैं। ये दोनों उदाहरण पदार्थसाम्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। जिन्होंने समुद्र देखा है वे जानते हैं कि वह किस प्रकार हूबहू आकाश की नीलिमा के साथ मिल जाता है। इसी प्रकार जिन्होंने पहाड़ देखे हैं वे जानते हैं कि बादलों की बनावट भी पहाड़ों के ही सदृश होती है। वेदों ने इस प्रकार का समतामूलक नामकरण करके भाषाविज्ञान को बहुत ही ऊँचा कर दिया है। जो विशेषता इन समताओं में पाई जाती है वही समता मनुष्यों, प्राणियों और वनस्पतियों में भी पाई जाती है। ये तीनों थोक रूप बदले हुए एक ही थोक के परिणाम हैं। तीनों के शरीरों में जो अवयव हैं वे भी सब एक ही प्रकार का काम दे रहे हैं। इसीलिए पशुओं और उनके अंगों के ही नामों से वनस्पतियों और उनके अंगों के भी नाम रक्खे गये हैं। इसमें भाषाशास्त्र की महान् विशेषता प्रतीत होती है। यद्यपि इसमें भाषाशास्त्र की विशेषता है, विज्ञान है, सब-कुछ है, परन्तु सत्य बात के निर्णय करने में जो कठिनाई होती है उसका क्या इलाज है? हम कहते हैं कि सत्य अर्थ के निर्णय करने में कुछ भी कठिनाई नहीं है। वेदों में जहाँ कहीं इस प्रकार के द्व्यर्थक शब्दों के कारण गड़बड़ होने की सम्भावना हुई है, परमात्मा ने तुरन्त ही उसका स्पष्टीकरण कर दिया है, क्योंकि सन्दिग्ध बात के स्पष्टीकरण करने की जब साधारण मनुष्य के हृदय में भी प्रेरणा होती है, तब वह जगन्नियन्ता जिसने मनुष्य के कल्याण के लिए वेदवाणी दी है, क्या सन्देहों का स्पष्टीकरण नहीं कर सकता? अवश्य कर सकता है। हम यहाँ एक साधारण विद्वान् की एक उक्ति का नमूना दिखलाकर बताएँगे कि किस प्रकार परमात्मा ने वेदों में यज्ञविषयक सन्दिग्ध शब्दों का स्पष्टीकरण किया है। हठयोगप्रदीपिका में लिखा है कि—

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम्।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकः॥

अर्थात् जो नित्य गोमांस खाता है और मदिरा पीता है, वही कुलीन है, अन्य मनुष्य कुलघाती हैं।

कैसा भयङ्कर प्रयोग है। सुनने में कितना पाप प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में पाप की कोई बात नहीं है। अगले ही श्लोक में लेखक ने इसका भाव स्पष्ट कर दिया है। वह लिखता है—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्॥

अर्थात् योगी पुरुष जिह्वा को लौटाकर तालू में प्रवेश करता है, उसी को गोमांसभक्षण कहा गया है।

गो जिह्वा को कहते हैं और जिह्वा मांस की होती है। इसलिए जिह्वा को गोमांस के नाम से कहा गया है। यदि दूसरे श्लोक में यह बात स्पष्ट न कर दी जाती तो गोमांसभक्षण की विधि स्पष्टरूप से पाई जाती, किन्तु लेखक ने यह समझकर कि लोगों को भ्रम न हो जाए तुरन्त ही बात को स्पष्ट कर दिया है, इसी प्रकार वेदों में भी ऐसे सन्दिग्ध द्व्यर्थक शब्दों का समाधान और स्पष्टीकरण परमात्मा ने भी कर दिया है। अथर्ववेद में स्पष्ट लिखा है कि—

धाना धेनुरभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्। [अथर्व० १८।४।३२]

अर्थात् धान ही धेनु हैं और तिल ही उनके बछड़े हैं। धान अनेक प्रकार के होते हैं, इसलिए अनेक धानों के नाम भी बता दिये गये हैं। अथर्ववेद में ही लिखा है कि—

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना
रोहिणीर्धेनवस्ते। तिलवत्सा ऊर्जमस्मै॥ [अथर्व० १८।४।३४]

अर्थात् हरिणी, श्येनी, कृष्णा और रोहिणी आदि धान ही धेनु हैं। इनके तिलरूपी बछड़े हमें बल दें।

यहाँ बतला दिया गया कि हवन के प्रकरण में हरिणी, श्येनी और धेनु तथा वत्स आदि शब्द धान और तिल के वाचक हैं। इसी प्रकार मांस आदि शब्दों के विषय में भी अथर्ववेद में लिखा है कि—

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषा।
श्याममयोऽ स्य मांसानि लोहितमस्य लोहितम्॥ [अथर्व० ११।३(१)।५७]

अर्थात् चावल के कण ही अश्व हैं, चावल ही गौ हैं, भूसी ही मशक है, चावलों का जो श्यामभाग है वही मांस है और जो लाल अंश है, वही रुधिर है।

इन प्रमाणों से स्पष्ट हो गया कि हवनप्रकरण में जहाँ-जहाँ अश्व, गौ, अजा, मांस, अस्थि और मज्जा आदि शब्द आते हैं उनसे अन्न का ही ग्रहण है, पशुओं और पशुओं के अवयवों का नहीं। इस प्रकार से वेदों ने अपने आप अपने सन्दिग्ध द्व्यर्थक शब्दों का स्पष्टीकरण कर दिया है। इसी आज्ञा के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थों ने भी उक्त शब्दों का निर्वचन किया है। शतपथब्राह्मण में लिखा है कि—

यदा पिष्टान्यथ लोमानि भवन्ति। यदाप आनयति अथ त्वग्भवति। यदा स यौत्यथ मांसं भवति। सन्तत इव हि तर्हि भवति सन्ततमिव हि मांसम्। यदाशृतोऽथास्थि भवति दारुण इव हि तर्हि भवति दारुणमित्यास्थि। अथ यदुद्वासयन्नभिधारयति तं मज्जानं ददाति। एषो सा सम्पद्यदाहुः पांक्तः पशुरिति।

अर्थात् जो आटा है उसी की लोमसंज्ञा है। जब उसमें पानी मिलाया जाता है तब वही चर्म संज्ञावाला होता है। जब गूँधा जाता है तब मांस संज्ञावाला कहलाता है। जब तपाया जाता है तब उस तपे हुए का नाम अस्थि होता है और जब उसमें घी डाला जाता है तब वह मज्जा कहलाता है। इस तरह से इस पके हुए पदार्थ का नाम पशु है।

इसी प्रकार के पारिभाषिक नाम ऐतरेयब्राह्मण में भी गिनाये गये हैं। वहाँ लिखा है कि—

स वा एष पशुरेवालभ्यते यत्पुरोडाशस्तस्य यानि किंशारूपाणि तानि रोमाणि।
ये तुषाः सा त्वग्। ये फलीकरणास्तत् सृग्। यत्पिष्टं तन्मांसम्। एष पशूनां मेधेन यजते।

अर्थात् इस पुरोडाश में जो दाने हैं वही रोम कहलाते हैं, जो भूसी है वही त्वचा कहलाती है, जो टुकड़े हैं वही सींग कहलाते हैं और जो आटा है वही मांस कहलाता है। इस प्रकार के पके हुए अन्न का नाम पशु है।

जिस प्रकार फल के अवयवों को मांस, अस्थि और मज्जा कहा गया है, जिस प्रकार प्राणी के शरीरावयवों को मांस, अस्थि और मज्जा आदि कहा जाता है और जिस प्रकार भूसी कण और भात को खाल, अस्थि और मांस कहा गया है, ठीक उसी प्रकार फल और अन्न के उन-उन अवयवों से बने हुए हवनीय द्रव्यों को भी उन्हीं-उन्हीं नामों में कहा गया है, और जिस प्रकार अग्नि को पशु, वायु को पशु, सूर्य को पशु और पुरुष को पशु कहा गया है, उसी प्रकार उन-उन अवयववाले समस्त हवनीय पदार्थों को भी समष्टिरूप से पशु ही कहा गया है, क्योंकि हवनीय द्रव्यों के खाने से ही पोषक शक्ति की प्राप्ति होती है, इसी से उनका समूह पशु कहलाता है। इस

पशु से चतुष्पाद पशु का कुछ भी वास्ता नहीं है जैसाकि स्वयं वेद ने ही स्पष्ट कर दिया है। जिस प्रकार अस्थि-मांसवाले मनुष्य को पुरुषपशु कहा गया है और जिस प्रकार अस्थिमांस के होने से चतुष्पाद पशु भी पशु कहा गया है, उसी प्रकार अस्थि, मांस, मज्जावाले आम आदि फल और धान आदि अन्न भी पशु ही हैं, जैसा कि '**अश्वाः कणा गावस्तण्डुला**' में वेद ने कह दिया है। इस प्रकार से इस अन्न और फलमय पशु का—देखने, सुनने, स्मरण करने की पोषक शक्ति देनेवाले हवनीय अन्नमय पशु का यज्ञ में विधान है, परन्तु गौ आदि चतुष्पाद पशुओं के होम का विधान नहीं हैं।

इस अन्नमय पशु के हवन का ही विधान वेद में सर्वत्र पाया जाता है। हम द्वितीय खण्ड के यज्ञप्रकरण में लिख आये हैं कि तीन प्रकार के यज्ञ हैं। एक ब्रह्माण्डयज्ञ है, दूसरा पिण्डयज्ञ है और तीसरा यह घृतादि का लौकिक यज्ञ है। जिस प्रकार इस घृतादि के सांसारिक यज्ञ को अन्न से ही करने का विधान है उसी प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड के भी दोनों यज्ञ अन्न से ही करने के लिए कहा गया है और वहाँ भी अन्नपशु के सन्देह का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। जिस प्रकार संसार की गौ-बछड़े आदि सन्दिग्ध शब्दों का स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि धान ही गौ हैं, तिल ही बछड़े हैं, उनका श्यामभाग ही मांस है और लालिमा ही रक्त है, इसी प्रकार आकाशीय गौ के लिए भी स्पष्ट कर दिया गया है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः यवयावानो देवा०। —अथर्व० ९।२।१३

अर्थात् अग्नियव, इन्द्रयव, सोमयव और यववाली अन्नादि वस्तुएँ सब यव ही हैं और देवता इन यवों को प्राप्त होते हैं।

यहाँ पर स्पष्ट कर दिया कि '**अग्निः पशुरासीत्**' में जो अग्नि को पशु कह आये हैं वह अग्निपशु चतुष्पाद पशु नहीं है प्रत्युत यवरूपी पशु ही है। इसी प्रकार शारीरिक यज्ञ के प्रकरण में भी कह दिया है कि—

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते। यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥

—अथर्व० ११।४।१३

अर्थात् प्राण और अपान ही व्रीहि और यव हैं। प्राण ही बैल है। जौ में ही प्राण रक्खा हुआ है और अपान ही व्रीहि कहलाता है[१]।

इस वर्णन से भी ज्ञात हो गया कि यहाँ भी प्राण को बैल बतलाकर बैल को भी अन्न ही कह दिया है, चतुष्पाद बैल नहीं। कहने का तात्पर्य यह कि यज्ञ के प्रकरण में जहाँ कहीं पशु शब्द से सम्बन्ध रखनेवाले शब्द आये हैं, इन सबका तात्पर्य अन्न ही है, चतुष्पाद पशु नहीं, क्योंकि गोपथ ४।६ में स्पष्ट लिखा है कि '**पशवो वै धानाः**', अर्थात् धान्य ही पशु है।

यहाँ तक वेद में आये हुए मांसयज्ञसम्बन्धी द्व्यर्थक शब्दों का विवेचन हुआ। इस विवेचन से ज्ञात हुआ कि वेद में द्व्यर्थक शब्दों से जो भ्रम हो सकता है, उसका निराकरण स्वयं वेदों ने ही कर दिया है और स्पष्ट कर दिया है कि वेदों में अन्न के ही हवन की विधि है, पशु के हवन की नहीं। यह बात और भी पुष्ट हो जाती है जब हम मध्यमकालीन साहित्य को देखते हैं। यद्यपि मध्यम काल में असुरों के द्वारा द्व्यर्थक शब्दों के सहारे किया हुआ अर्थ प्रचलित हो गया था और यज्ञों में पशुवध होने भी लगा था, परन्तु यह पशुवध सर्वसम्मति से स्वीकार नहीं कर

---

१. **अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथा परे। अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।**

—भगवद्गीता ४।२९, ३०

लिया गया था। इसमें मतभेद था और पशुयज्ञ से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक प्रयोगों का अर्थ दो प्रकार से किया जाता था। हमारी यह बात नीचे लिखे कतिपय वाक्यों से स्पष्ट होती है। मीमांसा में लिखा है कि—

मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत्। —मीमांसा १२।२।२

अर्थात् जैसे यज्ञ में पशुहिंसा मना है, वैसे मांसपाक भी मना है।

उसी के दूसरे स्थान १०।३।६५ और १०।७।१५ में लिखा है कि '**धेनुवच्चाश्वदक्षिणा**' और '**अपि वा दानमात्रं स्याद् भक्षशब्दानभिसम्बन्धात्**', अर्थात् गौ की भाँति घोड़ा भी यज्ञ में दक्षिणा के ही लिए है अथवा केवल दान के ही लिए है, क्योंकि घोड़े के लिए कहीं भक्ष शब्द नहीं आया। आश्वलायन कहता है कि '**होमियं च मांसवर्जम्**', अर्थात् हवनयोग्य सामग्री में मांस नहीं है। इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि मांसयज्ञ प्रचलित होने पर भी वह सर्वस्वीकृत नहीं था।

कुछ लोग बलि, आलम्भ, मधुपर्क और गोघ्नौ शब्दों से भी पशुहिंसा निकालते हैं, परन्तु हम देखते हैं कि मध्यमकालीन साहित्य भी इन शब्दों का अर्थ हिंसापरक नहीं करता। बलि शब्द का अर्थ मारना नहीं होता। बलिवैश्वदेव में काकबलि, श्वाबलि होती है, परन्तु कौवे और कुत्ते मारे नहीं जाते, प्रत्युत उनको उनका बलि—भाग दिया जाता है, जिससे बलि का अर्थ मारना नहीं, किन्तु भाग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आलम्भ शब्द से भी हिंसा अर्थ नहीं निकलता। निघण्टु में हिंसार्थक जितने शब्द हैं, उनमें आलम्भ शब्द नहीं है। मीमांसा २।३।१७ की सुबोधिनी टीका में स्पष्ट लिखा हुआ है कि '**आलम्भः स्पर्शो भवति**', अर्थात् स्पर्श का नाम आलम्भ है। यही बात सत्य भी प्रतीत होता है, क्योंकि हम देखते हैं कि यज्ञोपवीत संस्कार के समय '**अथास्य दक्षिणसमधिहृदयमालभते**' और विवाह संस्कार के समय '**दक्षिणां समधिहृदयमालभते**' आदि पारस्करसूत्रों के अनुसार ब्रह्मचारी और कन्या के हृदय का स्पर्श होता है। इन दोनों संस्कारों में आलम्भ शब्द से स्पर्श ही किया जाता है, कोई वध नहीं किया जाता। इसी प्रकार पुराकाल में पशु आलम्भ, अर्थात् पशुस्पर्श भी होता था। यह एक विशेष यज्ञ था। कई वर्ष तक पानी न बरसने से जब पशु भूखों मरने लगते थे तब किसान लोग स्पर्शयज्ञ करते थे। महाभारत आश्वमेधिकपर्व में लिखा है कि—

यदि द्वादशवर्षाणि न वर्षति वासवः। स्पर्शयज्ञं करिष्यामि विधिरेष सनातनः॥[1]

अर्थात् यदि बारह वर्ष तक पानी न बरसेगा तो मैं स्पर्शयज्ञ करूँगा।

इस स्पर्शयज्ञ का तात्पर्य यही था कि लोग अपने-अपने पशुओं को छू-छूकर छोड़ देते थे और कह देते थे कि जाओ जहाँ चरने को मिले चरो। इस विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि आलम्भ का अर्थ मारना नहीं, प्रत्युत स्पर्श है। जिस प्रकार आलम्भ से पशुहिंसा सूचित नहीं होती उसी प्रकार मधुपर्क से भी हिंसा सिद्ध नहीं होती, क्योंकि लिखा है कि '**मधुपर्कं दधिमधुघृतमपि हितं कांस्ये कांस्येन**', अर्थात् तीन भाग दधि, एक भाग शहद और एक भाग घृत कांसे के पात्र में रखने से मधुपर्क बनता है। इसमें भी कोई हिंसा की बात सूचित नहीं होती। अब रही '**गोघ्नोऽतिथिः**' की बात। लोग कहते हैं कि अतिथि के लिए गौ मारी जाती थी, किन्तु मध्यमकालीन पण्डितों ने इसका भी समाधान कर रक्खा है। पाणिनिमुनि ने इसके लिए एक सूत्र ही बना दिया है। वे कहते हैं कि '**दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने**', अर्थात् हन् धातु के तीन अर्थ होते हैं—

---

१. महा० अश्वमे० ९२।१८-१९

ज्ञान, गमन और प्राप्ति, इसलिए गोघ्नपद प्राप्ति अर्थ में—दान अर्थ में ही है, अत: जिस अतिथि को गौ दी गई हो वही गोघ्न है। तात्पर्य यह कि पशुहिंसा से सम्बन्ध रखनेवाले प्राचीन साहित्य में जितने शब्द—जितने प्रयोग मिलते हैं, मध्यमकालीन वैदिक पण्डितों ने सबका तात्पर्य हिंसारहित ही निकाला है। इससे ज्ञात होता है कि पशुयज्ञ कभी भी सर्वसम्मति से स्वीकृत नहीं हुआ। यहाँ तक कि आयुर्वेद में भी आर्यों ने मांस ओषधियों को अपने लिए नहीं कहा। चरक में स्पष्ट लिखा है कि—

द्विजानामोषधीसिद्धं घृतं मांसविवृद्धये। सितायुक्तं प्रदातव्यं गव्येन पयसा भृशम्॥

—चरक चि० ८।१४९

अर्थात् पुष्टि के लिए आर्यों की ओषधियाँ मिश्री से युक्त घी और दूध ही हैं। मांस तो '**यक्ष रक्षपिशाचान्नम्**', अर्थात् पिशाचों का अन्न हैं।

हमारे यहाँ तक के विवेचन का सार इतना ही है कि असुर, राक्षस मांसाहारी थे ही। जब उन्होंने आर्यों में प्रवेश किया तब वेदों के द्व्यर्थक शब्दों से मांस हवन का विधान बनाकर पशुमांस से यज्ञों को करने लगे और मांस खाने लगे[1]।

यद्यपि वेदों में इसका स्पष्टीकरण विद्यमान है और उस स्पष्टीकरण को लेकर वैदिक विद्वान् आदि से लेकर अबतक कहते चले आ रहे हैं कि—

श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां व्रीहिमयो पशुः। —महा० अनु०

धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञैर्नैतद्वेदेषु कल्प्यते॥ —महा० शन्ति०

अर्थात् हम प्राचीन काल से सुनते आ रहे हैं कि यज्ञविधान में पशुसंज्ञा अन्न की ही है और मांसयज्ञ का प्रचार धूर्तों ने किया है, उनका विधान वेदों में नहीं है, तथापि पाप की ओर मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, इसलिए मांसयज्ञ का प्रचार आर्यों में भी हो गया। प्रचार हो गया इसमें सन्देह नहीं, परन्तु वह प्रचार सर्वसम्मति से स्वीकृत नहीं हुआ। सभी विद्वान् कहते आ रहे हैं कि वेदों में पशुयज्ञ का विधान नहीं है। विष्णुशर्मा ने पञ्चतन्त्र में ठीक ही कहा है कि—

वृक्षांश्छित्वा पशून् हत्वा कृत्वा रुधिरकर्दमम्। यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते।

अर्थात् जंगलों के काटनेवाले, पशुओं को मारनेवाले और मनुष्यों की बलि देनेवाले यदि स्वर्ग को जाएँगे तो भला नरक को कौन जाएगा?

इसलिए सर्वतन्त्र सिद्धान्त यही है कि वेदों में पशुयज्ञ नहीं है।

जिस प्रकार वेदों में इतिहास और पशुयज्ञ नहीं है उसी प्रकार वेदों में अश्लीलता भी नहीं है। कुछ लोग कहा करते हैं कि वेदों में अश्लील बातों का वर्णन है, परन्तु जिन स्थलों को लेकर वे ऐसा कहते हैं वे स्थल काव्य के उत्कृष्ट रसोद्रेक के द्वारा बहुत ही उत्तम शिक्षा देते हैं, इसलिए शिक्षासम्बन्धी वे वर्णन अश्लील नहीं कहला सकते, क्योंकि हम संसार में देखते हैं कि एक ही वस्तु एक स्थान में अश्लील है और वही दूसरे स्थान में अश्लील नहीं है। एक आदमी डॉक्टर के सामने नङ्गा खड़ा है, उसपर अश्लीलता का कलङ्क नहीं लग रहा, किन्तु वही आदमी यदि किसी अन्य मनुष्य के सामने नग्न खड़ा है तो उसपर अश्लीलता का कलङ्क लग रहा है। इसी प्रकार डॉक्टरी की पुस्तकें जिनमें चित्र देकर गुप्तेन्द्रियों के वर्णन होते हैं, वे अश्लील नहीं समझी

---

१. श्रीमद्भागवत ११।१४।५, ७ में स्पष्ट लिखा हुआ है कि '**तेभ्यः पितृभ्यस्तत्पुत्रो देवदानवगुह्यकाः। यथाप्रकृति सर्वेषां चित्रा वाचःस्त्रवन्ति हि**', अर्थात् ब्रह्मा के पुत्र देव, दानव और गुह्यक आदि ने अपनी प्रकृति के अनुसार वेद का अर्थ किया।

जातीं, किन्तु वही चित्र जब कोकशास्त्र के वर्णनों के साथ सर्वसाधारण में प्रचलित किये जाते हैं, तब वे अश्लील कहलाते हैं। जो स्थिति डॉक्टरी की पुस्तकों और कोकशास्त्र की है ठीक वही अवस्था वेद और अन्य पुस्तकों की है। वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है। ज्ञान देनेवाली समस्त पुस्तकों की वही पदवी है जो डाक्टरी और स्कूल से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों की है, इसलिए गुप्ताङ्गों का वर्णन करने से डॉक्टरी की पुस्तकें यदि अश्लील नहीं कहलातीं तो वेद भी अश्लील नहीं कहला सकते। वेद में जो बातें लिखी गई हैं वे शिक्षा के लिए ही लिखी गई हैं। इसी प्रकार डॉक्टरी में भी जो बातें लिखी गई हैं वे भी शिक्षा के ही लिए लिखी गई हैं, अर्थात् जो पुस्तकें मनुष्यों को शिक्षा देने के लिए लिखी जाती हैं, उनके वर्णन अश्लील नहीं समझे जाते।

दूसरी बात यह है कि वेद काव्य में कहे जाते हैं। कविता नव रसवाली होती है और रसों का उद्रेक ही उसकी विशेषता है। रसोद्रेकता काव्य के ही अन्तर्गत समझी जाती है, अत: ऐसे स्थल जहाँ कुछ अश्लील उदाहरण दिखते हैं वे केवल रसोद्रेक के ही प्रतिपादक हैं, अश्लीलता के नहीं। इसलिए वेदों को शिक्षामय काव्य की पुस्तक समझकर अब उनके उन स्थानों की पड़ताल करनी चाहिए जिनको लोग अश्लील बतलाते हैं। यहाँ हम अश्लीलता के दो-चार नमूने दिखलाकर बतलाना चाहते हैं कि किस प्रकार वेद सब-कुछ कहकर भी उसका समाधान कर देते हैं।

हम यहाँ अश्लीलता से सम्बन्ध रखनेवाली कुछ वे बातें लिखते हैं जिनको लोग प्राय: पेश किया करते हैं। लोग कहते हैं कि ऋग्वेद के यमयमी सूक्त में भाई-बहिन के कुत्सित प्रेम का वर्णन है। बहिन अपने सगे भाई से विवाह की याचना करती है। इसी प्रकार वेद में अपनी कन्या के साथ पिता के गर्भधारण करने का अश्लीलतापूर्ण वर्णन भी मिलता है और वेदों में गुप्ताङ्गों का बड़ा ही बीभत्स वर्णन किया गया है। दो स्त्रियों के साथ सोने का भद्दा, असभ्य और अश्लील वर्णन भी विद्यमान है और टोटकाटंबर और जादू टोना के साथ-साथ भी अश्लीलता का वर्णन किया गया है। इसलिए वेदों में अश्लीलता का वर्णन है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

हम अभी गत पृष्ठों में लिख आये हैं कि अश्लीलता का आरोप प्रत्येक स्थान में, प्रत्येक कृत्य में और प्रत्येक पुस्तक में नहीं किया जा सकता। संसार में जहाँ सभ्यता और श्लीलतायुक्त घटनाएँ हैं वहाँ असभ्य और अश्लील घटनाएँ भी विद्यमान हैं, इससे इनकार नहीं किया जा सकता। क्या कोई कह सकता है कि संसार में आज तक कभी किसी बहिन ने अपने भाई से कुत्सित प्रेम नहीं किया, क्या कोई कह सकता है कि संसार में आज तक कभी किसी पिता ने अपनी कन्या के साथ मुँह काला नहीं किया और क्या कोई कह सकता है कि आज तक संसार में गुप्ताङ्गों और दो-दो स्त्रियों का भद्दा दृश्य नहीं देखा गया? जब ये सब बातें संसार में अपवादरूप से होती हैं तो क्या परमेश्वर के लिए यह उचित नहीं था कि वह वेद-जैसे शिक्षामय काव्य में इनका वर्णन करके उपदेश कर दे कि मनुष्य सदैव इन पापाचरणों, असभ्य व्यवहारों और अश्लील कृत्यों से बचे रहें? हमारी समझ में तो यह बात अत्यन्त आवश्यक थी कि परमात्मा इन बातों का वर्णन करके मनुष्यों को इनसे बचने की आज्ञा दे।

जब एक साधारण उपदेशक अपने व्याख्यान में बुराइयों का चित्र खींचकर उनसे बचने का आदेश करता है तब भला परमेश्वर क्यों न करता? परमेश्वर ने लोगों को सभ्यतापूर्ण मार्ग में चलाने के अभिप्राय से उक्त समस्त बातों का वर्णन किया है और उन सबसे बचने के लिए कठोर आज्ञा कर दी है।

इन अश्लीलताओं को परमात्मा ने इतना बुरा समझा है कि उनके उदाहरण तक मनुष्य में नहीं दिये। मनुष्यों में ही नहीं किन्तु पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और तृण-पल्लव आदि किसी भी चेतन जगत् से इनके उदाहरण नहीं दिये। परमात्मा ने इन सब अश्लीलताओं के उदाहरण जड़, निर्जीव और अज्ञान प्रकृति में ही दिये हैं। इसका यही कारण है कि बीभत्स रस का वर्णन भी हो जाए और ऐसे अपवादों से बचने के लिए मनुष्यों को उपदेश भी दे दिया जाए, अतः हम यहाँ उक्त अश्लीलताओं का सारांशरूप से वर्णन करके दिखलाते हैं कि किस प्रकार परमात्मा ने वेदों में जड़ प्रकृति के उदाहरणों से उनका वर्णन किया है और किस प्रकार इन कृत्यों को पाप बतला कर उनसे बचने का उपदेश दिया है।

सबसे पहले यमयमी सूक्त में आये हुए बहिन भाई के संवाद पर ध्यान दीजिए। यह यम-यमी सूक्त ऋग्वेद १०।१० और अथर्ववेद १८।१ में आया है। यह यमयमी रात और दिन है। रात और दिन दोनों जड़ हैं। इन्हीं दोनों जड़ों को भाई-बहिन मानकर वेद ने एक धर्मविशेष का उपदेश किया है। अलङ्कार के रूपक से दोनों में बातचीत कराई गई है। यमी यम से कहती है कि आप हमारे साथ विवाह कीजिए, परन्तु यम कहता है कि **'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्, न यत् पुरा चकृमा, अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्'**, अर्थात् बहिन के साथ कुत्सित व्यवहार करने से पाप होता है। कभी पुराकाल में भाई-बहिन का विवाह नहीं हुआ। इसलिए तू दूसरे पुरुष को पति बना, मैं विवाह नहीं कर सकता। यहाँ स्पष्टरूप से भाई ने कह दिया कि आज तक ऐसा नहीं हुआ, इसलिए यह पापकर्म मैं नहीं कर सकता। भाई के इस वचन से ज्ञात हो गया कि पूर्व समय में भाई-बहिन की शादी नहीं होती थी। इसपर लोग प्रश्न करते हैं कि जब उस समय भाई-बहिन की शादी नहीं होती थी तब ऐसा भद्दा रूपक ही क्यों बाँधा गया? हम कहते हैं कि इस प्रकार के रूपक की आवश्यकता थी। हम देखते हैं कि बहुत-से भाई और बहिन प्रायः एक ही उमर के होते हैं, दोनों एक ही घर में रहते हैं और पाप-पुण्य के भाव को अधिक नहीं समझते, इसलिए कभी-कभी उनसे इस प्रकार के पाप हो जाते हैं। यही कारण है कि परमात्मा ने जब प्रकृति का उदाहरण सामने रखकर लोगों को यह सूचित करा दिया है कि एक जड़ स्त्री के कहने पर भी पाप के डर से और परम्परा की शिक्षा से प्रेरित होकर एक जड़ पुरुष जब इस प्रकार के पापकर्म को करने से इनकार करता है तब चेतन, ज्ञानवान् और सर्वश्रेष्ठ मनुष्य को चाहिए कि वह कभी इस प्रकार के गर्हित कर्म को न करे। परमात्मा ने अचेतन—जड़ जगत् में इस प्रकार का विवेक दिखलाकर स्पष्ट आज्ञा दे दी है कि यदि भाई बहिन के साथ विवाह करे तो वह बध के योग्य समझा जाए। अथर्ववेद में लिखा है कि—

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते। प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥

—अथर्व० २०।९६।१५

अर्थात् जो तेरा भाई तेरा पति होकर जार कर्म करता है और तेरी सन्तान को मारता है, उसका हम नाश करते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जो भाई अपनी बहिन के साथ व्यभिचार करेगा वह लोकलज्जा के कारण बहिन के गर्भ का अवश्य ही नाश करेगा। इसी लिए वेद ने ऐसे भाई को प्राणदण्ड देने की आज्ञा दी है, जो प्रकटरूप से विवाह करता है अथवा गुप्तरूप से जार कर्म करता है और बहिन की सन्तान को मारता है। इस प्रमाण से स्पष्ट हो गया कि वेदों में जड बहिन-भाई का अश्लील सम्भाषण इसी लिए कराया गया है कि भाई-बहिन में न तो विवाह ही हो और न व्यभिचार ही हो।

ऋग्वेद में इसी प्रकार का दूसरा जड़ जगत् से सम्बन्ध रखनेवाला अलङ्कार पिता और पुत्री का है। ऋग्वेद में कहा है कि—

द्यौर्मे पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्मे माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ —ऋ० १।१६४।३३
शासद्वह्निर्दुहितुर्नप्त्यं गाद्विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृंजन्त्सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥ —ऋ० ३।३१।१

इन मन्त्रों में '**पिता दुहितुर्गर्भमाधात्**' और '**पिता यत्र दुहितुः सेकमृंजन्**' पद आये हैं जिनका यह अर्थ होता है कि पिता दुहिता में गर्भधारण करता है। इस घटना का स्पष्टीकरण शतपथ, ऐतरेय और निरुक्त आदि वैदिक ग्रन्थों में इस प्रकार लिखा हुआ है कि उषा सूर्य की कन्या है। सूर्य उसी उषा में अपने किरणरूपी वीर्य को स्थापित करके गर्भ धारण करता है, जिससे दिन उत्पन्न होता है। अथवा जलरूपी पिता अपनी पृथिवी रूपी कन्या में मेघ द्वारा गर्भ धारण करता है जिससे वनस्पति पैदा होती है। इस अलङ्कार के वर्णन से यह बात तो स्पष्ट हो गई कि ये पिता और पुत्री कोई जीवधारी मनुष्य नहीं हैं, प्रत्युत प्राकृतिक जड़ पदार्थ हैं, परन्तु शंका करनेवाले कहते हैं कि पिता और पुत्री के लिए ऐसा रूपक ही अश्लील है। क्या वेदों को कोई और दूसरा रूपक नहीं मिलता था, जो ऐसे भद्दे वर्णन से विषय का प्रतिपादन किया है? किन्तु हम कहते हैं कि ऐसे रूपक की ही आवश्कता थी। जब संसार में इस प्रकार के पिता भी कभी-कभी सुनने में आ जाते हैं तो एक क़ानून की पुस्तक में—ज्ञान की पुस्तक में केवल असभ्यता के डर के कारण उसका वर्णन न करना और उसको पाप न बतलाना कहाँ तक युक्तियुक्त है, यह शंका करनेवाले ही समझलें। जब संसार में इस प्रकार की घटना का अपवाद होता है तब भला वेद किन शब्दों से उसका वर्णन करते? वेदों ने तो सभ्यता की पराकाष्ठा कर दी है जो ऐसा वर्णन किसी मनुष्य के नाम से न करके जड़ और अन्धी प्रकृति के नाम से किया है। हाँ, यह वर्णन अवश्य अश्लील होता यदि यह केवल मनोरञ्जन के लिए किया जाता और इसको पाप न बतलाया जाता, परन्तु बात सर्वथा उलटी है। वेदों ने इस बीभत्स वर्णन के साथ-साथ संसार के एक बहुत बड़े पाप का स्पष्टीकरण करते हुए उपदेश दिया है कि किसी मनुष्य को अपनी पुत्री के साथ इस प्रकार का घृणित व्यवहार कभी न करना चाहिए। अथर्ववेद में आज्ञा है कि—

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च। बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः॥
—अथर्व० ८।६।७

अर्थात् यदि सोते समय भूलकर भी तुझे तेरा भाई अथवा तेरा पिता प्राप्त हो तो वे दोनों गुप्त पापी ओषधिप्रयोग से नपुंसक करके मार डाले जाएँ।

कैसा कठोर दण्ड है? जब स्वप्न में भी—धोखे में भी इस प्रकार के कुत्सित विचार आने पर पिता को इतना बड़ा दण्ड देने का विधान है तब उपर्युक्त अलङ्कार का यही अभिप्राय निष्पन्न होता है कि वेदों ने ऐसे अपवाद को बीभत्सता की पराकाष्ठा दिखलाने और उसकी निन्दा करने के लिए ही स्थान दिया है। वेदों में ही नहीं प्रत्युत वेद के पश्चात् के साहित्य में भी इस अलङ्कार के धोखे से बचने के लिए निन्दा कर दी गई है। यथा—

प्रजापतिः स्वां दुहितरमाभिदध्यौ दिवं वोषसं वा मिथुन्यनेया स्यामिति तां संबभूव तद्वै देवानामाग आसं य इत्थं स्वां दुहितरमस्माकं स्वसारं करोति।

अर्थात् प्रजापति ने अपनी दुहिता द्यौ अथवा उषा का बुरी दृष्टि से चिन्तन किया और 'इसके साथ रहूँगा' इस प्रकार का विचार करके संग किया, पर देवों के मत से यह पाप हुआ। उन्होंने कहा कि जो इस प्रकार अपनी दुहिता, अर्थात् हमारी बहिन के साथ बर्ताव करता है, वह पाप करता है।

इस प्रकार यहाँ इस जड़ उषा के अलंकार से स्पष्ट कह दिया गया है कि यदि कोई ऐसा करेगा तो वह पापी समझा जाएगा। भागवत में भी कहा गया है कि—

नैतत्पूर्वैःकृतं त्वद्ये न करिष्यन्ति चापरे। यत्त्वं दुहितरं गच्छेरनिगृह्याङ्गजं प्रभुः॥

—श्रीमद्भागवत ३।१२।३०

अर्थात् हे प्रजापते! तुमने अपनी कन्या को ग्रहण करके जैसा पाप किया है वैसा न कभी किसी ने पूर्व में किया था और न कोई भविष्य में करेगा।

इन प्रमाणों से सूचित होता है कि वेदों का यह अलङ्कार ऐसे कृत्यों में पाप दिखलाने के लिए प्राकृतिक जड़ उषा में प्रकट किया गया है और वेदों के अतिरिक्त अन्य साहित्य में भी ज़ोर से कहा गया है कि इस प्रकार का सम्बन्ध पाप है, इसलिए मनुष्यों में आरम्भ न हो।

इसके अतिरिक्त कुछ लोग कहते हैं कि वेदों में गुप्तेन्द्रियों का भी वर्णन है। अथर्ववेद में 'बृहच्छेप' का और ऋग्वेद में 'सप्तबध्रि' और 'शिपिविष्ट' का वर्णन है, किन्तु इन शब्दों में किसी मनुष्य की कामक्रीड़ा का वर्णन नहीं है। ये शब्द तो आकाशस्थ सातों किरणों के लिए आये हैं। सातों किरणें एक साथ स्तम्भरूप से जब पृथिवी की ओर आती हैं तब मानो एक दीर्घ शिश्न मैथुन करने के लिए बढ़ता है, परन्तु वही जब बादलों में छिप जाता है तब मानो वह शेप बध्रि अर्थात् बधिया हो जाता है। लोकमान्य तिलक और अविनाशचन्द्र दास आदि विद्वानों ने इसे अलङ्कार ही बतलाया है। वास्तव में यह अलङ्कार ही है, परन्तु शंका करनेवाले इसे भी अश्लील वर्णन बतलाते हैं, इसलिए यहाँ इसका भी समाधान किया जाता है।

हम कई बार लिख चुके हैं कि वेदों के तीन संसार हैं। यह वर्णन आकाशीय संसार का ही है। आकाश में भी स्त्री-पुरुष हैं, उनके विवाह हैं, गर्भाधान है, रति है और वाजीकरण आदि भी हैं। यहाँ यह बृहच्छेप प्राकृतिक रति का ही वर्णन करता है। इससे गृहस्थधर्म की शिक्षा मिलती है। यह गृहस्थधर्म की शिक्षा इस पृथिवीस्थ संसार के विवाहप्रकरण में दी गई है, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि वेदों ने गुप्ताङ्गों का ऐसा वर्णन करके अश्लीलता फैला दी है और वेदकालिक लोग नङ्गे फिरते थे। वेद भगवान् ने जिस प्रकार हिंसासम्बन्धी द्व्यर्थक शब्दों का स्वयं समाधान कर दिया है और पिता-पुत्री तथा भाई-बहिन के वैवाहिक अलङ्कारों का स्वयं स्पष्टीकरण कर दिया है, उसी प्रकार इस गुप्तेन्द्रिय-विषयक आकाशीय वर्णन से उत्पन्न हुई भ्रान्ति का भी निवारण कर दिया है, क्योंकि परमात्मा जानता है कि मनुष्य कितनी जल्दी भ्रम में पड़ जाता है, इसलिए उसको भ्रम से बचाने के लिए वेदों में स्थान-स्थान पर चेतावनी दे दी है। इस गुप्तेन्द्रिय प्रकरण में भी वेद कहते हैं कि—

मा शिश्नदेवा अपि गुर्ऋतं नः। —ऋग्वेद ७।२१।५

अर्थात् हे मनुष्यो! शिश्न को देव मानकर और उसी में रत रहनेवाले उसके पुजारी मुझको प्राप्त नहीं होते।

कितनी सुन्दर शिक्षा है! इस शिक्षा को पाकर मनुष्य कभी भी शिश्नदेवोपासक नहीं हो सकता। जब वेद इस प्रकार की शिक्षा देते हैं तब समझना चाहिए कि उनके वे वर्णन जिनमें गुप्तेन्द्रियों के नाम आते हैं, केवल उपदेश के लिए ही आते हैं। जिस प्रकार डॉक्टरी की पुस्तकों

में विशेष प्रयोजन से आये हुए गुप्तेन्द्रियसम्बन्धी वर्णन अश्लील नहीं है, उसी प्रकार विद्या की पुस्तक वेद में आये हुए ये वर्णन भी अश्लील नहीं हो सकते। विशेषकर ऐसी दशा में जब वेद ने ही अपने विषय का स्पष्टीकरण भी स्थान-स्थान पर स्वयं कर दिया है।

कुछ लोग कहते हैं कि वेदों में दो-दो स्त्रियों के साथ रात-दिन पड़े रहने का वर्णन है। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में आया है कि **'श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्या अहोरात्रे पार्श्वे'** अर्थात् श्री और लक्ष्मी दोनों स्त्रियाँ रात-दिन बग़ल में पड़ी रहती हैं। इस वर्णन में दो औरतों को लेकर रात दिन पड़े रहना कहा गया है जो अश्लीलता और असभ्यता का नग्न चित्र है, परन्तु हम कहते हैं कि यह कोई असम्भव या अनहोनी बात नहीं हैं। संसार में हज़ारों आदमी इस प्रकार के हैं जो दो-दो नहीं, किन्तु चार-चार स्त्रियों के साथ विवाह करना धर्म समझते हैं। यदि वेद में इस प्राकृतिक जड़ घटना को लेकर उन लोगों को दो-दो विवाह के भयङ्कर परिणाम दिखलाये गये हैं तो क्या बुरा किया गया है? वेद में स्पष्टरूप से दो स्त्रियों से एक साथ विवाह करने के दुष्परिणाम का वर्णन किया गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं निषूदधिष्वमखनन्त उत्सम्॥ —ऋ० १०।१०१।११

अर्थात् जिस प्रकार दोनों धुराओं के बीच में दबा हुआ और चिल्लाता हुआ रथ का घोड़ा चलता है उसी प्रकार दो स्त्रियों का पति भी प्रत्येक ओर से दबा हुआ और वनस्पति लगाओ, तालाब खोदो और धनसंग्रह करो का आर्तनाद करता हुआ भागा-भागा फिरता है।

अनेक स्त्रियोंवाले पुरुषों की दुर्दुशा का इस प्रकार वर्णन करके वेदों ने यह आज्ञा दे दी है कि दो स्त्रियों से एक साथ विवाह करने में दुःख है, इसलिए वह पाप ही है। ऊपर जिस प्राकृतिक सूर्य की दो स्त्रियों का वर्णन किया गया है वह भी अपनी दो स्त्रियों के कारण न सोता है और न आराम करता है, प्रत्युत रात-दिन भागा-भागा फिरता है, इसलिए दो स्त्रियों के साथ विवाह करना उचित नहीं है। वेद ने इस जड़ अलंकार से भी बतला दिया कि दो पत्नीवाला और रात-दिन कामक्रीड़ा करनेवाला पुरुष उन स्त्रियों के बोझ से भागा-भागा फिरता है और रात-दिन चैन नहीं पाता।

जिस प्रकार इन समस्त प्राकृतिक जड़ अलङ्कारों को बीभत्स रस के साथ वेदों ने वर्णन करके उनको पाप ठहरा दिया है और उनसे बचने के लिए ज़ोरदार शब्दों के द्वारा शिक्षा कर दी है, उसी प्रकार अन्यान्य ऐसे ही स्थलों को किसी विशेष घटना को प्रकट करने के लिए लिखा है और उसका निषेध भी कर दिया है। जो लोग अथर्ववेद के कतिपय मानसिक उपचारों को टोटकाटंबर और जादूटोना समझते हैं वे भी ग़लती पर हैं। जिस प्रकार मांस और पशुयज्ञ के सम्बन्ध में द्व्यर्थक शब्दों के कारण लोगों ने अनर्थ किया है उसी प्रकार इस प्रकरण में भी कर रहे हैं। अथर्ववेद का उपचार प्रकरण मैस्मरेज़म, हिपनाटिज़्म और सजेशन से सम्बन्ध रखता है, इसलिए उसमें भी अश्लीलता का अवकाश नहीं है। जो वेद स्वयं कहते हैं कि **'सभ्य सभां मे पाहि'** अर्थात् हे सभ्य! इस सभा की रक्षा कर, उनमें असभ्यता की बात और अश्लीलता का वर्णन हो ही नहीं सकता। अतएव वेदों में अश्लीलता और असभ्यता का लांछन लगाना बड़ी भारी भूल है।

हमने यहाँ तक वेदों पर किये गये उन आक्षेपों का उत्तर दिया जो वेदों की अपौरुषेयता में आड़े आते हैं। वेदों के अर्थों से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी अनेक शंकाएँ और भी होंगी, परन्तु उन सबका समाधान करना यहाँ अभीष्ट नहीं है, क्योंकि हम वेदों का भाष्य करने नहीं बैठे। हमने

तो यहाँ उन्हीं शंकाओं का समाधान करना उचित समझा है जो शंकाएँ वेदों को अपौरुषेय सिद्ध करने में रुकावट डालती हैं। वे शंकाएँ इतिहास, पशुयज्ञ और अश्लीलता आदि की हैं। हमने यहाँ उन्हीं का यथामति समाधान किया है। वेदों की अपौरुषेयता से सम्बन्ध रखनेवाली अब कोई शंका शेष नहीं है। वेदों की इयत्ता निर्धारित हो गई, शाखाओं और प्रक्षेप आदि का वर्णन हो गया, ऋषि, देवता, छन्द तथा मण्डल, अध्याय भी ज्ञात हो गये और वेदों के भाष्य तथा मांसयज्ञ और अश्लीलता आदि का भी समाधान हो गया। इस प्रकार से वेदों की अन्तरङ्ग परीक्षा हो गई। अब आगे वेदों के मन्त्रों को लिखकर दिखलाना चाहते हैं कि उनकी क्या शिक्षा है।

वेदमन्त्रों के उपदेश

प्रायः लोग कहा करते हैं कि मनुष्यों को ज्ञान की जितनी आवश्यकता है वह सभी ज्ञान वेदों में—संहिताओं में नहीं है, अर्थात् हमारे व्यवहार में आनेवाली ऐसी अनेक बातें हैं जिनका वर्णन वेदों में नहीं है, इसलिए वेदों के साथ जबतक अन्य ग्रन्थों की शिक्षा भी सम्मिलित न की जाए तब तक मनुष्यसमाज का काम नहीं निकल सकता। सुनने में ये बातें ठीक प्रतीत होती हैं, परन्तु तनिक-सा विचार करते ही इस आरोप में कुछ भी दम दिखलाई नहीं पड़ता, क्योंकि यह आरोप वर्त्तमान समाज के कल्पित व्यवहारों को देखकर उत्पन्न किया गया है और वैदिक शिक्षा के वास्तविक स्वरूप पर ध्यान नहीं दिया गया। वैदिक शिक्षा में कमी दिखलाई पड़ने के मुख्यत: ये तीन ही कारण हैं—

पहला कारण यह है कि हमने जिन विषयों को, रीति-रिवाजों को और क्रियाकलापों को जितना महत्त्व दे रक्खा है, वे सबके सब वेद की दृष्टि में उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। उदाहरणार्थ हमने दत्तक आदि पुत्रों को गोद लेकर अपनी सम्पत्ति के स्वामी बनाने की रीति को धर्मशास्त्रों में लिख रक्खा है, परन्तु वेद इस रीति को स्थान नहीं देते। इसका कारण यही है कि वैदिक धर्मानुसार कोई आदमी किसी सम्पत्ति का वंशपरम्परागत स्वामी नहीं हो सकता। दूसरा कारण यह है कि शाखाप्रचारकों ने वेदों के मन्त्रों को मनमाने स्थानों में रख दिया है, जिससे पूरे प्रकरण की बात ही समझ में नहीं आती। परिणाम यह होता है कि अनेक विषयों में हमारा प्रवेश ही नहीं होता। इसी प्रकार तीसरा कारण वेदों के अनेक शब्दों के अर्थों के सम्बन्ध में हमारी अनभिज्ञता है। वेद में सैकड़ों शब्द ऐसे हैं जिनका ठीक-ठीक अर्थ ज्ञात नहीं होता। इससे भी अनेक विषयों का ज्ञान यथार्थरूप से हम तक नहीं पहुँचता, इसलिए वेद में यदि किसी मनुष्योपयोगी आवश्यक विषय का प्रत्यक्ष वर्णन न दिखलाई पड़े तो उसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि वेद में उसका बीज ही नहीं है।

वेद के समस्त शब्दों के अर्थों का विस्फोटन करके और समस्त मन्त्रों को विषयवार एक जगह एकत्र करके कुछ दिन मन लगाकर स्वाध्याय करने से वेदों में मनुष्योपयोगी समस्त आवश्यक ज्ञान बीजरूप से निकल सकता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु प्रत्येक समय के योग्य, प्रत्येक मनुष्य या समाज के योग्य और प्रत्येक स्थान में व्यवहार करने योग्य बातें वेदों से नहीं निकल सकतीं। इसका कारण यही है कि वेदों में प्रावेशिक ज्ञान की ही शिक्षा है, कल्पित ज्ञान की नहीं। यदि हम अपने कल्पित रीतिरिवाजों को हटा दें और शब्दार्थों को खोलकर और मन्त्रों को विषयवार करके पढ़ें तो उनसे इतनी शिक्षा मिल सकती है कि जिसके द्वारा मनुष्य की बुद्धि इस योग्य हो जाए कि वह अपना समस्त कार्य कर ले, परन्तु जिन विषयों को वेदों ने अनावश्यक समझा है वे बातें वेदों से नहीं निकल सकतीं, चाहे भले हमने उनको अपने समाज में—कर्मधर्म में सम्मिलित ही क्यों न कर लिया हो।

नमूने के लिए दत्तक पुत्र की भाँति यज्ञोपवीत को भी लीजिए। संहिताओं में यज्ञोपवीत के लिए सूत, रेशम, ऊन आदि का वर्णन नहीं आता। वहाँ मेखला की ही चर्चा है, मेखला का अर्थ घेरा है, किसी पदार्थ का गले या कमर में एक घेरा—माला पहना देना है, अर्थात् चिह्नमात्र कर देना है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य के लिए सूत्र में भेद कर दिया है, किन्तु यज्ञोपवीत कितना लम्बा हो यह उन्होंने भी नहीं कहा। इसे आधुनिक ग्रन्थों ने ही बढ़ाया है। यद्यपि इस प्रकार कई बार विधियाँ बढ़ाई गई हैं तथापि यज्ञोपवीत में कितनी गाँठे हों और उसे किसके हाथ से नापना चाहिए आदि बातें फिर भी रह गई हैं। इसी प्रकार कान में चढ़ाना या शिर में लपेटना आदि बातें फिर रह गई हैं, जिनको बहुत ही आधुनिक साहित्य ने पूरा किया है। इसका क्या तात्पर्य है? इसका तात्पर्य यही है कि हम अपने रिवाजों को जैसे-जैसे बढ़ाते जाते हैं वैसे-वैसे उस कल्पित रिवाज को पुष्ट करने के लिए विधिवाक्य भी लिखते जाते हैं। मानो आगे-आगे हम और पीछे-पीछे शास्त्र दौड़ रहे हैं। हम शास्त्र के अनुसार नहीं चल रहे प्रत्युत शास्त्र हमारी कल्पना के अनुसार चलते हैं, परन्तु वेदों की यह दशा नहीं है। वेद किन्हीं रिवाजों के बाद नहीं बने, प्रत्युत उन्होंने ही आवश्यक रिवाजों को जन्म दिया है। यज्ञोपवीत के लिए वेद इतना ही आवश्यक समझते हैं कि दूसरे कुल में जाने पर, विद्या आरम्भ करने पर और मनुष्य-शरीर के अन्तिम ध्येय के प्राप्त करानेवाले व्रत को धारण करने पर आवश्यक है कि उसे कोई ऐसा चिह्न दिया जाए जिससे वह पहचाना जा सके। समाज उसे उस चिह्न से पहचाने, जिससे उसे शिक्षा, सत्कार और सहायता आदि देने में सुविधा हो। यह चिह्न चाहे जैसा हो, परन्तु शरीर पर सदैव रह सकनेवाला हो। वह एक माला, अर्थात् मेखला के रूप में ही अधिक उपयोगी हो सकता है और कमर में, गले में या कन्धों में ही उसका रहना अधिक उचित मालूम पड़ता है। यही कारण है कि पारसी लोग इसे कमर में ही बाँधते हैं। पहले समय में बहुत-से वैदिक आर्य भी परिकर बन्धन की भाँति उसे पहनते थे[१], परन्तु शाखाभेद से जैसे-जैसे पढ़ाई की शैली बदलती गई और गोत्र बढ़ते गये वैसे-वैसे उपवीत का ढंग भी बदलता गया और भिन्न-भिन्न होता गया। यज्ञोपवीत आजकल जिस अवस्था में पहुँचा है यदि वह सारी दशा आप वेदों में ढूँढना चाहें तो नहीं मिल सकतीं। लड़का पढ़ने जाने लगे और मामा उसे शादी का लोभ देकर वापस करले, इस विधि पर न कोई संहिता की श्रुति है, न ब्राह्मणग्रन्थों की गाथा है, न सूत्रों का सूत्र है और न निर्णयसिन्धु की कोई नदी है। इसके लिए तो आल्हखण्ड में भी प्रमाण न मिलेगा। कहने का तात्पर्य यह कि वेदों को अपने रिवाजों का गुलाम बनाना उचित नहीं हैं। वेदों में जो शिक्षा बीजरूप से है उसको ऋषियों ने सुविधा के लिए विस्तारपूर्वक लिखकर अपने समय में सदा प्रचलित किया है। ब्राह्मणग्रन्थों के पूर्व भी एक महान् साहित्य था उसमें भी कुछ था, अब भी कुछ है और आगे भी कुछ होगा, परन्तु वेद इस सबके उत्तरदाता नहीं हैं। उनमें तो जो कुछ है वह इतना ही है कि मनुष्य की बुद्धि को सोचने-विचारने योग्य कर देता है और इस योग्य बना देता है कि मनुष्य अपनी भलाई के नियम उस बीज के अनुसार बना ले।

इस प्रकार से मूल और भाष्य सदैव एक साथ ही बनता रहता है, पर भाष्य मूल नहीं हो जाता। मनु वैवस्वत के ही समय में वेदों का प्रादुर्भाव हुआ था, किन्तु उसी समय में ब्राह्मण भी बनाने पड़े थे। हम देखते हैं कि वेदों में कहीं नहीं लिखा कि अमुक काम करते समय अमुक मन्त्र पढ़ो, परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में है। इससे पाया गया कि ब्राह्मणग्रन्थों ने एक नया ढंग यह पैदा किया कि कोई कार्य मौन होकर न किया जाए, प्रत्युत मन्त्र कहकर ही किया जाए। इसमें कोई

---

१. लोकमान्य तिलक महोदय ने इस बात को 'ओरायन' ग्रन्थ में सप्रमाण लिखा है।

पाप नहीं था, इसी से इसपर कोई आपत्ति भी नहीं हुई, परन्तु यदि कोई मार्जन करते समय **'आपो हिष्ठा'** न पढ़े तो उसका मार्जन बिगड़ नहीं सकता और स्नान के समय यदि कोई गंगाष्टक न पढ़े तो उसके स्नान में कोई त्रुटि नहीं हो सकती, क्योंकि स्नान अलग बात है और मन्त्र पढ़कर स्नान करना अलग बात है। न पहले में कोई पाप है न दूसरे में कोई पुण्य है, किन्तु प्रश्न तो यह है कि आज्ञा और विधि का पालन कैसे किया जाए? इस प्रश्न का उत्तर सदैव यही रहा है कि वेदों की बीजरूप सूचना पर विद्वानों के विचारों से जो विधि निर्धारित हो वही कर्त्तव्य समझी जाए, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि वेदों की सूचना अपरिवर्तनशील है और दूसरे विद्वानों के विचार परिवर्तनशील हैं। पहले में किसी का मतभेद नहीं हो सकता, परन्तु दूसरे में हो सकता है, यज्ञोपवीत करना पहला पक्ष है इसमें मतभेद नहीं हो सकता, पर कब करना चाहिए इसमें मतभेद हो सकता है। इसीलिए गृह्यसूत्रों में कोई कहता है कि ब्राह्मण का यज्ञोपवीत वसन्त में करना चाहिए और कोई कहता है कि सब ऋतुओं में करना चाहिए। वेद की आज्ञा और विद्वानों की विधियों में पहली बात दूसरी पर निर्भर नहीं है, परन्तु दूसरी बात पहली पर निर्भर है। यज्ञोपवीत माघ में न होकर चाहे पौष में हो पर हो अवश्य यही तात्पर्य है।

इसपर प्रश्न हो सकता है कि वेदों ने माघ और पौष का भी निर्णय क्यों नहीं कर दिया और रेशम तथा सूत की विधि भी क्यों नहीं बतला दी। इसपर हमारा नम्र निवेदन यह है कि जो वैदिक शिक्षा समस्त पृथिवी पर बसे हुए मनुष्यों के लिए है उसमें इस प्रकार का वर्णन हो ही नहीं सकता, क्योंकि ज़िले-ज़िले की परिस्थिति अलग-अलग है, पदार्थों की उपज भिन्न-भिन्न है और ऋतुओं के प्रभाव अलग-अलग हैं। ऐसी दशा में यदि सभी कुछ वेद ही लिखने बैठें तो वेदों के पुस्तक तो एशियाटिक सोसाइटी का पुस्तकालय बन जाए, वेदों के गौरव और मनुष्य की स्वाधीन चिन्ता में विघ्न उपस्थित हो जाए, धर्म और आपद्धर्म में कोई अन्तर ही न रहे और संकट के समय मनुष्य अपना त्राण ही न सोच सके, इसलिए क्रियाकलाप, आपद्धर्म और मनुष्यों की सामयिक उपयोगिता का विस्तृत वर्णन न करने से वेद अधूरे नहीं समझे जा सकते। वेद पूर्ण हैं। वे परलोक की पूर्ण और विस्तृत शिक्षा देते हैं तथा लोक की शिक्षा में मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि उसका एक भी आवश्यक कार्य कभी रुक ही न सके।

नमूने के रूप में हम यहाँ वेदों के कुछ सरलार्थ मन्त्रों को उद्धृत करके दिखलाते हैं कि वेद प्रत्येक आवश्यक विषय की शिक्षा किस प्रकार देते हैं। यहाँ हम एक-एक विषय के दो-दो, चार-चार मन्त्र ही देंगे। यह वेदविषयों की एक सूचीमात्र ही है। इन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले वेदों में अनेक मन्त्र हैं, परन्तु सबके लिखने की आवश्यकता नहीं है। हमने इस मन्त्रसूची और विषयप्रतिपादन में अपने ढंग का क्रम दिया है। इस क्रम से वेदों के ज्ञान की स्पष्टता होती है। सबसे पहले हमने मनुष्यों की इच्छाओं के मन्त्र लिखे हैं। मनुष्य की समस्त इच्छाओं का समावेश बड़े-बड़े सात स्तम्भों में हो जाता है। ये इच्छाएँ गृहस्थाश्रम से ही पूरी हो सकती हैं, इसलिए हमने इच्छाओं के बाद गृहस्थाश्रम के मन्त्र लिखे हैं। गृहस्थ का निर्वाह बिना उत्तम सामाजिक व्यवहार के धारण किये हो ही नहीं सकता, क्योंकि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, इसलिए हमने तीसरा नम्बर सामाजिक व्यवहार के मन्त्रों को दिया है, परन्तु वह आदमी अच्छा सामाजिक व्यवहार नहीं कर सकता जो सदाचारी नहीं है, इसलिए हमने चौथा स्थान सदाचार के मन्त्रों को दिया है। सदाचार कभी सुदृढ़ नहीं हो सकता जब तक मनुष्यों को गर्भ से लेकर यज्ञोपवीत, अर्थात् आचार्यकुलवास तक के संस्कारों से सुसंस्कृत न किया जाए, इसलिए हमने संस्कारों के मन्त्रों को पाँचवाँ स्थान दिया है। संस्कारों से सदाचार की पुष्टि होती है और समाज

पवित्र भी होता है, परन्तु बिना जीविका के उसका निर्वाह नहीं हो सकता, इसलिए हमने छठे स्थान में जीविका के मन्त्रों को रक्खा है। इसमें भौगोलिक ज्ञान और व्यवसाय से सम्बन्ध रखनेवाली समस्त बातों के मन्त्र आ गये हैं। जीविका के आगे समाज की रक्षा का प्रश्न आता है। बीमारी से शरीररक्षा, कलह और पाप से समाजरक्षा और बाह्य शत्रुओं से राष्ट्ररक्षा करनी पड़ती है, इसलिए आयुर्वेद, यज्ञ और राजव्यवस्था के मन्त्रों को एकत्र करके जीविका के बाद सातवें स्थान पर रक्खा है। इसके आगे परलोकचिन्ता के मन्त्र हैं। इनमें सबसे पहली बात सृष्टि की उत्पत्ति की है। सृष्टि की उत्पत्ति के कारणों का समूह ही परलोक है, इसलिए हमने परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले जीव, ब्रह्म, बन्ध, मोक्ष और पुनर्जन्म आदि विषयों के मन्त्रों का समावेश आठवें स्थान पर किया है। इस प्रकार सारांशरूप से हमने लोक-परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले प्राय: सभी विषयों के मन्त्रों को लिख दिया है। हमारा अनुमान है कि जितने विषयों के मन्त्र हमने दिये हैं उतने विषयों में प्रवेश हो जाने पर मनुष्य की बुद्धि इस योग्य हो जाती है कि वह अपना भला बुरा—हानि लाभ सोच ले और अपनी उन्नति कर ले।

मनुष्य की इच्छाएँ

सबसे पहले मनुष्य की इच्छाओं को लीजिए। मनुष्य की इच्छाएँ सात भागों में विभाजित हैं। (१) बहुत दिन जीने की इच्छा (२) स्त्री, पुत्र, रति, शोभा, शृङ्गार की इच्छा (३) खाने पीने, पहिरने, ओढ़ने, मकान, गृहस्थी, बाग़-बग़ीचे और खेत तथा पशुओं की इच्छा (४) यश और मान आदि की इच्छा (५) विद्या, ज्ञान, विज्ञान और जानकारी की इच्छा (६) अपने साथ कोई अन्याय न करे, अर्थात् न्याय की इच्छा और (७) बार-बार जन्ममरण के दु:ख से छूटकर मोक्षप्राप्ति की इच्छा मनुष्यमात्र को रहती है। वेदों ने गायत्री मन्त्र के द्वारा इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति के लिए नित्य परमेश्वर से प्रार्थना करने का उपदेश किया है। गायत्री का माहात्म्य वर्णन करते हुए अथर्ववेद १९।७१।१ में कहा गया है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

अर्थात् प्रचोदयात् पदान्तवाली और द्विजों को पवित्र करनेवाली वेदमाता गायत्री की मैं इसलिए स्तुति करता हूँ कि वह मुझको आयु, बल, प्रजा, पशु, कीर्ति, धन और वैदिक ज्ञान देकर ब्रह्मलोक, अर्थात् मोक्षपद को पहुँचावे।

इस आदेश से ज्ञात हुआ कि मनुष्यमात्र की ये इच्छाएँ स्वाभाविक हैं। फ्रीनॉलॉजीवाले भी बतलाते हैं कि मस्तिष्क में ज्ञान, मान, अर्थ, काम, आयु, विज्ञान और न्यायधर्म के ही प्रधान सात स्थान हैं। अन्य स्थान तो इन्हीं के अन्तर्गत, इन्हीं की शाखाएँ हैं। इससे ज्ञात होता है कि ये इच्छाएँ नैसर्गिक हैं। इन सबमें दीर्घजीवन की इच्छा सर्वप्रथम है, इसलिए सबसे पहले हम दीर्घजीवन के ही मन्त्रों का नमूना दिखलाते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

शतमिन्नु शरदो अन्ति देवा यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्।
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति मा नो मध्या रीरिषतायुर्गन्तोः॥ —यजु:० २५।२२

अर्थात् हे विद्वानो! मनुष्य की आयु सौ वर्ष नियत है, अत: जब तक हमारे शरीरों की जरा अवस्था न हो जाए और हमारा पुत्र भी पिता न हो जाए तब तक हम जिएँ, अर्थात् सौ वर्ष के अन्दर हमारी आयु क्षीण न हो।

इतना ही नहीं कि हम किसी प्रकार सौ वर्ष तक जिएँ प्रत्युत आरोग्यता और बल के साथ जिएँ, जैसाकि लिखा है—

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्रब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात्॥

—यजुर्वेद ३६। २४

अर्थात् ज्ञानियों का हित करनेवाला शुद्ध ज्ञाननेत्र उदित है। उससे हम सौ वर्ष देखें, सौ वर्ष जिएँ, सौ वर्ष सुनें, सौ वर्ष बोलें, सौ वर्ष तक दीन न हों और सौ वर्ष से भी अधिक दिन तक आनन्द से रहें।

वेद में दीर्घजीवन की इस इच्छा के आगे काम की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

कामस्तदग्रे समवर्तत मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
स काम कामेन बृहता सयोनी रायस्पोषं यजमानाय धेहि। —अथर्व १९।५२।१

अर्थात् जो 'काम' मन में बीजरूप से है, वह पहले हुआ। हे काम! तूने बहुत बड़े काम का विस्तार कर दिया है, इसलिए अब धन दे।

प्रियो देवानां भूयासम्॥ प्रियः प्रजानां भूयासम्॥
प्रियः पशूनां भूयासम्॥ प्रियः समानानां भूयासम्॥ —अथर्व० १७।१।२-५

अर्थात् देवों के लिए, प्रजा के लिए, पशुओं के लिए और समानों के लिए मैं प्रिय होऊँ।

कामना से सम्बन्ध रखनेवाले इन दोनों मन्त्रों में कहा गया है कि मन और रेत ही काम का मूल है। इस काम से ही आगे पुत्रादि की बड़ी-बड़ी कामनाएँ उत्पन्न होती हैं और इसी से बनाव, चुनाव, शोभा, शृङ्गार और ठाट-बाट की आवश्यकता होती है। इन सबका मूल मन और रेत, अर्थात् रति ही है। रति ही प्रजा, पशु और अन्नादि धन की ओर विशेष प्रवृत्ति उत्पन्न कराती है, क्योंकि दीर्घजीवन और कामजन्य स्त्री-पुत्रादिकों के लिए ही धन की इच्छा होती है। मनुष्य को इस धन की इच्छा किस प्रकार रहती है उसका नमूना वेद ने निम्न मन्त्र में दिखलाया है—

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः॥ —ऋ० १०।११७।८

अर्थात् एक गुणा धन रखनेवाला अपने से दुगुना धन रखनेवाले के मार्ग का आक्रमण करता है, दुगुने धनवाला तिगुने धनवाले के पीछे दौड़ता है और चौगुने धनवाला अपने से दूने धनवाले की महत्ता को प्राप्त होता है, अर्थात् मनुष्य धनवानों को देखकर स्पर्धा करते हुए अधिकाधिक धन प्राप्त करने की इच्छा रखता है।

इस धन की इच्छा के आगे मान की इच्छा होती है। वेद में मान की इच्छा का नमूना इस प्रकार दिखलाया गया है—

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन्तेज आहितम्। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनुक्त मा। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिञ्जातवेदसि। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
यथा यशःकन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ अहितम्। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्। एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नियच्छतु॥
—अथर्व० १०।३।१७-२५

अर्थात् जिस प्रकार सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ब्रह्मचारिणी कन्या, मधुपर्क और सोमपान प्राप्त विद्वान्, अग्निहोत्री, यज्ञ करनेवाला, यजमान, परमेष्ठी और प्रजापति यश और कीर्ति को प्राप्त होते हैं उसी प्रकार की किर्ति, तेज और यश मुझे भी प्राप्त हो।

इन मन्त्रों में यश, कीर्ति और मान के लिए प्रार्थना की गई है, क्योंकि लिखा है कि **'सर्वे नन्दन्ति यशसा'**[1], अर्थात् सबको यश से आनन्द मिलता है। इस मान की इच्छा के आगे वेद में ज्ञान की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥
मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः। मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे॥
—यजुः० ३२।१४-१५

अर्थात् जिस मेधा (ज्ञान) की देवता और पितर उपासना करते हैं, उस मेधा से हे परमेश्वर! मुझे शीघ्र ही मेधावी कीजिए। वरुण, अग्नि, प्रजापति, इन्द्र, वायु और परमात्मा मुझे वह मेधा देवे, अर्थात् इन सब पदार्थों का ज्ञान मुझे शीघ्र हो। इसलिए—

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये। मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥
—अथर्व० ६।४१।१

अर्थात् मन, अन्तःकरण, बुद्धि, विचारशक्ति, ज्ञानशक्ति, मति, श्रवणशक्ति और दृष्टिशक्ति की उन्नति के लिए हम सब यज्ञकर्म करें।

इस ज्ञानेच्छा के आगे वेद में न्याय की इच्छा इस प्रकार बतलाई गई है—

देहि मे ददामि ते नि मे धेहि नि ते दधे। निहारं च हरासि मे निहारं निहराणि ते॥
—यजुः० ३।५०

अर्थात् तू मुझे दे और मैं तुझे दूँ। तू उत्तम गुण मुझमें धारण कर और मैं तुझमें धारण करूँ। यह मैं लेता हूँ और यह तू ले, अर्थात् परस्पर न्याययुक्त व्यवहार हो।

न्याय का कैसा सुन्दर आदर्श है! इसके आगे परमपद की इच्छा का वर्णन इस प्रकार है—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —यजुः० ३१।१८
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदःप्रमुद आसते।
कामस्य यात्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधि॥ —ऋ० ९।११३।११

अर्थात् मैं अन्धकार से परे उस महान् प्रकाशमय सूर्यतुल्य परमात्मा को जानता हूँ। उसी के जान लेने से अमृतत्व प्राप्त होता है, इसके सिवा और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसलिए जहाँ आनन्द-ही-आनन्द है और जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं, उस मोक्षधाम में मुझे अमर कीजिए।

इन मन्त्रों में दीर्घातिदीर्घ जीवन, अर्थात् अमृतत्व की महान् इच्छा वर्त्तमान है। संसार में बहुत दिन जीने की जो इच्छा पाई जाती है वही इसी अनन्त जीवन की अभिलाषा है। इस प्रकार से मनुष्य की ये सातों स्वाभाविक इच्छाओं को दर्शानेवाले मन्त्र वेद में विद्यमान हैं, परन्तु ये

१. ऋ० १०।७१।१०

इच्छाएँ बिना गृहस्थाश्रम के पूर्ण नहीं हो सकतीं।

गृहस्थाश्रम

उपर्युक्त इच्छाएँ बिना गृहस्थाश्रम के पूरी नहीं हो सकतीं, इसलिए वेदों में गृहस्थाश्रम का पर्याप्त वर्णन है। यहाँ हम नमूने के तौर पर गृहस्थाश्रम की विशेष-विशेष बातें लिखते हैं। सबसे पहले हम देखते हैं कि वेदमन्त्रों के अनुसार गृहस्थ की अवस्था कैसी होनी चाहिए। ऋग्वेद में लिखा है—

इहैव स्तं मा वि योष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीळन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥

—ऋ० १०।८५।४२

अर्थात् किसी से विरोध न करो, गृहस्थाश्रम में रहो, पूर्ण आयु प्राप्त करो, पुत्र और पौत्रों के साथ खेलते हुए और आनन्द करते हुए अपने ही घर में रहो और घर को आदर्शरूप बनाओ।

इसके आगे यह दिखलाते हैं कि गृहस्वामी दम्पती का परस्पर कैसा आदर्श होना चाहिए। ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ। सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥

—ऋ० १०।८५।४७

अर्थात् संसार की समस्त शक्तियाँ और विद्वान् हम दोनों—पति-पत्नी को अच्छी प्रकार जानें, हम दोनों के हृदय जल के समान शान्त हों और हम दोनों की प्राणशक्ति, धारणाशक्ति और उपदेशशक्ति परस्पर कल्याणकारी हो।

यह वैदिक दम्पती का आदर्श है। अब देखना चाहिए कि इस वैदिक दम्पती का घर कैसा हो। वेदमन्त्रों के आदेशानुसार सर्वसाधारण के घर बहुत ही सादे होने चाहिएँ। अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः॥ —अथर्व० ९।३।१६
तृणैरावृता पलदान् वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती॥ —अथर्व० ९।३।१७
या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टपक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भ इवाशये॥ —अथर्व० ९।३।२१

अर्थात् उपजाऊ और पानीवाली भूमि पर छोटी-सी निर्वाहयोग्य जिसमें समस्त आवश्यक अन्न भरे हैं, ऐसी हे शाले! तू अपने ग्रहणकर्ता (निवासी) को मत मारना। तृण से छाई हुई और तोरण बन्दनवारों से सजी हुई हे शाले! तू सबको रात्रि के समय शान्ति देनेवाली है और लकड़ी के खम्भों पर हस्तिनी की भाँति थोड़ी-सी भूमि पर स्थित है। जो शाला दो छप्परवाली, चार छप्परवाली, छह छप्परवाली और जो आठ तथा दश छप्परवाली बनाई जाती है, उस मान-मर्यादा बचानेवाली शाला में मैं जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करता हूँ।

यह है वैदिक घरों की सादगी! अब देखना चाहिए कि इन घरों में खाद्य और पेय पदार्थों के तैयार करनेवाली गृहस्थी का कैसा वर्णन है। ऋग्वेद में लिखा है—

यत्र ग्रावा पृथुबुध्न ऊर्ध्वो भवति सोतवे। उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥
यत्र द्वाविव जघनाधिषवण्या कृता॥ उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥
यत्र नार्यपच्यवमुपच्यवं च शिक्षते॥ उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥

यत्र मन्थां विबध्नते रश्मीन्यमितवाइव॥ उलूखलसुतानामवेद्विन्द्र जल्गुलः॥
यच्चिद्धि त्वं गृहेगृह उलूखलक युज्यसे।
इह द्युमत्तमं वद जयतामिव दुन्दुभिः॥ —ऋ० १। २८। १-५

अर्थात् जहाँ बड़ा स्थूल पत्थर (चक्की) नीचे ऊपर चलता है, जहाँ दो जंघाओं के बीच में सिल बट्टा चलता है, जहाँ स्त्रियाँ पदार्थों का धरना, उठाना और राँधना-पकाना जानती हैं, जहाँ मथानी को रस्सी से बाँधकर दही मथा जाता है और जहाँ घर-घर में उलूखल-मूसल चलता है वे घर ऐसे प्रकाशित होते हैं जैसे जय के समय दुन्दुभि प्रकाशित होती है।

इन वैदिक घरों में चक्की, सिल-बट्टा, ऊखली-मूसल और मथानी के शब्द दुन्दुभी के समान अन्न चाहनेवालों को घोषित कर रहे हैं और गृहदेवियाँ पदार्थों के धरने-उठाने और राँधने-पकाने में लगी हुई हैं। इन घरों में जिस प्रकार अन्नदान की धूम मची हुई है उसी तरह घी-दूध की भी धारा बह रही है।

अथर्ववेद में लिखा है कि—

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥ —अथर्व० ४। ३४। ७

अर्थात् चार-चार घड़े दूध और चार-चार घड़े पानी चारों ओर देता हूँ। ये सब आपको स्वर्ग में—सुखस्थान में पोषण पहुँचाएँ।

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धाराममृतेन संभृताम्।
इमां पातॄनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम्॥ —अथर्व० ३। १२। ८

अर्थात् हे स्त्री! तू दूध और घी को घड़ों में भरकर उनकी धारा से इन पीनेवालों को तृप्त कर और वापी, कूप, तड़ाग तथा दान आदि सब प्रकार से इनकी रक्षा कर।

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिस्रुतम्। स्वधा स्थ तर्पयत मे पितॄन्॥
—यजुर्वेद २। ३४

अर्थात् बलकारक जल, घृत, दूध, रसयुक्त अन्न और पके हुए तथा टपके हुए मीठे फलों की धारा बह रही है, अतः हे स्वधा में ठहरे हुए पितरो! आप तृप्त हों।

इन मन्त्रों के अनुसार वैदिक घरों में देव, ऋषि और पितरों की तृप्ति के लिए घी, दूध और फलों का विशाल आयोजन दिखलाई पड़ता है। इतना ही नहीं प्रत्युत वैदिक गृहस्थ अपने इष्टमित्रों, अतिथियों और क्षुधापीड़ित मनुष्यों को किस प्रकार अन्न, जल और सेवा से तृप्त करने के लिए बुला रहे हैं वह भी देखने योग्य है! अथर्ववेद में लिखा है कि—

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥
इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥
येषामध्येऽति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥
उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥

उपहूता इव गाव उपहूता अजावयः।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः॥
सुनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥
इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत।
ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया॥ —अथर्व० ७।६०।१-७

अर्थात् हे वीर्य, धन, सम्पत्ति, मेधा, सुहृद्भाव और अच्छे मनवालो! आप लोग इन घरों में प्रेमपूर्वक आइए, डरिए मत। घरों में आनेवालों के लिए ये घर आरोग्यवर्धक, बलशाली, दुग्धवाले, लक्ष्मीवान् और श्रीमान् हैं। ये घर अमित धनवाले, मित्रों के साथ आमोद-प्रमोद करनेवाले और क्षुधा-तृषा के हरनेवाले हैं, इसलिए आइए, डरिए मत। गौवें, बकरी और नाना प्रकार के रसीले अन्न हमारे घरों में भरे पड़े हैं। ये घर सत्यवालों, भाग्यवानों, धनियों, हँसमुखों और भूख-प्यास से रहितों के हैं, इसलिए डरिए मत। थके हुए पथिक जो इन घरों का स्मरण करते हैं उन्हें ये घर अपनी ओर बुलाते हैं, इसलिए कहीं मत जाइए, यहीं रहिए। ये घर अनेक प्रकार से पोषण करते हैं, इसीलिए हम भी यहाँ आ गये हैं, ठहरे हैं और सब प्रकार से सुखी हैं।

इस उपदेश में गृहस्थाश्रम का कैसा भव्य वर्णन है और कैसे उदार गृहस्थों का चित्र खींचा गया है! इसका कारण यही है कि वेदों में अतिथिसत्कार न करनेवाले और क्षुधातुरों को अन्न न देनेवाले गृहस्थों की निन्दा की गई है। ऋग्वेद में लिखा है—

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन्रफितायोपजग्मुषे।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते॥
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्॥ —ऋ० १०।११७।२-३

अर्थात् जो अन्नवान् होता हुआ, अन्न चाहनेवालों और ग़रीबी से पास आये हुए दुखियों के लिए मन कठोर कर लेता है और आप मज़े में खाता है, उसे सुख देनेवाला मित्र नहीं मिल सकता। जो अन्न चाहनेवाले दुर्बल याचक को अन्न देता है वही सच्चा भोजन करता है। ऐसे दाता के पास दान करने के लिए पर्याप्त अन्न आता है और कठिन समय में सहायक मित्र उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार से इन वेदमन्त्रों ने आदर्श गृहस्थ का चित्र खींचते हुए बतलाया कि मकान तो सदैव साधारण ही हो, परन्तु वह साधारण मकान अन्न आदि आवश्यक पदार्थों से भरा हो और मकान पर आनेवालों का उत्तम सत्कार किया जाए, परन्तु स्मरण रहे कि इस दानशीलता के कारण ऋण न होने पाए। ऋण मनुष्य को बहुत ही नीच बना देता है, इसलिए उतना ही व्यय करना चाहिए जितनी अपनी निज की आय हो। अथर्ववेद में लिखा है—

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम॥ —अथर्व० ६।११७।३
पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नियच्छात्॥ —अथर्व० १९।३१।५

अर्थात् इस लोक, परलोक और तीसरे लोक में हम सब अनृण होवें और देवयान तथा पितृयान के जो मार्ग और स्थान हैं उन सबमें हम अनृण होकर निवास करें। मैं चतुष्पाद पशुओं

से, द्विपाद मनुष्यों से और धान्यों से प्राप्त पदार्थ स्वीकार करता हूँ और बृहस्पति तथा सवितादेव परमात्मा ने मुझे जो पशुओं का दूध और ओषधियों का रस दिया है, उसी से पोषण करता हूँ।

इन मन्त्रों का यही तात्पर्य है कि जो कुछ अपने पुरुषार्थ से प्राप्त हो उसी के अनुसार व्यय किया जाए, ऋण लेकर नहीं। इस प्रकार से गृहस्थ की दशा का वर्णन करके अब गृहस्थ के नित्य करने योग्य पञ्चमहायज्ञों का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यद्ग्रामे यदरण्ये यत्सभायां यदिन्द्रिये। यदेनश्चकृमा वयमिदन्तदवयजामहे॥

—यजुर्वेद ३।४५

अर्थात् ग्राम में, जंगल में हमने इन्द्रियों से जो पाप किया है उसे इस यज्ञ में होम करके दूर फेंकते हैं।

इस मन्त्र का तात्पर्य यही है कि गृहस्थ से जो पाँच स्थानों में पाप होता है अथवा युद्धों और हिंस्रपशुओं की हत्या से जो पाप होता है अथवा ग्राम में, जंगल में और सभाओं में जो मन, वाणी और कर्म से बिना किसी इच्छा के पाप हो जाता है वह पञ्चमहायज्ञों और इष्टापूर्त्तादि लोकोपकारी कार्यों के करने से दूर हो जाता है, अर्थात् एक प्रकार से नित्य प्रायश्चित हो जाता है। इन पञ्चमहायज्ञों में सबसे पहले वेदों का स्वाध्याय और प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप है। यही ब्रह्मयज्ञ है। वेद में इस ब्रह्मयज्ञ के करने की आज्ञा की गई है। वेद के स्वाध्याय के लिए यजुर्वेद में लिखा है—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्या ꣳ शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु॥

—यजुर्वेद २६।२

अर्थात् जैसे इस कल्याणकारिणी वाणी को मनुष्यों के लिए मैं बोलता हूँ वैसे ही ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों, शूद्रों, स्त्रियों और अनार्यों के लिए आप भी बोलिए और समझिए कि इस प्रकार के विद्यादान से मैं देवताओं में प्रिय होऊँ, मुझे परोक्ष सुख मिले और सब कामनाएँ पूर्ण हों।

यह वेद के स्वाध्याय की महिमा है, परन्तु वेद-स्वाध्याय का अर्थ केवल वेदों का रटना ही नहीं है प्रत्युत उनके अर्थों का जानना है। इसीलिए अथर्ववेद में लिखा है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद् विदुस्ते अमी समासते॥ —अ० ९।१०।१८

अर्थात् ऋचाएँ परमव्यापक अक्षर में ठहरी हुई हैं जिसमें वेद के देवता—अर्थ ठहरे हुए हैं, अत: जो अक्षर और उनके अर्थों को नहीं जानता वह केवल ऋचाओं से क्या लाभ प्राप्त कर सकता है। ठीक है, जो अक्षर और अर्थों को जानता है वही अच्छी प्रकार वेद के तात्पर्य को पहुँचता है।

इसलिए वेदों को अर्थसहित ही पढ़ना चाहिए। वेद विचार के बाद प्राणायामपूर्वक गायत्री का जप करना चाहिए। अथर्ववेद में गायत्री की महिमा इस प्रकार लिखी है—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ —अथर्ववेद १९।७१।१

अर्थात् द्विजों को प्रेरणा करनेवाली पवित्र वेदमाता गायत्री की मैं स्तुति करता हूँ। वह मुझे आयु, बल, सन्तति, पशु, कीर्ति, धन और ब्रह्मवर्चस्व, अर्थात् वेदज्ञान देकर ब्रह्मलोक को पहुँचावे। यही ब्रह्मयज्ञ है।

इसके बाद देवयज्ञ का अनुष्ठान है। देवयज्ञ का तात्पर्य दोनों समय हवन करना है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥
प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतं हिमा ऋधेम॥ —अथर्व० १९।५५।३-४

अर्थात् शाम का नित्य हवन प्रातःकाल के समय तक गृहस्थ के मन को प्रसन्न करनेवाला होता है और प्रातःकाल का नित्य हवन सायंकाल के समय तक मन को प्रसन्न करनेवाला होता है, इसलिए गृहस्थ को नित्य दोनों सन्ध्याओं में हवन करना चाहिए। यही देवयज्ञ है।

इस देवयज्ञ के पश्चात् पितृयज्ञ का विधान है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

ये समानाः समनसः पितरो यमराज्ये। तेषां लोकः स्वधा नमो यज्ञो देवेषु कल्पताम्॥
—यजुः० १९।४५

अर्थात् यम के राज्य में जो पितर एक-समान हैं और समान विचारवाले हैं उन पितरों को देवताओं के बीच में लोक, स्वधा, नमस्कार और यज्ञ प्राप्त हों[1]।

इस पितृयज्ञ के बाद बलिवैश्वदेव का विधान है। उसके लिए यजुर्वेद और अथर्ववेद में लिखा है—

यद्दतं यत्परा दानं यत्पूर्वं याश्च दक्षिणाः। तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधात्॥
—यजुः० १८।६४

अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥ —अथर्व० १९।५५।६

अर्थात् जो अभी दिया है और जो इसके पहले दिया है तथा जो आगे दिया है और जो पीछे दिया है वह सब बलिवैश्वकर्म की अग्नि को प्राप्त हो। जिस प्रकार घोड़ा नित्य घास पाता है उसी प्रकार प्रतिदिन प्राणियों को उनका भाग, अर्थात् बलि देनी चाहिए।

इसके बाद अतिथियज्ञ है। अतिथियज्ञ के विषय में लिखा है कि—

तद्यस्यैवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते॥
—अथर्व० १५।१०।१-२

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्।
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयतु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्ययथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति।
—अथर्ववेद १५।११।१-२

अर्थात् जब विद्वान् और व्रतधारी अतिथि राजा के घर आएँ तब राजा को उचित है कि वह अतिथि को अपने से भी अधिक श्रेष्ठ माने। इससे राजा न तो क्षत्रियकुल में ही दोषी होता है

---

१. ये पितर सौम्य है, इसलिए इनका सत्कार प्रायः जल से ही होता है। उधर वृक्ष भी सौम्य कहलाते हैं, यही कारण है कि पितृजल वृक्षों में ही डाला जाता है। पञ्चमहायज्ञों में जहाँ देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी और कीटपतङ्गों तक को भोज्य भाग दिया जाता है वहाँ सौम्य पितरों का अधिकार सौम्य वृक्षों को ही दिया जाता है। '**एका क्रिया द्व्यर्थकरी बभूव**' लिखकर पतञ्जलि ने महाभाष्य में इसी प्रकार का सङ्केत किया है।

और न राष्ट्र की ही ओर से दोषी होता है। जिसके घर में व्रतशील और विद्वान् अतिथि आ जाए तो उसे चाहिए कि वह उठकर अतिथि से कहे कि हे व्रात्य! आप कहाँ से आ रहे हैं? आइए, लीजिए यह जल है, आप तृप्त हों और जो आपकी इच्छा हो वह भी उपस्थित किया जाए तथा जो आज्ञा हो वही किया जाए।

यह वैदिक आतिथ्य का नमूना है! इस प्रकार से पञ्चमहायज्ञों के द्वारा गृहस्थ सबको अन्न-जल पहुँचाता है और इसी प्रकार का गृहस्थ पहले कही हुई आयु, बल, कीर्ति, विद्या, प्रजा, धन और मोक्ष आदि इच्छाओं को प्राप्त कर सकता है, परन्तु ये बातें गृहस्थ को तभी प्राप्त हो सकती हैं जब उसका सामाजिक व्यवहार भी उत्तम हो।

सामाजिक व्यवहार

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। उसका सम्बन्ध केवल अपने-आप ही से नहीं है प्रत्युत उसका सम्बन्ध दम्पती, कुटुम्ब, जाति, समाज और समस्त संसार के मनुष्यों तथा समस्त संसार के प्राणिमात्र से है, इसलिए उसे सबके साथ प्रेम, दया और सहानुभूति से वर्त्तना चाहिए। वेद के निम्नलिखित मन्त्रों में वही उदात्त उपदेश दिया गया है। यहाँ हम पहले दम्पती-प्रेम का नमूना दिखलाते हैं। ऋग्वेद और अथर्ववेद में लिखा है कि—

या दम्पती समनसा सुनुत आ च धावतः। देवासो नित्ययाशिरा॥ —ऋग्वेद ८।३१।५

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसामोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ —अथर्व० १४।२।४३

अर्थात् जो दम्पती एक मन होकर यज्ञ, अर्थात् उत्तम कामों के लिए साथ-साथ दौड़ते हैं और नित्य परमेश्वर की प्रार्थना करते हैं, वे देवता हैं। हे दम्पति! तुम दोनों इस सुखदायक घर में अच्छे प्रकार जागते हुए, हँसी-ख़ुशी के साथ, बड़े प्रेम से आनन्द मनाते हुए, सुन्दर सुपुत्रों और सुन्दर गृहस्थीवाले होकर प्रकाशयुक्त बहुत-से प्रातःकालों को देखो, अर्थात् बहुत दिन तक जिओ।

इन वेदमन्त्रों में दम्पती-प्रेम का उत्कृष्ट नमूना यह बतलाया गया है कि दोनों एक-मन होकर आनन्दपूर्वक उत्तम कर्मों में लगे रहें और परस्पर प्रेम और विनोद के साथ व्यवहार करें। इस दम्पती-कर्तव्य-वर्णन के आगे कौटुम्बिक व्यवहार का उपदेश इस प्रकार है—

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः। जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा। सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
—अथर्व० ३।३०।२-३

अर्थात् पुत्र पिता का आज्ञाकारी और माता का इच्छाकारी हो तथा स्त्री पति से मधुर और शान्त वाणी से बातचीत करे। भाई से भाई द्वेष न करे और न बहिन से बहिन ही ईर्ष्या करे। सब लोग अपने-अपने व्रत, अर्थात् मर्यादा में रहकर सदैव आपस में भद्रभाषा से ही बातचीत करें।

कैसा सुन्दर कौटुम्बिक व्यवहार है! इन समस्त कुटुम्बियों में माता का स्थान बहुत ऊँचा है, इसीलिए वेद में माता की बड़ाई इस प्रकार की गई है—

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहतमरतौ॥ —ऋ० ५।२।१

अर्थात् युवती माता पुत्र को अपने ही गर्भ में धारण करती है, अपने तुल्य पिता को नहीं देती और न उसके बल को क्षीण होने देती है, इसीलिए विद्वान् पुरुष माता को प्रथम स्थान देते हैं।

इस मन्त्र में माता का स्थान सर्वश्रेष्ठ इसीलिए कहा गया है कि वह बराबरी का दावा करनेवाले अपने पति का बल नष्ट न करके गर्भ को अपने ही पेट में धारण करती है और पति को उस कष्ट से बचा लेती है। इस मातृभक्ति के आगे घर के बड़ों, बूढ़ों की सेवा से पवित्रता मानने का उपदेश इस प्रकार है—

पुनन्तु मा पितरः सोम्यासः पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा।
पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु प्रपितामहाः। पवित्रेण शतायुषा विश्वमायुर्व्यश्नवै॥
पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥

—यजुर्वेद १९।३७-३९

अर्थात् सौम्य पिता मुझे पवित्र करें, सौम्य पितामह मुझे पवित्र करें और सौम्य प्रपितामह मुझे पवित्र करें, जिससे मैं सौ वर्ष जीनेवाला होऊँ। पितामह और प्रपितामह मुझे पवित्र करें जिससे मैं सौ वर्ष की आयु प्राप्त करूँ। मुझे समस्त देवजन पवित्र करें, मेरा मन और बुद्धि मुझे पवित्र करे, समस्त पञ्चभूत मुझे पवित्र करें और अग्नि मुझे पवित्र करे।

इन मन्त्रों में वृद्धों की सेवा से पवित्रता और दीर्घायु की प्राप्ति बतलाई गई है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक शिक्षा में बड़े-बूढ़ों के मान और सेवा के लिए कितना ज़ोर दिया गया है। इस कौटुम्बिक व्यवहार के आगे हम दिखलाना चाहते हैं कि वेदों में अपने कुटुम्ब से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य जातिबन्धुओं के लिए किस प्रकार सुख की कामना करने का उपदेश है। ऋग्वेद में लिखा है—

सस्तु माता सस्तु पिता सस्तु श्वा सस्तु विशपतिः।
ससन्तु सर्वे ज्ञातयः सस्त्वयमभितो जनः॥ —ऋ० ७।५५।५

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये॥ —अथर्व० ९।५।३०

अर्थात् माता, पिता, जातिवाले, नौकर-चाकर और कुत्ते आदि पशु सब सुख से सोवें। आत्मीय जन, पिता, पुत्र, पौत्र, पितामह, स्त्री, पितामही, माता और जो स्नेही हैं उनको मैं आदर से बुलाता हूँ।

इन कुटुम्बियों और जाति से सम्बन्ध रखनेवालों के साथ व्यवहार का वर्णन करके आगे मित्रों के साथ व्यवहार करने का उपदेश इस प्रकार है—

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥ —ऋ० १०।७१।१०

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्॥ —ऋ० १०।११७।४

अर्थात् मित्र के सहवास और यश से सब आनन्दित होते हैं। मित्र धन देकर समाज के पापों को दूर करता है और सबका हितकारी होता है। वह सखा, अर्थात् मित्र नहीं है जो धनवान् होकर अपने मित्र की सहायता नहीं करता। उसका घर सच्चा घर नहीं है। उसके पास से तो सदैव दूर ही भागना चाहिए।

इन दोनों मन्त्रों में मैत्री का भाव और कर्त्तव्य अच्छी प्रकार बतला दिया गया है और दिखला दिया गया है कि मित्र को भी कुटुम्ब और जाति की भाँति ही सहायता देनी चाहिए। इसके आगे अब समस्त आर्यजाति के साथ व्यवहार करने का उपदेश इस प्रकार है—

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

—अथर्व० १९।६२।१

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचꣳराजसु नस्कृधि। रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम्॥

—यजुः० १८।४८

अर्थात् मुझे ब्राह्मणों में प्रिय कीजिए, क्षत्रियों में प्रिय कीजिए, वैश्यों में प्रिय कीजिए और शूद्रों में प्रिय कीजिए। हमारी ब्राह्मणों में रुचि हो, क्षत्रियों में रुचि हो, वैश्यों और शूद्रों में रुचि हो तथा इस रुचि में भी रुचि हो।

इन मन्त्रों में आर्यजाति के चारों वर्णों के साथ रुचि रखने और उनके बीच में प्रिय होने का उपदेश है। इसके आगे समस्त मनुष्यजाति के साथ व्यवहार करने का आदेश इस प्रकार है—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ —अथर्व० ३।३०।६

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ —अथर्व० ३।३०।१

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषाꣳ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिँल्लोके शतꣳ समाः॥ —यजुर्वेद १९।४६

अर्थात् तुम सब मनुष्यों के जलस्थान एक समान हों और तुम सब अन्न को एक समान ही बाँट-चूँट कर लो। मैं तुमको एक ही कौटुम्बिक बन्धन में बाँधता हूँ, इसलिए तुम सब मिलकर कर्म करो। जैसे रथचक्र के सब ओर एक ही नाभि में लगे हुए आरे कर्म करते हैं। मैं तुम्हारे हृदयों को एक समान करता हूँ और तुम्हारे मनों को विद्वेषरहित करता हूँ। तुम एक-दूसरे को उसी तरह प्रीति से चाहो जैसे गौ अपने सद्यःजात बछड़े को चाहती है। जो जीव मन, वाणी से इस प्रकार की समानता के पक्षपाती हैं उन्हीं के लिए मैंने इस लोक में सौ वर्ष तक समस्त ऐश्वर्यों को दिया है।

इन मन्त्रों में मनुष्यमात्र के साथ समता का व्यवहार करने का उपदेश किया गया है। इस उपदेश में अच्छी प्रकार बतला दिया गया है कि समस्त मनुष्यों की सम्पत्ति, विचार और रहनसहन एक-समान होना चाहिए, तभी सौ वर्ष तक लोग सुख से जी सकते हैं। समस्त मनुष्यों के साथ इस प्रकार का व्यवहार करने की आज्ञा के बाद वेदों में अच्छी प्रकार कह दिया गया है कि मनुष्यों के ही साथ नहीं प्रत्युत प्राणिमात्र के साथ प्रेम, दया और सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए। वेद उपदेश करते हैं कि—

यो वै कशायाःसप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वाँश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्॥

—अथर्व० ९।१।२२

दृते दृꣳह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥ —यजुर्वेद ३६।१८

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, धेनु, बैल, धान, यव और मधु ये सात मधु हैं। जो मनुष्य ज्ञान के इन सात मधुओं को जानता है वह मधुमान्, अर्थात् मधुर हो जाता है। हे दृष्टिस्वरूप परमात्मन्! मेरी दृष्टि को दृढ़ कीजिए, जिससे सब प्राणी मुझे मित्र-दृष्टि से देखें। इसी प्रकार मैं भी सब प्राणियों को मित्र-दृष्टि से देखूँ और हम सब प्राणी परस्पर एक-दूसरे को मित्रदृष्टि से देखें।

यहाँ तक हमने सामाजिक व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रों का संग्रह किया। इस संग्रह में अपने कुटुम्ब से लेकर समस्त संसार के मनुष्यों और समस्त प्राणियों तक के साथ प्रेम, दया, समता, सहानुभूति और मित्रता के भावों के दर्शानेवाले वेदोपदेश ग्रथित हैं। हम नहीं समझते कि समाज से सम्बन्ध रखनेवाले इससे अधिक उदात्त और व्यापक व्यवहार और कहीं संसार में होंगे, परन्तु ये सामाजिक व्यवहार जब तक सदाचार की सुदृढ़ भूमिका पर स्थिर न हों तब तक स्थायी नहीं हो सकते।

सदाचार

बिना सदाचार के सामाजिक व्यवहार उत्तमता से निभ ही नहीं सकते। सदाचारी मनुष्य ही समाज में सुख से रह सकता है। सत्यता, शुद्धता, चरित्रशीलता और व्रत आदि के बिना मनुष्य का समाज में निर्वाह ही नहीं है, इसीलिए सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक उपदेश वेदों में दिये गये हैं। यहाँ हम नमूने के तौर पर थोड़े-से मन्त्र उद्धृत करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है—

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदभ्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ —ऋ० १०।५।६

अर्थात् हिंसा, चोरी, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, असत्य भाषण और इन पापों के करनेवालों दुष्टों का सहयोग करने का नाम सप्त मर्यादा है। इनमें से जो एक भी मर्यादा का उल्लंघन करता है, अर्थात् एक भी पाप करता है, वह पापी होता है और जो धैर्य से इन हिंसादि पापों को छोड़ देता है वह निस्सन्देह जीवन का स्तम्भ (आदर्श) होता है और मोक्षभागी होता है।

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ —ऋ० ७।१०४।२२

अर्थात् गरुड़ के समान मद (घमंड), गीध के समान लोभ, कोक (चिड़ा) के समान काम, कुत्ते के समान मत्सर, उलूक के समान मोह (मूर्खता) और भेड़िया के समान क्रोध को मार भगाइए, अर्थात् काम, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि छह विकारों को अपने अन्तःकरण से हटा दीजिए।

इन हिंसा आदि बाह्य और कामादि अन्तर्दुर्वासनाओं के त्याग से ही मनुष्य उत्तम सामाजिक हो सकता है। इन सबमें सत्य की महिमा महान् है। वेद उपदेश करते हैं—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि॥ —ऋ० १०।७१।२

अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्।
इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ —यजुर्वेद १।५

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृतेऽ दधाच्छ्रद्धाꣳसत्ये प्रजापतिः॥ —यजुः० १९।७७

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद् दुरितात्पात्वंहसः। —अथर्व० १०।५।२२

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ —ऋ० ७।१०४।१२

अर्थात् जिस प्रकार छाननी से सत्तू छाने जाते हैं उसी प्रकार जहाँ विद्वान् लोग अपनी वाणी को मन से शुद्ध करके बोलते हैं, वहीं पर लक्ष्मी और मित्रता ठहरती है। हे परमेश्वर! मैं प्रतिज्ञा

करता हूँ कि अपनी शक्तिभर सत्य का पालन करूँगा, अतः इस असत्य से निकलकर सत्य में आता हूँ। प्रजापति ने सत्य और असत्य को समझ-बूझकर अलग किया है और असत्य में अश्रद्धा तथा सत्य में श्रद्धा उत्पन्न की है। तीन वर्षों के इस पार जो हम झूठ बोले हों तो हे परमात्मन्! उन सब दुष्फल पापों से हमारी रक्षा कीजिए। मनुष्य की सुविधा के लिए सत्य और असत्य के विज्ञान को एक-दूसरे के विरुद्ध कहा गया है। इन दोनों में जो सत्य है वह सरल और सीधे स्वभाव से कहा जाता है तथा उससे कोमलता आती है, परन्तु जो असत्य है वह तो हर प्रकार से सत्यनाश ही कर देता है।

इन सत्य के प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों ने सत्यभाषण की समस्त विशेषताओं का सुन्दर वर्णन कर दिया है। अब आगे मधुर भाषण की विशेषताओं का वर्णन करते हैं।

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधु सन्दृशः॥

—अथर्व० १।३४।२-३

अर्थात् मेरी जिह्वा के अग्रभाग में मधुरता हो और जिह्वा के मूल में मधुरता हो। हे मधुरता! मेरे कर्म में तेरा वास हो और मेरे मन के अन्दर भी तू पहुँच जा। मेरा आना-जाना मधुर हो, मैं जो भाषा बोलूँ वह मधुर हो और मैं स्वयं मधुर-मूर्त्ति बन जाऊँ।

यहाँ तक सत्य और मधुर वाणी बोलने की शिक्षा देकर अब वेद उपदेश करते हैं कि अपनी किसी भी इन्द्रिय से अभद्र, असभ्य और अमङ्गल व्यवहार न होने दो, किन्तु सब व्यहार भद्र-ही-भद्र हों। यजुर्वेद उपदेश करता है—

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥ —यजुः० २५।२१

अर्थात् हे यज्ञ करनेवाले परमेश्वर के भक्त विद्वानो! हम सदैव कल्याणकारी शब्द ही कानों से सुनें, कल्याणकारी दृश्य ही आँखों से देखें और अपने दृढ़ अङ्गों के द्वारा शरीर से यावज्जीवन वही कर्म करें, जिससे विद्वानों का हित हो।

इसके आगे मनसा, वाचा, कर्मणा बुराई से बचने का उपदेश किया गया है। अथर्ववेद में लिखा है—

इदं यत् परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्। येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥
इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता। ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥
इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥ —अथर्व० १९।९।४, ३, ५

अर्थात् यह जो ज्ञान से तीक्ष्ण बना हुआ मन है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, वह हमें शान्ति दे। यह जो ब्राह्मण के द्वारा संस्कृत हुई परमेष्ठिनी वाणी है और जिससे भयङ्कर प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं वह हमें शान्ति दे। ये जो पाँचों ज्ञान अथवा कर्मेन्द्रियाँ हैं और जिनसे छठे मन के साथ भयङ्कर पाप हो पड़ते हैं, वे हमें शान्ति दें।

इस प्रकार इन मन्त्रों ने मनसा, वाचा और कर्मणा पापों से बचने और शान्ति से रहने का उत्तम उपदेश दिया है। इन सब मन, वाणी और कर्मों में मन ही प्रधान है। उसी से सब पापों की उत्पत्ति होती है, इसलिए मन को निष्पाप करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः। —अथर्व० ६।४५।१

अर्थात् हे मेरे मन के पापो! तुम मुझसे दूर हो जाओ। मुझसे बुरी बातें क्यों करते हो? मैं तुमको नहीं चाहता, इसलिए मेरे पास से दूर हो जाओ और जहाँ वन-वृक्ष हैं वहाँ चले जाओ, क्योंकि मैं अपने शरीर, इन्द्रिय और मन में चित्त लगा रहा हूँ।

इसी प्रकार मन से सम्बन्ध रखनेवाले ईर्ष्या-द्वेष से बचने का भी उपदेश किया गया है। अथर्ववेद में कहा है—

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥
—अथर्व० ६।१८।२

अर्थात् जैसे पृथिवी मुर्दे से भी अधिक मननशक्तिशून्य है और जैसे मरे हुए का मन भी शून्य हो जाता है उसी प्रकार ईर्ष्या करनेवाले का मन भी मुर्दा हो जाता है।

इस उपदेश का यही तात्पर्य है कि ईर्ष्या-द्वेष करने से मन की विशालता नष्ट हो जाती है। वह अत्यन्त संकुचित हो जाता है, मर जाता है और निन्दा भी होती है। निन्दा से बचने के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

अयुतोऽहमयुतो म आत्मायुतं मे चक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतो मे
प्राणोऽयुतो मे पानोऽ युतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥ —अथर्व० १९।५१।१

अर्थात् मैं अनिन्दित होऊँ, मेरा आत्मा अनिन्दित होवे और मेरे चक्षु, श्रोत्र, प्राण, अपान तथा व्यान अनिन्दित होवें।

इसके आगे वेदमन्त्रों में व्यभिचार आदि दुष्ट कर्मों का त्याग करने की शिक्षा इस प्रकार दी गई है—

मा पृणन्तो दुरितमेन आरन्मा जारिषुः सूरयः सुव्रतासः।
अन्यस्तेषां परिधिरस्तु कश्चिदपृणन्तमभि सं यन्तु शोकाः॥ —ऋ० १।१२५।७

अर्थात् दुष्ट कर्म मत करो और न प्रतिष्ठित तथा धर्मात्माओं में व्यभिचार ही करो, क्योंकि व्यभिचार करनेवालों के लिए दूसरा ही क़ानून है, जिससे वे शोक को प्राप्त होते हैं।

इसके आगे हिंसा का निषेध इस प्रकार है।

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्र यत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पृणाल्लघीयसी भव॥ —अथर्व० १०।१।२९
येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते।
ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥ —अथर्व० १२।२।५१

अर्थात् हे हिंसे! निर्दोषों की हत्या निश्चय ही महाभयानक है, अतः तू हमारी गौ, घोड़े और पुरुषों को मत मार। जहाँ-जहाँ तू गुप्तरूप से छिपी है वहाँ-वहाँ से हम तुझे निकालते हैं, अतः तू पत्ते से भी अधिक हलकी हो जा। अश्रद्धावाले जो धन की कामना से मांस खानेवालों का साथ करते हैं, वे सदैव दूसरों की ही हाँडी का खाते हैं।

इन मन्त्रों में पशुवध और मांसभक्षण का निषेध किया गया है। इसके आगे मद्य का निषेध इस प्रकार है—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्। ऊधर्न नग्ना जरन्ते। —ऋ० ८।२।१२

अर्थात् दिल खोलकर शराब पीनेवाले दुष्ट लोग आपस में लड़ते हैं और नंगे होकर व्यर्थ बड़बड़ाते हैं, इसलिए शराब का पीना बुरा है।

जिस प्रकार शराब पीना बुरा है उसी प्रकार जुआ खेलना भी बुरा है। वेद उपदेश करते हैं—

जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्व स्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति॥ —ऋ० १०।३४।१०

अर्थात् जुआरी की स्त्री कष्टमय अवस्था के कारण दुःखी रहती है, गली-गली मारे-मारे फिरनेवाले जुआरी की माता रोती रहती है, कर्ज़े से लदा हुआ जुआरी स्वयं सदा डरता रहता है और धन की इच्छा से वह रात के समय दूसरों के घरों में चोरी करने के लिए पहुँचता है, इसलिए जुआ खेलना अत्यन्त बुरा है।

इसी प्रकार चोरी को भी बुरा बतलाया गया है। अथर्ववेद में कहा है—

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्रिणः। अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत्॥
—अथर्व० १।१६।१

अर्थात् जो मुफ़्तख़ोरे, भूखे और भटकनेवाले अँधेरी रात में बस्ती के भीतर चोरी करने और डाका डालने के लिए आते हैं, उनसे बचने के लिए राजपुरुष सबको सचेत करता है और उन्हें पकड़कर मार डालता है, इसलिए कभी किसी की चोरी नहीं करना चाहिए।

यहाँ तक स्थूल सदाचार का वर्णन करके अब सभ्यता-सम्बन्धी सदाचार का वर्णन करते हैं। सभ्यता में सबसे पहली बात स्वच्छता और पवित्रता की है, इसलिए वेद उपदेश करते हैं—

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नातो मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यमापः शुन्धन्तु मैनसः॥
—यजुर्वेद २०।२०

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनसा धियः। पुनन्तु विश्वा भूतानि जातवेदः पुनीहि मा॥
—यजुर्वेद १९।३९

अर्थात् जैसे वृक्ष से सूखे पत्ते गिर जाते हैं, जैसे पसीना निकला हुआ आदमी स्नान से मल को धो डालता है और जैसे घी से पवित्रता होती है, उसी प्रकार हे जल! मेरे शरीर, वस्त्र और घर के मलों को शुद्ध कर दे। मुझे विद्वान् पवित्र करें। मेरा मन और बुद्धि पवित्र करें। संसार के समस्त प्राणी मुझे पवित्र करें और यह अग्नि मुझे पवित्र करे।

इस स्वच्छता और पवित्रता के उपदेश के आगे सदाचार से सम्बन्ध रखनेवाली दिनचर्या का उपदेश इस प्रकार है—

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि। श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः॥
—ऋ० १०।१५१।५

सुगुरसत्सु हिरण्यः स्वश्वो बृहदस्मै वय इन्द्रो दधाति।
यस्त्वायन्तं वसुना प्रातरित्वो मुक्षीजयेव पदिमुत्सिनाति॥ —ऋ० १।१२५।२
प्राता रत्नं प्रातरित्वा दधाति तं चिकित्वान्प्रतिगृह्या नि धत्ते।
तेन प्रजां वर्धयमान आयू रायष्पोषेण सचते सुवीराः॥ —ऋ० १।१२५।१

अर्थात् मैं प्रातःकाल श्रद्धा की पूजा करता हूँ, मैं मध्यदिन में श्रद्धा की पूजा करता हूँ और मैं सूर्य छिप जाने पर श्रद्धा की पूजा करता हूँ, इसलिए हे श्रद्धे! तू श्रद्धा के लिए आ। जो प्रातःकाल उठता है उसे सुन्दर गौएँ, सोना, घोड़े और लम्बी आयु प्राप्त होती है और उसे सूर्यदेवता वसु के द्वारा इस प्रकार बाँध देता है जैसे कोई रस्सी से बँधा हो, अर्थात् प्रातःकाल उठने का अभ्यास करने से सूर्य आप-ही-आप उठा देता है। प्रातःकाल उठनेवालों को अनेक प्रकार के रत्नों की प्राप्ति होती है, इसीलिए बुद्धिमान् मनुष्य उस समय को पकड़कर रखते हैं,

क्योंकि प्रात:काल के जागरण से प्रजा, आयु, धन, पुष्टि बढ़ती है और वीरता आती है।

इस प्रकार दिनचर्या का वर्णन करके अब सदाचार से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाली उदारता, अर्थात् दान का वर्णन करते हैं—

तवोतिभिः सचमाना अरिष्टा बृहस्पते मघवानः सुवीराः।
ये अश्वदा उत वा सन्ति गोदा ये वस्त्रदाः सुभगास्तेषु रायः॥ —ऋ० ५।४२।८

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम्॥ —अथर्व० ९।५।२९

अर्थात् हे बृहस्पते! जो आपकी रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले हैं, वे दु:खों से रहित, धनवान् और पुत्र-पौत्रवाले होते हैं और जो गायों, घोड़ों और वस्त्रों का दान करनेवाले होते हैं वे सौभाग्यवाले होते हैं और उनके घरों में अनेक प्रकार के धन सदा प्रस्तुत रहते हैं। जो जननेवाली गौ, बोझा ढोनेवाले बैल, शिर के नीचे रखनेवाला तकिया, वस्त्र और सुवर्ण का दान करते हैं वे उत्तम गति को प्राप्त होते हैं।

इस उदारता और दानसम्बन्धी उपदेश के आगे अब सदाचार के मूल सत्सङ्ग का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में आया है कि—

नाकस्य पृष्ठे अधि तिष्ठति श्रितो यः पृणाति स ह देवेषु गच्छति।
तस्मा आपो घृतमर्षन्ति सिन्धवस्तस्मा इयं दक्षिणा पिन्वते सदा॥ —ऋ० १।१२५।५

अर्थात् जो सदा विद्वानों के साथ रहता है वह सुखकारी स्वर्ग में निवास करता है, जहाँ अपतत्त्व (ईथर) स्थान देता है और सूर्यकिरणें दक्षिणा देती हैं।

इस मन्त्र में विद्वानों के सत्संग का फल बतलाया गया है। इसके आगे विद्वानों को दक्षिणा देकर उनकी सेवा करने का फल भी बतलाते हैं। ऋग्वेद में कहा है—

दक्षिणावतामिदिमानि चित्रा दक्षिणावतां दिवि सूर्यासः।
दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते दक्षिणावन्तः प्र तिरन्त आयुः॥ —ऋ० १।१२५।६

दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय॥ —ऋ० १०।१०७।५

दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्॥ —ऋ० १०।१०७।७

अर्थात् दक्षिणावान् पुरुषों को नाना प्रकार के सुख, सूर्य के समान ऐश्वर्य और अमृत के समान फल तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। जो सबसे प्रथम श्रेणी का दक्षिणावान् होता है वह सबसे पहले बुलाया जाता है, वही ग्राम का मुखिया होता है, और वही राजा के यहाँ सम्मान पाता है। जो विद्वानों को दक्षिणा में अश्व, गौ, सोना, चाँदी और अन्न देता है उसके लिए यह दक्षिणा कवच का काम देती है—उसकी रक्षा करती है।

यह सदाचारसम्बन्धी समस्त व्यवहार तभी सम्पन्न हो सकता है जब मनुष्य व्रतवाला हो, जिसका सङ्कल्प दृढ़ हो और जो सदैव अपने सिद्धान्त पर स्थिर रहे। इस व्रत का माहात्म्य बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं—

व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
—यजु:० १९।३०

अर्थात् मनुष्य व्रत से दीक्षावान् होता है, दीक्षा से दक्षिणावान् होता है, दक्षिणा से श्रद्धावान् होता है और श्रद्धा से सत्य को, अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होता है।

इस प्रकार से यह व्रत ही सदाचार का मूल है। जो व्रतधारी हैं—दृढ़ प्रतिज्ञावाले हैं—वही सदाचार में सफलता प्राप्त करते हैं, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह दृढ़ता और इस प्रकार का व्रत बिना अभ्यास के नहीं हो सकता और अभ्यास संस्कारों के बिना नहीं हो सकता, इसलिए आगे देखते हैं कि संस्कारों के सम्बन्ध में वेद क्या उपदेश देते हैं।

विवाह और गर्भाधानादि संस्कार

जिस प्रकार के सदाचार का वर्णन किया गया है उस प्रकार के सदाचारी मनुष्य समाज में तब तक उत्पन्न नहीं हो सकते जब तक वे उत्तम संस्कारों के द्वारा जन्म से ही संस्कृत न किये जाएँ। संस्कार का अर्थ है मन, वाणी और शरीर का सुधार, इसलिए मनुष्यों के जन्म से ही नहीं प्रत्युत जन्म के पूर्व गर्भ से भी संस्कार होने चाहिएँ। इतना ही नहीं प्रत्युत जिन स्त्री-पुरुषों के द्वारा गर्भाधान होनेवाला है उनको भी अच्छी प्रकार सुसंस्कृत होना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह कि समस्त संस्कारों का मूल विवाह को ही समझना चाहिए। विवाह करनेवाले वर-वधू की क्या योग्यता हो, उनकी क्या आयु हो और उनका क्या कर्त्तव्य हो—ये बातें संस्कारों के आरम्भ के पूर्व विवाहकाल में ही स्थिर कर दिया है, इसलिए हम यहाँ इन बातों का इसी क्रम से वर्णन करते हैं। वेदों की आज्ञानुसार सबसे पहला संस्कार विवाह ही है और विवाह में सबसे पहली बात वर-वधू की योग्यता की है, अतएव हम वेद के वे मन्त्र उद्धृत करते हैं जिनमें विवाह करनेवाले वर-वधू की योग्यता का वर्णन है। अथर्ववेद में लिखा है कि—

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ —अथर्व० ६।१२२।५

अर्थात् शुद्ध, पवित्र और पूजनीय इन स्त्रियों को मैं ज्ञानियों के हाथों में अलग-अलग सौंपता हूँ और जिस कामना के लिए मैं यह तुम्हारा अभिषेक कर रहा हूँ, सब देवता मेरी वह कामना पूर्ण करें।

इस मन्त्र में विवाह करनेवाली कन्या को शुद्ध, पवित्र और पूजनीय बतलाया गया है और जिसके साथ विवाह करना है उसे ज्ञानी विद्वान् कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि हर प्रकार से योग्य कन्या और वर का ही विवाह वैदिक है, अयोग्यों का नहीं, क्योंकि अबोध कन्याएँ स्वयं अपने योग्य वर के लिए अपना अभिप्राय प्रकट नहीं कर सकतीं, परन्तु वेद उपदेश करते हैं कि योग्य कन्याएँ अपना वर आप ही चुन लें। ऋग्वेद में लिखा है—

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।
भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुते जने चित्॥ —ऋ० १०।२७।१२

अर्थात् वधू बननेवाली कितनी ही स्त्रियाँ जो भद्र और सुरूपा होती हैं मनुष्यों की योग्यता को पसन्द करके अपने मित्र (पति) को जनसमूह से स्वयं चुन लेती हैं।

इस मन्त्र में पतिवरण करने में कन्याओं की स्वतन्त्रता दिखलाई पड़ती है। इसके आगे विवाह के समय कन्याओं की आयु का उपदेश इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः। तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥
सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्॥

—ऋ० १०।८५।४०-४१

अर्थात् पहला पति सोम है, दूसरा गन्धर्व है, तीसरा अग्नि है और चौथा मनुष्य है। सोम गन्धर्व को देता है, गन्धर्व अग्नि को देता है और अग्नि धन और पुत्रों के लिए मुझको देता है।

इन मन्त्रों के द्वारा बतलाया गया है कि सोम, गन्धर्व और अग्नि के उपभोगों के बाद केवल सन्तान के लिए ही विवाह होना चाहिए। इन मन्त्रों का अर्थ करते हुए अत्रिस्मृति में कहा गया है कि मनुष्य के पूर्व कन्या को सोम, गन्धर्व और अग्नि आदि देवता भोगते हैं, अर्थात् रोमकाल में सोम, स्तनकाल में गन्धर्व और रजोदर्शन काल में अग्नि का प्रभाव रहता है, इसलिए कन्या का विवाह रोम, स्तन और रजोधर्म के बाद ही होना चाहिए[1]। इस प्रकार कन्या की आयु बतलाकर वर की आयु के लिए ऋग्वेद उपदेश करता है—

युवा सुवासाः परिवीत आगात्स उ श्रयान्भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो३मनसा देवयन्तः॥ —ऋ० ३।८।४

अर्थात् जो युवावस्था को प्राप्त होकर, विद्या पढ़कर और यज्ञोपवीत तथा सुन्दर वस्त्रों को पहने हुए आता है वही श्रेय को पाकर प्रसिद्ध होता है और उसी को विद्वान् तथा धीर पुरुष अन्तःकरण से उन्नत करते हैं और बड़ा मानते हैं।

इस मन्त्र में समावर्तन के समय की आयु का वर्णन है। समावर्तन के बाद ही विवाह होता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि विवाह के समय पुरुष भी युवा ही होना चाहिए, क्योंकि यदि विवाह करने योग्य और युवावस्था को प्राप्त न हों तो वे अपना कर्त्तव्य समझकर परस्पर प्रतिज्ञा नहीं कर सकते। वर-वधू की परस्पर वैवाहिक प्रतिज्ञाओं को वेदमन्त्रों में बहुत ही अच्छी प्रकार दर्शाया गया है। विवाह के समय वर प्रतिज्ञा करता है कि—

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ —अथर्व० १४।१।५०

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥
—अथर्व० १४।१।५१

अर्थात् भग, अर्यमा, सविता और पुरन्धि आदि देवताओं ने मुझको गार्हपत्य के लिए तुझे दिया है, अतएव मैं सौभाग्य के लिए तेरा हाथ पकड़ता हूँ। तू वृद्धावस्था पर्यन्त मेरे साथ रह। भग और सविता आदि देवताओं ने मुझे तेरा साथ पकड़ाया है, इसलिए अब तू धर्म से मेरी पत्नी है और मैं धर्म से तेरा पति हूँ।

वर की इस प्रतिज्ञा पर वधू प्रतिज्ञा करती है कि—

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा। यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥
—अथर्व० ७।३७।१

अहं वदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद। ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥
—अथर्व० ७।३८।४

अर्थात् हे मननशील पुरुष! मैं तुझे अपने वस्त्र से बाँधती हूँ जिससे तू मेरा ही रहे और दूसरी स्त्रियों की कभी बात न करे। मैं प्रतिज्ञा कर रही हूँ और इस सभा में तू भी प्रतिज्ञा कर कि जिससे तू मेरा ही होवे और अन्य स्त्रियों की कभी बात न करे।

इस प्रकार के इन प्रतिज्ञावचनों के बाद ही विवाह हो जाता है। विवाह हो चुकने पर माता-पिता को उचित है कि वे वर-वधू को आवश्यक पदार्थ देवें। यह बात वेदमन्त्र ने सूर्या के

---

१. पूर्वं स्त्रियः सुरैर्भुक्ता देवगन्धर्ववह्निभिः। पश्चात्तु मानवा भुङ्क्ते न ता दुष्यन्ति कर्हिचित्॥ १९४॥
रोमदर्शनसम्प्राप्ते सोमो भुङ्क्ते तु कन्यकाम्। रजो दृष्ट्वा तु गन्धर्वः कुचौ दृष्ट्वा तु पावकः॥ —अत्रिस्मृति

अलङ्कार से इस प्रकार बतलाई है—

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्। द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम्॥

—अथर्व० १४।१।६

या अकृन्तन्नवयन् याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः॥ —अथर्व० १४।१।४५
कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः। अपास्याः केशं मलमप शीर्षण्यं लिखात्॥

—अथर्व० १४।२।६८

अर्थात् जब सूर्या (कन्या) पति को प्राप्त हो तब चैतन्यबुद्धि ही ओढ़नी हो, दर्शनशक्ति ही अञ्जन हो और भूमि और आकाश का सम्पुट ही पिटारी हो। जिन स्त्रियों ने सूत काता है, जिन्होंने ताना किया है, जिन्होंने बुना है और जिन देवियों ने अंचल काढ़ा है, वे सब स्त्रियाँ कन्या को वस्त्र पहिनावें और कहें कि हे आयुष्मती वधु! तू इन्हें पहन ले। कृत्रिम काँटों का बना हुआ अनेक दाँतोंवाला जो यह कंघा है वह वधू के केशों और शिर के मलों को निकाल डाले।

इस प्रकार से अञ्जन, पिटारी, ओढ़नी, काढ़े हुए वस्त्र और कंघा आदि आवश्यक पदार्थ वधू को दिये जावें और अच्छी सवारी में बिठाकर वह पति के घर को विदा की जाए। वेद आज्ञा देते हैं कि—

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्। आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्॥

—अथर्व० १४।२।३०

अर्थात् ज़री के बिछौनेवाली सेजगाड़ी जो अनेक प्रकार के पदार्थों से सजाई गई हो उसपर सौभाग्यवती वधू पति के घर जाने के लिए चढ़े। जिस समय वधू सवारी में चढ़कर चलने लगे उस समय विद्वान् आशीर्वाद दें कि—

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज॥ —अथर्व० १४।१।६४
यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥
सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुःसम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥

—अथर्व० १४।१।४३, ४४

अर्थात् ब्रह्म आगे, ब्रह्म पीछे, ब्रह्म मध्य में और ब्रह्म अन्त में समझकर हे वधु! तू अपने सुदृढ़ देवपुर—पतिगृह को सुखदायिनी और कल्याणकारिणी होकर जा और विराजमान हो। जैसे बलवान् समुद्र ने नदियों का राज्य प्राप्त किया है वैसे ही तू पति के घर की राजराजेश्वरी हो। श्वशुर की दृष्टि में रानी की भाँति, सास के निकट रानी की भाँति और ननन्द तथा देवर के लिए महारानी की भाँति होकर रह।

इस प्रकार का आशीर्वाद पाकर वधू पतिगृह में पहुँचती है और पतिग्राम के स्त्री-पुरुष उसकी आगवानी करते हैं तथा कहते हैं कि—

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
सा वःप्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः॥ —अथर्व० १४।२।१४

अर्थात् यह आत्मवान् और उपजाऊ नारी आई है, इसलिए हे नर! इसमें बीज बो और यह शुद्ध वीर्य को धारण करके अपने गर्भ से तेरे लिए पुत्र उत्पन्न करे।

यहाँ तक वेदमन्त्रों में अच्छी प्रकार बतला दिया कि विद्वान्, योग्य, युवा और धन-धान्यसम्पन्न ही विवाह करने के अधिकारी हैं, अन्य नहीं। अयोग्यों के विवाह की निन्दा करते

हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया। पतिर्यद् वध्वो३वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते।

—अथर्व० १४।१।२७

अर्थात् दरिद्री पुरुष जब स्त्री के वस्त्रों को पहनकर बाहर निकलता है तब स्त्री का शरीर नग्न हो जाता है, इसलिए ऐसों के साथ विवाह नहीं करना चाहिए।

विवाह सदैव योग्य स्त्री-पुरुषों का ही होना चाहिए। वही गर्भाधानादि संस्कारों को अच्छी प्रकार कर सकते हैं और उन्हीं की सन्तान सदाचारी होकर समाज के योग्य हो सकती है और आरम्भ में बतलाई हुई सातों इच्छाओं को पूर्ण कर सकती है। उपर्युक्त वेद के मन्त्रों ने आदर्श विवाह का चित्र खींचकर बतला दिया है कि इस प्रकार के आदर्श विवाह के बाद ही गर्भाधान होना चाहिए। वेद का गर्भाधानप्रकरण प्रजनन-शास्त्र के बहुत ही सूक्ष्म नियमों का उपदेश करता है। वह इस रहस्य को एक उच्च श्रेणी के वैद्य की भाँति बतलाता है, जिससे उत्तम सन्तान पैदा हो और दम्पती उन व्याधियों और हानियों से बच जाएँ जो प्राय: अनजान युवकों और सद्योविवहिताओं को भोगनी पड़ती हैं। इन उपदेशों को अश्लील न समझना चाहिए। आगे इसी विवाहप्रकरण में गर्भाधानसंस्कार के लिए वेद आज्ञा देता है कि—

आरोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥ —अथर्व० १४।२।३१
देवा अग्रे निपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः।
सूर्येव नारी विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह॥ —अथर्व० १४।२।३२
तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तःप्रहरेम शेपः॥ —अथर्व० १४।२।३८
प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सह पत्यै वधु॥ —अथर्व० १४।१।५८
आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥ —अथर्व० १४।२।३९
यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम्॥ —अथर्व० १४।२।६६

अर्थात् हे वधु! तू प्रसन्न चित्त होकर इस पर्यंक पर चढ़ और इस अपने पति के लिए सन्तान उत्पन्न कर तथा इन्द्राणी की भाँति हे सौभाग्यवति! बुद्धिमानी से सूर्य निकलने के पहले उषाकाल ही में जागना। विद्वान् लोग पहले भी अपनी पत्नियों को प्राप्त हुए हैं और अपने शरीरों को उनके शरीरों से अच्छी तरह मिलाया है, इसलिए हे बड़े ऐश्वर्यवाली और प्रजा को प्राप्त होनेवाला स्त्रि! तू भी अपने इस पति से मिल। हे पालनकर्त्ता परमेश्वर! जिस स्त्री में आज बीज बोना है उसको प्रेरित कीजिए, जिससे वह हमारी कामना करती हुई अपनी जाँघों को फैलावे और हम कामना करते हुए अपनी गुप्तेन्द्रिय का प्रहार करें। हे वधु! मैं तेरे पति के द्वारा तेरे जंघा प्रदेश के गुप्त मार्ग को सुगम करता हूँ और तुझे उस वरुण के उत्कृष्ट बन्धन से छुड़ता हूँ जिसको सविता ने बाँधा है। हे पुरुष! तू जाँघों के ऊपर आ जा, हाथ का सहारा दे, प्रसन्न चित्त होकर पत्नी को चिपका ले और हर्ष मनाते हुए तुम दोनों सन्तान को उत्पन्न करो जिससे सवितादेव तुम दोनों की आयु को बढ़ावें। इस वैवाहिक कार्य से जो मलिनता हम दोनों के द्वारा हुई है उस कम्बल के दाग़ को हम धो डालें।

इन मन्त्रों में गर्भाधान क्रिया का उपदेश आयुर्वैदिक विज्ञान के अनुसार किया गया है। सबसे पहले मन्त्र में गर्भाधान के लिए रात्रि का समय बतलाया गया है, दिन का समय नहीं, क्योंकि कहा गया है कि उषाकाल के पहले ही जागना। इसका यही तात्पर्य है कि दिन के समय में लज्जा और संकोच होता है। दूसरे मन्त्र में आलिङ्गन का उपदेश है। आलिङ्गन से विद्युत् परिवर्तन होता है, भय दूर होकर आनन्द का उद्रेक होता है और लज्जा का निवारण होता है जो प्रायः प्रथम समागम के समय स्त्रियों में होती है, इसीलिए तीसरे मन्त्र में कहा गया है कि स्त्री प्रसन्नतापूर्वक इस कार्य में सम्मिलित हो। चौथे मन्त्र में बतलाया गया है कि समागम के पूर्व प्रत्येक स्त्री का गर्भमार्ग एक बारीक झिल्ली से ढका रहता है, इसलिए पुरुष को उससे सावधान रहना चाहिए और ऐसा अवसर न आने देना चाहिए कि जिससे स्त्री को कष्ट हो[१]।

पाँचवें मन्त्र में स्वाभाविक आसन का वर्णन किया गया है जिसका तात्पर्य यह है कि उलटे-टेढ़े आसनों का उपयोग न हो, क्योंकि अस्वाभाविक आसनों से सन्तान विकलांग उत्पन्न होती है। पाँचवें मन्त्र में कार्यनिवृत्ति के बाद सचैल स्नान करने का भी उपदेश है, जिसका तात्पर्य स्वच्छता और आरोग्यरक्षा है। इन सब उपदेशों के तीन तात्पर्य हैं। पहला यह कि प्रथम समागम का ब्रह्मचर्ययुक्त रज-वीर्य अज्ञानता के कारण व्यर्थ न चला जाए, किन्तु गर्भ अवश्य स्थापित हो जाए, इसीलिए रात्रि के समय का, आलिङ्गन का, स्त्री के प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होने का उपदेश और स्वाभाविक आसन का उपदेश किया गया है। दूसरा यह कि सन्तान सर्वांग सुन्दर और उत्तम हो, इसलिए भय, लज्जा, संकोच और कष्ट का निवारण बतलाया गया है और तीसरा यह कि दम्पती की आरोग्यता स्थिर रहे, इसलिए आनन्द और शुद्धता का उपदेश किया गया है। सब उपदेशों का तात्पर्य यही है कि ब्रह्मचर्ययुक्त रज-वीर्य से सर्वगुणसम्पन्न सन्तान उत्पन्न हो जाए और दम्पती के आरोग्य में बाधा उपस्थित न हो। इन मन्त्रों के द्वारा इस रहस्यपूर्ण कृत्य का वर्णन करके आगे वेद उपदेश करते हैं कि जब पति-पत्नी गर्भस्थापन से निवृत्त हो जाएँ तब वस्त्रों को धो डालें और दोनों स्नान करके गार्हपत्याग्नि में हवन करें तथा पति विनम्रभाव से परमेश्वर की इस प्रकार प्रार्थना करे कि—

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु। आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥
गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति। गर्भं ते अश्विनौ देवावा धत्तां पुष्करस्त्रजा॥
हिरण्ययी अरणी यं निर्मन्थतो अश्विना। तं ते गर्भं हवामहे दशमे मासि सूतवे॥

—ऋ० १०।१८४।१-३

अर्थात् हे वधु! विष्णु तेरे गर्भस्थान को गर्भ ग्रहण करने के योग्य करे, त्वष्टा तेरे गर्भ के आकारों को स्पष्ट करे, प्रजापति जीवनीशक्ति का संचार करे और धाता गर्भ की पुष्टि करे। चन्द्रशक्ति गर्भ को धारण करे, सरस्वती गर्भ को धारण करे, और आकाशपुत्र अश्विनी देवता गर्भ का पोषण करें। अश्विनी देवता जिस विद्युत् प्रेरणा से गर्भ को बाहर लाते हैं उस शक्ति द्वारा दशवें महीने में गर्भ को बाहर लाने के लिए हम उनका आवाहन करते हैं[२]।

---

१. यह बन्धन एक बारीक झिल्ली से बँधा रहता है जो प्राय: प्रथम समागम के समय ही खुलता है, परन्तु अपवादरूप से यह रजोदर्शन के साथ भी खुल जाता है और समागम होने के बाद भी बना रहता है।

२. इस प्रार्थना में विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति, धाता, चन्द्र, सरस्वती और अश्विनी आदि शक्तियों का वर्णन आया है। ये वे सूक्ष्म शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा गर्भ का धारण, पोषण और जनन होता है, इसलिए सगर्भा को चाहिए कि ऐसे आहार-विहार से रहे जिससे गर्भ दश मास तक सुरक्षित रहे और समय पर सरलता से सन्तानोत्पत्ति हो। वेद सदैव प्रार्थनाओं के द्वारा तत्तत्कार्यशक्ति की सूचना देते हैं, जिसके उपयोग से वह-वह कार्य होता है। यह वेद की शैली है।

इस प्रकार से गर्भाधान संस्कार के बाद प्रातःकाल गाँव घर के वृद्ध पुरुष वधू का मुख देखते हैं और आशीर्वाद देते हैं। वेद आदेश करते हैं—

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्। ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु॥

—अथर्व० १४।२।७३

अर्थात् वधू के देखनेवाले पितर जो इस विवाह में आये हैं वे सब पतिसहित वधू को उत्तम प्रजा के लिए आशीर्वाद दें।

इस प्रकार से यह वैदिक विवाह और गर्भाधान समाप्त होता है, किन्तु कभी-कभी दुर्भाग्य से पतिसंयोग के पूर्व ही कन्या विधवा हो जाती है। ऐसे आपत्काल के लिए वेद उपदेश देते हैं कि—

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः। ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३यः क्रव्यादं निरादधत्॥

—अथर्व० १२।२।३९

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरं पतिम्। पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥
समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः। यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥

—अथर्व० ९।५।२७-२८

अर्थात् जब स्त्रियों के पति मर जाते हैं, तब घर उजड़ जाते हैं, इसलिए कन्या का पति सदैव वेदवेत्ता ही ढूँढना चाहिए, जिसने कभी मांस न खाया हो। जो स्त्री पहले पति को पाकर दूसरे पति को प्राप्त होती है यह पञ्चौदन के द्वारा उससे जुदा नहीं होती। दूसरा पति विधवा स्त्री के साथ पञ्चौदनयज्ञ द्वारा विवाह करके अपनी जाति में समानता का स्थान पाता है।

यहाँ तक हमने वेदमन्त्रों से विवाह और गर्भाधानसंस्कार का वर्णन किया। अब आगे पुंसवनसंस्कार से सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रों को लिखते हैं। इस संस्कार का मुख्य उद्देश्य गर्भस्थ को पुत्र बनाना है। यह कार्य एक ओषधि के द्वारा किया जाता है। वेद में लिखा है कि—

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥
पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु सिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥

—अथर्व० ६।११।१-२

अर्थात् जिस शमीवृक्ष पर अश्वत्थ वृक्ष उगा हो उसकी जड़ को गर्भाधान के दिन से दो तीन मास तक स्त्री को देने से पुत्र की प्राप्ति होती है। जो वीर्य स्त्री में डाला जाता है वह पुंसत्व (पुत्र) को प्राप्त हो जाता है और पुत्र की प्राप्ति होती है, यह बात प्रजापति—परमात्मा ने कही है।

इस पुंसवनसंस्कार के आगे सीमन्तोन्नयनसंस्कार होता है। जब गर्भ चार-पाँच महीने का हो जाता है तब मस्तिष्क उन्नत होता है और बुद्धि जाग्रत् होती है। इसी को सीमन्त-उन्नयन, अर्थात् शिर की उन्नति कहते हैं। शिर के विषय में वेद में लिखा है कि—

तद्वा अथर्वणाः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥　　　　—अथर्व० १०।२।२७

अर्थात् ज्ञान का केन्द्र शिर है जो देवताओं का सुरक्षित कोश है। इस कोश की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं।

ऐसे ज्ञानकोश शिर की वृद्धि के समय से गर्भिणी को चाहिए कि वह वीरों की कथाएँ सुने, उत्तम चित्र देखें और उत्तम कर्मों (यज्ञों) का अनुष्ठान करे, जिससे गर्भस्थ का मस्तिष्क उत्तम

संस्कारों से संस्कृत हो जाए। इस संस्कार के आगे जातकर्मसंस्कार है। यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने पर किया जाता है। जिस समय बालक उत्पन्न होने लगता है उस समय की प्रार्थना का, अर्थात् प्रकृति की वैज्ञानिक क्रिया का वर्णन वेदों ने इस प्रकार किया है—

यथा वातः पुष्करिणीं समिंगयति सर्वतः। एवा ते गर्भ एजतु निरैतु दशमास्यः॥
यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति। एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा॥
दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधिमातरि। निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥

—ऋ० ५।७८।७-९

अर्थात् जिस प्रकार हवा से छोटा तड़ाग सब ओर से हिलने लगता है वैसे ही दश मास में तेरा गर्भ हिले और बच्चा बाहर आवे। जिस तरह हवा, वन और समुद्र हिलते हैं वैसे ही हे बालक! तू जरायु के सहित आ। जीती हुई माता के जीवन पर जीनेवाले हे जीव (बालक)! तू माता के गर्भ में दश महीने सोकर अक्षत निकल।

इन मन्त्रों के द्वारा बतलाया गया है कि गर्भिणी के पेट में जो चारों ओर से दर्द पैदा होता है उससे विचलित होकर वह गर्भस्थ के प्रति बुरे भाव न सोचे कि जिसका प्रभाव बालक पर बुरा पड़े, प्रत्युत वह यह समझे कि यह दर्द बालक का पैदा किया हुआ नहीं है, किन्तु प्राकृतिक शक्तियों के कारण हो रहा है। इसके आगे सबसे प्रथम दुग्धपान की क्रिया पर वेद कहते हैं कि—

इमᳬस्तनमूर्जस्वन्तं धयापां प्रपीनमग्ने सरिरस्य मध्ये।
उत्सं जुषस्व मधुमन्तमर्वन्त्समुद्रियᳬ सदनमाविशस्व॥ —यजु:० १७।८७
यस्ते स्तनः शशयो यो मयोभूर्येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि॥
यो रत्नधा वसुविधः सुदत्रः सरस्वति तमिह धातवे कः। —ऋ० १।१६४।४९

अर्थात् हे अग्नितुल्य बालक! तू सम्बन्धियों के बीच में आकर इस जलीय रस से स्थूल स्तन को पी और स्वादिष्ट, गतिशील तथा समुद्र के समान ज्ञान देनेवाले इस स्तन का सेवन कर। हे ज्ञानवती प्रसूता! तू अपना यह सुख देनेवाला शरीरस्थ स्तन जो बालक के अंगों को पुष्ट करनेवाला, दुग्धरूप रत्न का धारण करनेवाला और शोभा का देनेवाला है, इस बालक के मुँह में दे।

इन मन्त्रों में आरम्भिक दुग्धपान की शिक्षा दी गई है। इस शिक्षा के द्वारा बच्चे में माता के दुग्ध के गुणों का संस्कार डाला जाता है, जिससे बच्चा आजीवन माता का भक्त बना रहे और प्रसव के समय माता के कष्ट के कारण जो बच्चे पर बुरा प्रभाव हुआ है, वह दूर हो जाए। इसी का नाम जातकर्म, अर्थात् पैदा होने का कर्म है। जातकर्म के आगे नामकरणसंस्कार है। वेद में आया है कि—

कोऽसि कतमोऽसि कस्यासि को नामासि।
यस्य ते नामामन्महि यं त्वा सामेनातीतृपाम्।
भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजाभिः स्याᳬ सुवीरो वीरैः सुपोषः पोषैः॥ —यजु:० ७।२९

अर्थात् तू कौन है और तेरा नाम क्या है? तू बड़े नामवाला हो और पृथिवी से लेकर अन्तरिक्ष और द्यौ तक पूजा और पोषण के साथ बढ़।

इस मन्त्र में नामकरणसंस्कार की शिक्षा है। इस संस्कार का तात्पर्य बच्चे के नाम से है। नाम का मनुष्य पर बहुत बड़ा प्रभाज होता है। उत्तम, सार्थक और उच्चभाव का बोध करानेवाला नाम

नामी को हर समय अपने नाम की सूचना देकर उसे अनेक दुर्व्यवहारों से बचाता है और उच्च बनने की प्रेरणा करता है, इसलिए वेद ने इस संस्कार की आज्ञा दी है। इस नामकरण संस्कार के आगे निष्क्रमण संस्कार है। इस संस्कार के द्वारा बालक को घर से बाहर लाया जाता है। इसी संस्कार के द्वारा बालक का पहले-पहल संसार से परिचय होता है। इसके सम्बन्ध में वेद उपदेश करते हैं कि—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥
शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥ —अथर्व० ८।२।१४-१५

अर्थात् हे बालक! तेरे लिए यह द्यौ और पृथिवीलोक दुःख न देनेवाले, कल्याणकारी और शोभा तथा ऐश्वर्य को देनेवाले हों। यह सूर्य तेरे लिए प्रकाश देनेवाला हो, वायु तेरे हृदय को शान्त करनेवाला हो और जल तेरे लिए सुन्दर स्वादवाला होकर बहे। तुझे भीतर से बाहर इसीलिए लाया हूँ कि तेरे लिए ओषधियाँ कल्याणकारी हों और सूर्य-चन्द्र दोनों तेरी रक्षा करें।

इन मन्त्रों में निष्क्रमण के दो तात्पर्य बतलाये गये हैं। एक तो बालक को पदार्थों का परिचय कराना, दूसरा शीतोष्ण सहन करने का अभ्यास कराना, इसीलिए यह संस्कार आवश्यक समझा जाता है। इसके आगे अन्नप्राशन है। इस संस्कार के द्वारा उत्तम पदार्थों के स्वाद का ज्ञान कराना और हानिकारक पदार्थों के तिरस्कार का संस्कार जमाना है। इसके सम्बन्ध में वेद उपदेश करते हैं—

अन्नपतेऽ न्नस्य नो देह्यनमीवस्य शुष्मिणः।
प्रप्र दातारं तारिष ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥ —यजुः० ११।८३

अर्थात् हे अन्न के स्वामी परमात्मन्! आप हमारे लिए, हमारे पशुओं के लिए और अन्य मनुष्यों के लिए रोगरहित और बलकारक अन्न दीजिए और उसी को बढ़ाइए।

इस प्रार्थना का यही तात्पर्य है कि हम रोगरहित, बलकारक अन्नों का ही सेवन करें और उसी प्रकार के अन्न सेवन के संस्कार बालकपन से ही सन्तति में डालने का प्रयत्न करें। इस संस्कार के आगे मुण्डनसंस्कार है। वेद में उसके लिए इस प्रकार आज्ञा है—

येनावपत्सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्।
तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान्॥ —अथर्व० ६।६८।३

अर्थात् जिस प्रकार छुरे से सोम और वरुण का क्षौर सविता=विद्वान् करता है उसी प्रकार ब्राह्मण को चाहिए कि वह इस बालक का मुण्डन करे, जिससे यह बालक धनवान् और प्रजावान् हो।

यहाँ बालक की हजामत की विधि बतलाई गई है कि जिस प्रकार सोम, अर्थात् जलतत्त्व पर सूर्य, अर्थात् अग्नितत्त्व अपना संचार करता है, उसी प्रकार बालक की ठण्डी खोपड़ी पर गर्म जल डालकर हजामत की जाए। यह मुण्डनसंस्कार गर्भ के अपवित्र बालों को काटने के लिए किया जाता है, जिससे शुद्धता आवे और आरोग्यता बढ़े। इस संस्कार के आगे कर्णवेधसंस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। कर्णवेध से अण्डवृद्धि की बीमारी नहीं होती और इसी से आरोग्यता के लिए सुवर्ण पहिनने का काम भी निकल जाता है। वेद उपदेश करते हैं—

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयो कृधि।
अकर्तामश्विनो लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु॥ —अथर्व० ६।१४१।२

अर्थात् दोनों कानों में अश्विनी देवताओं ने पहले ही चिह्न किया है उसी चिह्न पर लोहे के शस्त्र से हे वैद्यो! बहुत-सी प्रजा देनेवाले छिद्र को कीजिए। इस छिद्र को सुश्रुत में '**देवकृते छिद्रे**' लिखा हुआ है। कानों में तीन नसों के बीच में जो स्थान है वही देवछिद्र है। उसी के छेदन करने से और उसमें सुवर्ण पहिनने से अण्डवृद्धि नहीं होती और अण्डवृद्धि न होने से ही सन्तान होती है, इसीलिए यह संस्कार आवश्यक है। ये दोनों मुण्डन और कर्णवेधसंस्कार बालक में आरोग्यरक्षा के संस्कारों का प्रभाव डालना शुरू करते हैं। इस प्रकार से इन छोटे-बड़े किन्तु महत्त्वपूर्ण संस्कारों के बाद उपनयनसंस्कार होता है। वेद में इस संस्कार का वर्णन इस प्रकार है—

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्त्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
इयं समित् पृथिवीद्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति॥ —अथर्व० ११।५।३-४

अर्थात् आचार्य आये हुए ब्रह्मचारी को अपने समीप गर्भ की भाँति तीन दिन तक रखता है और सब लोग उस ब्रह्मचारी को देखने के लिए आते हैं। उसकी पहली समिधा पृथिवी, दूसरी अन्तरिक्ष और तीसरी द्यौ के लिए होती है। वह समिधा से, मेखला से, श्रम से और तप से तीनों लोकों को पालता है।

इन दोनों मन्त्रों में ब्रह्मचारी का आचार्यकुल में जाकर और आचार्य के घर पैदा होकर द्विज बनना बतलाया गया है और कहा गया है कि वह सादगी, यज्ञ, श्रम और तप से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ के ज्ञान—ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद—को प्राप्त करे। इसके आगे उसकी भिक्षावृत्ति का गौरव वेद में इस प्रकार बतलाया गया है कि—

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा॥ —अथर्व० ११।५।९

अर्थात् ब्रह्मचारी ने पहले विशाल भूमि और द्युलोक की भिक्षा प्राप्त की है। अब वह ब्रह्मचारी उनकी दो समिधा बनाकर उपासना करता है, क्योंकि उन दोनों के बीच में सब भुवन स्थित हैं।

इस मन्त्र में पृथिवी से द्यौपर्यन्त ईश्वर के उत्पन्न किये हुए पदार्थों की भिक्षा का उपदेश है। इसका तात्पर्य यही है कि परमात्मा ने जीविका का प्रबन्ध कर दिया है, इसलिए भिक्षा से उसे ग्रहण करो और विद्याध्ययन करो। इसके आगे वेद में ब्रह्मचर्य का माहात्म्य इस प्रकार वर्णित है—

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः। प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी॥
ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति। आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥
ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्। अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥
—अथर्व० ११।५।१६-१९

अर्थात् ब्रह्मचारी ही आचार्य होता है, ब्रह्मचारी ही प्रजापति होता है और प्रजापति, अर्थात्

इन्द्र ही विराट् को वश में करनेवाला होता है। ब्रह्मचर्य के तप से ही राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्य से ही आचार्य ब्रह्मचारियों को पढ़ा सकता है, ब्रह्मचर्य से ही कन्या युवा पति को प्राप्त करती है, ब्रह्मचर्य से ही बैल और घोड़े घास को पचा सकते हैं, ब्रह्मचर्य और तप से ही देवता मृत्यु को हटा देते हैं और ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र देवताओं को सुख से भर देता है।

इस प्रकार इस सदाचार और सभ्यता के मूल तथा लोक और परलोक के साधनरूप ब्रह्मचर्य की महिमा वेदों में विस्तार से वर्णित है, इसीलिए इस संस्कार की आवश्यकता बतलाई गई है। इस संस्कार के द्वारा मनुष्य उत्कृष्ट गुणों को पाकर ही समाज में मिलने के योग्य होता है। इस मिलाप का ही नाम समावर्तनसंस्कार है। समावर्तनसंस्कार की भी बड़ी महिमा है, क्योंकि यही समाज का मूल है। इसके लिए वेद आज्ञा देते हैं कि—

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ —अथर्व० ११।५।२६

अर्थात् जो ब्रह्मचारी समुद्र के समान गम्भीर होकर और उत्तम व्रत ब्रह्मचर्य में निवास करके महातप को धारण करता है और वेदपठन, वीर्यनिग्रह तथा आचार्य के प्रियाचरणादि कर्मों को पूरा करके और समावर्तन की स्नानविधि को करके उत्तम गुण-कर्म-स्वभावों से प्रकाशित होता है, वही धन्यवाद के योग्य होता है।

इस मन्त्र में समावर्तनसंस्कार का महत्त्व दिखलाया गया है।

इसके आगे विवाह और गृहस्थाश्रमसंस्कार हैं जिनका पूर्ण रूप से वर्णन हो चुका है। यहीं पर लौकिक संस्कारों की समाप्ति होती है। गृहस्थाश्रमसंस्कार के आगे परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले तीन संस्कार और हैं। उनके नाम वानप्रस्थ, संन्यास और अन्त्येष्टि संस्कार हैं। बिना इन तीनों संस्कारों के मनुष्य का जन्म सफल नहीं होता, क्योंकि बिना वानप्रस्थ और संन्यास के मनुष्य अच्छी तरह परलोकचिन्ता नहीं कर सकता और न परमतत्त्व को ही पा सकता है, इसीलिए ऋग्वेद में अरण्यानी सूक्त का उपदेश किया गया है। अरण्यानी सूक्त में लिखा है कि—

न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वय यथाकामं नि पद्यते॥
—ऋ० १०।१४६।५

अर्थात् इस वानप्रस्थी को जंगल में कोई नहीं मारता और न कोई उसके पास जाता है। वह स्वादिष्ठ फलों को खाकर सुख से जहाँ इच्छा होती है, वहाँ विचरण करता है।

इस संस्कार के द्वारा एकान्त में रहकर तप और योग के द्वारा गृहस्थाश्रम, अर्थात् लोक के संस्कारों को दूर किया जाता है और परमात्मा से मिलने की उत्कट अभिलाषा के पारलौकिक संस्कारों को बद्धमूल करने का प्रयत्न किया जाता है। इस संस्कार के आगे संन्यास संस्कार है, परन्तु वैदिक संन्यास का अभिप्राय आजकल के संन्यासियों से नहीं है। आजकल के संन्यासी तो बौद्ध-भिक्षुओं की नक़ल हैं। वैदिक संन्यासी इस प्रकार के न थे। वैदिक संन्यासी देव कहलाते थे और वे संसार से विरक्त होकर समाधि के द्वारा परमात्मा के दर्शनों का हर समय प्रयत्न किया करते थे। वेद में लिखा है कि **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत',** अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप से ही समस्त देव मोक्ष प्राप्त करते हैं। इसीलिए देवसंस्कार का उपदेश वेद में इस प्रकार है—

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे॥
—अथर्व० ९।५।१७

अर्थात् हे अग्ने—परमेश्वर! जिस गृहस्थाश्रम को हज़ारों आदमी धारण किये हुए हैं,

उसको छोड़कर हम देवों में प्रवेश करने के लिए तैयार होते हैं। यही संन्यास धारण करने का संस्कार है।

इस संस्कार के आगे अन्त्येष्टि संस्कार है। वेद में अन्त्येष्टि संस्कार की बड़ी महिमा है। इसको भी पितृयज्ञ के ही नाम से कहा गया है। इस क्रिया का वेदों में विस्तार से वर्णन है। हम यहाँ उस प्रकरण का केवल एक मन्त्र देकर इस संस्कारप्रकरण को समाप्त करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्मा द्यां च गच्छ पृथिवीं च धर्मणा।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ —ऋ० १०।१६।३

अर्थात् चक्षु सूर्य में जाए, प्राण वायु में जाए, पृथिवी का अंश पृथिवी में जाए, जल का अंश जल में जाए और ओषधियों का अंश ओषधियों में जाए।

इस प्रकार से पैदा होने के पूर्व से लेकर मरने के बाद तक के संस्कारों का वर्णन वेदों में है। इन संस्कारों के द्वारा मनुष्य का मन, वाणी और कर्म सदाचारयुक्त बनाया जाता है, जिससे वह समाज में उत्तम गृहस्थ बनकर अपनी सातों इच्छाओं को पूर्ण कर सकता है, परन्तु मनुष्यसमाज का काम केवल सदाचरण से ही नहीं चल सकता। उसे सदाचार के साथ-ही-साथ जीविका की भी आवश्यकता होती है, इसलिए आगे देखते हैं कि वेदों में जीविका के विषय में क्या आज्ञा है।

जीविका, उद्योग और ज्ञान-विज्ञान

जीविका उत्पन्न करने के लिए सबको कृषि, पशुरक्षा और वाणिज्य का ही सहारा लेना पड़ता है। कृषि, पशुपालन और व्यापार पृथिवी की उपज से ही सम्बन्ध रखते हैं, इसलिए बिना भौगोलिक ज्ञान के जीविका का प्रश्न हल नहीं हो सकता। वेदों में भौगोलिक शिक्षा इस प्रकार दी गई है—

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि यत्र भुवनस्य नाभिः।
पृच्छामि त्वा वृष्णो अश्वस्य रेतः पृच्छामि वाचः परमं व्योम॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः।
अयꣳ सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतो ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥ —यजुः० २३।६१-६२

अर्थात् तुझसे इस पृथिवी का अन्त पूछता हूँ, भुवन का मध्य पूछता हूँ, सेचन करनेवाले अश्व का रेत पूछता हूँ और इस आकाशमयी वाणी को पूछता हूँ। यह वेदी ही पृथिवी की अन्तिम सीमा है, यह यज्ञ ही भुवन का मध्य है, यह सोम ही सेचन करनेवाले अश्व का रेत है और यह वेद ही आकाशमयी वाणी है।

इन दोनों मन्त्रों में प्रश्नोत्तर की रीति से बतला दिया गया है कि यह यज्ञवेदी, अर्थात् जहाँ खड़े हो वही पृथिवी का अन्त है और यही स्थान भुवन का मध्य है, क्योंकि गोल पदार्थ का प्रत्येक बिन्दु (स्थान) ही उसका अन्त होता है और वही उसका मध्य होता है। पृथिवी और भुवन दोनों गोल हैं, इसलिए दोनों का प्रत्येक बिन्दु ही अन्त और मध्य है। इस भूगोलवर्णन के आगे पृथिवी के जलस्थल विभागों का ज्ञान कराने के लिए टापुओं का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि—

वि द्वीपानि पापतन्तिष्ठद् दुच्छुनोभे युजन्त रोदसी।
प्रधन्वान्यैरत शुभ्रखादयो यदेजथ स्वभानवः॥ —ऋ० ८।२०।४
नव भूमिः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥ —अथर्व० ११।७।१४

एना व्याघ्रं परि षस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय।
समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्वन्तः ॥ —अथर्व० ४।८।७

अर्थात् जब पृथिवी और आकाश में आकर्षण और कम्पन होता है तब कहीं-न-कहीं या तो नवीन द्वीप उत्पन्न हो जाते हैं या नष्ट हो जाते हैं और समस्त स्थावर दुःख पाते हैं। नई भूमि समुद्र से बाहर निकलती है और सूर्य रात-दिन अपना प्रभाव करता है। पृथिवी के स्थलभाग समुद्र से घिरे हुए हैं, जिनमें सिंह-व्याघ्रादि जन्तु गर्जते हैं।

इन मन्त्रों में द्वीपों और टापुओं की उत्पत्ति और उनका समुद्र से घिरा रहना बतलाया गया है। इसके आगे पृथिवी की उपज का वर्णन करते हैं। सबसे पहले जंगलों का वर्णन इस प्रकार है—

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि। कथा ग्रामं न प्रच्छसि न त्वा भीरिव विंदतीइँ ॥
वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः। आघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ॥
उत गावइवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते। उतो अरण्यानिःसायं शकटीरिव सर्जति ॥
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्। वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते ॥
न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति। स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं निपद्यते ॥
आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नामकृषीवलाम्। प्राहं मृगाणां मातरमरण्यानिमशंसिषम् ॥
—ऋ० १०।१४६।१-६

अर्थात् इस महावन में गौ आदि पशु घास चर रहे हैं। यह वन मकान के सदृश दिखता है। कोई गाड़ियों को भेज रहा है, कोई गायों को बुला रहा है, कोई सूखा काष्ठ काट रहा है और कोई सन्ध्या के समय घबरा रहा है। यदि कोई क्रूर जन्तु न हो तो यह अरण्य किसी को नहीं मारता। अरण्य में स्वादिष्ट फल खाने को मिलते हैं, यह कस्तूरी और पुष्पों को सुगन्धि देता है और बिना खेती के बहुत-सा अन्न देता है। अनेक प्रकार के पशुओं का उत्पत्ति-स्थान यह अरण्य महाप्रशंसा के योग्य है।

इन जंगल के अन्नों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के यज्ञान्नों का वर्णन इस प्रकार है—

व्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियङ्गवश्च मेऽ णवश्च मे श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥
—यजुः० १८।१२

अर्थात् मेरे धान, यव, उड़द, तिल, मूँग, चना, काकुन, कोदो, साँवाँ, पसाही, गेहूँ और मसूर आदि सब अन्न यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं।

इन अन्नों के आगे हर प्रकार के जलों का वर्णन इस प्रकार है—

या आपो दिव्या उत वा स्त्रवन्ति खनित्रिमा उत वा याः स्वयं जाः।
समुद्रार्था याः शुचयः पावकास्ता आपो देवीरिह मामवन्तु ॥ —ऋ० ७।४९।२

अर्थात् जो पवित्र जल बरसते हैं, जो खोदने से होते हैं, जो स्वयं (नदियों द्वारा) उत्पन्न होते हैं और जो समुद्र से बनाये जाते हैं, वे दिव्य जल यहाँ मेरी रक्षा करें।

इस प्रकार से जलों के वर्णन के आगे खनिज पदार्थों का वर्णन इस प्रकार है—

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे सिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मेऽ यश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च में सीसञ्च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥
—यजुः० १८।१३

अर्थात् मेरे ये पत्थर, मिट्टी, गिरि, पर्वत, बालू, वनस्पति, सोना, इस्पात, लोहा, सीसा, जस्ता आदि सब यज्ञ से उत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार से पृथिवी की बनावट, द्वीपों की उत्पत्ति और पृथिवी में हर प्रकार की उपज का ज्ञान देकर पोषण करनेवाली मातृभूमि की वेद इस प्रकार प्रशंसा करते हैं और उपदेश करते हैं कि वेद के माननेवालों को मातृभूमि का गुणगान और उसपर अभिमान किस प्रकार करना चाहिए। अथर्ववेद में आया है कि—

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्ववेये दधातु॥ ३॥
यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ५॥
विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वनारं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥ ६॥
गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु॥ ११॥
शिलाभूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥ २६॥
यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥ २७॥
यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ ४१॥
यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥ ४२॥
निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ ४४॥
ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानम्।
जयेमानमित्रमतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४७॥
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥ ५६॥
भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवाकवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ ६३॥
यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पयस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः॥ १२॥ —अथर्व० १२।१

अर्थात् जिस भूमि पर समुद्र, नदी और कुएँ हैं, जिसपर अन्नों की खेती होती है और जिसपर प्राणी बसते हैं, वह रक्षा करने योग्य भूमि हमको स्थान दे। जिसपर हमारे पूर्वजों ने बढ़-चढ़कर कर्त्तव्य किये हैं और जिसपर देवताओं ने असुरों को हराया है वह गौवों, घोड़ों और अन्नों की खान हमारी पृथिवी हमको ऐश्वर्य और तेज दे। सबको सहारा देनेवाली धन और सुवर्ण को अपनी छाती पर रखनेवाली और सुख देनेवाली हमारी भूमि हमको बल दे। तेरे पहाड़, तेरे

हिमवान् पर्वत और तेरे जंगल हमको सुखकारी हों। जो पृथिवी शिला, पत्थर और धूलि को धारण किये हुए है और जो सुवर्ण को अपनी छाती पर लिए हुए है उस मातृभूमि को नमस्कार है। जिसपर वनस्पतियाँ उत्पन्न होती हैं और जो बड़े-बड़े वीरों द्वारा धारण की गई है उस पृथिवी का हम स्वागत करते हैं। जिसपर एक भाषा को अनेक प्रकार से बोलनेवाले बसते हैं, जिसपर नाचनेवाले नाचते हैं, जिसपर युद्ध करनेवाले कोलाहल करते हैं और जिसपर नाना प्रकार के बाजे बजते हैं, वह हमारी पृथिवी शत्रुहीन हो। जिसपर अनेक प्रकार के जौ आदि अन्न होते हैं और जिसके सम्बन्धी पाँचों तत्त्व हैं उस वर्षा से प्रेम करनेवाली और मेघों के द्वारा पालन की गई भूमि को नमस्कार है। अपने गुप्त कोश में अनेक प्रकार की निधियों को सुरक्षित रखनेवाली मातृभूमि हमें मणि और सुवर्ण देवे और हमारा पोषण करें। जिसमें बहुत-से मनुष्य चलते हैं, जिसमें रथ और छकड़े दौड़ते हैं, जिसमें भले और बुरे सभी निवास करते हैं, वह शत्रुरहित और तस्कररहित मंगलमय भूमि हमको विजय देकर सुखी करे। तुझपर जो ग्राम हैं, वन हैं, सभाएँ हैं, जो संग्राम और समितियाँ हैं उन सब स्थानों में हम तेरा यश वर्णन करें। हे मातृभूमे! तू हमारी माता है और हम तेरे पुत्र हैं।

इस प्रकार इन मन्त्रों में मातृभूमि के महत्त्व का, उसकी उपज का, उसकी पोषकशक्ति का और उसके प्रति भक्तिभाव का उपदेश किया गया है, जिससे भौगोलिक और भौगर्भिक ज्ञान की अच्छी प्रकार उन्नति हो सकती है। अब इसके आगे जीविका से सम्बन्ध रखनेवाले वैश्यधर्म का वर्णन करते हैं।

वैश्यधर्म में कृषि, जंगल, खनिज पदार्थ, पशु और अन्य अनेक वाणिज्य से सम्बन्ध रखनेवाले और जीविका प्रदान करनेवाले साधन सम्मिलित हैं। जब तक वे समस्त साधन उपस्थित न किये जाएँ और जब तक समस्त समाज को उसके व्यक्तियों की योग्यता के अनुसार कारीगरी, श्रम और अन्य बौद्धिक कामों में न लगाया जाए तब तक समाज की जीविका के प्रश्न का अच्छी प्रकार समाधान नहीं हो सकता, इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदाइव स्नात्वा उ त्वे ददृश्रे॥ —ऋ० १०।७१।७
समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समावीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं प्रणीतः॥ —ऋ० १०।११७।९

अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों के एक समान होने से सब मनुष्य समान ही दिखाई पड़ते हैं, परन्तु मनोवेगों और बुद्धिबलों में सब असमान ही हैं। कोई मुखपर्यन्त सरोवर के समान है, कोई बग़लपर्यन्त सरोवर के समान है और कोई केवल स्नान कर लेनेभर के जलाशयों के ही बराबर है। दोनों हाथ एक समान होते हुए भी वे समान कर्म नहीं कर सकते, एक ही माता से उत्पन्न दो गौवें भी बराबर दूध नहीं देतीं, साथ ही जन्मे हुए दो यमज भाई भी एक-सा पराक्रम नहीं करते और एक ही जाति के होते हुए भी सब एक समान दान नहीं देते।

इन दोनों मन्त्रों में बतलाया गया है कि यद्यपि समस्त मनुष्य शारीरिक बनावट में समान हैं, परन्तु सबके मन की शक्तियाँ और कर्त्तव्य अलग-अलग हैं। परमेश्वर को इस प्रकार की असमानता में भी अर्थ, काम और मान की समता समस्त मनुष्यों में एक समान रखना है, इसलिए उसने धन को समान रूप से बाँटते हुए उपदेश किया है कि—

विभक्तारꣳ हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः। सवितारं नृचक्षसम्। —यजुः० ३०।४

अर्थात् नाना प्रकार के सुखदायक धनों का जिसने विभाग किया है, उस सबके उत्पादक

और ज्ञानदाता परमात्मा की हम लोग पूजा करें।

इस उपदेश का तात्पर्य यह है कि समान भोगों के लिए सारा समाज यथायोग्य काम करके जीविका उत्पन्न करे, जिससे समाज में दरिद्रता न आने पाये। दरिद्रता के स्वरूप का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

अरायि काणे विकटे गिरिं गच्छ सदान्वे। शिरिम्बिठस्य सत्वभिस्तेभिष्ट्वा चातयामसि॥

—ऋ० १०।१५५।१

अर्थात् हे धनहीन, विरूप, कुरूप, सदा आक्रोश करानेवाली दरिद्रे! तू निर्जन पर्वत पर जा। यहाँ हम दृढ़ अन्तःकरणवाले मनुष्यों के पुरुषार्थ से तेरा नाश करेंगे।

इस दरिद्रता का नाश करनेवाले सर्वप्रधान व्यवसाय खेती के लिए वेद उपदेश करते हैं—

क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव यजामसि।
गामश्वं पोषयित्न्वा स नो मृळातीदृशे॥ १॥
क्षेत्रस्य पते मधुमन्तमूर्मिं धेनुरिव पयो अस्मासु धुक्ष्व।
मधुश्चुतं घृतमिव सुपूतमृतस्य नः पतयो मृळयन्तु॥ २॥
मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ ३॥
शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय॥ ४॥
अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि॥ ६॥
शुनं नः फाला विकृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥ ८॥ —ऋ० ४।५७

अर्थात् खेत के स्वामी के हित के लिए हम गाय, घोड़े और पोषक पदार्थ देते हैं, उसी प्रकार वह किसान भी हमें सुख देवे। हे कृषक! हे धनपते! आप गोदुग्ध की भाँति मीठा पवित्र जल, दूध और मीठे आम के फल हम लोगों में परिपूर्ण कीजिए। उत्तम ओषधियाँ, द्युलोक, जल और अन्तरिक्ष अनुकूल रहें, जिससे क्षेत्रपति हमारे लिए मधुर हो सके और सज्जन पुरुष उसके अनुकूल रहें। बैल, मज़दूर, हल के अंग, बरेत (रस्सी) आदि सब सुखकारी हों और खेती के अन्य अवयव भी सुखकारी होकर चलाये जाएँ। हे सौभाग्यवती फाल! तू नीचे की ओर चलनेवाली हो। जैसे तू हमारे लिए सौभाग्य देनेवाली और सुफला है वैसे ही हम तेरी याचना करते हैं। हमारी सुख देनेवाली फाल ज़मीन को जोते, हमारा जोतनेवाला बैलों से सुख प्राप्त करे, वर्षा उत्तम जलों से तृप्त कर दे और खेती हम लोगों में सुख धारण करे।

इस प्रकार खेती का वर्णन करके अब बाग़-बग़ीचों का वर्णन करते हैं। वेद में वृक्षों को पशुपति कहकर उनका आदर बतलाया गया है। यजुर्वेद में लिखा है—

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमः॥ —यजुः० १६।१७

अर्थात् हे हरिकेश वृक्षो! तुम पशुपति हो, इसलिए हम तुम्हारा आदर, अर्थात् पालन करते हैं।

वनस्पति के आदर का यही कारण है कि समस्त मनुष्य और पशु वृक्षों से ही जीते हैं। वनस्पति न हो तो न मनुष्य ही रह सकें और न पशु ही, इसलिए खेती के साथ बाग़-बग़ीचे

लगाना और जंगलों की रक्षा करना भी अत्यन्त आवश्यक है। वेद में वनस्पतिरक्षा के पश्चात् पशुरक्षा बतलाई गई है। ऋग्वेद में लिखा है—

षष्टिं सहस्राश्व्यस्यायुतासनमुष्ट्राणां विंशतिं शता।
दश श्यावीनां शता दश त्र्यरुषीणां दश गवां सहस्रा॥ —ऋ० ८।४६।२२

अर्थात् साठ हज़ार घोड़ी, दश हज़ार ऊँट, तीन हज़ार भेड़ी, एक हज़ार गधी और दश हज़ार गौवें हों। इस प्रकार पशुधन की वृद्धि की जाए और इन्हीं को व्यापार का माध्यम बनाया जावे।

वेद उपदेश करते हैं कि—

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥ —ऋ० ५।४५।६

अर्थात् हे मित्रो! आओ इकट्ठे होकर हम लोग धन देनेवाले व्यापार को मिलकर करें और गौवों के बड़े-बड़े व्रज बनावें।

इस प्रकार व्यापार की बात कहकर ऐश्वर्य की बड़ाई करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

भग एव भगवाँ २॥ अस्तु देवास्तेन वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीति स नो भग पुरएता भवेह॥ —यजुः० ३४।३८

अर्थात् ऐश्वर्य ही भगवान् हो और उससे ही देवता हमको भाग्यवान् करें, इसलिए हे ऐश्वर्य! तुझको समस्त जन पुकारते हैं और तेरा मुँह देखते हैं कि तू ही हमारा अग्रगामी हो।

इस ऐश्वर्य देनेवाले व्यापार और व्यापारियों को उत्तेजन और सहायता देने के लिए वेद में राजा को इस प्रकार उपदेश दिया गया है—

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स इशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥ —अथर्व० ३।१५।१

अर्थात् मैं (राजा) उत्तम व्यापारी को अपने पास बुलाता हूँ और उसे अपना मुखिया बनाता हूँ, इसलिए हे धनदातः! इन अनुदार, बटमार (डाकू) और सिंहादि क्रूर पशुओं को दूर करके हमें धन दे।

इसके आगे व्यापारी को अपने व्यापार में मन लगाने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिःसविता सोमो अग्निः॥ —अथर्व० ३।१५।६

अर्थात् धन से अधिक धन मिलने की इच्छा से धन के द्वारा मैं जो व्यापार करता हूँ, उसी व्यापार में मेरी रुचि रहने दीजिए।

यह रुचि तभी बढ़ सकती है जब अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार काम किया जाए। वेद उपदेश करते हैं कि लोग अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार अपने-अपने धन्धों को ही करें—

नानानं वा उ नो धियो वि व्रतानि जनानाम्। तक्षा रिष्टं रुतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तमिच्छति।
—ऋ० ९।११२।१

अर्थात् अपनी और अन्य लोगों की बुद्धि और कर्म सचमुच ही भिन्न-भिन्न हैं। बढ़ई चीड़ने-फाड़ने की, वैद्य रोगनिवृत्ति की और ब्राह्मण यज्ञ की इच्छा करता है।

जरतीभिरोषधीभिः पर्णेभिः शकुनानाम्। कर्मारो अश्मभिर्द्युभिर्हिरण्यवन्तमिच्छति।
—ऋ० ९।११२।२

अर्थात् परिपक्क ओषधि लेकर वैद्य, पक्षियों के पङ्ख लेकर वस्तुएँ बनानेवाले कारीगर, चमकते हुए रत्न लेकर सुनार और अन्य वस्तुएँ को लेकर अन्य धन्धेकार अपनी-अपनी दूकानों में बेचने की इच्छा करते हैं।

इसके आगे वेद उपदेश करते हैं कि पूर्व सञ्चित कर्मानुसार एक ही कुटुम्ब में पैदा होते हुए और रहते हुए भी मनुष्यों की अलग-अलग कामों में रुचि होती है और वे लोग अलग-अलग अपने-अपने धन्धों को करते हैं। निम्नलिखित मन्त्र में यही उपदेश दिया गया है। यथा—

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना। नाना धियो वसूयवोऽनु गाइव तस्थिम॥

—ऋ० ९।११२।३

अर्थात् मैं बढ़ई हूँ, मेरा बाप वैद्य है और मेरी माता चक्की पीसती है, इसलिए इसी प्रकार के विविध बुद्धि और कला-कुशलतावाले लोगों में हम बसें।

इसका यही अभिप्राय है कि स्वाभाविक रुचि और मनोवृत्ति (tendency) के अनुसार काम करने से ही कला और व्यापार में उन्नति होती है और सब लोग पर्याप्त जीविका प्राप्त कर सकते हैं। इसीलिए वेद में विविध प्रकार के कारीगरों को मान सम्मान देने की आज्ञा इस प्रकार दी गई है—

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो
नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः॥

—यजुः० १६।२७

अर्थात् तक्षा, रथकार, कुलाल, बढ़ई, निषाद और अन्य छोटे-बड़े कारीगरों का सत्कार हो।

कारीगरों की इस प्रतिष्ठा से प्रतीत होता है कि भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ तैयार कराने का वेदों का आदेश है। कपड़ा बनाने के लिए वेद उपदेश देते हैं कि—

सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।
अश्विना यज्ञꣳ सविता सरस्वतीन्द्रस्य रूपं वरुणो भिषज्यन्॥ —यजुः० १९।८०

अर्थात् सीसे के यन्त्र से मननशील विद्वान् ऊन को उसी प्रकार बुनते हैं, जिस प्रकार दोनों बिजलियों को बरसात में वरुणदेव ओत-प्रोत करते हैं।

इसके आगे कवच सीने का उपदेश इस प्रकार है—

व्रजं कृणुध्वँ स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्॥ —ऋ० १०।१०१।८

अर्थात् हे राजन्! गौवों के बड़े-बड़े व्रज बनाओ, मोटे-मोटे चमड़े के वर्म सिलवाओ और लोहे के क़िले बनवाओ, जिससे तुम्हारा हवन का चमचा न टपके—राज्य नष्ट न हो जाए।

यहाँ सीने का प्रयोग पाया जाता है, इसके अतिरिक्त नाव और विमान बनाने का उपदेश इस प्रकार है—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः॥ —ऋ० १।२५।७

अर्थात् जो पक्षी, बादल आदि 'वी' के स्थान को और अन्तरिक्ष में उनके चलने की गति को जानता है, वह आकाश के विमान और समुद्र की नाव को जानता है।

पक्षी जिस नियम से उड़ते हैं, उसी नियम से विमान और नौका भी चलाई जाती है। इसी लिए वि=पक्षी और मान=सदृश, अर्थात् पक्षी के सदृश ही को विमान कहते हैं। इसके अतिरिक्त

वेदों में हल, रथ, गाड़ी, धनुष–बाण, यज्ञपात्र और गृह–निर्माण–सम्बन्धी अस्त्र, शस्त्र, वस्त्र और ओषधि आदि बनाने के समस्त उपकरणों=औज़ारों का विस्तृत उपदेश है, इसलिए वेदों में कला–कौशल का पर्याप्त ज्ञान पाया जाता है, परन्तु बिना गणित के व्यापार का काम नहीं चल सकता, इसलिए हम देखते हैं कि वेदों में अङ्कगणित और रेखागणित का कैसा वर्णन है।

यजुर्वेद अध्याय १५ के मन्त्र ४ और ५ में अनेक प्रकार के छन्दों का वर्णन करते हुए '**अक्षरपंक्तिश्छन्दः**' और '**अङ्काङ्कं छन्दः**' का स्पष्ट उल्लेख है। इसमें अक्षर और अङ्क अलग अलग कहे गये हैं। इससे पाया जाता है कि वेदों में अङ्कविद्या है। अथर्ववेद में दश तक अङ्कों का वर्णन करते हुए कहा गया है—

य एतं देवमेकवृतं वेद। —अथर्व० १३।४(४)।२४

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते।
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। —अथर्व० १३।४।१६–१८

इन्हीं नौ अङ्कों की दहाई बनाने का वैज्ञानिक क्रम अथर्ववेद काण्ड ५ सूक्त १५ के कई मन्त्रों में विस्तारपूर्वक इस प्रकार बतलाया गया है कि—

एका च मे दश च मे०, द्वे च मे विंशतिश्च मे०, तिस्रश्च
मे त्रिंशच्च मे०, चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मे०, पञ्च च मे
पञ्चाशच्च मे०, षट् च मे षष्टिश्च मे०, सप्त च मे सप्ततिश्च मे०,
अष्ट च मेऽ शीतिश्च मे०, नव च मे नवतिश्च मे०, दश च मे
शतं च मे०, शतं च मे सहस्रम्०। —अथर्व० ५।१५।१–११

इन मन्त्रों–खण्डों के द्वारा यह ज्ञात हुआ कि वेदों के आदेशानुसार एक से लेकर नौ तक अङ्कों से ही दस, बीस, तीस, चालीस, पचास और नब्बे आदि दहाइयाँ बनाई गई हैं। दहाइयों के लिए कोई नवीन संज्ञा स्थिर नहीं की गई। यही नहीं बल्कि जिस संकेत से दो का बीस, तीन का तीस और नौ का नब्बे बनता है उसी से दश का सौ और सौ का हज़ार भी बनता है, क्योंकि उपर्युक्त मन्त्र में '**दश च मे शतं च मे शतं च मे सहस्रं च मे**' स्पष्ट कहा गया है। इस दहाई का क्रम बतानेवाला नीचे दिया हुआ यजुर्वेद का मन्त्र बड़ा ही स्पष्ट है—

इमा मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वेका च दश च, दश च शतं च, शतं च सहस्रं च, सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं च, नियुतं च प्रयुतं चार्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च च मध्यं चान्तश्च परार्द्धश्चैता मे अग्न इष्टका धेनवः सन्त्वमुत्रामुष्मिँल्लोके॥ —यजुः० १७।२

इस मन्त्र में दहाई का चिह्न बढ़ाते हुए परार्द्ध तक की संख्या बतलाई गई है। संसार में इससे बड़ी संख्या का पता अबतक नहीं लगा। इसमें स्पष्ट ही कहा गया है कि एक का दश, दश का सौ, सौ का हज़ार हो जाता है और इसी प्रकार दहाई बढ़ाते हुए परार्द्ध तक हो जाता है।

इन नौ तक अङ्कों, बीस, तीस, चालीस तथा नब्बे तक की दहाइयों और दश, सौ, हज़ार आदि परार्द्ध तक की संख्याओं के संकेतों का वर्णन करके अब आगे दहाइयों और अङ्कों के संयोगों से जो संख्याएँ बनती हैं उनका नमूना दिखलाते हैं। इनका वर्णन यजुर्वेद और ऋग्वेद में इस प्रकार आया है—

एका च मे तिस्रश्च मे, तिस्रश्च में पञ्च च मे, पञ्च च मे सप्त च मे, सप्त च मे नव च मे, नव च म एकादश च म एकादश च मे त्रयोदश च मे, त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे, पञ्चदश च मे सप्त दश च मे, सप्तदश च मे नवदश च मे, नवदश च म एक विंशतिश्च म,

एक विꣳशतिश्च मे त्रयोविꣳशतिश्च मे, त्रयो विꣳशतिश्च मे पञ्चविꣳशतिश्च मे, पञ्चविꣳशतिश्च मे सप्तविꣳशतिश्च मे, सप्तविꣳशतिश्च मे नवविꣳशतिश्च मे, नवविꣳशतिश्च म एकत्रिꣳशच्च म एकत्रिꣳशच्च मे त्रयस्त्रिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥

—यजुः० १८। २४

चतस्रश्च मेऽ ष्टौ च मेऽ ष्टौ च मे द्वादश च मे, द्वादश च मे, षोडश च मे, षोडश च मे विꣳशतिश्च मे, विꣳशतिश्च मे चतुर्विꣳशतिश्च मे, चतुर्विꣳशतिश्च मेऽ ष्टाविꣳशतिश्च मेष्टाविꣳशतिश्च मे, द्वात्रिꣳशच्च मे द्वात्रिꣳशच्च मे, षट्त्रिꣳशच्च मे षट्त्रिꣳशच्च मे, चत्वारिꣳशच्च मे चत्वारिꣳशच्च मे, चतुश्चत्वारिꣳशच्च मे चतुश्चत्वारिꣳशच्च मेऽ ष्टाचत्वारिꣳशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्॥ —यजुः० १८। २५

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव॥ —ऋग्वेद १। ८४। १३

यहाँ हमने तीन मन्त्र उद्धृत किये हैं जिनमें क्रम से दो-दो और चार-चार बढ़ाकर एक, तीन, पाँच, ग्यारह, तेरह, पन्द्रह, सत्रह, उन्नीस, इक्कीस, तेईस, पच्चीस, सत्ताईस, उनतीस, इकतीस और तेतीस आदि तथा चार, आठ, बारह, सोलह, बीस, चौबीस, अट्ठाईस, बत्तीस, छत्तीस, चालीस, चवालीस और अड़तालीस आदि संख्याओं का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार ऋग्वेदवाले मन्त्र में निन्यानवे का भी वर्णन है, जिससे पाया जाता है कि वेदों ने इस जोड़ और बाक़ी का ज्ञान देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि एक से लेकर निन्यानवे तक की जितनी संख्याएँ हैं वे सब उन्हीं नौ अंकों और दहाई के संकेतों से ही बनी हैं, इनके लिए किसी अन्य संकेत की आवश्कता नहीं हुई।

इस प्रकार से हमने यहाँ तक के वर्णन से देखा कि वेदों में दो ही प्रकार के संकेत हैं, एक तो एक, द्वि, त्रि, चत्वारि, पञ्च, षट्, सप्त, अष्ट और नव आदि इकाई के लिए और दूसरे दश, शत, सहस्र, अयुत, नियुत, प्रयुत, अर्बुद, न्यर्बुद, समुद्र, मध्य, अन्त और परार्द्ध आदि दश के क्रम से बनी हुई संख्याओं के लिए। बस, इनके अतिरिक्त और किसी प्रकार के संकेत नहीं हैं, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में इन्हीं दो प्रकार के संकतों से सारी अङ्कविद्या फैलाई गई है, क्योंकि हमने मन्त्रों को लिखकर दिखला दिया है कि एक से लेकर निन्यानवे तक की संख्याएँ उन्हीं नौ तक अङ्कों और दश के संकेतों के ही उलटने-पलटने से बनी हैं। जिस प्रकार एकादश, त्रयोदश, सप्तविंश, चतुश्चत्वारिंश और नवतिनव आदि संख्याएँ बनी हैं उसी प्रकार विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्टि, सप्तति, अशीति और नवति आदि दहाइयाँ भी उन्हीं द्वि, त्रि, चत्वारि, षट्, सप्त, अष्ट और नव से ही बनी हैं। तात्पर्य यह कि समस्त अङ्कजाल उपर्युक्त नौ तक अङ्कों और केवल दहाई के चिह्नों से ही फैलाया गया है, अनेक मनमाने नामों से नहीं।

एक से लेकर दश तक अंकों में दश शब्द बड़ा ही रहस्यपूर्ण है। विंश, त्रिंश, चत्वारिंश, षष्टि और नवति आदि शब्द जिस प्रकार अपने उच्चारण से द्वि, त्रि, चत्वारि, षष्ठ और नव से बने हुए ज्ञात हो जाते हैं उसी प्रकार बना हुआ यह दश सूचित नहीं होता। षष्ठ का षष्टि के साथ और चत्वारि का चत्वारिंश के साथ जो सम्बन्ध सूचित होता है, वही सम्बन्ध एक और दश के साथ सूचित नहीं होता—एक का दश से कोई वास्ता ही प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार शत, सहस्र, अयुत और नियुत आदि का भी एक, द्वि, त्रि, चत्वारि अथवा विंश, त्रिंश आदि से वास्ता प्रतीत नहीं होता। वे भी दश की भाँति स्वतन्त्र ही प्रतीत होते हैं, परन्तु दश का संकेत अङ्कों की भाँति अकेला अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता। वह नौ अङ्कों को ही किसी विशेष सूचना से दशगुना कर देता है। इसका एक अच्छा उदाहरण अथर्ववेद में आया है। वहाँ लिखा है—

ये ते रात्रि नृचक्षसो द्रष्टारो नवतिर्नव। अशीतिः सन्त्यष्टा उतो ते सप्त सप्ततिः ॥
षष्टिश्च षट् च रेवति पञ्चाशत् पञ्च सुम्नयि। चत्वारश्चत्वारिंशच्च त्रयस्त्रिंशच्च वाजिनि ॥
द्वौ च ते विंशतिश्च ते रात्र्येकादशावमाः ॥ —अथर्व० १९।४७।३-५

इन मन्त्रों में ९९, ८८, ७७, ६६, ५५, ४४, ३३, २२ और ११ का क्रम से वर्णन है। एक ओर से ग्यारह-ग्यारह की हानि है और एक ओर से ग्यारह ग्यारह की वृद्धि है। प्रत्येक प्रकार से यह ग्यारह का पहाड़ा है, पर इसमें दहाई की (११×१०=११०) संख्या नहीं है जो अत्यावश्यक थी, परन्तु हम लिख आये हैं कि दश के लिए वेदों में किसी विशेष अङ्क की आवश्यकता नहीं बतलाई गई। दश के लिए तो शून्य का ही चिह्न स्थिर किया गया है। इसीलिए इस मन्त्र में दहाई के लिए कुछ भी नहीं कहा गया। यह मन्त्र चूँकि ग्यारह से आरम्भ करता है और ग्यारह के पहले दश हो चुके हैं, अतः जो दश पहले स्थिर हो चुके हैं, वही यहाँ ग्यारह पर रख देने से ग्यारह दहाई बन जाएँगी। दहाई न लिखने का यही कारण है, क्योंकि दहाई अङ्क नहीं है। वह तो केवल संख्या का चिह्न है। इसी से उस चिह्न को शून्य माना है, क्योंकि शून्य का अर्थ अङ्क का अभाव ही है।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में जहाँ ग्यारह का पहाड़ा समझाया गया है वहाँ प्रकारान्तर से ९+९=१८, ८+८=१६, ७+७=१४, ६+६=१२, ५+५=१०, ४+४=८, ३+३=६, २+२=४ और १+१=२ का जोड़ भी बतलाया गया है। इस जोड़ में २, ४, ६, ८, १०, १२, १४, १६ और १८ अङ्कों की प्राप्ति होती है और मज़े से दो का पहाड़ा बन जाता है। इसके अतिरिक्त ऊपरवाली संख्या को ९×९=८१, ८×८=६४, ७×७=४९, ६×६=३६, ५×५=२५, ४×४=१६, ३×३=९, २×२=४, इस प्रकार गुणित करने से ८१, ६४, ४९, ३६, २५, १६, ९, ४ ये संख्याएँ प्राप्त होती हैं। ये एक दूसरी से १७, १५, १३, ११, ९, ७, ५, ३ के क्रम से छोटी हैं। इन छोटाई के अङ्कों में नीचे से ऊपर की ओर जाने से ठीक दो-दो की संख्या अधिक है और ऊपर से नीचे की ओर आने से ठीक दो-दो की संख्या कम है, अर्थात् जब नीचे से चलते हैं तो तीन और दो पाँच, पाँच और दो सात, सात और दो नौ आदि के क्रम का जोड़ प्राप्त होता है और जब ऊपर से नीचे की ओर आते हैं तो सत्रह में से दो निकल गये तो पन्द्रह, पन्द्रह में से दो निकल गये तो तेरह आदि के क्रम की बाक़ी प्राप्त होती है। इसी क्रम में गुणा भी सम्मिलित हैं। जब ९×९=८१ का क्रम चलता है तब गुणन की विधि होती है, परन्तु जब ८१ से नौ-नौ के निकालने का क्रम चलता है तो वही भाग हो जाता है, क्योंकि जोड़ का विशाल रूप गुणा है और बाक़ी का विशाल रूप भाग है, जो उपर्युक्त मन्त्रों से पाया जाता है। इसी प्रकार 'इन्द्रो दधीचो' मन्त्र में नौ के नौ से गुणनफल को नौ से ही वध करना कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि नौ के पहाड़े की प्रत्येक संख्या फिर नौ होती हुई पाई जाती है। अर्थात् ९, १८, २७, ३६, ४५, ५४, ६३, ७२, ८१ और ९० की कोई संख्या जोड़ी जाए तो नौ ही हो जाएगी। जैसे १८ के एक और आठ मिलकर नौ, २७ के दो और सात नौ, ३६ के तीन और छह मिलकर नौ हो जाते हैं, उसी प्रकार ८१ पर्यन्त समझना चाहिए। ८१ का उलटा १८, ७२ का उलटा २७, ६३ का उलटा ३६, और ५४ का उलटा ४५ है। नौ के पहाड़े की पाँचवीं संख्या तक ९, १८, २७, ३६ और ४५ के अंक होते हैं और यही आगे उलट क़र ५४, ६३, ७२, ८१ और ९० हो जाते हैं। इस मन्त्र में जोड़ के साथ-साथ नौ तक अङ्कों की पूर्ण महिमा दिखलाई गई है और बतला दिया गया है कि समस्त अङ्कगणित नौ तक के मौलिक अङ्कों में ही भरा हुआ है। इसी प्रकार इन्हीं के द्वारा संख्या, जोड़, बाक़ी, गुणा और भाग बतलाया गया है, जो अङ्कविद्या का मूल है।

जिस प्रकार यह अङ्कगणित का नमूना है उसी प्रकार रेखगणित के मौलिक सिद्धान्तों का नमूना भी वेद ने बतला दिया है। रेखगणित के तीन सिद्धान्त हैं—नापने के साधन, त्रिकोण का सिद्धान्त और वर्तुलक्षेत्र का गणित। नापने के साधनों को बतलानेवाला ऋग्वेद का यह मन्त्र प्रसिद्ध है—

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे॥ —ऋ० १०।१३०।३

अर्थात् उस हवनकुण्ड का पैमाना क्या था, नक़शा क्या था, परिधि क्या थी, घी क्या था और किन मन्त्रों से उसका हवन किया गया था, जिसमें देवों ने समस्त देवों का यजन किया था?

इसमें नाप, नक़शा और परिधि का वर्णन है। हम यज्ञप्रकरण में लिख आये हैं कि हवनकुण्ड रेखागणित के ही हिसाब से बनते थे, इसीलिए यज्ञप्रकरण में पैमाना, नक़शा और परिधि की बात कही गई है। इन रेखागणित के साधनों के आगे त्रिकोणक्षेत्र का वर्णन इस प्रकार है—

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः॥ —अथर्व० ८।९।२

अर्थात् पानी के लेवल (सतह) को सच्चा मानकर और आधार तथा लम्ब को ठीक करके त्रिभुज चक्र (क्षेत्र) बनावे जिसके भीतर वत्सरूप से क्षेत्रफल बैठा है। इस समकोण त्रिभुज का सिद्धान्त ३, ४ और ५ है। यदि लम्ब ३ और आधार ४ होगा तो करण ५ ही होगा और इन्हीं में गुणा-घटा करने से क्षेत्रफल ज्ञात हो जाएगा। जिस प्रकार यह त्रिकोणक्षेत्र का सिद्धान्त बतलाया गया है उसी प्रकार त्रित का वर्णन करते हुए गोल क्षेत्र का भी सिद्धान्त बतला दिया गया है। ऋग्वेद में तीन प्रकार के त्रितों का वर्णन है। पहले त्रित के विषय में लिखा है कि—

अभि स्ववृष्टिं मदे अस्य युध्यतो रघ्वीरिव प्रवणे सस्रुरूतयः।
इन्द्रो यद्वज्री धृषमाणो अन्धसा भिनद् वलस्य परिधींरिव त्रितः॥ —ऋ० १।५२।५

अर्थात् वृष्टि की इच्छा से युद्ध करता हुआ इन्द्र अपने वज्र से बादलों का ऐसा भेदन करता है जैसे नपी हुई परिधि को त्रित छेद देता है।

यहाँ व्यास को त्रित कहकर परिधि का छेदनेवाला कहा गया है। व्यास परिधि का प्रायः तिहाया होता है, इसीलिए उसे त्रित कहा है। परिधि और व्यास का सम्बन्ध २२/७ है। यदि परिधि २२ होगी तो व्यास ७ होगा ही, परन्तु परिधि का उपर्युक्त ठीक तिहाया भाग सच्चे व्यास से कुछ अधिक होता है। इसीलिए लिखा है कि त्रित ने परिधि को छेद दिया—वार-पार कर दिया, अर्थात् ठीक न निकला। दूसरे त्रित के विषय में लिखा है कि—

त्रितः कूपेऽवहितो देवान्हवत ऊतये। तच्छुश्राव बृहस्पतिः कृण्वन्नंहूरणादुरु॥
—ऋ० १।१०५।१७

अर्थात् त्रित कुएँ में गिर गया और उसने देवताओं को पुकारा, किन्तु उसकी आवाज़ को केवल बृहस्पति (ज्ञानवान्) ने ही सुना और उसे कुएँ से निकालकर ठीक कर दिया।

तात्पर्य यह कि यह भी ठीक न था पर गणितज्ञ ने तीसरे त्रित को २२/७ करके ठीक कर दिया। रेखागणित के इस सिद्धान्त को प्राचीन ग्रन्थों में एक कथा के रूप में लिखा गया है जिसका तात्पर्य यही है कि त्रित, अर्थात् गोल वस्तु का तिहाया भाग यदि व्यास से कुछ अधिक या कम होता है तो वह गोल वस्तु को छेद देता है या उसमें समा जाता है, परन्तु पूरा २२/७ वाला व्यास न तो छेदता और न समाता है प्रत्युत घेरे में डटके बैठ जाता है—फ़िट हो जाता है। यही

तीनों त्रितों की कथा का सार है और यही वेदों में त्रिकोण तथा क्षेत्रों के सिद्धान्तों का वर्णन है। रेखागणित के ये दोनों सिद्धान्त—कोण और वर्तुल—ही विस्तार से ज्यामितिशास्त्र में वर्णित हैं, इसलिए कह सकते हैं कि वेद रेखागणित के मौलिक सिद्धान्तों का उपदेश करते हैं।

जिस प्रकार वेदों में अङ्क और रेखागणित का उपदेश है उसी प्रकार ज्योतिश्शास्त्र के सिद्धान्तों का भी उपदेश किया गया है, क्योंकि गणित का विशाल रूप ज्योतिष में ही दिखलाई पड़ता है। व्यापारियों को गणित की ही भाँति ज्योतिष् की भी आवश्यकता होती है। नाविक ज्ञान, पदार्थों की उत्पत्ति का ज्ञान और देश-देशान्तर की ऋतुओं का ज्ञान जो व्यापारियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है वह ज्योतिश्शास्त्र से ही जाना जाता है, इसीलिए वेदों में ज्योतिश्शास्त्र का पर्याप्त वर्णन है। हम यज्ञप्रकरण में ज्योतिष् का विस्तृत वर्णन कर आये हैं, अतएव यहाँ उसे सारांश रूप से ही लिखेंगे। ज्योतिष् में सबसे पहले ग्रहों की स्थिरता का वर्णन आता है, इसीलिए वेद कहते हैं कि—

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः। ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही। अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥

—ऋ० १०।८५।१-२

अर्थात् पृथिवी निराधार केवल सत्य, अर्थात् अपने नियम पर स्थित है, द्युलोक सूर्य से ऊपर स्थित है और सोमशक्ति से बारहों आदित्य अपने पथ में स्थित हैं। सोमशक्ति से ही सूर्य बलवान् है, उसी से पृथिवी बलवान् है और उसी सोम से समस्त नक्षत्र ठहरे हुए हैं।

इसके आगे सूर्य द्वारा पृथिवा के आकर्षण का वर्णन है—

चक्राणासः परीणहं पृथिव्या हिरण्येन मणिना शुम्भमानाः।
न हिन्वाना सस्ति तिरुस्त इन्द्रं परिस्पशो अदधात्सूर्येण॥ —ऋ० १।३३।८

अर्थात् बाँधनेवाली किरणों से सूर्य के द्वारा मणि की भाँति पृथिवी अपने मार्ग का उल्लंघन न करती हुई चक्राकार फिरती है।

इस मन्त्र में सूर्य के द्वारा खिंची हुई और घूमती हुई पृथिवी का वर्णन है। इसके आगे चन्द्रमा के नवीन नवीन होने का वर्णन इस प्रकार है—

नवोनवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो विदधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः॥ —ऋ० १०।८५।१९

अर्थात् यह चन्द्रमा रोज़ नया-नया होता हुआ दिखलाई पड़ता है जो हमें दीर्घजीवन देता है।

इस चन्द्रमा के विषय में यजुर्वेद १८।४० में लिखा है कि '**सुषुम्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः**', जिसपर निरुक्तकार कहते हैं कि '**अथाप्यस्यैको रश्मिश्चन्द्रमसं प्रतिदीप्सति**', अर्थात् सूर्य की एक किरण चन्द्रमा को प्रकाशित करती है। इससे ज्ञात होता है कि चन्द्रमा में उसका निज का प्रकाश नहीं है, किन्तु वह सूर्य से ही प्रकाशित है। इसके आगे नक्षत्रों का वर्णन इस प्रकार है—

यानि नक्षत्राणि दिव्यन्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥
अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सहयोगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽ होरात्राभ्यामस्तु॥

—अथर्व० १९।८।१-२

अर्थात् जिन नक्षत्रों को आकाश के मध्यलोक में, जिनको जल के ऊपर, भूमि के ऊपर, बादलों के ऊपर सब दिशाओं में चन्द्रमा समर्थ करता हुआ चलता है, वे सब मेरे लिए सुखदायक हों। अट्ठाईस नक्षत्र मेरे लिए कल्याणकारी और सुखदायक हों तथा योगक्षेम अथवा क्षेमयोग को मैं पाऊँ।

यहाँ तक वेदमन्त्रों के द्वारा पृथिवी, सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों का वर्णन हुआ। इन्हीं सूर्य, पृथिवी और चन्द्रमा तथा नक्षत्रों से ही वर्ष और कालविभाग होता है। इस समस्त विभाग की गणना इस प्रकार की गई है—

संवत्सरोऽ सि परिवत्सरोऽ सीदावत्सरोऽ सीद्वत्सरोऽसि वत्सरोऽसि
उषसस्ते कल्पन्तामहोरात्रास्ते कल्पन्तामर्द्धमासास्ते कल्पन्तां
मासास्ते कल्पन्तामृतवस्ते कल्पन्ता ꣳ संवत्सरस्ते कल्पताम्॥ —यजुः० २७।४५

अर्थात् तू संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर और वत्सर है। तूने प्रातःकाल, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु और वर्ष को बनाया है।

इसके आगे अधिक मास, अर्थात् लौंद मास का वर्णन इस प्रकार है—

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते०। —अथर्व० १३।३।८

अर्थात् उसके क्रोध से डरो जिसने तीस अहोरात्र और तेरहवाँ महीना निर्माण किया है। प्रत्येक वर्ष में लगभग १२ दिन अथवा १२ रात्रि का अन्तर पड़ता है तभी तीसरे वर्ष में अधिक मास होता है। इन १२ दिनों और १२ रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है—

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रात्या आहुः प्रजापतेः।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम्॥ —अथर्व० ४।११।११

अर्थात् ये बारह रात्रियाँ संवत्सर की यज्ञ के योग्य कही गई हैं। उनमें जो सूर्य का यज्ञ करता है वही जीवन पहुँचानेवाले वर्ष को जानता है।

इन बारह दिनों की बारह रात्रियों का वर्णन इस प्रकार है—

द्वादश द्यून्यदगोह्यस्यातिथ्ये रणन्नृभवः ससन्तः।
सुक्षेत्राकृण्वन्ननयन्त सिन्धून्धन्वातिष्ठन्नोषधीर्निम्नमापः॥ —ऋ० ४।३३।७

अर्थात् सोती हुई ऋतुएँ आकाश में प्रत्यक्ष आतिथ्य ग्रहण करने को १२ दिन अच्छी प्रकार ठहरती हैं। इससे नदियों का जल नाचे आता है, खेतों में ओषधियाँ होती हैं और सब प्रकार के सुख होते हैं।

इसका अभिप्राय यही है कि १२ दिन साल में घट-बढ़कर चान्द्र और सौरवर्ष बराबर हो जाते हैं, जिससे ऋतुएँ ठीक समय में पानी बरसाती हैं और फल-फूल होते हैं। इस घटाव-बढ़ाव से चान्द्रवर्ष और सायनवर्ष बराबर हो जाता है। सायनवर्ष के १२ मास और प्रत्येक मास के ३० अंशों का वर्णन इस प्रकार है—

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये॥ —अथर्व० १०।८।४

अर्थात् वर्षचक्र के बारह मास पुट्ठी हैं, पूरा वर्ष पहिया है, तीन ऋतुएँ नाभि हैं और तीन सौ साठ दिन काँटे हैं, जो टेढ़े-टेढ़े चलते हैं।

इसके इस सायनवर्ष के दोनों अयनों का वर्णन इस प्रकार है—

द्वे स्रुती अशृणवं पितृणामहं देवानामुत मर्त्यानाम्।
ताभ्यामिदं विश्वमेजत्समेति यदन्तरा पितरं मातरं च॥ —ऋ० १०।८८।१५

अर्थात् देवयान और पितृयान दो मार्ग हैं इन्हीं के द्वारा मोक्ष और आवागमन होता है। इन्हीं को उत्तरायण और दक्षिणायन कहते हैं।

अथर्ववेद में इनके लिए लिखा है कि **'षडाहु:शीतान् षडु मास उष्णान्'**[1], अर्थात् छह मास गर्मी और छह मास शीत होता है। इसी प्रकार वेद में अनेक ऋतुओं का वर्णन है। यजुर्वेद २२।३१ और ७।३० में छह ऋतुओं के अतिरिक्त एक सातवीं ऋतु **'अहसस्पतय'** का भी नाम आता है और अथर्व० ८।९।१८ में **'मधूनि सप्त'** तथा **'ऋतवो ह सप्त'** का वर्णन भी हुआ है। इसी प्रकार अथर्व० ८।९।१५ में **'ऋतवोऽ नु पञ्च'** कहकर पाँच ऋतुओं का भी वर्णन कहा गया है। छह ऋतुएँ तो प्रसिद्ध हैं ही। इस प्रकार से संसार की अनेक परिस्थितियों के कारण अनेक प्रकार की ऋतुएँ बतलाई गई हैं। इसके आगे राशिचक्र का वर्णन इस प्रकार है—

नाभिं यज्ञानां सदनं रयीणां महामहावभि सं नवन्त।
वैश्वानरं रथ्यमध्वराणां यज्ञस्य केतुं जनयन्त देवाः॥ —ऋ० ६।७।२

अर्थात् यज्ञों की नाभि, धनों का घर, बड़े-से-बड़े अध्वरों का मार्ग और यज्ञ के पताका वैश्वानर को देवता जानते हैं और उसकी स्तुति करते हैं। भूमि के इस मार्ग में भ्रमण करने के कारण जो रात-दिन में अन्तर पड़ता है—घट-बढ़ होती है, उसका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

सदृशीरद्य सदृशीरिदु श्वो दीर्घं सचन्ते वरुणस्य धाम।
अनवद्यास्त्रिंशतं योजनान्येकैका क्रतुं परि यन्ति सद्यः॥ —ऋ० १।१२३।८

अर्थात् आज भी एक समान और कल भी एक समान ही रात प्रतीत होती है, परन्तु दोनों में महान् भेद होता है और वरुणस्थान में शीघ्रता के कारण एक-एक से तीस-तीस योजन का अन्तर पड़ जाता है। तात्पर्य यह कि तीस योजन चलने में जितना समय लगता है उतने ही समय के हिसाब से प्रत्येक रात्रि एक-दूसरी से छोटी या बड़ी होती है। इस गणना के अनुसार ही ग्रहण जाने जाते हैं। ऋग्वेद में ग्रहण जानने के लिए यन्त्र बनाने का आदेश दिया गया है।

स्वर्भानोरध यदिन्द्र माया अवो दिवो वर्तमाना अवाहन्।
गूळ्हं सूर्यं तमसापव्रतेन तुरीयेण ब्रह्मणाविन्ददत्रिः॥ —ऋ० ५।४०।६

अर्थात् चन्द्रमा की छाया से जब सूर्यग्रहण होता है तब उसको तुरीययन्त्र से आँख देखती है।

इस प्रकार से वेद ज्योतिषज्ञान के विशेष-विशेष आवश्यक सिद्धान्तों का वर्णन करते हैं। इन सिद्धान्तों के द्वारा मनुष्य अपनी समुद्रीय यात्रा और अनेक प्रकार के अन्नों की फ़सलें तथा देश-देशान्तर के मौसमों को जान सकता है और व्यापार तथा जीविका सम्बन्धी आवश्यक ज्ञान प्राप्त कर सकता है।

इस प्रकार के समस्त आवश्यक ज्ञान-विज्ञानों और कलाओं में ललितकला की भी गणना है। ललितज्ञान में काव्य और संगीत ही प्रधान है। वेदों में काव्य और संगीत का बहुत वर्णन है। अथर्ववेद में काव्य के लिए लिखा है कि **'देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति'** अर्थात् परमेश्वर का संसाररूपी काव्य पढ़ो जो न कभी पुराना होता है और न कभी नष्ट होता है। इसी तरह काव्य और संगीत के लिए ऋग्वेद में लिखा है कि—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः। ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव येमिरे॥
—ऋ० १।१०।१

---

१. अथर्व० ८।९।१७

अर्थात् हे शतक्रत ! तुम्हारे गीत गायत्री आदि गाती हैं, सूर्य पूजा करते हैं और ब्राह्मण तुम्हारे वंश का बखान करते हैं।

इस मन्त्र में ऐतिहासिक काव्य के गाने का एकसाथ ही वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त चारों वेद कविता में ही वर्णित हैं और सामवेद तो बिलकुल ही गाने के लिए ही रक्खा गया है। वेदों में वीणावादन का भी वर्णन आता है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि वेदों में काव्य और संगीत की शिक्षा प्रचुर परिमाण में है। काव्य और संगीत भी जीवन प्रदान करनेवाले हैं, इसलिए जीविका में उनका भी समावेश है। इस प्रकार से जीविका-सम्बन्धी विस्तृतज्ञान वेदों से प्राप्त होता है और ज्ञात होता है कि वेदमन्त्रों के अनुसार उद्योग करनेवाला समाज धन-धान्य से पूर्ण रह सकता है, परन्तु प्रश्न यह है कि ऐसे सुखी, सदाचारी और सीधेसादे समाज की रक्षा का प्रबन्ध वेदों ने क्या बतलाया है ?

समाज और साम्राज्य की रक्षा

उपर्युक्त आदर्श वैदिक आर्यसमाज का पवित्र चित्र देखकर उसकी रक्षा का प्रश्न सामने आ जाता है और उस प्रश्न का उत्तर यही हो सकता है कि जहाँ-जहाँ भय की सम्भावना हो वहीं-वहीं रक्षा का प्रबन्ध करना चाहिए। वेदों में रक्षासम्बन्धी अनेक प्रकार के उपदेश हैं जो स्थूलरूप से चार भागों में बाँटे जा सकते हैं। बीमारी से रक्षा, प्राकृतिक विप्लवों से रक्षा, समाज के भीतरी दुष्टों से रक्षा और बाहर के शत्रुओं से रक्षा। इन चारों प्रकार की रक्षाओं को आयुर्वेद, यज्ञ, प्रार्थना और राज्यप्रबन्ध के अन्तर्गत रक्खा गया है। इनमें सबसे पहला आयुर्वेद-ज्ञान है। आयुर्वेद दो प्रकार का है—व्यक्ति का और समाज का। व्यक्ति का आयुर्वेद वैद्यकशास्त्र है और समाज का यज्ञ है। व्यक्तिगत व्याधियाँ वैद्यकशास्त्र से और ऋतु-सम्बन्धी या महामारी आदि सामाजिक व्याधियाँ यज्ञों के द्वारा नष्ट होती हैं। वेदों में दोनों प्रकार का ज्ञान दिया गया है। यहाँ हम पहले वैद्यकज्ञान का नमूना दिखलाते हैं। वेद में सबसे पहले जीवन का उपदेश इस प्रकार है—

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तु शरदः पुरूचीरन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ —ऋ० १०।१८।४

अर्थात् मैं मनुष्यों के आयु की मर्यादा १०० वर्ष स्थिर करता हूँ। इससे पहले इस जीवनधन को न गँवाओ, सौ वर्ष जिओ और अपमृत्यु को पर्वत से दबा दो।

इस मन्त्र में अपमृत्यु से बचने का उपदेश है। अपमृत्यु बीमारियों से ही होती है और बीमारियाँ दोषों के ही कोप से होती हैं, इसीलिए वेद में दोषों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्रिषधस्था सप्तधातुः पञ्च जाता वर्धयन्ती। वाजेवाजे हव्या भूत्॥ —ऋग्वेद ६।६१।१२

अर्थात् तीन स्थानों (कफ़, वात और पित्त) में ठहरी हुई सात धातुएँ पाँच तत्त्वों से उत्पन्न होकर बढ़ती हैं और अन्न से पुष्ट होती हैं।

इसका तात्पर्य यही है कि पाँचों तत्त्वों से बने हुए खाने-पीने के पदार्थों से ही सातों धातुएँ उत्पन्न होती हैं जो वात, पित्त और कफ़ में स्थित हैं। इसके आगे हृदय और नाड़ी आदि के विषय में लिखा है कि—

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते। इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः॥
—ऋ० १०।१३५।७

अर्थात् यह हृदय देवमान—नियमित गति का बतानेवाला यम का घर है और यही नाड़ी को धौंकता है।

इस मन्त्र में हृदय की चाल का एक नियमित रूप बतलाकर नाड़ीज्ञान का उपदेश किया गया है। इसके आगे पथ्याहार का वर्णन इस प्रकार है—

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन अर्पितानि॥ —अथर्व० १८।१।१७

अर्थात् बुद्धिमानों ने अनेक प्रकार से निरूपण करने योग्य, अद्भुत गुणवाले, सबके जानने योग्य और आनन्द देनेवाले तीन पदार्थों को बहुत प्रकार से समझ लिया है। वे तीनों पदार्थ जल, वायु और ओषधियाँ हैं, जो संसार को दी गई हैं और प्रत्येक स्थान में विद्यमान हैं।

यहाँ स्वास्थ्य रक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले और हर समय उपयुक्त होनेवाले वायु, जल और अन्नों का वर्णन किया गया है, क्योंकि मनुष्य का स्वास्थ्य इन्हीं के अधीन है। इसके आगे आहार का नियम बतलाते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे। स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः॥
यत् पिबामि सं पिबामि समुद्रइव संपिबः। प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम्॥
यद् गिरामि संगिरामि समुद्रइव संगिरः। प्राणानमुष्य सं गीर्य सं गिरामो अमुं वयम्॥
—अथर्व० ६।१३५।१-३

अर्थात् जो कुछ मैं खाता हूँ उसे बल बना देता हूँ, तभी मैं शत्रु के कन्धों को तोड़नेवाला वज्र उसी प्रकार ग्रहण कर सकता हूँ जैसे वृत्र के लिए इन्द्र अपने वज्र को ग्रहण करता है। इसी प्रकार मैं जो कुछ पीता हूँ वह भी यथाविधि ही पीता हूँ, जैसे समुद्र यथाविधि पीता है, इसलिए जो कुछ हम पीवें वह उस पदार्थ के सारभाग को चूसकर पीवें। इसी प्रकार जो कुछ चबाता हूँ वह यथाविधि चबाता हूँ जैसे समुद्र चबाकर पचा जाता है, इसलिए पदार्थों के प्राणस्वरूप सार को दाँतों से पीसकर ख़ूब चबाना चाहिए।

इन मन्त्रों में ख़ूब चबाकर उतना ही खाने की आज्ञा है जितना पच जावे और बल उत्पन्न करनेवाला हो। समुद्र के उदाहरण से बतला दिया गया है कि कभी अजीर्ण न होना चाहिए, क्योंकि समुद्र को जल से कभी अजीर्ण नहीं होता। इसके आगे संसार की दोनों शक्तियाँ—सर्दी और गर्मी—इस प्रकार बतलाई गई हैं।

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशंभुवम्। —ऋ० १०।९।६

अर्थात् मुझसे सोम ने कहा कि पानी में सब ओषधियाँ हैं और अग्नि सबको आरोग्य देता है।

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि अग्नि और जल ही, अर्थात् सर्दी और गर्मी ही दो दवाएँ हैं, इसीलिए शतपथब्राह्मण १।६।३।८ में लिखा है कि **'अग्नीषोमावेवाभि सम्बभूव सर्वा विद्याः सर्वं यशः सर्वमन्नाद्यꣳ सर्वाꣳ श्रीम्',** अर्थात् संसार में अग्नि और सोम (जल) दो ही पदार्थ हैं, इन्हीं से सब वैद्यविद्या, यश, अन्न और शोभा प्राप्त होती है, इसीलिए वेद में सर्दी की दवा गर्मी और गर्मी की दवा सर्दी बतलाई गई है। वेद में लिखा है कि—

कः स्विदेकाकी चरति क उ स्विज्जायते पुनः।
कि ꣳ स्विद्धिमस्य भेषजं किम्वा वपनं महत्॥
सूर्य एकाकी चरति चन्द्रमा जायते पुनः।
अग्निर्हिमस्य भेषजं भूमिरावपनं महत्॥ —यजुः० २३।९-१०

अर्थात् कौन अकेला चलता है, कौन बार-बार पैदा होता है, सर्दी की दवा क्या है और बीज

बोने का सबसे बड़ा स्थान क्या है ? सूर्य अकेला चलता है, चन्द्रमा बार-बार पैदा होता है, अग्नि (गर्मी) सर्दी की दवा है और पृथिवी ही बीज बोने का सबसे बड़ा स्थान है।

इस मन्त्र में सर्दी की दवा गर्मी बतलाई गई है, परन्तु अर्थापत्ति से यह बतला दिया गया है कि गर्मी की दवा सर्दी है। इसके आगे समस्त शरीर के भीतरी-बाहरी अङ्गों का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छलङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम् ॥ १ ॥
कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य ।
जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्वस्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत ॥ २ ॥
चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥ ३ ॥
कतिदेवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।
कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टीरचिन्वन् ॥ ४ ॥
को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥
कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षिणी मुखम् ।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥
हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरुचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम् ।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥
मस्तिकमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ।
चित्त्वा चित्त्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

—अथर्व० १०।२।१-८

अर्थात् किसने पैर की दोनों एड़ियों में मांस भरकर पुष्ट किया, किसने मांस जोड़ा, किसने दोनों टख़ने जोड़े, किसने अंगुलियों के जोड़ों को जोड़ा, किसने नख और किसने पाँव के दोनों तलवों को जोड़ा है ? किसने पैर के नीचे के दोनों टख़ने, ऊपर के दोनों घुटने, दोनों टाँगें और दोनों घुटनों के भीतर दोनों जोड़ों को जोड़ा है ? किसने दोनों कूल्हों और जाँघों को चार प्रकार से सटी हुई नोकों के ऊपर इस ढीले धड़ को जोड़ा है ? किसने मनुष्य की छाती और गले को मिलाया, किसने दोनों स्तनों को बनाया, और किसने दोनों गालों, कन्धों और पसलियों को एकत्र किया ? किसने इन वीरकर्म करनेवाली भुजाओं को पुष्ट किया है और कन्धों के साथ मिलाया है ? किसने शिर में दो आँखें, दो कान, दो नासाछिद्र और एक मुख को बनाकर सात गोलकों में जोड़ा, जिसके सहारे द्विपद और चतुष्पाद प्राणी अपना-अपना कार्य-निर्वाह करते हैं ? किसने दोनों जबड़ों के बीच में बहुत-सा बोलनेवाली जिह्वा को जोड़ा है ? किसने इसके मस्तिष्क, ललाट, शिर के पिछले भाग और कपाल को दोनों जबड़ों के साथ मिलाया है ?

यहाँ तक इन मन्त्रों में मनुष्य के पैर से लेकर शिरपर्यन्त समस्त आवश्यक अङ्गों का वर्णन है। इसी प्रकार का शारीरिक वर्णन वेद के और भी कई स्थलों में आया है जिससे प्रतीत होता है कि वेद में शरीर के अवयवों का वर्णन है। इसीलिए सुश्रुत, शारीरस्थान ५।१८ में लिखा है कि **'त्रीणि सषष्ठान्यस्थिशतानि वेदवादिनो भाषन्ते'**, अर्थात् वैदिक लोग शरीर की हड्डियों की

संख्या तीन सौ साठ बतलाते हैं। इससे प्रकट होता है कि वेद में शरीर का पूरा वर्णन है, क्योंकि शरीर के अन्तर्भाग में ही तो वैदिक लोग जीव और ब्रह्म को भी ढूँढ निकालते थे। इसी शरीर-प्रकरण के आगे लिखा है कि—

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥
तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥
ऊर्ध्वो नु सृष्टा ३ स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥
यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥
न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्राह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥
अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ ३१ ॥
तस्मिन् हिरण्येय कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥

—अथर्व० १० । २ । २६-३२

अर्थात् परमेश्वर ने मस्तिष्क को हृदय के साथ सीं दिया है जो अग्निविशेष के द्वारा शरीर को प्रेरित करता है। यह शिर देवकोश है। इसी में सब ज्ञान-विज्ञान निवास करता है। इसकी प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं। परमात्मा ही इन उलटे, आड़े और सीधे शरीरों को अपनी व्यापकता से बनाता है। इसलिए जो इस पुररूपी शरीर को जानता है, वही पुरुष कहलाता है। जो उस अमृत ब्रह्म के इस शरीर-पुर को जानता है वही वेद को, परमात्मा को, स्वास्थ्य को, बल को और सन्तति को प्राप्त होता है। उस मनुष्य के, बुढ़ापे के पूर्व, न नेत्र ख़राब होते हैं और न बल ही कम होता है जो इस ब्रह्मपुर—शरीर—को अच्छी प्रकार समझता है। इस आठ चक्र और नव द्वारवाले अयोध्यानगर में प्रकाशमान् कोश है जो स्वर्गीय ज्योति से छाया हुआ है। उस तिहरे और तीन ओर से रक्षित कोश में जो आत्मा की भाँति महान् यक्ष बैठा है, उसी को ब्रह्म के ढूँढनेवाले प्राप्त करते हैं।

इन मन्त्रों में शिर को विज्ञान का कोश बतलाकर और हृदय के साथ सिंया हुआ कहकर बतला दिया कि शरीर के हृदयाकाश में ही वह ज्योतिःस्वरूप परमात्मा विराजमान है, जिसको ब्रह्मज्ञानी ही ढूँढ पाते हैं। इस प्रकार शरीर, मस्तिष्क और हृदय के स्थूल और सूक्ष्म अवयवों का वर्णन करके अब वैद्य का वर्णन करते हैं। ऋग्वेद में लिखा है कि—

यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥

—ऋ० १० । ९७ । ६

अर्थात् राजसभा में जिस प्रकार सभासद् एकत्र होते हैं, उसी प्रकार जिसके पास ओषधियाँ एकत्र रहती हैं, उसको विद्वान् लोग रोगों का दूर करनेवाला और अपमृत्यु का नाश करनेवाला—वैद्य कहते हैं।

वैद्य के पास इकट्ठी रहनेवाली सैकड़ों ओषधियों का वर्णन वेदों में है। यहाँ नमूने के लिए दो-तीन का वर्णन करते हैं। वेद में अपामार्ग—लटजीरा के लिए लिखा है—

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥

—अथर्व० ४।१७।६

अर्थात् क्षुधा मारनेवाले, तृषा मारनेवाले, निर्धनता और निर्वंशता दूर करनेवाले हे अपामार्ग (लटजीरा)! तुझे हम तलाश करते हैं।

इस मन्त्र के द्वारा लटजीरे में उपर्युक्त गुण बतलाये गये हैं। इसके आगे पिप्पली के गुण इस प्रकार लिखे हैं—

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३तातिविद्धभेषजी। तां देवाः समकल्पयन्निरयं जीवितवा अलम्॥

—अथर्व० ६।१०९।१

अर्थात् विद्वानों ने पिप्पली को उन्मत्त की ओषधि, बड़े घाववाले की दवा और जीवन देनेवाली माना है।

पीपल के गुण इसी प्रकार वैद्यक में भी लिखे हैं। इसके आगे बालों को बढ़ाने, श्याम रखने और दृढ़ करने की ओषधि का वर्णन इस प्रकार है—

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे। केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥

—अथर्व० ६।१३७।३

अर्थात् हे ओषधे! तू बालों की जड़ों को दृढ़ कर, नोक को बढ़ा और मध्यभाग को लम्बा कर जिससे केश काले होकर लम्बी घास के समान बढ़ें।

ओषधियों के अतिरिक्त वायुसेवन के द्वारा रोग निवृत्ति करने का उपदेश इस प्रकार है—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥ —ऋ० १०।१६८।४

अर्थात् देवों का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायुदेव अपनी इच्छा से चलता है। इसका केवल शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप नहीं दिखता। उस वायु के लिए हम हविष देते हैं।

यददो वात ते गृहे३ऽमृतस्य निधिर्हितः। ततो नो देहि जीवसे॥ —ऋ० १०।१८६।३

अर्थात् हे वायो! आपके घर में जो अमृत का ख़ज़ाना है, वह हमें जीने के लिए दीजिए।

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे। प्रा ण आयूँषि तारिषत्॥ —ऋ० १०।१८६।१

अर्थात् वायु आरोग्यता के लिए ओषधि है। उससे हृदय की आरोग्यता बढ़ती है, बल प्राप्त होता है और आयु बढ़ती है।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा। स नो जीवातवे कृधि॥ —ऋ० १०।१८६।२

अर्थात् हे वात! तू हमारा पिता है, हमारा भाई है और हमारा सखा है, अतः तू हमको जीवन के लिए तैयार कर।

इसके आगे जल के द्वारा आरोग्य प्राप्त करने का उपदेश इस प्रकार है—

अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥ —अथर्व० १।४।४

अर्थात् जल में अमृत है और जल में ओषधि है, इसीलिए जल के इन श्रेष्ठ गुणों से गौ, बैल और घोड़े बलवान् होते हैं।

जिस प्रकार जल से आरोग्यता होती है, उसी प्रकार सूर्यताप से भी आरोग्यता होती है। एक मन्त्र में वेद उपदेश करते हैं कि—

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्। हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥

—ऋ० १।५०।११

अर्थात् आज और नित्य प्रात:काल आनेवाले हे सूर्य! मेरे हृदय के रोगों का और रात के समय चोरी करनेवालों का नाश करो।

इसका तात्पर्य यही है कि सूर्यदेवता उदय होकर हृदयरोग और चोर दोनों का नाश करते हैं। इसके आगे शल्यकर्म (सर्जरी) का उपदेश इस प्रकार है—

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निर्वोचमहं विषम्॥ —अथर्व० ४।६।५

अर्थात् शल्यकर्म से, लेप से, पर से, सींग से (सींगी से चूसकर), चाकू से और बाण से विष निकालता हूँ।

इस मन्त्र में चीर-फाड़, पुल्टिस, सींगी और बाण की नोक से मवाद निकालने का उपदेश है। इसके आगे रुके हुए पेशाब को खोलने के लिए इस प्रकार कहा गया है—

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ —अथर्व० १।३।१

अर्थात् हम जानते हैं कि वृष्टि की अधिकता से सरकण्डा होता है। उस सरकण्डे से तेरे शरीर को आरोग्य करता हूँ। अब तेरे मूत्र का प्रवाह पृथिवी पर हो और बलबलाकर बाहर निकले।

इसके आगे टूटी हुई हड्डियों के जोड़ने का उपदेश इस प्रकार है—

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निषकर्ता विह्रुतं पुनः॥ —अथर्व० १४।२।४७

अर्थात् जो वैद्य टकराने से टूटी हुई ग्रीवा आदि जोड़ों की हड्डियों को यथास्थान चिपका कर जोड़ता है, वही टेढ़े और अकड़े हुए अङ्ग को भी सीधा कर देता है।

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि टकराने आदि से टूटी हुई हड्डियों को ठीक-ठीक बाँधकर जोड़नेवाला ही टेढ़े अंगों को भी ठीक कर सकता है। इसके आगे बिना दवादारू के केवल रोगी के मन को उत्तेजना, उत्साह और प्रेरणा (Suggestion) देकर रोगों को निर्मूल करने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

अङ्गादङ्गाल्लोम्नोलोम्नो जातं पर्वणिपर्वणि। यक्ष्मं सर्वस्मादात्मनस्तमिदं विवृहामि ते॥

—ऋ० १०।१६३।६

अर्थात् मैं अपने आत्मबल से अङ्ग-अङ्ग, रोम-रोम, जोड़-जोड़ से यक्ष्मारोग को निकाल बाहर करता हूँ। इस प्रेरणा को आकर्षणशक्ति के साथ किस प्रकार करना चाहिए उस क्रिया का उपदेश इस प्रकार किया गया है—

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः॥
हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि॥ —अथर्व० ४।१३।६-७

अर्थात् मेरा यह हाथ प्रभावशाली है, मेरा यह हाथ अधिक गुणकारी है, मेरा यह हाथ सब

रोगों की दवा है और मेरे इस हाथ के स्पर्श से आरोग्यता होती है। मैं प्रेरणात्मक वाणी और दशशाखा-(अंगुली)-वाले तथा आरोग्य देनेवाले दोनों हाथों से तुझे स्पर्श करता हूँ।

इन मन्त्रों में पास के द्वारा प्रेरणात्मक वाणी से रोगी को आरोग्य करने का उपदेश है। इसके आगे वाजीकरण ओषधियों का वर्णन इस प्रकार है—

यथा नकुलो विच्छिद्य सन्दधात्यहिं पुनः। एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥

—अथर्व० ६।१३९।५

अर्थात् जैसे नेवला साँप को चीथकर फिर घावों को भर देता है, वैसे ही मैं तेरी गुप्तेन्द्रिय की क्षीणता को ठीक करता हूँ।

येन कृशं वाजयन्ति येन हिन्वन्त्यातुरम्। तेनास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः॥

—अथर्व० ६।१०१।२

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्। यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः॥
यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः॥

—अथर्व० ६।७२।२-३

अर्थात् जिससे कृश रहता है और जल्दी पात हो जाता है उस कारण को दूर करके तेरे उपस्थ को धनुष की तरह फैलाता हूँ। जिस प्रकार से वह स्थूल हो जाए और जितना आवश्यक है उतना बढ़ जाए, वह उपाय करता हूँ। जितना समर्थ पुरुषों का होना चाहिए उतना (गार्दभ) बड़ा, (हास्तिन) स्थूल और (वाजिन) तेज हो जाए, वह उपाय करता हूँ।

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे। तां त्वा वयं खनामस्यौषधिं शेपहर्षणीम्॥

—अथर्व० ४।४।१

अर्थात् जिस ओषधि को मृत वरुण के लिए गन्धर्व ने खोदा था, उसी वाजीकरण ओषधि को मैं तेरे लिए खोदता हूँ।

इस प्रकार से इन वाजीकरण उपचारों के द्वारा नपुंसकत्वादि दोषों को दूरकर पुरुषों को अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के योग्य बनाना वेद का तात्पर्य है, इसीलिए यह चिकित्सा सब चिकित्साओं से अधिक मूल्यवान् है, क्योंकि इसी के द्वारा भविष्य प्रजानिर्माण का कार्य सम्पादन होता है। इस प्रकार से हमने यहाँ तक वेदों से आयुर्वेदसम्बन्धी आवश्यक उपदेशों को इकट्ठा कर दिया है। इतने आयुर्वेदिक ज्ञान से मनुष्य आरोग्यता के नियम समझ सकता है और रोगों से आरोग्यता प्राप्त कर सकता है। यह व्यक्तिचिकित्सा का उपदेश हुआ, अब समाजचिकित्सा का वर्णन करते हैं।

व्यक्तिव्याधियों की आयुर्वेदिक चिकित्सा के बाद वेद में सामाजिक व्याधियों की निवृत्ति का भी उपदेश किया गया है। प्रायः देखा जाता है कि बहुत-सी चेपी व्याधियाँ उठ खड़ी होती हैं, जो आयुर्वेदिक चिकित्सा से दूर नहीं होती और सर्वत्र फैलकर असंख्य मनुष्यों का संहार कर देती है। उनके दूर करने का उपाय केवल यज्ञ ही हैं। हम यज्ञों का विस्तृत वर्णन प्रथम खण्ड में कर आये हैं और बतला आये हैं कि यज्ञों का सिद्धान्त शिल्प और विज्ञान की नींव पर स्थिर है। वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड में यज्ञों के लिए नाना प्रकार के शिल्पों और विज्ञानों की आवश्यकता बतलाई गई है[1]। शतपथब्राह्मण में बतलाया गया है कि ऋतु-सम्बन्धिनी सार्वजनीन बीमारियाँ

१. **ततोऽब्रवीद् द्विजान्वृद्धान्यज्ञकर्मसु निष्ठितान्। स्थापत्ये निष्ठितांश्चैव वृद्धान् परमधार्मिकान्॥**
कर्मान्तिकान् शिल्पकारान्वर्धकीन् खनकानपि। गणकाञ्शिल्पिनश्चैव तथैव नटनर्तकान्॥

यज्ञों से दूर होती हैं[१]। वेद स्वयं उपदेश करते हैं कि अज्ञात और सर्वत्र फैली हुई चेपी और मारक बीमारियाँ यज्ञों से दूर हो जाती हैं। अथर्ववेद में आया है कि—

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ —अथर्व० ३। ११। १
सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥ —अथर्व० ३। ११। ३

अर्थात् हे मनुष्य! तुझे मैं हवन के द्वारा अज्ञात महामारी रोग से और क्षयरोग से सुखमय जीवन के लिए छुड़ाता हूँ। इस रोगी को असाध्य रोग ने पकड़ रक्खा है, इसलिए हे इन्द्र और अग्ने! आप इसे अरोग्य करें। मैंने इस हवनीय हविष को सैकड़ों गुणदायक और आयु बढ़ानेवाली ओषधियों को डालकर तैयार किया है, इसलिए हे यज्ञपति इन्द्र! आप इस संसार में फैले हुए रोग को हटाकर इस बीमार को सौ वर्ष की आयु प्रदान करें।

इन मन्त्रों में अनेक ओषधियों का हवन करके अज्ञात और सर्वत्र फैले हुए चेपी और मारक रोगों को हटाने का उपदेश है। ऐसे यज्ञों का माहात्म्य वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं—

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥ —अथर्व० १९। ६३। १

अर्थात् हे ब्रह्मणस्पते! उठो और यज्ञों से देवतों को जगा दो, जिससे आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति और राजा की उन्नति हो।

इस प्रकार यज्ञ का माहात्म्य बताकर यज्ञ में सबसे प्रधान वस्तु अग्नि का वर्णन करते हैं। यजुर्वेद में लिखा है कि—

दिवस्परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणाऽ अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः॥ —यजुः० १२। १८

अर्थात् पहला अग्नि—सूर्य द्यौ से पैदा हुआ, दूसरा जातवेद हमसे (पृथिवी पर) पैदा हुआ, तीसरा (विद्युत्) अन्तरिक्ष के जलों से पैदा हुआ।

इस मन्त्र में अग्नि के तीन रूप तीन स्थानों में बतलाये गये हैं। इसके आगे अग्नि को देवताओं तक हुतद्रव्यों के पहुँचानेवाला दूत कहा गया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

अग्निं दूतं पुरो दधे हव्यवाहमुप ब्रुवे। देवाँ २॥ आ सादयादिह॥ —यजुः० २२। १७

अर्थात् पूर्व ही अग्निदूत को धारण किया गया है और यह हव्य पदार्थों का ढोनेवाला कहा गया है। यह देवताओं तक पदार्थों को पहुँचाता है, अतः यज्ञ के लिए इस अग्नि की स्थापना इस प्रकार बतलाई गई है—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा।
तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे॥ —यजुः० ३। ५

अर्थात् जिस प्रकार आकाश में स्थित महान् सूर्य इस विस्तृत पृथिवी के ऊपर देवयज्ञ कर

तथा शुचीञ्शास्त्रविदः पुरुषान्सुबहुश्रुतान्। यज्ञकर्म समीहन्तां भवन्तो राजशासनात्॥
इष्टका बहुसाहस्त्री शीघ्रमानीयतामिति। उपकार्याः क्रियन्तां च राज्ञो बहुगुणान्विताः॥
—वाल्मी० रा० बालकाण्ड [१३। ६-९]

१. **भैषज्ययज्ञा वा एते। ऋतुसन्धिषु व्याधिर्जायते तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते।** —शतपथब्रा०

रहा है, उसी प्रकार भोज्य पदार्थों के लिए मैं भी इस अग्नि की स्थापना करता हूँ।

इसके आगे अग्नि को प्रदीप्त करने के लिए लिखा है कि—

उद् बुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्ते सꣳ सृजेथामयं च।
अस्मिन्त्सधस्थे अध्युत्तरस्मिन् विश्वेदेवा यजमानश्च सीदत॥ —यजुः० १५।५४

अर्थात् हे अग्ने! तू प्रदीप्त हो और हमको सतेज कर तथा तू और हम मिलकर इष्ट-सुख की युक्ति और प्राप्ति करें, जिससे यहाँ हम और अन्य यजमान तथा दूसरे विद्वान् भी यज्ञ किया करें।

इसके आगे समिधा में घी डालने की विधि बतलाते हैं—

समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम्। आस्मिन् हव्या जुहोतन॥ —यजुः० १२।३०

अर्थात् समिधा से अग्नि को प्रदीप्त करो, घृतादि से उसे प्रज्वलित करो और उस प्रदीप्त हुए अग्नि में हवन करो।

इसके आगे यह बतलाते हैं कि हवन किये गये पदार्थ किस प्रकार वायु की मलिनता को दूर करते हैं।

तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि। बृहच्छोचा यविष्ठ्य॥ —यजुः० ३।३

हे अंगारो! बढ़ी हुई अग्निओ! तुम सब पदार्थों को (विष्ठ्य) छेदन-भेदन करके (बृहत् शोचः) महान् शुद्धि करनेवाले हो, इसीलिए समिधाओं और घृत से हम तुम्हें बढ़ाते हैं।

इन मन्त्रों में अग्नि को जलाने, प्रदीप्त करने और उसके द्वारा पदार्थों के छेदन-भेदन की क्रिया को बतलाकर अब यह बतलाते हैं कि यह अग्नि वायु को हुत पदार्थ देता है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम॥ —ऋ० १०।१६८।४

अर्थात् देवताओं का आत्मा और भुवन का गर्भ यह वायु अपनी इच्छा से चलता है। यद्यपि इसका शब्द ही सुनाई पड़ता है, रूप देखने को नहीं मिलता, तथापि हम उसके लिए हविष देते हैं।

देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित। मनसस्पत इमन्देव यज्ञ ꣹ स्वाहा वाते धाः॥
—यजुः० ८।२१

अर्थात् हे हमारे मन के पति! इस यज्ञ को सुहुत बनाकर हुत द्रव्यों को वायु पर स्थापित करो और मार्ग की खोज लगानेवाले हुत द्रव्यों से कहो कि वे अपने मार्ग से जाएँ।

इस मन्त्र में यज्ञ के हुत पदार्थों को वायु में जाने देने का उपदेश किया गया है। इसके आगे यज्ञ में किन-किन पदार्थों की आहुतियाँ देनी चाहिएँ, वह बतलाते हैं—

धानावन्तं करम्भिणमपूपवन्तमुक्थिनम्। इन्द्र प्रातर्जुषस्व नः॥ —ऋग्वेद ३।५२।१

अर्थात् हमारे धानवाले, दधि-दूधवाले, मालपुएवाले और स्तोत्रवाले ढेरों को हे इन्द्र! प्रातःकाल के समय सेवन कीजिए।

पूषण्वते ते चकृमा करम्भं हरिवते हर्यश्वाय धानाः।
अपूपमद्धि सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान्॥ —ऋ० ३।५२।७

अर्थात् हे वृत्र के मारनेवाले विद्वान् शूर! तेरी पोषण करनेवाली किरणों के लिए हमने जो दिया है उस दूध, दधि, धान और मालपुवा आदि को खा तथा मरुतों के साथ सोम को पी।

इसके आगे हवन किये हुए पदार्थों के विषय में वेद उपदेश करते हैं कि जो धन यज्ञ में लगाया जाता है, वही सुकृत होता है, क्योंकि—

न ता नशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवाँश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिःसचते गोपतिःसह॥ —ऋ० ६।२८।३

अर्थात् जो देवों को दिया जाता है और जिससे यज्ञ किया जाता है उसका न नाश होता है, न उसे चोर चुरा सकते हैं, न उसका कोई शत्रु होता है और न उसपर कोई आफ़त डाल सकता है। उसके द्वारा यजमान सदैव ही गोपति के साथ रहता है, अर्थात् वह धनवान् बना रहता है।

सत्य है, ऐसे सार्वजनिक पुण्यकार्य में धन ख़र्च करने से ही धन का सदुपयोग कहा जा सकता है। धन के सदुपयोग से अधिक धन की वृद्धि होती है, इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार यज्ञों के द्वारा सार्वजनिक बीमारियों से रक्षा की युक्ति बताकर अब प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का जो उपाय वेदों ने बतलाया है, उसका वर्णन करते हैं।

वैद्यक और यज्ञों के द्वारा व्यक्तिगत व्याधि और समाजगत चेपीरोगों की रक्षा हो सकती है, परन्तु इनके द्वारा प्राकृतिक विप्लवों से—भूकम्प, ज्वालाप्रपात, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, पाला, पत्थर और वज्रपात आदि से रक्षा नहीं हो सकती। इन उत्पातों से रक्षा करनेवाला परमात्मा ही है। इसलिए ऐसे समयों में परमात्मा की प्रार्थना करने का ही वेद में उपदेश है। यहाँ हम ऐसी प्रार्थनाओं के कुछ नमूने लिखते हैं, जो इस प्रकार हैं—

मधुवाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः॥
मधु नक्तमुतोषसो मधुमत्पार्थिवꣳ रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता॥
मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँ २॥ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः॥

—यजुर्वेद १३।२७-२९

अर्थात् हे परमात्मन्! संसार में वायु मधुर होकर बहे, नदियाँ मधुर होकर बहें, ओषधियाँ मधुर होकर उगें। रात मधुर हो, प्रभात मधुर हो, पृथिवी मधुर हो और हमारा द्यौ पिता मधुर हो। वनस्पतियाँ मधुर हों, सूर्य मधुर हो और गौवें मधुर हों।

इसके आगे फिर प्रार्थना है—

यतो यतः समीहसे ततो नो अभयं कुरु। शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः॥

—यजुः० ३६।२२

अर्थात् जहाँ-जहाँ हमारे लिए जैसी परिस्थिति उत्पन्न हो वहाँ-वहाँ हमें हर प्रकार से अभय कीजिए तथा पशुओं की ओर से भी हमें सुखी और अभय कीजिए।

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥
अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ —अथर्व० १९।१५।५-६

अर्थात् हमें अन्तरिक्ष अभय करे, द्यावा तथा पृथिवी हमें अभय करें और नीचे-ऊपर तथा आगे-पीछे से भी हमें अभय प्राप्त हो। मित्र से अभय हो, अमित्र से अभय हो। जाने हुए से अभय हो और अज्ञात से अभय हो। रात में अभय हो और दिन में अभय हो, अर्थात् हमारी समस्त आशाएँ वा दिशाएँ अभय हों।

इसके आगे संसार की समस्त जड़ शक्तियों के कल्याणकारी और शान्त होने की अभिलाषा

की गई है और परमात्मा से प्रार्थना की गई है—

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्न इन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ९ ॥
शन्नो वातः पवता ᳪ शन्नस्तपतु सूर्यः ।
शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्यो अभि वर्षतु ॥ १० ॥
अहानि शं भवन्तु नः श ᳪ रात्रीः प्रति धीयताम् ।
शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्न इन्द्रावरुणा रातहव्या ।
शन्न इन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रासोमा सुविताय शंयोः ॥ ११ ॥
शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शंयोरभि स्त्रवन्तु नः ॥ १२ ॥
स्योना पृथिवी नो भवानृक्षरा निवेशनी। यच्छ नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥
आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे ॥ १४ ॥
द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ᳪ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः ।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वेदेवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ᳪ शान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥ १७ ॥ —यजुर्वेद अध्याय ३६ । ९-१४, १७

अर्थात् मित्र, वरुण, अर्यमा, इन्द्र, बृहस्पति, विष्णु और उरुक्रम आदि देवता हमारा कल्याण करें। वायु की चाल कल्याणदायक हो, सूर्य का ताप कल्याणदायक हो और शब्द करते हुए पर्जन्यदेव की वर्षा भी कल्याणकारी हो। दिन कल्याणकारी हो, रात्रि कल्याणकारी हो और इन्द्र, अग्नि तथा वरुण आदि देवता भी कल्याणकारी हों। पीने का जल कल्याणकारी हो और वर्षा का जल भी कल्याणकारी हो। पृथिवी हमारे लिए कंटकरहित और उत्तम बसने योग्य हो। पानी हमारे लिए सुखकारी हो, उसे हम बल के लिए धारण करें और प्राकृतिक युद्धों में हमारी विजय हो। द्यौलोक शान्त हो, अन्तरिक्ष शान्त हो, पृथिवी शान्त हो, जल शान्त हो, ओषधियाँ शान्त हों, वनस्पतियाँ शान्त हों, संसार की समस्त शक्तियाँ शान्त हों, ज्ञान शान्त हो, सब-कुछ शान्त हो, शान्ति भी शान्त हो और वह शान्त शान्ति यावज्जीवन बनी रहे।

इस प्रकार से जिस समय समस्त जनसमूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति के द्वारा प्रार्थनापूर्वक प्रेरणा होती है उस समय ईश्वर की इच्छा से बड़ी-बड़ी प्राकृतिक शक्तियों पर भी प्रभाव हो जाता है और विघ्न शान्त हो जाते हैं[१]।

यहाँ तक वैयक्तिक व्याधि, सामाजिक व्याधि और प्राकृतिक उत्पातों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाकर अब वेद मनुष्यों द्वारा उत्पन्न किये गये विप्लवों से रक्षा प्राप्त करने का उपाय बतलाते हैं। मनुष्य द्वारा जो उत्पात होते हैं उनके दो विभाग हैं। पहला उत्पात सामाजिक है। यह ईर्ष्या-द्वेष, आलस्य, मूर्खता और विलासिता से उत्पन्न होता है और नाना प्रकार के पाप कराता है। दूसरा बाह्य शत्रुओं के द्वारा उत्पन्न होता है, जो नाना प्रकार से कष्ट देता है। वेदों में इन दोनों से बचने के लिए राज्यव्यवस्था का उत्तम उपदेश किया गया है।

---

१. ये प्राकृतिक विप्लव जीवों के सामुदायिक पापों के कारण अज्ञात शक्तियों के द्वारा उत्पन्न होते हैं, इसलिए सिवा परमात्मा की प्रार्थना के इनसे बचने का और कोई उपाय नहीं है। प्रार्थना का तात्पर्य उपाय और उद्योग है, किन्तु यहाँ प्रार्थना ही उपाय और उद्योग है, क्योंकि सामूहिक प्रार्थना का—जनसमूह की सम्मिलित इच्छाशक्ति का भी बड़ा प्रभाव होता है।

राज्यव्यवस्था का उद्देश्य समाज की रक्षा करना है। रक्षित समाज ही उन्नत और आदर्शरूप होता है। समाज की रक्षा भीतरी और बाहरी दो प्रकार की है। भीतरी रक्षा समाज के दुष्टों से की जाती है और बाहरी रक्षा बाहर के शत्रुओं से। जिस समाज की इस प्रकार रक्षा होती है वह बड़ा ही दिव्य होता है। वेद में ऐसे दिव्य समाज की कामना का वर्णन इस प्रकार है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां दोग्ध्री धनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिःपुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥ —यजुः० २२।२२

अर्थात्— **हे जगदीश दयालु ब्रह्म प्रभो! सुनिये विनय हमारी।**
हों ब्राह्मण उत्पन्न देश में धर्मकर्मव्रतधारी।
क्षत्रिय हों रणधीर महारथ धनुर्वेद अधिकारी।
धेनु दूधवाली हों सुन्दर वृषभ तुरंग बलधारी।
हों तुरंग गतिचपल अङ्गना हों स्वरूपगुणवाली।
विजयी रथी पुत्र जनपद के रत्न तेजबलशाली।
जब ही जब जग करे कामना जलधर जल बरसावें।
फलें पकें बहु सुखद वनस्पति योगक्षेम सब पावें॥

परन्तु ये बातें तभी हो सकती हैं जब शासन अच्छे राजतन्त्र के द्वारा हो। अच्छा राजतन्त्र तभी हो सकता है जब राजा प्रजा द्वारा मनोनीत हो। प्रजा के द्वारा ऐसे राजा को चुनने के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

आ त्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः। विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥
इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलिः। इन्द्रइवेह ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥
—ऋग्वेद १०।१७३।१-२

अर्थात् हे महापुरुष! हम तुझको लाये हैं, इसलिए अन्दर आ और चंचल न होकर स्थिर रह, जिससे तुझे समस्त प्रजा चाहती रहे और तुझसे राष्ट्र का कभी पतन न हो। यहाँ आकर पर्वत के समान स्थिर होकर ठहर जा और इन्द्र के समान स्थिर होकर राष्ट्र को धारण कर, जिससे कभी राष्ट्र का पतन न हो।

इन मन्त्रों में प्रजा के द्वारा राजा को मनोनीत करने की आज्ञा है। आगे वेद उपदेश करते हैं कि किस प्रकार के पुरुष को राजा बनाना चाहिए। अथर्ववेद में लिखा है—

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ —अथर्व० ४।८।१

अर्थात् वही सब प्राणियों का अधिपति होने योग्य है, जो समस्त संसार का दुग्धादि अन्नों से अच्छी प्रकार पोषण करता है। उसकी मृत्यु राजसूय को प्राप्त होती है, इसलिए वही राजा होकर इस राज्य को अङ्गीकार करे।

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि जो महापुरुष प्रजापालन के लिए अपने जीवन का उत्सर्ग करने को तत्पर हो वही राजा होने योग्य है। ऐसे राजा को पाकर प्रजा को चाहिए कि वह उसे ख़ूब बलवान् बनावे। इस विषय में वेद उपदेश करते हैं—

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रंधयास्मा अहमुत्तरेषु॥ —अथर्व० ४।२२।१

अर्थात् हे इन्द्र! तू हमारे इस क्षत्रिय को बलवान् बना, इसी एक को सब प्रजाओं का नेता कर, इसके शत्रुओं को दूर कर और उनका सदैव नाश किया कर।

इस मन्त्र के द्वारा वेदों ने प्रजा की ओर से राजा को बलवान् बनाने की आज्ञा दी है। अब अगले मन्त्र में प्रजा को आश्वासन देने के लिए राजा को आज्ञा दी गई है। राजा कहता है—

प्रति क्षत्रे प्रति तिष्ठामि राष्ट्रे प्रत्यश्वेषु प्रति तिष्ठामि गोषु।
प्रत्यङ्गेषु प्रति तिष्ठाम्यात्मन् प्रति प्राणेषु प्रति तिष्ठामि पुष्टे प्रति द्यावापृथिव्योः
प्रति तिष्ठामि यज्ञे॥ —यजुर्वेद २०।१०

अर्थात् मैं क्षत्र में, राष्ट्र में, घोड़ों में, गौवों में, अङ्गों में, चित्तो में, प्राणों में, पुष्टि में, द्यौ में, पृथिवी में और यज्ञ में प्रतिष्ठावाला होऊँ।

इस मन्त्र में राजा ने बतला दिया है कि मैं ऐसे काम करूँगा जिससे मेरी सर्वत्र प्रतिष्ठा हो। अब अगले मन्त्रों में बतलाया जाता है कि राज्य का उत्तम काम चलाने के लिए राजपुरुषों और प्रजापुरुषों की सभाओं का आयोजना होनी चाहिए। अथर्ववेद में लिखा है कि—

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ —अथर्व० ७।१२।१
विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ —अथर्व० ७।१२।२
यद्राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः।
अविस्तस्मात्प्र मुंचति दत्तःशितिपात् स्वधा॥
सर्वान् कामान् पूरयत्याभवन् प्रभवन् भवन्।
आकूतिप्रोऽविर्दत्तः शितिपान्नोप दस्यति॥—अथर्व० ३।२९।१-२

अर्थात् राजा की सभा और समितिरूपी दो पुत्रियाँ मेरी रक्षा करें। ये दोनों आपस में मेल रखनेवाली हों, जिससे मैं जिस सभासद् के साथ मिलूँ वह मुझे ज्ञान देवे, अतः हे सभासदो! आप लोग संगतों और सभाओं में ठीक-ठीक बोलिए। हे सभा! हम तेरा नाम जानते हैं, अतः जो तेरे सभासद् हैं वे मेरे साथ सत्य वचन बोलनेवाले हों। राष्ट्रपति के जो बड़े-बड़े राजे (प्रान्तिक सरकार) सभासद् हैं, वे इष्टापूर्त्त का सोलहवाँ भाग केन्द्रिय सरकार को बाँट देते हैं। वह बाँटा हुआ धन उनका रक्षक होता है, उन्हें हानि से बचाता है और आत्मनिर्णय के लिए बल देता है। यह दिया हुआ कर रक्षक बनकर हानियों से बचाता है और आत्मनिर्णय के लिए बल देता है और सङ्कल्पों को पूर्ण करता हुआ सब कामनाओं को विजयी, प्रभावशाली और वृद्धियुक्त करके पूर्ण करता है।

इन मन्त्रों में राजसभा और सभासदों का कर्त्तव्य वर्णन करके अब अगले मन्त्रों में वेद आज्ञा देते हैं कि राष्ट्र को चाहिए कि वह सबसे पहले अपने अन्तर्गत घुसे हुए दुष्ट मनुष्यों को ढूँढे, जाने और उनको न्याय द्वारा दण्ड से शिक्षा दे। ऋग्वेद में लिखा है—

वि जानीह्यार्यान्ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।
शाकी भव यजमानस्य चोदिता विश्वेत्ता ते सधमादेषु चाकन॥ —ऋ० १।५१।८

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेनँ एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र ।
धनोरधि विषुणक्ते व्यायन्नयज्वानः सनका प्रेतिमीयुः ॥ —ऋ० १।३३।४

इमे तुरं मरुतो रामयन्तीमे सहः सहस आ नमन्ति ।
इमे शंसं वनुष्यतो नि पान्ति गुरु द्वेषो अररुषे दधन्ति ॥ —ऋ० ७।५६।१९

अन्यव्रतममानुषमयज्वानमदेवयुम् ।
अव स्वः सखा दुधुवीत पर्वतः सुघ्नाय दस्युं पर्वतः ॥ —ऋ० ८।७०।११

ताविद् दुःशंसं मर्त्यं दुर्विद्वांसं रक्षस्विनम्।
आभोगं हन्मना हतमुदधिं हन्मना हतम्॥ —ऋ० ७।९४।१२

अर्थात् हे राजन्! आप उत्तम गुणवाले आर्यों को जानो और धर्म की रक्षा के लिए अव्रती दस्युओं (डाकुओं) को शासित करो और मारो जिससे आपके राज्य में धर्म के कार्य न बिगड़ें। हे राजन्! आप एक ही झपट से धनुष–बाण के द्वारा ठग और यज्ञ न करनेवाले धनी दुष्टों को मार डालें। जो गुरु से द्वेष करनेवाले हैं और हवा की भाँति जल्दी से साहस के साथ बल दिखलाते हैं तथा लोगों के सामने व्यर्थ की बड़ाई हाँकते हैं और जो नास्तिक हैं, पशुस्वभाववाले हैं और यज्ञ न करनेवाले हैं उनको पहाड़ों में क़ैद कर दीजिए। जो बुरा भाषण करनेवाले हैं, जो दुष्ट ज्ञान धारण करनेवाले हैं, जो अपने रमण (भोग) के लिए दूसरों का क्षय करनेवाले हैं और जो सब प्रकार से अपने ही भोगों की चिन्ता में मग्न रहनेवाले दुष्ट–दुर्जन हैं विचार करके उनका अवश्य हनन कीजिए।

इस प्रकार से इन मन्त्रों में आर्यों और दस्युओं, अर्थात् भले और बुरों को जानकर दुष्टों को विचारपूर्वक शासित करने का उपदेश है। इसी प्रकार दुष्ट स्वभाववाले अन्य दुराचारियों को भी दण्ड देने का उपदेश इस प्रकार दिया गया है—

यदि स्त्री यदि वा पुमान् कृत्यां चकार पाप्मने।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या॥ —अथर्व० ५।१४।६

अर्थात् चाहे स्त्री हो या पुरुष हो जिसने पाप का कृत्य किया हो उसको पशु की भाँति बाँधकर वैसे ही ले–जाना चाहिए जैसे घोड़ा बागों से खींचा जाता है।

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये। योनिं यो अन्तरारेढि तमितो नाशयामसि॥
यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते। प्रजां यस्ये जिघांसति तमितो नाशयामसि॥
यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते। प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥
—अथर्व० २०।९६।१४–१६

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः। गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥
—अथर्व० ८।६।२३

अर्थात् दम्पती के बीच सोकर जो तेरी जंघाओं को फैलाता है और जो तेरी योनि को भीतर से सींचता है उसका हम नाश करते हैं। जो कोई भाई व्यभिचारी बनकर अथवा पति बनकर तेरे पास आ जाए और तेरी सन्तान को मारना चाहे, उसका हम नाश करते हैं। जो कोई सोते हुए नशा खिलाकर अँधेरे में तेरे पास आ जाए और तेरी सन्तान को मारना चाहे उसका हम नाश करते हैं। जो कच्चे, अर्थात् ज़िन्दा पशुओं के मांस को, जो मनुष्यों के मांस को और जो गर्भों (अण्डों) को खाते हैं उनका हम नाश करते हैं।

इस प्रकार शासन के द्वारा पहले समाज का संशोधन करके भले आदमियों को दुष्टों के

पीड़न से बचाना चाहिए, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि दुष्टों का सुधार केवल कठोर शासन से ही नहीं हो जाता। इसलिए राज्य में ज्ञान, विद्या, सभ्यता, सदाचार और आस्तिकता का भी प्रचार करना आवश्यक है। यह काम ब्राह्मणों से ही हो सकता है, अतः राजा को चाहिए कि वह ब्राह्मणों, विद्वानों और सदाचारी पुरुषों का आदर बढ़ावे। इस विषय में वेद उपदेश करते हैं कि—

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो ३ न वैश्यः। तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः॥ ९॥
पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः। राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः॥ १०॥
पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्। ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते॥ ११॥
नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १२॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेशमनि जायते। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १३॥
नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १४॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १५॥
नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १६॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते। यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १७॥
नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्। विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया॥ १८॥

—अथर्व० ५।१७।९-१८

अर्थात् मनुष्यसमाज का अधिपति ब्राह्मण ही है, क्षत्रिय और वैश्य नहीं। जिस प्रकार सूर्य पाँचों ग्रहों को आज्ञा करता हुआ चलाता है, उसी प्रकार विद्याबल से सबको ब्राह्मण ही चलाता है। इस विद्या को देवताओं ने पहले ब्राह्मणों को दिया, ब्राह्मणों ने क्षत्रियों को और क्षत्रियों ने दूसरों को दिया। इस प्रकार से विद्या को सबमें बाँटकर ही मनुष्य बल और कीर्ति को प्राप्त होते हैं। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है वहाँ वह सैकड़ों धाराओं से बहकर और कल्याणकारी होकर प्रतिष्ठित नहीं होती, जिस राष्ट्र में विद्या का प्रचार रोका जाता है वहाँ बहुश्रुत और बड़े दिमाग़ का कोई मनुष्य पैदा नहीं होता। जिसके राज्य में विद्या का प्रचार बन्द है, ऐसे राजा का अलंकृत नौकर भी ऐश्वर्यवाले पुरुषों के सम्मुख नहीं जा सकता। जिस राष्ट्र में विद्या का प्रकाश रोका जाता है, वहाँ श्यामकर्ण घोड़ा भी रथ में जुड़कर बड़ाई नहीं प्राप्त कर सकता। जहाँ विद्या का प्रचार नहीं होता वहाँ न खेतों में पुष्करिणी होती है और न पृथिवी में कुछ पैदा ही होता है। पृथिवी की उपज खानेवाले वे किसान जिनमें विद्या का लेश नहीं है भूमि में अधिक अन्न पैदा नहीं कर सकते। जहाँ ब्राह्मण रात्रि को भूखा सोता है वहाँ न गौओं के दूध होता है और न बैल गाड़ी खींच सकते हैं, अर्थात् जहाँ ब्राह्मण और विद्या का निरादर होता है वहाँ प्रत्येक प्रकार से सर्वनाश हो जाता है।

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत। प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥

—अथर्व० ५।१९।११

अर्थात् सौ में निन्यानवे देशों के राजाओं का पराभव हुआ है, जिन्होंने ज्ञानियों को सताया है। इस विषय में अथर्ववेद १२।५(२)।७-११ में लिखा है कि—

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥ ७॥
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥ ८॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥ ९॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥ १०॥

तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ११ ॥

अर्थात् ओज, तेज, सहनशक्ति, बल, वाणी, इन्द्रियाँ, श्री, धर्म, ब्राह्मण, क्षत्रिय, राष्ट्र, प्रजा कान्ति, यश, वर्चस्, धन, आयु, रूप, नाम, कीर्ति, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, दूध, रस, अन्न, यव, सत्य, ऋत (नीति) यज्ञ, वापी, कूप, तड़ाग, वाटिकादि, प्रजा और पशु आदि समस्त पदार्थ उस राजा के नष्ट हो जाते हैं, जो ब्राह्मणों को सताता है और विद्या को छीन लेता है, अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना बन्द कर देता है। इस प्रकार विद्या की अवहेलना और ज्ञानियों के तिरस्कार का दुष्ट फल बतलाकर ब्राह्मणों की उपयोगिता का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं—

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्यनेम् ॥ —अथर्व० ५ । १८ । ९

अर्थात् जिनके बाण तीखे हैं और जो हथियार धारण करते हैं, ऐसे ब्राह्मणों के फेंके हुए ज्ञानशस्त्र व्यर्थ नहीं जाते। वे तेजस्वी बल के साथ तपकर शत्रु का पीछा करते हैं और निश्चय ही दूर से उसका भेदन कर देते हैं, इसीलिए वेद उपदेश करते हैं कि—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥
—यजुः० २० । २५

अर्थात् जहाँ ब्रह्मबल और क्षत्रबल साथ-साथ अच्छी तरह प्रीतियुक्त होकर व्यवहार में लाये जाते हैं और जहाँ देवता अग्नि के साथ रहते हैं, वही देश पुण्यलोक होता है।

कहने का तात्पर्य यह कि जहाँ केवल शासन ही होता है वहाँ उत्तम मनुष्य नहीं होते, प्रत्युत जहाँ शासन और शिक्षा दोनों होते हैं, वही समाज पुण्यमय होता है। इसलिए वेद कहते हैं—

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥ —यजुः० ३२ । १६

अर्थात् ये मेरे ब्रह्मबल और क्षत्रबल दोनों श्रेय को प्राप्त हों। जिस प्रकार ये मुझे शोभा और लक्ष्मी से विभूषित करें उसी प्रकार तुझ ब्राह्मण को भी सुशोभित करें।

यहाँ तक समाज की भीतरी दुर्बलताओं से जो कष्ट होते हैं, उन्हें दूर करने के उपायों को बतलाकर अब वेद उपदेश करते हैं कि जो बाहर के शत्रु इस आर्यसमाज को नष्ट करने और उसपर शासन करने के लिए आवें उनके साथ युद्ध किया जाए और उनको परास्त किया जाए। इस विषय में ऋग्वेद उपदेश करता है कि—

हत्वाय देवा असुरान् यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥ —ऋ० १० । १५७ । ४

अर्थात् जो तेजस्वी क्षत्रिय देवत्व के विरोधी शत्रुओं (असुरों) को युद्ध में मारकर विजयी होते हैं, वही रक्षा पाकर सुख से रहते हैं, क्योंकि ऋग्वेद में लिखा है—

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनुत्यजः। ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात् ॥
—ऋ० १० । १५४ । ३

अर्थात् जो शूरवीर क्षत्रिय, धर्मरक्षा के लिए युद्ध में सम्मुख लड़कर शरीर का परित्याग करते हैं, वे अनुत्तम सुखवाले लोकों को प्राप्त होते हैं।

इसलिए वेद में युद्धविजय की बहुत ही प्रबल कामना का उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है—

धन्वना गा धन्वनाजिं जयेम धन्वना तीव्राः समदो जयेम।
धनुः शत्रोरपकामं कृणोमि धन्वना सर्वाः प्रदिशो जयेम ॥ —यजुः० २९ । ३९

अर्थात् हम धनुष से पृथिवी और संग्राम को जीतें और हम धनुष से बड़ी वेगवाली सेना को

भी जीतें। यह धनुष शत्रु की कामना को नष्ट कर देता है, अतः हम धनुष से सब दिशा-विदिशाओं को जीत लें।

विजयी योधा के लिए लिखा है कि—

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्॥ —अ० १८।२।६०

अर्थात् हे वीर! तू अपने क्षात्रधर्म, तेज और बल के द्वारा इस संग्राम में मरे हुए शत्रुओं के हाथ से धनुष को और अन्य पुष्ट करनेवाले बहुत-से सामानों को लेकर इन पराजितों के सामने से आदर के साथ आ।

इसके आगे सेना का वर्णन इस प्रकार है—

याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत।
ये स्तेना ये च तस्करास्ताँस्ते अग्नेऽपि दधाम्यास्ये॥ ७७॥
द ꣳ ष्ट्राभ्यां मलिम्लून् जम्भ्यैस्तकराँ २॥ उत।
हनुभ्या ꣳ स्तेनान् भगवस्ताँस्त्वं खाद सुखादितान्॥ ७८॥
ये जनेषु मलिम्लव स्तेनासस्तस्करा वने।
ये कक्षेष्वघायवस्ताँस्ते दधामि जम्भयोः॥ ७९॥
यो अस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः।
निन्दाद्यो अस्मान् धिप्साच्च सर्वं तं मस्मसा कुरु॥ ८०॥ —यजुः० ११।७७-८०

अर्थात् जो सेना सुस्त, बीमार, अयोग्य और चोर है, उसको मैं जलती हुई ज्वाला में डालता हूँ। हे अग्ने! आप उन चोरों और मैले कर्म करनेवाले लोगों को अपनी डाढ़ों, जबड़ों और दाँतों से खा डालें। हे अग्ने! जो नक़ब लगानेवाले, डाका डालनेवाले, ठग और पाप-कर्म से जीनेवाले हैं, उन अधमों को आप चबा डालें! आप शत्रुता करनेवाले, द्वेष करनेवाले, निन्दा करनेवाले और दम्भ दिखानेवाले दुष्टों को भस्म कर डालें।

वेद ने इन मन्त्रों में बतलाया है कि अयोग्य सेना को नष्ट कर देना चाहिए और समस्त समाज को चाहिए कि वह युद्ध के लिए राजा को उत्तेजित करे। उत्तेजना का उपदेश इस प्रकार है—

तमु त्वा पाथ्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम्। धनञ्जय ꣳ रणेरणे॥ —यजुर्वेद ११।३४

अर्थात् दस्यु के मारनेवाले, धन जीतनेवाले और अन्न देनेवाले तुझ राजा को हम प्रदीप्त कर रण के समय उत्तेजित करें।

इस राष्ट्रीय सेना के प्रत्येक योद्धा को किस प्रकार उत्साहित होना चाहिए, उसका उपदेश वेद में इस प्रकार है—

अभीदमेकमेको अस्मि निष्षाळभी द्वा किमु त्रयः करन्ति।
खले न पर्षान्प्रति हन्मि भूरि किं मा निन्दन्ति शत्रवोऽनिन्द्राः॥ —ऋ० १०।४८।७

अर्थात् मैं हूँ तो अकेला ही पर एक, दो, तीन शत्रु भी मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकते। मैं शत्रुओं को इस प्रकार कुचल डालूँगा जैसे खलिहान में अन्न कुचला जाता है, क्योंकि जिनका कोई मार्गदर्शक सेनापति ही नहीं है, वे शत्रु मेरी क्या निन्दा कर सकते हैं।

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते। सुखो रथइव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥
—अथर्व० ५।१४।५

अर्थात् ये शत्रुनाशक सेनाएँ हिंसाकारी और दुर्वचन बोलनेवाले शत्रु के लिए हों। ये शत्रुनाशक सेनाएँ हिंसाकारियों में इस प्रकार चक्कर लगावें जैसे रथ का पहिया चक्कर लगाता है।

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि सेनाएँ हिंसकों, दुष्टों और बदमाशों के दमन के ही लिए हैं, अत: रथ की भाँति वे उक्त बदमाशों के अङ्गों और देशों में चक्कर लगाती रहें। इस प्रकार से आवश्यकता पड़ने पर लड़नेवाला राजा अपने युद्धोपकरणों को मिट्टी के घरों में न रक्खे। इसके लिए वह अच्छे पक्के मकान बनावे। वेद उपदेश करते हैं कि—

मो षु वरुण मृण्मयं गृहं राजन्नहं गमम्। मळा सुक्षत्र मृळय॥ —ऋग्वेद ७।८९।१

अर्थात् हे राजन्! आप मिट्टी के घरों में निवास न करें, क्योंकि मिट्टी के घरों को वर्षा ऋतु मिट्टी कर देती है—गिरा देती है। मिट्टी के सादे घरों में तो हम प्रजा को ही रहना चाहिए।

इस मन्त्र के अतिरिक्त वेद में राजा के लिए लोहे के क़िले बनवाने की आज्ञा है। अथर्ववेद में आया है कि—

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्॥ —अथर्व० १९।५८।४

अर्थात् हे राजन्! आप बड़े-बड़े व्रज (चरागाह) तैयार करवाइए, बहुत-से मोटे-मोटे वर्म (कवच) सिलवाइए और अपने पुर को लोहे के बड़े-बड़े क़िलों से घेर दीजिए, जिससे आपके यज्ञ का चमचा न टपक जाए। उसके दृढ़ करने के लिए यही प्रबन्ध कीजिए। ये वस्तुएँ आपकी रक्षा करेंगी।

इस मन्त्र में राज्य की इस तैयारी का कारण चमचे की रक्षा बतलाया गया है। जिसका तात्पर्य यही है कि राज्य में छिद्र न होने पावे और वैदिक सभ्यता की रक्षा होती रहे। इसके अतिरिक्त राजा को और क्या-क्या तैयारी करनी चाहिए उसका वर्णन इस प्रकार है—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥५॥
जिह्वा मे भद्रं वाङ् महो मनो मन्युः स्वराड् भामः।
मोदाः प्रमोदा अङ्गुलीरङ्गानि मित्रं मे सहः॥६॥
बाहू मे बलमिन्द्रियꣳ हस्तौ मे कर्म वीर्यम्। आत्मा क्षत्रमुरो मम॥७॥
पृष्टिर्मे राष्ट्रमुदरमꣳसौ ग्रीवाश्च श्रोणी।
ऊरू अरत्नी जानुनी विशो मेऽङ्गानि सर्वतः॥८॥ —यजुः० २०।५-८

अर्थात् श्री मेरा शिर है, यश ही मुख है, केश और डाढ़ी मूछ ही प्रकाश हैं, राजा ही प्राण है, सम्राट् ही चक्षु है, विराट् ही कान हैं और यही सब अमरता है। भद्रता ही जिह्वा है, कीर्ति ही वाणी है, क्रोध ही मन है, स्वतन्त्रता ही प्रकाश है, आमोद-प्रमोद ही अंगुलियाँ और अङ्ग हैं तथा सहनशीलता ही मित्र है। बल ही बाहु हैं, कर्म ही इन्द्रियाँ हैं, वीर्य ही हाथ हैं, क्षत्र ही हृदय और आत्मा है। राष्ट्र ही पीठ है, प्रजा ही उदर, ग्रीवा और पैर, जंघा, घुटना और अन्य समस्त अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं।

इन मन्त्रों में राष्ट्र की विशालता का वर्णन है, परन्तु यह सब विशाल राज्यकार्य बिना धन के नहीं हो सकता, इसलिए वेद कहते हैं कि राजा प्रजा से थोड़ा-थोड़ा कर लेकर इस महाकर्म का सम्पादन करे।

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते। महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥

—अथर्व० १०।८।१५

अर्थात् पूर्णों के द्वारा दूर तक और अधूरों के द्वारा निकट तक भुवन के मध्य में राज्य का प्रबन्ध करनेवाला बैठा है। उसके लिए समस्त राष्ट्र बलि, अर्थात् कर देता है।

इस प्रकार राष्ट्रीय उपदेश करके अन्त में वेद शिक्षा देते हैं कि खण्ड राज्यों में सदैव वैमनस्य जन्य उत्पातों का डर बना ही रहता है। इसलिए सबको सार्वभौम राज्य के अन्तर्गत हो जाना चाहिए, अर्थात् सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य का प्रयत्न करना चाहिए। यजुर्वेद में लिखा है—

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा। जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥

—यजुः० ५।२४

अर्थात् स्वराज्य शत्रुओं को मारनेवाला है, सत्रराज्य अभिमानियों का मद मारनेवाला है, जनराज्य दुष्टों का मारनेवाला है और सर्वराज्य अमित्र का मारनेवाला है।

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि सर्वराज्य से शत्रु नहीं रहते।

यहाँ स्पष्ट कह दिया है कि शत्रुओं का सर्वथा नाश तो सर्वराज्य, अर्थात् सार्वभौमराज्य से ही होता है। इसके आगे फिर वेद उपदेश देते हैं कि—

अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको विराजति॥ —यजुः० १२।११७

अर्थात् हे अग्ने! तू भूत, भविष्य और प्रियों तथा प्रियस्थानों में बिना किसी परिवर्तन के एक समान अकेला एक ही राजराजेश्वर विराजमान है।

इस मन्त्र के द्वारा अग्नि की उपमा देकर वेद ने बतला दिया कि समानता की स्थिरता तो तभी हो सकती है जब अग्नि के समान सारी पृथिवी का एक ही सम्राट् हो। इसके आगे वेदों में राजा के लिए आपद्धर्म का उपदेश इस प्रकार दिया गया है कि—

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रियो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥ —अथर्व० ८।९।१३

अर्थात् ऋत की तीन विधियाँ चलती आई हैं और तीनों मार्ग अनुधर्मा हैं। एक विधि प्रजा (समाज) की, एक राष्ट्र की और एक धर्म की रक्षा करती है।

यहाँ ऋत अर्थात् आपद्धर्म की तीनों शाखाओं का वर्णन किया गया है। आपद्धर्म की आवश्यकता धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों में आया ही करती है, इसलिए आवश्यकता पड़ने पर सत्य के जोड़े ऋत से भी काम लेना चाहिए। आगे वेद उपदेश करते हैं—

इन्द्र प्र णः पुरएतेव पश्य प्र नो नय प्रतरं वस्यो अच्छ।
भवा सुपारो अतिपारयो नो भवा सुनीतिरुत वामनीतिः॥ —ऋग्वेद ६।४७।७

अर्थात् हे राजन्! हमको नेताओं की भाँति देखिए और शत्रुओं के बल को उल्लंघन करनेवाले हमारे धर्मबल की अच्छी प्रकार परीक्षा कीजिए कि जिससे हमारा सब-कुछ अच्छी प्रकार पार लगे अथवा बिलकुल ही पार लगने योग्य हो जाए, इसलिए हमारे पास सुनीति और वामनीति दोनों होनी चाहिएँ।

इस मन्त्र में स्पष्टरूप से कह दिया गया है कि यदि सुपार हो, अर्थात् सरल हो तो सुनीति से—धर्म से चले जाएँ, किन्तु यदि अतिपार हो, अर्थात् दुर्गम हो तो वामनीति से—आपद्धर्म से पार हो जाए। इस प्रकार से वेद ने इस राज्यप्रकरण के द्वारा समाज को भीतरी और बाहरी सङ्कटों से रक्षा करने का उपदेश दिया है। इस उपदेश से मनुष्य अपनी और अपने समाज की रक्षा कर

सकता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि मृत्यु से कोई रक्षा नहीं कर सकता। सबको एक-न-एक दिन अवश्य मरना पड़ेगा, इसलिए मरने के बाद के रहस्य का जब तक ठीक-ठीक ज्ञान न हो जाए और जब तक परलोक की जटिल ग्रन्थि सुलझ न जाए तब तक लोक के समस्त सुख और प्रबन्ध निकम्मे हैं। इसलिए अब हम दिखलाना चाहते हैं कि वेद में परलोक विषय की क्या शिक्षा है?

वैदिक उपनिषद्

सब प्रकार से उन्नत समाज का लक्षण यही है कि वह सदाचारी हो, विद्वान हो, उद्योगी हो और हर प्रकार से अपनी स्वयं रक्षा कर लेता हो। ऐसे समाज के लिए लोक की कोई अभिलाषा शेष नहीं रह जाती। ऐसी उन्नत दशा में पहुँचकर उस समाज के उन्नतमस्तिष्क मनुष्यों में परलोक-विचार की चर्चा उत्पन्न हो जाती है। वे सोचने लगते हैं कि मृत्यु से बचने का क्या उपाय है और मरने के बाद क्या होता है तथा इस संसार की उत्पत्ति का कारण क्या है? उनके हृदयों में यह प्रश्न बड़े वेग से प्रभाव उत्पन्न करने लगता है कि जड़ और चेतन का भेद क्या है और इनके मूलकारणों के प्रत्यक्ष करने की युक्ति क्या है? विद्वानों ने इसी प्रकार की जिज्ञासाओं के ऊहापोह का नाम दर्शन रक्खा है और इस ऊहापोह के अन्तिम उत्तरों को ही उपनिषद् कहते हैं।

इस औपनिषद् ज्ञान के दो विभाग हैं। सृष्टि की उत्पत्ति और नाश के कारणों का अनुसन्धान करना पहला विभाग है और उन कारणों के प्रत्यक्ष करलेनेवाले साधनों का उपयोग करना दूसरा विभाग है। यहाँ हम इन दोनों विभागों से सम्बन्ध रखनेवाले वेदमन्त्रों को एकत्र करके दिखलाते हैं कि वेदों ने इन विषयों का कितना विशाल ज्ञान दिया है। इस सृष्टि को देखकर किसी भी विचारवान् मनुष्य के हृदय में जो सबसे पहले स्वाभाविक प्रश्न उत्पन्न होता है, उसे वेदों ने इस प्रकार कहा है—

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः।
मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्॥

—ऋ० १०।८१।४

अर्थात् कौन-सा वह वन है और कौन-सा वह वृक्ष है जिसकी लकड़ी से यह द्युलोक और पृथिवीलोक बनाया गया है। हे बुद्धिमान् लोगो! अपने मन से पूछो कि इन भुवनों का धारण करनेवाला और उनका अधिष्ठाता कौन है? इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद्गहनं गभीरम्॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास॥
तम आसीत्तमसा गूळ्हमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्॥

—ऋ० १०।१२९।१-३

अर्थात् यह सृष्टि पहले न तो सत्, अर्थात् बनी हुई दशा में थी, न असत्, अर्थात् अभाव अथवा शून्य दशा में थी, न रज अर्थात् बनने की आरम्भिक दशा में थी और न उस समय यह ऊपर का नीला आकाश ही था। उस समय न मृत्यु थी, न जन्म था और न रात्रि थी, न दिन था।

उस समय तम, अर्थात् आरम्भ का पूर्वकाल केवल अन्धकार था और एक हलचलरहति स्वधा (मैटर, माद्दा, माया, प्रकृति) कुहर की भाँति सर्वत्र फैली हुई थी।

इन मन्त्रों में इस सृष्टि के पूर्वरूप का वर्णन करके अब वेद यह बतलाते हैं कि यह सृष्टि तीन अनादि स्वयंभू पदार्थों के मेल से बनती है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥

—ऋ० १।१६४।२०

अर्थात् दो पक्षी एक में मिले हुए मित्रभाव से अपने ही समान एक वृक्ष पर बैठे हैं। इनमें से एक मित्र उस वृक्ष के फलों को खाता है और सुख-दुखों को भोगता है और दूसरा मित्र फलों को न खाता हुआ केवल देखता है।

इन मन्त्र में परमेश्वर, जीव और प्रकृति का वर्णन है। यही तीनों पदार्थ इस संसार का कारण हैं। इन्हीं के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति-विनाश होता है। इन तीनों में से परमेश्वर के विषय में वेद उपदेश करते हैं—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

—यजुः० ३२।११

अर्थात् परमेश्वर सब भूतों, लोकों और सब दिशा-विदिशाओं को सब ओर से व्याप्त करके सत्य और अनादि स्वयंभू आत्मा में भी अच्छी प्रकार प्रवेश किये हुए है।

इस मन्त्र में परमेश्वर का सर्वत्र व्यापकत्व बतलाया गया है। इस व्यापक परमेश्वर के अतिरिक्त दूसरे व्याप्य चेतन जीवों का वर्णन इस प्रकार है—

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिञ्ज्येष्ठमधि श्रितम्॥
यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वाञ्ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥

—अथर्व० १०।८।१९-२०

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥
शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत्॥
बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजयिसी देवता सा मम प्रिया॥
इयं कल्याणयजरा मर्त्यस्यामृता गृहे।
यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः॥
त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥

—अथर्व० १०।८।२३-२७

अर्थात् यह जीव जिसके भीतर ज्येष्ठ ब्रह्म ठहरा हुआ है, वह सत्य से ऊँचा होकर प्रतापी होता है और असत्य से नीचा होकर प्राणों के साथ तिर्यक् योनियों में जीवन धारण करता है। जो इन दोनों (ज्येष्ठ ब्रह्म और प्राण धारण करनेवाले जीव) को यज्ञ की दोनों अरणियों की भाँति जान लेता है, वह ज्येष्ठ ब्रह्म को भी जान लेता है और दूसरे सनातन जीव को भी जान लेता है। ये सनातन जीव रात-दिन की भाँति भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करते रहते हैं और नित नये ही होते रहते हैं। ये सनातन जीव सौ, हज़ार, दश हज़ार, दश करोड़ और असंख्यों की संख्या में उस व्यापक परमात्मा में भी भरे हुए हैं। जब ये उस सर्वज्ञ परमात्मा को प्राप्त होते हैं तभी सबको रुचते हैं। इन दोनों व्याप्य-व्यापक ईश्वर और जीव में एक तो बाल की अनी से भी छोटा है और दूसरा तो बिलकुल ही अदृश्य है। यह जीव उसी अदृश्य प्रिय देवता में चिपकनेवाला, अर्थात् व्याप्य है। यह उस कल्याणकारिणी अजरा और अमृता प्रकृति माता के गर्भरूपी घर में सोता है। हे जीव! तू कभी स्त्री, कभी पुरुष, कभी कुमार, कभी कुमारी होता है और कभी वृद्ध होकर और लाठी लेकर चलता है, इसलिए तू जन्म लेनेवाला सर्वतोमुख है।

इन मन्त्रों में वेदों ने जीव को सनातन असंख्य, व्याप्य, जन्म धारण करनेवाला और परमेश्वर की प्राप्ति से मोक्ष प्राप्त करनेवाला बतलाया है। इसके आगे इस सृष्टि के तीसरे कारण प्रकृति का वर्णन इस प्रकार है—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

—यजुः० २५। २३

अर्थात् अदिति ही द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता है, अदिति ही पिता है, अदिति ही पुत्र है, अदिति ही विश्व के देवता हैं, अदिति ही ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य, शूद्र और अनार्य हैं और अदिति ही पैदा करनेवाली तथा वही पैदा होनेवाली है, अर्थात् यह सारा जगत् अदिति का ही प्रपञ्च है।

इस मन्त्र में अदिति—माया का विशाल रूप दिखलाया गया है। यथार्थ में संसार के समस्त नामरूपात्मक पदार्थ प्राकृतिक ही है। यही बनते और बिगड़ते हैं और इन्हीं के द्वारा संसार का प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता है। कहने का तात्पर्य यह कि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार उनको इस अदिति नामक प्रकृति के शरीररूपी घेरे में बन्द करके और उसी प्रकृति के इस ब्रह्माण्डरूपी बड़े घेरे में छोड़ देता है। इसी का नाम सृष्टि की उत्पत्ति है, परन्तु परमात्मा इस सृष्टि को किस प्रकार उत्पन्न करता है, इस बात का वर्णन वेद में इस प्रकार है—

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत्। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः॥
समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत। अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥

—ऋ० १०। १९०। १-२

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः। स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥

—यजुः० ३१। ५

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्। दिवं च पृथिवीं चान्तारिक्षमथो स्वः॥

—ऋ० १०। १९०। ३

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम्। पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥

—यजुः० ३१। ६

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः। तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

—यजुः० ३१।९

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳬं शूद्रो अजायत॥

—यजुः० ३१।११

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दाᳬंसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—यजुः० ३१।७

अर्थात् ऋत और सत्य (नीति और धर्म) को विचारकर परमात्मा ने तप (ईक्षण) किया। उस ईक्षण से हलचल उत्पन्न हुई और प्रकृतिरूपी अँधेरा हो गया तथा उससे आकाश पैदा हुआ। उस आकाश से वायु और मेघरूप ऊपर का समुद्र और संवत्सररूपी सूर्य हुआ और उसी सूर्य से पृथिवी का समुद्र हुआ और रात–दिन हुए। इसके बाद विराट् हुआ और विराट् के बाद पृथिवी उत्पन्न हुई। परमात्मा ने इन सूर्य, चन्द्र, अन्तरिक्ष, दिन और पृथिवी आदि को उसी प्रकार बना दिया जिस प्रकार उसने इस सृष्टि के पूर्व अन्य भूतसृष्टियों को बनाया था। पृथिवी उत्पन्न हो जाने के बाद उसपर वनस्पति उत्पन्न हुई। वनस्पति के बाद पशु–पक्षी उत्पन्न हुए और पशु पक्षियों के बाद देव, ऋषि, साध्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र उत्पन्न हुए तथा इन्हीं श्रेष्ठ मनुष्यों के हृदयों में ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का उपदेश हुआ।

उपर्युक्त मन्त्रों में सृष्टि उत्पत्ति के क्रम का बहुत ही अच्छा वर्णन है। इन मन्त्रों में बतला दिया गया है कि परमात्मा ने अपनी ईक्षण शक्ति से प्रकृति में प्रेरणा की। प्रेरणा से गति उत्पन्न हुई और गति से आकर्षण उत्पन्न हुआ। आकर्षण से प्रकृति–परमाणु आपस में मिले जिससे रात्रि के समान एक गम्भीर स्थिति उत्पन्न हुई। वह स्थिति जब चक्राकार गति में घूमी तब और भी सघन हो गई और उसके चारों ओर आकाश उत्पन्न हो गया। उस रिक्त स्थान—आकाश में वायु का समुद्र भर गया और वायु समुद्र में ही सूर्य उत्पन्न हुआ, जिससे मेघ, वर्षा, नक्षत्र, पृथिवी और रात–दिन उत्पन्न हुए, अर्थात् यह समस्त सृष्टि उपर्युक्त क्रम के साथ परमात्मा की प्रेरणा से ही उत्पन्न हुई है और इसके उत्पन्न होने का प्रधान कारण जीवों का कर्म और परमेश्वर की न्यायव्यवस्था ही है। उस न्यायकारी, दयामय और कारणों के भी कारण परमपिता परमात्मा का वर्णन वेदों में इस प्रकार किया गया है—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ —ऋ० १।१६४।४६
तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥
सर्वे निमेषा जज्ञिरे विद्युतः पुरुषादधि।
नैनमूर्ध्वं न तिर्य्यञ्चं न मध्ये परि जग्रभत्॥
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः।
हिरण्यगर्भ इत्येष मा मा हिᳬंसीदित्येषा यस्मान्न जात इत्येषः॥
एषो ह देवः प्रदिशोऽनु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः।
स एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सर्वतो मुखः॥

यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया सꣳ रराणस्त्रीणि ज्योतीꣳषि सचते स षोडशी॥ —यजुः० ३२।१-५
स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ —यजुः० ३२।१०
स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः।
—यजुः० ४०।८

अर्थात् इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान्, अग्नि, यम और मातरिश्वा आदि नाम उस एक ही परमात्मा के हैं। वही अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आप और प्रजापति आदि नामों से कहा जाता है। सब निमेषादि कालविभाग उसी के उत्पन्न किये हुए हैं,। वह ऊपर-नीचे, आड़े-तिरछे और बीच से पकड़ा नहीं जा सकता। उसकी कोई नाप नहीं है, क्योंकि उसका नाम बड़े यशवाला है, इसीलिए अनेक वेदमन्त्र उसकी स्तुति करते हैं। वही देव सब दिशा-विदिशाओं में व्याप्त है और वही सबके अन्दर पहले से ही बैठा है। वह सब ओर से प्राणियों में ठहरा हुआ है और वही पहले संसार में प्रसिद्ध होता है और फिर सबको पैदा करता है। जिसके पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ और जो सब भुवनों में अच्छी प्रकार स्थिर है वही सोलह कलावाला पूर्ण प्रजापति समस्त प्रजा में रमण करता हुआ तीन प्रकार की ज्योतियों को—अग्नि, विद्युत् और सूर्य को उत्पन्न करता है। वह कायारहति, छिद्ररहित, नाड़ीरहित, पापरहित है। वह शक्तिस्वरूप, शुद्ध, कवि, मनीषी, दुष्टों से दूर, स्वयंसिद्ध है और शाश्वत प्रजा के लिए सब ओर से व्याप्त होकर यथायोग्य अर्थों को उत्पन्न करता है। वही हमारा बन्धु, पिता, विधाता और सब भुवनों का जाननेवाला है, इसलिए हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमको तृतीय लोक में जहाँ देवता मोक्ष प्राप्त करते हैं, वहाँ पहुँचाए।

इन मन्त्रों में परमात्मा के स्वरूप और उसके कार्य का वर्णन करके मोक्षसुख की याचना की गई है। वेदों में इस प्रकार के मन्त्रों का बहुत बड़ा संग्रह है। सबमें उसके स्वरूप का वर्णन और अपने कल्याण की याचना का वर्णन है। इन वर्णनों के द्वारा संसार के कारणों और कारणों के भी कारण परमात्मा की महत्ता का ज्ञान होता है और जिज्ञासु के हृदय में मोक्ष की अभिलाषा उत्पन्न होती है। यह वैदिक उपनिषद् का पूर्वार्द्ध है। इसके आगे उस कारणस्वरूप परमात्मा को प्रत्यक्ष करके अनन्त ब्रह्मानन्द प्राप्त करने की विधि को भी वेदों ने बतलाया है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥
—यजुः० ३१।१८

अर्थात् उस आदित्यस्वरूप, प्रकाशमान परमात्मा को मैं जानता हूँ। उसी के साक्षात्कार से मनुष्य को मुक्ति प्राप्त होती है, इसके सिवा और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

यो विद्यात् सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥
—अथर्व० १०।८।३७

अर्थात् जिस सूत्र में ये समस्त प्राणी पिरोये हुए हैं, जो मनुष्य उस फैले हुए सूत्र को जानता

है और जो उस सूत्र के भी सूत्र को जानता है, वही उस महान् ब्रह्म को जान पाता है।

इन मन्त्रों में बतलाया गया है कि परमात्मा के साक्षात्कार से ही मोक्ष होता है। अब अगले मन्त्र में वेद उपदेश करते हैं कि परमात्मा सर्वत्र विद्यमान है—

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति। न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः॥

—अथर्व० १।३२।१

अर्थात् हे मनुष्यो! परमात्मा उपदेश करता है कि जिससे वनस्पति आदि प्राणी प्राणधारण करते हैं, वह परमपिता परमात्मा न केवल पृथिवी में है और न केवल द्युलोक ही में है, प्रत्युत वह सर्वत्र परिपूर्ण है।

इस मन्त्र में उसकी सर्वत्र उपस्थिति बतलाई गई है, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उसको सर्वत्र ढूँढते फिरें। इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥
अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ —अथर्व० १०।८।४३-४४

अर्थात् इस नव दरवाज़ेवाले त्रिगुणात्मक शरीर में जो आत्मा की भाँति यक्ष बैठा है, उसको ब्रह्मवेत्ता ही जानते हैं। वह निष्काम, धीर, अमर, स्वयम्भू, रस से तृप्त और पूर्ण है, अतः उसी धीर, अजर, युवा आत्मा को विद्वान् जानकर निर्भय हो जाते हैं। इसके आगे फिर कहते हैं कि—

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्। यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥ —अथर्व० १०।७।१७

अर्थात् जो इस पुरुष के अन्दर ब्रह्म को जानते हैं, वे परमेष्ठी को जानते हैं और जो परमेष्ठी, प्रजापति और ब्रह्म को जानते हैं वे इस समस्त स्कम्भ को जानते हैं।

इन मन्त्रों में जीव ब्रह्म की व्याप्य और व्यापकता बतलाकर स्पष्ट कह दिया है कि जो व्यापक ब्रह्म को जान लेता है वह व्याप्य जीव को भी जान लेता है और एक-दूसरे के परिचय से सबका ज्ञान हो जाता है और मोक्ष हो जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि इस शरीर के अन्दर परमात्मा कैसे ढूँढा जाए। इसका उत्तर देते हुए वेद उपदेश करते है कि परमात्मा को इस शरीर में ढूँढने की तय्यारी करने के साथ-साथ अर्थ और काम के फन्दे से अलग रहना चाहिए।

ईशा वास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ —यजुः० ४०।१-२

ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमपाघ्नत। इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत्॥

—अथर्व० ११।५।१९

अर्थात् परमेश्वर को सर्वत्र परिपूर्ण समझकर उसी के दिये हुए पर सन्तोष करना चाहिए और दूसरों के धन की कभी इच्छा न करनी चाहिए। इस प्रकार का जीवन बनाकर शेष आयु तक कर्म करने से मोक्ष हो जाता है, इसके सिवा और कोई उपाय नहीं है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य से ही इन्द्र देवों से द्युलोक को पूरा करता है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य और तप से ही विद्वान् मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं।

इन मन्त्रों में मुमुक्षु के लिए अर्थ (धन) और काम (रति) का परित्याग बतलाया गया है।

जब अर्थ और काम की इच्छा समूल निवृत्त हो जाए तब किसी ब्रह्मविद्या के जाननेवाले के पास जाकर सत्सङ्ग करना चाहिए। अथर्ववेद में लिखा है कि—

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात्॥ —अथर्व० १०।७।२४

अर्थात् जहाँ ब्रह्मविद् ब्रह्म की उपासना करते हैं, वहाँ जाकर जो मुमुक्षु उनको जानता है—मिलता है, उसी सत्सङ्गी को ब्रह्मा, अर्थात् ब्रह्मनिष्ठ समझना चाहिए।

इन मन्त्र में ब्रह्मविदों का सत्सङ्ग आवश्यक बतलाया गया है। जब सत्सङ्ग में मुमुक्षु ब्रह्मविद्या में निर्भ्रान्त हो जाए तब उसे चाहिए कि वह किसी एकान्त स्थान में निवास करे। ऐसे स्थान का निर्देश करते हुए वेद उपदेश करते हैं कि—

उपह्वरे गिरीणां संगथे च नदीनाम्। धिया विप्रो अजायत॥ —ऋग्वेद ८।६।२८

अर्थात् पहाड़ों की कन्दराओं और नदियों के सङ्गमों में ही मुमुक्षु की बुद्धि का विकास होता है। ऐसे शान्त और उपद्रवरहित स्थान में निवास करके योग का अनुष्ठान करना चाहिए। वेद उपदेश करते हैं कि—

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ —अथर्व० १०।२।२७

अर्थात् मनुष्य का जो शिर है, वह ज्ञान-विज्ञान का कोश है। उस शिर की प्राण, मन और अन्न रक्षा करते हैं।

इस मन्त्र में विचार करने का अङ्ग शिर बतलाया गया है और उसके साथ अन्न, मन और प्राणों का सम्बन्ध भी बतलाया गया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि अन्न, प्राण, मन और विचारों की शृङ्खला का क्रम है, क्योंकि विचारों के रोकनेवाले को मन रोकना पड़ता है, मन रोकनेवाले को प्राण रोकना पड़ता है और प्राण रोकनेवाले को अन्न का नियन्त्रण करना पड़ता है। तात्पर्य यह कि मुमुक्षु को एकान्त में युक्ताहार होकर प्राणों के निग्रह में लग जाना चाहिए और मन तथा विचारों के प्रवाह को बन्द कर देना चाहिए। इस योगक्रिया के लिए वेद उपदेश करते हैं कि—

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥ —ऋ० ५।८१।१
युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितुः सवे। स्वर्ग्याय शक्त्या॥ —यजुर्वेद ११।२
युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्वि श्लोक एतु पथ्येव सूरेः।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः॥ —यजुः० ११।५

अर्थात् बड़े-बड़े यज्ञ-याग करनेवाले और विद्वानों से भी अधिक विद्वान् अपना मन और बुद्धि उस एक ही महान् देवाधिदेव परमात्मा में युक्त करते हैं। पूरी शक्ति से हम लोग स्वर्गीय सुखों के लिए अपने मन को सविता देव में जोड़ते हैं। सब लोग यह बात कान खोलकर सुन लें कि पूर्वजों ने योगबल से ही सूर्यमार्ग से यात्रा की है, इसलिए जो योग करेगा—ब्रह्म में मन लगाएगा—वही उस उत्तम गति को प्राप्त होगा।

इन मन्त्रों में योग का बहुत बड़ा महत्त्व बतलाया गया है, क्योंकि योग का सम्बन्ध मन से है। मन को एकाग्र करके उसे परमात्मा में लगाना ही योग है, इसीलिए वेद में मन को कल्याणकारी बनाने का बहुत बड़ा उपदेश है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येन कर्माण्यपसो मनीषिणो यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यत्प्रज्ञानमुत चेतो धृतिश्च यज्ज्योतिरन्तरमृतं प्रजासु।
यस्मान्न ऋते किं चन कर्म क्रियते तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत्परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
यस्मिन्नृचः सामयजूᳩषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः।
यस्मिँश्चित ᳪ सर्वमोतं प्रजानां तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥
सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

—यजुः० ३४।१–६

अर्थात् जो सोते और जागते समय दूर–दूर जाता है, वह दूर–दूर तक जानेवाला ज्योतिरूप मेरा मन शुभ सङ्कल्पवाला हो। जिसके द्वारा बुद्धिमान् और धीर पुरुष नाना प्रकार के सुकर्मों का अनुष्ठान करते हैं, वह सबके अन्दर बैठा हुआ अपूर्व शक्तिवाला मेरा मन उत्तम विचार करनेवाला हो। जो प्रज्ञान, चेतना और धारणा शक्तिवाला है, जो अन्तर्ज्योति है, जो सब प्राणियों में अविनाशी सत्तारूप से विराजमान है और जिसके विना किञ्चिन्मात्र भी कोई काम नहीं हो सकता, वह मेरा मन शिवसंकल्पवाला हो। जिसने अपनी अमरता से भूत, भविष्य और वर्त्तमान को ग्रहण कर रक्खा है और जिसकी सहायता से आँख, नाक, कान और जिह्वा आदि सातों कार्यकर्त्ता इस शरीर के व्यवहार को कर रहे हैं, वह मेरा मन कल्याणकारी विचारवाला हो। जिसमें ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद रथचक्र के आरों की भाँति जुड़ रहे हैं और जिसमें सब प्राणियों के चित्त ओतप्रोत हैं, वह मेरा मन शुभ विचारवाला हो। जिस प्रकार अच्छा सारथि रथ के घोड़ों को चलाता है, उसी प्रकार हृदय में बैठा हुआ और अपने क्रियाबल से मनुष्यों को नियम में चलानेवाला मेरा मन शुभ संकल्पवाला हो।

इन मन्त्रों में मन की महत्ता बतलाते हुए उसको उत्तम विचारवाला बनाने का उपदेश किया गया है, जिससे योगसिद्धि में शीघ्र सहायता मिले। यह योग मनुष्य का अन्तिम पुरुषार्थ है। मनुष्य योगानुष्ठान करके जप, तप, तितिक्षा और समाधि तक अपना पुरुषार्थ कर सकता है, परन्तु यदि परमात्मा इतने पर भी मुमुक्षु के हृदय में स्वयं प्रकट होकर उसे दर्शन न दे और मोक्ष प्राप्त न हो तो वह अपने पुरुषार्थ से उसे प्रकट होने के लिए और मोक्ष देने के लिए विवश नहीं कर सकता। इसलिए उसके शरणागत होकर दर्शन और मोक्ष के लिए प्रार्थना करता है। वेद में परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करने का उपदेश इस प्रकार है—

यत्र ब्रह्मा पवमान छन्दस्यां३ वाचं वदन्।
ग्राव्णा सोमे महीयते सोमेनानन्दं जनयन्निन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ६॥
यत्र ज्योतिरजस्त्रं यस्मिँल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन्मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षित इन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ७॥

यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः ।
यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ८ ॥
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ९ ॥
यत्र कामा निकामाश्च यत्र ब्रध्नस्य विष्टपम् ।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ १० ॥
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परि स्रव॥ ११ ॥

—ऋ० ९।११३।६-११

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा॥ —अथर्व० १९।४३।८

अर्थात् जहाँ वेदवेत्ता ब्रह्मा अथर्ववाणी को बोलता हुआ योग द्वारा परमात्मा को प्राप्त होता है और परमात्मा के द्वारा आनन्द पाता है, वहीं हे परमात्मन्! इस योगी को भी अमृतबिन्दु देकर—दर्शन देकर पहुँचाइए। जहाँ निरन्तर ज्योति का प्रकाश होता है और जहाँ सब सुख-ही-सुख है उस अक्षय आनन्द में मुझे पहुँचाइए। जहाँ वैवस्वत राजा है, जहाँ का द्युलोक दरवाज़ा है और जहाँ अमृत जल की वृष्टि होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिए। जहाँ इच्छानुसार विचरण होता है और जहाँ ज्योतिरूप स्थान है, उसी तीसरे द्युलोक के उस पार मुझे अमर कीजिए। जहाँ सब कामनाएँ पूर्ण हो जाती है, जहाँ सबसे बड़ा सुख प्राप्त होता है और जहाँ स्वधा तथा हर प्रकार की तृप्ति होती है, वहाँ मुझे अमर कीजिए। जहाँ पूर्ण हर्ष, पूर्ण प्रसन्नता, पूर्ण सुख और पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है और जहाँ सब इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं, वहीं हे परमात्मन्! दर्शन देकर मुझे पहुँचाइए। जहाँ ब्रह्मविद् विद्वान् तप और दीक्षा के प्रताप से जाते हैं हे ब्रह्म! मुझमें ब्रह्म को धारण करके वहीं पहुँचाइए।

इन मन्त्रों में परमात्मा से प्रार्थना की गई है कि मुझे पहले दर्शन दीजिए, जिससे मैं जीवन्मुक्त हो जाऊँ और फिर मरने के बाद तृतीय लोक के बाहर जहाँ प्राकृतिक जगत् का लेश भी नहीं है, और जहाँ केवल ब्रह्म-ही-ब्रह्म है वहाँ सदा के लिए पहुँचा दीजिए। इस प्रकार की निरन्तर प्रार्थना से समाधिस्थ निश्चल आत्मा में परमात्मा प्रकट हो जाता है। उस समय वह जीवन्मुक्त कहता है कि—

यो भूतानामधिपतिर्यस्मिँल्लोका अधि श्रिताः। य ईशे महतो महाँस्तेन गृह्णामि त्वामहं मयि गृह्णामि त्वामहम्। —यजुः० २०।३२

अर्थात् जो सब भूतों का अधिपति है, जिसमें सब लोक ठहरें हैं, जो बड़ों से भी बड़ों का स्वामी है, उस तुझ परमात्मा को मैं ग्रहण करता हूँ—अपने अन्दर तुझको ग्रहण करता हूँ।

इस मन्त्र में जीवन की अन्तिम सफलता का वर्णन है। इस प्रकार मनुष्य ईश्वरदर्शन से कृतार्थ होकर, सब प्रकार की शंकाओं से निवृत्त होकर और सब-कुछ जानकर शेष जीवन में लोगों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश करता हुआ प्रसन्नता से मृत्यु को प्राप्त होता है और मुक्त हो जाता है। यह वैदिक उपनिषद् का उत्तरार्द्ध है।

वेदों में आरम्भ से लेकर अन्त तक इसी प्रकार की शिक्षा है, जिसका नमूना हमने शिक्षा के पृथक्-पृथक् आठ विभागों में अच्छी प्रकार दिखला दिया है। हमारा दृढ़ विश्वास है कि जितनी

विस्तृत शिक्षा वेदों में हैं यदि उतनी शिक्षा विधिपूर्वक किसी भी मनुष्यसमाज को दी जाए तो वह समाज हर विभाग में सरलता से अपनी उन्नति अच्छी प्रकार कर सकता है, परन्तु आजकल की-सी विस्तृत उन्नति वेदों की दृष्टि से समस्त मनुष्यजाति और समस्त प्राणिसमूह के लिए कल्याणकारी नहीं है, इसीलिए वैदिकों ने अकेले वेद को ही एक पूर्ण साहित्य का काम देनेवाला माना है। वेद स्वयं समस्त मनुष्योपयोगी शिक्षा दे देते हैं, इसलिए वे किसी अन्य ग्रन्थ या अन्य साहित्य के अधीन नहीं हैं। वेद अकेले ही अपनी शिक्षा से मनुष्य को इस योग्य बना देते हैं कि वह अपना प्रत्येक आवश्यक कार्य सरलता से कर सकता है और अपने ज्ञान को विस्तृत भी कर सकता है। यज्ञों का वर्णन करते हुए द्वितीय खण्ड में हम लिख आये हैं कि आदिमकाल से मध्यकालपर्यन्त वैदिक आर्यों ने इसी मौलिक ज्ञान के कारण बहुत बड़ी उन्नति की थी और अपनी एक विशेष सभ्यता स्थापित की थी, जिसमें आदि से अन्त तक सम्पूर्ण वेद ही चरितार्थ थे। आगे हम उसी आदिम वैदिक आर्यसभ्यता के आदर्श का वर्णन करते हैं और दिखलाते हैं कि किस प्रकार अकेला वैदिक ज्ञान मुष्यसमाज को उन्नति के आदर्श शिखर तक पहुँचाता है।

वैदिक आर्यों की सभ्यता

हमने अभी गत पृष्ठों में वेदमन्त्रों की शिक्षा का जो सारांश दिखलाया है वह केवल वेदों की शोभा, प्रतिष्ठा और महत्त्व बढ़ाने के ही लिए नहीं है, प्रत्युत यह बतलाने के लिए है कि वेदों की इसी शिक्षा के द्वारा वैदिक आर्यों ने अपनी एक विशेष सभ्यता स्थिर की है जो आदिसृष्टि से लकर आजपर्यन्त जीवित है। हमने जो मनुष्यों की स्वाभाविक इच्छाओं से लेकर मोक्षसुखपर्यन्त वेदमन्त्रों की शिक्षा का क्रम दिया है, इसी अन्तिम पारलौकिक मोक्षप्राप्ति की सुदृढ़ भूमिका पर आर्यों ने अपनी सभ्यता का भवन स्थिर किया है। उन्होंने अपना अन्तिम ध्येय मोक्ष को ही माना है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि मोक्ष भी इस संसार के द्वारा प्राप्त होता है, इसलिए मुमुक्षु को इस संसार के तत्त्व का और उसके उचित उपयोग का ज्ञान प्रास करना अनिवार्य होता है। संसार का तत्त्वज्ञान और उसका उचित उपयोग ही मोक्ष का साधक है, इसीलिए आर्यों ने संसार का उपयोग करते हुए मोक्ष प्राप्त करने की विधि को अपनी सभ्यता का मूल ठहराया है और उस विधि को चार भागों में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के नामों से विभक्त किया है।

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष

अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष आर्यों की सभ्यता की आधारशिलाएँ हैं। इनमें मनुष्य की वे समस्त अभिलाषाएँ अन्तर्भूत हो जाती हैं जिनका उल्लेख वेदों के मन्त्रसंग्रह के आदि में किया है, क्योंकि मनुष्य के शरीर में आवश्यकताओं को चाहनेवाले चार ही स्थान हैं और ये चारों पदार्थ उनकी पूर्ति कर देते हैं। मनु भगवान् अपने एक श्लोक में कहते हैं कि—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति। विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

—मनुस्मृति [५। १०९]

अर्थात् पानी से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा तथा ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है।

इस श्लोक में शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा की गणना अलग-अलग की गई है। हम देख रहे हैं कि इन चारों की जहाँ पानी आदि अलग-अलग चार पदार्थों से शुद्धि होती है, वहाँ इन शरीरादि चारों अङ्गों को अलग-अलग चार पदार्थों की आवश्यकता भी होती है। ये चारों आवश्यक पदार्थ अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ही हैं।

शरीरपोषण के लिये अर्थ की, मनसन्तुष्टि के लिए काम की, बुद्धि के लिए धर्म की और आत्मा की शान्ति के लिए मोक्ष की आवश्यकता होती है, क्योंकि बिना भोजनादि (अर्थ) के शरीर निकम्मा हो जाता है, बिना काम (स्त्री) के मन निकम्मा हो जाता है, विना मोक्ष (अमरता) के आत्मा निकम्मा हो जाता है और विना धर्म (सत्य और न्याय) के बुद्धि निकम्मी हो जाती है। अर्थ और शरीर का, काम और मन का तथा मोक्ष और आत्मा का सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष ही है, इसमें किसी को शंका नहीं हो सकती, परन्तु धर्म और बुद्धि का सम्बन्ध सुनकर सम्भव है लोग कहने लगें कि यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि संसार के धर्मों को बुद्धि का साथ करते हुए नहीं देखा जाता, परन्तु हम जिस वैदिक धर्म की बात कर रहे हैं उसकी दशा ऐसी नहीं है। वैदिक धर्म बुद्धिपूर्वक ही है। इसका कारण यही है कि वैदिक धर्म वेदों के द्वारा स्थिर किया गया है और वेद '**बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे**' के अनुसार बुद्धिपूर्वक हैं, इसलिए इस धर्म पर वह शंका नहीं हो सकती। दूसरी बात यह है कि बुद्धि ज्ञान से सम्बन्ध रखती है। जैसे-जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है वैसे ही बुद्धि का विकास होता है, इसलिए बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के दो विभाग हैं। जिस प्रकार बुद्धि और ज्ञान एक ही वस्तु के दो विभाग हैं उसी प्रकार धर्म और ज्ञान भी एक ही वस्तु के दो विभाग हैं, क्योंकि देखा जाता है कि जैसे-जैसे ज्ञान की वृद्धि होती है वैसे-ही-वैसे धर्म की वृद्धि होती है। धर्म में जितना ही ज्ञानांश होता है और ज्ञान में जितना ही धर्मांश होता है बुद्धि में उतनी ही स्थिरता होती है। इसी सिद्धान्त पर पहुँचकर यूरोप का प्रसिद्ध विद्वान् हक्सले कहता है कि 'सच्चा विज्ञान और सच्चा धर्म दोनों यमज भाई हैं। इनमें से यदि एक दूसरे से अलग कर दिया जाएगा तो दोनों की मृत्यु हो जाएगी। विज्ञान में जितनी ही अधिक धार्मिकता होगी, उतनी ही अधिक उसकी उन्नति होगी। विज्ञान का अभ्यास करते समय मन की धार्मिक वृत्ति जितनी ही अधिक होगी विज्ञानविषयक खोज उतनी ही अधिक गहरी होगी और उसका आधार जितना ही अधिक दृढ़ होगा धर्म का विकास भी उतना ही अधिक होगा। तत्त्ववेत्ताओं ने अब तक जो बड़े-बड़े काम किये हैं उन्हें केवल उनके बुद्धिवैभव का ही फल न समझिए, किन्तु उनकी धार्मिक वृत्ति ही इसमें अधिक कारणीभूत है'[१]। इसलिए धर्म का ज्ञान के साथ और ज्ञान का बुद्धि के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं।

जिस प्रकार धर्म से बुद्धि का सम्बन्ध है, उसी प्रकार अर्थ से शरीर का, काम से मन का और मोक्ष से आत्मा का भी सम्बन्ध है। इन्हीं अर्थ, धर्म, कामादि में मनुष्य के जीवन, रति, मान, ज्ञान, न्याय और परलोक आदि की समस्त कामनाओं का समावेश हो जाता है, अर्थात् जीवन की अभिलाषा अर्थ में, स्त्री-पुत्रादि की काम में, मान-ज्ञान और न्याय की धर्म में और परलोक की कामना मोक्ष में समा जाती है, अर्थात् समस्त ऐषणाओं का समावेश अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष में हो जाता है और चारों पदार्थ एक-दूसरे के आधार-आधेय बन जाते हैं। जिस प्रकार अर्थ अर्थात् भोजन वस्त्रादि के बिना शरीर की स्थिति नहीं रह सकती और न काम, अर्थात् रति के बिना शरीर उत्पन्न हो ही सकता है और न बिना शरीर और शरीर-निर्वाह के मोक्षसाधन ही हो सकता है, उसी प्रकार बिना मोक्षसाधन के—बिना मोक्षमार्ग-निर्धारण किये अर्थ और काम को भी सहायता नहीं मिल सकती, क्योंकि अर्थ और काम के समस्त पदार्थ प्राय: मनुष्यों, पशुओं और वनस्पतियों से ही प्राप्त होते हैं। ये सभी जीव हैं और कर्मफल भोग रहे हैं। इनका भी उद्धार तभी हो सकता है जब ये कर्मफल भोगकर मनुष्यशरीर में आवें और यहाँ मोक्ष का मार्ग खुला हुआ पाएँ, इसलिए मोक्ष की सच्ची कामना से ही अर्थ और काम को, अर्थात् मनुष्यों, पशुओं

१. हर्बर्ट स्पेंसर-रचित 'एजुकेशन' नामक ग्रन्थ से उद्धृत।

और वनस्पतियों को सहायता मिल सकती है। मोक्ष की सच्ची कामना के बिना अर्थ और काम का उचित उपयोग हो ही नहीं सकता और बिना उचित उपयोग के अर्थी स्वार्थी हो जाते हैं और कामनावाले कामी हो जाते हैं तथा स्वार्थी और कामी मिलकर समाज को नष्ट कर देते हैं, इसीलिए कहा है कि मोक्ष से अर्थ और काम को सहायता मिलती है, किन्तु प्रश्न यह होता है कि अर्थ-काम से मोक्ष को और मोक्ष से अर्थ-काम को परस्पर उचित सहायता दिलानेवाला नियम कौन-सा है? इसका उत्तर स्पष्ट है कि अर्थ, काम और मोक्ष में सामञ्जस्य उत्पन्न करनेवाला धर्म है। धर्मपूर्वक मोक्षसाधन से अर्थ और काम की उचित व्यवस्था हो जाती है और धर्मपूर्वक अर्थ-काम को ग्रहण करने से मोक्ष सुलभ हो जाता है। इस प्रकार ये चारों पदार्थ एक-दूसरे के सहायक हो जाते हैं। यद्यपि ये चारों पदार्थ परस्पर एक-दूसरे के सहायक हैं और अपने-अपने कार्य में चारों बड़े महत्त्व के हैं, परन्तु चारों में मोक्ष का स्थान सबसे ऊँचा है। मोक्ष की महत्ता का कारण मृत्यु के दुःखों से छूट जाना है। मनुष्य की समस्त अभिलाषाओं में दीर्घातिदीर्घ जीवन की अभिलाषा ही सर्वश्रेष्ठ है। जीवन के मुक़ाबले में मनुष्य अर्थ, काम, मान, न्याय और ज्ञान की परवाह नहीं करता। इस बात का प्रमाण मरने के समय ही मिलता है, इसलिए जिस साधन से मृत्यु का भय सदैव के लिए दूर हो जाए—जिसके प्राप्त हो जाने पर मृत्यु के कारणरूप इस जन्म ही का अभाव हो जाए—उस मोक्ष की समता कौन कर सकता है? यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता को मोक्षप्राप्ति के उच्च आदर्श पर स्थिर किया है और केवल धर्मपूर्वक प्राप्त अर्थ और काम को ही उसका सहायक माना है, धर्मविरुद्ध को नहीं। धर्मपूर्वक अर्थ और काम को ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए ही आर्यों को अपना जीवन धार्मिक बनाने की शिक्षा दी गई है, इसीलिए वे ब्रह्मचर्याश्रम से लेकर संन्यासपर्यन्त सन्ध्योपासन, प्राणायाम और योगाभ्यास द्वारा अपने जीवन को मोक्षाभिमुखी बनाते हैं।

मोक्ष की प्रधानता

मोक्षप्राप्ति के मार्ग में चलनेवाले को दो बातों की आवश्यकता होती है—एक तो सृष्टि-उत्पत्ति के कारणों का जानना और कारणों के कारण ईश्वर को प्राप्त करना, दूसरे सृष्टि के उपयोग करने की विधि का समझना। सृष्टि के कारणों और ईश्वर की प्राप्ति के उपायों के ज्ञान से सृष्टि, प्रलय, जीव, ईश्वर, कर्म, कर्मफल और ईश्वर-जीव के संयोग तथा उनकी प्राप्ति आदि का रहस्य खुल जाता है और सृष्टि के उपयोग करने की विधि के ज्ञान से अर्थ और काम के उपभोग का तात्पर्य समझ में आ जाता है तथा दोनों के मौलिक ज्ञान और उचित उपयोग से मोक्ष हो जाता है। अर्थ और काम के फेर से छूटने का नाम मोक्ष है, परन्तु बिना इन दोनों के फेर में पड़े मोक्ष होता भी नहीं। ऐसी सूरत में धर्म का सहारा लेकर ही दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न किया जा सकता है, क्योंकि सभी को अर्थ की आवश्यकता है। भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी के बिना किसी का निर्वाह ही नहीं होता। ये सभी पदार्थ, संसार (सृष्टि) से ही लेने पड़ते हैं। इसी प्रकार सबको काम की भी आवश्यकता होती है। सभी लोग स्त्री, बच्चे, शोभा, शृङ्गार और ठाट-बाट की इच्छा रखते हैं। ये पदार्थ भी सृष्टि से ही लिये जाते हैं, अर्थात् आदि से अन्त तक व्यक्ति या समाज को जो कुछ आवश्यक होता है वह सब संसार से ही—सृष्टि से ही लिया जाता है, इसलिए जब तक संसार के कारणों का ज्ञान न हो जाए तब तक उसके कार्य का यथार्थ उपयोग हो ही नहीं सकता, तब तक यह ज्ञात ही नहीं हो सकता कि हमको इस सृष्टि से—इस संसार से क्या-क्या, कितना-कितना, कब-कब और किस-किस प्रकार ग्रहण करना चाहिए, इसीलिए आर्यों ने सबसे पहले संसार के कारणों का पता लगाया है। यहाँ हम अर्थ और काम को

देनेवाली सृष्टि के कारणों का वर्णन करते हैं और दिखलाते हैं कि उन कारणों से उत्पन्न कार्य ही अर्थ और कामरूप से संसार में विद्यमान हैं, अतः इसका उचित उपयोग करते हुए ही मोक्ष प्राप्त करना चाहिए।

कारणों से ही कार्य होता है और कारण ही कार्य में अवतरित होकर अनेक प्रकार के नियमों में परिवर्तन हो जाता है, इसीलिए जब कार्य से कारण का अनुसन्धान किया जाता है तब कार्य के नियमों का ही निरीक्षण किया जाता है। हमें सृष्टि के कारणों को जानना है, अतएव आवश्यक है कि हम भी इस कार्यरूप सृष्टि के कारणों का अनुसन्धान करें।

नियमों से कारणों का पता

इस कार्यरूप सृष्टि में तीन नियम बहुत ही स्पष्टरूप से दिखलाई पड़ते हैं। एक तो यह कि इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ नियमपूर्वक परिवर्तनशील है, दूसरा यह कि प्रत्येक जाति के प्राणी अपनी जाति के ही अन्दर उत्तम, मध्यम और निकृष्ट स्वभाव से पैदा होते हैं और तीसरा यह कि इस विशाल सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है, वह सब नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है।

इन तीनों प्रत्यक्ष नियमों में सबसे पहला नियम नियमित परिवर्तनशीलता का है। बड़े-बड़े सूर्यादि ग्रह-उपग्रहों से लेकर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतङ्ग और तृण-पल्लव तक में नित्य परिवर्तन दिखलाई पड़ता है। जिस पदार्थ की आज से सौ वर्ष पूर्व जैसी स्थिति थी, वह आज नहीं है और जो आज है वह सौ वर्ष बाद न रहेगी। जन्म, बाल, युवा और विनाश का क्रम जारी है और **'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'**[१] के अनुसार उत्पन्न होकर नष्ट होने का नियमित नियम परिवर्तनरूप से चल रहा है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह परिवर्तन का नियम इस सृष्टि का स्वाभाविक गुण नहीं है, क्योंकि स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। जो लोग कहते हैं कि इस सृष्टि का परिवर्तन ही स्वभाव है, वे ग़लती पर हैं। वे भूल जाते हैं कि परिवर्तन नाम अस्थिरता है और स्वभाव में अस्थिरता नहीं होती। फेरफार, उलट-पलट आदि अस्थिर गुण तो नैमित्तिक हैं, स्वाभाविक नहीं। स्वाभाविक गुण तो वही हैं, जिनका अपने द्रव्य के साथ समवायसम्बन्ध है—नित्यसम्बन्ध है, इसलिए इस सृष्टि का परिवर्तन ही स्वभाव मानना उचित नहीं है। परिवर्तन ही स्वभाव मानने से प्रकृति में अनन्त परिवर्तन, अर्थात् अनन्त गति माननी पड़ेगी और एक समान अनन्त गति मानने से संसार में किसी प्रकार के ह्रास-विकास के मानने का अवकाश न रहेगा, किन्तु सृष्टि में पदार्थों के बनने और बिगड़ने का क्रम नित्य देखा जाता है, इसलिए सृष्टि का परिवर्तन नैमित्तिक ही प्रतीत होता है, स्वाभाविक नहीं।

बनने और बिगड़ने तथा जन्म और मृत्यु के नित्य दर्शन से ज्ञात होता है कि यह सृष्टि अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों से बनी है। संसार का चाहे जो पदार्थ लीजिए वह झुक जाएगा, टेढ़ा हो जाएगा और टूट जाएगा। यहाँ तक कि बिजली और ईथर भी टूट जाता है, अतएव सिद्ध होता है कि समस्त संसार छोटे-छोटे परमाणुओं से ही बना है, क्योंकि यदि परमाणु-संघात से संसार न बना होता और केवल एक ठोस वस्तु से ही बना होता तो न इसमें परिवर्तन ही होता और न कभी कोई वस्तु बनती-बिगड़ती ही, किन्तु हम पदार्थों को नित्य बनते-बिगड़ते और परिवर्तित होते देख रहे हैं, इसलिए सृष्टि के इस परिवर्तनरूपी प्रधान नियम के द्वारा कह सकते हैं कि सृष्टि के मूलकारणों में से यह एक प्रधानकारण है जो खण्ड-खण्ड, परिवर्तनशील और

---

१. गीता २।२७

परमाणुरूप से विद्यमान है, परन्तु प्रश्न होता है कि क्या ये परमाणु चेतन और ज्ञानवान् भी हैं। इसका उत्तर बहुत ही सरल है। यदि ये परिवर्तनशील परमाणु ज्ञानवान् भी होते तो वे नियमपूर्वक काम न करते, क्योंकि चेतन और ज्ञानवान् दूसरे के बनाये हुए नियमों में बँध ही नहीं सकता। वह सदैव अपनी ज्ञान-स्वतन्त्रता से निर्धारित नियमों में बाधा पहुँचाता है, परन्तु हम देखते हैं कि सृष्टि के परमाणु बड़ी ही सचाई से अपना काम कर रहे हैं। शरीर में या सृष्टि के अन्य जड़ पदार्थों में जिस स्थान पर लगा दिये गये हैं वहाँ आँख बन्द करके अपना काम कर रहे हैं और तनिक भी इधर-उधर नहीं होते। इससे ज्ञात होता है कि इस सृष्टि का परिवर्तनशील कारण जो परमाणुरूप से विद्यमान है, वह ज्ञानवान् नहीं किन्तु जड़ है। इसी जड़, परिवर्तनशील और परमाणुरूप उपादानकारण को माया, प्रकृति, परमाणु, माद्दा और मैटर नामों से कहा गया है और संसार के कारणों में से एक समझा जाता है।

सृष्टि का दूसरा नियम प्राणियों के उत्तम और निष्कृट स्वभाव का है। अनेक मनुष्य स्वभाव से ही बड़े प्रतिभावान्, सौम्य और दयावान् होते हैं और अनेक मूर्ख, उद्दण्ड तथा निर्दय होते हैं। इसी प्रकार अनेक गौ, घोड़ा आदि पशु स्वभाव से ही सीधे—ग़रीब होते हैं और अनेक क्रोधी और दौड़-दौड़कर मारनेवाले होते हैं। इसी प्रकार बहुत-से वृक्ष मीठे फलों से मनुष्यों की तृप्ति करते हैं और बहुत-से वृक्ष ऐसे भी हैं जो पास में आये हुए प्राणियों को पकड़कर चूस लेते हैं और खा जाते हैं। इस प्रकार समस्त प्राणिसमूह के स्वभावों में विरोध है। यह स्वभावविरोध शारीरिक, अर्थात् भौतिक नहीं है, प्रत्युत आध्यात्मिक है जो चैतन्य, बुद्धि और ज्ञान से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार के बुद्धि-सम्बन्धी प्रमाण वृक्षों में पाये जाते हैं। २४ फर्वरी सन् १९३० के लीडर पत्र में छपा है कि 'बग़ीचों में पड़े हुए नलों के सूराख़ों को वृक्ष ताड़ लेते हैं और उन सूराखों में अपनी जड़े डाल देते हैं। इसी प्रकार एक बेल ऐसी है जो किसी वृक्ष की चोटी तक जाकर भूमि पर वापस आती है और फिर दूसरे वृक्ष पर चढ़ने के लिए दौड़ती है, चाहे भले वह वृक्ष पचास गज़ की दूरी पर क्यों न हो'[१], परन्तु यह न समझना चाहिए कि यह ज्ञान प्राणियों के सारे शरीर में व्याप्त है। यह सारे शरीर में व्याप्त नहीं है, क्योंकि यदि सारे शरीर में व्याप्त होता तो हाथ, पैर, नाक और कान के कट जाने पर वह भी कट जाता और कटा हुआ ज्ञानांश कम हो जाता है, परन्तु हम देखते हैं कि दोनों टाँगें जड़ से काट देने पर भी किसी गणितज्ञ के गणितसम्बन्धी ज्ञान में या इतिहासज्ञ की इतिहास-सम्बन्धी स्मरणशक्ति में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता और न उसको यही प्रतीत होता है कि मेरा ज्ञान पहले से कम है, इसलिए यह निश्चित और निर्विवाद है कि ज्ञानवाली शक्ति सारे शरीर में व्याप्त नहीं है, प्रत्युत वह एकदेशी, परिच्छिन्न और अणुरूप ही है, क्योंकि सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमियों में भी विद्यमान है। यदि सारे शरीर में व्याप्त होती तो शरीर के बढ़ने के साथ उसको भी बढ़ना पड़ता और शरीर के कटने के साथ उसे भी संकुचित होना पड़ता, अर्थात् उसकी दशा ठीक रबर या स्प्रिंग की भाँति होती और बिना अनेक परमाणु-संघात के इस प्रकार का ह्रास विकास न हो सकता, परन्तु जैसाकि हम इसी पुस्तक के पृष्ठ १२३ पर लिख आये हैं कि ज्ञानवान् तत्त्व संयुक्त परमाणुओं से नहीं बन सकता और न

१. Trees have almost as wonderful a sense of direction as birds. Should there be a leak in an under-ground water-pipe in a park or garden, a neighbouring tree is almost sure to find it out, and extending its roots in that direction, project a shoot through the break into the pipe. Even more extraordinary is the performance of the rattan, a climbing palm common in tropical countries. When it has climbed a tree, it goes over the top and comes down again to the ground. Then growing at the rate of a foot every twenty-four hours, it sets out straight for the next tree, which may be over 50 yards away.

अनेक अज्ञानी परमाणु एक स्थान पर एकत्र होकर परस्पर ज्ञानसंवाद ही जारी रख सकते हैं, इसलिए यह शक्ति रबर की भाँति घटने-बढ़नेवाली और अनेक परमाणुओं के संयोग से बनी हुई वस्तु नहीं है, प्रत्युत स्वयंसिद्ध, असंयुक्त, अणु और ज्ञानवान् वस्तु है। इसके अतिरिक्त वह शक्ति असंख्य भी प्रतीत होती है, क्योंकि एक मनुष्य का अनुभव समस्त मनुष्यों और प्राणियों में आप-ही-आप फैलता हुआ नहीं देखा जाता। कोलकत्तेवाला मनुष्य जिस समय हवड़ा के पुल से जिस नाव को देख रहा है, उसी समय समस्त संसार के मनुष्य उसी नाव को नहीं देख रहे। इससे ज्ञात होता है कि प्रत्येक शरीर में एक अणु, परिच्छिन्न और ज्ञानवान् स्वतन्त्र सत्ता विद्यमान है जो अपने स्वभाव के अनुसार उत्तम अथवा निकृष्ट आचरण से सूचित होती है। इसी को लोग जीव, रूह और सोल के नाम से पुकारते हैं और यही सृष्टि का दूसरा कारण है जो सृष्टि के इस व्यापक नियम से ही ज्ञात हो रहा है।

सृष्टि का तीसरा नियम यह है कि इस विस्तृत सृष्टि में जो कुछ कार्य हो रहा है वह नियमित, बुद्धिपूर्वक और आवश्यक है। सूर्य, चन्द्र और समस्त ग्रह-उपग्रह अपनी-अपनी नियत धुरी पर नियमित रूप से भ्रमण कर रहे हैं। पृथिवी अपनी दैनिक और वार्षिक गति के साथ अपनी नियत सीमा में घूम रही है। वर्षा, सर्दी और गर्मी नियत समय में होती हैं। मनुष्य और पशु-पक्ष्यादि के शरीरों की बनावट, वृक्षों में फूलों और फलों की उत्पत्ति, बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज का नियम और प्रत्येक जाति की आयु और भोगों की व्यवस्था आदि जितने इस सृष्टि के स्थूल-सूक्ष्म व्यवहार हैं, सबमें व्यवस्था, प्रबन्ध और नियम पाया जाता है। नियामक के नियम का सबसे बड़ा चमत्कार तो प्रत्येक प्राणी के शरीर की वृद्धि और ह्रास में दिखलाई पड़ता है, क्यों एक बालक नियत समय तक बढ़ता है और क्यों एक जवान धीरे-धीरे ह्रास की ओर—वृद्धावस्था की ओर जाता है, इस बात को कोई नहीं कह सकता। यदि कोई कहे कि वृद्धि और ह्रास का कारण आहार आदि पोषक पदार्थ हैं तो ठीक नहीं, क्योंकि हम प्रतिदिन देखते हैं कि एक ही घर में, एक ही परिस्थिति में और एक ही आहार-विहार के साथ रहते हुए भी छोटे-छोटे बच्चे बढ़ते जाते हैं और जवान वृद्ध होते जाते हैं तथा वृद्ध अधिक जर्जरित होते जाते हैं। इन प्रबल और चमत्कारिक नियमों से सूचित होता है कि इस सृष्टि के अन्दर एक अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानरूपा चेतनशक्ति विद्यमान है, जो अनन्त आकाश में फैले हुए असंख्य लोकलोकान्तरों का भीतरी और बाहरी प्रबन्ध किये हुए हैं, क्योंकि नियम बिना नियामक के, नियामक बिना ज्ञान के और ज्ञान बिना ज्ञानी के ठहर नहीं सकता, परन्तु हम सम्पूर्ण सृष्टि में नियमपूर्वक व्यवस्था देखते हैं, इसलिए सृष्टि का यह तीसरा कारण भी सृष्टि के नियमों से ही सिद्ध होता है। इसी को परमात्मा, ईश्वर, ख़ुदा और गॉड आदि कहते हैं। इस प्रकार संसार के तीनों नियमों से तीनों कारणों का पता मिलता है। सृष्टि के ये तीनों कारण स्वयंसिद्ध और अनादि हैं, इसलिए यह प्रवाह से अनादि सृष्टि भी बुद्धिपूर्वक नियमों में आबद्ध होकर कार्य कर रही है, क्योंकि जितने पदार्थ स्वयंसिद्ध, कारणरूप और स्वयंभू होते हैं उन्हीं के गुण-कर्म-स्वभाव भी निश्चित होते हैं और उन्हीं गुणों से जो कार्य बनते हैं वे नियमपूर्वक कार्य करते हैं। यह कार्यरूप सृष्टि प्रत्यक्ष ही सुव्यवस्थित, बुद्धिपूर्वक और नियमित कार्य कर रही है, इसलिए इसके तीनों कारणों के स्वयंसिद्ध होने में कुछ भी सन्देह नहीं रह जाता, इसलिए अब आगे इन कारणों से कार्य का वर्णन करते हैं।

कारणों से कार्य की उत्पत्ति

उपर्युक्त तीनों कारणों में से पहला कारण जड़, परमाणुरूप और नियम से परिवतर्तित

होनेवाली प्रकृति है, दूसरा कारण असंख्य, परिच्छिन्न और चेतन जीव हैं और तीसरा कारण व्यापक, परिपूर्ण और ज्ञानी परमात्मा है[१]। इन तीनों में से प्रकृति और जीव इस अनन्त सृष्टि का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करते हुए इसे नियम में नहीं रख सकते, क्योंकि दोनों अणु, परिच्छिन्न और एकदेशी हैं। यद्यपि समस्त जीव ज्ञानवान् हैं, परन्तु अणु होने से उनमें ज्ञान भी अणुमात्र ही है, इसलिए इस अनन्त जगत् को वे सब मिलकर भी नियम में नहीं रख सकते। इसका नियामक तो परमात्मा ही हो सकता है जो अपनी अनन्त सत्ता और अनन्त ज्ञान से सर्वत्र व्याप्त है, किन्तु प्रश्न यह है कि परमात्मा इस सृष्टि का नियमन क्यों करता है ?

हम लिख आये हैं कि इस सृष्टि के तीन कारणों में से एक कारण असंख्य अल्पज्ञ जीव भी हैं। ये जीव जब मनुष्यरूप होकर शरीरों को धारण करते हैं तब एकदेशी होने के कारण अपने से भिन्न अन्य पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा से सदैव कुछ-न-कुछ प्रयत्न किया करते हैं। इनके इस प्रयत्न से परस्पर संघर्ष उत्पन्न होता है और उस संघर्ष से बहुत को महान् कष्ट होने लगता है। कभी-कभी तो इनमें इतने अधिक अत्याचारी मनुष्य उत्पन्न हो जाते हैं कि उनकी सम्मिलित क्रिया से संसार में बहुत बड़े-बड़े उथल-पुथल हो जाते हैं और सृष्टि में अभूतपूर्व अपवाद उत्पन्न हो जाते हैं[२] तथा अच्छे प्राणियों को घोर यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। ऐसी दशा में अपनी उच्च सभ्यता, न्याय और दया से प्रेरित होकर परमात्मा सृष्टिनियमों की रक्षा करने के लिए और हानिकारकों से हानिवाहकों को बदला दिलाने के लिए विवश होता है। जिस प्रकार दो लड़ते हुए मनुष्यों में एक को अन्याय करते हुए देखकर एक भद्र पुरुष अन्याय करनेवाले से अन्याय-प्राप्त को प्रतिफल दिलाकर झगड़ा शान्त करने का प्रयत्न करता है, ठीक उसी प्रकार दया, धर्म और न्यायस्वरूप परमात्मा भी अत्याचारी जीवों को दण्ड देकर, अर्थात् अत्याचार सहनेवालों को प्रतिफल दिलाकर सृष्टिनियमों की रक्षा करता है। यह न्याय वह नाना प्रकार की योनियों को बनाकर करता है और एक योनि से दूसरी को लाभ पहुँचाता है, अर्थात् पूर्वजन्म का प्रतिफल दिलाता है। यही उसके नियामक बनने का कारण है।

इसपर कुछ लोग कहते हैं कि जब यह ज्ञात होने पर कि अमुक समय में, अमुक स्थान में डाका पड़नेवाला है, साधारण पोलीस तुरन्त ही प्रबन्ध कर लेती है तब भविष्य में होनेवाले अत्याचारों का प्रबन्ध परमात्मा क्यों नहीं कर लेता ? इसका उत्तर यही है कि मनुष्य की बुद्धि सदैव परिवर्तित होती रहती है। चोर चोरी करने के लिए चलता है, परन्तु कभी बीच ही से लौट आता है। ऐसी अवस्था में यदि सङ्कल्प करते ही अथवा चोरी के लिए चलते ही दण्ड दे दी जाए तो अन्याय ही कहा जाएगा, क्योंकि सङ्कल्प का दण्ड नहीं होता। यदि कोई करोड़ रुपये के दान

---

१. **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।**
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभि चाकशीति॥ —ऋ० १।१६४।२०
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमितिवीतशोकः॥
अजामेकां लोहितशुल्ककृष्णां बह्वी प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणो नु शेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥
ज्ञाज्ञौ द्वावजावीशानीशावजा ह्येका भोक्तृभोगार्थयुक्ता।
अनन्तश्चात्मा विश्वरूपो ह्यकर्ता त्रयं यदा विन्देत ब्रह्ममेतत्॥ —श्वेता० उपनिषद्

२. कभी-कभी संसार में जो कुछ बातें अनियमित-सी होती हुई दिखती हैं, वे अपवाद हैं, उन अपवादों का कारण जीवों के सामूहिक और अनियमित कर्म ही हैं।

का सङ्कल्प करे तो क्या इतने ही से उसको दान का फल मिल जाएगा? कभी नहीं। इसीलिए कर्म कर चुकने पर ही फल की व्यवस्था करना उचित है। रहा यह कि परमात्मा जीवों को बुरे कर्मों की चेष्टा से ही पृथक् क्यों नहीं कर देता? इसका उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम तो स्वाभाविक चेतन जीव ऐसे निश्चेष्ट हो ही नहीं सकते, दूसरे यदि परमेश्वर जीवों की वृत्तियों के साथ-साथ उनको दबाता फिरे तो स्वयं वही महान् संकट में पड़ जाए, जिसे परमात्मा तो क्या कोई मूर्ख मनुष्य भी नहीं कर सकता, इसलिए कर्म के पूर्व ही फल दे देना या कर्म करने को ही रोकते फिरना युक्तिसंगत नहीं है। युक्ति और न्याय यही है कि जीव स्वतन्त्रता से कर्म करें और ईश्वर स्वतन्त्रता से उनका न्याय करे। यही आज तक होता आया है और यही संसार की उत्पत्ति का प्रधान कारण है और ईश्वर की सर्वत्र व्यापकता का पूर्ण प्रमाण है।

परमेश्वर की इस सर्वत्र व्यापकता पर कुछ लोग यह भी प्रश्न करते हैं कि जब परमात्मा इस अनन्त आकाश में फैले हुए असंख्य जीवों का न्याय करता है तो क्या वह अपनी लम्बाई-चौड़ाई को जानता है, क्या वह जानता है कि मैं कहाँ तक फैला हुआ हूँ। इस प्रश्न का इतना ही उत्तर है कि जिस प्रकार जीव अत्यन्त छोटा है, परन्तु अपनी छोटाई को ठीक-ठीक नहीं जानता कि मैं कितना छोटा हूँ, उसी प्रकार परमात्मा बहुत बड़ा है, परन्तु अपनी बड़ाई का अन्त वह भी नहीं जानता कि मैं कितना बड़ा हूँ, क्योंकि अपने आपके जानने में सब अल्पज्ञ ही होते हैं। जैसे आँख अपने आपको देखने और जानने में असमर्थ है उसी प्रकार जीव और परमेश्वर भी अपनी छोटाई और बड़ाई जानने में असमर्थ हैं, इसलिए अपने आपकी पूरी मर्यादा का पूर्ण ज्ञान न होना अपने अभाव की दलील नहीं है, क्योंकि जब जीव अपनी छोटाई को न जानता हुआ भी है और अपने आपके भाव को जानता है और जब आँख अपने आपको न देखती हुई भी है और अपने भाव को जानती है तब परमात्मा भी अपनी अनन्तता को न जानता हुआ भी है और अपने भाव को जानता है। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जैसी होती है वह वैसी ही प्रतीत होती है। जैसे जीव अत्यन्त छोटा है, परन्तु वह अपनी अत्यन्त छोटाई को नहीं जान सकता। यदि जान ले तो उसकी अनन्तता ही न रहे, प्रत्युत सान्तता आ जाए, इसलिए अपने-आपका पूर्ण ज्ञान न होने से अपने आपमें कोई अन्तर नहीं आ सकता। परमात्मा अनन्त है और अनन्तता से सर्वत्र व्यापक होकर सब जीवों की न्यायव्यवस्था करता है, करता रहा है और करता रहेगा। यही सृष्टि के कारणों और उनके नियमों का दिग्दर्शन है। इसके आगे अब यह दिखलाने का यत्न करते हैं कि यह सृष्टि किस प्रकार बनी।

जड़सृष्टि की उत्पत्ति

सृष्टि के परिवर्तन और प्राणियों के उत्तम और अधम स्वाभावों से जाना जाता है कि यह सृष्टि कभी परिवर्तनरहित स्थिर दशा में थी और समस्त प्राणी स्थूल शरीरविहीन अपने कृत कर्मों का फल भोगने के लिए किसी कारागार में जाने के योग्य हो रहे थे। हम इस पुस्तक के पृष्ठ १२२ में लिख आये हैं कि परिवर्तनशील पदार्थ भविष्य में परिवर्तनशून्य होकर स्थिर हो जाते हैं और भूतकाल में भी बिना परिवर्तन के स्थिर दशा में ही रहते हैं। इसी सिद्धान्तानुसार यह परिवर्तनशील संसार भी भूतकाल में बिना परिवर्तन के अपनी कारणदशा में ही स्थिर था। इसी प्रकार समस्त प्राणियों के परिवर्तनशील शरीर भी अपने कारणों में ही मिले हुए थे और समस्त चेतनशक्तियाँ शरीरहीन अवस्था में ही थीं तथा अगले फल भोगने को उत्सुक हो रही थीं, अर्थात् सारा सामान नवीन सृष्टिनिर्माण के योग्य प्रस्तुत था। ऐसी दशा में यह प्रश्न स्वाभाविक ही उपस्थित होता है कि सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार आरम्भ हुई है और किस प्रकार बनी।

यद्यपि कहा जा सकता है कि जिस प्रकार अनादि प्रवाह से सृष्टि सदैव बनती रही है उसी प्रकार इस बार भी बनी तथापि इतने से ही उन उलझनों का समाधान नहीं हो सकता जो सृष्टि की उत्पत्ति के विषय में उत्पन्न की गई हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लोगों की कई सम्मतियाँ हैं। कोई कहता है कि सृष्टि को प्राकृतिक शक्ति ने स्वयं बना लिया, कोई कहता है सृष्टि को जीवों ने मिलकर बना लिया और कोई कहता है कि सृष्टि को परमात्मा ने ही बना लिया है। ऐसी दशा में जब तक तीनों सम्मतियाँ की आलोचना न हो जाए तब तक कोई निश्चित सिद्धान्त स्थिर नहीं हो सकता, इसलिए हम यहाँ क्रम से तीनों मतों की आलोचना करते हैं।

जो लोग कहते हैं कि प्राकृतिक शक्तियों ने स्वयं इस सृष्टि को उत्पन्न कर लिया, वे ग़लती पर हैं, क्योंकि प्रकृति की शक्तियाँ परमाणुओं के ही अन्दर हैं और परमाणु सब एक-समान हैं। ऐसी दशा में समान बलवाले परमाणु आप-ही-आप न तो आपस में मिल ही सकते हैं और न अलग ही हो सकते हैं, परन्तु संसार में पदार्थों को मिलते और अलग होते हुए—बनते और बिगड़ते हुए नित्य देखते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि परमाणुओं में न तो बल ही एक समान है और न उनमें आप-ही-आप कोई कार्य बन और बिगड़ ही सकता है। यदि कुछ परमाणुओं को प्रबल और कुछ को हीन बलवाले मानें तो भी काम नहीं चल सकता, क्योंकि प्रबल परमाणु हीनवालों को खींच लेंगे और कभी भी न छोडेंगे। फल यह होगा कि न किसी पदार्थ में परिवर्तन होगा और न कोई पदार्थ नष्ट ही होगा, प्रत्युत समस्त जगत् बिना किसी प्रकार के परिवर्तन के ठोस व स्थिररूप से बना रहेगा, परन्तु हम संसार के समस्त पदार्थों में परिवर्तन और विनाश देखते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि परमाणुओं में न तो बल ही न्यूनाधिक है और न इस सृष्टि में न्यूनाधिक बल का प्रभाव ही है। इन सम और विषम दो प्रकार की शक्तियों के अतिरिक्त प्राकृतिक परमाणुओं में तीसरे प्रकार के अन्य बल की कल्पना नहीं हो सकती। इससे ज्ञात होता है कि दूर-दूर स्थित परमाणु बिना किसी माध्यम के एक-दूसरे पर प्रभाव डालकर न तो आकर्षित ही कर सकते हैं और न आकृष्ट परमाणुओं को पृथक् कर सकते हैं, इसलिए केवल प्राकृतिक शक्तियाँ ही सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकतीं।

इसके सिवा जो लोग कहते हैं कि समस्त जीवों ने मिलकर सृष्टि को उत्पन्न कर लिया है, वे भी भूलते हैं, क्योंकि जो पदार्थ अणु, परिच्छिन्न, एकदेशी होते हैं, भले ही वे चेतन और असंख्य क्यों न हों, वे अनन्त सृष्टि को बुद्धिपूर्वक न तो बना ही सकते हैं और न उसको नियम में रख ही सकते हैं। इसका कारण जीवों की अल्पज्ञता और अणुरूपता ही है। संसार का बनाना तो बहुत दूर की बात है वे आदि में अपने शरीरों को भी नहीं बना सकते, इसलिए अनेक चेतन मिलकर भी सृष्टि को नहीं बना सकते।

जो लोग कहते हैं कि परमेश्वर ने ही सृष्टि को बना लिया है वे इस बात को भूल जाते हैं कि परमात्मा सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण है। जो वस्तु सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण होती है वह हिल डुल नहीं सकती, परन्तु सृष्टि उत्पन्न करने के लिए प्रकृति-परमाणुओं में गति उत्पन्न करनी पड़ती है और दूसरे पदार्थ में गति वही उत्पन्न कर सकता है जो पहले स्वयं गतिमान् होता है, इसलिए बिना स्वयं हिले-डुले परमात्मा भी परमाणुओं को हिला नहीं सकता। इसपर कुछ लोग कहते हैं कि जिस प्रकार चुम्बक स्वयं हिले-डुले बिना लोहे में गति उत्पन्न कर देता है उसी प्रकार परमात्मा ने भी बिना हिले-डुले परमाणुओं में गति उत्पन्न कर दी है। इस युक्ति पर यह आक्षेप हो सकता है कि प्रकृति-परमाणुओं को तो परमेश्वर समानरूप से नित्य ही प्राप्त है, इसलिए नित्य एक ही प्रकार की गति हो सकती है, दो प्रकार की परस्पर विरोधी गति नहीं हो

सकती, अर्थात् या तो सृष्टि बन ही जाएगी या बिगड़ ही जाएगी—या तो उत्पत्ति ही हो जाएगी या विनाश ही हो जाएगा, लेकिन यह न हो सकेगा कि परमेश्वर जब जैसा चाहे तब वैसा हो जाए, अर्थात् जब बनाना चाहे तब बन जाए और जब बिगाड़ना चाहे तब बिगड़ जाए, क्योंकि चेतन की इच्छा का प्रभाव जड़ प्रकृति पर नहीं पड़ता, इसलिए परमेश्वर भी सृष्टि को उत्पन्न नहीं कर सकता। ऐसी दशा में स्वाभाविक ही यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इस सृष्टि को किसने किस प्रकार उत्पन्न किया?

उपर्युक्त कोटि कल्पना से ज्ञात होता है कि तीनों पदार्थों में से एक भी ऐसा नहीं है जो अकेला इस सृष्टि की रचना का आरम्भ कर दे, किन्तु तीनों पदार्थों के एक विशेष प्रकार के क्रम की कल्पना करने से प्रतीत होता है कि इन्हीं तीनों की संयुक्त सहयोगशक्ति से सृष्ट्युत्पत्ति का आरम्भ हो सकता है, क्योंकि सृष्टि उत्पन्न करने के लिए परमेश्वर जैसा सर्वज्ञ, सर्वत्र व्याप्त और परिपूर्ण पदार्थ विद्यमान है ही, परमात्मा की इच्छाशक्ति से प्रभावित होनेवाली असंख्य चेतनशक्तियाँ भी जीवरूप से उसी में पिरोई हुई हैं और उन शक्तियों के आघात-प्रतिघात से गति करनेवाले प्रकृति-परमाणु भी उपस्थित ही हैं। ऐसी दशा में सृष्टि के उत्पन्न करनेवाले सामान को कहीं बाहर से लाने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्युत तीनों के एक विशेष क्रम से ही काम चल सकता है। आर्यों ने उस क्रम को जान लिया है और उन्हीं तीनों पदार्थों के गुण-कर्म और स्वभावों को ध्यान में रखकर वेद के आदेशानुसार इस जटिल और मौलिक प्रश्न को सुलझा लिया है। यजुर्वेद ३२।५ में लिखा है कि—

यस्माज्जातं न पुरा किञ्चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा।
प्रजापतिः प्रजया स ꣳ रराणस्त्रीणि ज्योति ꣳ षि सचते स षोडशी॥

अर्थात् जिससे पहले कुछ भी उत्पन्न नहीं हुआ उसी सोलह कलावाले प्रजापति—परमेश्वर ने प्रजा के साथ रमते हुए अग्नि, विद्युत् और सूर्य को बनाया।

इस मन्त्र में बतलाया गया है कि आरम्भ में परमात्मा ने जीवों में प्रेरणा करके सारी प्रकृति में हलचल उत्पन्न कर दी है, इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि—'**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी**', अर्थात् परमात्मा और आत्मा से आकाश (ईथर), आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथिवी बनी है। इस वर्णन में भी परमात्मा अथवा आत्मा से ही प्रकृति में गति की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसके अतिरिक्त छान्दोग्य उपनिषद् में तो स्पष्ट ही कह दिया गया है कि—'**अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**', अर्थात् परमात्मा ने जीवों में विशेषरूप से प्रविष्ट होकर इस नामरूपात्मक संसार की रचना की है। इसी प्रकार मनु ने भी कहा है कि सृष्टि के आरम्भ में परमात्मा ने सजग होकर सबसे पहले मन (जीवों) को उद्बोधित किया और मन से समस्त प्रकृति में हलचल हो गई[१]। कहने का तात्पर्य यह कि वेदों से लेकर उपनिषद् और मनुस्मृति आदि तक समस्त आर्षग्रन्थ एक स्वर से कहते हैं कि परमात्मा ने पहले अपनी इच्छाशक्ति से चेतन जीवों को उद्बोधित किया और जीवों ने अपनी हलचल से समस्त प्रकृति परमाणुओं में गति उत्पन्न कर दी। यह बात ठीक भी प्रतीत होती है, क्योंकि परिपूर्ण परमात्मा अपनी इच्छाशक्ति से जीवों में हलचल कर सकता है और उसकी इच्छाशक्ति का प्रभाव चेतन

१. तस्य सोऽहर्निशस्यान्ते प्रसुप्तः प्रति बुद्ध्यते। प्रतिबुद्धश्च सृजति मनः सदसदात्मकम्॥
मनः सृष्टिं विकुरुते चोद्यमानसिसृक्षया। —मनु० १।७४-७५

जीवों पर पड़ सकता है। इसी प्रकार जीवों की गति का प्रभाव भी परमाणुओं पर पड़ सकता है। इसका नमूना हम नित्य अपने शरीर में देखते हैं। जिस प्रकार हमारे हर्ष, शोक और चिन्ता का प्रभाव शरीर के परमाणुओं पर पड़ता है और मुखमुद्रा में अन्तर पड़ जाता है और जिस प्रकार हमारी इच्छा से ही हाथ, पैर और अन्य अङ्गों के परमाणु भी गति करते हैं और शरीर के समस्त व्यापार होते हैं उसी प्रकार आदि में जीवों की हलचल से भी समस्त परमाणुसमूह में हलचल उत्पन्न हो सकती है, अतएव आदि में इसी प्रकार की क्रिया होती है। जब परमात्मा जीवों को प्रेरित करता है तब उनमें इतना वेग उत्पन्न हो जाता है कि समस्त प्राकृतिक परमाणु अत्यन्त वेग से गतिमान हो जाते हैं।

इस गति से प्रकृति के पाँचों कर्म उत्पन्न होते हैं[1]। अग्नि का गुण ऊपर जाना है, इसलिए अग्नि के परमाणु ऊपर को चलते हैं और जल का गुण नीचे जाना है, इसलिए जल के परमाणु नीचे को जाते हैं और दोनों शक्तियाँ टकरा जाती हैं। इन दोनों विरुद्ध शक्तियों के टकराने से एक विशाल ठेलपेल आरम्भ होती है। इसी समय पृथिवी के आकर्षण गुणवाले परमाणु इस विशाल ठेलपेल को ठहराते हैं, वायु के प्रसारण गुणाले परमाणु उस सघन ठेलपेल में धक्का लगाते हैं और आकाश (ईथर) के परमाणु उस ठेलपेल को गमन करने के लिए स्थान देते हैं। फल यह होता है कि वह सारा परमाणुसमूह चक्राकार गति में घूम जाता है। जिस प्रकार गोली खेलनेवाले लड़के अंगुलियों से गोली में दो विरुद्ध गतियों को देकर, कलाइयों से थामकर और हाथ आगे बढ़ाकर गोली को भूमि पर डाल देते हैं और वह गोली नाचने लगती है उसी प्रकार प्रकृति के पाँचों कर्म प्रकृति-परमाणु-पुंज को चक्राकार गति में नचा देते हैं। यही चक्राकार गति में फिरनेवाला आदिम प्रकृति-पुंज वेद में हिरण्यगर्भ और लोक में ब्रह्मा कहा गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि **'हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे'**, अर्थात् सबसे पहले हिरण्यगर्भ नाम का महान् चमकीला और बहुत बड़ा प्राकृतिक गोला उत्पन्न हुआ। इसी हिरण्यगर्भ गोले के विषय में भगवान् मनु कहते हैं कि—

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्। तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामह॥

—मनुस्मृति [१।९]

अर्थात् हज़ारों सूर्य के समान प्रकाशवाले उस गोले में सर्वलोकपितामह—ब्रह्मा उत्पन्न हुए।

ब्रह्मा के नामों को गिनते हुए अमरकोश में लिखा है कि—

ब्रह्मात्मभूः सुरज्येष्ठः परमेष्ठी पितामहः। हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः॥[¶]

अर्थात् ब्रह्मा, आत्मभू, सुरश्रेष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयंभू और चतुरानन—एक ही पदार्थ के नाम हैं।

इसमें ब्रह्मा और हिरण्यगर्भ को एक ही पदार्थ बतलाया है। वेद में दूसरे स्थान पर इसी गोले को **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्'**[*], अर्थात् हज़ारों शिरों, हज़ारों आँखों और हज़ारों पैरोंवाला कहा गया है, अर्थात् इस आदिम सृष्टिगर्भ को भारतीय साहित्य में सहस्रशीर्ष, हिरण्यगर्भ, स्वयम्भू, हेमाण्ड और ब्रह्मा आदि नामों से कहा गया है और इसी को पाश्चात्य

---

१. वैशेषिक दर्शन में **'उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनप्रसारणं गमनमिति कर्माणि'** लिखकर पाँच कर्मों का निर्देश किया गया है। ये पाँचों कर्म पाँचों भौतिक तत्त्वों के हैं। अग्नि कहीं भी जलाई जाए उसकी गति ऊपर को ही होती है और जल कहीं भी डाला जाए उसकी गति नीचे को ही होती है। इसी प्रकार पृथिवी आकर्षण करती है, हवा फैलती है और आकाश गमनागमन के लिए स्थान देता है।

¶ अमर० १।१।१६ * यजुः० ३१।१

वैज्ञानिक नेब्यूलाथ्यूरी में गैसेसमास कहते हैं। यही इस वर्त्तमान सृष्टि का मूल और बीज है।

कहते हैं कि समय पाकर इसी गोले से अनेक गोले उत्पन्न हो गये और अलग-अलग अनेक सूर्यों के नाम से आकाश में फैल गये। इस प्रकार के प्रत्येक सौरजगत् को विराट् कहा गया है। मनुस्मृति में लिखा है कि उसी हिरण्यगर्भ गोले के दो भाग हो गये और उन्हीं से विराट् की उत्पत्ति हुई[१]। वेद में भी लिखा है कि '**ततो विराडजायत**',¶ अर्थात् उसी सहस्रशिरवाले हिरण्यगर्भ से विराट् पैदा हुआ और '**पश्चाद्भूमिमथो पुरः**',❢ अर्थात् इसके बाद भूमि उत्पन्न हुई। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि इस अनन्त सृष्टि में अनेक विराट् हैं, क्योंकि विराट् पुरुष के शरीर की जो मर्यादा वेदों में लिखी है वह उतनी ही है जितनी कि एक सौरजगत् की है। विराट् पुरुष का वर्णन करते हुए वेद में कहा गया है कि '**शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत,♣ यस्य वातः प्राणापाना,♦ चक्षोः सूर्योऽजायत,♥ दिशःश्रोत्रात्,♠ नाभ्या आसीदन्तरिक्षम्,☆ पद्भ्यां भूमिः'✱**, अर्थात् विराट् का शिर द्यौ—आकाश—है[२], वायु प्राण—बाहुबल है[३], सूर्य नेत्र है, दिशाएँ कान हैं, अन्तरिक्ष नाभि है[४] और पृथिवी पैर है। विराट् का यह सारा वर्णन मनुष्य के रूप से मिलाया गया है और आदिम ब्रह्मारूपी पितामह की उत्पत्ति से लेकर पिता विराट् और माता पृथिवी की उत्पत्ति तक का वर्णन किया गया है। इस उत्पत्तिक्रम में पहले हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा की उत्पत्ति बतलाई गई है, फिर ब्रह्मा से विराट् पुरुष, अर्थात् सौरजगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है और अन्त में कहा गया है कि पृथिवी उत्पन्न हुई। इस प्रकार जड़ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करके अब आगे चेतन सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं।

चेतनसृष्टि की उत्पत्ति

हम गत पृष्ठों में कह आये हैं कि इस सृष्टि की उत्पत्ति का प्रधान कारण जीवों के कर्म और परमेश्वर का न्याय ही है। जीव अनादि काल से कर्म करते हुए चले आ रहे हैं और परमात्मा भी अनादि काल से उनको कर्मफल देता हुआ चला आ रहा है, इसीलिए प्रत्येक प्रलय के बाद नवीन सृष्टि होती है और जब सूर्य, चन्द्र और पृथिवी आदि की रचना हो जाती है तब पृथिवी के अनुकूल हो जाने पर परमात्मा जीवों के शेष कर्मों के अनुसार उनको नाना प्रकार की योनियों में उत्पन्न करता है। मनुस्मृति [१।२८] में लिखा है—

यं तु कर्माणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः। स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥

अर्थात् उस प्रभु—परमात्मा ने सृष्टि के आदि में जिसकी जिस स्वाभाविक कर्म में योजना की, उसने उत्पन्न होकर वही स्वाभाविक कर्म किया।

तात्पर्य यह कि जिसको जिस योनि के योग्य समझा उसको उसी योनि में उत्पन्न किया। इस कर्म और कर्मानुसार शरीरधारण के सिद्धान्तानुसार समस्त कर्मों और समस्त शरीरों को तीन

---

१. द्विधा कृत्वात्मनो देहमर्द्धेन पुरुषोऽभवत्। अर्धेन नारी तस्यां स विराजमसृजत्प्रभुः॥ —मनुस्मृति [१।३२]
२. द्यौ दिवौ द्वे स्त्रियामभ्रं व्योमपुष्करम्बरम्। नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्म खम्॥ —अमरकोश [१।२।१]
३. प्राणो वै बलं तत्प्राणे प्रतिष्ठितं तस्मादाहुर्बलम्। —शत० ब्रा० १४।८।१५।६
४. जिस प्रकार मनुष्य के पेट में जठराग्नि और अन्नरस रहता है, उसी प्रकार विराट् के अन्तरिक्षरूपी पेट में विद्युद्रूपी जठराग्नि और रसरूपी मेघजल रहता है।

¶ यजुः० ३१।५
❢ यजुः० ३१।५
♣ यजुः० ३१।१३
♦ अथर्व० १०।७।२४
♥ यजुः० ३१।१२
♠ यजुः० ३१।१३
☆ यजुः० ३१।१३
✱ यजुः० ३१।१३

भागों में बाँटा जा सकता है, अर्थात् यह कहा जा सकता है कि समस्त कर्मों के तीन वर्ग हैं, तदनुसार समस्त प्राणिशरीरों के भी तीन ही वर्ग हैं। कर्मों के तीन वर्ग सात्त्विक, राजस् और तामस् हैं। इन्हीं को दूसरे शब्दों में आचार, अनाचार और अत्याचार कहते हैं। ये तीनों प्रकार के कर्म बुद्धि, निर्बुद्धि और प्रमाद से किये जाते हैं। सृष्टिनियमों के अनुसार और धर्मानुकूल बुद्धिपूर्वक आचरण—व्यवहार का नाम आचार है और वह सात्त्विक कर्म कहलाता है। सृष्टिनियमों को बिना जाने निर्बुद्धितापूर्वक कुछ-न-कुछ कर डालने का नाम अनाचार है और वह राजस् कर्म कहलाता है और प्रमाद, आलस्य तथा अभिमान से किये गये सृष्टि के प्रतिकूल अधर्माचरणों का नाम अत्याचार है और वे तामस् कर्म कहलाते हैं। इन्हीं तीनों प्रकार के कर्मों के अनुसार तीन प्रकार के शरीर बनते हैं।

ज्ञानयुक्त सात्त्विक कर्मों के करने से ज्ञानयुक्त मनुष्यशरीर बनता है, अज्ञानयुक्त कुछ-न-कुछ उलटे-सीधे कर्मों के करने से अज्ञानयुक्त पशु-शरीर बनता है और आलस्य, प्रमाद, तथा अभिमानयुक्त दुष्कर्मों के करने से ज्ञान और कर्महीन अन्धकारमय वृक्ष-शरीर बनता है। ज्ञानपूर्वक इन्द्रियों के उपयोग करने से मनुष्यों को ज्ञान और कर्म के धारण करनेवाले परिपूर्ण अङ्ग दिये गये हैं, अज्ञानवश केवल कुछ-न-कुछ करने से पशुओं को ज्ञानहीन केवल कुछ-न-कुछ कर लेनेवाले अपूर्ण अङ्ग दिये गये हैं और ज्ञान तथा कर्म दोनों का जानबूझकर दुरुपयोग करने से वृक्षों को ज्ञान और कर्म दोनों से वंचित कर दिया गया है। इस प्रकार से तीन प्रकार के कर्मों के कारण तीन वर्ग के प्राणी—मनुष्य, पशु और वृक्ष बने हैं। इन तीनों में मनुष्य ज्ञानयुक्त और कर्म करने में समर्थ हैं, पशु ज्ञानहीन और कर्म करने में समर्थ हैं और वृक्ष ज्ञान तथा कर्म दोनों में असमर्थ हैं।

संसार का यह नियम है कि जो ज्ञान में और कर्म करने में पूर्ण होता है वह ज्ञानशून्य का भोक्ता होता है और ज्ञानशून्य उसका भोग्य होता है। इसी प्रकार जो कर्म कर सकता है वह ज्ञान और कर्मशून्य का भोक्ता होता है और ज्ञानकर्मशून्य उसका भोग्य होता है। इसके सिवा संसार का दूसरा यह भी नियम है कि पहले भोग्य उत्पन्न होता है तब भोक्ता पैदा होता है। जिस प्रकार पहले दूध उत्पन्न होता है तब बच्चा पैदा होता है, उसी प्रकार जब पशुओं के भोग्य वृक्ष पहले उत्पन्न हो जाते हैं तब पशु उत्पन्न होते हैं और जब मनुष्यों के भोग्य वृक्ष और पशु उत्पन्न हो जाते हैं, तब दोनों का उपभोग करनेवाला मनुष्य उत्पन्न होता है। इसी नियम के अनुसार इस चेतनसृष्टि में सबसे पहले वृक्ष उत्पन्न हुए, वृक्षों के बाद पशु उत्पन्न हुए और पशुओं के बाद मनुष्य उत्पन्न हुए। वेद में चेतन सृष्टि की उत्पत्ति इसी क्रम से लिखी है। यजुर्वेद में लिखा है कि—

सम्भृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ —यजुः० ३१।६
ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्या ँ शूद्रो अजायत॥ —यजुः० ३१।११

अर्थात् पहले पृषद् नामक भक्ष्यान्न—वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं[1] फिर उड़नेवाले, अरण्य में चरनेवाले और ग्रामों में रहनेवाले पशु उत्पन्न हुए और इनके बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, अर्थात् मनुष्य उत्पन्न हुए। इस प्रकार समस्त चेतनसृष्टि की उत्पत्ति हुई और स्वाभाविक स्थिति

१. पृषदिति भक्ष्यान्नोपलक्षणम्। —ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

में स्थिर हुई, किन्तु सृष्टि उत्पत्ति का एक अस्वाभाविक क्रम और है जिसका प्रयोग आपत्ति के समय ही होता है। इस नियम का सिद्धान्त यह है कि जो जिसको सताता है वह उससे सताया जाता है। इसी सिद्धान्त के अनुसार जिस समय समस्त मनुष्यसमाज अनाचारी, अत्याचारी, कामुक, बेहिसाब सन्तति का विस्तार करनेवाला, मांसाहारी और युद्धकारी होकर प्राणियों का संहार करता है और जिस समय मनुष्यसमाज जङ्गलों को काटकर पहाड़ों, समुद्रों और भौगर्भिक उथल-पुथलों को करके संसार में प्राकृतिक विप्लवों (Disturbances) को उत्पन्न करके भी प्राणियों का संहार कर देता है, उस समय सृष्टि के स्वाभाविक नियम बिगड़ जाते हैं और प्राणियों को कष्ट होता है, अतः उन नियमों की रक्षा करने के लिए सृष्टि का नियामक अत्याचारी प्राणियों की वृद्धि कर देता है, अर्थात् मांसाहारी मनुष्यों को बकरों और गौ आदि में और बकरों तथा गौ आदिकों को भेड़ियों और सिंह आदि हिंस्र पशुओं में उत्पन्न कर देता है। इसी प्रकार अनेक पीड़ित प्राणियों को बीमारी के कृमियों (Germs) में और अनेक पीड़ा देनेवालों को कीट-पतङ्गों में उत्पन्न कर देता है। फल यह होता है कि जहाँ सीधे-सादे मनुष्यों और पशुओं को अत्याचारी सताते हैं और अनुचितरूप से अपना स्वार्थसाधन करते हैं, वहाँ पीड़ित प्राणी भी अपना बदला लेकर पीड़कों को भी पीड़ा पहुँचाते हैं, अर्थात् जिन्होंने जिनको मारकर खाया है, वे भी उनको मारकर खा जाते हैं[१]।

यही सृष्टि के दोनों प्रशस्त क्रम हैं और इन्हीं क्रमों के अनुसार स्वाभाविक और आपत्कालिक सृष्टि उत्पन्न होती है। यह स्वाभाविक और आपत्कालिक क्रम अनादि हैं। जब-जब इस प्रकार के मनुष्य उत्पन्न होते हैं तब-तब इसी प्रकार की सृष्टि होती है। इसी नियम के अनुसार इस वर्त्तमान सृष्टि में भी दोनों प्रकार के प्राणी उत्पन्न हुए। स्वाभाविक नियमानुसार खड़े, आड़े और उलटे शरीर की योनियाँ उत्पन्न हुईं और आपत्कालिक नियमानुसार मकड़ी, बक और बतक आदि थोड़ी-सी ऐसी भी योनियाँ सृष्ट्यारम्भ में ही उत्पन्न हुईं जो स्वभावतः दूसरे प्राणियों का नाश करने लगीं, परन्तु सृष्ट्यारम्भ के बहुत दिन बाद जब मनुष्यों में महात्याचारियों की अधिकता हुई तब परमात्मा ने उन सिंह-व्याघ्रादि हिंस्र पशुओं में भी प्राणियों को मारकर खानेवाले उत्पन्न कर दिये जो पहले मृतक मांस खाकर केवल संसार की सफ़ाई करते थे, ज़िन्दा जानवरों को मारकर नहीं खाते थे। यही इस वर्त्तमान चेतनसृष्टि की उत्पत्ति का रहस्य है, किन्तु प्रश्न यह है कि प्रथम कही हुई जड़ सृष्टि के साथ इस चेतन सृष्टि का सम्बन्ध क्या है?

जड़ सृष्टि से चेतन सृष्टि का सम्बन्ध

जड़ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए हम लिख आये हैं कि हमारा यह सौरजगत् ही विराट् है। इस विराट् का शिर द्यौ, अर्थात् सूर्यस्थानी आकाश है, नेत्र सूर्य हैं, प्राण हवा है, पेट विद्युत् और मेघ हैं और पैर पृथिवी है। पृथिवी से लेकर आकाश तक इस विराट् के खड़े आकार का यह रूपक मनुष्य के खड़े शरीर के साथ मिल जाता है, अर्थात् मनुष्य का भी शिर द्यौ की ओर और पैर पृथिवी की ओर ही हैं और वह भी विराट् की भाँति खड़े शरीरवाला ही है। इसका कारण विराट् और मनुष्य का पिता-पुत्रसम्बन्ध ही है। आदिम अमैथुनी सृष्टि विराट् से ही उत्पन्न होती है, इसीलिए मनु भगवान् कहते हैं कि मैं—मनुष्य विराट् से ही उत्पन्न हुआ हूँ[२]।

---

१. मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्। एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः॥ —मनु० ५।५५
अर्थात् जिसका मांस मैं यहाँ खाता हूँ वह परलोक में मेरा मांस खाएगा। विद्वानों ने मांस शब्द की यही निरुक्ति की है।

२. तपस्तप्त्वासृजद्यं तु स स्वयं पुरुषो विराट्। तं मां वित्तास्य सर्वस्य स्रष्टारं द्विजसत्तमाः॥ —मनु० [१।३३]

मनुष्य विराट् के ही आकार का है, इसीलिए बाइबिल में भी कहा गया है कि परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी आकृति का बनाया। **'अङ्गदङ्गात्सम्भवसि'** के अनुसार विराट् के प्रत्येक अङ्ग से मनुष्य के प्रत्येक अङ्ग की उत्पत्ति हुई है और दोनों के अङ्गों का आधार-आधेय सम्बन्ध है। मनुष्य के शिर का आधार द्यौ है, अतः जब तक शिर द्यौ की ओर रहता है तभी तक मनुष्य का मस्तिष्क और मेधा काम करती है, परन्तु ज्योंही शिर द्यौ की ओर से हट जाता है, त्योंही मस्तिष्क की मेधा, अर्थात् ज्ञानशक्ति मन्द और अन्धकाराच्छन्न हो जाती है।

यह बात हमको दो अनुभवों से ज्ञात होती है। एक तो जब हम अपने शिर को द्यौ की ओर से हटाकर लेट जाते हैं तब निद्रा आने लगती है और ज्ञान-शक्ति मन्द पड़ने लगती है, अर्थात् हम बिना द्यौ की ओर से शिर को हटाये सो नहीं सकते—बेहोश नहीं हो सकते। दूसरे जब हम कोई नशा पीते हैं और हमारी बुद्धि मन्द होने लगती है तब हमारे पैर लड़खड़ाने लगते हैं और हम गिरने लगते हैं अथवा पड़कर सो जाते हैं, अर्थात् हम बुद्धि खोकर और बेहोश होकर खड़े नहीं रह सकते। इन दोनों नित्य के अनुभवों से यह बात अच्छी प्रकार स्पष्ट हो रही है कि हमारे शिर और बुद्धि का द्युलौक से आधाराधेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार द्यौ का शिर के साथ सम्बन्ध है उसी प्रकार सूर्य और नेत्रों का भी सम्बन्ध है। जब तक सूर्य रहता है तभी तक नेत्र काम देते हैं, जब सूर्य अस्त हो जाता है और अँधेरा हो जाता है तब नेत्र भी अन्धे हो जाते हैं। संसार में जितना प्रकाश है चाहे बिजली का हो अथवा अग्नि का, सब सूर्य से ही प्राप्त होता है, इसीलिए वेद में सूर्य और अग्नि को एक ही कहा गया है[१]। इस सूर्यरूपी अग्नि से ही बिजली, गैस और तेल के दीपक जलते हैं, और दीपकों को जलाकर ही सूर्य का स्थानापन्न प्रकाश उत्पन्न किया जाता है तब नेत्र काम देते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि सूर्य और नेत्रों का भी आधाराधेय ही सम्बन्ध है। वायु और प्राणों का तथा प्राणों और बाहुबलों का भी वही सम्बन्ध है। यदि संसार से वायु खींच ली जाए तो हम एक बार भी साँस नहीं ले-सकते और बिना प्राण के थोड़ा भी बल प्राप्त नहीं कर सकते, इसीलिए **'प्राणो वै बलम्'** कहा गया है। प्राण और बल का सम्बन्ध उस समय अधिक स्पष्ट होता है जब काम करते-करते मनुष्य का दम उखड़ जाता है। दम के उखड़ते ही मनुष्य निर्बल हो जाता है, इसलिए वायु और प्राण का तथा प्राण और बल का भी आधाराधेय ही सम्बन्ध सिद्ध होता है। पृथिवी और पैरों का जैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, वह प्रत्यक्ष ही है, अर्थात् बिना पृथिवी के कोई भी खड़ा नहीं हो सकता। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे जितने अङ्ग-उपाङ्ग हैं वे सब विराट् के अङ्गों के साथ नत्थी हैं और उन्हीं के सहारे स्थिर हैं।

हम लिख आये हैं कि मनुष्य को यह शरीर बुद्धिपूर्वक सात्त्विक कर्म करने से ही मिला है, अर्थात् बुद्धि के सदुपयोग ही से विराट् की आकृति का बन सका है और इस प्रकार विराट् के प्रत्येक अङ्ग से सहयोग प्राप्त कर सका है, किन्तु जिन मनुष्यों ने बुद्धि का उचित उपयोग नहीं किया, केवल अन्धपरम्परा से कुछ-न-कुछ करते रहे हैं उनकी बुद्धि का मुख्य स्थान शिर द्यौलोक की ओर से हटाकर क्षितिज की ओर आड़ा कर दिया गया है और सब पशु बना दिये गये हैं। बुलबुल से लेकर शुतुरमुर्ग़ तक, मछली से लेकर मगर तक, हाथी से लेकर लीख तक, और बन्दर से लेकर वनमनुष्य (गौरिला) तक जितने पशु कहलानेवाले प्राणी हैं सब आड़े शरीरवाले ही हैं। इनमें से किसी का शिर आकाश की ओर नहीं है। हाँ, ये चलते-फिरते अवश्य हैं। इससे ज्ञात होता है कि इनकी कर्मेन्द्रियों का ह्रास नहीं हुआ। इसका कारण यही है कि इन्होंने जान-बूझकर अनाचार नहीं किया, परन्तु जिन मनुष्यों ने प्रमाद और अभिमान से जान-बूझकर

१. अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः सूर्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः, ज्योतिः सूर्यः सूर्यो ज्योतिः ॥ —यजुः० ३।९

दुष्कर्म किये हैं उनकी कर्मेन्द्रियाँ भी छीन ली गई हैं और उनकी ज्ञानेन्द्रियों का प्रमुख स्थान 'शिर' ज़मीन में गाड़ दिया गया है और सब वृक्ष बना दिये गये हैं[१], इसीलिए न तो वे कुछ ज्ञान ही रखते हैं और न इधर-उधर चल फिर ही सकते हैं। इसी त्रिगुणात्मक सृष्टि के विषय में कपिलमुनि कहते हैं कि—

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ॥ ४८ ॥ तमोविशाला मूलतः ॥ ४९ ॥ मध्ये रजो विशाला ॥ ५० ॥
आवृत्तिस्तत्राप्युत्तरोत्तरयोनियोगाद्धेयः ॥ ५२ ॥
आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात् ॥ ४७ ॥ —सां०द० ३।४८-५०, ५२, ४७

अर्थात् सुतोगुणी कर्म करनेवाले ऊपर की ओर जाते हैं, रजोगुणी मध्य की ओर जाते हैं और तमोगुणी नीचे की ओर जाते हैं। इस प्रकार इन योनियों का एक-दूसरी में जाने का चक्कर लगा ही रहता है, परन्तु ब्रह्मा, अर्थात् मनुष्यजाति के आदि पितामह से लेकर स्तम्ब, अर्थात् वृक्षों तक विवेक करने से यह चक्कर छूट जाता है। इन सूत्रों में मनुष्य से लेकर वृक्षों तक के चक्कर को बतलाकर स्पष्ट कर दिया गया है कि सतोगुणी मनुष्य खड़े शरीरवाले, रजोगुणी पशु आड़े शरीरवाले और तमोगुणी वृक्ष उलटे शरीरवाले हैं और अपने-अपने कर्मों के अनुसार विराट् अर्थात् जड़सृष्टि के साथ अनुकूल अथवा प्रतिकूल सम्बन्ध रखते हैं।

चेतनसृष्टि का पारस्परिक सम्बन्ध

जिस प्रकार प्राणियों का जड़ सृष्टि के साथ घनिष्ट सम्बन्ध है उसी प्रकार उनका आपस में भी घनिष्ठ सम्बन्ध है। हम लिख आये हैं कि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार प्राणियों के शरीर बनाता है और दण्डभोग के साथ-साथ दुःख देनेवाले से दुःख प्राप्त को प्रतिफल भी दिलवाता है। यह प्रतिफल एक प्रकार का ऋण होता है। यही कारण है कि अनाचारियों और अत्याचारियों की ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का संकोच करके वह उनको इस प्रकार का बना देता है कि वे आसानी से उत्कृष्टेन्द्रिय प्राणियों के क़ाबू में आ जाते हैं और उनका भोग्य बनकर ऋण चुकाते रहते हैं। यही कारण है कि भोग्य पहले और भोक्ता उनके बाद उत्पन्न होते हैं।

हम लिख आये हैं कि आदिसृष्टि में पहले वृक्ष, फिर पशु और पशुओं के बाद मनुष्य हुए। इसका कारण यही है कि पशुओं और वृक्षों ने पूर्व जन्म में अपने मनुष्य-शरीर द्वारा अन्य मनुष्यों को हानि पहुँचाई है, इसलिए मनुष्यों की अपेक्षा हीनेन्द्रिय होकर और उनके क़ाबू में आकर मनुष्यों का ऋण चुका रहे हैं और वृक्षों ने अपने पूर्वकालीन मनुष्य-शरीर द्वारा पशुओं और मनुष्यों दोनों को हानि पहुँचाई है, इसलिए वे पशुओं और मनुष्यों के वश में आकर उनके उपभोग में आ रहे हैं और ऋण चुका रहे हैं, परन्तु पशुओं ने पूर्वजन्म में वृक्षशरीरधारी पूर्वजन्म के पशुओं को हानि नहीं पहुँचाई, इसलिए वे इस जन्म में वृक्षों को कुछ भी नहीं देते, प्रत्युत वृक्षों से लेते हैं। इस प्रकार वृक्ष और पशु मनुष्यों के ऋणी हैं, परन्तु मनुष्य इन दोनों में से किसी का ऋणी नहीं है। इसी प्रकार पशु भी मनुष्यों के ऋणी हैं, परन्तु वृक्षों के ऋणी नहीं है, परन्तु वृक्ष पशुओं तथा मनुष्य दोनों के ऋणी हैं और उनका ऋणी कोई नहीं है, इसीलिए सब प्राणी परस्पर बिना किसी रोक-टोक के अपना-अपना देना-पावना देते और लेते हैं, अर्थात् सब एक-दूसरे की सहायता से जीते हैं। हम यहाँ कतिपय प्राणियों का वर्णन करके दिखलाते हैं कि वे किस प्रकार अपने से उत्कृष्टेन्द्रिय मनुष्य की सेवा कर रहे हैं।

गाय, भैंस, बकरी और भेड़ी दूध देकर, भेड़ और बकरियाँ वस्त्रों के लिए ऊन देकर, घोड़े,

---

१. इमर्सन नामी विद्वान् भी कहता है कि 'Trees are imperfect men', अर्थात् वृक्ष अपूर्ण मनुष्य हैं।

बैल, गधे, ऊँट, ख़च्चर और हाथी आदि सवारी तथा बोझ उठाने का काम देकर और कुत्ते चौकी-पहरा तथा एक अच्छे साथी का काम देकर मनुष्य का ऋण चुका रहे हैं, उसी प्रकार सिंह, व्याघ्र, शृगाल, बिल्ला और गीध आदि मांसाहारी प्राणी मृतक शरीरों का मांस खाकर सफ़ाई का काम कर रहे हैं। यदि ये प्राणी मृतक प्राणियों को खाकर सफ़ाई न करें तो मुर्दों के पहाड़ लग जाएँ और उनकी सड़ाँद से मनुष्यों का जीना दूभर हो जाए। इसी प्रकार सुवर, मुर्ग़, चील, कौवे और चिउँटी आदि भी मल और सड़े मांस को खाकर और पृथिवी को पवित्र बनाकर मनुष्य की सेवा कर रहे हैं। इनके अतिरिक्त मछलियाँ तथा अन्य सभी जल-जन्तु पानी को स्वच्छ करते हैं। समुद्र में यदि मछलियाँ न हों तो उसका पानी मलिनता के कारण इतना स्थूल हो जाए कि वह सूर्यताप से तप्त ही न हो और वहाँ बादल ही न बन सके। **'अहिंसाधर्मप्रकाश'** के उत्तरार्ध (पृष्ठ ७६) में लिखा है कि तुर्किस्तान के आसपास रक्तसमुद्र में मछलियाँ नहीं हैं, इसलिए वहाँ का पानी बहुत ही गन्दा हो गया है और वहाँ वर्षा एकदम बन्द हो गई है। जिस प्रकार जलजन्तु जल को स्वच्छ करते हैं उसी प्रकार वायु में उड़नेवाले पक्षी और कृमि भी वायु के मल को खा जाते हैं और वायु को शुद्ध कर देते हैं। इसी प्रकार सर्प और बिच्छू आदि विषैले प्राणी भी जल, स्थल और वायु के विष को खा जाते हैं और संसार को विषहीन बनाये रखते हैं।

इस सेवा के अतिरिक्त अनेक पशु, पक्षी और कीड़े मनुष्य को वैज्ञानिक विषयों में भी बड़ी सहायता देते हैं। भेड़ें ऐसे स्थान में नहीं बैठतीं जहाँ ज़मीन के नीचे पोल होती है। यदि पुराना कुआँ दीवार के गिर जाने से दब जाता है तो भेड़ें उतनी गोल ज़मीन को छोड़कर बैठती हैं। इससे भूगर्भविद्यासम्बन्धी अनेक बातें जानी जाती हैं। इसी प्रकार जोंक (जलौका) बड़े-बड़े तूफ़ानों को बतला देती है। आप एक गिलास में पानी भरिये और एक जोंक को उसमें डाल दीजिए। यदि तूफ़ान आनेवाला है तो जोंक पेंदी में बैठ जाएगी और यदि तूफ़ान आनेवाला नहीं है तो जोंक पानी के ऊपर ही तैरती रहेगी, किन्तु यदि तूफ़ान अभी दूर है और देर से आनेवाला है तो जोंक पानी के बीचोबीच विकल-सी तड़पड़ाती रहेगी। इसके अतिरिक्त जोंक ख़राब ख़ून के निकालने का भी काम करती है। इसी प्रकार अग्निप्रपात, भूकम्प, तूफ़ान और वर्षा आने के पूर्व ही छोटी-छोटी चिउँटियाँ अपने अंडों को लेकर भागती हैं, जिससे वर्षा का ज्ञान होता है। हिमालय के पक्षी बर्फ़ पड़ने की सूचना देते हैं और खंजन पक्षी इस सूचना को प्रतिवर्ष यहाँ तक पहुँचाता है। इसी प्रकार मण्डूक भी पानी सूखने की सूचना देते हैं। एक तालाब का पानी सूख जाता है तब वे दूसरे तालाब को चले जाते हैं और दूर स्थित जल का रास्ता अपने आप जान लेते हैं तथा जिस पानी में रहते हैं उस पानी के सूखने की ख़बर भी वे पहले से ही पा जाते हैं। इन बातों से मनुष्य लाभ उठा सकता है। इसी प्रकार कबूतर पक्षी तार और डाक का काम देते हैं। जहाँ तार चिट्ठी नहीं जा सकती, वहाँ कबूतर ही ख़बर पहुँचाते हैं।

जिस प्रकार ये पशु-पक्षी मनुष्य की नाना प्रकार से सेवा करते हैं उसी प्रकार वृक्ष भी फल-फूल देकर, अन्न देकर, ओषधियाँ देकर और वर्षा आदि अनेक प्रकार के अमूल्य साधनों को देकर मनुष्य की सेवा करते हैं। ये वृक्ष मनुष्यों की ही नहीं प्रत्युत नाना प्रकार के फल-फूल, तृण और अन्न आदि देकर पशु-पक्षियों की भी सेवा करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि समस्त हीनाङ्ग प्राणी अपने से उत्तमाङ्ग प्राणी की सेवा करके उसके ऋण से मुक्त होते हैं। यह क्रम हमें इन तीन ही प्रधान थोकों में नहीं दिखलाई पड़ता प्रत्युत वह इन तीनों महाविभागों के अन्तर्गत आवान्तर उपविभागों में भी दिखलाई पड़ता है। जिस प्रकार एक प्रतिभावान् पुरुष के प्रभाव में साधारण बुद्धि के अनेक व्यक्ति आ जाते हैं और स्वभाव से ही उसका आदर-सत्कार करने लगते हैं, उसी प्रकार पशुओं और वृक्षों के अन्तर्गत उनकी समस्त उपशाखाएँ भी एक-दूसरी को

सहायता देती हैं। सिंहादि मांसाहारियों को अपना मांस देकर यदि दूसरे प्राणी सहायता न दें तो क्या एक दिन भी हिंसक जन्तु संसार में रह सकते हैं। इसी प्रकार दीमक यदि घर बनाकर सर्प को न दे और कौवा यदि कोयल के बच्चों का पालन न करे तो क्या संसार में सर्पों और कोयलों का कहीं पता मिल सकता है ? लोग कहते हैं कि यदि बंदर संसार में न रहें तो घोड़ों का नाम-निशान ही मिट जाए, क्योंकि घोड़ों के असाध्य रोग बन्दरों के सहवास से अच्छे हो जाते हैं। इसी से 'घोड़े की बला बन्दर के शिर' की कहावत प्रचलित है। कहावत ही प्रचलित नहीं है, किन्तु हम प्रत्यक्ष देखते है कि बड़े-बड़े राजाओं के अस्तबलों में घोड़ों के साथ बन्दर भी बँधे रहते हैं। इससे कह सकते हैं कि यह कहावत असत्य नहीं है।

जिस प्रकार पशुओं के समस्त अवान्तर भेद परस्पर एक-दूसरे की सेवा कर रहे हैं उसी प्रकार वृक्षों की भी अवान्तर योनियाँ परस्पर सहायता कर रही हैं। यह बात हमें लताओं के देखने से बहुत ही अच्छी प्रकार स्पष्ट होती है। हम देखते हैं कि प्राय: सभी लताएँ वृक्षों के ही सहारे रहती हैं। यहाँ तक कि नागबेल आदि लताओं का तो पालन ही दूसरे वृक्षों पर होता है और बबूल वृक्ष की सहायता से तो ऊसर भूमि में भी घास होने लगती है। कहने का तात्पर्य यह कि समस्त अवान्तर योनियाँ परस्पर सहाय्य-सहायक होकर और अपने से उच्च विभागों का ऋण चुकाकर सेवा करती हैं और यह बात घोषणापूर्वक कहती हैं कि इस सृष्टि में एक भी ऐसी योनि नहीं है जो निरर्थक हो और उसके सार्थक होने का कारण न हो।

चेतनसृष्टि की इस सुसङ्गठित बनावट से और जड़सृष्टि के साथ उसके घनिष्ट सम्बन्ध से प्रतीत होता है कि यह संसार एक बहुत बड़ा यन्त्र है, जिसका सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, वायु और जलादि जड़ सृष्टि ढाँचा है और उस ढाँचे में जड़ी हुई समस्त चेतन योनियाँ उसके संश्लिष्ट पुरज़े हैं। इस यन्त्र के कारीगर ने इसमें एक भी ऐसा पुरज़ा नहीं लगाया जो व्यर्थ और अकारण हो, इसलिए इसका उपयोग बहुत ही समझ-बूझकर करना चाहिए।

अध्ययन और विचार

मोक्ष से सम्बन्ध रखनेवाले इन उपर्युक्त समस्त मौलिक सिद्धानें का सुनना और उनपर ध्यान से विचार करना आर्यसभ्यता का सबसे प्रधान लक्षण हैं। यही कारण है कि एक आर्यबालक आचार्यकुल में जाकर यज्ञोपवीत के दिन से ही सन्ध्योपासन के समय **'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** का पाठ नित्य पढ़ता है और गुरुमुख से नित्य इसका अर्थ सुनता है कि इस सूर्य-चन्द्रादि सृष्टि को परमात्मा ने उसी प्रकार बनाया है, जिस प्रकार इसके पूर्व भी वह अनेक बार बना चुका था। इस नित्य के श्रवणाध्ययन से धीरे-धीरे विद्यार्थी को सृष्टि के कारणों और उसके उत्पत्तिक्रमों का ज्ञान होने लगता है और हमने गत पृष्ठों में जिस वैदिक, आर्ष और आर्यरीति से सृष्टि के कारणों और उसके उत्पत्तिक्रमों का वर्णन किया है उस रीति से सृष्टि का रहस्य खुल जाता है और उसके हृदय में तीन बातें निर्भ्रान्तरूप से अपना घर कर लेती हैं।

पहली बात तो उसके मन में यह जम जाती है कि इस सृष्टि को अनियमित, अस्वाभाविक और क्षुभित करनेवाला केवल मनुष्य ही है। जब तक मनुष्य उत्पन्न नहीं होता तब तक सृष्टि में कुछ भी अस्वाभाविकता अथवा पाप नहीं होता, प्रत्युत सब प्राणी सृष्टि के नियमों में बँधे हुए अपना-अपना नियमित काम करते हैं और कोई किसी को दु:ख नहीं देता, किन्तु मनुष्य के उत्पन्न होते ही संसार में अस्वाभाविकता आ जाती है[१]। इसका कारण मनुष्य का ज्ञानस्वातन्त्र्य ही

१. गोयथ (Goeth) भी कहता है कि 'All the prospect pleases, only man is vile' अर्थात् समस्त बुराइयों की जड़ मनुष्य ही है।

है। यह अपने ज्ञानस्वातन्त्र्य से सृष्टि के नियमों का भंग करता है और समस्त प्राणियों को दु:खी कर देता है। दूसरी बात उसके मन में यह बैठ जाती है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं सब पूर्वजन्म के मनुष्य ही हैं। मनुष्यों ने अपने ज्ञानस्वातन्त्र्य से जो सृष्टिनियमों के विरुद्ध कर्म किया है उसी के फल भोगार्थ उनको ये शरीर मिले हैं, क्योंकि इन प्राणियों के शरीरों की बनावट मनुष्य के शरीरों के साथ सर्वथा मिलती-जुलती है। अन्तर केवल इतना ही है कि इन्होंने जिस-जिस अङ्ग का दुरुपयोग किया है वह-वह अङ्ग मन्द हो गया है और अब ये खड़े शरीरवाले न रहकर आड़े और उलटे शरीरवाले हो गये हैं। तीसरी बात उसके मन में यह स्थिर हो जाती है कि मनुष्य ही अपने दुष्कर्मों के कारण पशु, पक्षी और वृक्ष होकर नाना प्रकार के कष्ट भोगता है तो अब ऐसे कर्म न करने चाहिएँ, जिससे पशु अथवा वृक्ष होना पड़े, किन्तु ऐसे कर्म करने चाहिएँ कि जिससे इन पशुओं और वृक्षों के मूलकारण मनुष्यशरीर को ही धारण न करना पड़े।

इसके सिवा मनुष्य शरीर में भी तो सब दु:ख-ही-दु:ख भरा है। रोग, दोष, हानि, बिछोह, भय, चिन्ता और जरा-मरण आदि अनिवार्य कष्टों से छुटकारा इसमें भी तो नहीं है। इसमें भी तो राजा और सृष्टिशासन की अनिवार्य परतन्त्रता भोगनी पड़ती है, इसलिए अब इन शरीरों के फेर से ही निकल जाना चाहिए और आज से अब ऐसे कर्म करने चाहिएँ जिनसे भविष्य में न तो स्वयं शरीर धारण करना पड़े और न अन्य प्राणियों को ही कष्ट हो, प्रत्युत एक ऐसा मोक्षमार्ग बन जाए कि जिसके द्वारा हमें भी मोक्ष मिल जाए और ये प्राणी भी मनुष्य-शरीर में आकर मोक्षमार्गी बन जाएँ, किन्तु प्राय: लोगों की ओर से इस कर्मयोनि और भोगयोनि के पुनर्जन्मसम्बन्धी सिद्धान्त पर यह आपत्ति की जाती है कि जब मनुष्य ही कर्मयोनि है और वही कर्मवश कर्मफल भोगने के लिए अन्य भोगयोनियों में आता है और जब वही एक छोटे-से मलिन पानी के कुण्ड में कृमिरूप से इतनी अधिक संख्या में विद्यमान है, जो संख्या वर्त्तमान पौने दो अरब मनुष्यों से भी अधिक है तो क्या यह सम्भव है कि इतने अधिक मनुष्य कभी रहे हों, जिनकी संख्या वर्त्तमान समस्त भोगयोनियों से भी अधिक रही हो और ये समस्त भोगयोनियाँ मनुष्य ही रही हों?

इस आपत्ति का उत्तर बहुत ही सरल है। हम प्रकृति में देखते हैं कि बहुत ही छोटी-सी ग़लती की सज़ा बहुत ही अधिक मिलती है, यद्यपि ग़लती को छोटा नहीं कहा जा सकता। रास्ता चलते समय तनिक-सा चूक जाने पर मनुष्य गिर जाता है और अपने हाथ-पैर तोड़ बैठता है। इसी प्रकार एक वेश्यागामी तनिक-सा चूकने पर ऐसी-ऐसी व्याधियों में पड़ जाता है कि जिनसे उसका सारा जीवन ही नष्ट हो जाता है। थोड़े पाप में बड़ी सज़ा के इस नियमानुसार मनुष्य जब पाप करके नीच योनियों में जाता है तब उसे एक-एक योनि में कई-कई बार जन्म लेना पड़ता है और समस्त योनियों का चक्कर लगाकर ही मनुष्ययोनि में आने का अवसर मिलता है। इस बीच में यदि किसी दुष्ट द्वारा अकाल ही में फिर मारा जाता है तो उस अत्याचारी मनुष्य से बदला लेने के लिए आपत्काल के ईश्वरीय नियमानुसार किसी हिंस्र योनि में जन्म लेकर अपने कर्मों को भी भोगता है और उस दुष्ट का भी संहार करता है। इसके अतिरिक्त जब सारा मनुष्यसमाज अत्याचारी हो जाता है और प्राणियों का बेहिसाब नाश कर देता है तब नवीन उत्पन्न होनेवालों के लिए माता-पिता का ही अभाव हो जाता है। फल यह होता है कि पैदा होनेवाले बंचे हुए थोड़े-से ही माता-पिताओं के द्वारा बहुत बड़ी संख्या में जन्म ग्रहण करते हैं, और आहारन्यूनता से अकाल में मरते हैं और फिर उन्हीं योनियों में उत्पन्न होते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि मनुष्ययोनि से हटने पर प्राणी बड़े चक्कर में पड़ जाता है और वहाँ से लौटना

कठिन हो जाता है। इधर मनुष्य बात-बात में ग़लती करता है और छोटी ग़लती में बड़ी सज़ा के नियमानुसार कर्मफल भोगने के लिए जल्दी-जल्दी दूसरी योनियों में जाता है और वहाँ देर तक रहता है। परिणाम यह होता है कि आय कम और व्यय अधिक होने के कारण पशु-समुदाय की वृद्धि और मनुष्यसमुदाय की न्यूनता बनी रहती है। इस बात को एक दृष्टान्त से समझना चाहिए।

कल्पना कीजिए कि आपने कुछ कपड़े धोबी को धोने के लिए दिये, परन्तु वह जल्दी से धोकर न लाया और आपको दूसरे कपड़े फिर देने पड़े, किन्तु फिर भी धुलकर जल्दी से न आये फिर और देने पड़े। इस प्रकार दो-चार बार ही में घर के सब कपड़े धोबी के यहाँ जमा हो गये। अब कुछ दिन में वह चार-छह कपड़े लाया, परन्तु तब तक आपने और भी दस कपड़े मैले कर डाले और धोबी को दे दिये। फल यह हुआ कि आपके घर से धोबी के घर में कपड़े अधिक हो गये। जो हाल इस उदाहरण का है वही मनुष्ययोनि की कमी और अन्य योनियों की अधिकता का है। यह क्रम अनादि काल से चला आता है और अनन्त कालपर्यन्त चलता जाएगा, इसलिए उपर्युक्त शंका कर्मयोनि और भोगयोनि के सिद्धान्त को असिद्ध नहीं कर सकती और न इस बात को हटा सकती है कि कर्मयोनि मनुष्य ही इन भोगयोनियों में जाता है।

आर्यों ने अपने अध्ययन-अध्यापन और श्रवण-मनन के द्वारा अपनी सभ्यता के मूलाधार मोक्ष के प्रशस्त मार्ग का इस प्रकार निश्चय किया है। उन्होंने अच्छी प्रकार समझ लिया है कि अज्ञान और अभिमान से जो काम किये जाते हैं उनसे प्राणियों को दुःख होता है और उस दुःख का प्रतिफल देने के लिए नाना प्रकार की योनियों में जन्म धारण करना पड़ता है, इसलिए किसी भी प्राणी को चाहे वह मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, तृण-पल्लव आदि कोई हो किसी को कभी भी कष्ट न देना चाहिए, परन्तु लोग कहते हैं कि जब यह सिद्ध हो चुका कि समस्त पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और तृण-पल्लव पूर्वजन्म के अपराधी हैं—मनुष्य के ऋणी हैं, तब इनके सुख-दुःख और हानि-लाभ की बात सोचना ही व्यर्थ है। हम जिस प्रकार चाहें उनका उपयोग कर सकते हैं और अपना ऋण ब्याज के सहित प्राप्त कर सकते हैं। इस प्राप्ति में यदि उनका वध भी करना पड़े तो कोई पाप की बात नहीं है।

सुनने में ये बातें किसी अंश में ठीक प्रतीत होती हैं, परन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि इस प्रकार का आरोप करनेवालों ने न तो अपराध और दण्डविधान पर ही ध्यान दिया है और न ऋण और ऋणदाता पर ही। अपराध और दण्डविधान वादी और प्रतिवादी के अधीन नहीं हैं, प्रत्युत वे न्यायाधीश के अधीन हैं। प्रत्येक अपराधी अपने वादी का अपराधी नहीं है, प्रत्युत वह उस विधान का अपराधी है जो न्यायाधीश की ओर से स्थिर किया गया है, इसलिए किसी वादी को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने प्रतिवादी को अपनी इच्छा से कुछ भी कष्ट दे। यह अधिकार न्यायाधीश को ही है कि वह जो कुछ दण्ड—जुर्माना करे उसमें से अमुक भाग वादी को भी दिला दे, पर वादी अपनी इच्छा से कुछ भी नहीं ले-सकता। इसी प्रकार ऋणदाता भी ऋणी से तक़ाज़ा ही कर सकता है, उसे दण्ड नहीं दे सकता और न उसको मारकर उसके चमड़े से अपना रुपया ही प्राप्त कर सकता है। ऐसी दशा में कोई भी मनुष्य किसी भी पशु आदि प्राणी को न तो कष्ट ही दे सकता है और न उसका वध ही कर सकता है, इसलिए मनुष्य को चाहिए कि वह किसी भी प्राणी को कुछ भी कष्ट दिये बिना जो कुछ काम लेते बने वह ले-ले। काम लेने का सबसे उत्तम नियम इस सृष्टि के नियामक ने स्वयं ही बना दिया है। उसने प्रत्येक प्राणी की जाति, आयु और भोगों को नियत करके बतला दिया है कि जिस प्राणी से तुम काम लेना चाहो उसकी जाति के अनुसार उसको पूर्ण आयु जीने दो और उसकी जाति के अनुसार उसका

जो कुछ भोग नियत हो वह भोगने के लिए रुकावट पैदा न करो, किन्तु उसके भोगों को जुटाने का प्रबन्ध करो।

जाति, आयु और भोग

योगशास्त्र में लिखा है कि **'सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगः'**, अर्थात् पूर्वकर्मानुसार प्राणियों को जाति, आयु और भोग मिलते हैं[१]। प्रत्येक प्राणी किसी-न-किसी जाति का होता है। जाति की पहिचान बतलाते हुए न्यायशास्त्र में गौतममुनि कहते हैं कि **'समानप्रसवात्मिका जाति'**, अर्थात् जिसका समान प्रसव हो वह जाति है। समान प्रसव वह कहलाता है कि जिसके संयोग से वंश चलता हो। गाय और बैल के संयोग से वंश चलता है, इसलिए वे दोनों एक जाति के हैं, परन्तु घोड़ी और कुत्ते से वंश नहीं चलता, इसलिए ये दोनों एक जाति के नहीं है। इस जाति की दूसरी पहचान आयु है। जिन-जिन प्राणियों का समान प्रसव है उनकी आयु भी समान ही होती है। जितने दिन प्रायः गाय जीती है उतने ही दिन प्रायः बैल भी जीता है, परन्तु जितने दिन घोड़ी जीती है उतने ही दिन कुत्ता नहीं जीता। जाति की तीसरी पहचान भोग है। जिनका समान प्रसव और समान आयु है उनके भोग भी समान ही होते हैं। गाय और बैल का समान प्रसव और समान आयु है, इसलिए दोनों के भोग भी—आहार-विहार भी—समान ही हैं, परन्तु घोड़ी और कुत्ते का जहाँ समान प्रसव और समान आयु नहीं है वहाँ भोग भी समान नहीं है। घोड़ी घास खाती है और कुत्ता घास नहीं खाता, किन्तु मांस खाता है। तात्पर्य यह कि प्रत्येक जाति का प्रसव, आयु और भोग एक-समान ही होता है और इन्हीं तीनों गुणों से प्रत्येक योनि पहचानी जाती है, इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे जिस प्राणी से काम लेना चाहें उसकी जाति के अनुसार उसके भोगों को देते हुए उसकी पूर्ण आयु तक जीने का अवसर दें।

जिस प्रकार किसी सज़ा पाये हुए क़ैदी के लिए तीन बातें नियत होती हैं, उसी प्रकार प्राणियों को जाति, आयु और भोग दिये गये हैं। क़ैदी के लिए लिखा होता है कि यह अमुक श्रेणी की जेल में जाए, अमुक अहार-विहार के साथ अमुक काम करे और अमुक समय तक वहाँ रहे। यहाँ क़ैदी की श्रेणी ही प्राणियों की जाति है, क़ैदी का काम और आहार-विहार ही प्राणियों के भोग हैं और क़ैद की अवधि ही प्राणियों की आयु है। जिस प्रकार क़ैदी को उसके भोग देकर ही उतने दिन तक अमुक जेल में रक्खा जा सकता है, उसी प्रकार इन समस्त प्राणियों को भी उनके भोग देकर ही उनसे उनकी आयुभर काम लिया जा सकता है। यदि जेलदारोग़ा कैदी के भोग और स्वास्थ्य, अर्थात् आयु में विघ्न डाले तो वह अपराधी समझा जाता है, क्योंकि राजा का यह अभिप्राय नहीं है कि क़ैदी को मार डाला जाए। इसी प्रकार वे मनुष्य जो प्राणियों को दुःख देते हैं, परमात्मा के न्याय के विरुद्ध करते हैं, अतएव पापी हैं। जैसे अन्य प्राणियों के भोग और आयु में बाधा पहुँचाना पाप है वैसे ही मनुष्यों की समानता में भी बाधा पहुँचाना पाप है। जिस प्रकार एक समानप्रसव जाति समान आयु को प्राप्त करके समान भोगों को भोगती है उसी प्रकार हम मनुष्यों को भी समझना चाहिए कि समस्त मनुष्य भी समानप्रसव और समान आयुवाले हैं, इसलिए उनके भोग भी समान ही होने चाहिएँ।

---

१. कुछ लोग जाति का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि, आयु का अर्थ फलितज्योतिष के अनुसार वर्ष, मास, दिन आदि और भोग का अर्थ सुख-दुःख, अर्थात् प्रारब्ध आदि करते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ समानप्रसव से स्पष्ट कर दिया गया है कि ब्राह्मण और क्षत्राणी का समान प्रसव होता है, इसीलिए दोनों एक ही जाति के है, अलग नहीं। इसी प्रकार आयु और भोग भी भिन्न-भिन्न योनियों से ही सम्बन्ध रखते हैं, घड़ी, पल अथवा प्रारब्ध आदि से नहीं।

जो नियम समानप्रसव, समान आयु और समान भोगवाले मनुष्यों और प्राणियों के अपराधों और दण्डों तथा जेलों और दण्डों का है, वही नियम ऋणी और धनी के लेन-देन का भी है। मनुष्य जब किसी का ऋणी होता है तब महाजन भी उसको अपने घर में रखकर और उससे काम कराकर ही अपना रुपया प्राप्त करता है और ऋणी को जिन-जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है वे पदार्थ महाजन ही देता है, क्योंकि वह जानता है कि बिना रुपया दिये यदि वह भूख से मर जाएगा या अन्य दु:खों से घबराकर कहीं चला जाएगा तो मेरा रुपया डूब जाएगा। इसलिए यदि मनुष्यों को मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों से लेना है तो उन्हें हर प्रकार से सुखी रखना चाहिए। सुखी रखने का नियम सृष्टि ने बतला दिया है कि प्रत्येक प्राणी की जाति, आयु और भोग नियत है, अत: तुम उसके भोगों को देते हुए और उसकी पूर्ण आयु तक रक्षा करते हुए अपना ऋण लेते चले जाओ और ऐसा प्रबन्ध करो कि कभी किसी प्राणी की अकालमृत्यु न हो। इसपर प्राय: लोग कहते हैं कि यदि परमेश्वर को किसी की अकालमृत्यु स्वीकार न होती तो वह वर्षाऋतु में पानी बरसाकर, जंगलों में अग्नि जलाकर और आँधी-तूफान उत्पन्न करके क्यों करोड़ों प्राणियों को अकाल में ही मारता और क्यों व्याघ्रादि हिंस्र प्राणियों को उत्पन्न करके लाखों प्राणियों का अकाल में ही संहार करता?

इसका उत्तर बहुत ही सरल है। हम गत पृष्ठों में कर्मानुसार चेतनसृष्टि के उत्पत्ति क्रमों का वर्णन करते हुए दो प्रकार की सृष्ट्युत्पत्ति क्रमों का वर्णन कर आये हैं। पहला क्रम सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण के अनुसार खड़ी, आड़ी और उलटी सृष्टि की उत्पत्ति का है और दूसरा आपत्कालक्रम है जो सृष्टि की अस्वाभाविकता को रोकने के लिए काम में लाया जाता है, अर्थात् जब मनुष्य अपनी हिंसावृत्ति से प्राणियों का संहार यहाँ तक बढ़ा देता है कि उनको अपने कर्मफलों के भोगने के लिए पूरी आयु तक जीना भी कठिन हो जाता है और जब मनुष्यसमाज जंगलों को काटकर, पहाड़ों को तोड़कर, समुद्रों को हटाकर और भौगर्भिक पदार्थों को निकालकर सृष्टि में व्यतिक्रम उत्पन्न कर देता है, जिससे सृष्टि के नियमों में बाधा पड़ती है और प्राणियों को कष्ट होता है, तब परमात्मा उन अत्याचारी मनुष्यों को कीड़े-मकोड़े और कीट-पतंग बनाकर उन्हीं वर्षा, अग्नि और तूफ़ान आदि प्राकृतिक घटनाओं के द्वारा प्रतिवर्ष मार देता है जिनको उन्होंने जंगल आदि काटकर बिगाड़ा था।

इसी प्रकार मांसाहारी मनुष्यों को पशु बनाकर और पीड़ित पशुओं को हिंस्र प्राणी बनाकर उन्हें अत्याचार का प्रतिफल दिला देता है। जिस प्रकार ये दोनों प्रबन्ध होते हैं उसी प्रकार जब प्राणियों का नाश इतना अधिक हो जाता है कि जीवों को जन्म धारण करने के लिए पूरे माता-पिताओं की भी कमी हो जाती है तब इन थोड़े-से ही माता-पिताओं में ही अधिक सन्तान उत्पन्न होने लगती है, परन्तु जब थोड़े-से माता-पिता भी सब जीवों को उत्पन्न नहीं कर सकते तब परमेश्वर उस अत्याचारी मनुष्यसमाज का नाश करने के लिए उन्हीं आनेवाले प्राणियों को ऐसा ज़हरीला बना देता है कि ये नाना प्रकार की बीमारी के जर्म्स बनकर मनुष्यों का नाश कर देते हैं और ऐसे वृक्षों को भी उत्पन्न कर देता है जो मनुष्यादि प्राणियों को पकड़-पकड़कर खा जाते हैं और पशुओं तथा जंगलों की रक्षा कर लेते हैं। यह सारा प्रबन्ध सृष्टि के नियमों की रक्षा करने के लिए किया जाता है। सृष्टि के ये नियम अनादि हैं, क्योंकि पूर्व सृष्टि के अत्याचारियों को प्रतिफल दिलाने के लिए परमात्मा आदिसृष्टि में भी मकड़ी और बतखों की भाँति कुछ ऐसी योनियाँ उत्पन्न कर देता है जो स्वभावत: ही प्राणियों का नाश करती हैं, इसलिए मनुष्य को यह उचित नहीं है कि वह परमेश्वर के अपराधियों को अपना अपराधी समझकर उन्हें सताये।

जिस प्रकार कोई अपराधी या ऋणी न्यायाधीश की आज्ञा से ही दण्ड पा सकता हैं, वादी की ओर से नहीं उसी प्रकार वर्षा, आग, आँधी और भूकम्प के द्वारा अथवा सिंह-व्याघ्र आदि हिंस्र पशुओं के द्वारा परमेश्वर ही प्राणियों का अकाल में संहार कर सकता है, अन्य कोई नहीं, इसलिए ईश्वरीय न्यायव्यवस्था का तात्पर्य यह नहीं निकाला जा सकता कि जब परमेश्वर लाखों प्राणियों को अकाल में मार देता है तो मनुष्य भी उनको अकाल में मार डाले। प्रत्युत यह तात्पर्य तो अवश्य निकलता है कि मानुषी दुरवस्था के कारण परमेश्वरीय व्यवस्था को छोड़कर, जिन प्राणियों ने दूसरे प्राणियों को अकाल में मारकर खाने का अभ्यास कर लिया है, उस अभ्यास के छुड़ाने का प्रयत्न मनुष्य अवश्य करे।

हम चेतनसृष्टि की उत्पत्ति में लिख आये हैं कि परमात्मा ने पूर्वसृष्टि के बचे हुए दुष्टों के दुष्कर्मों का फल देने के लिए मकड़ी और बतख आदि थोड़ी-सी ऐसी भी योनियाँ उत्पन्न की हैं जो स्वभावत: जीवित प्राणियों को मारकर खाती हैं और शेष सिंहादि मांसाहारी प्राणी मुर्दों का मांस खाकर केवल संसार की सफ़ाई करने के ही लिए बनाये गये हैं, जीवित प्राणियों को मारकर मांस खाने के लिए नहीं। साथ ही हम यह भी लिख आये हैं कि उनमें जीवित प्राणियों को पकड़कर खानेवाले तभी उत्पन्न होते हैं जब मनुष्यों में प्राणिसंहार की प्रवृत्ति अत्यधिक बढ़ जाती है, इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे प्राणियों का मारना और उनका मांस खाना छोड़ दें, जिससे हिंस्र जन्तुओं से हिंसा करने का स्वभाव जाता रहे, क्योंकि जब मनुष्य अन्य प्राणियों का वध करके उनका मांस खाता है तब उन पशुओं के भोजन में कमी उत्पन्न होती है, जिनका भोजन संसार की सफ़ाई के उद्देश्य से मृत प्राणियों का मांस बनाया गया है। भोजन में कमी होने से ही वे चोर और डाकुओं की भाँति दूसरे जीवित प्राणियों को चोरी से मारकर खाते हैं। ऐसी दशा में यही कहना पड़ता है कि जीवित पशुओं को पकड़कर खाने की आदत उनकी स्वाभाविक नहीं है, प्रत्युत मनुष्यों के कारण से हुई है। यहाँ हम हिंस्र पशुओं के स्वभाव से सम्बन्ध रखनेवाली दो-एक घटनाओं का वर्णन करके दिखलाते हैं कि जीवित जानवरों को पकड़कर खाने की आदत उनकी स्वाभाविक नहीं है।

कोई २५ वर्ष पुरानी बात है कि मध्यप्रदेश की रायगढ़ रियासत में एक छोटा-सा शेर का बच्चा पकड़कर लाया गया। राजा साहब ने उसे पाल लिया और उसके खाने के लिए मांस का प्रबन्ध करा दिया। तदनुसार उसको नित्य मांस के टुकड़े बाहर से दिये जाने लगे। यह क्रम साल भर से भी ज़्यादा जारी रहा। जब वह काफ़ी बड़ा हो गया तो एक दिन उसके कठहरे में ज़िन्दा बकरा डाल दिया गया। बकरे को देखते ही शेर एक कोने में जाकर बैठ गया और बकरा इधर-उधर घूमने लगा। यह ख़बर राजा साहब को दी गई। राजा साहब ने उस दिन से ज़िन्दा बकरा देना बन्द कर दिया, परन्तु विनोद के लिए जब इच्छा होती थी तब ज़िन्दा बकरा कठहरे में डलवाकर तमाशा देखा करते थे। जैसी यह घटना है वैसी ही एक घटना का वर्णन नवम्बर सन् १९१३ के प्रसिद्ध वैज्ञानिक अख़बार 'लिटिल पेपर' में इस प्रकार छपा था कि 'पशुओं में बच्चों के पालन का अद्भुत प्रेम देखा जाता है। बिल्लियाँ चूहों, शशकों और अन्य प्राणियों के बच्चों का पालन करती हैं। गौवें बकरी के बच्चों को पालती हैं। कुतियाँ लोमड़ी, ख़रगोश और भेड़ों के बच्चों को पालती हैं और शूकरियाँ भी बिल्ली के बच्चों को पालती हैं। सबसे बड़ा प्रसिद्ध उदाहरण डबलिन (जर्मनी) के चिड़ियाघर की वृद्धा सिंहनी का है, जिसने अपने माँद में एक कुत्ता पाल रक्खा था जो उसके माँद के चूहे मारा करता था'[१]। इसी प्रकार की एक बात महाभारत

१. The love of the young among the animals:—Animals have the same wonderful spirit of affection

में भी लिखी है—

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात्सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽल्पचेतना॥ —महा० सभापर्व [४४।३०]

अर्थात् भूलिंग पक्षी सिंह के मुँह में अपना मुँह डालकर उसके दाँतों में घुसे हुए मांस को निकाल कर खाता है।

भूलिङ्ग पक्षी बहुत बड़ा होता है। उसमें इतना मांस होता है कि सिंह उसको खाकर अपना पेट भर सकता है, परन्तु अपने मुँह के अन्दर आ जाने पर भी वह उसको नहीं मारता।

इन प्रमाणों से पाया जाता है कि जीवित प्राणियों का मारना व्याघ्रादि का स्वभाव नहीं है। संसार का सबसे बड़ा प्राणिशास्त्री आल्फ्रेड रसल वालिस ठीक ही कहता है कि 'मांसाहारी जन्तु केवल भूख लगने पर ही दूसरे प्राणियों को मारते हैं, मनोविनोद के लिए नहीं। पालतू बिल्लियों और चूहों के जो उदाहरण दिये जाते हैं, वे भ्रममूलक हैं'[१]। ठीक है, हिंस्रपशु यदि मनोविनोद के लिए प्राणियों की हिंसा करते तो सरकसवाले लोग सिंह-बाघों के साथ कैसे कुश्ती लड़ते ? इससे ज्ञात होता है कि हिंस्रपशु भूख के कारण ही प्राणियों की हिंसा करते हैं, परन्तु यदि समस्त संसार के मनुष्य मांस खाना छोड़ दें और प्रतिदिन के मरनेवाले पशुओं का मांस जंगलों और गाँवों की सरहदों में डलवा दिया जाए तो समस्त मांसाहारी प्राणी अपनी क्षुधा निवृत्त कर लें और अन्य प्राणियों का अकाल में मारना बन्द कर दें। कहने का तात्पर्य यह कि जब हिंस्रपशुओं का हिंसा करना स्वभाव ही नहीं है, जब वे मांस मिलने पर किसी की हिंसा करते ही नहीं और जब पर्याप्त मांस मिलने पर वे प्राणियों का मारना छोड़ सकते हैं तब यह नहीं कहा जा सकता कि प्राणियों का मारना उनका स्वभाव है। वे प्राणियों को तभी मारते हैं जब मनुष्य अन्य प्राणियों को मारखर खा जाता है। यदि मनुष्य अन्य प्राणियों को मारकर खाना छोड़ दे तो हिंस्रपशु भी जीवित जानवरों का मारना छोड़ दें, परन्तु जब मनुष्य प्राणियों को मारकर खाना नहीं छोड़ता तब परमेश्वर भी हिंसक पशुओं के द्वारा होनेवाली हिंसा की चिकित्सा नहीं कर सकता। यही कारण है कि संसार में हिंसा का साम्राज्य हो गया है और यह निर्णय करना कठिन हो गया है कि कितनी हिंसा ईश्वरी न्यायव्यवस्था से हो रही है और कितनी मनुष्यों के अत्याचार से।

मनुष्यकृत और ईश्वरकृत हिंसा में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि जो मनुष्यकृत है, वही ईश्वरकृत है। मनुष्य कर्म करता है और परमेश्वर उसी कर्म के अनुसार फल दे देता है, अर्थात् आगे-आगे मनुष्यों के कर्म और पीछे-पीछे परमेश्वर की व्यवस्था काम कर रही है, इसलिए मनुष्यकृत और ईश्वरकृत हिंसा में कुछ भी अन्तर नहीं है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि परमेश्वर हिंस्रपशुओं के द्वारा मनुष्यों और मनुष्यों के प्रिय पशुओं को अल्पायु में मरवाकर मनुष्यों को उनकी हिंसाप्रवृत्ति का प्रतिफल देता है तो यह हिंसा मनुष्यों की ही की हुई समझी जा सकती है, ईश्वर की कराई हुई नहीं, इसलिए मनुष्यों को उचित है कि वे किसी भी प्राणी की

---

for the young. Cats have reared rats and hares and rabbits and squirrels, cows have reared lambs, dogs have fed and brought up foxes and hares and wolves and kittens, a mother ferret has brought up a young rabbit; and there is a famous instance of a grand old lioness at the Dublin zoo which adopted a dog that killed the rats in her den. —(Little Paper) of November 1913.

१. It must be remembered that in a state of nature the carnivora hunt and kill to satisfy hunger, not for amusement, and all conclusion derived from the house-fed cat and mouse are fallacious.
—*The World of wild Life*, p. 377.

हिंसा न करें और प्रत्येक प्राणी को ऐसा अवसर दें कि वह अपने भोगों को भोगता हुआ अपनी पूर्ण आयु तक जिये और अपने श्रम से ऋण चुकाकर चला जाए। इस प्रकार का सृष्टि-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने से—सृष्टि के कारण-कार्य की मीमांसा को हृदयङ्गम करने से—मनुष्य सृष्टि का उचित उपयोग कर सकता है और संसार के उचित उपयोग से मोक्ष प्राप्त कर सकता है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य केवल उपर्युक्त सिद्धान्तों के जान लेनेमात्र से ही सृष्टि का उचित उपयोग नहीं कर सकता और न वह केवल सृष्टि के कारण-कार्य की शृङ्खला को समझकर ही न्याययुक्त व्यवहार कर सकता है, क्योंकि जानना और बात है और करना दूसरी बात है। इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह मोक्षसाधन के साथ-ही-साथ सृष्टि का उपयोग करे। इसका कारण यही है कि सृष्टि का उचित उपयोग मोक्षसाधना के साथ ही हो सकता है, अतएव आवश्यक जान पड़ता है कि हम यहाँ थोड़ा-सा मोक्ष के आभ्यन्तरिक विषयों का भी सारांश लिख दें।

मोक्ष का स्वरूप, स्थान और साधन

मोक्ष का स्वरूप दो प्रकार का है। दु:खों से छूट जाना पहला स्वरूप है और आनन्द प्राप्त करना दूसरा स्वरूप है। पहले स्वरूप के पक्षपाती कहते हैं कि दु:खों के ही अत्यन्ताभाव में आनन्द भरा हुआ है। वे कहते हैं कि सुषुप्ति इसका नमूना है, इसीलिए सांख्यशास्त्र में कहा गया है कि '**समाधिसुषुप्तिमोक्षेषु ब्रह्मरूपता**'[१] अर्थात् समाधि और सुषुप्ति आदि की ही भाँति मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है, परन्तु आनन्दपक्षवाले कहते हैं कि सुषुप्ति में केवल दु:खों का ही तिरोभाव होता है, आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। जो लोग कहते हैं कि जागने पर मनुष्य का यह कहना कि अच्छी नींद आई वह आनन्द की ही सूचना है, वे बाललीला ही करते हैं, क्योंकि सुषुप्ति के समय न सुखों का ही भान होता है, न दु:खों का ही। यदि सुखों और दु:खों का अत्यन्ताभाव ही आनन्द है तो क्लोरोफ़ार्म सूँघे हुए मनुष्य और मरे हुए मुर्दे सबको आनन्द ही में समझना चाहिए और पत्थर, मिट्टी तथा दीवारों को मुक्त ही मानना चाहिए, किन्तु मुक्ति का अर्थ आनन्द प्राप्त करना है, इसलिए मोक्ष का वह स्वरूप ग़लत है। मोक्ष का दूसरा स्वरूप आनन्द है, परन्तु बिना दु:खों की अत्यन्तनिवृत्ति के आनन्द भी नहीं हो सकता, इसलिए मोक्ष का सच्चा स्वरूप दु:खों की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति ही है, अत: हम यहाँ देखना चाहते हैं कि दु:खों की निवृत्ति और आनन्द प्राप्ति का क्या रहस्य है ?

दु:खों की अत्यन्तनिवृत्ति का अर्थ प्रकृतिबन्धन, अर्थात् मायावेष्टन से छूट जाना है। स्थूल और सूक्ष्म शरीरों से जब छुटकारा मिल जाता है तब दु:खों का अत्यन्ताभाव हो जाता है, क्योंकि न्यायशास्त्र में लिखा है कि दु:खों का कारण शरीर ही है। आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक आदि जितने दु:ख होते हैं सब शरीर ही के द्वारा होते हैं। इसलिए शरीर के अत्यन्ताभाव से ही दु:खों का अत्यन्ताभाव हो जाता है, परन्तु जैसाकि हमने अभी कहा है कि केवल दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति से ही आनन्द की प्राप्ति नहीं हो जाती, इसलिए देखना चाहिए कि आनन्द क्या है ?

आनन्द दो प्रकार का है। पहला प्रकार यह है कि मुझे किसी प्रकार का दु:ख न हो और मैं ज्ञानयुक्त होकर संसार का और अपने-आपका रसास्वादन करूँ। दूसरा प्रकार यह है कि मुझ किसी प्रकार का दु:ख न हो और मैं परमेश्वर को प्राप्त करके उसका रसास्वादन करूँ। इन दोनों प्रकारों में से पहले प्रकार में संसार और अपने-आपके रसास्वादन की लालसा है और दूसरे में परमात्मा के रसास्वादन की अभिलाषा है, इसलिए हम देखना चाहते हैं कि इन दोनों में से कौन-

---

१. सांख्य० ५।११०

सा प्रशस्त है।

इनमें से संसार के रसास्वादन में आनन्द नहीं है, क्योंकि संसार का रसास्वादन बिना शरीर के हो नहीं सकता और शरीर ही दु:खों का घर है, इसलिए दु:खदायी शरीर के साथ जो थोड़ा बहुत संसार का सुख अनुभूत होता है वह दु:खमिश्रित होने से कष्टकर ही होता है, इसलिए संसार के रसास्वादन का नाम आनन्द नहीं हो सकता। रहा अपने आपका रसास्वादन, वह भी आनन्द नहीं कहला सकता, क्योंकि एक तो अपने–आपसे कभी कोई अधिक समय तक तृप्त नहीं रह सकता, दूसरे अपने–आपका अनुभव करने के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा अपने–आपका अनुभव होता है। जब तक मस्तिष्क न हो तब तक विचार ही उत्पन्न नहीं हो सकते, इसलिए यह विचारानन्द भी शरीर के आश्रित होने से सदैव दु:खमिश्रित ही रहता है। तीसरी बात जो अपने–आपमें आनन्द के बिगाड़नेवाली है वह आत्मा की बनावट, अर्थात् उसका स्वभाव है। उसके स्वभाव में इच्छा, द्वेष, सुख, दु:ख और ज्ञान तथा प्रयत्न सदैव बने रहते हैं[१], इसलिए यह शान्ति से अपने–आपका रसास्वादन कर ही नहीं सकता। यही कारण है कि अपने–आपका रसास्वादन भी आनन्द नहीं कहला सकता। अब रही दूसरे प्रकार के आनन्द की बात। यह आनन्द परमात्मा के सकाश में, उसके सम्मेलन में और तदाकार हो जाने में बतलाया जाता है जो ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि शुद्ध और स्थायी आनन्द के लिए शुद्ध और स्थायी आनन्दवाले पदार्थ ही की आवश्यकता है, इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि **'तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति',**[२] अर्थात् जो आनन्दरूप अमृत है उसको विज्ञान से ही विद्वान् देखते हैं। इसका कारण यही है कि वह प्रकृतिबन्धन से रहित पूर्ण ज्ञानी और सर्वव्यापक है, अत: उसमें आनन्द के अतिरिक्त दु:खों की सम्भावना है ही नहीं। दूसरा कारण आनन्द का यह कि परमेश्वर की प्राप्ति से सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं और संसार की कोई बात ज्ञातव्य नहीं रहती[३]। इसलिए इसमें द्वैत–अद्वैत का झगड़ा ले–दौड़ना उचित नहीं है, किन्तु देखना यह है कि वेदों और उपनिषदों में किस प्रकार उसके सम्पर्क और उसके सम्मेलन से ही आनन्द बतलाया गया है। यहाँ हम इस विषय के थोड़े–से वाक्य उद्धृत करते हैं, जो इस प्रकार हैं—

तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति ।।[४] आश्चर्यवत्पश्यति वीतशोक: ।।
यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा: ।।[५] तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा: ।।[६]
तस्यैष आत्माविशते ब्रह्मधाम ।।[७] तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ।।[८]
यदा पश्य: पश्यते रुक्मवर्णम् ।।[९] जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशम् ।।[१०]
तमक्रतु: पश्यति वीतशोक: ।।[११] दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या ।।[१२]
ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ।।[१३] अयमात्मा ब्रह्म ।।[१४]

---

१. इच्छा–द्वेष–प्रयत्न–सुख–दु:ख–ज्ञानात्मनो लिङ्गम्। —वैशेषिकदर्शन
२. मुण्डक० २।२।७
३. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशया:। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ —[मुण्डक० २।२।८]
४. यजु:० ३१।१८
५. मुण्डक० ३।१।५
६. कठो० ५।१२
७. मुण्डक० ३।२।४
८. मुण्डक० ३।२।३
९. मुण्डक० ३।१।३
१०. श्वेता० ४।७
११. कठो० २।२०
१२. कठो० ३।१२
१३. मुण्डक० ३।२।९
१४. बृहदा० २।५।१९

इन उपनिषद्वाक्यों में परमात्मा की प्राप्ति, दर्शन, सम्मेलन और उसके साथ एकीकरण का वर्णन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि उसकी प्राप्ति से ही आनन्द मिल सकता है, इसलिए प्रकृतिबन्धन से छूटकर, अर्थात् जन्म-मरण के चक्कर से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति का ही नाम मोक्ष है और यही मोक्ष का वैदिक तथा शुद्ध स्वरूप है। इस प्रकार से मोक्ष का स्वरूप निश्चित हो जाने पर देखना चाहिए कि मोक्ष का स्थान कहाँ है।

जहाँ तक प्रकृति, अर्थात् माया का वेष्टन है, वहाँ तक दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता, क्योंकि प्रकृति परिणामिनी है, एकरस रहनेवाली नहीं। जो पदार्थ एकरस नहीं रहता और परिणामी होता है उसके संसर्ग से सदैव अनुकूलता-प्रतिकूलता बनी ही रहती है और प्रतिकूल वेदना से दुःख भी बने रहते हैं, इसलिए जब तक जीव प्रकृति के तीनों वेष्टनों से अलग न हो जाए तब तक वह दुःखों से बच नहीं सकता। प्रकृति का पहला वेष्टन सूक्ष्मशरीर है, दूसरा वेष्टन स्थूलशरीर और तीसरा वैष्टन यह बाहरी विराट् शरीर (ब्रह्माण्ड) है, जिसमें यह (पिण्ड) शरीर बँधा हुआ है। जब तक इन तीनों शरीरों से, अर्थात् समस्त मायिक जगत् से जीव पृथक् न हो जाए तब तक वह दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता, इसलिए प्राकृतिक जगत् और शुद्ध ब्रह्म की मर्यादा का वर्णन करते हुए वेद कहता है कि '**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**'[१] अर्थात् परमात्मा के एक पाद में यह समस्त मायिक जगत् है और तीन पाद द्यौ में अमर हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्राकृतिक जगत् परिणामी और मरणधर्मवाला है और अप्राकृतिक द्युलोक जहाँ प्रकृतिरहित केवल परमात्मा-ही-परमात्मा है, वही अमृत है, इसलिए जीवन्मुक्त पुरुष मरकर उसी दुःखरहित द्युलोक में जाता है, जहाँ केवल आनन्दस्वरूप परमात्मा ही है, प्राकृतिक जगत् नहीं।

वेदों में द्यावापृथिवीरूपी इस ब्रह्माण्ड (सम्पुट) का विस्तृत वर्णन है। इस सम्पुट के तीन भाग हैं—एक नीचे का, दूसरा मध्य का और तीसरा ऊपर का। नीचे के भाग को पृथिवी, मध्य के भाग को अन्तरिक्ष और ऊपर के भाग को द्यौ कहते हैं। अथर्ववेद ४।३९ में लिखा है कि '**पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः। द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः**' अर्थात् पृथिवीधेनु का अग्नि बछड़ा है, अन्तरिक्षधेनु का वायु बछड़ा है और द्यौधेनु का सूर्य बछड़ा है। यही तीनों लोक हैं और यही तीनों लोकों के तीनों देवता है। इनमें द्युलोक का देवता सूर्य है। सूर्य के आसपास तक ही प्राकृतिक जगत् है, सूर्य के बहुत आगे तक नहीं। सूर्य के आगे की सीमा का ही नाम द्युलोक है और वही वेद में स्वर्ग और ब्रह्मलोक के नाम से कहा गया है, अतः वही मोक्ष का स्थान है, इसीलिए उपनिषद् में कहा गया है कि '**सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति**' अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष सूर्यद्वार से ही मोक्षधाम को जाते हैं। इसका यही तात्पर्य है कि मायावेष्टन की सीमा सूर्य ही है, अतः सूर्य ही मोक्षधाम का द्वार है और सूर्य का पृष्ठभाग ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक है। अमरकोष में लिखा है कि—

स्वरव्ययं स्वर्ग-नाक-त्रिदिव-त्रिदशलयः।
सुरलोको द्यौर्दिवो द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्॥[२]

अर्थात् स्वः, अव्यय, स्वर्ग, नाक, त्रिदिव, त्रिदशालय, सुरलोक, द्यौ, दिव और त्रिविष्टप आदि शब्द एक ही पदार्थ के वाचक हैं। इन सब शब्दों में स्वः, स्वर्ग, नाक और द्यौ शब्द विशेष

---

१. यजुः० ३१।३
२. अमर० प्रथमं० स्वर्ग० १।६

ध्यान देने योग्य हैं। सभी सन्ध्या करनेवाले भूः, भुवः और स्वः को नित्य पढ़ते हैं। इसमें भूः पृथिवीवाची, भुवः अन्तरिक्षवाची और स्वः द्युलोकवाची है। उसी को स्वर्ग कहा गया है। इसी प्रकार नाक शब्द की निरुक्ति करते हुए यास्काचार्य कहते हैं कि **'नाक आदित्यो भवति',** अर्थात् नाक सूर्य ही है। इसी प्रकार सूर्य भी द्यौलोक का ही सूचक है और द्यौ तो द्यौ है ही। इसलिए द्युलोक के स्वर्ग होने में कुछ भी शंका नहीं रह जाती, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि यह वैदिक स्वर्ग नहीं है जिसका वर्णन सेमिटिक दर्शन से लेकर गीता आदि पुराणों में किया गया है, क्योंकि इस सेमिटिक स्वर्ग के निवासी देवता बड़े ही दुःखी हैं। वे सदैव अपने शत्रुओं से पीड़ित रहते हैं। उनके घर में घी-दूध के एक बूँद का भी ठिकाना नहीं है, वे पान-तम्बाकू के मोहताज हैं, गुड़, शक्कर के भिखारी है, स्त्रियों के कटाक्ष और बालकों की तोतरी भाषा के लालायित हैं तथा काव्यकला से वंचित है[१]। उनका राजा इन्द्र तो बड़ा ही भीरु, लम्पट, लुच्चा और जालसाज़ है। इसलिए वैदिक स्वर्ग से इस स्वर्ग का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वैदिक स्वर्ग तो वह है जिसमें जीवन्मुक्त उत्तम कर्मों को करता हुआ सूर्य के द्वार से जाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि **'तेन धीरा अपियन्ति ब्रह्मविदः स्वर्गलोकमित ऊर्ध्वं विमुक्ताः',**[२] अर्थात् ब्रह्मज्ञानी पुरुष मुक्त होकर ऊपर की ओर स्वर्गलोक को जाते हैं। इसी स्वर्ग को ब्रह्मलोक भी कहा गया है और सूर्य से ही उसका भी सम्बन्ध बतलाया गया है। मुण्डक उपनिषद् में लिखा है कि—

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥
एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्।
तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥[३]

अर्थात् आइए! आइए!! यही ब्रह्मलोक है, यह कहती हुई यज्ञाहुतियाँ सूर्य की किरणों के द्वारा यजमान को ब्रह्मलोक में ले-जाती हैं। जो समय पर अग्निहोत्रादि उत्तम कर्मों को करता है उसको सूर्य की किरणें वहीं पहुँचा देती हैं जहाँ वह देवाधिदेव परमात्मा रहता है।

इन प्रमाणों से यह स्पष्ट हो गया कि अग्निहोत्री को अग्नि की सातों ज्वालाएँ सूर्य की सातों किरणों के द्वारा उस स्वर्ग, अर्थात् ब्रह्मलोक में पहुँचा देती हैं, जो सूर्य के ऊपर है। यजुर्वेद में परमात्मा स्वयं कहता है कि **'योसावादित्ये पुरुषः सोऽ सावहम्',**[४] अर्थात् सूर्य द्वार से जो निर्मल और अमृतपुरुष दिखलाई पड़ता है, वह मैं ही हूँ। कहने का तात्पर्य यह कि स्वर्ग और ब्रह्मलोक एक ही स्थान के नाम हैं और यह स्थान सूर्य के ऊपर है तथा इसी में मुक्त पुरुष ब्रह्मानन्द का रसास्वादन करते हैं। उपनिषदों ने बहुत ही स्पष्ट रीति से वर्णन कर दिया है कि स्वर्ग और ब्रह्मलोक में मुक्तात्माएँ किस प्रकार का आनन्द प्राप्त करती हैं। यहाँ हम थोड़ी-सी उन्हीं उपनिषत् श्रुतियों को उद्धृत करते हैं, यथा—

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनयापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥[५]

---

१. **इक्षोर्विकारः मतयः कवीनां गवां रसो बालकचेष्टितानि।**
ताम्बूलपत्रं वनिताकटाक्षं एतान्यहो न शक्रनाके ॥

२. बृहदा० ४।८
३. मुण्डक० १।२।६,५
४. यजु:० ४०।१७
५. कठो० १।१२

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। —[कठो० १।१८]
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त। —[कठो० १।१३]
तत्प्रज्ञानेत्रं प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकाः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म॥ —[ऐतरेय० ५।३]
स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्
स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वाऽमृतः समभवत् समभवत्॥ —[ऐतरेय० ५।४]
स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं
ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स
एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते॥ —[प्रश्नो० ५।५]
तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति तेषां न पुनरावृत्तिः॥ —[बृह० ६।२।१५]
एवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते। —[छां० ८।१५।१]

अर्थात् स्वर्गलोक में न भय ही है और न वहाँ वृद्धावस्था का ही डर है। वहाँ तो क्षुधा-तृषा के दुःखों से छूटकर केवल आनन्द-ही-आनन्द है। स्वर्गलोक में जानेवाला मृत्यु के पाशों को तोड़कर वहाँ आनन्द करता है। जिस प्रकार सर्प अपनी केंचुली का परित्याग कर देता है उसी प्रकार जीवन्मुक्त सब पापों से छूटकर ब्रह्मलोक में आनन्दघन परमात्मा को प्राप्त होता है। इस प्रकार से जो ब्रह्मलोक में जाते हैं वे फिर लौटकर नहीं आते, अर्थात् जो ब्रह्मलोक को जाते हैं वे वापस नहीं आते! नहीं आते!!

इन उपर्युक्त समस्त प्रमाणों से स्वर्ग और ब्रह्मलोक से सम्बन्ध रखनेवाली तीनों शर्तों की पूर्ति प्रमाणित होती है, अर्थात् ब्रह्मविद् स्वर्ग को जाते हैं, वे हर प्रकार के भय, शोक और जरा-मृत्यु आदि दुःखों से छूट जाते हैं और समस्त कामनाओं से निवृत्त होकर आनन्दित हो जाते हैं। यही मोक्ष है और यही आर्यों की अन्तिम अभिलाषा है, किन्तु इसपर लोग यह आपत्ति करते हैं कि गीता और उपनिषदों में स्वर्ग और ब्रह्मलोक से वापस आना भी लिखा है, इसलिए स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम नहीं हो सकते और न स्वर्ग तथा ब्रह्मलोक के जानेवाले मुक्त ही समझे जा सकते हैं। वे अपने इस आरोप की पुष्टि में निम्न प्रमाण उपस्थित करते हैं—

नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूयेमं लोकं हीनतरं चाविवेश। —[मुण्डक० १।२।१०]
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मृत्युलोकं विशन्ति॥ —[गीता ९।२१]
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। —[मुण्डक० ३।१।६]
आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन॥ —[गीता ८।१६]

अर्थात् सूर्य के पृष्ठभाग—स्वर्ग में आनन्द भोगकर प्राणी हीनतर लोकों में जाते हैं। स्वर्गलोक का सुख भोगकर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं। परान्तकाल में ब्रह्मलोक से भी हट जाना पड़ता है और ब्रह्मलोक से भी पुनरावर्तन होता है।

आरोपकर्ता कहते हैं कि इन प्रमाणों में स्पष्ट ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक से वापस आना कहा गया है, इसलिए स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम नहीं हो सकते। इसपर हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि यह वेदों का सिद्धान्त है, इसलिए केवल पुनरावर्तन की दलील से खण्डित नहीं हो

सकता। वेद में स्पष्ट लिखा है कि—

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त॥ —यजु:० ३२।१०
यत्र राजा वैवस्वतो यत्रावरोधनं दिवः। यत्रामूर्यह्वतीरापस्तत्र माममृतं कृधि॥
यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः। लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधि॥
—ऋ० ९।११३।८-९

अर्थात् परमात्मा मेरा भाई, पिता और विधाता है। वह समस्त लोकलोकान्तरों को जानता है, इसलिए जहाँ देवता अमृतत्व को प्राप्त होते हैं उसी तृतीय धाम में मुझे पहुँचावे। जहाँ का राजा सूर्य है, जहाँ का द्वार द्यौ से ढका है और जहाँ सूर्य की किरणें ठण्डी होकर पहुँचती हैं वहीं मुझको अमर कीजिए। जिस तीसरे लोक स्वर्ग में सब कामनाओं से तृप्त हुए देव विचरण करते हैं और जहाँ दिव्य ज्योति से भरा हुआ स्थान है, वहीं मुझे अमर कीजिए।

इन वेदमन्त्रों से स्पष्ट ही तीसरे लोक में जाकर अमर होने की प्रार्थना की गई है। तीसरा लोक स्वर्ग अर्थात् द्यौ ही है, इसमें तो किसी को आपत्ति ही नहीं हो सकती, इसलिए मोक्षधाम स्वर्ग ही है, इसमें सन्देह नहीं[1]। हाँ, पुनरावर्तन और न च पुनरावर्तन के प्रमाणों से कुछ विरोधाभास दिखता है, परन्तु विद्वानों ने उसका भी स्पष्टीकरण कर दिया है। अभी हम लिख आये हैं कि **'ब्रह्मलोकं सम्पद्यते न च पुनरावर्तते'**, अर्थात् ब्रह्मलोक में जाकर फिर वापस नहीं आते और आपत्तिकर्ता की दी हुई श्रुति कहती है कि **'नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूयेमं लोकं हीनतरं चाविवेश'**, अर्थात् स्वर्ग से आकर हीनतर लोकों को जाते हैं। इसलिए यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता है कि इन दोनों विरोधी बातों का सामञ्जस्य क्या है?

हम देखते हैं कि पूर्वाचार्यों ने इन दोनों परस्पर विरोधी सिद्धान्तों को बहुत ही अच्छी प्रकार सुलझा दिया है और उपनिषदों में ही लिख दिया है कि **'परान्तकाले परिमुच्यन्ति'** और **'परापरावतः न पुनरावृत्तिः'** अर्थात् परान्तकाल में लौट आते हैं और परान्तकाल के पूर्व नहीं लौटते। तात्पर्य स्पष्ट हो गया कि जो वाक्य न लौटने के आशयवाले हैं वे परान्तकाल की सीमा के हैं। दोनों का मथितार्थ यह है कि मोक्ष से परान्तकाल तक जीव नहीं लौटते, परन्तु परान्तकाल के बाद लौट आते हैं। रहा यह कि मोक्ष से कोई लौट ही नहीं सकता। इसपर हमारा नम्र निवेदन इतना ही है कि जब गीता के अनुसार स्वयं कृष्ण भगवान् ही कहते हैं कि **'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि'** अर्थात् मेरे अनेक जन्म हो चुके और अनेक बार मैं धर्म की स्थापना के लिए आया ही करता हूँ तब अन्य जीवों के मोक्ष से वापस आने में कैसे आपत्ति की जा सकती है? मोक्ष से वापस आने का सिद्धान्त तो सनातन है जो लोग समझते हैं कि इस सिद्धान्त को स्वामी दयानन्द ने निकाला है, वे ग़लती पर हैं। मोक्ष का सिद्धान्त किसी का निकाला हुआ नहीं है, प्रत्युत वह एक वास्तविक घटना है जो सनातन से ऋषि-मुनियों के द्वारा अनुमोदित होती हुई आ रही है, इसीलिए उपनिषदों में तत्सम्बन्धी प्रमाण मिलते हैं। उन प्रमाणों को सबने देखा और अनुभव किया है। इसीलिए श्रीस्वामी आदि शंकराचार्य ने धीमी और स्वामी आनन्दगिरि ने प्रबल आवाज़ से प्रतिपादन किया है कि उपनिषदों के अनुसार मोक्ष से वापस आना सिद्ध होता है। छान्दोग्य उपनिषद् ४।१५।५ में लिखा है कि **'स एनान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना**

---

१. इसीलिए तो गीता ने वैदिकों को 'स्वर्गपरा' कहा है।

इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते', अर्थात् ज्ञानी पुरुष परमात्मा को प्राप्त होकर मन्वन्तर के इस चक्कर में वापस नहीं आता। इस श्रुति में यह भाव गर्भित है कि इस मन्वन्तर में वापस नहीं आता, किन्तु दूसरे मन्वन्तर में वापस आ जाता है। इस श्रुति का भाष्य करते हुए स्वामी शंकराचार्य लिखते हैं कि '**एतेन प्रतिपद्यमाना गच्छन्तो ब्रह्मेमं मानवं मनुसम्बन्धिनं मनोः सृष्टि-लक्षणमावर्तं नाऽऽवर्तन्ते**'। इस वाक्य में '**इमं मानवमावर्तम्**' पद पर स्वामी शकराचार्य ने अधिक नहीं लिखा। उन्होंने केवल इतना ही कह दिया है कि '**इमं मानवं मनुसम्बन्धिनम्**' अर्थात् इस मनुसम्बन्धी चक्कर में। यद्यपि इससे धीमा प्रकाश पड़ता है, परन्तु बात स्पष्ट नहीं होती, किन्तु इसपर स्वामी आनन्दगिरि ने स्पष्ट कह दिया है कि '**इममिति विशेषणादनावृत्तिरस्मिन् कल्पे, कल्पान्तरे त्वावृत्तिरिति सूच्यते**', अर्थात् इस 'इमं' विशेषण से इस कल्प में अनावृत्ति सिद्ध होती है, परन्तु कल्पान्तर में तो आवृत्ति ही सूचित होती है। स्वामी आनन्दगिरि की इस निष्पत्ति से आवृत्तिवाद पर बड़ा ही सुन्दर प्रकाश पड़ता है और स्पष्ट हो जाता है कि कल्पान्तर में जीव मोक्ष से अवश्य वापस आ जाता है। इसलिए मोक्ष से वापस आने पर भी स्वर्ग और ब्रह्मलोक मोक्षधाम ही सिद्ध होते हैं और सूर्य का पृष्ठभाग ही स्वर्ग और ब्रह्मलोक सिद्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं, परन्तु कुछ लोग कहते हैं कि मोक्ष से वापस आने का सिद्धान्त मान लेने से ब्रह्म और जीव की एकता में विघात आता है, क्योंकि वेदान्त का यही सिद्धान्त है कि जीव मोक्ष में ब्रह्म ही हो जाता है, अतएव मोक्ष से पुनरावृत्ति मानना उचित नहीं है, परन्तु हम देखते हैं कि '**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**' के अनुसार यह सृष्टि अनादि काल से चली आ रही है और इसके चलने का कारण केवल जीवों के कर्म और परमेश्वर की न्यायव्यवस्था ही है। ऐसी दशा में यह तो निर्विवाद ही है कि जीव अनादि काल से वर्त्तमानकालपर्यन्त ब्रह्म से पृथक् थे और पृथक् हैं। अब विवाद केवल भविष्य में दोनों के एक हो जाने का है। एक दल कहता है कि जब जीव और ब्रह्म दोनों अनादिकाल से अब तक पृथक् हैं तो भविष्य में भी एक नहीं हो सकते और दूसरा दल कहता है कि प्राग्भाव के सिद्धान्तानुसार जिस प्रकार घड़ा बनने के पूर्व अनादिकाल से नहीं था, किन्तु बनने पर हो गया और अनादिकाल की स्थिति नष्ट हो गई, इसी प्रकार जीव भी यद्यपि अनादि काल से पृथक् था, परन्तु भविष्य में एक हो सकता है और अनादिकाल की स्थिति नष्ट हो सकती है, किन्तु वैदिकों के मत से ये दोनों दलीलें जिज्ञासु को उलझन में डालकर मोक्ष के अनुष्ठान से ही उपेक्षा दिलानेवाली हैं, इसलिए इनका आदर करना उचित नहीं है।

वैदिकों के मन्तव्यानुसार पहले मत की दलील में यह दोष है कि जब जीव में ब्रह्म व्यापक है तब वह उससे पृथक् कैसे हो सकता है और दूसरे दल की दलील में यह दोष है कि प्राग्भाव का सिद्धान्त सदैव कारण-कार्य ही में लगता है भिन्न पदार्थों में नहीं। मिट्टी घड़े का कारण है। इसलिए घड़ा यद्यपि काल से प्रत्यक्ष नहीं था, परन्तु अपने कारण में अवश्य था, इसीलिए कारण से निकल भी आया, परन्तु जीव का कारण ब्रह्म नहीं है—वह ब्रह्म से नहीं बना। वह अनादिकाल से अपना अस्तित्व पृथक् रखता है, इसलिए आगे भी ब्रह्म में समा नहीं सकता, क्योंकि कार्य ही अपने कारण में समा सकता है, अन्य पदार्थ नहीं। इस प्रकार दोनों दलीलें निर्जीव सिद्ध होती हैं। यही नहीं किन्तु मोक्ष अवस्था की जितनी दलीलें हैं वे सभी भद्दी हैं और एक भी विश्वास के योग्य नहीं है। इसका कारण यही है कि मोक्ष की स्थिति दलील का विषय नहीं है, किन्तु स्वयं प्राप्त करके अनुभव करने का विषय है। दलील तो इतने ही काम के लिए है कि वह जिज्ञासु के मन पर परमात्मा के अस्तित्व को बैठा दे और उसके प्राप्त करने की अभिलाषा को उत्पन्न कर दे।

इसके सिवा दलील का कुछ भी प्रयोजन नहीं है। यदि परमसाध्य मोक्ष-जैसा महान् विषय भी दलील ही से सिद्ध हो जाए और मोक्ष की स्थिति का अनुभव भी होने लगे तो फिर मोक्ष के वे साधन जिनपर मोक्ष की प्राप्ति निर्भर है कौन करेगा और कौन सदाचार, तप और योगसमाधि के लिए कष्ट उठाएगा, क्योंकि मोक्ष की स्थिति का अनुभव तो केवल तर्क से ही होने लगेगा और फल यह होगा कि आर्यों के तो तप, ब्रह्मचर्य, सदाचार, सादगी और योग तथा समाधि आदि की व्यवस्था ही भंग हो जाएगी, परन्तु परमात्मा ने मोक्ष की वास्तविक स्थिति का हल करना दलीलों के मान का नहीं रक्खा, इसलिए वैदिकों के मत से मोक्षदशा की स्थिति पर विवाद करना एक प्रकार से समय ही खोना है। उपनिषद् में लिखा है—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद् यतयः शुद्धसत्त्वा।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परमृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥ —[मुण्डक० ३।२।६]
समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्येत वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते॥ —[मैत्रायण्यु० ६।३४]
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥
—[मुण्डको० २।२।८]

अर्थात् वेदान्तविज्ञान से परमात्मा का निश्चय करके संन्यास और योग से त्यागी विद्वान् ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं। अन्तःकरण के मलों को धोकर विद्वान् जब समाधि में घुसता है और उस आत्मा में जो सुख अनुभव करता है वह वाणी से कहने योग्य नहीं है, प्रत्युत वह स्वयं अपने अन्तःकरण ही से ग्रहण करने योग्य है। परमात्मा के दर्शन से हृदय की गाँठ खुल जाती है, सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं और कर्मफल क्षीण हो जाते हैं।

इन श्रुतियों में वेदान्त के तर्कों से केवल परमात्मा को सिद्ध कर देने का ही सङ्केत है, मोक्ष की अवस्था का नहीं। मोक्षानन्द का नमूना तो स्वयं समाधिदशा को प्राप्त करके तभी देखा जा सकता है जब हृदय की गाँठ खुलकर सब शंकाओं की निवृत्ति होती है, इसलिए मोक्ष की स्थिति की बहस में व्यर्थ माथामारी करना वैदिकों को उचित नहीं है और न कभी द्वैत-अद्वैत के झगड़े में पड़ने की आवश्यकता है। आवश्यकता तो केवल यह है कि मोक्ष-प्राप्ति का उपाय किया जाए, परन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि मोक्ष के उपायों में भी मतभेद है। कोई कहता है कि केवल ज्ञान से मोक्ष होता है, कोई कहता है कि कर्म ही से मोक्ष हो जाता है और कोई कहता है कि मोक्ष के दिलानेवाली केवल उपासना ही है—भक्ति ही है। ऐसी दशा में जिज्ञासु भ्रम में पड़ जाता है और सीधा मार्ग छोड़कर बहक जाता है, इसलिए हम यहाँ ज्ञान, कर्म और उपासना के विषय में भी प्रकाश डालने का प्रयत्न करते हैं।

हम मोक्ष के स्वरूप और उसके स्थान का वर्णन करके बतला आये हैं कि दुःखों के अत्यन्ताभाव और ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का नाम ही मोक्ष है और वह प्रकृतिबन्धनों से मुक्त होकर परमात्मा की प्राप्ति से ही मिल सकता है, इसलिए देखना चाहिए कि वह ज्ञान से, या कर्म से या उपासना के पृथक्-पृथक् प्रयोगों से प्राप्त हो सकता है या सब प्रयोगों को एक ही साथ उपयुक्त करने से प्राप्त हो सकता है। पूर्व इसके कि हम मार्गत्रय का विवेचन करें यह उचित प्रतीत होता है कि पहले यह जान लें कि यह ज्ञान, कर्म और उपासना की प्रक्रिया आई कहाँ से। हमें इस विषय में अधिक माथापच्ची न करनी पड़ेगी, क्योंकि यह सभी जानते हैं कि ज्ञान, कर्म और उपासना का ही नाम त्रयीविद्या है और समष्टिरूप से त्रयीविद्या का नाम ही वेद है, इसलिए अब देखना चाहिए कि इस वैदिक ज्ञान, कर्म और उपासना का क्या रहस्य है ?

हम देखते हैं कि संसार में जो कुछ सत् शिक्षा है, जो कुछ अध्ययन-अध्यापन है और जो कुछ उपदेश है वह तीन ही भागों में बाटाँ जा सकता है और उन तीनों विभागों का सारांश इतना ही हो सकता है कि 'जानो और मन लगाकर करो'। इस वाक्य में 'जानो' ज्ञानकाण्ड है, 'मन लगाना' उपासनाकाण्ड है और 'करो' कर्मकाण्ड है। बिना इन तीनों के लोक अथवा परलोक का कोई भी कार्य सिद्ध नहीं हो सकता। यही वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना का रहस्य है, परन्तु जो लोग हवन को ही कर्म कहते हैं, अपने-आपको परमात्मा कहने का ही नाम ज्ञान रखते हैं और रात-दिन राम-राम कहने को ही उपासना समझते हैं, वे वेदों के वास्तविक ज्ञान, कर्म और उपासना के मर्म को नहीं समझते, क्योंकि वेदों में ज्ञान, कर्म और उपासना का तात्पर्य ही कुछ और है। हम यहाँ कई प्रकार के ज्ञान, कई प्रकार के कर्म और कई प्रकार की उपासना से सम्बन्ध रखनेवाले कुछ वेदमन्त्रों को उद्धृत करके दिखलाते हैं कि उनमें उस प्रकार के ज्ञान, कर्म और उपासना का वर्णन नहीं है जिस प्रकार के ज्ञान, कर्म और उपासना की बात कही जाती है। वेद कर्म करने की प्रेरणा करते हुए आज्ञा देते हैं कि—

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपानो वर्म सीव्यध्वं बहुला प्रथूनि॥ —[ऋ० १०।१०१।८]

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥ —[ऋ० १०।१९१।२]

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन् मा स्वसारमुत स्वसा॥ —[अथर्व० ३।३०।३]

अधः पश्यस्व मोपरि सन्तरां पादकौ हर॥

मा ते कशप्लकौ दृशन् स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ॥ —[ऋ० ८।३३।१९]

अर्थात् गौवों के बड़े-बड़े गोष्ठ बनाओ और ख़ूब मोटे-मोटे वर्म सिलाओ। साथ-साथ चलो, साथ-साथ बातें करो और साथ-साथ विचार करो। भाई से भाई और बहिन से बहिन द्वेष न करे। हे स्त्री! तू अब समझदार हो गई है, इसलिए नीची निगाह रख, सीधी चाल से चल और अपने अंगों को सदैव ढके रख।

इन मन्त्रों में कर्मों का—कुछ-न-कुछ करने का—उपदेश है, परन्तु ये कर्म यज्ञ, अर्थात् हवन से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखते। इसलिए मानना पड़ेगा कि वेदों में कर्म के नाम से केवल यज्ञों का ही वर्णन नहीं है, प्रत्युत सभी किये जानेवाले कामों को कर्म कहा गया है। इसी प्रकार ज्ञान के भी कुछ नमूने देखने योग्य हैं। वेद कहते हैं—

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावः समुद्रियः। —[ऋ० १।२५।७]

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्॥ —[अथर्व० ११।५।१८]

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्॥ —[ऋ० १०।१९०।३]

एकया च दशभिः स्वभूते। —[यजुः० २७।३३]

अर्थात् जो पक्षियों के स्थान और गति को जानता है वह विमान और नाव का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। ब्रह्मचर्य के द्वारा ही कन्या युवा पति को प्राप्त होती है। परमात्मा ने सूर्य-चन्द्रादि को उसी प्रकार बनाया है जैसे इसके पूर्व कल्पों में बनाया था। एक का अङ्क ही दश का अङ्क हो जाता है।

इन मन्त्रों में अनेक प्रकार के ज्ञान का उपदेश है, परन्तु ब्रह्मज्ञान की एक भी बात नहीं है। इससे कह सकते हैं कि जिस प्रकार वेद के कर्मकाण्ड का तात्पर्य केवल होम, यज्ञ नहीं है उसी प्रकार ज्ञान का तात्पर्य भी केवल ब्रह्मज्ञान नहीं है। जो हाल कर्म और ज्ञान का है वही हाल उपासना का भी है। वेद में लिखा है—

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्॥ —[यजुः० २२।२२]
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु॥ —[यजुः० ३२।१४]
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥ —[यजुः० ३६।२४]
प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु नस्कृधि॥ —[अथर्व० १९।६२।१]

अर्थात् समस्त ब्राह्मण ब्रह्मवर्चस्वी उत्पन्न हों। मुझे उस मेधा से शीघ्र ही मेधावी बनाइए। मैं सौ वर्ष तक देखूँ और सौ वर्ष तक जीता रहूँ। मुझे ब्राह्मणों और क्षत्रियों में प्रिय कीजिए।

इन प्रार्थनाओं में मोक्षप्राप्ति के लिए कुछ भी नहीं कहा गया। इससे प्रतीत होता है कि वेद के उपासनाकाण्ड में भी भिन्न-भिन्न पदार्थों के लिए याचना की गई है, केवल मोक्ष के ही लिए नहीं है, प्रत्युत 'जानो और मन लगाकर करो' के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक सिद्धि के लिए प्रार्थना है।

जिस प्रकार ज्ञान, कर्म और उपासना की योजना प्रत्येक सिद्धि के लिए है उसी प्रकार इन तीनों की योजना मोक्ष के लिए भी है। मोक्ष के लिए ज्ञान, कर्म और उपासना की आवश्यकता है। जो लोग कहते हैं कि केवल ज्ञान या केवल कर्म या केवल उपासना से ही मोक्ष हो जाएगा वे ग़लती पर हैं। वे अपनी साम्प्रदायिक धुन के कारण भूल जाते हैं कि दुःखों का अत्यन्ताभाव और आनन्द की प्राप्ति का ही नाम मोक्ष है और यह प्राकृतिक बन्धन से मुक्त होकर तथा ईश्वर की प्राप्ति से ही मिल सकता है। यदि लोग इतना याद रक्खें तो यह बात उनके सामने आप-ही-आप आ जाए कि इस समस्त सिद्धि को प्राप्त करने के लिए संसार से विरक्त होना पड़ेगा, प्रकृतिबन्धन से छुटकारा लेना पड़ेगा और आनन्दस्वरूप परमात्मा का सम्मेलन प्राप्त करना पड़ेगा, क्योंकि बिना संसार से विराग उत्पन्न हुए शरीर का मोह नहीं जाता और न बिना शरीर-मोह का त्याग किये दुःखों से छुटकारा मिल सकता है। इसी प्रकार बिना दुःखों को हटाये और बिना परमात्मा को प्राप्त किये आनन्द भी नहीं मिल सकता। न्यायशास्त्र में गौतममुनि लिखते हैं कि '**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः**',[१] अर्थात् मिथ्या ज्ञान से दोष, दोष से प्रवृत्ति, प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होता है। जन्म का निरोध करने से दुःखों का नाश हो जाता है और मोक्ष हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि दुःखों का अत्यन्ताभाव करने के लिए जन्म, अर्थात् शरीर का अत्यन्ताभाव करना चाहिए, शरीर के अत्यन्ताभाव के लिए प्रवृत्ति का अभाव होना चाहिए, प्रवृत्ति के अभाव के लिए दोषों का अभाव होना चाहिए और दोषों के अभाव के लिए मिथ्याज्ञान का अभाव होना चाहिए, अर्थात् मिथ्या ज्ञान के अभाव से ही पूर्व-पूर्व की रुकावटें दूर हो सकती हैं, इसलिए सबसे पहले मिथ्या ज्ञान को दूर करने की आवश्यकता है, क्योंकि मोक्ष का सबसे बड़ा बाधक मिथ्या ज्ञान ही है। मिथ्या ज्ञान का नाश सत्य ज्ञान से ही हो सकता है। सत्य ज्ञान का दूसरा पारिभाषिक नाम वस्तु का यथार्थ परिचय है। यदि मनुष्य को संसार का यथार्थ परिचय हो जाए, यदि उसे संसार के कारण-कार्य का बोध हो जाए और यदि मनुष्य की समझ में आ जाए कि समस्त दुःखों और पापों का मूल केवल मनुष्य का शरीर ही है तो उसके मन से संसार की ममता के दोषों की गहरी छाप मिट जाए और उसकी सांसारिक प्रवृत्तियों में विवेक उत्पन्न हो जाए। मोक्षप्रकरण में इसी विवेक का नाम ज्ञान है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि केवल इतने ज्ञान और विवेक के उत्पन्न होने से ही मनुष्य मुक्त नहीं हो सकता। जो लोग केवल ज्ञान से मोक्ष मानते हैं, वे नहीं समझ सकते कि इस प्रकार के वैज्ञानिक विश्लेषण को केवल समझ लेने से ही पूर्वकृत कर्मों का नाश कैसे हो

---

१. न्याय० १।१।२

जाएगा। क्या कभी कोई विज्ञानवेत्ता अपराधों के दण्ड से बरी हुआ है ? कभी नहीं। मनु भगवान् के दण्डविधान में तो ब्राह्मण और राजा को सर्वसाधारण के दण्ड से बहुत अधिक दण्ड देने का विधान किया गया है, इसलिए ज्ञान उत्पन्न होने पर भी और विवेक उत्पन्न हो जाने पर भी जब तक शरीर उत्पन्न करनेवाले पूर्वकर्मों का नाश न हो जाए तब तक दु:खों का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता, परन्तु कर्मों का नाश बिना कर्मों के भोगे नहीं हो सकता। कर्मों का नाश बिना कर्मफलों के भोगे नहीं हो सकता यह ठीक है, परन्तु हम यह अवश्य देखते हैं कि कर्मफलों का भोग क्षीण हो सकता है, क्योंकि कर्मफलों के भोगों का सिद्धान्त कर्मों की लघुता-गुरुता पर अवलम्बित है।

जो कर्म गुरु होते हैं उनका फल पहले मिलता है और जो लघु होते हैं उनका फल बाद में मिलता है। जिस प्रकार पानी में डाला हुआ एक छोटा-सा कंकड़ छोटी-सी लहर उत्पन्न करता है, परन्तु उसके बाद का डाला हुआ बड़ा कंकड़ छोटी लहर को मिटाकर बड़ी लहर उत्पन्न कर देता है, उसी प्रकार छोटे कर्मफल बड़े कर्मफलों के आगे दब जाते हैं और बड़े कर्मफल आगे हो जाते हैं। एक ही दिन में आगे-पीछे किये हुए लघु-गुरु कामों का परिणाम आगे-पीछे होता हुआ देखा जाता है। प्रात:काल दिये गये दान की कार्ति आठ बजे की हुई चोरी के सामने दब जाती है और आठ बजे की हुई चोरी का अपराध दश बजे की हुई राजा की प्राणरक्षा के सामने फीका पड़ जाता है, इसलिए बुरे कर्मफलों को दबाने का सबसे उत्तम उपाय यही है कि निस्वार्थभाव से लोकसेवा आदि बड़े कर्म किये जाएँ। यज्ञ, दान और इष्टापूर्त को करके स्कूल, अस्पताल, गोशाला और धर्मशाला बनवाकर अथवा धर्म, देश और जाति की सेवा के लिए हर प्रकार के कष्टों को सहन करके जो लोग लोककल्याण के निमित्त अनेक प्रकार के बड़े कर्म करते हैं उनके ये सुकृत कर्म पापभोगों के आगे हो जाते हैं और दूसरे जन्मग्रहण करने में रुकावट पैदा कर देते हैं और सब प्रकार के दु:खों से बचा लेते हैं।

कहने का तात्पर्य यह है कि यह दु:ख पानेवाला शरीर तभी मिलता है जब मनुष्यों ने किसी दूसरे को दु:ख दिया होता है, परन्तु जिसने कभी किसी को दु:ख नहीं दिया केवल सबको आराम ही पहुँचाता रहा है, वह इस दु:खदायी शरीर और संसार में क्यों आएगा ? इसलिए दु:खों के अत्यन्ताभाव के लिए उत्तम कर्मों की आवश्यकता है, परन्तु जो कहते हैं कि केवल कर्मों से ही मोक्ष हो जाएगा वे भी ग़लती पर हैं। यदि गीता के कर्मयोग के अनुसार कर्म से ही मोक्ष हो जाता तो कर्मयोग के उपदेश करनेवाले स्वयं कृष्ण ही क्यों कहते कि **'बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि',** अर्थात् मेरे बहुत से जन्म बीत गये। इससे तो यही ज्ञात होता है कि वे अभी मुक्त नहीं हुए। यदि मान लें कि भगवान् कृष्ण पर यह नियम लागू नहीं होता तो उन अर्जुन की ही दशा को देखना चाहिए जिनको कर्मयोग का उपदेश किया गया और जिन्होंने उस कर्मयोग के अनुसार युद्ध किया। महाभारत में ही लिखा है कि मरने के बाद नरकयातना से वे भी चिल्ला रहे थे और उस यातना से उनको उस युधिष्ठिर ने बचाया था जिसको कभी कर्मयोग का उपदेश नहीं हुआ था। कहने का तात्पर्य यह कि अकेले कर्म से भी मोक्ष नहीं हो सकता।

अब रही उपासना। जो लोग कहते हैं कि यही मोक्ष की साधक है, वे भी भूलते हैं। जिस प्रकार अकेला ज्ञान और अकेला कर्म मोक्षसाधन में असमर्थ है, किन्तु मोक्षसाधन का एक-एक अङ्ग पूरा करता है उसी प्रकार उपासना भी है। उपासना भी अकेली मोक्ष प्राप्त नहीं करा सकती, क्योंकि उपासना से शरीर का अत्यन्ताभाव नहीं हो सकता, परन्तु वह मोक्ष के एक अङ्ग की पूर्ति

करती है। जिस प्रकार ज्ञान से विवेक उत्पन्न होता है और कर्म से शरीर का अत्यन्ताभाव हो जाता है उसी प्रकार उपासना से परमात्मा की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि ज्ञान, कर्म और उपासना में एक उपासना ही ऐसी है जो परमात्मा को अन्त:करण में आविर्भूत करा सकती है। जिस समय ज्ञान से विवेक और वैराग्य उत्पन्न करके मनुष्य छोटे-बड़े सत्कर्मों को करता हुआ समाधि में पहुँचता है और स्थिरचित्त होता है[१] उस समय उपासना के द्वारा ही वह परमात्मा को आत्मा में प्रकट होने की प्रार्थना करता है। यदि उपासना से द्रवीभूत होकर परमात्मा दर्शन न दें तो मनुष्य ज्ञान और कर्म से कुछ भी नहीं कर सकता। जिस प्रकार आँख में पड़ा हुआ तिनका आँख को दिखलाई नहीं पड़ता उसी प्रकार आत्मा में समाया हुआ परमात्मा भी नहीं सूझता, किन्तु जिस प्रकार आँख का तिनका अपनी तिलमिलाहट से आँख को अपना अनुभव स्वयं करा देता है, उसी प्रकार समाधिस्थ शान्त आत्मा में नित्य व्याप्त परमात्मा भी अपनी प्रेरणा से अपना अनुभव करा देता है। यह परमात्मा का अनुभव ही जीवन्मुक्ति है और मोक्ष का प्रबल प्रमाण है। जब तक परमात्मा का अनुभव न हो तब तक मोक्ष में सन्देह ही समझना चाहिए, परन्तु यह अनुभव उपर्युक्त ज्ञान, कर्म और उपासना के मिश्रित प्रयोग से ही प्राप्त हो सकता है, इसीलिए मोक्ष का उपाय न केवल ज्ञान है, न कर्म है और न उपासना ही है, किन्तु तीनों का मिश्रण है जो आर्यों के वर्णाश्रमधर्म में ओतप्रोत है। उपनिषद् कहते हैं—

आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान्विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन्त्सर्वभूतानि अन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन्यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते। —छान्दोग्य उपनिषद् ८।१५।१

अर्थात् आचार्यकुल से वेदों को पढ़कर, गुरु की दक्षिणा देकर, समावर्तन द्वारा कुटुम्ब में आकर, स्वाध्याय में रत रहकर और धार्मिक विद्वानों के सत्सङ्ग से सब इन्द्रियों को वश में करके, अहिंसा-बुद्धि से सब प्राणियों को देखता हुआ और आयुपर्यन्त इस प्रकार का व्यवहार करता हुआ विद्वान् ही ब्रह्मलोक—मोक्ष को प्राप्त होता है, जहाँ से फिर वह वापस नहीं आता, नहीं आता।

यह है आर्यसभ्यतानुसार मोक्ष प्राप्त करने का मार्ग। इस मार्ग में आरम्भ से अन्त तक ज्ञान, कर्म और उपासना का मिश्रण पाया जाता है। इसलिए मोक्ष प्राप्त करने का उपाय यही है और यही मोक्ष के स्वरूप, स्थान और उपाय का थोड़ा-सा दिग्दर्शन है। इस दिग्दर्शन से मोक्ष की महत्ता में अच्छा प्रकाश पड़ता है, किन्तु संसार में पदे-पदे सृष्टि के पदार्थों की आवश्यकता होती है और प्राणियों के हानि-लाभ का प्रश्न सामने आता है, इसलिए प्राणियों से सम्बन्ध रखनेवाले और मोक्ष के साथ होनेवाले उपर्युक्त अर्थ, काम और धर्म का वर्णन होना आवश्यक है, अतएव हम पहले मोक्ष के साधक और शरीर को स्थिर रखनेवाले अर्थ का वर्णन करते हैं।

अर्थ की प्रधानता

आर्यसभ्यता की प्रधान चार आधारशिलाओं में मोक्ष की ही भाँति अर्थ की भी प्रधानता है। अर्थ का ही दूसरा नाम सम्पत्ति है। यह अर्थ मोक्ष का प्रधान सहायक है। बिना अर्थशुद्धि के मोक्ष

---

१. मन की चंचलता रोकने के लिए ही समाधि की आवश्यकता होती है। जब तक मन स्थिर नहीं होता और मनस्तरंगावली चलती रहती है तब तक परमात्मा का अनुभव नहीं होता, परन्तु जब समाधि द्वारा मन स्थिर हो जाता है तब स्थिरचित्त में परमात्मा की प्रेरणा का अनुभव होता है।

नहीं हो सकता। हम चारों पदार्थों का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि जिस प्रकार आत्मा के लिए मोक्ष की, बुद्धि के लिए धर्म की और मन के लिए काम की आवश्यकता होती है उसी प्रकार शरीर के लिए अर्थ की भी आवश्यकता होती है। मोक्ष और धर्म की आवश्यकता केवल मनुष्य को ही होती है, परन्तु अर्थ और काम के बिना तो मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग और तृण-पल्लव किसी का भी निर्वाह नहीं हो सकता। काम के बिना भी चल सकता है—मनोरञ्जन को हटाया जा सकता है, परन्तु जिस अर्थ पर प्राणिमात्र के शरीर स्थित हैं और प्राणिमात्र का जीवन ठहरा हुआ है, उस अर्थ की प्रधानता का अनुमान सहज ही कर लेना चाहिए और उसकी मीमांसा बहुत ही सावधानी से करनी चाहिए, क्योंकि उसके अनुचित संग्रह से मोक्षमार्ग बिगड़ जाता है। आर्यों ने अर्थ के इस महत्त्व को समझा था। यही कारण है कि उन्होंने अर्थ के विषय में बहुत ही सूक्ष्म और उदारभाव से विचार किया है। मनुस्मृति में लिखा है कि **'सर्वेषामेव शौचानामर्थशौचं परं स्मृतम्',**[1] अर्थात् समस्त पवित्रताओं में अर्थ की पवित्रता ही सर्वश्रेष्ठ है, इसलिए संसार से अर्थसंग्रह करते समय बड़ी ही सावधानी से काम लेना चाहिए। अर्थसंग्रह के विषय में मनु भगवान् कहते हैं—

अद्रोहेणैव भूतानामल्पद्रोहेण वा पुनः। या वृत्तिस्तां समास्थाय विप्रो जीवेदनापदि॥
यात्रामात्रप्रसिद्ध्यर्थं स्वैः कर्मभिरगर्हितैः। अक्लेशेन शरीरस्य कुर्वीत धनसंचयः॥
सर्वान् परित्यजेदर्थान् स्वाध्यायस्य विरोधिनः॥ —मनुस्मृति [४।२,३,१७]

अर्थात् जिस वृत्ति में जीवों को बिलकुल पीड़ा न हो, अथवा थोड़ी पीड़ा हो, उस वृत्ति से आपत्तिरहित काल में वैदिक आर्य निर्वाह करे। बिना अपने शरीर को क्लेश दिये अपने ही अगर्हित कर्मों से केवल निर्वाहमात्र के लिए अर्थ का संग्रह करे और उन समस्त अर्थों को छोड़ दे जो स्वाध्याय में विघ्न डालते हों।

इन श्लोकों में आपत्तिरहित समय में अर्थसंग्रह के पाँच नियम बतलाये गये हैं। पहला नियम यह है कि अर्थसंग्रह करते समय किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। दूसरा नियम यह है कि अर्थसंग्रह करते समय अपने शरीर को भी कष्ट न हो। तीसरा नियम यह है कि अपने ही पुरुषार्थ से उत्पन्न किये गये अर्थ से निर्वाह किया जाए, दूसरों की कमाई से नहीं। चौथा नियम यह है कि अपना उत्पन्न किया हुआ अर्थ भी किसी गर्हित कर्म के द्वारा न उत्पन्न किया गया हो। पाचँवा नियम यह है कि अर्थोपार्जन के कारण स्वाध्याय में—पढ़ने-लिखने में विघ्न उत्पन्न न होता हो, अर्थात् जो अर्थ इन पाँचों नियमों को ध्यान में रखकर उपार्जित किया जाता है, वही अर्थ आर्यसभ्यता के अनुसार पवित्र होता है, किन्तु जो अर्थ इन नियमों का दुर्लक्ष्य करके संग्रह किया जाता है, वह अनर्थ हो जाता है, इसलिए प्रत्येक आर्य को अनर्थ से बचते हुए ही अर्थोपार्जन करना चाहिए, क्योंकि वेद उपदेश करते हैं—

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥
—यजुर्वेद ४०।१-२

अर्थात् इस संसार में परमात्मा को सर्वत्र व्यापक समझकर किसी के भी धन की इच्छा न करो, किन्तु उतने ही से निर्वाह करो जितना उसने तुम्हारे लिए स्थिर किया है। आजीवन इस प्रकार कर्म करने से ही मोक्ष हो सकता है और कोई दूसरा उपाय नहीं है।

---

१. मनु० ५।१०६

इन दोनों मन्त्रों का तात्पर्य यही है कि मोक्षार्थी को संसार से उतने ही पदार्थ लेने चाहिएँ जिनके लेने में किसी भी प्राणी को कष्ट न हो। इस नियम का पालन केवल इसी एक सिद्धान्त के अवलम्बन से हो सकता है कि जहाँ तक बने इस संसार से बहुत ही सरल उपायों के द्वारा बहुत ही कम पदार्थ लिये जाएँ, क्योंकि संसार में जितने प्राणी हैं सभी को अर्थ की आवश्यकता है, इसलिए जब तक बहुत ही कम लेने का नियम न होगा, तब तक सबके लिए अर्थ की सुविधा नहीं हो सकती।

यद्यपि संसार में सभी प्राणियों को अर्थ की आवश्यकता है, परन्तु मनुष्य की अर्थसम्बन्धी आवश्यकता अन्य प्राणियों की अपेक्षा बहुत ही विलक्षण है। संसार में देखा जाता है कि मनुष्य के अतिरिक्त जितने प्राणी हैं उन सबका अर्थ केवल आहार और घर तक ही सीमित है। उनको आहार और घर के अतिरिक्त शरीररक्षा से सम्बन्ध रखनेवाले अन्य किसी भी अर्थ की आवश्यकता नहीं होती। बहुत-से प्राणियों को तो आहार के अतिरिक्त घर की भी आवश्यकता नहीं होती, परन्तु मनुष्य का अर्थ चार भागों में विभाजित है। इन चारों विभागों के नाम भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी हैं। संसार में जितने मनुष्य हैं, चाहे वे जंगलों में रहनेवाले कोल, भील हों, चाहे फ्रांस के रहनेवाले बड़े-बड़े शौक़ीन हों, चाहे राजा और बादशाह हों और चाहे त्यागी-संन्यासी हों, सबको उपर्युक्त चारों प्रकार के अर्थों की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार एक सम्राट् को नाना प्रकार के व्यंजनों की, अनेक प्रकार के बहुमूल्य वस्त्रों की, बड़े-बड़े राजप्रासादों की और रङ्गमहलों की तथा हज़ारों प्रकार के बर्तन, फ़रनीचर, अस्त्र, यान और अन्य अनेक ऐसे ही पदार्थों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार एक त्यागी-परिव्राट् को भी भिक्षान्न, कौपीन, कन्दरा और दण्ड-कमण्डलु की आवश्यकता होती है और जिस प्रकार सम्राट् और परिव्राट् को को इनकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार एक अमेरिका के नागरिक से-लेकर अफ़्रीका के ज़ूलू तक को उक्त चारों पदार्थों की आवश्यकता होती है। इसका यही तात्पर्य है कि संसार के सभी मनुष्यों की आर्थिक आवश्यकताएँ एक ही समान हैं, किन्तु हम देखते हैं कि इस समानता में ही इतनी असमानता विद्यमान है कि जिसका सामञ्जस्य करना बड़ा ही कठिन है। कोई मांस खाकर, कोई फल खाकर, कोई अन्न खाकर और कोई सब-कुछ खाकर निर्वाह कर रहा है। इसी प्रकार कोई लँगोटी लगाकर, कोई कोट-पतलून पहनकर, कोई धोती-डुपट्टा डालकर कपड़ों का उपयोग करता है। इसी प्रकार कहीं के मकान अनेक मंज़िल ऊँचे आसमान से बातें कर रहे हैं और कहीं के मकान तहख़ानों की भाँति ज़मीन के नीचे बने हुए पाताल से बातें कर रहे हैं। जो हाल भोजन-वस्त्र और घरों का है वही हाल गृहस्थी का भी है। कहीं सोलह-सोलह ट्रंक कमीज़ें, बावन-बावन जोड़े जूते, नाना प्रकार की कुर्सियाँ और अलमारियाँ हैं और कहीं साफ़ सुथरे कमरों में केवल चटाइयाँ बिछी हैं और थोड़े-से खाने-पकाने के बर्तन रक्खे हैं। कहने का तात्पर्य यह कि यद्यपि मनुष्यों की आवश्यकताएँ एक ही समान हैं तथापि उनकी संख्या और प्रकारों में इतना अन्तर और इतनी विषमता है कि जिसको देखकर यह प्रश्न स्वाभाविक ही उपस्थित होता है कि इन सबमें कौन-सा प्रकार उत्तम है। जहाँ तक हमें स्मरण है इस प्रश्न को आज तक संसार में किसी ने ऐसे ढंग से नहीं सुलझाया जो संसार की आर्थिक समस्या को हल करते हुए मनुष्य को मोक्षाभिमुखी बना सके, किन्तु बड़े गर्व से कहा जा सकता है कि आर्यों ने बड़ी ही खोज के साथ अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले इन चारों विभागों को इस ढंग से सुलझाया है कि जिसके द्वारा न तो किसी प्राणी को दु:ख ही हो सकता है और न अपने आपको ही कष्ट हो सकता है, प्रत्युत संसार की आर्थिक असमानता को नष्ट करके एक ऐसा मार्ग बन जाता है जो

मनुष्य को लोक और परलोक के सुखों को आसानी से प्राप्त करा सकता है। यही कारण है कि आर्यों ने इस प्रकार के अर्थ को अपनी सभ्यता में प्रधान स्थान दिया है। यहाँ हम अर्थ से सम्बन्ध रखनेवाले उक्त चारों विभागों को क्रम से लिखते हैं और दिखलाते हैं कि आर्यों ने कितनी बुद्धिमत्ता से अर्थ को हल किया है।

आर्यभोजन

आर्यों ने अर्थ के प्रधान अङ्ग भोजन, अर्थात् आहार की बड़ी ही छानबीन की है। उन्होंने आर्य आहार को धार्मिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुसार स्थिर किया है। उनका विश्वास था कि '**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः**', अर्थात् आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि होती है और सत्त्व की शुद्धि से स्मरणशक्ति निश्चल होती है, परन्तु अशुद्ध आहार से सत्त्व और स्मृति भी अशुद्ध हो जाती है। यहाँ तक कि अन्नदोष से आयु भी कम हो जाती है। मनु भगवान् स्पष्ट कहते हैं कि '**आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति**', अर्थात् आलस्य और अन्नदोष से मनुष्य शीघ्र मर जाता है। इसलिए जो आहार आयु, बल, रूप, कान्ति और मेधा की वृद्धि करनेवाला हो वही आर्यों का भोजन हो सकता है। इतना ही नहीं प्रत्युत जिस भोजन के संग्रह करने में अर्थ के पाँचों नियमों की अनुकूलता होती हो, किसी भी प्राणी की आयु और भोगों में विघ्न न पड़ता हो और आयु, बल, रूप और मेधा के साथ-साथ मोक्ष प्राप्त करने में भी सहायता मिलती हो वही आहार आर्यों का भोजन हो सकता है, अर्थात् आर्यभोजन चार कसौटियों से कसा होना चाहिए। पहली कसौटी यह है कि जिस आहार से आयु, बल, कान्ति और बुद्धि की वृद्धि होती हो। दूसरी कसौटी यह है कि जिसके प्राप्त करने में किसी को कष्ट न हो, अर्थात् किसी प्राणी की आयु और भोगों में विघ्न उत्पन्न न हो। तीसरी कसौटी यह है कि जो आहार बिना किसी कष्ट के केवल अपने ही अगर्हित कर्मों से उत्पन्न हुआ हो और चौथी कसौटी यह है कि जो आहार मोक्ष प्राप्त करने में सहायक हो, वही आर्यों का भोजन हो सकता है, अन्य नहीं। ऐसे आहार को आर्यों की परिभाषा में सात्त्विक आहार कहते हैं। सात्त्विक आहार का स्वरूप और प्रभाव वर्णन करते हुए भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनः।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥ —[गीता १७।८]
विविक्तसेवी लध्वाशी यतवाक्कायमानसः। —[गीता १८।५२]

अर्थात् आयु, सत्त्व, बल, आरोग्य, सुख और सौन्दर्य के बढ़ानेवाले रसीले, चिकने, पुष्ट और रुचिकर आहार ही सात्त्विक पुरुषों को प्रिय हैं, इसलिए मोक्षार्थियों को सदैव एकान्त सेवी, हल्का भोजन खानेवाला और शरीर, वाणी और मन को वश में करनेवाला होना चाहिए। इस सात्त्विक और हल्के भोजन का स्पष्टीकरण करते हुए वेद भगवान् कहते हैं कि—

ऊर्जं वहन्तीरमृतं घृतं पयः कीलालं परिश्रुतम्। स्वधास्त तर्पयत मे पितॄन्॥
—यजुर्वेद [२।३४]

अर्थात् घी, दूध, अन्नरस (मिश्री), पके हुए, परिश्रुत (टपके हुए) फल और जल आदि बलकारक पदार्थों को खा-पीकर हे स्वधास्थ पितरो! आप तृप्त हों।

इस मन्त्र में उस आहार का स्वरूप स्पष्ट कर दिया गया है जिसको गीता ने सात्त्विक आहार कहा है और जिसको पितृपूजन के बाद आर्यों को नित्य खाना चाहिए। गीता ने सात्त्विक आहार का लक्षण रसीला, चिकना, पुष्ट और रुचिकर किया है और वेदमन्त्र ने उसी को घी, दूध, मिश्री, जल और फल बतलाया है। दोनों का एक ही तात्पर्य है। घी, दूध, मिश्री, जल और फल ही

रसीले, चिकने, पुष्ट और रुचिकर होते हैं। इसलिए घी, दूध, मिश्री, जल और फल ही आर्यों का आहार है। यही आहार उपर्युक्त चारों परीक्षाओं से परीक्षित भी है। इन्हीं पदार्थों के खाने-पीने से आयु, बल, मेधा और सत्त्व की वृद्धि होती है, इन्हीं पदार्थों के खाने से न किसी को कष्ट होता है और न किसी प्राणी की आयु और भोगों में बाधा पड़ती है, यही पदार्थ बिना किसी प्रकार का कष्ट उठाये केवल फलों की वाटिका लगाने और गौवों की सेवा करने से ही प्राप्त हो जाते हैं और हल्का भोजन होने से यही पदार्थ ब्रह्मचर्य और योगाभ्यास में भी सहायक होते हैं और मोक्षसाधन के योग्य बनाते हैं, इसीलिए आर्यशास्त्रों में इष्टापूर्त के द्वारा बाग़-बग़ीचों से फलों की और गोरक्षा के द्वारा घी-दूध की प्राप्ति करना उत्तम कहा गया है। जो लोग कहते हैं कि फलों के खाने से और गौ का दूध पीने से भी हिंसा होती है वे न फलोत्पन्न करने की विद्या जानते हैं, न फलों का खाना जानते हैं और न गौवों के दूध का ही कुछ हाल जानते हैं, इसलिए हम यहाँ थोड़ा-सा इन दोनों विषयों में भी प्रकाश डालने का यत्न करते हैं।

मनुष्य-आहार के चार प्रकार हैं, जिनकी प्राप्ति वृक्षों और पशुओं से होती है। इनमें दो प्रकार का आहार वृक्षों से और दो प्रकार का पशुओं से प्राप्त होता है। दूध और मांस पशुओं से तथा फल और अनाज वृक्षों से प्राप्त होते हैं। इनमें फल, दूध और घृतादि सात्त्विक, अनाज और शाकादि राजस् और मांस-मद्यादि तामस् अन्न हैं। सात्त्विक अन्नों में फलों और दूध-घृतादि की गणना है। फलों और घृत-दुग्धादि को विधिवत् ग्रहण करने से हिंसा बिलकुल नहीं होती। पृथिवी को उर्वरा बनाकर और बीज को क़लम आदि से सुसंस्कृत करके सिंचाई और निराई-गोड़ाई के द्वारा जो फल उत्पन्न किये जाते हैं, वे प्राकृतिक वन्य फलों से बड़े होते हैं और उनमें बीज कम होते हैं, इसलिए स्वभाव से पके हुए और आप-ही-आप टपके हुए फलों को बीज निकालकर खाने से कुछ भी हिंसा नहीं होती, क्योंकि बीज निकालकर खाने से दूसरे वृक्षों को उत्पन्न करनेवाले बीज का नाश नहीं होता। इसी प्रकार पारस्कर की शिक्षा के अनुसार वृषोत्सर्ग के द्वारा उत्तम क्षेत्र के साँड को स्वतन्त्रतापूर्वक चराकर और उससे अमुक क्षेत्र की गौ से सन्तति उत्पन्न कराके और उस सन्तति की सन्तान को भी उसी क्रम से गोवर्धन (Cow-breeding) के सिद्धान्तानुसार तैयार करने से पाँचवीं पीढ़ी में दूध की मात्रा चौगुनी हो जाती है और एक-एक गौ डेढ़-डेढ़ मन दूध देनेवाली हो जाती है, परन्तु गौवों को जंगलों में छोड़ देने से और मनमानी स्वाभाविक नस्ल उत्पन्न होने से कभी भी इतना दूध उत्पन्न नहीं होता, इसलिए बहुत-सी गायों को इस प्रकार अमित दूध देनेवाली बनाकर, उनसे थोड़ा-थोड़ा दूध ले-लेने से हिंसा नहीं होती, क्योंकि जितना दूध बच्चों के लिए आवश्यक होता है उतना तो उनको मिल ही जाता है। मनुष्य तो फलों की भाँति अपनी कारीगरी से गौवों की सेवा करके दूध को स्वाभाविक परिमाण से अधिक बढ़ा लेता है, इसलिए जितना अधिक बढ़ा लेता है उतना लेने में किसी की हानि नहीं होती, अतएव हिंसा भी नहीं होती। अब रहे राजस् और तामस् अन्न। तामसान्नों के लिए मनुस्मृति में स्पष्ट लिखा है कि **'यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मासं सुराऽऽसवम्',**[1] अर्थात् मांस और मद्य राक्षसों और पिशाचों के अन्न हैं, आर्यों के नहीं, इसीलिए मांस-मद्य आदि हिंसारूप तामस् आहारों को आर्यसभ्यता में स्थान नहीं दिया गया, किन्तु राजसान्न—अनाज और शाकान्न—जिनके खाने से कुछ हिंसा की सम्भावना है, उनको आपत्काल के समय ही सेवन करने की आज्ञा है, इसीलिए यज्ञशेषान्न खाने का विधान किया गया है। कुछ लोग कहते हैं कि आर्यों की सभ्यता में अन्न और कृषि के लिए भी स्थान है, क्योंकि अनेक स्थानों में अन्न और कृषि की

१. मनु० ११।९५

प्रशंसा की गई है। हम कहते हैं कि ठीक है आर्यों की सभ्यता में अन्न और कृषि का वर्णन आता है, परन्तु उस वर्णन का अभिप्राय दूसरा है।

अर्थात् जहाँ-जहाँ अन्न का वर्णन मिलता है वहाँ-वहाँ सर्वत्र ही अन्न का तात्पर्य आहार ही है, अनाज नहीं, इसीलिए आहार की परिभाषा करते हुए उपनिषद् में लिखा गया है कि **'अद्यतेऽत्ति च भूतानि तस्मादन्नं तदुच्यते',**[1] अर्थात् प्राणिमात्र का जो कुछ आहार है वह सब अन्न ही है, क्योंकि अन्न शब्द 'अद् भक्षणे' धातु से बनता है, जिसका अर्थ यही होता है कि जो कुछ खाया जाए, वह सब अन्न ही है, इसीलिए मनु भगवान् ने पिशाचों और राक्षसों का अन्न मद्य और मांस बतलाया है। कहने का तात्पर्य यह कि अन्न शब्द से अनाज का ही ग्रहण नहीं है, प्रत्युत अन्न में उन समस्त पदार्थों का समावेश है जो प्राणिमात्र का आहार हैं। अब रही कृषि, कृषि के लिए भगवान् मनु कहते हैं—

वैश्यवृत्त्यापि जीवंस्तु ब्राह्मणः क्षत्रियोऽपि वा। हिंसाप्रायां पराधीनं कृषिं यत्नेन वर्जयेत्॥
कृषिं साध्विति मन्यन्ते सा वृत्तिः सद्विगर्हिता। भूमिं भूमिशयांश्चैव हन्ति काष्ठमयो मुखम्॥

—मनु० १०।८३-८४

अर्थात् वैश्यवृत्ति से जीते हुए ब्राह्मण और क्षत्रिय बहुत हिंसावाली और पराधीन खेती को यत्न से छोड़ दें। 'खेती अच्छी है', ऐसा लोग कहते हैं, परन्तु यह वृत्ति सत्पुरुषों द्वारा इसलिए निन्दित है कि किसान का लोहा लगा हुआ हल भूमि और भूमि के रहनेवालों का नाश कर देता है, क्योंकि धान्य की खेती से वन और वाटिकाओं का नाश हो जाता है, पशुओं के चरागाह नष्ट हो जाते हैं और वनवृक्षों से जो प्राकृतिक शीतलता प्राप्त होती है वह नहीं रहती। जंगलों की शीतलता के अभाव से वर्षा कम हो जाती है और प्राणनाशक वायु का व्यय कम हो जाने से वायु ज़हरीली हो जाती है और अनावृष्टि तथा बीमारियों से मनुष्य-पश्वादि मर जाते हैं, इसीलिए कृषि को गर्हित बतलाया गया है और कहा गया है कि कृषि से भूमि और भूमि के प्राणी मर जाते हैं। इसके आगे मनु भगवान् कहते हैं कि—

अकृतं च कृतात्क्षेत्राद् गौरजाविकमेव च। हिरण्यं धान्यमन्नं च पूर्वं पूर्वमदोषवत्॥

—मनुस्मृति १०।११४

अर्थात् बनाये हुए खेत से स्वाभाविक खेत में, बकरी-भेड़ से गौ में और धान्य तथा अन्न से सोने में कम दोष है, अर्थात् उत्तर-उत्तर से पूर्व-पूर्व अच्छा है। अन्न से सोना अच्छा है, बकरी से गौ अच्छी है और अन्नवाले खेतों से वाटिकावाले अकृत खेत उत्तम हैं।

इससे भी पाया जाता है कि अन्नवाली खेती का दर्जा आर्यसभ्यता में बहुत ही निकृष्ट है। मनु भगवान् जहाँ खेती को इतनी हीन दृष्टि से देखते हैं, वहाँ वृक्षों की सुरक्षा के लिए बहुत बल देते हैं। आप कहते हैं कि—

इन्धनार्थमशुष्काणां द्रुमाणामवपातनम्। आत्मार्थं च क्रियारम्भो निन्दितान्नादनं तथा॥

—मनु० ११।६४

फलदानां तु वृक्षाणां छेदने जप्यमृक् शतम्। गुल्मवल्लीलतानां च पुष्पितानां च वीरुधाम्॥

—मनु० ११।१४२

वनस्पतीनां सर्वेषामुपभोगं यथायथा। तथातथा दमः कार्यो हिंसायामिति धारणा॥

—मनु० ८।२८५

---

१. तैत्तिरेय० २।२।१

अर्थात् ईंधन के लिए हरे वृक्षों का काटना और निन्दित अन्नों का खाना उपपातक है। फल देनेवाले वृक्षों, गुल्म, बेल, लता और पुष्पित वीरुधों का काटनेवाला एक सौ ऋचाओं का जप करे। समस्त वनस्पतियों का जो मनुष्य जैसी-जैसी हानि करे, उसको राजा उसी प्रकार दण्ड देवे।

इन आज्ञाओं से सिद्ध होता है कि वन और वाटिकाओं का स्थान खेती से बहुत बड़ा है। ऋग्वेद १०।१४६।६ में लिखा है कि **'बह्वन्नामकृषीवलाम्'**, अर्थात् वनवृक्षों से बिना खेती के ही बहुत-सा अन्न, अर्थात् मनुष्य के आहार की उत्पत्ति होती है। कहने का तात्पर्य यह कि आर्यसभ्यता में कृषि से बाग़-बग़ीचों का माहात्म्य अधिक है। यद्यपि बाग़-बगीचों का माहात्म्य बड़ा है तथापि जीविका का प्रबन्ध रखनेवाले वैश्यों को कृषि करने की भी थोड़ी-सी आज्ञा है। इस निर्बल आज्ञा के तीन कारण हैं। एक तो कृषि से उत्पन्न अनाज यज्ञों के काम में आता है, अर्थात् अनेक प्रकार के यज्ञ अनेक प्रकार के अन्नों से ही होते हैं। दूसरे अन्न पशुओं को भी दिया जाता है, जिससे दूध और घृत की प्राप्ति होती है। तीसरे थोड़ा बहुत यज्ञशेषान्न प्रसाद के रूप में प्रतिदिन खाने का भी अभ्यास रक्खा जाता है, जिससे संकट के समय अन्न से भी निर्वाह किया जा सके[१], इसीलिए कहा गया है कि यज्ञशेष अन्न ही खाना चाहिए, अपने लिए पकाकर नहीं[२]। तात्पर्य यह कि अनाज और शाकान्न आदि राजस् आहार आर्यों का स्वाभाविक भोजन नहीं है। आर्यों का सात्त्विक आहार तो फल और दूध ही हैं जो अर्थ और आहारसंग्रह के समस्त नियमों के अनुसार है और मोक्ष का सहायक है, इसीलिए शतपथब्राह्मण २।५।१।६ में लिखा है कि **'एतद्वै पय एव अन्नं मनुष्याणाम्'**, अर्थात् यह दूध ही मनुष्य का अन्न है—आहार है। इसी प्रकार ऋग्वेद १०।१४६।५ में लिखा है कि **'स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय'**, अर्थात् मोक्षमार्गी को सुस्वादु फलों का ही आहार करना चाहिए। यह बात आर्यों की आदिम सभ्यता के इतिहास से भी अच्छी प्रकार पुष्ट होती है, क्योंकि आदिम काल में तपस्वियों का आहार प्रायः फल-फूल ही था, अन्न नहीं। वनस्थों के आहार का वर्णन करते हुए मनु महाराज लिखते हैं—

पुष्पमूलफलैर्वाऽपि केवलैर्वर्तयेत्सदा। कालपक्वैः स्वयं शीर्णैर्वैखानसमते स्थितः।

—मनु० ६।२१

अर्थात् वानप्रस्थी पुष्प[३], मूल अथवा काल पाकर पके और स्वयं टपके हुए फलों से निर्वाह करें।

वाल्मीकि रामायण में लिखा है कि रामचन्द्र, भरत, लक्ष्मण और सीता फलाहार करके ही तपस्वी जीवन निर्वाह करते थे। गुहराज के आतिथ्य करने पर श्री रामचन्द्र कहते हैं—

कुशचीराजिनधरं फलमूलाशनं च माम्। विधिप्रणिहितं धर्मे तापसं वनगोचरम्॥

—वाल्मीकि रा० अयो० ५०।४४

अर्थात् मैं कुशचीर पहने हुए, तापसभेष और मुनियों के धर्म में स्थित केवल फल-फूल ही खाकर रहता हूँ। भरत ने भी कहा है कि—

---

१. आहार का अभ्यास एकदम नहीं बदला जा सकता, इसलिए आपत्काल का ध्यान रखते हुए प्रसाद के रूप में थोड़ा-सा यज्ञशेषान्न अवश्य खाना चाहिए। नित्य यज्ञान्न खाने से उसको अच्छी तरह पकाने की भी चिन्ता रहेगी और अच्छा पका हुआ सुस्वादु अन्न ही यज्ञ में भी गुणकारी होगा।

२. **यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते।** —मनुस्मृति ३।११८

३. महुवा के एक ही वृक्ष में इतने अधिक फूल होते हैं कि उनसे एक आदमी पूरा एक वर्ष निर्वाह कर सकता है। फूलों के सिवा फल, तेल, पत्ते और लकड़ी आदि पदार्थ भी प्राप्त होते हैं, जिनके कारण मनुष्य को फिर किसी अन्य आहार की आवश्यकता नहीं रहती।

चतुर्दश हि वर्षाणि जटाचीरधरोम्यहम्। फलमूलाशनो वीर भवेयं रघुनन्दन॥

—वाल्मीकि रा० अयोध्या० ११२।२३-२४

अर्थात् मैं भी चौदह वर्ष तक जटा धारण करके और फल-मूल ही खाकर रहूँगा।

लक्ष्मण भी कहते हैं कि—

आहरिष्यामि ते नित्यं फूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम्॥ —वाल्मीकि रा० अयो० ३१।२६

अर्थात् आपके लिए तपस्वियों के-से वन्य पदार्थ लाकर दूँगा और मैं भी फल-फूल ही खाकर रहूँगा।

इसी प्रकार अयोध्या काण्ड २७।१६ के अनुसार सीताजी भी कहती हैं कि '**फलमूलाशना नित्या भविष्यामि न संशयः**', अर्थात् मैं सदैव फल-मूल ही खाकर रहूँगी, इसमें सन्देह नहीं।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि चौदह वर्ष तक फल-फूल खाकर वृद्ध ही नहीं, किन्तु जवान मनुष्य भी रह सकते थे और बड़े-बड़े योद्धाओं के साथ युद्ध करके विजय प्राप्त करते थे। अब भी युक्तप्रान्त के बैसवाड़े में आम की फ़सल पर तीन महीने केवल आमों को ही खाकर लोग पहलवानी करते हैं। कहने का तात्पर्य यह कि आर्यसभ्यता के उच्चादर्श के अनुसार मनुष्य का भोजन फल-फूल, दूध, दही ही है। अन्न तो यज्ञशेष—पुरोडाश ही के नाम से खाया जाता था, परन्तु जब खेती-बढ़ी और जंगलों का नाश हुआ तब लोग अन्नवाली भूमि का आश्रय करने लगे। कलियुग का वर्णन करते हुए महाभारत वनपर्व अध्याय १९० में लिखा है कि—

ये यवान्ना जनपदा गोधूमान्नास्तथैव च। तान् देशान् संश्रयिष्यन्ति युगान्ते पर्युपस्थिते॥

अर्थात् जिन देशों में यव और गेहूँ आदि विशेषरूप से उत्पन्न होते हैं, कलियुग के लोग उन्हीं देशों का आश्रय लेंगे।

इससे ज्ञात होता है कि दूसरे युगों में लोग उन देशों का आश्रय लेते थे जहाँ फल-फूल ही अधिक हों, अन्न नहीं। यही कारण है कि हिन्दूजगत् में फलाहार की अब तक जितनी प्रतिष्ठा है उतनी दूसरे खाद्य की नहीं। फलाहार एक प्रकार का महान् उच्च आचरण और तप समझा जाता है। यही नहीं किन्तु जितने व्रत, शुभ अनुष्ठान, अर्थात् सतोगुणी कार्य है, सबमें फलाहार ही का विधान है। इसका भाव स्पष्ट है कि फलाहार सात्त्विक आहार है, इसलिए सतोगुणी अनुष्ठानों में उसका उपयोग होता है। इसी से हम बलपूर्वक कहते हैं कि आर्यभोजन फलाहार ही है। इस आर्यभोजन की अधिक प्रतिष्ठा का कारण यह है कि फलाहार कामचेष्टा का भी प्रतिषेधक है। कोई मनुष्य यदि ब्रह्मचारी रहना चाहे तो उसे फलाहार ही करना चाहिए, क्योंकि फलाहार से कामचेष्टा कम हो जाती है, इसीलिए विधवा स्त्रियों को फलाहार के द्वारा काम को शरीर में ही शोषण करने के लिये मनु भगवान् ने विधान किया है[1]। इसके अतिरिक्त फल और फूलों[2] से मनुष्य का सारा जीवन निर्विघ्नता से बीत सकता है। आज भी साल के तीन मास हमारे अवध के बैसवारा प्रान्त में आम, महुवा और जामुन से ही काटे जाते हैं। ज्येष्ठ से भाद्रमास तक आम, महुवा और जामुन के कारण बहुत से घरों में चूल्हा जलता ही नहीं, और कोई भूख से व्याकुल या दुर्बल भी दिखलाई नहीं पड़ता।

यह तो हुई आर्यशास्त्र और आर्यावर्त्त की बात। अब हम दूसरे देश के प्रमाणों से भी

---

१. **कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः। ननु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु॥** —मनु० [५।१५७]

२. शास्त्रों में फूलों के खाने का वर्णन है। फूलों में महुवा एक विशेष लाभदायक फूल है।

दिखलाना चाहते हैं कि फलाहारी लोग कितने बलवान्, परिश्रमी और दीर्घकाय होते हैं। एक ही प्रकार के फलों को खाकर मनुष्य की शारीरिक अवस्था का वर्णन करते हुए सीरिया प्रान्त के असद याकूबकयात नामी एक विद्वान् ने अपने भाषण में कहा है कि मैं लेबेनन पर्वत पर गया था। वहाँ मैंने मनुष्यों को राक्षसों की भाँति बलवान् और चंचल देखा। ये लोग केवल खजूर पर ही निर्वाह करते हैं। इनमें से अनेक व्यक्तियों की आयु एक सौ दश वर्ष की थी[१]। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि जब एक प्रकार के फल से इतना लाभ है तो नाना प्रकार के फलाहार से बहुत बड़ा लाभ सम्भव है, अतएव स्पष्ट है कि मनुष्य फलों के द्वारा अच्छी प्रकार निर्वाह कर सकता है और फलाहार से दीर्घायु, दीर्घकाय और बलवान् भी हो सकता है।

जो लोग समझते हैं कि फलाहार से श्रम करने की शक्ति नहीं रह जाती वे भी ग़लती पर हैं। सन् १९०२ में जर्मनी के विटसनटाइड नामक स्थान में अन्तरजातीय पैदल दौड़ हुई थी। यह दौड़ ड्रस्डन से बर्लिन तक १२४॥ मील लम्बी थी। दौड़नेवाले सब ३२ आदमी थे। मौमस गर्मी (अर्थात् १८वीं मई सन् १९०२) का था। दौड़नेवाले ड्रस्डन से ७.३० बजे निकले। इनमें कुछ फलाहारी, कुछ शाकान्नहारी और कुछ मांसाहारी थे। शाकान्नहारियों में बर्लिन का प्रसिद्ध चलनेवाला कार्लमान भी था। बर्लिन में जो सबसे पहले पहुँचनेवाले छह मनुष्य थे वे तो शाकान्न और फलाहारी ही थे। इनमें कार्लमान प्रथम था। कार्लमान ने २६ घण्टे और ५८ मिनट में यात्रा समाप्त की थी। दौड़ की समाप्ति पर वह बिलकुल तरोताज़ा था, किन्तु बड़े-बड़े प्रसिद्ध मांसाहारी पहलवान थकावट से चकनाचूर होकर पहुँचे थे। यह घटना बतलाती है कि मनुष्य मांसाहारी नहीं प्रत्युत फलाहारी है, क्योंकि मनुष्य के शरीर की बनावट, उसके दाँत और आँतों को देखकर डॉक्टरों ने निर्णय किया है कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल ही है। डॉक्टर लुई कुन्हें के हवाले से पूज्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी कहते हैं कि मनुष्य का स्वाभाविक भोजन फल-फूल और कन्द आदि हैं। स्वाभाविक भोजन के छोड़ने ही से हम लोग विविधि भाँति के रोगों से पीड़ित हो रहे हैं। अभ्यास से मनुष्यों ने अपनी इन्द्रियों की स्वाभाविक शक्ति को ऐसा बिगाड़ा है कि जिस वस्तु को देखकर हमें घृणा होनी चाहिए, उसे ही हम प्रसन्नतापूर्वक खाते हैं। इस विषय में पशु ही हमसे अच्छे हैं। जो पशु घास खाते हैं वे मांस की ओर देखते भी नहीं और जो मांस खाते है वे घास की ओर दृष्टिपात भी नहीं करते। इसी प्रकार फल और कन्द आदि के खानेवाले जीव भी उन पदार्थों को छोड़कर घास पात नहीं खाते और प्यास लगने पर भी सोडावाटर और मद्य नहीं पीते, परन्तु मनुष्य एक विलक्षण पशु है। वह घास-पात, फल-फूल, मांस-मदिरा सभी उदरस्थ कर जाता है। फिर भला उसका शरीर क्यों न रोगों का घर बन जाए। भोजन के अनुसार थलचर पशुओं के तीन भेद हैं—मांसभक्षी, वनस्पतिभक्षी और फलभक्षी। बिल्ली, कुत्ता और सिंह आदि जितने हिंस्र जन्तु हैं, वे सब मांसभक्षी हैं। उनका स्वाभाविक भोजन मांस ही है, इसीलिए उनके दाँत लम्बे, नुकीले और दूर-दूर होते हैं। इस प्रकार के दाँतों से ये जीव मांस को फाड़कर निगल जाते हैं। उनके दाँतों की रचना से यह सूचित होता है कि ईश्वर ने इन्हें मांस खाने के लिए ही वैसे दाँत दिये हैं। गाय, बैल, भैंस, बकरी आदि जीव वनस्पतिभक्षी हैं, इसीलिए ईश्वर ने उनके दाँत ऐसे बनाये हैं जिससे वे उन दाँतों से घास को सहज ही में काट सकें। उनके दाँतों की रचना ही उनके वनस्पतिभक्षी होने का प्रमाण है, किन्तु

---

१. Assad Yakoob Kayat, a native Syrian, in a speech at Exeter Hall (16th may 1838) remarked that he had lately visited Mount Lebanon, where he found the people as large as giants and very strong and active. They lived almost entirly on dates and there were many among them one hundred and ten years of ago. —*Fruits and Farinacea*

मनुष्य के दाँत न तो मांसभक्षी पशुओं से मिलते हैं और न घासभक्षी पशुओं से ही। उनकी बनावट ठीक वैसी ही है जैसी बन्दर आदि फलभोगी जीवों की होती है, इसलिए यह बात निर्विवाद है, निभ्रान्त है और नि:संशय है कि ईश्वर ने मनुष्यों के दाँत फल खाने ही के लिए बनाये हैं, परन्तु हम लोग जब उनसे मांस और मच्छली काटने लगे हैं, आगरे की दालमोठ और लखनऊ की रेवड़ी तोड़ने लगे हैं, इसपर भी कोई नीरोग होने का दावा कर सकता है ? मांसभक्षी जीवों का मेदा छोटा और गोल होता है। उनके शरीर से उनकी अँतड़ियाँ ३ से लेकर ५ गुणा तक अधिक लम्बी होती है। वनस्पतिभक्षी पशुओं का मेदा बहुत बड़ा होता है। वे खाते भी अधिक हैं। उनकी अन्तड़ियाँ उनके शरीर से २० से लेकर २८ गुना तक अधिक लम्बी होती है।

अब रहे फलभक्षी जीव। उनका मेदा मांसभक्षी जीवों के मेदे से अधिक चौड़ा होता है और उनकी अन्तड़ियाँ उनके शरीर से १० से लेकर १२ गुना तक अधिक लम्बी होती हैं। अब इन तीनों प्रकार के जीवों में मनुष्य का मिलान कीजिए। सिंर से लेकर रीढ़ की हड्डी के छोर तक मनुष्य की लम्बाई १ ॥ से २ ॥ फ़ुट तक होती है और मनुष्य की अन्तड़ियों की लम्बाई १६ से २८ फुट तक होती है, अर्थात् उनकी लम्बाई शरीर (सिर से लेके रीढ़ के छोर तक) की लंबाई से १० से १२ गुना तक अधिक हुई। यहाँ भी फलभक्षी पशुओं से मनुष्यों की समता मिली। शरीर के अनुसार मनुष्य की अन्तड़ियाँ फल खानेवाले पशुओं ही की-सी निकलीं, अतएव मनुष्य के फलभक्षी होने का यह दूसरा प्रमाण हुआ। इस प्रकार 'Odontography' नामी ग्रन्थ के पृष्ठ ४७१ पर प्रोफ़ेसर ओवन (Owen) कहते हैं कि मनुष्यों के दाँत वनमानुष और बन्दरों से बहुत कुछ मिलते-जुलते हैं और इनका भोजन भी फल, अन्न एवं मेवा एक ही प्रकार का है। इन चौपायों और मनुष्यों के दाँतसम्बन्धी सादृश्य से विदित होता है कि सृष्टि के आरम्भ में मनुष्यों के लिए स्वाभाविक भोजन फल ही निर्माण किया गया था।

इसी सम्बन्ध में लिनाकुस (Linnacus) कहता है कि फल-मूल मनुष्यों के लिए अत्यन्त हितकर भोजन है जो चौपायों से प्रकाशित होता है तथा जङ्गली मनुष्य और लंगूरों के सादृश्य एवं उनके मुख, पेट और हाथों की बनावट से भी प्रकट है[१]। इसी प्रकार डाक्टर एब्रामाउस्की जो एक प्रसिद्ध चिकित्सक हैं, और जिन्होंने सब रोगों की एक ही सहज दवा निकाली है, लिखते हैं कि हम जो पका हुआ, रँधा हुआ, भुना हुआ कृत्रिम भोजन करते हैं वह हमारे लिए बहुत ही अस्वाभाविक है। हमारे शरीर के बढ़ने तथा पुष्टि पाने के लिए प्राय: ऐन्द्रिक पदार्थों (Organic Matter) की ही आवश्यकता होती है। फलों तथा अनाजों में वह प्रभूतमात्रा में विद्यमान रहता है, किन्तु यदि फलों तथा अनाजों को अग्नि में पकाया जाए तो उनका बहुत-सा ऐन्द्रिक अंश पृथक् हो जाता है। शेष पदार्थ न केवल कठिनता से पचनेवाला ही होता है, किन्तु पचकर हमारे शरीर के लिए कुछ लाभ भी नहीं दे सकता। जब ऐसा भोजन करने में बहुत-सा अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर में घर कर लेता है तब अनेक रोगों की उत्पत्ति होती है। प्राय: सभी आन्तरिक रोगों की उत्पत्ति इसी निकम्मे पदार्थ के एकत्र हो जाने से होती है, अत: इन रोगों का एक ही इलाज है कि किसी प्रकार वह अनुपयोगी पदार्थ हमारे शरीर से निकल जाए और नया प्रवेश न करे। ऐसा होते ही वे रोग स्वयं ही नष्ट हो जाएँगे, इसीलिए प्राय: नई सम्मति के चिकित्सक लोग भी रोगियों से उपवास करवाते हैं। उन्हें कई दिन तक सिवा गर्म पानी के और कुछ नहीं देते। यह ओषधि प्राय: बड़ी लाभदायक सिद्ध हुई है। यथाशक्ति उपवास से प्राय: रोग दूर हो जाता है, किन्तु इस ओषधि के करने में एक डर यह है कि कभी-कभी बहुत दिन तक शरीर को

१. Linnasi Amoonitales Academical, Vol. X, p. 8.

आधारभूत पदार्थ न मिलने से रोगी इतना निर्बल हो जाता है कि वृद्धि होने की जगह धीरे-धीरे क्षय का राज्य हो जाता है और रोगी थोड़े दिनों में मृत्यु का ग्रास बन जाता है, इसलिए केवल उपवास के स्थान में फलोपवास अधिक उपयोगी है, क्योंकि फलों के खाने से कोई अनुपयोगी पदार्थ शरीर में नहीं घुसता और बल प्राप्त होता है, रोग नष्ट हो जाते हैं और शक्ति नहीं घटती।

इन विदेशीय प्रमाणों से भी सिद्ध होता है कि मनुष्य का आदिम और मौलिक भोजन फल ही हैं और फलों के सेवन से मनुष्य कभी बीमार तो होता ही नहीं, प्रत्युत यदि बीमार हो भी तो अच्छा हो जाता है और सुदृढ़ तथा दीर्घजीवी हो जाता है, इसीलिए आर्यों ने अपनी मूल सभ्यता में फल और दूध को ही स्थान दिया है और कृषि को तथा कृषि से उत्पन्न होनेवाले अन्नों को आपत्काल में खाने की व्यवस्था की है। व्रतों और उपवासों में फलाहार की महिमा से तथा आर्य रिवाजों और आर्यसभ्यता में पिरोई हुई विशेषताओं से यही सूचित होता है कि आर्यों का आहार सात्त्विक ही है जिसमें फल और दूध-घृत की ही प्रधानता है, क्योंकि फल-फूल और दूध-घृतादि सात्त्विक आहार ही अर्थ की पाँचों शर्तों के साथ संग्रह हो सकते हैं तथा उन्हीं से आयु, बल, कान्ति, मेधा और सत्त्व आदि भी प्राप्त हो सकते हैं तथा उन्हीं के आहार से संसार में किसी की आयु और भोगों में हस्तक्षेप भी नहीं हो सकता और योगाभ्यास, मोक्षसाधन में भी सहायता मिलती है, इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता में सात्त्विक आहार ही को स्थान दिया है।

आर्य-वस्त्र और वेशभूषा

अर्थ में भोजन के बाद दूसरा नम्बर वस्त्रों का है। भोजन की भाँति आर्यसभ्यता में वस्त्रों पर भी विशेष प्रकाश डाला गया है और सिलाई का काम जानते हुए भी[1] आर्यों ने अपनी सभ्यता में कभी सिले हुए वस्त्रों को स्थान नहीं दिया। भगवान् बुद्ध के समय तक इस देश के आर्य सिले हुए वस्त्र नहीं पहनते थे, क्योंकि बौद्धकाल के पूर्व लिखित साहित्य में कहीं भी सिले हुए वस्त्रों का वर्णन नहीं है। बौद्धमूर्तियों में सिले हुए वस्त्रों का कहीं दर्शन नहीं होता। बंगाल और उड़ीसा आदि प्रान्तों में अब भी ग्रामीण आर्य सिला हुआ वस्त्र नहीं पहनते। कुलीन आर्यों में अब तक पंक्ति भोजन के समय, देवाराधन अथवा यज्ञादि के समय और यज्ञोपवीतादि संस्कारों के समय सिले हुए वस्त्रों का उपयोग नहीं होता। देवपूजन के समय यदि कोई सिला हुआ वस्त्र पहने होता है तो उसका बटन खुलवा दिया जाता है। इसके सिवा विवाह के समय वर और वधू को वस्त्र और उपवस्त्र ही के देने का विधान है, सिला हुआ वस्त्र देने का नहीं[2]। वस्त्र और उपवस्त्र का आधुनिक नाम धोती-उपर्ना है। बंगाल और उड़ीसा में यह धोती-उपर्ना एक ही में बुना हुआ बिकता है। नदिया शान्तिपुर का धोती-उपर्ना प्रसिद्ध था। इसमें एक धोती और एक डुपट्टा ही होता था। यही पोशाक स्त्रियों की भी थी। वे भी एक धोती और एक चादर ही धारण करती थीं। अब भी पंजाब, युक्तप्रान्त, बंगाल और महाराष्ट्र में यह रिवाज है। महाराष्ट्र में तो गर्मी के दिनों में भी स्त्रियाँ शाल ओढ़ती हैं। इन समस्त रिवाजों से ज्ञात होता है कि आर्यसभ्यता में सिले हुए वस्त्र के लिए स्थान नहीं है। उनकी वास्तविक आर्यपोशाक धोती और डुपट्टा ही है। महाभारत मीमांसा पृ० २६३-२६४ में श्रीयुतरायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम०ए० लिखते हैं कि 'महाभारत के समय भारतीय आर्यपुरुषों की पोशाक बिलकुल सादी थी। दो धोतियाँ ही उनकी पोशाक थी। एक धोती कमर के नीचे पहन ली जाती थी और दूसरी शरीर पर चाहे जैसे डाल दी जाती थी।...उल्लिखित दोनों वस्त्रों के सिवा भारतीय आर्यों की पोशाक में और कपड़े न

१. **वर्म सीव्यध्वं, सूच्याच्छिद्यमानः।** —ऋग्वेद। **मूर्द्धानमस्य संसीव्य।** —अथर्ववेद १०।२।२६
२. संस्कारविधि—स्वामी दयानन्द सरस्वतीकृत

थे।...आजकल स्त्रियाँ जैसे लहँगे आदि वस्त्र पहनती हैं वैसे उस समय न थे। पुरुषों की भाँति, परन्तु उनके वस्त्रों से लम्बे, स्त्रियों के वस्त्र होते थे'।

वस्त्रों की आवश्यकता के दो ही कारण हैं। एक वर्षा और सर्दी-गर्मी से रक्षा और दूसरा लज्जानिवारण। सर्दी-गर्मी और वर्षा के ही कारण रुई, ऊन और चर्म अथवा वल्कल आदि वसनों का विधान है, परन्तु आर्यों की उच्चतम आदर्श सभ्यता में ऊन और रेशम के वस्त्रों का विधान नहीं है। संन्यासी के लिए ऊन और रेशम का वस्त्र पहनना उचित नहीं समझा गया[१]। हाँ, प्रवास के समय पहाड़ी प्रदेशों में जहाँ बर्फ़ पड़ता है, वहाँ के लिए ऊन के वस्त्र उपयोगी कहे गये हैं। अब रही लज्जानिवारण की बात। वह सर्दी-गर्मी से भी अधिक आवश्यक है, क्योंकि परमात्मा की यही आज्ञा है कि गुप्ताङ्गों को खुला न रक्खा जाए। उसने पशु और पक्षियों के भी गुप्ताङ्गों को पूँछ से ढक दिया है, इसलिए मनुष्य को उचित है कि वह गुप्ताङ्गों को ढका रक्खे। वेद में लिखा है कि '**मा ते कशप्लकौ दृशन्**', अर्थात् तेरे गुप्ताङ्ग न दिखने पाएँ, इसलिए गुप्ताङ्गों का ढकना आवश्यक है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि गुप्ताङ्गों का पर्दा और सर्दी-गर्मी से रक्षा बहुत ही सादे वस्त्रों से हो जाती है, इसलिए जहाँ आर्यसभ्यता शरीर-रक्षा और पर्दे के लिए वस्त्रों की अनिवार्य आज्ञा देती है, वहाँ कामकाज में असुविधा और विलास, असमानता तथा ईर्ष्या-द्वेषादि उत्पन्न करनेवाले वस्त्रों के उपयोग को मना भी करती है। आर्यसभ्यता उतने ही और उसी प्रकार के वस्त्रों की आज्ञा देती है, जिनसे कामकाज करने में सुविधा हो। धोती ऐसी ही पोशाक है। धोती की उपयोगिता के विषय में मिसिज़ मेनिंग (Manning) कहती हैं कि 'समस्त पोशाकों में धोती पूर्ण है और चलने, फिरने, उठने-बैठने में सुविधा देनवाली है। इससे अच्छी दूसरी पोशाक असम्भव है'[२]। इसी प्रकार लार्ड डफ़रिन कहते हैं कि 'पोशाक के विषय में पश्चिम को पूर्व से बहुत कुछ सीखना है'[३]। इस धोती और चादर की पोशाक से जहाँ अंगरक्षा, पर्दा और कामकाज में सुविधा होती है, वहाँ समाज में विलास और ईर्ष्या-द्वेष नहीं बढ़ता। समाज को विलासी और असमान बनानेवाली पोशाक ही है। अपने घर में मनुष्य ने चाहे जो कुछ खाया हो, उसका प्रत्यक्ष अनुभव समाज को नहीं होता, किन्तु पोशाक बाह्य आडम्बर है—यह दिखलाई पड़ती है—इसलिए इससे समाज में विलास और असमानताजन्य ईर्ष्या-द्वेष के उत्पन्न हो जाने का भय रहता है। तर्ज़, फ़ैशन और बनावट से ही समाज में असमानता उत्पन्न होती है, इसीलिए आर्यसभ्यता में सिले हुए वस्त्रों के लिए स्थान नहीं है। आर्यसभ्यता में सादी-सीधी धोती और चादर ही पहिरने-ओढ़ने की आज्ञा है।

वर्त्तमान समय में वस्त्रों के अनेक तर्ज़ और फ़ैशनों से भले आदमी कहलानेवाले गृहस्थों को कितना कष्ट हो रहा है, यह किसी समझदार आदमी से छिपा नहीं है। साल की सारी कमाई कपड़ों में ही जाती है तब भी पोशाक में कमी बनी ही रहती है। एक-एक गृहस्थ के घर में एक-एक व्यक्ति के लिए चार-चार, छह-छह सन्दूक़ कपड़े रक्खे हुए हैं और उनका सारा दिन उन्हीं के बदलने में व्यतीत होता है, अतएव मनुष्य के लिए उतने और उसी प्रकार के वस्त्र होने चाहिएँ जिनको रक्षा और पर्दे के लिए वह स्वयं ही तैयार कर ले। इस दृष्टि से भी धोती और

---

१. ऊर्णाकेशोद्भवा ज्ञेया मलकीटोद्भवः पटः। कस्तूरीरोचनं रक्तं वर्जयेदात्मवान् यतिः॥
वस्त्रं कार्पासजं ग्राह्यम्। —कात्यायनस्मृति

२. Any dress more perfectly convenient to walk, to sit, to lie in, it would be impossible to invent.
—*Ancient and Mediaeval India,* Vol. 11, p. 358.

३. The West has still much to learn from the East in matters of dress.

चादर का ही महत्त्व समझ में आता है। इस समय लहँगा, पाजामा, पतलून और कुर्ता, कोट, क़मीज़ तथा चुग़ा आदि जितने सिले हुए वस्त्र पाये जाते हैं, सब उन्हीं धोती चादर के ही रूपान्तर हैं। धोती से तहमत और लहँगा बना है और उन्हीं दोनों के मेल से ढीला पाजामा, पाजामा, पतलून और जोधपुरी आदि बनी हैं। इसी प्रकार चादर से कफ़नी, (जिसको बीच में फाड़के गले में डाल लेते हैं), कफ़नी से कुरता और कुरता से कोट और चुग़ा आदि बने हैं। इसी प्रकार सिर के केशों से साफ़े की और साफ़े से टोपी की सृष्टि हुई है। प्राचीन मौलिक आर्यसभ्यता की पोशाक में नीचे धोती, शरीर में चादर का ओढ़ना, शिर पर केशों का मुकुट और गले में फूलों की माला है। यही फ़ैशन सुविधाजनक भी है, किन्तु आजकल की पोशाक के कारण तनिक-सा कीचड़ हो जाने पर, नदी उतरते समय, लगी हुई आग को बुझाते समय अथवा और किसी दौड़-धूप के समय बड़ी ही दुर्दशा होती है, परन्तु धोती-चादर में यह असुविधा नहीं है।

आर्यसभ्यता में केशों का भी बड़ा माहात्म्य है। बाल और वृद्धादि असमर्थों के अतिरिक्त किसी भी आर्य को केश कटाने की आज्ञा नहीं है। बाल्यकाल में जब लड़का असमर्थ होता है तब उसका मुण्डन कर दिया जाता है और जब अत्यन्त वृद्ध होकर अथवा शरीर रोगी होकर असमर्थ हो जाता है, तब भी मुण्डित करने की आज्ञा है। संयासियों का मुण्डन इसी दशा का सूचक है। इन दशाओं के अतिरिक्त आर्यों को सदैव डाढ़ी, मूछ और शिर के केशों की रक्षा करनी चाहिए। इस कठिन नियम का यह कारण है कि बालों में विद्युत् ग्रहण करने की अद्भुत शक्ति है। इस शक्ति के सहारे केशों के द्वारा द्यु-तत्त्व मनुष्य के मस्तिष्क में ज्ञानतन्तुओं को बल पहुँचाता है। वेद में लिखा है कि **'बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायै शीर्षे केशाँ अकल्पयत्'**,[१] अर्थात् ज्ञानाधिष्ठान बृहस्पति—आकाश ने पहले ही सूर्या के द्वारा शिर में केशों को उत्पन्न किया। इससे ज्ञात होता है कि ज्ञान और सूर्य का केशों के साथ अपूर्व सम्बन्ध है, क्योंकि रंग सूर्य से उत्पन्न होता है और मनुष्य-शरीर के केश अपना रंग चार बार पलटते हैं। बाल्यकाल में जब ज्ञान-ग्रहण करने की शक्ति नहीं होती तब बालक के बालों का रंग पीत लाल होता है और जब वृद्धावस्था में ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति नहीं रह जाती तब बालों का रंग सफ़ेद हो जाता है, किन्तु युवावस्था में जब ज्ञान ग्रहण करने की शक्ति पूर्णरूप से विद्यमान रहती है तब बालों का रंग काला रहता है। काले रंग में सूर्य की किरणों का प्रभाव विशेष पड़ता है, इसीलिए काले केशवाले युवा मनुष्य ही ज्ञानग्रहण करने की शक्ति भी रखते हैं। यह बालों के रंगों का परिवर्तन केवल मनुष्यों में ही देखा जाता है, पशु-पक्षियों में नहीं। इससे और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है कि असमर्थ दशा को छोड़कर अन्य समस्त दशाओं में केशों को धारण ही किये रहना चाहिए। इसीलिए कहा गया है कि **'जटिलो वा मुण्डितो वा'**[२], अर्थात् चाहे समस्त केश रक्खे और चाहे मुँडवा दे। तात्पर्य यह कि जो समर्थ हैं वे रक्खें और जो असमर्थ हैं वे निकलवा दें। निकलवा देना बाल, वृद्ध और रोगियों के ही लिए है, क्योंकि वेद में ब्रह्मचारी, गृहस्थ और वानप्रस्थी आदि सभी स्त्री-पुरुषों के लिए केश रखने का उपदेश किया गया है। ब्रह्मचारी के लिए अथर्ववेद ११।५।६ में लिखा है कि **'ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः'**। इसमें ब्रह्मचारी को दीर्घश्मश्रुवाला, अर्थात् बड़े-बड़े डाढ़ी-मूँछोंवाला कहा गया है। ब्रह्मचारी के लिए दूसरी जगह स्पष्ट लिखा है कि **'क्षुरकृत्यं वर्जय'**, अर्थात् ब्रह्मचारी को बाल बनवाना मना है। जिस प्रकार ब्रह्मचारी के लिए बाल बनवाना मना है उसी प्रकार गृहस्थ

१. अथर्व० १४।१।५५

२. मनु० २।२१९। मनु का पाठ है—**मुण्डो वा जटिलो वा स्यात्।**

के लिए भी मना है। राजा के लिए लिखा है कि—

शिरो मे श्रीर्यशो मुखं त्विषिः केशाश्च श्मश्रूणि।
राजा मे प्राणो अमृतꣳ सम्राट् चक्षुर्विराट् श्रोत्रम्॥ —यजुः० २०।५

इसमें राजा के शिर के केशों और डाढ़ी-मूँछों की प्रशंसा की गई है। इसी प्रकार वनस्थ के लिए भी लिखा है कि '**जटाश्च बिभृयान्नित्यं श्मश्रुलोमनखानि च**',[1] अर्थात् वानप्रस्थ सदैव जटा रक्खे और कभी बाल और नाख़ून न कटावे। कहने का तात्पर्य यह कि असमर्थ दशा के अतिरिक्त आर्यसभ्यता के अनुसार मनुष्य को कभी केश और बाल न निकलवाना चाहिए। वेदों में जहाँ बालों के रखने का आदेश किया गया है वहाँ उनके स्वच्छ रखने का भी उपदेश है। अथर्ववेद में लिखा है कि '**कृत्रिमः कण्टकः शतदन्.....केश्यं मलमयशीर्षण्यं लिखात्**'[2] अर्थात् अनेक कृत्रिम काँटोंवाले कंघे से शिर के बालों का विन्यास किया जाए।

इन समस्त आज्ञाओं से पता लगता है कि आर्यसभ्यता में केशों की रक्षा का विधान है। यही नहीं, किन्तु इतिहास और प्राचीन चित्रकला से भी पाया जाता है कि ऋषि-मुनि और राजा-महाराज सब केश रखते थे। रामचन्द्र के शिर पर केश पहले ही से बड़े-बड़े थे, तभी वे तुरन्त ही वटक्षीर से उन्हें जटिल बना सके। कृष्ण, अर्जुन और अन्य योद्धाओं के वर्णनों में भी केश सँभालने की चर्चा आती है। ऋषि तो जटाधारी थे ही। इसके अतिरिक्त प्राचीन काल में केशों से ही आर्यों और दस्युओं की पहचान भी होती थी।

प्राचीन काल में जिस प्रकार ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की पहचान के लिए सूत, सन और ऊन का यज्ञोपवीत पहना जाता था, उसी प्रकार आर्य और दस्यु की पहचान के लिए शिर के केशों में एक ग्रन्थि लगाई जाती थी। जिनके शिर में ग्रन्थि होती थी वे आर्य और जिनके शिर के केशों में ग्रन्थि नहीं होती थी वे दस्यु, अर्थात् अनार्य समझे जाते थे। इसका कारण यह है कि आर्यों के अन्दर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र पहचाने जाते थे, किन्तु शूद्र आर्य होते हुए भी यज्ञोपवीत नहीं पहनते थे, अतएव वे केशों की ग्रन्थि से ही पहचाने जाते थे। इस प्रकार से केशग्रन्थि आर्यत्व का चिह्न थी। यह हमारी केवल कल्पना नहीं है प्रत्युत सप्रमाण सिद्ध है कि पूर्वसमय में जब-जब कभी आर्यों ने किसी को भी जातिच्युत करके अनार्य किया है अथवा उसे आर्यों से पृथक् करके दस्यु बनाया है तब-तब उसके केशों को कटवा दिया है अथवा शिखाग्रन्थि को खुलवा दिया है। ये बातें महाभारत, हरिवंश और विष्णुपुराण में अच्छी प्रकार वर्णन की गई हैं, अतः हम यहाँ इस विषय के दो श्लोक लिखते हैं—

अर्धं शकानां शिरसो मुंडयित्वा व्यसर्जयत्। यवनानां शिरः सर्वं काम्बोजानां तथैव च॥
पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवाः श्मश्रुधारिणः। निःस्वाध्यायवषट्काराः कृतास्तेन महात्मना॥[3]

अर्थात् शकों का आधा सिर मुँडवा दिया गया, यवनों का सारा सिर मुँडवा दिया गया, कम्बोजों का समस्त सिर मुँडवा दिया गया, पारदों की शिखाग्रन्थि खुलवा दी गई और पह्लवों के केवल मुँछ रक्खे गये और सिर के तथा डाढ़ी के बाल मुँडवा दिये गये।

इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि सिर के केश, अर्थात् शिखा आर्यत्व का चिह्न समझी जाती थी। आगे की जाने दीजिए अभी १०० वर्ष पहले भी यही रिवाज था कि जब कभी किसी

---

१. मनु० ६।६
२. अथर्व० १४।२।६८
३. हरिवंश० १।१४।१६-१७

पतित को त्यागते थे तब उसका शिर मुँडवाकर और गधे पर चढ़ाकर निकलवा देते थे। इन घटनाओं से समझ में आ जाता है कि हमारे केश किस प्रकार विज्ञान से भरे हुए, धार्मिक, ऐतिहासिक और आर्यत्व का प्रतिपादन करनेवाले हैं। हम देखते हैं कि आजकल लोग हिन्दू (आर्य) का लक्षण अनेक प्रकार का करते हैं, परन्तु बिना आर्य इतिहास के समझे वे हिन्दू का ठीक-ठीक लक्षण ही नहीं कर सकते। वैदिक जानते हैं कि शिखासूत्रधारी को आर्य (हिन्दू) कहते हैं। शिखा में सिक्ख, बौद्ध, जैन, शूद्र और कोलभील सभी समा जाते हैं और सूत्र में द्विजाति तथा पारसी आ जाते हैं और इस प्रकार से केशों की ख़ूबी समझने पर आर्यफ़ैशन, आर्यवेषभूषा और आर्यपोशाक का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

आर्यसभ्यता में केशों की भाँति नाख़ूनों का भी बड़ा महत्त्व है। नाख़ूनों के द्वारा श्रम की इयत्ता, अर्थात् मर्यादा और प्रकार, अर्थात् विधि से सम्बन्ध रखनेवाली दो बातें जानी जाती हैं। एक तो यह कि ऐसे काम किये जाएँ जिनसे नाख़ून आप-ही-आप घिस जाएँ, कटाना न पड़े और दूसरा यह कि इतना काम किया जाए जिससे न तो नाख़ून परिमाण से अधिक घिस ही जाएँ और न बने ही रहें। खेती करनेवाले किसान और घरों में काम करनेवाली स्त्रियों को कभी नाख़ून कटाने की आवश्यकता नहीं होती, परन्तु कसरत के द्वारा श्रम करनेवालों को अथवा कुछ भी काम न करनेवालों को नाख़ून कटाने पड़ते हैं। इससे ज्ञात होता है कि न तो निकम्मे बैठना ही अच्छा है और न डण्ड-बैठक जैसे व्यर्थ श्रमों का करना ही अच्छा है, प्रत्युत इस प्रकार का काम करना अच्छा है जिस प्रकार के काम किसान अथवा घर में काम करनेवाली स्त्रियाँ करती हैं, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि कृषकों के समान काम करनेवालों के भी नाख़ून इतने न घिस जाने चाहिएँ कि जिससे ज़िन्दा नाख़ून कट जाए। मनुष्यों के श्रम करने का क्षेत्र केवल भोजन और वस्त्रादि उत्पन्न करना ही है। इसलिए तत्सम्बन्धी श्रम ही उनके लिए आवश्यक है, किन्तु दुःख से कहना पड़ता है कि कसरत करनेवाले व्यर्थ ही घण्टों श्रम करते हैं और उस श्रम से कुछ भी जीविका उत्पन्न नहीं कर सकते। उलटा दूसरों की कमाई खाते हैं और अपने भोजन में इतना अधिक ख़र्च करते हैं कि एक पहलवान की ख़ूराक में चार भले आदमियों का निर्वाह हो सकता है। यदि नाख़ून का विज्ञान ज्ञात होता तो वे कभी ऐसा न करते। नाख़ून कटाना निकम्मेपन की दलील है। २५ वर्ष पूर्व चीन में वह आदमी अधिक अमीर समझा जाता था जिसके नाख़ून बहुत बड़े हों। यह अमीरात की स्पर्धा यहाँ तक बढ़ गई थी कि लोगों के नाख़ून चार-चार इञ्च तक बढ़ गये थे। नाख़ून बढ़ाने की ग़रज़ से वे लोग कुछ भी काम नहीं करते थे। तात्पर्य यह कि नाख़ून चाहे बढ़ाये जाएँ और चाहे बढ़े हुए कटाये जाएँ—दोनों का अर्थ निकम्मापन ही है, परन्तु आर्यसभ्यता सिखलाती है कि वानप्रस्थी फल-फूल खाकर रहें और केश तथा नाख़ून न कटाएँ। इसका तात्पर्य स्पष्ट है कि वानप्रस्थी वन और वाटिकाओं में श्रम करके भोजन पैदा करें, जिससे नाख़ून आप-ही-आप घिस जाएँ। यह बात आज भी वनवासियों में देखी जाती है। जंगलनिवासी न कभी नाख़ून कटाते हैं और न कभी उनके नाख़ून बढ़े हुए देखे गये हैं। इससे यही ज्ञात होता है कि नाख़ून हमारे श्रम की कसौटी हैं—पैमाना हैं, इसलिए नाख़ून कभी न काटना चाहिए, प्रत्युत खेतों और वाटिकाओं में इतना और इस प्रकार का काम करना चाहिए, जिससे नाख़ून स्वयं घिस जाएँ।

आर्यसभ्यता में धातु के आभूषणों के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि वैदिक आर्य सुगन्धित फूलों के ही आभूषण पहनते थे, सोने-चाँदी के आभूषण नहीं पहनते थे। वे सोने-चाँदी के आभूषण तो पशुओं (गायों) को पहनाते थे। इतना होने पर भी वे सुवर्ण के गुणों को ख़ूब जानते

थे। वे सुवर्ण के आभूषण नहीं पहनते थे, परन्तु सुवर्ण को शरीर के किसी-न-किसी भाग में लगा हुआ अवश्य रखते थे। इसका कारण यह है कि आर्यों की सभ्यता के अनुसार सुवर्ण का धारण करना और सुवर्ण अथवा चाँदी का आभूषण पहनना दोनों अलग-अलग बातें मानी गई हैं। जिस प्रकार बिना चेन की घड़ी केवल समय देखने के लिए गुप्त रीति से पाकेट में पड़ी रहना एक बात है और सोने की सुन्दर चेन में घड़ी को बाँधकर कलाई में पहनना दूसरी बात है। उसी प्रकार सुवर्ण धारण करना और सुवर्ण का आभूषण पहनना—दोनों को अलग-अलग समझा गया है। कलाई में सुवर्ण की चेन के साथ घड़ी का बाँधना आभूषण की श्रेणी में है और समय देखने के लिए घड़ी का पाकेट में पड़ा रहना सुवर्ण के धारण करने की श्रेणी में है। जिस प्रकार घड़ी का मुख्य उद्देश्य समय देखना है, आभूषण बनाना नहीं, उसी प्रकार सुवर्ण का शरीर में लगा रहना स्वास्थ्य के लिए है, आभूषण के लिए नहीं।

आर्यसभ्यता में सुवर्ण आयुवर्द्धक माना गया है। यही कारण है कि आर्यलोग लड़का पैदा होते ही सुवर्ण की शलाका से उसकी जिह्वा पर 'ओ३म्' लिखते हैं और मरने के समय भी बीमार के मुँह में सुवर्ण डालते हैं। सुवर्ण डालते ही नहीं प्रत्युत मृत्यु के कई दिन पूर्व से सुवर्ण के बने हुए चन्द्रोदयादि रसों का प्रयोग करना आरम्भ कर देते हैं। जन्म-मृत्यु के समयों के अतिरिक्त भी कुण्डल अथवा अँगूठी को आभूषण नहीं समझते थे। कुण्डल का अर्थ गोल छल्ला है और अँगूठी भी एक छल्ला ही है। छल्ला आभूषण नहीं है, क्योंकि इसमें कुछ भी कारीगरी नहीं होती—फूल-पत्ती का काम नहीं होता। कानों में छिद्र होने के कारण ही ओषधिरूप कुण्डल पहने जाते हैं, आभूषण के लिए नहीं, क्योंकि सुवर्ण के वर्कों और सुवर्ण से बने हुए चन्द्रोदयादि रसों के खाने से अच्छी प्रकार ज्ञात होता है कि सुवर्ण में दीर्घायु का गुण है। इसी गुण का वर्णन करते हुए वेद में बतलाया गया है कि दीर्घायु के लिए सुवर्ण अवश्य धारण करना चाहिए। अथर्ववेद और यजुर्वेद में लिखा है कि—

पुनाति एव एनं यो हिरण्यं बिभर्ति। —अथर्व० १९।२६।९[1]

जरामृत्युर्भवति यो [हिरण्यं] बिभर्ति। —अथर्व० १९।२६।१

यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यꣳ स देवेषु कृणुते दीर्घमायुः स मनुष्येषु कृणुते दीर्घमायुः॥ —यजुर्वेद ३४।५१

अर्थात् सुवर्ण उसको पवित्र कर देता है, जो उसे धारण करता है। जो सुवर्ण धारण करता है वह वृद्ध होकर मरता है। जो उत्तम सुवर्ण धारण करता है वह दीर्घजीवी होता है।

सुवर्ण के इस महान् गुण के ही कारण शतपथब्राह्मण ४।३।४।२४ और १०।४।१।६ में **'आयुर्हिरण्यम्, अमृतं हिरण्यम्'**, अर्थात् सुवर्ण आयु है और सुवर्ण अमृत है, कहा गया है। इसी गुण के कारण आर्यलोग जन्म से मृत्युपर्यन्त सुवर्ण को कान में या अँगुली में पहनते थे[2], परन्तु इन छल्लों को कभी आभूषण नहीं कहते थे। आभूषण तो वे सदैव फूलों का ही पहनते थे, क्योंकि फूलों के आभूषणों से मन प्रफुल्लित होता है और शीतलता प्राप्त होती है। फूल सबको सरलता से एक समान ही प्राप्त हो सकते हैं और परस्पर की ईर्ष्या-द्वेष से बचाते हैं। यही कारण है कि ऋषि लोग फूलों के आभूषण बनाकर ऋषि-पत्नियों को पहनाते थे। **'एक बार चुनि कुसुम**

---

१. यह मन्त्रांश वेद में नहीं है। १९वें काण्ड के २६वें सूक्त में केवल ४ मन्त्र हैं। —जगदीश्वरानन्द

२. अण्डवृद्धि को रोकने के लिए कर्णवेध संस्कार होता है और कान में छिद्र किया जाता है। उस छिद्र की रक्षा और सुवर्ण का धारण कुण्डलों से ही हो जाता है, इसीलिए कान में सुवर्ण पहनने का रिवाज हो गया है।

सुहाये। निज कर भूषण राम बनाये। सीताहि पहिराये प्रभु सादर' का सुन्दर वर्णन रामचरितमानस में किया गया है। इससे ज्ञात होता है कि आर्यलोग आभूषण फूलों के ही पहनते थे और कुण्डल आदि सादे छल्ले तो केवल आरोग्यता प्राप्त करने के अभिप्राय से ही पहनते थे, आभूषणों के अभिप्राय से नहीं। आर्यसभ्यता से सम्बन्ध रखनेवाले जितने प्राचीन आभूणष हैं उनके नामों से ज्ञात होता है कि वे फूलों के ही होते थे। कर्णफूल, कण्ठश्री और वेणीपर्ण आदि नाम फूल-पत्तों के ही सूचक हैं। इसके अतिरिक्त जितने आभूषण हैं सबमें बेल, फूल, कली और पत्ते ही बने होते हैं—फूल-पत्तों की ही नक्काशी होती है, अतएव यह बात निर्विवाद है कि आदिमकाल में आर्यों के आभूषण फूलों के ही होते थे, परन्तु अनुमान होता है कि कुछ दिन के बाद गोभक्त आर्यों ने कारीगरों से सोने के फूल-पत्ते बनवाकर और उनमें फूलों के ही रंगों के मूल्यवान् पत्थर जड़वाकर गायों के लिए आभूषण तैयार करवाये और मणि-मुक्ताखचित आभूषणों से अपनी गायों को सजाया। फल यह हुआ कि कुछ दिन के बाद फूलों के आभूषणों के स्थान पर सुवर्ण के आभूषण बनने लगे और सब लोग धातुनिर्मित अनेक प्रकार के आभूषण पहनने लगे, परन्तु आर्यों की आदिम सभ्यता में धातुनिर्मित आभूषणों के लिए कोई स्थान नहीं है। जिस प्रकार उनके वस्त्र सादे हैं और जिस प्रकार उनका भेष सादा है, उसी प्रकार उनकी भूषा भी सादी ही है।

आर्यगृह, ग्राम और नगर

अर्थ की तीसरी शाखा गृह है। सर्दी-गर्मी और वर्षा के कष्ट से बचने तथा अन्य सामाजिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए यद्यपि घर की आवश्यकता मनुष्यमात्र को होती है तथापि आर्यसभ्यता में गृह, अर्थात् घर का विशेष महत्त्व है। इसका कारण यह है कि आर्यों की आश्रमव्यवस्था के अनुसार उनके समाज की आधे से भी अधिक जनसख्या के पास निज का घर नहीं होता। ब्रह्मचारी, वनस्थ, संन्यासी और अन्य ऐसे ही उपयोगी मनुष्य केवल गृहस्थों के ही घरों में आश्रय ग्रहण करते हैं, इसीलिए आर्यों को घर के विषय में बहुत ही सोच समझकर नियम बनाने पड़े हैं। हमने जिन ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासियों को बिना घर-द्वार के लिखा है उनमें वानप्रस्थी और संन्यासी दोनों आर्यजीवन का अन्तिम उद्देश्य पूरा करने के लिए मोक्षमार्ग का पूर्ण अवलम्बन किये हुए विचरते हैं। तीसरे ब्रह्मचारी लोग गृहस्थ बनकर और फिर उन्हीं दोनों का अनुकरण करनेवाली शिक्षा और दीक्षा को प्राप्त करते हुए फिरते हैं। इन तीनों दलों को सहायता देने और स्वयं दोनों अन्तिम दलों में प्रवेश करने के लिए ही गृहस्थाश्रम की व्यवस्था है। इसीलिए तीन भाग जनता के पास मकान नहीं होते और एक भाग जनता के पास मकान होते हैं, वे केवल उपर्युक्त तीनों आश्रमियों की सेवा करने के लिए ही होते हैं, और किसी दूसरे काम के लिए नहीं। अतएव आर्यों के मकान ऐसे ही होने चाहिएँ जो ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों की चाल-ढाल के विपरीत न हों, उनमें मोह और वासना का विष डालनेवाले न हों और गृहस्थ के प्रति घृणा, उपेक्षा तथा तिरस्कार उत्पन्न करनेवाले न हों, प्रत्युत आर्यों के घर ऐसे हों जो मोक्षमार्गियों को अपने निकट बुलाते हों और गृहस्थ को भी वनस्थ बनने में सहायता देते हों।

एक आर्य जब ब्रह्मचर्याश्रम से आकर गृहस्थ बनता है तब ब्रह्मचारियों, वानप्रस्थियों और संन्यासियों में एक प्रकार का बल होता है। उनको विश्वास हो जाता है कि हमारी सेवा करने के लिए और हमें सहायता देने के लिए अब एक और दृढ़ बाहुबलवाले दम्पती ने अपने घर में अग्नि की स्थापना की है। इसी अभिप्राय से आर्यों ने विवाह के बाद अपने कुटुम्ब से पृथक् होकर

पृथक् रहने में ही धर्म माना है। मनु भगवान् कहते हैं कि **'पृथक् विवर्धते धर्मस्तस्माद्धर्म्या पृथक् क्रिया'**, अर्थात् अलग-अलग रहने से ही धर्म बढ़ता है, इसलिए अलग ही रहना चाहिए। यही बात गौतमसूत्र अध्याय २८ में इस प्रकार लिखी है कि पिता की मृत्यु के पश्चात् अथवा 'पिता के जीते जी जब माता के पुत्र जनने का समय व्यतीत हो जाए तब सब पुत्र पिता की सम्पत्ति को बाँट लें'। इसी प्रकार शुक्रनीति में भी लिखा है कि—

सदारप्रौढपुत्रां द्राक् श्रेयोऽर्थी विभजेत्पिता। सदारा भ्रातरः प्रौढाः विभजेयुः परस्परम्॥

अर्थात् युवा और विवाहित पुत्र अथवा भाई कल्याण के लिए परस्पर गृहस्थी को बाँट लें और पृथक् हो जाएँ। इस पृथक्ता का केवल इतना ही कारण है कि प्रत्येक विवाहित पुरुष बहुकुटुम्ब के कलह, प्रमाद और आलस्य से हटकर अलग घर बनावे और अपने बाहुबल से मोक्षार्थियों की सेवा-सत्सङ्ग से स्वयं भी मोक्षमार्गी बन जाए। तात्पर्य यह कि गृहस्थों के घर मोक्षमार्ग के केन्द्र होने चाहिएँ, जिनमें देव, पितर, ब्रह्मचारी, संन्यासी, पाप-रोगी, श्वपच और पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, तृण-पल्लव सभी की पूजा हो और सभी को सहारा दिया जाए। ऐसे घर जिनमें निरन्तर मोक्षार्थियों की सेवा होती हो और जहाँ निरन्तर मोक्ष प्राप्त करने का ही उद्योग होता हो वे ऐसे ही होने चाहिएँ जो स्वच्छ, सात्त्विक, अभयदान देनेवाले और रम्य हों। उन मकानों से अभिमान, विलास और अपवित्रता की बू न आती हो, प्रत्युत शान्ति मिलती हो। यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में बहुत ही सादा मकानों को स्थान दिया है और यही कारण है कि पुराने ज़माने में आर्यों के मकान बहुत ही सादे होते थे। 'महाभारत मीमांसा' पृष्ठ ३७५ पर रायबहादुर चिन्तामणि विनायक वैद्य एम०ए० लिखते हैं कि 'हिन्दुस्थान में प्राचीन काल में प्रायः लकड़ी और मिट्टी के ही मकान थे। दुर्योधन ने पाण्डवों के रहने के लिए जो लाक्षागृह बनवाने की आज्ञा दी थी, उसमें लकड़ी और मिट्टी की ही दीवारें बनाने को कहा गया था। इन दीवारों के भीतर राल, लाख आदि ज्वालाग्राही पदार्थ डाल दिये गये थे और ऊपर से मिट्टी लीप दी गई थी। जब पाण्डवों सरीखे राजपुरुषों के रहने के लिए ऐसे घर बनाने की आज्ञा दी गई थी तब यही बात दृढ़ होती है कि महाभारत काल में बड़े लोगों के घर भी मिट्टी के ही होते थे।' यह बात बिलकुल ठीक है। आर्यों के घर ऐसे ही होते थे, परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आर्य लोग ईंट बनाना या पत्थर काटकर जोड़ना नहीं जानते ते। वे ईंटों को पकाना जानते थे और ईंटों से हवनकुण्ड और हवनमण्डप बनवाते भी थे, यहाँ तक कि बड़े-बड़े लोहे के क़िले भी बनवाते थे। यह बात अग्रइष्टका का वर्णन करते हुए यजुर्वेद में और आयसीपुर का वर्णन करते हुए ऋग्वेद में लिखी भी है, किन्तु जैसाकि हम अभी कह आये हैं आर्यों के रहनेवाले मकान मोक्षार्थियों के टिकने और मोक्षार्थ की चर्चा करने के ही लिए थे, इसलिए वे प्रमाद उत्पन्न करनेवाले ढंग के नहीं बनाये जाते थे। भव्य भवनों और साधारण आर्यघरों में क्या अन्तर है और दोनों से क्या-क्या हानि-लाभ है, यहाँ हम बतलाने का यत्न करते हैं।

सादे-सीधे, मिट्टी-लकड़ी और घास के छोटे-छोटे मकान झाड़ने और लीपने-पोतने से नित्य पवित्र हो जाते हैं, परन्तु बड़े, ऊँचे और ईंट-पत्थर के मकान प्रतिदिन इतनी जल्दी साफ़ नहीं हो सकते। ईंट-पत्थर के मकान गर्मी में अधिक गर्म और सर्दी में अधिक सर्द तथा वर्षा में अधिक गर्मी उत्पन्न करते हैं, परन्तु मिट्टी-लकड़ी और छप्पर के मकान गर्मी में ठण्ढे, सर्दी में गर्म और वर्षाऋतु में बड़े ही हवादार हो जाते हैं। वर्षाकाल में घास का छप्पर तो बड़ा ही आनन्ददायक होता है। सादे मकान बहुत ही थोड़े श्रम और खर्च से बन जाते हैं, परन्तु ईंट-पत्थर के भव्य भवनों में लाखों रुपया लग जाता है। आज इमारत के व्यर्थ ख़र्च के कारण नवीन

स्कूलों और कॉलेजों का ख़ुलना कठिन हो रहा है। नवीन स्कूल का नाम लेते ही बिल्डिंग का प्रश्न सामने आता है और हज़ारों की बात लाखों में बदल जाती है और सारी स्कीम दिमाग़ में ही पड़ी रह जाती है, परन्तु यदि सादे मकानों का अनुकरण किया जाए तो प्रत्येक तहसील में थोड़ी ही लागत से एक-एक कॉलेज खुल सकता है, इसलिए भव्य भवनों से सादे मकान अधिक उपयोगी हैं। सादे मकानों की उपयोगिता उस समय बहुत अच्छी प्रकार समझ में आ जाती है जब भूकम्प, अग्निकाण्ड अथवा नदियों के प्रवाह से गाँवों का नाश होता है। ऐसी आपत्तियों में से भूकम्प के कारण तो छप्परवाले मकान गिरते ही नहीं। रहा अग्निकाण्ड और जलप्रवाह, यद्यपि इनसे सादे मकान भी नष्ट होते हैं, परन्तु सादे घरों के नष्ट होने में भव्य भवनों की अपेक्षा बहुत ही कम हानि होती है। कम हानि के कारण छोटे मकानवाला दस ही बीस दिन में अपना नया मकान फिर बना लेता है, परन्तु भव्य भवनवाले का तो फिर दूसरा भव्य भवन आजीवन बनवाये ही नहीं बनता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सादे मकान सदैव स्थिर रहते हैं, परन्तु भव्य भवनों की स्थिरता में सन्देह है। बड़े मकानवालों में स्वाभाविक ही अभिमान और प्रमाद होता है, परन्तु साधारण मकानवाले बहुत ही सरल होते हैं। बड़े मकानों में रहते ही नौकर, फ़रनीचर, सवारी और अनेक प्रकार की पोशाकों और ठाट-बाटों की आवश्यकता अकारण ही उत्पन्न होती है, परन्तु सादे मकानों से ये बातें उत्पन्न नहीं होतीं। भव्य भवनों और सादे मकानों में जो सबसे बड़ा अन्तर है वह मोह और पैतृक सम्पत्ति का है। सादे मकानवाले जब चाहते हैं तब अपने मकान को छोड़कर सुविधा के साथ दूसरे स्थान पर नया मकान बना लेते हैं और बात-की-बात में ग्राम, ज़िला और प्रान्त को भी छोड़ देते हैं, जिसका नमूना हम नित्य ख़ानाबदोशों—नट, कंजर और हबूड़ों—में देखते हैं, परन्तु ऊँची हवेलीवाले हज़ार-हज़ार संकटों के आने पर भी अपनी कोठी के मोह से न कहीं जा सकते हैं और न धनाढ्यता की व्यर्थ की बू को दिमाग़ से निकाल सकते हैं, प्रत्युत उसी पुरानी कोठी को सम्पत्ति मानकर उसी के पत्थरों में पैर रगड़ा करते हैं, इसलिए भव्य भवन और बड़ी-बड़ी कोठियाँ मनुष्य के स्वाभाविक रहन-सहन के सर्वथा विपरीत हैं। इन्हींने मनुष्यों में सबसे पहले स्वामित्व के भावों को उत्पन्न किया है और पैतृक सम्पत्ति के भावों की जड़ जमाई है, इसीलिए मोह, अभिमान और आलस्य उत्पन्न करनेवाले ऐसे मकानों को आर्यों ने अपनी सभ्यता में स्थान नहीं दिया। आर्यों के मकानों का आदर्श वर्णन करते हुए अथर्ववेद में लिखा है—

तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती॥ —अथर्व० ९।३।१७
या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निगर्भ इवाशये। —अथर्व० ९।३।२१

अर्थात् तृण से छाई हुई और तोरण बन्दनवारों से सजी हुई हे शाले! तू सबको रात्रि के समय शान्ति देनेवाली है और लकड़ी के खंभों पर हस्तिनी की भाँति थोड़ी-सी भूमि में स्थिर है। जो शाला दो छप्परवाली, चार छप्परवाली, छह छप्परवाली और आठ तथा दश छप्परवाली बनाई जाती है, उस सम्मान बचानेवाली शाला (घर) में मैं जठराग्नि और गर्भ के समान निवास करता हूँ।

वैदिक आर्यों के घरों का यही आदर्श है। इन्हीं घरों में रहकर वे ईश्वरपरायण मोक्षार्थी भक्तों को आश्रय देते थे और स्वयं उनके सत्सङ्ग से मोक्षसाधन में सदैव रत रहते थे। यही कारण है कि वैश्यवर्ण के द्वारा संशोधित पृथिवीखण्डों में जहाँ का जल-वायु उत्तम होता था, पशुओं के लिए चरने योग्य बड़ी-बड़ी गोचर भूमि होती थी और जंगलों तथा ऊँचे पहाड़ों का दृश्य होता था,

वहीं वे अपनी बस्ती बसा देते थे। आर्यों के घर मिट्टी, लकड़ी और घास से और फूल-फलों की वाटिकाओं से घिरी हुई ऊँची भूमि पर नदी के निकट कूप, तड़ागों से आप्यायित और उर्वरा भूमि पर बनाये जाते थे। मकान बनाते समय इस बात का ध्यान रहता था कि प्रत्येक घर दूर-दूर पर उतनी भूमि को छोड़कर बनाया जाए जिसमें एक कुटुम्ब के योग्य भोजन, वस्त्र और पशुओं का चारा उत्पन्न हो सके। घरों के यह ढंग बंगाल और मध्यप्रदेश में कहीं-कहीं अब तक जीवित है।

अच्छे आर्यगृहों में दश छप्पर, अर्थात् दश भिन्न-भिन्न कमरे होते थे। इनमें पाँच अन्दर की ओर और पाँच मकान की दीवार के बाहर की ओर। भीतरवालों में एक कमरा गृहपति का, दूसरा गृहपत्नी और छोटे बच्चों का, तीसरा अतिथि का, चौथा पाकशाला का जहाँ गार्हपत्याग्नि रहती है और पाँचवा बाहर से अध्ययनार्थ आये हुए ब्रह्मचारी का होता था। घर से बाहरवाले कमरों में एक नर-पशुओं का, दूसरा मादा-पशुओं का, तीसरा रोगी का, चौथा स्नान का, पाँचवाँ कृषि के पदार्थों का होता था। बस, इसके अतिरिक्त मकान में बहुत-से खण्ड बनाकर अनेक कोठरियाँ बनवाना निरर्थक समझा जाता था। सच है, अधिक कमरों की आवश्यकता भी तो प्रतीत नहीं होती। आर्यसभ्यता की स्थिरता तो सादे, स्वच्छ और छोटे घरों में ही रह सकती है, इसलिए सादे ही घर होने चाहिएँ और ऐसे ही सौ, दो सौ घरों का ग्राम होना चाहिए तथा प्रत्येक ग्राम के बाद बहुत-सा जंगल छोड़कर फिर दूसरा ग्राम बसाना चाहिए, क्योंकि ग्राम्य जंगल में ही वनस्थों का निवास हो सकता है। मनुस्मृति में लिखा है कि प्रत्येक ग्राम में चारों ओर एक सौ धनुष भूमि छोड़ देनी चाहिए और बड़े नगरों के चारों और इससे तिगुनी चरभूमि छोड़नी चाहिए[1]। आर्य ग्रामों में जहाँ तक हो सभी वर्ग और सभी पेशे के लोगों को बसाना चाहिए। वैद्य, राजकर्मचारी, वेदवेत्ता और यज्ञ करानेवाला तो अवश्य ही बसे। जिस प्रकार के ये ग्राम हों उसी प्रकार के सादे गृहों से बने हुए ही नगर अथवा पुर भी होने चाहिएँ। आर्यग्राम और आर्यपुर या नगर में बड़ा अन्तर नहीं है। जहाँ बड़े जंगल से घिरकर दो-चार कोस तक दस-बीस छोटे-छोटे ग्राम आ जाते हैं वही पुर हो जाता है और ये छोटे-छोटे ग्राम ही उसके मुहल्ले हो जाते हैं। ऐसे पुर या नगर बहुधा बाज़ार या राजा के कारण बन जाते हैं, परन्तु वे आजकल के नगरों की भाँति नहीं होते। आजकल के नगरों के मकानों में तो नीचे, ऊपर, अगल-बगल सर्वत्र पैख़ाना भरे होते हैं, किन्तु आर्यसाहित्य में भंगी और पैख़ाना के लिए कोई शब्द नहीं है। इससे ज्ञात होता है कि आर्यनगर जंगलों से और उसके मुहल्ले बाग़-बग़ीचों तथा चरागाहों से घिरे थे और लोग जंगलों में ही शौच के लिए जाते थे। यही आर्यगृहों और आर्यग्रामों तथा आर्यनगरों का दिग्दर्शन है।

आर्य-गृहस्थी

अर्थ की चौथी शाखा गृहस्थी है। भोजन, वस्त्र और गृह के तैयार करने में जिन पदार्थों की आवश्यकता होती है और जो पदार्थ स्वास्थ्य और ज्ञानवृद्धि में सहायक होते हैं उन सबकी गणना गृहस्थी में है। आर्यगृहस्थी के स्थूलरूप से सात विभाग है। इन सातों के नाम बर्तन, पशु, रोशनी, ओषधि, पुस्तक, यन्त्र और शस्त्रास्त्र हैं। यहाँ हम क्रम से इन सबका वर्णन करते हैं।

आर्य गृहस्थी में सबसे पहली वस्तु बर्तन हैं। बर्तनों का उपयोग खाने-पीने, पकाने और यज्ञों के कामों में होता है। खाने-पीने के बर्तनों के लिए अथर्ववेद में लिखा है कि **'अलाबुपात्रं पात्रम्'**[2] अर्थात् तूँबे के बर्तन-ही-बर्तन हैं, अन्य नहीं। यही बात बर्तनों का वर्णन करते हुए मनु

---

१. धनुशतं परीहारो ग्रामस्य स्यात् समन्ततः। शम्यापातास्त्रयो वापि त्रिगुणो नगरस्य तु॥ —मनु० ८।२३७

२. अथर्व० ८।१०(५)।१४

भगवान् ने भी लिखी है। वे कहते हैं कि **'अलाबुं दारुपात्रं च मृण्मयं वैदलं तथा'**,[१] अर्थात् तूँबे, लकड़ी, मिट्टी और बाँस के ही बर्तन होने चाहिएँ। इन बर्तनों में खाने–पीने के पदार्थों को रखने से बिगड़ने का डर नहीं रहता और सबको एक समान आसानी से प्राप्त हो जाते हैं। इसी प्रकार काष्ठ, मिट्टी और पत्थर के पात्र यज्ञों में भी काम आते हैं, इसलिए ऐसे ही पात्र होने चाहिएँ जो सबको आसानी से मिल जाएँ। इसपर कुछ लोग कहते हैं कि ये पात्र तो संन्यासियों के हैं, गृहस्थों के नहीं, किन्तु हम देखते हैं कि आज हमारे देश में लाखों गृहस्थ ऐसे हैं जिके घरों में सिवा काठ के कठौते और कठैली के, पत्थर के कूँडों और कूँडियों के, मिट्टी के हण्डे और हण्डियों, तश्तरी और सकोरों के और बाँस, घास, पत्ते और मूँज के बर्तनों के एक भी फूल या पीतल का बर्तन नहीं है।

इसी प्रकार लाखों गृहस्थ ऐसे हैं जिनके घरों में पीतल की केवल एक ही थाली, एक ही बटुआ और एक ही लोटा है, शेष जितने बर्तन हैं सब लकड़ी, मिट्टी, पत्थर, पत्ते और बाँस ही के हैं, इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि ये बर्तन केवल संन्यासियों के ही हैं। इनको संन्यासियों के बर्तन कहने का कारण इतना ही है कि संन्यासी इनमें से एक ही पदार्थ का एक ही बर्तन ले–सकता है, सब पदार्थों के एक साथ अनेक बर्तन नहीं, परन्तु गृहस्थ प्रत्येक वस्तु के कई बर्तन रख सकता है, इसलिए संन्यासी और गृहस्थ के बर्तनों की तुलना नहीं हो सकती। हमारे देश में आज तक यह रिवाज है कि गृहस्थ के घर में कुम्हार मिट्टी के बर्तन, नट बाँस के बर्तन और बारी पत्तों के बर्तन जितने आवश्यक होते हैं उतने हमेशा दे जाता है और साल के अन्त में गृहस्थ की उपज का अमुक भाग ले–जाता है, परन्तु संन्यासी के साथ इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, इसलिए उपर्युक्त बर्तनों को केवल संन्यासियों के बर्तन नहीं कहा जा सकता, प्रत्युत यह कहा जा सकता है कि जो बर्तन सबको एक समान सरलता से प्राप्त हो सकें और जो भोजन को सुरक्षित रख सकें, उन्हीं का आर्यसभ्यता में समावेश है, फूल, पीतल, एल्मुनियम, जर्मन सिल्वर और चाँदी आदि के बर्तनों का नहीं, क्योंकि ये सबको सरलता से एकसमान प्राप्त नहीं हो सकते।

पशु भी आर्यगृहस्थी की प्रधान सामग्री है, इसीलिए वेदों में पशुओं की प्राप्ति के लिए सैकड़ों प्रार्थनाओं का वर्णन है, क्योंकि आर्यसभ्यता में पशुओं से छह प्रकार का काम लिया जाता है, अर्थात् आर्यों के पशु भोजन, वस्त्र, खेती, सवारी, पहरा और स्वच्छता का काम देते हैं। गाय, भैंस, बकरी और भेड़ी से दूध–घृतादि खाद्य पदार्थ प्राप्त होते हैं। भेड़ी और बकरियों से वस्त्रों के लिए ऊन प्राप्त होती है। बैल, भैंसे, ऊँट, घोड़े, गधे और हाथी से सवारी, बोझ उठाने और खेती के जोतने तथा सींचने का काम लिया जाता है। कुत्ता पहरा देता है और सुवर सफ़ाई का काम करता है, इसीलिए आर्यगृहस्थी में पशुओं का बड़ा महत्त्व है।

आर्य गृहस्थी में रोशनी भी प्रधान वस्तु है, क्योंकि आर्यसभ्यता में दीपदान का बड़ा महत्त्व है। जहाँ अतिथि के षोडशोपचार गिनाये गये हैं वहाँ अतिथिपूजा में दीपदान भी रखा गया है। इसके सिवा आर्यों का कोई भी धार्मिक कृत्य आरम्भ नहीं होता, जब तक दीपक न जला लिया जाए। इसलिए दिन के समय में दीपक जलाया जाता है। आर्यों का दीपक सदैव घी से ही जलाया जाता है। घृत की रोशनी के समान नेत्रों को सुख देनेवाली कोई दूसरी रोशनी नहीं है, इसलिए आर्य गृहस्थों में अन्धकार को दूर करनेवाला दीपक आवश्यक समझा गया है।

आर्य गृहस्थी में ओषधियों का संग्रह भी आवश्यक है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि आर्यों को सदैव ओषधियों का सेवन करना चाहिए। ओषधियों के संग्रह का कारण इतना ही है

---

१. मनु० ६।५४

कि न मालूम किस समय कैसी दुर्घटना हो जाए और ओषधि की आवश्यकता पड़ जाए, क्योंकि गृहस्थ को इस प्रकार के प्रसङ्ग आया ही करते हैं, जिनमें तुरन्त ही ओषधि की आवश्यकता पड़ जाती है, इसलिए ऐसी ओषधियाँ जो तुरन्त नहीं बन सकतीं और जिनकी आवश्यकता तुरन्त हो जाती है उनका संग्रह आर्यगृहस्थी में अवश्य रहना चाहिए। यद्यपि आयुर्वेदशास्त्र का यही तात्पर्य है कि कोई कभी बीमार ही न हो, क्योंकि आयुर्वेद कहते ही उस विद्या को हैं जो बीमारियों से बचने का ज्ञान देती है, तथापि दुर्दैव के कारण शरीर में चोट लगने से, थक जाने से और मलों के संचय हो जाने से जो अस्वस्थता उत्पन्न हो जाती है, उसका उपाय करना पड़ता है। चोट लगने से—किसी अंग के टूट-फूट जाने से जो अस्वस्थता उत्पन्न होती है, उसमें रोगी की देख-भाल, सेवा-शुश्रूषा और मरहम-पट्टी से ही आराम पहुँचता है, दवा-दारू से नहीं। इसी प्रकार थकावट से जो अस्वस्थता होती है उसमें भी आराम करने से ही लाभ होता है, ओषधि से नहीं, किन्तु जो अस्वस्थता रोगों के कारण होती है उसमें कुछ विलक्षण उपचारों की आवश्यकता होती है, क्योंकि माधव ने अपने निदान में लिखा है कि **'सर्वेषामेव रोगानां निदानं कुपिता मलाः'**, अर्थात् समस्त रोग मलों के संचय ही से उत्पन्न होते हैं और यह संचित मल ही कभी कफ़ होकर, कभी अतिसार होकर, कभी फोड़ा-फुंसी बनकर और कभी ज्वर तथा वमन के रूप में परिणत होकर नाना प्रकार के रोगों के नामों से प्रकट होते हैं। इसलिए इन मलजन्य रोगों को चार उपायों से दूर किया जाता है। चरकाचार्य कहते हैं कि—

पाचनान्युपवासश्च व्यायामश्चेति लङ्घनम्। चतुष्प्रकारा संशुद्धिर्वमनञ्च विरेचनम्।

अर्थात् पाचक पदार्थों के खाने, उपवास, व्यायाम और लङ्घन करने तथा वमन और विरेचन का प्रयोग करने से मलों की शुद्धि हो जाती है। इन उपचारों में फलोपवास, लङ्घन और वमन-विरेचनों को सभी जानते हैं, परन्तु आर्यसभ्यता में मलों की शुद्धि का एक दूसरा ही उपाय बतलाया गया है, जिसे प्रायः लोग भूल गये हैं। वह उपाय प्राणायाम है। प्राणायाम का गुण वर्णन करते हुए भगवान् मनु कहते हैं—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः। तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥[१]

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि में तपाने से धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं।

यद्यपि नित्य प्राणायाम करनेवाले फलाहारी आर्यों के शरीरों में मलों का संचय नहीं होता तथापि कभी-कभी अचानक ही सान्निपातिक रोगों का आक्रमण हो जाता है, जिससे मृत्यु की आशंका उत्पन्न हो जाती है, अतएव चतुर वैद्यों से अच्छी ओषधियों को लेकर अपने घरों में रख छोड़ना चाहिए।

आर्यगृहस्थी में पुस्तकों का भी बड़ा महत्त्व है, इसलिए प्रत्येक आर्य के घर में वेद, वेदों के अङ्ग, उपाङ्ग, स्मृतियाँ, दर्शन, इतिहास और अन्य ऐसी ही ज्ञान-विज्ञान को बढ़ानेवाली पुस्तकें होनी चाहिएँ। व्यर्थ बकवास करनेवाली और ज्ञान के स्थान में अज्ञान फैलानेवाली तथा मनुष्यों की रुचियों को तामस् बनानेवाली पुस्तकें न होनी चाहिएँ। उच्च कोटि के थोड़े-से ही ग्रन्थ ज्ञानवृद्धि में जो सहायता करते हैं उतनी सहायता अनिश्चित सिद्धान्तों के प्रचार करनेवाले हज़ारों ग्रन्थ भी नहीं कर सकते। ऋषियों के लिखे हुए सौ-पचास ग्रन्थों के अवलोकन करने से ही ज्ञान में जो स्थिरता होती है वह बड़े-बड़े पुस्तकालयों की हज़ारों पुस्तकों के पढ़ने से भी नहीं होती,

---

१. मनु० ६।७१

इसीलिए शास्त्र में अनिश्चित सिद्धान्तों का संग्रह करना मना किया गया है। सांख्यशास्त्र १।२६ में कपिलाचार्य कहते हैं कि '**अनियतत्त्वेपि नायौक्तिकस्य संग्रहोऽन्यथा बालोन्मत्तादिसमत्वम्**', अर्थात् बालकों और उन्मत्तों के समान अनिश्चित और युक्तिहीन बातों का संग्रह करना व्यर्थ है। इसलिए ग्रन्थ वही संग्रह करने योग्य हैं जो सनातन सिद्धान्तों का अखण्ड रूप से प्रचार करते हों और प्राणियों को इस लोक और परलोक में सुख पहुँचाने की विधि और युक्ति की शिक्षा देते हों।

आर्यगृहस्थी में यन्त्रों का भी समावेश है, परन्तु वैदिक यन्त्र वही हैं जो किसी पशु या मनुष्य का कर्मक्षेत्र संकीर्ण नहीं करते। आर्यसभ्यता में ऐसे यन्त्रों का समावेश नहीं है जो किसी पशु की सहायता के बिना केवल स्प्रिंग, स्टीम अथवा विद्युच्छक्ति के द्वारा थोड़े से मनुष्यों की सहायता से चलाये जाएँ और जिनके कारण हज़ारों पशुओं और मनुष्यों का कर्मक्षेत्र रुक जाए। वैदिक यन्त्रों का नमूना सूत कातने का पुराना चर्ख़ा, कपड़ा बुनने का पुराना साचाँ और बर्तन बनाने का कुम्हार का पुराना चक्र है, परन्तु अवैदिक यन्त्र आजकल के मोटर, ट्राम, रेल और मिलइंजिन हैं जिनके कारण लाखों पशु और मनुष्य निकम्मे, निरुपयोगी और भाररूप हो गये हैं। ये यन्त्र हिंसाकारी हैं, इसलिए आर्यसभ्यता में इनका समावेशा नहीं है। आर्ययन्त्र तो वही है जो सनातन से पशुओं और मनुष्यों के द्वारा चलाये जाते हैं, इसलिए आर्यगृहस्थी में उनका संग्रह अवश्य होना चाहिए।

आर्यगृहस्थी में शस्त्रास्त्र भी आवश्यक हैं। प्राचीन कुल्हाड़ी, आरा, बसूला, निहाय, हथौड़ा, संसी, सुई, क़ैंची, उस्तरा, धनुष-बाण, तलवार और भाला आदि आर्यसभ्यता के शस्त्रास्त्र हैं। इनमें किसी प्रकार की कला का प्रयोग नहीं होता, इसीलिए ये आर्यसभ्यता में गिने जाते हैं, किन्तु जिनमें कला का योग होता है, वे अन्य प्राणियों का कर्मक्षेत्र रोकनेवाले होते हैं, इसलिए वे आर्यसभ्यता में नहीं गिने जाते, परन्तु आर्यों के घरों में सादे शस्त्रास्त्रों का रहना बहुत ही आवश्यक है, अतएव सादे शस्त्रास्त्र ही आर्यगृहस्थी में स्थान पाने योग्य हैं। गृहस्थी से सम्बन्ध रखनेवाले इन सात प्रकार के पदार्थों के अतिरिक्त यदि और कोई वस्तु गृहस्थी में उपयोगी और आवश्यक समझी जाए तो उसका भी संग्रह करना चाहिए, परन्तु इस बात का सदैव ध्यान रखना चाहिए कि आर्यगृहस्थी की वस्तु वही हो सकती है, जिसके प्राप्त करने में न किसी प्राणी की कोई हानि हो, न मनुष्यसमाज में असमानता और ईर्ष्या उत्पन्न हो और न उसके प्राप्त करने में अपने को ही कष्ट करना पड़े, प्रत्युत जो पदार्थ सरलता से सबको एक समान प्राप्त हो सकें, वही आर्यगृहस्थी में सम्मिलित हो सकते हैं, क्योंकि मोहक पदाथों का संग्रह करके मनुष्यों में प्रकरणान्तर से चोरी की प्रवृत्ति उत्पन्न करना आर्यसभ्यता के विपरीत है। आर्यसभ्यता में चोरी के लिए अवकाश नहीं है। यही कारण है कि आर्यों की भाषा संस्कृत में ताला और चाभी के लिए कोई शब्द नहीं है, इसलिए आर्यों की ऐसी ही गृहस्थी हो सकती है, जिसके लिए ताला-चाभी का प्रबन्ध न करना पड़े।

यहाँ तक हमने आर्यों के अर्थ की चारों शाखाओं की आलोचना करके देखा तो ज्ञात हुआ कि जिस ढंग से वे इस सृष्टि से अर्थ का संग्रह करते हैं, उससे न तो किसी भी प्राणी को कोई कष्ट ही होता है और न आर्यों के लोक-परलोकसम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्णता में कोई रुकावट ही होती है, प्रत्युत सृष्टि की सीधी (मनुष्य), आड़ी (पश्वादि), और उलटी (वृक्षादि) समस्त योनियों के देन-लेन में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है और सबके लिए मोक्षमार्ग सरल हो जाता है, क्योंकि आर्यलोग अपने अर्थ के चारों विभाग प्रायः पशुओं और वृक्षों से ही लेते हैं और

उनकी आयु तथा भोगों का सदैव ध्यान रखते हैं। वे जानते हैं कि जिस प्रकार मनुष्यों को पशुओं और वृक्षों की आवश्यकता होती है उसी प्रकार पशुओं को वृक्षों और वृक्षों को जलों की आवश्यकता होती है, इसीलिए वे सदैव कृषि और जंगलों के द्वारा पशुओं के लिए अन्न और घास का तथा यज्ञों के द्वारा वनस्पतियों के लिए जल का प्रबन्ध करते हैं। वे इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि मनुष्य का जीवन केवल अकेली एक गाय के दूध से ही पार हो सकता है और गाय केवल जंगलों की घास पर ही निर्वाह कर सकती है, इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता की परिभाषा में मनुष्यों को प्रजा, पशुओं को प्रजापति और वृक्षों को पशुपति कहा है। इसका यही तात्पर्य है कि प्रजा को पशु पालते हैं और पशुओं को वनस्पतियाँ पालती हैं। वेद में सैकड़ों स्थानों पर मनुष्य को **'प्रजया सुवीराः'** कहा गया है। इसी प्रकार शतपथब्राह्मण में पशुओं को प्रजापति कहा गया है। वहाँ पूछा गया है कि **'कतमः प्रजापतिरिति'**, अर्थात् प्रजापति कौन हैं ? तो उत्तर दिया गया है कि **'पशुरिति'**, अर्थात् पशु ही प्रजापति हैं। जिस प्रकार पशुओं को प्रजापति कहा गया है उसी प्रकार वृक्षों को पशुपति कहा गया है। शतपथब्राह्मण ६।१।३।१२ में लिखा है कि **'ओषधयो वै पशुपतिस्तस्माद्यदा पशव ओषधीर्लभन्तेऽथ पतीयन्ति'**, अर्थात् ओषधि ही पशुपति हैं, अतः जब पशु ओषधियाँ खाते हैं तभी स्वामी के कार्यक्षम होते हैं। इसी प्रकार यजुर्वेद १६।१७ में भी **'वृक्षेभ्यः हरिकेशेभ्यो पशूनां पतये नमः'** लिखकर वृक्षों को हरितकेशवाले पशुपति कहा गया है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार प्रजा (मनुष्य) का पालन पशु करते हैं और पशुओं का पालन वृक्ष कहते हैं, उसी प्रकार लौटकर मनुष्य भी पशुओं से घी लेकर और वृक्षों से काष्ठ लेकर यज्ञ करता है और यज्ञ से पानी बरसाकर वृक्षों का भी पालन करता है, जिससे वृक्ष, पशु और मनुष्य आदि सभी प्राणी पूर्ण आयु जीकर और अपने कर्मफलों को भोगकर मोक्षमार्ग के पथिक बन जाते हैं। यही आर्यों के अर्थशास्त्र का मूल है और यही आर्यों के अर्थ की प्रधानता का सारांश है।

काम की प्रधानता

आर्यसभ्यता के प्रधान चार स्तम्भों में काम का अत्यन्त महत्त्व है। जिस प्रकार मोक्ष का सहायक अर्थ है उसी प्रकार अर्थ का सहायक काम है। यदि काम अर्थ की सहायता न करे तो अभी हम जिस अर्थ की प्रधानता का वर्णन कर आये हैं और आर्यभोजन, आर्यवस्त्र, आर्यगृह और आर्यगृहस्थी का जो आदर्श दिखला आये हैं, उसकी स्थिरता एक दिन भी नहीं रह सकती, अर्थात् यदि मनुष्य काम को मर्यादित न करे तो वह अर्थ को कभी मर्यादित कर ही नहीं सकता और अर्थमर्यादा के बिना कभी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिए आर्यों ने काम के विषय में बहुत ही गम्भीरता से विचार किया है। संसार में आज तक आर्यों के अतिरिक्त किसी भी सभ्यजाति ने अर्थशुद्धि के मूलाधार इस काम पर इतना विचार नहीं किया। सबने अर्थ और काम को एक में मिला दिया है, परन्तु आर्यों ने जिस प्रकार शरीर और मन की पृथक्ता को समझ लिया है उसी प्रकार शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ को और मन से सम्बन्ध रखनेवाले काम को भी एक-दूसरे से पृथक् कर दिया है और जिस प्रकार शरीर से सम्बन्ध रखनेवाले भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी को अर्थ के अन्दर कर दिया है, उसी प्रकार मन से सम्बन्ध रखनेवाले ठाट-बाट, शोभा-शृङ्गार और स्त्री-पुत्रादि को काम के अन्तर्गत कर दिया है, क्योंकि ये सभी पदार्थ केवल मनस्तुष्टि के लिए ही हैं। यदि अपना मन क़ाबू में हो तो इनमें से एक भी पदार्थ की आवश्यकता नहीं है, किन्तु इन सबसे मन का एकदम हटा लेना बहुत ही कठिन है। ठाट-बाट और शोभा-शृङ्गार से चाहे मनुष्य अपना मन हटा भी ले, परन्तु स्त्री से पुरुष को और पुरुष से स्त्री को मन

हटाना बड़ा ही कठिन है। सच पूछो तो स्त्री-पुरुष के स्वाभाविक बन्धन को ही काम कहा गया है, बनाव-चुनाव और शोभा-शृङ्गार तो उनके बन्धन के साधनमात्र हैं। यही कारण है कि मानसशास्त्र का प्रसिद्ध ज्ञाता शार्ङ्गधर काम का लक्षण करता हुआ लिखता है—

स्त्रीषु जातो मनुष्याणां स्त्रीणां च पुरुषेषु वा।
परस्परकृतः स्नेहः काम इत्यभिधीयते॥ —सार्ङ्गधर १।६

अर्थात् स्त्रियों में पुरुषों का और पुरुषों में स्त्रियों का जो परस्पर स्वाभाविक स्नेह है, उसी को 'काम' कहते हैं।

स्त्री और पुरुष के इस पारस्परिक स्नेह और स्वाभाविक आकर्षण के दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि मनुष्य अनन्त जन्म-जन्मान्तरों से अनेक योनियों में स्त्री और पुरुष शक्ति के सम्मेलन के ही द्वारा पैदा होता हुआ और उसी सम्मेलन के द्वारा अन्य जीवों को पैदा करता हुआ चला आ रहा है। दूसरा कारण यह है कि वीर्य में पड़े हुए जीवों के भोग जीवों को बाहर निकलने और नवीन शरीर धारण करने की प्रेरणा करते हैं। इन्हीं दोनों कारणों से स्त्री-पुरुषों में एक विलक्षण आकर्षण उत्पन्न होता है और मनुष्य रति करने के लिए विवश होता है। यह प्राणिमात्र का अनादि अभ्यास है, किन्तु मनुष्य के लिए यह अभ्यास अच्छा भी है और बुरा भी। इस अभ्यास में जहाँ तक आर्यसभ्यता का सम्बन्ध है वहाँ तक तो अच्छा है, परन्तु जहाँ से इसमें अनार्यता का संचार होता है वहाँ से इसका रूप भयङ्कर हो जाता है। मन पर क़ाबू रखकर और आवश्यक सन्तान उत्पन्न करके उस सन्तान को मोक्षमार्गी बनाना आर्यसभ्यता है और शोभा-शृङ्गार और ठाट-बाट के द्वारा कामुकता को बढ़ाकर और अपरमित सन्तान उत्पन्न करके संसार में अर्थ सङ्कट उत्पन्न कर देना अनार्य सभ्यता है। आर्यसभ्यता मोक्षाभिमुखी है, इसलिए उसका अर्थ [भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी] सादा है। उसमें शोभा-शृङ्गार और ठाठ-बाट के लिए अवकाश नहीं है, किन्तु अनार्य सभ्यता शोभा-शृङ्गार और ठाट-बाट से सम्बन्ध रखती है, अतः वह एक तो संसार में अर्थसंकट उत्पन्न कर देती है, दूसरे शोभा-शृङ्गार से कामुकता बढ़ा देती है और अमर्यादित सन्तान उत्पन्न करके अर्थसङ्कट को और भी अधिक भयंकर रूप दे देती है, जिससे दुष्काल, महामारी और युद्धों का प्रचण्ड तूफ़ान उमड़ पड़ता है और सारा संसार अशान्त हो जाता है, इसीलिए आर्यों ने अपने अर्थ में शोभा-शृङ्गार और ठाट-बाट के लिए बिलकुल ही स्थान नहीं दिया, प्रत्युत इसकी गणना काम में की है, क्योंकि शृङ्गार का स्थायीभाव रति है। 'रसगङ्गाधर' नामी ग्रन्थ में पण्डितराज जगन्नाथ लिखते हैं कि—

शृङ्गारः करुणः शान्तो रौद्रो वीरोऽद्भुतस्तथा। हास्यो भयानकश्चैव बीभत्सश्चेति ते नव॥
रतिः शोकश्च निर्वेदः क्रोधोत्साहश्च विस्मयः। हासो भयं जुगुप्सा च स्थायिभावाः क्रमादमी॥[1]

अर्थात् शृङ्गार, करुणा, शान्त, रौद्र, वीर, अद्भुत, हास्य, भयानक और बीभत्स ये नौ रस हैं। इनमें शृङ्गार का रति, करुणा का शोक, शान्त का निर्वेद, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, अद्भुत का विस्मय, हास्य का हँसी, भयानक का भय और बीभत्स का घृणा स्थायीभाव है।

यहाँ शृंगार का स्थायीभाव रति माना गया है। बनाव-चुनाव और शोभा-शृंगार का परिणाम रति ही है। साहित्यदर्पण में लिखा है कि—

राज्ये सारं वसुधा वसुधायामपि पुरं पुरे सौधम्। सौधे तल्पं तल्पे वराङ्गनाङ्गसर्वस्वम्॥

अर्थात् राज्य का सार पृथिवी है, पृथिवी का सार नगर है, नगर का सार महल है, महल का

१. रसगङ्गा० प्रथमाननम्।

सार पलङ्ग है और पलङ्ग का सर्वस्व स्त्री के अङ्ग हैं।

यहाँ स्पष्ट कर दिया गया है कि एक शृङ्गारप्रिय की मनोकामना किस प्रकार रति में समाप्त होती है। इसी प्रकार कामचेष्टा उत्पन्न करनेवाले शृङ्गारों का वर्णन करते हुए चरकाचार्य कहते हैं—

अभ्यङ्गोत्सादनस्नानगन्धमाल्यविभूषणैः। गृहशय्यासनसुखैर्वासोभिरहतैः प्रियैः॥
विहङ्गानां रुतैरिष्टैः स्त्रीणाञ्चाभरणस्वनैः। संवाहनैर्वरस्त्रीणामिष्टानाञ्च वृषायते॥

अर्थात् तैल, उबटन, स्नान, इत्र, माला, आभूषण, अट्टालिका, रंगमहल, शय्या, पोशाक, बाग़, पक्षियों का कलरव, स्त्रियों के आभूषणों की झनकार और स्त्रियों से हाथ-पैर मलवाना आदि समस्त कामचेष्टा को उत्पन्न करनेवाले सामान हैं, अतः इस प्रकार के शृङ्गारमय पदार्थों से निर्वीर्य भी कामातुर हो जाता है। इस वर्णन से स्पष्ट हो गया कि शृङ्गार मनुष्य को कामी बनाकर रतिप्रिय बना देता है। पञ्चतन्त्र में विष्णुशर्मा ने ठीक ही कहा है—

निःस्पृहो नाधिकारी स्यान्नाकामी मण्डनप्रियः।
नाविदग्धः प्रियं ब्रूयात्स्फुटवक्ता न वञ्चकः॥ —[मित्रभेद १७५]

अर्थात् निःस्पृह मनुष्य अधिकारी नहीं होता, बनाव-चुनाव और शोभा-शृङ्गारप्रिय मनुष्य अकामी नहीं होता, मूर्ख कभी प्रिय बोलनेवाला नहीं होता और स्पष्ट बोलनेवाला कभी ठग नहीं होता।

सत्य है, शृङ्गारप्रिय छैल, गुण्डा कभी अकामी हो ही नहीं सकता। उसे निश्चय ही कामी होना चाहिए। वह बनाव-चुनाव करता ही इसलिए है कि उसे रति प्राप्त हो। यह बात हम संसार के अनुभव से भी कह सकते हैं कि शृङ्गार किया ही रति के लिए जाता है, क्योंकि हम देखते हैं कि रति के पश्चात् तो शृङ्गार भङ्ग हो जाता है। इस भङ्ग शृङ्गार पर खण्डिताओं ने न जाने कितने व्यङ्ग कहे हैं जो शृङ्गाररस के ज्ञाताओं से छिपे नहीं हैं। कहने का तात्पर्य यह कि ठाट-बाट, शोभा-शृङ्गार और विलास तथा आमोद-प्रमोद से कामुकता बढ़ती है और उस कामुकता से शृङ्गार की और भी उन्नति होती है और दूने परिणाम से कामुकता का विस्तार होता है। फल यह होता है कि अमर्यादित सन्तति से संसार भर जाता है और भूख, दुष्काल आदि से संसार के प्राणी अकाल ही में मरने लगते हैं।

सन्तति-विस्तार का भयङ्कर चित्र खींचते हुए प्रो० माल्थस आदि प्रजनन-शास्त्री कहते हैं कि संसार में जनसंख्या सदैव बढ़ती रहती है और उस वृद्धि को प्रकृति सदैव दुष्काल, महामारी और युद्धों के द्वारा न्यून किया करती है, इसलिए यदि दुष्काल, महामारी और युद्धों के सन्ताप से बचना है और यदि बहु सन्तानजन्य द्रारिद्र्य से बचना है तो सन्ताननिरोध का उपाय करना चाहिए, अन्यथा एक दिन ऐसा आनेवाला है कि जनसंख्यावृद्धि के कारण पृथिवी पर तिल रखने की भी जगह न रहेगी। इस आशङ्का को ध्यान में रखकर पाश्चात्य विद्वानों ने सन्ततिनिरोध की तीन विधियाँ निश्चित की हैं। पहली विधि में उन्होंने कहा है कि कुछ ऐसे यन्त्रों का उपयोग किया जाए जिससे गर्भ न ठहरे, दूसरी विधि यह बतलाई है कि ऐसी ओषधियाँ खा ली जाएँ कि सन्तान का उत्पन्न होना ही बन्द हो जाए और तीसरी विधि यह बतलाई है कि इन्द्रियसंयम के द्वारा अखण्ड ब्रह्मचार्य धारण किया जाए, जिससे सन्तान की वृद्धि रुक जाए। इन तीनों विधियों का अब तक जो अनुभव हुआ है वह बड़ा ही दुःखद है। यन्त्रों और ओषधियों के उपयोग से अनेक प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न हुई हैं जिनके कारण लाखों स्त्री और पुरुष दुःख पा रहे हैं।

मि० थर्स्टन ने इन यन्त्रों और ओषधियों के दुष्परिणामों का बड़ा ही लोमहर्षक वर्णन किया है। अब रहा इन्द्रिय-निग्रह, वह इन दोनों से भी अधिक भयङ्कर है। इन्द्रियनिग्रह करना किसी

ऐसे–वैसे साधारण मनुष्य का काम नहीं है। उसे तो बहुत ही योग्य पुरुष कर सकते हैं। जो योग्य हैं, उन्हीं से योग्य सन्तान भी उत्पन्न हो सकती है, परन्तु यदि योग्य मनुष्य संयम करके योग्य सन्तान का उत्पन्न करना बन्द कर दें और अयोग्य मनुष्य सन्तान का उत्पन्न करना जारी रक्खें तो परिणाम यह होगा कि भविष्य में समस्त पृथिवी अयोग्य प्रजा से ही भर जाएगी और फिर उन्हीं दुष्काल, महामारी, युद्ध और दु:ख–दारिद्र्य से मनुष्यों का संहार होने लगेगा, इसलिए योग्यों को तो कभी सन्ततिनिरोध के फेर में पड़ना ही नहीं चाहिए। अब रहे अयोग्य, वे संयम कर नहीं सकते, इसलिए पश्चिमीय विद्वानों की ढूँढी हुई तीनों विधियाँ उपयोगी सिद्ध नहीं हुई, परन्तु आर्यसभ्यता शोभा–शृङ्गार, ठाट–बाट और आमोद–प्रमोद को हटाकर सादे और यत्किंचित् अर्थ के द्वारा बिना किसी प्रकार का अर्थसंकट उत्पन्न किये, अपने ब्रह्मचर्यव्रत से समस्त मनुष्यों को मोक्षाभिमुखी बनाकर सन्ततिविस्तारजन्य अर्थसंकट की उलझन को बहुत अच्छी प्रकार सुलझाती है।

हमने आर्यों के अर्थ का विस्तृत वर्णन करके दिखला दिया है कि आर्यसभ्यता में बनाव–चुनाव, शोभा–शृङ्गार और ठाट–बाट के लिए कोई स्थान नहीं है। आर्यों का अर्थ बिलकुल ही सादा है, इसलिए उसमें कामुकताजन्य अर्थसंकट के उपस्थित होने के लिए कुछ भी आशंका नहीं है। रही सन्तति विस्तार की बात, उसका आर्यों ने अपनी एक विशेष शक्ति के द्वारा बहुत अच्छी प्रकार समाधान किया था। उन्होंने शृङ्गारशून्य, किन्तु सादे अर्थ के द्वारा ब्रह्मचर्यव्रत को धारण करके ऊर्ध्वरेतत्व और अमोघवीर्यत्व की शक्ति से वह सामर्थ्य प्राप्त कर लिया था, जिससे वे जब चाहते ते तब आवश्यक सन्तान उत्पन्न कर लेते थे और जब चाहते ते तब सन्तान का उत्पन्न करना एकदम बन्द कर देते थे। ऐसी मनोनिग्रहशक्ति का सम्पादन आज तक संसार में कोई भी सभ्य जाति नहीं कर सकी। यही कारण है कि सन्ततिनिरोध के जटिल प्रश्न को भी आज तक कोई जाति हल नहीं कर सकी, इसलिए हम यहाँ आर्यों की सन्ततिनिरोध की शक्ति और नीति का सारांश देकर बतलाते हैं कि किस प्रकार उन्होंने इस दुरूह समस्या को हल किया है।

आर्यों की कामसम्बन्धी नीति

संसार का अनुभव बतलाता है कि व्यक्ति, समाज और राष्ट्र को समय–समय पर सन्तति अर्थात् जनसंख्या की अनावश्यकता, आवश्यकता और अत्यावश्यकता होती ही रहती है। जिस समय राष्ट्र और समाज में शान्ति रहती है उस समय मोक्षमार्गियों के अतिरिक्त शेष समस्त समाज को मृत्यु के परिणाम से सन्तान की आवश्यकता रहती है, परन्तु जिस समय युद्ध जारी हो जाता है अथवा समाप्त हो जाता है, उस समय सन्तान की आवश्यकता अत्यधिक बढ़ जाती है। इसी प्रकार जिस समय सुख–शान्ति के कारण सन्तान अत्यधिक बढ़ जाती है उस समय सन्तान के कम करने की भी आवश्यकता हो जाती है। ऐसी दशा में इच्छानुसार अधिक सन्तति उत्पन्न करने या कम सन्तति उत्पन्न करने या सर्वथा सन्तति उत्पन्न करना बन्द कर देने की शक्ति उसी में हो सकती है जिसकी सामाजिक शिक्षा की दीवार अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत की नींव पर उठाई गई हो। आर्यों ने अपनी सभ्यता का भवन अखण्ड ब्रह्मचर्य पर ही खड़ा किया है, इसीलिए आर्यसभ्यता के अनुसार आर्यों को ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के पचहत्तर वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य दशा में ही बिताने के लिए बल दिया गया है और गृहस्थ को भी अधिक रति से बचने के लिए यज्ञोपवीत–संस्कार से ही सन्ध्योपासन, प्राणायाम, शृङ्गारवर्जन, सादगी, तपस्वी जीवन और मोक्षमार्ग का ध्येय बतलाकर अमोघवीर्यत्व सम्पादन करने का उपदेश किया गया है, क्योंकि सन्ततिनिरोध की शक्ति अमोघवीर्य पुरुष में ही हो सकती है और वही आवश्यकतानुसार एक, दो अथवा दस सन्तान उत्पन्न कर सकता है और वही चाहे तो सन्तान का उत्पन्न करना एकदम

बन्द भी कर सकता है। आर्यसभ्यता के इतिहास में इस प्रकार के प्रजोत्पत्ति-सम्बन्धी तीन सिद्धान्त और तीनों सिद्धान्तों के ऐतिहासिक प्रमाण मिलते हैं, अतः हम यहाँ तीनों का सारांशरूप से वर्णन करते हैं।

पहला प्रमाण उन व्यक्तियों का मिलता है जो क्षीणदोष उत्पन्न होते हैं और जन्म से ही मोक्षमार्ग में लग जाते हैं। वे कभी प्रजा की इच्छा नहीं करते। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है कि **'पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामः'**,[१] अर्थात् पूर्व समय, विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते थे। वे कहते थे कि प्रजा को क्या करेंगे ? ऐसे आजीवन ब्रह्मचारी इस देश में हज़ारों-लाखों हो चुके हैं। मनुस्मृति में लिखा है—

अनेकानि सहस्राणि कुमारब्रह्मचारिणाम्। दिवं गतानि विप्राणामकृत्वा कुलसन्ततिम्॥[२]

अर्थात् हज़ारों ब्राह्मण ब्रह्मचारी बिना सन्तति के कुमार अवस्था से ही मोक्षगामी हो गये।

इतना ही नहीं कि पूर्वकाल में पुरुष ही इस प्रकार के होते थे, प्रत्युत उस समय की कन्याएँ भी कुमारी रहकर और आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर मोक्षभागिनी होती थीं। महाभारत में लिखा है कि लोमशऋषि युधिष्ठिर से कहते हैं कि—

अत्रैव ब्राह्मणी सिद्धा कौमारब्रह्मचारिणी। योगयुक्ता दिवं याता तपःसिद्धा तपस्विनी॥
बभूव श्रीमती राजन् शांडीलस्य महात्मनः। सुता धृतवती साध्वी नियता ब्रह्मचारिणी॥
सा तु तप्त्वा तपो घोरं दुश्चरं स्त्रीजनेन च। गता स्वर्गं महाभाग देवब्राह्मणपूजिता॥

—महा० शल्य० अ० ५४

अर्थात् इसी स्थान पर शांडिल्य ऋषि की कन्या धृतवती ने आजन्म ब्रह्मचारिणी रहकर विद्वानों से सत्कृत होकर मोक्षलाभ किया था। वहीं पर अध्याय ४९ में भी लिखा है कि—

भारद्वाजस्य दुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि। श्रुतावती नाम विभो कुमारी ब्रह्मचारिणी॥
साहं तस्मिन् कुले जाता भर्तर्य सती मद्विधे। विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥

अर्थात् भारद्वाज की पुत्री श्रुतावती ने भी आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया था। इतना ही नहीं प्रत्युत याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी ने विवाह करके भी कभी सन्तान उत्पन्न नहीं की।

इन ऐतिहासिक प्रमाणों से पाया जाता है कि पूर्वकाल में आर्यलोग बिना सन्तति के आजीवन ब्रह्मचारी रहकर मोक्ष प्राप्त करते थे। जो लोग कहते हैं कि प्राचीन आर्य सन्तान के पीछे दीवाने फिरते ते वे ग़लती पर हैं। मोक्षार्थी आर्य कभी सन्तान की इच्छा नहीं करते थे, क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है कि **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'** अर्थात् तपस्वी विद्वान् आजीवन ब्रह्मचर्य बल से ही मृत्यु को मारकर मोक्ष प्राप्त करते हैं। सच है, जो मनुष्य दूसरों को उत्पन्न नहीं करता वह निश्चय ही दूसरों के द्वारा उत्पन्न भी नहीं होता। उत्पन्न न होने की सबसे सुगम विधि यह है कि मनुष्य आजीवन ब्रह्मचारी रहे, परन्तु यह महाव्रत सबके मान का नहीं है। सब मनुष्य तो सन्तान की इच्छा ही करते हैं, इसीलिए दूसरे प्रकार के प्रमाण भी मिलते हैं। इन प्रमाणों के अनुसार सन्तान की इच्छा करना अच्छा भी समझा गया है, क्योंकि इसमें दो लाभ हैं। एक तो सन्तान से गृहस्थाश्रम स्थिर रहता है, जिसके आश्रय में सारा मनुष्यसमाज जीविका प्राप्त करता है और दूसरा वीर्य में पड़े हुए जीव बाहर आकर मोक्षप्राप्ति की साधना करते हैं। यदि सन्तान का जन्म ही न हो तो वे प्राणी जो अन्य योनियों से घूमकर अब मनुष्य शरीर के द्वारा मोक्ष

---

१. बृहदा० ४।४।२२
२. मनु० ५।१५९

में जानेवाले हैं, सब बीच ही में फँसे रह जाएँ। इसलिए अत्यन्त आवश्यक है कि योग्य पुरुष एक-दो सन्तान अवश्य उत्पन्न करके और शिक्षा-दीक्षा से योग्य बनाकर समाज को बल पहुँचाएँ और उन्हें मोक्षमार्गी बनाएँ। इसीलिए आपत्तिरहित समाज के समय में आर्यों को एक सन्तान उत्पन्न करने के लिए बल दिया गया है। मनुस्मृति में लिखा है—

ज्येष्ठेन जातमात्रेण पुत्री भवति मानवः ॥　　—मनु० ९ । १०६
स एव धर्मजः पुत्रः कामजानितरान्विदुः ॥　　—मनु० ९ । १०७

अर्थात् प्रथम पुत्र के उत्पन्न होते ही मनुष्य पुत्रवान् हो जाता है, अतः ज्येष्ठ पुत्र ही धर्मज है और दूसरे सब कामज हैं।

इस प्रमाण से पाया जाता है कि वैदिक आर्यसभ्यता के अनुसार एक ही सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए, अधिक नहीं। कई सन्तान करने से कामुकता का संस्कार हो जाता है और यह दोष समाज और मोक्ष दोनों का बाधक हो जाता है। वेद स्वयं आज्ञा देते हैं कि बहुत सन्तान उत्पन्न नहीं करनी चाहिएँ। ऋग्वेद १ । १६४ । ३२ में लिखा है कि **'बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश'**, अर्थात् बहुत सन्तानवालों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसलिए ऋग्वेद ३ । १ । ६ में आज्ञा देते हैं कि **'सना अत्र युवतयः सयोनीरेकं गर्भं दधिरे सप्त वाणीः'**, अर्थात् सप्तपदी (विवाह) की हुई युवती स्त्रियाँ एक ही गर्भ धारण करें। इन प्रमाणों से सूचित होता है कि सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आर्यों को एक ही सन्तान उत्पन्न करने की आज्ञा है, अधिक की नहीं। कदाचित् एक भी पुत्र उत्पन्न न हो तो कोई चिन्ता करने की बात नहीं है। पुत्र के अभाव की चिन्ता से कुछ लोग दूसरे का पुत्र गोद ले-लेते हैं, परन्तु वह वेदानुकूल नहीं है, क्योंकि वेद में दत्तक पुत्र गोद लेने का निषेध किया गया है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

नहि ग्रभायारणः सुशेवोऽन्योदर्यो मनसा मन्तवा उ।
अधा चिदोकः पुनरित्स ऐत्या नो वाज्यभीषाळेतु नव्यः ॥　　—ऋ० ७ । ४ । ८

अर्थात् जो दूसरे के पेट से उत्पन्न हुआ है, उसको कभी अपना पुत्र नहीं समझना चाहिए। अन्योदर्य पुत्र का मन सदैव वहीं जाएगा जहाँ से वह आया है, इसलिए अपने ही पुत्र को पुत्र समझना चाहिए।

अपना भी एक ही पुत्र पुत्र है शेष कामज हैं, अतः यह एक पुत्र का सिद्धान्त दूसरी श्रेणी का ऐतिहासिक प्रमाण है। इस प्रमाण के अनुसार अपना भी एक ही पुत्र उत्तम है, अनेक नहीं, किन्तु कभी-कभी राष्ट्र को अनेक सन्तानों की भी आवश्यकता होती है, अतः तीसरी श्रेणी के भी प्रमाण मिलते हैं। जिसने राष्ट्रों के इतिहास पढ़े हैं, वह जानता है कि कभी-कभी राष्ट्र को बहुत-सी सन्तानों की भी आवश्यकता हो जाती है।

युद्धों के समय में अथवा युद्ध समाप्त हो जाने पर अनेक युवा पुरुषों के मारे जाने के कारण कभी-कभी राष्ट्र पुरुषों से शून्य हो जाता है। महाभारत के समय अथवा गत यूरोपिय महायुद्ध के समय अनेक राष्ट्रों को इस प्रकार की स्थिति का सामना करना पड़ा है और एक-एक पुरुष ने कई-कई स्त्रियों के साथ विवाह वा नियोग करके भी अनेक सन्तानों को उत्पन्न किया है। ऐसी ही आपत्ति के समय के लिए वेद में **'दशास्यां पुत्राना धेहि'**,[१] अर्थात् दश पुत्रों के उत्पन्न करने की प्रार्थना की गई है। इस प्रकार आर्यसभ्यता में प्रजोत्पत्ति के तीन सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं। इन तीनों में पहला सिद्धान्त यह है कि विशेष-विशेष व्यक्ति आजन्म ब्रह्मचर्यव्रत पालन करके

१. ऋ० १० । ८५ । ४५

मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं। दूसरा सिद्धान्त यह है कि सामाजिक सुविधा उत्पन्न करने और जीवों को मनुष्यशरीर में लाकर मोक्षाभिमुखी बनाने के लिए सबको एक-एक सन्तान उत्पन्न करनी चाहिए और तीसरा सिद्धान्त यह है कि राष्ट्रीय आवश्यकताओं के समय एक से अधिक, अर्थात् अनेक सन्तान उत्पन्न करनी चाहिएँ।

इन तीनों सिद्धान्तों में आर्यों की अमोघवीर्यत्व की शक्ति ही काम कर रही है। वही शक्ति इस प्रकार से मनमाने समय में सन्तान उत्पन्न कर सकती है और वही शक्ति मैथुन कृत्य से सर्वथा पृथक् रख सकती है। यह अमोघवीर्यत्व की शक्ति आर्यों की विशेष उपज है। इस शक्ति के चमत्कारों का इतिहास आर्यों की सभ्यता के इतिहास में विस्तार से वर्णित है। इस शक्ति के उत्पन्न होने पर कामवासना अपने वश में हो जाती है, अतः अमोघवीर्य पुरुष जब चाहता है तब सन्तान उत्पन्न करता है और जब चाहता है तब सन्तान उत्पन्न नहीं करता। वेदव्यास ने जब चाहा तब धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर को उत्पन्न कर दिया और जब चाहा तब इस कृत्य से हमेशा के लिए पृथक् हो गये। द्रौपदी और पाण्डव जब चाहते थे तब पति-पत्नी का भाव रखते थे और जब चाहते थे तब माता, पुत्र और पिता-पुत्री का-सा भाव कर लेते थे। यह भाव अमोघवीर्यत्व की ही शक्ति से उत्पन्न हुआ था, इसलिए जब तक अमोघवीर्यत्व उत्पन्न न किया जाए तब तक माल्थस थ्योरी का सामञ्जस्य नहीं हो सकता।

अमोघवीर्यत्व प्राप्त करने के लिए शृङ्गारवर्जित, सादा, तपस्वी और मोक्षाभिमुखी जीवन बनाना पड़ता है, परन्तु यूरोप के विद्वान् शृङ्गारमण्डित अवस्था में ही केवल यन्त्रों के सहारे सर्वसाधारण से सन्ततिनिरोध कराना चाहते हैं, इसलिए यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि वे कभी त्रिकाल में भी सुखपूर्वक सन्ततिनिरोध नहीं कर सकते, क्योंकि यन्त्रों और ओषधियों के प्रयोग से प्रयोगकर्ताओं का रोगी हो जाना अनिवार्य है, इसलिए न यन्त्रों का उपयोग हो सकता है और न सन्ततिनिरोध हो सकता है। यदि यन्त्रों और ओषधियों के द्वारा सन्ततिनिरोध को मान भी लें तो भी यह उतना ही बड़ा पाप है जितना गर्भपात से होता है, क्योंकि वीर्य भी छोटा-सा गर्भ ही है। सन्तति पहले बीज (वीर्य) ही में बढ़ती है और फिर वीर्य से गर्भ में बढ़ती है तथा गर्भ से पृथिवी पर आकर और अधिक बढ़ती है। ये तीनों स्थान—वीर्य, गर्भ और पृथिवी—प्राणी के क्रम-क्रम से बढ़ने के लिए ही है। ऐसी दशा में यदि पृथिवी पर उत्पन्न हुए मनुष्य का मारना पाप है और यदि गर्भ में ठहरे हुए मनुष्य का मारना पाप है तो वीर्य में ठहरे हुए मनुष्य के मारने से भी पाप होना चाहिए। प्राणी की वृद्धि में ही सहायता करना हमारा कर्त्तव्य है, वृद्धि रोकने में नहीं, परन्तु जो लोग वीर्य को गर्भ में वृद्धि पाने से रोकते हैं—उसे गर्भ तक नहीं जाने देते, वे उसी प्रकार का अपराध करते हैं, जिस प्रकार का अपराध गर्भस्थ को पृथिवी में आने से रोककर गर्भपात करके किया जाता है, इसलिए जब तक कामवासना का निरोध न किया जाए तब तक सन्ततिनिरोध का प्रश्न हल नहीं हो सकता।

कामवासना का निरोध शृङ्गारवर्जित सादे मोक्षाभिमुखी अमोघवीर्यों से ही हो सकता है, दूसरों से नहीं। वही एक बार की रति से एक सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, इसलिए अमोघवीर्य आर्यों ने अपनी आर्यसभ्यता में एक ही सन्तान उत्पन्न करना, अर्थात् एक ही बार रति करना धर्म माना और एक से अधिक सन्तान उत्पन्न करना, अर्थात् एक बार से अधिक रति करना अनार्यता समझा था[१]। यह अनार्यता काम्य पदार्थों से—शोभा-शृङ्गार, बनाव-चुनाव और ठाट-बाट से—उत्पन्न होती है, परन्तु काम्य पदार्थों की न तो शरीर को आवश्यकता होती है, न बुद्धि और

१. तत्त्ववेत्ता सुकरात भी कहते है कि मनुष्य को जीवन में एक ही बार मैथुन करना चाहिए।

आत्मा को ही। काम्य पदार्थ तो केवल मन बहलाने के लिए एकत्र किये जाते हैं। उदाहरणार्थ सर्दी के दिनों में शरीर को रज़ाई की आवश्यकता होती है, परन्तु रज़ाई में अमुक प्रकार के बेल-बूटों, गिरण्ट की चटापटी मग़जी और नीले उपल्ले और पीले भितल्ले की आवश्यकता केवल मन बहलाने के ही लिए होती है, इसलिए रज़ाई अर्थ है और बेल-बूटे तथा मग़जी आदि काम हैं। पहले का उद्देश्य शरीर-रक्षा, अर्थात् जीना है और दूसरे का उद्देश्य रति, अर्थात् मरना है, परन्तु मुमुक्षु का उद्देश्य मरना नहीं है, इसीलिए वह मारनेवाले काम को अपना शत्रु समझता है। भगवद्गीता [३ । ३९] में लिखा है कि—

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा। कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च॥

अर्थात् ज्ञान का नाश करनेवाला यह काम ही ज्ञानियों का—मुमुक्षुओं का वैरी है, इसीलिए मुमुक्षुता, अर्थात् संन्यास का लक्षण करते हुए गीता [१८ । २] में बतलाया गया है कि '**काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः**', अर्थात् विद्वानों ने काम्य कर्मों के त्याग का ही नाम संन्यास कहा है। सच है, काम्य पदार्थ, काम्य कर्म और काम्य अभिलाषा ही जनसमाज में नाना प्रकार के दु:खों, असमानताओं और विप्लवों को जन्म देती है और वही मोक्ष में बाधा पहुँचाती है, क्योंकि वह मन से उत्पन्न होती है और मन बड़ा उच्छृङ्खल है। उसमें अनेक जन्म के संस्कार हैं, यही कारण हैं कि निरङ्कुश मन जन्म-मरणवाले कर्मों की ओर ही दौड़ता है और रतिप्रधान काम्य पदार्थों में ही लिपटता है। वह विलास, आमोद-प्रमोद और ईर्ष्या-द्वेष को बढ़ा देता है और मनुष्य को हर प्रकार से पतित कर देता है। यही कारण है कि सारी राजनीति और समस्त धर्मशास्त्र मानसिक आवश्यकताओं को मर्यादित कराने के ही नियम बनाते हैं, क्योंकि पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, सभ्यता-असभ्यता और लोक-परलोक सब मन के ही अधीन हैं। मनुष्य से जब कभी असावधानी होती है तब वह मन ही के कारण होती है। इसलिए सब शास्त्र यही कहते हैं कि मन से सावधान रहो। उपनिषदों में स्पष्ट कहा गया है—'**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः**'[१], अर्थात् मनुष्य के बन्ध-मोक्ष का कारण मन ही है।

कुछ लोगों का विचार है कि स्त्री को पुरुष और पुरुष को स्त्री उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार भूख के लिए आहार अथवा सर्दी के लिए रज़ाई आवश्यक है, परन्तु यह बात बिलकुल ग़लत है। मैथुन आहार की भाँति आवश्यक नहीं है, क्योंकि बिना आहार के मनुष्य जी नहीं सकता, परन्तु क्या कोई सिद्ध कर सकता है कि बिना स्त्रीसङ्ग के भी मनुष्य क्षुधापीड़ा की भाँति मृतप्राय: हो सकता है अथवा उसके बिना मनुष्य की कायिक या आत्मिक या वैज्ञानिक कोई हानि हो सकती है ? कभी नहीं, कदापि नहीं। यदि हानि होती तो ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों की उत्पत्ति ही न होती, पहलवानों को सुरक्षित रहना कठिन हो जाता और विधवाधर्म तथा पातिव्रतधर्म का नाम ही न सुनाई पड़ता, परन्तु हम ये समस्त बातें संसार में देख रहे हैं, इससे ज्ञात होता है कि काम तो कामना, अर्थात् मन का ही विकार है और केवल कामियों के मन बहलाने की ही वस्तु है, आहार की भाँति शरीर के लिए आवश्यक वस्तु नहीं, इसीलिए वीर्य को मनसिज, मनोज और कामदेव आदि नामों से सूचित किया गया है। कहने का तात्पर्य यह कि जब रति ही कोई आवश्यक वस्तु सिद्ध नहीं होती और जब वह केवल मन का ही खिलवाड़ प्रतीत होती है तब मन से उत्पन्न होनेवाली और शोभा-शृङ्गार तथा ठाट-बाट से सम्बन्ध रखनेवाली कोई भी रतिप्रधान वस्तु आवश्यक सिद्ध नहीं हो सकती। इन वस्तुओं की आवश्यकता तो निश्चय ही मन की मिथ्या कल्पना और कुसंस्कारों से उत्पन्न होती है, अत:

१. मैत्रायण्युप० ६ । ३४

इनकी वास्तविक आवश्यकता नहीं है।

आज संसार में जो अशान्ति फैल रही है उसका कारण केवल लोगों के मन ही हैं। मनुष्यों के निरंकुश मनों ने अपनी कामनाओं को इतना अधिक अमर्यादित कर दिया है कि प्राय: समस्त मनुष्यसमाज काम्य पदार्थों का दास बनकर कामी बन गया है। जहाँ आर्यसभ्यता काम को दबाने के लिए २४, ३६ और ४४ वर्ष का ब्रह्मचर्य पालन करके, सादे अर्थ का आश्रय लेकर और मण्डन, अर्थात् शृङ्गार से बचकर अमोघवीर्यत्व प्राप्त करने का आयोजन करती है, वहाँ आज अनार्यसभ्यता वीर्यरक्षा की अवगणना करके काम को उत्तेजना देने के लिए असाधारण सम्पत्ति का आश्रय लेकर विलास, अर्थात् शृङ्गार में फँसकर व्यर्थ वीर्यपात का प्रबन्ध करती है। यही कारण है कि अनार्यसभ्यता के इस अमर्यादित विलास ने संसार को कामी बनाकर पतित कर दिया है, अर्थात् जहाँ आर्यसभ्यता सदैव अर्थशुद्धि को प्रधान मानती हुई तपस्वी जीवन के साथ मोक्ष-प्राप्ति की ओर ले-जाती है, वहाँ अनार्यसभ्यता अर्थ-अशुद्धि के द्वारा कामुकता को बढ़ाकर संसार में कलह उत्पन्न करती है। आर्यसभ्यता ने अर्थ और काम के दो विभाग करके शरीर और मन के साथ उनका सामञ्जस्य किया था और दोनों को वैज्ञानिक रीति से हल करके पृथक्-पृथक् उपस्थित किया था, किन्तु आज वर्त्तमान अनार्य सम्पत्तिशास्त्र अर्थ और काम को एक ही में मिलाकर 'पोलिटीकल एकॉनॉमी' के नाम से संसारव्यापी हो रहा है, इसलिए जिस प्रकार हम काम के विषय में आर्यों की नीति की आलोचना कर आये हैं, उसी प्रकार हम यहाँ वर्त्तमान अनार्य पोलिटीकल एकॉनॉमी के समस्त अङ्ग-उपाङ्गों का सारांश लिखकर दिखलाना चाहते हैं कि वह कितनी अशुद्ध है और किस प्रकार विशुद्ध अर्थ में—साधारण भोजन, वस्त्र, गृह, गृहस्थी में काम्य, अर्थात् शृङ्गार और विलासप्रधान पदार्थों का समावेश कर रही है और किस प्रकार संसार में कामुकताजन्य सन्ततिविस्तार से अशान्ति फैलाये हुए है।

अनार्यसभ्यता, अर्थात् पोलिटीकल एकॉनॉमी

यद्यपि वर्त्तमान सम्पत्तिशास्त्र के प्राय: समस्त विद्वानों ने माना है कि अभी पोलिटीकल एकॉनॉमी, अर्थात् राजनैतिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्त अपूर्ण हैं तथापि उसके जो उद्देश्य और सिद्धान्त स्थिर किये गये हैं उनके देखने से पता लगता है कि पोलिटीकल एकॉनॉमी के नियमों के अनुसार मनुष्य को ख़ूब सम्पत्तिवान् होना चाहिए। ख़ूब सम्पत्तिवान् होने का अर्थ यह है कि मनुष्य के घर में नागरिक जीवन बनानेवाला, अर्थात् शृङ्गार और विलास के बढ़ानेवाला सामान अधिक हो। अधिक सामग्री ही सभ्यता का चिह्न है, इसलिए सभ्यता बढ़ानेवाले अमित पदार्थों के संग्रह के लिए ही ख़ूब धन इकट्ठा करना चाहिए। धन का स्रोत व्यापार है, इसलिए व्यापार-सम्बन्धी ऐसे पदार्थ तैयार करने चाहिएँ जो अन्य देशों के बने हुए सामानों से सस्ते और अच्छे हों। इनकी तैयारी के लिए कम्पनियों के द्वारा धनराशि एकत्र करके और धन से कच्चा माल ख़रीदकर यन्त्रों के द्वारा पक्का माल तैयार करना चाहिए और इस तैयार माल को अपने राजा के दबदबे की सहायता से दूसरे देशों में जाकर बेचना चाहिए और वहाँ से कच्चा माल लाकर अपने यहाँ फिर सस्ता माल तैयार कराना चाहिए। यही वर्त्तमान व्यापार की सच्ची परिभाषा कही जाती है और यही पोलिटीकल एकॉनॉमी का मूल समझा जाता है।

राजा की सहायता लेने के कारण बहुधा दूसरे राजा से लड़ाई छिड़ जाती है, इसलिए अपने देश में बड़ी-बड़ी मारवाले शस्त्रों को बनाना और सारी प्रजा को मिलकर लड़ने के लिए तैयार रहना इस सम्पत्ति के प्रति कर्त्तव्य समझा जाता है। युद्ध के लिए जातीयता का दृढ़ करना और जातिरक्षा का नाम देशरक्षा रखकर देशसेवा का अनुराग पैदा करना इसमें कुंजी की बात समझी

जाती है, और किसी विशेष सभ्यता के प्रचार करने का हठ करके उलझनों को बढ़ाना और युद्धों के लिए तैयार रहना आवश्यक समझा जाता है, क्योंकि देखने-सुनने में लड़ाई करने की तैयारी तनिक असभ्य प्रतीत होती है, इसलिए विज्ञान का सहारा लेकर यह बहाना किया जाता है कि भाई संसार में भोग करनेवालों से भोग्य पदार्थ कम हैं, तिसपर भी सृष्टि बेहिसाब बढ़ रही है और एक समय आनेवाला है जब धरती पर पैर रखना कठिन हो जाएगा, इसलिए बहुत-सी पृथिवी अपने क़ब्ज़े में लेकर उसे अमित धन—सोना-चाँदी और हीरा-मोती से भर लेना चाहिए और शस्त्रों तथा जातिप्रेम के अमित बल से अपनी रक्षा करके दूसरों को दबाये रखना चाहिए। यह वर्त्तमान पोलिटीकल एकॉनॉमी का विज्ञानप्रकरण है। बस, यही वर्त्तमान सम्पतिशास्त्र, अर्थात् पोलिटीकल ऍकानॉमी के साधारणतः प्रकट और गुप्त नियम और उद्देश्य हैं। सारांश रूप से वर्त्तमान सम्पत्ति की परिभाषा आवश्यक पदार्थ है और आवश्यक पदार्थों की परिभाषा अमित पदार्थ हैं। अमित पदार्थों में अनगिनत वस्तुएँ आ जाती हैं और अनगिनत वस्तुओं के लिए कहा जाता है कि पता नहीं कब किस वस्तु की आवश्यकता पड़ जाए, इसलिए यद्यपि वर्त्तमान सम्पत्ति के पदार्थों की गणना नहीं हो सकती तथापि आवश्यक पदार्थ कहने से उसके समस्त पदार्थों की गणना हो जाती है।

इस सम्पत्ति से सम्बन्ध रखनेवाली तीन बाते हैं—

१. सम्पत्ति की आवश्यकता,

२. सम्पत्ति का स्वरूप और

३. सम्पत्ति को प्राप्त करने के उपाय।

इनमें सबसे पहली बात सम्पत्ति की आवश्यकता की है। सम्पत्तिशास्त्री कहते हैं कि सम्पत्ति की आवश्यकता के दो कारण हैं। एक तो नागरिक जीवन है जिसमें अमित आवश्यक पदार्थों की आवश्यकता होती है और दूसरा जनसंख्या की वृद्धि और भोग्य पदार्थों की न्यूनता है, जिसके कारण अमित सम्पत्ति को क़ब्ज़े में रखने की आवश्यकता है। दूसरी बात सम्पत्ति के स्वरूप की है। सम्पत्तिशास्त्री कहते हैं कि पृथिवी, श्रम और पूँजी सम्पत्ति के स्वरूप हैं। पृथिवी में खदान और खेत हैं और श्रम तथा पूँजी से यन्त्र और खाद तैयार होती है, इसलिए पृथिवी, खेत, यन्त्र और खाद ही सम्पत्ति का असली स्वरूप है। तीसरी बात सम्पत्ति को प्राप्त करने के उपायों की है। इसके लिए सम्पत्तिशास्त्री कहते हैं कि कम्पनी, शासन और जातीयता से ही अमित सम्पत्ति की प्राप्ति, रक्षा और भोग हो सकता है, इस प्रकार वर्त्तमान पोलिटीकल एकॉनॉमी से सम्बन्ध रखनेवाले १. नागरिक जीवन, २. जनवृद्धि, ३. खदान, ४. खेत, ५. खाद, ६. यन्त्र, ७. कम्पनी, ८. शासन और ९. जातीयता आदि नौ विभाग हैं। हम यहाँ क्रम से इन समस्त विभागों की साधारण आलोचना करके देखना चाहते हैं कि क्या ये समस्त विभाग सृष्टिनियम के अनुकूल हैं और क्या इनकी गणना अर्थशास्त्र के अन्दर हो सकती है?

नागरिक जीवन और जनवृद्धि

नागरिक जीवन और जनवृद्धि की आशंका से प्रेरित होकर ही आजकल अमित सम्पत्ति की आवश्यकता बतलाई जाती है, परन्तु हम देखते हैं कि ये दोनों बातें अशुद्ध हैं। इन दोनों बातों में पहले नागरिक जीवन को ही लीजिए। नागरिक जीवन बड़े-बड़े नगरों में रहने से ही उत्पन्न होता है। जहाँ ख़रीदने और बेचने का बाज़ार होता है, जहाँ कोई बड़ा राजकर्मचारी या राजा रहता है, जहाँ कोई बड़ा धाट या बन्दर होता है और जहाँ कोई तीर्थ अथवा और कोई ऐसा ही जमघट का स्थान होता है वहीं धीरे-धीरे नगर बन जाता है और नगर में रहनेवालों में चार दोष उत्पन्न हो

जाते हैं। ये अभिमानी, विलासी, रोगी और झूठे हो जाते हैं, क्योंकि ख़रीदने-बेचनेवाले, राजकर्मचारी और तीर्थवासी मनुष्य अन्य जनता की अपेक्षा अधिक जानकारी रखते हैं, इसलिए वे अपने को स्वभावत: बड़ा आदमी मानने लगते हैं। वे अपनी रहन-सहन और वेश-भूषा में कुछ विलक्षण फेरफार कर लेते हैं और फ़ैशन के दास बनकर विलासी हो जाते हैं। नाच-तमाशा, गाना-बजाना और विषयासक्ति इतनी बढ़ जाती है कि सभी लोग किसी-न-किसी रोग का शिकार हो जाते हैं। जुआ खेलना, ठगाई करना और झूठ बोलना थोड़ा बहुत सभी में आ जाता है। इस प्रकार ये अपने चारों दोषों के कारण सब प्रकार से पतित हो जाते हैं, परन्तु अनजान ग्रामीण इनको सभ्य समझते हैं, अत: इनकी नक़ल करना आरम्भ कर देते हैं और वे भी अपना सर्वस्व खो देते हैं।

नागरिक जीवन में अमित पदार्थों का सञ्चय ही प्रधान कार्य बन जाता है और यन्त्रों का आविष्कार आरम्भ हो जाता है। नागरिकों के स्वाभाव में यहाँ तक अत्याचार बढ़ जाता है कि वे अपने ही सदृश मनुष्य से पीनस उठवाने, रिक्षा खिचवाने और पख़ाना साफ़ कराने का काम लेते हैं। इनके कारण नगर में वेश्याओं की दूकानें, शराब की दूकानें, जुए (सट्टे) की दूकानें और कुटिल नीति (मुक़द्दमेबाजी) की दूकानें खुल जाती हैं। बंसी लगाये हुए मछली को मारनेवाला जिस प्रकार मछली की ताक में बैठा रहता है उसी प्रकार प्रत्येक नागरिक सीधे-सादे मनुष्य को फँसाने—लूटने की ताक में बैठा रहता है।

विलास के लालच से मोहित होकर ग्राम के मनुष्य शहरों में जमा होने लगते हैं और थोड़े ही दिनों में शहरों की जनसंख्या इतनी घनी हो जाती है कि पख़ाना, पेशाब, धूल और धुएँ की गन्दगी से मनुष्यों के स्वास्थ्य बिगड़ने लगते हैं। दवा, सफ़ाई और कपड़े धुलाई का ख़र्च इतना बढ़ जाता है कि उसकी चिन्ता शरीर को रोगों का घर बना देती है। रेल, मोटर, ट्राम और इक्का गाड़ी तथा मिल और इंजिनों की भरमार से सैकड़ों आदमी लँगड़े और अन्धे हो जाते हैं और सैकड़ों मर जाते हैं। नगरों में शुद्ध हवा, शुद्ध जल, शुद्ध घी-दूध, शुद्ध फल-फूल और शुद्ध अन्न कभी देखने को नहीं मिलता। हरे खेतों का दर्शन, बाग़-बग़ीचों की सैर, पशुओं का कल्लोल और पक्षियों का कलरव कभी सुनाई नहीं पड़ता, अर्थात् मनुष्य का जीवन इतना अस्वाभाविक बन जाता है कि वह रोग, ख़र्च और अभिमान के कारण ज़िन्दा ही प्रेत हो जाता है, इसलिए नागरिक जीवन सृष्टिनियम के सर्वथा प्रतिकूल है और नागरिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली अमित सम्पत्ति भी अस्वाभाविक है। ऐसा अस्वाभाविक नागरिक जीवन नितान्त आसुरी जीवन है, इसीलिए आर्यसभ्यता में नगरों के लिए स्थान नहीं है।

आर्यसभ्यता के नगर का आदर्श हम आर्यग्राम के वर्णन में लिख आये हैं। आर्यनगर तो केवल राजा के निवास के ही कारण बनता था जो छोटे-छोटे ग्रामों और बाग़-बग़ीचों तथा जंगलों के टुकड़ों से सदैव घिरा रहता था। हमारी यह बात दो प्रमाणों से सिद्ध होती है। एक प्रमाण तो यह है कि प्रत्येक आर्य को सन्ध्या करने के लिए दोनों समय नित्य जंगल में जाना लिखा है[१]। दूसरा प्रमाण यह है कि आर्यभाषा संस्कृत में भंगी और पख़ाने के लिए कोई शब्द नहीं है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि लोग शौच के लिए जंगल में ही जाते थे। इन दोनों प्रमाणों से सिद्ध होता है कि आर्यनगर जंगलों से घिरे रहते थे और जंगल ग्रामों तथा नगरों से घिरे रहते थे। नहीं तो नित्य दोनों समय सन्ध्या और शौच के लिए कोसों कोई कैसे जाता, इसलिए

१. अपां समीपे नियतो नैत्यकं विधिमास्थित:। सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहित:॥ —मनु० २।१०४

आर्यनगर वर्त्तमान नगरों की भाँति न थे। वर्त्तमान नगर तो आसुर नगर है, अतः ऐसे नगरों को तो वेद में इन्द्रवृत्र के अलङ्कार से तुड़वा देने की आज्ञा है। ऋग्वेद में लिखा है—

त्वं मायाभिरप मायिनोऽधमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजाःपुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ॥ —ऋ० १।५१।५

अर्थात् हे राजन्! आप प्रकृष्ट बुद्धिवाले, छलकपटयुक्त अयज्वा और अव्रती दस्युओं को कम्पायमान कीजिए और जो यज्ञ न करके अपना ही पेट भरते हैं उन दुष्टों को दूर कीजिए और इन (पिप्र) उपद्रव, अशान्ति, अज्ञानता और नास्तिकता फैलानेवाले जनों के नगर को भग्न कर दीजिए तथा दुष्टों का हनन करके सरलप्रकृति मनुष्यों की रक्षा कीजिए।

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुषे॥ —ऋ० ४।३०।२०

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह द्यूत खेलनेवाले जुआखोरों के पाषाणनिर्मित समस्त नगरों को तुड़वा दे।

इन प्रमाणों से सूचित होता है कि आर्यसभ्यता में नागरिक जीवन आसुर प्रवृत्तिवाला समझा जाता है, इसीलिए नगरों के तुड़वा देने की आज्ञा दी गई है। आर्यसभ्यता में जब नगरों की ही आवश्यकता नहीं बतलाई गई तब भला नागरिक जीवन और नागरिक सम्पत्ति की बात कहाँ बतलाई जा सकती है।

अब रही बात जनसंख्या की वृद्धि की। कहा जाता है कि जनसंख्या की वृद्धि से भोग्य पदार्थ और पृथिवी कम होती जाती है, परन्तु इस बात में भी अधिक दम नहीं है। हम इस सृष्टि का प्रबल नियम देख रहे हैं कि पहले भोग्य उत्पन्न हो जाता है तब भोक्ता उत्पन्न होता है, अर्थात् बच्चा उत्पन्न होने के पहले ही दूध तैयार हो जाता है और पशु-पक्षी तथा मनुष्यों के उत्पन्न होने से पहले ही वनस्पति उत्पन्न हो जाती हैं। प्रजोत्पत्ति के विषय में विद्वानों की यह सम्मति है कि चालीस दिन के बाद खाये हुए पदार्थों का वीर्य बनता है, जिससे सन्तान उत्पन्न होती है और दस महीने भोजन प्राप्त कर लेने के बाद ही माता बच्चे को पेट से बाहर निकालती है, इसलिए संसार में जब तक सन्तति उत्पन्न होती जाती है तब तक कौन कह सकता है कि भोग्यों की कमी है। भोग्य कम होने पर न तो पिता का वीर्य ही बनेगा और न दस महीने तक खा-पीकर माता ही बच्चे को पैदा कर सकेगी। ऐसी दशा में जबकि लोगों के सन्तान हो रही है तब कैसे कहा जा सकता है कि भोग्य कम हो रहे हैं। हमारी समझ में तो जब भोग्य इतने कम हो जाएँगे कि जिनसे भविष्य प्रजा का पोषण न हो सकेगा तब माता के पेट में बच्चे का आना ही बन्द हो जाएगा।

प्रायः लोग कहते हैं कि यद्यपि प्रजा उत्पन्न होती है तथापि पृथिवी में भोजन की कमी तो है ही, क्योंकि यदि लाखों मन मछलियों और पशुओं का मांस न होता तो लोग भूख से मर जाते। हम कहते हैं इसमें पृथिवी का दोष नहीं है। इसमें उनका दोष है जिन्होंने पृथिवी का दुरुपयोग कर रक्खा है। लाखों एकड़ भूमि मिर्च, मसाले, गाँजा, भंग, चाय और अफ़ीम के उत्पन्न करने में रोकी गई है, लाखों एकड़ भूमि रुई, सन और पाट की खेती के लिए रोकी गई है, लाखों एकड़ भूमि मशीनों का तेल उत्पन्न करने के लिए रोकी गई है और लाखों एकड़ भूमि रेल की सड़कों, सादी सड़कों और नहरों के लिए रोकी गई है और लाखों एकड़ भूमि में पैदा होनेवाला गल्ला शराब बनाने में ख़र्च कर दिया जाता है। इस समस्त भूमि पर यदि मनुष्य का खाद्य उत्पन्न किया जाता और पशुओं के निर्वाह के लिए घास उत्पन्न की जाती तो जितना खाद्य आज संसार में उत्पन्न होता है उससे दूना उत्पन्न हो जाता और सबको पेटभर अन्न खाने को मिल जाता और मांस के लिए पशुओं की हत्या न करनी पड़ती और उनसे उत्पन्न हुए दूध-घृत से भी मनुष्यों के

आहार में सहायता मिलती।

यद्यपि हम भी मानते हैं कि धीरे-धीरे मनुष्यों की संख्या बढ़ रही है, परन्तु हम यह भी मानते हैं कि धीरे-धीरे पृथिवी भी बढ़ रही है। यदि पृथिवी धीरे-धीरे न बढ़ती तो आदिसृष्टि से आज तक इतने प्राणियों को स्थान कौन देता? क्या आदि में पृथिवी की यही स्थिति थी? कभी नहीं। आदि में तो समस्त पृथिवी जल से भरी हुई थी। जैसे-जैसे सृष्टि बढ़ती जाती है वैसे समुद्र सूखते जाते हैं और पृथिवी बसने के योग्य होती जाती है। पृथिवी का अब तक एक तिहाई भाग समुद्र से बाहर निकल पाया है और दो तिहाई में पानी भरा हुआ है। जितने में समुद्र भरा है उस जलमय समुद्र के पेट से अब भी पृथिवी के टुकड़ों की उत्पत्ति होती रहती है। जब-जब ज्वालामुखी, अग्निप्रपात और भूकम्प होते हैं तब-तब कहीं-न-कहीं समुद्र से पृथिवी के बाहर निकलने का सूत्रपात होता है और कभी-कभी पृथिवी बाहर निकल भी आती है। इसके अतिरिक्त पहाड़ धीरे-धीरे टूट-टूटकर भूमि का रूप धारण कर रहे हैं। झाँसी के पास यह दृश्य बहुत ही स्पष्ट रूप से दिखलाई पड़ता है। इसी प्रकार रेत के बड़े-बड़े मैदान धीरे-धीरे लसदार मिट्टी के रूप में परिणत हो रहे हैं। यह दृश्य भी मारवाड़, काठियावाड़ और कच्छ में अच्छी प्रकार दिखलाई पड़ता है, इसलिए यह बात बिलकुल ग़लत है कि जनसंख्या की वृद्धि के कारण पृथिवी पर तंगी है। यह तो वैज्ञानिक बहाना है जो दूसरों के देश पर क़ब्ज़ा करने के लिए किया जाता है। हमारी समझ में तो जो तङ्गी है वह पृथिवी के कारण नहीं प्रत्युत वह नागरिक विलासियों की स्वयं उत्पन्न की हुई है। नागरिकों ने अपने विलास के लिए संसार के अपरिमित पदार्थों को अपने घरों में इकट्ठा कर रक्खा है। एक-एक जैंटलमैन के पास आठ-आठ ट्रंक कपड़े, सोलह-सोलह जोड़े बूट और दो-दो सौ कुर्सियों का जमघट जमा है। एक-एक लेडी का कमरा व्हाइटवे लेडलॉ कम्पनी की दूकान बन रहा है। उधर गाँव में उसी प्रकार की शकल-सूरतवाली एक कुलवधू के शरीर पर लज्जा-निवारण के लिए एक सुदृढ़ साधारण वस्त्र भी नहीं है। चाय, सिगरेट और गाँजा, भंग से लदी हुई रेलगाड़ियाँ और जहाज़ संसारभर में दौड़ रहे हैं और एक-एक धनवान् का घोड़ा सोलह-सोलह आदमी की ख़ुराक का दाना पा रहा है, परन्तु ग़रीबों को आधे पेट अन्न का भी ठिकाना नहीं है। ऐसी दशा में कौन कह सकता है कि यह तंगी पृथिवी के कारण उत्पन्न हुई है। हम तो यही कहते हैं कि यह तंगी नागरिक जीवन से उत्पन्न हुई है, इसलिए जनसंख्या की वृद्धि की आशंका से अमित सम्पत्ति को हस्तगत करने का सिद्धान्त सर्वथा ग़लत है, क्योंकि जनसंख्या की वृद्धि अमित सम्पत्ति से बन्द नहीं हो सकेगी। अमित सम्पत्ति से तो वह और भी बढ़ेगी, इसलिए इस नागरिक और काम्य सम्पत्ति का मोह छोड़कर जब सादा, तपस्वी और मोक्षाभिमुखी जीवन बनाया जाएगा तभी सन्ततिनिरोध भी सम्भव है और तभी मनुष्यजाति के सुख-शान्ति की आशा भी हो सकती है, अतएव आजकल की आसुरी सम्पत्ति की आवश्यकता कदापि नहीं है।

खेत, खाद, खदान और यन्त्र

गत पृष्ठों में वर्त्तमान सम्पत्ति की आवश्यकता पर विचार करने से ज्ञात हुआ कि मनुष्यजाति को इस प्रकार की सम्पत्ति की आवश्यकता नहीं है। अब हम देखना चाहते हैं कि क्या उस सम्पत्ति का स्वरूप सही है। वर्त्तमान सम्पत्ति का स्वरूप वर्णन करते हुए अर्थशास्त्रियों ने पृथिवी, श्रम और पूँजी को सम्पत्ति का स्वरूप माना है। पृथिवी में खदान और खेत प्रधान हैं। वैज्ञानिक खाद डालकर और यन्त्रों से जोतकर खेतों से अन्न, रुई, तेल और फल आदि उत्पन्न किये जाते हैं और फिर यन्त्रों के सहारे उनसे नाना प्रकार के अन्य पदार्थ तैयार होते हैं। इसी

प्रकार खदानों से खनिज पदार्थों को निकालकर यन्त्रों के द्वारा ही नाना प्रकार के पदार्थ तैयार किये जाते हैं और यन्त्रों से ही इधर-उधर भेजे जाते हैं, इसीलिए सम्पत्ति के उपर्युक्त चार विभाग खेत, खाद, खदान और यन्त्र ही सुदृढ़ सम्पत्ति का स्वरूप समझे जाते हैं। हम यहाँ क्रम से इन चारों स्वरूपों की आलोचना करते हैं।

हम मनुष्य के आहारप्रकरण में लिख आये हैं कि मनुष्य का वास्तविक भोजन फल, फूल और दूध-दधि है। ये पदार्थ पशुओं, फलदार वृक्षों तथा फलदार बेलों से उत्पन्न होते हैं। इसलिए मनुष्य को इन्हीं की खेती करनी चाहिए, अन्न की नहीं। अन्न की खेती से जंगलों, वाटिकाओं और बाड़ियों का नाश हो जाता है और पशुओं के चरागाह कम हो जाते हैं, जिससे दूध और घी में कमी हो जाती है। इसके अतिरिक्त जंगलों, वाटिकाओं और चरागाहों के नष्ट होने से अवर्षण भी हो जाता है और नाना प्रकार की बीमारियाँ भी पैदा हो जाती हैं, इसलिए खेती करना, अर्थात् अन्न के लिए भूमि का अधिक भाग रोकना सृष्टिनियम के विरुद्ध है, किन्तु वाटिका लगाना, गोचरभूमि बनाना और जंगल बढ़ाना सृष्टि-नियम के अनुकूल है। जंगलों में जहाँ मनुष्यों के खाने के लिए फल मिलते हैं वहाँ अन्न भी उत्पन्न होता है। आरम्भ में समस्त अन्न जंगलों में ही उत्पन्न होते थे और अब भी अनेक देशों में कई प्रकार के अन्न जंगलों में ही घास की भाँति उत्पन्न होते हैं, इसलिए केवल जंगलों की वृद्धि से ही फल-फूल, दूध-घी और अनेक प्रकार के अन्नों की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु खेत केवल अन्न ही देते हैं, शेष फल-फूल, घी-दूध, वर्षा और आरोग्य का नाश कर देते हैं, इसलिए खेती करना उचित नहीं है। मनु भगवान् स्पष्ट शब्दों में मना करते हैं कि **'हिंसाप्रायां पराधीनां कृषिं यत्नेन वर्जयेत्'**,[१] अर्थात् इस हिंसामय दैवाधीन खेती को कभी न करना चाहिए।

जब खेती ही सृष्टिनियम के विरुद्ध है तब खेतों में अपवित्र और रासायनिक खाद का डालना कब अनुकूल हो सकता है? हाँ, जंगलों में और बाग़-बग़ीचों में जो स्वाभाविक खाद पत्तों और पशुओं के गोबर-मूत्र से बनकर पहुँचता है वही वृक्षों के लिए हितकर होता है, किन्तु जो खाद मनुष्यों के पेशाब-पैख़ाना और मछली आदि से तैयार किया जाता है वह बहुत ही हानिकारक होता है। मलिन खाद से खाद्य पदार्थों का असली गुण नष्ट हो जाता है। अमरीका से निकलनेवाले 'मेफ़्लावर' नामक पत्र में एक लम्बा लेख छपा है जिसमें वैज्ञानिक रीति से सिद्ध किया गया है कि कृत्रिम और मलिन खाद अन्न को दूषित कर देता है और वह दूषित अन्न खानेवाले को हानि पहुँचाता है। मलिन खाद से उत्पन्न हुआ अन्न यूरोपनिवासी भी पसन्द नहीं करते। भगवान् मनु कहते हैं कि **'अमेध्यप्रभवाणि च'**,[२] अर्थात् अपवित्र स्थानों में उत्पन्न होनेवाला अन्न नहीं खाना चाहिए। तात्पर्य यह कि इस सम्पत्तिशास्त्र में जिस प्रकार की खाद का महत्त्व बतलाया गया है वह भी अस्वाभाविक है।

खेत और खाद के बाद खदान और यन्त्रों का नम्बर है। खदान और यन्त्रों का प्रश्न बड़ा भयङ्कर है। खदानों में परमात्मा ने न मालूम किस उपयोग के लिए खनिज पदार्थों को सुरक्षित रक्खा है, परन्तु आजकल के सम्पत्तिशास्त्री उस धरोहर को निकाल-निकालकर इधर-का-उधर कर रहे हैं। कौन जानता है कि ये खनिज पदार्थ पृथिवी में भीतर-ही-भीतर क्या प्रभाव कर रहे हैं और निकल जाने पर क्या प्रभाव होगा। बिना समझे-बूझे, बिना किसी प्रमाण और दलील के मनुष्य को क्या अधिकार है कि वह इन पदार्थों में हाथ लगाए। हम देखते हैं कि करोड़ों मन कोयला खदानों से निकाला जा रहा है। लोग कहते हैं कि कोयले में प्राणनाशक वायु अधिक

१. मनु० १०।८३ २. मनु० ५।५

होता है जो वृक्षों का भोजन है, किन्तु वृक्षों को कोयले से मिला हुआ जो रस या वायु मिलता था, वह कोयला निकल जाने से अब नहीं मिलता। ऐसी दशा में सम्भव है कि वृक्षों के फलों में और अन्न के गुणों में कमी हुई हो।

आज जो सैकड़ों बीमारियाँ फैल रही हैं सम्भव है वे इसी उपद्रव का फल हों। कहने का तात्पर्य यह कि जिस बात को हम जानते ही नहीं और न त्रिकाल में कभी जान ही सकते हैं, उस बात में हाथ डालना और प्रकृति के रक्षित पदार्थों को निकालकर नष्ट करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है ? सोना, चाँदी, हीरा, पन्ना, मैनसिल, हरताल और पारे को सभी लोग जानते हैं कि इनमें स्वास्थ्यसम्बन्धी बड़ा-से-बड़ा प्रभाव विद्यमान है। ऐसी दशा में हम कैसे मान लें कि उनकी टालटूल से सृष्टि में महान् परिवर्तन न हुआ होगा ? हमें तो विश्वास है कि सृष्टि में ये हर वर्ष के अवर्षण, बीमारी और बड़े क्रूर स्वभाववाले सब कार्य इन्हीं पदार्थों के फेरफार—टालटूल से होते हैं। इसके सिवा खदानों से निकले हुए अपरिमित पदार्थों—सोने, चाँदी, हीरा, मोती आदि ने संसार में सीमातीत असमानता पैदा कर दी है, जिससे कोई अत्यन्त धनी और कोई अत्यन्त ग़रीब कहलाने लगा है, इसलिए ऐसे निरर्थक पदार्थों को बहुमूल्य बनाकर लोगों की रुचि उसी ओर लगाना क्या कोई कम पाप की बात है ?

एक व्यक्ति जिसको सोने, चाँदी आदि के आभूषणों को पहनने का कभी ध्यान भी नहीं था उसे सोना, चाँदी और हीरा-मोती दिखलाकर उस ओर लालायित करना क्या कम अत्याचार है ? आज संसार में आभूषणसम्बन्धी काल्पनिक दु:ख से जो मनुष्य दु:खी हो रहे हैं, आज जो संसार में हाय-हाय मची है कि हमारे पास कण्ठा नहीं, हमारे पास जड़ाऊ चेन नहीं और हमारे पास अँगूठी नहीं, यह क्या कम शोक की बात है ? जिन मनुष्यों ने इन व्यर्थ पदार्थों को मूल्यवान् बनाकर सीधे-सादे मनुष्यों को इस कल्पना के दु:ख में फँसाया है क्या उन्होंने कम पाप किया है ? हम तो दावे से कहते हैं कि जिन्होंने पहले और इस समय ऐसे पदार्थों का रिवाज पैदा करके मनुष्यों को इस ओर प्रवृत्त किया है, वे मनुष्यजाति के ही नहीं प्रत्युत प्राणिमात्र के शत्रु हैं, इसलिए खेती और खदान दोनों ही व्यर्थ हैं और मनुष्यसमाज में पाप के बढ़ानेवाले हैं। इन सबमें यन्त्रों का आविष्कार तो खेत और खदानों से भी अधिक भयङ्कर है। यन्त्रों ने संसार में कितना अत्याचार कर रक्खा है, वह सबकी आँखों के सामने है। यन्त्रों ने मनुष्यों, घोड़ों, बैलों, हाथियों और खच्चर आदि पशुओं के कर्मक्षेत्रों को एकदम बन्द कर दिया है। जिस काम को हज़ारों मनुष्य और हज़ारों पशु मिलकर कर सकते थे आज यन्त्रों के सहारे उसी काम को थोड़ा-सा लोहा, कोयला और दो चार आदमी कर लेते हैं। शेष मनुष्य और शेष पशु निकम्मे हो गये हैं और मारे-मारे फिरते हैं। उनके लिए संसार में कोई काम ही नहीं है। यही कारण है कि बिना उद्योग के मनुष्य तो धनियों के ग़ुलाम बन गये हैं अथवा भूख से मर रहे हैं और पशु छुरी के नीचे अपनी गर्दन कटा रहे हैं। इन यन्त्रों के ही कारण संसार में स्थान-स्थान पर स्ट्राइक और अनारकिज़्म की आसुरी आवाज़ सुनाई पड़ रही है और प्रत्येक स्थान पर लड़ाइयाँ जारी हैं। यन्त्रों के ही कारण जंगल कट गये हैं, प्रतिवर्ष अवर्षण होता है, जलवायु बिगड़ गया है, सृष्टि-सौन्दर्य नष्ट हो गया है और मनुष्य मनुष्य की जान का शत्रु बन रहा है, इसलिए हम कहते हैं कि यदि यन्त्र न होते तो आज संसार का नक़शा दूसरा ही होता।

आप कल्पना कीजिए कि आज संसार में सब प्रकार के इंजिन, रेल, मोटर, ट्राम, साइकिल, बिजली से जलनेवाले दीपक और बिजली से चलनेवाले पंखे न हों, अर्थात् किसी प्रकार का कोई भी आसुरी यन्त्र नहीं है। अब आप सोचिए कि आपकी सवारी कैसे जाएगी और आपके

पदार्थ इधर-उधर कैसे ढोये जाएँगे। इसका उत्तर यही हो सकता है कि पशुओं के द्वारा सवारी और बोझ उठाने का काम चलेगा। फिर प्रश्न है कि इतने पशु चरेंगे कहाँ, तो उत्तर स्पष्ट है कि चरागाहों में—जंगलों में। अब फिर प्रश्न है कि जब सारी पृथिवी में जंगल हो जाएँगे तो मनुष्य खाएँगे क्या, इसका उत्तर स्पष्ट है कि फलदार वृक्षों के फल और पशुओं का दूध-घृत मनुष्य खाएँगे और छोटे वृक्ष (तृण) और दाना पशु खाएँगे और समस्त प्राणिसमूह का योगक्षेम आनन्द से चल पड़ेगा और संसार आनन्दकानन बन जाएगा। जहाँ पर ज़ंगल हैं वहाँ आज भी बड़ा आनन्द है। आज ३० वर्ष से हिन्दोस्तान में प्लेग मनुष्यों का सत्यानाश कर रही है, परन्तु जंगल में इसकी दाल नहीं गली। वहाँ आज तक लोग प्लेग को जानते ही नहीं। इसका यही कारण है कि जंगलों में ऐसी बीमारियाँ नहीं होतीं और बीमार को जंगलों में ले-जाते ही बीमारी जाती रहती है। जंगलों में समय पर वृष्टि होती है और भूमि सदैव शस्यश्यामला बनी रहती है। इस प्रकार केवल यन्त्रों, मशीनों और खेतों के हटाने की कल्पनामात्र से स्वर्गीय सुख आँखों के सामने घूमने लगता है। फलों के टोकरे और घी दूध के प्रवाह बहने लगते हैं, वर्षा होने लगती है और प्लेग-हैजा आदि बीमारी भाग जाती है, अर्थात् संसार ही कुछ और-का-और हो जाता है, इसलिए समस्त खदानों का निकालना और उन समस्त यन्त्रों का चलाना जो स्प्रिंग, स्टीम और बिजली अथवा और किसी कृत्रिम उपाय से चलाये जाते हैं एकदम सृष्टिनियम के विरुद्ध है, इसीलिए भगवान् मनु कहते हैं कि—

सर्वाकरेष्वधिकारो महायन्त्रप्रवर्तनम्।
हिंसौषधीनां स्त्र्याजीवोऽभिचारो मूल कर्म च॥ —मनुस्मृति ११।६३
उपपातकम्॥ —मनुस्मृति ११।६६

अर्थात् समस्त खदानों पर अधिकार करना, बड़े-बड़े यन्त्रों का चलाना, वृक्षों का काटना, वेश्यावृत्ति और अभिचार आदि का करना उपपातक हैं।

यहाँ खदानों पर अधिकार करना और महायन्त्रों का चलाना पाप बतलाया गया है, अतः ऐसे महायन्त्र जिनसे मनुष्यों अथवा पशुओं का कर्मक्षेत्र रुकता हो, आर्यसभ्यता में कैसे स्थान पा सकते हैं। आर्यसभ्यता में तो अगर्हित शिल्प के ही लिए स्थान है। मनुजी कहते हैं कि—

विधाय प्रोषिते वृत्तिं जीवेन्नियममास्थितः। प्रोषिते त्वविधायैव जीवेच्छिल्पैरगर्हितैः॥
—मनु० ९।७५

अर्थात् यदि पति अपनी पत्नी का प्रबन्ध किये बिना परदेश चला जाए तो वह स्त्री अनिन्दित शिल्पों के द्वारा अपना निर्वाह करे। अनिन्दित शिल्पों का अर्थ है वैदिक शिल्प। वैदिक शिल्प वे हैं जो अपने घर में अपने हाथ से किये जाएँ, जैसे चरखा कातना आदि, परन्तु जो शिल्प और यन्त्र अनिन्दित नहीं है, गर्हित हैं उनके लिए मनुजी कहते हैं कि—

शिल्पेन व्यवहारेण शूद्रापत्यैश्च केवलैः। गोभिरश्वैश्च यानैश्च कृष्या राजोपसेवया।
कुलान्याशु विनश्यन्ति यानि हीनानि मन्त्रतः। —मनु० ३।६४-६५

अर्थात् शिल्प से, रुपये के लेन-देन से, शूद्र सन्तान से, गौ-घोड़ी की सवारियों से, खेती से, राजा की सेवा से और वेदों के न पढ़ने से कुल-के-कुल शीघ्र नष्ट हो जाते हैं, इसलिए शिल्प, कृषि, नौकरी और नीच सङ्गति को छोड़ दें।

यहाँ निन्दित शिल्प और खेती की निन्दा की गई है। इसके सिवा ये निन्दित यन्त्र बहुत दिन चल नहीं सकते। वे शीघ्र बन्द हो जाएँगे, क्योंकि स्टीम बनाने के लिए जिस कोयले की

आवश्यकता होती है वह शीघ्र ही समाप्त होनेवाला है[१]। इसी प्रकार बिजली जिन मसालों से बनती है वे भी समाप्त हो जाएँगे और यदि सूर्य से शक्ति ली जाएगी तो वह शक्ति जहाँ के लिए बनाई गई है, वहाँ न पहुँचेगी और घोर उपद्रव पैदा हो जाएगा। रहा यह कि बिना रेल आदि के लोग दूर देश कैसे जाएँगे ? इसका उत्तर यह है कि प्रथम तो सबको यात्रा में जाने की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि प्राय: वैश्य लोग ही दूर देश में जाते हैं। वे स्थल में पशुओं के द्वारा और जल में बिना इंजिन के जहाज़ों के द्वारा जा सकते हैं। यदि इन सवारियों का अच्छा प्रबन्ध किया जाए तो सालभर में सारी पृथिवी का चक्कर लग सकता है। यदि मनुष्य रोज़ २० मील चले तो पैदल ही तीन-चार वर्ष में सारी पृथिवी का चक्कर लगा सकता है। संसार के अवलोकन करने के लिए पैदल से अच्छा और कोई मार्ग नहीं है, इसलिए ऐसे यन्त्रों को जिनसे किसी भी प्राणी का कर्मक्षेत्र रुकता हो, कभी काम में न लाना चाहिए। साथ ही ऐसे यन्त्रों से बने हुए पदार्थ भी, चाहे वे स्वदेशी हों या विदेशी, कभी उपयोग करने के योग्य नहीं हैं। ये सब पदार्थ मनुष्यों या पशुओं को हानि पहुँचा कर ही बनते हैं, इसलिए प्राणियों के ख़ून से बने हुए पदार्थों के द्वारा सजावट करनेवाले मनुष्य का कभी भला होनेवाल नहीं है।

मशीनों के कारण ही लाखों क़ुली भूख-भूख चिल्लाते फिरते हैं और लाखों पशु रोज़ क़त्ल किये जाते हैं। मशीनें यदि न होतीं तो इन सब प्राणियों की क़दर होती, किन्तु मशीनों ने सबको निकम्मा बना दिया है, अत: मशीनों को सहारा देने में उतना ही पाप है, जितना अनेक मनुष्यों या पशुओं का वध करने से होता है। इस प्रकार यह खेत, खाद, खदान और यन्त्रों से बना हुआ कुचक्र सम्पत्ति का स्वरूप नहीं है। यह तो कामुकता का भयङ्कर चित्र है जो मनुष्यों, पशुओं और वृक्षों को ही सतानेवाला है, इसलिए इसको शीघ्र ही नष्ट हो जाना चाहिए। इस सम्पत्ति के स्वरूप की आलोचना के आगे अब आसुरी सम्पत्ति को उत्पन्न करनेवाले साधनों का भी विवरण देख लेना चाहिए।

कम्पनी, राज्यबल और जातीयता

सम्पत्तिशास्त्रियों का कहना है कि सम्पत्ति की उत्पत्ति के लिए बहुत लोगों से थोड़ा-थोड़ा धन एकत्र करके और सबको हानि-लाभ का भागीदार बनाकर व्यापार करने से ही अमित लाभ हो सकता है, क्योंकि इस ढंग से एक तो बहुत बड़ी धनराशि एकत्र हो जाती है जिसके बल से बहुत बड़ा व्यापार किया जा सकता है, दूसरे अन्य व्यापारियों का व्यापार पीछे हटाने के लिए यदि पहले थोड़ा-बहुत घाटा भी उठाना पड़े तो घाटे की थोड़ी-थोड़ी हानि बहुत-से भागीदारों में बट जाती है, जिससे कम्पनी में धक्का नहीं लगता, प्रत्युत दूसरे व्यापारियों का धंधा बन्द हो जाता है और शीघ्र ही वह समस्त लाभ कम्पनी को ही होने लगता है, जिसके द्वारा अनेक व्यापारी और उस व्यापार से सम्बन्ध रखनेवाले जीते हैं। इस प्रकार की कुटिल नीति से प्रेरित होकर कम्पनी का संगठन होता है और अपने राजा के बल तथा जातीयता की उत्तेजना से प्रबल बनकर और मशीनों के द्वारा शृङ्गारिक पदार्थों को बनाकर दूसरे देशों के बाज़ारों का सर्वस्व

---

१. Already some of the smaller coalfields of Europe have been worked out, while in others it has become necessary to sink much deeper shafts at an increasing cost. There is not much tin left in Cornwall, not nuch gold in the gravel deposits of northern California. The richest known goldfield of the world, that of Transval Witwatersrand, can hardly last more than thirty or forty years. Thus in a few centuries the productive capacity of many regions may have become quite different from what it is now with grave consequences to their inhabitants.

—*Harmsworth History of the world*, Introduction, p. 33.

अपहरण किया जाता है। कम्पनी की इस नीति में प्रधान वस्तु धनराशि की है। सम्पत्तिशास्त्री इसी को पूँजी कहते हैं। वे कहते हैं कि बिना पूँजी के सम्पत्ति उपार्जित नहीं हो सकती, परन्तु यह पूँजीवाद जिसमें धनराशि के द्वारा शृङ्गारिक पदार्थों को बनाकर दूसरों का व्यापार नष्ट करने की बात गर्भित है, नितान्त पतित और पापमूलक है। यहाँ हम धनराशि और दूसरों के व्यापार को पीछे हटाने की नीति की आलोचना करके देखते हैं कि वह कितनी अस्वाभाविक है।

आजकल धन का अर्थ सोना और चाँदी माना जाता है। व्यापार में लेन-देन का यही माध्यम है। इसी के द्वारा पदार्थों का मूल्य निश्चित होता है, परन्तु यह सोना और चाँदी स्वयं किस काम आता है—मानवजीवन में ओषधि के अतिरिक्त वह किस अवसर पर लाभदायक सिद्ध होता है, यह आज तक किसी ने नहीं बतलाया। प्रथम तो संसार में जितने मूल्य के पदार्थ हैं, अर्थात् यह संसार जितना मूल्यवान् है, उतने मूल्य का सोना-चाँदी संसार में है ही नहीं, इसलिए सोना-चाँदी सम्पत्ति का माध्यम हो ही नहीं सकता। संसार की सम्पत्ति की बात जाने दीजिए, अभी हाल में जितने बड़े-बड़े लेन-देन होते हैं उनमें भी यदि नोट, चेक और हुण्डी का उपयोग न हो, केवल सोना-चाँदी ही ले-देकर ख़रीदा-बेचा जाए तो एक दिन भी व्यापार न चले, इसलिए सोने-चाँदी को धन मानना या उससे धन का मूल्य आँकना बुद्धि के सर्वथा विरुद्ध है। इसके सिवा जो व्यक्ति सोने-चाँदी को मूल्यवान् ही न समझता हो, उसके साथ तो पदार्थों का लेन-देन हो ही नहीं सकता। घोर जंगल के रहनेवाले नग्न भीलों से यदि कोई सुवर्ण का टुकड़ा देकर खाने के लिए वन्य पदार्थ माँगे तो वे कभी नहीं दे सकते। जंगलवासियों को जाने दीजिए अभी गत यूरोपिय युद्ध के समय खाद्य पदार्थों के कम हो जाने पर जब सर्विया के सैनिकों को भोजन के समय सुवर्ण की गिन्नियाँ दी गई तो उन्होंने गिन्नियों को फेंक दिया। इस प्रकार से सुवर्ण न तो जंगली असभ्यों के काम की वस्तु है और न वह अन्नहीन नागरिक सभ्यों के ही काम की वस्तु है। वह तो शृङ्गारप्रिय कामियों की वस्तु है। वही उसकी क़द्र करते हैं, परन्तु जो कामी नहीं हैं, उनके निकट हीरा, मोती, सोना, चाँदी कुछ भी मूल्य नहीं रखते। एक बार लव-कुश को सुवर्ण दिया गया तो उन्होंने स्पष्ट कह दिया था कि—

वन्येन फलमूलेन निरतौ वनचारिणौ। सुवर्णेन हिरण्येन किं करिष्यावहे वने॥

—वा० रा० उत्तर० ९४। २१

अर्थात् हम लोग तो वन्य फल-फूलों से ही निर्वाह करते हैं, हम इस सुवर्ण को लेकर क्या करेंगे?

इससे ज्ञात होता है कि सोना-चाँदी सम्पत्ति का माध्यम होने की योग्यता नहीं रखते। अभी कुछ समय पूर्व जब तक लोगों में लव-कुश की-सी परिमार्जित बुद्धि का विकास नहीं हुआ था तब तक चाहे भोले-भाले स्वभाव के लोग उसके मोह में फँसे रहे, परन्तु जब संसार में सोने की अधिकता हो जाएगी—खदानों से और रासायनिक प्रयोगों के द्वारा जब सोने की वृद्धि हो जाएगी तब उसको कोई मिट्टी के समान भी न पूछेगा।

हमने कानपुर से निकलनेवाले ८ दिसम्बर सन् १९२१ के 'आदर्श' पत्र में पढ़ा था कि 'चौदह वर्ष के अनुभव के बाद एक फ्रांसिसी रसायनशास्त्री ने पारे से सोना बना लिया है। मि० बाँड नामक एक अँगरेज़ भी उसके साथ है। दोनों ने इस कृत्रिम सुवर्ण को आक्सफ़ोर्ड के प्रसिद्ध रसायनशास्त्री के पास परीक्षार्थ भेजा है। वहाँ की रासायनिक जाँच से ज्ञात हुआ है कि इसमें प्रति शतक नब्बे भाग सोना है और शेष दश भाग रेडियम तथा अन्य पदार्थ हैं। इसपर एक अर्थशास्त्री ने कहा है कि इस आविष्कार से भारत और चीन को छोड़कर शेष समस्त संसार पर आपत्ति आ

जाएगी, क्योंकि शेष समस्त संसार में सोने से ही क्रय-विक्रय होता है'।

इस घटना और अर्थशास्त्रसम्बन्धी इन विचारों से अच्छी प्रकार प्रकट हो रहा है कि सोना-चाँदी या रुपया-पैसा अथवा हीरा-मोती सम्पत्ति के माध्यम नहीं हो सकते। सम्पत्ति का माध्यम तो सम्पत्ति ही हो सकती है, क्योंकि हम देखते हैं कि मनुष्यों को दो अवसरों पर सम्पत्ति के माध्यम की आवश्यकता होती है। एक तो ग्राम के अन्दर नित्यप्रति लेन-देन के समय और दूसरी आपत्ति के समय जब एक देश से दूसरे देश में आवश्यक पदार्थों के क्रय-विक्रय की आवश्यकता होती है। ग्राम में नित्य पदार्थविनिमय का माध्यम ग्राम के पदार्थ ही हैं, रुपया-पैसा नहीं। ग्राम्य जीवन के प्रकाण्ड अर्थशास्त्री प्रो० राधाकमल मुकरजी ग्राम्य जीवन की प्राचीन आवश्यकता के सम्बन्ध में कहते हैं कि 'ग्राम का काम अब भी प्रायः ग्राम के भीतर ही चल जाता है। ग्राम आप-ही-आप एक आर्थिक सङ्घ है। ग्राम के किसान ग्रामवासियों के सभी आवश्यक खाद्य उत्पन्न करते हैं और लोहार किसानों के फाल तथा घरू काम करने के लिए लोहे के अन्य पदार्थ तैयार करता है। वह ये वस्तुएँ लोगों को देता है और इनके बदले में उनसे रुपये पैसे नहीं पाता, किन्तु वह उनके बदले में अपने ग्रामवासियों से भिन्न-भिन्न काम लेता है। कुम्हार उसे घड़े देता है, जुलाहा कपड़े देता है और तेली तेल दे जाता है। इसी प्रकार अन्य कारीगर भी अन्य-अन्य आवश्यक पदार्थ दे जाते हैं। ये सभी कारीगर किसानों से अनाज का वह भाग पाते हैं जो पीढ़ियों से बँधा हुआ चला आता है। इस प्रकार गृहकार्यनिर्वाहसम्बन्धी समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति रुपये-पैसे कि बिना ही हो जाती है और गाँववालों को लेन-देन के लिए रुपये-पैसे की आवश्यकता नहीं होती'। यह बात बिलकुल सत्य है। इस घटना से हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि जब इस प्रकार की अदला-बदली गाँव में हो सकती है तब इसी प्रकार की अदला-बदली दूर देशों के साथ भी हो सकती है, परन्तु यह तभी हो सकता है जब अदला-बदली का उद्देश्य लोगों का धन हरण करना नहीं, प्रत्युत प्राणियों का कष्ट दूर करना हो। आर्यसभ्यता के मूलप्रचारक भगवान् मनु वैश्य को—व्यापारी को व्यापार का उद्देश्य समझाते हुए लिखते हैं कि—

धर्मेण च द्रव्यवृद्धावातिष्ठेद् यत्नमुत्तमम्। दद्याच्च सर्वभूतानामन्नमेव प्रयत्नतः॥

—मनु० ९। ३२६

अर्थात् वैश्य धन (भोजनादि सामग्री) को बढ़ाकर प्रयत्न से प्राणिमात्र को अन्न पहुँचावे।

वैश्य को उचित है कि जो मनुष्य बर्फ़ानी स्थानों में पड़े हुए हैं उनको गोमेध यज्ञ के द्वारा नवीन-नवीन टापुओं की अनुर्वरा भूमि को उर्वरा बनाकर बसावे और जहाँ कहीं जिस पदार्थ की आवश्यकता हो, वहाँ वह पदार्थ पहुँचावे। इस काम के लिए, अर्थात् सवारी और बोझ उठाने के लिए पशुओं और नावों तथा जहाज़ों की आवश्यकता होती है। नावों की आवश्यकता चाहे कभी-कभी हो पर पशु तो नित्य ही काम आते हैं। इसीलिए आर्यव्यापार में पशुरक्षा का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। वेद में लिखा है—

एता धियं कृणवामा सखायोऽप या माताँ ऋणुत व्रजं गोः।
यया मनुर्विशिशिप्रं जिगाय यया वणिग्वङ्कुरापा पुरीषम्॥ —ऋ० ५। ४५। ६

अर्थात् मित्रो! आओ गौवों में बड़े-बड़े गोष्ठ बनाने का उद्यम करें। यह उद्यम माता के समान है। इसी से मनुष्य शत्रुओं को जीत सकता है और इसी से उत्कण्ठावान् वणिक् प्रत्येक प्रकार के रस को प्राप्त होते हैं।

इस मन्त्र में गौवों के बड़े-बड़े गोष्ठ बनाना ही उद्यम बतलाया है। गौ-गोष्ठों में बड़े-बड़े

बैल तैयार होते हैं जो लाखों मन अन्न-वस्त्र एक देश से दूसरे देश में पहुँचाते हैं। इस प्रकार के पवित्र उद्देश्य से प्रेरित होकर केवल प्राणियों को अन्न पहुँचाने के लिए जो व्यापार किया जाता है, उसमें भी सोने-चाँदी के सिक्कों की आवश्यकता नहीं होती। व्यापार में सोने-चाँदी का पचड़ा लगाने से तो कभी उन देशों को अन्न मिल ही नहीं सकता जिनके पास सोना-चाँदी नहीं है। इस सिद्धान्तानुसार तो यदि अरबों के पास सोना न हो तो उनको ईरानवाले अन्न देंगे ही नहीं, चाहे भले समस्त अरबस्तान भूख से मर जाए, परन्तु जो व्यापारी अरबों की प्राणरक्षा के लिए वहाँ अन्न भेजेगा वह ऐसी शर्त न लगावेगा कि हमें सोना दो तभी हम अन्न देंगे, प्रत्युत वह तो यदि वहाँ सूत, ऊन अथवा इमारत की लकड़ी ही पाएगा तो लौटते समय वही लेता आएगा और उसी में विनिमय समझ लेगा। यदि यह भी न मिलेगा तो अपना माल दूसरे साल के लिए खजूर के बयाने में उनकी साख पर दे आएगा, इसलिए दूर देशों के व्यापार में भी सोने-चाँदी के सिक्के की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती।

अब रही बात वर्त्तमान सम्पत्तिशास्त्रियों के तैयार किये हुए माल की। ये लोग कोई ऐसा माल तैयार नहीं करते जो मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हो। ये खाद्य पदार्थ तैयार करके भेजते ही नहीं। हाँ, कपड़े भेजते हैं, परन्तु वे कपड़े शरीफ़ आदमियों के पहनने के योग्य नहीं होते। उनमें शृङ्गार, विलास और व्यभिचार की दुर्गन्ध निकलती है, इसलिए वे उतने ही त्याग के योग्य हैं जितना कि एक कुलवधू के लिए वेश्या की मैत्री का त्याग आवश्यक है। इन दो पदार्थों के सिवा मनुष्य के जीने के लिए संसार में और आवश्यकता ही किस वस्तु की है? इसलिए इनका तैयार किया हुआ माल अर्थ नहीं कहला सकता। वह तो अनर्थ है और काम के बढ़ानेवाला, दूसरे देश का धन चूसनेवाला और प्राणिमात्र को जीते-ही-जी जलानेवाला है, इसीलिए महाराज मनु ने ऐसे शिल्पियों पर राजा को कड़ी निगाह रखने की आज्ञा दी है। वे कहते हैं कि—

असम्यक्कारिणश्चैव महामात्राश्चिकित्सकाः। शिल्पोपचारयुक्ताश्च निपुणः पण्ययोषितः॥
एवमादीन्विजानीयात्प्रकाशांल्लोककण्टकान्। निगूढचारिणश्चान्याननार्यानार्यलिङ्गिनः॥

—मनु० ९। २५९, ६०

अर्थात् बुरे कर्म करनेवाले, उच्च कर्मचारी, वैद्य, मारन-मोहन करनेवाले ठग, शिल्पी, वेश्यादि में रहनेवाले और आर्यरूप धारण किये हुए अनार्यों पर राजा दृष्टि रक्खे।

यहाँ शिल्पियों की किस प्रकार के लोगों के साथ गिनती की गई है और चोरों की भाँति उनकी निगरानी करने की आज्ञा दी गई है। इसका कारण यही है कि शृङ्गार बढ़ानेवाले विलासी पदार्थ तैयार न हों। कहने का भाव यह कि पूँजी से सम्बन्ध रखनेवाली कम्पनी की सिक्का और शिल्पसम्बन्धी नीति नितान्त अशुद्ध है।

सम्पत्ति के उत्पन्न करनेवाले इस प्रधान साधन—कम्पनी को राज्यबल की भी आवश्यकता रहती है। राज्यबल से दो लाभ होते हैं। एक तो कम्पनियों को दूसरे देशों में माल ख़रीदने और बेचने में अपने राजा के सैनिक दबदबे के कारण किसी प्रकार की रुकावट नहीं होती और दूसरे अपने राजा की सहायता से यान्त्रिक कला और विज्ञान में उन्नति होती है, जिसके द्वारा शृङ्गार और विलास के बढ़ानेवाले पदार्थ सस्ते और शीघ्र तैयार होते हैं तथा युद्ध को सफल बनानेवाले नाना प्रकार के यन्त्र, गैस और यान भी तैयार होते हैं जो दूसरे देशों को भयभीत किये रहते हैं। आजकल के शासन का प्रधान ध्येय यही है। इसलिए आजकल का अर्थशास्त्र, राजनैतिक अर्थशास्त्र, अर्थात् पोलिटीकल एकॉनॉमी कहलाता है। इस राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र के द्वारा

मनुष्यों के जीवन शृङ्गार और विलासमय बनाये जाते हैं और कामुकता का प्रचार किया जाता है। जहाँ देखो, वहीं नाना प्रकार की शराबों की दूकानें, चाह, गाँजा, अफ़ीम और चण्डू की दूकानें, सिगरेट और तम्बाकू की दूकानें, वेश्याओं की दूकानें, जुए (सट्टे) की दूकानें और कामोद्दीपक तथा व्यभिचार के बढ़ानेवाले वस्त्रों, यन्त्रों और ओषधियों की दूकानें सबकी आँखों के सामने लगी हैं। सबके सामने जीवित प्राणियों के अण्डे और मांस के ढेर बिक रहे हैं, परन्तु कोई मना करनेवाला नहीं है। यह तो प्रतिदिन देखने में आता है कि सादगी और समता का प्रचार करनेवाले जेलों में बन्द किये जा रहे हैं, परन्तु यह देखने में नहीं आता कि जिन वेश्याओं ने अपने ज़हर (गर्मी, सूज़ाक) से लाखों मनुष्यों को सड़ाकर कोढ़ी बना दिया है अथवा जिन दुराचारी पुरुषों ने लाखों निरपराध गृहदेवियों को उसी ज़हर से सड़ा डाला है, उनपर एक रुपया जुर्माना भी हुआ हो ? यह दशा किसी एक ही देश या जाति की नहीं है प्रत्युत सारी पृथिवी की शासनप्रणाली आजकल प्राय: इसी ढंग की हो रही है। इसका कारण यही है कि आजकल शासन और व्यापार का उद्देश्य उत्तम मनुष्य बनाना और उन्हें भूख से बचाना नहीं है, किन्तु सबको विलासी बनाकर संसार का सुवर्ण अपने पास जमा करना है और दूसरों को दास बनाना है, इसलिए न तो यह सम्पत्ति शुभ कामनावाली ही है और न इस प्रकार की राज्यप्रणाली ही उत्तम है। ऐसी राज्यप्रणाली से तो वह प्रजा लाख दरजे अच्छी है जो बिना राजा के हैं। समुद्र के अनेक टापुओं में जहाँ बिना राजा के मनुष्य बसते हैं जंगली दशा में भी सुख की नींद सोते हैं। उन्हें यह भय नहीं है कि सवेरा होते ही हमें तोप के मुँह लड़ना पड़ेगा अथवा कल हमारा शहर उड़ाया जाएगा—बम्बार्डमेंट किया जाएगा। उन्हें यह तो चिन्ता नहीं है कि जब तक मिल (पुतलीघर) न खोली जाएँ और बैंकों की प्रतिष्ठा न हो तब तक हमारा जीवन व्यर्थ है। उन्हें किसी देश की उत्तम दशा पर ईर्ष्या और डाह तो नहीं है ? वे मनुष्य-जैसे प्राणी के नाश करने का उपाय तो नहीं सोचते ? इसलिए जिन राज्यों में शान्ति नहीं, सुख नहीं, मनुष्यों के प्रति दया नहीं, परस्पर प्रेम नहीं और सहानुभूति नहीं उन राज्यों से तो किसी रेतीले मैदान में बालू खाकर रहना अच्छा है। पृथिवी पर अब भी सैकड़ों स्थान ऐसे हैं जहाँ लोग राजा का नाम तक नहीं जानते, परन्तु क्या वहाँ के लोग पूर्ण आयु नहीं जीते ? अवश्य जीते हैं। राज्यहीन जितने जंगली मनुष्य हैं वे वहाँ की प्रजा से अधिक दीर्घायु, बलवान् और प्रसन्नवदन होते हैं, जहाँ राज्यशासन प्रचलित है।

ऐसी प्रचलित राज्यशासनप्रणाली में अधूरी आयु जीनेवाले नागरिक सिवा अस्पतालों की दवा पी-पीकर आधी आयु जीने के और क्या करते हैं और बड़े-बड़े महलों में तकिया गद्दी पर कराह-कराह कर आधी नींद सोने के सिवा और क्या बना पाते हैं ? इसलिए हम कहते हैं कि राज्यशासनप्रणाली वही ठीक है जिसका उद्देश्य मानवजीवन को शान्ति देनेवाला हो, परन्तु उपर्युक्त राजनैतिक अर्थशास्त्र के कारण राष्ट्र में एक भी व्यक्ति शान्ति से एक दिन भी नहीं बैठ सकता। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे राज्यों से बचने के लिए अथवा उनसे बाज़ी मारने के लिए व्यग्र रहता है। एक विज्ञानवेत्ता से लेकर साधारण कुलीपर्यन्त इसी व्यथा से पीड़ित रहता है और इसी के कारण संसार में कहीं-न-कहीं युद्ध की आग धधका करती है, अत: इस प्रकार की शासनप्रणाली से संसार में कभी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती। जहाँ वैर-विरोध है वहाँ चैन कहाँ हो सकता है। वह मनुष्य सुख की नींद कैसे सो सकता है, जिसने अनेक शत्रु बना रक्खे हैं और वह मनुष्य शान्त कैसे हो सकता है जिसने अपने जीवन को कलहमय बना रक्खा है, इसलिए इस शासनप्रणाली को छोड़कर देखना चाहिए कि वैदिक शासनप्रणाली के अनुसार राजा की क्या आवश्यकता है ?

संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं, एक विद्वान् दूसरे मूर्ख। विद्वानों के लिए राज्यशासन

की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि विद्वान् कभी शारीरिक शासन से—दण्ड से क़ाबू में नहीं आ सकते। वे अपने ज्ञानचातुर्य से राज़ा के दबदबे को ढीला कर देते हैं, इसलिए राज्यशासन उन्हीं मूर्ख और उद्दण्ड मनुष्यों के लिए हैं, जो अत्याचारी हैं और जिनके पापकर्मों को सब लोग देख सकते हैं। उन्हीं के दमन करने की आवश्यकता भी है और उन्हीं का दमन हो भी सकता है, किन्तु जो विद्वान् हैं और अपने बुद्धिकौशल से पाप कर्म कर रहे हैं, उनका दमन राजा नहीं कर सकता, इसलिए राजा की आवश्यकता केवल उद्दण्ड, मूर्ख और अत्याचारी, राक्षसों पर ही शासन करने के लिए है, इसीलिए मनुस्मृति में कहा गया है कि—

यस्य स्तेनः पुरे नास्ति नान्यस्त्रीगो न दुष्टवाक्।
न साहसिकदण्डघ्नौ स राजा शक्रलोकभाक्॥ —[मनु० ८।३८६]

अर्थात् जिस राजा के राज्य में चोर, व्यभिचारी, दुष्टवाक्य बोलनेवाला, साहसी और दण्ड का न माननेवाली नहीं होता, वही राजा इन्द्र के समान राज्य करता है।

आर्यराज्य का यह काल्पनिक आदर्श नहीं है, प्रत्युत राजा अश्वपति कहते हैं—

न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ —छान्दोग्य उपनिषद् [५।५]

अर्थात् मेरे राज्य में न चोर हैं, न कंजूस हैं, न मद्यपान करनेवाले हैं, न अग्निहोत्र न करने-वाले हैं, न मूर्ख हैं, न व्यभिचारी हैं और न व्यभिचारिणी हैं।

यथार्थ शासन का यही आदर्श है। इसी प्रकार के शासन से दुष्ट मनुष्यों का दमन होता है। शृङ्गारप्रिय और विलासी मनुष्य ही प्रायः शराबी और व्यभिचारी होते हैं। यही कारण है कि आर्यशासन ने विलास और कामुकता की जड़ नशा और व्यभिचार को ही बता दिया है, किन्तु आज हम देख रहे हैं कि राजनैतिक सम्पत्ति बढ़ाने के लिए राज्यशासन के दबदबे से शराब और वेश्याओं की वृद्धि करनेवाले शृङ्गारिक पदार्थों का प्रचार किया जा रहा है, इसलिए सम्पत्ति उत्पन्न करनेवाला यह राज्यबलरूपी साधन भी मनुष्यस्वभाव के विरुद्ध ही है। यह मनुष्यजाति को सुख देनेवाला नहीं, प्रत्युत कामी बनाकर अकालमृत्यु के मुख में ले-जानेवाला है।

अब रही बात सम्पत्ति बढ़ाने में सहायता देनेवाली तीसरी वस्तु जातीयता की। जातीयता को अंग्रेज़ी में नेशनेलिटी कहते हैं। यह लोगों को युद्धों में मरने और दूसरों को मारने के लिए तैयार करती है। यह न हो तो कोई मनुष्य युद्ध में मरने के लिए तैयार ही न किया जाए। जातीयता के भाव से प्रेरित होकर ही एक प्रजा दूसरी प्रजा के साथ युद्ध करने के लिए तैयार होती हैं और जो युद्ध इस प्रकार की भावनावाली प्रजा के द्वारा होते हैं उन युद्धों में प्रायः विजय होती है, इसीलिए राजनैतिक व्यापार में युद्ध के लिए सहायक इस जातीयता की आवश्यकता होती है, परन्तु यह जातीयता भी मनुष्यस्वभाव और सृष्टिनियम के विरुद्ध ही है, क्योंकि समस्त संसार के मनुष्य एक ही वंश और एक ही जाति के हैं, इसलिए इस एक जाति को कल्पनाभेद से अनेक जातियों में बाँटकर कलह पैदा करना उचित नहीं है।

जातीयतावाले जो कहते हैं कि जिसका एक धर्म, एक भाषा, एक रंग-रूप और एक राजा हो, वह जाति है, परन्तु यह ठीक नहीं है। इस लक्षण में दोष है। हम देखते हैं कि रूस में कई धर्म, कई भाषा और कई रंग-रूप के आदमी हैं, परन्तु वे सब एक ही जाति में संगठित हैं। इसी प्रकार अन्य जातिओं में भी अनेक प्रकार के विषम भेद विद्यमान हैं, इसलिए यह जाति का लक्षण ठीक नहीं है। हाँ, जाति का यह एक लक्षण ठीक प्रतीत होता है कि समान स्वत्व प्राप्त एक शासन में आबद्ध जनता एक जाति है, किन्तु यह लक्षण भी दोषपूर्ण है। भारतवर्ष में हिन्दू,

मुसलमान, बौद्ध और ईसाई सभी समान स्वत्व प्राप्त एक शासन में आबद्ध हैं, परन्तु इतना होने पर भी इंग्लैंड के शासक कहते हैं कि भारतवर्ष में एक जाति अथवा एक ही जातीयता—नेशनेलिटी नहीं है। कहने का तात्पर्य जाति से सम्बन्ध रखनेवाले जितने लक्षण किये गये हैं वे सब कृत्रिम और अस्तव्यस्त हैं। जाति का सबसे उत्तम लक्षण तो **'समानप्रसवात्मिका जातिः'** है। जिसका तात्पर्य यही है कि समान प्रसव, अर्थात् जिस नर और नारी से सन्तान उत्पन्न हो वही जाति है। संसार के समस्त नर-नारी परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध से सन्तान उत्पन्न कर सकते हैं, अतएव संसार के समस्त मनुष्यों की एक ही जाति है, अतः इस सृष्टिनियम और प्रत्यक्ष लक्षण के होते हुए एक जाति में अनेक जाति की कल्पना करके परस्पर के राग-द्वेष से संसार को अशान्त करना उचित नहीं है।

बड़े-बड़े विचारशील विद्वानों का विश्वास है कि संसार की अशान्ति का कारण जातीयता ही है। इस जातीयता के ही कारण दूसरी जाति के मनुष्य मिट्टी और कंकड़ के बराबर समझे जा रहे हैं और इस जातीयता के ही कारण खण्ड राज्यों की जड़ जमी हुई है। यदि संसार में जातीयता का झगड़ा मिट जाए तो खण्ड राज्यों का क्रम एक क्षण में मिट जाए और आर्यसभ्यतावाला आदर्शराज्य—चक्रवर्ती सार्वभौम राज्य स्थापित हो जाए और स्वजाति-अभिमान और परजाति-अपमान का बीज संसार से लुप्त हो जाए, क्योंकि जिसमें स्वजाति अभिमान होता है उसमें विजाति अपमान के अङ्कुर स्वभावतः होते ही हैं और विजाति-अपमान में स्वजातिपक्षपात का होना स्वाभाविक ही है। यही राग-द्वेष की जड़ है, यही स्पर्धा—कम्पिटीशन की जननी है, यही यन्त्रों की उत्तेजक है और यही भयङ्कर युद्धों की आग सुलगानेवाली है, इसलिए जहाँ तक हो जातीयता का शीघ्र नाश होना चाहिए।

आर्यसभ्यता न जाने कब से **'उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्'** का पाठ पढ़ाती है और बतलाती है कि उदार पुरुषों के निकट तो समस्त संसार एक ही कुटुम्ब के समान है। यही कारण है कि प्राचीन समय के आर्यों में इस प्रकार की जातीयता न थी। वे भले और बुरों की दो ही जातियाँ मानते थे, जिन्हें आर्य और दस्यु कहते थे। आर्य अच्छों का और दस्यु बुरों का नाम था, किन्तु बुरे सदैव बुरे ही नहीं रहते थे। समय पाकर शिक्षा के द्वारा वे भी आर्य हो जाते थे और अशिक्षित तथा असंस्कारी रह जाने से आर्य भी दस्यु हो जाते थे।

आर्यकाल में कभी जातियों का इस प्रकार पृथक्-पृथक् संगठन नहीं हुआ था, क्योंकि आर्यलोग इस जातीयता की बुराई को जानते थे। वे समझते थे कि जातीयता मनुष्यों में सबसे पहले अन्याय पैदा कराती है। वह अपनी जाति का अनुचित पक्षपात कराती है और विजाति पर अनुचित अत्याचार करने के लिए तैयार करा देती है। इससे अभिमान की सृष्टि होती है और दूसरों का अपमान करने की सूझती है, इसलिए यह सर्वदा त्याग के ही योग्य है। इसके त्याग का सबसे उत्तम उपाय यह है कि समस्त मनुष्य एक ही राज्यशासन की प्रजा बन जाएँ। यद्यपि सादे और समान जीवन से भी परस्पर का द्वेषभाव छूट जाता है, विवाह-सम्बन्ध भी पारस्परिक द्वेष को नष्ट कर देता है, एक भाषा और एक धर्म भी इसके हटाने में सहायक होते हैं और इसी प्रकार की प्रायः सभी ऐक्यताओं का प्रचार करने से सारा अनैक्य दूर हो सकता है तथापि समस्त मनुष्यजाति को एक राजा की प्रजा हो जाना सब एकताओं का मूल है। इसी के स्वीकार करने से उपर्युक्त समस्त ऐक्यताएँ आपसे-आप उत्पन्न हो जाती हैं, इसीलिए वेदों में चक्रवर्ती राज्य के लिए अनेक प्रार्थनाएँ की गई हैं। वे प्रार्थनाएँ केवल जगत् में शान्ति स्थापित करने के लिए ही हैं, क्योंकि मनुष्यसमाज कभी शान्त नहीं रह सकता जब तक वह एक ही राजा की प्रजा न हो जाए।

जहाँ देशभेद है, जहाँ कुलभेद है, जहाँ धर्म, भाषा और रंग का भेद है वहाँ कभी शान्ति रह ही नहीं सकती, किन्तु सार्वभौम एक राज्य की स्थापना से ही सारे विरोध दूर हो जाते हैं। प्राचीन काल में जब तक आर्यराजा पृथिवी में सार्वभौम राज्य करते रहे तब तक परस्पर सहानुभूति रही और समस्त मनुष्य एक-दूसरे को मित्र समझते रहे, किन्तु आर्यराज्य के नष्ट होते ही समस्त मनुष्यज्ञाति कलह-पीड़ित हो गई, इसीलिए वेद में सार्वभौम राज्य से ही सुख बतलाया गया है। यजुर्वेद ५। २४ में लिखा है कि **'स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्याभिमातिहा जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा'**, अर्थात् स्वराज्य शत्रु का नाशक है, सत्रराज्य दुःखों का नाशक है, जनराज्य राजा का नाशक है और सर्वराज्य शत्रु का नाशक है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि सर्वराज्य से अमित्र—शत्रु उत्पन्न नहीं होते। जब कोई अमित्र ही नहीं है—सब मित्र-ही-मित्र हैं तब दुःखों का कहीं पता नहीं लग सकता। इसलिए खण्डराज्यों की घृणित जातीयता से उत्पन्न हुआ राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र नितान्त अशुद्ध है।

यहाँ तक हमने वर्त्तमान राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र के समस्त विभागों और उपविभागों की आलोचना करके देखा। इस आलोचना से स्पष्ट सूचित होता है कि यह सम्पत्तिशास्त्र नहीं, किन्तु कामशास्त्र है और अर्थशास्त्र नहीं किन्तु अनर्थशास्त्र है। अर्थ और सम्पत्ति का प्रधान विषय तो भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी ही होना चाहिए, जिसका केवल शरीर-रक्षा से सम्बन्ध है, किन्तु इस राजनैतिक सम्पत्तिशास्त्र का उद्देश्य काम्य पदार्थों का प्रचार करना है, जिससे मनुष्य की मानसिक शक्ति दूषित होती है और मनुष्य सब प्रकार से पतित हो जाता है, इसलिए यह कामशास्त्र अर्थशास्त्र कहलाने का पात्र नहीं है।

आज संसार में काम्य पदार्थों की वृद्धि के कारण साधारण मनुष्यों के मन सर्वथा निर्बल हो गये हैं और बिना ग़रीबी के ही वे अपने को ग़रीब मानने लगे हैं। उनके घर खाने को अन्न है, पीने को दूध है, पहनने को सादी धोती है और रहने के लिए मकान भी है, परन्तु सोडावाटर, सिगरेट, चाय और शराब के अभाव से वे अपने को ग़रीब मान रहे हैं। बिना कलाबत्तूदार साफ़े और बिना कश्मीरी शाल के वे अपने को ग़रीब मान रहे हैं। बिना ट्रङ्क के, बिना काच के गिलास और लैम्प के तथा बिना अन्य इसी प्रकार की व्यर्थ वस्तुओं के वे अपने को ग़रीब मान रहे हैं। ऐसी दशा में यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि अर्थ के नाम से अनर्थ, अर्थात् काम्य पदार्थों को सामने लाकर सीधे-सादे भद्र मनुष्यों को ग़रीबी और कंगाली के काल्पनिक और मिथ्या सन्ताप का शिकार बना दिया गया है। जहाँ देखो वहीं लोग शोभा, शृङ्गार और विलास के बढ़ानेवाले पदार्थों के ख़रीदने में अपनी गाढ़ी कमाई नष्ट कर रहे हैं और फिर भी अपने को ग़रीब मान रहे हैं, अतः इस पाप-परम्परा के सबसे बड़े दोषी वे हैं जो इनको ख़रीद कर उपयोग में लाते हैं और दूसरे लोगों को ललचाते तथा उनको भी यह विष ख़रीदने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार इन सबमें सबसे बड़ा अपराधी पड़ोसी ही ठहरता है जो दूसरे पड़ोसी पर इस विष का प्रभाव डालता है।

इसलिए कहना पड़ता है कि मनुष्यों की चिन्ता का अधिकांश भाग काल्पनिक है। वे अपनी मिथ्या कल्पना और मूर्खता से ही दुःखी हो रहे हैं। हमारे पास पड़ोसी का-सा मकान नहीं है, उसके-से आभूषण और वस्त्र नहीं हैं, उसकी-सी सवारी और नौकर नहीं हैं और उसका-सा हमारा साज-सामान नहीं है। इस प्रकार की कल्पनापूर्ण असमानता से बढ़ी हुई रुचि के मिथ्या स्वप्न से मनुष्य रात-दिन चिन्तित और दुःखी हो रहे हैं। एक मनुष्य चाहे जितना धन प्राप्त कर ले, परन्तु वह अपने से बड़े पड़ोसी का आदर्श सामने लाकर और उसके साथ बाज़ी मारने की

धुन में सब आय बनाव-चुनाव में ही ख़र्च कर देता है और फिर भी अपने को ग़रीब ही समझता रहता है। यही काल्पनिक दु:ख है।

इस काल्पनिक दु:ख के अतिरिक्त रिवाजों का दु:ख और है जो इससे भी अधिक भयङ्कर है। कल लड़के का मुण्डन है, यज्ञोपवीत है, ब्याह है अथवा श्राद्ध करना है या गया और जगन्नाथ आदि का ब्रह्मभोज करना है और इसमें भी पड़ोसी से आगे दौड़ लगानी है। ये रिवाजी दु:ख हैं जो काल्पनिक दु:खों के साथ मिलकर मनुष्य को ज़िन्दा ही जला डालते हैं। काल्पनिक और रिवाजी दु:खों के अतिरिक्त स्वभावगत दु:ख और हैं जो इन दोनों से भी अधिक दु:खदायी हैं। प्रतिदिन हलवा और मलाई खाने की आदत है, क्योंकि अफ़ीम खाते हैं। यदि रात को तनिक-सी शराब न पीलें तो सुबह दस्त ही साफ़ न हो। बिना गाना सुने, बिना मेला-ठेला देखे और बिना थियेटर सिनेमा की सैर किये दिल ही नहीं मानता—तबीयत ही नहीं लगती ये स्वभावगत दु:ख हैं। इस प्रकार से ये सभी दु:ख बुरी सङ्गत और देखने-दिखाने से उत्पन्न होते हैं। इन देखने और दिखानेवाले व्यर्थ के ख़र्चों में ही बेहिसाब धन नष्ट होता है, मन का पतन होता है और धन की चिन्ता, मन की गिरावट और तन की बरबादी से मनुष्य तथा मनुष्यसमाज का नाश हो जाता है—उसका लोक-परलोक बिगड़ जाता है, इसलिए जहाँ तक हो इस अनर्थकारी और शृङ्गारमयी काम्य सामग्री को कभी आँख से भी न देखना चाहिए, क्योंकि इस कामुकता और शृङ्गारप्रियता ने बनाव-चुनाव, शोभा-शृङ्गार और ठाट-बाट के काल्पनिक आडम्बर के द्वारा मनुष्यों में असमानता और ईर्ष्या-द्वेष उत्पन्न करा दिया है, कामजात यन्त्रों ने पशुओं को निकम्मा बनाकर उन्हें क़त्लख़ानों की ओर बढ़ा दिया है और शृङ्गारोत्पादक—रुई, पाट, चाय और तम्बाकू आदि की खेती ने जंगलों का नाश कर दिया है और खड़ी, आड़ी तथा उलटी सृष्टि के तीनों विभागों में भयङ्कर क्षोभ उत्पन्न कर दिया है।

खड़े शरीरवाले मनुष्यों की निम्नश्रेणी ने अनारकिज़्म उत्पन्न कर दिया है और चारों ओर साम्यवादजात युद्ध का भीषण हुंकार सुनाई पड़ता है। इसी प्रकार आड़े शरीरवाले पशुओं की निम्नश्रेणी—कृमियों ने भी अनारकिज़्म उत्पन्न कर दिया है और हैज़ा, प्लेग, इन्फ़्लुएंज़ा तथा लाखों बीमारियों के जर्म्स बनकर विलासी और नागरिक मनुष्यों का संहार करना शुरु कर दिया है। जिस प्रकार इन दोनों विभागों ने विलासी और नागरिक मनुष्यों के संहार का आरम्भ कर दिया है उसी प्रकार वृक्षों ने भी भयङ्कर अनारकिज़्म आरम्भ कर दिया है। हम प्रतिदिन समाचार-पत्रों में पढ़ते हैं कि जंगलों में मनुष्यों और पशुओं को पकड़-पकड़कर खा जानेवाले वृक्षों की वृद्धि हो रही है, अतएव स्पष्ट लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं कि यदि मनुष्यों ने शीघ्र ही विलासमय जीवन का परित्याग करके सादा, तपस्वी और ब्रह्मचारी जीवन बनाना आरम्भ न कर दिया तो वह दिन दूर नहीं है जब समस्त कामी जनसमाज साधारण लोगों और साधारण कृमियों के द्वारा नष्ट हो जाएगा, सर्वभक्षी वृक्षों के द्वारा जंगलों में कोई जी न सकेगा और एक बार इस वर्त्तमान उपद्रवी सृष्टि का संहार हो जाएगा। इसलिए समस्त मनुष्यों को उचित है कि वे काम्य पदार्थों का मोह छोड़कर सीधे-सादे आर्यजीवन के द्वारा, अर्थ, काम और मोक्ष में सामञ्जस्य उत्पन्न करनेवाले वैदिक धर्म को स्वीकार करें और आर्यसभ्यता के अनुसार व्यवहार करें, जिससे संसार के प्राणिमात्र का कल्याण हो और समस्त दु:खों का नाश हो जाए।

धर्म की प्रधानता

धर्म बुद्धि, अर्थात् विद्या और ज्ञान का विषय है, इसलिए आर्यसभ्यता के चारों महान् स्तम्भों में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। जिस प्रकार मोक्ष मर्यादित अर्थ के अधीन है और

मर्यादित अर्थ काम के अधीन है उसी तरह काम को मर्यादित करके उसको अर्थ और मोक्ष के अनुकूल बनाना धर्म के ही अधीन है। धर्म ही ऐसा है जो निरङ्कुश काम को मर्यादित करके मोक्ष और अर्थकाम के मध्य में सामञ्जस्य उत्पन्न करा सकता है और धर्म ही ऐसा है जो अच्छी प्रकार बतला देता है कि धर्मपूर्वक अर्थ और काम का उपयोग करने से ही मोक्ष सुलभ हो सकता है और धर्मपूर्वक मोक्ष का अनुष्ठान करने से ही अर्थ-काम के ग्रहण करने में सुविधा हो सकती है, अर्थात् धर्मानुसार जीवन बनाने से ही लोक और परलोक दोनों में सुख प्राप्त हो सकता है, इसीलिए धर्म का लक्षण करते हुए वैशेषिक दर्शन में कणादमुनि कहते हैं कि **'यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'**, अर्थात् जिससे अर्थकामसम्बन्धी लोकसुख की और मोक्षसम्बन्धी परलोकसुख की सिद्धि हो वही धर्म है। धर्म का यह लक्षण बहुत ही व्यापक है, परन्तु इस सूत्र में आये हुए अभ्युदय शब्द से यह न समझ लेना चाहिए कि इस शब्द का तात्पर्य लोक का वर्त्तमान नागरिक ऐश्वर्य है। यहाँ अभ्युदय से तात्पर्य केवल उतने ही अर्थ और काम से है कि जितने के ग्रहण करने से शरीर-यात्रा और मनस्तुष्टि का निर्वाह हो जाए और अर्थकाम में आसक्ति उत्पन्न न हो। भगवान् मनु स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते। धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥[1]

अर्थात् जो लोग अर्थ और काम में अनासक्त हैं—फँसे नहीं हैं, यह धर्मज्ञान उन्हीं के लिए कहा गया है और इस धर्मज्ञान की इच्छा करनेवालों के लिए वेद ही परम प्रमाण है।

यहाँ स्पष्ट हो गया कि अभ्युदय का तात्पर्य लोकनिर्वाहमात्र ही है और लोकनिर्वाहमात्र ही वेदनुकूल धर्म है, इसीलिए धर्म की मीमांसा करते हुए जैमिनिमुनि मीमांसादर्शन में कहते हैं कि **'चोदना लक्षणो अर्थो धर्मः'**,[2] अर्थात् वेद की आज्ञा ही धर्म है। आर्यों ने अपने धर्म और सभ्यता को वेद की शिक्षा के अनुसार ही स्थिर किया है, इसलिए धर्मपूर्वक अभ्युदय का यही अभिप्राय है कि संसार से उतना ही अर्थ-काम लिया जाए जिससे मोक्ष को सहायता मिले। यही धर्म का लक्षण है। इसी धर्म के लिए वेदव्यास कहते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष नहि कश्चिच्छ्रणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥ —महाभारत [स्वर्गा० ५।६२]

अर्थात् मैं हाथ उठाकर चिल्ला रहा हूँ कि अर्थ और काम को धर्मपूर्वक ही ग्रहण करने में कल्याण है, परन्तु इसे कोई नहीं सुनता।

कहने का तात्पर्य यह कि धर्म वह नियम है, जिसके अनुसार व्यवहार करने से लोक और परलोक दोनों में सामञ्जस्य उत्पन्न हो जाता है और अर्थ, काम और मोक्ष सरलता से मिल जाते हैं, किन्तु धर्म का नाम सुनकर प्रायः आधुनिक विद्वान् नाक-भौंह चढ़ाने लगते हैं। वे कहते हैं कि इस पुराने खूसट (धर्म) को इस नई रोशनी के ज़माने में कहाँ लिये फिरते हो। देखो, समस्त वैज्ञानिक जगत् धर्म की संकीर्णता से निकलकर नवीन विचारों की शीतल छाया में आ रहा है। देखो, रूसराज्य से सदैव के लिए धर्म का नाम बिदा कर दिया गया है और देखो, धार्मिक मनुष्यों की कैसी दुर्दशा हो रही है। ऐसी दशा में फिर उसी धर्म का नाम लेकर सुलझे हुए विचारों में उलझन पैदा करना अच्छा नहीं है।

हम कहते हैं कि बिलकुल सत्य है। धर्म ऐसी ही रद्दी वस्तु है, अतएव उसका नाम लेना उचित नहीं है, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि हम जिस धर्म की चर्चा करना चाहते हैं यह वह

---

१. मनु० २।१३ २. मीमांसा० १।१।२

धर्म नहीं है जिसको नवीन मस्तिष्कों ने निकम्मा समझकर निकाल बाहर कर दिया है, प्रत्युत यह वह धर्म है जिसके बिना प्राकृतिक विज्ञान और राजनीति के विचार एक पग भी आगे नहीं चल सकते। हमें दु:ख है कि आजकल सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों ने धर्म शब्द की बहुत बड़ी बदनामी कर रक्खी है, परन्तु वास्तव में धर्म शब्द का अर्थ सम्प्रदाय अथवा मत-मतान्तर नहीं है। धर्म शब्द का अर्थ तो वे नियम हैं जिनके अनुसार व्यवहार करने से लोक और परलोक दोनों सुधर जाएँ। लोक सुधरने का यही अभिप्राय है कि आवश्यकता के अनुसार संसार से इतना ही अर्थ और काम ग्रहण किया जाए जिससे अपनी आयु के लिए भोग मिल जाएँ और किसी प्राणी की आयु और भोगों में कमी उत्पन्न न हो और परलोक सुधरने का यही अभिप्राय है कि सृष्टि के कारणों का ज्ञान उत्पन्न हो जाए, जिससे अर्थ और काम का निर्णय हो सके और सृष्टि के कारणों के भी कारण परमात्मा के साक्षात् से जन्म-मरण का चक्कर छूट जाए और मोक्ष हो जाए। आर्यधर्म का यही तात्पर्य है। क्या कोई भी विज्ञानवेत्ता सृष्टि के कारणों के जानने की जिज्ञासा को कभी एक क्षण के लिए भी बन्द कर सकता है और क्या सृष्टि के कार्यकारण भाव की जाँच का ही नाम साइंस नहीं है? साथ ही क्या कोई भी राजनीतिज्ञ एक क्षण के लिए भी अपने पास से इस विचार को हटा सकता है कि किस प्रकार अर्थ और काम का बटवारा किया जाए और किस प्रकार मनुष्य अपना रहन-सहन बनाए? यदि साइंस और राजनीति में ये दोनों बातें अपना विशेष स्थान रखती हैं तो आर्यधर्म का मोक्षप्रकरण, जिसमें सृष्टि के कारणों का जानना आवश्यक है और आर्यधर्म का अर्थकामप्रकरण, जिसमें प्राणियों के भोगों का बटवारा करना आवश्यक है कैसे विज्ञान और राजनीति के विपरीत हो सकता है और कैसे कोई भी समझदार व्यक्ति या समाज इससे उदासीन रह सकता है? वैदिक धर्म वह धर्म है जिससे समझदार और विद्वान् मनुष्य उदासीन रह ही नहीं सकते। यही कारण है कि आर्यों ने वेदों की आज्ञानुसार धर्म को बहुत बड़ा महत्त्व दिया है और अर्थ, काम और मोक्ष को उसी के अधीन रक्खा है। वेदों में मोक्ष और अर्थ-काम का सामञ्जस्य करते हुए उपदेश दिया गया है कि—

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ —[यजु:० ३१।१८]
ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ —[यजु:० ४०।१-२]

अर्थात् जो अन्धकार—अज्ञान का नाश करनेवाला, प्रकाशस्वरूप, सृष्टि का कर्त्ता परमेश्वर है उसी के जानने से मोक्ष मिलता है और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इस समस्त जगत् में वह प्रत्येक स्थान पर उपस्थित है, इसलिए उसने सबको देकर जो तुम्हारे लिए निश्चित किया है उसी पर निर्वाह करो—दूसरे के स्वत्व को मत लो। यदि सारी आयु इसी प्रकार कर्म करते हुए जीने की इच्छा करोगे तो निश्चय ही मोक्ष हो जाएगा, इसके अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

उपर्युक्त मन्त्रों में दोनों ही बातें बतला दी गई हैं। पहले मन्त्र में बतला दिया गया है कि संसार के कारणरूप परमात्मा के जानने से ही मोक्ष हो सकता है, दूसरी सूरत नहीं है और दूसरे दो मन्त्रों में बतला दिया गया है कि अपनी यात्रामात्र ही के हिसाब से अर्थ-काम का ग्रहण करो, इसी से मोक्ष हो सकता है, दूसरी सूरत नहीं है, अर्थात् अर्थ, काम और मोक्ष को धर्मानुसार ही ग्रहण करने से मानवजीवन, मानवसमाज और प्राणिसमूह का कल्याण हो सकता है, धर्म के

विपरीत आचरण से नहीं।

इस वैदिक आर्यधर्म के दो विभाग हैं—शुद्धधर्म और आपद्धर्म। शुद्धधर्म का भवन आश्रम-व्यवस्था की नींव पर और आपद्धर्म का भवन वर्णव्यवस्था की नींव पर स्थिर है। जिस समय आश्रमों की सुव्यवस्था होती है—समस्त समाज आश्रमधर्म का पालन करता है, उस समय सर्वत्र शुद्धधर्म का ही व्यवहार होता है, परन्तु जिस समय लोग आश्रमव्यवस्था से स्वयं विचलित हो जाते हैं या कोई दूसरा उन आश्रमियों को सताकर विचलित करना चाहता है तब आपद्धर्म का व्यवहार होता है और वर्णव्यवस्था की प्रधानता हो जाती है। आश्रमव्यवस्था के सबसे बड़े व्यवस्थापक का नाम परिव्राट् है और वर्णव्यवस्था के सबसे बड़े व्यवस्थापक का नाम सम्राट् है। परिव्राट् का काम शुद्धधर्म की व्यवस्था करना है और सम्राट् का काम आपद्धर्म की व्यवस्था करना है। जब शुद्ध धर्म की स्थिरता होती है तब आश्रमों का प्राबल्य हो जाता है और समस्त वर्ण वर्णोचित कामों के न होने से जन्मना स्थिर होकर प्रभाहीन हो जाते हैं, किन्तु जब आपद्धर्म की व्यवस्था होती है तब समस्त आश्रम प्रभाहीन हो जाते हैं और वर्णों का प्राबल्य हो जाता है तथा समस्त वर्ण अपने अपने गुण-कर्म-स्वभावानुसार अपने-अपने काम में लग जाते हैं। शुद्धधर्म के समय में समाज को न सैनिकों की आवश्यकता होती है, न व्यापारियों की आवश्यकता होती है और न शूद्रों की आवश्यकता होती है। उस समय इन तीनों वर्णों का एक प्रकार से तिरोभाव हो जाता है और तीनों वर्ण ब्राह्मण्य होकर चारों आश्रमों में विभक्त हो जाते हैं और एक ही प्रकार के धार्मिक मनुष्यों का समाज बन जाता है जो वेदों के आदेशानुसार धर्मपूर्वक अर्थ और काम को ग्रहण करता हुआ ब्रह्मप्राप्ति में लगा रहता है। इसी ब्रह्मनिष्ट समाज को ब्राह्मण कहा गया है। भारतवर्ष में इस प्रकार का एक युग रह चुका है जब शुद्धधर्म का ही व्यवहार होता था और सब लोग ब्राह्मण ही कहलाते थे। महाभारत में लिखा है कि **'सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्'**,[१] अर्थात् एक समय समस्त संसार में ब्राह्मण-ही-ब्राह्मण थे। उस समय राजन्य आदि वर्णों का तिरोभाव था। महाभारत में ही लिखा है कि—

न वै राज्यं न राजासीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्॥ —[शान्ति० ५९।१४]

अर्थात् उस समय न कोई राज्य था, न राजा था और न कोई दण्ड था न दण्ड पानेवाले पापी ही थे। उस समय तो समस्त प्रजा परस्पर धर्म से ही अपनी रक्षा करती थी।

ऐसे धार्मिक समय में मनुष्य अर्थ-काम में आसक्त नहीं होते और मनु के आदेशानुसार **'शूद्रो ब्राह्मणतामेति'**,[२] अर्थात् शूद्र भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो जाते हैं। यही कारण है कि उस समय किसी प्रकार का कलह भी नहीं होता और न राजा आदि की आवश्यकता ही होती है, इसीलिए धर्म को राजाओं का भी राजा कहा गया है। बृहदारण्यक उपनिषद् १।४।१४ में लिखा है कि **'तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्ति'**, अर्थात् यह धर्म राजा का भी राजा है, इससे बड़ा और कुछ नहीं है। धर्म की इतनी बड़ाई का कारण यही है कि यह बुद्धि का पोषक और विद्या तथा ज्ञान का बढ़ानेवाला है। बुद्धि का पोषक होने से ही यह पापों को उत्पन्न नहीं होने देता, क्योंकि पाप का सूक्ष्म बीज तो पहले मन में ही उत्पन्न होता है, इसीलिए मनु महाराज कहते हैं कि **'मनः सत्येन शुद्ध्यति'**,[३] अर्थात् मन सत्य से ही शुद्ध होता है। सत्यासत्य का

---

१. महा० शान्ति० १८८।१० २. मनु० १०।६५
३. मनु० ५।१०९

निर्णय करना बुद्धि, विद्या और ज्ञानपोषक धर्म का ही काम है, इसीलिए कहा गया है कि जहाँ धर्म है वहाँ पाप हो ही नहीं सकता, किन्तु जहाँ धर्म नहीं है केवल राज्यशासन से ही मनुष्यों का सुधार किया जाता है वहाँ कुछ भी प्रभाव नहीं होता। आज राज्यशासनों ने अपराधों के रोकने के लिए जितने उपाय किये हैं उन सबसे बदमाशों ने लाभ ही उठाया है। ख़तरे के समय रेलगाड़ी रोकने के लिए जो ज़ंजीर थी, उसी को खींचकर डाकुओं ने अनेक बार जंगलों में गाड़ियों को खड़ा करके लूटा है। जो पुलिस चोरों को पकड़ने के लिए नियुक्त हुई है वह चोरों के साथ मेल-जोल रखने के कारण अनेक बार बदनाम हो चुकी है और अनेक पुलिसमैन जेलख़ाने भेजे जा चुके हैं। कहाँ तक गिनाएँ आजकल के जेलख़ानों में क़ैदियों की भीड़ें, मुक़द्दमेबाज़ों की भीड़ें, रण्डीबाज़ी, शराबख़ोरी, जुआ, चोरी और ठगाई की अधिकता बता रही है कि धर्महीन राज्यप्रबन्ध किसी काम का नहीं होता। इसका कारण यही है कि राज्यशासन लोगों के मानसिक विचारों को पवित्र नहीं कर सकता। वह तो शरीर से किये गये स्थूल पापों को ही देखता है और शरीर को ही दण्ड देता है, परन्तु पाप पहले मन में उत्पन्न होते हैं, इसलिए कहा गया है कि धार्मिक समय में जब लोगों के मन पवित्र होते हैं, तब राज्यशासनों अथवा राजन्य आदि वर्णों की आवश्यकता नहीं होती। उस समय तो मोक्ष प्रधान और अर्थ-काम गौण रहता है, अतएव आश्रमधर्म का ही प्राबल्य रहता है और शुद्धधर्म का ही सब व्यवहार होता है।

शुद्धधर्म

शुद्धधर्म आश्रमव्यवस्था पर स्थिर है। कहने को तो आश्रम चार हैं, परन्तु उनमें दो ही प्रधान हैं और दो सहायक हैं। लोक और परलोक का साधन करनेवाले गृहस्थाश्रम और संन्यासाश्रम दो ही हैं। गृहस्थाश्रम लोक का और संन्यासाश्रम परलोक का साधक है। इन दोनों को दृढ़ करने के लिए अन्य दो सहायक आश्रम बनाये गये हैं। ब्रह्मचर्याश्रम की सहायता के बिना गृहस्थाश्रम सुचारु रूप से नहीं चल सकता और वानप्रस्थाश्रम के बिना कोई भी मनुष्य गृहस्थ से एकदम संन्यास में नहीं जा सकता, अतएव गृहस्थ और संन्यास को सुदृढ़ करने के लिए ब्रह्मचर्य और वानप्रस्थ आश्रमों की योजना हुई है और नियमपूर्वक आश्रमों के व्यवहार का ही नाम शुद्धधर्म है। इस शुद्धधर्म का यह सिद्धान्त है कि बिना किसी प्राणी की आयुभोग में बाधा पहुँचाए अपने आयुभोग को प्राप्त करते हुए स्वयं मोक्ष प्राप्त करना और अन्य प्राणियों के लिए ऐसा मार्ग बना देना कि जिससे सब प्राणी अपने कर्मफलों को भोगकर मनुष्यशरीर के द्वारा मोक्ष को चले जाएँ। इस सिद्धान्त की रक्षा के लिए मनुष्य को अपने जीवन के दो लक्ष्य बनाने पड़ते हैं। एक तो यह कि जहाँ तक हो सके इस सृष्टि से बहुत ही कम भोग्य पदार्थ लिये जाएँ और दूसरा यह कि जहाँ तक हो सके तपस्वीजीवन के साथ-साथ सृष्टि के कारणों का—आत्मा-परमात्मा का—साक्षात् किया जाए। इन दोनों कर्त्तव्यों को लक्ष्य बनाने से धर्म का सिद्धान्त सुदृढ़ हो जाता है और धर्म की स्थिरता ही से मोक्ष का मार्ग सबके लिए सुलभ हो जाता है।

धर्म की स्थिरता का साधारण साधन अर्थ और काम की इयत्ता का निर्धारण है। हम अर्थ और काम का वर्णन करते हुए लिख आये हैं कि आर्यों ने अर्थ की इयत्ता को पाँच ज़ंजीरों से जकड़ा है। वे कहते हैं कि बिना किसी प्राणी को सताये, बिना स्वयं कष्ट उठाये और बिना स्वाध्याय में विघ्न डाले केवल अपनी कमाई से यात्रामात्र के लिए जो कुछ प्राप्त हो जाए उसी से निर्वाह किया जाए और शेष धन दूसरों का समझा जाए।

इसी प्रकार काम की इयत्ता निर्धारित करते हुए उन्होंने यह नियम बनाया है कि बिना ठाट-बाट, शोभा-शृङ्गार के अपनी ही विवाहिता स्त्री में केवल एक ही सन्तान उत्पन्न की जाए,

अधिक नहीं। इन नियमों को स्थिर करने के लिए उन्होंने सादा और तपस्वीजीवन बनाने की योजना की है। इसके साथ ही धर्म की स्थिरता का दूसरा विशेष साधन उन्होंने ईश्वरपरायणता स्थिर किया है। वे जानते थे कि जब तक ईश्वरप्राप्ति का प्रधान लक्ष्य सामने न हो तब तक सादे और तपस्वीजीवन का कुछ भी अर्थ नहीं है, क्योंकि बिना ईश्वरपरायणता के सादे और तपस्वीजीवन की स्थिरता हो ही नहीं सकती और बिना सादे और तपस्वीजीवन के शुद्धधर्म का दर्शन भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार बिना शुद्ध-धर्म के संसार की स्वाभाविक स्थिति की स्थिरता भी नहीं हो सकती।

शुद्धधर्म के व्यवहार से ही विलास, शृङ्गार और कामुकता की वृद्धि रुक जाती है, पशुओं और वृक्षों का अल्पायु में मरना बन्द हो जाता है और मनुष्यों में साम्यभाव पैदा हो जाता है, जिससे परस्पर का द्वेष, स्पर्धा और कलह शान्त हो जाता है। इसी प्रकार शुद्धधर्म से अवर्षण, दुष्काल, महामारी और युद्धों का भी अन्त हो जाता है और प्राणिमात्र के लिए मोक्षमार्ग सुलभ हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि अर्थशुद्धि से पशुओं और वृक्षों की आयु और भोगों में बाधा नहीं पड़ती और कामशुद्धि से मनुष्यों में साम्यभाव उत्पन्न हो जाता है और दोनों का परिणाम यह होता है कि मनुष्य मोक्षसाधन के योग्य बन जाता है। यही शुद्धधर्म का रहस्य है, परन्तु इस रहस्य में अर्थ और काम का अन्तर समझना बड़े महत्त्व की बात है, क्योंकि अर्थशुद्धि पूर्णरूप से कामशुद्धि पर अवलम्बित है और बिना कामशुद्धि के मोक्षसाधन हो नहीं सकता, इसलिए मोक्षसाधन की कुंजी कामशुद्धि ही है। मोक्षसाधन में काम की उपेक्षा और ईश्वरप्राप्ति की अपेक्षा रहती है। मोक्षमार्गी सबसे पहले जन्म-मरण करानेवाले मैथुन को बन्द कर देता है और ब्रह्मचर्यव्रत से पहले अमोघवीर्यत्व प्राप्त करता है और फिर ऊर्ध्वरेता होकर प्राणायाम और प्रणवजप के द्वारा समाधिस्थ होने का यत्न करता है। इस क्रिया से उसके मस्तिष्क में ऋतम्भरा प्रज्ञा का उदय होता है उसके मन और बुद्धि का निवास ब्रह्मरन्ध्र में होने लगता है तथा मन स्थिर हो जाता है। मन के स्थिर होते ही मनोज—काम—वीर्य प्राणायाम की प्रेरणा से ऊर्ध्वगामी हो जाता है जो ऋतम्भरा प्रज्ञा से भस्म होने लगता है। परिणाम यह होता है कि रति की इच्छा एकदम मन्द हो जाती है और उसके अधिक सन्तान नहीं होती है। इस विषय की वैज्ञानिक खोज करते हुए हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपने 'प्राणिशास्त्र के तत्त्व' नामी ग्रन्थ में लिखा है कि 'जितनी ही मानसिक शक्ति बढ़ती जाएगी, उतनी ही प्रजोत्पादक शक्ति न्यून होती जाएगी'। यही बात एक नीतिकार ने भी इस प्रकार कही है—

अत्यन्तमतिमेधावी त्रयाणामेकमश्नुते। अल्पायुषो दरिद्रो वा ह्यनपत्यो न संशयः॥

अर्थात् अत्यन्त मेधावान् पुरुष निर्धन या अल्पायु अथवा निस्सन्तान होता ही है, इसमें सन्देह नहीं।

निर्धन और निस्सन्तान तो उसे होना ही चाहिए, किन्तु अल्पायु का होना अपवाद है। यह उनके लिए है जो बिना ब्रह्मचर्य के मेधा से अधिक काम लेते हैं। मेधा का ब्रह्मचर्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि मस्तिष्क और शिश्न के तन्तुओं का लगाव एक में है। देखा गया है कि जिस प्रकार हस्तमैथुनादि नियमविरुद्ध शिश्न स्पर्श से मस्तिष्क निर्बल हो जाता है और लोग पागल हो जाते हैं, उसी प्रकार अत्यन्त मानसिक और मेधा शक्ति के व्यय से शिश्नेन्द्रिय में भी निर्बलता आ जाती है और सन्तति का उत्पन्न होना एकदम बन्द हो जाता है, परन्तु मेधा और शिश्न की उचित रक्षा से दोनों में सामञ्जस्य रहता है, इसलिए सन्ततिनिरोध का सबसे उत्तम प्रकार अमोघवीर्यत्व ही है। इसी विधि से ज्ञान में उन्नति होती है, मनुष्य परमात्मा के ढूँढ निकालने में समर्थ होता है

और प्रजा की बाढ़ बन्द होकर थोड़ी रह जाती है। प्रजा की बेहद बाढ़ के रुक जाने से और सबके एकाध सन्तति के होने से किसी को भी अन्नकष्ट नहीं होता। सब प्राणी अपनी पूर्ण आयु जीते हैं तथा सबके लिए मोक्ष का मार्ग सुलभ हो जाता है, इसीलिए आर्यों ने गायत्रीमन्त्र द्वारा मेधा बढ़ाने का आयोजन बचपन से ही—उपनयन-संस्कार से ही कर दिया है।

इस प्रकार इस मोक्षाभिमुखी काम अवरोध के पश्चात् अर्थशुद्धि का काम बहुत ही सरल हो जाता है। सभी लोग शृङ्गारवर्जित और विलासरहित हो जाते हैं। साधारण भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी के अतिरिक्त किसी को व्यर्थ के आडम्बर की आवश्यकता नहीं रहती, तभी चारों आश्रम अपने-अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण कर सकते हैं। आर्यों ने इस प्रकार की शिक्षा और सभ्यता के प्रचार के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के पिछत्तर वर्ष पूर्ण तपस्वी, अखण्ड ब्रह्मचारी और मोक्षाभिमुखी बनाने के लिए नियत किये हैं और उनकी जीविका को दूसरों के अधीन रखकर गायत्रीमन्त्र के द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा के बढ़ाने और मोक्ष प्राप्त करने का द्वार खोल दिया है और इन्हीं तपस्वी आश्रमों के बीच में गृहस्थाश्रम को भी लाकर जकड़ दिया है, जिससे ब्रह्मचर्याश्रम से आया हुआ और वानप्रस्थ तथा संन्यास में जानेवाला गृहस्थ कभी विलासी हो ही नहीं सकता। चारों आश्रमों की इस जीवन-यात्रा से न किसी प्राणी को कष्ट होता है, न सन्तति बढ़ती है और न सृष्टि में किसी प्रकार की असमानता ही उत्पन्न होती है, परन्तु इसी में कामुकता का संचार होते ही—विलास और शृङ्गार की वृद्धि होते ही यह सारा कार्यक्रम बदल जाता है और मनुष्य पतित होकर समस्त प्राणियों के दुःख का कारण बन जाता है, इसलिए अर्थ में काम के प्रवेश को बड़ी सावधानी से रोकना चाहिए।

अर्थ और काम का अन्तर समझने के लिए इतना ही सङ्केत पर्याप्त है कि जितने पदार्थ शरीर की रक्षा के लिए आवश्यक हैं, वे अर्थ हैं और जो केवल मन प्रसन्न करने के लिए हैं वे काम हैं। उदाहरण के लिए समझना चाहिए कि सर्दी में बिना रज़ाई के शरीर-रक्षा नहीं हो सकती, परन्तु रज़ाई में लाल, पीली मग़ज़ी सर्वथा व्यर्थ है, वह केवल मनोरञ्जन के लिए ही है। इसी प्रकार कालर, नेकटाई और कोट-पतलून अथवा अङ्गा और अबा आदि की बात भी है। ये फ़ैशन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी पदार्थ केवल शोभा-शृङ्गार के लिए ही हैं—मनोरञ्जन के ही लिए हैं, वास्तविक आवश्यकता के लिए नहीं। इन पदार्थों के बिना मनुष्य समस्त आयु सुखी रह सकता है, परन्तु रज़ाई अथवा कम्बल के बिना सर्दी से शरीर-रक्षा नहीं कर सकता, इसलिए सादी रज़ाई या सादी कमली अर्थ है और लखनऊ की मग़ज़ीदार रज़ाई या वूलन मिल के लाल-पीले कम्बल काम हैं। इसी कसौटी से अर्थ और काम का अन्तर सर्वत्र समझ लेना चाहिए। आर्यों ने इस सिद्धान्त को बहुत ही अच्छी प्रकार समझा था और कामनाओं को ब्रह्मचर्य आश्रम से ही हटाने का उद्योग किया था। भगवान् मनु लिखते हैं—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥
यश्चैतान्प्राप्नुयात्सर्वान्यश्चैतान्केवलांस्त्यजेत्। प्रापणात्सर्वकामानां परित्यागो विशिष्यते॥[1]

—मनु० २।९४-९५

अर्थात् काम की इच्छा कामभोग से शान्त नहीं होती, प्रत्युत वह उसी प्रकार बढ़ती है जिस

---

१. इस श्लोक का अर्थ छूटा हुआ है, जो इस प्रकार है—
''जो मनुष्य इन सब विषयों को प्राप्त कर ले और जो इन सब विषयों का त्याग कर दे, उन दोनों में सब विषयों को प्राप्त करनेवाले मनुष्य की उपेक्षा उनका त्याग करनेवाला श्रेष्ठ है।'' —सं०

प्रकार घृत पाकर अग्नि बढ़ती है, इसलिए उसका त्याग ही उत्तम है।

यह ब्रह्मचारियों के लिए शिक्षा दी गई है। बचपन से इस प्रकार की शिक्षा इसीलिए दी गई है कि गृहस्थाश्रम में पहुँचकर भी मनुष्य कामुक न हो। गृहस्थ के पूर्व ब्रह्मचर्य आश्रमी को जिन कारणों से काम्य विषयों से दूर रहने के लिए कहा गया है, उन्हीं कारणों को ध्यान में रखकर गृहस्थाश्रम के पश्चात्‌वाले वानप्रस्थादि आश्रमों से भी काम्य विषयों के हटाने का विधान किया गया है। गृहस्थ के पूर्व और पश्चात् काम्य भावों के विरुद्ध घनघोर तपश्चर्या का जीवन विद्यमान है। इससे सहज ही अनुमान कर लेना चाहिए कि गृहस्थ को भी काम्यभावों से दूर ही रहना चाहिए। गृहस्थ को काम के नाम से केवल एक ही सन्तति उत्पन्न करने की आज्ञा है। इसी एक सन्तान के लिए उसे दाम्पत्य स्नेह में बँधना पड़ता है। यह दाम्पत्य स्नेह और एक-दो सन्तान की उत्पत्ति कामुकता की परिचायक नहीं है प्रत्युत सृष्टि की आज्ञा का विनयपूर्वक पालन करना है, क्योंकि सृष्टि ने स्त्री-पुरुषों को समान संख्या में उत्पन्न करके यह सूचित कर दिया है कि जिस प्रकार प्राणिमात्र में काम का समान बटवारा है, उसी प्रकार मनुष्यों में भी समान ही बटवारा होना चाहिए।

जुलाई सन् १९०७ की प्रसिद्ध 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा है कि 'एक विद्वान् ने प्राकृतिक उदाहरणों द्वारा इस बात को सिद्ध किया है कि प्रत्येक पुरुष को एक ही विवाह करने—एक ही स्त्री रखने की ईश्वराज्ञा है। उसने सारे संसार की नर-नारियों की संख्या पर से यह हिसाब लगाया है कि जगत् में जितने पुरुष हैं, प्राय: उतनी ही स्त्रियाँ भी हैं। मर्द और औरतों की संख्या प्राय: बराबर है, इस हिसाब से लड़के और लड़कियाँ भी बराबर ही हैं। यूरोप और अमरीका आदि जितने सफ़ेद चमड़े के आदमी हैं उनमें प्रति १०० आदमियों के मुक़ाबले में १०१ स्त्रियाँ हैं। अमरीका के हब्शियों में भी नर और नारियों की यही संख्या है। जापानियों में प्रति १०२ पुरुषों के मुक़ाबले में १०० स्त्रियाँ हैं। भारतवर्ष में कुछ विशेषता है। यह विशेषता ऐसी है जो ध्यान में रखने योग्य है। यहाँ १०४ पुरुषों और लड़कों के मुक़ाबिले में १०० स्त्रियाँ और लड़कियाँ हैं, अर्थात् पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कुछ कम हैं, अतएव एक पुरुष को एक से अधिक स्त्री से सम्बन्ध करना अन्याय है, ईश्वर की आज्ञा का उल्लङ्घन है और प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है।' इतना ही नहीं, किन्तु विद्वानों ने पता लगाया है कि अन्य प्राणियों में भी नर और मादा की संख्या समान ही है। वे कहते हैं कि सृष्टि इस समानता को बड़े यत्न से पूरा करती है। यदि किसी योनि की नर या मादा की कुछ संख्या नष्ट कर दी जो तो शीघ्र ही वह संख्या पूरी हो जाएगी।

डॉक्टर ट्राल कहते हैं कि 'सृष्टि का यही एक नियम है कि यदि स्वाभाविक समानता में किसी प्रकार का अन्तर डाला जाता है तो शीघ्र ही उतनी संख्या उत्पन्न होकर वह अन्तर पूरा हो जाता है। पशु-पक्षियों में ही नहीं प्रत्युत मनुष्यों में भी यह नियम काम कर रहा है। प्राय: देखा गया है कि युद्धों में पुरुष मारे जाते हैं, अत: युद्ध के पश्चात् प्राय: लड़के ही अधिक उत्पन्न होते हैं और जब शान्ति हो जाती है तब लड़कियों की वृद्धि शुरू होती है'। इन नियमों से पाया जाता है कि नर-नारी का जोड़ा स्थिर रखना सृष्टि को स्वीकार है, इसलिए गृहस्थ को उचित है कि वह एक स्त्री से विवाह करके अपने (स्त्री-पुरुष के) दो प्रतिनिधि अवश्य उत्पन्न करे। इतने तक वह धार्मिक ही रहेगा—कामी नहीं कहला सकता।

जिस प्रकार बिना मग़ज़ी की रज़ाई अर्थ है, अनर्थ नहीं, उसी प्रकार एक-दो सन्तान का उत्पन्न करना भी कामुकता का परिचायक नहीं है। यही अर्थ-काम का धार्मिक रहस्य है। इसलिए एक धार्मिक मनुष्य को चाहिए कि वह सृष्टि के बटवारे को ध्यान में रखकर और एक

पुरुष के लिए एक स्त्री का काम-सम्बन्धी समान नियम देखकर जिस प्रकार समानता से एक स्त्री एक पुरुष को या एक पुरुष एक स्त्री को ले-सकता है उसी प्रकार भोजन, वस्त्र, गृह और गृहस्थी से सम्बन्ध रखनेवाला समस्त अर्थ भी समस्त मनुष्यों को ध्यान में रखकर समानता ही से ले-सकता है। जिस प्रकार स्त्री-पुरुष का कामसम्बन्धी असमान बटवारा समाज में विप्लव उत्पन्न कर सकता है उसी प्रकार अर्थसम्बन्धी असमान बटवारा भी समाज में क्षोभ उत्पन्न कर सकता है, इसीलिए आर्यों ने एक स्त्री के लिए एक ही पुरुष का और एक पुरुष के लिए एक ही स्त्री का नियम बनाया है तथा समस्त मनुष्यों को समानता से अर्थ के उपयोग करने की आज्ञा दी है। वेद में लिखा है कि दो धुरों के बीच में दबा हुआ घोड़ा जिस प्रकार चिल्लाता है, उसी प्रकार दो स्त्रीवाले पुरुष की भी दुर्गति होती है[१], इसलिए एक ही स्त्री करनी चाहिए और इसी प्रकार सबको समानता से अर्थ का भी उपयोग करना चाहिए। सबको समान अर्थ के लेने की आज्ञा देते हुए वेद में परमात्मा उपदेश करते हैं—

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥ —अथर्व० ३।३०।६

ये समानाः समनसो जीवा जीवेषु मामकाः।
तेषाꣳ श्रीर्मयि कल्पतामस्मिंल्लोके शतꣳ समाः॥ —यजु० १९।४६

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः। अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥
—अथर्व० ३।३०।१

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
—ऋ० १०।१९१।४

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि॥ —ऋ० १०।१९१।३

अर्थात् तुम्हारे दुग्धादि पेय पदार्थ समान हों और अन्न का विभाग साथ-साथ हो। जिस प्रकार रथनाभि के चारों ओर आरे एक समान होते हैं उसी प्रकार तुम सब लोग एक समान होकर यज्ञ करो। समस्त जीवों में जो मन से साम्य भाववाले हैं वही मुझको प्रिय हैं और उन्हीं की सम्पत्ति सैकड़ों वर्ष तक रहती है। इसलिए मैं तुम सबको समान हृदय और समान मनवाला करके द्वेषरहित करता हूँ। तुम एक-दूसरे से इस प्रकार प्यार करो जैसे गौ अपने सद्यःजात बछड़े से प्यार करती है। तुम अपने विचार, हृदय और मन को एक समान करो तथा अपनी गुप्त सलाहों, सभाओं और हार्दिक विचारों को एक समान करने का यत्न करो।

ये वेदों के अर्थसम्बन्धी उपदेश हैं। इनमें समान अर्थ ग्रहण का उपदेश है। इन्हीं वैदिक उपदेशों को ध्यान में रखकर भगवान् मनु कहते हैं कि—

वयसः कर्मणोऽर्थस्य श्रुतस्याभिजनस्य च।
वेषवाग्बुद्धिसारूप्यमाचरन्विचरेदिह॥ —मनु० ४।१८

अर्थात् गृहस्थ अपनी उम्र, कर्म, वेद और समस्त मनुष्यों के अनुरूप ही अपने वेश, वाणी और बुद्धि से आचरण करता हुआ संसार में रहे।

यहाँ सबके समान ही अपना वैदिक वेष रखने के लिए ज़ोर दिया गया है। इसका कारण

---

१. उभे धुरौ वह्निरापिब्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः। —ऋग्वेद [१०।१०१।११]

यही है कि प्राय: वेष-भूषा ही असमानता को प्रकट करती है—शोभा-शृङ्गार और ठाट-बाट ही से असमानता का आरम्भ होता है, इसीलिए उसकी रोक की गई है। आर्यसभ्यता में इस साम्यभाव की बड़ी ही महिमा है। उनकी सभ्यता में परमेश्वर समदर्शी कहलाता है, इसीलिए भगवद्गीता में कहा गया है कि **'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः',**[१] अर्थात् वही पण्डित है—बुद्धिमान् है जो चाण्डाल और कुत्ते के साथ भी साम्यभाव से व्यवहार करता है।

आर्यसभ्यता का यही आदर्श है, किन्तु यह न समझ लेना चाहिए कि यह साम्यवाद यूरोप के रूस आदि देशों का-सा साम्यवाद है। रूस का साम्यवाद शृङ्गारिक साम्यवाद है। वह सबमें आमोद-प्रमोद और विलास की समता का प्रचार करता है, त्याग और तपस्वीजीवन का नहीं। यही कारण है कि वह भी मशीनों के द्वारा शृङ्गार बढ़ानेवाले पदार्थों को तैयार करके संसार का धन लेना चाहता है और बदले में विलास बढ़ानेवाले पदार्थ देना चाहता है। उसकी स्कीम में पशुओं और वृक्षों की आयु और भोगों पर विचार करने के लिए कोई स्थान नहीं है और न कर्मफलों के दाता परमेश्वर के लिए ही कोई स्थान है, इसलिए वह साम्यवाद विलासियों का ही है, उससे संसार की आर्थिक समस्या हल नहीं हो सकती, क्योंकि संसार में इतना शृङ्गारिक सामान ही नहीं है जिससे संसार के सभी मनुष्य समानता से विलास और शृङ्गार का उपभोग कर सकें। सोना, चाँदी, हीरा, मोती, रेशम, हाथीदाँत और सवारी तथा फ़रनीचर आदि जितने विलास से सम्बन्ध रखनेवाले पदार्थ हैं वे बहुत ही थोड़े हैं। उनसे बहुत ही थोड़े लोगों का शृङ्गार बढ़ाया जा सकता है। एक-एक तोले वज़न के हीरा और मोती संसार में कितने हैं ? क्या वे इतने हैं कि उनकी एक-एक माला संसार के समस्त मनुष्यों को दी जा सके और क्या संसार में इतना सोना है कि सब मनुष्यों को सोने के बर्तन एक समान बनवाकर दिये जा सकें ? नहीं।

संसार में ऐसे अमूल्य पदार्थ बहुत ही थोड़े हैं, इसलिए रूस आदि यूरोपिय देशों के शृङ्गारिक साम्यवाद का सिद्धान्त सर्वथा ग़लत है, परन्तु आर्यों के वैदिक साम्यवाद का भवन त्यागवाद की पवित्र नींव पर रचा गया है और उसमें **'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः'**[२] और **'यात्रामात्र प्रसिध्यर्थम्'**[३] का सिद्धान्त काम कर रहा है, जिसका तात्पर्य यही है कि जो कुछ दूसरे प्राणियों के भोग से बच जाए उसमें से केवल अपनी जीवन-यात्रा के निर्वाहमात्र के लिए ही लेना चाहिए अधिक नहीं। आर्यों के इस त्यागवाद में समस्त मनुष्य, समस्त पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग और तृण-पल्लव की पूर्ण आयु और पूर्ण भोगों की सुविधा का मूलमन्त्र काम कर रहा है और तपस्वीजीवन के साथ-साथ स्वयं पूर्ण आयु जीकर मोक्ष प्राप्त करने तथा अन्य प्राणियों के लिए भी मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग विस्तृत करने का महान् ध्येय विद्यमान है, इसलिए वैदिक साम्यवाद के साथ यूरोपियन साम्यवाद की तुलना नहीं हो सकती। शुद्ध त्यागवादी आर्यों ने अच्छी प्रकार समझ लिया है कि मनुष्य की तृप्ति शृङ्गार, विलास और कामुकता से नहीं हो सकती। यही कारण है कि आर्यसभ्यता के प्रचारकों ने बड़े बलपूर्वक कहा है—

यत् पृथिव्यां व्रीहियवौ हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकेन तत्सर्वं इति मत्वा शमं व्रजेत्॥[४]

अर्थात् इस पृथिवी का समस्त अन्न, सोना और स्त्रियाँ एक पुरुष के लिए भी पर्याप्त नहीं है, इसलिए इन सबका त्याग ही उत्तम होता है।

ऐसी दशा में रूस का संग्रहवाद आर्यों के त्यागवाद के साथ कुछ भी समता नहीं कर सकता। आर्यों ने अपने इस त्यागवाद को ब्रह्मचर्य आश्रम से आरम्भ किया है और वानप्रस्थ तथा

---

१. गीता ५।१८
२. यजुः० ४०।१
३. मनु० ४।३
४. महा० उद्योग० ३९.८४। चतुर्थपाद 'इति पश्यन्न मुह्यति' है।

संन्यास आश्रम में समाप्त किया है। आर्यों की आयु का ३/४ भाग त्यागी, तपस्वी और ईश्वरपरायण है। बीच की आयु का १/४ भाग जो आदि अन्त में तपस्वीजीवन से जकड़ा हुआ गृहस्थाश्रम के नाम से प्रसिद्ध है, वह भी उक्त समाज के ३/४ भागों को अन्न पहुँचाने में ही लगाया गया है, इसलिए उसके पास भी विलासी जीवन बनाने के लिए न तो कुछ बच ही सकता है और न उसको इस पाखण्ड की फ़ुरसत ही है। इसके अतिरिक्त वह भी पच्चीस, छत्तीस अथवा अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत करके आया है और शीघ्र ही वनस्थ होनेवाला है, इसलिए भी वह तपस्वीजीवन के अभ्यास को छोड़ नहीं सकता। वह किसी प्रकार यात्रामात्र से निर्वाह करके और एक-दो सन्तान उत्पन्न करके मोक्ष-साधन के लिए अरण्यवासी होनेवाला है, इसलिए आर्यों का गृहस्थाश्रम भी तपस्वियों का ही आश्रम है, अर्थात् सारा आर्यसमाज ही त्यागी और तपस्वियों का समाज है।

आर्यों के ऐसे त्यागी और तपस्वी आदर्श गृहस्थों का वर्णन आर्यों के इतिहास में बहुलता से पाया जाता है। समस्त ऋषि-मुनि गृहस्थ ही थे। उनके भी स्त्री और बच्चे थे, किन्तु उनका रहन-सहन सर्वथा सादा और तपस्वियों का-सा था। अनसूया और शकुन्तला आदि ऋषिपत्नियाँ और ऋषिकन्याएँ अरण्यवासिनी ही थीं। रामचन्द्र और पाण्डवों ने गृहस्थाश्रम के साथ ही चौदह-चौदह वर्ष का वनवास सरलता से काट दिया था। वाल्मीकि के आश्रम में भी सीता के पहुँच जाने पर और लवकुश के उत्पन्न हो जाने पर ख़ासा कुटुम्ब एकत्र हो गया था और पूरा गृहस्थ का नमूना था, किन्तु उनकी सम्पत्ति की क्या दशा थी, यह उस वर्णन से अच्छी प्रकार प्रकट होता है जो लवकुश के पुरस्कार से सम्बन्ध रखता है। एक बार लवकुश ने ऋषियों को रामायण का गाना सुनाया। गाना सुनकर समस्त ऋषिमण्डली अत्यन्त प्रसन्न हुई और लवकुश को अनेक पदार्थ उपहार में दिये। उपहार सामग्री का वर्णन करते हुए वाल्मीकि मुनि कहते हैं कि—

संरक्ततरमत्यर्थं मधुरं तावगायताम्। प्रीतः कश्चिन्मुनिस्ताभ्यां संस्थितः कलशं ददौ॥ २०॥
प्रसन्नो वल्कलं कश्चिद्ददौ ताभ्यां महायशाः। अन्यः कृष्णाजिनमदाद्यज्ञसूत्रं तथापरः॥ २१॥
कश्चित्कमण्डलुं प्रादान्मौञ्जीमन्यो महामुनिः। बृसीमन्यस्तदा प्रादात्कौपीनमपरो मुनिः॥ २२॥
ताभ्यां ददौ तदा हृष्टः कुठारमपरो मुनिः। काषायमपरो वस्त्रं चीरमन्यो ददौ मुनिः॥ २३॥
जटाबन्धनमन्यस्तु काष्ठरज्जुं मुदान्वितः। यज्ञभाण्डमृषिः कश्चित्काष्ठभारं तथापरः॥ २४॥
औदुम्बरीं बृसीमन्यः स्वस्ति केचित्तदावदन्। आयुष्यमपरे प्राहुर्मुदा तत्र महर्षयः॥ २५॥

—वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड [४। २०-२५]

अर्थात् लवकुश के काव्यसंगीत से मुग्ध होकर किसी ऋषि ने वल्कल, किसी ने कृष्णाजिन (मृगचर्म), किसी ने कमण्डलु, किसी ने मौंजी, किसी ने कुशासन, किसी ने कौपीन, किसी ने कुठार, किसी ने काषाय वस्त्र, किसी ने जटा बाँधने का चीर, किसी ने काष्ठ बाँधने की रस्सी, किसी ने यज्ञ का भाण्ड, किसी ने समिधाभार और किसी ने चौकी दी और किसी ने आयुष्मान् हो ऐसा आशीर्वाद ही दिया।

इस वर्णित सामग्री से उस समय के जीवन का और उस समय की गृहस्थी का पता अच्छी प्रकार लग जाता है। ये ऋषि भी गृहस्थ थे। इनके भी ऋषिपत्नियाँ थीं, बाल-बच्चे थे और शादी-विवाह होते थे। ये मूर्ख न थे, किन्तु इतने विद्याप्रेमी और ज्ञानपटु थे कि आज संसार उनकी जूठन खाकर विद्वान् होता है, परन्तु उनकी गृहस्थी का यह कैसा सौम्य चित्र है! इससे सहज ही समझा में आ जाता है कि आर्यगृहस्थ भी कितनी सादी और सहज गृहस्थी के साथ रहते थे और आर्यसभ्यता को कितना अल्प संग्रह की ओर अग्रसर किये हुए थे।

यही त्यागवाद है। इस प्रकार के त्यागवाद की समानता से संसार से तीन बातें उठ जाती हैं। सबसे पहले तो चोरी का अभाव हो जाता है। जहाँ सभी लोग सादे, तपस्वी और समान अर्थवाले होते हैं, वहाँ अधिक पदार्थों के संग्रह करने की प्रवृत्ति ही नहीं होती। चोरी तो तभी होती है जब किसी के पास अधिक और किसी के पास कम पदार्थ होते हैं, किन्तु जहाँ समानता है—जहाँ मोह उत्पन्न करानेवाला कोई पदार्थ ही नहीं है, वहाँ कोई किसी का पदार्थ ले ही नहीं सकता। दूसरी बात जो उठ जाती है वह व्यभिचार है। जहाँ लोग तपस्वी और समान अर्थवाले होते हैं वहाँ यह बात नहीं होती कि किसी के तो धन के कारण दो-दो विवाह हो जाएँ और किसी का विवाह ही न हो। उस समय तो सबको स्त्री प्राप्त हो जाती है और व्यभिचार में कमी हो जाती है। साथ ही जब शृङ्गार का एकदम बहिष्कार हो जाता है तब शोभा-शृङ्गार के कारण जो व्यभिचार होता है, वह भी बन्द हो जाता है। इन दो बुराईयों के बन्द होते ही तीसरी बुराई लड़ाई-झगड़ा, मारपीट, पंचायत और अदालत आदि कलह के समस्त अङ्ग एकदम उठ जाते हैं। इतना ही नहीं किन्तु काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मत्सर आदि मानसिक विकार भी दूर हो जाते हैं, क्योंकि संसार में अर्थ-काम—धन और स्त्री का ही तो झगड़ा है। जब सबको समान सम्पत्ति और समान स्त्री प्राप्त है तब वैमनस्य किस बात का? इसीलिए आर्यसभ्यता कहती है कि—

मातृवत्परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्। आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पश्यति॥[1]

अर्थात् जो पराई स्त्री को माता के समान, पराये धन को काठ के समान और समस्त प्राणियों को अपने समान देखता है, वही देखता है।

यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में अत्यन्त सादगी, तपस्या और ईश्वरपरायणता को स्थान दिया है, परन्तु वैदिक ऋषिगृहस्थों का उपर्युक्त सामान देखकर यह न समझ लेना चाहिए कि यह संन्यासियों की गृहस्थी है। हमने गृहस्थों को भी फलाहारी, वल्कलधारी और मिट्टी तथा अलावपात्र से जो निर्वाह करना लिखा है, वह उपयुक्त ही है। आज भी लाखों जंगलवासी गृहस्थ इसी प्रकार के रहन-सहन से रहते हैं। उनके पास से यदि एक स्त्री को निकाल दें तो उनका समस्त जीवन संन्यासियों का ही हो जाए। यही कारण है कि उनके यहाँ परस्पर चोरी, व्यभिचार और लड़ाई झगड़ा बहुत ही कम होता है। आज यदि उनमें अहिंसा, सृष्टिज्ञान और ईश्वरपरायणता होती तो हम उन्हें ऋषि ही कहते, किन्तु ऋषित्व प्राप्त करने के लिए आर्यसभ्यता का अनुकरण करना पड़ता है—ब्रह्मचर्य आश्रम से ही गायत्री, प्राणायाम, ब्रह्मचर्य, सृष्टि के कारणों का ज्ञान और साम्यवाद का अभ्यास करना पड़ता है, इसलिए जंगली सभ्यता और आर्यसभ्यता में अन्तर हो जाता है। इसका कारण यही है कि आर्यसभ्यता विचारपूर्वक स्थिर की गई है और जंगली सभ्यता अज्ञान के कारण आप-ही-आप बन गई है।

आर्यसभ्यता को बाल्यावस्था से ही ब्रह्मचारी के मन में बैठाने का आयोजन किया गया है, इसीलिए ब्रह्मचारी गायत्रीमन्त्र से ऋतम्भरा प्रज्ञा के बढ़ानेवाली वेदविद्या पढ़ता है, ब्रह्मचर्य से उत्पन्न वीर्य को प्राणायाम के द्वारा ऊर्ध्वगामी करता है और '**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**'[2] के नित्य पाठ से सृष्टि के महान् कारण परमेश्वर को पहचानता है। यह मन्त्र उसे नित्य शिक्षा देता है कि परमेश्वर ने यह सृष्टि उसी प्रकार बनाई है जैसे पूर्वकल्प में बनाई थी। इन वैदिक क्रियाओं से वह सादा, तपस्वी और ईश्वरपरायण बनता है तथा सदैव सहपाठियों के साथ समानभाव से रहने के कारण उसमें त्यागभाव की समानता का भाव पुष्ट हो जाता है,

---

१. पञ्चतन्त्र, मित्रभेदः ४३५ २. ऋ० १०।१९०।३

अतएव आर्यों का साम्यवाद अपनी निराली छटा के साथ सामने आता है, संन्यासीपन, जंगलीपन और बोलशेविकपन के साथ नहीं। आर्यों के प्राचीन वैदिक साम्यवाद की पुनः प्रतिष्ठार्थ स्वामी दयानन्द सरस्वती ब्रह्मचारियों के लिए सत्यार्थप्रकाश में लिखते हैं कि 'सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जाएँ, चाहे वह राजकुमार हों चाहे राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों सबको तपस्वी होना चाहिए'। यहाँ साम्यवाद के साथ तपस्वीजीवन की बात कही गई है जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

इसी प्रकार साम्यवाद की चर्चा करते हुए गीतारहस्य पृ० ३६८ और ४०४ पर लोकमान्य तिलक महाराज कहते हैं कि 'साम्यबुद्धि को बढ़ाते रहने का अभ्यास प्रत्येक मनुष्य को करते रहना चाहिए और इस क्रम से संसारभर के मनुष्यों की बुद्धि जब पूर्ण साम्य अवस्था में पहुँच जाएगी तभी सत्ययुग की प्राप्ति होगी तथा मनुष्यजाति का परम साध्य प्राप्त होगा अथवा पूर्ण अवस्था सबको प्राप्त हो जाएगी। कार्य-अकार्यशास्त्र की प्रवृत्ति भी इसीलिए हुई है और इसी कारण उसके भवन को भी साम्यबुद्धि की नींव पर ही खड़ा करना चाहिए। **अहिंसकैरात्मविद्भिः सर्वभूतहिते रतैः। भवेत् कृतयुगप्राप्तिराशीःकर्मविवर्जिता**। आत्मज्ञानी, अहिंसक, एकान्त धर्म के ज्ञानी और प्राणिमात्र की भलाई करनेवाले पुरुषों से यदि यह जगत् भर जाए तो आशीःकर्म, अर्थात् काम्य अथवा स्वार्थबुद्धि से किये हुए सारे कर्म इस जगत् से दूर होकर फिर कृतयुग प्राप्त हो जाए (महा० शा० ३४८।६३), क्योंकि ऐसी स्थिति में सभी पुरुषों के ज्ञानवान् रहने से कोई किसी की हानि तो करेगा ही नहीं प्रत्युत प्रत्येक मनुष्य सबके कल्याण पर ध्यान देकर तदनुसार ही शुद्ध अन्तःकरण और निष्कामबुद्धि से अपना-अपना बर्ताव करेगा। हमारे शास्त्रकारों का मत है कि बहुत पुराने समय में समाज की ऐसी ही स्थिति थी और वह फिर भी कभी-न-कभी प्राप्त होगी ही'। इस वर्णन में लोकमान्य ने स्पष्टरूप से बतला दिया है कि सब प्राणियों के सुख का ध्यान रखकर जो साम्यवाद होगा वही सत्ययुग लानेवाला होगा।

इसी प्रकार महात्मा गाँधी ता० २८ अक्टूबर सन् १९२८ के गुजराती नवजीवन में विद्यार्थियों के एक आर्थिक प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखते हैं कि 'इस देश और सारे संसार की आर्थिक रचना ऐसी होनी चाहिए कि एक भी प्राणी अन्न-वस्त्र के अभाव से पीड़ित न हो, अर्थात् सबको अपने निर्वाह योग्य उद्यम मिल जाए। सारे संसार के लिए अगर हम ऐसी इच्छा करते हों तो अन्न-वस्त्र पैदा करनेवाले साधन प्रत्येक मनुष्य के पास रहने चाहिएँ। किसी को भी दूसरे की कमाई से सम्पत्तिवान् होने का लोभ बिलकुल न होना चाहिए, जिस प्रकार हवा और पानी पर सबका समान स्वत्व है अथवा होना चाहिए उसी प्रकार अन्न-वस्त्र पर भी होना चाहिए। इसका अधिकार किसी एक देश, जाति अथवा गद्दी पर होना न्याय नहीं, अन्याय है। इस महान् सिद्धान्त पर आचरण और बहुधा विचार भी नहीं किया जाता। इसी से इस देश और संसार के अन्य देशों में भूख का दुःख बना रहता है'।

ये हैं आर्यसभ्यता के साम्यवाद के नमूने! इन सब नमूनों में समस्त संसार के मनुष्यों और प्राणियों को ध्यान में रखकर साम्यवाद की चर्चा की गई है और सबमें सादगी तथा तपस्वीजीवन की झलक विद्यमान है, इसीलिए हम कहते हैं कि यूरोप और आर्यों के साम्यवाद में महान् अन्तर है। आर्यों का साम्यवाद, अर्थात् त्यागवाद आस्तिकता से उत्पन्न होकर और सब प्राणियों को सुखी बनाकर परमात्मा का दर्शन कराता है और यूरोप का साम्यवाद घृणित और अपवित्र कामुकता को बढ़ाकर मनुष्यों को पतित करता है। आर्यों का तपस्वी और त्यागी जीवन समस्त मनुष्यों, समस्त पशुओं और समस्त वृक्षों के मूलकारणों पर गम्भीरता से विचार करके और उस

विचार को धार्मिक तुला से तौलकर सबको सबसे लाभ पहुँचाते हुए सबको मोक्षाभिमुखी बनाता है और समस्त प्राणिसमूह को इस प्राकृतिक तङ्ग पृथिवी से हटाकर आकशस्वरूप अनन्त परमात्मा की आनन्दमयी गोद में स्वतन्त्रता से विचरण करने की प्रेरणा करता है, परन्तु यूरोप के साम्यवादी इन सबके मूल परमात्मा ही को हटा रहे हैं, इसलिए आर्यों के शुद्ध धर्म की तुलना यूरोप की किसी भी नीति के साथ नहीं हो सकती।

आर्यों में जब तक इस शुद्ध धर्म का आचार और प्रचार रहा तब तक उनमें हर प्रकार से शान्ति रही, किन्तु जैसाकि हम तृतीय खण्ड में लिख आये हैं कि कारणवश जब आर्यों में प्रमाद बढ़ा और वे शुद्ध वैदिक धर्म की जड़ ब्रह्मचर्य आश्रम के कठिन तप से जी चुराने लगे तब यह फल हुआ कि उनका एक बहुत बड़ा दल व्रात्य करके पृथक् कर दिया गया जो देश-देशान्तरों में फैल गया और अपना रूप, भाषा और आचार-व्यवहार आर्यों के विपरीत बनाकर यहाँ फिर आया और बस गया। इसका परिणाम यह हुआ कि उसके संसर्ग से बचे हुए शुद्ध आर्य भी विलासी हो गये और अपने विलासोत्पादक पदार्थों को बेचने के लिए भिन्न-भिन्न देशों में भेजने लगे। एक दीर्घकाल तक उनका यह विलासप्रचार जारी रहा, परन्तु कुछ दिन से पृथिवी के समस्त देशों ने उनकी नक़ल करना आरम्भ कर दिया है और स्पर्धा में उनसे भी आगे बढ़ गये हैं। इस स्पर्धावृद्धि का जो कुछ दु:खद परिणाम हुआ है, वह आज सबके सामने हैं।

आर्यों का यह धार्मिक इतिहास बतलाता है कि चाहे जैसा प्रबन्ध किया जाए, चाहे जितना धर्म का नियन्त्रण हो और चाहे जितना लोग सादे, तपस्वी तथा ईश्वरपरायण रहें, परन्तु कुछ दिन या बहुत दिन के बाद समाज में ऐसे लोग भी अवश्य उत्पन्न हो जाते हैं जो धार्मिक बन्धनों को तोड़ देते हैं और पापाचरण में रत हो जाते हैं। इसका कारण जीवों की स्वतन्त्रता है। यद्यपि जीव कर्मफलों के भोगने में परतन्त्र हैं, परन्तु कर्म करने में स्वतन्त्र भी हैं, इसीलिए उनकी इस स्वतन्त्र कर्मण्यता के कारण प्रबन्ध करनेवालों को हार जाना पड़ता है। मनुष्यों की इस स्वतन्त्र कर्मपरायणता से बड़े-बड़े धर्मगुरुओं को बीसियों बार हारना पड़ा है। यहाँ तक कि मनुष्यों को कर्मानुसार दण्ड देकर संसार को आदर्शरूप रखने में परमात्मा को भी हारना पड़ा है। परमात्मा ने असंख्य बार मनुष्यों को उनके कुकर्मों के कारण बड़ी-बड़ी पाप-योनियों में डालकर शिक्षा दी है, परन्तु आज तक मनुष्यों ने मनमाना पाप कर्म करना बन्द नहीं किया, अर्थात् मनुष्यों ने मनुष्यों और अन्य प्राणियों को सताना बन्द नहीं किया। आज भी दुराचारी और अत्याचारी मनुष्य मनुष्यों और अन्य प्राणियों को इतना कष्ट देते हैं कि कभी-कभी उस कष्ट, पीड़ा, और यातना से लाखों प्राणियों को अकाल में ही मरना पड़ता है, इसलिए अत्याचारियों के द्वारा पहुँचाये जानेवाले कष्ट और मृत्यु से बचने के लिए आर्यों ने अपनी सभ्यता में शुद्धधर्म के साथ-साथ आपद्धर्म को भी स्थान दिया है और आपद्धर्म के समय शुद्धधर्म के नियमों के सुधारने अथवा सर्वथा ही उलट देने की भी व्यवस्था की है।

आपद्धर्म

इस सृष्टि में जीव असंख्य हैं। शायद वे अत्यन्त छोटे-छोटे पार्थिवकणों से भी अधिक हैं। इन्हीं जीवों में मनुष्य भी हैं। मनुष्य की जैसी शक्ति है, वह सबपर विदित ही है, इसलिए यह कहने में तनिक भी सन्देह नहीं है कि जीवों की भी संसार में एक विशेष शक्ति है। ये जीव मनुष्य-शरीरों में आकर अपनी सामूहिक शक्ति का प्रयोग करते हैं तब वह शक्ति इतनी प्रबल हो जाती है कि ईश्वर द्वारा निर्मित बड़े-बड़े प्राकृतिक नियमों में भी विप्लव उत्पन्न कर देती है। यही कारण है कि सृष्टिनियमों में कहीं-न-कहीं थोड़ा बहुत अपवाद भी बना रहता है और यह

जानना कठिन हो जाता है कि मनुष्यों की सामुदायिक शक्ति का कब कहाँ प्रयोग हुआ और उससे कब, कहाँ, कौन-सा अपवाद उठ खड़ा हुआ। यद्यपि यह अज्ञात है तथापि यह निश्चित है कि मनुष्यों के नियमविरुद्ध कर्मजन्य अपवादों के कारण नाना प्रकार के अस्वाभाविक उत्पात उत्पन्न हो जाते हैं और वे शुद्धधर्म के द्वारा रोके नहीं जा सकते। प्रत्युत जिस प्रकार वे अनियमित रीति से उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार उनका प्रतीकार भी अनियमित सिद्धान्तों के ही द्वारा होता है। इन अनियमित सिद्धान्तों का ही नाम आपद्धर्म है।

आपद्धर्म और अपवाद का साथ है। जहाँ अपवाद है वहीं आपद्धर्म है। इसका कारण यही है कि जब अपवाद से अनियमितता उत्पन्न होती है और उस अनियमितता के कारण दुःख और मृत्यु का भय अधिक उत्पन्न होता है और सामने आती हुई भयङ्कर हिंसा दिखलाई पड़ती है तब अनियमित आपद्धर्म के ही द्वारा उस आनेवाली भयङ्कर हिंसा का मूल नष्ट किया जाता है। यदि ऐसा न किया जाए तो अपवादों की वृद्धि हो जाए और समस्त संसार अनियमित दुःखों के कारण समूल नष्ट हो जाए, परन्तु आर्यसभ्यता में प्राणियों को दुःखी देखना अनुचित समझा गया है, इसलिए आर्यों ने आनेवाली हिंसा की हिंसा को ही उचित समझा है और उसी को आपद्धर्म कहा है, क्योंकि संसार में हिंसा का समुद्र उमड़ रहा है और चार प्रकार की हिंसा से प्राणिसंहार हो रहा है, यथा—

१. आँधी, तूफ़ान और वर्षा आदि के कारण असंख्य जीव अकाल में ही मर जाते हैं,
२. सिंह, चीता, सर्प और अन्य प्राणियों के द्वारा करोड़ों जीव मारे जाते हैं,
३. मनुष्यों के द्वारा लाखों पशु-पक्षी आदि प्राणी मारे जाते हैं और
४. मनुष्यों के द्वारा मनुष्यों का भी संहार होता है।

हिंसा की इन चार श्रेणियों को दो विभागों में बाँट सकते हैं। पहले विभाग में प्रथम और द्वितीय श्रेणी का समावेश हो सकता है और दूसरे विभाग में तृतीय और चतुर्थ श्रेणी का। पहले विभाग में अमानुषी हिंसा है और दूसरे में मानुषी, परन्तु पहले विभाग की हिंसा का कारण दूसरा विभाग ही है, क्योंकि जितने प्राणी प्राकृतिक दुर्घटनाओं और सिंहादि प्राणियों के द्वारा अकाल में मारे जाते हैं उनमें बहुत-से उसी पाप के फल के कारण मारे जाते हैं जो उन्होंने कभी मनुष्य-शरीर में रहकर किया है। यदि उन्होंने अपने मानव-शरीरों से पाप न किया होता तो यहाँ इन भोग-शरीरों में पीड़ा न होती, किन्तु उन्होंने मनुष्य-शरीर में नाना प्रकार के दुष्कर्म किये हैं, इसीलिए प्राकृतिक विप्लवों और अन्य प्राणियों के द्वारा उनकी यहाँ दुर्गती होती है। कीड़े को सर्प खाये जाता है, सर्प को मोर खाये जाता और मोर को कुत्ता खाये जाता है। इसी प्रकार घास को गाय और गाय को बाघ खा रहा है। यही नरक-यातनाएँ हैं और इन्हीं को अमानुषी हिंसा कहते हैं, परन्तु मानुषी हिंसा इससे विलक्षण है। उसके दो विभाग हैं—एक अज्ञात हिंसा और दूसरी ज्ञात हिंसा है।

अज्ञात हिंसा वह है जो बिना इच्छा के, केवल शरीर की हलचल से हो जाती है और ज्ञात हिंसा वह है जो जान-बूझकर की जाती है। मनुष्य चाहे जितना बचे—चाहे जितनी अच्छी व्यवस्था करे, परन्तु वह अज्ञात हिंसा से बच नहीं सकता। चलते-फिरते, काम करते और खाते-पीते कुछ-न-कुछ प्राणियों का नाश हो ही जाता है। इसे हिंसा मानकर ही आर्यों ने पञ्चमहायज्ञों को नित्य करने की आज्ञा दी है, परन्तु इस हिंसा-स्वीकार का यह अर्थ नहीं है कि जब अज्ञात दशा में सूक्ष्म जीवों की हिंसा हो जाती है तब लाइए गाय, भैंस, बकरी और मुर्ग़ी को भी मारकर खा जाएँ। अपने स्वार्थ के लिए प्राणियों की हिंसा करना एक बात है और अज्ञात दशा में कृमियों

का मरना अथवा अपने प्राण बचाने के लिए सिंह, सर्पादि का मारना दूसरी बात है। यहाँ तो **'दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्'**,[१] अर्थात् फूँक-फूँककर पैर रखने और छान-छानकर पानी पीने पर भी जो हिंसा हो जाती है उसी की गणना अज्ञात हिंसा में है और इस अज्ञात हिंसा से किसी प्रकार का बचाव नहीं है।

वर्त्तमान समय के सबसे बड़े अहिंसावादी महात्मा गाँधी तारीख़ २८ अक्टूबर सन् १९२८ के गुजराती 'नवजीवन' में लिखते हैं कि 'मुझे स्वीकार करना चाहिए कि मैं प्रतिक्षण हिंसा करके ही शरीर का भी निर्वाह करता हूँ। इसी से शरीरविषयक राग क्षीण हो जाता है। आश्रम की रक्षा करने में भी हिंसा कर रहा हूँ। प्रत्येक श्वास में सूक्ष्म जन्तुओं की हिंसा करता हूँ तो भी आहार का त्याग नहीं करता। मच्छरादि के क्लेश से बचने के लिए मिट्टी के तेल आदि का भी उपयोग करता हूँ, जिससे उनका नाश हो जाता है, परन्तु यह जानते हुए भी इन नाशक पदार्थों का उपयोग नहीं छोड़ता। सर्पों के उपद्रव से आश्रमवासियों को बचाने के लिए जब देखता हूँ कि बिना मारे ये दूर नहीं हो सकते तब मारने देता हूँ। बैलों को चलाने के लिए आश्रमवाले उन्हें मारते हैं, यह भी सहन कर लेता हूँ। इस प्रकार मेरी हिंसा का अन्त ही नहीं है। ठीक है, मनुष्य इस प्रकार की अज्ञात और प्राणरक्षिणी हिंसा से बच ही नहीं सकता। अब रही बात ज्ञात हिंसा की। ज्ञात हिंसा के दो विभाग हैं—पहला विभाग मनुष्यों के अतिरिक्त अन्य प्राणियों की हिंसा से सम्बन्ध रखता है और दूसरा विभाग मनुष्यों की हिंसा से सम्बन्ध रखता है। इन दोनों प्रकार कि हिंसाओं को मनुष्य कर्मयोनि होने से जान बूझकर करता है, इसलिए वह हिंसा का फल पाता है और दूसरी योनियों में जाकर नाना प्रकार की उपर्युक्त नरकयातनाएँ भोगता है। यद्यपि इन दोनों प्रकार की हिंसाओं में पाप होता है, परन्तु इनमें मनुष्यों के नाश से सम्बन्ध रखनेवाली हिंसा तो अत्यन्त ही घोर है। मनुष्य का मारना तो दूर की बात है आर्यों ने तो मनुष्य को कटु वाक्य कहने में भी हिंसा ही मानी है। यहाँ तक कि उसके प्रति मन में दुष्ट विचार लाने को भी हिंसा ही कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को इस ज्ञात हिंसा से सदैव बचना चाहिए, किन्तु जैसाकि ऊपर चार श्रेणी की हिंसा का वर्णन किया गया है उससे यही प्रतीत होता है कि संसार में हिंसा का एक प्रचण्ड प्रवाह बह रहा है जो निर्मूल नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह हिंसा-प्रवाह ही संसार का मूलकारण है। जिस दिन हिंसा का उन्मूलन हो जाएगा उस दिन सृष्टि का ही अन्त हो जाएगा, क्योंकि कायिक, वाचिक और मानसिक हिंसा से ही लोगों को दुःख होता है और दूसरों को दुःख देना ही पाप है और पापों का भोग ही संसार का कारण है, इसलिए संसार की मूलकारण इस हिंसा का अत्यन्ताभाव हो ही नहीं सकता। चाहे जितना धार्मिक प्रबन्ध किया जाए, हिंसा करनेवाले मनुष्यों की उत्पत्ति हो ही जाएगी और शुद्ध व्यवस्था में अपवाद हो ही जाएगा। परिव्राट् चाहे जितना सदाचार का प्रचार करे अर्थ और काम में—लोभ और मोह में वृद्धि हो ही जाएगी और हिंसा, अर्थात् पापजन्य पीड़ा से मनुष्यों को दुःख हो ही जाएगा। जितने प्रकार के दुःख हैं—वेदनाएँ हैं सब मृत्यु की छोटी-बड़ी सड़कें हैं, सबका अन्त मृत्यु में ही होता है और सब किसी-न-किसी प्रकार मृत्यु के निकट ही ले-जाती हैं, इसीलिए अपवादों से उत्पन्न हुई मृत्यु से बचने के लिए आपद्धर्म की योजना हुई है। भगवान् मनु कहते हैं कि—

विश्वैश्च देवैः साध्यैश्च ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः। आपत्सु मरणाद्भीतैर्विधेः प्रतिनिधिः कृतः॥[२]

अर्थात् सब देवों, साध्यों, ब्राह्मणों और ऋषियों ने आपत्काल के समय मृत्यु से बचने के लिए धर्म के प्रतिनिधि इस आपद्धर्म की रचना की है।

---

१. मनु० ६।४६ २. मनु० ११।२९

इसी को नीति भी कहते हैं। यह नीति शुद्ध सत्य के आस-पास ही रहती है। इसी को वेदों में ऋत कहा गया है। वेदों में **'ऋतं च सत्यं च'**[1] की भाँति यह ऋत प्रायः सत्य के साथ ही आता है, क्योंकि सत्य शुद्धधर्म है और ऋत आपद्धर्म है। यह आपद्धर्म धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक तीन प्रकार का होता है। अथर्ववेद ८।९।१३ में लिखा है कि—

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥

अर्थात् ऋत के तीन मार्ग चलते हैं और तीनों अनुधर्मा कहलाते हैं—एक प्रजा (समाज) के बल की रक्षा करता है, दूसरा राष्ट्र (राजनीति) की रक्षा करता है और तीसरा व्यक्ति (धर्म) की रक्षा करता है, अर्थात् सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक तीनों क्षेत्रों में अनुधर्म, अर्थात् ऋत के तीनों मार्ग दौड़ते हैं।

जब जहाँ जैसी आवश्यकता हो तब जहाँ तैसा व्यवहार करना चाहिए। भागवत ११।१९।३८ में ऋत की व्याख्या कते हुए **'ऋतं च सूनृता वाणी'** कहा गया है। सूनृता शब्द का अर्थ करते हुए टीकाकार ने लिखा है कि **'सत्यप्रियावाक् सूनृता'**, अर्थात् प्रिय सत्य वाणी को सूनृता कहते हैं। प्रिय सत्य में और शुद्ध सत्य में जो अन्तर होता है वही अन्तर ऋत और सत्य में है। प्रिय सदैव शुद्ध सत्य नहीं रह सकता। वह कभी-कभी प्रियता के कारण शुद्ध सत्य से हट जाता है, इसीलिए ऋत आपद्धर्म का और सत्य शुद्धधर्म का प्रतिनिधि माना गया है। शुद्धधर्म और आपद्धर्म सदैव सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक व्यवहारों में साथ-साथ रहते हैं, अतः जब जिसकी आवश्यकता होती है तब वही आगे हो जाता है। ऋग्वेद ६।४७।७ में बहुत ही स्पष्ट रीति से कह दिया गया है कि **'भवा सुनीतिरुत वामनीतिः'**, अर्थात् सुनीति—धर्म से अथवा वामनीति—आपद्धर्म से ही सदैव कार्य सिद्ध करना चाहिए। इसका कारण स्पष्ट है कि जब दुष्ट मनुष्यों से वास्ता पड़ता है और दुःखों से त्रास उत्पन्न होता है—मृत्यु का भयङ्कर रूप सामने दिखने लगता है तब आपद्धर्म के द्वारा ही अपनी रक्षा की जा सकती है। कहते हैं कि हिन्दुओं और मुसलमानों की लड़ाइयों में बहुधा मुसलमान सेनाध्यक्ष अपनी सेना के आगे बहुत-सी गौवों को कर लिया करते थे। इसका फल यह होता था कि हिन्दू सैनिक गोवध के डर से गोली चलाना बन्द कर देते थे और मुसलमान सैनिक उनपर गोली चलाकर विजय प्राप्त कर लेते थे, किन्तु यदि हिन्दू सेनापति आपद्धर्म के अनुसार उस समय के गोवध को पाप न समझते और गोली चलाने की आज्ञा दे देते तो आज देश में हिन्दुओं के सामने इतना बड़ा गोसंहार न होता। इसपर आपद्धर्म के ज्ञाता किसी नीतिनिपुण ने सत्य ही कहा है कि **'व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः'**,[2] अर्थात् जो मायावियों की माया को नहीं समझ पाते वे मूढ़बुद्धि अवश्य ही पराजित होते हैं, इसीलिए कहा है कि **'यस्मिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः'**,[3] अर्थात् जो जिससे जिस प्रकार का व्यवहार करे उससे उसी प्रकार का व्यवहार करना धर्म है, क्योंकि **'शठस्य शाठ्यं शठ एव वेत्ति'** अर्थात् शठ को शठ ही शिक्षा दे सकता है। इसका कारण यह है कि आपत्ति के समय कर्त्तव्य-अकर्तव्य और अकर्तव्य कर्त्तव्य हो जाता है। इसीलिए भगवान् श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं—

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्माणि च कर्म यः। स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥[4]

---

१. ऋ० १०।१९०।१
२. किरातार्जुनीयम् १।३०
३. महा० शान्ति० १०९।३०
४. गीता ४।१८

अर्थात् जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, वही मनुष्यों में बुद्धिमान् है, इसलिए जब जहाँ जैसा अवसर हो तब वहाँ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए। यही आपद्धर्म का रहस्य है और यही उसका तात्पर्य है।

आर्यशास्त्रों में वेदों के अतिरिक्त जो स्मृतियाँ देखने में आती हैं वे भी एक प्रकार से आपद्धर्म की ही गठरी हैं। श्रुति के सामने स्मृति की कोई गणना नहीं है, परन्तु कभी-कभी स्मृति से ही काम लिया जाता है। इसका कारण आपद्धर्म ही है। यह मानी हुई बात है कि मनुष्य का वही समाज उन्नत रह सकता है कि जिसमें ऋत और सत्य के तत्त्व समझे गये हों और दोनों के व्यवहार की कुञ्जी बतलाई गई हो। आपद्धर्म वा नीतिधर्म में कहाँ तक पाप है और कहाँ तक धर्म है, इस बात का निर्णय करना सहज है। शुद्ध धर्म पर आई हुई बाधाओं का निवारण करने के लिए जिस वामनीति से काम लिया गया हो यदि वह धर्मोद्धार के बाद ही छोड़ दी जाए तब तो वह मर्यादित आपद्धर्म, अर्थात् ऋत नाम की नीति ही कहलाएगी, किन्तु यदि धर्मोद्धार के बाद भी वही नीति व्यवहार में रख ली जाए तो वह ऋत नहीं प्रत्युत पाप ही कही जाएगी। ऋत में— आपद्धर्म में, वामनीति में पापांश है, परन्तु वह धर्मोद्धार का कारण होने से पाप नहीं कहा जा सकता, परन्तु वही यदि अपने मनोरंजन के लिए, दूसरों की हानि के लिए सदैव व्यवहार में लाने के लिए नियुक्त कर दी जाए तो अवश्य पाप हो जाएगा, इसमें सन्देह नहीं है। मनुस्मृति ११। ३०, २८ में लिखा है कि—

प्रभुः प्रथमकल्पस्य योऽनुकल्पेन वर्त्तते। न साम्परायिकं तस्य दुर्मतेर्विद्यते फलम्॥
आपत्कालेन यो धर्मं कुरुते नापदि द्विजः। स नाप्नोति फलं तस्य परत्रेति विचारितम्॥

अर्थात् धर्म पालन की शक्ति रखता हुआ जो आपद्धर्म का सेवन करता है उसको परलोक में फल नहीं मिलता, इसी प्रकार आपत्काल के धर्म को जो धर्म के समय में करता है, उसका कर्म भी परलोक में निष्फल हो जाता है, अर्थात् वे दोनों पापी समझे जाते हैं।

इन प्रमाणों से स्पष्ट हो गया है कि धर्म और आपद्धर्म का व्यवहार अपने-अपने समयों में ही करना चाहिए। आपद्धर्म का उत्तम उपयोग यही है कि उसे धर्मोद्धार के लिए ही व्यवहार में लाया जाए। धर्मोद्धार हो जाने पर, धर्मसंकट टल जाने पर और मृत्युभय हट जाने पर वामनीति अथवा आपद्धर्म का व्यवहार छोड़ देना चाहिए। यही धर्म और आपद्धर्म की व्यवस्था है। इसका एक उत्तम उदाहरण छान्दोग्य उपनिषद् १। १०। ३ में दिया हुआ है। वहाँ लिखा है कि कुरुदेश में ओलों के पड़ने से दुष्काल पड़ गया। दुष्काल के कारण उषस्ति ऋषि अपनी स्त्री के सहित हाथीवानों के गाँव में गये और हाथीवानों को कुल्माष (उड़द) खाते हुए देखकर स्वयं भी याचना की। हाथीवानों ने कहा कि हमारे पास दूसरे उड़द नहीं हैं, इसी बर्तन में हैं जिसमें हम खा रहे हैं। उषस्ति ने कहा कि इन्हीं में से हमको भी दीजिए। हाथीवानों ने उषस्ति को उसी बर्तन में से उड़द और पानी दिया। उषस्ति ने कहा कि यह पानी जूठा है। इसपर हाथीवानों ने कहा कि '**न स्विदेतेऽप्युच्छिष्टा इति**', अर्थात् क्या ये कुल्माष जूठे नहीं है? इसपर उषस्ति ने कहा कि '**न वा अजीविष्यामिमानखादन्, कामो म उदपानमिति**', अर्थात् इन उड़दों के बिना हम जी नहीं सकते थे, परन्तु पानी तो सर्वत्र भरा हुआ है।

इस कथा में धर्म और आपद्धर्म का चित्र खिंचा हुआ है। जिन उड़दों के बिना मृत्यु का भय था वे आपद्धर्म के द्वारा लिये गये, परन्तु जिस पानी के बिना मरने का भय नहीं था, उसके लिए शुद्धधर्म का व्यवहार किया गया और झूठा पानी नहीं लिया गया। यही आपद्धर्म की सच्ची कसौटी है। इसी प्रकार की एक दूसरी कथा आधुनिक काल में भी पाई जाती है। ता० २८

अक्तूबर सन् १९२८ के गुजराती 'नवजीवन' में आत्मकथा लिखते हुए महात्मा गाँधी लिखते हैं कि 'डॉक्टर दलाल ने कहा कि आप यदि लोह और संखिया की पिचकारी लें और दूध पियें तो मैं गारण्टी देता हूँ कि आपका शरीर फिर दुरुस्त कर दूँ। मैंने कहा कि पिचकारी दीजिए, परन्तु दूध तो मैं नहीं लूँगा। डॉक्टर ने पूछा कि आपकी दूध की प्रतिज्ञा क्या है ? मैंने कहा कि गाय-भैंस दुहने के लिए दूधवाले बाँस की नली से उनके गुप्तस्थानों में फूँक मारते हैं, यह जानने के बाद मुझे दूध पर तिरस्कार हुआ है। दूध मनुष्य की खुराक नहीं है यह तो मैं हमेशा से ही मानता रहा हूँ, इसीलिए मैंने दूध का त्याग किया है। इसपर कस्तूरी बाई ने कहा कि तब तो बकरी का दूध लिया जा सकता है। इसपर डॉक्टर दलाल ने कहा कि यदि आप बकरी का दूध लें तो मेरा काम निकल जाएगा। इसपर मैं गिरा। सत्याग्रह की लड़ाई ने मुझमें जीने का लोभ पैदा किया और मैंने प्रतिज्ञा के अक्षरों के पालन से सन्तुष्ट होकर उनकी आत्मा का हनन किया। यद्यपि दूध की प्रतिज्ञा के समय मेरी दृष्टि में गाय और भैंस ही थी तथापि मेरी प्रतिज्ञा दूधमात्र के लिए समझनी चाहिए। जहाँ तक मैं पशुमात्र के दूध को मनुष्य की निषिद्ध ख़ुराक मानता हूँ, वहाँ तक मुझे पीने का अधिकार नहीं है। यह जानता हुआ भी मैं बकरी का दूध पीने के लिए तैयार हुआ। सत्य के पुजारी ने सत्याग्रह की लड़ाई के लिए जीने की इच्छा से अपने सत्य पर पर्दा डाला'।

यह कथा आपद्धर्म के मर्म को और भी स्पष्ट कर देती है। प्राचीन ऋषियों ने इस प्रकार के आपद्धर्म को हर अवसर के लिए बड़े यत्न से स्थिर रक्खा है, इसीलिए संस्कारों का समय निश्चित करने तक में उन्होंने **'सर्वकालमित्येके'** का सिद्धान्त स्थिर रक्खा है। यही धर्म और आपद्धर्म का रहस्य है, परन्तु जब तक ऐसा अवसर न आ जाए कि अब धर्म ही जाता है, मृत्यु ही निकट आ रही है अथवा जाति या राष्ट्र का ही नाश हो रहा है तब तक उसका अनुष्ठान न करना चाहिए। अथर्ववेद की आज्ञानुसार प्रजा के दुःखी होने पर, राष्ट्र के दुःखी होने पर और अपने धर्म पर संकट आने पर ही ऋत का व्यवहार करना चाहिए। यही नीति है।

हमने गत पृष्ठों में वैदिक अर्थ के चारों विभागों को जिन प्रमाणों के साथ लिखा है उन्हीं प्रमाणों के साथ-साथ उन्हीं ग्रन्थों में परस्पर विरोधी प्रमाण भी मिलते हैं। उन सबको इस आपद् कोटि में ही समझना चाहिए। उदाहरणार्थ मनुष्य फलाहारी है, किन्तु अवसर आने पर वह अन्न भी खा सकता है। वेदों में जो अपूप, सक्तु और हवि आदि अन्नमिश्रित पदार्थों का वर्णन है वह या तो यज्ञों में हवन करने के लिए है या आपत्काल में मनुष्यों के खाने के लिए है। इसी प्रकार मनुष्यों को बहुत ही कम वस्त्रों के साथ रहना चाहिए—अधोवस्त्र और उपवस्त्र ही पहनना चाहिए, किन्तु वेदों में जो अनेक वस्त्रों का वर्णन है वह सर्द देशों में या दर्बारों में या किसी अन्य आवश्यक अवसर पर पहनने के लिए ही है। अवसर पड़ने पर अपवाद के समय मनुष्य बहुमूल्य, भड़कदार और अधिक कपड़े भी पहन सकता है। इसी प्रकार मकान मिट्टी और तृण का ही होना चाहिए, परन्तु पुस्तकों के रखने के लिए, राज्य सामग्री तथा किसी दरबार के लिए, यज्ञमण्डप और क़िलों के लिए बड़े-बड़े ईंट-पत्थर के भी महल बनाये जा सकते हैं, और दुष्ट तथा बर्बर शत्रुओं से बचने के लिए नाना प्रकार के शस्त्रास्त्र, रसद, सामान, कल, कारख़ाने और यन्त्रों का भी संग्रह और उपयोग किया जा सकता है।

इस प्रकार से वैदिक अर्थ में कहे हुए इन चारों विभागों में आपद्धर्म के समय फेर-फार हो सकता है। इस प्रकार आवश्यकतानुसार एक या एक से अधिक सन्तान भी उत्पन्न की जा सकती है और आपत्ति के समय अहिंसा के स्थान में दुष्ट शत्रुओं का नाश भी किया जा सकता है। इस प्रकार के आपद्धर्म का पालन करने से मनुष्य को मोक्ष के सीधे मार्ग से यद्यपि तनिक-सा हट जाना पड़ता है, थोड़ा पाप भी होता है और हिंसा भी होती है, परन्तु कार्य हो चुकने पर—

अड़चनों के हट जाने पर—सुकाल होने पर फिर शुद्ध-धर्म का अनुष्ठान होता है और फिर मोक्षमार्ग सीधा हो जाता है, क्योंकि आपत्तिकाल दीर्घ काल तक नहीं रहता और न आपत्ति के समय उपभोग किये पदार्थों का संस्कार ही दृढ़ होता है, इसलिए आपद्धर्म के समय में उपयोग किये हुए व्यवहार शुद्धधर्म के समय कुछ भी अड़चन पैदा नहीं करते। यही सुनीति और वामनीति का निर्णय है और यही वेदादि शास्त्रों में आये हुए विरोधी वचनों की संगति है।

सुकाल और आपत्काल का फेरा आया ही करता है, इसीलिए शुद्धधर्म और आपद्धर्म का भी फेरा आया करता है। कहा नहीं जा सकता कि कब कौन-सी आपत्ति आ जाए और उससे बचने का क्या उपाय करना पड़े। यही समझकर आर्यों ने अपनी सभ्यता में आपद्धर्म को विशेष स्थान दिया है। हम कह आये हैं कि जिस प्रकार शुद्धधर्म आश्रमव्यवस्था की भूमिका पर स्थिर किया गया है उसी प्रकार आपद्धर्म वर्णव्यवस्था की भूमिका पर निर्मित किया गया है। आश्रमव्यवस्था जब तक स्थिर रहती है तब तक शुद्ध धर्म का व्यवहार होता है और मनुष्यसमाज पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती, किन्तु आश्रमव्यवस्था के तिरोभाव के साथ-ही-साथ संसार में आपत्तियों का दौरा शुरू हो जाता है, अतएव आपत्तियों का मुक़ाबला करने के लिए वर्णव्यवस्था की आवश्यकता होती है।

कहने को तो वर्ण चार हैं, परन्तु वे भी आश्रमों की भाँति दो ही हैं। दो वर्ण तो दो प्रधान वर्णों के सहायक हैं। प्रधान वर्णों में ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों की ही गणना है। जिस समय शुद्धधर्म का समय रहता है उस समय सब वर्ण ब्राह्मण्य ही रहते हैं, परन्तु आपत्तियों के आते ही क्षत्रिय वर्ण का आविर्भाव होता है और चारों वर्णों के अपने-अपने व्यवहार आरम्भ हो जाते हैं और जो जिस काम के योग्य होता है उसको उसी काम में लगा दिया जाता है तथा आपत्तियों को दूर कर दिया जाता है, इसीलिए वर्णव्यवस्था की तुलना शरीर के साथ की गई है और सिर ब्राह्मण, बाहु क्षत्रिय, पेट वैश्य और पैर शूद्र माना गया है। आपत्तिरहित अवस्था में जिस प्रकार बिना हाथ और पैर का मनुष्य जी सकता है—जिस प्रकार बिना हाथ-पैर का सर्प अपनी पूर्ण आयु जी लेता है, उसी प्रकार शुद्धधर्म के समय ब्रह्मपरायण लोग भी जी सकते हैं, किन्तु आपत्ति के समय बिना हाथ-पैर के मनुष्य कोई काम नहीं कर सकता। उस समय केवल मस्तिष्क के द्वारा सम्पन्न होनेवाले ज्ञानविज्ञान और योगसमाधि से समाज का काम नहीं चल सकता, इसलिए आपद्धर्म का संरक्षक क्षत्रिय ही माना गया है और आपद्धर्म के समय समस्त प्रजा को क्षात्रधर्म में दीक्षित होकर राजा की आज्ञानुसार राष्ट्र के काम का बटवारा करके गुण-कर्म-स्वाभावानुसार अपने-अपने कामों में नियुक्त होना ही धर्म ठहाराय गया है। ऐसे समय में समस्त समाज राजन्य प्रधान हो जाता है।

भारतवर्ष में इस प्रकार के भी समय आ चुके हैं। महाभारत में लिखा है कि महाभारत के समय द्रोणाचार्यादि ब्राह्मण भी क्षात्रधर्म में ही दीक्षित हुए थे। इसका कारण यही है कि बिना इस प्रकार की सङ्गठित शक्ति के—बिना प्रत्येक व्यक्ति के सहयोग के आपत्ति टल ही नहीं सकती। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार शुद्धधर्मकाल में समस्त समाज ब्राह्मण्य रहता है, ब्राह्मण रीति-नीति का ही व्यवहार होता है और परिव्राट् के द्वारा दीक्षित होकर सब मनुष्य आश्रमों में ही स्थिर रहते हैं और मोक्षसाधन में ही लगे रहते हैं, उसी प्रकार आपत्काल में समस्त समाज राजन्य हो जाता है, सर्वत्र राजनीति का ही व्यवहार होने लगता है और सम्राट् के द्वारा दीक्षित होकर सब मनुष्य चार वर्णों में विभक्त हो जाते हैं और आपत्ति के हटाने में लग जाते हैं, परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि शुद्धधर्म के समय वर्णों का अभाव हो जाता है और आपद्धर्म के समय आश्रमों का

लोप हो जाता है, प्रत्युत यह समझना चाहिए कि दोनों समयों में वर्णाश्रमव्यवस्था के कुछ-न-कुछ बीजांकुर बने रहते हैं, क्योंकि सुकाल और आपत्काल का फेरा सदैव होता ही रहता है। यही कारण है कि धर्मशास्त्रों में वर्णव्यवस्था के दो प्रकार के प्रमाण मिलते हैं। जिस समय शुद्ध धर्म का व्यवहार होता है और समस्त व्यवहार आश्रम व्यवस्था के अनुसार ही चलते हैं उस समय लोग ब्राह्मण स्वभाववाले और आश्रमों के रंग में रंगे और मोक्षमार्ग के पथिक ही रहते हैं। उस समय सब काम धर्मानुसार ही चलता है, कोई आपत्ति नहीं होती, इसलिए किसी वर्ण का वास्तविक स्वरूप भी प्रकाशित नहीं होता, प्रत्युत सब वर्ण लुप्त हो जाते हैं, किन्तु जिस समय आपद्धर्म का व्यवहार होता है और समस्त व्यवहार वर्णव्यवस्था के अनुसार ही चलते हैं उस समय वर्णव्यवस्था गुण-कर्म और स्वाभावानुसार मानी जाती है और जो जिस काम के योग्य होता है वह उस काम में लगा दिया जाता है। उस समय भगवान् मनु के आदेशानुसार आवश्यकता पड़ने पर भूतपूर्व आपत्काल के समय में ब्राह्मण कहलानेवाले मनुष्य शूद्र और भूतपूर्व आपत्काल के समय में शूद्र कहलानेवाले लोग ब्राह्मण हो जाते हैं। इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्यों के वर्णों में भी अदला-बदली हो जाती है। इसका कारण यही है कि आपत्ति के समय वर्णधर्म का पालन ठीक-ठीक किया जाता है। इसलिए जो जिस काम को अच्छी प्रकार कर सकता है, वह उसी काम में लगा दिया जाता है, जिससे काम में त्रुटि न हो और सङ्कट टालने के लिए समस्त समाज वर्णों में विभक्त होता हुआ क्षात्रधर्म प्रधान हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि ब्राह्मणशक्ति और क्षात्रशक्ति हर समय स्थिर रहती है और आवश्यकतानुसार आपत्काल में स्पष्ट रूप से आविर्भूत हो जाती है। यही आर्यों की नीति का रहस्य है और यही उनकी वर्णव्यवस्था का आदर्श है। इस आदर्श का वर्णन करते हुए वेद उपदेश करते हैं—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह। तं लोकं पुण्यं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना ॥[1]

अर्थात् जहाँ ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति साथ-साथ रहती है और जहाँ पञ्चमहायज्ञों का अनुष्ठान स्थिर रहता है, वही देश पुण्य देश कहलाता है।

इन दोनों शक्तियों के सामञ्जस्य से ही देश में—जनसमाज में शान्ति स्थिर रह सकती है, अर्थात् दोनों शक्तियाँ जब एक दूसरे को सहायता देती हैं तभी लोक-परलोक के कार्य सम्पन्न होते हैं। भगवान् मनु कहते हैं—

नाब्रह्म क्षत्रमृघ्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते। ब्रह्म क्षत्रं च संपृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥

—मनु० ९।३२२

अर्थात् न बिना ब्रह्मशक्ति के क्षात्रशक्ति बढ़ सकती है और न बिना क्षात्रशक्ति के ब्रह्मशक्ति ही बढ़ सकती है, प्रत्युत दोनों के मेल से ही लोक-परलोक की उन्नति होती है।

यही आर्यों की नीति है और यही वर्णव्यवस्था की उपयोगिता है, किन्तु इस प्राचीन वर्णव्यवस्था की वर्त्तमान दुर्दशा को जानते हुए भी लोग कहते हैं कि आर्यों की वर्णव्यवस्था किसी काम की नहीं है। वे इसमें तीन दोष बतलाते हैं। वे कहते हैं कि एक तो वर्णव्यवस्था से सुसंगठित मानवसमाज के चार विभाग हो जाते हैं और ऐक्यता नष्ट हो जाती है तथा युद्ध करनेवाले थोड़े से क्षत्रिय ही रह जाते हैं, शेष वर्ण युद्धकलाहीन हो जाते हैं। दूसरे केवल लड़नेवाली जाति ही का प्रभुत्व हो जाता है और उसी जाति के विशेष व्यक्ति के हाथ से ही मनमाना शासन होता है। तीसरे प्राचीन क्षत्रियों की रणकला न तो आजकल के विज्ञानजात

१. यजुः० २०।२५

रणकौशलों के साथ मुक़ाबला करने की योग्यता ही रखती है और न उसके पास वर्त्तमान यूरोप की भाँति कलायुक्त शस्त्रास्त्र, यान और युद्धोपकरण ही उपस्थित हैं, इसलिए राष्ट्रनिर्माण का वह प्राचीन वर्णव्यवस्था का आदर्श इस समय के लिए उपर्युक्त नहीं है।

यद्यपि सुनने में ये शंकाएँ बड़ी प्रबल प्रतीत होती हैं, परन्तु वर्णव्यवस्था के यथार्थ स्वरूप पर विचार करने से तीनों शंकाएँ बेदम हो जाती है। जो लोग कहते हैं कि वर्णव्यवस्था अनैक्यता उत्पन्न करती है—एक जाति को चार विभागों में बाँट देती है वे ग़लती पर हैं। उनकी यह बात यथार्थ नहीं है। यह शंका तो वर्त्तमान अस्तव्यस्त वर्णव्यवस्था को देखकर उत्पन्न हुई है, परन्तु वास्तविक वर्णव्यवस्था में इस प्रकार की शंका का अवकाश नहीं है, क्योंकि वास्तविक वर्णव्यवस्था का प्रादुर्भाव तो आपत्ति से, संकट से, मृत्यु और दुःख से बचने के लिए ही होता है और सारे राष्ट्र की सम्मति से राष्ट्र का काम चलाने के लिए स्थिर किया जाता है और जिसकी जैसी योग्यता होती है वह उसी काम में नियुक्त किया जाता है, अर्थात् वह नियुक्ति गुण-कर्म और स्वाभावानुसार होती है। कर्म से आर्यों और दस्युओं का विभाग होता है, गुण से द्विजों और शूद्रों का विभाग होता है और स्वभाव से ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों का विभाग होता है। दुष्टकर्म करनेवाले अनार्य कहलाते हैं। वे चाहे विद्वान् और गुणवान् हों, परन्तु यदि उनका व्यवहार अच्छा नहीं है, यदि वे पापी और दुष्ट हैं तो वे आर्यसमाज में नहीं रह सकते। कर्म की कसौटी से दुष्टों को पृथक् करके शुद्ध आर्यों को गुण की कसौटी से दो भागों में बाँटा जाता है। इन विभागों का नाम द्विज और शूद्र है। जिन्होंने ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या, सभ्यता और सदाचाररूपी गुणों को धारण किया है वे द्विजविभाग में समझे जाते हैं और जिन्होंने इन गुणों को धारण नहीं किया वे शूद्र कहलाते हैं। विद्वान्, गुणवान्, ब्रह्मचारी और सदाचारी ही राष्ट्र का काम चला सकता है, इसलिए द्विजों को ही राष्ट्र के काम में नियुक्त किया जाता है, क्योंकि आपत्ति के समय राष्ट्र को प्राय: तीन प्रकार के उत्तरदायियों की आवश्यकता रहती है। राष्ट्र चाहता है कि चाहे जितनी आपत्ति आवे, पर बच्चों की शिक्षा का काम बन्द न हो। इसी प्रकार चाहे जितना संकट उपस्थित हो, परन्तु शत्रु से देश और धर्म की रक्षा की जाए और चाहे जैसा भयङ्कर समय हो जीविका का प्रबन्ध शिथिल न होने पावे।

इन तीनों प्रकार के प्रबन्धों के लिए समस्त द्विजों को तीन भागों में बाँटकर तीनों प्रकार के कार्यों में लगा दिया जाता है। यह कार्यविभिन्नता द्विजों के स्वभावानुसार की जाती है। जिसके स्वभाव का जैसा झुकाव देखा जाता है उसको उसी काम में नियुक्त किया जाता है। जो पढ़ाने की ओर विशेष रुचि रखते हैं उनको शिक्षा का काम, जो शूरवीर और निर्भय होते हैं उनको रक्षा का काम और जो पशुपालन तथा कृषि की ओर रुचि रखते हैं उनको जीविका का काम दिया जाता है। इसी प्रकार जो अशिक्षित (शूद्र) हैं उनको सेवा का काम दिया जाता है। आपत्ति के समय यदि इस प्रकार से कामों का बटवारा न कर दिया जाए और सारी प्रजा एक ही काम में लगा दी जाए तो कभी स्वप्न में भी रक्षा नहीं हो सकती। सबके सब लड़ने ही लगें तो सेना के लिए युद्धोपकरण—शस्त्र, यान और खाद्य—कौन तैयार करे और भावी युवकों को योग्य बनाने के लिए शिक्षा कौन दे? इसलिए आपत्ति के समय कामों का बटवारा करके राष्ट्र का काम चलाने के लिए एक जाति को चार भागों में बाँटना ही पड़ता है, परन्तु इस बटवारे का यह अर्थ नहीं है कि एक विभाग का दूसरे विभाग से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता। आपत्ति के समय सभी विभाग एकमत होकर आपत्ति को हटाने में जुट जाते हैं, जैसेकि आवश्यकता पड़ने पर द्रोणाचार्य शिक्षा का काम छोड़कर युद्ध करने लग गये थे। कहने का तात्पर्य यह कि आपत्ति के समय समस्त जनसमाज राजा के अधीन रहकर अपनी योग्यता के अनुसार आवश्यक विभाग का काम करता

है, इसलिए इस वर्णव्यवस्था में अनैक्ता और सैनिकों की कमी की अड़चन नहीं आती।

दूसरी शंका जिसमें राजा के एकहत्थे राज्य की बात कही जाती है, परन्तु उसमें भी ग़लती है। आर्यों का राजा अकेला जो कुछ चाहता था वह कभी नहीं कर सकता था। उसके साथ सदैव विचार करने के लिए एक वेदज्ञ पण्डितों की सभा रहा करती थी, जिसकी सम्मति से राजा शासन करता था, किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि राजा की भाँति यह सभा भी मनमाना क़ानून नहीं बना सकती थी। यहाँ नवीन क़ानून बनाने का रिवाज ही नहीं था। यहाँ तो भगवान् का बनाया हुआ क़ानून—वेद बिना किसी दलील और प्रमाण के चलता था। राजा और राजसभा तो केवल वेदानुकूल व्यवहार चलाने के लिए ही थी, नये क़ानून बनाने के लिए नहीं, अतएव चाहे राजा अकेला हो अथवा दश हज़ार सभ्यों की सभा हो किसी को नया धर्म, नया नियम और नया विधान जारी करने का अधिकार नहीं था। उस समय ऐरेग़ैरों का बहुमत नहीं लिया जाता था। उस समय तो यह नियम था—

एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यस्ययेद् द्विजोत्तमः। स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

—मनु० १२।११३

अर्थात् एक भी वेदज्ञ जिस बात को कहे वही धर्म माना जाए और वेदहीन दश हज़ार मनुष्यों की बात भी न मानी जाए।

इसका कारण वेदों की अपौरुषेयता ही था। आर्यों के विश्वासानुसार वेद ही ऐसा क़ानून है जो ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण सबको समानरूप से लाभ पहुँचानेवाला है, इसीलिए उन्होंने नये क़ानूनों को कभी नहीं बनाया। आजकल संसार में जिस प्रकार के बहुमत का रिवाज चल रहा है, वह बहुत ही हानिकारक है, क्योंकि संसार में सभी मनुष्य धर्मात्मा नहीं होते। विशेषकर आपत्ति के समय तो बहुत ही थोड़े आदमी धर्मात्मा और विद्वान् होते हैं। यदि सभी धर्मात्मा और विद्वान् हों तो बहुमत की—राजसभा की आवश्यकता ही न हो। क़ानून के पालन कराने की आवश्यकता तो तभी होती है जब जनसभा अशिक्षित, अधर्मी और कर्महीन होती है, परन्तु अशिक्षित और अधर्मी समाज का बहुमत भी वैसा ही होता है, जैसी उसकी रुचि होती है। शराब पीनेवाले कभी शराब के विरुद्ध अपना मत दे ही नहीं सकते। विलासी, कामलोलुप, स्वार्थी और परोपभोगी कभी अपने स्वार्थ के विरुद्ध अपना मत दे ही नहीं सकते, इसलिए सभी के मत से क़ानून के बनाने की प्रथा ठीक नहीं है। प्रथा तो वही उत्तम है कि जो प्राचीन वैदिक आर्यों की सभ्यता के अनुसार चलाई जाए।

अब रही तीसरी शंका, उसके उत्तर में निवेदन है कि जिस प्रकार के लोगों के साथ युद्ध करना उचित था, उन लोगों का दमन करने के योग्य प्राचीन आर्यों के पास युद्धोपकरण थे, किन्तु जिस प्रकार के लोगों के साथ युद्ध करना उचित नहीं था, उनके साथ युद्ध करने योग्य उपकरण भी नहीं थे। आर्यसभ्यता में युद्ध के लिए स्थान तो है, परन्तु युद्ध की मर्यादा भी है। 'कब, किसके साथ, किस प्रकार युद्ध करना चाहिए'—ये बातें आर्यों की सभ्यता में विशेष स्थान रखती हैं, क्योंकि आर्यलोग युद्ध का यह अर्थ नहीं मानते थे कि बिना सोचे-समझे जहाँ देखो वहीं लड़ मरो। इसीलिए युद्ध के विषय में भगवान् मनु लिखते हैं—

अनित्यो विजयो यस्माद् दृश्यते युद्धमानयोः। पराजयश्च संग्रामे तस्माद्युद्धं विवर्जयेत्॥
एवं विजयमानस्य येऽस्य स्युः परिपन्थिनः। तानानयेद्वशं सर्वान् सामादिभिरुपक्रमैः॥
यदि ते तु न तिष्ठेयुरुपायैः प्रथमैस्त्रिभिः। दण्डेनैव प्रसह्यैतांश्छनकैर्वशमानयेत्॥

—मनुस्मृति [७।१९९, १०७, १०८]

अर्थात् संग्राम में लड़नेवालों के जय और पराजय अनित्य हैं, इसलिए युद्ध न करना चाहिए। सबसे पहले तो विरोधियों को सामादि उपायों से ही वश में करना चाहिए, परन्तु यदि समादि तीनों उपायों से शत्रु न मानें तो दण्ड (युद्ध) से ही वश में करना चाहिए।

इन प्रमाणों से पाया जाता है कि युद्ध कोई बहुत आवश्यक वस्तु नहीं है। वह तो उन मूर्खों, जंगली, बर्बरों और अत्याचारियों को वश में करने के लिए है जो न ज्ञान जानते हैं, न विज्ञान, न नीति जानते हैं, न धर्म और न हानि जानते हैं और न लाभ, प्रत्युत लोगों को सताना ही जिनका उद्देश्य है। युद्ध उनके लिए नहीं है जो प्रत्येक बात को भली-भाँति समझते हैं। यही कारण है कि आर्यों ने सदैव बर्बरों के साथ ही युद्ध किया है और उनको ही परास्त किया है। रावण से लेकर सिकन्दर, ग़ोरी, ग़ज़नी और औरंगज़ेब तक के साथ आर्यलोग युद्ध करते रहे हैं और सबको परास्त किया है। यद्यपि मुसलमानों को परास्त करने में उनको चार सौ वर्ष लगे हैं तथापि अन्त में उन्होंने उनको भी परास्त ही कर दिया है। रहे यूरोपवासी, वे भी आरम्भ में व्यापारिक रूप से यहाँ आये और धीरे-धीरे देश के स्वामी बन गये, अतः इनके साथ युद्ध करने का ठीक प्रकार अवसर ही नहीं आया। इन्होंने आरम्भ से ही अपनी सभ्यता, प्रबन्ध, ज्ञान और कलाकौशल का हमपर ऐसा सिक्का जमाया कि हमने कभी इनको अपना शत्रु ही नहीं समझा। शत्रु न समझने का कारण यह था कि ये बर्बर नहीं, किन्तु सभ्य और उदात्त विचारवाले थे। आर्यों का विश्वास था कि ऐसे लोगों से अधिक भय नहीं है। आर्यों का यह अनुमान ग़लत नहीं था। उनके अनुमान के प्रमाण समय-समय पर मिलते रहे हैं और विशेषरूप से इस समय मिल रहे हैं। आज समस्त संसार में साम्यवाद की जो चर्चा फैल रही है, जर्मनयुद्ध के समय से अब कोई देश किसी अन्य देश पर अधिकार करने के लिए प्रयास नहीं करता, इंग्लैंड के अनेक अधीन देश धीरे-धीरे स्वतन्त्र हो रहे हैं और भारतवर्ष में भी स्वतन्त्रता का शंखनाद चारों ओर बज रहा है, इस समस्त संसारव्यापिनी स्वतन्त्रता के जन्मदाता और विस्तारकर्ता कौन हैं? हम हैं, या चीनवाले हैं, या अमरीकावाले हैं, या अफ़ग़ानिस्तान के पठान हैं?

हमारी समझ में तो इनमें से कोई नहीं है। इसका यदि किसी को श्रेय है तो वह केवल यूरोपनिवासिनी जातियों को ही है। उन्हींने ही इस सार्वभौम स्वतन्त्रता का सिंहनाद किया है, अतएव इस प्रकार की स्वतन्त्रताप्रिय, विद्याव्यसनी और उच्च विचारवाली जातियों के साथ युद्ध करने के लिए आर्यलोग कैसे तैयारी करते? जिन जातियों ने आरम्भ से ही अपनी उर्वराशक्ति के द्वारा हर्बर्ट स्पेंसर, टालस्टाय,लेनिन और ऐसे ही अनेक महान् पुरुषों को जन्म दिया है, जिन जातियों के लाखों आदमी आज विश्वस्वातन्त्र्य का प्रयत्न कर रहे हैं और जिन जातियों ने संसार को अमित विद्याभण्डार का दान दिया है उन जातियों के साथ युद्ध की तैयारी करना आर्यस्वभाव के विपरीत है। वे तो धीरे-धीरे उन्हीं बातों की ओर आ रही हैं जो सर्वथा आर्यसभ्यता के अनुकूल हैं, इसलिए यूरोपवासियों के साथ अथवा इसी प्रकार की उन्नत सभ्यता प्राप्त किसी भी जाति के साथ आर्यलोग युद्ध नहीं करते। यही कारण हैं कि यहाँ कलायुक्त यन्त्रों का भी आविष्कार नहीं किया गया। यहाँवालों को विश्वास था कि जो जातियाँ ज्ञान-विज्ञान में इतनी उच्च और उन्नत होंगी उनसे हमें अधिक हानि न होगी। आर्यों की ऐसी समझ और धारणा को राजनैतिक ग़लती नहीं कहा जा सकता। आर्यों की-सी उच्च सभ्यता में पहुँचकर कोई भी मनुष्यजाति, चाहे वह पहले कितनी ही बर्बर रही हो, इसी परिणाम पर पहुँचती है।

यूरोप के विकसित मस्तिष्क भी आज इसी परिणाम पर पहुँचे हैं। वहाँ भी युद्धों को बन्द कराने और संसार से कुटिलता की जड़ खोद डालनेवाले लाखों आदमी पैदा हो गये हैं। तारीख़

२३ मई सन् १९२५ के 'वर्त्तमान' पत्र में छपा था कि 'अपनी मृत्यु से पहले १० दिसम्बर सन् १९१० ई० में महात्मा टालस्टाय ने एक पत्र लिखा था कि अन्धकार की वह दशा जिसमें मानवजाति डूबी जा रही है और भी भयङ्कर हो जाती यदि सैकड़ों मनुष्य अपने जीवन को सङ्कट में डालकर उसके रोकने का प्रयत्न न करते। अधिकारियों की ओर से उनको हर प्रकार के दण्ड दिये जाने का भय दिखलाया गया, परन्तु वे तिलभर भी नहीं डिगे। वे स्वतन्त्र रहने के इच्छुक हैं, इसलिए वे अधिकारियों की आज्ञाओं का पालन नहीं करते, वरन् वे अपनी आत्मा की आवाज़ पर आचरण करते हैं। मैं मरने के निकट हूँ, परन्तु मैं यह देखकर प्रसन्न हूँ कि उन मनुष्यों की संख्या बढ़ती जा रही है जो अधिकारियों की ओर से मानवजाति के संहारक पद दिये जाने पर भी शान्ति के साथ इन्कार कर देते हैं और अवज्ञा करने का दण्ड स्वयं भोग लेते हैं। रूस में ऐसे युवक बहुत हैं, जो जेल की भयङ्कर यातनाएँ भोग रहे हैं। उन्होंने अपने पत्रों में लिखा है तथा मिलनेवालों से बतलाया है कि वे जेल में बड़ी शान्ति से हैं'।

'केवल रूस में ही नहीं वरन् महायुद्ध के समय सन् १९१५ में हालैंड में भी एक संस्था युद्ध रोकने के उद्देश्य से स्थापित की गई थी। उसने एक घोषणापत्र भी निकाला था। उस समय उसके सञ्चालक गिरफ़्तार कर लिये गये थे, परन्तु अब हालैंड सरकार ने उसके प्रकाशन तथा उसकी एक लाख प्रतियाँ वितरण करने की आज्ञा दे दी है। घोषणापत्र का आशय इस प्रकार है—हम युद्धनीति के विरोधी स्त्री–पुरुष देख रहे हैं कि लोगों में शान्ति की भावना बढ़ रही है और जो लोग सोल्जर नहीं बनना चाहते उनकी संख्या शनैः–शनैः निरन्तर वृद्धि करती जा रही है, अतः हम दृढ़ता के साथ घोषित करते हैं कि हमने निश्चय कर लिया है कि हम हर प्रकार की फ़ौजी नौकरी करने से इन्कार करते हैं। केवल बारक रूमों, ट्रेञ्चों, युद्धसैनिकों और हवाईजहाज़ों की सर्विस से ही हम इन्कार नहीं करते, वरन् युद्धसामग्री बनानेवाले समस्त कारख़ानों और ट्रांसपोर्ट के डिपुओं से भी अपनी पृथक्ता प्रकट करते हैं। सारांश यह कि कोई भी ऐसा कार्य जो युद्ध की तैयारी के सम्बन्ध में होगा, हम लोग उसमें भाग न लेंगे। हम यथासम्भव युद्ध के लिए एकत्र होनेवाली सेनाओं को भी इकट्ठा होने से रोकेंगे। जो बन्धु युद्ध बन्द करने के पक्षपाती हों, वे हममें सम्मिलित हों और जब युद्ध प्रारम्भ हो, तब उसके बन्द कराने का प्रयत्न करें। इस संस्था की ओर से एक पत्र भी निकलता है, जो सदैव युद्ध के विरुद्ध प्रचार किया करता है। अमेरिकन महिलाओं ने भी अपने देश में इसी उद्देश्य से एक संस्था खोली है'।

इतना ही नहीं किन्तु यूरोपवासियों की सभ्यता इतनी उच्चता को पहुँचती जाती है कि अब उनके वैज्ञानिक स्वयं ही वैज्ञानिक युद्धोपकरणों को तैयार करने के लिए रज़ामन्द नहीं हैं। तारीख़ १० दिसम्बर सन् १९२१ के 'आदर्श' पत्र में लिखा है कि 'इटन नगर के प्रसिद्ध अध्यापक डॉक्टर लिटिल्स्टन ने कहा था कि सालभर पूर्व युद्धविभाग (War Office) ने दो बड़े वैज्ञानिकों को लिखा था कि वे एक ऐसी विषैली गैस तैयार करें जो आधे मिनट में एक पूरे नगर को नष्ट कर दे, परन्तु दोनों विद्वानों ने यह उत्तर दिया कि हम ऐसी विद्या का इस प्रकार दुरुपयोग नहीं कर सकते'। यूरोप के वैज्ञानिकों में अब अधिकांश ऐसे विद्वान् हैं जो युद्धों को पसन्द नहीं करते। वे नहीं चाहते कि विज्ञान के द्वारा विज्ञानवादियों का नाश किया जाए। इस बात का प्रमाण उस पत्र से मिलता है जो जर्मन युद्ध के बाद इंग्लैंड की ऑक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी के प्रोफ़ेसरों, डॉक्टरों और अन्य विद्वानों ने जर्मनी के विद्वानों को लिखा था। सन् १९२० में हिन्दोस्तान पत्र में छपा था कि 'ब्रिटिश विद्वानों ने जर्मनी के विद्वानों को पत्र लिखा है—हे जर्मनी और आस्ट्रिया के वैज्ञानिको! रासायनिको और अन्य विद्वानो! गत युद्ध के कारण थोड़े समय के लिए हम

लोगों की मैत्री भङ्ग हो गई थी, जिसके लिए हमें खेद है और हम जानते हैं कि आप लोगों को भी खेद हुए बिना न रहा होगा। हम आशा करते हैं कि पुरानी मैत्री को फिर से जोड़ने का प्रबन्ध दोनों ओर के विद्वान् करेंगे। युद्ध के समय स्वदेशाभिमान के कारण जो कुछ वैरबुद्धि उत्पन्न हो गई है उसको जल्दी ही परित्याग करने की आवश्यकता है। युद्ध के समय हम लोगों का ध्यान एक-दूसरे के विरुद्ध दिशाओं में था, परन्तु अब दोनों पक्षों के बीच विद्वानों का मान एक ही समान होने से मेल-मिलाप असम्भव नहीं है। आध्यात्मिक शक्तिओं को ध्यान में रखकर एक अथवा एक से अधिक जातियों की उचित पहचान करने में हम लोगों को देर न करनी चाहिए। राजनैतिक मतभेद संसार की पृथक्-पृथक् जातियों के बीच में विक्षेप कर रहा है, ऐसी दशा में हमें जिस संस्कृति की आवश्यकता है उस मैत्रीभाव की संस्कृति की स्थापना के लिए जो कुछ बन पड़े वह शीघ्र करना चाहिए'।

इस पत्र से स्पष्ट हो रहा है कि युद्ध से विद्वानों को कष्ट हुआ था, अत: वे मैत्री की संस्कृति को अब सुदृढ़ करना चाहते हैं, जिससे भविष्य में फिर युद्ध न हो। यह पत्र इंग्लैंड के निवासियों का है। इंग्लैंड निवासियों को लोग संसारभर में सबसे अधिक पतित समझते हैं, किन्तु वहाँ के विद्वान् भी वैज्ञानिक युद्धों को अच्छा नहीं समझते। इतना ही नहीं प्रत्युत इंग्लैंड में तो इतने अच्छे आदमी उत्पन्न हो गये हैं कि वे अपनी जाति के दुष्ट मनुष्यों से बचने के लिए दूसरे देश के निवासियों को सचेत करने में भी नहीं चूकते। एक बार जापान के मारकुइस इटो ने हर्बर्ट स्पेंसर से जापान की रक्षा के लिए कुछ प्रश्न पूछे थे। स्पेंसर ने रक्षा के अनेक उपाय बतलाते हुए यह भी लिखा था कि 'जापान में अंग्रेज़ अथवा किसी भी विदेशी को बसने का अधिकार न देना'। कितना स्पष्ट सत्य है, इसलिए हम कहते हैं कि जिन जातियों की सभ्यता का विकास इस प्रकार हो चुकता है वे युद्धों से, वैज्ञानिक युद्धोपकरणों से और प्रत्येक प्रकार की कुटिलता से धीरे-धीरे पृथक् हो जाती हैं, अतएव विज्ञान-कुशल जातियों के साथ वैज्ञानिक युद्धों की तैयारी करना राजनैतिक भूल है और आर्यों के पास कलायुक्त युद्धोपकरणों के अभाव के कारण वर्णव्यवस्था को निकम्मी बतलाना उससे भी अधिक भूल है, क्योंकि सभ्य जातियों के साथ आर्यों ने सदैव वैदिक विचारों और आर्य-आचारों के ही द्वारा युद्ध किया है। इस प्रकार के युद्ध पूर्व समय में हुए हैं। पूर्वकाल में यहाँ के ऋषियों ने अमेरिका, आस्ट्रेलिया, पेलिस्टाइन, मिस्र और ईरान में अपनी सभ्यता और आचार का प्रचार करके वहाँ की प्रजा को पराजित किया है। यही कारण हैं कि आर्यसभ्यता के आदिम राजनीतिज्ञ भगवान् मनु कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

—मनुस्मृति [२।२०]

अर्थात् ब्रह्मावर्त्त के ब्राह्मणों से समस्त संसार के मनुष्य सदाचार की शिक्षा प्राप्त करें।

प्राचीन आर्य ऋषि अपनी इसी वैदिक शिक्षा—सदाचार से संसार की समस्त जातियों को अपना शिष्य बनाकर उनपर अपना प्रभाव जमाते थे। आज भी वैदिक विचारों को प्रचार द्वारा और आर्य-अचारों को अपने सादे और तपस्वी व्यवहारों के द्वारा हम दूसरी सभ्य जातियों तक पहुँचा सकते हैं और उन्हें प्रभावित कर सकते हैं। ऐसा करना हमारी सभ्यता का एक विशेष अङ्ग है। आज यदि हम आर्यभोजन, आर्यवस्त्र, आर्यगृह और आर्यगृहस्थी के साथ अपना निर्वाह करने लगें और शृङ्गार, विलास तथा कामुकता को छोड़कर तपस्वी बन जाएँ और देश-देशान्तरों में जाकर अपने आचार का नमूना दिखलाते हुए वैदिक विज्ञान का प्रचार करें तो सभ्य जातियाँ हमारी सभ्यता को स्वीकार कर लें और अनायास ही परास्त हो जाएँ और परतन्त्रता नष्ट हो जाए,

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, क्योंकि विदेशियों ने हमें हमारी वास्तविक सभ्यता से हटाकर शौक़ीन, विलासी और लोलुप बनाकर ही—दास बनाया है, इसलिए यदि हम अपने वैदिक रहन-सहन में आ जाएँ तो अनायास ही विजय प्राप्त कर सकते हैं। इस बात को हम अपनी एक ऐतिहासिक आख्यायिका से अच्छी प्रकार समझ सकते हैं।

रामायण में लिखा है कि लंका जाते समय हनुमान् को रास्ते में सुरसा मिली। सुरसा ने हनुमान् को खा डालने के लिए अपना मुँह फैलाया। हनुमान् ने भी अपना शरीर अधिक फुला दिया। इसपर उसने अपना मुँह और भी अधिक फैलाया, तब हनुमान ने आर्यनीति का स्मरण किया और झट छोटे हो गये कि उसके मुँह में बिला गये। अत्यन्त छोटा होने के कारण न तो वह उन्हें दाँतों से ही दबा सकती थी और न जिह्वा से ही टटोल सकती थी। अन्त में वह लाचार हो गई और हनुमान् उसके फेर से बच गये। यह आर्यनीति की आख्यायिका है। इसमें बतलाया गया है कि यदि सभ्य शत्रु अपनी विद्या, सभ्यता, धन, ऐश्वर्य, यन्त्र, शस्त्र और नीति का स्वरूप बेहद बढ़ाकर खा डालने के इरादे में हो तो आर्यों को चाहिए कि वे अपने अत्यन्त सादे, धार्मिक और तपस्वी जीवन द्वारा हर प्रकार की महत्ता को निरर्थक कर दें। सभ्य शत्रुओं के प्रति आर्यों की सदैव यही नीति रही है। उन्होंने सदैव बर्बरों को दण्ड से और सभ्यों को उपदेश और तप से—सादगी और धार्मिकता से ही वश में करने का आयोजन किया है, इसीलिए उन्होंने शुद्धधर्म का केन्द्र परिव्राट् और आपद्धर्म का केन्द्र सम्राट् को माना है और बर्बरों को सम्राट् के द्वारा तथा सभ्यों को परिव्राट् के द्वारा परास्त किया है और सदैव स्वतन्त्रता का ध्येय अपने सामने रक्खा है। उन्होंने स्वतन्त्रता को अपनी सभ्यता का मूल माना है और सोते जागते इस बात को कभी नहीं भूले कि **'सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्'**,[1] अर्थात् परवशता ही महान् दुःख है और स्वतन्त्रता ही महान् सुख है। यही कारण है कि आर्यों की इस मनोवृत्ति को सफल बनाने के लिए भगवान् मनु उपदेश करते हैं कि—

स्ववीर्याद्राजवीर्याच्च स्ववीर्यं बलवत्तरम्। तस्मात् स्वेनैव वीर्येण निगृह्णीयादरीन् द्विजः॥

—मनुस्मृति [११।३२]

अर्थात् आत्मबल और राजबल में अपना आत्मबल ही महान् है, इसलिए आर्यों को चाहिए कि वे अपने सभ्य शत्रु को अपने आत्मिक बल से ही निवारण करें। यही धर्म और आपद्धर्म का सारांश है।

इस धर्म और आपद्धर्म के मिश्रित बल को वर्णाश्रमव्यवस्था कहते हैं। यह वर्णाश्रमव्यवस्था भारतीय वैदिक आर्यों के अतिरिक्त संसार में और कहीं नहीं पाई जाती। आर्यों का धर्म इसी में ओतप्रोत है और यही अपने शुद्धधर्म और आपद्धर्म का विशाल नीति से लोक तथा परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ, काम और मोक्ष से सामञ्जस्य उत्पन्न करके केवल मनुष्यजाति को ही नहीं प्रत्युत समस्त प्राणिसमूह को सुखी, शान्त और मोक्षाभिमुखी बनाती है। यही आर्यधर्म का आदर्श है और यही धर्म की प्रधानता का रहस्य है।

यहाँ तक हमने आर्यसभ्यता का संक्षेप में वर्णन करके दिखलाया और बतलाया कि आर्यों ने वेदों के उपदेशों से किस प्रकार सभ्यता की रचना की और किस प्रकार उस सभ्यता को संसार के लिए उपयोगी तथा लाभदायक सिद्ध किया। आर्यों की सभ्यता के इस प्रकार उपयोगी होने का कारण उसकी स्वाभाविकता है और स्वाभाविकता का कारण उसकी अपौरुषेयता ही है। यह

१. मनु० ४।१६०

अपौरुषेय आर्यसभ्यता मनुष्यकृति नहीं है, प्रत्युत वह परमात्मा की सुझाई हुई है। जिस प्रकार परमात्मा ने सृष्टि के आदि में आर्यों को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार परमात्मा ने ही उनकी सभ्यता को भी वैदिक ज्ञान के द्वारा निर्माण करने की सूचना दी है। यही कारण है कि आर्यसभ्यता संसार के समस्त मनुष्यों, पशु-पक्षियों, कीट-पतङ्गों और तृण-पल्लवों को एक ही समान लाभदायक तथा सबको लोक-परलोक के सुखों की देनेवाली सिद्ध हुई है। हमने अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया है कि यह सभ्यता वेदमन्त्रों के आधार पर रची गई है और पर्याप्त वेदमन्त्रों को लिखकर तथा आर्यसभ्यता की रचना को दिखलाकर स्पष्ट कर दिया है कि दोनों अङ्ग एक दूसरे में ओत-प्रोत हैं। यही वेदों की शिक्षा का रहस्य है और यही इस चतुर्थ खण्ड का सारांश है।

इस चतुर्थ खण्ड ही में इस पुस्तक के प्रधान प्रतिपाद्य विषय का वर्णन है। हमने उपक्रम में जिस आधुनिक यूरोपीय नेचरवाद से सम्बन्ध रखनेवाली विचारमाला को लिखकर और उसमें कई एक त्रुटियों की सूचना देकर इस पुस्तक का उपक्रम किया है उसी भावको इस चतुर्थ खण्ड में विस्तार से दिखला दिया है और उन त्रुटियों की पूर्ति का उपाय भी इस चतुर्थ खण्ड में विस्तार से दिखला दिया है। हमने इस 'वैदिक सम्पत्ति' के चारों खण्ड लिखकर क्रम से यह बात अच्छी प्रकार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है, इसलिए उनमें बतलाई हुई वर्णाश्रमव्यवस्था के द्वारा शुद्धधर्म और आपद्धर्म के प्रतिनिधि परिव्राट् और सम्राट् की सहायता से समस्त मनुष्यसमाज को ईश्वर-प्राप्ति की ओर लगाकर ही संसार को सुखी बनाया जा सकता है और इसी व्यवस्था के द्वारा सबको लोक तथा परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। यही इस वैदिक सम्पत्ति का तात्पर्य है और यही संसार के सुख-शान्ति का उपाय है। □□

ओ३म्

वैदिक सम्पत्ति

उपसंहार

वेदों के पाठ से, वैदिक साहित्य के अवलोकन से, वेदानुकूल अन्य समस्त लौकिक वाङ्मय के अनुशीलन से और आर्यों के रहन-सहन, रीति-रिवाज, तिथि-त्योहार, संस्कार और समस्त व्यवहारों पर एक गम्भीर दृष्टि डालने से सारी वैदिक सम्पत्ति का यही तात्पर्य निष्पन्न होता है कि मनुष्य मोक्ष को अपने जीवन का लक्ष्य मानकर ऐसा व्यवहार करे कि जिससे स्वयं दीर्घजीवन प्राप्त कर सके और किसी भी प्राणी की आयु तथा भोगों में किसी प्रकार का विघ्न उत्पन्न न हो, प्रत्युत वर्णाश्रम के द्वारा समाज का ऐसा सङ्गठन हो कि सरलता से सबकी रक्षा होती रहे और शिक्षा तथा दीक्षा से समस्त प्राणिसमूह मोक्षाभिमुखी बना रहे। आर्यों की शिक्षा और सभ्यता के किसी अङ्ग की आलोचना की जाए तो उसकी अन्तर्भावना से इसी उद्देश्य की पूर्ति की आवाज़ सुनाई पड़ेगी। आर्यों के प्राचीन किसी राजा, रानी, ऋषि, ब्राह्मण और वैश्य, शूद्र आदि के जीवन-चरित्र को ध्यान से पढ़ा जाए तो उससे यही ध्वनि निकलेगी, अर्थात् आर्यों की शिक्षा और सभ्यता अत्यन्त प्राचीन होने पर और अनेक प्रकार के संकटों और विपत्तियों का सामना करते हुए भी आज जीवित है। संसार में अनेक सभ्यताओं का जन्म हुआ और विस्तार हुआ, परन्तु आज उनका कहीं नाम व चिह्न भी शेष नहीं है, किन्तु आर्यों का आहार-विहार, वेश-भूषा, रहन-सहन, आचार-व्यवहार, यज्ञ-याग, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, धर्म-कर्म, दया-प्रेम, दर्शन-विज्ञान, योग-समाधि, कर्मफल, बन्ध-मोक्ष, ब्रह्मचर्य, पातिव्रत, गोभक्ति, वाटिकाभक्ति और कृमि-कीट आदि समस्त प्राणियों के साथ सहानुभूति आदि जितने आदिमकालीन मन्तव्य और कर्त्तव्य हैं वे आज भी ज्यों-के-त्यों पाये जाते हैं। इससे यह सहज ही अनुमान हो सकता है कि आर्यों की सभ्यता में अपनी रक्षा कर लेने की पूरी योग्यता है और उसको चिरजीवी रखने की पूर्ण शक्ति है, इसीलिए हमने उचित समय पर उसको संसार के सामने फिर उपस्थित करने का आयोजन किया है।

यूरोप में इस समय एक ऐसी व्यवस्था की खोज हो रही है जो सबको एकसमान लाभदायक हो और स्वयं स्थिर रह सकने की शक्ति रखती हो। इस उद्देश्य को लेकर यूरोपवासियों ने कई प्रकार की विधियाँ और व्यवस्थाएँ उपस्थित की हैं और उनकी ओर संसार की समस्त जातियाँ आकर्षित भी हुईं हैं, क्योंकि संसार का यह एक प्रबल नियम है कि मनुष्य जिससे प्रभावित होता है, उसी का अनुकरण करने लगता है। आज समस्त संसार में यूरोप प्रभावशाली है, इसलिए सभी देश उसका अनुकरण करते हैं। जब वह भौतिक उन्नति के द्वारा शृङ्गारिक धनिक का स्वाँग भरकर धनी और निर्धन के—मालिक और नौकर के रूप में दिखलाई पड़ा तो संसार के सभी देशों ने उसी प्रकार की नक़ल करना आरम्भ कर दिया और जब वह कामरेड संस्था के द्वारा साम्यवाद का रूप भरकर सामने आया तो सारे संसार में साम्यवाद का प्रचार होने लगा। जिस प्रकार उसने अपनी जंगली अवस्था से निकलकर आज तक भाँति-भाँति के अनेक रूप धारण

करके अनेक प्रकार के नमूने दिखलाये हैं और संसार को प्रभावित किया है, उसी प्रकार अब वह समस्त स्वाँगों से हताश होकर और थककर स्वयं ही प्राकृतिक जीवन की ओर आने का विचार कर रहा है। विचार ही नहीं कर रहा है, किन्तु प्राकृतिक जीवन के अनुकूल व्यवहार भी करना आरम्भ कर दिया है। यूरोप के हज़ारों आदमी सैकड़ों संस्थाओं, सैकड़ों पुस्तकों और सैकड़ों पत्रों के द्वारा वर्त्तमान भौतिक सभ्यता का खण्डन कर रहे हैं, वर्त्तमान यान्त्रिक उन्नति के द्वारा उत्पन्न हुई कला और विलास तथा कामुकता का घोर विरोध कर रहे हैं और भौतिकवाद के अनिवार्य परिणामरूप युद्धों का तिरस्कार कर रहे हैं। इतना ही नहीं प्रत्युत हज़ारों मनुष्यों ने वर्त्तमान नागरिक जीवन का परित्याग करके जंगलों में सादा जीवन (Natural life) बिताना भी आरम्भ कर दिया है।

जिस प्रकार अब तक यूरोप देश की अन्य रीति-नीतियों का प्रभाव दूसरों पर पड़ा है उसी प्रकार उसके इस प्राकृतिक जीवन का भी प्रभाव दूसरों पर पड़ रहा है और संसार के समस्त देशों में इस प्रकार के रहन-सहन की उपयोगिता की बड़ाई हो रही है। इतना ही नहीं, किन्तु थोड़े बहुत मनुष्यों ने संसार के समस्त देशों में इस प्राकृतिक जीवन के अनुकूल अपना जीवन बनाना भी आरम्भ कर दिया है। इससे ज्ञात होता है कि भौतिक उन्नति का परिणाम सबपर अच्छी प्रकार विदित हो गया है, इसलिए अब निश्चय ही उसका अन्त होनेवाला है, क्योंकि प्राकृतिक जीवनवादियों की सरल और सीधी बातें सबके हृदय में घर कर जाती हैं, उनकी बातें हृदय में जम जाती हैं और इस बात की उमङ्ग पैदा कर देती हैं कि वर्त्तमान नागरिक जीवन से हटकर आरम्भिक रहन-सहन के साथ ही रहना चाहिए। लोगों को स्पष्ट दिखलाई पड़ने लगता है कि बिना प्राकृतिक जीवन बनाये और बिना शृङ्गारिक जीवन से हटे जनसंख्या की वृद्धि का, समता की प्रवृत्ति का, दीर्घजीवन की अभिलाषा का और ईश्वर, जीव, कर्मफल और मोक्ष आदि पारलौकिक समस्याओं का कोई अच्छा समाधान निकल ही नहीं सकता। ठीक है, प्राकृतिक जीवन से उक्त समस्याओं का समाधान हो सकता है। सम्भव है कि सीधे-सादे जीवन से ब्रह्मचर्य के लिए सहारा मिले और सीधे-सादे जीवन से साम्यवाद की भी उलझन सुलझ जाए और दीर्घजीवन भी प्राप्त हो सके, परन्तु इस यूरोपीय प्राकृतिक जीवन में जो त्रुटि है जब तक वह न निकाल दी जाए तब तक यह सभ्यता चिरस्थायी नहीं हो सकती और न अधिक दिन तक मनुष्यजाति का कल्याण ही कर सकती है।

इस प्राकृतिक सभ्यता में जो सबसे बड़ी त्रुटि है वह यह है कि इस सभ्यता के प्रचार करनेवाले विद्वान् मनुष्य को भी प्रकृति के अनुसार चलनेवाला एक प्रकार का पशु ही समझते हैं। वे सदैव मनुष्य के रहन-सहन के दृष्टान्त पशुओं से ही दिया करते हैं। वे कहते हैं कि आदि में पशुओं की भाँति मनुष्य भी प्रकृति की आज्ञानुसार ही चलता था, तभी सुखी था और यदि वह फिर प्राकृतिक आज्ञाओं का पालन करने लगे तो फिर सुखी हो जाए, परन्तु यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि मनुष्य में हम आहार-विहार सम्बन्धी जो नियम देखते हैं वे पशुओं की भाँति प्रकृति की आज्ञाओं पर अवलम्बित दिखलाई नहीं पड़ते। जिस प्रकार पशु अपने भोजन को पहचानता है और अपने ही भोजन को खाता है, उस प्रकार मनुष्य का कोई भोजन नियत नहीं देखा जाता। मनुष्य सभी कुछ खा जाता है और सभी कुछ पी जाता है, परन्तु प्रकृति उस आहार का कुछ भी निर्णय नहीं करती। यही हाल उसके विहार का भी है। न उसके मैथुन का कोई समय नियत है और न वह ऋतुमती स्त्री की गन्ध आदि से कोई सूचना ही अनुभव कर सकता है, इसलिए यह बात सर्वथा असत्य है कि आरम्भ में मनुष्य को पशुओं की भाँति प्रकृति की ओर से सूचना मिलती थी। ऐसी दशा में इस प्रकार के विचारों और तदनुसार व्यवहारों से भविष्य में बहुत बड़ी

हानि की आशंका है, क्योंकि जब तक इस प्रकार के विचार और आचार पढ़े-लिखे लोगों के द्वारा व्यवहार में आ रहे हैं तभी तक कल्याण है, परन्तु ज्यों ही प्रकृति की धुन में पढ़ना-लिखना छोड़ा गया त्यों ही—थोड़े दिनों में ही लोगों की अवस्था जंगली हो जाएगी और प्राकृतिक जीवन छूटकर जंगली जीवन हो जाएगा।

जंगली जीवन प्राकृतिक जीवन नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक जीवन के अनुसार मनुष्य को केवल फल ही खाने चाहिएँ, परन्तु देखा जाता है कि जंगली लोग प्राय: मांस ही अधिक खाते हैं। इसी प्रकार प्राकृतिक जीवन की शिक्षा के अनुसार शृङ्गारवर्जित जीवन ही बिताना चाहिए और सन्तान कम पैदा करनी चाहिए, परन्तु जंगली लोग बड़े ही शृङ्गारप्रिय होते हैं, ख़ूब शराब पीते हैं और अमर्यादित सन्तान उत्पन्न करते हैं। सबसे बड़ा दोष तो उनमें यह है कि वे अपनी रक्षा नहीं कर सकते। विद्वान् जातियाँ सदैव उनको दास बनाकर अपना काम कराती हैं और उनके जंगली रहन-सहन को बदलकर अपना-जैसा बना देती हैं, इसलिए जंगली जीवन में प्राकृतिक जीवन के समा जाने की अनिवार्य आशंका है। यह बात ऐतिहासिक प्रमाणों से भी सिद्ध है। इस समय संसार में जितनी असभ्य और जंगली जातियाँ हैं वे सब पहले की सभ्य, उन्नत और पढ़ी-लिखी ही हैं, परन्तु कारणवश शिक्षा के छूट जाने से आज इस दशा को प्राप्त हैं। ऐसी दशा में यह आशा कभी नहीं की जा सकती कि प्राकृतिक जीवन को स्वीकार कर लेने से—पढ़ना-लिखना छोड़कर एक प्रकार का पशु हो जाने से—मनुष्य उस आदर्श प्राकृतिक जीवन का पालन करता रहेगा जो पढ़े-लिखे नेचरपरस्त पाश्चात्यों के मस्तिष्कों में घूम रहा है। वह जीवन तो तभी तक टिक सकता है जब तक शिक्षा के द्वारा भले-बुरे और हानि-लाभ का ज्ञान है। शिक्षा के विदा होते ही प्राकृतिक जीवनवाले लोग जंगली हो जाएँगें और दूसरी शिक्षित जातियों के द्वारा दास बनाये जाएँगे और ख़ुशी से दूसरों की सभ्यता को स्वीकार कर लेंगे, इसलिए विद्या और शिक्षा से उपेक्षा करानेवाली और भोले मनुष्यों को जंगली बनाकर दूसरों का दास बनानेवाली यह प्राकृतिक रीति-नीति और रहन-सहन एकदम त्रुटिपूर्ण है।

इस सभ्यता में सादगी, सदाचार, फलाहार, ब्रह्मचर्य, शान्ति और विशाल भावनाओं का जो चित्र दिखलाई पड़ता है वह नेचर का उत्पन्न किया हुआ नहीं है, प्रत्युत वह उच्च शिक्षा से ही उत्पन्न हुआ है और उच्च सभ्यता का ही फल है। मूर्ख, असभ्य और जंगली मनुष्यों के मस्तिष्क में इस प्रकार की भावनाओं का उदय हो ही नहीं सकता। ऐसी भावनाएँ तो तब उदित होती हैं जब कई पीढ़ियों तक उच्च शिक्षा का प्रचार रहता है और शिक्षित नेत्रों को कई प्रकार के सामाजिक उतार-चढ़ाव देखने को मिलते हैं। पाश्चात्य विद्वानों को जो प्राकृतिक जीवन से सम्बन्ध रखनेवाले विचार सूझे हैं, उनकी सूझ का भी यही कारण है। उनको उच्च शिक्षा के साथ-साथ कई एक सामाजिक क्रान्तियों के भी पूर्व इतिहास पढ़ने को मिले हैं और कई एक क्रान्तियाँ स्वयं देखने, सुनने और अनुभव करने को भी मिली हैं। इतना ही नहीं, किन्तु वैज्ञानिक खोजों के द्वारा उनको यह भी निश्चय हो गया है कि मनुष्य सृष्टियुत्पत्ति के समय हर प्रकार के रोग-दोष और दु:ख-दरिद्रों से मुक्त था[१], इसीलिए वे कहते हैं कि मनुष्य को उसी आहार-विहार और उसी रहन-सहन के साथ रहना चाहिए जो आदिम काल में था। हम भी कहते हैं कि ठीक है आरम्भिक रीति-नीति, रहन-सहन और आहार-विहार उत्तम था, इसलिए उसी प्रकार से मनुष्यमात्र को रहना चाहिए, किन्तु प्रश्न तो यह है कि क्या वह रहन-सहन ऐसा ही था

---

१. Man, the pure image of God, was in the beginning without sin and sickness, trouble and misery.
—*Return to Nature*

जैसाकि नेचरवादी बतलाते हैं ? क्या आदिमकालीन मनुष्यों के सुख-शान्ति का कारण नेचर था और क्या मनुष्य की आदिमकालीन स्थिति पशुओं की-सी थी ? यदि ऐसी ही थी तो आज मनुष्यों की वह पशुता कहाँ चली गई और उसके आहार-विहार, रहन-सहन और रीति-नीति की प्रेरणा आज भी नेचर की ओर से क्यों नहीं होती ? जब आज नेचर की ओर से मनुष्य को किसी प्रकार की सूचना नहीं मिलती तब सहज ही अनुमान कर लेना चाहिए कि आरम्भिक अवस्था में भी मनुष्य को नेचर की ओर से कोई प्रेरणा नहीं होती थी और न उस समय के सुख-शान्ति का कारण नेचर अथवा पशुदशा ही थी, प्रत्युत वर्त्तमान काल की ही भाँति उस समय की सुख-शान्ति का कारण भी ज्ञान, समझ और सोचने-विचारने की शक्ति ही थी।

जिस प्रकार आज ज्ञान, समझ और विचार करने की शक्ति शिक्षा और गुरुपरम्परा से प्राप्त होती है, उसी प्रकार आदिम ज्ञान परमात्मा से प्राप्त हुआ था, इसीलिए उस आरम्भिक ज्ञान, समझ और विचारशक्ति को आर्यों ने अपौरुषेय कहा है और उसी को वेद, अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान के नाम से सूचित किया है। इस आरम्भिक वैदिक ज्ञान में मनुष्योपयोगी वे समस्त बातें तो ज्यों-की-त्यों हैं ही जिनको नेचरवादी लोग उपस्थित करते हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ बातें और भी हैं जिनके द्वारा वैदिक सभ्यता स्थिर रह सकती है और दूसरों के प्रभाव से अपनी रक्षा भी कर सकती है। यह बात हमारी कल्पना नहीं है, प्रत्युत प्रत्यक्ष है और सब लोगों के अनुभव योग्य है। भारतीय आर्यों की वैदिक सभ्यता लाखों वर्ष से सैकड़ों विघ्न-बाधाओं का सामना करती हुई भी आज तक सुरक्षित है। इससे सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि इस सभ्यता में नेचरवादियों की सभ्यता के गुण तो हैं ही प्रत्युत कुछ विद्या और रक्षा-सम्बन्धी ऐसे भी गुण हैं जो नेचरवादियों की सभ्यता में नहीं हैं। यही कारण है कि नेचरवादी सभ्यता को किसी देश या जाति या राष्ट्र के कुछ थोड़े-से व्यक्ति ही स्वीकार कर सकते हैं, सारा देश और सारा समाज नहीं, क्योंकि समस्त समाज के स्वीकार कर लेने से थोड़ी ही पीढ़ियों के बाद समस्त समाज के जंगली हो जाने का डर है और दूसरी सभ्य जातियों से अपनी और अपनी सभ्यता की रक्षा कर लेना कठिन है, परन्तु वैदिक आर्यसभ्यता में इस प्रकार के भय की आशंका नहीं है, इसलिए मनुष्यजति के लिए वैदिक आर्यसभ्यता ही उपयोगी है, अन्य कोई नहीं।

वैदिक आर्यसभ्यता वैदिक होने से ही अपौरुषेय, अर्थात् ईश्वरीय कहलाती है, क्योंकि सनातन से आर्यों का यही विश्वास रहा है कि वेद अपौरुषेय हैं—ईश्वरीय हैं, किन्तु आर्यों में अनेक अनार्य-जातियों के सम्मिश्रण के कारण वैदिक और लौकिक साहित्य में नवीन विचारों और नवीन अचारों का प्रक्षेप हो गया है जिससे वेदों की अपौरुषेयता में लोगों को शंका होने लगी है। लोग कहते हैं कि वेदों में हिंसा, असभ्यता, इतिहास और ज्योतिषसम्बन्धी वर्णनों से ज्ञात होता है कि वे ईश्वरीय नहीं है, प्रत्युत बहुत ही अर्वाचीन हैं और बहुत ही साधारण ज्ञानवालों की रचना हैं। इसके सिवा पाश्चात्य विज्ञान का सहारा लेकर लोग यह भी कहते हैं कि जब मनुष्य अपने उत्पत्तिकाल से ही विकास के द्वारा क्रम-क्रम से उन्नति करता हुआ आगे बढ़ रहा है तब उसको अपौरुषेय ज्ञान की आवश्यकता ही क्या है ?

यद्यपि सुनने में ये बातें ठीक प्रतीत होती हैं, परन्तु इनमें कुछ भी सार नहीं है, क्योंकि जो वेद कहते हैं कि **'मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि'**, अर्थात् किसी भी प्राणी की हिंसा मत करो और **'सभ्यः सभां मे पाहि'**,[१] अर्थात् हे सभ्य! इस मेरी सभा की रक्षा कर, उन वेदों में हिंसा और असभ्यता की आशंका करना नितान्त ही अनुचित है। इसी प्रकार इतिहास में आये हुए पुरूरवा,

१. अथर्व० १९।५५।६

नहुष, ययाति, पुरु, अत्रि, जमदग्नि, व्रज, अर्व, अयोध्या, गंगा और सरस्वती आदि नामों को वेदों में देखकर इतिहास की आशंका करना भी उचित नहीं है, क्योंकि वेदों में ये सूर्य, नक्षत्र, विद्युत्, किरण, नेत्र, गौ-गोष्ठ, शरीर और वाणी आदि के लिए आये हैं, किसी विशेष व्यक्ति, जाति और समाज अथवा देश, नगर के लिए नहीं।

हाँ, इतिहासों और पुराणों में ये नाम व्यक्तियों के लिए अवश्य आये हैं, परन्तु उन व्यक्तियों का नामकरण करने के पूर्व भी ये नाम उपस्थित थे और अपना कुछ अर्थ रखते थे, अर्थात् पुरूरवा, अत्रि, व्रज, अयोध्या और गंगा आदि का नाम रखते समय ये शब्द कल्पित नहीं कर लिये गये थे, प्रत्युत ये शब्द इन व्यक्तियों के पहले भी विद्यमान थे और अन्य-अन्य पदार्थों के नामों के लिए काम में आते थे। यह बात हम आज भी अनुभव करते हैं। आज भी हमें जब किसी पदार्थ के नामकरण की आवश्यकता पड़ती है तब नामवाले शब्द हमारे पास पहले ही से सुरक्षित मिलते हैं और उन्हीं में से चुनकर हम अभीष्ट पदार्थ का नाम रख देते हैं। इसी प्रकार पुरूरवा आदि राजाओं के भी जब नाम रक्खे गये थे तब भी पुरूरवा आदि नाम उनके पिता के पास पूर्व से ही उपस्थित थे, इसलिए वेद में आये हुए शब्द व्यक्तियों के बाद के नहीं है, प्रत्युत व्यक्तियों से बहुत काल पूर्व के हैं। रहा वेदों में कहीं-कहीं पुरूरवा आदि शब्दों के साथ-साथ युद्ध, विवाह और ऐसी ही अनेक सामाजिक बातों का वर्णन, वह मनुष्यों का नहीं प्रत्युत आकाशीय पदार्थों का है, क्योंकि वेदों में एक आकाशीय जगत् का भी वर्णन है, जिसमें इस लोक की ही भाँति समस्त पदार्थों की चर्चा की गई है। इसी अलौकिक चर्चा के साथ लौकिक व्यक्तियों के चरित्रों का सम्मिश्रण करके पुराणकारों ने वेद के आकाशीय वर्णनों और अलङ्कारों के भावों का विस्फोट किया है। भागवत १।४। २८ में स्पष्ट लिखा है कि '**भारतव्यपदेशेन ह्याम्नायार्थश्च दर्शितः**', अर्थात् भारतीय इतिहास के मिष से वेद का अर्थ ही प्रदर्शित किया गया है, इसीलिए महाभारतकार कहते हैं कि '**इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्**', अर्थात् इतिहास और पुराणों से ही वेदों का मर्म जाना जाता है।

कहने का तात्पर्य यह कि वेदों में इतिहास से सम्बनध रखनेवाला कुछ भी वर्णन नहीं है। इसी प्रकार वेदों में ज्योतिष्-सम्बन्धी भी किसी ऐसी घटना का वर्णन नहीं है जिससे वेदों का समय निकाला जा सके। यदि वेदों में काल सूचित करानेवाले ज्योतिष्-सम्बन्धी वर्णन होते तो उनमें वधू को ध्रुवतारा दिखलाने का वर्णन अवश्य होता, क्योंकि सभी जानते हैं कि विवाह के समय वधू को ध्रुवतारे का अवलोकन कराना आर्यों का बहुत प्राचीन रिवाज है। इस क्रिया का वर्णन सूत्रग्रन्थों में भी आया है, परन्तु वेदों में इसका वर्णन नहीं है। यदि वेदों में ध्रुवतारे के अवलोकन का वर्णन होता तो इस घटना से निस्सन्देह ज्योतिष् की गणना के द्वारा वेदों का समय निकाला जा सकता, क्योंकि ध्रुवतारा हमेशा से ही इस स्थान पर नहीं है। वह दो हज़ार वर्षों से ही इस स्थान में आया है। इसके पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् के २८२७० वर्ष पूर्व इस ध्रुव के स्थान में दूसरा ही तारा था, परन्तु उसका भी वर्णन वेद में नहीं है[१]। इस घटना से भली-भाँति स्पष्ट हो

१. In the Hindu marriage ceremony according to the Grihya Sutra, the polar star is pointed to the bride as an ideal of steadiness and faithfulness. The custom is observed all over India. The present polar star on the northern hemisphere is Alpha of the Little Bear. But already 2,000 years ago this star was so far distant from the celestial pole that in the Vedic antiquity could not possibly have been considered as the polar star. Its place was at that time, accutately in 28,270 B. C., occupied by Alpha Draconis, this being the only star bright enough to serve the purpose of the polar star. Since in Rigveda hymns themselves this custom of pointing out the polar star is not (yet) mentioned.

—*Hymns from Rigveda, appendix, by R. Zimmerman*

जाता है कि वेदों में ज्योतिष्–सम्बन्धी किसी भी ऐसी घटना का वर्णन नहीं है, जिससे वेदों का समय निकाला जा सके, क्योंकि वेदों में आर्यों के विवाह–जैसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक संस्कार की अत्यन्त आवश्यक क्रिया का भी वर्णन नहीं है, अर्थात् जब ज्योतिष्–सम्बन्धी ध्रुव अवलोकन का भी वर्णन नहीं है तब ज्योतिष्–सम्बन्धी दूसरी ऐसी घटनाओं के वर्णन की आशा रखना, जिनसे वेदों का समय निकल सके, नितान्त भ्रम है, इसलिए वेदों का समय न तो ऐतिहासिक शब्दों से निकाला जा सकता है और न ज्योतिष्–सम्बन्धी किसी घटना से ही। इसका कारण यही है कि वेदों का प्रादुर्भाव किसी ऐतिहासिक काल में नहीं हुआ, प्रत्युत उस समय हुआ है जिस समय मनुष्यों की उत्पत्ति का प्रारम्भ था, इसलिए वेदों की आदिमकालीनता पर कुछ भी सन्देह नहीं हो सकता।

वेदों की इस आदिमकालीनता के प्रबल प्रमाण आर्यों के आदिमकालिक इतिहास में सुरक्षित हैं। आर्यों की ऐतिहासिक खोज को पूर्वकाल की ओर बढ़ाने से वेदों का समय आदिसृष्टि तक जा पहुँचता है। सम्राट् चन्द्रगुप्त के सरकारी दफ़्तर से मेगस्थनीज ने जो राजवंशावली प्राप्त की थी उसकी पीढ़ियों और उन पीढ़ियों के लिए दिये हुए वर्षों को आज तक जोड़ने से ८,७०१ वर्ष होते हैं। यह नौ हज़ार वर्ष का समय संसार की समस्त सभ्यताओं से अधिक प्राचीन है। मिस्र, बेबिलोन और सीरिया आदि देशों की प्राचीन से भी प्राचीन सभ्यताएँ इसके बाद ही की सिद्ध होती हैं, परन्तु आर्यों के इतिहास में इस काल के पूर्व का ऐतिहासिक प्रमाण भी शतपथब्राह्मण में विद्यमान है। शतपथब्राह्मण ६।२।२।१८ में लिखा है कि **'एषा ह संवत्सरस्य प्रथमा रात्रिर्यत्फाल्गुनी पूर्णमासी'**, अर्थात् निश्चय ही यह फाल्गुनी पूर्णमासी संवत्सर की प्रथम रात्रि है। यह उस समय का वाक्य है जिस समय फाल्गुनी पूर्णमासी से संवत्सर का प्रारम्भ होता था। ज्योतिषियों ने हिसाब लगाया है कि उस समय वसन्तसम्पात उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में होता था, परन्तु इस समय वसन्तसम्पात पूर्वाभाद्रपद में होता है, अर्थात् सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा हो चुकी है और अब दूसरी प्रदक्षिणा का आरम्भ है। सम्पात की पूर्ण प्रदक्षिणा में २१,००० वर्ष लगते हैं, अतः इक्कीस हज़ार वर्ष की प्रदक्षिणा को पूर्ण करके एक हज़ार वर्ष से दूसरी प्रदक्षिणा आरम्भ हो गई है, अतएव शतपथब्राह्मण का यह भाग बाईस हज़ार वर्ष का पुराना है।

जिन ब्राह्मणगन्थों की प्राचीनता इतनी पुरानी है, उन्हीं ब्राह्मणों के अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि इन ब्राह्मणों के पूर्व भी एक साहित्य और भी उपलब्ध था जिसमें छन्द, व्याकरण, ज्योतिष, इतिहास और अन्य अनेक विद्याओं के ग्रन्थ उपस्थित थे। उपनिषदों में जहाँ–तहाँ **'तदेष श्लोकः'** लिखकर जो अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं, वे उसी लुप्त साहित्य के हैं। इसके अतिरिक्त ब्रह्मणग्रन्थों में वेदों के नवीन और प्राचीन ऋषियों का भी वर्णन आता है। ऐसे ऋषियों का वर्णन आता है जो इस समय वेदों के ऋषि नहीं माने जाते, किन्तु किसी समय माने जाते थे। इतना ही नहीं प्रत्युत ब्राह्मणग्रन्थों में वेदों के खैलिक (प्रक्षिप्त) भागों और वेदों की अनेक शाखाओं का भी वर्णन आता है, जिससे अच्छी प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वर्त्तमान ब्राह्मणसाहित्य के पूर्व भी एक विस्तृत साहित्य उपस्थित था जो अब अप्राप्य है। इस साहित्य को भी यदि हम पच्चीस हज़ार वर्ष से भी आगे पच्चीस हज़ार वर्ष पूर्व ले–जाएँ तो कोई आपत्ति की बात नहीं दिखलाई पड़ती, क्योंकि वर्त्तमान सूर्यसिद्धान्त जिस प्राचीन सूर्यसिद्धान्त के आधार पर बनाया गया है उसका समय त्रेता के आदि तक पहुँचता है, जिसके लिए लाखों वर्ष का समय आवश्यक है।

इस साहित्य के पूर्व वेद के उन ऋषियों का समय आता है जो इस समय वेद के मन्त्रों पर

लिखे हुए हैं। इनका समय उपर्युक्त साहित्य से भी प्राचीन है। इन ऋषियों के साथ-ही-साथ वेदों के सूक्तों पर अब तक अत्यन्त प्राचीन, अर्थात् आदिमकालीन ऋषियों के भी नाम लिखे हुए मिलते हैं। इन आदिमकालीन ऋषियों में सबसे प्रधान ऋषि मनुष्यजाति के आदि पितामह भगवान् वैवस्वत मनु हैं। मनुष्यजाति का प्रारम्भ इन्हीं वैवस्वत मनु के शासनकाल में हुआ है, इसीलिए मनुसम्बन्धी होने से मनुष्य मनुष्य कहलाते हैं। इन आदिम मनु का नाम ऋग्वेद के अनेक सूक्तों के साथ ऋषियों में लिखा हुआ है। इतना ही नहीं प्रत्युत ऐतरेयब्राह्मण ५।१४ में लिखा है कि वैवस्वत मनु ने अपने छोटे पुत्र नाभानेदिष्ठ को दो सूक्त भी दिये थे। यही कारण है कि ऋग्वेद मण्डल दश के ६१वें और ६२वें सूक्त का ऋषि मनुपुत्र नाभानेदिष्ठ ही आज तक लिखा हुआ आ रहा है। ऐसी दशा में वेदों की प्राचीनता मनुष्य की आदिमकालीनता तक पहुँचती है, इसमें सन्देह नहीं।

अब रही बात वेदों की अपौरुषेयता की। इसपर लोग कहते हैं कि जब विकासक्रम से मनुष्य अपनी उन्नति करता हुआ आज तक आ रहा है तब उसके लिए अपौरुषेय ज्ञान की कुछ भी आवश्यकता नहीं है। वह तो अनुभव के द्वारा धीरे-धीरे वंशानुक्रम से आप-ही-आप ज्ञानवृद्धि कर सकता है, इसलिए अपौरुषेय ज्ञान का पचड़ा लगाना ठीक नहीं है। सुनने में यह बात ठीक प्रतीत होती है, परन्तु जब हम अनुभव और वंशपरम्परा पर ध्यान देते हैं तो ज्ञात होता है कि मनुष्य का ज्ञान वंशपरम्परा के अनुभव का फल नहीं है। हम प्रतिदिन देखते हैं कि पतिङ्गा चिराग़ के पास आता है और आँच लगने पर भागता है, परन्तु फिर आता है और अन्त में जल मरता है। उसका अनुभव उसकी ज्ञानवृद्धि में कुछ भी सहायता नहीं करता और न यह अनुभव पतिङ्गे के वंशजों में कुछ भी ज्ञानवृद्धि का कारण होता है। जिस प्रकार लाखों वर्ष पूर्व पतिङ्गे चिराग़ में जलते थे, उसी प्रकार उनके वंशज आज भी जलते हैं। पतिङ्गों को जाने दीजिए हम तो देखते हैं कि इस ज्ञानवान् प्राणी मनुष्य के वंशजों में भी अनुभव के संस्कार नहीं उतरते। यह कहीं नहीं देखा गया कि अमुक कुल में दश पीढ़ी से पण्डिताई हो रही है, इसलिए अब उस कुल में जो लड़के पैदा होते हैं उनको पढ़ना नहीं पड़ता, प्रत्युत वे पढ़े-पढ़ाये ही पैदा होते हैं। जब यह बात देखने में नहीं आती तब कैसे मान लें कि पिता का अनुभव पुत्र को मिलता है। संसार में तो इससे उलटा देखा जाता है। संसार में तो प्रत्यक्ष देखा जाता है कि भारतवर्ष के प्राचीन ऋषि-मुनि जितने उन्नत थे, जितने ज्ञानपटु थे और जितने योद्धा थे, उनके वंशज वैसे नहीं हैं। ऋषिवंशजों से तो उनकी पुरानी पूँजी भी जाती रही है। ऐसी दशा में यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान अनुभव से बढ़ता है और आप-ही-आप वशंजों को मिलता है। ज्ञान यदि स्वयं उपार्जित होता है तो अनुभव से बढ़ता और पैतृक संस्कारों के द्वारा आप-ही-आप वंशजों को मिलता, किन्तु ज्ञान तो नैमित्तिक है—दूसरे के निमित्त से मिलता है, इसलिए वह आप-ही-आप वंशजों में संक्रमित नहीं हो सकता। आज जब इतनी ज्ञानोन्नति हो जाने पर भी मनुष्य अपने अनुभव से ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता—कोई जंगली मनुष्य अपने आप बिना पढ़े-पढ़ाये ही रेखागणित का आचार्य नहीं हो जाता तब उस समय जब मनुष्य आदिम दशा में था—नवजात था कैसे कहा जा सकता है कि उसने अपने अनुभव से ज्ञान में उन्नति कर ली और वह ज्ञान उसके वंशजों में संक्रमित हो गया। ऐसी दशा में यही कहा जा सकता है कि ज्ञान नैमित्तिक होता है और आदिसृष्टि में वह ज्ञान मनुष्यों को परमात्मा के ही निमित्त से मिला है।

परमात्मा के निमित्त से जो ज्ञान आदि में मनुष्यों को मिला है उसी को अपौरुषेय ज्ञान—वेद कहते हैं। यह वेदज्ञान जिस भाषा के द्वारा दिया गया है उस भाषा की उत्पत्ति संसार की किसी

भाषा से नहीं हुई और न वह भाषा संसार की किसी आवाज़ की नक़ल से या मनुष्य के स्वाभाविक उच्चारणों से आप-ही-आप उद्भूत हुई है, क्योंकि हम संसार में देखते हैं कि जिस प्रकार की वर्णात्मक ध्वनि मनुष्य के मुख से निकलती है उस प्रकार की स्पष्ट ध्वनि संसार में और किसी स्थान से नहीं निकलती, इसलिए मनुष्य अपने वर्णों की दूसरी ध्वनियों से नक़ल नहीं कर सकता। यदि बाहरी ध्वनियों से मनुष्य वर्णों की नक़ल कर सकता तो आज संसार में किसी भी जाति की वर्णमाला अपूर्ण न होती। सब लोग बाहरी ध्वनियों से वर्णमाला बढ़ा लेते, परन्तु ऐसी बात नहीं है। जिनकी भाषाओं में टवर्ग नहीं है, वे टवर्ग को बिना मनुष्य के मुख से सुने और किसी प्रकार से भी उन्नत नहीं कर सकते, इसलिए भाषा बाह्य ध्वनियों से नहीं बन सकती। इसी प्रकार भाषा आप-ही-आप मनुष्य के मुख से भी नहीं निकल सकती, क्योंकि मनुष्य वही वर्ण बोलता है जो सुनता है जो वर्ण नहीं सुनता उनको बोल भी नहीं सकता, इसलिए भाषा न तो बाह्य ध्वनियों से नक़ल की जा सकती है और न आप-ही-आप मनुष्य के मुख से ही निकल सकती है, प्रत्युत वह केवल परमात्मा की ही प्रेरणा से उत्पन्न हो सकती है, अन्य उपायों से नहीं। दूसरा उपाय अपभ्रष्टता का है। दूसरी भाषाओं से अपभ्रष्ट होकर नवीन भाषाएँ बन सकती हैं, परन्तु वेदभाषा किसी दूसरी भाषाओं का अपभ्रंश भी नहीं है, क्योंकि अपभ्रंश सदैव क्लिष्ट उच्चारणों से सरल उच्चारणों की ओर और विस्तृत वर्णमाला से संकुचित वर्णमाला की ओर जाता है। हम देखते हैं कि वेदों की वर्णमाला संसारभर की वर्णमाला से विस्तृत और क्लिष्ट है। इसमें ऋ, ॡ, ष, क्ष, ज्ञ, घ, छ, ढ, ध, भ, ङ, ण, ञ और ळ्ह आदि ऐसे उच्चारण हैं जो इसकी क्लिष्टता और विशालता के उत्कृष्ट प्रमाण हैं, इसलिए वह दूसरी भाषाओं का अपभ्रंश नहीं हो सकती। कहने का तात्पर्य यह कि जो वैदिक भाषा किसी भाषा का अपभ्रंश नहीं है, मौलिक है, वह न तो आप-ही-आप उच्चरित हो सकती है और न वह संसार की आवाज़ों से नक़ल ही की जा सकती है, इसलिए वह अपौरुषेय है और उस भाषा को मनुष्य तक पहुँचानेवाला सिवा परमात्मा के और कोई नहीं है। वैदिक भाषा की प्रेरणा परमात्मा ने ही की है, परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि परमात्मा ने इस भाषा को निष्प्रयोजन नहीं दिया। उसने मनुष्य को उन्नति करने के लिए इसे दिया है, इसलिए वेदभाषा सार्थक है और उसी अर्थसहित भाषा को वेद, अर्थात् वेदज्ञान कहते हैं।

संसार में जितनी भाषाएँ फैली हैं सब उसी वैदिक भाषा का ही अपभ्रंश हैं। इसी तरह संसार में गणित, ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन और धर्म से सम्बन्ध रखनेवाला जो कुछ ज्ञान फैला है वह भी वेदों के ही ज्ञान से फैला है। जिन वैदिक ऋषियों ने संसार में भाषा, ज्ञान, धर्म और सभ्यता का विस्तार किया है वे कहते हैं कि इस ज्ञान का प्रचार करनेवाला **'स एष पूर्वेषामपि गुरुः'**, अर्थात् पूर्वजों का भी गुरु परमात्मा ही है। उसी के श्वासभूत वेदों के द्वारा आदि सृष्टि में यह ज्ञान प्राप्त हुआ है, इसलिए नेचरवादी जो कहते हैं कि आरम्भ में मनुष्य हर प्रकार से सुखी था, इसका यही कारण है कि वह परमेश्वर के दिये हुए वैदिक ज्ञान के द्वारा ही उत्पन्न हुआ था और उसी के अनुसार व्यवहार करता था और हर प्रकार से सुखी भी था। इस वर्णन से सहज ही अनुमान कर लेना चाहिए कि मनुष्य की सुख-शान्ति का वही मार्ग उत्तम हो सकता है जो आदिमकालीन है और ईश्वरप्रदत्त वेदानुकूल है।

यद्यपि यह सत्य है कि वेदज्ञान ईश्वरीय है और उसी के अनुसार मनुष्य का व्यवहार होना चाहिए, किन्तु हम देखते हैं कि आज संसार में नाना प्रकार की मनमानी सभ्यताओं को स्थिर करने के लिए प्रत्येक जाति के लोग अपने-अपने बच्चों को नाना प्रकार की प्रवृत्तिवाली शिक्षा

दे रहे हैं। यदि उनसे कोई उन शिक्षाओं के विषय में यह पूछे कि आप लोग किस अधिकार से अपने बच्चों को इस प्रकार की शिक्षा देते हैं, तो वे सिवा इसके कि बच्चों को हमने पैदा किया है और पालन किया है, इसलिए हमको अधिकार है कि हम उनको अपनी रुचि के अनुसार अमुक रीति–नीति की शिक्षा दें, और कोई दूसरा उत्तर नहीं है, परन्तु यदि कोई फिर प्रश्न करे कि क्या बच्चों ने आपके पास कोई प्रार्थना–पत्र भेजा था कि आप हमें पैदा कीजिए, पालिए और मनमाने ढंग की शिक्षा देकर अपनी रुचि का बना डालिए तो सिवा इधर–उधर की बातें बनाने के और कोई उत्तर नहीं बन सकता, इसलिए संसार की किसी जाति या मनुष्य को यह अधिकार नहीं है कि वह शिक्षा के नाम से, सभ्यता के नाम से और धर्म के नाम से अपने बच्चों को या संसार के किसी भी मनुष्य को अपनी रुचि के अनुसार अमुक रीति–नीतिवाला बनाए, क्योंकि शिक्षा की मनमानी नीति स्वीकार करने से—भविष्य सन्तान को केवल अपने मनोरञ्जन का खिलौना बनाने से संसार में कभी सुख और शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, अतएव शिक्षा और धर्मप्रचार की नीति ऐसी होनी चाहिए जो संसार में किसी प्राणी के प्रतिकूल न हो। ऐसी शिक्षा वैदिक शिक्षा ही है जो आदिसृष्टि में परमात्मा की ओर से प्राणिमात्र के सुख–शान्ति के लिए दी गई है, अतः वही शिक्षा मनुष्य और अन्य प्राणिसमुदाय की स्वाभाविक इच्छाओं के अनुकूल है।

हम संसार में देखते हैं कि सभी मनुष्य दीर्घजीवन, ज्ञान, मान, काम, न्याय और मोक्ष की इच्छा रखते हैं और अन्य सभी प्राणी, मान और न्याय आदि बातों का ज्ञान रखते हुए भी दीर्घजीवन की कामना एकसमान ही करते हैं, इसलिए समस्त मनुष्यों को दीर्घजीवन, ज्ञान, मान, काम, न्याय और मोक्ष–प्राप्ति का समान स्वत्व दिलानेवाली और समस्त प्राणिसमूह को पूर्ण आयु जीने की सुविधा दिलानेवाली केवल वेदों की ही शिक्षा है, अन्य कोई नहीं। वैदिक शिक्षा ही ऐसी शिक्षा है जो प्राणिमात्र के दीर्घजीवन की सुविधा को ध्यान रखते हुए समस्त मनुष्यों को उनकी इच्छाओं में विवेक उत्पन्न कराकर और समान स्वत्व दिलाकर सबको मोक्ष की ओर अग्रसर करती है।

मनुष्य की ये इच्छाएँ दो श्रेणियों में बाँटी जा सकती हैं। पहली श्रेणी में काम, अर्थ और मान है और दूसरी श्रेणी में ज्ञान, न्याय और दीर्घजीवन है। काम का दूसरा नाम पुत्रैषणा है, अर्थ का दूसरा नाम वित्तैषणा है और मान का दूसरा नाम लोकैषणा है। वैदिक शिक्षा के अनुसार ये तीनों ऐषणाएँ त्याज्य हैं। काम के लिए गीता में स्पष्ट लिखा है कि **'ज्ञानिनो नित्यवैरिणा'**,[१] अर्थात् काम ज्ञानियों का नित्य वैरी है, इसीलिए छान्दोग्य उपनिषद् में लिखा है कि **'किं प्रजया करिष्यामः'**,[२] अर्थात् सन्तति से क्या लाभ है ? इसी प्रकार अर्थ (धन) के लिए भी लिखा है—

अधमा धनमिच्छन्ति धनं मानं च मध्यमा। उत्तमा मानमिच्छन्ति मानो हि महतां धनम्॥

अर्थात् अधम मनुष्य धन की इच्छा करते हैं, मध्यम मनुष्य धन और मान की इच्छा करते हैं और उत्तम मनुष्य केवल मान की ही इच्छा करते हैं। यहाँ धन को निकृष्ट दर्जा दिया गया है और मान को उत्तम कहा गया है, परन्तु मनुस्मृति में ब्राह्मण के लिए मान की इच्छा भी विष के तुल्य ही हानिकारक बतलाई गई है। भगवान् मनु कहते हैं—

सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥

—मनु० २।१६२

---

१. गीता ३।३९

२. बृहदा० ४।४।२२

अर्थात् ब्राह्मण मान से सदैव विष के समान डरे और अपमान की सदैव अमृत के समान इच्छा करे।

वैदिक शिक्षा के इन आदर्शों से ज्ञात होता है कि आर्यसभ्यता में काम, अर्थ और मान के लिए कोई स्थान नहीं है। वैदिक आर्यसभ्यता के मूलप्रचारक भगवान् मनु कहते हैं—

तमसो लक्षणं कामो रजसस्त्वर्थ उच्यते। सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम्॥

—मनु० १२। ३८

अर्थात् तमोगुण का लक्षण काम है, रजोगुण का अर्थ है और सतोगुण का धर्म है। ये तीनों उत्तरोत्तर एक-दूसरे से श्रेष्ठ हैं।

इन प्रमाणों से ज्ञात होता है कि आर्यसभ्यता में अर्थ, काम और मान, अर्थात् पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की बेहद भरमार का महत्त्व नहीं है, किन्तु उतने ही अर्थ, काम और मान का महत्त्व है जो धर्मपूर्वक प्राप्त होता हो, क्योंकि धर्मपूर्वक अर्थ, काम और मान के संग्रह से ही मनुष्यों और अन्य प्राणियों को एकसमान सुख मिल सकता है और सब प्राणी अपने भोगों को प्राप्त करते हुए पूर्ण आयु जी सकते हैं। यह बात मरने के समय ठीक-ठीक समझ में आती है। उस समय समस्त ऐषणाएँ विदा हो जाती हैं और यह भावना उदय हो जाती है कि समस्त अर्थ, काम और मान को लेकर भी यदि कोई दो दिन और जीने का उपाय कर दे तो हम अर्थ, काम और मान की व्यर्थ ममता का प्रायश्चित कर लें, इसीलिए आर्यसभ्यता में उपर्युक्त तीनों ऐषणाओं का त्याग आवश्यक बतलाया गया है और मनुष्य की स्वाभाविक इच्छाओं की दूसरी श्रेणी को जिसमें ज्ञान, न्याय और दीर्घजीवन सम्मिलित है बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। इस दूसरी श्रेणी में ज्ञान का दर्जा बहुत ही बड़ा है, क्योंकि ज्ञान ही से न्याय और दीर्घजीवन की महत्ता समझ में आती है। ज्ञान ही से बुद्धि, अर्थात् सत्त्व जाग्रत् होता है और '**सत्त्वस्य लक्षणं धर्मः**' के अनुसार सत्त्व, अर्थात् बुद्धि का जो उत्तम परिणाम धर्म है, उसकी प्रवृत्ति होती है। धर्म की प्रवृत्ति से समस्त प्राणियों के प्रति न्यायबुद्धि और अपने प्रति दीर्घजीवन की अभिलाषा उत्पन्न होती है। समस्त प्राणियों के प्रति न्याय का भी यही अभिप्राय है कि किसी की आयु और भोगों में विघ्न न हो, अर्थात् किसी प्राणी की स्वाभाविक आयु में बाधा न पड़े। इस प्रकार से धार्मिक बुद्धि की विस्तृत और सूक्ष्म अवलोकनशक्ति के कारण अन्तिम और प्रधान ध्येय यही स्थिर हो जाता है कि कोई कभी न मरे। इस कभी न मरने के उद्देश्य के सामने अर्थ, काम, मान, ज्ञान और न्याय सब फीके पड़ जाते हैं और सारी उलझन सुलझकर यह तत्त्वज्ञान उपलब्ध होता है कि संसार में कभी न मरने की इच्छाधारा अविच्छिन्न रूप से बह रही है।

कभी न मरने की इस अविच्छिन्न अभिलाषा का स्पष्ट अर्थ यही है कि कोई कभी पैदा न हो और कभी पैदा न होने का अर्थ भी यही है कि एक बार मरकर फिर न मरना पड़े, इसीलिए कहा गया है कि '**को वा मृता यस्य पुनर्न मृत्युः**', अर्थात् वही मरा है जिसको फिर न मरना पड़े, इसी को अतिमृत्यु कहते हैं। यही दीर्घजीवन की अभिलाषा का रहस्य है। इसी अभिलाषा की प्रेरणा से प्रत्येक प्राणी चाहता है कि मैं कभी न मरूँ। लोक की अभिलाषा रखनेवाले समस्त प्राणियों की अन्तिम सम्मति यही है कि कोई कभी न मरे और परलोक की अभिलाषा रखनेवालों की भी यही सम्मति है कि एक बार मरकर फिर न पैदा होना पड़े, अर्थात् वर्त्तमान जीवन से लेकर मरने के जीवन के बाद तक दीर्घजीवन की—कभी न मरने की अविच्छिन्न जीवनेच्छा समस्त प्राणिसमुदाय में एक समान विद्यमान है और सब इसी इच्छा की पूर्ति में लगे रहते हैं कि हम कभी न मरें। इस सर्वसम्मति से स्वीकृत सिद्धान्त के अनुसार समस्त संसार की शिक्षाओं में केवल वेदों की ही

शिक्षा उपयोगी ठहरती है, क्योंकि वही शिक्षा इस लोक में सबको दीर्घजीवन प्राप्त करने का उपाय बतलाती है और वही शिक्षा परलोक में भी सबको अनन्त जीवन प्राप्त करने का उपाय बतलाती है, इसलिए अब देखना चाहिए कि दोनों लोकों में दीर्घजीवन प्राप्त करने के लिए वह शिक्षा क्या उपाय बतलाती है। दोनों लोकों में अनन्त जीवन प्राप्त करने के लिए वैदिक आर्य सभ्यता सात्त्विक आहार, उत्तम जल-वायु और उचित श्रम का सेवन, ब्रह्मचर्य का पालन, चिन्ता का त्याग, सदाचरण, सङ्गीत और प्राणायाम आदि सात उपायों की शिक्षा देती है, जो सर्वमान्य हैं। इसलिए हम यहाँ केवल इनका थोड़ा-थोड़ा वर्णन करके बतला देना चाहते हैं कि ये सातों उपाय किस प्रकार सबको समान रूप से दीर्घजीवन प्राप्त करानेवाले हैं।

सबसे पहला उपाय सात्त्विक आहार है। सात्त्विक आहार में दूध, दधि, घृत, फल, फूल और हविष्यान्न की गणना है। अब देशी और विदेशी सभी वैद्यों और डॉक्टरों ने मान लिया है कि इन पदार्थों के आहार से मनुष्य बीमार नहीं होता, सदैव तरोताज़ा रहता है और दीर्घजीवी होता है। इसके सिवा इन सात्त्विक आहारों से बल, कान्ति, मेधा, रूप, स्मृति और धारणा आदि अनेक दैवी शक्तियों की भी प्राप्ति होती है, इसलिए दीर्घजीवन प्राप्त करनेवालों के लिए सदैव दूध और फलों का ही सेवन करना चाहिए।

भोजन के बाद दीर्घजीवन से सम्बन्ध रखनेवाली दूसरी वस्तु हवा, पानी, और परिश्रम है। हवा-पानी शहरों का अच्छा नहीं है, इसीलिए शहरों से बाहर जंगल में सादे और साफ़ घरों में रहना चाहिए और फल तथा दूध उत्पन्न करनेवाले श्रम को मर्यादा के साथ करना चाहिए। ये पदार्थ वाटिकाओं और चरागाहों के द्वारा गौवों से प्राप्त हो सकते हैं, इसलिए वाटिकाओं के लगाने और चरागाहों के बनाने में ही श्रम करना चाहिए, दण्ड, बैठक और हॉकी, क्रिकेट आदि में नहीं।

दीर्घजीवन की सहायक तीसरी बात चिन्ता की निवृत्ति है। जो मनुष्य सदा चिन्ताग्रस्त रहते हैं उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। किसी कवि ने सत्य ही कहा है कि—

चिताचिन्ताद्वयोर्मध्ये चिन्ता याति गरीयसी। चिता दहति निर्जीवं चिन्ता दहति जीवितम्॥

अर्थात् चिन्ता और चिता में चिन्ता ही बड़ी है, क्योंकि चिता केवल मुर्दों को ही जलाती है, परन्तु चिन्ता तो ज़िन्दे मनुष्यों को जलाकर भस्म कर देती है।

इसलिए दीर्घजीवन की इच्छा रखनेवालों को सदैव चिन्ता का त्याग ही करना चाहिए। जब खाने के लिए बग़ीचों से फल और गौवों से दूध मिलता है तब चिन्ता किस बात की? चिन्ता तो केवल आहार की है, परन्तु **'का चिन्ता मम जीवने यदि हरिर्विश्वम्भरो गीयते'**, अर्थात् जो परमात्मा जंगलों और पशुओं को प्रदान करके सारे विश्व का भरण-पोषण करता है, उसके राज्य में अपने जीवन की क्या चिन्ता? चिन्ता तो कामी, लोभी और ईर्ष्या-द्वेष रखनेवाले नीचों को होती है, परन्तु जिसने अर्थ, काम और मान के व्यर्थ पाखण्ड को छोड़ दिया है उसके लिए चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि चिन्ता से शोक और शोक से दौर्बल्य प्राप्त होता है और अन्त में जीवन नष्ट हो जाता है, इसलिए दीर्घजीवन की इच्छा करनेवालों को कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिए।

दीर्घजीवन का चौथा उपाय ब्रह्मचर्य है। योगशास्त्र में लिखा है कि **'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः'**,[१] अर्थात् ब्रह्मचर्य से वीर्य प्राप्त होता है और **'वीर्ये बाहुबलम्'**, अर्थात् वीर्य से बल

---

१. योग० २।३८

प्राप्त होता है। बलवान् मनुष्य ही वाटिकाओं के लगाने और पशुओं के लिए चरागाह बनाने में श्रम कर सकता है और वीर्यवान् ही सदैव चिन्ता से मुक्त रह सकता है, क्योंकि वीर्य में सबसे बड़ा गुण यह है कि वह मनुष्य को सदैव आनन्दित रखता है। वीर्य में एक विशेष प्रकार की मस्ती होती है जो मनुष्य को सदैव प्रसन्न रखती है और चिन्तित नहीं होने देती। इसके सिवा ब्रह्मचारी ही बहुसन्तान के दु:खों से भी बच सकता है तथा वही अमोघ वीर्य होकर आवश्यक और उत्तम सन्तान को उत्पन्न कर सकता है, वही दीर्घातिदीर्घजीवन प्राप्त कर सकता है। वेद में लिखा है कि **'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत'**,[१] अर्थात् विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य से ही मृत्यु को हटा सकते हैं। इसलिए दीर्घजीवन का अनुष्ठान करनेवालों के लिए अखण्ड ब्रह्मचर्य की अत्यन्त आवश्यकता है।

दीर्घजीवन का पाँचवाँ उपाय सदाचार है। जो मनुष्य चोरी, व्यभिचार, असत्य भाषण, मद्य-मांस का सेवन, कलह, लड़ाई और अन्य अनेक प्रकार की असभ्यता, अशिष्टता तथा ईर्ष्या-द्वेष आदि अनाचारों को करता है और संयम, व्रत, इन्द्रिय-निग्रह आदि नहीं करता, उसकी भी आयु क्षीण हो जाती है, परन्तु जो मनुष्य सदाचाररत हैं—आचरणशील हैं, चरित्रवान् हैं, वे दीर्घायु होते हैं, इसमें सन्देह नहीं। मनु भगवान् कहते हैं कि **'सदाचारेण पुरुष: शतवर्षाणि जीवति'**, अर्थात् सदाचार से मनुष्य सौ वर्ष जीता है। इसका कारण यही है कि जो सदाचार के नियमों में बँधे होते हैं वे मर्यादित और व्रतयुक्त होते हैं, अत: वे अवश्य ही दीर्घजीवी होते हैं, इसलिए दीर्घजीवन चाहनेवालों को सदैव सदाचारी होना चाहिए।

दीर्घजीवन का छठा उपाय सङ्गीत है। सङ्गीत के सदृश चित्त को प्रसन्न करनेवाली और कोई वस्तु संसार में नहीं है और न प्रसन्नता के समान—आनन्द के समान जीवनदान देनेवाली कोई ओषधि ही है, अतएव दीर्घजीवन देनेवाले संगीत का अभ्यास करना प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है। आर्यों ने अपने प्रत्येक कार्य में जो वेदों के सस्वर पाठ का क्रम रक्खा है, उसका यही कारण है। आर्यलोग दिनभर किसी-न-किसी वैदिक यज्ञ के अनुष्ठान में ही रहते थे और कोई-न-कोई वेदमन्त्र गाया ही करते थे, परन्तु आजकल विद्वानों ने स्वरज्ञान को खो दिया है, इसलिए वेदों का पाठ उतना आनन्द नहीं देता, जितना संगीत के साथ देता था। दीर्घजीवन चाहनेवाले प्रत्येक आर्य को उचित है कि वह परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना और उपासना से सम्बन्ध रखनेवाले वेदमन्त्रों को सदैव स्वरों के साथ नियम से गाने का अभ्यास करे। वैदिक गान से हृदय को आनन्द और मस्तिष्क को उच्च ज्ञान प्राप्त होगा, जिससे उसको अपने समस्त कामों को मियमपूर्वक करने की सूचना मिलती रहेगी और वह दीर्घजीवन के उपायों से कभी विचलित न होगा।

दीर्घजीवन का अन्तिम और सातवाँ उपाय प्राणायाम है, क्योंकि प्राणियों की आयु प्राणों पर ही अवलम्बित है। जो प्राणी जितने ही कम श्वास लेता है वह उतना ही अधिक जीता है। कछुवा सबसे कम श्वास लेता है, इसलिए वह सबसे अधिक जीता भी है। प्राणायाम से दूसरा लाभ प्राणप्रद वायु का संग्रह है। प्राणप्रद वायु के अन्दर जाने से रक्त में बहनेवाले मलों की शुद्धि हो जाती है, इसीलिए मनु भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार अग्नि धातुओं के मलों को जला देती है उसी प्रकार प्राणायाम से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं। मलों के नष्ट होते ही शरीर नीरोग हो जाता है और दीर्घजीवन प्राप्त होता है। प्राणायाम की ये विशेषताएँ अब पश्चिम के विद्वानों को भी ज्ञात होने लगी हैं, इसीलिए वहाँ अब प्राणायाम का ख़ूब प्रचार हो चला है। वहाँवालों को

---

१. अथर्व० ११।५।१९

प्राणायाम से दीर्घजीवन-प्राप्ति के अनेक प्रमाण मिल चुके हैं[१]। हमारे देश में तो पूर्व समय में प्राणायाम का बहुत ही अधिक प्रचार था। प्रत्येक आर्य को सायं-प्रात: प्राणायाम करना ही पड़ता था। यही कारण है कि यहाँ प्राणायाम की अन्तिम सीमा समाधि तक लोगों की पहुँच हो गई थी। पंजाबकेसरी राणा रञ्जीतसिंह के समय में हरिदास वैरागी ने श्वासरहित होकर और चालीस दिन तक ज़मीन में गड़कर दिखला दिया था कि किस प्रकार बिना श्वास के मनुष्य जी सकता है। यह चमत्कार उस समय जिन अंग्रेज़ों ने अपनी आँखों से देखा था, वह उन्होंने इतिहास में लिख रक्खा है[२]। इसी प्रकार मद्रास के एक योगी ने आकाश में उड़कर और कलकत्ता के भूमिकैलास के एक योगी ने बिना श्वास के मृतवत् होकर कितने ही यूरोपनिवासियों को चकित किया है, इसलिए आर्यों की प्राणायामविद्या सर्वथा ही सिद्ध है। दीर्घजीवन बनाने का यह उनका अन्तिम उपाय है। इस उपाय से वे इस लोक में दीर्घजीवन प्राप्त करते थे और इसी से समाधिस्थ होकर परमात्मा का दर्शन करके परलोक का दीर्घातिदीर्घ जीवन—मोक्ष भी प्राप्त करते थे। कहने का अभिप्राय यह कि इन सातों उपायों से दीर्घजीवन प्राप्त हो सकता है। पूर्वकाल में इन्हीं के द्वारा आर्यों ने दीर्घजीवन प्राप्त किया था और इस समय भी प्राप्त किया जा सकता है।

इन दीर्घजीवन के उपायों में यद्यपि लोक के ही दीर्घजीवन का उपाय दिखलाई पड़ता है, परन्तु यदि विचार से देखा जाए तो ये ही उपाय परलोक का दीर्घजीवन—मोक्ष भी प्राप्त करा सकते हैं। मोक्ष-प्राप्ति के साधन भी तो यही हैं। फलाहार, सदाचार, अखण्ड ब्रह्मचर्य, वेदपाठ और प्राणायाम (समाधि) ही तो मोक्ष-प्राप्ति के भी उपाय हैं। मोक्ष-प्राप्ति भी तो इन्हीं उपायों से होती है। इसका कारण यही है कि दोनों लोकों का उद्देश्य दीर्घजीवन ही प्राप्त करना है। यहाँ भी लोग दीर्घजीवन प्राप्त करना चाहते हैं और वहाँ से भी कभी मरने के लिए नहीं आना चाहते। यह इच्छा केवल मनुष्यों की ही नहीं, प्रत्युत प्राणिमात्र का यही उद्देश्य है कि सबको दीर्घातिदीर्घजीवन प्राप्त हो, इसीलिए लोक और परलोक से सम्बन्ध रखनेवाले दोनों दीर्घजीवन एक ही प्रकार के उपायों से मिल सकते हैं। जो उपाय दोनों प्रकार के दीर्घजीवन प्राप्त करने के लिए बतलाये गये हैं, उन उपायों का व्यवहार करने से न प्राणी की आयु और भोगों में अन्तर पड़ता है और न मनुष्यों में असमानता ही उत्पन्न होती है, प्रत्युत सबको एक समान दीर्घादीर्घजीवन प्राप्त होता है और सब शान्ति के साथ मोक्षाभिमुखी हो जाते हैं।

---

१. 'Young at sixty again'. In an American monthly named Physical Culture, one writer under the above heading has written an elaborate article, the gist of which is that he suffered all sorts of ailments upto sixty, but when he took to deep breathing as advised by Dr. Bernard Macfadden, the premier physical culturist and prescriber of nature cure, he was fresh again.—दिग्विविज्ञान पृ० ७३

२. Dr. McGregor says in his History of the Sikhs 'A noval scene occurred at one of these garden houses in 1837. A *fakir* who arrived at Lahore engaged to bury himself for any length of time shut up in a box, without food or drink. Ranjit disbelieved his assertions and determined to put them to proof; for this purpose the man was shut up in a wooden box which was placed in a small apartment below the level of the ground. There was a folding door to the box which was secured by a lock and key. Surrounding this apartment there was the garden house, the door of which was likewise locked and outside of this a high wall having the door built up with bricks and mud. Outside the whole there was placed a line of sentries, so that no one could approach the building.
The strictest watch was kept of the space for forty days and forty nights, at the expiration of which period the maharaja attended by his grandson and several of his sardars as well as General Ventum, captain Wade and myself proceeded to disinter the *fakir*. After the disenternment when the fakir was able to converse, the completion of the feat was announced by the discharge of guns and other demonstrations of joy; while a rich chain of gold was placed round his neck by Ranjit himself.
—Reproduced from Hindu Superiority

इस लोक और परलोक की अमर जीवनधारा एक में मिलाने के लिए और अनन्त जीवन प्राप्त करने के लिए उपर्युक्त जिन सात उपायों का वर्णन किया गया है, वे समस्त उपाय सारे मनुष्यसमाज को सरलता से तभी मिल सकते हैं जब संसार में आर्यसभ्यता का प्रचार हो। आर्यसभ्यता के जिन प्रधान-प्रधान अङ्गों से प्राणिमात्र को लोक-परलोक का अनन्त जीवन प्राप्त हो सकता है, वे गणना में आठ हैं और ब्रह्मचर्य, सादगी, पशुपालन, जंगलरक्षा, यज्ञ, सार्वभौम राज्य, युद्ध और धर्मप्रचार से सम्बन्ध रखते हैं। यहाँ हम क्रम से इन आठों अंगों का वर्णन करते हैं।

आर्यसभ्यता का सबसे प्रधान अङ्ग ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के द्वारा एक आर्य बाल्यावस्था से ही गुरु के पास जाकर चार बातों का अभ्यास करता है। वह अनेक प्रकार की विद्याएँ पढ़ता है, वह वीर्यरक्षा के द्वारा बल प्राप्त करता है, वह सादे और तपस्वीजीवन के साथ रहने का अभ्यास करता है और वह नित्य सन्ध्योपासन तथा प्राणायाम के द्वारा मोक्ष प्राप्त करने का अभ्यास करता है। आर्यसभ्यता का सारा भवन इन चार ही अभ्यासों पर स्थिर किया गया है। इनमें विद्या से ज्ञान की वृद्धि होती है और धर्म जाग्रत् होता है, जिससे समस्त प्राणियों के साथ प्रेम, दया और समता के भाव पैदा होते हैं और उससे किसी प्राणी की आयु और भोगों में विघ्न नहीं पड़ता। वीर्यरक्षा से बल, अमोघवीर्यत्व और तपस्वीजीवन बनता है, जिससे मनुष्य अपने ही पुरुषार्थ से अपने आवश्यक अर्थों को उत्पन्न कर सकता है, सन्ततिनिरोध की शक्ति उत्पन्न होती है और ब्रह्मवादिनी, पतिव्रता, सती और विधवाधर्मपालन करनेवाली स्त्रियों का प्रादुर्भाव होता है, जिससे संसार में चारों ओर धार्मिक वायुमण्डल तैयार हो जाता है। तपस्वीजीवन से शृङ्गार का अभाव हो जाता है, लोगों में असमानताजन्य ईर्ष्या-द्वेष और मद-मत्सर का तिरोभाव हो जाता है और संसार से रोग-दोष, दुःख-दरिद्रता का अन्त हो जाता है और सब प्राणी आनन्द से अपना जीवन बिताते हैं। सन्ध्योपासन और प्राणायाम से सदाचार की वृद्धि होती है और परमात्मा का साक्षात् होता है जिससे सब शंकाएँ निवृत्त हो जाती हैं और अन्त में मोक्ष हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य के उक्त चार साधनों से मनुष्य के जीवन को सफल बनानेवाली जितनी बाते हैं, सब प्राप्त हो सकती हैं, इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता के भवन को इस ब्रह्मचर्यव्रत की आधारशिला पर स्थिर किया है और ब्रह्मचर्य को सुदृढ़ रखने के लिए बहुत ही कड़ा नियम बनाया है। मनुस्मृति में लिखा है कि—

अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः। सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥

—मनुस्मृति [२।३९]

अर्थात् जो आर्यबालक नियत समय के अन्दर गुरु से दीक्षित होकर ब्राह्मचर्यव्रत का पालन नहीं करता, वह व्रात्य हो जाता है और आर्यसमाज से निकाल दिया जाता है।

इसका तात्पर्य यही है कि आर्यसभ्यता बिना ब्रह्मचर्याश्रम की प्रतिष्ठा के पूर्णरूप से सफल नहीं हो सकती। यही कारण है कि आर्यों ने सबसे प्रथम इसी को अपनी सभ्यता का प्रधान अङ्ग माना है।

आर्यसभ्यता का दूसरा प्रधान अङ्ग सादगी है। आर्यों के तीनों आश्रम सादे हैं। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और संन्यासी मिलकर समस्त आर्यजनसंख्या का ३/४ भाग बिलकुल सादा है। यहाँ तक कि उसके पास घर भी नहीं है। वह हर प्रकार के शृङ्गार और विलास से—पोशाक अथवा ठाट-बाट से दूर है। अब रहा गृहस्थों का चौथाई भाग, वह भी विलासी नहीं है, क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम से आने और वानप्रस्थ आश्रम में शीघ्र ही जाने के कारण तथा रात-दिन उसके घर में

ब्रह्मचारी और संन्यासियों का निवास होने के कारण वह विलासी और शृङ्गारप्रिय हो ही नहीं सकता। वह तो उक्त तीनों प्रकार के तपस्वी आश्रमियों, बाल, वृद्ध, रोगी और हीनगुण मनुष्यों और पशु-पक्षी, कीट-पतङ्ग, तृण-पल्लवों की सेवा करने और आगे इन सबकी सेवा करनेवाले केवल एक पुत्र को उत्पन्न करके उसे योग्य बनाने में ही रात-दिन लगा रहता है, इसलिए आर्यगृहस्थ को सादगी से हटने का अवसर ही नहीं होता। फल यह होता है कि इस सादगी से सारा मनुष्यसमाज समता के अलौकिक सुख का उपभोग करता है और भूख तथा ईर्ष्या-द्वेषादि दु:खों से मुक्त हो जाता है।

आर्यसभ्यता का तीसरा प्रधान अङ्ग पशुपालन है। जिस प्रकार सादगी से मनुष्यसमाज को सुख मिलता है, उसी प्रकार पशुपालन से ग्राम्य पशुओं को सुख मिलता है, अत: ग्राम्य पशुओं की सेवा करना आर्यों ने अपना विशेष कर्त्तव्य समझा है। यह कर्त्तव्य आर्यों ने निरर्थक ही नहीं मान लिया था, प्रत्युत इसके दो कारण थे। एक कारण तो यह था कि आर्यों के विश्वासानुसार समस्त पशु पूर्वजन्म के मनुष्य हैं और पापों के कारण इन योनियों में उत्पन्न होकर पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हैं और दूसरा कारण यह था कि जिनके साथ उन्होंने पूर्वजन्म में अनुचित व्यवहार किया था और हानि पहुँचाई थी, उनको इस जन्म में उस हानि का प्रतिफल देने के लिए आये हैं, इसलिए इनको इनके भोगों को देते हुए पूर्ण आयु जीने का अवसर देना चाहिए। इन विश्वासों से प्रेरित होकर आर्यों ने पशुपालन को अपना धर्म मान लिया था और उनकी सहायता से अपनी आर्थिक समस्या को सहज ही हल कर लिया था। पशुओं से आहार और वस्त्रों के लिए दूध, दधि, घृत, हविष्यान्न और ऊन आदि को लेकर तथा उनको सवारी, बोझ ढोने, कृषि, पहरा और सफ़ाई के काम में लगाकर अपने सादे और तपस्वीजीवन से सम्बन्ध रखनेवाले सभी अर्थों को सिद्ध कर लिया था।

आर्यसभ्यता का चौथा प्रधान अङ्ग जंगलों की रक्षा और वाटिकाओं का लगाना है। जंगलों और वाटिकाओं से फलों, अन्नों और पशुओं के चरने योग्य तृणों की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि आर्यों का तपस्वीसमाज वनस्थ होकर जंगलों में ही निवास करता है और उनके पशु भी जंगलों में ही चरते हैं। इसके अतिरिक्त जंगलों से जो दूसरा लाभ है वह हवा की शुद्धि का है। संसार में जितनी प्राणनाशक वायु उत्पन्न होती है, उस सबको वृक्ष ही खाते हैं और बदले में प्राणप्रद वायु देते हैं। यही कारण है कि वायु की अशुद्धि से उत्पन्न होनेवाली बीमारी जंगलों में नहीं होती। इसी प्रकार जंगलों से तीसरा लाभ वर्षा से सम्बन्ध रखता है। जंगल वर्षा के भी कारण हैं। 'हार्म्सवर्थ हिस्ट्री आफ़ दि वर्ल्ड' में लिखा है कि वर्षा में न्यूनाधिकता उत्पन्न कर देना मनुष्य के हाथ में है। यदि वर्षा कम करना हो तो जंगलों को काट दीजिए और यदि वर्षा अधिक बरसानी हो तो जंगलों को लगा दीजिए[१]। जैसे-जैसे जंगल कटते जाते हैं और खेती बढ़ती जाती है वैसे-ही-वैसे वर्षा कम हो रही है और संसार से जल-सम्बन्धी आर्द्रता नष्ट हो रही है। 'ज्योति' नामी मासिक पत्रिका के ज्येष्ठ संवत् १९७९ के अंक में लिखा है कि 'मि० मार्टल का कथन है कि पानी कम पड़ रहा है, भूमि सूख रही है और पानी उड़ रहा है। सहारा में जो बड़े-बड़े द्राड़ थे और जिनमें पानी हमेशा रहता था वे सूखते जाते हैं। Grand Canon की नदियों का सूखना और उनके स्थानों में केवल Great Salt Lake का रहना, तथा प्रावैन्स की

---

१. Those features are permanent qualities which man can effect only to a limited extent as when he reduces the rain fall a little by cuttingdown forests or increases it by planting them.

—*Harmsworth History of the World*, p. 33.

तराइयों, अफ्रीका के कई स्थानों और मध्यएशिया के जलों का सूखना आगे आनेवाली दुर्घटना के चिह्न हैं। यद्यपि कई स्थानों में तो लाखों वर्षों से अथवा भूविद्या के त्रेतायुग (Quaternary period) से सूखने की क्रिया जारी है; किन्तु कई स्थानों में तो देखते-देखते, अर्थात् ऐतिहासिक समय से ही जल का सूखना आरम्भ हुआ है। पानी के सूखने के तीन ही कारण—अर्थात् वर्षा की कमी, जंगलों का नाश और खेती का विस्तार ही बताये जाते हैं'। जंगलों से अधिक वृष्टि होने का प्रमाण वेद में भी मिलता है। ऋग्वेद में लिखा है कि—

अबुध्ने राजा वरुणो वनस्योर्ध्वं स्तूपं ददते पूतदक्षः।
नीचीनाः स्थुरुपरि बुध्न एषामस्मे अन्तर्निहिताः केतवः स्युः॥

—ऋ० १।२४।७

अर्थात् अवर्षण के समय में पवित्र करनेवाला वरुण (राजा) वन के ऊपर स्तूप—जलराशि देता है और नीचे गिरती हुई जलधाराएँ उस स्तूप पर ठहरती है, जिनको अन्तरिक्ष में ठहरी हुई किरणें लाती हैं। तात्पर्य यह कि सूर्य की किरणें अन्तरिक्ष में जल का संचय करके अवर्षण के समय में भी वर्षा को वनों के ऊपर गिरने की प्रेरणा करती हैं, इसीलिए जंगलों में कभी अवर्षण नहीं होता, परन्तु जहाँ जंगल नहीं हैं, केवल खेती ही होती है वहाँ जिस प्रकार अनावृष्टि से दुष्काल हो जाता है, उसी प्रकार अतिवृष्टि से भी दुष्काल हो जाता है, परन्तु जंगलों में अनावृष्टि तो होती ही नहीं, प्रत्युत अतिवृष्टि से भी दुष्काल नहीं होता, क्योंकि अतिवृष्टि से घास और वनवृक्ष ख़ूब बढ़ते हैं, जिनसे फल प्राप्त होते हैं और गौचारन से दूध प्राप्त होता है, इसीलिए आर्यों ने अपनी सभ्यता में जंगलों की रक्षा को महत्त्व दिया है।

आर्यसभ्यता का पाँचवा प्रधान अङ्ग यज्ञ है। यद्यपि यज्ञ का अर्थ बहुत विशाल है, किन्तु यहाँ यज्ञ का अर्थ इच्छानुसार पानी बरसाना है। आर्यों की सभ्यता में इच्छानुसार पानी बरसाना एक विशेष आविष्कार है। आर्यसभ्यता में इस आविष्कार की महत्ता इसलिए है कि मनुष्य का निर्वाह पशुओं पर, पशुओं का वृक्षों पर और वृक्षों का वर्षा पर अवलम्बित है। यदि पानी न बरसे तो वृक्षों का अभाव हो जाए और वृक्षों के अभाव से पशुओं का और पशुओं के अभाव से मनुष्यों का अभाव हो जाए। कहने का तात्पर्य यह है कि प्राणिमात्र का निर्वाह केवल वर्षा पर ही अवलम्बित है, इसीलिए आर्यों ने इच्छानुसार पानी बरसाने की विद्या का आविष्कार किया था। इस विद्या का आविष्कार आर्यों के मौलिक ज्ञान—यज्ञ के द्वारा हुआ था। यज्ञ के द्वारा ही इच्छानुसार पानी बरसाया जाता था। शतपथब्राह्मण ५।३।५।१७ में लिखा है कि '**अग्नेर्वै धूमो जायते धूमादभ्रमभ्राद् वृष्टिः**', अर्थात् अग्नि से धूम, धूम से बादल और बादलों से वृष्टि होती है। इसी बात को मनुस्मृति ने इस प्रकार कहा है—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

—मनु० ३।७६

अर्थात् अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ सूर्य की किरणों में पहुँचती हैं और सूर्य की किरणों से वृष्टि होती है तथा वृष्टि से अन्न और अन्न से प्रजा उत्पन्न होती है।

यही बात भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् इस प्रकार कहते हैं—

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्न संभव। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः॥

—भगवद्गीता [३।१४]

अर्थात् अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वर्षा से उत्पन्न होते हैं, वर्षा यज्ञों से उत्पन्न होती है और यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होते हैं।

इन वर्णनों से पाया जाता है कि आर्यों ने किसी विशेष प्रकार के यज्ञ से इच्छानुसार पानी बरसाने की विद्या ढूँढ निकाली थी। इस प्रकार की विद्या असम्भव नहीं है। इस युग में भी कुछ लोग इच्छानुसार पानी बरसा सकते हैं। ऋग्वैदिक इण्डिया में बाबू अविनाशचन्द्र दास कहते हैं कि 'इस समय भी जंगली जातियों में वर्षा बरसानेवाला मौजूद है। यह वर्षा-क्रिया करता है और वर्षा बरसा लेता है। जंगली जातियों में इनका बड़ा मान है'[१]। इसी प्रकार का एक वर्णन लाहौर के 'कर्मवीर' पत्र के २४ मार्च सन् १९२८ के अङ्क में छपा है। उसमें लिखा है कि 'सन् १९२१ में केलीफ़ोर्निया में मिस्टर हैटफ़ील्ड ने कहा है कि मैं आकाश से पानी बरसा सकता हूँ। वहाँ के किसानों ने दो हज़ार पाउण्ड देकर अपने यहाँ पानी बरसाना स्वीकार किया। लिखा-पढ़ी हो गई और रुपया बैंक में जमा कर दिया गया। मिस्टर हैटफ़ील्ड ने एक झील के किनारे सुनसान स्थान में अपनी झोपड़ी बनाई और अपनी क्रिया आरम्भ की। तीसरे ही दिन पानी बरसना शुरू हो गया और उन्होंने दो हज़ार पाउण्ड बैंक से ले-लिये। मिस्टर हैटफ़ील्ड ने पानी बरसाने की विद्या को सिद्ध कर लिया है। वे पानी बरसाने के पाँच सौ प्रयोग कर चुके हैं। प्रत्येक बार उनको सफलता हुई है। वे ऊँचे-ऊँचे टीलों या मीनारों पर आग जलाकर कुछ ऐसे पदार्थ डालते हैं, जिनके योग से वाष्प सघन होकर बरसने लगती है'। इन वर्णनों से ज्ञात होता है कि विशेष प्रकार की क्रिया—यज्ञ से इच्छानुसार पानी बरस सकता है। इसी प्रकार की किसी क्रिया के द्वारा पूर्वकालीन आर्य भी इच्छानुसार पानी बरसाते थे। वेद में जो **'निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु'**[२] लिखा है, उसका यही तात्पर्य है कि जब-जब वर्षा की कामना की जाती है तब-तब यज्ञ के द्वारा पानी बरसता है।

पानी बरसानेवाले यज्ञों में घी का बहुत बड़ा ख़र्च होता है, क्योंकि घी में हवा के रोकने और दूसरे तरल पदार्थों को अपने साथ जमा देने का गुण है, इसीलिए अग्नि के द्वारा आकाश में घी इतना अधिक फेंक दिया जाता है कि वह घृतवाष्प ऊपर की ओर अपना एक सीधा मार्ग बना लेता है, जिसमें वायु प्रवेश नहीं कर सकता। घी का वायुप्रतिरोधक गुण हम प्रतिदिन अपने अनुभव से देखते हैं। हम देखते हैं कि सर्दी के दिनों में वायुप्रवेश से बचने के लिए लोग घी, मक्खन, मलाई या मोम को चेहरे और हाथ-पावों में लगाते हैं जिसके कारण वायु से खाल नहीं फटती। दूसरा अनुभव हम घी को एक कटोरी में भरकर और आग में चढ़ाकर देख सकते हैं। एक ही साथ एक कटोरी में पानी भरकर और दूसरी में घी भरकर आग पर चढ़ाने से हमको दिखलाई पड़ेगा कि घी शान्तरूप से धीरे-धीरे जलकर कम हो रहा है, परन्तु पानीवाली कटोरी की पेंदी में छोटे-छोटे बुदबुदे उत्पन्न होते हैं। बुदबुदे बढ़ते हैं, फूटते जाते हैं और पानी कम हो जाता है। पानी में बुदबुदों के उत्पन्न होने का कारण पानी में हवा का प्रवेश है और घी में बुदबुदों के न होने का कारण हवा का प्रतिरोध है। पानी में हवा प्रवेश कर जाती है, परन्तु घी में प्रवेश नहीं कर सकती। इन दोनों अनुभवों से ज्ञात होता है कि घी में हवा के प्रतिरोध करने का गुण है। यही कारण है कि अग्नि के द्वारा जब आकाश में घी फेंका जाता है तब वह अपने अन्दर वायु को नहीं घुसने देता और दूर तक ऊपर की ओर एक सीधा स्तूपाकार मार्ग बना देता है। फल यह होता है कि नीचे की सघन वायु विरल होकर उड़ जाती है और उस घृतमार्ग में आकाशस्थित

१. Even in modern times, the rain maker is the most important person among savage tribes. He pronounces incantation and performs mysterious rites with the object of bringing down rain from the heaven. He is the priest in embryo and weilds great influance in savage society.
—*Rigvedic India*, p. 555.

२. यजुः० २२।२२

जलवाष्प भर जाता है और घी में पानी को जमा देने की शक्ति होने के कारण जलवाष्प सघन हो जाता है और पानी होकर बरस पड़ता है। घी में पानी के जमाने की शक्ति भी सबके अनुभव में है। हम देखते हैं कि सर्दी के दिनों में घी के साथ छाछ का पानी भी जम जाता है। जिस प्रकार सर्दी से घी जम जाता है उसी प्रकार ऊपर के जलवाष्प की ठण्डक से घृतवाष्प भी जम जाता है और अपनी जमावट के साथ-साथ जलवाष्प को भी सघन बना देता है और पानी के रूप में बरसा देता है। अनुमान होता है कि प्राचीन आर्यों ने घृत के इन गुणों के साथ अन्य ऐसे ही पदार्थों के गुणों का संग्रह करके किसी विशेष प्रक्रिया के द्वारा जल बरसाने की विद्या सिद्ध कर ली थी जिससे वे इच्छानुसार जल बरसा लेते थे और जल से वनवृक्षों के, वनवृक्षों से पशुओं और पशुओं तथा वनवृक्षों से समस्त मनुष्यों के अर्थकष्ट को दूर कर देते थे।

आर्यों की सभ्यता का छठा प्रधान अङ्ग सार्वभौम राज्य है। आर्यों के विश्वासानुसार जब तक समस्त संसार के मनुष्यों का शासन एक ही राज्य के द्वारा न हो और जब तक समस्त संसार के मनुष्य एक ही रीति-नीति के न हो जाएँ और जब तक सब मनुष्य एक-दूसरे के लिए त्यागभाव से बर्ताव न करें तब तक किसी को भी सुख-शान्ति नहीं मिल सकती और न आर्यों की आदर्श नीति ही जगद्व्यापी हो सकती है। यह जगद्व्यापी ऐक्यता सार्वभौम चक्रवर्ती राज्य से ही स्थापित हो सकती है। यही कारण है कि पूर्वकाल में आर्यों ने सार्वभौम राज्य स्थापित करने का बहुत बड़ा प्रयत्न किया था। उनके आदिमकालिक इतिहास में अनेक चक्रवर्ती राजाओं का वर्णन मिलता है, जिससे सिद्ध होता है कि वे अपने शुभ संकल्प में कृतकार्य हुए थे और जगद्व्यापी सभ्यता स्थापित कर सके थे।

आर्यों की सभ्यता का सातवाँ प्रधान अङ्ग युद्ध है। यह आपद्धर्म माना गया है। जिस प्रकार अन्य आपत्तियों के समय अन्य आपद्धर्मों की योजना होती है, उसी प्रकार असभ्य, बर्बरों को शिक्षित करने के लिए युद्ध का प्रयोग भी स्वीकार किया गया है। युद्ध के द्वारा आर्यों ने सदैव आततायी, बर्बरों को वश में किया है। यही कारण है कि आर्यसभ्यता में युद्धनिपुण योद्धा का बड़ा मान रहा है। जो आर्य युद्ध से घबराता था वह आर्य कहलाने का अधिकारी नहीं रहता था। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को युद्ध से हटते हुए देखकर कहा था कि **'अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन'**,[१] अर्थात् हे अर्जुन! तुम्हारी ये बातें अस्वर्ग्य, अप्रीतिकर और अनार्यों की-सी हैं। यहाँ भगवान् कृष्ण के द्वारा कायर को अनार्य कहा गया है और दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि और ऐसे ही अन्य आततायी कौरवों को बर्बर समझा गया है। इससे ज्ञात होता है कि युद्ध आर्यों की सभ्यता का विशेष अङ्ग है, क्योंकि बिना युद्ध के—बिना बर्बरों को शिक्षा दिये सीधे-सादे आर्यसमाज को सुख-शान्ति मिल ही नहीं सकती और न चक्रवर्ती राज्य स्थापित हो सकता है। यही कारण है कि आर्यों ने अपनी सभ्यता में युद्ध को आवश्यक समझा है।

आर्यों की सभ्यता का आठवाँ और अन्तिम अङ्ग धर्मप्रचार है। धर्मप्रचार के द्वारा आर्यलोग अपने विचारों और आचारों का संसार में प्रचार करते थे। जिस प्रकार युद्ध के द्वारा आततायी, बर्बरों को आर्यों का सम्राट् शिक्षित करता था, उसी प्रकार धर्मप्रचार के द्वारा सभ्य मनुष्यों को आर्यों का परिव्राट् शिक्षित करता था। जब कोई बर्बर उनको सताता था तब उसे वे युद्ध के द्वारा परास्त करते थे और जब कोई सभ्यजाति किसी राजनैतिक चातुर्य से उनका या उनकी सभ्यता

---

१. गीता २।२

का नाश करना चाहती थी तब वे उसे अपने धार्मिक आचार-प्रचार से वश में करते थे और अपनी सभ्यता की रक्षा कर लेते थे। इस बात का नमूना हम आज अपनी आँखों से देख रहे हैं। आज हमने प्राचीन आर्यसभ्यता के केवल एक छोटे-से अङ्ग चर्खा और खद्दर की पुनः प्रतिष्ठा करके यूरोप की सभ्यजातियों के यान्त्रिक कुचक्र को ढीला कर दिया है। इसी प्रकार यदि हम वैदिक आचार-व्यवहार के अनुसार अर्थ और काम सम्बन्धी प्रत्येक व्यवहार में अपने प्राचीन आर्यों का-सा सादा रहन-सहन बना लें, और अपने प्राचीन आर्यों की भाँति तपस्वीजीवन बिताने लगें तो बिना किसी तोप-बन्दूक के, बिना किसी युद्धोपकरण के हम न केवल यूरोप की वर्त्तमान नीति को परास्त करके उसके चंगुल से निकल सकते हैं, प्रत्युत संसार की अर्थ और काम-सम्बन्धी एक बहुत बड़ी और आवश्यक समस्या को हल करने में भी समर्थ हो सकते हैं, जिस हल की खोज में यूरोप के उच्च मस्तिष्क एक शताब्दी से व्यग्र हैं और नाना प्रकार की शिक्षा, सभ्यता और व्यवस्था का प्रचार कर-करके संसार को उलझनों में डाले हुए हैं।

यही वैदिक आर्यसभ्यता के प्रधान अङ्ग हैं और इन्हीं अङ्गों को स्वीकार करने से आर्यलोग अपनी रक्षा करते हुए दीर्घजीवन प्राप्त करते थे और इस समय भी प्राप्त कर सकते हैं, इसलिए हमने इस पुस्तक के उपक्रम में जिन नेचरवादियों की रीति-नीति, आचार-व्यवहार और रहन-सहन का उल्लेख किया है और उसमें जो त्रुटियाँ बतलाई हैं, उनकी पूर्ति बिना वैदिक आर्यों की इस सभ्यता को पूर्णरूप से स्वीकार किये और बिना आर्यों की वर्णाश्रमव्यवस्था को अपनाये नहीं हो सकती। चाहे जितने प्रकार की शिक्षाएँ प्रचलित की जाएँ उनसे संसार के समस्त मनुष्यों और अन्य समस्त प्राणियों को लोक से सम्बन्ध रखनेवाली दीर्घजीवनसमस्या और परलोक से सम्बन्ध रखनेवाली अनन्त जीवनसमस्या प्रलयपर्यन्त हल नहीं हो सकती। इन समस्याओं को आर्यों की वर्णाश्रमव्यवस्था ही सरलता से हल कर सकती है और एक ऐसा मार्ग बना सकती है जिसके द्वारा आसानी से अपने समाज की रक्षा करते हुए मनुष्यादि समस्त प्राणी लोक और परलोक के सम्पूर्ण सुखों को प्राप्त कर सकते हैं। यही शान्ति का सच्चा उपाय है और यही इस पुस्तक के उपक्रम का उपसंहार है। अतएव प्राचीन आर्यसभ्यता के प्रेमियों को संसारभर में फैला दें और सबको सबसे लाभ पहुँचाकर इस संसार को एक बार फिर आदर्श से पूर्ण कर दें। परमात्मा की अतुल दया और विद्वानों की असीम सहानुभूति से हमारी यह अन्तरेच्छा शीघ्र पूर्ण हो।

इत्योम् शम्।

ओ३म्

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा
राष्ट्रे राजन्यः शूरऽइषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां
दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः सभेयो
युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामेनिकामे नः पर्जन्यो वर्षतु
फलवत्यो नऽओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥

—यजुर्वेद २२।२२

वैदिक सम्पत्ति मन्त्राणुक्रमणिका

आ

र

ल

व

—:o:—